श्रीलरूपगोस्वामिना प्रणीतः

उज्ज्वलनीलमणिः

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

उज्ज्वलनीलमणिः

श्रीलरूपगोस्वामिना प्रणीतः

उज्ज्वलनीलमणिः

श्रीलजीवगोस्वामिकृतया लोचनरोचनीनाम्न्या
तथा
श्रील विश्वनाथचक्रवर्तिकृतया आनन्दचन्द्रिकानाम्न्या
टीकया च सहितः

श्रीगौड़ीय-वेदान्त-समितेः प्रतिष्ठापकवराणां
नित्यलीलाप्रविष्ट-ॐ-विष्णुपाद-परमहंस-स्वामिनां

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव-गोस्वामि-महाराजानां

पादत्राणावलम्बकेन परिव्राजकाचार्येण
(त्रिदण्डिस्वामिना)
श्रीमद्भक्तिवेदान्त-नारायण-गोस्वामि-महाराजेन
अनूदितः सम्पादितश्च

प्रकाशक :
श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज

प्रथम संस्करण : ५००० प्रतियाँ
श्रीगोवर्धन–पूजा और अन्नकूट महोत्सव
श्रीचैतन्याब्द ५२०
२३ अक्टूबर, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५–२५०२३३४

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५–२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी–३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११–२५५३३५६८

श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५–२४४३२७०

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५–२४४३१०१

समर्पण

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता, आचार्य केसरी
परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
श्रीकरकमलोंमें
परमरसिकभागवत अप्राकृत कविकुलमुकुटमणि
श्रीरूपगोस्वामिपाद
विरचित **उज्ज्वलनीलमणिः** नामक ग्रन्थ अर्पित कर रहा हूँ।

हे मुकुन्दप्रेष्ठ! हे स्वरूप–रूपानुगवर!
मैं नितान्त अयोग्य सेवक हूँ। जैसा भी हूँ आपका ही हूँ।
मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि जो वस्तु
आपके श्रीकरकमलोंमें समर्पित होती है,
उसे श्रीहरि अवश्य ही प्रेमसे ग्रहण करते हैं।
आपकी कृपा ही भगवान्‌की कृपा है। आप जययुक्त होवें—

—दीनहीन श्रीगुरुकृपालेश प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे।
निजानुरूपे प्रभुरेक रूपे ततान रूपे स्वविलासरूपे॥

श्रीचैतन्य मनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः।
श्रीमद्रूपपदांभोजधूलिः स्यां जन्मजन्मनि॥

विषय–सूची

विषय	पृष्ठ

पञ्चमोऽध्यायः—

प्रस्तावना

बड़े आनन्दका विषय है कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता आचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए श्रीशचीनन्दन गौरहरिके नित्यपरिकर शुद्धभक्तिरस-रसिककुलचुड़ामणि श्रीरूपगोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित हो रहा है।

श्रील रूप गोस्वामी श्रीगौराङ्गलीलामें षड्गोस्वामियोंमेंसे अन्यतम तथा व्रजलीलामें श्रीरूपमञ्जरी हैं। इनके पूर्वज कर्णाटक देशमें वास करते थे। वहाँ किसी कारणसे इनके पूर्वजोंमेंसे कोई एक अपने देशको छोड़कर बङ्गालमें आकर बस गए थे। श्रील रूप गोस्वामी इन्हींके वंशमें प्रादुर्भूत हुए। भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदीय ब्राह्मण कुलमें श्रीलरूप गोस्वामीका आविर्भाव लगभग १४११ शकाब्द (अर्थात् १४८९ ईस्वी) में बङ्गालके मोरग्राम माधाईपुर नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम कुमारदेव था। ये तीन भाई थे। बड़े भाई सनातन गोस्वामी थे, छोटे भाईका नाम अनुपम या वल्लभ था, जिनके पुत्र श्रीजीव गोस्वामी थे। बचपनसे ही इन तीनों भाइयोंकी भगवच्चरणारविन्दमें अत्यन्त अनुरक्ति थी।

विद्याध्ययन समाप्त करनेके बाद युवावस्थामें बङ्गाल (गौड़देश) के बादशाह हुसैन शाहने इनकी तीक्ष्ण मेधा, उदारता और अन्यान्य समस्त गुणोंसे प्रभावित होकर श्रीसनातन गोस्वामीको अपना प्रधानमन्त्री और इनको उप-प्रधानमन्त्री (विशिष्ट कर्मचारी) के पदपर नियुक्त किया। १५१४ ईस्वीमें जब श्रीचैतन्यमहाप्रभुने प्रथम बार व्रजयात्रा की, उस समय उनसे इनकी रामकेलि गाँवमें भेंट हुई। श्रीमन्महाप्रभुजी तो उस बार वहींसे ही लौटकर जगन्नाथपुरी चले गए। परन्तु उनके सत्सङ्गके बाद श्रीरूप गोस्वामीको कृष्णप्राप्तिकी उत्कण्ठा इतनी अधिक सताने लगी कि राजकार्य इत्यादि सभी कुछ छूट गया। फिर द्वितीय बार

जब श्रीचैतन्य महाप्रभुजी श्रीवृन्दावन पधारे, तब जिस समय वे वृन्दावनका दर्शन समाप्तकर लौट रहे थे, तो प्रयागमें श्रीरूप गोस्वामीकी महाप्रभुजीसे भेंट हुई। उस समय महाप्रभुने अपने प्रिय रूपके हृदयमें शक्ति सञ्चारकर उनको भक्तिरसतत्त्वका अपूर्व विवेचन श्रवण कराया था। श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थमें इसका वर्णन किया गया है।

प्रभु कहे,—शुन, रूप, 'भक्तिरसेर लक्षण'।
सूत्ररूपे कहि विस्तार ना जाए वर्णन॥

पारावार-शून्य गभीर भक्तिरस-सिन्धु।
तोमाय चखाइते तार कहि एक 'बिन्दु'॥
(चै. च. म. १९/१३६-१३७)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा—"हे प्रिय रूप! मैं तुम्हें भक्तिरसका लक्षण बतला रहा हूँ। किन्तु सूत्र रूपमें कह रहा हूँ, क्योंकि विस्तार रूपसे इसका वर्णन करना असम्भव है। पारावार अर्थात् यह भक्तिरसामृतसिन्धु आर-पारशून्य गभीर है। उसमेंसे मैं तुम्हें एक बिन्दु प्रदान कर रहा हूँ।" इस प्रकार दस दिनों तक प्रयागमें रहकर उन्होंने भक्तिरसतत्त्वका अपूर्व विवेचन किया। श्रील रूप गोस्वामीने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, ललितमाधव, विदग्धमाधव आदि ग्रन्थोंमें इसका विवेचन किया है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रति विलक्षण अनुरागके कारण श्रील रूप गोस्वामीका गृहत्याग, दैन्य, विषयोंके प्रति वैराग्य इत्यादि सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। श्रीचैतन्यचरितामृत, भक्तमाल आदि ग्रन्थोंमें सविस्तार इनकी जीवनीका वर्णन है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशयने यथार्थतः इनको 'श्रीचैतन्यमनोभीष्ट-स्थापक' की उपाधि दी है। श्रीव्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंका उद्धार और भक्तिशास्त्रोंका प्रचार—दो कार्योंके लिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुने इनको विशेष आदेश दिया था। प्रयागसे श्रील रूप गोस्वामी वृन्दावनमें उपस्थित हुए और वहाँसे बङ्गालमें घर लौटकर विषय व्यवस्था और जीव गोस्वामीकी विद्याध्ययन आदिकी व्यवस्थाकर नीलाचलमें महाप्रभुके निकट उपस्थित हुए थे। गौड़देशमें रहते समय ही इन्होंने विदग्धमाधव और ललितमाधव नाटकके सूत्र लिखना आरम्भ

कर दिया था। व्रजलीला और पुरलीलाको एक ही नाटक ग्रन्थमें रचनाकर व्रजविरहको प्रशमन करनेकी इच्छा रहनेपर भी उड़ीसाके सत्यभामापुरमें श्रीसत्यभामादेवीकी आज्ञा एवं नीलाचलमें महाप्रभुके साक्षात् उपदेशसे पृथक्-पृथक् रूपमें नाटक ग्रन्थोंकी रचना की। भक्तगोष्ठीमें श्रीचैतन्य महाप्रभु इनकी रचनाओंको सुनकर कितने आनन्दित हुए, एकमात्र रसिकजनके लिए ही वह संवेद्य है। इनमें सर्वशक्तिका सञ्चारकर प्रभुने इनको वृन्दावनमें आचार्यपद प्रदानकर भेजा और अपने मनोऽभीष्टको पूर्ण किया। इसलिए श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशयने लिखा है—

श्रीचैतन्य मनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

श्रीरूपगोस्वामीकी रचित ग्रन्थावली—भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्लनीलमणि, लघुभागवतामृतम्, विदग्धमाधव, ललितमाधव, निकुञ्जरहस्यस्तव, स्तवमाला, श्रीराधाकृष्ण गणोद्देशदीपिका, मथुरामाहात्म्य, पद्यावली, उद्धवसन्देश, हंसदूत, दानकेलिकौमुदी, कृष्णजन्मतिथि विधि, प्रयुक्ताख्यात् मञ्जरी, नाटकचन्द्रिका इत्यादि।

प्रस्तुत उज्ज्वलनीलमणि—श्रीलरूप गोस्वामी विरचित अखिल-रसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णके उन्नत-उज्ज्वल या मधुररस-विज्ञानका शास्त्र है। वास्तवमें यह ग्रन्थ भक्तिरसामृतसिन्धुका ही उत्तर-अंश है। गोपीभजनके विषयमें विशद् रूपमें परिपूर्ण है। प्रेमरसमय श्रीगोविन्दका भजन करनेके लिए व्रजरमणियोंका आनुगत्य अत्यन्त आवश्यक एवं आदरणीय है। उनके आनुगत्यमें आदर-सौहार्द और माधुर्य इत्यादि लेकर जाना होता है। गोपियोंका प्रेमानुराग या प्रेममाधुरी इस जगतमें सुदुर्लभ होनेपर भी, उनकी प्रीतिका विषय भाषामें प्रस्फुटित न होनेपर भी पूज्यपाद श्रीरूप गोस्वामी पादने उसी उन्नत-उज्ज्वल व्रजरसकी छायाको प्रकाश किया है—हमलोग उसका बिन्दुमात्र आस्वादन करनेसे ही चरितार्थ हो सकते हैं। करुणावरुणालय श्रीगौरसुन्दरने हम लोगों जैसे नारकीय जीवोंके लिए श्रीरूप पादकी लेखनीके अग्रभागमें यह अतुलनीय अमूल्य सुधाभण्डार निहित किया है। हम उस पीयूष-समुद्रके कणमात्रका भी आस्वादन करनेपर त्रितापज्वालासे अवश्य ही छुटकारा पा सकते हैं। श्रीकृष्णप्राप्तिके

लिए गोपियोंके हृदयमें भीषण वेग, प्रबल आकर्षण इस ग्रन्थके पत्र-पत्रमें सुस्पष्ट भावसे अङ्कित है। श्रीकृष्णदर्शनकी लालसाने उनके हृदयमें अनुराग-स्रोतको किस प्रकारसे सशक्त उत्ताल तरङ्गोंमें उच्छ्वलित किया है, इस ग्रन्थमें उसकी समुज्ज्वल प्रतिच्छवि विशद् भावसे चित्रित हुई है। उन्नतोज्ज्वल रसगर्भ, प्रेमभक्तिका ऐसा समुज्ज्वल, सुमधुर उपदेश जगतके और किसी ग्रन्थमें देखा या सुना नहीं जाता। वस्तुतः श्रील रूप गोस्वामिपाद द्वारा रचित दोनों ग्रन्थों (उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु) को गौड़ीय वैष्णव रसशास्त्रका वेद कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं होगी।

उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थकी दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं—(१) श्रीजीव गोस्वामी कृत लोचनरोचनी टीका और (२) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कृत आनन्दचन्द्रिका टीका। इनके साथ प्रत्येक श्लोकके नीचे मैंने तात्पर्यानुवाद देनेका प्रयास किया है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज, श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीहरिप्रिय ब्रह्मचारी, श्रीअच्युतगोविन्द दासाधिकारी, श्रीमाधवप्रिय ब्रह्मचारी, श्रीपुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीसुबलसखा ब्रह्मचारी, श्रीविजयकृष्ण ब्रह्मचारी, बेटी सविता, बेटी मधु तथा बेटी शान्तिने मेरी सहायता की है। श्रीमान् अचिन्त्य गौर दास तथा श्रीमान् सुन्दरगोपाल दास (फिजीवालों) ने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सम्पूर्ण आर्थिक सेवा की है। इन सभी भक्तोंकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद वर्षण करें—यह मेरी प्रार्थना है।

इस ग्रन्थके मुद्रण-कार्यमें अत्यन्त शीघ्रताके कारण कुछ मुद्राकर प्रमाद आदि त्रुटि-विच्युतियोंका रहना सम्भव है। सुधी पाठकवृन्द उनका संशोधनपूर्वक पाठ करनेसे हमलोग आनन्दित होंगे। परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इसका पाठ और कीर्त्तनकर परमार्थ-पथपर अग्रसर हों—यही प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

बहुलाष्टमी
१४ अक्टूबर २००६ ई.
५२० चैतन्याब्द

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

उज्ज्वलनीलमणिः

प्रथमोऽध्यायः
अथ नायकभेद-प्रकरणम्

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

नामाकृष्टरसज्ञः शीलेनोद्दीपयन् सदानन्दम्।
निजरूपोत्सवदायी सनातनात्मा प्रभुर्जयति॥१॥

तात्पर्यानुवाद—जिनके नाममात्रसे भक्तिरसिकजन आकृष्ट होते हैं, जो अपने सुन्दर स्वभावके द्वारा सदा ही अपने पिता श्रीनन्दबाबाके वात्सल्य भावको उद्दीप्त करते रहते हैं, जिनका स्वरूप सभीको उत्सव प्रदानकारी है तथा जिनका श्रीविग्रह नित्य है, उन प्रभु श्रीकृष्णकी जय होवे।

पक्षान्तरमें—जिनकी जिह्वा श्रीकृष्णादि नामोंके द्वारा वशीभूत है, जो अपने सुन्दर स्वभावसे सत्पुरुषोंके आनन्दको उद्दीपित करते हैं, जो रूपनामक मुझ अनुगत जनके लिए उत्सव प्रदान करनेवाले हैं, जिनका नाम श्रीसनातन गोस्वामी है, उन मेरे प्रभुकी जय होवे॥१॥

लोचनरोचनी

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः।

सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
श्रीवल्लभोऽनुजः सोऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः॥
हरिभक्तिरसामृतसिन्धौ जाते पुरा दुरालोके।
उज्ज्वलनीलमणौ मम लोचनरोचन्यसौ विवृतिः॥

(तथाहि—)अथ स एव श्रीरसामृतसिन्धुप्रकाशकः पूर्वं सर्वस्मादप्यपूर्वमुज्ज्वलाख्यं रसं किंचिदेव विवृत्य कृतकृत्यताममन्यमानः संप्रति (श्रीमद्भा. १/१/३) "पिवत भागवतं रसम्" इति न्यायेन व्यङ्ग-व्यञ्जकयोरभेदं व्यञ्जयन् उज्ज्वलनीलमणि-नामानं ग्रन्थं विधाय तं रसमतीव विवृण्वन्, श्रीमन्निजदैवतमपि श्रीमन्तं निजगुरुमपि तन्त्रेण स्तुवन् प्रार्थयते—नामाकृष्टेति। तत्र निजदैवतपक्षे नाम्ना नाममात्रेणाकृष्टास्तत्तदवतारावतारि-भक्तिरसिका येन सः। तथा शीलेन सुस्वभावेन सदा नित्यमेव श्रीमन्नन्दनामानं स्वपितरमुद्दीपयन्नुद्दीप्तभावं कुर्वन्, तथा निजरूपेण सौन्दर्येण सर्वेभ्य एवोत्सवदायी; तथा सनातनो नित्य आत्मा श्रीविग्रहो यस्य सः ; प्रादुर्भावमात्रेण लब्धजन्मादिव्यवहार इति भावः। तथा तथारूपः प्रभुः सदा प्रभवनशीलत्वात्तथा मदीयसेव्यत्वादीश्वरो जयति निजोत्कर्षमात्राविर्भावयतादिति ; (श्रीहरिनामामृते ३/१६८) "जयतेस्त्वन्त्वोस्त्यन्ती" प्रयोगस्यैव विधानात्। श्रीगुरुपक्षे—नामभिः कृष्णादिभिराकृष्टा वशीकृता रसज्ञा जिह्वा यस्य सः, तथा शीलेन सुस्वभावेन सतामानन्दमुद्दीपयन्, तथा निज आत्मानुगतो यो रूपस्तन्नामाहं तस्योत्सवदायी, तथा सनातनो नाम आत्मा विग्रहो यस्य सः; प्रभुरिति पूर्ववज्जयतीति च॥१॥

आनन्दचन्द्रिका

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः।

स्विद्यन् दृगन्तचपलाञ्चलवीजितोऽपि क्षुभ्यन् स्वकान्तिनगरान्तरवासितोऽपि।
तृष्यन्मुहुः स्मितसुधां परिपायितोऽपि श्रीराधया प्रणयतु प्रमदं हरिर्नः॥
धीमज्जन-प्रतिपद-स्तुतशङ्करालङ्कारावलिर्घनरसध्वनिसत्प्रसादा ।
श्रीरूपवागमृतदिव्यनदी मदीयं चेतः प्रविश्य दवथुं दवयत्वशेषम्॥
तेभ्यः श्रीजीवगोस्वामिचरणेभ्यो नमो नमः।
सिन्धुकोटिगभीराणां मतं येषां कृपामृतम्॥
एका तदीय-टीकायां कारिका संशयौघभित्।
अत्रैव परमोत्कर्ष इत्यत्र स्फुटमीरितम्॥

सा च (श्रीलोचनरोचन्यां नायकभेद-प्रक. २१)—

'स्वेच्छया लिखितं किञ्चित् किञ्चिदत्र परेच्छया।
यत् पूर्वापर-सम्बन्धं तत् पूर्वमपरं परम्॥' इति।
परकीया-लक्षणे यन्महाभावस्य लक्षणे।
स्वजनार्यपथत्यागो वास्तवत्वेन संस्तुतः॥
तेनैव हृषितो ग्रन्थस्यादि-मध्यावसानतः।
दुर्गमत्वेऽप्युज्ज्वलत्वाद्व्याचिख्यासुरिमं मुहुः॥
तदीयचरणाम्भोज-रजः कारुण्यलेशभाक्।
यदत्र प्रलपाम्येतत् क्षमन्तां ते कृपाब्धयः॥

अथ सोऽयं निखिलसहृदय-समुदय-हृदयालङ्कारः सकलकविमण्डलाखण्डलो रसिकमुकुटमणिरविरत-परमभागवतप्रसङ्गरङ्ग-समुदित्वर-प्रमोदभर-परवशतया परिवेषित-भक्तिरसामृतो ग्रन्थकारः पुनरपि परमान्तरङ्गानतिप्रियसुहृदोऽनुरञ्जयन्, श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धावप्यलक्षितचरप्रायमतिरहस्यमुज्ज्वलरसमुज्ज्वलं नीलमणिमिव स्वहृदयसंपुटादुद्घटय्येव प्रदर्शयिष्यन्, स्वाभीष्टदैवतं श्रीभगवन्तं स्वाग्रजं च परमभागवतं सर्वोत्कृष्टतया तन्त्रेणैव स्तुवन् मङ्गलमाचरति—नामाकृष्टेति। प्रभुर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यत एवात्र श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिप्रकटीकरणमहासाहसेऽपि ममाध्यवसायो भवतीति भावः। "जयति श्रीव्रजराजनन्दने, न हि चिन्ताकणिकाप्युदेति नः" इतिवत्। जयत्यर्थेन तं प्रति प्रणतोऽस्मीति नमस्कारोऽपि व्यज्यते; "स्वापकर्षबोधनानुकूलव्यापारविशेषो नमस्कारः" इति न्यायात्। अत्र निजेष्टदैवतपक्षे, नाम्नैवाकृष्टा रसज्ञा रसिकाः प्रस्तोष्यमाणत्वान्मुख्यत्वाच्च व्रजसुन्दर्यो येन सः। अथ चाविशेषेण रसज्ञमात्राकर्षणश्रुत्या स्वपर्यन्त-सर्वावतारवृन्दं स्व-प्रेयसीजनपर्यन्त-सर्वविध-भक्तश्रेणीं च स्वनाममाधुर्येणैवा-कृष्टवतोऽस्य सर्वोत्कर्षे योग्यताभिव्यञ्जिता। सदैव शीलेन "शुचौ तु चरिते शीलम्" इत्यभिधानात् स्वमञ्जुलचरितेन नन्दं पितरमुद्दीपयन्नुद्दीप्तभावं कुर्वन्निति तद्वात्सल्यस्य विषयीभवन्नपि चरितेनोद्दीपनालम्बनो भवतीत्यर्थः। निजरूपेण स्वसौन्दर्येण सर्वेभ्य एवोत्सवदायी; श्लेषेण, निजस्येव रूपं येषां ते निजरूपाः सखायस्तेभ्यः, तथा निजाः स्वीया दासास्तेभ्यो रूपेण स्वदर्शन दानेनोत्सवदायी। सनातनात्मा सच्चिदानन्दविग्रह इति क्रमेणोज्ज्वल-वात्सल्य-सख्य-दास्य-शान्तानां पंचानामपि विषयालम्बनत्वमस्य व्यञ्जितमिति सर्वोत्कर्षः। तेषां यथापूर्वं श्रैष्ठ्यमित्युज्ज्वलरसस्यैव मुख्यत्वम्, तथा विषयनाममात्रेणैव तदाश्रयालम्बनस्याकर्षणात् सर्वतोऽपि प्रेमाधिक्येन लब्धेन तदीयस्थायिभावस्य मधुराख्याया रतेर्विततत्वं,—रति-प्रेम-स्नेह-मान-प्रणय-रागानुराग-महाभावावस्थानां तत्रैव प्राकट्यात्। तथा रसज्ञा इति रसिक-सामान्य-निर्देशेन तद्रसस्यास्पष्टीकरणाद्रहस्यत्वं चेत्युत्तरश्लोके व्यक्तं भावि। पक्षे, नामभिः कृष्णादि-नामभिराकृष्टा वशीकृता जिह्वा यस्य स इति तस्यास्तत्र प्रवर्तने

स्वप्रयासलेशोऽपि नापेक्षित इति सर्वोत्कर्षः। शीलेन स्वभावेनैव सतां साधूनां विदुषां चानन्दमुत्कर्षेणोद्दीपयन्। निजस्य स्वीयस्य रूपस्य मल्लक्षणजनस्योत्सवदायी सनातननामा आत्मा स्वरूपं यस्य सः। श्रीमन्महाप्रभुपक्षोऽप्यत्रान्तर्भाव्यः, स प्रथममेव व्याख्येयः। यथा—सनातनस्य मदग्रजवर्यस्यात्मा सनातनस्तेन स्वीयदेहत्वेनाङ्गीकृत इति भावः। तथैव तच्चरितामृते कथापि। निजरूपैः स्वीयमूर्त्यन्तरैरिव श्रीमदद्वैतादिभिर्दामोदर-स्वरूपादिभिश्चोत्कृष्टं सवं संकीर्त्तनप्राययज्ञं दातुं सर्वजनेषु समर्पयितुं शीलं यस्य सः, "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः" इत्यमरः। तथा निजेन रूपेण रूपाख्येन स्वभक्तेनोत्सवदायीति "रूपस्तु स्वयमेव सः" इति सरस्वतीकृतोऽर्थोऽपि ज्ञेयः॥१॥

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितोऽति रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥२॥

तात्पर्यानुवाद—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं। इन पाँचों रसोंमें भी मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है। ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामीपादने अपने पूर्ववर्णित भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें प्रथम चार रसोंका साङ्गोपाङ्ग विस्तारपूर्वक वर्णन किया है; किन्तु भक्तिरसराज मधुररसका वर्णन अत्यन्त संक्षेपसे किया है। इसके तीन कारण हैं—(१) मधुर रसाश्रयी भक्त व्यतीत शान्त आदि दूसरे रसाश्रयी भक्तोंके लिए यह अनुपयोगी है, (२) मधुररसके भक्त बहुत हो सकते हैं, परन्तु उनमेंसे बहुत इस रसके संस्कारसे रहित हैं, इसलिए इसके रसास्वादनमें अपटु हैं, उनके लिए यह रस अत्यन्त दुरूह या दुस्तर्क्य है और (३) रागमार्गका वर्णन ही इस ग्रन्थका प्रधान विषय है। इसके अतिरिक्त अगणित प्रकारके अवान्तर स्वभाववाले व्यक्ति हैं। ऐसे विविध प्रकारके वासनाबद्ध व्यक्तियोंके लिए भी परमोच्च रागमार्गका रहस्य अपरिचित रहनेके कारण उनका चित्त वैधीमार्गमें ही विशेष रूपसे आविष्ट रहता है; ऐसे लोगोंके समीप यह मधुररस-प्रकाश करनेके लिए सर्वथा अयोग्य है। ये लोग इस रसके लिए अनधिकारी हैं। इसीलिए इस ग्रन्थमें अत्यन्त गोपनीय मधुररसका पृथक्‌रूपमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मूल तात्पर्य यह है कि भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ विभिन्न जातीय भक्तोंके लिए अनुशीलनीय है; अतः उसमें मधुर रसका अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें परिचयमात्र दिया गया है। परन्तु इस ग्रन्थमें, रागमार्गमें संसक्तचित्त और

रसास्वादनमें विशेष रूपसे पटु मधुररसके भक्तोंके लिए ही आस्वादनोपयोगी रूपमें उस मधुररसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है॥२॥

लोचनरोचनी—तत्र "निवृत्तानुपयोगित्वाद्दुरूहत्वादयं रसः। रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततााङ्गोऽपि लिख्यते॥" इति ये प्रागविवृतौ हेतवो दर्शितास्तेषु रहस्यत्वमेव मुख्यतया हेतुं वदन् संप्रति रहस्येव तदधिकारिणः प्रति प्रकाशनीय इत्याह—मुख्यरसेष्विति। शान्तप्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु मुख्येषु रसेषु यः पुरा रसामृतसिन्धौ संक्षेपेणोदितः स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः पुनरत्र उज्ज्वलनीलमणिनाम्नि ग्रन्थे विस्तरेणोच्यते। पुरा संक्षेपेणोदितत्वे हेतुः—रहस्यत्वादिति निवृत्तानां लौकिकादुज्ज्वलाख्यरसात्तत्साम्यमनेन तु भागवतादपि तस्मात् पराङ्मुखानां शान्तप्रीतिवात्सल्यान्यतरभावत्वेन वा तत्पराङ्मुखानामनुपयुक्तत्वात्तेभ्यो गोप्य एवायं रसः। तथा ये केचित् भागवते तस्मिन् बहुमानिनोऽपि तत्पर्यालोचनायां न चतुरास्तैरपि दुरूहोऽयं रस इति तेभ्योऽपि गोप्य एव कार्यः, किमुत विषयिभ्य इति रहस्यत्वमेवात्र मुख्यो हेतुरिति भावः। अत्र तु विस्तरेण वचने हेतुः रहस्यत्वादित्येव। कालदेशपात्रविशेषसंबन्धेन रहस्यत्वं प्राप्येत्यर्थः। ल्यब्लोपे पञ्चमी स्यात्। यद्वा पृथगित्यनेनैव रहस्य इति व्यज्यते। तस्मात् ग्रन्थान्तरवत् यत्र कुत्रचित् नायं प्रकाशनीय इत्युपदिष्टम्॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—भक्तिरसामृतसिन्धुतोऽस्य पार्थक्ये हेतुमाह—मुख्यरसेष्विति। शान्तादिषु मध्ये संक्षेपेणोदित इत्यनेन विततत्वम्, रसराडित्यनेन मुख्यत्वं चेति एतदपि हेतुद्वयं व्यञ्जितम्। किंतु रहस्यत्वस्यैव हेतुत्वे मुख्यत्वात्तदेव स्पष्टतयोक्तम्। तथा "निवृत्तानुपयुक्त त्वाद्दुरूहत्वादयं रसः रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततााङ्गोऽपि लिख्यते"॥ इति भक्तिरसामृतसिन्धौ रहस्यत्वेन अविवृतौ ये हेतवस्त्रय उक्तास्तेषु निवृत्तानुपयुक्तत्वं दुरूहत्वमिति हेतुद्वयं रहस्यत्व एवान्तर्भूतमिति नात्र पृथगुक्तम्। तथा शान्तदास्यसख्यवात्सल्येषु भक्तिबुद्ध्या उन्मुखानां उज्ज्वले तु स्थूलदृष्टया कामबुद्ध्या एवारुचिमतां निवृत्तानां प्राकृतनिवृत्तमार्गपरलोकानामत्रानुपयुक्तत्वम्। अतएव तादृशैः स्थूलवुद्धिभिर्दुरूहत्वं चेति तेभ्योऽयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूल्यमजानद्भ्योऽनादरशङ्कया गोप्य एवेति॥२॥

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥३॥

तात्पर्यानुवाद—आगे कहे जानेवाले विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी आदि भावोंके द्वारा जब मधुररति आस्वाद्यताको प्राप्त होती है, तब रसविशेषज्ञगण उसे मधुरभक्तिरस कहते हैं॥३॥

लोचनरोचनी—अथ मधुराख्यं भक्तिरसराजमेव पूर्वोक्तानुवादेन लक्षयति—वक्ष्यमाणैरिति। पूर्वं हि सामान्यतो भक्तिरसः प्रोक्तः। "विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥ एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्॥" इत्यनेन विभावादयश्च प्रोक्ताः॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—तमेव भक्तिरसराजं लक्षयति—**वक्ष्यमाणैरिति।** विभावाद्यैः स्वोचितैर्विभावानुभावसात्त्विकसंचारिभिः पूर्वग्रन्थ एव दर्शितलक्षणैः कारणकार्यसहकारिभिः स्वाद्यतां नीता सती मधुरा रतिस्तन्नामा स्थायिभावो मधुराख्यो मधुरो नाम भक्तिरसो भवेत्॥३॥

तत्र विभावेष्वालम्बना—

अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः॥४॥

तत्र कृष्णो यथा—

'पदद्युतिविनिर्द्धुतस्मरपरार्धरूपोद्धति–
र्दृगञ्चलकलानटीपटिमभिर्मनोमोहिनी[१] ।
स्फुरन्नवघनाकृतिः परमदिव्यलीलानिधिः
क्रियात्तव जगत्त्रयीयुवतिभाग्यसिद्धिर्मुदम्॥५॥

तात्पर्यानुवाद—विभावोंके अन्तर्गत आलम्बन विभाव—रति विषयक आस्वादनके हेतुको विभाव कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन भी दो प्रकारका होता है—विषय और आश्रय। मधुररसमें श्रीकृष्ण और उनकी प्रेयसियाँ ही क्रमशः विषय-आलम्बन और आश्रय-आलम्बन होती हैं। उदाहरण—

श्रीराधाके प्रणाम करनेपर देवी पौर्णमासी पूर्वरागवती श्रीराधाको आशीर्वाद देती हुई कहने लगीं—"राधे! हे वृन्दावनेश्वरि! जो अपने श्रीचरणकमलोंकी सौन्दर्यराशिके द्वारा अगणित मन्मथोंकी भी रूपगरिमाको विविध उपायोंके द्वारा अशेष भावसे खर्व कर रहे हैं (इसके द्वारा रुचिरत्व, अतुल्यरूप और अनुपम रूपमाधुर्य व्यक्त हुआ है), जो अपने कटाक्ष वैदग्धीरूप नर्तन-चातुरीके द्वारा अर्थात् युवतियोंको क्षुब्ध करनेवाली नेत्रोल्लास आदि विलास-भङ्गीके द्वारा युवतियोंका मनमोहन करते हैं (इसके द्वारा नारियोंका मोहनत्व एवं विदग्धत्व सूचित होता

---
[१] पाठ भेद—मनोहारिणी

है), जो नवजलधर सदृश परम स्निग्ध सुन्दर श्यामल वर्ण (निरुपाधिक करुणत्व) एवं सर्वश्रेष्ठ और मनोहर लीलाकदम्बके आश्रय हैं (इससे अतुल्य केलिशालित्व, अतुल्य वंशीवादनत्व सूचित होता है), युवतियोंके भाग्यफलस्वरूप वे श्रीकृष्ण ही तुम्हारा आनन्द विधान करें॥"४-५॥

लोचनरोचनी—"तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः। ते द्विधालम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे॥ कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः। रत्यादेर्विषयत्वेन तथाधारतयापि च॥ तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः। उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये॥ ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम्॥" इत्यादि। "अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः। ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया॥ नृत्यं विलुठितं गानम्" इत्यादि। "भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः। सत्त्वादस्मात्समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः॥ ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभङ्गश्च वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥ अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः। विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥ वागङ्गसत्त्वसूच्या ये ते ज्ञेया व्यभिचारिणः। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ॥ ऊर्मिवद्वर्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते। निर्वेदोऽथ विषादः" इत्यादि।

मधुराख्याया रतेर्लक्षणं चोक्तम्। "मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्। मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥"

तदेवं तदेतन्मधुराख्यभक्तिरसलक्षणमपि व्याख्येयम्। "प्रोक्तो मधुराख्यः" इत्येव पाठः पूर्वनिर्देशस्य प्रतिनिर्देशाय कल्पते। न तु शृङ्गाराख्य इति॥४॥

पदद्युतीत्यादि। पदद्युतीत्यादिविशेषणानां श्रीकृष्ण एव विशेष्यत्वेन बोध्यते। तत्रैव तेषां विशेषणानां परावस्थायाः पर्यवसानात्। "अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्" इत्यादिवदस्य हि उत्तमकाव्यत्वम्। दृगञ्चलेति। दृशोर्या अञ्चलकला अपाङ्गविलासास्ता एव नट्यास्तासां पटिमानो नटविद्याप्रावीण्यानि तैर्जगन्मोहिनी। जगत्त्रय्येव सानुरागत्वाद् भोग्यत्वाच्च युवतिरिव युवतिस्तस्याः किमुत तादृगनुरागार्हयुवतीनां भाग्यस्य सिद्धिर्भाग्यस्य फलरूपः। यद्वा जगत्रय्यां या युवतयो युवतिशब्दप्रयोगबलात्तादृगनुरागयोग्याः स्त्रियस्तासां भाग्यसिद्धिरिति। कासांचित्स्पर्शनेन कासांचिद्दर्शनेन कासांचिच्छ्रवणेन च भाग्यं श्लाघितम्। "श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः। उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः॥" इति श्रीशुकोक्तेः सिद्धिशब्दस्त्वणिमादावपि दृश्यत इति फलत्वेन व्याख्यातः। तवेति श्रोतारमुद्दिश्य प्रोक्तम्। एकत्वं च तच्छ्रवणाधिकारिवैरल्यात्॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—विभावेषु आलम्बनोद्दीपनभेदतो द्विविधेषु मध्ये प्रथमालम्बना उच्यन्ते—श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। वल्लभाः प्रेयस्य आश्रयालम्बनाः॥४॥

पदद्युतीति। पूर्वरागवतीं प्रणमन्तीं श्रीराधां प्रति पौर्णमास्या आशीर्वादः। पदस्यैकस्यापि द्युत्यैव विनिर्द्धूता एव स्मरपरार्धानामपि रूपोद्धतिः सौन्दर्यौद्धत्यं यया सेत्यनेन अयं नेता सुरम्याङ्ग इति पूर्वोक्तेषु अत्रापि वक्ष्यमाणेषु नायकगुणेषु आङ्गिकगुणा उपलक्षिताः। तथा तावत्संख्याककन्दर्पैरप्यशक्यं कर्मास्य चरणकिरण एवैकः करोतीति द्योतितया महापतिव्रतावृन्दस्यापि क्षोभणया वैकुण्ठनाथ-कान्तापर्यन्तसर्वयुवतीचित्ताकर्षणं समर्थितमेव। "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान्" इति, "देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः" इत्यादेः। तेन हा, मम साध्वीत्वमपगतमिति त्वया नानुतपनीयम्, सर्वासामपि तथाभावात् त्वद्दोषाभावाद् भावोऽपि मयि नापलपनीय इति भावः। दृशोरञ्चलमेव रङ्गस्थलं तत्र सूच्यमानाः शृङ्गारोपयोगिन्यः कला एव नट्यस्तासां पटिमानः कथ्यमान-शृङ्गारोपकरणसकल-वस्तुजाताभिनयप्रावीण्यानि नृत्यचातुर्याणि च तैर्मनसां प्रस्तुतत्वात् स्वप्रेयसीचित्तरूपसभ्यानां मोहिनी तत्तदास्वादं प्रापय्य मोहयित्रीति। "विदग्धश्चतुरः सुधीः" इत्यादयो मानसा गुणा व्यञ्जिताः। तथा दृगञ्चलकलाभिरेवात्र रसे सर्वं मुख्यतया वक्ति किं पुनर्मुख्येन गौणतयेति वाचिका अपि सूचिताः। नवघनाकृतिरित्यनेन श्यामवर्णत्वं महारसवर्षित्वं स्वप्रेयसीरूपसौदामिनीघटाभी रञ्जितत्वं श्यामत्वाद्रसरूपत्वाच्च मूर्तशृङ्गाररसरूपत्वं च ध्वनितम्। परमदिव्येति परसंबन्धगा अतुल्यकेलीत्यादयोऽसाधारणाश्चत्वारो गुणाश्च व्यञ्जिताः। तथा चास्य शृङ्गारचेष्टितस्याप्राकृतत्वान्निर्दूषणत्वं सर्वसंमाननीयत्वं च व्यञ्जितम्। जगत्त्रय्यां ऊर्ध्वाधोमध्याग्रवर्तिसर्वलोकेषु या युवतयस्तासां भाग्यस्य सिद्धिः फलरूपा तत्र कासांचिच्छ्रवणमात्रेण कासांचिद्दर्शनश्रवणाभ्यां कासांचिद्-दर्शनालिङ्गनादिभिरपि इति तस्य सर्वसुखदत्वेऽपि विशेषतो युवतिषु सुखदत्वाधिक्याच्छान्तादिसर्वरसविषयीभूतत्वेऽपि मधुररसस्यैव विषयताधिक्यम्। यतः "कामकेलिकलासक्तो रासलीलाविशारदः" इत्यादिगुणविशिष्टः स शान्तदाससखिगुरुषु मध्ये न केनापि स्वीयरसविषयीकर्तुं शक्यते। किंच युवतीर्विना तेषां गुणानाम-संपद्यमानत्वाद्रसनीयत्वासंभवाच्च तस्यापि सर्वेभ्यः सकाशात्ता एव परमसुखदा इति तासामेव भाग्यं फलितत्वेनात्र पद्ये निर्दिष्टम्। ततश्च गौणत्वमुख्यत्वाभ्यां अङ्गाङ्गिभावेन स्थितानां रसानां श्रीकृष्णेशृङ्गारस्यैवाङ्गित्वं व्यवस्थापितम्। अत्र 'पदद्युति' इत्यादिविशेषणैरसाधारण्येन श्रीकृष्ण एव विशेष्यतया बोध्यते। "अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्" इत्यादिवत्। नन्वत्र पद्ये शृङ्गाररसालम्बनरूपनायकस्य वर्णनात् माधुर्याख्यो गुण एव घटयितुमुचितो न पुनरोजआख्यः। यदुक्तं काव्यप्रकाशे—"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्" इति, "मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू। अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना मता॥" इति तथा "दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति" इति, "योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः। टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥" इति। उच्यते—अत्र पद्ये

स्मरपरार्धजेतृत्वं तथा "लक्ष्यादिसर्वयुवतिचित्ताकर्षणलिङ्गेन श्रीकृष्णस्य वैकुण्ठनाथ–पर्यन्तसर्वनायकवृन्दविजेतृत्वं च दृश्यते पदद्युतीत्यादिभिर्विशेषणैरसमोर्ध्व–गुणोद्गारिभिर्महाभटैरिवेति प्रकटस्यापि शृङ्गाररसस्य गर्भे वीररसस्य स्थितेस्तथा घटना नासमञ्जसा" इति॥५॥

अयं सुरम्यो मधुरः सर्वसल्लक्षणान्वितः।
बलीयान्नवतारुण्यो बावदूकः प्रियंवदः॥६॥

सुधीः सप्रतिभो धीरो विदग्धश्चतुरः सुखी।
कृतज्ञो दक्षिणः प्रेमवश्यो गम्भीरताम्बुधिः॥७॥

वरीयान्कीर्तिमान्नारीमोहनो नित्यनूतनः।
अतुल्यकेलिसौन्दर्यप्रेष्ठवंशीस्वनाङ्कितः॥८॥

इत्यादयोऽस्य शृङ्गारे[२] गुणाः कृष्णस्य कीर्तिताः।
उदाहृतिरमीषां तु पूर्वमेव प्रदर्शिताः॥९॥

तात्पर्यानुवाद—अनन्त कल्याण–रत्नाकर श्रीकृष्णके इस मधुररसके अत्यन्त उपयोगी पच्चीस गुण कहे जा रहे हैं। सुरम्य, मधुर, सर्वसुलक्षणोंसे युक्त, बलवान, नवकिशोर, सुवक्ता, प्रियभाषी, बुद्धिमान, प्रतिभावान, धीर, विदग्ध, चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेमवश्य, गम्भीर, श्रेष्ठ, कीर्त्तिमान, रमणीजनमनोहारी, नित्यनवीन, अतुलनीय केलिपरायण, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, वंशीवादन परायण—इन सद्‌गुणोंसे युक्त पुरुष ही श्रीकृष्ण हैं। इनके उदाहरण पहले ही भक्तिरसामृतसिन्धुमें प्रदर्शित हुए हैं॥६–९॥

लोचनरोचनी—तत्र पूर्वोक्तेषु गुणेषु रसेऽस्मिन् योग्यैर्गुणैर्विशिष्टतया तं दर्शयति—अयं सुरम्य इति। सुरम्य इत्यादिशब्दाः केचित्पूर्वानुसारिणः केचित्पूर्वरूपिणः। तत्र पूर्वो यथा सुरम्यः सुरम्याङ्गः मधुरो रुचिरः। 'रुचिरः' इत्येव वा पाठः। नवतारुण्यो वयसान्वितः॥६॥

सुधीर्बुद्धिमान्। सप्रतिभः प्रतिभान्वितः। धीरः सुपाण्डित्यः। गम्भीरताम्बुधिर्गम्भीरः॥७॥

नारीमोहनो नारीगणमनोहारी। अतुल्येति। 'त्रिजगन्मानसाकर्षिमुरलीकलकूजितः' इति। अन्ये तु पूर्वरूपिण एव॥८॥

---

[२] पाठ भेद—मधुरे

उदाहृतिरिति तु प्रायिकमेव "सर्वसल्लक्षणान्वितः" इत्यादिषु रसान्तरोदाहरणानि च तत्र दृश्यन्त इति। किं तु तानि वक्त्रन्तरादिकं प्रयुज्यात्रापि संगमनीयानीति भावः। यथा सर्वसल्लक्षणान्वितत्वे "रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि हरेरङ्गेष्वलं तुङ्गता विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गम्भीरता च त्रिषु। दैर्घ्यं पञ्चसु किंच पञ्चसु यतः सूक्ष्मत्वमास्ते यथा द्वात्रिंशद्वरलक्षणः स तु भवेदर्हस्तव श्रीमति॥" इति। तदेवमपि 'पदद्युति' इत्यादिना यत्संक्षिप्य वर्णितं तत्रैवैते गुणाः प्रवेशनीयाः। विस्तरभिया तु न विव्रियन्ते॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—कैर्गुणैर्विशिष्टोऽयं मधुररसालम्बनो भवतीत्यपेक्षायामाह—अयमिति। अत्र सुरम्येत्यादिभिः पञ्चभिर्विशेषणैः कायिकाः गुणाः, वावदूकः प्रियंवद इत्येताभ्यां वाचिकाः॥६॥

सुधीरित्यादिभिश्चतुर्दशभिर्मानसाः॥७॥

वरीयस्त्वं सर्वजनमुख्यत्वम्, कीर्तिमत्त्वं सर्वलोकगीयमानत्वम्, नारीमोहनत्वं युवतिमनोहारित्वम्, नित्यनूतनत्वं द्रष्टृजनप्रतिक्षणचमत्कारिकत्वमित्येते चत्वारः परसंबन्धेन भवन्तीति परसंबन्धगाः। केलयश्च, सौन्दर्याणि च, प्रेष्ठाः प्रेयस्यश्च, वंशीस्वनश्च, तैरतुल्यैरङ्कितश्चिह्नित इत्येकेन चत्वारोऽसाधारणा गुणा उक्ताः। यदुक्तम्—"लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यं वेणुरूपयोः। इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥"८॥

उदाहृतिरिति। तत्र तत्र "रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि शिशोरङ्गेष्वलं तुङ्गता" इत्यादि रसान्तरसंगतापि वक्तृवाच्यावस्थाभेदांस्ताननपेक्ष्यात्रापि रसे संगमयितुं शक्येति भावः॥९॥

पूर्वोक्तधीरोदात्तादिचतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ॥१०॥

तत्र पतिः—

उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत्॥११॥

यथा—

"रुक्मिणं युधि विजित्य रुक्मिणीं द्वारकामुपगमय्य विक्रमी।
उत्सवोच्छलितपौरमण्डलः पुण्डरीकनयनः करेऽग्रहीत्॥"१२॥

तात्पर्यानुवाद—भक्तिरसामृतसिन्धुमें ऐसा कहा गया है कि नायक चार प्रकारके होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत। विविध गुण और क्रियाओंके भाजन श्रीकृष्ण इन सब प्रकारके नायकोचित

गुणोंसे परिमण्डित हैं। चार प्रकारके नायकोंमें परस्पर जो विरुद्धभाव दिखलाई पड़ते हैं, वे सभी श्रीकृष्णरूप नायकमें उनकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता और निखिल रसोंको एक ही समय धारण करनेकी शक्तिके कारण वर्तमान हैं और श्रीकृष्णके इच्छानुसार कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त ये चार प्रकारके नायक पुनः मधुररसमें पति और उपपतिके भेदसे दो प्रकारके होते हैं॥१०॥

पति—अग्नि, विप्रगण और समाजके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको साक्षी रखकर वेदोक्त विधिके द्वारा जो कन्याका पाणिग्रहण करता है, वही उस कन्याका पति होता है॥११॥

उदाहरण—रुक्मिणी-हरणके प्रसङ्गको समाजके लोगोंके मुखसे सुनकर महाराज युधिष्ठिरके द्वारा प्रेरित और पुनः वहाँके निश्चित संवादको जानकर संदेश लानेवाला व्यक्ति महाराज युधिष्ठिरको निवेदन कर रहा है—"महापराक्रमशाली श्रीकृष्ण युद्धमें रुक्मीको पराभूतकर रुक्मिणीको द्वारकामें लेकर उपस्थित हुए और कुण्डिन नगरमें जो कुछ हुआ था, उन्होंने द्वारकावासियोंको बतलाया। उसे सुनकर वहाँ एकत्रित सभी पुरवासी, राजन्यवर्ग महानन्दसे उत्फुल्ल हुए।" इस पद्यमें धीरोदात्त और धीरोद्धत नायकका उदाहरण दिया गया है। 'युद्धमें' और 'पराभूत कर' इन दोनों पदोंके द्वारा धीरोद्धत नायकके समस्त गुणोंको दिखलाया गया है। मात्सर्य, अहङ्कार और रोष इत्यादि न रहनेपर विजय प्राप्त करना असम्भव है। शत्रुकी जीत न हो, मेरी ही जीत हो—ऐसी स्पृहामें मात्सर्य और अहङ्कारकी भी अभिव्यक्ति है; क्योंकि अहङ्कारके बिना युद्धका प्रारम्भ ही सम्भव नहीं है। रुक्मिणीका भयचकित रम्य मुखकमल दर्शन करनेकी अभिलाषासे, प्रथमतः श्रीकृष्ण अपने बलको प्रकट न कर—स्वयं अवध्य होनेपर भी—रुक्मीके प्रति खड्ग धारणकर उसे वध करनेका उपक्रम करने लगे। यह उनका मायावित्व है। 'महापराक्रमशाली' विशेषणके द्वारा उनका रोष, चाञ्चल्य और आत्मप्रशंसा अभिव्यक्त हुए हैं। द्वारकामें जाकर उन्होंने विवाह किया—इस वाक्यके द्वारा उनका धीरोदात्त-गुण सूचित हो रहा है। शत्रुपक्षके पराजित होनेपर भी कुण्डिननगरमें विवाह न कर रुक्मिणीको द्वारका लाकर वहींपर विवाह किया—इसके द्वारा पिता-माता आदिकी अपेक्षा सूचित हो रही है। इसके

द्वारा उनका विनय सूचित होता है। रुक्मीको पराजित करके, किन्तु वध करके नहीं—इस वाक्यके द्वारा परमापराधी, वध करने योग्य रुक्मीका वध न कर उसके प्रति क्षमा और रुक्मिणीके प्रति उनकी करुणा सूचित होती है। युद्धमें दुष्ट राजन्यवर्गको उन्मथितकर "मैं रुक्मिणीको लाऊँगा"—इस वाक्यके द्वारा श्रीकृष्णकी सुदृढ़ व्रतता, स्वयं महामहिमान्वित होनेपर भी आत्मश्लाघा-राहित्यके द्वारा अकथनता व्यक्त होती है। निजवाञ्छित कार्यके विषयमें अपने परिजनोंके भी दुस्तर्क्य स्वभाव हेतु उनका गाम्भीर्य, सुसत्त्वभृत्त्व और सुबलत्व व्यक्त हो रहा है। पुनः स्वयं अपरिमेय विविध शक्तिविशिष्ट होनेके कारण जरासन्ध आदि अति निकृष्ट राजन्यवर्गके विषयमें अत्यन्त तुच्छ बुद्धि रहनेके कारण उनमें गूढ़गर्भत्व भी परिस्फुट है॥१२॥

लोचनरोचनी—पूर्वोक्तधीरोदात्तेति। तथा हि—"गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढव्रतः। अकत्थनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत्॥ विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः। निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः॥ शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः। विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदाहृतः॥ मात्सर्यवानहंकारी मायावी रोषणश्चलः। विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः॥" इति। पतिश्चोपपतिश्चेति पतिः पुरवनितानाम्, द्वितीयो व्रजवनितानाम्। द्वितीयत्वं च यद्यप्यासां[३] अवतारावसर एव प्रत्याययितुं न तु सर्वदा। वक्ष्यते हि स्वयमेव—"लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥" इति प्राचां मतेनापि संगमयिष्यते। "नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण। आशंसया रसविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥" इति। किंच यदिदं स्कन्दपुराणमुपलक्ष्यागमप्रमाणेन लक्ष्यते—"वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः। हरिणा व्रजदेवीनां विरहो नास्ति कर्हिचित्॥" इति, अत्र च तासां अनादित एव कृष्णेन संबन्धः कदाचिदपि नान्येनेति प्रतिपद्यते दूरतस्तावत् पत्यन्तरम् येनासु तस्यौपपत्यं संभाव्यम्। तथाप्यवतारलीलामधिकृत्य कृतेऽत्र ग्रन्थे श्रीराधादिषु तदेवोपक्रम्य वक्तव्यमिति युक्तमेव पतिप्रतियोगित्वेनोपपतिश्चेत्यतिदिश्यते॥१०-१२॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र रसे आलम्बनस्य नायकस्यास्य कियन्तो भेदा इत्यपेक्षायामाह—पूर्वोक्तेति। पूर्वोक्ता धीरोदात्तादयश्चत्वारो भेदा यस्य सः, तथा तस्य श्रीकृष्णस्य इह रसे पतिश्च उपपतिश्चेति प्रभेदौ॥१०॥

---

[३] यद्यप्यासामित्यादिकं परेच्छानुसारेणैव अन्यथा द्वितीयो व्रजवनितानामित्यत्र व्याख्यागौरवं परिहृत्य उपपत्यतिदेशस्तु व्रजवनितानामित्येवावक्ष्यत् मललिखनस्यैव विवेचनायोगत्वात्। इति कस्यचित्॥

पतित्वं पुरसुन्दरीषु विप्राग्निसाक्षिकं प्रसिद्धमिति प्रथमं तत्रैव उदाहरति—रुक्मिणमिति। पद्यद्वयं द्रौपदीं प्रति सुभद्रासख्याः कस्याश्चिदुक्तिः॥११–१२॥

कलितयुगलभावः क्वापि वैदर्भ्यपुत्र्या
मखभुवि कृतदीक्षो दक्षिणार्थान् ददानः।
विहरति हरिरुच्चैः सत्यया दीयमानः
क्वचिदलमलसाङ्गः पुण्यके नारदाय॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरा उदाहरण—द्वारकापुरीमें किसी स्थानपर श्रीकृष्ण रुक्मिणीके सहित यज्ञभूमिमें दीक्षित हो रहे हैं तथा दक्षिणाके लिए एकत्रित प्रचुर धनका दान कर रहे हैं। पुनः अन्यत्र श्रीहरिवंशमें कहे गए पुण्यकव्रतके अन्तमें सत्यभामाजीने श्रीकृष्णको ही नारदजीको दान दे दिया। वही अलसाङ्ग हरि पुनः सत्यभामाके साथ भोगविलास करने लगे। इस पद्यके पूर्वार्द्धमें यज्ञादि करनेके कारण वे धीरशान्त और उत्तरार्द्धमें प्रेयसीवशहेतु धीरललित नायक हैं॥१३॥

लोचनरोचनी—पुण्यके श्रीहरिवंशोक्ततन्नामव्रते। कथा तु तत्रैव ज्ञेया। अलसाङ्गो भावविशेषपारवश्यात्॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र पतित्वमात्रं व्यक्तम्, न तु मधुरो रसः, इत्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति मखभुवि कृतदीक्ष इत्यादिना गुरुविप्राग्निमन्त्रधर्मादिसाक्षिकं रुक्मिण्यादिष्वेव सर्वथाऽस्य पतित्वमिति व्यञ्जितम्। तत्रापि सत्यया दीयमान इति सत्यभामायाः सौभाग्याधिक्यं मदीयतामयस्नेहवत्या तया तस्य वशीकारात्। पुण्यके श्रीहरिवंशोक्ततन्नामव्रते। कथा तु तत्रैव ज्ञेया। अलसाङ्ग इति संभोगशृङ्गारो व्यञ्जितः। त्वं मां ब्राह्मणाय दास्यसीति अधुना तु मया सह क्षणं रहसि रमेति तत्प्रार्थनाहठात् स तया निष्पादितो ज्ञेयः॥१३॥

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥१४॥

इति संकल्पमाचेरुर्या गोकुलकुमारिकाः।
तास्वेव कियतीनां तु(४) पतिभावो हरावभूत्॥१५॥

---

(४) च

मूलमाधवमाहात्म्ये श्रूयते तत एव हि।
रुक्मिण्युद्वाहतः पूर्वं तासां परिणयोत्सवः ॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—हे कात्यायनि! हे महायोगिनि! हे महाधीश्वरि! हे देवि! मुझे ऐसा वर दे कि श्रीनन्दनन्दन मेरे पति होवें। आपको नमस्कार है। गोकुलकी जिन सब कुमारियोंने ऐसा सङ्कल्प किया था, उनमेंसे किसी-किसीका श्रीकृष्णमें पतिभाव था। मूलमाधव नामक ग्रन्थमें रुक्मिणी विवाहके पूर्व ही श्रीकृष्णके साथ व्रजकुमारियोंके विवाह-उत्सवकी बात लोक-परम्परासे सुनी जाती है। किन्तु उसका कोई प्रमाण-वाक्य नहीं मिलता॥१४-१६॥

लोचनरोचनी—अवतारलीलायामपि कासुचिद्व्रजकुमारीषु व्यक्तपतिभावत्वं दर्शयति—यथा वा कात्यायनीति। कियतीनामपि तद्भावयोग्यानां गोकुलकुमारीणां मध्ये याः काश्चिदेवं संकल्पमाचेरुस्तास्वेव तासामेव न त्वन्यासां गृहस्थितानां पतिभावो हरावभूदित्येवार्थः। "याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इत्यनेन तासां सर्वासामेव सिद्धमनोरथत्वं स्वयमेव श्रीकृष्णेन स्वीकृतम्। वक्ष्यते च—"अनूढाः कन्यकाः प्रोक्ताः" इत्याद्यन्ते "तत्र दुर्गाव्रतपराः कन्या धन्यादयो मताः" इति, "गान्धर्वरीत्या स्वीकारात्स्वीयात्वमिह वस्तुतः" इति च॥१४-१५॥

न केवलं पतिभाव एव, किं तर्हि विवाहोऽपि जात इत्याह—मूलेति। श्रूयते इति परम्परयैव श्रवणं ज्ञाप्यते न तु साक्षादिति। "तदेतच्च माभून्नाम सिद्धा" इति स्वीकारमय गान्धर्वविवाहेन श्रीमन्नन्दगोपसुतरूपपतिप्राप्तिसंकल्पस्यात्रैव सिद्धत्वादिति भावः॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रसिद्धं पतित्वमुदाहृत्य प्रच्छन्नपतित्वमाह—यथा वेति। तास्वेव मध्ये कियतीनां पतिभावः न तु सर्वासां कन्यानाम्। वक्ष्यमाणप्रकारेण धन्यादीनां तासां तूपपतिभाव एवाभूदिति भावः। एतद्द्वैविध्यं तासां "कात्यायनि महामाये" इति मन्त्रार्थस्य द्वैविध्यसंभवादवगम्यते। स चार्थश्च यथा—हे कात्यायनि! नन्दगोपसुतं मे पतिं कुरु। ननु 'कुरु' इत्यनेन मय्येव किमिति तत्र स्वातन्त्र्यमर्प्यते। अहं तु तदर्थं तत्पितरौ प्रेरयिष्यामि मात्रम्॥ तस्मात् कारयेति वा देहीति वा प्रयुज्यतामित्याशङ्क्य सवैकल्यमाह—हे महायोगिनीति। तेन सह योगस्त्वयैव शीघ्रं संपाद्यः, न तु पित्रादिव्यवधानोपद्रवेण। कालविलम्बस्यासहत्वादिति भावः। अधीश्वरीति। तत्र तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः। किंच हे महामाये इति मायया मत्पितरौ तथा मोहय यथा कदाचिदपि गोपान्तरेण मद्विवाहस्ताभ्यां न भाव्यते। श्रीकृष्णाङ्गसङ्गरहस्यं च ज्ञातुं न शक्यते इति कियतीभिः मृद्वीभिः परोढानां

श्रीराधाचन्द्रावल्यादीनां श्रीकृष्णाभिसारादौ पतिश्वश्रुननान्द्रादियन्त्रणामालक्ष्य गोपान्तरेण स्वविवाहमनिच्छन्तीभिः श्रीकृष्ण एव पतिभावं निश्चिन्वतीभिर्देवीपूजाकाले स्वस्वमनस्युपस्थापित इति तासु श्रीकृष्णस्य पतित्वमेव। तथा नन्दगोपसुतं मे देवि, पतिं कुरु। दीव्यति देवयतीति वा देवी। ग्रहादित्वाण्णिनिः। देवी चासौ पतिश्चेति तं क्रीडाप्रयोजनकं पतिं कुरु। न तु धर्मतः पतिमित्यर्थः। श्रीकृष्णस्य संप्रत्यनुपनीतत्वेन विवाहायोग्यत्वात् परमोत्कण्ठावतीभिरस्माभिः। कालविलम्बनस्या-सह्यत्वाच्चेति भावः। हे महामाये! हे महायोगिनीति पितृभ्यां गोपान्तरेण सहागामिनि काले मद्विवाहे निष्पादितेऽपि तान् पत्यादीन् मोहयित्वा तत्स्पर्शात्संरक्ष्य श्रीकृष्णेन सहैवाहं त्वयैव योजयितव्या। ततश्च विवोढ़ा मे पतिंमन्य एव भविष्यति। श्रीकृष्ण एव पतिरिति न कदाचिति् क्षतिरित्यर्थस्तु अपराभिः प्रखराभिः श्रीराधादिपरोढागणसङ्गिनीभिः श्रीकृष्णाङ्गसङ्गमात्रतात्पर्यवतीभिः कन्याभिः स्वस्वमनस्युद्भावित इति तासु श्रीकृष्णस्योपपतित्वमेवेति विवेचनीयम्। किंचायमेवार्थो भगवतोऽप्यभिप्रेत इत्यवगम्यते, तत्र व्रतान्ते "याताबला व्रजं सिद्धा" इत्यनन्तरं "भविष्यामि पतिर्हि वः" इत्यनुक्त्वा "मयेमा रंस्यथ क्षपाः। यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥" इत्युक्तेः॥१४॥

कियतीनां मध्ये या इति संकल्पमाचेरुः तास्वेव तासामेव पतिभावोऽभूदिति व्याख्याने पाठक्रमोल्लङ्घनं कियतीनामित्यस्य वैयर्थ्यं षष्ठ्यर्थे सप्तम्याश्चासिद्धिरिति दोषत्रयम्। तथाग्रे "याश्च गोकुलकन्यासु पतिभावरता हरौ" इत्युमाव्रतफलं "पिच्छावतंसी पतिः" इत्यादिना स्वकीयाप्रकरणे उमाव्रतपरा उक्ताः। अथ परकीया इति परकीयाधिकारे—"तत्र दुर्गाव्रतपराः एव कन्या धन्यादयो मताः" इति तद्व्रतपरा एव काश्चित् परकीया अप्युक्ता इति कात्यायनीव्रतपराणां द्वैविध्यमवश्यमेव व्याख्येयम्। "तत्र दुर्गाव्रतपराः कन्या धन्यादयः" इत्येतत् पद्यं व्याख्यया स्वकीयास्वेव प्रक्षेप्तव्यमिति चेत् स्वकीयात्वस्य पौनरुक्त्यं परकीयाप्रकरणे तत्पाठस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यनुसंधेयम्॥१५॥

श्रूयते लोकपरम्परया, न तु तत्प्रमाणवचनं क्वापि प्राप्यत इति भावः॥१६॥

अथोपपतिः—

रागेणोल्लङ्घयन् धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीयप्रेमसर्वस्वं बुधैरुपपतिः स्मृतः[५]॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—उपपति—जो परकीया नायिकाके प्रयोजनमूलक रागके द्वारा (आसक्तिवशतः) धर्मका उल्लघंन करते हैं एवं परकीया अबलाओंका प्रेम ही जिनका सर्वस्व होता है, वे उपपति कहलाते हैं॥१७॥

---

[५] तदीयस्य परकीयाबलासन्बन्धिनः प्रेमसर्वस्वं न तु बहुब्रीहि तत्त्वे पुंस्त्वं स्यात् तदीय प्रेमवसतिरित्यर्थः।

लोचनीरोचनी—रागेणोल्लङ्घयन् धर्ममिति। साधारणस्योपपतेर्लक्षणमत्र यल्लिखितं तत्खलु कृष्णे तल्लक्षणस्य वास्तवत्वाभावात्तत्रातिदेश एव युज्यत इति विवक्षया स्वजनप्रेमवशावतारलीलावेशेन नित्यलीलामननुसंधानात् तस्य तासां च तादृशीनां लीलाशक्तिर्माययैव रसविशेषपरिपोषाय तासु परकीयात्वं प्रत्यायय्य तत्रौपपत्यं प्रत्यायितवतीति। दृश्यते च तादृशलीलावेशेन तस्य क्वचिदननुसंधानम्— "इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्। विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ॥" इत्यादिषु[६]॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—परकीया अबला एवार्थः प्रयोजनं तद्वता रागेण धर्मम् उत्कर्षेण बुद्धिपूर्वकमेव लङ्घयन् तदीयस्य परकीयाबलासंबन्धिनः प्रेम्णो वसतिर्वासस्थानमिति विशेषणाभ्यां प्रेम्णः परस्परविषयाश्रयत्वं व्यक्तम्॥१७॥

यथा पद्यावल्याम्—

"संकेतीकृतकोकिलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो
द्वारोन्मोचनलोलशंखवलयक्वाणं मुहुः शृण्वतः।
केयं केयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो,
राधाप्राङ्गणकोणकोलिविटपिक्रोडे गता शर्वरी॥"१८॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—पौर्णमासीके प्रति वृन्दाजी कह रही हैं—देवि! एक समय रात्रिकालमें श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके प्राङ्गणके एक कोनेमें बदरीवृक्षके मूलमें अवस्थित होकर ठीक कोयलकी बोली जैसी कूहू-कूहू मधुर निनाद करते हुए श्रीमती राधिकासे मिलनेके लिए सङ्केत करने लगे। उसे सुनकर श्रीमती राधिका शयन गृहसे निकलकर द्वार खोलनेकी चेष्टा करने लगीं। किन्तु उनके हाथोंमें शंख निर्मित वलयोंकी ध्वनि होने लगी। उस ध्वनिको सुनकर श्रीकृष्ण बड़े आनन्दित हुए। किन्तु ठीक उसी समय दूसरे घरमें बूढ़ी जटिला शंख-वलयकी ध्वनिको सुनकर चिल्ला उठी—"कौन है रे! कौन है रे!" जटिलाकी कर्कश चिल्लाहटको सुनकर श्रीमती राधा एवं श्रीकृष्ण दोनोंके हृदय विदीर्ण होने लगे। कुछ देर पश्चात् उन दोनोंने सोचा, अब बूढ़ी सो गई होगी। ऐसा विचारकर श्रीकृष्णने पुनः पहलेकी भाँति कूहू-कूहू बोलीके द्वारा सङ्केत करना

---

[६] यत्तु माययैवेत्यादिकं व्याख्यातं तद्दरीकुञ्जेत्यादिदृष्टान्तेन योगमाययैव प्रतिपादिता वैष्णवतोषण्यां तदननुसन्धाने इच्छाशक्तिरेव कारणमिति स्वयमेव व्याख्यातम्। तस्मादेषा व्याख्या परेच्छानुसारिणी किन्तु अनयैव औपपत्यं स्पष्टीकृतमिति दिक्।

प्रारम्भ किया। श्रीराधिका भी पुनः द्वार खोलनेके लिए उपस्थित हुईं। और पुनः बूढ़ी जटिला "कौन है रे! कौन है रे!" कहते हुए चिल्ला उठी। इस प्रकार इधर श्रीमती राधिका और उधर श्रीकृष्ण सोचते, बूढ़ी अभी भी सो नहीं रही है। पुनः-पुनः "कौन है रे! कौन है रे!", इस प्रकार चिल्लानेपर दोनों चुपचाप होकर अपने स्थानपर बैठ जाते। कितने दुःखकी बात है। इस प्रकार श्रीकृष्ण सारी रात बदरीवृक्षके नीचे श्रीमती राधिकासे मिलनेकी प्रतीक्षा करते रहे। इस उदाहरणमें उत्कण्ठावशतः श्रीराधाकृष्ण युगलका रातभर जगना, उनकी प्रच्छन्न कामुकताकी अभिव्यक्ति है। प्रथमतः सङ्केत-ध्वनि सुनकर श्रीराधाके हृदयमें उल्लास और द्वितीयतः शंख-वलयकी ध्वनिको सुनकर श्रीकृष्णको परमानन्दकी अनुभूति हो रही है। पुनः उसी समय वृद्धाके चिल्ला उठनेपर दोनोंमें आनन्दके बदले शङ्काका उदय देखा जाता है। इस प्रकार औपपत्य-विषयमें अनेकानेक निवारणोंको भी दिखाया गया। उक्त पद्यमें यह दिखलाया गया है कि श्रीकृष्णके साथ व्रजसुन्दरियोंके लीलाविशेषमें ही शृङ्गाररसका परम उत्कर्ष है॥१८॥

लोचनरोचनी—"अत्र यत् पदावलीसंगृहीतं संकेतीकृतेत्यादिकं कस्यचित्कवेः पद्यमुदाहृतम्, तत्खलु तादृगौपपत्यरीतिप्रत्यायनायोत्प्रेक्षामात्रम्। "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्। हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप॥" इति सर्वसमृद्धिमतां सर्वेषामेव व्रजजनानां तादृशदरिद्रगृहस्थताव्यञ्जनानुपपत्तेः। ग्रन्थकृद्भिरपीदं पूर्वग्रन्थे श्रीबिल्वमङ्गलवचनमत्र प्रमाणितमस्ति, "चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्। वृन्दावनं व्रजधनं ननु कामधेनुवृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः॥" इति। वक्ष्यते च—"तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावली उभे। यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः॥" इति॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—"संकेतीकृतेति। पौर्णमासीं प्रति वृन्दावचनम्। तत्र संकेतीकृतेति द्वारोन्मोचनेत्याभ्यां द्वयोरप्यौत्कण्ठ्येनोन्निद्रत्वं प्रच्छन्नकामुकत्वं च। तत्रापि प्रथमविशेषणेन श्रीराधाया हर्षोत्कर्षः। द्वितीयेन श्रीकृष्णस्य। पुनश्च केयं केयमित्यनेन हर्षप्रशमशङ्कोदयो द्वयोरेव। ततश्च 'मिथो दुर्लभता' 'बहु वार्यते' इति ताभ्यां च विषादौत्कण्ठ्यचापल्यान्यतिवर्धितानि। मुहुरिति कतिपयक्षणानन्तरं पुनरपि कोकिलादिनिनदद्वारोन्मोचनजरतीव्याक्यानि तथा भाववर्धकानीति ज्ञेयानि। शर्वरी रात्रिर्गता तथैव व्यतीतेत्यतो मयाऽद्य दिवसे शीघ्रमेव कुञ्जगृहे संगमितौ तौ संप्रति

क्रीडत इति द्योतितस्य सम्भोगशृङ्गारस्य परमोत्कर्षः प्रतिष्ठितः। औपपत्यघटित–बहुवार्यत्वादिगर्भेण नक्तन्तनविप्रलम्भेनातिपोषणात्॥१८॥

"अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः॥"१९॥

तथा च मुनिः—

"बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः॥"२०॥

तात्पर्यानुवाद—इस उपपति भावमें ही शृङ्गार रसका परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित हुआ है। भरतमुनिने भी कहा है—जिस रतिमें समाजगत और धर्मगत बहुत प्रकारके निवारण अर्थात् बाधाएँ रहती हैं, जिस रतिमें परस्पर प्रछन्न कामुकता होती है तथा परस्परके दर्शन, स्पर्शन और सम्भाषणके विषयमें भी दुर्लभता रहती है, उसीको कामकी श्रेष्ठ और परम शोभामयी रति (रमणीय या क्रिया) समझना चाहिए॥१९-२०॥

लोचनरोचनी—अत्रैवेति। श्रीकृष्णेन सह व्रजसुन्दरीणामीदृशलीलाविशेष एवं शृङ्गारस्य परमोत्कर्ष इत्यर्थः॥१९॥

कथं तत्राह—तथा च मुनिरिति। मुनिर्भरतः। किमाह मुनिस्तत्राह—बहु वार्यते इति। यतो रतेः सकाशात् मिथुनं बहु निवार्यते, यत्र रतौ मिथुनस्य प्रच्छन्नकामुकता, या च रतिर्मिथो दुर्लभतामयी, सा मन्मथस्य सम्बन्धिनी रतिः परमा मता। अयं तु ग्रन्थकृतां भावः—स हि वार्यमाणत्वादिसद्भावेन रसोत्कर्षं स्थापयति तच्चात्रापि 'ता वार्यमाणाः पतिभिः' इत्यादिना स्पष्टमेवास्तीति तन्मतेऽप्यस्त्यत्र रसोत्कर्ष इति॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्रैव औपपत्य एव। न तु दाम्पत्य एव इत्यर्थः। प्रतिष्ठितः प्रतिष्ठां प्राप्तः॥१९॥

अत्र प्रथमं सर्वमूलभूतं सर्वोपजीव्यं मुनिवचनमेव प्रमाणयति—तथा च मुनिरिति। मुनिर्भरतः। बहुः वार्यते यतो रतेर्हेतोः। बहुवारणं लोकतो धर्मतश्चेत्यर्थः। यत्र रतौ सत्यां प्रच्छन्नकामुकत्वं या च रतिर्मिथो दुर्लभतामयी सैव मन्मथसंबन्धिनी रतिः परमोत्कृष्टा, अन्या अपकृष्टेत्यर्थः॥२०॥

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ आशङ्का होती है कि उपपति भावमें परम उत्कर्ष तो केवल आप ही बतला रहे हैं, किन्तु अन्यत्र रसशास्त्र आदिमें उपपतिभावको दोषयुक्त अतिशय हेय बतलाया गया है। इसका समाधान करते हुए कहते है कि बात तो ठीक हैं। किन्तु इस उपपतिभावकी जो लघुता बतलाई गई है, वह केवल प्राकृत नायकोंके सम्बन्धमें ही प्रयोज्य है, श्रीकृष्णके सम्बन्धमें नहीं। क्योंकि वे स्वयं-अवतारी हैं। वे धर्म-अधर्मके नियन्ता अवतारोंके भी चूड़ामणि हैं। जब अवतारोंके ऊपर ही धर्म-अधर्मका नियामकत्व नहीं होता, तब अवतारीके प्रति उसकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इसका कारण है रसनिर्यासका आस्वादन। मूल तात्पर्य यह है कि औपपत्य विधर्म है, दुर्भाग्यपूर्ण है तथा नरकको प्रदान करनेवाला है। अतः परिणाममें दुःख देनेवाला होनेके कारण प्राकृत नायिकाके सम्बन्धमें ही लघु कहा गया है। और एक विशेष बात यह है कि औपपत्य सम्बन्धी व्यापार-परम्परा काव्य, नाटकके रूपमें उपादेय होनेपर भी, सामाजिक द्रष्टा और श्रोता जब इसका आस्वादन करते हैं, तो उन्हें भी अधर्म स्पर्श करता है। किन्तु लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवं तदीय स्वरूपशक्तिवर्ग तथा उनमें भी मुख्यतया गोपियोंसे सम्बन्धित काव्य और नाटकमें उनका चरित्र सुनने और दर्शन करनेपर सामाजिक लोगोंके हृदयका रोग (प्राकृतकाम) नष्ट हो जाता है तथा वे अप्राकृत रसमें निमज्जित हो जाते हैं। अतएव परोढ़ा उपपतिभावकी निन्दा प्राकृत नायक-नायिकाओंके लिए ही प्रयुज्य है। श्रीकृष्ण और स्वरूपशक्तिरूपिणी गोपियोंके सम्बन्धमें यह प्रयोज्य नहीं है। एक विशेष बात यह है कि 'आत्म' और 'पर'—ये दो तत्त्व हैं। आत्मनिष्ठधर्म आत्मारामताको कहते हैं। उसमें रसका कोई सहाय नहीं होता। श्रीकृष्णका आत्मारामता-धर्म नित्य होनेपर भी उनमें पररमताधर्म भी उसी प्रकार नित्य है। परमपुरुष श्रीकृष्णमें विरुद्धधर्मसमूह एक ही समय एक ही साथ अवस्थित रहते हैं; यह परतत्त्वका स्वाभाविक धर्म है। श्रीकृष्णलीलाके एक केन्द्रमें आत्मारामता अवस्थित है, तो उसके विपरीत केन्द्रमें पररमता-धर्म भी पूर्ण पराकाष्ठामें विराजमान रहता है। पररमताकी यह पराकाष्ठा ही पारकीय भाव है। नायक और नायिका परस्पर 'पर' होनेपर भी जब रागके द्वारा मिलित होते हैं, तथा जिस अद्भुत रसका आस्वादन करते है, उसे ही पारकीय मधुररस कहते हैं।

श्रीउज्ज्वलनीलमणिके इस श्लोककी टीकामें श्रीलजीवगोस्वामी तथा श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने स्वकीया और परकीयाके सम्बन्धमें जो विस्तृत विचार प्रस्तुत किए हैं, वे दोनों प्रकारके ही सिद्धान्त अपने-अपने स्थानपर उचित हैं। केवलमात्र दृष्टिभङ्गीका भेद है। श्रीजीवगोस्वामीने तत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर स्वकीयाके पक्षमें कहा है तथा श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लीलाकी ओर दृष्टि रखकर परकीयाभावका समर्थन किया है। जैसे माया-राज्यमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वैसे ही परव्योममें अनन्त वैकुण्ठ हैं। इस विषयका कहीं उल्लेख नहीं होनेपर भी गोस्वामि-ग्रन्थोंमें इसका सङ्केत अवश्य मिलता है। प्रकाश भेदसे अभिमानमें भी भेद अवश्यम्भावी है। एक प्रकाशमें मिलन, दूसरे प्रकाशमें विरह, मिलनप्रकाशमें मिलनानन्द एवं विरहप्रकाशमें विरह-वेदनाकी अनुभूति अस्वीकृत नहीं है। श्रीलजीवगोस्वामीने गोपालचम्पूमें (पूर्व १/२२) गोलोकके बहुविध प्रकाशोंमेंसे प्रकट और अप्रकट प्रकाशमय लीलाओंका वर्णन किया है। मादनाख्य महाभावके विलास रूपमें जैसे अनन्त प्रकारकी लीलाएँ रह सकती हैं, उसी प्रकार अलग-अलग प्रकोष्ठोंमें नित्य-स्वकीया और नित्य-परकीया तथा अविविक्त-स्वकीया-परकीया होनेमें कोई भी बाधा नहीं है। किन्तु तटस्थ होकर विचार करनेपर परकीयाका उत्कर्ष अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।

स्वकीया-परकीयाके सम्बन्धमें—'श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर'

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीने ब्रह्मसंहिताके "आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविताभिः" (ब्र. सं. ३७) श्लोककी टीकामें इस विषयपर एक बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। इसे साधकोंकी जानकारीके लिए यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

"अस्मदीय आचार्यचरण श्रीलजीवगोस्वामीने इस श्लोककी टीका, उज्ज्वलनीलमणिकी टीका तथा श्रीकृष्णसन्दर्भ आदिमें श्रीकृष्णकी प्रकटलीलाको योगमाया द्वारा रचित बतलाया है। उन्होंने कहा है—'मायिक धर्मके सम्बन्धसे स्पर्श होनेके कारण उसमें माया-प्रत्यायित कुछ कार्य दीख पड़ते हैं, जो स्वरूपतत्त्वमें नहीं रह सकते। जैसे—असुर संहार,

परदार–संग्रह और जन्मादि। गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिगत तत्त्व हैं, इसलिए वे श्रीकृष्णकी स्वकीया हैं। उनमें परदारत्व सम्भव नहीं है। फिर भी प्रकट लीलामें गोपियोंका जो परदारत्व देखा जाता है, वह केवल मायिक–प्रत्यय (विश्वास) ही है।

"श्रीजीव गोस्वामीपादके इस कथनका एक गूढ़ार्थ है, उसका प्रकाश होनेपर सब प्रकारकी शंकाएँ अपने आप दूर हो जाएँगी। श्रीजीवगोस्वामीपाद गौड़ीय–वैष्णवोंमें तत्त्वाचार्य हैं, वे श्रीलरूप–सनातन गोस्वामीके प्रधान अनुगताचार्य हैं, इसके अतिरिक्त वे श्रीकृष्णलीलामें मञ्जरी भी हैं, इसलिए ऐसा कोई भी गूढ़ तत्त्व नहीं है, जिसे वे नहीं जानते। कुछ लोग उनके गूढ़ अभिप्रायको न समझकर उनके कथनोंका स्वकपोल–कल्पित अर्थकर उसके पक्ष और विपक्षमें तर्क उपस्थित करते हैं। श्रीरूप–सनातनके मतानुसार प्रकटलीला और अप्रकट लीलामें कोई भेद नहीं है—दोनों अभिन्न हैं। एक प्रपञ्चातीत प्रकाश है और दूसरी प्रपञ्चस्थित प्रकाश है—केवल यही भेद है। प्रपञ्चातीत प्रकाशमें द्रष्टृ–दृष्टगत (दर्शक और दर्शनीय वस्तुमें) सम्पूर्ण विशुद्धता है। बड़े सौभाग्यसे श्रीकृष्णकी कृपा होनेपर जो लोग प्रपञ्च सम्बन्धको सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर चिज्जगत्में प्रविष्ट होते हैं और यदि उनमें साधनकालीन रसवैचित्र्यकी आस्वादन–सिद्धि रहती है, तभी वे गोलोककी सम्पूर्ण विशुद्ध लीलाका दर्शन और आस्वादन कर सकते हैं। ऐसे पात्र सुदुर्लभ होते हैं। दूसरी ओर प्रपञ्चमें रहकर भी जिन्होंने भक्तिकी सिद्धि लाभकर श्रीकृष्णकी कृपासे चित्–रसकी अनुभूति प्राप्त की है, वे भौम–गोकुलकी लीलामें गोलोक लीलाका दर्शन करते हैं। इन दोनों प्रकारके अधिकारियोंमें भी कुछ तारतम्य हैं, वस्तुसिद्धि नहीं होने तक उस गोलोक लीलाके दर्शनमें कुछ–कुछ मायिक प्रतिबन्ध रहते हैं। दूसरी तरफ स्वरूपसिद्धिके तारतम्यसे स्वरूपदर्शनका तारतम्य होता है। इस स्वरूपदर्शनके तारतम्यानुसार भक्तोंके गोलोक दर्शनका तारतम्य भी अवश्य स्वीकर करना होगा। नितान्त मायाबद्ध व्यक्ति भक्तिचक्षुरहित होता है। उनमेंसे कोई–कोई केवल मायाकी विचित्रतामें आबद्ध होते हैं और कोई–कोई भगवद्वहिर्मुख–निर्विशेष–ज्ञानका आश्रय लेकर अपने चरमविनाशके पथपर अग्रसर होते हैं। वे लोग भगवान्की प्रकटलीलाको

देखकर भी अप्रकट लीलासे सम्बन्धरहित उसे केवल जड़ीय व्यवहारमात्रके रूपमें ही देखते हैं। इसलिए अधिकारी भेदसे गोलोक दर्शनकी गति ही ऐसी है।

"इसमें सूक्ष्म विचार यह है कि जैसे गोलोक मायातीत सम्पूर्ण शुद्ध तत्त्व है, उसी प्रकार भौम-गोकुल भी शुद्ध और सर्वथा मलशून्य होनेपर भी योगमायारूप चित्-शक्ति द्वारा जड़जगत्में प्रकटित है। प्रकट और अप्रकट विषयमें तनिक भी मायिक दोष, हेयता और असम्पूर्णता नहीं है। केवल देखनेवाले जीवोंके अधिकारोंके अनुरूप ही कुछ-कुछ पार्थक्य प्रतीत होता है। दोष (मल), हेयत्व, उपाधि, माया, अविद्या, अशुद्धता, फल्गुत्व, तुच्छत्व और स्थूलत्व देखनेवाले जीवके जड़-भावित चक्षु और बुद्धि अहङ्कारनिष्ठ हैं। ये सब दृश्यवस्तुनिष्ठ नहीं हैं। जो जितने ही अधिक दोषरहित हैं, वे उतने ही अधिक विशुद्ध तत्त्वदर्शनमें समर्थ होते हैं। शास्त्रोंमें जो तत्त्व प्रकाशित हुए हैं उन तत्त्वोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तियोंके अधिकारके तारतम्यसे तत्त्व मलयुक्त अथवा मलरहित अनुभूत होते हैं। श्रीरूप-सनातनके विचारसे भौम-गोकुलमें जितनी प्रकारकी लीलाएँ प्रकटित हुई हैं, वे समस्त लीलाएँ मायागन्धरहित विशुद्ध रूपमें अवस्थित हैं। इसलिए परकीया भाव भी किसी न किसी प्रकार अचिन्त्य शुद्ध भावसे गोलोकमें अवश्य ही वर्तमान है। योगमाया द्वारा कृत समस्त प्रकाश ही शुद्ध है। परदारभाव (परकीयाभाव) योगमाया कृत है, इसलिए वह शुद्धतत्त्वमूलक है। किन्तु वह शुद्धतत्त्व क्या है?—इसपर कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रीलरूप गोस्वामीने लिखा है—

पूर्वोक्त-धीरोदात्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ॥
पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत्।
रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीया-बलार्थिना।
तदीय-प्रेम-सर्वस्वं बुधैरूपपतिः स्मृतः॥
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत-नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणी॥

तत्र नायिकाभेद–विचारः,—"नासौ नाट्यरसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते। तत्तु स्यात् प्राकृत–क्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥"—इन श्लोकोंपर श्रीलजीवगोस्वामीने सुगम्भीर विचारकर परकीयाभावको योगमायाकृत जन्मादि लीलाकी भाँति विभ्रम–विलासके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। "तथापि पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रज वनितानां"—अर्थात् द्वारकामें पति भाव है तथा व्रजसुन्दरियोंमें परकीया भाव है, ऐसा माना है। श्रीलरूप–सनातन गोस्वामीके सिद्धान्तानुसार भी योगमायाकृत विभ्रम–विलास स्वीकृत हुआ है। तथापि श्रीलजीवगोस्वामीने जब गोलोक और गोकुलके एकत्वका प्रतिपादन किया है, तब गोकुलमें सभी लीलाओंका मूल–तत्त्व है, इसे अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जो विवाहकी विधियोंके अनुसार कन्याका पाणिग्रहण करते हैं, वे पति कहलाते हैं। जो अनुरागके वशीभूत होकर परकीया–रमणीको प्राप्त करनेके लिए धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति कहलाते हैं। गोलोकमें विवाहविधि–बन्धनरूप धर्म ही नहीं है, इसलिए वहाँ उक्त लक्षणयुक्त पतित्व भी सम्भव नहीं है। साथ ही वैसी–वैसी स्वीय स्वरूपाश्रिता गोपियोंका अन्यत्र विवाह न होनेके कारण उनका परदारत्व भी नहीं है। वहाँ स्वकीया और परकीया—इन दोनों प्रकारके भावोंकी पृथक्–पृथक् स्थिति भी सम्भव नहीं है। प्रकटलीलामें (प्रापञ्चिक जगत्में) विवाह–विधि बन्धनरूप एक धर्म है, श्रीकृष्ण उस धर्मसे सर्वथा अतीत हैं। इसलिए माधुर्यमण्डलरूप धर्म योगमाया द्वारा संगठित होता है। श्रीकृष्ण उस धर्मका उल्लंघनकर परकीयारसका आस्वादन करते हैं। योगमाया द्वारा प्रकटित यह धर्म–उल्लंघन–लीला प्रपञ्चमें ही प्रपञ्च द्वारा आच्छादित नेत्रोंसे दीख पड़ती है। वास्तवमें श्रीकृष्णलीलामें वैसा लघुत्व नहीं है।

"परकीयारस ही समस्त रसोंका सार है। गोलोकमें ही उसका अभाव है—ऐसा कहनेसे गोलोकको तुच्छ मानना होगा। परम उपादेय गोलोकमें परम उपादेय रसास्वादन नहीं है, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। सर्वावतारी श्रीकृष्ण उसका किसी रूपसे गोलोकमें और किसी आकारसे गोकुलमें आस्वादन करते हैं। इसलिए परकीयारूप धर्मलंघनप्रतीति मायिक जड़नेत्रों द्वारा प्रतीत होनेपर भी किसी न किसी रूपमें उसकी सत्यता गोलोकमें भी है। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" (श्रीमद्भा. १०/२९/४२) आत्माराम होनेपर

भी रमण किया, "आत्मन्यवरुद्धसौरतः" (श्रीमद्भा. १०/३३/२६) सत्यकाम श्रीकृष्णने सुरत सम्बन्धी हाव-भावोंको अपने हृदयमें स्थापन पूर्वक "रेमे व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः" (श्रीमद्भा. १०/३३/१७) जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकार होकर अपनी परछाईके साथ खेलता है, वैसे ही रमा-रमण भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ाविलास किया—इत्यादि शास्त्रवचनोंके द्वारा यह प्रतीत होता है कि आत्मारामता ही श्रीकृष्णका अपना स्वरूप धर्म है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्यपूर्ण चिज्जगत्में अपनी आत्मशक्तिको प्रकटकर स्वकीयाभावसे रमण करते हैं। वहाँ स्वकीया बुद्धि प्रबल रहनेके कारण दास्यरस तक ही रसकी गति होती है, किन्तु वे ही अपनी स्वरूपशक्तिको गोलोकमें करोड़ों-करोड़ों गोपियोंके रूपमें प्रकटकर स्वकीयाभावको भूलकर उनके साथमें नित्य रमण करते हैं। स्वकीया अभिमानमें रसकी अत्यन्त दुर्लभता नहीं रहती। इसलिए अनादिकालसे गोपियोंमें स्वाभाविक रूपसे परोढ़ाका अभिमान प्रबल रहता है और श्रीकृष्ण उस अभिमानके अनुरूप अपने अन्दर उपपतिका अभिमान अङ्गीकारकर वंशीरूप प्रियसखीकी सहायतासे रासादि लीलाओंको सम्पन्न करते हैं। गोलोक नित्यसिद्ध एवं मायिक प्रत्ययसे सर्वथा अतीत एक रसपीठ है। इसलिए वहाँ उस अभिमानसे ही रस-प्रवाह सिद्ध होता है। वात्सल्यरस भी वैकुण्ठमें नहीं है, ऐश्वर्यकी ऐसी ही गति है, किन्तु परम माधुर्यमय गोलोकमें (स्थित व्रजमें) इस रसके मूल-अभिमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वहाँ नन्द-यशोदा प्रत्यक्ष हैं, किन्तु श्रीकृष्णका जन्म-व्यापार वहाँ नहीं है। जन्मके अभावमें भी नन्द-यशोदाका जो पितृत्व-मातृत्व देखा जाता है, वह अभिमानमात्र है। जैसे—"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः" इत्यादि रस-सिद्धिके लिए यह अभिमान नित्य है। इसी प्रकार शृङ्गाररसमें भी परोढ़ा और उपपति-अभिमानमात्र नित्य होनेसे कोई दोषकी बात नहीं होती अथवा वह शास्त्रके विरुद्ध भी नहीं है। भौमव्रजमें जब गोलोक तत्त्व प्रकट होता है, उस समय प्रापञ्चिक जगत्में प्रपञ्चमय दृष्टिसे उक्त दोनों अभिमान कुछ स्थूल दिखलाई पड़ते हैं, केवलमात्र यही भेद है। वात्सल्यरसमें नन्दयशोदाका पितृत्व और मातृत्व अभिमान कुछ स्थूल आकारमें जन्मादि लीलाके रूपमें प्रतीत होता है तथा शृङ्गाररसमें गोपीगत

परोढ़ा अभिमान स्थूल रूपमें अभिमन्यु–गोवर्धन आदिके साथ विवाहके रूपमें प्रतीत होता है। वास्तवमें गोपियोंका पृथक् सत्तागत पतित्व न तो गोलोकमें है और न गोकुलमें। इसलिए शास्त्रमें ऐसा कहा गया है "न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः" अर्थात् व्रजदेवियोंका अपने पतियोंके साथ कभी संगम नहीं हुआ। इसलिए रस–तत्त्वाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि उज्ज्वलरसमें नायक दो प्रकारके होते हैं। जैसे—"पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ" अर्थात् पति और उपपति भेदसे नायक दो प्रकारके होते हैं। श्रीलजीवगोस्वामीने इसकी टीकामें लिखा है—"पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां" अर्थात् द्वारकापुरीकी वनिताओंके नायक श्रीकृष्ण पति होते हैं और व्रजमें नायक श्रीकृष्ण व्रजवनिताओंके उपपति होते हैं। अपनी टीकाके इन वचनोंसे ही श्रीलजीवगोस्वामीने वैकुण्ठ और द्वारकामें श्रीकृष्णका पतित्व तथा गोलोक–गोकुलमें नित्य उपपतित्व स्वीकार किया है। गोलोक तथा गोकुलनाथमें उपपतिके लक्षण सम्पूर्ण रूपमें देखे जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी आत्मारामता रूप धर्मका उल्लंघन होता है। उसमें परोढ़ा मिलनके लिए राग ही उस धर्मलंघनका हेतु है। गोपियोंका नित्य परोढ़ा अभिमान ही वह परोढ़त्व है। वस्तुतः उनका पृथक् सत्तायुक्त पति न रहनेपर भी केवल अभिमान ही वहाँपर उनका परकीया–रमणीभाव सम्पादन करता है। इसलिए 'रागेणोल्लंघयन् धर्मं' इत्यादि सभी लक्षण माधुर्यपीठमें नित्य वर्त्तमान रहते हैं। भौमव्रजमें वही भाव कुछ अंशोंमें प्रापञ्चिक चक्षुविशिष्ट–व्यक्तियोंके द्वारा स्थूल रूपमें लक्षित होता है। इसलिए गोलोकमें स्वकीया और परकीयारसका अचिन्त्य भेद और अभेद है। भेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है तथा अभेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है। परकीया–सार जो स्वकीया निवृत्ति अर्थात् विवाहविधिरहित–रमण एवं स्वकीया–सार जो परकीया निवृत्तिरूप स्वरूपशक्तिरमण है—ये दोनों एक रस होकर भी उभय वैचित्र्यके आधारके रूपमें नित्य विराजमान हैं। गोकुलमें उसी रूपमें रहनेपर भी केवल प्रपञ्चके दर्शकोंकी दृष्टिमें अन्य प्रकारसे दीखता है।

"गोलोकवीर श्रीगोविन्दमें धर्माधर्मशून्य पतित्व और उपपतित्व निर्मल रूपमें विराजमान है। गोकुलवीरमें वैसा रहनेपर भी योगमायाके द्वारा

प्रतीति वैचित्र्य हुआ करता है। यदि ऐसा कहा जाए कि योगमाया जो कुछ प्रकाश करती है वह परम सत्य होता है, इसलिए परकीयाभाव भी वैसे ही परम सत्य है। इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं कि रसास्वादनमें पारकीय जैसे अभिमानकी प्रतीति रह सकती है और उसमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि वह निराधार नहीं है, किन्तु जड़बुद्धिमें जो हेय प्रतीति होती है, वही दोषयुक्त है। वह हेय प्रतीति शुद्ध जगत्में नहीं है।

"वास्तवमें श्रीलजीवगोस्वामीने यथायथ सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है और प्रतिपक्षका सिद्धान्त भी अचिन्त्यरूपसे सत्य है। केवल स्वकीयावाद और परकीयावादको लेकर वृथा विवाद करना ही मिथ्या और वागाडम्बरपूर्ण है। जो लोग निरपेक्ष होकर श्रीलजीवगोस्वामी एवं प्रतिपक्षकी टीकाओंको अच्छी तरहसे अनुशीलन करेंगे, उनके हृदयमें किसी भी प्रकारकी शङ्का उठनेकी सम्भावना नहीं है। शुद्ध वैष्णव जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य होता है। उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। उनके वाक्य-कलहमें कुछ रहस्य होता है। जड़बुद्धिसम्पन्न लोग शुद्धवैष्णवताके अभावमें शुद्ध वैष्णवोंके प्रेम-कलहका रहस्य न समझ पानेके कारण उनमें पक्ष-विपक्षका केवल आरोप करते हैं। "गोपीनां तत्पतीनाञ्च"—इस रासपञ्चाध्यायीके श्लोकको वैष्णवतोषणी टीकामें जो विचार दिया गया है, श्रीलचक्रवर्तिपादने उसे बिना किसी आपत्तिके अपने मस्तकपर धारण किया है।

"गोलोकादि चिद्विलासके सम्बन्धमें कोई भी विचार करते समय श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत श्रीगोस्वामियोंके द्वारा दिए गए एक उपदेशको स्मरण रखना उचित है। वह यह कि भगवत्-तत्त्व कभी भी निर्विशेष नहीं है, वह जड़ातीत नाना प्रकारकी विशेषताओं और विलासोंसे भरपूर है। भगवत्-रस—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रकारकी चिन्मय विचित्रतापूर्ण सामग्रियों द्वारा परमास्वादनीय सुन्दर रूपसे गोलोक और वैकुण्ठमें नित्य विद्यमान रहता है। गोलोकका वह रस योगमायाके प्रभावसे भक्तोंके कल्याणके लिए जगतीतलमें प्रकटित होकर व्रजरसके रूपमें प्रतीत होता है। इस गोकुलरसमें जो कुछ देखा जाता है, वह सब कुछ गोलोकरसमें विशद

रूपसे प्रतीत होना आवश्यक है। इसलिए नागर–नागरियोंका विचित्र भेद और उसमें रस–विचित्रता, भूमि–नदी–पर्वत–गृह–द्वार–कुञ्ज और गाय प्रभृति समस्त गोकुलोपकरण ही यथायथ समाहित रूपमें गोलोकमें अवस्थित हैं। केवल जड़बुद्धिविशिष्ट व्यक्तियोंकी उनके सम्बन्धमें जो जड़–प्रतीति रहती है, वह गोलोकमें नहीं है। विचित्र व्रजलीलामें अधिकार भेदसे गोलोककी पृथक्–पृथक् स्फूर्तियाँ होती हैं। उन विविध स्फूर्तियोंके कौन–कौनसे अंश मायिक और कौन–कौनसे अंश शुद्ध हैं—इस विषयमें एक स्थिर सिद्धान्त होना कठिन है। भक्तिचक्षु प्रेमाञ्जन द्वारा जितने ही शोधित होंगे, हृदयमें क्रमशः उतनी विशद स्फूर्ति उदित होगी। इसलिए इस विषयमें तर्क–वितर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है। तर्क–वितर्कसे अधिकार उन्नत नहीं होता। गोलोकतत्त्व अचिन्त्य भावमय है। ऐसे अचिन्त्य भावको चिन्ता द्वारा अनुसन्धान करनेसे भूसा कूटनेके समान व्यर्थ परिश्रमकी भाँति निष्फल चेष्टा ही होगी। अतः ज्ञानचेष्टासे उपरत रहकर, भक्तिचेष्टाके द्वारा अनुभूति लाभ करना ही कर्त्तव्य है। जिस विषयको ग्रहण करनेसे अन्तमें निर्विशेष प्रतीतिका उदय होता है, भक्तिमार्गमें उसका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। मायिक–प्रतीति–शून्य शुद्ध पारकीयरस अतीव दुर्लभ है। गोलोकलीलामें उसका वर्णन है, उसीका अवलम्बनकर रागानुग भक्त साधन करेंगे। ऐसा करनेसे सिद्धि होनेपर अधिकतम उपादेय मूलतत्त्वको प्राप्त कर सकेंगे। जड़बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियोंकी पारकीय चेष्टामयी भक्ति बहुधा जड़गत विधर्मके रूपमें बदल जाती है। ऐसा लक्ष्य करके ही हमारे तत्त्वाचार्य श्रीलजीवगोस्वामीपादने उत्कण्ठित होकर जिन विचारोंका उल्लेख किया है, उसका सार ग्रहण करना ही शुद्ध वैष्णवता है। आचार्यकी अवज्ञा करते हुए मतान्तर स्थापनका प्रयत्न करनेसे अपराध होता है॥"२१॥

लोचनरोचनी—तत्राशङ्क्य समादधाति—लघुत्वमिति पद्येन। तत्राशङ्कानुवादो लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तमिति। अयमर्थः—ननु "शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥" इत्यर्वाचीननिरुक्तौ 'उत्तमप्रकृतिप्रायः' इत्युक्तेरुज्ज्वलशुचिपर्याये रसेऽस्मिन्नधर्ममयमौपपत्यमङ्गित्वाय नोचितम्। "जारः पापपतिः समौ" इति त्रिकाण्डशेषादिदर्शनेन नामापि तस्य निन्दागर्भमेव लभ्यते। नाट्यालंकारशास्त्रयोस्तु तस्य न्यक्कारश्च श्रूयते। यदुक्तं तत्तन्मतं संगृह्य

साहित्यदर्पणे—"उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च। बहुनायकविषयायां रतौ च तथानुभयनिष्ठायाम्॥ प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते। शृङ्गारेऽनौचित्यम्" इति, यत्तु कुत्राप्यौपपत्यवर्णनं दृश्यते, तत्खलु "नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा" इति दर्शयिष्यमाणवृद्धमतप्रामाण्येनाङ्गिनि रसे तु न स्यात्, किं त्वङ्गे रसे सोपहासमेवेति गम्यते तत्पक्षं पुष्णता स्वयं श्रीकृष्णेन च—"अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः॥" इत्यनेन जुगुप्सितत्वपर्यन्ता दोषा उक्ताः। श्रीव्रजदेवीभिरपि—"निःस्वं त्यजन्ति गणिका जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्" इत्यनेन तथैवानुमतम्। श्रीपरीक्षितापीत्थमेवाक्षिप्तम्—"आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्" इति। तदेवमत्र च लघुत्वं क्षुद्रत्वं जुगुप्सितत्वमिति यावद्व्याख्येयम्, अतो मुनिना भरतेनापि रत्नावलीनाटिकावद् ययातिचरितवच्च दाम्पत्य एव सपत्नादिकृतवार्यमाणत्वादिना दाम्पत्ये रतिः प्रशस्ता भवतीत्येव मतं न त्वौपपत्यरतिः प्रशस्ता स्यादिति। कथं तर्हि तेन तद्वाक्येनौपपत्यरतिः प्रशस्यते। अत्र समाधानम्—तत्तु प्राकृतनायक इत्यादिना। प्राकृतनायक इति कृष्णात् अवरनायक इत्यर्थः। कृष्णे त्वलघुत्वे हेतुः—रसनिर्यासेति। रसनिर्यासो रससारः। मधुररसविशेष इत्यर्थः॥

एतदुक्तं भवति—अत्रावतारसमय एवौपपत्यरतिः प्रत्यायिता। तदेतद्दर्शके प्राचां मतेऽपि "आशंसया रसविधेरवतारितानाम्" इति तस्यैव तासामपि। तदर्थमेव अवतार इति निर्देक्ष्यते। तस्य तासां च तदर्थता श्रीब्रह्मणा चोक्ता—तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः' इति। अत्र भारावतारणं देवादीनामिच्छया, तदिदं तु औपपत्यं तु तस्य स्वेच्छयेति हि गम्यते। मधुरनाम्नो रसस्य निर्यासस्वादोऽपि दर्शितः श्रीशुकेन—"भगवानपि ता रन्तुं मनश्चक्रे" इति, "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" इति, "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः" इति च। अत्र रन्तुं मनश्चक्रे इति स्वार्थक्रियाफलं आत्मनेपदेन व्यक्तमेव। अरीरमदित्यत्र स्वार्थक्रियाफलमेव परस्मैपदम्। "अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्" इति पाणिनिस्मरणात्। सौरतशब्देन च सुरतसंबन्धिभावहावादय एव उच्यन्ते। 'एवं सौरतसंलापै'रिति श्रीरुक्मिणीविषयक-श्रीकृष्णपरिहासप्रस्तावे तादृगर्थत्वात्, धातुविशेषरूपस्य तदर्थस्य कुत्राप्यश्रुतत्वाच्च। तदेवमात्मन्यवरुद्धेति मनसि निगूहिततदीयतत्तद्भाव इत्येवार्थः। तदेवमपि सुरस्त्रीणां त्वत्र गौणत्वमेव। यतः श्रीदेव्याः सुरस्त्रीणां कासाञ्चिदप्यन्यासां वा ता अवतारा इति वक्तुं न शक्यम्। "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्या" इति सर्वातिरिक्ततया श्रीमदुद्धवेन तासां कथनात्। ततस्ताः सर्वतो विलक्षणाः श्रीकृष्णस्यैव प्रियाः सुरस्त्रियस्तु तासां प्रियाणामुपयोगायैवेति लभ्यते। अत एव तत्प्रियार्थमित्येवोक्तम्, न तु तत्सुखार्थमिति। यद्यपि "श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुष" इति "लक्ष्मीसहस्त्रशतसंभ्रमसेव्यमानम्" इत्यत्र च ब्रह्मसंहितायां खलु लक्ष्मीत्वेन ता निर्दिशति, तथापि पाण्डवेषु कुरुशब्दस्येव तासु लक्ष्मीशब्दस्य

प्राचुर्यप्रयोगाभावात् पाण्डवशब्दस्येव गोपीशब्दस्यैव प्राचुर्येण प्रयोगात् पाण्डवैः कुरवो जिता इतिवत्। "नायं श्रियोऽङ्ग" इति प्रवर्तते। तदेवं श्रीमदुद्धववाक्ये ब्रह्मसंहितावाक्ये च तासां तेन नित्यसंबन्धापत्तेः परकीयात्वं न संगच्छते। तदसङ्गतेश्चावतारे तथा प्रतीतिर्मायिक्येव। तथा च स्वयमेव ललितमाधवाख्ये नाटके दर्शितमेव पौर्णमासीगार्ग्योः संवादे—"गार्गी—णूणं गोअड्ढणादिगोएहिं चन्दाअलीपहुदीणं उव्वाहो माआए निव्वाहिदो॥ पौर्णमासी—अथ किम्। पतिंमन्यानां वल्लवानां ममतामात्रावशेषितासु तासु दारता। यदेभिः प्रेक्षणमपि तासां दुर्घटम्॥" इत्यादि। तदेवं श्रीकृष्णेन तासां नित्यदाम्पत्ये सति परकीयात्वे च मायिके सति नश्यत्येवान्ततो मायिकमन्ततस्त्वनाशेऽनादित्वे च सति नित्यमेव स्यात्तद्रूपत्वे सति पूर्वरीत्या रसाभासः स्यादित्यतोऽवतारसमयस्यापरभागे व्यक्तीभवत्येव दाम्पत्यम्। स एव पर्यवसानसिद्धान्तश्च ललितमाधवप्रक्रियात्र च निर्वाहयिष्यते। यतो बहुवर्णितविरहव्यावर्त्तनाय नित्यसंयोगमयसिद्धान्तमुक्त्वापि क्रमलीलारसस्तु तत्र न सिध्यतीत्यपरितुष्य संक्षिप्तसंकीर्णसंपन्नसमृद्धिमदाख्येषु चतुर्षु संभोगेषु फलरूपेषु विप्रलम्भान्तराऽप्रतिघात्यस्य सर्वतः श्रेष्ठस्य समृद्धिमत उद्वाहपर्यन्तस्योदाहरणरूपतया तत्परिपाट्येवात्र प्रमाणीकरिष्यते। यथा तत्र महाविप्रलम्भान्ते श्रीराधां प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्—"तवात्र परिमृग्यता किमपि लक्ष्म साक्षादियं मया त्वमुपसादिता निखिललोकलक्ष्मीरसि। यथा जगति चञ्चता चणकमुष्टिसम्पत्तये जनेन पतिता पुरः कनकवृष्टिरासाद्यते॥" इत्यादि। तस्मादुपपतीयमानत्वेनैवासावुपपतिरित्युपदिष्टः। वार्यमाणत्वाद्यंशेन लौकिकरसशास्त्रकृद्भिरपि स्तुतः। किंतूत्तरत्र व्यक्तदाम्पत्ये विप्रलम्भाङ्गस्यौपपत्ये भ्रमस्य समृद्धिमदाख्यसंभोगरसपोषकत्वात्तस्मिंस्तु न लघुत्वं युक्तं किंतु महत्त्वमेवेत्याह—न कृष्ण इति। तत्र हेतुमाह—रसनिर्यासेति। एतत्परिपाटीसद्भावाभावात् प्राकृतनायके एव, न तु श्रीकृष्णे वास्तवेनौपपत्ये न लघुत्वशब्दवाच्यं निकृष्टत्वं घटते अपथ्यबुद्ध्या लोभ्यं पथ्यं भुक्तवति भुक्तपथ्यत्ववत्। तदेतत्तत्त्वमविद्वांस एवान्यथा मन्यमानास्तमपि तथोदाहरन्तीति भावः। किञ्च न तासां निवारणाद्युपाधिकमेव रतेर्वैशिष्ट्यं मतम्। अपितु स्वाभाविकमेव। "योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः। यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधा॥" इति वक्ष्यमाणरीत्या निवारणाद्यभावेऽपि महाभावपराकाष्ठापन्नस्य मादनाख्यस्याप्यासु अङ्गीकरणात्। स्वाभाविकवैशिष्ट्येनैवास्या रतेः समर्थेति नाम दर्शयिष्यते। न पुनः सैरिन्ध्र्या इव साधारणीति श्रीमहिषीणामिव वा समञ्जसेति। लक्षणञ्चास्यास्तद्वदेव करिष्यते। "स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जाता यत्किंचिदन्वयात्। समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता॥" इति, "रतिर्भावान्तिमां सीमां समर्थैव प्रपद्यते" इति च। एवकारेण साधारणी समञ्जसा च निवारणादिनापि न तादृशत्वं प्राप्नोतीति व्यज्यते। स्वाभाविकवैशिष्ट्येनैव हि "वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च" इति मुमुक्षुमुक्तभक्तानां "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति" इति श्रीमहिषीणामपि तत्र वाञ्छा संभवति, निवारणादेः परमानभीष्टत्वात् किमुतौपपत्यस्यास्य। तथा निवारणादिसाम्येऽपि तासां स्वस्वगणरतेर्जातिभेदेनैव वैशिष्ट्यस्यात्रैव निरूपयिष्यमाणत्वात्।

अनया राधितो नूनमित्यादौ पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यादौ च भागवते तथा दृष्टत्वात्। तथा जिगीषूणां मत्तहस्तिनः पददुर्गार्गल इव निवारणादिकं तासां रतेः प्रबलतां व्यञ्जयत्येव, न तु जनयति। अतएवोक्तम्—"या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति, "रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा" इति परकीयालक्षणं तच्चानेन संवदते। यच्च "न विना विप्रलम्भेन" इत्यादिना, "नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्" इत्यादिना च विरहेण रतेः प्रकर्षः श्रूयते। तच्च प्राणिभेदानां जाठराग्नेरिव जातिभेदात् परप्रकर्ष उपलभ्यते। न हि लङ्घनादिनापि हस्तिनामिव शशकानां तदग्निर्विकाशं प्राप्नोति। ततश्च यथैव कान्तारादिलङ्घनैः क्रियमाणैरेव या बुभुक्षा स्यात् सा यथा न प्रशस्यते तथा निवारणादिनित्यतामयविरहमात्रजीवना रतिश्च। किं च तद्वत् कादाचित्कविरहेण कदाचित्प्रशस्यते इति च गम्यते। तस्मात् 'बहु वार्यते' इत्यादि यल्लौकिकरसविदां मतमुत्थापितं तत्खलु तन्मतरागिणामप्यापातबोधनायेति श्रीमतां ग्रन्थकृतामभिप्रायः। तस्मादपि साधु व्याख्यातं लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तमिति। तत्र रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणीत्यनेन यदवतारादन्यदा न तादृशतायाः स्वीकारः किंतु दाम्पत्यस्यैवेति लभ्यते। तत्र प्रमाणं च स्वयमङ्गीकरिष्यते—"आनन्दचिन्मय रसप्रतिभाविताभिः" इत्यादौ "निजरूपतया कलाभिः" इति निजरूपतया स्वीयतयेत्यर्थः। कलात्वेनैव निजरूपत्वे सिद्धे तत्तथैव सार्थकता स्यादिति। तथा च श्रीमद्दशार्णस्य नामव्याख्याने गौतमीयतन्त्रम्—"अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्धनः॥" इति। अनेकजन्मसिद्धानामिति अनादिकल्पपरम्परागतावतारसिद्धानामित्यर्थः। "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" इतिवत्। अनादिसिद्धे वेदे हि तादृगुपासनापि दृश्यते। पतिरेव वेति नत्ववतारलीलावद्भ्रमेणापि उपपतिरित्यर्थः। तदेतत्पूर्वं "गोपीति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः" इत्यादिना। अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंशमण्डलमित्यादिना च तत्र त्रैगुण्यवत्तदुद्भवतत्त्ववर्गाश्रयस्य तथा चिच्छक्तितदंशमण्डलस्वामित्वस्य च प्रतिपादकं यन्निरुक्तिद्वयं कृतं तत्तु वेत्यनेन गौणीकृतम्। उत्तरपक्षस्यैव सिद्धान्तत्वात्। यथा वेदान्तसूत्रेषु—"अहिकुण्डलवत्", "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्", "पूर्ववद्वा" इत्यादिषु तद्वत्। नन्दनन्दन इति नत्वन्यः स कोऽपीत्यर्थः। कल्पे कल्पे तस्यैव श्रीमन्नन्दनन्दनतया व्यञ्जकत्वात्। त्रैलोक्यानन्दवर्धन इति शीलार्थे ल्युट्-प्रत्ययेनाद्यापि दर्शनश्रवणाभ्यां अन्तरङ्गबहिरङ्गभक्तानां "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्" इत्यादिरीत्या सर्वेषामेवानन्दं वर्धयन् एव विराजमान इत्यर्थः। "जयति जननिवासः" इत्यादेः। तथा श्रीगोपालतापन्यामपि तत्पतित्वमेवतासु दुर्वाससा निश्चितम्—"स वो हि स्वामी भवति" इति। स्वामिशब्दश्चायं स्त्रीप्रसङ्गे पत्यावेव रूढः। "स्वामिनो देवृदेवरौ" इत्यमरकोषात्। तदेतत्तस्य तत्पतित्वं श्रीशुकोऽपि परोक्षवादविषयीकृत्यानन्दावेशेनोद्घाटितवान्। पादन्यासैरित्यादौ "कृष्णवध्व" इति। "तडित इव ता मेघचक्रे विरेजु"रिति दृष्टान्तः। स्वाभाविकपतित्वसंबन्धमेव दार्ष्टान्तिकेष्वपि दर्शितम्। तथा—"धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥"

इत्यभ्युपगमवादेनाङ्गीकृतेऽपि तासां तत्परदारत्वे परितोषमप्राप्य पुनस्तदपि खण्डयन् बादरायणिः सिद्धान्तमाह—"गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषां चैव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीडनदेहभाक्॥" इति। तत्र खलु बहिरङ्गान् प्रति अन्तर्यामित्वेन तत्खण्डनमयमर्थान्तरं प्रसिद्धमेव। अन्तरङ्गान् प्रति तु स्वभावसिद्धदाम्पत्यसाधकमर्थान्तरं तन्त्रेणाह—गोपीनां सर्वासामेव गोपजातिस्त्रीणां तत्पतीनां सर्वेषामेव गोपजातिषु पुरुषाणाम्, किं बहुना? सर्वेषामेव व्रजस्थानां देहिनां ये यथायथं स्वक्रीडनरूपा देहास्तद्भाक् सन्। अन्तरिति प्रापञ्चिकानामन्तर्धानगतः सन् चरति सदा क्रीडति स एवाध्यक्षः कदाचित्तेषां प्रत्यक्षः सन् क्रीडति। तस्मादनादित एव ताभिः समुचिताया रासादिक्रीडाया अविच्छेदात् परदारत्वं न घटत एवेति भावः।

स्वेच्छया लिखितं किञ्चित् किञ्चिदत्र परेच्छया।
यत् पूर्वापरसम्बन्धं तत् पूर्वमपरं परम्॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्रान्येषामपि रसविदुषां ततोऽर्वाचीनानां वैमत्यं वस्तुतत्त्वदृष्ट्या नास्तीत्याह—लघुत्वमिति। अत्रोपपतौ यल्लघुत्वमुक्तं पूर्वाचार्यैस्तत्प्राकृतनायक एव तत्रैवौपपत्यस्य वैधर्म्यात्, तस्य च दुरदृष्टजनकत्वात्, तस्य च नरकपातनिदानत्वात्, पर्यवसाने दुःखमात्रोपादानत्वेन तस्य लघुत्वम्। तथा ततच्चेष्टितस्य काव्यनाट्यगतत्वेन उपादेयतया स्वादने "यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्" इति न्यायाच्चर्वणदशायां सभ्यानामपि ताद्रूप्यापत्तेश्च विधर्मस्पर्शात्। न तु कृष्णे धर्माधर्मनियन्तृचूडामणीन्द्रे। किमर्थं नोक्तम्। रसनिर्यासस्वादार्थं तेषां सभ्यतया तद्विषयक एव स्वकर्तृको यो रसनिर्यासस्यास्वादस्तदर्थम्। यदि कृष्णेऽपि तैर्लघुत्वमुक्तं स्यात्तर्हि तेषां रसनिर्यासास्वादो निर्विषय एव स्यादिति भावः। कृष्णे कीदृशे? अवतारिणि अवतारमात्रस्यैव धर्माधर्मनियम्यत्वं नास्तीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्, किमुत सर्वावतारमूलभूतस्य तस्य इति भावः। अयमर्थः—"बहु वार्यते यतः खलु" इत्यादि भरतमुनिसंमत्या, "वामता दुर्लभत्वं च" इत्यादि रुद्रसंमत्या, "यत्र निषेधविशेषः" इत्यादि संहितासंमत्या, "अनन्यशरणा स्वीया पणहार्या पणाङ्गना। अस्यास्तु केवलं प्रेमा तेनैषा रागिणी मता॥" इति शृङ्गारतिलकसंमत्या च परोढोपपत्योरेव सकलसहृदयसाक्षिको रसनिर्यासास्वादो दृश्यते। ततश्च तयोरेव नायकोत्तमत्वे प्रसज्यमानेऽपि यल्लघुत्वमुक्तं तत्र कारणमधर्मस्य स्पर्श एव। स तु श्रीकृष्णे धर्माधर्मादिसमस्तवस्तुसृष्टिस्थितिसंहारकारक–भ्रूविजृम्भमात्रस्यादिपुरुषस्यापंशिनि स्वयंभगवति श्रीलीलापुरुषोत्तमे नरवपुषि तथैव तदीयमहाशक्तिसमुदायपरममुख्यतमायां ह्लादिनि शक्तौ श्रीगोपिकारूपायां च नैव संभवेत्, तदा तदीयतत्तच्चरितास्वादकानामपि "विक्रीडितं व्रजवधूभिः" इति, "तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः" इति, "तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलम्" इत्यादिभिः सर्वोत्तममहाफल–प्राप्तिश्रवणाच्च प्रत्युत तत्रैव नायकोत्तमत्वमेव प्रसञ्जितमिति। अत एवोक्तं ग्रन्थकृद्भिरेव नाटकचन्द्रिकायाम्—"यत्परोढोपपत्योस्तु गौणत्वं कथितं बुधैः। तत्तु

कृष्णं च गोपीश्च विनेति प्रतिपद्यताम्॥" अलंकारकौस्तुभकृद्भिरपि—"अप्राकृते तु परोढारमणीरतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते न तस्यामनौचित्यप्रवर्तिततत्व अलौकिकसिद्धेर्भूषणमेव न तु दूषणमिति न्यायात्तर्कागोचरत्वाच्च" इति। यद्वा। कृष्णे कथंभूते? रसनिर्यासस्वादार्थं प्रपञ्चलोकगतस्वभक्तजनान् रसनिर्यासमास्वादयितुं अवतारिणि। स्वदेश्चौरादिकाद्धेतुमण्ण्यन्ताद्घञ्। तस्य तु स्वकर्तृको रसनिर्यासस्वादः प्रकटलीलायामप्रकटलीलायां च सदैव वर्तत एव, ता एव जन्मादिलीलाः प्रपञ्चजनेषु कृपया दर्शिताश्चेत् प्रकटाः, ता एव तच्चक्षुर्भ्यस्तिरोहिताः पिहिताश्चेदप्रकटा उच्यन्ते न तु प्रकटाप्रकटलीलयोः स्वरूपतः किंचन वैलक्ष्यण्यमस्तीति। यदुक्तं भागवतामृते—"अनादिमेव जन्मादिलीलामेव तथाद्भुताम्। हेतुना केनचित्कृष्णं प्रादुष्कुर्यात्कदाचन॥" इति, "तत्र श्रीजीवगोस्वामिचरणानां तु यन्मतम्। स्वेच्छाभिमतमेतन्मे माननीयं न चेतरत्॥" न चाप्रकटलीलायां सदा दाम्पत्यमेव, तथा तस्या एव लीलाया नित्यत्वं च परोढोपपतित्वं च प्रकटलीलायामेव कियन्ति दिनानि मायिकमेव न तु वास्तवमिति वक्तुं शक्यम्। सर्वलीलामुकुटमणिभूताया रासलीलाया अप्यादिमध्यावसानेषु परोढोपपतिभावमय्या मायिकत्वेऽनुपादेयत्वप्रसक्तेः। तथा हि—"ता वार्यमाणा पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः" इत्यादीनि, "भ्रातरः पतयश्च वः" इत्यादीनि, "यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग" इति प्रथमाध्याये। "तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि संस्मरुः" इति द्वितीये। "पतिसुतान्वय-भ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य ते" इत्यादीनि तृतीये। "एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि" इत्यादि चतुर्थे। "कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।" "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्दारान्व्रजौकसः॥" इति पञ्चमे च श्रीशुकस्य श्रीभगवतस्तासां च वाक्यानि तस्या रासलीलायास्तद्भावमयत्वमेव प्रतिपादयन्ति न तु दाम्पत्यमयत्वम्। किं च तस्या मायिकत्वेन "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" इत्यादिना प्रतिपादितो व्रजसुन्दरीणां लक्ष्म्यादितोऽप्युत्कर्षोऽप्यवास्तव एव स्यात्। तथा "लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यम्" इत्याद्यसाधारण्यं श्रीकृष्णगुणस्यापि निष्प्रमाणकमेवापद्येत। न च केनापि क्वापि दाम्पत्यमयी रासलीला वर्णितास्ति। न च भ्रमक्लृप्तान् औपपत्यमयानंशान्परित्यज्य एव रासपञ्चाध्याय्यां रासलीला उपादेयेति वाच्यम्। "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः" इत्यादिपद्यानां परमप्रेमोत्कर्षप्रमापकाणामवास्तवत्वप्रसक्तेः। न च "या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य" इत्येतस्य हेतुभूतस्यांशस्य वास्तवत्वं विना तत्साधितस्य "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः" इत्यनेन व्यञ्जिततत्प्रेमकृतभगवद्वशीकारस्य वास्तवत्वं सिद्ध्येत्। अस्तु नाम वा परममायाविनो भगवतस्तत्तद्वचनं तदनुरञ्जनमात्रतात्पर्यकत्वाद् अवास्तवमेव। किंतु परमसाधुवर्गमुकुटमणिना महाविज्ञेन श्रीमदुद्धवेन "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्" इत्यर्धेन व्यज्यमाने पट्टमहिष्यादिभ्योऽप्यासां प्रेममहोत्कर्षे "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इत्येष एव हेतुरुपन्यस्तः।

स्वजनार्यपथत्यागस्य प्रातीतिकत्वेन तस्य हेतुत्वस्याप्यवास्तवत्वात् तत्साधितो महोत्कर्षश्चावास्तवः। तद्वक्ता उद्धवश्च भ्रान्त आपद्यते स्म। किंच, अनादिकाल–वृत्तोपासनाकयोरागम–वेदपञ्चरात्राद्युक्तयोर्दशाष्टादशाक्षरयोर्महामन्त्रयोरर्थश्च परोढोपपतिभावमय एवावगम्यते, नहि "ब्राह्मणीजनवल्लभाय दीयताम्" इत्युक्ते ब्राह्मणीनां स्वीयात्वं प्रतीयते। यदि च प्रतीयते तर्ह्यज्ञैरेव, न तु व्याकरणालंकारादिबहुदृश्वभिर्विज्ञैः। तथा हि शब्दशक्तेरद्भुत एव स्वभावः। इयमस्य ब्राह्मणीति निर्विशेषणतयोक्तेर्ब्राह्मण्याः स्वीयात्वं प्रतीयते। अस्यैते ब्राह्मणीजना वल्लभास्तथा ब्राह्मणीजनानामयं वल्लभ इत्युक्ते परकीयात्वम्, अत्राभिज्ञहृदयमेव प्रमाणं ज्ञेयम्। इयम् अस्य ब्राह्मणीत्याद्यपि अपभ्रंशभाषायामेव प्रयुज्यते न तु क्वापि काव्यादिषु केनाप्यभियुक्तेन। तथाहि ब्राह्मणीति स्त्रीप्रत्ययः पुंयोगे जातौ वा, आद्ये अस्येति इदं–शब्दस्य पदैकदेशेनान्वयाभावाद् ब्राह्मणान्तरत्वमेव स्त्रीप्रत्ययप्रकृत्यर्थस्य प्रतीयते। द्वितीये ब्राह्मणी ब्राह्मणजातिरस्येति षष्ठी केन संबन्धेन? अत्र प्रकरणादिकमेव दाम्पत्यप्रत्यायकमिति चेत् देवमन्दिरादौ पूजाश्राद्धादिप्रस्तावे वा त्वमात्मनो ब्राह्मणीमाकारय इत्युक्ते ब्राह्मण्या आचार्याणीत्वस्य प्रतीतिः। बाह्यपरिचर्यादौ दासीत्वस्य वात्सल्यप्रकरणे भगिन्यादित्वस्य स्वपुरस्थशयनगृहादौ स्वीयभार्यात्वस्यैव निभृतकाननादौ परकीयात्वस्यापि सम्भवेत्। न च मन्त्रयोरेतादृशार्थत्वे किञ्चिद्दूषणावहत्वमायातम्। अलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतत्, न तु दूषणमित्युक्तेः। तथा तन्मत्रध्यानभूते गौतमीये श्रीगोपालस्तवराजे—"विचित्राम्बरभूषाभिर्गोपनारीभिरावृतम्" इत्युक्तेर्नारीशब्दस्य परिणीतायामेव रूढेः। क्रमदीपिकायां च तन्मन्त्रमध्याह्निकध्याने— "गोगोपवनितानिकरैः परीतं सान्द्राम्बुदच्छवि–सुजातमनोहराङ्गम्। ध्यायेत्" इत्याद्युक्तेश्च। किञ्च तत्रैव प्रातर्मध्याह्नसायाह्नादिषु तन्मन्त्रध्यानेषु "महानीलनीलाभमत्यन्तबालम्" इत्यादिषु "समुद्धूषरोरःस्थलं धेनुधूल्याः" इति, "महीभारभूतामरारातिमुख्यानलं पूतनादीन्निहन्तुं प्रवृत्तम्" इत्यादि। तथा "वन्दे तं देवकीपुत्रं सद्योजातं द्युमत्प्रभम्। पीताम्बरं करलसच्छङ्खचक्रगदाधरम्॥ एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रम्" इति, "लम्बितं बालशयने रुदन्तं वल्लवीजनैः॥ प्रेङ्खमाणम्" इति, "पूतनास्तनपातारम्" इति, "साशुचूषणनिर्भिन्नसर्वाङ्गां रुदतीं च ताम्" इति, "दारयन्तं बकं दोर्भ्याम्" इति। "कालीयस्य फणामध्ये दिव्यं नृत्यं करोति तम्" इति, "उद्दण्डवामदोर्दण्डधृतगोवर्धनाचलम्" इति, "अथवा गरुडारूढं बलप्रद्युम्नसंयुतम्। निजज्वरविनिस्पृष्टजराभिष्टुतमच्युतम्॥" इति, "द्वेषयन्तं रुक्मिबलौ द्यूतशक्तौ स्मरन्हरिम्" इत्यादीनां सर्वेषामेव जन्मोपक्रमाणां प्रकटलीलानामुक्तत्वात्तन्मन्त्रोपासकानामनादिकालपरम्परागतत्वात्तेषां ध्यानपाकदशायां तथा तथा साक्षात्कारादायत्यां तथा प्राप्तेश्च प्रकटलीलाया एव नित्यत्वं निर्णतीम्। "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः" इत्यत्र, "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि" इत्यत्र भाष्यकृद्भिः श्रीरामानुजाचार्यचरणैरपि जन्मकर्मपरिकरादेरपि श्रुतिस्मृतिप्रमाणकत्वं नित्यत्वेन स्थापितम्।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादैरपि "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इत्यत्र "दिव्यमप्राकृतम्" इति व्याख्यातम्। पिप्पलादशाखायां पुरुषबोधिनी श्रुतिश्च—"एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा" इति। श्रीमद्विट्ठलनाथगोस्वामिचरणैरेवमेव गुणकर्मनामरूपादीनां विद्वन्मण्डननामस्वग्रन्थे प्रतिपादितम्। तद्यथा बृहद्वामनपुराणे गीयते उत्तरस्थानेऽखिले च, भृग्वादीन् प्रति ब्रह्मणो वाक्यानि—"षष्टिं वर्षसहस्राणि" इत्युपक्रम्य पुनर्ब्रह्म-वचनम्—"प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा। शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे॥ ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंज्ञितः। निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरे॥ अक्षरं परमं ब्रह्म वेदानां स्थानमुत्तमम्। तल्लोकवासी तत्रत्यैः स्तुतो वेदैः परात्परः॥ चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान्गिरा। तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो प्राज्ञा वरं यन्मनसीप्सितम्॥ श्रुतय ऊचुः—ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम्। वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु यत्॥ आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः। तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः॥ श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम्। केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम्॥ यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः। मनोरमं निकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुरससंयुतम्॥ यत्र गोवर्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः। रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंकुलः॥ यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा। रत्नबद्धोभयतटी हंसपद्मादिसंकुला॥ नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम्। तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः॥ दर्शयित्वेति च प्राह ब्रूत किं करवाणि वः। दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम्॥" श्रुतय ऊचुः—कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम्॥ यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा॥ श्रीभगवानुवाच—दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक्सत्यो भवितुमर्हति॥ आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥ पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले॥ जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्। मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥ ब्रह्मोवाच—श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम्। उक्तं कालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः॥" इति। व्याख्यातं च तैरेव—"अत्र हि श्रुतिभिः सर्ववेदान्तप्रत्ययं गुणातीतं वाङ्मनोगोचरातीतमानन्दैकरूपं यत्तव रूपं तत्प्रदर्शयेति प्रार्थितो भगवान् गोकुलं तत्स्थितं स्वरूपं लीलां तत्र क्रियमाणां च प्रदर्शितवानित्युच्यते। एतत्तदैव घटते यदि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वादिविशिष्टमेतद्भवेत्। एवं सति तन्नित्यता निष्प्रत्यूहा भवति। अपि च दशमस्कन्धे एव नामकरणप्रस्तावे सर्वज्ञेन श्रीगर्गाचार्येण निरूपितम्—"बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते। गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥" इति। अत्र हि नाम्नां रूपाणां च बहूनामेव सन्तीति प्रयोगेण वर्तमानत्वं बोध्यते। तत्रापि गुणानामौदार्यादीनां कर्मणां कालीयदमनादीनामनुरूपाणां तेषां तथात्वं बोध्यते। अनुरूपत्वं तु

तत्समययोग्याकारक्रियादिमत्त्वम्। तथाच गोवर्धनोद्धरणकर्मण्युत्थिततत्वम् उद्वाहुत्वम् उद्धारणक्रियावत्त्वम् सकलगोकुलजनाप्यायकत्वादिकत्वं च। तथा चैतादृशानां नाम्नां वर्तमानत्वं तदैव स्याद्यदि तत्प्रयोजकस्वरूपक्रियादीनां वर्तमानत्वं स्यात्। अन्यथा क्वचित् तत्क्रियानिवृत्तौ तत्प्रयुक्तं तन्नामापि तदा न स्यात्।" इत्यादि। अनन्तरं च—"भगवान्नामानि तु अखण्डशब्दब्रह्मरूपाणि। यथा भगवत्स्वरूपे शरीरे लौकिकत्वभानं ग्राहकदोषात्तथा नामस्वपि लौकिकशब्दत्वेन भानं तद्दोषादेवेत्यादि। तेन सर्वेषां स्वरूपवन्नाम्नामपि नित्यता मन्तव्या। ननु गुणकर्मणीति वचनात् गुणकर्मकरणानन्तरभाविनां नाम्नां कथं ब्रह्मत्वं तस्य तु त्रैकालिकाबाधविषयत्वादिति चेत् न। स्वरूपकर्मणामपि प्रादुर्भावेन तदनुरूपनाम्नामपि प्रादुर्भाव एव परं न तूत्पत्तिः। अन्यथा गोविन्दाभिषेकात् पूर्वमेव पूतनासुपयःपानानन्तरं बीजन्यासं कुर्वत्यो व्रजवरवध्वः "क्रीडन्तं पातु गोविन्दः" इति गुणगाने च "गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यम्" इति कथं वदेयुः? तेन यत्कर्मविशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम तत्कर्मविशिष्टं तद्रूपं नित्यमेव। लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः। कस्याप्यंशस्य कदाचिदाच्छादनमित्येव मन्तव्यम्। तेन भगवान् गोवर्धनमुद्धरन्नेव सदैव वर्तते इति। गोवर्धनोद्धरणधीर इति क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्धनोद्धरणरूपः सदैव वर्तते। अतएव अद्यापि भक्तानां तथानुभवः। क्वचित्तथा प्रतिकृतौ भजनं तथा स्मरणं च। अन्यथाभूतस्य तथाभावनेनापराधः स्यात्, न तु प्रसादहेतुर्भजनम्, "योऽन्यथा सन्तमात्मानम्" इति वाक्यात्। दृश्यते च तथा भजने प्रसादः। एवं सति रूपनामावश्यकत्वेन तत्कर्मानुरूपनामापि नित्यमेव।" इति, नोपचारगन्धशङ्कालेशोऽपि। श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैरपि श्रीभगवत्संदर्भे—"न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा" इत्यत्र तथैव व्याख्यातम्। तद्यथा—स्वमायया स्वरूपशक्त्या। ननु प्राप्नोतीत्युक्ते कादाचित्कत्वमवगम्यते। तत्राह—अनुकालं नित्यमेव प्राप्नोति। कदाचिदपि न त्यजतीत्यर्थः। स्वरूपशक्तिप्रकाशितत्वस्य नित्यत्वस्य च मिथो हेतुहेतुमत्ता ज्ञेया। ननु कथं जन्मकर्मणोर्नित्यत्वम्, ते हि क्रिये, क्रियात्वं च प्रतिनिजांशमप्यारम्भ-परिसमाप्तिभ्यामेव सिध्यति। ते विना स्वरूपहान्यापत्तेः। नैष दोषः, श्रीभगवति सदैवाकारानन्त्यात् प्रकाशानन्त्यजन्मकर्मलक्षणलीलानन्त्यात् अनन्तप्रपञ्चानन्तवैकुण्ठगत-तल्लीलास्थानतत्तल्लीलापरिकराणां व्यक्तिप्रकाशयोरानन्त्याच्च। यत एव सत्योरपि तत्तदाकारप्रकाशगतयोस्तदारम्भपरिसमाप्त्योरेकत्रैव ते जन्मकर्मणोरंशा यावत्परिसमाप्यन्ते, न परिसमाप्यन्ते वा तावदेवान्यत्राप्यारब्धा भवन्तीत्येवं भगवति विच्छेदाभावान्नित्ये एव ते जन्मकर्मणी वर्तेते, तत्र ते क्वचित् किंचिद्वैलक्षण्येनारभ्येते। क्वचिदैकरूप्येणेति ज्ञेयम्। विशेषणभेदाद्विशिष्टैक्याच्च। एक एवाकारः प्रकाशभेदेन पृथक् क्रियास्पदं भवतीति चित्रं बतैतदेकेन वपुषेत्यादौ प्रतिपादितम्, अतः क्रियाभेदात् तत्क्रियावत्सु प्रकाशभेदेष्वभिमानभेदश्च गम्यते। तथा सत्येकत्रैकत्र लीलाक्रमजनितरसोद्बोधश्च जायते। ननु कथं ते एव जन्मकर्मणी वर्तेते इत्युक्तम्। पृथगारब्धत्वादन्ये एव ते

आस्ताम्। उच्यते—कालभेदेनोदितानामपि समानरूपाणां क्रियाणामेकत्वम्। यथा शंकरशारीरके द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चारितः, न तु द्वौ गोशब्दाविति प्रतीतिनिर्णीतं शब्दैकत्वम्। तथैव द्विः पाकः कृतोऽनेनेति द्विधा पाकः कृतोऽनेनेति प्रतीत्या भविष्यति। अतो जन्मकर्मणोरपि नित्यता युक्तैव। अतएवागमादावपि भूतपूर्वलीलोपासनाविधानं युक्तम्। तथा चोक्तं माध्वभाष्ये—"परमात्मसंबन्धित्वेन नित्यत्वात्त्रिविक्रमादिष्वप्युपसंहार्यत्वं युज्यते" इति। अनुमतं चैतत् श्रुत्या—यद्गतं भवच्च भविष्यच्चेत्यनयैव। उपसंहार्यत्वमुपासनायामुपादेयत्वमित्यर्थः। तत्र तस्य जन्मनः प्राकृतात्तस्माद्विलक्षणत्वं प्राकृतजन्मानुकरणेन आविर्भावमात्रत्वं क्वचित्तदनुकरणेन वा। "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेरिति। अतो महाप्रलयादावपि जन्मकर्मलीलानां दुस्तर्क्यमहायोगशक्तया तत्तल्लीलोपकरणसर्ववस्तुप्रत्यायनचातुर्यधुर्यया सेव्यमाने स्वयंभगवति लीलापुरुषोत्तमे ब्रह्ममोहनादावपि दर्शितदिव्यब्रह्माण्डकोटिविभूतौ सदैव नरलीलेनानुपपन्नत्वम्। अत्रोपपत्तिं केचिदेवमाचक्षते—"अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाखिलेश्वरी" इत्यादि नारदपञ्चरात्रदृष्टेर्योगमायांशभूतैव मायाशक्तिरवगम्यते। सा च द्विविधा—जगत्सृष्ट्यर्था, कृष्णलीलार्था च। तत्र आद्यायाः कार्यमनित्यं महाप्रलये मायिकवस्तूनामभावदर्शनात्। द्वितीयायाः कार्यं तु सार्वदिकमेव महाप्रलयेऽपि विराजमानकृष्णलीलोपकरणभूतस्य मायिकब्रह्माण्डस्य मायिकषड्गर्भ-कंसादिकस्य च सत्त्वप्रतिपादनात्। अतएव जन्मादिलीला-कुरुपाण्डवादियुद्धपारिजातापहरण-रुक्मिण्याहरणसुतलादिगमनगुरुपुत्र-ब्राह्मणपुत्राद्यानयनलीलानामपि नित्यत्वं सिध्येदिति। अपि च लीलाया नित्यत्वप्रतिपादके "जयति जननिवासः" इत्यत्र पद्येऽपि "दोर्भिरस्यन्नधर्मम्" इति दोर्भिर्भुजबलैर्दोर्भिरिव दोर्भिरर्जुनादिभिर्वा अधर्मम् अस्यन्नित्यासुरमारणादिपर्यन्तायाः प्रकटाया एव लीलाया नित्यत्वं प्राप्तम् प्रकटलीलायां श्रीकृष्णेन व्रजसुन्दरीणां विप्राग्निसाक्षिकः परिणयः केनापि क्वाप्यार्षे शास्त्रे नैव दृष्टः। दृष्टो वा स किं शुकसंमतो भवेत्? यतः "प्रतीपमाचरब्रह्मन्परदाराभिमर्शनम्। आप्तकामो यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम्॥ किमभिप्राय एतन्नः संशयं छिन्धि सुव्रत" इति राजप्रश्ने भो राजन्! मा संशयिष्ठाः। श्रीकृष्णेन समये परिणीता एव। अतो नैताः परदाराः किं तु स्वीया एवेत्यकष्टमसमाधाय "धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्" इति, "कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते" इति, "गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषां चैव देहिनाम्" इति कष्टप्रायसिद्धान्तकरणान्न च तदसंगतं मतम्। आर्षमपि शिष्टैराद्रियते। शाल्वयुद्धादौ शार्ङ्गधनुःपातवसुदेववधादिचरितस्यानुपादेयत्वात्। तदपि "अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दनः" इत्यागमोक्त एकः पतिशब्द एव गतिः कर्तव्यो दाम्पत्याभिलाषिभिरिति चेत्, श्रूयताम्। न हि पत्यादिशब्दानां परिणेतर्येव केवलं शक्तिः सर्वेषु रसग्रन्थेषु। अत्रापि नायिकाप्रकरणे परकीयास्वपि स्वाधीनपतिका स्वाधीनभर्तृकेत्यादि बहुशः प्रयोगदर्शनात्। यद्वा। अनेकैर्जन्मभिः सिद्धानां प्राप्तसंसिद्धीनां तथा न एकस्मिन्नपि जन्मनि सिद्धानाम्, अपि तु प्रतिजन्मन्येव प्रतिकृष्णावतार एव

स्वतःसिद्धानाम् इत्यर्थद्वयात्तासां साधनसिद्धानां नित्यसिद्धानां च सर्वासां तन्त्रेणैव यथोक्तिस्तथैव कासांचित्कन्यानां पतिः, अन्यासां सर्वासां उपपतिरिति तन्त्रेणैव पतिशब्दप्रयोगः, देवेषूपदेवेषु च सर्वेषु पूजयितव्येषु सर्वेभ्यो देवेभ्यो नम इतिवत्। न च सर्वासामपि तासां पतिरेवेति व्याख्यातुं शक्यम्, परदाराभिमर्शनमित्यादि श्रीमद्भागवतवाक्यविरोधात्। अत्र एवकारेण तासामुपपतिरपि पतिरेव स्वस्वगृहपतौ पतित्वव्यवहाराभावादित्येषोऽर्थोऽप्यवगतः। अन्यथा एवकारस्य वैयर्थ्यमेव अवधारणस्याप्रसङ्गात्। अतएव वक्ष्यते—"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः" इति। न च पतिरेव नत्ववतारलीलावद्भ्रमेणाप्युपपतिरित्यर्थ इति व्याख्यातुं शक्यम्। उक्तन्यायेनावतारगतानां सर्वासामेव लीलानां श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैरेव नित्यत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। पादन्यासैरित्यादौ कृष्णवध्व इति वधूशब्दस्तु स्त्रीमात्रपर एव, "वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च" इति नानार्थवर्गात्, "सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति" इति तृतीयस्कन्धे कन्यायामपि प्रयोगात्। श्रीमद्भीष्मेण तु "प्रकृतिमगन्किल यस्य गोपवध्वः" इति तासां गोपनारीत्वमेवोक्तम्। "स वो हि स्वामी भवति" इति श्रीगोपालतापिन्युक्तः स्वामिशब्दोऽपि न परिणेतृमात्रवाची, "स्वामिन्नैश्वर्ये" इति पाणिनिस्मरणात्। राजस्वामिकः पुरुष इति स्वस्वामित्वसंबन्ध इत्यादिषु वैयाकरणैरपि सर्वत्रैव प्रयोगात्। लोके हि यस्य हि यः स्वामी भवति स तस्य भोक्ता भवतीति प्रसिद्ध्या वस्तुतः स्वामित्वं नास्त्येव तत्पतीनामित्यादि विवेचनीयम्। यत्त्वेतद् ग्रन्थकारैरपि स्वकृतललितमाधवे "नटता किरातराजं निहत्य रङ्गस्थले कलानिधिना। समये तेन विधेयं गुणवति ताराकरग्रहणम्॥" इत्युक्त्या श्रीकृष्णेन श्रीराधायाः करग्रहणलक्षणो विवाह उक्त एव, स च समये द्वारकायामेव तस्याः प्राप्तसत्यभामात्वख्यातिकाया एव, न तु व्रजभूमौ साक्षात्तस्या एव। न चैकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकाभावे सत्यन्यत्रापीतिन्यायेन व्रजभूमावपि तस्या अपि करग्रहणं संभवेदिति वाच्यम्, अत्र ललितमाधव एव उपसंहारवाक्यस्य विद्यमानत्वात्। तच्च—"या ते लीलापदपरिमलोद्गारिवन्यापरीता धन्या क्षौणी विलसति वृता माधुरी माधुरीभिः। तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः संवीतत्वं कलय वदनोल्लासि वेणुर्विहारम्॥" इति श्रीराधाप्रार्थनवाक्यम्। अत्र चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिरित्यत्र चटुला या पशुप्यः पशुपस्त्रियस्तद्भावेन मुग्धानि विवेकशून्यान्यन्तःकरणानि यासां ताभिरिति स्त्रीणां चाञ्चल्यमुपपतित्वमेव व्यनक्ति। चञ्चलेयं स्त्रीत्युक्ते तथैव लोकप्रसिद्धेः स्वेषां परकीयात्वस्यैवाभीप्सितत्वं निर्धारितमिति अतस्तदनभीष्टं स्वीयात्वं व्रजे न व्याख्येयम्। एवमेव श्रीनारायणभट्टैरपि स्वकृतायां रसतरङ्गिण्यां तृतीय उल्लासे आलम्बनप्रकरणे तस्याः परकीयात्वमेवोक्तम्। यथा—शान्ते ब्राह्मण एव स्यात्प्रीते दासः प्रकीर्तितः। प्रेयसि स्युः सखायो हि यशोदा वत्सले स्मृता॥ मधुरे राधिका ज्ञेया हास्ये स्यान्मधुमङ्गलः। सखीयूथोऽद्भुते ज्ञेयो वीरे चारणगोवृषाः॥ करुणे वत्सवृक्षादिर्जटिलाद्यास्तु रौद्रके। गोवर्धनोऽभिमन्युश्च भयानक उदाहृतौ॥ तपस्विन्यादयो

ह्यत्र बीभत्से परिकीर्तिताः। व्रजस्था नियता ज्ञेया आलम्बनविभावकाः॥" इति। तत्रैवान्यत्र—"न राधाभर्तारं क्वचिदपि च दृग्भिर्गृहगतं समद्राक्षीन्नित्यं तव सरसमूर्तिं विलिखति। तवाप्येतद्वक्षो वहति रुचिरां तत्प्रतिकृतिं ततः कृष्ण प्रेम्णाहमपि विदधे दौत्यमखिलम्॥" इति, यच्चोक्तं तत्रैव ललितमाधवे—"गोअड्ढणादिगोएहिं चन्दाअलीपहुदीणं उव्वाहो वि माआए णिव्वाहिदो" इति। तत्र मायाशब्देन योगमायोक्तेस्तासां तेषु पतिभावस्य नित्यत्वमेव व्यक्तम्। अत्रेदं प्रतिपद्यामहे—जगज्जीवमात्रस्यैव मायामध्यपतितस्य देहे अहंभावो देहोऽहमिति। दैहिकेषु पतिपुत्रादिषु ममता ममायं पतिर्ममायं पुत्र इति। एवं माययैव संबन्धः कल्पितः। व्रजस्थानां तु गोपगोपीपशुपक्षिप्रभृतीनां श्रीकृष्णलीलापरिकराणां मायातीतानां स्वदेहेष्वहंभावः स्वीयेषु च मातापित्रादिषु ममताभावो न मायाकल्पितः, किंतु सच्चिदानन्दमय एव। यथा श्रीकृष्णस्य यशोदानन्दादिषु मातापित्रादिभावः, तथैव श्रीराधादीनां श्रीकीर्तिदावृषभान्वादिषु मातापित्रादिभावश्चिदानन्दमय एव। अभिमन्युप्रभृतिषु पतिभावस्तु मायिक एव। चिद्रूपाणां श्रीराधादीनां चिद्रूपेषु पतिष्वभिमन्युप्रभृतिषु सार्वकालिकद्वेषान्यथानुपपत्त्या मध्ये पतिभावरूपा माया स्वांशभूता श्रीयोगमाययैव स्थापिता। प्राकृतीनां स्त्रीणां परिणेतृषु पतिभावस्य प्रापञ्चिकत्वादनित्यत्वम्, गोपीनां तु परिणेतृषु पतिभावस्य मायाकल्पितत्वेऽपि भगवल्लीलातन्त्रमध्यवर्तित्वात् मायायाश्चास्या योगमायानुमोदितत्वाच्च नित्यत्वमेवेति विशेषः। मोहनं तु तासां योगमाययैव गुणातीतत्वान्न तु मायया। किं चात्र श्रीराधादिषु श्रीकृष्णस्य प्रेयसीभावस्य, कृष्णे तासां प्रेयोभावस्य च सच्चिदानन्दमयत्वे सति तासां स्वस्वपरिणेतृषु पतिभावस्य मायाकल्पितत्वस्येवौचित्यमिति ग्रन्थकृतामाशयो द्रष्टव्यः। न तु तेषु पतिभावस्य मायिकत्वमेव तासां कृष्णभार्यात्वसाधकमिति मतमभिज्ञसंमतमिति। केचित्तु "ललितमाधवे मायाशबदेन योगमायैव उच्यते" इत्याहुः, तन्मते पतिभावोऽपि चिन्मय एव। तदपि द्वेषस्तयैव दुर्घटघटनापटीयस्या उपपादित इति। ये च राधायाः परोढात्वममन्यमानाः कन्यात्वमेवाहुस्तन्मते तस्याः सर्वगोपीभ्यः सकाशान्निकर्ष एवोपपद्यते स्म न तूत्कर्षः। तथा हि भगवतो रुक्मिणीलक्ष्म्यादिप्रेयसीभ्योऽपि गोपीनामुत्कर्षः प्रेमोत्कर्षमूलक एव। प्रेमतारतम्येन तस्य वश्यत्वतारतम्यात् प्रेमोत्कर्षो वश्यत्वातिशयज्ञापक एव भवेत्। आसां च प्रेमोत्कर्षज्ञाने श्रीभगवता श्रीमदुद्धवेन च लोकधर्मोल्लङ्घनमेव हेतुरुपन्यस्तः। तच्च भगवद्वाक्यं यथा—"एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्" इति, "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्" इति च। उद्धववाक्यं यथा—"क्वेमाः स्त्रियः वनचरीर्व्यभिचारदुष्टा" इत्युपक्रम्य "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" इति, "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्" इत्यादि च। यदि श्रीराधायाः कन्यात्वमेव तत्र च सति "नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः" इति श्रीकृष्णपतिभावान्न लोकवेदातिक्रमः। तत्र च सति तस्या भगवदुद्धववाक्यविषयत्वाभावात्प्रेमोत्कर्षः श्रीभागवतमते केन प्रकारेण ज्ञेय इत्यन्याभ्योऽपि परोढाभ्यो गोपीभ्यो निकर्ष इति

न तन्मतमस्मत्प्रभुसंमतम्। ननु च श्रीराधा हि कृष्णस्य स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिरेव। तस्या वस्तुतः स्वीयात्वमेव न तु परकीयात्वं घटते। सत्यम्। राधाकृष्णावस्माभिरुपास्येते लीलाविशिष्टावेव न तु लीलारहितौ। लीलायाः शुकपराशरव्यासादिप्रोक्तत्वेऽपि श्रीशुकप्रोक्तैवास्माकं परमाभीष्टा। तस्यां च गोपीनां परकीयात्वदर्शनात् सर्वगोपीशिरोमणिः सापि परकीयैव।[७] ननु दाम्पत्येन दुर्यशोनिबन्धनं न मनोदुःखं नापि श्वश्रूननान्द्रादिवारणयंत्रणादिकं रुक्मिण्यादौ दृष्टम्। गोपीषु तु तत्तद्दृश्यत इत्येतदंशेन दुःखाधिक्यमेवासां रुक्मिण्यादिभ्यः सकाशादपकर्षहेतुरस्तु। मैवम्। रागानुरागमहाभाववतीनां व्रजदेवीनां यानि यानि यावन्त्येव लौकिकदुःखानि तानि तानि तावन्ति सुखान्येव भवन्ति। यद्वक्ष्यते—"दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते। यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥" इति, अतएवाहुर्महाभावलक्षणव्याख्यायां श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणाः—"दुःखस्य परमकाष्ठा कुलवधूनां स्वयमपि परमसुमर्यादानां स्वजनार्यपथाभ्यां भ्रंश एव। नाग्न्यादिर्न च मरणम्। ततश्च तत्तत्कारितया प्रतीतोऽपि कृष्णसंबन्धः सुखाय कल्पते चेत्तर्ह्येव रागस्य परमेयत्ता। ततश्च तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्पते। सा च आरम्भतो व्रजदेवीष्वेव दृश्यते। पट्टमहिषीषु संभावयितुमपि न शक्यते। तदेवमेव ता एवोद्दिश्य उद्धवः सचमत्कारमाह—"या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति[८] अत्र तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो महाभाव इति व्याख्यया रागस्य परमेयत्ता यदा भवेत् तदैव महाभावस्योदय इति महाभावोदयव्यञ्जिका रागपरमेयत्तैव। सा च रागपरमेयत्ता तदैव भवेत् यदा समस्तदुःखातिशयसीमारूपस्वजनार्यपथभ्रंशकरणशीलः कृष्णसम्बन्धः सुखाय भवति, नान्यदा।" इति। अतोऽप्रकटलीलायां यदि स्वजनार्यपथभ्रंशकरणशीलत्वं श्रीकृष्णसंबन्धस्य नैवास्ति तदा रागस्यापि परमेयत्ता नास्ति। तस्यामसत्यां महाभावस्याप्यनुदय इति नैतत्समञ्जसम्। तस्मात्प्रकटायामप्रकटायां च लीलायां स्वजनार्यपथभ्रंशलक्षणमौपपत्यं तेषां स्वेच्छाभिमतं मतम्। अप्रकटलीलायां दाम्पत्यं तु परेच्छाभिमतं मतम्। अतः साधूक्तं तैरेव परमकृपालुभिः—"स्वेच्छया लिखितं किंचित्किंचिदत्र परेच्छया। यत्पूर्वापरसंबद्धं तत्पूर्वमपरं परम्॥" इति। न चौपपत्ये साहित्यदर्पणकारस्यासंमतिरिति भेतव्यम्।[९] "नातीव संमतत्वाद्भरतमुनेर्मतविरोधाच्च। साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रक्रिया मया प्रायः॥" इति नाटकचन्द्रिकोक्तेर्ग्रन्थकृद्भिरेव तन्मतस्यानङ्गीकारादिति। किञ्च, गुरुविप्राग्निसाक्षिके व्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णेन परिणये

---

[७] "ननु तदौपपत्यं दुर्यशोदुःखदावानलग्रस्तत्वादनभिमन्तव्यमेव, दाम्पत्यस्तु सुयशःसुधा–धाराभिषेकादभि मन्तव्यमेवेति। मैवं।" इति पुस्तकान्तरे दृष्टं पाठान्तरम्।

[८] अत्र, इत्यारभ्य अपरं परमित्यन्तं यावत् पाठः कुत्रचित् पुस्तके दृश्यते।

[९] "परोढ़ा वर्ज्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीं॥ इत्थं परोढ़ा अननुरक्ता वेश्या च शृङ्गारे त्यक्ता साहित्यदर्पणकारविश्वनाथेन अनुरक्ता वेश्या तु गृहीतैव, यथा–मृच्छकटिके वसन्तसेशा चारुदतस्य अन्यथा शृङ्गाराभासत्वात्।

व्यवस्थापिते सति उपक्रममारभ्य सर्व एवायमुज्ज्वलनीलमणिर्विपर्यस्तार्थ एव कृतः स्यात्। तथा हि—पत्नीभावाभिमानात्मेति समञ्जसालक्षणेन तासु प्रसक्तेन, "रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा" इत्यादिलक्षिते तासां स्वभावेऽपलापिते सति परसुन्दरीभ्य उत्कर्षे हीयमाने मूलभूतस्य स्थायिभावस्यैवाव्यवस्थायां सत्याम् "संकेतीकृतकोकिलादिनिनदम्" इति, "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" इत्यादिवाक्यैः कष्टकल्पनया संगमितैः कथय किं फलमिति। तत्तल्लक्षणोदाहरणादि-कमापाततो बोधनार्थमेव, न तु ग्रन्थकृतां हार्दाभिप्रायसंबद्धमिति चेत्, तेषु श्रीमन्निरवधिकरुणेषु परमभक्तसुहृद्वरेषु भङ्ग्या विप्रलिप्सुत्वारोप एवेत्यलं बहुविचार-विलसितेनेति। "तिर्यग्योनिमवाप कर्मवशतो विष्णुः स चेत्युक्तिमच्छास्त्रं गारुडमत्यसह्यमपि न कस्यापि तत्संमतम्। व्यासो भागवतस्य तस्य च भवेत् कर्ता तदप्यादरादाराध्यः स गतिश्च तत्र नितरामागोऽस्ति केषामपि॥" गारुडवचनञ्च यथा—"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे। रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥" इति गरुडपुराणीयः श्लोको भगवत्संदर्भधृतो दृश्यः॥२१॥

तथा च प्राञ्चः—

शृङ्गाररससर्वस्वं शिखिपिञ्छविभूषणम्।
अङ्गीकृतनराकारमाश्रये भुवनाश्रयम्॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीबिल्वमङ्गल कहते हैं—जो शृङ्गाररसके सर्वस्व हैं, मयूरपिच्छ जिनका विभूषण है, जिन्होंने नराकारको अङ्गीकार किया है, उन भुवनाश्रय श्रीकृष्णका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ॥२२॥

लोचनरोचनी—रसनिर्यासस्वादार्थमित्येव प्राचीनतदीयमहाभक्तश्रीलीलाशुकमतेन द्रढयति—तथा च प्राञ्च इति। भुवनाश्रयमपि अङ्गीकृतः स्वीकृत आत्मीयत्वेन व्यञ्जितो नराकारो न तु देवाकारो येन। यद्वा स्वावतारेण स्वीकृता नरजातिर्येन तम्। तथा शिखिपिञ्छं विभूषणं यस्य तं गोपालाकारोचितवेषलीलादिकम्। किं च शृङ्गाररसस्य सर्वस्वरूपमाश्रयमित्यर्थः॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—व्यवस्थापितमेवार्थं प्राचीनमहानुभावपरमभक्त श्रीलीलाशुकमतेन द्रढयति—तथा चेति। शिखिपिञ्छविभूषणत्वं गोपाङ्गनारमणस्यासाधारणो धर्मः। शृङ्गाररसः सर्वस्वं यस्येति बहुव्रीहिणा कृष्णः सोऽपि गतसर्वस्वो रङ्क इति भवतीति व्यज्यते। शृङ्गाररसस्य सर्वस्वमिति तत्पुरुषेण शृङ्गाररसोऽपि तं विना स्वस्य वैयर्थ्यं जानातीति। स च शृङ्गार औपपत्य एव परमोत्कृष्टस्तत्र च तस्य श्रीकृष्णस्य लघुत्वे सति कथं तमेव श्रीलीलाशुक आश्रयेतेति। यद्वा तस्य लघुत्वे कुतः

शृङ्गाररससर्वस्वीभूतत्वमित्यभिप्रायः। अङ्गी मुख्यस्तथाभूतीकृतो नराकारो येन तम्। "येन शुक्लीकृता हंसाः" इतिवत् च्विः। अन्ये वैकुण्ठनाथस्य देवाकारा मत्स्यकूर्माद्याकाराश्च एतदङ्गभूता इति भावः। भुवनान्येवाश्रयास्त्रिजगन्मोहनत्वाद् आलम्बनीभूतानि यस्य तम्॥२२॥

अनुकूलदक्षिणशठा धृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते।
प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तिभिरमी वृत्त्या॥२३॥

शाठ्यधाष्ट्यें परं नाट्ये प्रोक्ते उपपतेरुभे।
कृष्णे तु सर्वं नायुक्तं तत्तद्भावस्य संभवात्॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—उपरोक्त पति और उपपति भेदवाले दो प्रकारके नायक भी चेष्टाभेदसे अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—ये चार प्रकारके होते हैं। नाट्यशास्त्रमें केवल उपपतिके ही शाठ्य और धार्ष्ट्य भेद बतलाए गए हैं; किन्तु श्रीकृष्णमें कोई भी भाव अयुक्त नहीं है; अचिन्त्यशक्तिके कारण उनमें सबकुछ सम्भव है॥२३–२४॥

लोचनरोचनी—तदेतदभिमतं अभिव्यज्य प्रकृतः श्रीकृष्णरूपमालम्बनमेव विवृण्वन् तस्य लीलाविशेषेषु वैशिष्ट्यमाह—अनुकूलेति। द्वयोः पत्युपपत्योः वृत्त्या चेष्टया॥२३॥

तदेवोपपादयति—शाठ्यधाष्ट्यें परं नाट्येति। यद्यप्युपपतेरङ्गिनि रसे वर्णनीयता नास्ति तथाप्यङ्गेऽस्तीति तथोक्तम्। किन्तु परमित्येतस्य निजायामेव तात्पर्यात् तत्तद्भावस्य पतित्वोपपतित्वलीलाव्यञ्जकप्रेमविशेषस्य॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वयोः पत्युपपत्योः। वृत्त्या चेष्टया॥२३॥
तत्तद्भावस्य पतित्वोपपतित्वरूपस्य। यद्वा शाठ्यधाष्ट्यादेः॥२४॥

तत्रानुकूलः—

अतिरक्ततया नार्यां त्यक्तान्यललनास्पृहः।
सीतायां रामवत् सोऽयमनुकूलः प्रकीर्तितः॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—अनुकूल—एक ही श्रीसीताके प्रति श्रीरामचन्द्र जैसे अनुरक्त थे, उसी प्रकार जो नायक एक स्त्रीके प्रति ही अनुरक्त होकर अन्य स्त्रीकी स्पृहा त्याग करता है, वह अनुकूल नायक कहलाता है॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—नार्यामेकस्यामत्यनुरक्ततया हेतुना त्यक्ता अन्यललनाविषयिणी स्पृहा येन इति स्पृहामात्रस्यैव निषेधात् ललनान्तराभावपक्षो निरस्तः॥२५॥

राधायामेव कृष्णस्य सुप्रसिद्धानुकूलता।
तदालोके कदाप्यस्य नान्यासङ्गः स्मृतिं व्रजेत्॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधामें ही श्रीकृष्णकी अनुकूलता सुप्रसिद्ध है; क्योंकि श्रीराधाके दर्शन (श्रवण और स्मरण) से उनके स्मृतिपथमें दूसरी स्त्रियोंका प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता॥२६॥

लोचनरोचनी—राधायामेवेति। तदालोके तस्या आलोके सत्युपलक्षणत्वात् श्रवणे स्मरणे च सतीत्यर्थः। अत्र सार्वत्रिकत्वाभावान्न श्रीरामसीतादृष्टान्तत्वं पर्याप्तमिति न मन्तव्यम्। तस्यैकपत्नीव्रतधरस्य मनसाप्यन्यनारीस्पृहाया अत्यन्तान्याय्यत्वादनन्यगतेस्तदेकस्पृहत्वं न दुर्घटम्। तस्य तु सतीष्वप्यन्यबहुलवनितासु तस्या दर्शने सति तासां स्वस्मिन् परमप्रेमवतीनां विस्मरणं दुर्घटम्, तथापि तज्जातमित्येवमत्रैवानुकूलस्य परमपर्याप्तत्वं तदालोके इत्यनेन दर्शितम्। तथा च रासलीलायां तामादायान्तर्धाय दुःखिता अपि तास्तेन नानुसंहिताः। इत्थमेव गीतगोविन्दे—"राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः" इति च॥२६॥

आनन्दचन्द्रिका—तदालोके तस्या राधाया आलोके सति। तदुपलक्षणत्वात् श्रवणे स्मरणे च सतीत्यर्थः। अत एकपत्नीव्रतधरस्य श्रीरामस्य सीतायामानुकूल्यं सुघटमेव। अस्य पुनर्बहुवल्लभस्य तस्यामानुकूल्यं दुर्घटमपि तदितरसर्वप्रेमवतीविस्मारक-तदीयपरमाद्भुतप्रेमातिशय एव सुघटयतीति द्योतयित्वा रामनिष्ठादप्यानुकूल्यादेत-न्निष्ठस्यानुकूल्यस्य प्रेममूलकः परमोत्कर्षो ध्वनित इति। अतएव रासलीलायां तामादायान्तर्धाय दुःखिता अप्यन्यास्तेन दुःखितत्वेन नानुसंहिताः। इत्थमेव गीतम्—"राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः" इति॥२६॥

"वैदग्धीनिकुरम्बचुम्बितधियः सौन्दर्यसारोज्ज्वलाः
कामिन्यः कति नाद्य बल्लवपतेर्दीव्यन्ति गोष्ठान्तरे।
राधे पुण्यवतीशिखामणिरसि क्षामोदरि त्वां विना
प्रेङ्खन्ती न परासु यन्मधुरिपोर्दृष्टात्र दृष्टिर्मया॥"२७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाकी आसक्ति सम्पादनके लिए वृन्दादेवी कह रही हैं—"हे राधे! जिनकी बुद्धि रसिकतासमूह द्वारा परिपुष्ट

है, जो महासौन्दर्यसे समुज्ज्वल हैं, ऐसी–ऐसी सैंकड़ों गोप–वनिताएँ महाराज श्रीनन्दके गोष्ठमें क्रीड़ा करती हैं; किन्तु हे कृशोदरि! तुम परम सौभाग्यवती हो। मैं साक्षात् देख रही हूँ कि तुम्हारे विरहमें मुरारीकी कुटिल दृष्टि अन्यान्य किसी भी नायिकाके प्रति पतित नहीं होती।" श्रीराधिकाका स्मरण होनेसे श्रीकृष्ण अन्य गोपियोंपर दृष्टिपात भी नहीं करते। स्मरणसे होनेवाली व्यञ्जना द्वारा दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है और इस प्रकार लक्षणसङ्गति हो जाती है॥२७॥

लोचनरोचनी—तदेतदनुसृत्य स्वयमुपश्लोकयति—वैदग्धीति। तदिदं वृन्दावचनम्। त्वां विना तव विरहे सति परासु मुररिपोर्दृष्टिर्मया सदा तादृशलीलावनाधिष्ठात्र्यापि प्रेङ्खन्ती प्रकृष्टतया चलन्ती न दृष्टा॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—वैदग्धीति वृन्दावचनम्। त्वां विना तव विरहे सतीत्यर्थः। तेन तत्स्मरणव्यञ्जनया तदालोके इति लक्षणसङ्गतिः। प्रेङ्खन्ती चलन्ती॥२७॥

धीरोदात्तानुकूलो यथा—

कुवलयदृशः संकेतस्था दृगञ्चलकौशलै–
र्मनसिजकलानाटीप्रस्तावनामभितन्वताम् ।
न किल घटते राधारङ्गप्रसङ्गविधायिता–
व्रतविलसिते शैथिल्यस्य च्छटाप्यघविद्विषः॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—धीरोदात्तानुकूल—श्रीराधाको स्मरण कर रहे श्रीकृष्णको देखकर चित्राके प्रति ललिता कह रही हैं—देखो चित्रे! यद्यपि ये गोकुलवासिनी नीलकमलनयनी रमणियाँ अपनी अनेक प्रकारकी भ्रू–भङ्गिमा आदि कन्दर्प–कलाओंके द्वारा अघरिपु श्रीकृष्णको अपने–अपने सङ्केत कुञ्जोंमें आकर्षण कर रही हैं, किन्तु वे श्रीकृष्ण ऐसे सुदृढ़व्रत और गम्भीर हृदयवाले हैं कि श्रीराधामें अवस्थित उनके कन्दर्पकलानाट्य–सम्बन्धी रङ्गालय अथवा उनके प्रकृष्ट सङ्ग–विधायक–व्रतके अनुष्ठान–विषयमें उनका बिन्दुमात्र शैथिल्य नहीं है॥२८॥

लोचनरोचनी—पूर्वं धीरोदात्तादय उदाहृता एव, संप्रति तदनुसारेण तत्तद्भावमिश्रादीन् उदाहरति—धीरोदात्तानुकूलो यथेत्यादिभिः। तत्र कुवलयदृश इत्यत्रापि श्रीराधासखीं प्रति वृन्दावचनम्। संकेतस्थाः श्रीराधिकाभिसारवर्त्मनि

नानाकुञ्जान् संकेताष्पदी–कृत्याधितिष्ठन्त्यः ; नाटीशब्देन नाट्यप्रबन्धविशेषो नाटिकोच्यते। प्रस्तावनाशब्देन तु तदर्थसंक्षेपव्यञ्जनामयो नटीनिर्दिष्टः प्रथमो भागः। किं चात्र न किल घटत इति संभावनामात्रज्ञेयभावत्वेन तस्य गम्भीरत्वम्। गाम्भीर्याच्च तस्यावश्यककृत्यविशेष–व्याजमयसान्त्वनवचनेनैव क्रमशस्तास्त्यजति न तु रुक्षमुद्रयेति प्राप्तत्वाद्विनयित्वम्। तथापि तास्तत्र नानाभङ्गिभिर्विघ्नं कुर्वतीः प्रति कोपानुद्भावनात् क्षन्तृत्वम्। यतस्ता दुःखं न प्रान्पुवन्त्विति भावनाजातेऽपि करुणत्वम्। स्पष्टतया तथोक्तेः सुदृढव्रतत्वम्। विनयित्वादेव व्यक्तादात्मश्लाघित्वाभाववत्त्वलक्षणमकत्थनत्वम्। तथाप्यन्ततस्तु श्रीराधालक्षणपरमप्रेयसीलाभात् गर्वो वर्तत एवेति गूढगर्वत्वम्। तत्र विघ्नशङ्कया झटिति गमनाद् व्यक्तं सुसत्त्वभृत्त्वमिति धीरोदात्तत्वं व्यक्तम्। अनुकूलत्वं तु तत्तत्सर्वपरित्यागपूर्वकतदभिसरणात् स्पष्टमेव॥२८॥

आनन्दचन्द्रिका—भक्तिरसामृतसिन्धौ धीरोदात्तादय उदाहृता एव। संप्रति तद्भावमिश्रानुकूलादीनुदाहरति—धीरोदात्तेति। "गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सदृढव्रतः। अकत्थनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत्॥" इत्येवंलक्षणो धीरोदात्तश्चासौ अनुकूलश्चेति सः। कुवलयेति। राधामनुस्मरन्तं श्रीकृष्णं दूरादालोक्य चित्रां प्रति ललितायाः साश्वासवचनम्। नाटी नाट्यम् , प्रस्तावना तदर्थं संक्षेपव्यञ्जनामयी प्रथमा प्रवृत्तिः, तां अभि श्रीकृष्णदृष्ट्यभिमुखतया तन्वताम्। संकेतस्थाः श्रीकृष्णाभिमुख–वर्त्मनिकटस्थकुञ्जान् संकेतास्पदीकृत्य तिष्ठन्त्यः। प्रस्तावनामिति। प्रस्तौतेर्ण्यन्ताद्युटा। कन्दर्पकलानाट्यं मया प्रस्तुतीकृतमित्येकैकशस्तास्तं ज्ञापयित्वा तस्मात्स्वयमत्र नृत्यन् माञ्च नर्तयेति व्यञ्जयतीत्यर्थः। अत्र श्रीकृष्णस्य गाम्भीर्य परमचतुराभिरपि ताभिस्तच्चित्तवृत्त्यनवगाहात् "त्वां कलानाट्यरङ्ग एव नर्तिष्यामि किन्तु गोसंभालनं संप्रत्यग्रतः प्रदेशे आवश्यकम्, तस्मात् क्षणमात्रं तत्र मद्गमनमनुमन्यस्व" इति प्रत्येकं ताः प्रति दृगञ्चलेनैव ज्ञापनात्। विनयित्वम्। तदपि नानाभङ्गिभिर्विघ्नमेव कुर्वतीस्ताः प्रति कोपानुद्भवात् क्षन्तृत्वम्। तासां स्वविरहदुःसहदुःखानुसंधानात् करुणत्वम्। राधायामेव यो रङ्गस्तदीयकन्दर्पकलानाट्यसम्बन्धी राग तत्रैव प्रकृष्टं सङ्गं नृत्यनर्तनासभ्यत्वलक्षणकृत्येषु आसक्तिं विधातुं शीलं यस्य तस्य भावस्तत्ता सैव व्रतं तस्य विलसिते अनुष्ठानविषये शैथिल्यस्य छटापि न घटते न संभवतीति सुदृढव्रतत्वम्। "हे श्रीराधे! सर्व गोपीप्रतारणपण्डितवर्य्ये त्वय्यैवाहमनुरागी" इति तां प्रति स्वप्रेमवश्यत्वस्य अकथनात् अकत्थनत्वम्। मादृशः प्रेमी संभोगसौख्यवान् सतीव्रतध्वंस्यपि सर्वधार्मिकश्लाघ्योऽन्यो नास्तीति गर्वस्याप्रकटनात् गूढगर्वत्वम्। अघविद्विष इति सुसत्त्वभृत्त्वम्। अनुकूलत्वं सर्वत्रैव स्पष्टमेव॥२८॥

धीरललितानुकूलो यथा—

गहनादनुरागतः पितृभ्यामपनीतव्यवहारकृत्यभारः।
विहरन् सह राधया मुरारिर्यमुनाकूलवनान्यलंचकार॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—धीरललितानुकूल—श्रीराधा-कृष्ण युगलकी स्वैरलीलाके माधुर्यास्वादनसे प्रसन्नचित्तवाली पौर्णमासी नान्दीमुखीसे कह रही हैं—"हे नान्दीमुखि! अत्यधिक अनुरागवशतः पिता-माताने इनके ऊपर किसी भी कार्यका भार अर्पण नहीं किया है; ये केवल श्रीराधाके साथ विहार परायण होकर यमुनाके कूलवर्ती वनश्रेणियोंको अलंकृत कर रहे हैं।" यहाँ स्पष्ट रूपसे श्रीकृष्णके निश्चिन्तत्वकी अभिव्यक्ति हो रही है॥२९॥

लोचनरोचनी—गहनेति। नान्दीमुखीं प्रति पौर्णमासीवचनम्। गहनादिति सम्यक् पर्यालोचयितुमशक्यत्वात्। "गहना कर्मणो गतिः" इतिवत्। "गहनं गह्वरे दुःखे विपिने कलिलेऽपि च" इति विश्वप्रकाशात्। अत्र यमुनाकूलवनान्यलंचकारेति विदग्धत्वं नवतारुण्यत्वं चेति बोधितम्। पूर्वत्र विहारशोभावैचित्र्यापरत्र शोभातिशयदृष्ट्या तदलंकरणापत्तेः। विहरन्निति। परिहासरसस्य क्रोडीकृतत्वात् परिहासविशारदत्वं पितृभ्यां भारापनयनेनैव निश्चिन्तत्वं स्पष्टम्। आस्तां तावत् परमस्वैरलीलत्वेनैवेति भावः। यत्र पितृभ्यामन्यैः कार्यमाणं गोचारणादिकमपि स्वैरलीलत्वेनैवावगम्यते, न त्वन्यत्रैव भारत्वेन। तदुक्तम्—"व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया" इत्यत्र गोपालनमेव छद्म व्याजो यस्यां तया मायया प्रतारणशक्त्या व्रजे विक्रीडतोरिति क्रीडैवाभीष्टं गोपालनं त्वन्यथापि स्यादिति भावः। राधया सह विहरन्नित्यपि विहारानवच्छेदप्राप्त्या प्रेयसीवशत्वं चेति धीरललितत्वं दर्शितम्। अविच्छेदविहारात्-अनुकूलत्वमपीति धीरललितानुकूलत्वं स्पष्टमेव। तत्र धीरललितलक्षणे प्रायःशब्दस्तस्य बहिर्व्यक्तीकरणाभावादिति भावः॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—गहनादिति। नान्दीमुखीं प्रति पौर्णमास्याः वचनम्। गहनात् निर्वक्तुमशक्यात्। "विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः। निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः॥" इति धीरललितलक्षणम्। अत्रापनीतेति निश्चिन्तत्वम्। विहरन्निति परस्मैपदप्रयोगेण प्रेयस्यानन्ददानतात्पर्यावगमात् प्रेयसीवशत्वम्॥ वर्तमानप्रयोगेण तयैव सह विहारानवच्छेदात् कान्तान्तरत्यागात् अनुकूलत्वम्। वनानीति बहुवचनेन एकत्र वने विहृत्य पुनरन्यत्र तिरोधाय स्थित्वा तत्राप्यन्विष्यन्त्या तया स्वं दृष्टवत्या परिहसन्त्या विहृत्य पुनरन्यत्र तया तिरोदधत्या पुनस्तत्राप्यन्विष्यमाणया दृष्ट्या परिहसितया विहृत्य पुनरन्यत्रापि तथा तथा विलासाविष्कारात् परिहासविशारदत्वम्। अलंचकारेत्यलंपदेन विदग्धत्वं वैदग्ध्यमयविहारस्यैव तत्प्रदेशेसाफल्यापादकत्वात् नवतारुण्यं तु सर्वत्रैवानुस्यूतम्॥२९॥

धीरशान्तानुकूलो यथा—

ब्रध्नोपास्तिविधौ तव प्रणयितापूरेण वेशं गते
क्ष्मादेवस्य कथं गुणोऽप्यघरिपौ द्रागद्य संचक्रमे।

बुद्धिः पश्य विवेककौशलवती दृष्टिः क्षमोद्गारिणी
वागेतस्य मृगाक्षि रूढविनया मूर्तिश्च धीरोज्ज्वला॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—धीरशान्तानुकूल—किसी समय गुरुजनों (सास-ससुर आदि) के बाधक होनेपर श्रीमती राधा श्रीकृष्णके साथ निर्जन विलासमें मिलित न हो सकनेके कारण अत्यन्त उत्कण्ठित हुईं। उसी समय किसी अमितार्था दूती द्वारा सूर्यपूजाके बहाने श्रीराधा सूर्यमन्दिरमें उपस्थित हुईं। विप्र-वेशमें श्रीकृष्णको वहीं साक्षात् देखकर विशाखा श्रीमती राधासे कह रही हैं—"हे मृगनयनी राधे! तुम्हारे अत्यधिक प्रणयके कारण कैसे अघरिपु श्रीकृष्णके ब्राह्मणवेश धारण करनेपर, उनमें ब्राह्मणके गुण भी आ गए हैं? देखो! उनकी बुद्धि विवेकवती और कौशलवती है, दृष्टि क्षमागुणका उद्गार कर रही है, वचन विनययुक्त है और मूर्त्ति धैर्यगुणसे सुशोभित है।"

इस पद्यमें धीरशान्त-नायकके सभी गुणोंको बतलाया गया है। बुद्धि विवेककौशलवती—इसके द्वारा विवेचकत्व; 'दृष्टि' द्वारा क्षमागुण, क्लेश-सहिष्णुता; 'वाक्' इत्यादिके द्वारा विनयीत्व; मूर्त्ति इत्यादिके द्वारा शमप्रकृति तथा सब गोपियोंको त्याग करके विप्र-वेश अङ्गीकारकर एकमात्र श्रीराधाके लिए ही लालसायुक्त होनेके कारण उनके प्रति सब प्रकारसे आनुकूल्य परिस्फुट है॥३०॥

लोचनरोचनी—ब्रध्नेति। धीरशान्तानुकूलत्वमत्र स्पष्टमेव। ब्रध्नः सूर्यः। एतदुपासना लीला श्रीराधायाः। चन्द्रावल्यास्तु चण्डिकोपासनारूपेति परम्परोपदेशलब्धम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—धीरशान्तेति। तल्लक्षणम्—"शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः। विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते॥" इति ब्रध्नेति। जटिलासंनिधावपि राधाकर्णे विशाखोक्तिः। ब्रध्नः सूर्यः। तव प्रणयितापूरेणेत्यादिना गुरुजनसंनिहिताया अपि तव त्यागाशक्तेस्त्वन्मात्रैकगतावस्मिन्नन्यालक्षितं किंचिदपाङ्गामृतमर्पयेति ध्वनिः। तेन चानुकूलत्वं व्यक्तम्। बुद्धिः पश्येति विवेचकत्वम्॥ दृष्टिः क्षमोद्गारिणीति क्लेशसहनत्वम्। स्वाभाविकचाञ्चल्यत्याग एवात्र क्लेशः। वागिति विनयित्वं मूर्तिश्च। धीरेति शमप्रकृतिकत्वम्। अत्र तस्यात्मारामशिखामणित्वं व्रजप्रेम्णा यन्निहुतमस्ति तदेवात्र प्रकृतिशब्देन वाच्यम्। अत्र क्षमादेवस्य कथं गुण इति तेनाघरिपुरयमद्य ब्राह्मण इव दृश्यते ततश्चोपमायां सत्यां शान्तशृङ्गाररसयोरङ्गाङ्गिभावो न विरुध्यते। यदुक्तं साम्येन वचनेऽपि चेति पूर्वे ग्रन्थ एव॥३०॥

धीरोद्धतानुकूलो यथा—

सत्यं मे परिहृत्य तावकसखीं प्रेमावदातं मनो
नान्यस्मिन्प्रमदाजने क्षणमपि स्वप्नेऽपि संकल्पते।
सारग्राहिणि गौरि सद्‌गुणगुरौ मुक्तव्यलीकोद्यमे
मुद्रां किन्नु मयि व्यनक्षि ललिते गूढाभ्यसूयामयीम्॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—धीरोद्धतानुकूल—किसी समय अनुरोधमें पड़कर अन्य ब्रजदेवीके साथ क्रीड़ाविलास करनेके पश्चात् निशान्तके समय धीरौद्धत्यावलम्बनकर मानिनी श्रीराधाको प्रसन्न करनेके लिए श्रीकृष्ण पहले श्रीमती राधिकाकी सर्वप्रधाना सखी ललितासे बोले—"मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि मेरा प्रेम-निर्मल मन तुम्हारी सखीको छोड़कर स्वप्नमें भी क्षणभरके लिए किसी भी दूसरी प्रमदाके प्रति नहीं दौड़ता है। हे गौरी ललिते! सारग्राही, सद्‌गुणगुरु और बिन्दुमात्र अपराधसे भी रहित मुझपर तुम झूठ-मूठ ही क्यों गूढ़ दोषारोपण कर रही हो?" इस पद्यमें मात्सर्यको छोड़कर धीरोदात्तनायकके सभी गुणोंको दिखलाया गया है। सद्‌गुणगुरु—इसके द्वारा अहङ्कारित्व; मुक्तव्यलीक—इसके द्वारा मिथ्या बातोंको भी कहनेवाले अर्थात् रसपुष्टिके लिए अन्य गोपियोंके प्रति रतिप्रसङ्गमें मिथ्या-आचरण करनेपर भी कपट-चातुरीयुक्त वाक्य-विन्याससे मायावित्व; 'मुद्रा' शब्दादिके द्वारा उद्धत वचनोंसे रोष और चञ्चलत्व सूचित होता है। श्लोकके आदि-भागमें राधिकाके प्रति श्रीकृष्णका आनुकूल्य ही व्यक्त हुआ है॥३१॥

लोचनरोचनी—सत्यं मे इति। हे गौरि, व्यलीकमप्रियं तत्र मुद्रां किंन्वित्यादिना मात्सर्यवत्त्वं रोषणत्वं च। सारग्राहिणि सर्वसद्गुणगुरौ मुक्तव्यलीकोद्यमे मयीति अहंकारित्वं विकत्थनत्वं च। सत्यं मे इत्यादिना स्वधर्मगोपनवचसा मायावित्वम्। तेन क्वचित् स्खलनव्यञ्जकेन चलत्वमिति धीरोद्धतत्वम्। तत्रानुकूलत्वं तु कदाचित्के स्खलने च तदपराधभञ्जनाय वैयग्र्याल्लक्ष्यते॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—धीरोद्धतेति। तल्लक्षणम्—"मात्सर्यवानहंकारी मायावी रोषणश्चलः। विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः॥" इति। सत्यमिति। कृष्णाभिसारमार्गस्थानां गोपीनां स्वाभियोगान् तेन कृष्णेन च दृगन्ताद्यैर्मृषाकृततत्तदाश्वासान् दूरादेव दृष्टवतीं तस्य राधिकैकतानचेतस्त्वं ज्ञात्वापि वाम्यवशात् भो व्रजनगरीनागर! साम्प्रतं मत्सखीं

सुखयित्वा अद्य वर्त्मत्यक्ताः प्रतिश्रुतस्वविलासाः कामिन्योऽपि क्षणानन्तरं त्वया समाधेया इति नयन-वदनग्रीवादिभङ्ग्यैव ब्रुवाणां ललितां प्रति तद्वचनम्। अत्र सत्यमित्यादिना संकल्पत इत्यन्तेन अनुकूलत्वम्। सारग्राहिणि सद्गुणगुरावित्याभ्यां अहंकारित्वं विकत्थनत्वं च। मुक्तेति व्यलीकं त्वदप्रियं तस्योद्यमोऽपि मया मुक्तः, पथि पथि ताश्चक्षुषापि न दृष्टास्तदपि त्वं मयि मिथ्यादोषमारोपयसीति मायावित्वं रोषणत्वं च। मुद्रां किंन्वित्यादिना मात्सर्यवत्त्वं व्यक्तम्॥३१॥

अथ दक्षिणः—

यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति।
न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ खलु दक्षिणः॥३२॥

तथ्यं चन्द्रावलि कथयसि प्रेक्ष्यते न व्यलीकं
स्वप्नेऽप्यस्य त्वयि मधुभिदः प्रेम शुद्धान्तरस्य।
श्रुत्वा जल्पं पिशुनमनसां तद्विरुद्धं सखीनां
युक्तः कर्तुं सखि सविनये नात्र विश्रम्भभङ्गः॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—दक्षिणनायक—'दक्षिण' शब्दका अर्थ है—सरल। जो नायक दूसरी नायिकामें आसक्त होनेपर भी पूर्व नायिकाके प्रति गौरव, भय और सरलताका त्याग नहीं करता है, उसे दक्षिण नायक कहते हैं॥३२॥

नान्दीमुखी चन्द्रावलीसे कह रही है—"चन्द्रावलि! तुम सच ही कह रही हो; किन्तु मैंने श्रीकृष्णको स्वप्नमें भी तुम्हारे प्रति कभी भी अप्रिय (अपराध) करते हुए नहीं देखा है; क्योंकि तुम्हारे प्रेममें उनका मन निर्मल है। अतएव खल-स्वभावा सखियोंकी झूठ-मूठकी विरुद्ध बातोंको सुनकर अतिशय विनम्र श्रीकृष्णसे प्रणय भङ्ग मत करो।" इस पद्यमें 'प्रेमशुद्धान्तर' तुम्हारे प्रेमसे मनका निर्मल होना—प्रेम और दाक्षिण्य तथा सविनय-पदसे गौरव, निरपराध होनेपर भी ऐसे विनयसे भय भी सूचित है॥३३॥

लोचनरोचनी—अथ प्रथमे दक्षिणलक्षणे तदिदं विचार्य्यते—'दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरकोषात् दक्षिणस्तावत् सरलः। स च पूर्वग्रन्थे 'सौशील्यसौम्यचरितो दक्षिणः कीर्त्यते बुधैः' इति विशिष्य लक्षितः। सौशील्येन सुस्वभावरूपेण मनोधर्मेण सौम्यं सुकोमलं चरितं देहादिचेष्टा यस्य स इत्यर्थः। अत्र तु रसे तमपि विशिष्य लक्षयति—यो गौरवमिति। यः खलु अन्यचित्तोऽपि पूर्वयोषिति गौरवादिकं न मुञ्चति

स दक्षिणो ज्ञेय इत्यन्वयः। अत्र यो गौरवं भयं प्रेमेति सौशील्यमेव विशिष्य दर्शितम्। दाक्षिण्यं च विशिष्टस्य पूर्वग्रन्थोक्तसामान्यलक्षणांशस्य विशेषलक्षणेऽप्यपेक्षणीयत्वादत्र सौम्यचरितत्वमेव वक्तव्यम्। तच्च मनोधर्मस्य गौरवादेरनुरूपमेव। न तु लक्ष्यं दक्षिणत्वम्। लक्षणांशपूर्णलक्षणयोरेकत्वानुपपत्तेः सति चैकत्वे पौनरुक्तस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च। ततश्चायमर्थः—यः खलु अन्यस्यां परमसद्गुणायां कस्यांचित्तदीयरागविशेषेण पश्चात् बद्धचित्तोऽपि पूर्वयोषिति गौरवमिश्रेण प्रेम्णा सन्ततकृतभजनायां कस्याञ्चिदितरस्यां नत्वन्यस्यामिव शुद्धरागविशेषेणातीव रमयन्त्यां, गौरवं तदीय गौरवानुसारि गौरवमादरं तथा भयं प्रेमवत्यास्तस्याः स्वहेतुकप्रेमभङ्गेनानिष्टाशङ्कां तथा प्रेम तद्दुःखाशङ्कया कृपाप्रधानं स्नेहलक्षणतया दाक्षिण्यं दाक्षिण्यशब्दोक्तसौम्यचरितत्वं च न मुञ्चति सोऽसौ दक्षिण इति॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वयोषिति प्रथमं यस्यामासक्तिप्रसक्ती अभूतां तस्याम्। अन्यचित्तः अन्यस्यां तदुत्तरकालप्राप्तायां नवीनायां चित्तं यस्येति तत्रैवासक्त्याधिक्यं सूचितम्॥३२॥

तथ्यमिति। नान्दीमुखीवाक्यम्। त्वं सत्यं ब्रूषे। किंत्वित्याक्षेपलब्धम्। व्यलीकं अप्रियम् अपराध इत्यर्थः। तत्र हेतुः—प्रेमेति। शुद्धान्तरेण दाक्षिण्यम्। सविनय इति गौरवम्। विनयकारणत्वेन भयञ्च॥३३॥

यद्वा—

नायिकास्वप्यनेकासु तुल्यो दक्षिण उच्यते॥३४॥

यथा दशरूपके—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु–
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—अपने मतानुसार दक्षिण नायकका उदाहरण देकर अन्य मतको उद्धृत कर रहे हैं कि अनेक नायिकाओंमें समभाव रखनेवाले नायक भी दक्षिण कहलाते हैं॥३४॥

दक्षिण–नायकका उदाहरण—श्रीकृष्णके तत्सामयिक वृत्तान्तको जाननेके लिए इच्छुक उद्धवके द्वारा प्रेरित सौविदल्ल (कञ्चुकी) ने आकर उनको बतलाया कि मैं श्रीकृष्णके पास गई और उनसे कहा—"हे द्वारकानाथ! कुन्तलेश्वरकी बेटी ऋतुस्नानकर आज रात्रिको तुम्हारे

आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है, किन्तु आज पर्याय-क्रमसे अङ्गराजकी बहनकी भी आपसे मिलनेकी बारी (पाला) है। इधर द्यूतक्रीड़ाके माध्यमसे कमलाने भी आजकी रात तुम्हारे साथ विहार करनेके लिए जीत रखी है। अथच आज देवी रुक्मिणीको तो प्रसन्न करना ही होगा। इस प्रकारसे अन्तःपुरकी सुन्दरियोंकी वार्त्ता सुनकर श्रीकृष्ण दो-तीन घड़ी तक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचते रहे।" इस श्लोकमें दक्षिणनायकका उदाहरण देते हुए श्रीकृष्ण द्वारकाकी अन्तःपुरवासी समस्त रानियोंके प्रति सम हैं तथा उन-उन रानियोंके भावोंको समझकर कि "वे सभी मुझसे अभी मिलना चाहती हैं और कैसे मैं उन सबसे मिल सकता हूँ? यदि मैं किसी एकसे मिलता हूँ, तो दूसरी रुष्ट होगी।" इस प्रकार सोचकर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। इस प्रकार यह दक्षिणनायकका लक्षण है॥३५॥

लोचनरोचनी—देवी रुक्मिणी। "रुक्मिणी द्वारवत्यां तु" इति पुराणप्रसिद्धत्वात्॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्नातेत्यन्तःपुरचारिण्या दूत्याः कस्याश्चित् स्वसखीं, प्रत्युक्तिः। स्नातेति। अद्य तस्या अङ्गसङ्गे धर्मशास्त्रमेव विधायकमिति भावः। अङ्गराजस्य स्वसुर्वार इति। अत्र व्यावहारिकी नीतिरेव विधायिकेति भावः। द्यूते इति। सा कमला त्वामद्य कथं हास्यतीति भावः। देवी रुक्मिणी प्रसादयितुमर्हेति। अत्र त्वत्प्रेमैव प्रयोजकमिति भावः। इति विज्ञाय सर्वमौचित्यं ज्ञात्वैव। हे द्वारावतीनाथ! अन्तःपुरसुन्दरीः प्रति अवधेहीति मया विज्ञापिते सति देवेन तेन अप्रतिपत्तिः समाधानासामर्थ्यं तया मूढं मुग्धं मनो यस्य तेनेति तासु चतसृषु प्रेमतारतम्याभावः सूचितः॥३५॥

यथा वा—

पद्मा दृग्भङ्गिरङ्गं कलयति कमला जृम्भते साङ्गभङ्गं
तारा दोर्मूलमल्पं प्रथयति कुरुते कर्णकण्डूं सुकेशी।
शैव्या नीव्यां विधत्ते करमिति युगपन्माधवः प्रेयसीभि-
र्भाविनाहूयमानो बहुशिखरमनाः पश्य कुण्ठोऽयमास्ते॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—द्वारका-सम्बन्धी नायकके उदाहरणसे सन्तुष्ट न होकर अब व्रज-सम्बन्धी श्रीकृष्णके दक्षिणनायकत्वका दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—तृतीय प्रहरमें वृन्दावनके विभिन्न वनोंमें गोचारण करनेके पश्चात् गौवों और सखाओंके साथ व्रजमें प्रवेश करते समय श्रीकृष्णके

प्रति पद्मा आदि सखियोंके द्वारा स्वाभियोग प्रदर्शन करनेपर भी श्रीकृष्णके इधर–उधर मुँह फेरनेको देखकर नान्दीमुखी कुन्दलतासे कह रही है—"सखि! देखो, पद्मा अपनी नेत्रभङ्गीके द्वारा अपनी स्वाभिलाषाको प्रकट कर रही है। कमला भी अपनी अङ्ग–भङ्गियोंके द्वारा जंभाई ले रही है। तारा अपने बाहुमूल (वक्षःस्थल) के द्वारा अपने गूढ़ भावोंको प्रकाश कर रही हैं। सुकेशी अपने कानोंको खुजला रही है। शैब्या अपनी नीवी–देशके ऊपर अपने हाथोंको समर्पण कर रही है। इस प्रकार विभिन्न प्रेयसियाँ एक ही कालमें अपनी स्वाभिलाषाको प्रकाशकर माधवको अपनी–अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। फिर भी श्रीकृष्ण 'मुझे क्या करना चाहिए?'—ऐसा सोचकर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर इधर–उधर देख रहे है॥"३६॥

लोचनरोचनी—दक्षिणस्य द्वितीये लक्षणे द्वारकागततत्प्रेयसीष्वप्युदाहरणं देवीशब्दोक्तश्रीरुक्मिणीसाहित्यान्न संगच्छते इति मत्वा वृन्दावनस्थास्वेव समासु कासुचित्तत्तदुदाहरति—यथा वेति। एवमुत्तरत्रापि॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—स्नातेति पद्यं पुरसुन्दरीषु कष्टेनैव सङ्गमय्य अपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। पद्मेति कृष्णस्य गोष्ठागमनकाले कुन्दलतां प्रति नान्दीमुखी वचन॥ पद्मादयः प्रायः समा एव समास्वेव प्रायेण दाक्षिण्यसम्भवात्। बहुशिखरमना अनेकाग्रचित्तः॥३६॥

अथ शठः—

प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम्।
निगूढमपराधं शठोऽयं कथितो बुधैः॥३७॥

यथा—

स्वप्ने व्यलीकं वनमालिनोक्तं पालीत्युपाकर्ण्य विवर्णवक्त्रा।
श्यामा विनिःश्वस्य मधुत्रियामां सहस्रयामामिव सा व्यनैषीत्॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—शठ—जो नायक नायिकाके सामने अत्यन्त मधुर भाषी होते हैं, अथच परोक्षमें अत्यन्त अप्रिय व्यवहार तथा निगूढ़ अपराध भी करते हैं। पण्डितलोग ऐसे नायकको शठ कहते हैं।

उदाहरण—एक समय वासन्ती रातके समय अपनी गोदीमें सोए हुए श्रीकृष्णके गोत्रस्खलन (एक प्रियाके सामने अन्य प्रियाके नामका

उच्चारण) को सुनकर अत्यन्त खिन्न हुई श्यामला अत्यन्त क्लान्तिका बोध कर दुःखी थी; उसकी अवस्थाके विषयमें एक सखी नान्दीमुखीसे बतला रही है—"स्वप्नकालमें श्रीकृष्णके मुखसे पालीके नामको सुनते ही श्यामाका मन खिन्न हो गया। उसका मुख विवर्ण हो गया, वह लम्बी-लम्बी गरम-गरम श्वास लेने लगी। मधुर त्रियामा रात भी उसको सहस्रयामा प्रतीत हुई।" इस पद्यमें श्यामाके साथ शयन करनेपर भी स्वप्नमें श्रीकृष्णके मुखसे पालीका नाम व्यक्त होना परोक्षमें विप्रिय-कार्य व्यक्त हुआ॥३७-३८॥

लोचनरोचनी—विप्रियं यद्यत् प्रियं वक्ति तस्य तस्य विरुद्धं अपराधं अन्यमन्यमप्यतिक्रमम्॥ किन्त्वेते पृथक् पृथगेव लक्षणे दर्श्यते॥३७॥

तत्र विप्रियत्वोदाहरणम्—स्वप्न इति। तत्र पूर्वं भवतीं विना मम स्वप्नेऽपि अन्यस्याः स्फूर्तिर्नास्तीति तेन स्वयं पूर्वमुक्तमासीदिति ज्ञेयम्॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्रेति। अत्र विप्रियापराधयोरैकार्थ्यात् पौनरुक्त्यं स्यादिति न मन्तव्यम्। व्यवहारिकस्यापराधस्य दूरदृष्टजनकत्वाभावात् ऐहिकस्याभीप्सितस्य व्यवहारमात्रस्य विघातित्वमेवार्थः। तच्चापराधस्य तद्विषयीभूतत्वेन ज्ञातत्वे एव भवेन्नाज्ञातत्व इति। अतः परोक्षकृतस्याप्रियस्य विप्रियशब्दवाच्यत्वं तस्यैव ज्ञातत्वे अपराधत्वमिति उदाहरणे व्यक्तीभविष्यति॥३७॥

स्वप्ने इति। श्यामासख्या नान्दीमुखीं प्रत्युक्तिः। अत्र स्वप्ने व्यलीकं उक्तमित्यनेन जागरे तु त्वां विना अन्यां कदापि न हृदये दधामीति तेनोक्तमिति गम्यते। तच्च पुरः प्रियवादित्वं एकं शठलक्षणं ततश्च प्रसादितायाः श्यामायाः संकीर्णसंभोगान्ते निद्राणस्य तस्य पाल्या सह स्वाप्नः संभोगः, स च श्यामायाः परोक्ष इति अन्यत्र विप्रियकारित्वं द्वितीयम्। हे पालीति तज्ज्ञापकेन स्वप्नायितेन तस्यैव विप्रियस्य ज्ञातत्वेनापराधत्वादपराधकारित्वं तस्य निगूढत्वं हे पालीति मात्रोक्त्या ऊह्यमानत्वात्॥३८॥

यथा वा—

तल्पितेन तपनीयकान्तिना कृष्ण कुञ्जकुहरेऽद्य वाससा।
अभ्यधायि तव निर्व्यलीकता मुञ्च सामपटलीपटिष्ठताम्॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वोक्त उदाहरणके स्वप्न-वाक्यमें सन्देह रहनेका कुछ अवकाश रह सकता है। इसलिए दूसरा उदाहरण दे रहे हैं। एक समय वसन्त ऋतुमें श्रीराधाजीके साथ विलास करनेपर निशान्तकालमें चन्द्रावलीके समीप आकर अपना अपराध प्रकट होनेपर भी विविध

प्रकारकी चातुरीपूर्ण व्याजोक्तिके द्वारा अपना अपराध अस्वीकार कर रहे श्रीकृष्णको पद्माने असूयाके साथ कहा—"हे कृष्ण! आज कुञ्जके भीतर शय्याके रूपमें व्यवहृत तुम्हारा पीताम्बर ही तो तुम्हारे निरपराध होनेकी साक्षी दे रहा है! अर्थात् तुम्हारा पीताम्बर ही तो स्पष्ट रूपसे तुम्हारे अपराधको सूचित कर रहा है। अतएव इस समय झूठ-मूठके चाटुकारितापूर्ण वचनोंका त्याग करो॥"३९॥

लोचनरोचनी—अपराधमुदाहरति—तल्पितेनेति॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र प्रियोक्तिविप्रियकारित्वे गम्यमाने एव न तु स्पष्टं स्थूलधीभिर्बुद्ध्येते इत्यत्र आह—यथा वेति। तल्पितेनेति पद्मावाक्यम्। तल्पितेनेति तस्य वाससोऽञ्जनादिरञ्जितत्वम्लानत्वाभ्यां निर्व्यलीकता निरपराधत्वमिति विपरीतलक्षणया अपराधकारित्वं तेन च परोक्षविप्रियकारित्वं मुञ्च। सामेति पुरः प्रियवादित्वम्। न चान्यापराधान्यथानुपपत्त्यैव परोक्षविप्रियकारित्वं सेत्स्यति लक्षणे किं तस्य पृथगुपादानेनेति वाच्यम्। विप्रियाचरणं विनापि कृत्रिमगोत्रस्खलनोत्थस्याप्यपराधस्य विदग्धमाधवसप्तमाङ्के दृष्टत्वात् इति॥३९॥

अथ धृष्टः—

अभिव्यक्तान्यतरुणीभोगलक्ष्मापि निर्भयः।
मिथ्यावचनदक्षश्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते॥४०॥

यथा—

नखाङ्का न श्यामे घनघुसृणरेखाततिरियं
न लाक्षान्तःक्रूरे परिचिनु गिरेर्गैरिकमिदम्।
धियं धत्से चित्रं बत मृगमदेऽप्यञ्जनतया
तरुण्यास्ते दृष्टिः किमिव विपरीतस्थितिरभूत्॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—धृष्टनायक—अन्य युवतियोंके भोगचिह्न अपने अङ्गोंमें अभिव्यक्त रहनेपर भी जो नायक निर्भीक होकर मिथ्या वचनोंको बनानेमें परम दक्ष होता है, उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

उदाहरण—किसी अन्य व्रजसुन्दरीके सहित विलासकर निशाके अन्तिम भागमें खण्डिता श्यामाके निकट आनेपर श्रीकृष्ण अपने अङ्गोंमें संभोगके चिह्न व्यक्त रहनेपर भी, साथ ही श्यामाके समझनेपर भी, धृष्टता पूर्वक विभिन्न प्रकारकी भङ्गियोंके द्वारा छलपूर्वक श्यामाके तर्कका

प्रत्याख्यानकर दूसरे प्रकारसे समझा रहे हैं—“हे श्यामे! तुम क्यों विपरीत भावना कर रही हो? तुम मेरे अङ्गोंमें किसी दूसरी नायिकाका नखाङ्क समझ रही हो, वह नखाङ्क नहीं है, वह तो घने कुङ्कुमकी रेखा है। हे अन्तःक्रूरे! तुम जिसे यावकचिह्न समझकर मानिनी हो रही हो, वह यथार्थमें गिरिगैरिकका रङ्ग है। आह! बड़े आश्चर्यकी बात है! मृगमदको भी तुम अञ्जन समझ रही हो। अहो! बुद्धिमति तरुणी होनेपर भी तुम्हारी दृष्टिने किस प्रकार ऐसे विपरीत भावको धारण कर लिया?” ॥४०–४१॥

लोचनरोचनी—नखाङ्का इति। यद्यपि तच्छ्रीविग्रहे क्षतरूपास्ते न संभवन्ति यत्ते सुजातेति दृष्ट्या तास्तत्र तान्नार्पयन्ति च। किन्तु कोमलमुद्रया नखादिना सपरिहासं तद्गात्रं स्पृशन्ति मात्रं तथापि ये तदाभासाः केचिद्वर्णा उदयन्ते ते च प्रतिनायकाभिस्तादृशतया मन्यन्ते तद्दृष्ट्या च कविभिर्वर्ण्यन्ते इति ज्ञेयम्॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—नखाङ्केति। खण्डितां श्यामां प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिः। मृगमदेऽपीत्याघ्रायमाणात् सुगन्धिशिलाखण्डात् कस्तूरी मदधरे लग्नेति॥४१॥

उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः।
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मतः॥४२॥

नायकः सोऽनुकूलाद्यैः स्यात् षण्णवतिधोदितः।
नोक्तो धूर्तादिभेदस्तु मुनेः संमत्यभावतः॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—नायकभेद—इस प्रकरणमें आलोचित नायक भेदोंका पूरा विवरण इन दो श्लोकोंमें उल्लेख कर रहे हैं—प्रथमतः नायक चार प्रकारके बतलाए गए हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरशान्त और धीरोदात्त। इसमेंसे पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम भेदसे प्रत्येकके तीन प्रकार होनेसे बारह प्रकारके भेद हैं। पुनः ये बारह नायक पति और उपपति भेदसे चौबीस प्रकारके हो जाते हैं। ये चौबीस भी पुनः अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ, इन चार प्रकारके भेदोंसे गुणित होकर कुल ९६ प्रकारके नायक बन जाते है। भरतमुनिकी सम्मति न रहनेके कारण नायकके धूर्त आदि भेदोंका वर्णन यहाँ नहीं किया गया॥४२–४३॥

लोचनरोचनी—उदात्ताद्यैरित्युपपतित्वे पूर्णतमत्वमेव पतित्वे पूर्णतरत्वादिद्वयञ्च तत्र तत्र केनाप्यंशेनोन्नेयम्॥४२॥

नोक्त इति। पूर्वोक्तात् शठात् धूर्तस्य भेदः परार्थग्राहकवञ्चनादक्षवचनादित्वेन ज्ञेयम्॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—उदात्ताद्यैर्धीरोदात्त–धीरललित–धीरोद्धत–धीरशान्तैः पूर्णतमादिभिः पूर्णतम–पूर्णतर–पूर्णैस्त्रिभिर्गुणितैर्द्वादश आत्मानः स्वरूपाणि भेदा यस्य सः। पुनश्च पत्युपपतिभ्यां तत्र पूर्णतमस्य पतित्वोपपतित्वे स्पष्टे। पूर्णतरस्य कुब्जायामुपपतित्वं भावयोगात्तु सैरिन्ध्री परकीयैव संमतेत्युक्तेः। रुक्मिण्याः पतित्वम्। "प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम्। शंखचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः॥ यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्तया समाहितः। रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः॥" इति गोपालतापन्युक्तेः। पुराणान्तरेऽपि मथुरास्थस्यैव कृष्णस्य रुक्मिण्युद्वाहश्रवणात् उद्धवयाने नरेन्द्रकन्या उद्वाह्येति व्रजदेव्युक्तेः। तथा पूर्णस्यापि रुक्मिण्यादिसर्वपट्टमहिषीषु पतित्वम्। कुब्जादिषूपपतित्वम्। मथुरास्थसर्वजनानामेव द्वारकां प्रत्यानयनात्तत्र कुब्जादीनां स्थितिर्नानुपपन्ना॥४२॥

मुनेर्भरतस्य॥४३॥

॥ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

द्वितीयोऽध्यायः
अथ नायकसहायभेद–प्रकरणम्

अथैतस्य सहायाः स्युः पञ्चधा चेटको विटः।
विदूषकः पीठमर्दः प्रियनर्मसखस्तथा॥१॥

तात्पर्यानुवाद—मधुर रसमें नायकके सहायक—मधुररसमें नायकके पाँच प्रकारके सहायक होते हैं—चेटक, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसखा॥१॥

लोचनरोचनी—अथैतस्य सहायाः स्युरित्यौपपत्याभासलीलायामेव ज्ञेयाः। किन्तु किशोरा अपि केलौ पीठमर्दं विना क्लीववत् पौरुषभावहीना एवैते मन्तव्याः॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—सहायास्ते किशोरा अपि ते पीठमर्दं विना क्लीववत् पौरुषभावहीना एव लीलाशक्त्या संपादिता इति श्रीजीवगोस्वामिचरणानां व्याख्या॥१॥

नर्मप्रयोगे नैपुण्यं सदा गाढानुरागिता।
देशकालज्ञता दाक्ष्यं रुष्टगोपीप्रसादनम्।
निगूढमन्त्रतेत्याद्याः सहायानां गुणाः मताः॥२॥

तात्पर्यानुवाद—सहायकोंके गुण—ये सभी हास–परिहासपूर्ण मधुर वाक्य प्रयोग करनेमें निपुण, नायक और नायिकाके प्रति गाढ़ अनुरागी, देश–कालके ज्ञाता, दक्ष, गोपियोंको प्रसन्न करनेमें चतुर, सब प्रकारसे निपुण तथा रहस्यपूर्ण मन्त्रणा देनेमें अभिज्ञ होते हैं। ये सभी गुण पाँचों प्रकारके सहायकोंमें पाए जाते हैं॥२॥

तत्र चेटः—

संधानचतुरश्चेटो गूढकर्मा प्रगल्भधीः।
स तु भङ्गुरभृङ्गारादिकः प्रोक्तोऽत्र गोकुले॥३॥

यथा—

न पुनरिदमपूर्वं देवि कुत्रापि दृष्टं, शरदि यदियमारान्माधवी पुष्पिताभूत्।
इति किल वृषभानोर्लम्भितासौ कुमारी, व्रजनवयुवराजव्याजतः कुञ्जवीथीम्॥४॥

तात्पर्यानुवाद—चेट—किसी गुप्तसे भी गुप्त बातका पता लगानेमें चतुर, गूढ़ कर्मोंको करनेवाले तथा प्रगल्भ बुद्धियुक्त सेवकोंको चेट कहते हैं। व्रजमें भङ्गुर और भृङ्गार आदि श्रीकृष्णके सहायक चेट कहलाते हैं। यथा—श्रीकृष्णकी आज्ञासे छलपूर्वक श्रीराधाको श्रीकृष्णके निकट लानेपर श्रीकृष्णने भङ्गुरसे पूछा कि तुम राधाजीको कैसे समझा बुझाकर मेरे पासमें लाए? तब भङ्गुर कह रहा है, "श्रीराधाके निकट मैंने कहा कि हे देवि! मैंने आज एक बड़ी अद्भुत बात देखी है, जिसे आज तक मैंने कभी नहीं देखा। देखो, माधवीलता शरत्ऋतुमें कभी पुष्पित नहीं होती, परन्तु आज मैंने उसे श्रीकृष्णके कुञ्जमें खिलते हुए देखा है। इतना सुनते ही वृषभानुकुमारी इस कुञ्जमें उपस्थित हुईं हैं॥"३-४॥

अथ विटः—

वेशोपचारकुशलो धूर्तो गोष्ठीविशारदः।
कामतन्त्रकलावेदी विट इत्यभिधीयते।
कडारो भारतीबन्धुरित्यादिर्विट ईरितः॥५॥

यथा—

व्रजे सारङ्गाक्षीविततिभिरनुल्लङ्घ्यवचनः
सखाहं त्वद्बन्धोश्चटुभिरभियाचे मुहुरिदम्।
कलक्रीडद्वंशीस्थगितजगतीयौवतधृति-
स्त्वया युक्तः श्यामे न खलु परिहर्तुं सखि हरिः॥६॥

तात्पर्यानुवाद—विट—वेशरचना आदि कार्योंमें दक्ष, धूर्त, बातचीत करनेमें अत्यन्त चतुर, वशीकरण आदि क्रियाओंमें अत्यन्त कुशल, रसज्ञ सहायकोंको विट कहते हैं। ब्रजमें कडार और भारतीबन्धु प्रभृति ग्वाल-बाल श्रीकृष्णके विट सहायक हैं॥५॥

उदाहरण—श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित कडार मानिनी श्रीश्यामाजीको कह रहे हैं—"देखो, सखि श्यामे! मैं तुम्हारे प्राणबन्धुका सखा हूँ। सारे

व्रजमें कोई भी व्रजललना मेरी बातोंका उल्लंघन नहीं करती। मैं तुमसे पुनः-पुनः विनयपूर्वक प्रार्थना कर रहा हूँ। जिसकी मुरलीकी तानसे त्रिभुवनकी समस्त नारियाँ धैर्य खो बैठती हैं, उन श्रीहरिको परित्याग करना तुम्हारे लिए युक्तिसङ्गत नहीं है॥"६॥

लोचनरोचनी—वेशोपचारकुशलत्वं कामतन्त्रकलावेदित्वं च दूत्योपयोग एव ज्ञेयं न तु सर्वत्र वृथात्वात्, भावान्तरस्पर्शित्वाभावाच्च। उदाहरणे तु तद्द्वयमुन्नेयम्। तच्च स्वरूपस्य वेशान्तरेणाच्छन्नतया गमनात्कामतन्त्रीयमोहनमन्त्रादियोगाच्च॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—कामतन्त्रसंबन्धिन्यः कलाः स्त्रीवशीकारमोहनमन्त्रौषधादिप्रयोगाः॥५॥

अनुल्लङ्घ्यवचन इति गोष्ठीविशारदत्वम्। कलेन मधुरास्फुटेन ध्वनिना क्रीडन्ती या वंशी तयेति भयप्रदर्शनेन कामतन्त्रकलावेदित्वं धूर्त्तत्वञ्च स्वस्य व्यञ्जितम्॥६॥

अथ विदूषकः—

वसन्ताद्यभिधो लोलो भोजने कलहप्रियः।
विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः।
विदग्धमाधवे ख्यातो यथासौ मधुमङ्गलः॥७॥

तात्पर्यानुवाद—विदूषक—भोजन करनेमें अतिशय लोलुप, कलहप्रिय, अङ्गभङ्गी, वाक्चातुरी तथा वेशके द्वारा हँसने और हँसानेवाले दूतको विदूषक कहते हैं। व्रजमें वसन्त, कोकिल, विशेषतः विदग्धमाधव ग्रन्थमें प्रसिद्ध मधुमङ्गल विदूषक हैं॥७॥

लोचनरोचनी—भोजने लोलः सतृष्णः। एतदादिकमप्युदाहरणान्तरेण ज्ञेयम्॥७॥

यथा—

तुष्टेन स्मितपुष्पवृष्टिरधुना सद्यस्त्वया मुच्यता-
मारूढः कुतुकी विमानमतुलं मां गोकुलाखण्डलः।
इत्थं देवि मनोरथेन रभसादभ्यर्थ्यमानोऽप्यसौ
यत्ते मानिनि नाधरः प्रयतते तन्नाद्भुतं रागिषु॥८॥

तात्पर्यानुवाद—विकृत अङ्गभङ्गी तथा हास-परिहास करनेमें चतुर विदूषक मधुमङ्गलका यहाँ उदाहरण दिया जा रहा है। किसी मानिनीका मान भङ्ग करनेके लिए श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित मधुमङ्गल सखीको श्रीकृष्णका संवाद देते हुए कह रहे हैं—"मैं गोकुलेन्द्रका विमान हूँ।

मुझ जैसे अतुलनीय विमानपर आरोहित होकर व्रजराजकुमार तुम्हारे पास आए हैं। राजाके रथारूढ़ होनेपर उनके ऊपर प्रसन्नतापूर्वक पुष्पोंकी वर्षा होनी चाहिए। अर्थात् अन्ततः मन्दमुस्कानरूपी पुष्पवृष्टि तो करो। श्रीकृष्णने कहा है—'हे देवि! मैं बड़े कौतुकके साथ तुम्हारे अधरोंसे पुनः-पुनः प्रार्थना करता हूँ—हे अधर! अब तो प्रसन्न हो जाओ और प्रसन्न होकर शीघ्र स्मित-पुष्पकी वर्षा करो। हे मानिनि! ऐसी प्रार्थना करनेपर भी तुम्हारे अधर मेरे अभीष्ट दानके लिए चेष्टा क्यों नहीं कर रहे हैं? जैसे भी हो, रागी व्यक्तिके लिए यह आश्चर्यकी बात नहीं है।' श्लेषमें तुम्हारे अधर भी लालवर्णके होनेसे रागी है इसलिए मात्सर्ययुक्त रुष्ट व्यक्तिके पक्षमें किसीकी बातको न मानना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अतएव ऐसे मत्सर-अधरका सङ्ग्कर क्या तुम भी मात्सर्यवती हो गई हो?"॥८॥

लोचनरोचनी—विमानं दिव्यरथरूपं पक्षे विगतमानम्। अत्र तन्नाद्भुतं रागिष्विति अर्थान्तरन्यासः, स च रागिष्वित्यर्थः श्लेषमूलः। रागशब्दो हि "रागोऽनुरागे मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु" इति विश्वप्रकाशे मात्सर्यलोहितयोः स्वीकृतत्वात् रागिपदं हि लोहितेऽधरे मात्सर्यवत्यर्थान्तरेऽपि वर्तते इति॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—हे मानिनि! इत्थं मनोरथेन मया अभ्यर्थ्यमानोऽपि तवाधरो यन्मदभीष्टदाने न प्रयतते तद्रागिषु मत्सरेषु नाश्चर्यमित्यर्थान्तरन्यासः। यतस्तत्सङ्गेनैव त्वमपि मात्सर्यवती मानिन्यभूरिति भावः। "रागोऽनुरागे मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु" इति विश्वः। किमभ्यर्थनं तदाह—तुष्टेन त्वया हे अधर, स्मितपुष्पवृष्टिर्मुच्यतां क्रियताम्। मुच्यतामिति पदेन सा त्वयि वर्तते एव किंतु सा अन्तर्बद्धा स्थापिता इति साम्प्रतं तव मानो नास्त्येवेति ध्वनिः। ततश्च कथं तस्याः विफलं बन्धनं क्रियते? मोचनं क्रियताम्। सा बहिर्निःसरत्विति भावः। यतो गोकुलाखण्डलः पृथ्वीमण्डलेन्द्रः पक्षे व्रजदेशस्य राजा। श्लेषेण स्वमाधुर्येण तव सर्वेन्द्रियप्रतिपालको मां विमानं दिव्यं रथमित्यर्थः। श्लेषेण विशिष्टज्ञानवन्तम्। 'मनु ज्ञाने' घञ्। आरूढः अस्मिन्कर्मणि साहाय्यार्थमवलम्बमान इत्यर्थः। यद्वा तस्या हास्यप्रकाशार्थं वहन्नेवागत्येदमसौ मल्लक्षणो वक्ति—'विकृताङ्गवचोवेषैः' इति लक्षणात्। श्लेषेण तदा विगतादरं विदूषकं इति स्वस्मिन्नारोहणे हेतुरुक्तः। श्लेषेण विगतो मानो यतो भवति तद्यथा स्यादतुलं यथा स्यादेवं मां शोभां आरूढः। अतो रथारूढे राज्ञि पुष्पवृष्टिः परमशोभास्वीकारेण मानध्वंसिनि च सनाथे स्मिताविष्कृतिश्च समुचितैवेति भावः। ततश्च तया स्मितं कृतमिति ज्ञेयम्॥८॥

यथा वा—

ममोपहरति स्वयं भवदभीष्टदेवो नमन्,
नवं कमलमुज्ज्वलं कमलबन्धुरुत्कण्ठया।
मया तु तदवज्ञया भुवि निरस्यते रुष्यता,
न मानयसि मद्वचस्तदपि मानिनि त्वं कुतः ॥९॥

तात्पर्यानुवाद—अन्य उदाहरण—श्रीमती राधिका अत्यन्त मानिनी हो रही थीं। उन्होंने अपने मनमें सोचा वसन्त मुझे हँसानेके लिए अत्यन्त प्रयत्न कर रहा है। किन्तु मैं किसी प्रकार हँसूंगी नहीं। इस प्रकार हठकर उनके द्वारा अन्य विषयमें मनोनिवेश करनेपर वसन्तने सोचा, मेरी सारी चेष्टाएँ तो विफल हुईं। अतः पुनः कहने लगा—देवि! मेरे अभीष्ट देव कमलबन्धुने उत्कण्ठावशतः प्रणाम करते हुए एक नवीन कमलको उपहारके रूपमें उपस्थित किया है, किन्तु मैंने उसे ग्रहण नहीं किया। मैंने अवज्ञा कर उसे पृथ्वीपर फेंक दिया और क्रोधपूर्वक उनसे कहा—हे दिनमणि! तुमने बिना स्नान किए अशुद्ध अवस्थामें ही पुष्प लाकर दिया है। इसलिए यह ग्रहण करने योग्य नहीं है। राधे! तुम्हारे अभीष्ट देव मेरी उपासना करते हैं। जब तुम्हारे अभीष्टदेव ही मेरी उपासना करते हैं तो तुम क्या चीज हो? बड़े आश्चर्यकी बात है। तुम मेरी बातोंका अनादर क्यों कर रही हो? इस पद्यमें विकृत वाक्यसे परिहास सूचित होता है॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—मामसौ हासयितुं यतते तदहं न हसामीति हठिन्यां तद्वचनमनवधानायां प्रसङ्गान्तर एव मनो दधत्यां तद्वैफल्यमपि स्यादित्यत आह—यथा वेति। रुष्यता "अकृतस्नान एव कमलमानैषीस्तदिदमपवित्रं जातम्। अतस्त्वामस्मात् परिचरणाद्दूरीकरिष्यामि" इति क्रुध्यता॥९॥

अथ पीठमर्दः—

गुणैर्नायककल्पो यः प्रेम्णा तत्रानुवृत्तिमान्।
पीठमर्दः स कथितः श्रीदामा स्याद्यथा हरेः ॥१०॥

यथा—

कालिन्दीपुलिने मुकुन्दचरितं विश्वस्य विस्मापनं
द्रष्टुं गच्छति गोष्ठमेव निखिलं नैकात्र चन्द्रावली।

ब्रूमस्तस्य सुहृत्तमाः स्वयममी पथ्यञ्च तथ्यञ्च ते
मा गोवर्द्धनमल्ल घट्टय मुधा गोवर्द्धनोद्धारिणम् ॥११॥

तात्पर्यानुवाद—पीठमर्द—जो सहायक, नायकके तुल्य गुणवान होनेपर भी नायकका आनुगत्य करते हैं, उन्हे पीठमर्द कहते हैं। व्रजमें श्रीदामा श्रीहरिके पीठमर्द सहायक हैं॥१०॥

उदाहरण—एक दिन अकस्मात् चन्द्रावलीका पति गोवर्द्धन मल्ल अपने मनमें इस प्रकार विचारकर रहा था कि गोकुलमें कृष्णने बड़ा ही उत्पात मचा रखा है। मेरी भार्याको भी वनमें आकर्षित करता है। अतएव इसका कुछ प्रतिफल देना आवश्यक है। इस प्रकार सोचकर जब गोवर्द्धन मल्लने श्रीदामको बहुत-सी विरुद्ध बातें कही, तब श्रीदामने उसे क्रोधपूर्वक कहा—गोवर्द्धन मल्ल! तुम वृथा ही क्यों इतने बिगड़ रहे हो? श्रीकृष्ण कालिन्दीके तटपर अत्यन्त विस्मयपूर्ण जो लीलाविनोद करते हैं, उसे देखनेके लिए समस्त व्रजवासी वहाँ उपस्थित होते हैं, अकेली चन्द्रावली ही तो वहाँ नहीं जाती! यह अत्यन्त असत्य बात है। यदि यह कहो कि नन्दनन्दन महाधूर्तचूड़ामणि हैं, उनके चाञ्चल्यको न जानकर मैं वृथा ही ऐसा कह रहा हूँ, तो सुनो—मैं श्रीकृष्णका अत्यन्त सुहृद सखा हूँ। उनका परम बान्धव हूँ। निर्दोषता, परम बलवत्ता, दुष्टोंको दमन करनेकी इच्छा इत्यादि महागुणोंके तत्त्ववेत्ता श्रीकृष्णके प्रति कटाक्ष करनेपर तुम्हारा अकल्याण ही होगा। यदि कहो कि मैं भी तो सामान्य व्यक्ति नहीं हूँ, मैं गोवर्द्धन नामका महामल्ल हूँ। तो सुनो, मैं तुम्हारे हितके लिए ही कह रहा हूँ कि मेरे सखा भी तो गोवर्द्धनको धारण करनेवाले हैं। जागतिक समस्त प्रकारके अलौकिक कर्म करनेमें समर्थ हैं। लीलाक्रमसे बिना परिश्रमके ही बायें हाथकी कनिष्ठ अङ्गुलीपर सात दिन तक गोवर्द्धनको उठानेवाले श्रीकृष्ण भी साधारण व्यक्ति नहीं हैं। तुम्हारे जैसे क्षुद्र-कीट, दुष्ट-मल्लको वध करनेमें उनको तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ेगा॥११॥

लोचनरोचनी—ब्रूम इत्यादिना बहुवचनेन तस्य नायकतुल्यगुणत्वादिकं व्यज्यते। गोवर्द्धनो नाम मल्लश्चन्द्रावल्याः पतिम्मन्यः कश्चिदिति ललितमाधवप्रक्रिया॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—कालिन्दीति। मदीयानपि दारानाकृष्य वनं नयति तदयमहमस्मै प्रतिफलं दास्यामीति विविधविरुद्धवल्गिनं गोवर्धनमल्लं प्रति श्रीदामवाक्यम्। ब्रूम इति बहुवचनेन वाक्यस्यास्य बहुवक्तृकत्वेन त्वया नाप्रामाण्यमाशङ्कनीयमिति। सुहृत्तमा इति। सख्यात्तदीयान्तःकरणधर्मस्य चन्द्रावल्यां निर्विकारित्वलक्षणस्य ज्ञानं ध्वनितम्। पथ्यमिति। अन्यथा बकारिष्टादीनिव त्वामसौ वधिष्यतीति। मा घट्टय कृष्णसर्पमिव मा चालय यद्यात्मनो भद्रमिच्छसीति। 'घट्ट चलने'। मल्लेति। कंसस्याहं चाणूरादिसदृशो मल्ल इत्यपि माहंकृथा इति। गोवर्द्धनोद्धारिणमिति। स्वस्य महापर्वतोद्धृतिक्षमताविष्कारेण त्वत्-कंसमपि नासौ गणयतीति ध्वनितम्। अत्र शृङ्गारसख्यरौद्ररसेषु रौद्र एवाङ्गी। श्लेषेण त्वं गोवर्द्धनः स तु गोवर्द्धनोद्धारी त्वामुद्धरत्येव, कण्टकोद्धारीतिवत् सकुटुम्बस्य तवापि तदा रक्षितत्वादिति नीतिश्च ध्वनिता॥११॥

यथा वा—

तवेयं श्रीदामन् भणितिरिह विश्रम्भयति मां,
प्रसादो रुद्राण्याः किमिव चपलासु प्रसरतु।
वने यान्तीं दुर्गार्चनघुसृणमाल्याङ्कितकरां,
वधूं दृष्ट्वा शङ्के प्रथयति कलङ्कं खलजनः॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—उपरोक्त श्लोकमें पीठमर्द-सहायकके लिए श्रीदामका उदाहरण दिया गया। पिछले श्लोकमें ग्रन्थकारने रोषपूर्वक दण्डरूप उपायको ग्रहणकर श्रीदामका उदाहरण दिया। अब प्रस्तुत श्लोकमें सान्त्वना वाक्यके द्वारा भेदरूप उपाय अवलम्बन करनेवाले सहायक श्रीदामका उदाहरण दिया जा रहा है। एक समय गोवर्द्धन मल्लकी माँ भारुण्डा लोगोंके मुखसे अपनी वधूकी श्रीकृष्णके प्रति प्रीति और आसक्तिको सुनकर श्रीकृष्णके प्रिय सखा श्रीदामसे इस विषयमें कुछ पूछने लगी। पीछे श्रीदामके मुखसे श्रीकृष्ण सम्बन्धी सब झूठमूठकी बातोंको भलीभाँति समझकर और श्रीदामकी बातोंपर विश्वासकर, उसने श्रीदामकी बातोंका अनुमोदन किया और बोली—श्रीदाम! तुम्हारी बातोंको सुनकर मुझे बहुत ही सन्तोष और विश्वास हुआ। मेरी पुत्रवधुके ऊपर रुद्राणीकी कृपाके सभी लक्षण स्पष्ट दिखाई देते है। अब तुम ही बताओ कि क्या चपला नारी (परपुरुषमें आसक्त स्त्री) के प्रति रुद्राणीकी कभी कृपा हो सकती है? अर्थात् कदापि नहीं। अब मैं अच्छी तरहसे

समझ गई कि दुर्गार्चनके लिए कुङ्कुम माल्य आदि हाथोंमें लेकर मेरी वधूको वनमें जाते देख दुष्ट लोग नाना प्रकारकी कलङ्ककी बातें करते हैं॥१२॥

लोचनरोचनी—तवेयमिति। तस्य वृद्धावञ्चनया नायके प्रेमाधिक्यं व्यज्यते॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावल्याः पतिम्मन्ये गोवर्द्धनमल्ले दण्डरूपोपायेन श्रीदाम्नः साहाय्यमुदाहृत्य तस्याः श्वश्वां भेदेनापि तस्य दर्शयति—यथा वेति। तवेयमिति। स्ववधूं वने प्रहिणु वा गृहे रुन्धि वा मद्वयस्यात्तु निःशङ्कैव तिष्ठ, स त्वेतां न परिचिनोति। अपीति सत्यापयामि किन्त्वाप्ततया ब्रवीमि। रुद्राण्याः स्वभाव एवायं शश्वत् सेव्यमाना प्रसीदन्ती स्वसम्पदं ददाति। सेवितचरी पुनः सेवामप्राप्य क्रुध्यन्ती धनधान्यपत्यादिकं भक्षयति चेति भागुरीमुखाच्छ्रुतमिति ब्रुवाणं श्रीदामानं प्रति भारुण्डावचनम्। चपलास्विति। मद् गृहे धनधान्यगवादिवृद्ध्यन्यथानुपपत्त्या रुद्राण्याः प्रसादः। रुद्राणीप्रसादान्यथानुपपत्त्या वधूरियमचञ्चला साध्व्येवेति ज्ञायत एवेति भावः। किन्तु वने यान्तीमित्यादि॥१२॥

अथ प्रियनर्मसखः—

> **आत्यन्तिकरहस्यज्ञः सखीभावसमाश्रितः।**
> **सर्वेभ्यः प्रणयिभ्योऽसौ प्रियनर्मसखो वरः।**
> **स गोकुले तु सुबलस्तथा स्यादर्जुनादयः॥१३॥**

यथा—

> **प्रत्यावर्त्तयति प्रसाद्य ललनां क्रीडाकलिप्रस्थितां,**
> **शय्यां कुञ्जगृहे करोत्यघभिदः कन्दर्पलीलोचिताम्।**
> **स्विन्नं बीजयति प्रियाहृदि परिस्रस्ताङ्गमुच्चैरमुं,**
> **क्व श्रीमानधिकारितां न सुबलः सेवाविधौ विन्दति॥१४॥**

तात्पर्यानुवाद—प्रियनर्म सखा—आत्यन्तिक रहस्यज्ञ (अत्यन्त गोपनीय विषयको जाननेवाला), सखीभावसमाश्रित (नायक-नायिकाको मिलानेमें तत्पर) सहायकको प्रियनर्म सखा कहते हैं। व्रजमें सुबल, अर्जुन और मधुमङ्गल आदि प्रियनर्म सखा हैं। ये अन्यान्य सभी सखाओंसे श्रेष्ठ होते हैं॥१३॥

उदाहरण—रूपमञ्जरी किसी सखीसे कह रही है—अहो! श्रीमान् सुबलका श्रीकृष्णकी कौन-सी सेवामें अधिकार नहीं है? श्रीकृष्णकी

कान्ताएँ श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा–कलह करनेके पश्चात् जब क्रीड़ा–भवनसे रूठकर चली जाती हैं, तब सुबल विविध प्रकारसे अनुनय–विनयके द्वारा उन्हें समझा–बुझाकर पुनः कुञ्ज भवनमें लाते हैं, वे श्रीकृष्णकी कन्दर्प–लीलाके उपयोगी कुञ्जगृहमें शय्याकी रचना करते हैं, स्मरक्रीड़ामें प्रियाके वक्षःस्थलपर स्थापित स्वेदयुक्त श्रीकृष्णको उत्तम रूपसे वीजन करते हैं। ये सुबल धन्य हैं। इस पद्यमें प्रियनर्म सखाओंके आत्यन्तिक रहस्यज्ञ सहायककी बात कही गई है॥१४॥

लोचनरोचनी—सखीभावः श्रीकृष्णतत्प्रेयस्योः परस्परमेलनेच्छा तं समाश्रित इति तेन तस्य पुरुषभावश्चावृत इति भावः॥१३॥

स्विन्नं बीजयतीत्युदात्तालंकार एवायम्। स च वाच्यार्थासंभवेऽपि वस्त्वतिशयमात्रव्यञ्जकः क्वचिद्दृश्यते। यथा "तदश्रूणि नदी जाता" इत्यादौ। ततः "शश्वद्बीजयति प्रियान्विततया स्विन्नाङ्गमेतं रहः" इति पाठान्तरञ्च न मूलकृतम्॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रत्येति। रूपमञ्जर्याः सुबलविषयकभक्तिजनिका स्वसखीं प्रत्युक्तिः—स्विन्नं बीजयतीति। बहिः स्थित्वा यन्त्रव्यजनेनेति ज्ञेयम्॥१४॥

यथा वा—

याभिः साचिदृगञ्चलेन चटुलं कंसारिरालिह्यते,
दोर्द्वन्द्वेन कुचोपपीडमुरसि स्वैरं परिष्वज्यते।
एतस्याधरसीधुरुद्धुरतया सामोदमास्वाद्यते,
किं जानासि सखे व्यधायि कतरद्गोपीभिराभिस्तपः॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—सुबलसे उज्ज्वल कह रहा है—"सखे! देखो इन गोपियोंने कौन–सी महत् तपस्याका आचरण किया है? क्या तुम बतला सकते हो? ये मनोज्ञ कुटिल कटाक्ष–भङ्गीके द्वारा कंसारि (श्रीकृष्ण) के रूपका पान करती हैं, दोनों भुजाओंके बीच श्रीकृष्णको वक्षःस्थलमें रखकर अपने कुचयुगलके आक्रमणके द्वारा यथेष्ट रूपमें आलिङ्गन करती हैं तथा अत्यन्त परमानन्दके साथ उनकी अधरसुधाका आस्वादनकर मत्त रहती हैं।" इस पद्यमें प्रियनर्म सखाओंके सखीभावसमाश्रित सहायककी बात कही गई है॥१५॥

लोचनरोचनी—याभिरिति। तदनुमोदनमेव न तु तत्स्पृहा सखीभावादेव॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र सखीभावं समाश्रित्य इति। यद्यपि सख्यो हि स्वस्वयूथेश्वरीणां श्रीराधादीनामेव श्रीकृष्णाङ्गसङ्गसुखेन सुखिन्यो न तु स्वेषाम्। तदपि ताः सामान्यतो द्विधा भवन्ति प्रेमसौन्दर्यवैदग्ध्यादीनामाधिक्येन श्रीकृष्णस्यातिलोभनीयगात्र्यस्तेषां न्यूनत्वेन तस्यानतिलोभनीयगात्र्यश्च। तत्र पूर्वाः श्रीकृष्णसुखानुरोधात् तत एव स्वयूथेश्वरीणामप्याग्रहाधिक्याच्च कदाचित् कृष्णाङ्गसङ्गस्पृहावत्योऽपि भवन्ति। ताश्च ललिताद्याः परमप्रेष्ठसख्यादयः, उत्तरास्तु तदद्वयाभावात् कदापि कृष्णाङ्गसङ्गस्पृहावत्यो न भवन्ति। ताश्च कस्तूर्यादयो नित्यसख्यः। तत्र व्याख्यातलक्षणं पूर्वासां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गस्पृहारूपमंशमुदाहर्तुमाह—यथा वेति। याभिरिति सुबलं प्रति उज्ज्वलस्य साभिलाषोक्तिः। कुचोपपीडं कुचाभ्यामुपपीड्य॥१५॥

चतुर्विधाः सखायोऽत्र चेटः किङ्कर ईर्यते।
पीठमर्दस्य वीरादावपि साहाय्यकारिता॥१६॥

हरिप्रियाप्रकरणे वक्ष्यन्ते यास्तु दूतिकाः।
अत्रापि ता यथायोग्यं विज्ञेया रसवेदिभिः॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—मधुररसके इन सहायकोंमें चेटको छोड़कर अन्यान्य चारों प्रकारके सहायक सखा हैं। किन्तु चेट किङ्कर होता है। पीठमर्द रूप सहायकोंकी वीर आदि रसोंमें भी सहकारिता होती है। हरिप्रिया-प्रकरणमें जिन दूतियोंका वर्णन किया जाएगा, नायक-सहायकके प्रकरणमें भी उनकी यथायोग्य उपयोगिता है॥१६॥

दूतियाँ प्रधानतः दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वयंदूती और दूसरी आप्तदूती। स्वयंदूतीका अभियोग (प्रयास) तीन प्रकारसे साधित होता है—कायिक, वाचिक और चाक्षुष (नेत्रभङ्गी)। आप्तदूती भी तीन प्रकारकी होती है—अमितार्था, निसृष्टार्था एवं पत्रहारिणी। इनकी पृथक्-पृथक् सेवाएँ दूतीप्रकरणमें कही गई हैं॥१७॥

तत्र स्वयं यथा—

सखि माधवदृग्दूत्याः कर्मठता कार्मणे विचित्रास्ति।
उपधाशुद्धापि यया रुद्धा त्वं चित्रितेवासि॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—स्वयंदूती (कटाक्ष और वंशीके भेदसे स्वयंदूतियोंके दो प्रकारोंमेंसे पहले कटाक्ष या चाक्षुष अभियोगका उदाहरण)—एक

समय निर्जनमें श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न क्षोभमें व्याकुल श्रीराधासे विशाखा कह रही है—“हे सखि! माधवकी दृष्टिरूपा दूती स्त्री–वशीकरणके विषयमें अत्यन्त पटु है। धर्म–परीक्षाके द्वारा तुम परम पतिव्रता होनेपर भी इस समय श्रीकृष्णकी दृष्टिभङ्गीरूप दूतीके द्वारा रुद्ध होकर चित्रमें अङ्कित मूर्त्तिकी भाँति स्थिर हो रही हो।” यहाँ चाक्षुष अभियोग प्रकाशित हो रहा है॥१८॥

लोचनरोचनी—तत्र स्वयमिति। स्वयं दूतीत्यर्थः। कार्मणे वशीकरणौषधकर्मणि। उपधया धर्मादिपरीक्षया शुद्धापि॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र स्वयमिति। स्वयंदूतीत्यर्थः। सखीति। राधां प्रति विशाखोक्तिः। कार्मणे वशीकारौषधकर्मणि उपधया धर्मादिपरीक्षया शुद्धापि। ‘उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्’ इत्यमरः॥१८॥

वंशी यथा ललितमाधवे—

ह्रियमवगृह्य गृहेभ्यः कर्षति राधां वनाय या निपुणा।
सा जयति निसृष्टार्था वरवंशजकाकली दूती॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—द्वितीय, वंशीध्वनिरूप स्वयंदूतीका उदाहरण—तृतीय प्रहरमें वृन्दावनसे गोप सखाओं और गायोंके सहित व्रजमें आगमनकारी श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिको सुनकर गार्गी कह रही हैं—“सद्वंशमें उत्पन्न वंशीकी मधुर कलध्वनिरूपा निसृष्टार्था (नायक और नायिकाके प्रेमको जानकर स्वयं उनको मिलानेवाली) दूतीकी जय हो! यह परम कुशल दूती श्रीराधाजीकी लज्जाको ध्वंसकर उसे घरसे बलपूर्वक निकालकर श्रीकृष्णके निकट वनमें आकर्षित करती है॥”१९॥

लोचनरोचनी—अवगृह्य अपहृत्येत्यर्थः। निसृष्टार्था विन्यस्तकार्यभारा॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—ह्रियमिति गार्गीवाक्यम्। अवगृह्य आच्छिद्य। वनाय वनं प्रापयितुम्। निसृष्टार्था विन्यस्तकार्यभारा॥१९॥

आप्तदूती—

वीरावृन्दादिरप्याप्तदूती कृष्णस्य कीर्तिता।
वीरा प्रगल्भवचना वृन्दा चाटूक्तिपेशला॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—आप्तदूती—व्रजमें वीरा, वृन्दा, वृन्दारिका, मेला और मुरली आदि श्रीकृष्णकी आप्तदूतियाँ हैं। ये बड़ी प्रत्युत्पन्नमतिवाली अर्थात् नित्य नये-नये प्रस्ताव रचनाके विषयमें चतुर होती हैं। इनमेंसे वीरा प्रगल्भ वचनोंके प्रयोगमें अत्यन्त पटु हैं तथा वृन्दाजी अत्यन्त मधुर चाटु (प्रशंसामूलक) बातें करनेमें बड़ी विचक्षण हैं॥२०॥

यथा—

विमुखी मा भव गर्विणि मद्गिरि गिरिणा धृतेन कृतरक्षम्।
मूढे समूढवयसं माधवमाधाव रागेण॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—किसी समय श्रीकृष्णके प्रति मान धारण करनेवाली व्रजदेवीको लक्ष्यकर वीराजी कह रही हैं—हे गर्वीलि! मेरी बातोंपर विश्वास कर। परम सुन्दर नायक श्रीकृष्णके प्रति विमुख न हो। "श्रीकृष्ण गुणोंमें नारायणके समान हैं", गर्गऋषिके इस वाक्यके अनुसार श्रीकृष्ण अखिल कल्याणगुण-मणियोंकी खान तथा निखिल सौन्दर्यशोभाके पति हैं। अतएव माधव—'मा' अर्थात् अखिल सौन्दर्य-शोभा और 'धव' अर्थात् पति। अतएव माधव शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार मानिनीके मानभञ्जनके लिए श्रीकृष्णका उत्कर्षसाधन ही लक्ष्य है। पहले भी उन्होंने गिरिको धारणकर व्रजजनोंकी रक्षा की है। (इसके द्वारा निरुपाधिक उपकारी, बलिष्ठ और परम करुण) अब वे नवीन किशोर वयसके हैं। इसलिए हे मूढ़े! अतिशीघ्र परम प्रेमके साथ उनके समीप अभिसार करो। विलम्ब होनेपर तुम्हें पछताना होगा। हो सकता है कि तब तक अन्य नायिकाके साथ उनका मिलन हो जाए और उस समय तुम केवल पछताती ही रह जाओगी। इस पद्यमें गर्विणी और मूढ़ा इन दोनों शब्दोंके व्यवहारसे वीराकी प्रगल्भता दिखलाई गई है॥२१॥

लोचनरोचनी—विमुखी मा भवेति। वामायमानां पूर्वरागिणीं प्रति दूतीवचनम्। समूढवयसं संरूढयौवनं माधवं प्रति आधाव। समूढवयसमित्यनेन स त्वन्यस्यामासक्तो भविष्यत्येव त्वमेवानुतप्स्यसीति व्यञ्जितम्। एतद्व्यञ्जनायाः स्पष्टतार्थमेव मूढे इति प्रगल्भत्वमुक्तम्। प्रगल्भवचनत्वादेव वाक्यं समाप्तमपि रागेणेत्यनेन पुनर्गन्तुं स्थायिनिर्देशश्च कृतः। तेन च माधव मा धाव माधवं पतिं तुच्छमित्येतद्वाग्भङ्ग्यन्तरं व्यङ्ग्यं ज्ञापितमिति साक्षान्न वाच्यं कृतम्॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र वंश्याः स्वानतिरिक्तत्वात् स्वयंदूतीत्वं निसृष्टार्थत्वादाप्त-दूतीत्वञ्च। अतएव "वृन्दावृन्दारिकामेलामुरल्याद्यास्तु दूतिकाः" इति गणोद्देशदीपिका। मद्गिरि मम वाक्ये। समूढवयसं सम्यग्धृतयौवनम्। तेन स यावदन्यस्यामासक्तो न भवेत् तावदाधावेति विलम्बानौचित्यं ध्वनितम्। गिरिणा धृतेनेति प्रायो "वीरवत्यः स्त्रियः" इति न्यायेन बलिष्ठत्वं द्योतितम्। भङ्ग्या तु स पूर्वं गिरिणा धृतेन कृतरक्षोऽभूत्। अद्य तु गिरिभ्यां धृताभ्यां कृतरक्षो भविष्यतीति समाश्वस्ता अभिसरेति नर्म। माधवं लक्ष्मीकान्तम्। नारायणसम इति गर्गवाक्यात्। मा शोभा तस्याः पतिम्। भङ्ग्या तु हे मूढे! तिर्यङ्मुखी किं भावयसि मूढानां पश्वादीनामिव वयसा सह वर्तमानं धवं स्वपतिं मा आधावेति कठोरभाषित्वम्॥२१॥

वृन्दा सुन्दरि वन्दनं विदधती यत्पृच्छति त्वामसौ
चञ्चन्मञ्जुलखञ्जरीटनयने तत्रोत्तरं व्यञ्जय।
केयं भ्रूभुजगी तवातिविषमा बंभ्रम्यते यदभिया
क्लान्तः कालियमर्दनोऽपि कुरुते नाद्य प्रवेशं व्रजे॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—मानिनी श्रीमती राधिकाको वृन्दाजी कह रही हैं—"हे सुन्दरि! हे चञ्चल और मनोज्ञ खञ्जननयनि! मैं वृन्दा तुम्हारे श्रीचरणोंमें प्रणाम कर रही हूँ। मैं तुमसे जो कुछ पूछती हूँ उसका व्यञ्जनावृत्ति द्वारा (स्पष्ट) ही उत्तर दो। तुम्हारी यह अत्यन्त भीषण भ्रू-भुजङ्गी (सर्पिणी) है—यह क्या है?—इसके भयसे तो कालियदमन श्रीकृष्ण भी भयभीत और क्लान्त होकर अभी तक व्रजमें प्रवेश नहीं कर रहे हैं। इसका गूढ़ रहस्य क्या है? सखि! जरा बतलाओ तो। इस पद्यमें कालियमर्दनके भयको उत्पन्न करनेवाली भृकुटीरूप सर्पिणीके भी परम क्षोभकत्व और श्रीकृष्णैकगम्यत्व तथा अन्यके लिए भी अतर्क्य परम रहस्य ध्वनित हुआ है। मैं वन्दना करती हूँ और सुन्दरी खञ्जरीटनयनी, इन शब्दोंके सम्बोधनके द्वारा वृन्दाकी चाटुकारिताकी अभिव्यक्ति हो रही है॥२२॥

लोचनरोचनी—वृन्देति। वृन्दाया एव वचनम्॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्देति वृन्दोक्तिः। भ्रूभुजगीत्यनया भुजग्यैव दष्टः क्लान्तः सन् बंभ्रम्यते इति तेन त्वमेव तत्र गत्वा स्वीय भ्रूभुजग्या पुनस्तं स्वकान्तं दष्टं कृत्वा सुस्थी कुरु। लोके हि भुजगजातिर्दष्टं जनं पुनर्दष्ट्वा यदि स्वविषं गृह्णाति तदैव स निरामयः स्यादिति प्रसिद्धिः॥२२॥

अस्यासाधारणा दूत्यो वीराद्याः कथिता हरेः।
लिङ्गिन्यन्तास्तु वक्ष्यन्ते यास्ताः साधारणा द्वयोः ॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—वीरा, वृन्दा, वृन्दारिका, मेला और मुरली केवल श्रीकृष्णकी ही दूतियाँ हैं, गोपियोंकी नहीं। शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी आदि श्रीकृष्ण और गोपियोंकी—दोनोंकी समपक्षपातिनी दूतियाँ हैं॥२३॥

लोचनरोचनी—द्वयोः श्रीकृष्णतत्प्रेयस्योः॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—वीराद्या वीरा-वृन्दारिका-मेलामुरल्याद्या असाधारणाः, अस्यैव न तु तासाम्। लिङ्गिन्यस्ताः शिल्पकारिणी-दैवज्ञा-लिङ्गिन्य इति तिस्रः॥२३॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

तृतीयोऽध्यायः
अथ श्रीहरिप्रिया–प्रकरणम्

अथ हरिवल्लभाः—

हरेः साधारणगुणैरुपेतास्तस्य वल्लभाः।
पृथुप्रेम्णां सुमाधुर्यसम्पदाञ्चाग्रिमाश्रयाः॥१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रेयसियाँ अर्थात् वल्लभाएँ श्रीकृष्णके समान ही सुरम्य अङ्गोंवाली, सर्वसुलक्षण इत्यादि गुणोंसे युक्त होती हैं। वे सभी महामाधुरी एवं वैदग्ध्य आदि गुणोंमें पराकाष्ठा प्राप्त होती हैं॥१॥

लोचनरोचनी—साधारणेति यथासम्भवं ज्ञेयम्॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—साधारणगुणैः सुरम्याङ्गत्व सर्वसल्लक्षणान्वितत्वादिभिः॥१॥

यथा—

प्रणमामि ताः परममाधुरीभृतः कृतपुण्यपुञ्जरमणीशिरोमणीः।
उपसन्नयौवनगुरोरधीत्य याः स्मरकेलिकौशलमुदाहरन्हरौ॥२॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—जो समीपवर्ती कैशोर वयसरूप गुरुके निकट स्मरकेलि–कौशलकी शिक्षा प्राप्तकर श्रीकृष्णके निकट उसकी परीक्षा देती हैं, उन परम माधुरीविशिष्ट अत्यन्त पुण्य–पुञ्जकारिणी रमणियोंकी शिरोमणि श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंको मैं पुनः–पुनः प्रणाम करता हूँ॥२॥

लोचनरोचनी—उपसन्नयौवनगुरोरिति। तासु तत्तद्वैदग्धीनां स्वाभाविकत्वादवसरं प्राप्य स्वत एवोदयमाचष्टे। दृष्टञ्च तथा रासक्रीडायां गाननृत्यादिषु सर्वतः प्रावीण्यम्। उदाहरन् तस्याध्ययनस्य प्रयोगान् दर्शयामासुः॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—कृतपुण्यपुञ्जेति। लीलाविष्टलोकप्रतीत्यनुसारेणोक्तिः। प्रणमामीति मथुराङ्गनानां प्रत्येकमुक्तिः। उपसन्नयौवनमेव गुरुस्तस्मादधीत्येत्यप्युपदिशति। कामिनीनां यौवनमद एव ललितानीति न्यायेनोक्तिर्वस्तुतस्तु तासां नित्यसिद्धैव सर्ववैदग्धी स्वावसरं प्राप्य उदयते। दृष्टञ्च तथा रासक्रीडायां गाननृत्यादिषु प्रावीण्यं तत्तच्छास्त्रकृद्भिरपि दुर्गमम्। उदाहरन् तस्याध्ययनस्य प्रयोगान् दर्शयामासुः॥२॥

स्वकीयाः परकीयाश्च द्विधा ताः परिकीर्तिताः॥३॥

तत्र स्वकीयाः—

करग्रहविधिं प्राप्ताः पत्युरादेशतत्पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह॥४॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णवल्लभाएँ दो प्रकारकी होती हैं—स्वकीया और परकीया। जो पाणिग्रहणकी वैदिक-रीतिके अनुसार प्राप्त हैं, पतिकी आज्ञाका भलीभाँति पालन करनेवाली होती हैं, पातिव्रत्यधर्मसे कभी विचलित नहीं होतीं, रसशास्त्रमें उनको स्वकीया कहा गया है॥३–४॥

लोचनरोचनी—पातिव्रत्यात् शास्त्रोक्ततद्धर्मात्। पत्युरादेशतत्परा इति। पत्यसम्मतिश्चेत् कंचिद्धर्मांशमपि त्यजन्त्य इत्यर्थः॥४॥

यथा—

सुनिर्माणे धर्माध्वनि पतिपराभिः परिचिते,
मुदा बद्धश्रद्धा गिरि च गुरुवर्गस्य परितः।
गृहे याः सेवन्ते प्रियमपरतन्त्राः प्रतिदिनं,
महिष्यस्ताः शौरेस्तव मुदमुदग्रां विदधतु॥५॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—द्रौपदी अपनी सखीको कह रही है—"पतिव्रता स्त्रियोंके लिए शास्त्रोंमें कहे गए इहलौकिक और पारलौकिक धर्मपथमें तथा सास-ससुर और गुरुजनोंके निर्देश वचनोंमें जिनकी अत्यन्त श्रद्धा होती है, जो घरमें रहकर सदा-सर्वदा स्वाधीन रूपमें पतिकी सेवा करती हैं, वे श्रीकृष्णकी महिषियाँ तुम्हारा हर्ष विधान करें।" इस पद्यमें मुदा (आनन्दसे भरपूर) 'बद्धश्रद्धा' द्वारा, आनन्दसे परमानन्दित होकर प्रीति-मूलक शास्त्रोक्त धर्ममें रुचिके द्वारा पातिव्रत्यधर्मके प्रति स्वाभाविक रुचि,

'अपरतन्त्र' (स्वाधीन) पदके द्वारा सास–ससुरके प्रति श्रद्धा रहनेपर भी परकीया–नायिकाओंकी भाँति, पतिसेवामें उनकी स्वाधीनतामें कोई बाधा नहीं होती—इसकी सूचना की गई है॥५॥

लोचनरोचनी—सुनिर्माण इति। सर्वगुणयुक्तं दोषरहितत्वञ्च निर्माणं यत्र तस्मिन्। अपरतन्त्रा इति। गुरुवर्गस्य गिरि श्रद्धावत्य इत्युक्तत्वान्न तदधीनत्वनिषेधः। किन्तु परकीयम्मन्यास्विव श्रीकृष्णसंगमविरोधिजनाधीनत्वनिषेधः। तद्विरोधिजनस्यात्राभावात्। प्रतिदिनमिति न तु तद्वदत्र दुर्लभतत्सङ्गमतेति भावः॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—सुनिर्माण इति। द्रौपद्याः स्वसखीं प्रत्युक्तिः। सुनिर्माण इति नासौ परकीयाणामिव लोकशास्त्राभ्यामनिर्मितः पराभवप्रदः पन्था इति भावः। पतिपराभिः साध्वीभिः, न तु परकीयाभिरिव चौरिभिस्तासां शिष्टजनपरिचितस्य पथोऽनुशीलनाशक्तेः। धर्माध्वनीति प्रियसेवायां धर्मशास्त्रमपि प्रवर्तकमित्यैहिकपारत्रिक–दोषमात्राभावः। न तु परकीयाणामिव रागमात्रमेव न तु शास्त्रमिति भावः। वस्तुतस्तु पादत्रयमिदं परकीयाणामेव प्रेमाधिक्यं द्योतयति। तच्च सुखाधिक्यमिति तासामेवोत्कर्षः फलितः इति। अपरतन्त्रा इति। तद्गुरूणां प्रियसेवाविरोधित्वाभावात्तत्पारतन्त्र्यम–प्यपारतन्त्र्यमित्यभिप्रायेणोक्तम्। उदग्रां श्रेष्ठाम्॥५॥

यथा वा श्रीदशमे (१०/६०/५५)—

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु, पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहोवहो मे, प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य॥६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णने कहा—"हे मानिनि! इस गृहमें तुम्हारी जैसी प्रेमवती किसी भी दूसरी नारीको नहीं देख रहा हूँ; क्योंकि विवाहके समय वहाँ एकत्रित रूपगुणसम्पन्न बहुत–से राजाओंको अग्राह्यकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे ही तुम मेरे प्रति अत्यन्त सुदृढ़ रूपमें आसक्त हो चुकी थी। इसलिए तुमने लोक–लज्जाको छोड़कर भी निर्जनमें ब्राह्मण देवताको मेरे पास दूतके रूपमें भेजा था।"

इस पद्यमें श्रीरुक्मिणीकी श्रीकृष्णके प्रति अगाध और दृढ़ आसक्ति तथा पातिव्रत्यधर्मको सूचित किया गया है॥६॥

लोचनराचनी—रहोवहः रहःसंदेशप्रकाशकः। मे इत्यत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—तासु मुख्यामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। रहोवहो रहःसंदेशप्रापकः। मे इति सप्तम्यर्थे षष्ठी॥६॥

तास्तु श्रीयदुवीरस्य सहस्राण्यस्य षोडश।
अष्टोत्तरशताग्राणि द्वारवत्यां सुविश्रुताः ॥७॥

आसां सख्यश्च दास्यश्च प्रत्येकं स्युः सहस्रशः।
तुल्यरूपगुणाः सख्यः किञ्चिन्न्यूनास्तु दासिकाः ॥८॥

तत्रापि रुक्मिणी सत्या जाम्बवत्यर्कनन्दिनी।
शैब्या भद्रा च कौशल्या माद्रीत्यष्टौ गणाग्रिमाः ॥९॥

तत्रापि रुक्मिणीसत्ये वरीयस्यौ प्रकीर्तिते।
ऐश्वर्याद्रुक्मिणी तत्र सत्या सौभाग्यतो वरा ॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—द्वारकामें श्रीकृष्णकी सोलह हजार एक-सौ आठ महिषियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे प्रत्येकको हजारों-हजारों सखियाँ और दासियाँ हैं। सखियाँ भी महिषियोंके समान रूप, गुण आदिसे युक्त हैं। दासियाँ भी उनसे कुछ कम नहीं हैं। इन महिषियोंमें भी रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, शैब्या, (मित्रविन्दा) भद्रा, कौशल्या (नाग्नजिती) और माद्री (लक्ष्मणा)—ये आठ प्रधान महिषियाँ हैं। इनमें भी रुक्मिणी और सत्यभामा ही सर्वश्रेष्ठ कही गई हैं। रुक्मिणी ऐश्वर्यमें गृहकी कर्तृरूपमें और सत्यभामा सौभाग्यमें श्रेष्ठ स्थानीया हैं॥७-१०॥

तथा हि श्रीहरिवंशे—

कुटुम्बस्येश्वरी सासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजा।
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत् ॥११॥

पाद्मे च कार्तिकमाहात्म्ये तां प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्—

न मे त्वत्तः प्रियतमा काचिद्देवि नितम्बिनी।
षोडशस्त्रीसहस्राणां प्रिये प्राणसमा ह्यसि ॥१२॥

अनयोः सकलोत्कृष्टाः सख्यो दास्यश्च लक्षशः।
स्वीयाजातीयभावेन निखिला एव भाविताः ॥१३॥

याश्च गोकुलकन्यासु पतिभावरता हरौ।
तासां तद्वृत्तिनिष्ठत्वान्न स्वीयात्वमसांप्रतम् ॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—हरिवंशमें ऐसा कहा गया है—महाराज भीष्मक-दुहिता रुक्मिणी कुटुम्बकी अधीश्वरी और सत्यभामा महिषियोंमें महासौभाग्यवती थी।

पद्मपुराणके कार्तिक माहात्म्यमें भी श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—हे देवि सत्यभामे! तुम्हारी अपेक्षा मेरे राजभवनमें कोई भी क्षीणकटिवाली रमणी मुझे प्रिय नहीं है। तुम्हीं उन सबमें मेरी सबसे अधिक प्रियतमा हो। सोलह हजार रानियोंमें केवल तुम ही मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो।

रुक्मिणी और सत्यभामाकी सखियाँ और दासियाँ सबसे अधिक उत्कृष्टा और संख्यामें भी लाखों-लाखों हैं। ये सभी रुक्मिणी आदिकी तरह स्वकीया नायिकाओंकी भाँति श्रीकृष्णको ही पतिके रूपमें मानती थीं। पक्षान्तरमें कात्यायनीकी आराधनामें तत्पर कुछ गोकुल कन्याएँ भी श्रीकृष्णको पति भावसे ही देखती थीं। उन्होंने श्रीकृष्णको अपने पति रूपमें वरण कर लिया था। इसलिए उनका स्वकीयात्व अनुचित नहीं है अर्थात् वे स्वकीयामें ही परिगण्य हैं॥११-१४॥

लोचनरोचनी—स्वीयाजातीयभावेनेति। स्वीयानां या जातिः प्रकारस्तस्या हितानुकूलो यो भावस्तेनेत्येव व्याख्येयम्। 'प्राक्क्रीताच्छः' इत्यधिकारे 'तस्मै हितम्' इत्यनेन छस्य विधानात्। न तु जातीयप्रत्ययान्तत्वेन व्याख्येयम्। 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' इति पुंवत्त्वप्राप्तेः॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वीयाजातीयभावेन स्वीयाजातीयत्वेन। 'जात्यन्ताच्छो बन्धुनि' इति स्वार्थिकश्छः। कृष्णेनाव्यूढा अपि ताः स्वकीया एवेत्यर्थः। एवमेकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकाभावेऽन्यत्रापि प्रयुज्यत इति न्यायेनानुक्तव्यवस्था अपि व्रजस्थानां परकीयाणां दास्यः परकीया एव। तत्रापि परोढानां श्रीराधादीनां दास्यः काश्चन श्रीवृषभान्वादिभिर्विवाहकाले दत्ताः कन्यका एव काश्चन, तदन्या रूपमञ्जर्यादयः परोढा एव ज्ञेयाः। 'बिम्बाधरे क्षतमनागतभर्तृकायाः' इति श्रीदासगोस्वाम्युक्तेः। अर्वाचीनानां साधकभक्तानां तु भावो यथारुचि यथासम्प्रदायं वा फलिष्यतीति बोद्धव्यम्॥१३॥

तस्मिन्पतिभावे या वृत्तिस्तत्रैव निष्ठा यासां तासां भावस्तत्त्वं तस्मात्। असाम्प्रतं अयोग्यं न भवतीति। यद्यपि 'करग्रहविधिं प्राप्ता इत्यत्र विधिपदोपादानाद्वैवाहिको विधिर्विप्राग्निसाक्षिक एव मुख्यो भवति, तदपि तासां गौणं स्वीयात्वमिति भावः॥१४॥

यथा—

आर्या चेदतिवत्सला मयि मुहुर्गोष्ठेश्वरी किं ततः
प्राणेभ्यः प्रणयास्पदं प्रियसखीवृन्दं किमेतेन मे।
वैकुण्ठाटविमण्डलीविजयि चेद् वृन्दावनं तेन किं
दीव्यत्यत्र न चेदुमाव्रतफलं पिञ्छावतंसी पतिः॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके मथुरा गमन करनेपर आश्वासन प्रदान करनेवाली अपनी सखीके प्रति कोई नायिका कह रही है—"सखि! मेरे प्रति आर्या गोष्ठेश्वरी मैया यशोदाके महावात्सल्यरूपी प्रेमके रहनेपर भी मुझे क्या लाभ? प्रिय सखियोंकी प्रियपात्री होनेपर भी मुझे क्या लाभ? यदि इस वृन्दावनने वैकुण्ठकी वनश्रेणियोंको भी जय कर लिया है, तो इससे भी मेरा क्या लाभ? यदि गोकुलमें श्रीकृष्ण पति रूपमें मुझसे विहार न करें, तो सभी निरर्थक हैं॥"१५॥

गान्धर्वरीत्या स्वीकारात्स्वीयात्वमिह वस्तुतः।
अव्यक्तत्वाद्विवाहस्य सुष्ठु प्रच्छन्नकामता॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—इस श्लोकको देखकर यह शङ्का हो सकती है कि इन व्रजदेवियोंमेंसे कतिपय व्रजदेवियोंको स्वकीया-नायिका कहा गया है। किन्तु स्वकीया-नायिकाओंमें प्रछन्न-कामुकता, निवारणता और दुर्लभत्व इत्यादि ये सब परकीया-नायिकाओंके गुण नहीं होते, अतएव व्रजमें रहकर भी ये स्वकीया कैसे हुईं? इस विषयमें श्रीरूपगोस्वामीजी समाधान करते हुए कर रहे हैं—इन स्वकीया बतलाई जानेवाली व्रजबालाओंको गान्धर्वरीतिसे स्वीकार किए जानेके कारण परमार्थतः उनको स्वकीया ही कहा गया है, किन्तु उनका श्रीकृष्णके साथ विवाह इत्यादि स्पष्ट रूपसे अव्यक्त है। कहीं भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इसलिए उनमें प्रछन्न-कामुकता, बहुनिवारणता, परस्पर दर्शन, आलाप आदिकी दुर्लभता भी अवश्य थी॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रच्छन्नकामतेत्युपलक्षणं मिथोदुर्लभत्वबहुवारणत्वादीनाम्। सुष्ठु इति। पितृमात्रादिबन्धुभिः कन्यात्वेनैव प्रतीतानां तासां स्वपुरुषस्यापि परपुरुषायितत्वाद्भयलज्जाधिक्यात् परकीयाधर्म एव स्पष्टः। न च तासां भावस्य

समञ्जसात्वमाशङ्कनीयम्। तल्लक्षणे पत्नीभावाभिमानात्मेत्युक्तत्वात्। पत्नीभावस्य च विप्राग्निसाक्षिकविवाहभवत्वात्। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति पाणिनिस्मरणात्॥१६॥

अथ परकीया—

रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—परकीया—जो नायिकाएँ ऐहिक और पारत्रिक धर्मकी उपेक्षाकर केवलमात्र (अन्य हेतु निरपेक्ष) आसक्तिवश पर-पुरुषके प्रति आत्मसमर्पण करती हैं, अथच जो वैदिक विवाह-धर्मके अनुसार विप्र, अग्नि और समाजके प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको साक्षी रखकर (लौकिक विवाह-धर्मके अनुसार) स्वीकार नहीं की गईं हैं, रसशास्त्रमें उनको परकीया कहा गया है॥१७॥

लोचनरोचनी—अन्तरङ्गेण रागेणैवार्पितात्मानो नतु बहिरङ्गेण विवाहप्रक्रियात्मकेन धर्मेण। तदेवं मिथुनीभावे तासां रीतिमुक्त्वा श्रीकृष्णस्याप्याह—धर्मेण विवाहात्मकेनैवास्वीकृता नाङ्गीकृताः, रागेण तास्तु स्वीकृता इत्यर्थः॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—रागेणेत्यत्र श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणानां व्याख्या—"अन्तरङ्गेण रागेणैवार्पितात्मानो न तु बहिरङ्गेण विवाहप्रक्रियात्मकेन धर्मेण। तदेवं मिथुनीभावे तासां रीतिमुक्त्वा श्रीकृष्णस्याप्याह-धर्मेण विवाहात्मकेनैवास्वीकृत्य नाङ्गीकृत्य रागेण तु स्वीकृता" इत्येषा॥१७॥

यथा—

रागोल्लासविलङ्घितार्यपदवीविश्रान्तयोऽप्युद्धुर-
श्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्येहिताः।
आरण्या अपि माधुरीपरिमलव्याक्षिप्तलक्ष्मीश्रिय-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखम्॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकृष्णके प्रथम दौत्यकार्यमें प्रवृत्त नान्दीमुखी और गार्गीके प्रति पौर्णमासीजी कह रही हैं—"अहो! श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त अनुरागवशतः ऐसी कौन व्रजरमणी है जो धर्म-मर्यादाकी अन्तिम सीमाका उल्लंघन न कर गई हो? अरुन्धती आदि महासती पतिव्रताएँ भी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी अभिसार आदि लीलाओंकी प्रशंसा किया

करती हैं। वे वनचरी होनेपर भी अपने माधुर्य परिमलके द्वारा लक्ष्मीकी 'श्री' को भी पराभूत करती हैं। अतएव सम्पूर्ण त्रिभुवनमें अत्यन्त उत्कृष्ट वे सारी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ तुम्हारे हर्षका विधान करें॥"१८॥

लोचनरोचनी—श्रद्धारज्यदिति। वन्द्येति च तासां तास्वादर एव व्यज्यते न तु तासु श्रीकृष्णविषयको यो भावस्तदापत्तिः। तत्तत्पदस्यादर एव विश्रान्तेः। तद्भावे कान्तात्वाभिमानलक्षणे भक्तिसामान्यांशस्यैवानुभवात्, न तु मधुराख्यरत्यंशस्य। तासु हि श्रीकृष्णस्य मातृभाव एवेति॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—रागोल्लासेति। तद्दूत्यादिषु प्रथमप्रवर्त्यमाना नान्दीमुखी गार्गीप्रभृतीः प्रति पौर्णमास्या वचनम्। रागौत्कट्येन विलङ्घिता आर्यपदव्या विश्रान्तिरन्तसीमापि याभिस्ताः। का नाम सा धर्मपदवी या ताभिर्न लङ्घितेत्यर्थः। एवंरूपा अपि श्रद्धया रज्यद् अनुरक्तीभवद् यत् अरुन्धतीमुखं सतीवृन्दं तेन वन्द्यं परमादरेण श्लाघ्यं ईहितं कुञ्जाभिसारादिचेष्टितं यासां ताः। ननु परमपतिव्रतानामपि तासामयमादरः किं तद्भावस्पृहाजनितस्तद्विनाभूत एव वा? नाद्यः तासु श्रीकृष्णस्य मातृभाववत्त्वात्। नापि द्वितीयो निजभावप्रातिकूल्यदृष्ट्या दोषदर्शनसम्भवात्। "मिथोभावस्य वैजात्ये न भावो रोचते मिथः। अरोचकतयैवायमक्षान्तिं जनयेत् पराम्॥" इत्यत्रैवोक्तेः। सत्यम्। अत्रायं विवेकः—अरुन्धत्यादीनां वशिष्ठाद्येकमात्रनिष्ठचेतसां परमसुन्दरादपि कस्मादपि पुरुषात्कदापि क्षोभो न संभवति। किन्तु श्रीनारायणादपि न संभवतीति न शक्यते वक्तुं तस्येश्वरत्वात् सौन्दर्यमाधुर्यादिगुणोदधित्वात्, अतर्क्ययोगमायत्वाच्च, अरुन्धत्यादीनामीशितव्यकोटिगतत्वात्, रसास्वादचातुर्यवत्त्वात्, मायावैभवान्तःपातित्वाच्च। व्रजसुन्दरीणां तु व्रजेन्द्रनन्दनैकमात्रनिष्ठं चेतस्तस्मादपि स्वीकृतनारायणस्वरूपाद्विकृतं नाभूत्, वासन्तिकरासोत्सवे तथा प्रसिद्धेः। किमुत नारायणात् किमुततरां पुरुषान्तरादित्यादि सर्वमाभ्यन्तरं पातिव्रत्यं तासां स्वतोऽपि कोटिगुणितं सर्वज्ञतया ज्ञात्वैव ताभिस्ताः स्तूयन्त इति। माधुरीपरिमलेति। परिमलपदेन माधुरीणां वल्लीत्वमारोपितम्। ततश्च ताः सत्यमारण्या एव किन्तु तासां रूपगुणमाहात्म्यानां माधुरीणां माधुरीवल्लयस्तथा अवर्द्धन्त यथा वैकुण्ठपर्यन्तमारुह्य स्वसौरभ्यैर्लक्ष्म्या अपि गर्वसंपदस्तिरस्कृता इति ततश्च एकमात्रनिष्ठचेतःस्वरूपेण पातिव्रत्येनारुन्धत्यादयो जिताः, रूपगुणादिभिर्लक्ष्म्यादयश्चेति प्राकृताप्राकृतनायिकासु तासामसाधारण्यं ध्वनितम्॥१८॥

कन्यकाश्च परोढाश्च परकीया द्विधा मताः।
व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः।
प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—कन्यका और परोढ़ा भेदसे परकीया नायिकाएँ दो प्रकारकी होती हैं। व्रजेश्वर श्रीनन्दमहाराजके व्रजमें रहनेवाली प्रायः सभी रमणियाँ परकीया नायिका रूपमें विख्यात हैं। परकीया नायिकामें रहनेवाली प्रच्छन्न कामुकता ही गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णको सुख देनेवाली होती है॥१९॥

लोचनरोचनी—कन्यकाश्चेति। सोऽयमवतारलीलादृष्ट्यैव व्यवहारो न तु वस्तुतः पूर्वं स्थापितत्वात्। याः काश्चित् कन्यका अपि रागेण पतित्वोपपतित्वविचारशून्यतया रहस्तं भजन्ते ता अपि परकीयाः, प्रच्छन्नकामता तु सुखविशेषाय संपत्स्यत इति पूर्वदर्शिताभिप्रायेणाह—प्रच्छन्नेति॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—कन्यकाश्चेति। दुर्गाव्रतपरास्वेव मध्ये पूर्वोक्तयुक्त्या पतिभाववतीभ्योऽन्या ज्ञेयाः। प्रायेणेति। काश्चित्तदानीं देशान्तरात् समागत्यापि समातृकाः स्थिता इति ज्ञेयाः॥१९॥

तथा हि रुद्रः—

वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—इस विषयमें रुद्रकविने कहा है—स्त्रियोंकी वामता, दुर्लभता, बहुनिवारणता (अनेक प्रकारके प्रतिबंध) ही कन्दर्पका असाधारण अस्त्र है अर्थात् वशीकरणका उपाय है॥२०॥

लोचनरोचनी—पूर्वाभिप्रायेणैव भरतवाक्यवत् रुद्रवाक्यं विष्णुगुप्तवाक्यञ्च दर्शयति—तथा हि रुद्र इत्यादिना॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—तदेवेति। 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिना एकशेषनिषेधः शास्त्रीयो लौकिकश्च॥२०॥

विष्णुगुप्तसंहितायाञ्च—

यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम्।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्जते हृदयम्॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—विष्णुगुप्त संहितामें भी ऐसा ही कहा गया है—जिस नायिकासे मिलनेमें नाना प्रकारके प्रतिबन्ध रहते हैं, जो मृगनयनी सब

प्रकारसे दुर्लभ होती है, उसीमें नायकका चित्त अत्यन्त आसक्त होता है॥२१॥

आः किं वान्यद्यतस्तस्यामिदमेव महामुनिः।
जगौ पारमहंस्याञ्च संहितायां स्वयं शुकः॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—इस श्लोकके अनुसार जो लोग श्रीराधाकृष्णका नित्य मिलन या विहार मानते हैं, किन्तु उनमें प्रछन्न–कामुकता, मान, दुर्लभता और निवारण इत्यादि नहीं मानते, गोपियोंके परकीयाभावोंके प्रति साधारण नायक–नायिकाओंकी भाँति सामान्य बुद्धि रखते हैं, परकीयाभावको दुराचारके रूपमें दर्शन करते हैं—ऐसे व्यक्ति श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें दुराशय हैं। ऐसे व्यक्तियोंके लिए वे अत्यन्त खेदके साथ 'आह!' पदका प्रयोग करते हुए कह रहे हैं—पारमहंसी संहिता श्रीमद्भागवतमें महामुनि शुकदेवजीने व्रजगोपियोंकी परकीया महिमाका उच्च स्वरसे गान किया है, दबे हुए शब्दोंसे नहीं। इस श्लोकमें पारमहंसी संहिता शब्दके द्वारा यह सूचित होता है कि—(१) श्रीकृष्णचरणकमलोंमें निर्मल प्रेमरसास्वादनमें जिह्वातुर महाभागवतोंके द्वारा ज्ञात परमात्मा नारायण ही परमहंस हैं। (२) सर्वप्रथम उन्हींके द्वारा चतुःश्लोकीके रूपमें यह संहिता ब्रह्माजीके निकट प्रकाशित हुई। (३) परमहंस व्यासदेवजीके द्वारा यह कही गई है। इस प्रकार यह पारमहंसी संहिता है। तात्पर्य यह है कि भागवतके वक्ता, श्रोता, अनुष्ठाता, अनुशीलनकर्त्ता सभी निर्मत्सर, सर्वज्ञ, महाभागवत और आदर्श चरित्रवाले महाधिकारी महापुरुष हैं। शुकदेव गोस्वामीने अत्यन्त मधुर शब्दोंमें मृत्युके लिए प्रस्तुत परीक्षित महाराजके सामने उच्च स्वरसे इस पारमहंसी संहिताका गान किया है। इसमें गोपियोंके परकीयाभावका महत्त्व प्रदर्शित किया है। साधारण रूपमें नहीं, उच्च स्वरसे स्वयं उन्होंने गान किया है। श्रीमद्भागवतमें 'शुक उवाच' के द्वारा—सूत–शौनक अथवा विदुर–मैत्रेय आदि संवादोंके द्वारा नहीं, स्वयं महामुनि शब्दके द्वारा परीक्षितजीकी सभामें, वह भी उनके अन्तिम दिनोंमें जबकि वे मृत्युके लिए प्रस्तुत बैठे हैं, उस सभामें श्रीनारदजी, श्रीवशिष्ठजी, श्रीपाराशरजी, श्रीव्यासजी जैसे गुरुवर्ग—महातत्त्व–ज्ञानी, रसिक और मुक्तशिरोमणि महापुरुषोंकी उपस्थितिमें शुकदेव

गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके व्याख्यानमें स्वयं इसका पाठ किया है। इसलिए पूर्वलिखित संवादोंकी अपेक्षा यह सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। साथ ही उन संवादोंकी अपेक्षा शुकदेव द्वारा स्वयं कथित विषयोंकी आदरणीयता और प्रमाणचूड़ामणित्व भी सूचित होता है॥२२॥

लोचनरोचनी—तथापि परकीयाव्यवहारो बहुष्वनिष्ठत्वान्न वर्णनीय इति नाशङ्क्यमित्याह—आः किम्वेति। आ इति बहिर्मुखान् प्रत्यधिक्षेपः। "आस्तु स्यात् कोपपीडयोः" इति विश्वकोशः। किम्वान्यद्वक्तव्यमित्यर्थः। यतोऽन्यस्य का वार्ता। इदं वक्ष्यमाणमेव महामुनिः श्रीशुको जगौ। अप्यर्थ एवशब्दः। चकारश्चाप्यर्थे॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—आ इति। स्वकीयापक्षपुष्टिवादिनः प्रति कोपः। "आस्तु स्यात् कोपपीडयोः" इति विश्वप्रकाशः। जगौ निःशङ्कतया उच्चैरुच्चचार। स्वयं शुक इति। न हि शुकवाक्यादधिकं प्रमाणमस्तीति भावः॥२२॥

यथा श्रीदशमे (१०/३३/१९)—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रराम भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमद्भागवत १०/३३/१९ श्लोकके द्वारा श्रीरूपगोस्वामीपाद प्रमाण दे रहे हैं—"भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम होनेपर भी लीलाके आवेशसे रासस्थलीमें जितनी भी रासपरायणा गोपियाँ थीं, उतनी ही मूर्त्तियाँ धारणकर उनके साथ क्रीड़ा करने लगे।" इस पदमें 'अपि' (भी) शब्दकी सार्थकता दिखला रहे हैं—आत्माराम श्लोकमें (श्रीमद्भा. १/७/१०) जिस प्रकार विषय-वासनासे रहित मुनियोंकी श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्ति होनेमें, श्रीकृष्णके सर्वाकर्षक एवं मधुर गुण ही कारण हैं, उसी प्रकार यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम होते हुए भी गोप-वनिताओंके साथ रासक्रीड़ामें केवल गोपियोंकी प्रेममाधुरी, वैदग्धी, आलौकिक और चमत्कारी गुणोंके कारण ही आकर्षित हुए, अर्थात् गोपियोंके निर्मल प्रेमके कारण ही और किसी अन्य कारणसे नहीं। उनके इन गुणोंको देखकर स्वयंभगवान् परम रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण भी जितनी गोपियाँ थीं उतने ही रूपोंमें एक-एकके साथ क्रीड़ा करने लगे। किसी एकको भी नहीं छोड़ा। ये सभी गोपियाँ अपने-अपने पति, गुरुजन, लोकलज्जा, धर्म आदि सबको छोड़कर श्रीकृष्णके समीप आई

थीं। अतएव श्रीकृष्ण एक-एक गोपीकी प्रीतिके लिए उतने ही रूपोंमें प्रकट हुए॥२३॥

लोचनरोचनी—तदाह—यथेति। आत्मारामोऽपि भगवानपि ताभिः सह ररामेति "आत्मारामाश्च मुनयः" इत्यादौ "इत्थंभूतगुणो हरिः" इति वदित्थंभूतगुणास्ता इति भावः। तत्राप्यावेशविशेषमाह—यावत्यो व्रजयोषितस्तावन्तमात्मानमेकस्यैव श्रीविग्रहस्य तावन्तं प्रकाशं लीलया तच्छक्त्याकृत्वेत्यर्थः॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—तावन्तमात्मानमिति। तासामेकामपि त्यक्तुमसमर्थ इत्यासक्त-क्त्याधिक्यम्। गोपानां योषित इति तासां स्पष्टमेव परकीयात्वम्। "व्रजयोषितः" इति पाठेऽपि श्रीकृष्णेनापरिणीतत्वात् "धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः" इत्यादि शुकसिद्धान्तैरपरिणेष्यमाणत्वाच्च परकीयात्वम्। ररामेति। संप्रयोगाभिधायकपदेन शास्त्रीयो निषेध उक्तः। परस्त्रीषु संयोगस्यैव धर्मशास्त्रेष्वधर्मजनकत्वेन निषिद्धत्वात्परकीयात्वेन सुदुर्लभत्वं व्यक्तमेव। यावतीरिति तावन्तमित्येताभ्यां निर्भरासक्तिश्च। आत्मारामोऽपीति। इत्थंभूतप्रेमाणो गोपयोषित इति भावः। "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे" इतिवत्॥२३॥

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥२४॥

रामादिवद्वर्तितव्यं न क्वचिद्रावणादिवत्।
इत्येष मुक्तिधर्मादिपराणां नय ईर्यते॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ एक शङ्का होती है कि प्रच्छन्न-कामुकता और निवारणता आदिके द्वारा गोपियोंको सर्वश्रेष्ठा या सर्वोत्तमा नायिका कहा गया है। यह बात ठीक है, किन्तु गीता (३/२१-२४) में यह कहा गया है कि श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरणको देखकर उनके अनुगत व्यक्ति भी उनका आनुगत्य करेंगे। स्वयंभगवान्के कर्म नहीं करनेसे सब लोग उच्छृंखल हो जाएँगे। गीताके इस प्रमाणके अनुसार, क्या सभी लोग परकीया नायिकाओंका आश्रय ग्रहण करेंगे? या उनको ग्रहण करना चाहिए? समाधान—अपना कल्याण चाहनेवाले जीव भगवान्के आचरणको ग्रहण न करें। बल्कि भक्तोंके आचरणको ही ग्रहण करें। श्रीकृष्णके समान आचरण कभी न करें। भक्तिशास्त्रमें सर्वत्र ऐसा ही सुनिश्चित सिद्धान्त बतलाया गया है। पक्षान्तरमें श्रीरामचन्द्र आदिकी

भाँति व्यवहार करेंगे, रावणकी भाँति नहीं। ऐसी जो नीति प्रचलित है, वह मुक्तिकामी, धर्मकामी आदि व्यक्तियोंको लक्ष्य करके ही कही गई है। इसके द्वारा केवलमात्र उनके समान सदाचार ग्रहण करना ही मूल तात्पर्य है। मुक्ति चाहनेवाले व्यक्ति श्रीरामके शान्तादि–अंशको, धर्मपरायण व्यक्ति उनके धर्माचरणको तथा अर्थकामी व्यक्ति उनके नीति–अंशको ग्रहण करेंगे॥२४–२५॥

लोचनरोचनी—तदेवं परकीयात्वेन प्रतीतास्वपि श्रीकृष्णलीलायां रसवत्त्वे स्थापिते कश्चिदाशङ्कते। ननु शृङ्गाररसभावनायां यथावसरं नायकस्य नायिकायाश्च स्वाभेदेन स्फूर्तौ जायमानायामेवान्येषां रसोद्बोधः स्यादिति रसविदां स्थितिः। भवतां त्वत्र रसे सुतरामेव श्रीकृष्णाभेदभावना दोषाय कल्पते। तस्मादलमेतद्रसनिरूपणार्थं तासां महिमवर्णनेनेति तत्राह—वर्तितव्यमिति। आस्तां तावदस्य रसस्य वार्ता, रसान्तरेऽपि श्रीकृष्णभावो नानुवर्तितव्य इत्यर्थः॥२४॥

न चान्येषामपि श्रीकृष्णसम्बन्धिनि रसेऽस्मिंस्तथा सम्मतिः पापावहत्वावगमात्। किन्तु रामादिवदित्यादिकं यत्तेषु प्रसिद्धं तच्च सदाचाराद्यंश मेव ग्राहयतीत्याह—रामादिवदिति। तत्र मुक्तिपरैः शान्ताद्यंशो धर्मपरैः स्वधर्माद्यंशोऽर्थकामपरैर्नीत्यंशो ग्राह्य इति नयः परिपाटी कथ्यते॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इति नीतिर्लोकानां दुर्गतिरेवातः प्रसक्ता इत्यत आह—वर्तितव्यमिति। शं शुभं भक्तवद् भक्तकर्तृकाचरणेन तुल्यमाचरणीयमित्यर्थः। ननु भक्तानां सिद्धानां साधकानां वाचारोऽनुसरणीयः। नाद्यः सिद्धानां प्रायः कृष्णतुल्याचारत्वात्। तथा हि—"यत्पादपङ्कजपराग–" इत्यत्र स्वैरं चरन्तीति। नापि द्वितीयः। साधकेषु मध्ये दुराचारा अपि गणिताः—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्" इत्यादिभिः। मैवम्। वर्तितव्यमिति तव्यप्रत्ययेन भक्तिशास्त्रोक्ता ये विधयस्तद्वन्त एवात्र भक्ता भक्तशब्देनोक्ताः न तु कृष्णवत्॥२४॥

रामादिवदिति। तेषां सदाचारत्वात्। न च तदपि भक्तानां सम्मतमित्याह—मुक्तीति। "यो यद्धर्मः स एव सः" इति न्यायेन तेषां रामसायुज्यं युक्तमेवेति॥२५॥

तथा च तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/३३/३०,३६)—

> **नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।**
> **विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥२६॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रीमद्भागवतके १०/३३/३० से ३६ श्लोक तक "नैतत्समाचरेत् जातु मनसापिह्यनीश्वरः" में कहा गया है—अनीश्वर अर्थात्

नश्वर देहमें जिनकी आत्मबुद्धि है, ऐसे व्यक्ति कभी मनके द्वारा भी इस प्रकारका उच्छृंखल आचरण न करें। क्योंकि मूढ़तावश ईश्वरके आचरणकी भाँति आचरणकारी व्यक्तिका विनाश हो जाता है। श्रीरुद्रने सागरसे उत्पन्न विषका पान किया और वे नीलकण्ठके नामसे प्रसिद्ध हुए। साधारण जीव भी यदि शङ्करके विषपानका अनुकरणकर विषपान करे, तो उनका अवश्य ही विनाश हो जाएगा॥२६॥

लोचनरोचनी—तद्वत्स्वैराचरणमपि दोषाय कल्पते किमुत तस्य कृष्णस्य तत्प्रेयसीविषयकतादृशतद्भावस्य च स्वाभेदेन भावनेति दर्शयति—तथा च तत्रैवेति॥२६॥

आनन्दचन्द्रिका—न तु कृष्णवदित्यस्योदाहरणमाह—नैतदिति॥२६॥

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ आशङ्का होती है कि भगवान् तेजस्वी और सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिए पारकीया रसास्वादनमें उनके लिए किसी प्रकारके दोषकी तनिक भी संभावना नहीं है। यह बात तो ठीक है, किन्तु निश्चित प्रयोजन या निश्चित उद्देश्य न होनेसे मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है। इस न्यायके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने परमविज्ञ शिरोमणि और सर्वभूत-सुहृद होनेपर भी ऐसा लोक-निषिद्ध आचरण क्यों किया? क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने परकीया स्त्रियोंके साथमें विलास किया है, इसलिए परकीयाविलास ही सदाचार है—ऐसा माननेसे तथा उसमें युगपत् दोष दर्शन करनेसे दोनों तरफ ही अज्ञ व्यक्तियोंका विनाश अवश्यम्भावी है। अतएव भगवान्‌ने ऐसा आचरण क्यों किया? इस प्रश्नका निराकरण करते हुए श्रीकृष्णकी निरुपाधिक कृपालुता और परम रसिकशेखरताको प्रकाश करते हुए कह रहे हैं—मधुररसके प्रति अनादि वासनासे वासित-चित्त होकर गोपीभावके माधुर्यको श्रवणकर, रागमार्गमें ही जिन साधकोंकी यथार्थतः रुचि उत्पन्न हुई है, अर्थात् श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित गोपीभावके माधुर्यको श्रवणकर तथा भक्तोंके चरित्रोंको सुनकर रागमार्गमें जिनकी रुचि अथवा लोभ उत्पन्न

हुआ है, उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए ही भगवान्‌ने ऐसा लीलाविनोद किया है, जिसको श्रवण करनेपर मनुष्य देहधारी जीव भगवन्निष्ठ हो सकेंगे। मधुररस आश्रयी भक्तको छोड़कर अन्यजातीय शान्तादि चारों प्रकारके भक्तोंके लिए रासलीला श्रवणादि अत्यन्त अनुपयोगी है। प्रकरणवशतः अर्थात् यह रस उन भक्तोंके लिए ही उपयोगी है, जिनको इस रसमें लोभ उत्पन्न हुआ है, जिनके पूर्व–पूर्व जन्मोंके संस्कार उदित हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्यजातीय चारों प्रकारके भक्तोंके लिए यह सब प्रकारसे अनुपयोगी है। यह रागमार्ग परम प्रेमकी पराकाष्ठाकी अन्तिम सीमाको प्राप्त सर्वथा मधुरातिमधुर है। व्रजदेवियोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्वप्नमें भी अदृष्टचर और अश्रुतचर है तथा परमप्रेष्ठ होनेके कारण ही श्रीमान् उद्धव एवं श्रीरुक्मिणी आदि श्रीकृष्णकी दूसरी महिषियोंके लिए भी स्पृहणीय है। अतएव मधुररस आश्रयी भक्तोंको ऐसी रासलीलाका श्रवण कराकर रागमार्गमें प्रवेश करानेके लिए ही श्रीकृष्णने ऐसी माधुर्यमयी लीलाओंका सम्पादन किया है। बाह्यरूपसे परदारविनोदन रूपमें प्रतीयमान होनेवाली क्रीड़ाका सम्पादनकर श्रीकृष्णने अपने प्रियतम मधुर रसाश्रयी भक्त–विषयक कृपाकी पराकाष्ठा दिखलाई है। पुनः बाह्यतः परदारविनोदको भी अङ्गीकारकर लीलाका परम रहस्यत्व, परमरसावहत्व, साधारण लोगोंके लिए दुर्गमत्व और परम दुर्लभता ही इसके द्वारा सूचित हुई। "सर्वचित्त आकर्षक सुन्दर बहुलीला रहनेपर भी रासलीला स्मरणसे मेरे मनमें कैसी भावनाएँ उठती हैं, उसे मैं नहीं जानता"—बृहद्वामनपुराणमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखसे ऐसा कहा है। इन प्रमाणोंके द्वारा श्रीराधाकृष्णके अनुभाव सूचनाके द्वारा परम विदग्ध शिरोमणि महामधुर रसाश्रयी भक्तवृन्दके पूजनीय श्रीलरूपगोस्वामी पादके अनुभव द्वारा रासोपलक्षित यह पारकीया रहःलीलाकी परम उत्कर्ष सीमा ही बहुतसे ग्रन्थोंमें अनेकों बार प्रतिपादित हुई है। अर्थात् सभी पुराणोंमें, गोस्वामी–ग्रन्थोंमें एवं अन्य आचार्योंके ग्रन्थोंमें इसकी चरमोत्कर्षता प्रमाणित है॥२७॥

लोचनरोचनी—तल्लीलायां श्रुतायां भक्तानान्तु तत्परतैव जायते न तु तदभेदभावनेत्यत्र प्रमाणमाह—अनुग्रहायेति। स्वभाव एवायमेव तदीयानां लीलानामिति

भावः। तदुक्तम्—"विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः" इत्यादौ "भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामम्" इत्यादि॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—तदपि स्वैराचरणं भगवतो भक्तहितार्थमेवेत्याह—अनुग्रहायेति। भक्तानामनुग्रहाय तादृशीः क्रीडा भजते याः श्रुत्वा मानुषं देहमाश्रितो मानुष इत्यर्थः, तत्परस्तदेकनिष्ठो भवेदिति मणिमन्त्रमहौषधीनामिव शक्तिरेवेयं लीलायां यत्तदेक-निष्ठतामुत्पादयतीति नात्राविश्वासः कार्य इति भावः। यदुक्तम् "विक्रीडितं व्रजवधूभिः" इत्यत्र भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्येत्यादि। यद्वा। भवेदिति विधिलिङ "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इतिवद्यच्छ्रवणानन्तरं तत्परश्चेन्न भवेत्तदा प्रत्यवायी भवेदिति। "को नाम लोके पुरुषार्थसारवित् पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्। आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम्॥" इति तृतीयोक्तौ प्रत्यवायश्रवणात्। कृष्णकथामात्रस्यापि श्रवणतत्परत्वयोर्नित्यत्वे सिद्धेऽपि रासकथायास्तदात्यन्तिकमिति व्याख्येयम्। पञ्चाध्याय्याः श्रवणतत्परत्वयोर्नित्यत्वमिति॥२७॥

श्रीमुखेन तु माहात्म्यमासां प्राह स्वयं हरिः॥२८॥

यथा तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/३२/२२)—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—सिद्धान्तके द्वारा उक्त सन्देहको दूर करते हुए "न पारयेऽहं" श्लोकमें स्वयं श्रीकृष्णने भी गोपियोंकी परमोच्च महिमाका वर्णन किया है—"हे गोपियो! तुमने मेरे प्रति अत्यन्त सुसाधुकृत्य किया है। मैं करोड़ों जन्मोंमें भी उसका समुचित रूपमें प्रतिदान देनेमें असमर्थ हूँ। तुमलोग अपने भाई-बन्धु, माता-पिता, लोक-लज्जा और वैदिक धर्म इत्यादि सबको सम्पूर्ण रूपसे तिलाञ्जलि देकर मेरे पासमें आई हो। मेरे साथ तुम्हारा संयोग काममय रूपमें दिखनेपर भी मेरे विषयमें अत्यन्त सुनिर्मल, विशेष उत्कृष्ट प्रकारका प्रेम होनेके कारण सर्वथा निर्दोष है; क्योंकि अत्यन्त सुदृढ़ गृहश्रृंखलाओंको सम्यक् प्रकारसे छिन्नकर तुमलोगोंने मेरा आश्रय लिया है। मैं किसी भी प्रकारसे तुम्हारा प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूँ; क्योंकि मैं तुमलोगोंकी भाँति सबको और सब कुछ छोड़कर सम्पूर्ण रूपसे किसी एकके प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर सकता। मेरा चित्त अनेकानेक नायिकाओंमें आसक्त है। मैं

सर्वथा निरपेक्ष होकर दूसरे किसीको भी छोड़कर तुम्हारे जैसा एकान्तिक रूपमें भजन नहीं कर सकता। इसलिए मैं तुम्हारा ऋणी हूँ॥"२८–२९॥

लोचनरोचनी—नन्वन्येषां भक्तानां भावो भाव्य एव पावनत्वात्। आसां तु भावः सदोष इव लभ्यते, औपपत्यसाधारणदृष्टैरहृद्यत्वात्तत्राह—श्रीमुखेनेति॥२८॥

ततस्तस्माद्वः साधुना साधुकृत्येनैव तत्साधुकृत्यं प्रतियातु। प्रत्युपकृतं भवत्वित्यर्थः। तस्मिन्नौपपत्यसाधारणदृष्टिर्बहिर्मुखानामेव जायते तान्प्रति तु नेदं शास्त्रं प्रकाश्यत इति भावः॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—नन्वन्येषां भक्तानां भावो भाव्य एव पावनत्वात्, गोपीनां भावस्त्वौपपत्यसाधारणदृष्टेरहृद्यत्वात्सदोष इवेति। तद्भावभावनायां केचन मन्दधियः संशेरत इत्यत आह—श्रीमुखेनेति॥२८॥

निरवद्या पूर्वोक्तरीत्या निर्दोषा संयुक् संयोगो यासां तासां वः स्वेनैव। साधु यत्कृत्यं न तु साधुत्वापादकेन केनचिद्वस्तुसम्पर्केण साध्वित्यर्थः। विबुधायुषापीति युष्माकं क्षणिकमपि साधुकृत्यमिति भावः। न पारये प्रतिकर्तुं शोधयितुमित्याक्षेपलब्धम्। या मा मामभजन्। संवृश्च्य पतिश्वश्रूश्वशुरपितृमातृभ्रात्रादिस्नेहबन्धगन्धमपि दूरे परिहायेत्यर्थः। श्लेषेणापक्वयोगिन इव संवृश्च्यापि ताः पुनर्मां नैवाभजन्नित्यर्थः। अहं तु पित्रोर्भ्रातरि स्वेषु बन्धुष्वपि स्निह्यामि च। युष्मान्भजामि चेत् "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि" इति स्वयं प्रतिज्ञातोऽपि च्युत इति मम प्रतिक्रियाया असम्भवः। व्यज्यमानोऽयमर्थः श्लेषेणापि लभ्यते। गेहशृंखलाः संवृश्च्य या युष्मान् अहं मा अभजम्। परसवर्णेन नकारदुकारयोः संयोगः। तत्तस्मात् वः साधुना साधुत्वेनैव तत्प्रतियातु प्रतिकृतं भवत्वित्यर्थः॥२९॥

उद्धवोऽपि जगौ सुष्ठु सर्वभागवतोत्तमः॥३०॥

यथा तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/४७/६१)—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा, भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—परम भागवत श्रीउद्धव महाराजजीने व्रजरमणियोंकी महिमाका उच्च कण्ठसे गान किया है। वे अत्यन्त खेदके साथ प्रार्थना कर रहे हैं—"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां", अहो! मेरी लालसा बड़ी दुर्लभ है, यह मेरे लिए परम सौभाग्यकी बात होगी कि व्रजकी इन गोपरमणियोंकी चरणधूलिकी सेवा करनेवाली वृन्दावनकी गुल्म-लता,

औषधि इत्यादि किसी पौधेके रूपमें मैं जन्म लाभ कर सकूँ। इसी वृन्दावनमें सदा–सर्वदा उन गोपरमणियोंका अभिसारके समय अथवा श्रीकृष्णसे मिलन हेतु भ्रमण होनेसे, उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्तिकी सम्भावना है। यह सम्भावना अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं है। इसलिए उद्धवजी अन्यत्र जन्म ग्रहण करनेकी अनिच्छा व्यक्त कर रहे हैं। वृक्ष–जन्मके लिए प्रार्थना न करनेका कारण यह है कि ये अत्यन्त ऊँचे हैं तथा उनके लिए वृन्दावनमें भ्रमण करती हुई अथवा श्रीकृष्णके निकट अभिसार करती हुई गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त होनेकी बिल्कुल भी सम्भावना नहीं है। गुल्मसे भी लताओंकी न्यूनता होनेके कारण परम दैन्यवशतः हृदयमें अपनी अत्यन्त क्षुद्रताकी स्फूर्ति होनेके कारण तृणजन्मकी प्रार्थना ही उनके लिए अभीष्टवस्तु है। इसके द्वारा गोपियोंकी महिमा कीर्त्तित होनेपर भी अधिक उत्सुकतासे आगे गान करते हैं—गोपियोंने श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रबल अनुरागके कारण सर्वदा उनका जैसा आनुगत्य स्वीकार किया है, वैसा आनुगत्य सब श्रुतियोंके विचारसे अथवा स्वयं श्रुतियोंके द्वारा परम पुरुषार्थ रूपमें निर्णीत हुआ है और उनके लिए भी अनुसन्धानका विषय हुआ है। गोपियोंने श्रीकृष्णके लिए स्वजन, लोकमर्यादा, आर्यपथ, वेदमर्यादा आदिका परित्याग कर दिया। स्वजन और आर्यपथका त्याग करना सहज नहीं है। उद्धव आदि महात्मा भी ऐसा करनेमें असमर्थ हैं। उनके लिए ऐसा सम्भव नहीं हुआ। वे सर्वलोक और सर्ववेदोंके सार—श्रीकृष्णका भजन करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंके सार, सर्ववेदोंके प्रतिपाद्य–विषय और सर्वशक्तिमान हैं, ऐसा समझकर ही वे भगवान् श्रीकृष्णका भजन करते हैं; इसलिए उनका भजन स्वाभाविक अतिशय अनुरागके कारण नहीं है। उन्हें श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अनुरागमयी सेवा प्राप्त नहीं है। इसलिए गोपियाँ ही असमोर्द्ध भाग्यवती हैं, रागवती हैं॥३०–३१॥

लोचनरोचनी—तन्महाभक्तैस्तु तच्छ्लाघ्यत एवेत्याह—उद्धवोऽपीति॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु सदाचारं विना तत्र निःसंकोचा प्रवृत्तिः प्रेक्षावतां न स्यादित्यत आह—उद्धवोऽपीति। जगौ "ता नमस्यन्निदं जगौ" इति मूलेऽपि तथोक्तेः। तच्च गानं मत्कृर्तृकानुवृत्तिं सर्वे शृण्वन्त्वित्यभिप्रायः॥३०॥

चरणरेणुजुषामिति। इमा यासामुपरि चरणौ विन्यस्यन्तीति। गुल्मादयोऽप्यतिक्षुद्रजातय एव ज्ञेयाः। समयश्च कृष्णाभिसारसम्बन्धी ज्ञेयः। तदैव वर्त्मावर्त्मविवेकापगमात्तदुपरि पादन्याससिद्धेः। ननु त्वमपि श्रीकृष्णलीलापरिकरमुख्योऽसि किमन्यतो वैलक्षण्यमासां पश्यसीति तत्राह—या दुस्त्यजमिति। परमनिरुपाधित्वं प्रेम्ण उक्तम्। अन्यत्र रुक्मिण्यादिषु प्रेम्णि लोकधर्मावप्युपाधी इतिन तासां पादरजः प्रार्थितवान् उद्धव इति॥३१॥

मायाकलिततादृक्स्त्रीशीलनेनानसूयुभिः ।
न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ शङ्का होती है—अच्छी बात है, हम स्वीकार करते हैं कि रागमार्गमें निरत साधकोंके प्रति दयापरवश होकर ही श्रीकृष्णने परकीया गोपियोंके साथ रासादि विविध प्रकारकी लीलाओंका प्रकाश किया है, जैसा कि श्रीमद्भागवत १०/२९/२६ में कहा गया है; किन्तु "अस्वर्ग्यम्, अयशस्करम्" इत्यादि पदोंके बलसे परोढ़ा नायिकाओंको स्वीकार करनेपर साधारण लोगोंमें दुराचार फैलनेकी सम्भावना है और निश्चित रूपसे उनकी दुरवस्था, विरसता एवं दुर्गति होगी। इसलिए रसिकेन्द्रचूड़ामणि और स्वयं धर्मके उपदेष्टा श्रीकृष्णके विषयमें ऐसी लीलाओंके द्वारा अवश्य कलङ्क लगेगा ही। यदि कोई इस प्रकारसे सोच रहा हो तो उसके लिए समाधान है कि तुम्हारा विचार ठीक नहीं। प्रेमसौभाग्यशीला, परम पतिव्रताशिरोमणि श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियोंके साथमें उनके पति जैसे लगनेवाले गोपोंका (पूर्वोक्त नियमोंके अनुसार रसविशेषका आस्वादन करनेके लिए ही), पति और पत्नियोंका सम्बन्ध अभिनयमात्र है। यथार्थतः उन गोपरमणियों और उनके पतियोंमें किसी भी प्रकारका दैहिक-सम्बन्ध सम्भव नहीं होता। अभिसार आदिके समय योगमायाके द्वारा रचित ठीक उन गोपियोंके आकार, स्वभाव और चरित्रके समान ही छायारूप पत्नियोंके सङ्ग वे गोप भोजन इत्यादि सभी क्रियाओंको करते थे। किन्तु उनका अङ्ग-सङ्ग कभी भी नहीं होता था। योगमायाके द्वारा ऐसी व्यवस्था होनेके कारण वे गोप श्रीकृष्ण तथा अपनी पत्नियोंके विषयमें किसी भी प्रकारका दोष दर्शन नहीं करते थे॥३२॥

लोचनरोचनी—ननु भवतु भगवतो वस्तुतस्तत्पतित्वमिति न दोषः। तथाप्यन्यं पतिं मन्यसे चेत्स पुनरसंभवो जुगुप्साहेतुश्चेति कथमत्र रसावहत्वं स्यात्तत्राह—मायेति। शीलनं पाणिग्रहणादिरूपं तेन तत्ततसमयाव्यभिचारिणा व्रजदेवीनाम्। “सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः” इत्युक्तदृशा व्रजे तत्तयातिप्रसिद्धानां तासां तामेव प्रसिद्धिमवलम्ब्य यौगिकार्थपुरस्कारेण पुरसम्बन्धिनीनां रुक्मिण्यादीनामिव व्रजसम्बन्धिनीनां देवीनां तस्य पट्टराज्ञीनां पतिभिर्मायया पतितया विख्यापितै स्तैस्तैर्गोपैर्जातु कदाचिदपि न संगमः न पाणिग्रहणादिसम्बन्ध इत्यर्थः। प्रायश्चित्तार्हः परशय्यायामपि तासां सम्बन्धो नास्ति किमुत तदनर्हेण परेण पाणिग्रहणमिति भावः॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु तासां परिणेतृणां गोपानां किं समाधानं तत्राह—मायेति। अभिसारादिसमये मायाकल्पितासु तदाकारासु स्त्रीषु शीलनेन एता “अस्मद्गृहेषु वर्तन्ते” इत्यभिमानेन हेतुना असूयामकुर्वद्भिः॥३२॥

तथाहि श्रीदशमे—

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामीके वचन भी इस विषयमें प्रमाण हैं—व्रजवासीलोग श्रीकृष्णके प्रति कभी भी दोषोद्गार नहीं करते थे। श्रीकृष्णकी मायाके द्वारा रचित छाया-स्त्रीमूर्त्तिको अपने पास ही देखते थे। इसका कारण यह है कि गोपगण श्रीकृष्णकी मायासे मोहित रहते थे। इसे योगमायाका प्रभाव ही समझना चाहिए। मूल तात्पर्य यह है कि जिस समय श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियाँ रासलीला आदिमें योगदान करतीं, उस समय उनके पति योगमाया द्वारा रचित स्त्रियोंको अपने निकट देखते तथा उनके साथ भोजन आदि करते। उन्हें श्रीकृष्ण और अपनी पत्नियोंके प्रति दोषदर्शनका कोई सुयोग न था॥३३॥

लोचनरोचनी—एतदेव प्रमाणयति—तथाहीति। नासूयन्नित्यस्यायमर्थः—तस्य श्रीकृष्णस्य मायया ये स्वे स्वे दारा विवाहसमयत एव ये मायारचिताः स्वस्वदाराः तान् स्वस्वपार्श्वस्थान् मन्यमानाः जानन्तः श्रीकृष्णाय नासूयन्। तेन तासां तत्प्रेयसीनां यदा यदा तदेकव्रततालोपप्रसङ्गः स्यात्तदा तदा निजरचितांस्तत्तद्दारांस्तान् प्रति माया प्रकटयामास, तास्तु गोपयामासेति निजप्रेयसीस्वीकारलक्षणे तद्गुणे ते दोषारोपं

नाकुर्वन्नित्यर्थः। उभयासां भेदाज्ञानेऽपि तद्रचितत्वमेव हेतुरित्याह—मोहिता इति। तस्य माययेति मायायाः सदा परमसामर्थ्यं तत्परत्वञ्च दर्शितम्। ततश्च तत्प्रियाणां तासां सदैव साहाय्यं सा कुर्यादेवेति साधु व्याख्यातं शीलनं पाणिग्रहणादिरूपमिति। अस्यां तु प्रक्रियायां रसविशेषसंपादने यथा कारणं तथा दर्शितम्, दर्शयिष्यते चेति। "शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्" इति तु "अन्तर्गृहगताः काश्चित्" इत्याद्युक्तानां श्रीकृष्णं प्रति प्रस्थानायालब्धविनिर्गमाणां कासांचिदसिद्धदेहानां वृत्तम्। "दुहन्त्योऽभिययुः" इत्यादि श्रीशुकवचने खलु ययुरिति प्रस्थितवत्य इत्येवार्थः। प्रस्थान एव हि तत्तत्क्रियापरित्यागः न तु प्राप्तौ। प्राप्तिस्त्वग्रे वक्ष्यते "आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः" इति॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—मायया योगमाययैव, न तु बहिरङ्गया मायया। भगवतो धाम्नि सिद्धपरिवारेषु च तस्या अधिकाराभावात्, तन्मोहितानां भगवद्वैमुख्यस्यावश्यंभावात्तेषां गोपानान्तु भगवद्वैमुख्यमात्रादर्शनात्। ततश्च योगमायायाश्चिच्छक्तिवृत्तित्वात् तत्कार्याणामपि नित्यसत्यत्वौचित्यत्वात् सर्वमायिकप्रपञ्चनाशेऽपि तेषां पार्श्वस्थदाराणां तेषु स्वस्वभार्याभिमानस्य नित्यसत्यत्वमेव। ननु "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्" इति शुकोक्तिः। तच्च दाराणां स्वस्वपार्श्वस्थत्वमननं मायाकृततादृक्स्त्रीनिर्माणं विनापि योगमायया सुशक्यमेव। सत्यम्। रासाभिसारे "ता वार्यमाणाः पतिभिः" इत्यादौ पतिभिर्वारणम्, अस्माभिः स्वस्वभार्या निवार्य स्वस्वगृहमानीता दृश्यन्त एवेति तत्प्रकारकमेव। तच्च तादृकस्त्रीनिर्माणं विना न सम्भवेदित्यत उक्तम्—मायाकलिततादृक्स्त्रीति ग्रन्थकारचरणैरिति। एवमेव ललितमाधवोक्तेर्गोपीनां गोपैर्विवाहस्य मायिकत्वेऽपि नित्यसत्यत्वमेव ज्ञेयम्। मन्यमाना इत्यभिमानमात्रं न तु मायाकलितानामपि तासां पतिभिः संभोग इति तासां तदाकारतुल्याकाराणामन्य–सम्भुक्तत्वस्यानौचित्यात्। अतएव स्वपार्श्वस्थानिति। न तु स्वतल्पस्थानित्युक्तम्। तच्च समाधानं योगमाययैव तत्पतीनां पुंस्त्वेऽपि कामविकारानुद्भावनात्। अतएव तन्मात्रादिभिः प्रार्थितानामपि तेषां तेषां गोपानां गोपालानां गोशाला–शालिक्षेत्रादावेव शिशयिषा प्रायः, न तु स्वगृहेष्वपि स्वीयतद्भावस्य प्राकट्याभावायेति ज्ञेयम्॥३३॥

तत्र कन्यकाः—

अनूढाः कन्यकाः प्रोक्ताः सलज्जाः पितृपालिताः।
सखीकेलिषु विस्रब्धाः प्रायो मुग्धागुणान्विताः॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—कन्यका—दो प्रकारकी परकीया गोपियोंमेंसे अविवाहिता, सलज्जा, पितामाताके द्वारा पालिता, सखियोंके साथ क्रीड़ाके विषयमें निशंका एवं प्रायः मुग्धा नायिकाओंके गुणोंसे युक्त बालिकाओंको कन्यका

कहते हैं। कदाचित् कोई प्रखर स्वभावयुक्त मध्या नायिकाके लक्षणोंसे भी युक्त हो सकती हैं॥३४॥

लोचनरोचनी—सखीकेलिषु सखीभिः किंचिद्वयोधिकाभिर्नर्मपूर्वकं यद्यत्प्रवर्त्यते तत्र तत्रैव विस्रब्धाः॥३४॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र तासु परकीयासु मध्ये कन्यका लक्ष्यन्ते॥३४॥

तत्र दुर्गाव्रतपराः कन्या धन्यादयो मताः।
हरिणा पूरिताभीष्टास्तेन तास्तस्य वल्लभाः॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजमें दुर्गादेवीकी आराधना करनेवाली धन्या आदि कुमारियाँ ही कन्यका हैं। हे कुमारियो! तुम व्रजमें लौट जाओ। तुम्हारे अभीष्टकी पूर्ति होगी इत्यादि श्रीकृष्णके दिए हुए वरसे इनका मनोऽभीष्ट (श्रीकृष्णके साथ रमण) पूर्ण हुआ था। इसलिए ये भी श्रीकृष्णकी वल्लभा ही हैं॥३५॥

लोचनरोचनी—तत्र तासु कन्यकासु मध्ये दुर्गाव्रतपरा "यासु गोकुलकन्यासु" इत्यादिना दर्शिता धन्यादयः। पूरिताभीष्टाः "यात यूयं व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इति दत्तवराः। तेन तस्य वल्लभास्तस्य स्वीयात्वमेव स्वस्मिन् मन्यमाना इत्यर्थः। स्वीयायामेव वल्लभादिशब्दस्य रूढत्वात्॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र तासु कन्यकासु मध्ये धन्यादयः कन्या दुर्गाव्रतपराः, किन्तु पूर्वोक्तयुक्त्या कृष्णभार्याभिमानवतीभ्योऽन्या ज्ञेयाः, परकीयाप्रकरणमध्यपठितत्वात्। किञ्च "इति संकल्पमाचेरुर्या गोकुलकुमारिकाः" इत्यत्र 'याः' इति पदोपादानात्, मूलेऽपि "हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः" इत्युक्तेर्गोकुलस्य कुमारिका इत्यनुक्तेर्वृषभानुचन्द्रभानुव्रजकुमारिका बह्वयोऽपराः कात्यायनीव्रतमकुर्वाणा अपि स्थितास्ताश्च श्रीराधादिसङ्गिन्यः परकीया ज्ञेयाः॥३५॥

यथा—

विस्रब्धा सखि धूलिकेलिषु पटासंवीतवक्षःस्थला
बालासीति न बल्लवस्तव पिता जामातरं मृग्यति।
त्वं तु भ्रान्तविलोचनान्तमचिरादाकर्ण्य वृन्दावने
कूजन्तीं शिखिपिच्छमौलिमुरलीं सोत्कम्पमाघूर्णसि॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध-विशिष्ट कोई व्रजदेवी श्रीकृष्णके मुरलीनादसे उत्पन्न भावोंसे युक्त किसी गोपकुमारीको कह रही है—सखि! बड़े आश्चर्यकी बात है। धूलिकेलिमें ही तुम्हारा अत्यन्त आवेश देख रही हूँ। अभी तक तो तुमने वस्त्रोंके द्वारा अपने वक्षःस्थलोंको आवृत करना भी प्रारम्भ नहीं किया है। तुम्हारे माता-पिता तुम्हें अत्यन्त बालिका समझकर ही तुम्हारे लिए वर नहीं ढूँढ़ रहे हैं। किन्तु तुम हो कि वृन्दावनमें शिखिपिच्छमौलिके मुरली-निनादको श्रवणकर चपलनेत्रोंसे उत्कम्पित हो भ्रमण कर रही हो॥३६॥

लोचनरोचनी—विस्रब्धेति। ज्येष्ठभ्रातृजायावचनम्। विस्रब्धा सखीकेलिष्विति शेषः। यद्यपि धूलिकेलिष्वित्यादिकं मृग्यतीतिपर्यन्तमस्याः पूर्वावस्थामवलम्ब्य निर्दिष्टं तथापि "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति न्यायेन संगमनीयम्॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—विस्रब्धेति। ज्येष्ठभातृजायायाः लब्धकृष्णाङ्गसङ्गायाः सपरिहासवाक्यम्। धूलिकेलिषु पटासंवीतवक्षःस्थलेत्यन्वयः। तथा बाला विस्रब्धासीति व्यवहितान्वयोऽनुप्रासानुरोधात् सोढव्यः। वल्लवो विशेषपरामर्शशून्यः॥३६॥

अथ परोढाः—

गोपैर्व्यूढा अपि हरेः सदा संभोगलालसाः।
परोढा वल्लभास्तस्य व्रजनार्योऽप्रसूतिकाः॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—परोढ़ा—अग्नि, विप्र और समाजके प्रतिष्ठित व्यक्तियोंके सामने उनको साक्षी रखकर अन्य गोपोंके साथ विवाह होनेपर भी जो सदा-सर्वदा श्रीकृष्णके साथ सम्भोगके लिए लालसा रखती हैं और जिनके गर्भसे कोई सन्तान नहीं हुई है, ऐसी गोप-ललनाओंको परोढ़ा कहते हैं॥३७॥

लोचनरोचनी—परोढा इति। पूर्ववद्भ्रमानुवाद एव। अप्रसूतिका इति। सप्रसूतित्वे सति तासामालम्बनत्वं वैरूप्येण दूष्यते। ततश्च रसोऽपि दूष्यते। तत्सौरूप्यकारि सौरूप्यं ततो न्यूनप्रमाणत्वं च "मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा" इति, "तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः" इति च दृष्टान्तेन दर्श्यते। "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः" इत्यनेन ततश्च "मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः" इति श्रीकृष्णवाक्यन्तु तदीयभ्रातृपुत्रादीनपदिश्य परिहासमयमेव। वास्तवत्वे "निन्दामि च पिबामि च" इति न्यायेन दोषावहमेव स्यात्। अतएव "दुहन्त्योऽभिययुः" इत्यादौ "पाययन्त्यः शिशून्पयः" इत्येव श्रीशुकवाक्यं

न तु "पाययन्त्यः सुतान् स्तनम्" इति। क्वचित्तद्विधेषु पुत्रादिव्यपदेशो दृश्यते, यथा साम्बकृतलक्ष्मणाहरणे श्रीबलदेवमुद्दिश्य "प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान् सात्वतर्षभः। ससुतः सस्नुषः प्रागात्सुहृद्भिरभिनन्दितः" इति॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—अप्रसूतिका इति। तासां पुष्पोद्गमाभावान्नित्यविलासार्थं योगमाययैव सम्पादितत्वात्॥३७॥

यथा—

कात्यायनी कुसुमकामनया किमर्थं, कान्तारकुक्षिकुहरं कुतुकाद्गतासि।
सद्यस्तनं स्तनयुगे तव कण्टकाङ्कं, पत्युः स्वसा सखि सशङ्कमुदीक्षतेऽसौ॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—श्रीकृष्णके साथ विहार करनेके पश्चात् वृन्दावनके कुञ्जोंसे अपने घरमें लौटी हुई चन्द्रावलीके वक्षःस्थलके ऊपर सम्भोगका चिह्न देखकर उसकी ननदने आशङ्का की। उसे देखकर परम विदग्धा पद्मा छलपूर्वक चन्द्रावलीसे बोली—"तुम कात्यायनी देवीकी पूजाके लिए पुष्प चयन करने हेतु दुर्गम और बीहड़ वनोंमें क्यों गई थी? तुम्हारे स्तनोंके ऊपर सद्योजात कण्टकोंके चिह्नोंको देखकर तुम्हारी ननद भी आशङ्काकी दृष्टिसे तुम्हें बार-बार देख रही है॥३८॥

लोचनरोचनी—यथा—कात्यायनीति। परिहासवचनत्वात् सद्यस्तनमित्यादिकं सहचर्या स्वयं वितर्क्य दूरस्थितापि पत्युः स्वसा सशङ्कमुदीक्षत इति मिथ्यैवोक्तम्। तच्च सत्कुलकन्यानां तासां स्तनाद्युद्घाटनासम्भवादेव॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—कात्यायनीति। श्रीचन्द्रावलीं प्रति पद्मावाक्यम्। सद्यस्तनं सद्योभवं कण्टकाङ्कं कण्टकक्षतचिह्नम्॥३८॥

एताः सर्वातिशायिन्यः शोभासाद्गुण्यवैभवैः।
रमादिभ्योऽप्युरुप्रेममाधुर्यभरभूषिताः ॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—ये परोढ़ा व्रजदेवियाँ शोभा, सद्गुणों और वैभवमें सबसे श्रेष्ठ हैं। अर्थात् परकीया कन्याओंसे भी ये श्रेष्ठ हैं और साक्षात् लक्ष्मीसे भी अधिक बढ़कर महाप्रेम-माधुर्यके द्वारा विभूषित हैं॥३९॥

लोचनरोचनी—अथ तासां तदनन्ययोग्यत्वं तन्नित्यप्रेयसीत्वं च दर्शयन् पूर्वोक्तं मायामात्रव्यञ्जितान्यथात्वमेव द्रढयति—तथा चेति॥३९॥

तथा श्रीदशमे (भा. १०/४७/६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ–
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—यथा, उद्धवने कहा—"अहो! हमलोग अतिशय क्षुद्र हैं; हमारी बात तो दूर हैं, एकान्त रतिशीला श्रीलक्ष्मीदेवी भी श्रीकृष्णके द्वारा ऐसे प्रसादको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकी।" यहाँपर प्रसाद कहनेसे सुखमय मनःप्रकाशको ही समझना चाहिए। यदि लक्ष्मीका ही ऐसा सौभाग्य नहीं हुआ, तब सुवर्ण–पद्मकी भाँति सुगन्ध और कान्ति–विशिष्ट अन्यान्य वैकुण्ठपुर वासिनी भू, लीला इत्यादि परम विशिष्ट नारियोंकी तो बात ही क्या है? वे भी ऐसे प्रसादको निश्चित रूपमें ही प्राप्त नहीं कर सकीं। इसलिए इस विषयमें प्राकृत स्वर्ग–स्थित नारियोंका प्रसङ्ग ही नहीं उठता। उस प्रसादको व्यक्त कर रहे हैं—रासोत्सवमें (स्वयं लक्ष्मीके लिए भी अलभ्य, परम रागमय होनेके कारण सर्वचमत्कारकारक अद्भुत केलिसमूहके द्वारा) साक्षात् मन्मथमन्मथ, लक्ष्मीजीके लिए भी दुर्लभ अद्भुत सौन्दर्य और लावण्ययुक्त श्रीकृष्णकी युगल भुजाओंके द्वारा परम आसक्तिसे गृहीतकण्ठा (आलिङ्गिता) व्रजसुन्दरियोंको जैसा आनन्द उत्सव लाभ हुआ था अर्थात् व्रजसुन्दरियोंने जिस उन्नत उच्चकोटिके आनन्दोत्सवको प्राप्त किया था, वह लक्ष्मीदेवीके लिए भी दुर्लभ ही है। 'श्री–परिभव' वाक्यके द्वारा तथा 'व्रजसुन्दरीणाम्'—उक्तिके द्वारा यह व्यञ्जित हो रहा है कि उनका सौन्दर्य और सौभाग्य श्रीलक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा अधिक था, जो श्रीकृष्णने परम आसक्तिसे उनके गलेमें दोनों हाथोंको डालकर मन–ही–मन यह प्रार्थना की कि तुम मुझे छोड़कर कहीं मत जाना॥४०॥

लोचनरोचनी—नायं श्रियोऽङ्ग इति। अतः पूर्वं "एताः परं तनुभृतः" इत्यनेन मुमुक्षुमुक्तभक्तेभ्यस्तासां भावमाहात्म्यं दर्शितम्। तत्र "क्वेमाः स्त्रियः" इत्यनेन हेतुविन्यासः कृतः॥ यस्मादतः खलु उपक्रमोपसंहारयोरस्य श्रीमदुद्धवस्य स्तोतुस्तासु महाभक्तेरेव दर्शनादत्रैव परमात्मनीति विशेषणदानेन गोपीनां तत्पतीनां चेति

तव्यभिचारिता खण्डनया "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इत्यनेन श्रीकृष्णमात्रार्थलोकधर्मपरित्यागस्य निर्देक्ष्यमाणत्वेन तासां सदाचारस्यानुक्रम-प्राप्ततादर्शनादर्थान्तरं तु न संभवति। किं त्वयमेवार्थः—इमा वनचर्यः श्रीवृन्दावनगताः स्त्रियः श्रीराधाद्याः क्व, एतादृश-गाढ-तदासक्त्यभावाव्यभिचारदुष्टाः सर्वा अप्यन्याः क्व। अत एवासु रूढभावाख्यो महाभावो वर्तते न त्वन्यासु। श्रीमान्मदीश्वरस्तु अविदुषस्तन्महिमादिकमननुभवतोऽपि साक्षाच्छ्रेयः सर्वश्रेष्ठं कुशलं तनोति, तेभ्यो विस्तार्य ददातीत्यर्थः। आसां तु "गोप्यस्तपः किमचरन्" इत्यादि दिशा परममहिमस्वभावं तदीयरूपमनुभवन्तीनां "ता मन्मनस्का मत्प्राणाः" इत्यादि दिशा आत्मात्मीयधारणं तदाशया कुर्वतीनामृण्येव स इति भावः। अथ तत्तदप्याक्षिप्याह—नायं श्रिय इति। उ विस्मये। अङ्गे श्रीवैकुण्ठनाथस्य वक्षसि वर्तमानाया अपि नितान्तरतेरपि श्रीत्वेन प्रसिद्धायास्तत्प्रेयस्या नायं प्रसादः शोभासाद्गुण्यवैभवप्रेममाधुर्याणामौज्ज्वल्यं नास्तीति तादृश्याः श्रियोऽपि सन् चेत्तर्हि स्वर्योषितां वैकुण्ठस्थितानां नलिनस्य तत्रत्यस्वर्णकमलस्येव गन्धो रुक् च कान्तिर्यासां तासां तदुपलक्षितसर्वाश्चर्यगुणानां सुतरां नास्तीति। तदेवं सति कुतोऽन्याः। अन्याः सर्वा अपि नारीजातयो दूरत एव परास्ता इत्यर्थः। न चायं तासु प्रसादः सदास्त्येव, निमित्तं प्राप्य तु प्रकटीभवतीत्याह—रासेति। अस्य तासां समीपे मादृशीव स्फुरतः श्रीगोविन्दस्य भुजदण्डेन गृहीतः कण्ठो यासां ताश्च लब्धाशिषश्च तासां तादृशीनां सतीनां य उदगान्नित्यमेव सन् प्रकटो बभूवेति। तदेवं तासां सर्वतो विलक्षणत्वे प्राप्ते सर्वविलक्षणस्यैव श्रीकृष्णस्य नित्यप्रियात्वं प्रतिपद्यते। ततश्च सर्वतो विलक्षणत्वाद् अन्यथा श्रीकृष्णस्य परमभगवत्त्वं तथा तासामपि परमलक्ष्मीत्वम्। ततो युक्त एवान्यलक्ष्मीजय इति भावः। ततो यास्तु साधकमुनिचर्यादयो वक्ष्यन्ते ताः पुनरत्र गौणत्वेन नोट्टङ्किता इति ज्ञेयम्॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—'उ' इति। विस्मये। अङ्गे वैकुण्ठनाथस्य वक्षसि वर्तमानाया अपि नितान्तरतेरपि श्रियो महालक्ष्म्या अपि नायं प्रसादः, स्वर्योषितां सुतरां नास्ति। अन्या युवतिजातयः कुतः? दूरत एव परास्ता इत्यर्थः। अत्र 'अङ्ग' इति पदेन शोभासाद्गुण्यप्रेमप्रणयमाधुर्याणि श्रीलक्ष्म्याः सर्वतो विलक्षणानि सूचितानि। तानि विना विदग्धशिरोमणिना श्रीनारायणेन तस्याः स्ववक्षसि धारणायोगात्। नितान्तरतेरित्यनेन सौन्दर्यसौरभ्यसौस्वर्यसौकुमार्यसौरस्यवैदग्ध्यादीनि—तेषामेव नयनादिभिरिन्द्रियैः संभुक्तत्वे रतित्वसिद्धेः। तत्रापि नितान्तेत्यनेनातिलावण्यमाधुर्योपाधिकानि सौभाग्यानि तानि विना रतेर्नितान्तत्वासंभवात्। नलिनगन्धरुचामित्यनेन पुनरपि सौरभ्यसौन्दर्यसौकुमार्यादीनि पिष्टपेषणतयोक्तानि स्पष्टत्वार्थम्॥४०॥

तास्त्रिधा साधनपरा देव्यो नित्यप्रियास्तथा॥४१॥

तत्र साधनपराः—

स्युर्यौथिक्यस्त्वयौथिक्य इति तत्रादिमा द्विधा ॥४२॥

तत्र यौथिक्यः—

यौथिक्यस्तत्र संभूय गणशः साधने रताः।
द्विविधास्तास्तु मुनयस्तथोपनिषदो मताः ॥४३॥

तत्र मुनयः—

गोपालोपासकाः पूर्वमप्राप्ताभीष्टसिद्धयः।
चिरादुद्बुद्धरतयो रामसौन्दर्यवीक्षया ॥४४॥

मुनयस्तन्निजाभीष्टसिद्धिसम्पादने रताः।
लब्धभावा व्रजे गोप्यो जाताः पाद्म इतीरितम् ॥४५॥

कथाप्यन्या किल वृहद्वामने चेति विश्रुतिः।
सिद्धिं कतिचिदेवासां रासारम्भे प्रपेदिरे।
इति केचित्प्रभाषन्ते प्रकटार्थानुसारिणः ॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—ये परोढ़ा नायिकाएँ तीन प्रकारकी होती हैं—साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया। उनमेंसे साधनपरा पुनः दो प्रकारकी होती हैं—यौथिकी और अयौथिकी। यौथिकी कहनेसे स्वजातीय वर्गका बोध होता है। ये अपने-अपने गणोंके साथ साधन करती हैं। यौथिकी भी दो प्रकारकी होती हैं—मुनिचरी और श्रुतिचरी। मुनिचरी गोपियोंके सम्बन्धमें पद्मपुराणमें कहा गया है कि दण्डकारण्यवासी कतिपय मुनि बहुत पहलेसे ही गोपालदेवकी उपासना कर रहे थे, किन्तु सिद्धि लाभ नहीं कर पाए थे। बहुत दिनोंके बाद भगवान् श्रीरामचन्द्र जब लक्ष्मण और सीताजीके साथ दण्डकारण्यमें पधारे, उस समय रामका अनुपम सौन्दर्य दर्शन करके उन मुनियोंकी श्रीकृष्णसम्बन्धी रति और सीताजीके अद्भुत सौन्दर्यराशिका दर्शनकर गोपी-विषयनी रति उनके हृदयमें अत्यन्त प्रबल रूपमें उदित हुई। अनन्तर वे मुनि अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए विशेष रूपसे तत्पर हुए, जिससे कुछ ही दिनोंमें उनके भावकी सिद्धि हुई। तत्पश्चात् प्रकटलीलामें गोपियोंके गर्भसे गोपीरूपमें उत्पन्न हुए।

दूसरी कथा बृहद्वामनपुराणमें इस प्रकारसे कही गई है—रासके आरम्भमें कोई-कोई साधनसिद्धा गोपी नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्गसे श्रीकृष्णके साथ सम्भोग योग्य देहको प्राप्त हुई और कोई-कोई अपने पतियोंके द्वारा घरमें अवरुद्ध हो जानेके कारण उस विषयसे वञ्चित हुई। उनके वञ्चित होनेका कारण उनको प्राप्त-सन्तानें और पतियोंके साथ उनका सम्भोग था। ऐसी गोपियाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें सम्मिलित होने या श्रीकृष्णकी सहचरी होनेका सुयोग प्राप्त नहीं कर सकीं॥४१-४६॥

लोचनरोचनी—तत्र मुनय इति। पाद्मोत्तरखण्डे खल्विदमुक्तम्—"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥" इति। अस्यार्थः—रामं दृष्ट्वा केनाप्यंशेन सादृश्यादुद्दीप्तश्रीकृष्णविषयकप्राचीनभावाः सन्तस्ततोऽपि सुन्दरविग्रहं हरिं श्रीकृष्णमेवोपभोक्तुमैच्छन् मनसा वरयामासुः। ततश्च कल्पवृक्षस्येव तस्य साक्षात् किञ्चिदप्यनुक्तवतोऽपि प्रसादात्ते सर्वे कासांचिदन्यत्रत्यगोपीनां गर्भगततया स्त्रीत्वमापन्नास्तद्गर्भवतीषु तासु कथंचिच्छ्रीमन्नन्दगोकुलमागतासु तत्र ताः समुद्भूता जाताः। ततश्च ताः कामेन जारबुद्धिमयेनापि महानुरागेण हरिं पूर्वपठितहरिशब्दोक्तं श्रीकृष्णमेव संप्राप्य निजान्तर्गृह एव प्रकटं लब्ध्वा भवार्णवान्मुक्ताः प्राकृतगुणमयं देहं परित्यज्याप्राकृतगुणमयदेहेन तत्संगिन्यो बभूवुरिति। तदुक्तमन्तर्गृहगताः काश्चिदिति मध्ये व्यवधानं त्विदं तासामुत्कण्ठावर्धनार्थया प्रारब्धरक्षयेति गम्यते॥४३॥

तदेतदाह—गोपालेति॥४४॥

कथापीत्यत्र विश्रुतिरेतद्रीतिकैव मुन्यन्तर्गता ज्ञेया। आसां मध्ये कतिचिदिति पाद्मोत्तरखण्डोक्ता इत्यर्थः। केचिदिति श्रेष्ठा इत्यर्थः। न परिलसन्ति केचिदपवर्गमपीतिवत् प्रकटार्थानुसारिण इति पुराणद्वयोक्तानां प्रकर्षेण भाषन्त इति च तन्मतमेव सर्वप्रतीति विषय इति मतम्। तदा आस्तामर्थान्तरान्वेषणमिति भावः॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—यूथे भवा यौथिक्यः। संभूय मिलित्वा साधने निरताः। किन्तु गणशः गणेन गणेन गणेनेति अवान्तरगणा अपि बहवस्तत्र यूथे तिष्ठन्तीत्यर्थः। मुनय इति। पाद्मोत्तरखण्डे यथा "पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्टा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥" इति। अनयोर्व्याख्या च श्रीजीवगोस्वामिचरणैः—रामं दृष्ट्वा केनाप्यंशेन सादृश्यादुद्दीप्तश्रीकृष्णविषयकप्राचीनभावाः सन्तस्ततोऽपि सुन्दरविग्रहं हरिं भोक्तुमैच्छन्मनसा वरयामासुः। ततश्च कल्पवृक्षस्येव तस्य साक्षात् किञ्चिदनुक्तवतोऽपि प्रसादात्ते सर्वे कासांचिदन्यत्रत्यगोपीनां गर्भगततया स्त्रीत्वमापन्नास्तद्गर्भवतीषु

तासु कथंचिच्छ्रीमन्नन्दगोकुलमागतासु तत्र समुद्भूता जाताः। ततश्च ताः कामेन जारबुद्धिमयेनापि महानुरागेण हरिं पूर्वपठितहरिशब्दोक्तं श्रीकृष्णमेव संप्राप्य निजान्तर्गृह एव प्रकटं लब्ध्वा भवार्णवान्मुक्ताः, प्राकृतगुणमयं देहं परित्यज्याप्राकृतगुणमयदेहेन तत्सङ्गिन्यो बभूवुरित्येषा। अत्र रामदर्शनेनोद्बुद्धा कृष्णविषयिणी रतिरिति सीतासंदर्शनेन गोपीविषयिणी भक्तिरपि लक्षणानुगतिदर्शनेनानुग्यं च स्मृतमिति तेषां रागानुगा एव भक्तिरनुगन्तव्या, यां विना गोपीत्वप्राप्त्यभावो व्याख्यास्यते॥४३॥

इति विश्रुतिः एवंप्रकारख्यातिका कथा। सिद्धिं चिन्मयदेहतया श्रीकृष्णसंभोगयोग्यरूपाम्। प्रकटार्थं अन्तर्गृहगताः काश्चिदित्यस्य प्रथमप्रतीतमर्थमनुसर्तुं शीलं येषां ते। इत्यप्रकटोऽपि अन्योऽर्थस्तत्पद्यस्य वैष्णवतोषिण्यादिव्याख्यातो वर्तत इति स तत्र तत्रैव द्रष्ट्व्यो विस्तरभयादत्र न लिखित इति॥४६॥

अथोपनिषदः—

समन्तात्सूक्ष्मदर्शिन्यो महोपनिषदोऽखिलाः।
गोपीनां वीक्ष्य सौभाग्यमसमोर्ध्वं सुविस्मिताः॥४७॥

तपांसि श्रद्धया कृत्वा प्रेमाढ्या जज्ञिरे व्रजे।
वल्लव्य इति पौराणी तथौपनिषदी प्रथा॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—उपनिषदचरी—उपनिषदोंमें वे महामहोपनिषदसमूह जो अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी थे, उन्होंने गोपियोंके असमोर्द्ध्व भाग्यका दर्शनकर महाविस्मित हो, श्रद्धाके साथ उन गोपियोंके भावोंकी प्राप्तिके लिए बड़ी कठोर आराधनाकर व्रजमें प्रेमसम्पदयुक्ता गोपीके रूपमें जन्म ग्रहण किया। बृहद्वामनपुराण, पद्मपुराण तथा श्रीमद्भागवतके श्रुति–स्तवमें ऐसा ही कहा गया है॥४७–४८॥

लोचनरोचनी—पौराणीति। बृहद्वामनरीतिमयीत्यर्थः। तथा च तत्र नित्यं वृन्दावनगतं श्रीकृष्णं प्रति तासां प्रार्थना—"कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम्। यथा तल्लोकवासिन्यः कामतत्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा" इति। तत्र श्रीकृष्णवाक्यम्—"दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक्सत्यो भवितुमर्हति" इति। तथा पाद्मे सृष्टिखण्डे गायत्री च गोपीत्वं प्राप्य श्रीकृष्णं प्राप्तवतीत्याख्यायते। यथा—गोपकन्यारूपतया जाताया स्तस्या ब्रह्मणा परिणये तत्पित्रादिगोपेषु श्रीभगवद्वरः—"मया ज्ञात्वा ततः कन्या दत्ता चैषा विरिञ्चये। युष्माकं तु कुले चाहं देवकार्यार्थसिद्धये। अवतारं करिष्यामि मत्कान्ता तु भविष्यति" इति। औपनिषदी

“स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः” इति श्रुतिस्तवप्रसिद्ध–स्योपनिषद्विशेषस्य मतेन गम्या॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—पौराणी—बृहद्वामनोक्ता। सा च यथा—“कंदर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम्। यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा” इति। तासामुपनिषदां प्रार्थनानन्तरं श्रीकृष्णवाक्यम्—“दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक्सत्यो भवितुमर्हति” इति। तथा पाद्मे सृष्टिखण्डे। गायत्री च गोपीत्वं प्राप्तेत्याख्यायते। यथा गोपकन्यारूपतया जातायास्तस्या ब्रह्मणा परिणये तत्पित्रादिगोपेषु भगवद्वरः “युष्माकं तु कुले चाहं देवकार्यार्थसिद्धये। अवतारं करिष्यामि मत्कान्ता तु भविष्यति” इति॥ औपनिषदी—“स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः” इति श्रुतिस्तत्र प्रसिद्धानामुपनिषद्विशेषाणां मतेन गम्या। किंचात्र यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथेत्यनेन समा इत्यनेन च तासां रागानुगा भक्तिर्द्योतिता। तदनन्तरम्—“जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्। मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ” इति भगवद्दत्तेन तासु वरेण तल्लोकवासिनीनां नित्यसिद्धानामपि जारभाव एवावसीयते। यथेति तासां प्रार्थनात्, प्रार्थितप्रतिकूलार्थदानानौचित्यात्। ततश्च नित्यसिद्धानां जारभावमय्येव रागात्मिका भक्तिः श्रुतिचरीणां तदनुगामिनी एव। यदुक्तम्—“रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते” इति। उरगेन्द्रेत्यनन्तरं वयमपीत्यपिकारेण स्वेभ्योऽपि तासामादृतत्वव्यञ्जनया स्वेषां तदानुग्यं च दर्शितं यदेव विना रागानुगात्वासिध्या चिरं तप्ततपसोऽपि लक्ष्म्या गोपीत्वप्राप्त्यभावः। “श्रीः प्रेक्ष्य कृष्णसौन्दर्यं तत्र लुब्धाचरत्तपः।” इत्यादिना श्रीसंक्षेपभागवतामृते स्पष्टमुक्तम्। “यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः” इति “नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः” इत्याभ्यां तदर्थतपश्चरणतत्प्राप्त्यभावौ श्रीभागवतेऽपि व्यक्तौ। दण्डकारण्यवासिमुनीनां च गोपीत्वप्राप्त्या फलेन फलकारणमनुमीयते इति गोपालोपासकानां रागानुगैव तादृशसाधुसंगवशादनुमेया॥४८॥

अथायौथिक्यः—

तद्भावबद्धरागा ये जनास्ते साधने रताः।
तद्योग्यमनुरागौघं प्राप्योत्कण्ठानुसारतः॥४९॥

ता एकशोऽथवा द्वित्राः काले काले व्रजेऽभवन्।
प्राचीनाश्च नवाश्च स्युरयौथिक्यस्ततो द्विधा॥५०॥

नित्यप्रियाभिः सालोक्यं प्राचीनाश्चिरमागताः।
व्रजे जाता नवास्त्वेता मर्त्यामर्त्यादियोनितः ॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—अयौथिकी—जो महासौभाग्यवान व्यक्ति गोपीभावको प्राप्त करनेके लिए लुब्ध होकर साधनमें प्रवृत्त होते हैं तथा उत्कण्ठाके अनुसार रागानुगीय भजनमें प्रचुरतर आवेशको प्राप्त होते हैं, वे ही समय-समयपर एक, दो या तीन एकसाथ व्रजमें गोपीगर्भसे गोपीके रूपमें जन्म ग्रहण करते हैं। ये गोपियाँ या अयौथिकीगण दो प्रकारकी होती हैं—प्राचीना और नवीना। उनमेंसे प्राचीना अयौथिकीगण नित्यप्रिया गोपियोंके साथ बहुत दिन पहले ही सालोक्य प्राप्त की हुई होती हैं। नवीनागण मनुष्य, देव और गन्धर्व इत्यादि जन्मोंके अनन्तर अथवा मानवी या हरिणी प्रभृति योनियोंमें व्रजमण्डलमें जन्म ग्रहण करती हैं॥४९-५१॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुरागौघं रागानुगीयभजनौत्कट्यं न त्वनुरागस्थायिनं साधकदेहेऽनुरागोत्पत्त्यसम्भवात्। प्राचीनाः पूर्वपूर्वकल्पगतकृष्णावतारप्राप्तसिद्धयः। न वा, एतत्कल्पगतकृष्णावतार एव सिद्धाः। चिरमागता इति। एतत्कल्पगतावतारात् पूर्वपूर्वकल्प एव सिद्धा अधुनातनकल्पेऽप्यनुवर्तन्ते भाविषु कल्पष्वेनुवर्तिष्यन्ते च मर्त्यामर्त्यादियोनितो मनुष्य-देव-गन्धर्वादिजन्मान्तरमित्यर्थः। यद्वा मर्त्या मानुष्यः अमर्त्या हरिण्याद्याः "हिरण्याङ्गी हरिद्वर्णा हरिणीगर्भसम्भवा" इति बृहद्गणोद्देशदीपिकोक्तेः। एवमेव द्वैविध्यं यौथिकीनामपि केचिदाचक्षते—भाविनि श्रीरामावतारे रामसौन्दर्यदर्शित्वेन प्रसिद्धानां दण्डकारण्यवासिनां गोपालोपासकानां मुनीनामवश्यम्भावित्वात्। न चैतत् कल्पवृत्तरामावतारगता एव ते मुनयो भाविन्यपि रामावतारे भवितुमर्हन्तीति वाच्यम्। एतत्कल्पवृत्त श्रीकृष्णावतार एव तेषां प्राप्तगोपिकारूपत्वेन सिद्धत्वात्सिद्धानां पुनः साधकत्वायोगात्। न च मैवं भविष्यन्ति मुनय इति वाच्यम्। भाविनि कृष्णावतारे रासारम्भे अन्तर्गृहगतानां कृष्णविरहेण देहत्यागवतीनां गोपीनाम् अवश्यम्भावित्वात्। तास्तर्हि का भविष्यन्ति? एतत्कल्पवृत्तमुनिचर्य एवेति चेन्न, तासां सिद्धदेहत्वेन पुनर्देहत्यागायोगात्। योगमाया एव देहत्यागं प्रत्याययतीति चेन्न, सिद्धा अपि देहं तत्यजुरिति प्रसिद्धेरपि जुगुप्सितत्वेन तया तत्करणायोगात्। तस्मात् साधकभक्तानामनन्तत्वात् प्रतिकल्प एव ते मुनयोऽन्येऽन्ये एव भवन्ति। त एव कृष्णावतारे नवीना मुनिचर्यो गोप्यः, तासामेव काश्चिदन्तर्गृहगता देहं त्यजन्तीति। एवमुपनिषदामप्यानन्त्यात् प्रतिकल्पमन्यासामेव कृतसाधनानां सिद्धत्वे प्राचीना नवीना इति भेदद्वयमिति।

यौथिकीनां भेदद्वयममन्यमाना अन्ये तु भाविनि कृष्णावतारे अयौथिक्य एव काश्चन सिद्धदेशीया लीलाशक्त्यैवान्तर्गृहगता देहत्यागवत्यः करिष्यन्त इत्याहुः।

ननु ये इदानीन्तना रागानुगीयसाधनवन्तो निष्ठारुच्यासक्त्यादिकक्षारूढतया कस्मिंश्चिज्जन्मनि यदि जातप्रेमाणः स्युस्ते तर्हि भगवत्साक्षात्सेवायोग्यास्तद्देहान्तक्षण एव प्रपञ्चागोचरप्रकाशे तत्परिकरपदवीं प्राप्स्यन्ति किंवा प्रपञ्चगोचरकृष्णावतारसमये। अत्रोच्यते—साधकदेहे प्रेमपरिणामरूपाणां स्नेहमानप्रणयादीनां स्थायिभावानामाविर्भावासंभवाद् गोपिकादेहेष्वेव नित्यसिद्धादिगोपीनां महाभाववतीनां सङ्गमहिम्ना दर्शनश्रवणस्मरणगुण–कीर्तनादिभिस्ते अवश्यमेवोपपद्यन्ते, तेषामेवासाधारणलक्षणत्वात्, तान् विना गोपीत्वस्यासिद्धेः। यदुक्तम्—"गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने। क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्" इति। अस्यार्थः—ननु गोप्यस्तावत् कास्तत्राह यासां येन कृष्णेन विना क्षणं युगशतमिवाभवत् ता गोप्यस्तासामेव परमानन्द इति। "त्रुटिर्युगायते" इत्यादि चात्र क्षणस्य युगशतायमानत्वं महाभावलक्षणमिति। अतएव प्रपञ्चागोचरस्य वृन्दावनीयस्य प्रकाशस्य साधकानां प्रापञ्चिकलोकानां च तत्र प्रवेशादर्शनेन सिद्धानामेव प्रवेशदर्शनेन च ज्ञापितत्वात् केवलसिद्धभूमित्वात् स्नेहादयो भावाः स्वस्वसाधनैरपि न तूर्णं फलन्त्यतो योगमायया जातप्रेमाणो भक्तास्ते प्रपञ्चगोचरे वृन्दावनस्य प्रकाश एव श्रीकृष्णावतारसमये तत्–प्रथमप्रापणार्थं लीयन्ते। तस्य साधकानां नानाविधकर्मिप्रभृतिप्रापञ्चिकलोकानां च सिद्धानां च तत्र प्रवेशदर्शनेनानुमितात् साधकसिद्धभूमित्वात्तत्रौत्पत्त्यनन्तरमेव श्रीकृष्णाङ्गसङ्गात् पूर्वमेव तत्तद्भावसिद्ध्यर्थमिति। नन्वेतावन्तं दीर्घतमं दुष्पारं कालं तैः परमोत्कण्ठैर्भक्तैः क्व स्थातव्यम्। उच्यते—नात्र कालविलम्बलेशोऽपि, ब्रह्माण्डानामानन्त्यात्, प्रकटलीलाया अपि विच्छेदाभावात् ते तत्क्षण एव तत्रैव वृन्दावन एव गोपिकारूपेणोत्पद्यन्ते। किन्तु येष्वेव ब्रह्माण्डेषु तदानीं वृन्दावनीयलीलायां प्राकट्यं तेष्वेव ते गोपिकारूपेणोत्पद्यन्त इति। अत्र क्रमः—रागानुगीय सम्यक्साधननिरतायोत्पन्नप्रेम्णे भक्ताय चिरसमयविधृतसाक्षात्सेवाभिलाष–महौत्कण्ठ्याय कृपया भगवता सपरिकरस्वदर्शनं तदभिलषणीयसेवा–प्राप्त्यनुभावकमलब्धस्नेहादिप्रेमभेदायापि साधकदेहेऽपि स्वप्नेऽपि साक्षादपि सकृद्दीयत एव। ततश्च श्रीनारदायेव चिदानन्दमयी गोपिकाकारा तद्भावभाविता तनुश्च दीयते। ततश्च वृन्दावनीयप्रकटप्रकाशे कृष्णपरिकरप्रादुर्भावसमये सैव तनु र्योगमायया गोपिकागर्भादुद्भाव्यते, उक्तन्यायेन स्नेहादिप्रेमभेदसिद्ध्यर्थम्। किञ्च, नरलीलस्य कृष्णस्य गोपिकाभिरपि नरजातिभिरेव क्रीडा प्रसिद्धा। तच्च मुख्यं नरत्वमयोनिजत्वे सति न सिद्ध्येदित्यत एव लक्ष्म्या गोपिकात्वे अङ्गीकृतेऽपि गोपीगर्भोत्पन्नस्य गोपीजनानुगात्वस्य चानङ्गीकृतत्वात्तया सह न श्रीकृष्णस्य क्रीडेति तत्त्वं ज्ञेयम्॥४९–५१॥

अथ देव्यः—

देवेष्वंशेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये।
नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः॥५२॥

तत्र देवावतरणे जनित्वा गोपकन्यकाः।
ता अंशिनीनामेवासां प्राणसख्योऽभवन्व्रजे॥५३॥

अथ नित्यप्रियाः—

राधाचन्द्रावलीमुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया व्रजे।
कृष्णवन्नित्यसौन्दर्यवैदग्ध्यादिगुणाश्रयाः ॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—देवियाँ—श्रीकृष्ण जब अपने अंशसे देवयोनिमें अवतरण करते हैं, तब उनके प्रीतिविधानके लिए नित्य कान्ताओंका अंश भी देवीके रूपमें प्रकट होता हैं। वे ही अब व्रजमें श्रीकृष्ण अवतारके समय गोपकन्याएँ होकर अपनी अंशी नित्यप्रियाओंकी नित्यसखी होती हैं॥५२–५३॥

व्रजमें श्रीराधा और चन्द्रावली ही सारी नित्यप्रियाओंमें मुख्या हैं। ये भी श्रीकृष्णके समान ही नित्य सौन्दर्य और वैदग्ध्य आदि सद्गुणोंकी आश्रय हैं॥५४॥

लोचनरोचनी—देवेष्वंशेनेति। "तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः" इति व्याख्याय प्रमितमेव॥५२॥

तदेवमुपनिषदादीनां तदेकपतित्वे सम्भाव्ये नित्यप्रियाणां मायां विना स कथमुपपतिः स्यात्। न हि या अनादित एव यस्य प्रिया सा तस्य परकीया भवतीत्यभिप्रेत्याह—अथ नित्यप्रिया इति॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—देवेषु मन्वन्तरावतारत्वेन जातस्य। नन्वंशिनीनामासां प्राणसख्योऽभवन्निति नोपपद्यते? ये हि यदंशा भवन्ति ते तत्र प्रविशन्त्येव, द्रोणधराद्यंशिषु नन्दादिषु तेषां तथैव दर्शनात्। सत्यम्। नित्यप्रियाणामंशेषु देवादिलोकस्थेषु त्रिविधा रीतिर्दृश्यते। तत्र केचिन्नारदादिमुखादाकर्णितकृष्णतत्तल्लीलाभक्ता भवन्ति। भक्ताश्च त्रिविधाः स्ववासनानुसारेण तल्लीलापरिकराणां शुद्धानुगति-मन्तोऽहंग्रहोपासनामयानुगतिमन्तोऽननुगतिमन्तश्च। तत्राद्याः केचिद्देवाः श्रीदामसुबलादीनां प्रियसखाः, काश्चिद्देव्यश्च श्रीराधादीनां प्राणसख्यः तथा नन्दयशोदादीनामपि सखायः

सख्यश्चाभवन्। द्वितीयास्तेषु तासु च प्राविशन्। द्रोणधरावस्वादयो यथा नन्दयशोदोद्धवादिषु तथा ऋषयोऽपि केचित् गोवत्सेषु वृन्दावनीयपक्षिषु च। तृतीयास्तु तत्र प्रादुर्भावाभावेनालब्धमनोरथा एव बभूवुर्यथा लक्ष्म्यादय इति। तल्लीलापरिकरानुगति-मतामेव तत्प्राप्तिनियमनात्। यदुक्तम्—"नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥" इति। अस्यार्थः—देहिनां त्रिवर्गपराणां ज्ञानिनां चतुर्थवर्गपराणाम् आत्मभूतानां विरिञ्चिभवलक्ष्मीणाम्। "नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया। प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्" इत्येतस्मिन्नेतत्पूर्वश्लोके तत्त्रिकस्यैव प्रसादाप्राप्तौ प्रस्तुत्वात्। तत्र विरिञ्चिभवयोः स्वावतारत्वेन, लक्ष्म्याः स्वरूपशक्तित्वेनात्मभूतत्वम्। एवं त्रिविध जनानां गोपिकासुतो न सुखापः, किंतु विकुण्ठादि-कौशल्यादिसुत एव, गोपिकासुतस्तु दुःखाप एव। दुःखमेवाभिव्यञ्जयति। यथा इह व्रजे इह गोपिकासुते या भक्तिः "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड" इत्यादिना "यथा तल्लोकवासिन्यः" इत्यादिना च व्यञ्जिता श्रुत्यादिभिरनुगतिमयी भक्तिस्तद्वतां यथा सुखापस्तथा नेति। तेन गोपिकाद्यनुगतिमयस्वन्यूनता-दुःखाङ्गीकारेणैव लभ्यः। तद्दुःखाङ्गीकारस्तु विरिञ्चिभवलक्ष्म्यादिभिरीश्वराभिमानिभिः स्वस्वलोकस्थैर्दुःशक एवेत्यत उक्तम्—नायं श्रियोऽङ्गेति न श्रीरप्यङ्गसंश्रयेत्यादि॥५२-५४॥

तथा च ब्रह्मसंहितायाम्—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—ब्रह्मसंहितामें भी "आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि" श्लोकके द्वारा कहा गया है कि आनन्दस्वरूप और चित्-स्वरूप जो अप्राकृत रस द्वारा पृथक्-पृथक् रूपमें आविर्भूता अतएव स्वस्वरूपभूता उन अपनी शक्तियोंके साथ जो नित्यकाल अखण्ड परमात्मास्वरूप होकर वैकुण्ठके ऊपर श्रीकृष्णलोकमें एवं सर्वप्राणियोंके जीवनस्वरूप, नराकृति होकर भौमवृन्दावनमें निवास करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ। अतएव श्रीकृष्णकी प्रेयसी गोपियाँ, श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिका ही प्रकाश हैं॥५५॥

लोचनरोचनी—तत्र प्रमाणं दर्शयति—आनन्दचिन्मयेति। कलाभिः स्वांशरूपाभिः शक्तिभिः, निजरूपतया स्वीयात्वेन न त्ववतारलीलायामिव परकीयात्वाभासेनेत्यर्थः॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—आनन्देति। ब्रह्मणः स्तुतिः। श्रीकृष्णस्य यत् सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं तत्र ये आनन्दचिन्मया आनन्दानुभवमया रसास्तैः प्रतिभाविताभिस्ततः पृथक्त्वेनाविर्भाविताभिः

“ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रया” इति वैष्णवात्। यद्वा। आनन्दचिन्मयैरप्राकृतैः प्रेमरूपैरित्यर्थः। रसैः शृङ्गारैः प्रतिभाविताभिः आदौ ताभिर्भावितः पश्चात्ता अपि स्वेन भाविता भावयुक्तीकृता इति परस्परभावनिष्ठत्वं प्रतिशब्दबलाद्व्याख्यातम्। निजस्य रूपतया ताभिः स्वरूपभूताभिः शक्तिभिरित्यर्थः। “परास्य शक्तिर्बहुधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” इति श्रुतेः। “विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता” इति “ह्लादिनी सन्धिनी” इत्यादि विष्णुपुराणाच्च। कलाभिरिति करणपदं शृङ्गारोपयोगिनीभिश्चतुःषष्टि–कलाभिर्निवसति, निरन्तरं विहर्तुमित्यर्थः। अखिलात्म–भूतोऽखण्डपरमात्माकारः सन् गोलोके महावैकुण्ठोपरितने कृष्णलोके तथा प्रपञ्चान्तर्वर्तिभूलोकस्थे गोकुलेऽखिलानां सर्वेषामात्मभूतो जीवनीभूतः। मानुषाकार इत्यर्थः। गोलोकशब्दस्योभयत्रैव प्रवृत्ति दर्शनात्। यदुक्तं ब्रह्मसंहितायाम्—“गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवी महेश हरिधामसु” इत्यादिषु। तथा हरिवंशे—“गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः। स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना। धरोद्धृतिमता धीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम्” इति। रक्षित इति शेषः। गोलोकशब्दस्योभयवाचित्वेऽपि “दुरारोहा हि सा गतिः” इत्यनेन गोकुलस्योत्कर्षः सूचितः। गोलोक एवेति। एवकारो वैकुण्ठान्तर व्यावर्तकः॥५५॥

तत्र शास्त्रप्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा।
विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैब्या च भद्रिका।
तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः॥५६॥

चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा।
अनुराधा तु ललिता नैतास्तेनोदिताः पृथक्॥५७॥

लोकप्रसिद्धनाम्न्यस्तु खञ्जनाक्षी मनोरमा।
मङ्गला विमला लीला कृष्णा शारी विशारदा।
तारावली चकोराक्षी शंकरी कुंकुमादयः॥५८॥

इत्यादीनान्तु शतशो यूथानि व्रजसुभ्रुवाम्।
लक्षसंख्यास्तु कथिता यूथे यूथे वराङ्गनाः॥५९॥

सर्वा यूथाधिपा एता राधाद्याः कुंकुमान्तिमाः।
विशाखां ललितां पद्मां शैब्याञ्च प्रोह्य कीर्तिताः।
किन्तु सौभाग्यधौरेया अष्टौ राधादयो मताः॥६०॥

यूथाधिपात्वेऽप्यौचित्यं दधाना ललितादयः।
स्वेष्टाराधादिभावस्य लोभात्सख्यरुचिं दधुः ॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—भविष्योत्तरपुराण तथा स्कन्दपुराणके प्रह्लादसंहिता इत्यादि शास्त्रोंमें कथित सुप्रसिद्ध नित्य प्रेयसियाँ हैं—श्रीराधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रा, तारा, चित्रा, गोपाली, धनिष्ठा और पालिका इत्यादि। चन्द्रावलीका अन्य नाम सोमाभा है, श्रीमती राधिकाका नाम गान्धर्वा और ललिताका अन्य नाम अनुराधा है। इसलिए पृथक् रूपमें इनका नामोल्लेख नहीं किया गया है। लोकप्रसिद्ध नित्य कान्ताओंके नाम हैं—खञ्जनाक्षी, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, सारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शङ्करी, कुङ्कुम इत्यादि। इन सभीके सैकड़ों–सैकड़ों यूथ हैं। पुनः एक–एक यूथमें भी लाखों–लाखों व्रजाङ्गनाएँ हैं। ललिता, विशाखा, पद्मा, शैब्या इन चार सखियोंके अतिरिक्त श्रीराधा, कुङ्कुम तक सभी यूथेश्वरी हैं। किन्तु अधिक सौभाग्यवती होनेके कारण श्रीराधा आदि अष्ट नायिकाएँ ही प्रधान मानी गई हैं। ललिता आदि सखियाँ यूथेश्वरी होनेके योग्य होनेपर भी अपनी अभीष्ट श्रीमती राधिकाकी प्रीतिके लोभसे सख्यकी ही अभिलाषा करती हैं। ललिता और विशाखा श्रीमती राधिकाके सख्यमें तथा पद्मा और शैब्या चन्द्रावलीके सख्यमें रुचि रखती हैं॥५६–६१॥

लोचनरोचनी—तत्र शास्त्रप्रसिद्धा इति। शास्त्रं भविष्योत्तरम्, स्कान्दगतप्रह्लादसंहितादि च। तत्र पूर्वं यथा—"गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका। राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा॥" इति। दशम्यपि तारकानाम्नीत्यर्थः, दशमीत्येवैकं नाम वा। अथोत्तरम्—"ललितोवाच" इत्यादिना ललिता पद्मा भद्रा शैब्या श्यामलेति पञ्चकमधिकं प्रतिपादयद्दृश्यते॥५६॥

तत्र तासां कासांचिन्नामभेदेऽप्यभेदमाह—चन्द्रावल्येवेति। गान्धर्वा तु तापन्युक्ता दशमी, तेन हेतुना तत्र प्रमाणं युक्तिश्च श्रीवैष्णवतोषिण्यां द्रष्टव्या॥५७॥

शतशो यूथानीति। "वनिताशतयूथपः" इति प्रामाण्येन॥५९॥

यूथाधिपात्वेऽप्यौचित्यमित्यत्र युक्तिश्च वैष्णवतोषिण्यामेव दर्शितास्ति॥६१॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र शास्त्रप्रसिद्धा इति। शास्त्रं भविष्योत्तरं स्कान्दगतप्रह्लादसंहितादि च। तत्र पूर्वं यथा—"गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका। राधानुराधा

सोमाभा तारका दशमी तथा” इति। “विशाखा च धनिष्ठिका” इति क्वचित्पाठः। दशमी तथेति दशम्यपि तारकानाम्नीत्यर्थः। ‘दशमी’ इत्येकं नाम वा। अथोत्तरं ललितोवाचेत्यादिना ललिता पद्मा भद्रा शैब्या श्यामलेति पञ्चकमधिकं प्रतिपादयद्दृश्यते गोपालतापनी तु गान्धर्वेति॥५६॥

चन्द्रावल्येवेत्यत्र प्रमाणं युक्तिश्च श्रीवैष्णवतोषण्यां द्रष्टव्या॥५७॥

शतश इति लक्षसंख्या इति च उपलक्षणं सहस्रकोट्यादीनाम॥५९॥

सौभाग्यधौरेयाः सौभाग्यभारवत्यः॥६०॥

औचित्यं योग्यतां, स्वेषामिष्टोऽभिलाषविषयीभूतो यो राधादीनां भावः प्रीतिस्तस्य लोभात्, यूथाधिपात्वे श्रीराधाद्यभिसारकाले तत्र स्वस्थित्यभावेन तत्सुखदानासिद्धेः॥६१॥

॥ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

चतुर्थोऽध्यायः
अथ राधा-प्रकरणम्

तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः ॥१॥

अभूदाकुलितो रासः प्रमदाशतकोटिभिः।
पुलिने यामुने तस्मिन्नित्येषागमिकी प्रथा ॥२॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वोक्त आठ यूथेश्वरियोंमें श्रीमती राधिका और चन्द्रावली सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं। इन दोनोंके यूथोंमें कोटि-कोटि व्रजसुन्दरियाँ सम्मिलित हैं। क्रमदीपिका इत्यादि आगमग्रन्थोंमें ऐसा उल्लेख है कि यमुनापुलिनमें जो रास हुआ था, उसमें सैंकड़ों कोटि प्रमदाएँ अर्थात् सुन्दर युवतियाँ सम्मिलित थीं॥१-२॥

लोचनरोचनी—तत्रापीत्यपि तत्रैव स्थापितमस्ति। किं त्वत्रैवागामिन्या स्थायिभावप्रकरणरीत्या स्वयूथस्य श्रीराधेतरयूथस्य चापेक्षया चन्द्रावलेः श्रेष्ठत्वं मन्तव्यम्॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—आगमिकी प्रमदाशतकोटिभिराकुलिते इति क्रमदीपिकादौ तथा प्रसिद्धिः॥२॥

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥३॥

तात्पर्यानुवाद—राधाजी एवं चन्द्रावलीके बीचमें भी राधाजी ही सब प्रकारसे श्रेष्ठा हैं। श्रीराधाजी महाभाव स्वरूपिणी हैं अर्थात् उनका विग्रह ही महाभावमय है; क्योंकि वे ह्लादिनीशक्तिकी सारांश हैं एवं गुणोंमें भी अत्यन्त श्रेष्ठा हैं॥३॥

लोचनरोचनी—अत्र तासु श्रीवृन्दावनेश्वरी महाभावस्वरूपेयमिति। तथा हि ब्रह्मसंहितायाम्—"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः" इत्यनेन तासां सर्वासामपि भक्ति-रसप्रतिभावितात्त्वं गम्यते। भक्तिर्हि पूर्वग्रन्थे शुद्धसत्वविशेषात्मेत्यत्र परमानन्दरूपतया दर्शिता। तस्याश्च रसत्वापत्तिः स्थापिता। ततश्च तेनानन्दचिन्मयात्मकेन रसेन भक्तिविशेषमयेन प्रतिभाविताभिः प्रतिक्षणं नित्यमेव भाविताभिः सम्पादितसत्ताभिः कलाभिः शक्तिभिरित्यर्थः। अतएव "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इत्यनेन सर्वोत्तमसर्वगुणलक्षणाभिरिति च लभ्यते। तदेवं तासां भक्तिविशेषरसमयभक्तिरूपत्वे सति तासु सर्वासु वरीयस्यां श्रीराधायां लभ्यत एव महाभावस्वरूपता गुणैरतिवरीयस्ता च। एवमेवोक्तं बृहद्गौतमीये तन्मन्त्रस्य ऋष्यादिकथने—"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिसम्मोहिनी परा" इति च॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—महाभावेति। प्रेमभक्तिर्हि पूर्वग्रन्थे "शुद्धसत्त्वविशेषात्मा" इत्यत्र परमानन्दरूपतया दर्शिता। तस्याश्च रसत्वापत्तिः स्थापिता। अस्मिंश्च ग्रन्थे "आनन्दचिन्मय" इति ब्रह्मसंहितावचनेन गोप्य एव आनन्दचिन्मयरसत्वेन स्थापिताः। प्रेमभक्तेश्च स्नेहप्रणयाद्युत्तरः परमसारभागो महाभावः। स च स्वजनार्यपथत्यागं विना न भवतीति महाभावलक्षणे श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणानां व्याख्यानाद् रुक्मिण्यादीनां ह्लादिनीशक्तित्वेऽपि न महाभावरूपत्वं व्रजदेवीनां श्रीराधाया एवांशभूतानां महाभावांशरूपत्वेऽपि महाभावसारभूतमादनभागाभावान्न महाभावस्वरूपत्वम्। यथा नदनदीतडागादीनां जलाशयत्वेऽपि न जलधित्वम्; किन्तु समुद्रस्यैव यथा जलधित्वम्, तथैव श्रीराधाया एव महाभावत्वम्। तेषां व्याख्यानं यथा—"दुःखस्य परमकाष्ठा कुलवधूनां स्वयमपि परमसुमर्यादानां स्वजनार्यपथाभ्यां भ्रंश एव, नाग्न्यादिर्न च मरणम्। ततश्च तत्तत्कारितया प्रतीतोऽपि श्रीकृष्णसम्बन्धः सुखाय कल्पते चेत्तर्ह्येव रागस्य परमेयत्ता। ततश्च तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्पते। स चारम्भत एव व्रजदेवीष्वेव दृश्यते। पट्टमहिषीषु तु सम्भावयितुमपि न शक्यते। तदेवमेव ता एवोद्दिश्य उद्धवः सचमत्कारमाह—या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वेति॥३॥

गोपालोत्तरतापिन्यां यद्गान्धर्वेति विश्रुता।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता॥
अतस्तदीयमाहात्म्यं पाद्मे देवर्षिणोदितम्॥४॥

तथा हि—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥५॥

ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥६॥

सुष्ठु कान्तस्वरूपेयं सर्वदा वार्षभानवी।
धृतषोडशशृङ्गारा द्वादशाभरणाश्रिता॥७॥

तात्पर्यानुवाद—गोपालोत्तरतापनी उपनिषद्में जो गान्धर्वाके रूपमें कीर्त्तित हुई हैं और ऋक्परिशिष्टमें भी माधवके साथ जिनका श्रीराधाके रूपमें उल्लेख किया गया है, उनका माहात्म्य पद्मपुराणमें नारदऋषिने भी कहा है—श्रीराधा जैसे श्रीकृष्णकी सर्वथा प्रिया हैं, श्रीराधाकुण्ड भी वैसे ही (जल, स्थल, सोपान, निकुञ्ज, उद्यान, कुसुम, फल, पक्षी–काकलि (कलरव) इत्यादिमें क्रमशः स्नान, उपवेशन, शयन, विहार, दर्शन, आघ्राण, आस्वादन और श्रवणादि सम्पादनमें) सब प्रकारसे श्रीकृष्णके लिए बड़ा ही प्रीतिदायक है। समस्त गोपियोंमें केवल वे ही श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रियतमा, वल्लभा हैं। सर्वशक्तिवरीयसी जो ह्लादिनीरूपा महाशक्ति हैं, उन्हींका स्वरूप जो मादनाख्य महाभावकी पराकाष्ठा है, श्रीराधा उसके सहित तादात्म्य प्राप्त हैं। सिद्धान्त–विचारसे यही तत्त्व प्रतिष्ठित हुआ है। यही वृषभानुनन्दिनी सदा–सर्वदा सुष्ठकान्तारूपा (अतिमनोज्ञ विग्रहयुक्ता) सोलह शृङ्गारधारिणी और द्वादश आभरणयुक्ता हैं॥४–७॥

लोचनरोचनी—तस्यास्तादृशत्वं पद्मपुराणमपि श्रुतिसंमत्या द्रढयति। अत्र श्रेष्ठ्यलिङ्गेन गान्धर्वाख्यत्वमपि संगमयति—गोपालेति सार्द्धेन। यद्यस्माद्गोपालोत्तरतापिन्यां गान्धर्वेति विश्रुता, ताभ्यः सर्वाभ्योऽपि विशिष्टतया श्रुता। सर्वास्वपि तासु सैव ऋक्परिशिष्टे माधवेन सहोदिता। "राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा" इत्यनेन सर्वविलक्षणतयोक्ता। अतस्तदीयमाहात्म्यं पाद्मे देवर्षिणोदितं सर्वोत्तमतया कथितमित्यर्थः। तस्याः सर्वत आधिक्ये च सति तामधिकृत्य तत्रेतिहासान्तरन्तु तद्विभूतिरूपया तत्रैक्यावाप्त्यपेक्षया तत्रैव यथा कस्यचिदृषेः श्रीनारायणर्षित्वप्राप्तिरुक्ता तद्वत्॥४॥

ह्लादिनीति, येयं खलु विष्णुपुराणे "ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते" इति। सर्वज्ञसूक्ते च—"ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। अविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥" इति प्रसिद्धा सैव सर्वशक्तिवरीसयी। तस्याः सारो या मादनाख्या महाभावपराकाष्ठा तद्रूपा

तत्तादात्म्यमाप्ता सेयं राधेति कथिता। तन्त्रे बृहद्गौतमीयादौ प्रतिष्ठिता विख्याता तत्सारभावरूपेयमित्येव ह्यत्र पाठः॥६॥

सुष्ठ्विति। शृङ्गाराभरणयोर्भेदो रूढिवशादुदाहरणे दर्शयिष्यते॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र श्रीराधायाः श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यमाह—गोपालेति। तासां मध्ये श्रेष्ठा गान्धर्वा ह्युवाच। तां हि मुख्यां विधाय पूर्वमनु कृत्वा तूष्णीमासुरिति। ऋक्परिशिष्टे च—"राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा" इति। सैव नान्या कापीत्यर्थः। यथा राधेत्यत्र विष्णोरिति विष्णुपदेन कृष्णस्योक्तिर्व्यापकत्वरूपमर्थं व्यनक्ति "विष्लृ व्याप्तौ" इति धातोः। तत्र व्याप्तेः कर्मभूता हि प्रियापदसान्निध्यादस्मिन् शृङ्गारे रसे राधैव। ततश्च विष्णोर्व्यापकस्य राधाया आत्मबुद्धि देहेन्द्रियादिकमाश्लिष्य स्थितस्य सतः कृष्णस्य यथा राधा प्रिया तत्तदाश्लेषणोत्थायाः प्रीतेः कर्त्री, प्रापयित्रीति यावत्, तथा तस्याः कुण्डमपि विष्णोर्जलस्थलसोपाननिकुञ्जोद्यानकुसुम-फलविहङ्गमकूजितादिषु स्नानावगाहनासनशयनविहारदर्शनावघ्राणास्वादनश्रवणादिभिर्व्याप्य स्थितस्य प्रियम्। ननु तस्यान्या अपि गोप्यः प्रियाः श्रूयन्ते। सत्यम्। किन्तु सर्वगोपीषु विष्णोः प्रकटितानन्तप्रकाशत्वेन ता अपि सर्वा आश्लिष्य स्थितस्यापि तस्यात्यन्तवल्लभात्वं लक्षयतीत्यायातम्। तदपि राजायं गच्छतीतिन्यायेन तद्यूथमात्रस्यापि अत्यन्तवल्लभात्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थमाह—एका अद्वितीयेति। तेन महाभाववृत्तिविशेष मादनपर्यन्तो भावसमुदाय एवात्यन्तवल्लभः। यतो "राधिकायूथ एवायं मोदनो न तु सर्वतः" इति। तद्यूथस्य सर्वयूथेभ्य उत्कर्षमुक्त्वा "सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः। राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा" इत्यनेन तत्रापि श्रीराधायामेव सर्वोत्कर्षपरावधित्वं स्थापितम्। कुण्डस्यापि तादृशत्वमुक्तम्। "प्रेमास्मिन् बत राधिकेव लभते यस्यां सकृत् स्नानतः" इत्यादिभिरिति॥४–५॥

तन्त्रे बृहद्गौतमीयादौ प्रतिष्ठिता ख्याता॥६॥

इत्येवं सिद्धान्तं समाप्य "अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभा" इत्यालम्बनविभावेषु प्रथमं नायकस्य श्रीकृष्णस्य "पदद्युतिविनिर्धूता" इत्येकेन श्लोकेन स्वरूपमुक्त्वा "अयं सुरम्यो मधुरः" इत्यादयो गुणा यथा उक्तास्तथैव तद्वल्लभानामपि सर्वासामपि नायिकानां तथा वक्तुमौचित्येऽपि तासामानन्त्यात् तत्सर्वमुख्यायाः श्रीराधायाः "सुष्ठु कान्तस्वरूपा" इत्यादिश्लोकत्रय्या स्वरूपं निरूप्य "मधुरेयं नववया" इत्यादयो गुणा वक्ष्यन्ते। सर्वदा वार्षभानवीति। श्रीकृष्णे नन्दनन्दनत्वस्येव तस्यामपि वार्षभानवीत्वस्य सार्वदिकत्वान् नित्यसिद्धत्वं सिद्धम्॥७॥

तत्र सुष्ठुकान्तस्वरूपा यथा—

कचास्तव सुकुञ्चिता मुखमधीरदीर्घेक्षणं,
कठोरकुचभागुरः क्रशिमशालि मध्यस्थलम्।

न ते शिरसि दोर्लते करजरत्नरम्यौ करौ,
विधूनयति राधिके त्रिजगदेष रूपोत्सवः ॥८॥

तात्पर्यानुपाद—सुष्ठुकान्तास्वरूपा—ऊपरमें जो सुष्ठुकान्तास्वरूपिणी बतलाया गया है। उसका उदाहरण—श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे राधे! तुम्हारे केशकलाप अत्यन्त सुन्दर और सुकुञ्चित हैं, वदनकमल भी अत्यन्त चञ्चल अथच सुदीर्घ नेत्रोंसे युक्त है, वक्षःस्थल भी कठिन कुचोंके द्वारा सुशोभित है, मध्यदेश अत्यन्त क्षीण होनेके कारण अत्यन्त प्रशंसनीय है, तुम्हारे स्कन्ध भी झुके हुए हैं और दोनों हस्त नखरत्नोंसे अत्यन्त सुरुचिर हैं, तुम्हारा यह रूपोत्सव त्रिभुवन स्थित समस्त रमणीय सौन्दर्य आदिसे युक्त वस्तुओंके अभिमानको चूर्णविचूर्णकर प्रकम्पित कर रहा है अर्थात् समस्त सौन्दर्ययुक्त वस्तुओंको पराभूत कर रहा है॥"८॥

लोचनरोचनी—कचा इति। श्रीकृष्णवाक्यम्। शिरसीति। अर्थात् दोर्लतयोरेव शिरसि ऊर्ध्वभागे स्कन्धे इत्यर्थः। भुजशिरस्त्वेन तस्यामरकोषाभिघानात् तच्च स्वरूपकथनं नान्यसाधारणत्वेन किन्तु विधूनयति त्रिजगदपि सौन्दर्यगर्वाद्दूरीकरोतीत्यर्थः। चौरादिकोऽयम्। पाठान्तरन्तु "कचास्तव सुकुञ्चिता मुखमधीरदीर्घाक्षिभागुरः पृथुघनस्तनं स्फुरितमध्यमुच्चैः कृशम्। भुजा निटिलमानतं करयुगं नखश्रीधरं विधूनयति" इत्यादि ज्ञेयम्॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—कचा इति। श्रीकृष्णवाक्यम्। दोर्लते शिरसि ऊर्ध्वभागे नते, स्कन्धौ नम्रावित्यर्थः। करजा नखा एव रत्नानि तैरेव रम्यौ। एष स्वाभाविक एव तदलं ते भूषणपरिधापनेनेति भावः॥८॥

अथ धृतषोडशशृङ्गारा—

स्नाता नासाग्रजाग्रन्मणिरसितपटा सूत्रिणी बद्धवेणिः
सोत्तंसा चर्चिताङ्गी कुसुमितचिकुरा स्रग्विणी पद्महस्ता।
ताम्बूलास्योरुबिन्दुस्तवकितचिबुका कज्जलाक्षी सुचित्रा
राधालक्तोज्ज्वलाङ्घ्रिः स्फुरति तिलकिनी षोडशाकल्पिनीयम्॥९॥

तात्पर्यानुवाद—सोलह शृङ्गारवाली—पौर्णमासीजीने कहा—श्रीमती राधिकाने स्नान किया है। उनकी नासिकाके अग्रभागमें मुक्ता आदि सुशोभित हो रहे हैं, नीलवस्त्र परिधान, कटिप्रदेशमें नीवीबन्धन, मस्तकपर वेणी,

कानोंमें उत्तंस, अङ्गोंमें कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन आदिका प्रलेप, कुंचितकेश–कलापमें विन्यस्त पुष्प, गलदेशमें माला, हाथोंमें लीलाकमल, अधरोंमें ताम्बूल, चिबुकपर कस्तूरीबिन्दु, नयनोंमें कज्जल, कपोलोंमें मृगमदरचित मकरी–पत्रभङ्ग आदि, चरणोंमें अलक्तक राग एवं ललाटमें तिलक—इन सोलह शृङ्गारोंसे विभूषित होकर श्रीमती राधिकाजी विराजमान हो रही हैं॥९॥

लोचनरोचनी—सूत्रिणी—नीवीबन्धयुक्ता॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—स्नातेति। पद्यद्वयं सायं व्रजायागच्छन्तं श्रीकृष्णं प्रति उद्यानगतां राधां दर्शयतः सुबलस्य वाक्यम्। जाग्रद्देदीप्यमानो मणिमुक्तादिः। सूत्रं नीवीबद्धडोरी प्रतिसरो वा, उत्तंसः कर्णावतंसः, उरुबिन्दुः कस्तूरीरसनवकः। चित्रं मकरीपत्रभङ्गादि॥९॥

अथ द्वादशाभरणाश्रिता—

दिव्यश्चूडामणीन्द्रः पुरटविरचिताः कुण्डलद्वन्द्वकाञ्ची–
निष्काश्चक्रीशलाकायुगवलयघटाः कण्ठभूषोर्मिकाश्च।
हारास्तारानुकारा भुजकटकतुलाकोटयो रत्नक्लृप्ता–
स्तुङ्गा पादाङ्गुरीयच्छविरिति रविभिर्भूषणैर्भाति राधा॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—द्वादशआभरण आश्रिता—चूड़ामें पिरोई हुई अपूर्व उज्ज्वल मणि (शीशफूल), कानोंमें सुवर्ण कुण्डल, नितम्बके ऊपर स्वर्णनिर्मित करधनी, गलेमें सोनेका हार, कानोंमें वल्लियाँ और स्वर्ण शलाका, हाथोंमें स्वर्णकङ्कण, कण्ठमें कण्ठभूषा एवं अंगुलियोंमें अँगूठियाँ, गलेमें ताराहार, भुजाओंमें बाजूबंद, चरणोंमें रत्नोंके नूपुर और पैरोंकी अंगुलियोंमें बिछिया—ये द्वादश आभरण श्रीराधाजीके अङ्गोंमें सुशोभित रहते हैं॥१०॥

लोचनरोचनी—निष्कः पदकाख्यं हृदयभूषणं, चक्रीशलाका सूक्ष्मचक्राकारसम्बद्ध–कर्णोर्ध्वच्छिद्रप्रविष्टशलाकारूपाभरणविशेषः रविभिर्द्वादशभिस्तन्त्रेण तत्तुल्यैः॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—चूड़ामणिः शीषफूल इति ख्यातः, निष्कः पदकः, चक्रीयुगं शलाकायुगञ्च कर्णोर्ध्वभागालंकारौ, ऊर्मिका अङ्गुलीयकानि, तारानुकारा नक्षत्रसदृशाः, भुजकटकावङ्गदे, तुलाकोटी नूपुरौ। पादाङ्गुलीयानां छविस्तुङ्गा विपुला, रविभिर्द्वादशभिस्तन्त्रेण तत्तुल्यैः॥१०॥

अथ वृन्दावनेश्वर्याः कीर्त्यन्ते प्रवरा गुणाः।
मधुरेयं नववयाश्चलापाङ्गोज्ज्वलस्मिता ॥११॥

चारुसौभाग्यरेखाढ्या गन्धोन्मादितमाधवा ।
संगीतप्रसराभिज्ञा रम्यवाङ् नर्मपण्डिता ॥१२॥

विनीता करुणापूर्णा विदग्धा पाटवान्विता।
लज्जाशीला सुमर्यादा धैर्यगाम्भीर्यशालिनी ॥१३॥

सुविलासा महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी।
गोकुलप्रेमवसतिर्जगच्छ्रेणीलसद्यशाः ॥१४॥

गुर्वर्पितगुरुस्नेहा सखीप्रणयितावशा।
कृष्णप्रियावलीमुख्या सन्तताश्रवकेशवा।
बहुना किं गुणास्तस्याः संख्यातीता हरेरिव ॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाजीकी प्रधान गुणावली—श्रीकृष्णकी तरह श्रीमती राधिकाके भी असंख्य गुण हैं। उनमेंसे पच्चीस मुख्य गुण हैं—(१) मधुर अर्थात् वे देखनेमें परम सुन्दरी हैं, (२) नवयुवती अर्थात् किशोर वयसवाली हैं, (३) चञ्चल कटाक्षवाली हैं, (४) उज्ज्वल मृदुमधुर हास्यकारिणी हैं, (५) सुन्दर सौभाग्यको सूचित करनेवाली रेखाओंसे युक्त हैं, (६) अपनी अङ्गगन्धसे श्रीकृष्णको भी उन्मत्त करनेवाली हैं, (७) सङ्गीतविद्यामें पारदर्शी, (८) रम्यवाक्य अर्थात् मृदुभाषा बोलनेवाली, (९) नर्मपण्डिता अर्थात् परिहास करनेमें पटु, (१०) विनीता, (११) करुणापूर्ण अर्थात् दयालु, (१२) विदग्धा अर्थात् रसविषयमें अत्यन्त चतुर हैं, (१३) सब कार्योंमें चातुरीयुक्ता हैं, (१४) लज्जाशीला, (१५) सुमर्यादा—साधुमार्गपर अटल रहनेवाली, (१६) धैर्यशालिनी, (१७) गम्भीर, (१८) सुविलासा अर्थात् सुविलासप्रिया हैं, (१९) महाभावके परमोत्कर्षको प्रकट करनेमें परम व्यग्र रहती हैं, (२०) गोकुलप्रेमवसति अर्थात् उनको देखते ही गोकुलवासियोंके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ता है, (२१) अखिल ब्रह्माण्डमें उनकी कीर्त्ति व्याप्त है, (२२) गुरुजनोंके स्नेहकी पात्री हैं, (२३) सखियोंके प्रणयके अधीन रहती हैं, (२४) श्रीकृष्णकी समस्त सखियोंमें प्रधाना हैं, और (२५) केशव सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं॥११–१५॥

लोचनरोचनी—वृन्दावनेश्वर्याः "राधावृन्दावने वने" इति पुराणप्रसिद्धायाः। मधुरेयमित्यादौ संतताश्रवकेशवेति। "वचने स्थित आश्रवः" इत्यमरः ॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—पाटवं चातुर्यं विलासाश्चात्र भावहावादयो हर्षादिव्यञ्जकाः स्मितपुलकवैवर्ण्यादयश्च स्वाभियोगा ज्ञेयाः। महाभावस्य यः परमोत्कर्षः प्राकट्यातिशयस्तेन तर्षिणी श्रीकृष्णविषयातितृष्णावती गुरुभिर्गुरुजनैरर्पितो गुरुः पूर्णः स्नेहो यस्यां सा। सन्तत आश्रवो वचने स्थितः केशवो यस्याः सा "वचने स्थित आश्रवः" इत्यमरः ॥१३-१५॥

इत्यङ्गोक्तिमनःस्थास्ते परसम्बन्धगास्तथा।
गुणा वृन्दावनेश्वर्य्या इह प्रोक्ताश्चतुर्विधाः ॥१६॥

माधुर्यं चारुता नव्यं वयः कैशोरमध्यमम्।
सौभाग्यरेखाः पादादिस्थिताश्चन्द्रकलादयः ॥१७॥

साधुमार्गादचलनं मर्यादेत्युदितं बुधैः।
लज्जाभिजात्यशीलाद्यै धैर्यं दुःखसहिष्णुता ॥१८॥

व्यक्तत्वाल्लक्षितत्वाच्च नान्येषां लक्षणं कृतम् ॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—उपरोक्त पच्चीस गुणोंमेंसे कुछ आङ्गिक, कुछ वाचिक, कुछ मानसिक एवं कुछ परसम्बन्धगत रूपसे—ये चार प्रकारके हैं। सुमाधुर्य आदि छह गुण शारीरिक हैं; सङ्गीतप्रसराभिज्ञादि—ये तीन वाचिक हैं; विनीता इत्यादि दस मानसिक हैं और गोकुलप्रेमवसति इत्यादि छह परसम्बन्धगत हैं। उनमेंसे माधुर्य शब्दके द्वारा चारुता, नव्यवयः शब्दसे मध्य कैशोर, सौभाग्यरेखा शब्दसे चरणों और हाथोंमें नाना प्रकारके शुभ चारु सौभाग्ययुक्त रेखाओंसे युक्त समझना चाहिए, मर्यादा शब्दसे साधुमार्गपर सर्वथा अविचलित, लज्जा, आभिजात्य और सुशीलता समझना चाहिए। धैर्यसे दुःख-सहिष्णुताका बोध होता है। अन्यान्य चारुरेखाओंके सम्बन्धमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें ये लक्षण बतलाए गए हैं।

वराहसंहिता, ज्योतिष शास्त्र, काशीखण्ड और गरुड़ आदि पुराणोंके अनुसार श्रीमती राधिकाजीके चरणोंमें ये रेखाएँ हैं—**वाम चरणके** (१) अंगूठेके मूलमें जौ रेखा, (२) उसके नीचे चक्र, (३) मध्यमाके नीचे कमल, (४) कमलके नीचे ध्वजा, (५) वहीं पताका, (६) मध्यमाके

दक्षिणसे चलकर मध्यचरण तक ऊर्ध्वरेखा, (७) कनिष्ठाके नीचे अंकुश। **पुनः दक्षिण चरणके** (१) अंगूठेके मूलमें शंख, (२) एड़ीमें मछली, (३) कनिष्ठाके नीचे वेदी, (४) मछलीके ऊपर रथ, (५) पर्वत, (६) कुण्डल, (७) गदा, (८) शक्तिचिह्न। **बायें हाथमें** (१) तर्जनी और मध्यमाके सन्धिस्थानसे कनिष्ठाके नीचे तक परमायु रेखा, (२) उसके नीचे हाथसे आरम्भकर तर्जनी और अंगूठेके मध्यदेशमें दूसरी रेखा, (३ से ८) अंगूठेके नीचे मणिबन्धसे चलकर वक्रगतिसे मध्यरेखासे मिलकर तर्जनी और अंगूठेके मध्यभागकी अन्य रेखा अंगुलियोंके अगले भागमें नन्द्यावर्तरूप अर्थात् पाँच वक्राकार चिह्न, कुल मिलाकर आठ हुए, (९) अनामिकाके नीचे कुञ्जर, (१०) परमायु रेखाके नीचे वाजी (घोड़ा), (११) मध्यरेखाके नीचे वृष (सांढ़), (१२) कनिष्ठाके नीचे अंकुश, (१३) पंखा, (१४) श्रीवृक्ष, (१५) यूप, (१६) बाण, (१७) तोमर, (१८) माला। **दाहिने हाथमें** बायें हाथकी तरह परमायु आदि तीन रेखाएँ, अंगुलियोंके अगले भागमें पाँच शंख कुल मिलाकर आठ, (९) तर्जनीके नीचे चामर, (१०) कनिष्ठाके नीचे अंकुश, (११) प्रसाद, (१२) दुंदुभी, (१३) बज्र, (१४) दो शकट, (१५) धनुष, (१६) तलवार, (१७) भृंगार अर्थात् पानी पीनेका पात्र। बायें चरणमें सात और दायें चरणमें आठ, बायें हाथमें अठारह और दायें हाथमें सतरह—कुल मिलाकर पचास चिह्न सौभाग्य रेखाके हैं॥१६-१९॥

लोचनरोचनी—इत्यङ्गोक्तीति। अत्राङ्गस्य गुणा गन्धपर्यन्ताः उक्तेर्नर्मपर्यन्ताः, मानसास्तु महाभावेत्यन्ताः। परसम्बन्धगास्तु परे ज्ञेयाः॥१६॥

तत्र कांश्चिदस्पष्टगुणांल्लक्षयति—माधुर्यमिति। चारुता मनोरमत्वम्॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—इत्यङ्गेति। अङ्गस्था गुणा गन्धपर्यन्ताः षट्। सङ्गीतेत्यादय उक्तिस्थास्त्रयः। विनीतेत्यादयो मनःस्था दश। गोकुले प्रेमेत्यादयः परसम्बन्धगाः षट् एवं पञ्चविंशतिः॥१६॥

तत्र मधुरा यथा विदग्धमाधवे—

बलादक्ष्णोर्लक्ष्मीः कवलयति नव्यं कुवलयं,
मुखोल्लासः फुल्लं कमलवनमुल्लङ्घयति च।

दशां कष्टामष्टापदमपि नयत्याङ्गिकरुचि–
र्विचित्रं राधायाः किमपि किल रूपं विलसति॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—मधुरा—निर्जनमें सखियोंके साथ क्रीड़ापरायणा श्रीमती राधिकाको देखकर पौर्णमासीजी मन–ही–मन सोच रही हैं—"अहा! श्रीमती राधिकाका क्या ही विचित्ररूप इस समय उद्भासित हो रहा है? इनकी नेत्रशोभा नवीन पद्मकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही है, मुखका उल्लास प्रस्फुटित पद्मवनको भी पराभूत कर रहा है, अङ्गकान्ति स्वर्णको भी मात कर रही है॥"२०॥

आनन्दचन्द्रिका—बलादिति। पौर्णमासीवाक्यम्। अष्टापदं कनकम्। तत्पराभावित्वेन वीररसस्यात्र सूचितत्वात्। कष्टामष्टेति। ओजोव्यञ्जकवर्णानुप्रासो नानुपपन्नः॥२०॥

अथ नववयाः—

श्रोणिः स्यन्दनतां कृशोदरि कुचद्वन्द्वं क्रमाच्चक्रतां,
भ्रूश्चापश्रियमीक्षणद्वयमिदं यात्याशुगत्वं तव।
सैनापत्यमतः प्रदाय भुवि ते कामः पशूनां पतिं,
धुन्वञ्जित्वरमानिनं त्वयि निजं साम्राज्यभारं न्यधात्॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—नववया—कोई दूती कह रही है—"हे कृशोदरि राधे! तुम्हारा नितम्ब ही रथ है। दोनों कुच (वक्षस्थल) ही चक्र हैं, भ्रूलता ही धनुष है, दोनों नेत्र ही बाण हैं। अतएव कन्दर्पदेवने अपनी विजयके लिए पशुपति रुद्रको सेनापतिके पदसे हटाकर तुम्हींको उक्त पदपर अभिषिक्त किया है और अभीसे तुम्हारे ऊपर अपने साम्राज्यका भार अर्पण कर दिया है।"

पक्षान्तरमें तुम्हारे नितम्बदेशमें स्वेद, स्तनोंमें चक्रवाककी तरह गोलाई, दोनों भौहोंमें धनुकी शोभा अर्थात् वक्रता, दोनों नेत्रोंमें चाञ्चल्य देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जयके अभिमानी श्रीकृष्णको भी पराजित करनेके लिए महाराज कन्दर्पने तुम्हें सेनापतिके पदपर प्रतिष्ठितकर तीनों लोकोंको वशीभूत करनेके लिए तुम्हारे भीतर अपना अत्यधिक बल समर्पण किया है। यहाँपर सभी अङ्गोंमें कैशोर व्यञ्जक वैशिष्ट्य व्यक्त होनेपर भी मात्र चार अङ्गोंकी ही शोभा बतलाई गई है। उसके द्वारा

अन्यान्य अङ्गोंका भी सौन्दर्य, वैशिष्ट्य उपलक्षणके द्वारा समझना चाहिए॥२१॥

लोचनरोचनी—श्रोणिरिति दूतीवाक्यम्। चक्रतां चक्रवाकतां पक्षे चक्राख्यास्त्रताम्। आशुगत्वं शीघ्रगत्वं पक्षे बाणत्वम्। पशूनां पतिं श्रीगोपालं पक्षे रुद्रम्॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रोणिरिति। दूतीवाक्यम्। चक्रतां चक्रवाकत्वं चक्रनामास्त्रत्वं च। आशुगत्वं शीघ्रगामित्वं बाणत्वं च। सैनापत्यं सेनाध्यक्षत्व॥ पशूनां पतिं रुद्रं कृष्णञ्च। अतस्त्वया अद्यास्त्रक्षेपे विलम्बो न कार्य इति भावः॥२१॥

अथ चलापाङ्गी—

तडिदतिचलतां ते किं दृगन्तादपाठीद्–
विधुमुखि तडितो वा किं तवायं दृगन्तः।
ध्रुवमिह गुरुताभूत्त्वद्दृगन्तस्य राधे
वरमतिजविनां मे येन जिग्ये मनोऽपि॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—चपलाङ्गा—श्रीकृष्णकी परिहास उक्ति—"हे चन्द्रमुखि राधे! क्या तुम्हारी कटाक्षभङ्गीने विद्युत्को चपलताकी शिक्षा दी है? अथवा विद्युत्के निकट ही तुम्हारे नेत्रोंने चाञ्चल्यकी शिक्षा ग्रहण की है? किन्तु विचार करनेपर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारे नेत्र ही विद्युत्के अध्यापक हैं, क्योंकि ये महावेगशाली वायु इत्यादिसे भी श्रेष्ठ और मेरे महाचञ्चल मनको भी जय करनेवाले हैं?"॥२२॥

लोचनरोचनी—तडिदिति। श्रीकृष्णवाक्यम् अपाठीद् अध्यैष्ट। पठत्यधीतेऽध्ययन इत्याख्यातचन्द्रिका॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—तडिदिति। श्रीकृष्णवाक्यम्। अपाठीद् अध्यैष्ट। गुरुता अध्यापकत्वं श्रेष्ठत्वं च। येन दृगन्तेन जिग्ये मनसः सकाशादप्यतिजवित्वाद् अनुधावितापि तदुल्लङ्घितं वशीकृतमिति वस्त्वर्थः॥२२॥

अथोज्ज्वलस्मिता—

तव वदनविधौ विधौतमध्यां स्मितसुधयाधरलेखिकामुदीक्ष्य।
सखि लघुरघभिच्चकोरवर्यः प्रमदमदोद्धुरबुद्धिरुज्जिहीते॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—उज्ज्वलस्मिता—सङ्केत स्थानमें स्थित श्रीमती राधिकाके समीप श्रीकृष्णके उपस्थित होनेपर विशाखाने कहा—"सखि राधे! तुम्हारे मुखचन्द्रके मन्द-मधुर-हास्य सुधासे अधर रेखाका मध्य-भाग किसी विशेष भावसे अभिषिक्त देखकर यह परम मनोज्ञ श्रीकृष्णरूपी उत्तम चकोर परमोल्लाससे हमको साथमें देखकर भी क्षणमात्रकी अपेक्षा किए बिना बड़ी द्रुतगतिसे आ रहा है; अतएव हमलोग यहाँसे शीघ्र ही प्रस्थान करें॥"२३॥

लोचनरोचनी—"लघु शीघ्रे मनोज्ञे च" उज्जिहीते उदयते॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—तव वदनेति। विशाखावाक्यम्। स्मितसुधयेति। स्मितमिदं प्रेष्ठदर्शनजातहर्षोत्थम्। तच्च अवहित्थया आकारगोपनेन संगोपितमपि किंचिदेव निष्क्रान्तम्। विधौतमध्यां क्षालितमध्यप्रदेशामित्यधररेखामध्यप्रदेश एव तद्व्यक्तेः। तच्चातिसूक्ष्ममपि सकृदुद्भूतमपि कृष्णेन दृष्टमेवेत्याह—उदीक्ष्येति। उज्जिहीते उद्गच्छतीति। तेनैव प्रदेशेन संचरिष्यतीति अधरपानं ध्वन्यते। यतोऽघभित् पापशून्यः। अतः क्षालनादिभिः पवित्रं वर्त्मैव तस्यापेक्ष्यं त्वदीयया अधरसुधयेति तवापि तत्रानुकूल्यं दृश्यत इति नर्म्म ध्वनित॥ यतोऽघभित् तव अवश्यं दुःखं भेत्स्यतीति। किम्वा क्षालनेऽपि तदन्तःपावित्र्यादर्शनाद् अघभित् तत्स्थानस्थमघं भेत्स्यतीति स्वीयचञ्च्वेति। तत्र अघभिदघासुर हन्तेति सामर्थ्यम्। "प्रायो वीररताः स्त्रियः" इति स्मृतेः। तत्रापि लघुःशीघ्रगामीति तत्र विलम्बाभावः। प्रमदमदाभ्यामानन्द-मत्तताभ्यामुद्धुरा बुद्धिर्यस्येति। अद्यास्मत्संनिधिराहित्यमपि नापेक्षिष्यते; तदितो वयमेव प्रथममपसरामेति नर्माण्येव ध्वनितानि॥२३॥

अथ चारुसौभाग्यरेखाढ्या—

> **अघहर भज तुष्टिं पश्य यच्चन्द्रलेखा-**
> **वलयकुसुमवल्लीकुण्डलाकारभाग्भिः ।**
> **अभिदधति निलीनामत्र सौभाग्यरेखा-**
> **विततिभिरनुविद्धाः सुष्ठु राधां पदाङ्काः॥२४॥**

तात्पर्यानुवाद—चारुसौभाग्यरेखाढ्य—कदाचित् किसी समय श्रीराधाकृष्ण लुकाछिपीका खेल खेल रहे थे। श्रीमती राधिका कहाँ छिपी हुई हैं, यह न जाननेके कारण श्रीकृष्ण कुछ चिन्तित थे। श्रीकृष्णको चिन्तित देखकर मधुमङ्गल उनकी सहायता हेतु श्रीमती राधाजीको ढूँढ़ने लगे।

हठात् एक स्थानपर श्रीमती राधिकाजीके चरणचिह्नोंको देखकर मधुमङ्गल बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णको आश्वासन देते हुए बोले—"अघनाशन! तुम्हारे विषाद करनेका कोई कारण नहीं। देखो! चन्द्ररेखा, वलय, पुष्पवल्ली और कुण्डलादि सौभाग्य रेखाओंसे युक्त उनके श्रीचरणकमलोंके चिह्नसमूह यहाँ उदित हैं और जिस कुञ्जमें वे छिपी हुई हैं, उसको स्पष्टरूपसे बतला रहे हैं॥"२४॥

लोचनरोचनी—अभिदधति कथयन्ति। अनुविद्धा युक्ताः। चन्द्रलेखावलयेत्युपलक्षणम्। यतो वराहसंहिता–ज्योतिःशास्त्रान्तर–काशीखण्ड–मात्स्य–गारुडाद्यनुसारेण ता एताश्च रेखा लिख्यन्ते। तत्र वाम चरणस्याङ्गुष्ठ मूले यवः, (१) तत्तले चक्रम्, (२) चन्द्ररेखायुता कुसुमवल्लिका, (३) मध्यमातले कमलम्, (४) कमलतले ध्वजः सपताकः, (५) मध्यमाया दक्षिणत आगता मध्यचरणपर्यन्तोर्ध्वरेखा, (६) कनिष्ठातलेऽङ्कुशः, (७) इति सप्त॥ अथ दक्षिणचरणस्य—अङ्गुष्ठमूले शंखः, (१) पार्ष्णौ मत्स्यः, (२) कनिष्ठातले वेदिः, (३) मत्स्योपरि रथः, (४) शैलकुण्डल–गदाशक्तयश्च (५/६/७/८/) दक्षिणचरण एव संभाव्यन्ते। ताश्च यथाशोभं संभावनीया इत्यष्टौ। अथ वामकरस्य—अत्रालिखितमपि प्रसिद्धत्वादन्यरेखात्रयं ज्ञेयम्। यथा तर्जनीमध्यमयोः संधिमारभ्य कनिष्ठातले करभभागे गता परमायूरेखा, तत्तले करभमारभ्य तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यदेशं गतान्या, अङ्गुष्ठाधो मणिबन्धत उत्थिता वक्रगत्या मध्यरेखां मिलित्वा तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यभागं गतान्या, अथान्या युक्त्या विभज्य दर्श्यन्ते, अङ्गुलीनामग्रतो नन्द्यावर्ताः पञ्च, अनामिकातले कुञ्जरः, परमायूरेखातले वाजी, मध्यरेखातले वृषः, कनिष्ठातलेऽङ्कुशः, व्यजन–श्रीवृक्ष–यूप–बाण–तोमर–माला यथाशोभं ज्ञेया इत्यष्टादश। अथ दक्षिणकरस्य—पूर्ववत् परमायूरेखादित्रयमत्रापि ज्ञेयम् (१–३), अङ्गुलीनामग्रतः शंखाः पञ्च (४–८), तर्जनीतले चामरम् (९), अत्रापि कनिष्ठातलेऽङ्कुशः, प्रासादः दुन्दुभिः वज्रः शकटयुगः कोदण्डासिभृङ्गाराः तु (१०–१७)। यथाशोभं ज्ञेयाः, इति सप्तदश। तदेव वामचरणे सप्त, दक्षिणचरणे अष्ट, वामकरे अष्टादश, दक्षिणकरे सप्तदश, मिलित्वा पञ्चाशत्॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—अघहरेति। मधुमङ्गलोक्तिः। पदाङ्का एव राधाम् अत्र निलीनामभिदधति कथयन्ति। कीदृशाः। सौभाग्यव्यञ्जिकानां रेखाणां विततिभिरनुविद्धा युक्ताः। कीदृशीभिः। चन्द्रलेखाद्याकारभाग्भिः उपलक्षणमेतत्। यतो वराहसंहिता–ज्योतिःशास्त्रान्तर्गतकाशीखण्डमात्स्यगारुडाद्यनुसारेण ता एताश्च लेखा लक्ष्यन्ते। तत्र वामचरणस्य—अङ्गुष्ठमूले यवः, तत्तले चक्रम्, तत्तले छत्रम्, तत्तले वलयम्, तर्जन्यङ्गुष्ठसंधिमारभ्य वक्रगत्या यावदर्द्धचरणमूर्ध्वरेखा, मध्यमातले कमलम्, कमलतले ध्वजः सपताकः, कनिष्ठातलेऽङ्कुशः, पार्ष्णौ अर्द्धचन्द्रः, तदुपरि वल्ली,

पुष्पं च। इत्येकादश। अथ दक्षिणस्य—अङ्गुष्ठमूले शंखः, कनिष्ठातले वेदिस्तत्तले कुण्डलम्, तर्जनीमध्यमयोस्तले पर्वतः, पार्ष्णौ मत्स्यः, मत्स्योपरि रथः, रथस्य पार्श्वद्वये शक्तिगदे इत्यष्टौ। मिलित्वा ऊनविंशतिः। अथ वामकरस्य—अत्रालिखितानामपि भक्तैर्ध्यानार्थमपेक्ष्यत्वादुच्यन्ते करचिह्नानि। यथा तर्जनीमध्यमयोः संधिमारभ्य कनिष्ठाधस्तले करभभागे गता परमायूरेखा, तत्तले करभमारभ्य तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यभागं गतान्या। अङ्गुष्ठाधो मणिबन्धत उत्थिता वक्रगत्या मध्यरेखां मिलित्वा तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यभागं गतान्या। तथान्या युक्त्या विभज्य दर्श्यन्ते, अङ्गुलीनामग्रतो नन्द्यावर्ताः पञ्च। अनामिकातले कुञ्जरः, परमायूरेखातले वाजी, मध्यरेखातले वृषः, कनिष्ठातलेऽङ्कुशः। व्यजनश्रीवृक्षयूपबाणतोमरमाला–यथाशोभमित्यष्टादश। अथ दक्षिणकरस्य—पूर्वोक्तं परमायूरेखादित्रयमत्रापि ज्ञेयम्, अङ्गुलीनामग्रतः शंखाः पञ्च। तर्जनीतले चामरम्, अत्रापि कनिष्ठातलेऽङ्कुशः, प्रासाद–दुन्दुभि–वज्र–शकटयुग–कोदण्डासिभृङ्गारा यथाशोभं ज्ञेयाः। इति सप्तदश मिलित्वा पञ्चत्रिंशत्॥२४॥

अथ गन्धोन्मादितमाधवा—

वल्लीमण्डलपल्लवालिभिरितः संगोपनायात्मनो
मा वृन्दावनचक्रवर्तिनि कृथा यत्नं मुधा माधवि।
भ्राम्यद्भिः स्वविरोधिभिः परिमलैरुन्मादनैः सूचितां
कृष्णस्त्वां भ्रमराधिपः सखि धुवन्धूर्तो ध्रुवं धास्यति॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीअङ्ग–परिमल—कुसुम चयनके लिए आई हुई श्रीराधिका द्वारा दूरसे श्रीकृष्णको देखकर छिपनेकी चेष्टा करनेपर तुङ्गविद्या युक्तिपूर्वक श्लेष–भङ्गीसे कह रही है—"हे सखि माधवि! हे वृन्दावन–चक्रवर्तिनि! लताजालके पल्लवोंमें छिपनेकी वृथा चेष्टा मत करो। विरोधी (शत्रु अथवा आत्मस्थिति सूचक अनिष्टकारी) और उन्मादनाकारी तुम्हारे श्रीअङ्गोंका परिमल चतुर्दिक फैल रहा है। धूर्त (तुम्हारे असाधारण गन्धको जाननेवाले) और कामुक शिरोमणि श्रीकृष्ण निश्चय ही तुम्हारे गात्र–परिमलका अवलम्बनकर तुम्हें निश्चित ही कम्पित कर पान करेंगे।" पक्षान्तरमें, हे वासन्तिके! वृन्दावनमें सभी लताओंसे श्रेष्ठ तुम्हीं वृन्दावनकी सम्राज्ञी लता हो। क्या तुम कहीं गुप्त रह सकती हो? कृष्णवर्णवाले भ्रमरचूड़ामणि तुम्हारे अङ्गसे निकले उन्मादजनक गन्धसे आकृष्ट होकर निश्चित ही तुम्हें ढूँढ़कर तुम्हारा मकरन्द पान करेंगे॥२५॥

लोचनरोचनी—माधवीति। परमप्रेमवशतया कान्तेन हातुं न शक्यत इति वक्ष्यते। पक्षे वासन्ति। धास्यति पास्यति। धेट् पाने॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—बल्लीति तुङ्गविद्यावचनम्। हे माधवि वासन्ति, पक्षे हे राधे, "चेदियं प्रेयसा हातुं क्षणमप्यतिदुःशका। परमप्रेमवश्यत्वान्माधवीति तदोच्यते" इत्युक्तेः। वृन्दावनचक्रवर्तिनीति। लतासु गोपीषु च तस्या एव श्रेष्ठ्यात्। स्वविरोधिभिस्त्वत्संगोपनासहिष्णुतया त्वच्छत्रुभिरित्यर्थः। यतो भ्राम्यद्भिरितस्ततः कृष्णमन्विष्यापि त्वमेभिरेव सूचयिष्यसे। अग्रे त्वहं मिथ्या न दूषणीयेति भावः। उन्मादनैरिति। परिमलानां जातिप्रमाणाभ्यां उत्कर्षात् वैलक्षण्याच्च एभिरुन्मादितः कृष्णः स्थानास्थानं समयासमयं च न विचारयिष्यति। धास्यतीति। धेट् पाने डुधाञ् धारणपोषणयोश्च। भ्रमराधिप इति। "भ्रमरः कामुके भृङ्गे" इति धरणिः॥२५॥

अथ संगीतप्रसराभिज्ञा—

कृष्णसारहरपञ्चमस्वरे मुञ्च गीतकुतुकानि राधिके।
प्रेक्षतेऽत्र हरिणानुधावितां त्वां न यावदतिरोषणः पतिः॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—सङ्गीतविद्या विशारदा—एक समय सम्पूर्ण निर्जन अपने गृहकी पुष्पवाटिकामें तुङ्गविद्याके साथ श्रीकृष्णकी गुणावलियोंका गान करनेकी इच्छासे श्रीमती राधिकाको आलाप करती हुई सुनकर सहसा ललिता वहाँ उपस्थित हुई और अपनी आशङ्काको व्यक्त करने लगी—"हे राधिके! तुम्हारे पञ्चमस्वरके आलापसे श्रीकृष्ण बड़े अधीर हो उठते हैं; तुम्हारा अत्यन्त क्रोधी पति अभिमन्यु, तुम्हारे समीप आगमन करते हुए श्रीकृष्णको कहीं देख न ले, अतः शीघ्र ही सङ्गीत-कौतुकको बन्द करो॥"२६॥

लोचनरोचनी—कृष्णस्य सारो धैर्यं तस्य हरः पञ्चमः स्वरो यस्याः हे तथाविधे। पक्षे कृष्णसाराख्यमृगस्य हर इत्यादि। हरिणा श्रीकृष्णेन पक्षे हरिणेनानुधावितामनुगताम्॥२६॥

आनन्दचन्द्रिका—कृष्णसार इति। विशाखावाक्यम्, कृष्णसारो हरिणः श्रीकृष्णस्य धैर्यं च। हरिणेनानुधावितामिति समासः। पक्षे हरिणा श्रीकृष्णेनेत्यसमास एव, हरिणपक्षे मृगाकर्षणसमर्थस्य गानस्य कुलाङ्गनानामनौचित्यमिति पत्यू रोषे हेतुर्ज्ञेयः। तेन इतः सभयात् स्थानादन्यत्र दूरे रहसि गच्छेति ध्वनिः॥२६॥

अथ रम्यवाक्—

सुवदने वदने तव राधिके स्फुरति केयमिहाक्षरमाधुरी।
विकलतां लभते किल कोकिलः सखि ययाद्य सुधापि मुधार्थताम्॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—रम्यवाक्—श्रीकृष्णने श्रीमती राधिकाको सम्बोधनपूर्वक कहा—"हे सुवदने! तुम्हारे मुखारविन्दसे कितना सुन्दर अक्षरमाधुर्य स्फुरित हो रहा है? इसके सुस्वरको सुनकर कोकिल भी मौन हो गई। इस अक्षरमाधुर्यके द्वारा सुधाकी भी व्यर्थता सिद्ध हुई॥"२७॥

आनन्दचन्द्रिका—सुवदने इति। श्रीकृष्णवाक्यम्। सौस्वर्येण कोकिलस्य शब्दार्थवैचित्र्या सुधायाश्च वैयर्थ्यमुक्तम्॥२७॥

अथ नर्मपण्डिता—

वंश्यास्त्वमुपाध्यायः किमुपाध्यायी तवात्र वंशी वा।
कुलयुवतिधर्महरणादस्ति ययोर्नापरं कर्म॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—नर्मपण्डिता—श्रीराधा बोली—"हे नाथ! मैं जानना चाहती हूँ कि क्या वंशी तुम्हारी अध्यापिका है या तुम वंशीके अध्यापक हो? क्योंकि कुलयुवतियोंके धर्महरणके अतिरिक्त तुम दोनोंका और दूसरा कोई भी कार्य नहीं है॥"२८॥

आनन्दचन्द्रिका—वंश्या इति। अत्र ननु वंशी वा मदधीना गायतु, अहं वा वंश्यधीनो गायामि, तत्र कुलयुवतयः साध्वीत्वाभावेन यत्स्वधर्मं त्यक्ष्यन्ति तत्रावयोः को दोष इति॥२८॥

यथा वा—

देव प्रसीद वृषवर्द्धन पुण्यकीर्ते
साध्वीगणस्तनशिवार्चननित्यपूत ।
निर्मञ्छनं तव भजे रविपूजनाय
स्नातास्मि हन्त मम न स्पृश न स्पृशाङ्गम्॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरा उदाहरण—श्रीकृष्णसंगमके लिए किसी प्रकार छलके द्वारा वृन्दावनमें उपस्थित हुई श्रीराधाके पथको रोकते हुए उनके श्रीअङ्गोंको स्पर्श करनेके लिए उत्सुक हुए श्रीकृष्णसे श्रीराधाजीने कहा (स्तुतिपक्षमें)—"हे देव! हे धर्म-पालक! हे पुण्यकीर्त्ति! साध्वी

पतिव्रताओंके स्तनरूपी शिवार्चनाके द्वारा तुम अतिशय पवित्र हुए हो! मैं तुम्हारी बलिहारी जाऊँ। तुमको नमस्कार कर रही हूँ। तुम प्रसन्न होओ। मैंने सूर्यकी उपासनाके लिए स्नान किया है। मेरे अङ्गोंका स्पर्श मत करो। (निन्दापक्षमें) हे वृषासुर नाशक! (गोहन्तक!) हे पापमय! हे अकीर्त्तिकर! हे देव! (उपहास द्योतक) मेरे अङ्गोंका स्पर्श न करो।" पक्षान्तरमें, (दोनों नकारोंका अर्थ लेकर) मेरा स्पर्श करो॥२९॥

लोचनरोचनी—स्तुतिपक्षे वृषवर्द्धन धर्मवर्द्धक। रविपूजनाय स्नातास्मीति शिवानन्यभक्तानामन्यदेवताभक्तस्पर्शोऽपि नेष्ट इति भावः। निन्दापक्षे देवेति सोपहासम्। वृषवर्द्धन वृषच्छेदन। विरोधिलक्षणया पुण्यं पापं कीर्तिश्चाकीर्तिः। साध्वीशब्देन तत्रत्यव्यवहाराद्गृहपतिभक्तैवोच्यते। नित्यपूतेत्यपि विरोधिलक्षणया सोपहासमयमेव॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वनर्मशरः परावृत्य स्वमेव लक्षीकुर्यादित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। वृषो धर्मस्तस्य वर्धनं वृद्धिर्यतः। अतएव ते पुण्या कीर्तिस्तत एव, साध्वीगणेनापि स्वीयस्तनशिवपूजा त्वयैव कार्यते, स्वेषां धर्मकीर्त्योर्वृद्ध्यर्थमिति भावः। त्वं च तत्तच्छिवार्चनेन नित्यं पूतः। नित्यमित्यनेन तद्विनाभूतमेकमपि दिनं न ते बन्ध्यं यातीति। पूतेत्यनेन तद्विना पावित्र्याभावादन्नपानादिकमपि नातिरोचत इति ध्वन्यते। ननु तर्हि त्वमपि साध्वी भवसि, संनिधेहि, स्वीयस्तनशिवयोररुणकरकमलाभ्यां हृदयेन च बहिरन्तः पूजां मयैव कारय। अपूजितौ एतौ द्रष्टुमहं न प्रभवामीति तथा चिकीर्षन्तं तमाह—रविपूजनायेति। वयं सूर्योपासिका अनन्याः शिवपूजां न कारयामेति भावः। ननु तर्हि त्वां सूर्यभक्तामनन्यां स्पृष्ट्वा कृतार्थीभवेयमत आह—स्नातास्मीति। पुनः स्नाने मम क्लेशः कालविलम्बश्च भविष्यतीति भावः। अत्र वृषवर्धनादिषु विरोधिलक्षणया अधर्माद्यतिशया एव व्यञ्जिताः। तदपि वृषवर्धनेत्यत्र श्लेषेणापि धर्मध्वंसिन्नित्यर्थो द्रष्टव्यः। वर्द्ध च्छेदने धातुः॥२९॥

अथ विनीता—

अपि गोकुले प्रसिद्धा भ्रूभ्रमिभिः परिजनैर्निषिद्धापि।
पीठं मुमोच राधा भद्रिकामपि दूरतः प्रेक्ष्य॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—विनीता—नान्दीमुखीने श्रीकृष्णसे कहा—"हे गोकुलनाथ! श्रीराधाके समान अत्यन्त विनम्र कहीं भी कोई रमणी नहीं दिखाई पड़ती, गोकुलमें प्रसिद्ध होकर भी तथा गुरुजनोंकी भ्रू-भङ्गीके द्वारा

बारम्बार निषेध किए जानेपर भी दूरसे भद्राको आती हुई देखनेमात्रसे अपने आसनसे उठ खड़ी हुई तथा उसका अभिनन्दन किया॥"३०॥

लोचनरोचनी—भद्रिकामपीति। भद्रायाः कुलादिन्यूनत्वं बोध्यते। तदिदं वाक्यं श्रीवृन्दावनेश्वर्या गुणसूचनाय श्रीकृष्णं प्रति काचित्कथितवतीति तस्यानुमोदनञ्च। तस्यामिति मधुररसप्रकरणबलाद्व्याख्येयम्। एवमुत्तरेष्वपि। यथा वा ग्रन्थकृतामन्यत्पद्यम्—"रागरङ्गमनुगानपरीक्षाकारिणी प्रियतमे सती राधा। भद्रिकामपि विधाय पुरस्तादात्मनानुगततां बत चक्रे॥"३०॥

आनन्दचन्द्रिका—अपि गोकुल इति। श्रीकृष्णं प्रति नान्दीमुख्या वाक्यम्। नायकेनास्वाद्यमानैर्नायिकाया विनयादिगुणैर्मधुररसः पुष्टीक्रियत इति ध्येयम्॥३०॥

यथा वा विदग्धमाधवे (५/१५)—

भूयो भूयः कलिविलसितैः सापराधापि राधा
श्लाघ्येनाहं यदघरिपुणा बाढमङ्गीकृतास्मि।
तत्र क्षामोदरि किमपरं कारणं वः सखीनां
दत्तामोदां प्रगुणकरुणामञ्जरीमन्तरेण॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—विनयकी स्वाभाविकता दिखलानेके लिए अपनी सखियोंके प्रति भी श्रीराधाके वैसे व्यवहारका दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीमती राधिका कलहान्तरिता अवस्थाके अन्तमें अत्यन्त उत्कण्ठित होनेपर भी खण्डितावस्थामें आचरित अपनी कठोरताके स्मरणसे अपने प्रति श्रीकृष्णकी उदासीनताकी सम्भावनाकर बड़ी व्याकुल हो गईं। वे सखीको सम्बोधनपर्वूक कहने लगी—"हे कृशोदरि! मैं क्रीड़ा-कलहमें बारम्बार अपराधिनी होनेपर भी परम स्तुत्य अघरिपुरूपी श्रीकृष्णके द्वारा अङ्गीकृता हुई हूँ, मैं इसका कोई भी दूसरा कारण नहीं देखती, केवल यही कि तुमलोग मेरे प्रति आमोदप्रद प्रबल करुणाका विस्तार करती हो॥"३१॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र कष्टेन विनयं व्यज्यापरितुष्यन्नाह—यथा वेति। भूयोभूय इति। कलहान्तरितावचनम्। कलौ कलह एव विलसिताः स्वाभाविका भावास्तैः। राध्यति अपराध्यतीति राधा इति। स्वनामनिरुक्तिरपि कृता। उपसर्गस्य द्योतकत्वात् तं विनापि धातोस्तदर्थाभिधानशक्तेः। वो युष्माकमेव प्रकृष्टैर्गुणैर्या युष्माकं करुणा, सैव दत्तामोदा सौरभवती मञ्जरी। तां विनेति तामेव कर्णावतंसीकृत्य

तेनाहमङ्गीकृतास्मीति युष्मत्प्रेमवशीभूतेन युष्मन्निरुपाधिकृपापात्रीं मां श्रुत्वा युष्मभ्यं सुखदानानुरोधेनेत्यर्थः ॥३१॥

अथ करुणापूर्णा—

तार्णसूचिशिखयापि तर्णकं विद्धवक्त्रमवलोक्य सास्त्रया।
लिप्यते क्षतमवाप्तबाधया कुङ्कुमेन सहसास्य राधया ॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—करुणापूर्णा—पौर्णमासीको सम्बोधन करके वृन्दा कह रही हैं—"देवि! श्रीमती राधिकाके समान कोई भी दयालु दृष्टिगोचर नहीं होता। एक दिन स्वकान्तकी दुग्धदात्री गायके सद्योजात बछड़ेके मुखमें तृणका अङ्कुर विद्ध होते देखकर सहसा उनके नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगा। उन्होंने दुःखसे अत्यन्त कातर होकर उस बछड़ेके घावके ऊपर शीघ्र ही कुङ्कुम पङ्क लगा दिया। बछड़ा तुरन्त शान्त हो गया। कैसी अद्भुत दया है?" ॥३२॥

लोचनरोचनी—तार्णसूचीत्यत्र तर्णकोऽयं स्वकान्तायोपहरणीयदुग्धाया धेनोरिति ज्ञेयम्। कृपयेत्यत्र सहसेत्येव वा पाठः। यथा वा तेषामेव पद्यान्तरम्—"धिक्कठोरहृदयास्मि राधिका यच्चिरं विरहमस्य हा सहे। तं सहेत किमियं व्रजप्रजा कोमलेति मयि हृद्विदीर्यते॥"३२॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासीं प्रति वृन्दावाक्यम्। तार्णसूचीति। तर्णकोऽयं स्वकान्तलोभनीयदुग्धाया धेनोरिति ज्ञेयम्। तार्णसूचिशिखया कोमलतृणाग्रेणापि। सास्रयेत्यस्राणि कृपातिशयद्योतकानि॥३२॥

अथ विदग्धा—

आचार्या धातुचित्रे पचनविरचनाचातुरीचारुचित्ता
वाग्युद्धे मुग्धयन्ती गुरुमपि च गिरां पण्डितामाल्यगुम्फे।
पाठे शारीशुकानां पटुरजितमपि द्यूतकेलीषु जिष्णु–
र्विद्याविद्योतिबुद्धिः स्फुरति रतिकलाशालिनी राधिकेयम् ॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—विदग्धा—गार्गीके प्रति कुन्दलताजी कह रही हैं—"देवि! श्रीमती राधिकाकी वैदग्धीकी रसभरी चातुरीकी बात मैं क्या कहूँ? धातुचित्रके विषयमें वे स्वयं आचार्यस्वरूपा हैं, पाकक्रियामें अतिशय निपुण हैं, वाक्‌युद्धमें वाक्‌पति श्रीकृष्णको भी मुग्धकर पराजित करनेवाली हैं, माल्यग्रन्थनके विषयमें परम पण्डिता हैं, शुक–सारियोंको पाठ करानेमें

अतिशय पटु हैं, द्यूतक्रीड़ामें अजित श्रीकृष्णको भी पराजित करनेवाली हैं, गानादि विद्यामें अतिशय प्रखरबुद्धि सम्पन्ना हैं। इस प्रकार रतिकलामें कुशलिनी श्रीराधा परमपण्डिताके पदपर विराजमान हो रही हैं॥"३३॥

लोचनरोचनी—गिरां गुरुं श्रीकृष्णं वाग्देवीं वा "वाग्देवीमप्यवाचं रचयितुमधिका" इति तु पाठान्तरम्॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—आचार्येति। ह्योदृष्टजनुषो राधायाः संप्रति कीदृशं चातुर्यमभूदिति पृच्छन्तीं गार्गी प्रति कुन्दलता वाक्यम्। आचार्या न तु कदाचिदपि कस्याश्चिच्छिष्या। चारुचित्तेति। स्वचित्तेन पाकस्य प्रकारविशेषं विचार्यैव तं विरचयतीति न कस्याश्चन सकाशात् सा विद्या शिक्षिता। "वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षा" इतिवत्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। गिरां गुरुं श्रीकृष्णं वाग्देवीं वा विद्यासु गानवादनादिषु न्यायमीमांसादिषु च विशेषेण द्योतिनी बुद्धिर्यस्याः सा॥३३॥

अथ पाटवान्विता यथा विदग्धमाधवे (३/३)—

छिन्नः प्रियो मणिसरः सखि मौक्तिकानि
वृत्तान्यहं विचिनुयामिति कैतवेन।
मुग्धं विवृत्य मयि हन्त दृगन्तभङ्गीं
राधा गुरोरपि पुरः प्रणयाद्व्यतानीत्॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—पाटवान्विता—अर्थात् चातुर्यशालिनी। पूर्वरागके प्रसङ्गमें अकस्मात् श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाका मिलन होनेपर दैवयोगसे उसी समय सूर्यपूजाकी सामग्री लेकर जटिला वहाँ उपस्थित हुई और सखियोंके साथ श्रीराधाजीको अपने साथ लेकर घरकी ओर लौटने लगीं। उस समय परम उत्कण्ठिता श्रीमती राधिकाने जो चातुर्य प्रकाश किया, उसको श्रीकृष्ण, मधुमङ्गलसे अनुताप करते हुए कहने लगे—"श्रीमती राधिका अपनी सखीकी ओर देखकर कहने लगीं—देखो सखि! मेरा प्रिय मुक्ताहार टूट गया। मैं क्या करूँ? यदि कहो कि निर्जन वनमें विलम्ब करना अच्छा नहीं है, घर जाकर मैं तुम्हें दूसरा हार गूँथकर दे दूँगी तो उसके उत्तरमें मेरा कथन है कि यही हार मुझे अत्यन्त प्रिय है। अतएव इसे मैं छोड़कर नहीं जा सकती। अच्छा, इस सैकत भूमिमें बिखरे हुए सूक्ष्म महामुक्ताओंका किस प्रकार चयन करोगी? तदुत्तरमें मैं कह रही हूँ—ये गोल-गोल और स्थूल हैं। इनके चयन करनेमें मुझे विलम्ब

नहीं होगा। अतएव मैं जल्दीसे इनका चयन कर लूँगी। इस प्रकार बहाना बना श्रीमती राधिकाने अपनी सासके समीप भी बड़े सुन्दर रूपसे अपने मुखको फिराकर प्रणयपूर्ण नेत्रोंसे मेरे प्रति कटाक्षभङ्गीसे देखा॥"३४॥

लोचनरोचनी—विवृत्य परावृत्य। निवृत्येति वा पाठः॥३४॥

आनन्दचन्द्रिका—छिन्न इति। मधुमङ्गलं प्रति कृष्णस्योक्तिः। पाटवं चातुर्यम्। वृत्तानि वर्तुलानि। मुग्धं मनोहरम्। विवृत्य परावृत्य। गुरोर्जटिलायाः॥३४॥

अथ लज्जाशीला—

व्रजनरपतिसूनुर्दुर्ल्लभालोकनोऽयं
स्फुरति रहसि ताम्यत्येष तर्षाज्जनोऽपि।
उपरम सखि लज्जे किंचिदुद्घाट्य वक्त्रं
निमिषमिह मनागप्यक्षिकोणं क्षिपामि॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—लज्जाशीला—एक समय श्रीकृष्णदर्शनकी लालसासे पुष्पचयनके बहाने श्रीमती राधिकाने वृन्दावनमें उपस्थित होनेपर निर्जनमें श्रीकृष्णको देखकर दर्शनविरोधी लज्जाको दीनतावश मन–ही–मनमें कहा—"अहो! व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अभी बड़े सौभाग्यसे सुलभ हुआ है। वे निर्जनमें अकेले हैं और मैं उनके दर्शनोंके लिए परम उत्कण्ठिता होनेपर भी लज्जाके कारण सिमटी हुई हूँ। अतः हे सखि लज्जे! क्षणभरके लिए तुम मुझे छोड़ दो, मैं प्रियतमका अपाङ्गभङ्गी (कटाक्ष) के द्वारा दर्शन करना चाहती हूँ॥"३५॥

लोचनरोचनी—एष मल्लक्षणो जनः। उपरम सखीत्येव वा पाठः॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—राधा स्वगतमाह—व्रजेति। तर्षादत्यौत्कण्ठ्यात्। एष मल्लक्षणो जनः। सखीति। विरुद्धलक्षणया हे वैरिणीति त्वं मे किं प्राणान् ग्रहिष्यसीति ध्वनिः। यद्वा हे सखि! त्वां सख्येन हितमुपदिशामि, क्षणमुपरम। अन्यथा मयि प्राणांस्त्यक्तवत्यां त्वं क्व स्थास्यसीति स्वयमेव विचारयेति। तत्रापि एकस्यैव अक्ष्णः कोणादेवोपरम। अन्यत्र मत्सर्वाङ्गेषु राज्यं कुरु। तत्रापि निमिषमपि मनागपीति तवाति हठः स्थास्यति। अहं च जीविष्यामीत्येतदेव कुर्विति भावः। उद्घाट्येति। "घट संघाते" इत्यस्य रूपं तस्य घटादित्वाभावान्मित्त्वाभावः॥३५॥

अथ सुमर्यादा—

प्राणानकृताहारा सखि राधा चातकी वरं त्यजति।
न तु कृष्णमुदिरमुक्तादमृताद्वृत्तिं भजेदपराम्॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—सुमर्यादा—एक समय श्यामला सखीके बन्धुत्ववशतः श्रीमती राधिकाके नित्य कर्माचरणके प्रश्नके प्रसङ्गमें भोजनादिके विषयमें पूछनेपर श्रीराधिकाने उनसे कहा—"हे सखि! श्रीराधारूपी चातकी भले ही बिना आहारके (जलपान किए) अपने प्राणोंका त्यागकर सकती है तथापि श्रीकृष्णरूपी मेघके द्वारा मुक्त अमृतके (मेघके पक्षमें स्वाति नक्षत्रका वर्षाजल और श्रीकृष्णके पक्षमें उनका अधरामृत) बिना अन्य जीविकाको कदापि ग्रहण नहीं कर सकती॥"३६॥

लोचनरोचनी—अथ सुमर्यादेति। मर्यादात्र स्वभावेन वैदिकाचारेण स्वसंकल्पेन वा प्राप्तो निर्बन्धः। तथैव ह्युदाहरणत्रयं वक्ष्यते। प्राणानकृताहारेति वाक्यं कदाचित् क्षुधिततया प्रतीता श्रीवृन्दावनेश्वरी कयाचित्तदन्तरङ्ग्या सख्या भोजनाय याचिता तां प्रति रहो जगादेति ज्ञेयम्। तत्र च प्रकटलीलायामपि नित्यप्रेयसीत्वसंस्कारेण नान्यत्र रुचिः स्वयमेव तस्या उदयते इत्यन्तस्तस्मिन् पतिभाव एव। बहिस्तु लोकानुसारेणान्यथा व्यवहार इति दर्शितम्। यथा तत्र वक्ष्यते सा स्वयमेव। "अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते" इति। कृष्णमुदिरमुक्तात्तद्भुक्तावशिष्टादमृतात्तद्वदास्वाद्यादन्नादेः। मुदिरेत्यमृतेति चातकीति च कुतश्चित् कश्चिच्छृणुयादित्याशङ्क्या गोपनार्थमुक्तम्॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—मर्यादा निर्बन्धविशेषः। सा च काचित्स्वाभाविकी काचित् शिष्टाचारदृष्टा काचित्स्वकल्पिता इति क्रमेणोदाहरणत्रयम्। श्यामलया रहसि कदाचित् क्षामत्वदर्शनजातेन स्नेहेन भोजनाय प्रार्थिता राधा तां प्रत्याह—प्राणानिति। यद्वा त्वदर्थं बहुशो यतमानया मया श्रीकृष्णस्त्वां न मिलिष्यतीति निर्द्धारितम् अतः स्वप्राणरक्षणोपायः कोऽप्यन्य एव चिन्त्यतामिति प्रेमपरीक्षणकारिणीं नान्दीमुखीं प्रति पूर्वरागवती राधा प्राह—प्राणानिति। श्रीकृष्णमेघेन वृष्यमाणैः स्वसौन्दर्य-सौरभ्य-सौस्वर्य-सौरस्य-सौकुमार्य-वैदग्ध्यामृतैरेवाहं नेत्रादीन्द्रियाणि जीवयानि नान्यैरिति मे नियमस्तस्मादहं मरिष्याम्येवेति भावः॥३६॥

यथा वा—

आहूयमाना व्रजनाथयास्मि युक्तोऽभिसारः सखि नाधुना मे।
न तादृशीनां हि गुरूत्तमानामाज्ञास्ववज्ञा वलते शिवाय॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरा उदाहरण—स्वनियमरूप मर्यादाका उदाहरण देकर गुरुजनोंकी आज्ञाधीनतारूप मर्यादाको यहाँ दिखला रहे हैं। एक समय श्रीकृष्ण गोचारणके लिए गए, उनके भोजनके लिए तत्कालीन वनमें भेजे जानेवाले मनोहर लड्डू और रसाला आदि पाक करनेके लिए व्रजेश्वरीने श्रीमती राधिकाको बुलानेके लिए धनिष्ठाको भेजा। उसी समय अकस्मात् दैव–इच्छासे श्रीकृष्णको सङ्केत कुञ्जमें भेजकर वृन्दा श्रीमती राधिकाके समीप आई। धनिष्ठा और वृन्दाको एक ही समय आती हुई देखकर श्रीमती राधिका अपना क्या कर्त्तव्य है, उसे निर्धारित कर वृन्दासे बोलीं—"देखो सखि! माँ यशोदाने मुझको बुलाया है। ऐसे गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करना मेरे लिए कल्याणकारी नहीं है॥"३७॥

लोचनरोचनी—आहूयमानेति श्रीव्रजेश्वर्यामेव पूर्ववत् प्राचीनसंस्कारेणैव गुरुबुद्धेरुदयाद्वैदिकाचारनिर्बन्धो दर्शितः। जटिलानाम्न्यां श्वश्रूम्मन्यायां तद्बुद्ध्यभावात्तदाज्ञाभङ्गे न तु दोषबुद्धिरिति च॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—आहूयेति। वृन्दां प्रति श्रीराधावाक्यम्। आह्वानमिदं स्नेहेन कदाचित्तां रात्रावपि भोजयितुमिति ज्ञेयम्। न चात्र प्रेमण्युपहतिराशङ्कनीया। समर्थरतिमतीनां तासां यो हि यो हि स्वाभाविको व्यापारः स सर्व एव श्रीकृष्णस्य सुखप्रयोजनक एव भवेत्। दृष्टश्च कुलाङ्गनानां कान्तवाक्यमनुल्लङ्घ्य तन्मात्रादिनिदेशपालनं स्वाभाविक एव धर्मः। स च तादृशं तत्सौशील्यमा–स्वादयतस्तत्कान्तस्यायत्यां सुखार्थक एवेति ज्ञेयम्। अत्र पद्ये तु अधुनेत्युक्तं न त्वद्येति। ततश्च यद्यवकाशं लप्स्ये तदा तत आगत्यास्याभिसरिष्याम्येव न चेल्ललितां विशाखां वा मत्तुल्यामेव प्रहेष्यामीत्यधुनेति पदेनाभिव्यज्य समाधानमपि कृतमिति ज्ञेयम्॥३७॥

यथा वा—

पूर्णाशीः पूर्णिमासावनवहिततया या त्वयास्यै वितीर्णा,
वष्टि त्वामेव तन्वन्नखिलमधुरिमोत्सेकमस्यां मुकुन्दः।
दिष्ट्या पर्वोदगात्ते स्वयमभिसरणे चित्तमाधत्स्व वत्से,
युक्त्याप्युक्ता मयेति द्युमणिसखसुता प्राहिणोदेव चित्राम्॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—तीसरा उदाहरण—एकबार श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित कोई एक दूती श्रीराधासे मिलकर पुनः श्रीकृष्णके समीप आकर बोली—"हे

व्रजनवयुवराज! मैंने वृषभानुपुत्री श्रीमती राधिकाके समीप जाकर कहा, 'हे राधे! आज सावनी पूर्णिमा है। इसमें सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं। मुकुन्द इसी तिथिमें निखिल माधुर्यको प्रकाशित करते हुए केवल तुम्हारी ही कामना कर रहे हैं। अतएव सौभाग्यवशतः पूर्णिमाका उदय हुआ है। इस अवसरको स्वयं गवाकर तुम चित्राका श्रीकृष्णके निकट क्यों अभिसार करा रही हो? यह उचित नहीं है। वत्से! पुत्रि! तुम स्वयं अभिसारके लिए प्रयत्न करो।' हे गोकुलनाथ! इस प्रकार कहनेपर भी, मेरी बातको अनसुनाकर वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधाने चित्राको ही अभिसारके लिए प्रेरित किया।" इस पद्यमें यह दिखलाया गया है कि श्रीमती राधिका अपनी सहेली चित्राको पहले ही यह वचन दे चुकी थी कि आज मैं तुम्हें ही श्रीकृष्णके पास अभिसारके लिए भेजूँगी। इसलिए श्रीकृष्ण-प्रेरित दूती द्वारा बारम्बार श्रीमती राधिकाको अभिसार करनेके लिए कहनेपर भी श्रीमतीजीने पूर्व सङ्कल्पके अनुसार चित्राको ही भेजा। यह सखियोंके प्रति उनकी सुमर्यादाका उदाहरण है॥३८॥

लोचनरोचनी—काचित् श्रीकृष्णप्रहिता वृद्धा दूती श्रीराधिकामुपदिश्य पुनर्निवृत्य श्रीकृष्णं प्रत्याह—पूर्णाशीरिति। पूर्णा आशीः कामना यस्यां सा पूर्णिमा तिथिर्यानवहितत्वेनास्यै निर्देक्ष्यमाणायै चित्रायै वितीर्णा स्वाभिसारसमयमय्यपि सा तदभिसाराय क्लृप्ता अस्यां तिथावखिलमधुरिमोत्सेकं तन्वन् मुकुन्दस्तामेव वष्टि, न तु त्वामित्यादि युक्तया मयोक्तापि द्युमणिसखसुता वृषभानुपुत्री श्रीराधा तां चित्रामेव त्वयि प्राहिणोत् न तु स्वयमभिससारेति योज्यम्। चित्रायै पूर्णिमासावनवहिततया "या त्वया प्राग्वितीर्णा" तु पाठान्तरम्। "उदेति रक्तः सविता रक्त एवास्तमेति च" इतिवन्नात्र तु कथितपदत्वदोषः॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् श्रीकृष्णप्रहिता वृद्धा दूती श्रीराधिकामुपदिश्य पुनर्निवृत्य श्रीकृष्णं प्रत्याह—पूर्णाशीरिति। पूर्णा आशीः कामना यस्यां सा। पूर्णिमेयं श्रावणी ज्ञेया। तथा च स्मर्यते—"प्रसूनैरद्भुतैः कान्ता कान्तेन श्रावणीदिने। प्रसाधिता प्रसिद्धेन सौभाग्येन विवर्द्धते॥" इति। अनवहिततया अवधानराहित्येन अविचारेणेति यावत्। अस्यै अग्रे निर्देक्ष्यमाणत्वात् चित्रायै वितीर्णा अनभिसिसीर्षवेऽप्यस्यै बलाद्दत्ता। किंतु अस्यां तिथावखिलमाधुर्योद्रेकं विस्तारयन्मुकुन्दस्त्वामेव वष्टि कामयते न त्विमां इत्यादियुक्तया मयोक्तापि द्युमणिसखस्य सूर्यमित्रस्य वृषभानोः सुता चित्रामेव प्राहिणोत् न तु स्वयमभिससारेति। अत्रापि न प्रेममर्यादोपहतिराशङ्कनीया। तथा हि तस्या

मनोगतोऽयं विचारः। अहं हि तेन स्वविलाससुखार्थमङ्गीकृत्य वर्ते एव। तथा ललिताविशाखे अपि द्वे तत्सुखदाने समर्थे एव। किंत्वियं चित्राप्यद्य तेन संभुक्ता प्रसाधिता एतत्तिथिप्रभावात् तस्मै अहमिव रोचताम्। काममहोदधेस्तस्याकाङ्क्षा पूर्तये किमहमेकाकिनी भवितुमीशे परन्तु मयि संप्रयोगलीलयां तेन स्वकामस्यापूर्तावपि मद्विषयकप्रेम्णैव पूर्तिरभिनीयते। अतोऽहमपि तथा साधयामि यथा सर्वाभिः सखीभिरपि सहिता तत्कामपूर्तये कदाचिदपि भूयासमिति। अतएव नित्यमपि स्वसंभोगान्ते कैरपि मिषैस्तं प्रेर्य यत् स्वसखीः संभोजयति तत्र सखीषु स्नेहो गौण एव हेतुः किन्तु स्वकान्तस्य कामपूर्तिवाञ्छैव मुख्यः। अतः सख्योऽपि श्रीराधायाः स्वकान्तसुखदाने प्रवृत्तायास्तस्याः साहाय्यमेवैतदिति तदभिप्रायं विदुष्य एव तत्र संमता भवन्ति। अन्यथा तास्तत्सख्येनैव सुखिन्यो नायिकात्वं न समं मंस्यन्त इति विवेचनीयम्॥३८॥

अथ धैर्यशालिनी—

तीव्रस्तर्जति भिन्नधीर्गृहपतिश्छद्मज्ञया पद्मया
हारं हारयते हरिप्रणिहितं कीशेन भर्तुः स्वसा।
मल्लीं लुम्पति कृष्णकाम्यकुसुमां शैब्या प्रिया वर्करी
राधा पश्य तथाप्यतीव सहना तूष्णीमसौ तिष्ठति॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—धैर्यशालिनी—पराधीनताके कारण श्रीमती राधिकाके असहनीय दुःख और धैर्यको अनुभव करती हुई परम कृपालु पौर्णमासीजी अश्रुपूरित नेत्रोंसे नान्दीमुखीको कहने लगीं—"छलनेमें अतिशय अभिज्ञा अथवा श्रीराधाके पति इत्यादिकी वञ्चनारूप छलनामें परम अभिज्ञा विपक्ष-पक्षवाली पद्माके द्वारा उत्तेजित महाक्रोधी पतिमन्य अभिमन्यु कुपित होकर तर्जन-गर्जन कर रहा है, ननद कुटिलाने अपनी शिक्षिता वानरीके द्वारा उनका श्रीकृष्ण-प्रदत्त हार चुरा लिया है। शैब्याने अपनी प्रिय बकरी द्वारा श्रीकृष्णके वाञ्छनीय अत्यन्त सुकुमार और सुगन्धयुक्त मल्लिकाके पत्र और पुष्पोंको भक्षण करा दिया है, अपनी आँखोंसे यह सब देखकर भी अतिशय धैर्यशालिनी श्रीराधा मौन धारण किए खड़ी है॥"३९॥

लोचनरोचनी—पद्मया तन्नाम्न्या प्रतिपक्षायमाणचन्द्रावलीसख्या। कीशेन शिक्षां ग्राहितेनेति च ज्ञेयम्। शैब्यापि पद्मावद् व्याख्येया। प्रियेण निहितं भर्तुः स्वसा डिम्भयेति शैब्या निर्दिष्टः शिशुरिति च पाठान्तरम्। मल्लीं तदुपवनलतां प्रियेण श्रीकृष्णेन भर्तुः पतिंमन्यतया भरणमात्रकर्तुः। यथा वा ग्रन्थकृतामेव पद्यान्तरम्—"रासे निवृत्ते

तु सपत्निकानां वक्रोक्तिमाकर्ण्य निजालिवक्त्रात्। राधा विहस्याह भवत्य एव द्विषन्ति तासां न तु तादृशस्ताः॥"३९॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी नान्दीमुखीं प्रत्याह—तीव्रेति। तीव्रः क्रोधी छद्मज्ञया "त्वां वञ्चयित्वा त्वद्भार्या राधा एवमेवं करोति" इति वादिन्या पद्मया भिन्ना धीर्यस्य सः गृहपतिरभिमन्युः। हरिप्रणिहितं कृष्णदत्तं हारं कीशेन वानरद्वारा हारयते "रे कीश! तुभ्यं उदरपूरं मोदकं, दास्ये यदेतं रहसि संपुटं उद्घटय्य पश्यति, तदा त्वया अलक्षितमेव हारो हृत्वा मत्पाणौ निधेयः" इति शिक्षां ग्राहितेनेति ज्ञेयम्। भर्तुः स्वसा ननान्दा कुटिलानाम्नी। शैब्या प्रियेति तन्निर्दिष्टेत्यर्थः। "वर्करस्तरुणः पशुः" इत्यभिधानात् वर्करी छागी हरिणी वा लुम्पति। भक्षितपत्रपल्लवां करोति॥३९॥

अथ गाम्भीर्यशालिनी—

कलहान्तरितापदे स्थितिं सखि धीराद्य गतापि राधिका।
बहिरुद्भटमानलक्षणा सुदुरूहा ललिताधियाप्यभूत्॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—गाम्भीर्यशालिनी—एक बार अत्यन्त उदास और क्लान्त होनेपर भी बाह्यतः मानिनी श्रीमती राधिकाको देखकर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्ना रूपमञ्जरी अपनी सखी विशाखासे कह रही है— "कलहान्तरिताकी अवस्थामें रहनेपर भी बाह्यतः मानके लक्षणोंको धारण कर आज धीरा राधिका ललिता आदिके लिए भी दुर्गमा दीख रही हैं अर्थात् राधिकाका यह गम्भीर भाव ललिताके लिए भी अगम्य हो रहा है॥"४०॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी स्वसखीं प्रत्याह—कलहेति। पदं व्यवसायः। क्षोभस्य कारणेऽपि क्षोभानुद्भवो धैर्यमिति यद्यपि धैर्यस्य लक्षणं तदप्यत्रातीव सहनेति पदद्योतितस्य क्षोभस्य प्रेमपोषत्वात् कारणजनितान्तःक्षोभप्राकट्येऽपि तत्प्रतीकाराकरणं धैर्यम्, अन्तर्जातस्य क्षोभस्य बहिर्लक्षणाभावो गाम्भीर्यमित्यनयोर्भेदः कल्प्यः॥४०॥

अथ सुविलासा—

तिर्यक्क्षिप्तचलद्दृगञ्चलरुचिर्लास्योल्लसद्भ्रूलता
कुन्दाभस्मितचन्द्रिकोज्ज्वलमुखी गण्डोच्छलत्कुण्डला।
कन्दर्पागमसिद्धमन्त्रगहनामर्द्धं दुहाना गिरं
हारिण्यद्य हरेर्जहार हृदयं राधा विलासोर्मिभिः॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—सुविलासा—एक समय यमुनातीरपर श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न विलास नामक अलङ्कारसे विभूषिता श्रीमती राधिकाको देखकर रूपमञ्जरी किसी सखीसे कहने लगी—"श्रीमती राधिकाका दृगञ्चल कैसा चञ्चल होकर वक्रभावसे इधर–उधर निक्षिप्त हो रहा है? भ्रू–लता कितना सुन्दर नृत्य कर रही है? प्रस्फुटित कुन्द पुष्पके समान हास्यचन्द्रिकासे मुखचन्द्र कैसा समुज्ज्वल हो रहा है? कपोलोंपर कुण्डल दोदुल्यमान हो रहे हैं, वदनचन्द्रसे ऐसे मधुर–वाक्य निकल रहे हैं, जिनके द्वारा कन्दर्प सम्बन्धी सभी आगम अर्थात् वशीकरण, उच्चाटन, उन्मादन, मोहन आदि सिद्धमन्त्र असम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। वक्षस्थलपर मनोरम हारादिके विलास–तरङ्गोंसे श्रीकृष्णका हृदय अपहृत हो रहा है अर्थात् ऐसी भावभंगीसे श्रीराधा श्रीकृष्णके चित्तको भी हरण कर रही हैं॥"४१॥

लोचनरोचनी—लास्येनैवोल्लसन्ती भ्रूलता यस्याः। लास्यभ्रमद्भ्रूलतेति वा पाठः। कुन्देत्यत्र च सान्द्रश्रीस्मितचन्द्रिकाकरमुखीति वा पाठः। कन्दर्पागमे ये सिद्धमन्त्रास्तद्वद्गहनां दुर्बोधप्रभावां झटिति स्तम्भमोहनादिकारिणीमित्यर्थः। दुहाना व्यञ्जयन्तीत्यर्थः॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—तिर्यगिति। तस्या एव वचनम्। केलिनिकुञ्जमध्ये कुसुमास्तरणवेदिकायां विराजमानस्य श्रीकृष्णस्य वामपार्श्व एव बलादानीय सखीभिरुपवेशितायां श्रीराधायां श्रीकृष्णसंमुख एव संवादार्थमुपविष्टासु सखीषु श्रीकृष्णे च तस्याः संकोचाभावार्थं स्वसौन्दर्य्यावलोकनदानार्थ च सख्यभिमुखमेव स्वमुखं कृत्वा, हंहो चकोराक्ष्यः किं वक्तव्यमद्य मद्भाग्यस्य प्राबल्यं यतोऽत्र विविक्ते गौरीमन्त्रस्मरणं कुर्वाणस्य मम शुभसूचकं शकुनम्, यद् वनमध्येऽपि रजन्यामपि परमसुकृतिनीनां स्वाङ्गभासैव तमिस्रायामपि सर्वं तमो विलुम्पतीनां परमसाध्वीनामाकस्मिको दर्शनलाभ इत्युक्तवति श्रीकृष्णे प्रथमं तिर्यक्क्षिप्तचलद्दृगञ्चलरुचिः तिर्यक् क्षिप्तेन, न तु मुखं व्यावृत्य पुरोनिहितेन, तत्रापि चलता, न तु त्रुटिमपि स्थिरीभवता दृशोऽञ्चलेनैव न तु केनापि संपूर्णेन भागेन रुची रोचकत्वमयी कान्तिर्यस्याः सा, तेन वयमेव परं केवलमसाध्वयो भवानेव साधुर्निजेष्टदेवता–गौरीसंभोगस्मरणपर इति नर्मार्थं व्यञ्जयामास किं चाद्य केनापि ज्योतिर्विदोक्तं—रसिकेन्द्र! कापि जाम्बूनदमाला त्वत्कण्ठम् अलङ्करिष्यतीत्युक्तवति तस्मिन् लास्येनोल्लसन्त्यौ भ्रूलते यस्याः सा। जाम्बूनदमाला अलङ्करिष्यतीत्युक्तवति "मनोरथं नैव जानीहि; अहं तु यावत् सख्योऽत्र तिष्ठन्ति तावदेवात्रास्मि गच्छन्तीष्वेतासु प्रथममेवेतो निःसृत्य यास्यामि" इति

भ्रूलास्यस्यार्थः। "व्रजराजसूनोस्ते जाम्बूनदमाला बहुश एव सन्ति, न ता दुर्लभाः किंत्वद्य सुरतरुमेव त्वया शुभादृष्टवता लब्धः" इति सखीभिः प्रत्युक्ते "सत्यमात्थ भोः सुरतरोरक्षरत्रयादेवाहं कृतार्थीभविष्यामि किं पुनस्तेन संपूर्णेन सदा तास्तेन" इत्युक्तवति कृष्णे कुन्दाभं यत् स्मितं तस्य चन्द्रिकया ज्योत्स्नयोज्ज्वलं मुखं यस्याः सा। स्मितमिदं रत्याख्यस्थायिभावोत्थमवहित्थया संवृतमपि किंचिन्निःसृतम्। अतएव कुन्दाभं तत्कान्तिश्च महती संपूर्णश्रीमुखपर्यन्तव्यापिनीति चन्द्रिकया सा रूपिता। ततश्च कृष्णे धृत्यसमर्थे स्वमुखं तिरश्चीनीकृत्य तस्या मुखं पश्यति सति तत्क्षण एव तयापि स्वमुखे स्ववामपार्श्वे परावर्तिते सति तद्दक्षिणगण्डे कुण्डलस्योच्छलनं जातमित्याह—गण्डोच्छलत्कुण्डलेति। तदुच्छलन-चाकचिक्यद्योतित-दक्षिणकर्णालकगण्डललाटिकापाङ्गदेशान्तां प्रियामालोक्यानन्दस्तम्भालम्भिनि श्रीकृष्णे तया दक्षिणपाणिधृतेनाञ्चलेन मुखमाच्छाद्य रत्युत्थमदहर्षव्रीडौत्सुक्य-चापल्यजाड्यादिभावसंमर्दव्यञ्जकेन स्वरेण स्वयमेव प्रत्युत्तरं दत्तमित्याह—कन्दर्पेति। कन्दर्पस्य आगमशास्त्रे ये सिद्धमन्त्रा वशीकरणोच्चाटनोन्मादन-मोहनादिधर्माणस्तैर्गहनां कलिलां व्याप्तामिति यावत्। गिरमर्धं दुहाना, असंपूर्णमेव पूरयन्तीत्यर्थः। अत्र सिद्धमन्त्रा इत्यतिशयोक्तया पत्युक्तरस्यैकैकवर्णा ज्ञेयाः, ततश्च ते वर्णा न भवन्ति किन्तु सिद्धमन्त्रा एवेत्यपह्नुतिरतिशयोक्तया व्यञ्जिता भवति। प्रत्युत्तरं चेदम्—वनपथिनस्ते वनपद्मिनीष्वेव तदक्षरत्रयं सेत्स्यति न पुनर्मया कल्पवल्ल्येति। अस्यायं भावः—वाञ्छितप्रदायामपि कल्पवल्ल्यां सुरतं न सिध्यति किंतु तद्विसृष्टेषु पद्मिनीजनेष्वेवेत्यतो मया तुभ्यं तदर्थं स्वसख्यो दत्ता इति तास्वपि नर्मप्रत्युक्तिर्ध्वनिता। ततश्च यद्यस्मांस्त्वं स्वकान्ताय दित्ससि तर्हि वयं वनपद्मिन्यः पलाय्य वनमेव गच्छाम इति सखीषु निर्गच्छन्तीषु श्रीराधायामपि निर्गन्तुमुद्यतायां तां बलात् श्रीकृष्णः सकण्ठग्राहमाश्लिष्य पुष्पशय्यायां निन्य इति ज्ञेयम्। विलासाख्यस्यालंकारस्योर्मिभिस्तरङ्गैरिति तस्यां प्रियमुखचन्द्रक्षोभितसमुद्रत्वारोपः। "माधुर्यवारिधेरस्मादमन्दध्वनिनिर्भरात्। पद्यादर्थमणीन्नेशे ग्रहीतुमपि दीनधीः॥"४१॥

अथ महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी—

अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
ज्योत्स्नीस्यन्दि विधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्य पुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
राधा वेणुधरप्रवातकदलीतुल्या क्वचिद्वर्तते॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—अब महाभावकी परमोत्कर्ष दशाको प्राप्त होनेवाली श्रीराधाजीका स्वरूप वर्णन करते हैं—कलहान्तरिका श्रीराधाजीकी सखी श्रीकृष्णको राधाजीकी अद्भुत दशाका दिग्दर्शन करा रही है। सखी

श्रीकृष्णसे कह रही है कि राधाजीके विषयमें क्या कहा जाए, आपके वियोगमें उसके नेत्रोंसे बहनेवाली अविरल अश्रुधारासे सूर्यनन्दनी यमुनाका प्रवाह दुगुना हो गया है। जिससे ज्योत्स्नाका प्रभाव निकल रहा है, ऐसी चन्द्रकान्त मणिके समान विग्रहको धारण कर रही है। उसके कण्ठके भीतर वाणीके अवरुद्ध होनेसे बोलीमें वैस्वर्य आ गया है। सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्चके कारण वह कदम्ब वृक्षकी आकृतिको प्राप्त कर चुकी है। हे वंशीधर श्यामसुन्दर! श्रीराधाजी आपके विरहमें कांपती हुई कदली वृक्षके समान हो रही है॥४२॥

लोचनरोचनी—अश्रूणामित्येतत् श्रीकृष्णं प्रति श्रीराधासखीवाक्यमुदात्तालंकारमयं ज्ञेयम्। यदुक्तम्—"लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते" एष चालंकारस्तत्तद्वस्तूना-मतिशयतामात्रव्यञ्जनातात्पर्यकः। ज्योत्स्नीस्यन्दीति क्रमेण स्वेदस्तम्भवैवर्ण्यानि दर्शितानि। छाया कान्तिः। त्रुटदिति तौदादिकत्वात्, प्रकृष्टा वाता यस्यां सा प्रवाता कम्पमाना या कदली तत्तुल्या। क्वचिद्वर्तत इति वेणुधरस्य वेणुना तामाकृष्टवतस्तस्योत्कण्ठावर्धनार्थमनिश्चयेनोक्तिः। वस्तुतस्तु समीपतः कुञ्जान्तर्गुप्तं स्थित्वा तं पश्यन्त्येव सा वर्तते यतो ज्योत्स्नीस्यन्दीति दृष्टान्तेन प्रियदर्शनजमहासुखमेव तस्या व्यञ्जितम्। स एष सूद्दीप्तसात्त्विकमयो रूढाख्यो महाभावः स्पष्टः। यथा च वक्ष्यते—"सूद्दीप्ताः सात्त्विका यत्र स रूढ इति भण्यते" इति। तदेतदुपलक्षण-मेवाधिरूढादीनां स्थायिप्रकरणे वक्ष्यमाणानां ज्ञेयम्॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरितायाः श्रीराधायाः सखी श्रीकृष्णमाह—अश्रूणामिति। ननु नत्युपेक्षादिभिरुपायैर्मयापि दुःशकप्रसादायाः मानिन्यास्तस्या एवं वृत्तत्वे को हेतुस्तत्राह—वेणुधरेति। सर्वास्त्राणां मोघत्वे वीरेण यद्ब्रह्मास्त्रं प्रयुज्यते तदुचितमेवेति भावः। तदधुना तन्निकटगमने क्षणमपि विलम्बो न कार्य इत्याह—अश्रूणामिति। तेन जलोपप्लुतमार्गत्वे क्षणेनैव जनिष्यमाणे त्वया सुकुमारेण मया वा अबलया कियत् संतरणीयमिति भावः। किञ्च मुहूर्तं तस्याः प्राणाः स्थास्यन्त्येवेत्याह—ज्योत्स्नीस्यन्दीति। स्फूर्त्यैवोदितस्य त्वन्मुखचन्द्रस्य दर्शनोत्थानन्द एव तत्र हेतुरिति भावः। स्यन्दीति प्रस्वेदः। विधूपलप्रतिकृतीति स्तम्भः। छायामिति वैवर्ण्यं द्योतितम्; चन्द्रकान्तशिलायाः पाण्डुरवर्णत्वात्। तदपि प्रेम्णा औष्ण्यांशस्यैव विश्लेषे प्राबल्याद्दशमीमेव दशामासन्नप्रायां जानीहीत्याह—कण्ठान्तरिति। हे कृष्ण! प्राणनाथेति विवक्षुरित्यर्थः। त्रुटदक्षरेति वैस्वर्यम्। त्रुटदिति तौदादिकत्वात्। प्रकृष्टवातकदलीति कम्पः। पश्चाद्भूमिपतनद्योतितः प्रलयश्च। बाध्यबाधकसंबन्धे षष्ठीसमासः। प्रकृष्टो वातो यस्यां तथाभूता कदलीति वा। अत्र पद्ये सर्व एव सात्त्विकाः सुदीप्ता महाभावविशेषं

सूचयन्ति। तथा हि वक्ष्यते—"मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत्। यस्मिन् विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः॥" इति॥४२॥

अथ गोकुलप्रेमवसतिः—

प्रेमसन्ततिभिरेव निर्ममे वेधसा नु वृषभानुनन्दिनी।
या दृशां पदमिता मनांसि नः स्नेहयत्यखिलगोष्ठवासिनाम्॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—गोकुलप्रेमवसति—एक समय पाक क्रियाके लिए यशोदाजीके द्वारा बुलाई जानेपर दूरसे ही श्रीमती राधिकाको देखकर अत्यन्त स्नेहाक्रान्त हृदयसे व्रजेश्वरी किसी सखीसे कह रही हैं—"विधाताने कैसे अद्भुत प्रेमसमूहके द्वारा वृषभानुनन्दिनीकी सृष्टि की है; क्योंकि उसको देखनेसे ही गोष्ठमें वास करनेवाले सभी लोगोंका मन उसके प्रति स्नेहसे द्रवीभूत हो जाता है॥"४३॥

लोचनरोचनी—प्रेमसंततिभिरेवेति। कांचिन्निजहार्दं व्याजेन पृच्छन्तीं प्रति श्रीव्रजेश्वर्या वाक्यम्। स्नेहसंततिभिरिति वा पाठः॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रातः पाकार्थं स्वसदनमायान्तीं श्रीराधां दूरात् पश्यन्ती श्रीव्रजेश्वरी स्वसखीः प्रत्याह—प्रेमेति। वस्तुतः प्रेम्णः संततयोरंशाः स्नेहाद्यास्तैः सर्वैरप्युपादानकारणैरित्यर्थः। इता प्राप्ता॥४३॥

अथ जगच्छ्रेणीलसद्यशाः—

उत्फुल्लं किल कुर्वती कुवलयं देवेन्द्रपत्नी श्रुतौ
कुन्दं निक्षिपती विरिञ्चिगृहिणी रोमौषधीहर्षिणी।
कर्णोत्तंससुधांशुरत्नसकलं विद्राव्य भद्राङ्गि ते
लक्ष्मीमप्यधुना चकार चकितां राधे यशःकौमुदी॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—जगत्श्रेणी–लसद्‌यशा—एक समय श्रीमती राधिकाकी यशोराशिका अनुभवकर पौर्णमासी उनको कह रही हैं—"हे परम सुन्दरि राधे! तुम्हारी यशःकौमुदी (यशरूपी चाँदनी) कुवलय (पृथ्वी मण्डल अथवा इन्दीवर) को प्रकाशित करते हुए स्वर्गस्थित देवेन्द्रकी भार्या शची अपने कानोंके आभूषणस्वरूप दिव्य कुन्दपुष्पोंको धिक्कार देकर मानो तुम्हारी यशः कौमुदीको ही कर्णफूल (अवतंस) रूपमें धारण कर रही है अर्थात् तुम्हारे यशको सुनकर प्रफुल्लित हो रही है।

विरञ्चि-पत्नी सावित्रीकी रोमावलीरूप औषधिका हर्ष विधानकर रही है अर्थात् तुम्हारे यशको सुनकर सावित्री पुलकित हो रही है और लक्ष्मीके कर्णभूषण स्थित चन्द्रकान्तमणिके खण्डसमूहको भी द्रवीभूतकर उसको भी चमत्कृत और सम्भ्रमग्रस्त कर रही है अर्थात् श्रीलक्ष्मीजी भी तुम्हारे यशको सुनकर चमत्कृत हो रही है।" इस पदमें सर्वत्र श्रीमती राधिकाके यशको चन्द्रकी ज्योत्स्नाकी भाँति सर्वत्र व्याप्त दिखलाया गया है॥४४॥

लोचनरोचनी—उत्फुल्लं किल कुर्वती कुवलयमिति। कुवलयशब्दस्य पृथ्वीमण्डलवाचित्वाद्यशस्युपयुक्तता, कुमुदवाचित्वात् कौमुद्युपयुक्तता च युक्ता। कुन्दं निक्षिपतीति कविसमये यशसः शुक्लत्वात् कुन्दमिवेत्यर्थः। कौमुद्या अपि तत्र पतनेन कुन्दभ्रमदत्वात्तदिवेत्यर्थः। विरिञ्चीत्यादावौषधिरूपकेण कौमुदीरूपकमपि पुष्यते। विद्राव्येति तु कवेः प्रौढोक्तिः। लक्ष्म्याश्च पद्मालयत्वात् कौमुदीरूपकस्योपयोगिता। विद्राव्य पद्मालयामप्युच्चैस्तरचञ्चलीकृतवतीति वा पाठः॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी प्राह—उत्फुल्लमिति। कुवलयं भूमण्डलमेव, परम्परितरूपकेण कुवलयं नीलोत्पलं तदुत्फुल्लं कुर्वती। अत्र अतलादीनां सप्तपातालानां भूविवरत्वात् कुवलयपदेनैव व्याप्तिः। तत्र तत्रस्थाः सर्व एव जनास्ते यशः श्रुत्वा प्रहृष्टा बभूवुरित्यर्थः। सप्तस्वर्गव्याप्तिमाह—देवेन्द्रपत्नी शची तस्याः श्रुतौ कुन्दं निक्षिपती अवतंसार्थं कुन्दपुष्पमर्पयन्तीति चन्द्रिकायास्तत्र पतितायाः कुन्दभ्रमदायित्वात्। पक्षे शची त्वद्यशः सादरं शृणोतीत्यर्थः। अत्र कुन्दस्य पुष्पेषु सूक्ष्मत्वात् तत्पदेन देवेन्द्रपत्न्या महाविषयाभिनिवेशान्धतमसमयगह्वरान्तर्वासित्वं ध्वन्यते देवत्वमात्रसूक्ष्ममगवाक्षरन्ध्रात्प्रविशन्ती त्वद्यशश्चन्द्रिका तस्या एकस्यामेव श्रुतौ कुन्दाकारैव भवति। विरिञ्चिगृहिण्याः सावित्र्या रोमाण्येव औषध्यस्ता हर्षयितुं शीलं यस्याः सा। अत्र रोमौषधिपदेन तस्या विषयवैतृष्ण्यमयसत्त्वगुणचन्द्रशालाप्राङ्गणवासित्वं ध्वन्यते। यतस्ते यशःकौमुदी तस्याः सर्वाङ्गाण्येव शीतलीकृत्य रोमाञ्चयतीति। एवं सत्यलोकपर्यन्ता व्याप्तिरुक्ता भूर्लोकादीनां तन्मध्यपतितत्वात्। एवं च सर्वं प्राकृतं व्याप्याप्राकृतमपि व्याप्नोतीत्याह—कर्णोत्तंसेति। सुधांशुरत्नशकलं चन्द्रकान्तशिलाखण्डं विद्राव्य विद्रवीभावं प्रापय्य तद्द्रुतजलक्लिन्नाङ्गीं तां कृत्वा चकितां शङ्काजाड्य-विस्मयस्तिमितां चकार। अत्र विद्राव्येति चकितामितिपदाभ्यां त्वद्यशःकौमुद्या सा बहिरन्तराक्रान्ता; अतिस्वच्छा प्राकृतमालिन्यशून्या सूचिता। आसु आद्यायाः श्रवणमात्रस्पर्शो न च सात्त्विकभावोदयः कोऽपि। द्वितीयायाः सर्वाङ्गस्पर्शो रोमाञ्चश्च। तृतीयायाः बहिरन्तः-सर्वाङ्गव्याप्तिः संचारिभावपर्यन्तोदय इति स्वच्छत्वतारतम्येनैव त्वद्यशःप्रवेशतारतम्यं अ तिमालिन्ये प्रवेशाभावश्चेति सिद्धान्तश्च बोधितः॥४४॥

अथ गुर्वर्पितगुरुस्नेहा—

न सुतासि कीर्तिदायाः किन्तु ममैवेति तथ्यमाख्यामि।
प्राणिमि वीक्ष्य मुखं ते कृष्णस्येवेति किं त्रपसे॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—गुरुजनके स्नेहकी पात्री—एक समय किसी महोत्सवके उपलक्षमें बुलाई हुई श्रीराधासे श्रीयशोदाजी द्वारा अत्यन्त आग्रहपूर्वक कुछ पूछनेपर, लज्जाके मारे श्रीमती स्वयं उत्तर न देकर ललिताके कानोंमें धीरे-धीरे कुछ कहने लगी। उनको ऐसा करते देख यशोदाजीने कहा—"बेटी! तुम कीर्त्तिदाकी बेटी नहीं, बल्कि मेरी ही कन्या हो—यह सर्वथा सत्य है। श्रीकृष्ण, जैसे मेरे प्राणस्वरूप है, तुम भी वैसे ही मेरी जीवनस्वरूपा हो; तुम्हें देखकर मुझे वैसा ही आनन्द होता है, जैसा श्रीकृष्णको देखनेसे; अतएव तुम लज्जा क्यों कर रही हो?"॥४५॥

लोचनरोचनी—न सुतासीति श्रीव्रजेश्वरीवाक्यमाहूयमानेत्यादिवत्तादृशभावोऽत्र योज्यः। अलंकारश्चात्रापह्नुतिः। यथोक्तम्—"प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः" इति॥४५॥

आनन्दचन्द्रिका—निजाग्रे मुखमावृत्यैव लज्जया किमप्यवदन्तीं राधां व्रजेश्वरी प्राह—न सुतेति। त्वन्मातुः सकाशात्त्वयि मम स्नेहो मनागपि न न्यूनः, कीर्तिदायशोदयोरैक्यादिति भावः। प्राणिमीति प्रतिप्रातस्त्वदाह्वाने इदमेव मुख्यं कारणमिति त्वयापि ज्ञातुं शक्यमिति ध्वनिः॥४५॥

अथ सखीप्रणयाधीना—

उपदिश सखि वृन्दे वल्लवेन्द्रस्य सूनुं
किमयमिह सखीनां मामधीनां दुनोति।
अपसरतु सशङ्कं मन्दिरान्मानिनीनां
कलयति ललितायाः किं न शौटीर्य्यधाटीम्॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—सखीप्रणयाधीना—चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण, यह जानकर कि श्रीमती राधिकाके हृदयसे मान दूर हो गया है, वृन्दाके साथ निर्जनमें श्रीमतीके समीप आकर अनुनय विनय करने लगे। उनके ऐसा करनेपर श्रीमती राधिका वृन्दाजीको कह रही हैं—"हे सखि वृन्दे! व्रजेन्द्रनन्दनको उपदेश दो। मैं सखियोंके अधीन हूँ, वे मुझे क्यों पीड़ा दे रहे हैं?

मानिनियोंके मन्दिरसे वे शङ्कापूर्वक अपसरण करें अर्थात् बाहर जाएँ। क्या वे ललिताकी अत्यन्त प्रगल्भता (प्रखरापन) को नहीं जानते?"॥४६॥

लोचनरोचनी—शौटीर्यं विक्रमातिशयस्तेन धाटीं किं न कलयति किं न जानाति। "छलादाक्रमणं धाटी" इति क्षीरस्वामी॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता श्रीराधा प्राह—उपदिशेति। शौटीर्यं विक्रमः। बलादाक्रमणं धाटी। ललिताया इत्यनेनैका ललितापि तेन दुरतिक्रमा। सखीनामिति बहुवचनेन तादृश्यस्तु मे बह्व्य एवं सख्यो वर्तन्त इति प्रकटो ध्वनिः। वस्तुतस्तु एका ललितैव तदसंमता, तेन सा तेनानुनीय वशीकार्येति गूढः। अहन्तु केवलं न तस्या एकस्या एवाधीनास्मि किन्तु सखीनामन्यासामपीत्यतस्तत्सा-हाय्यवतीर्विशाखाप्रभृतीराश्रित्य स्वकृत्यं साधनीयमिति पूर्वमाश्वासपूर्वको गूढोपदेशः॥४६॥

अथ कृष्णप्रियावलीमुख्या यथा ललितमाधवे (१०/१०)—

सन्तु भ्राम्यदपाङ्गभङ्गखुरलीखेलाभुवः सुभ्रुवः
स्वस्ति स्यान्मदिरेक्षणे क्षणमपि त्वामन्तरा मे कुतः।
ताराणां निकुरम्बकेण वृतया श्लिष्टेऽपि सोमाभया
नाकाशे वृषभानुजां श्रियमृते निष्पद्यते स्वच्छता॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियावलीमुख्या—श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंमें श्रीमती राधा ही सर्वप्रधाना हैं। श्रीकृष्णने कहा—"हे खञ्जरीट नयने! राधे! व्रजमें बहुत-सी सुभ्रूयुक्त सुन्दरियाँ हैं; जो अपने चञ्चल कटाक्षपूर्ण नेत्रोंसे नाना प्रकारके भावोंको सुव्यक्त करती हैं; किन्तु जैसे असंख्य ताराओंसे परिवृत चन्द्ररश्मि-समन्वित आकाश ज्येष्ठ माहकी प्रखरतर रवि-किरणोंके बिना स्वच्छताको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही तारा नाम्नी यूथेश्वरीसे परिवृत चन्द्रावली द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी मेरा हृदय आकाश वार्षभानवीकी शोभा-सम्पत्तिके बिना स्वच्छ नहीं होता, अर्थात् तुम्हारे बिना क्षणभरके लिए भी मेरा मन प्रसन्न नहीं होता।" नक्षत्रमण्डलसे परिवृत चन्द्रमाकी कान्तिसे आकाश उतना स्वच्छ नहीं होता जैसे ज्येष्ठ माहमें सूर्यकिरणोंसे आकाश स्वच्छ होकर शोभित होता है। यहाँपर तारा नामक यूथेश्वरीकी तुलना असंख्य तारों, चन्द्रावलीकी तुलना चन्द्र तथा श्रीराधाजीकी तुलना रविसे की गई है॥४७॥

लोचनरोचनी—ताराणामित्यादिकमर्थान्तरन्यासमयम्। किन्त्वत्र श्लेषोऽप्यस्ति। यः खलु तद्वन्तमेवार्थं पुष्णाति। तत्र ताराणां तत्सदृशीनां सोमाभया तदेकपर्यायचन्द्रावलीनाम्न्या वृषभानुजां श्रियं श्रीराधामाकाशे आ सम्यक् काशत इति श्रीकृष्णे। स्वच्छता अग्लानचित्तता॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः प्राह—सन्तु भ्राम्यदिति। भ्राम्यतामपाङ्गानां भङ्गिर्विन्यासविशेषस्तत्र खुरली अभ्यासस्तस्य खेलाभुवो निरन्तरमेव मद्वशीकारे प्रवृत्ता इति भावः। किन्तु विफलाभियोगा एव भवन्तीत्याह—स्वस्तीति। त्वामन्तरा त्वां विनेति त्वद्वपुषः पृष्ठाद्येकप्रदेशा अपि दृष्टवा मां स्वस्तिमन्तं कुर्वन्ति तासां तादृशापाङ्गभङ्ग्योऽपि नेति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासेन दृष्टान्तः—ताराणामिति। सोमस्य आभया संपूर्णकान्त्यापि तारामण्डलीजुष्टयापि श्लिष्टे गाढस्पृष्टेऽपि वृषभानुजां ज्येष्ठमासीयसूर्योत्पन्नां श्रियमेकामपि शोभां ऋते विना स्वच्छता निरन्धकारता। श्लेषपक्षे त्वेवमवतारिका—ताः सुभ्रुवो दूरे वर्तन्तां, तासु मुख्या चन्द्रावल्यपि मत्सुखसमृद्धये न प्रभवतीत्याह—तारेति। ताराणामतिशयोक्तया स्वसखीनां भद्रादीनां च। सोमाभया चन्द्रावल्याश्लिष्टेऽपि पुरुषायितया सत्याप्यालिङ्गिते आकाशे अतिशयोक्त्या मद्धृदये वृषभानुपुत्रीश्रियं संपत्तिं विना स्वच्छता निर्दुःखता। अत्र तां विनाभूतं तु मद्धृदयं रङ्कं निःशोभं च सदा तिष्ठतीति श्रीपदव्यङ्ग्यं वस्तु॥४७॥

अथ संतताश्रवकेशवा—

> **षडङ्घ्रिभिरमर्दितान् कुसुमसंचयानाचिनो–**
> **दखण्डमपि राधिके बहुशिखण्डकं त्वद्गिरा।**
> **अमुञ्च नवपल्लवव्रजमुदञ्चदर्कोज्ज्वलं**
> **करोतु वशगो जनः किमयमन्यदाज्ञापय॥४८॥**

तात्पर्यानुवाद—संतताश्रवकेशवा अर्थात् सदा–सर्वदा केशव जिनके आज्ञाधीन हैं—एक दिन श्रीमती राधिकाने श्रीकृष्णसे कहा—"हे नाथ! तुम जिस पल्लवके द्वारा मेरे वेशकी रचना करते हो, वह सुन्दर नहीं दीखता। अतएव पत्र त्यागकर भ्रमर द्वारा अभुक्त पुष्प (जिन्हें भ्रमरोंने भी स्पर्श न किया हो) और मयूरपिच्छ चयन कर ले आओ। मैं अपने हाथोंसे वेशरचना करूँगी।" श्रीराधाके इस प्रकार कहनेसे श्रीकृष्ण यथाशीघ्र भ्रमर द्वारा अभुक्त पुष्प, मयूरपिच्छ और नाना प्रकारके सुन्दर पल्लव आदि चयनकर ले आए और बोले—"प्रिये! मैं तुम्हारे आदेशसे षडङ्घ्री (भ्रमर) द्वारा अमर्दित पुष्प चयनकर तुम्हारे समीप लाया हूँ।

अब मुझे आदेश दो, तुम्हारा यह आज्ञाधीन सेवक तुम्हारे लिए और क्या करे?"

यद्यपि यहाँपर राधाजीके आदेशसे पुष्पचयन इत्यादि द्वारा श्रीकृष्णकी राधा–अधीनता प्रकाशित हो रही है, तथापि इससे श्रीराधाजीकी भी सदा श्रीकृष्ण–अधीनता ध्वनित होती है अर्थात् श्रीकृष्णकी अधीनता भी श्रीराधाजीके गुणोंमें पर्यावसित हो रही है॥४८॥

लोचनरोचनी—षडङ्घ्रिभिरमर्दितानिति। श्रीकृष्णवाक्यम्। शिखण्डकं तज्जातिं तच्च वह्विति नाना प्रकारमित्यर्थः। अयं मल्लक्षणः॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः प्राह—षडङ्घ्रिभिरिति। बहूनां शिखण्डकानां समाहारो बहुशिखण्डकम्। त्रिभुवनमितिवत् पात्रादिद्विगुः। अयं मल्लक्षणः॥४८॥

यस्याः सर्वोत्तमे यूथे सर्वसद्गुणमण्डिताः।
समन्तान्माधवाकर्षि विभ्रमाः सन्ति सुभ्रुवः॥४९॥

तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः॥५०॥

सख्यः कुसुमिकाविन्ध्या–धनिष्ठाद्याः प्रकीर्तिताः।
नित्यसख्यस्तु कस्तूरी–मणिमञ्जरिकादयः॥५१॥

प्राणसख्यः शशिमुखी–वासन्तीलासिकादयः।
गता वृन्दावनेश्वर्याः प्रायेणेमाः स्वरूपताम्॥५२॥

प्रियसख्यः कुरङ्गाक्षी सुमध्यो मदनालसा।
कमला माधुरी मञ्जुकेशी कन्दर्पसुन्दरी।
माधवी मालती कामलता शशिकलादयः॥५३॥

परमप्रेष्ठसख्यस्तु ललिता सविशाखिका।
सचित्रा चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका।
रङ्गदेवी सुदेवी चेत्यष्टौ सर्वगणाग्रिमाः॥५४॥

आसां सुष्ठु द्वयोरेव प्रेम्णः परमकाष्ठया।
क्वचिज्जातु क्वचिज्जातु तदाधिक्यमिवेक्ष्यते॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाके अनन्त गुणोंका दिग्दर्शनकराके अब उनकी स्वपक्ष सखियोंका विवरण दिग्दर्शन न्यायसे दे रहे हैं। श्रीमती राधिकाके सर्वोत्तम यूथमें जो व्रजसुन्दरियाँ हैं, वे सभी समस्त सद्‌गुणोंसे परिमण्डित और विभ्रम अथवा यौवनकालमें शृङ्गाररसके सर्वप्रकारसे उपयोगी समस्त गुणोंके द्वारा सर्वथा माधवको आकर्षण करनेवाली होती हैं। श्रीमती राधिकाकी सहायिकास्वरूपा ये सखियाँ पाँच प्रकारकी हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी। इनमें कुसुमिता, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि सखियाँ हैं। कस्तूरिका, मणिमञ्जरी प्रभृति नित्यसखी हैं। शशिमुखी, वासन्ती, लासिका इत्यादि प्राणसखी हैं। उन सभीको श्रीमती राधिकाका स्वारूप्य प्राप्त है। कुरङ्गाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मञ्जुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि प्रियसखियाँ हैं तथा ललिता, विशाखा, चित्रा, चंपकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी—ये आठ सर्वगण-प्रधाना हैं। ये आठों परमप्रेष्ठसखीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये आठों सखियाँ श्रीराधाकृष्णविषयक प्रेमकी परम पराकाष्ठावशतः दोनोंमेंसे कभी किसी समय श्रीराधामें और कभी श्रीकृष्णमें प्रेमाधिक्य वहन करती हुई देखी जाती हैं अर्थात् किसी समय श्रीकृष्णसे श्रीराधाके प्रति और कभी श्रीराधासे श्रीकृष्णके प्रति किञ्चित् अधिक प्रेम करती हैं। वह भी क्षणिक कालके लिए ही ऐसा होता है॥४९–५५॥

लोचनरोचनी—आसामष्टानां ललितादीनां द्वयोरेव श्रीकृष्णराधयोर्द्वयोरपि विषयभूतयोः प्रेम्णः परमकाष्ठया हेतुना जातु कदाचित् क्वचित् श्रीराधायां तथा जातु कदाचित् श्रीकृष्णे तदाधिक्यं द्वयोरितरापेक्षया प्रेमाधिक्यमिवेक्ष्यते इत्यर्थः॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं नायिकामुख्याया गुणानुक्त्वा तस्याः सहायत्वेन सखीराह—यस्या इति। "गुणा वृन्दावनेश्वर्या इह प्रोक्ताश्चतुर्विधाः" इति पूर्वेण लक्षणेनैव सम्बन्धः। यत्पदस्योत्तरवाक्यस्थत्वे तत्पदापेक्षा नैवास्ति। यथा—"साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके" इति काव्यप्रकाशः॥४९॥

इमाः स्तिस्रः सखी-नित्यसखी-प्राणसख्यः। प्रायेण सरूपतां तुल्यतां प्रेमसौन्दर्यसाद्गुण्यादिभिरिति शेषः। प्रायेणेत्युक्तया न सर्वथा तुल्यत्वमवसीयते। ततश्च सर्वथा तुल्यत्वं प्रियसख्यः परमप्रेष्ठसख्यश्च प्राप्ता इति सखीनां पाञ्चबिध्यत्वेऽपि

वक्ष्यमाणाभ्यामसमस्नेहत्वसमस्नेहत्वाभ्यां द्वैविध्यं बुध्यत इति। नन्वत्र प्रायेण तुल्यतामित्युक्तेः सखीनित्यसखीप्राणसखीनां वृन्दावनेश्वरीतः किंचिन्न्यूनत्वे लब्धे "तुल्यरूपगुणाः सख्यः, किंचिन्न्यूनास्तु दासिकाः" इत्युक्तनिरुक्तेरासां दासीत्वं प्रसज्येत। मैवम्। तत्र किंचित्तुल्यास्तु दासिका इत्यनुक्त्वा यत्किंचिन्न्यूना इत्युक्तम्; तस्मात् किंचिन्न्यूनत्वं द्विविधं व्याख्येयम्। तुल्यतासंभावनाया योग्यमयोग्यं च। आद्यं समानाभिजात्यकं सखीत्वप्रयोजकम्, द्वितीयं न्यूनाभिजात्यकं दासीत्वप्रयोजकमिति सर्वमवदातम्॥५२॥

ननु सर्वगणाग्रिमत्वं ललितादीनां वक्ष्यमाणरीत्या समस्नेहत्वेनोच्यते तदेवासिद्धम्। क्वापि क्वापि स्नेहवैषम्यस्यापि दृष्टत्वादित्यत आह—आसामिति। आसां ललितादीनां द्वयो राधाकृष्णयोर्विषययोर्यः प्रेमा तस्य परमकाष्ठया परमोत्कर्षेण हेतुनैव क्वचिज्जातु कदाचित् खण्डितायां राधायां श्रीकृष्णादपि तदाधिक्यं प्रेमाधिक्यम्। तत्र राधादुःखस्य श्रीकृष्णदत्तत्वेनानुसंहितस्य असह्यत्वमेव हेतुः। कदाचित्तत्कठोरमाननिबन्धनविरहविषण्णतनौ श्रीकृष्णे राधातोऽपि प्रेमाधिक्यम्। तत्र कृष्णदुःखस्य राधादत्तत्वेनानुसंहितस्यासह्यत्वमेव हेतुः। इवेत्यनेन सूक्ष्मबुद्धिभिराधिक्यस्यापरिगृहीतत्वमुक्तम्; द्वयोरपि दुःखस्यासह्यत्वे तुल्यत्वानुभवात्। असमस्नेहास्तु यत्र याः स्नेहाधिक्यवत्यस्तत्सुखदुःखयोर्ययोरेव सुखदुःखाधिक्यवत्यो न त्वन्यत्र॥५५॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

पञ्चमोऽध्यायः
अथ नायिकाभेदाः

यूथेऽप्यवान्तरगणास्तेषु च कश्चिद्गणस्त्रिचतुराभिः।
इह पञ्चषाभिरन्यः सप्ताष्टाभिस्तथेत्याद्याः॥१॥

तात्पर्यानुवाद—एक-एक यूथमें भी पुनः बहुत-से गण होते हैं, जैसे सखीगण, नित्यसखीगण इत्यादि। उन गणोंमेंसे भी किसी गणमें तीन या चार सखियाँ होती हैं, किसी गणमें पाँच या छह, दूसरे गणोंमें सात या आठ सखियाँ होती हैं। इसी प्रकार शत, सहस्र और लक्ष सखियोंवाले भी एक-एक गण गठित होते हैं॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—यूथेऽपीति। अवान्तरगणा यथा—सखीगणः प्राणसखीगणः प्रियसखीगण इत्येवं बहव एव गणाः। यद्वा राधायूथे ललितागणोऽयं विशाखागणोऽयमित्यनन्ता एव गणास्तेषु च त्रिचतुराभिरपि सखीभिरेको गणः पञ्चषाभिश्चेत्येवं रीत्या शतैः सहस्रैर्लक्षैरपि ज्ञेयः॥१॥

किंच—

नासौ नाट्ये रसे मुख्ये यत्परोढा निगद्यते।
तत्तु स्यात् प्राकृतक्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥२॥

तात्पर्यानुवाद—आशङ्का—पूर्व श्रीराधाप्रकरणमें हरिवल्लभाओंके प्रसङ्गमें यह बतलाया गया है कि परोढ़ा नायिकाएँ ही सर्वोत्कृष्ट हैं। यहाँपर आशङ्का होती है कि श्रीमद्भागवतादि विविध पुराणोंके प्रमाणसे परम प्रेमपराकाष्ठाका आश्रय, परम माधुर्य विदग्धता इत्यादि गुणोंका आश्रय तथा परम रसावह होनेके कारण आपने परोढ़ा नायिकाओंकी सर्वोत्कृष्टताको दिखलाया है तथा पूर्व प्रकरण (राधा-प्रकरण) के ४.१५ श्लोकमें आपने श्रीराधाके अत्यन्त मधुर गुणोंको श्रीकृष्णके समान

ही असंख्य बतलाया है। उसी श्लोकमें परोढ़ा नायिकाओंमें भी राधिकाका आपने सब प्रकारसे श्रेष्ठत्व दिखलाया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि यही बात है, तो नाट्यशास्त्रोंमें परोढ़ा या पारकीयाओंका गौणत्व या हीनत्व क्यों दिखलाया गया है? इसी प्रश्नके समाधानके लिए कह रहे हैं, नाट्यशास्त्रगत शृङ्गाररसमें उक्त लक्षणोंवाले परोढ़ा भावका निषेध किया गया है। किन्तु वह निषेध केवल प्राकृत, अत्यन्त तुच्छ नायिका या नायकके सम्बन्धमें ही प्रयोज्य है। यथार्थ बात यह है कि वैरस्य तीन प्रकारसे हो सकता है, प्रथमतः—अधर्मवशतः जो परोढ़ारूपमें एक-दूसरेको स्वीकार करते हैं। द्वितीयतः—पास-पड़ोसी और दूसरे लोगोंके इस रहस्यको जाननेपर अत्यन्त लज्जाकी बात होती है। तृतीयतः—पारकीया नायिका-नायकके साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोगोंका भी चित्त मालिन्य रहनेके कारण उनके प्रति द्वेष-बुद्धि हो जाती है। प्राकृत नायक-नायिकाओंमें ये तीनों बातें स्पष्ट रूपसे देखी जाती हैं, अतएव नाट्यशास्त्रमें इनका ही गौणत्व स्थिर हुआ है। यहाँ, किन्तु समस्त अवतारोंके शिरोमणि श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपशक्तिकी प्रकाश—गोपियोंमें इन दोषोंकी सम्भावना नहीं है। इसलिए परमशुद्ध भगवद्रसभावितमति सर्वज्ञशिरोमणि और हमारे जैसे मन्दबुद्धिके व्यक्तियोंके प्रति परम कारुणिक श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके १०/३३/३७ श्लोकमें निर्णय किया है कि अपनी पार्श्ववर्ती गोपीमूर्त्तियोंको ही मन-ही-मन अपनी स्त्री समझकर, गोपरमणियोंके पतियोंने श्रीकृष्णके प्रति द्वेष आचरण नहीं किया। इस वाक्यसे यह सहज ही समझा जा सकता है कि योगमाया द्वारा रचित छाया-मूर्त्तियाँ भगवत्-प्रियाओंसे सर्वथा भिन्न थीं। अतएव उन गोपरमणियोंमें परदारत्व न रहनेके कारण यह अधर्म नहीं हुआ, क्योंकि वे सभी गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिकी प्रकाश हैं। इस रहस्यको कभी भी कोई जान न सका। इसलिए गोपियों और श्रीकृष्णके लिए कभी भी लज्जाकी बात नहीं हुई। "द्वेष-विद्वेष नहीं किया"—इस पदके द्वारा द्वेष आदिका वर्जन हुआ। इसलिए श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें परकीया रसास्वादन दोष नहीं, बल्कि गुण ही है॥२॥

लोचनरोचनी—तत्र परकीयात्वे नायकप्रकरणे परिहृतमपि दोषमत्र पुनर्दार्ढ्याय परिहरति—किंचेति॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—यथा नायकप्रकरणे औपपत्यस्याधर्महेतुत्वेन विगीतत्वेऽपि श्रीकृष्णे परमसंगीतत्वं स्थापितम्, तथात्र नायिकाप्रकरणेऽपि परोढात्वस्य विगीतत्वेऽपि श्रीगोपीषु कृष्णकामितत्वेन परमसंगीतत्वं स्थापयति नासौ नाट्य इति॥२॥

तथा चोक्तम्—

नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढास्तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥३॥

तात्पर्यानुवाद—अब प्राचीन जनोंकी उक्तियोंके द्वारा भी यहाँ परोढ़ा भावके श्रेष्ठत्वका समर्थन कर रहे हैं। शृङ्गाररसमें नाट्यशास्त्रके अभिज्ञ जनोंने परोढ़ा नायिकाके प्राधान्यको अस्वीकार किया है। यह बात ठीक है, किन्तु यह अस्वीकृति व्रजसुन्दरियोंके यूथोंको छोड़कर अन्यत्र ही प्रयोज्य है, इस प्रकार समझना चाहिए। अर्थात् व्रजसुन्दरियों और श्रीकृष्णके प्रति ऐसा नहीं कहा गया है; क्योंकि श्रीकृष्णके द्वारा रसविशेष आस्वादनकी इच्छासे ही (श्रीमद्भागवत १०/३३/३६, १०/४७/२५ और १०/४७/५८ इत्यादि श्लोकोंके अनुसार) अदृष्टचर और अश्रुतचर परमरस परावधिको प्राप्त, इस रासलीलाविनोदके विषयको रागमार्गके पथिक मधुररसके भक्तोंके प्रति कृपापरवश होकर ही सम्यक् प्रकारसे भूतलपर प्रकाशनके द्वारा अथवा स्वयं रसिकचूड़ामणि श्रीकृष्णकी रसास्वादनके विषयमें अभिलाषा उत्पन्न होनेके कारण ही गोलोककी नित्यलीलासे इस जगत्में योगमायाके प्रभावसे ही ये गोपियाँ लाई गई हैं अर्थात् ये गोपियाँ भी इन्हीं कारणोंसे भौमव्रजमें अवतरित हुई हैं। यह रसविशेष आस्वादन स्वरूपशक्तिकी मूर्त्तविग्रह गोपियोंके अतिरिक्त अन्य किसीके साथ होना असम्भव है। यथार्थतः गोपियाँ श्रीकृष्णकी नित्य प्रेयसियाँ होनेके कारण उपरोक्त शङ्काओंसे सर्वथा अतीत ही प्रमाणित हुईं। यहाँपर पुनः यह प्रश्न उठ सकता है कि कंसारि श्रीकृष्ण तो परमेश्वर, स्वयं प्रभु हैं, अतएव इच्छाके अनुसार वे यथेष्ट प्रकारकी लीलाएँ कर सकते हैं, यह बात तो ठीक है। वे जब जैसी इच्छा हो तब वैसा ही करें, उनके लिए रस या विरसकी कोई भी अपेक्षा

नहीं है। फिर ऐसा क्यों कहा गया है कि श्रीकृष्णके द्वारा अवतारिता (लाई गई) गोपियोंका सर्वश्रेष्ठत्व प्रतिपन्न हुआ? इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण रसिकमण्डलके भी शिरोमणि हैं, प्राकृत और अप्राकृत लोकमें जागतिक रसिक-समाजसमूहके वे ही शिरोभूषण अर्थात् परम श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः उनकी स्वप्रेयसी होनेपर भी बाह्यतः पारकीया सम्बन्धके अभिमानवशतः ही दोनों पक्षके निरोधके लिए परस्पर दर्शन-स्पर्शन और आलापादिकी दुर्लभता हेतु, प्रच्छन्न कामुकता हेतु, परम उत्कण्ठाके सहित उनके अनुराग वृद्धि होनेपर वह परम रसावहत्व ही होता है। अतएव वैदग्ध्यसागर श्रीकृष्णके द्वारा यहाँ प्रकट लीलामें लाई जानेके कारण उनके रसास्वादनमें सहायक हुई हैं। इसलिए उनको सर्वोत्कृष्ट रूपमें स्वीकार करना ही होगा॥३॥

लोचनरोचनी—तत्र पूर्वाचार्यवाक्यं प्रमाणयति—तथा चोक्तमिति। यं निर्वाहयितुं प्रबन्धः स एव रसोऽङ्गी। तदिति। क्वचित्प्रासङ्गिके त्वङ्गे रसे परोढा इष्टा भवन्तु नाम नत्वङ्गिनीत्यर्थः। यदुक्तं तेषां मतसंग्राहकेण साहित्यदर्पणकारेण—"परोढां वर्जयित्वात्र वेश्यां चाननुरागिणीम्। आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः" इति। चकारो भिन्नोपक्रमे। परोढावेश्ये तावद्वर्जनीये एव। यदा स्वीयाप्यननुरागिणी स्यात् तदा तामपि वर्जयित्वेत्यर्थः। तदुक्तम्—"परनायकसंस्थायामित्यादि।" तदेतच्च गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण तद्विनेत्यर्थः। तास्तु इष्टा इत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भं तासां विशेषणम्—आशंसयेति। तादृशलीलाक्रमसाध्यप्रेमरसविशेषास्वादनाय सर्वज्ञतां सर्वशक्तितां सर्वेश्वरतामपि नात्यादृत्य तदुपयुक्तां लीलाशक्तिमेवादृत्य तद्द्वारावतारितानां नित्यप्रेयसीनामेव तासां परदारत्वभ्रमेण यथा रसस्य विधिः प्रकारविशेषः संभवति तथा जन्मादिलीलाया नित्यत्वं विस्मार्य प्रकटीकृतानामित्यर्थः। तदाशंसायां हेतुः—रसिकेति। तस्माल्लीलाशक्तिप्रेरिततया कृतमेव तासां परोढात्वप्रत्यायनं परसंगत्यभावश्च। तत एवेत्यङ्गिनि रसेऽस्मिन् परमयुक्ता एव ता इति भावः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि निर्विघ्नेऽपि संभोगे रसो भवत्येव तथापि "न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते" इति भरतन्यायेन विप्रलम्भश्च कुत्रचिदपेक्ष्यते। स च विप्रलम्भो यदि लीलावैचित्र्यमुद्वहन् भवति तदा त्वतितरामिति गम्यते। लीलावैचित्र्यं च तादृशदम्पत्योरितः परं नास्ति यद्दम्पत्योरेव सतोर्लीलाशक्त्या जन्मान्तरवशाद्विस्मृत-तद्भावयोर्मिथ्यैवान्यत्र प्रत्यायितजायाविवाहयोर्जायाप्रतिकृतिकल्पनया वञ्चिते पतिम्मन्ये लोकधर्ममर्यादासमुल्लङ्घकरागेण रहसि परस्परमिलितयो र्निरन्तरजातशङ्कया जातदौर्लभ्ययोः कथंचिज्जाते तु नायकस्य दूरप्रवासे मिलनयुक्तिमसंभावयतोस्ततो जाते कथमपि संयोगे लीलाशक्त्यैव लोके व्यञ्जितदाम्पत्ययोः परम एव सुखचमत्कारः

स्यात्। यथा ललितमाधवस्य पूर्णमनोरथनामाङ्कपूर्तौ श्रीराधावाक्यम्—"सख्यस्ता मिलिता निसर्गमधुराः प्रेमाभिरामीकृता यामीयं समगंस्त संस्तववती श्वश्रूश्च गोष्ठेश्वरी। वृन्दारण्यनिकुञ्जधाम्नि भवता सङ्गोऽप्ययं रङ्गवान् संवृत्तः किमतःपरं प्रियतरं कर्तव्यमत्रास्ति मे॥" इति॥ तदीदृशं च स्वनाटके गत्यन्तराभावं पश्यता यद्दर्शितं तत्रैव परमवैचित्र्यं स्वयमभिमतं तदेव च "रसिकमण्डलशेखरेण" इत्यत्राभिमतमिति। तदिदमेव समृद्धिमदाख्य परमफलपूर्तिमये संभोगे व्यञ्जयिष्यामः॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्रार्षप्रमाणादिकं पूर्वमेवोक्तं संप्रत्यार्षसंमतिनिर्द्धार-कुशलबुद्धिभिर्विज्ञप्रवरैः प्रयुक्तं पद्यमेव प्रमाणीकुर्वन्नाह—नेष्टेति। अङ्गिनि मुख्ये रसे शृङ्गारे इत्यर्थः। यत्परोढा नेष्टाः परोढां वर्जयित्वेत्यादि साहित्यदर्पणादि लक्षणदृष्ट्या निषिद्धा इत्यर्थः। तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण कुलं विना तास्तु इष्टा एवेति तासां परोढात्वं परोढात्वेऽप्यविगीतत्वमिति द्वयं पूर्वाचार्यसंमतमित्यायातम्। तत्र हेतू रसस्य रसास्वादस्य विधेराशंसया शृङ्गाररसास्वादोऽपि शास्त्रेषु विहितोऽस्त्वित्याकाङ्क्षया कंसारिणा श्रीकृष्णेनैव स्वयमवतारितानां प्रपञ्चगोचरीकृतानाम्। अयमर्थः। निवृत्तिशास्त्रेषु शान्तरस एव विहितः; कामोपरागमूलकत्वेन संसारनिवर्तकत्वात्, शृङ्गाररसस्तु निषिद्धः कामोपरागमूलकत्वेन संसारप्रवर्तकत्वात्। स च परदारनिष्ठस्तु प्रवृत्तिशास्त्रेष्वपि निषिद्धः; कर्तुरिव तत्कथास्वादयितुरपि दुरदृष्टजनकत्वेन निरयपातहेतुत्वात्। भगवता तु परवधूविनोदलीलायां प्रपञ्चेऽपि गोचरीकृतायां "विक्रीडितं व्रजवधूभिः" इत्यादौ "शृणुयादनुवर्णयेद्यः" इति तदास्वादविधिरप्यभूदिति सा लीला व्रजवधूर्विनान्यत्र क्वापि न संभवतीति स्वयमवतीर्य ता अपि अवतारिता इति। किञ्च श्रीभागवते "वदन्ति तत्तत्त्वविदः" इत्यादिभिर्ब्रह्मत्वपरमात्मत्वभगवत्त्वेषु भगवत्त्वस्यैव मुख्यत्वं स्थापितम्। तत्राप्येते "चांशकलाः" इत्यादिभिः स्वयं भगवत्त्वस्य, तत्रापि तत्तात्पर्यालोचनया भक्तिरसामृतसिन्धौ "हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा" इत्यादिभिः पूर्णतमत्वस्यैव तत्रापि दास्य सख्यादि रसवत्त्वेषूज्ज्वलरसालम्बनत्वस्यैव, तत्राप्येतद् ग्रन्थप्रतिपादितस्यौपपत्यस्य मुख्यतमत्वे परमावधित्वं निर्णीतम्। तदेकापेक्षकस्यापि ब्रह्मत्वापेक्षकात् शान्तरसात् परमोत्कर्षपरावधित्वं स्थापितं भवति। तत्फलस्यापि सर्वफलेभ्यः परमोत्कर्ष परावधित्वं दृश्यते। "भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः" इत्यनेन, तत्रापि क्त्वा-प्रत्ययेन हृद्रोगवत्येवाधिकारिणि प्रथममेव तादृश्या भक्तेः प्रवेशस्तयैव हृद्रोगस्यापि शीघ्रनाशः। एवं च निकृष्टावधेरपि शृङ्गारस्य स्वरूपतः फलतश्च परमोत्कृष्टावधित्वेन प्रतिपादनात्, तदास्वादविधेश्च परमहंसशास्त्रे श्रीभागवत एव करणात् निरङ्कुशैश्वर्येण विस्मयरसमनुभूयोक्तम्—रसिकमण्डलेति। यद्वा नन्वस्य रसस्य विहितत्वमप्यस्तु; परोढां वर्जयित्वेत्यादिना, रसाभासत्वमप्यस्तु रसाभासादीनामपि "सर्वे हि रसनाद्रसाः" इत्यास्वादविधेः। इत्यत उक्तम्—रसिकमण्डलशेखरेणेति। तथात्वे कृष्णस्यारसज्ञत्वमेवापद्यत इति।

ये चैवं व्याचक्षते—रसस्य विधेः प्रकारस्य आशंसया आकाङ्क्षयावतारितानां प्रपञ्चगोचरीकृतानामिति ते एवं प्रष्टव्याः अप्रकटप्रकाशे किं रसस्य प्रकारो नास्तीति। नन्वस्त्येव; किंतु तासां तत्र स्वीयात्वात् स्वीयात्वसमुचित एव न तु परकीयासु दौर्लभ्यभावनेन लोकवेदमर्यादोल्लङ्घनेन चानुरागाधिक्यमयो रसोत्कर्षो यावांस्तावानिति। अतो रसोत्कर्षविशेषास्वादनार्थं यदैवाकाङ्क्षा अजनिष्ट तदैव ताः प्रपञ्चे परवधूत्वेनावतारिताः लीलाशक्त्यैव तासु कारितेन परदारत्वभ्रमेण कियन्तं कालं तदास्वादश्च संपादित इति। सत्यं भोः सत्यम्। यो हि रसोत्कर्षास्वादः स कृष्णस्य न सार्वकालिकः किन्तु प्रकटायामवतारलीलायामेव; तस्या कादाचित्कत्वात् सोऽपि कादाचित्क इति। तथा यदेव रसोत्कर्षस्य मूलं तच्च परवधूत्वं भ्रमक्लृप्तमेवेति धन्यैवेयं वः सिद्धान्तस्थितिः। शृणुत तावत्। श्रीकृष्णकर्तृकस्य रसोत्कर्षास्वादस्य कादाचित्कत्वे मायिकत्वमापद्यते; मायाशक्तिकृतस्यैव कादाचित्कत्वदर्शनात्, नतु चिच्छक्तिकृतस्य। तथा तासु परवधूत्वस्य भ्रमक्लृप्तत्वे ईश्वरोऽपि भ्रान्त इति शाङ्करशारीरकमतादपि वैशिष्ट्यमायातम्। तत्र हि जीव एव भ्रान्त इत्युच्यते नत्वीश्वर इति। ननु भ्रमोऽयं प्रेमहेतुक एव लीलाशक्तया संपादित इति चेत् तर्हि किमप्रकटप्रकाशे प्रेमा नास्ति यतोऽयं कृष्णस्तत्राभ्रान्त एव ताः स्वीया एव जानाति। कथं वा तस्य भ्रमस्य कादाचित्कत्वम्; प्रेमहेतुकत्वेन नित्यत्वस्यैवौचित्यात्। मायिकवस्तूनामेव कादाचित्कत्वस्थापनात्, तथावतारलीलायाः कदाचित्कत्वेन मायिकत्वे तया "स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः" इति "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया। गृहीतचेता राजर्षे" इत्यादिभ्य आत्मारामचूडामणेः श्रीशुकदेवस्य ब्रह्मतोऽप्याकर्षणं नोपपद्यते। न चाप्रकटलीलयैव तदिति वाच्यम्; "आख्यानं यदधीतवान्" इत्युक्तेराख्यानस्यास्य श्रीभागवतस्यावतार-लीलामयत्वादिति। किञ्च श्रीभगवत्संदर्भे "न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा" इत्यत्र सर्वलीलानित्यत्वप्रतिपादिकया श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणव्याख्यायैव सर्वमेतत् कुमतं पराहतम्। सा च "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" इत्यत्र लिखितैव। किंचास्माकं हि सर्वसिद्धान्तमूलं श्रीकृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वम्। तच्च सर्वथा परिपूर्णत्वसिद्धम्। सर्वदा परिपूर्णत्वं च तदीयसर्वशक्तीनां संपूर्णया व्यक्तयैव। भागवतामृते तथैवोक्तम्—"शक्तयश्च सर्वोत्कर्षसर्वैश्वर्यमाधुर्यलीलासत्यसंकल्पतेत्याद्याः।" तत्राप्रकटप्रकाशे रसास्वादोत्कर्षाभावे उत्कर्षिण्याः शक्तेरव्यक्तमाधुर्यसत्यसंकल्प-तेत्यादीनामल्पव्यक्त्या च परिपूर्णत्वाभावे स्वयं भगवत्त्वस्यैवासिद्धिः, तस्यासिद्धौ च कथयत कीदृशं साध्यसाधनादिस्थापनमिति। ननु च प्रकटप्रकाशे रसोत्कर्ष-सिद्धावप्रकटप्रकाशेऽपि तत्कथाश्रवणस्मरणादिभिः सभ्यतया तदास्वादो भविष्यतीति सत्यम्; तदपि परकीयासंभोगसुखाभावेन तत्कथानुस्मृतिजनिततत्संभोगलिप्सया चाफलवत्या सदोषस्तदवस्थ एवेत्यलमतिविस्तरेण॥३॥

व्रजेन्द्रनन्दनत्वेन सुष्ठु निष्ठामुपेयुषः।
यासां भावस्य सा मुद्रा सद्भक्तैरपि दुर्गमा ॥४॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रकार यथासर्वस्व त्यागपूर्वक एकमात्र श्रीकृष्णके ही परिकरत्वमें प्रच्छन्न कामुकता वहन करती हुई एवं सर्वापेक्षा असमोर्द्ध्व प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य, वैदग्ध्य और सौभाग्य आदिसे गोपरमणियोंकी सर्वश्रेष्ठता निर्धारित हुई। यहाँपर व्रजेन्द्रनन्दनके प्रति एकनिष्ठ गोपियोंके भावकी श्रेष्ठताका परम विस्मयके साथ वर्णन कर रहे हैं—व्रजेन्द्रनन्दनके रूपमें अवस्थित श्रीकृष्णके प्रति गोपरमणियोंकी चरम अवधि तक आरूढ़ भावोंकी प्रसिद्ध परिपाटी सद्भक्तोंके लिए भी (अन्य जातीय परम एकान्तिक भक्तों, ऐश्वर्यज्ञानविशिष्ट स्वजातीय भक्तोंके लिए) सुदुर्लभ है, अर्थात् वे लोग भी इस परिपाटीसे सर्वथा अनभिज्ञ है॥४॥

लोचनरोचनी—अत्र दशमस्थमक्षण्वतां फलमिदम्' इत्यादिवाक्यमनुगतं ललितमाधवमेवानुसृत्य तासां भावनिष्ठां दर्शयति—व्रजेन्द्रेति। श्रीदशमस्कन्धवाक्ये च व्रजेशसुतयोर्मध्ये यदनु पश्चात् वेणुजुष्टमेकं मुख्यं तदित्येव तासां तात्पर्यविषयः॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं चाङ्गिनि शृङ्गाररसे द्विविधो भावो दाम्पत्यमय औपपत्यमयश्च। तत्राद्यो वसुदेवनन्दनत्वाभिमानवत्येव श्रीकृष्णे। द्वितीयस्तु नन्दनन्दनत्वाभिमानवत्येव तस्मिन् पुष्टिमाप्नोति यद्यपि; तदपि "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इतिवत् "न वयं साध्वि साम्राज्यम्" इत्यादौ "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति" इत्यादिना दाम्पत्यमय भाववतीनां पुरसुन्दरीणामौपपत्यमयभावविषयीभूते श्रीव्रजेन्द्रनन्दने यथा स्पृहा श्रूयते तथौपपत्यमयभाववतीनां व्रजसुन्दरीणामपि दाम्पत्यमयभावविषयीभूते श्रीवसुदेवनन्दने स्पृहा भवेन्नवेत्याशङ्क्याह—व्रजेन्द्रेति। व्रजेन्द्रनन्दनत्वेनैव या निष्ठा कृष्णस्य नितरां स्थितिस्तत्रापि सुष्ठु इति। यत्र स्थितौ स्वप्नेऽप्यात्मानं वसुदेवनन्दनं न जानातीत्यर्थः। तामुपेयुषः स्वीकार्यत्वेन गृहीतवतो भावस्य रत्याख्यस्य स्थायिनः। ननु व्रजेन्द्रनन्दनत्वेनैवेति कोऽयमाग्रहः? एकस्यैव तस्य कालदेशभेदेनाभिमानद्वयवत्त्वादित्यत आह—सदिति। सद्भक्तैरपि सद्भिर्विद्वद्भिरपि भक्तैर्नानाभक्तिमद्भिरपि मुद्रा परिपाटी दुर्गमा। "तद्धि जानन्ति तद्विदः" इति न्यायेन तद्भावास्वादं प्राप्तवद्भिरेव सद्भिरनुभवेन ज्ञेयेति भावः॥४॥

यथा ललितमाधवे (६/१४)—

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरूहपदवीसञ्चारिणः प्रक्रियाम्।
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन्भुजैर्जिष्णुभि–
र्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥५॥

तात्पर्यानुवाद—माथुर-विरहके कारण अत्यन्त कातर श्रीमती राधिका खेलातीर्थमें स्नान करके सूर्यमण्डलमें उपस्थित हुई, श्रीकृष्णके परम ऐश्वर्यको जाननेवाली सूर्यपत्नी संज्ञा, सूर्यमण्डलमें श्रीकृष्णकी स्थितिकी सूचना देती हुई, श्रीराधाको प्रबोध दान करनेके लिए कुछ उपदेश देने लगी। उसे सुनकर श्रीमतीराधिकाकी विशेष सखी विशाखा मृदु मन्दस्मितके साथ संज्ञासे बोली—गोपरमणियाँ श्रीनन्दनन्दनके प्रति अतिशय दुर्बोध्य सेवात्मक भावोंकी, जो सदाचार-विशेष परिपाटी स्वाभाविक रूपमें वहन करती हैं, वह अत्यन्त तीक्ष्ण मेधावाले व्यक्तियोंके लिए भी दुर्ज्ञेय है। अहो! श्रीकृष्णकी विष्णुके समान चतुर्भुज मूर्त्तिको (श्रीकृष्णविग्रहसे अभिन्न होनेपर भी) गोपरमणियोंने अपना कान्त नहीं माना और उनके प्रति जो भाव उल्लासकी सम्भावना थी, वह भी प्रकट नहीं हुआ, उसका तिरोधान ही रहा। यही आश्चर्यका विषय है॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—माथुरविरहेण विमुह्यन्त्याः खेलातीर्थे निमज्य सूर्यमण्डलं गतवत्याः श्रीराधाया आश्वासं सूर्यमण्डलस्थविष्णुसंदर्शनया कुर्वाणां संज्ञां प्रति विशाखा प्राह—गोपीनामिति। गोपीनां भावस्य प्रक्रियां प्रकृतिं स्वभावमिति यावत्। विज्ञातुं कः क्षमते, न कोऽपीत्यर्थः। अत्र हेतुर्दुरुहेति। दुरुहायामेव पदव्यां संचरणशीलस्य। दुरूहत्वमेवाह—पशुपेन्द्रनन्दनजुषः पशुपेन्द्रनन्दनमेव नतु वसुदेवनन्दनमपि स्वस्य विषयं कुर्वाणस्येत्यर्थः। यद्वा। पशुपेन्द्रनन्दने एषा या जुट् प्रीतिस्तद्रूपस्य। यतस्तस्मिन् पशुपेन्द्रनन्दन एव ताः परिहसितुं जिष्णुभिर्विराजमानैश्–चतुर्भिर्भुजैरुपलक्षितामद्भुतरुचिं विचित्रशोभामयीमपि वैष्णवीं तनुं वैकुण्ठनाथमूर्तिमप्याविष्कुर्वति सति तस्मिन् विषये यासां रागस्योदयः कुञ्चति संकुचितीभवति। उदय इत्यनेन विष्णुना प्रकाशितायां स्वतनौ तु रागस्योदयोऽपि नोत्पद्यत इति सूचितम्। अतएव पूर्वमुक्तम्—"अरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्येहिता" इति॥५॥

भुजाचतुष्टयं क्वापि नर्मणा दर्शयन्नपि।
वृन्दावनेश्वरीप्रेम्णा द्विभुजः क्रियते हरिः॥६॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ देखा गया कि अपने अवलम्बन व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर गोपवेश वेणुकर श्रीकृष्णस्वरूपसे थोड़ा-सा भी वैरूप्य होनेपर व्रजसुन्दियोंका भाव संकुचित हो जाता है। इसके द्वारा यह प्रतिपन्न हुआ कि एकमात्र श्रीकृष्णैक निष्ठा द्वारा भावका भी परमोत्कर्ष होता है। यहाँ श्रीमती राधिकाकी सर्वापेक्षा प्रेममहिमाका वर्णन कर रहे हैं। एक समय क्रीड़ा विशेषमें कौतुकके साथ श्रीकृष्णके द्वारा चतुर्भुजमूर्त्ति धारण किए जानेपर श्रीराधाके दर्शनमात्रसे ही श्रीकृष्ण चारों भुजाओंको रखना भी भूल गए और द्विभुजस्वरूप हो गए॥६॥

लोचनरोचनी—अत्र श्रीराधाया वैशिष्ट्यं व्यञ्जयितुमाह—भुजेति॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—तास्वपि श्रीराधिकाभावस्य परमाद्भुतमुत्कर्षमाह—भुजा-चतुष्टयमिति॥६॥

यथा—

रासारम्भविधौ निलीय वसता कुञ्जे मृगाक्षीगणै
र्दृष्टं गोपयितुं समुद्धरधिया या सुष्ठु संदर्शिता।
राधायाः प्रणयस्य हन्त महिमा यस्य श्रिया रक्षितुं
सा शक्या प्रभविष्णुनापि हरिणा नासीच्चतुर्बाहुता॥७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीगोवर्द्धनके सानु प्रदेशमें स्थित परसौली नामक रासस्थलीमें श्रीकृष्ण गोपरमणियोंके सहित रासलीलामें प्रवृत्त हुए। बिना विप्रलम्भके सम्भोगरसकी पुष्टि नहीं होती है, ऐसा सोचकर श्रीकृष्ण समीपवर्ती कुञ्जमें कुछ क्षणके लिए छिप गए। इधर गोपललनाएँ श्रीकृष्णको आस-पास न देखकर इधर-उधर उनका अन्वेषण करने लगीं। श्रीकृष्णने देखा कि सहस्र-सहस्र गोपियोंने चारों तरफसे उन्हें घेर लिया है। अब उस कुञ्जसे निकलकर उनके लिए कहीं अन्यत्र भागना भी सम्भव नहीं था। अतएव प्रत्युत्पन्न बुद्धिके द्वारा वे उसी समय नारायणस्वरूप चतुर्भुजमूर्त्ति धारणपूर्वक गोपाङ्गनाओंके सामने खड़े हो गए। विरह कातरा गोपियाँ अपने सामने चतुर्भुज नारायण विग्रहको देखकर आपसमें कहने लगीं—ये गोपेन्द्रनन्दन—व्रजेन्द्रनन्दन नहीं हैं, ये तो श्रीमन् नारायण हैं। इस प्रकारसे निश्चितकर सब लोगोंने प्रणिपातपूर्वक

उनसे प्रार्थना की—भगवन्! हे नारायण! आप हमारे प्रति प्रसन्न हों। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका हम दर्शन पा सकें, उनके बिना हम बड़ी दुःखी हैं। ऐसा कहकर वे गोपरमणियाँ वहाँसे आगे बढ़ गई। उनके जानेके बाद वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिका उन्हें ढूँढ़ती हुईं वहाँपर उपस्थित हुईं। अहो! क्या ही आश्चर्यकी बात है, श्रीमती राधिकाकी प्रीतिकी कैसी विचित्र महिमा है कि प्रभावशाली हरि भी उनके सामने किसी प्रकार चतुर्भुजमूर्त्तिकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हुए। सहसा वह नारायणस्वरूप अन्तर्हित हो गया और द्विभुज श्रीकृष्ण उनके सामने उपस्थित हो गए। इसके द्वारा सभी व्रजगोपियोंसे श्रीराधा-प्रेमोत्कर्षकी पराकाष्ठा ही प्रदर्शित हुई है॥७॥

लोचनरोचनी—तत्र चैतिह्यप्रमाणमाह—यथेति। या चतुर्बाहुता॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—रासेति। "वसन्तकुसुमामोदसुरभीकृतदिङ्मुखे। गोवर्धनगिरौ रम्ये स्थितं रासरसोत्सुकम्॥" इति गौतमीयात्। लोके तु गोवर्द्धनोपत्यकायां परासौलीति ख्यातनाम्न्यां रासस्थल्यां रासस्यारम्भविधौ निलीय वसतेति प्रविष्टकनामारण्ये 'पैठे' इति लोकभाषया प्रसिद्धे स्थले दृष्टं स्वं गोपयितुमिति बह्वीभिस्ताभिः सर्वत आवृतात् तस्मात् कुञ्जात् सहसापसर्पणासंभवात् उद्धुरधिया एवं करोमीति सद्यः प्रतिभारुढबुद्धिना या चतुर्बाहुता संदर्शितेति। हंहो नायं कृष्णः किन्तु चतुर्भुजो नारायणमूर्तिरिति तं प्रणम्य श्रीकृष्णं दर्शयेति प्रार्थ्यं गतासु सर्वासु आगताया राधायाः प्रणयस्य महिमा, हन्तेत्याश्चर्ये अत्यद्भुतोऽभूदित्यर्थः। यस्य महिम्नः श्रिया शोभामात्रेणैव सा चतुर्बाहुता हरिणा रक्षितुं शक्या नासीत्, सा का। या स्वं गोपयितुं संदर्शितेत्यन्वयः। अयमत्र विवेकः—यथा ब्रह्मेन्द्रादीनां सत्येऽप्यापेक्षिके अन्यत्र ऐश्वर्ये परमेश्वरस्य भगवतोऽग्रे ईशितव्यत्वमेव न तत्र ऐश्वर्यलेशोऽप्युद्भवति, न चोद्भूतश्च तिष्ठति नित्यं तदधीनत्वात्। एवं भगवतोऽपि प्रेमाधीनत्वात् प्रेम्णोऽग्रे ऐश्वर्यं न तिष्ठतीति न शक्यते वक्तुम्, तस्य नित्यत्वात्। किंतु तिरोभवति। स च प्रेमा जात्या अनन्तोऽपि क्वापि परमाणुमात्रः, क्वापि परममहान्, क्वापि महान्, क्वापि आपेक्षिकन्यूनाधिक्यमय इति चतुःपरिमाणकः। तत्राद्योऽजातरतिकेषु भक्तेषु। तत्र प्रेम्णो दुर्लक्ष्यत्वात् भगवतोऽधीनत्वमपि दुर्लक्ष्यमेव। द्वितीयो वृन्दावनेश्वर्यामेव। तत्र प्रेम्णः संपूर्णतमत्वेनाधीनत्वमपि संपूर्णतमत्वमेव। अतस्तस्यां तस्यैश्वर्यं न प्रकटीभवति। यच्च समुद्रबन्धनशेषशय्यादिलीलाप्रकटनेनैश्वर्यमुदभूत्तच्च तस्या एव दिदृक्षावशादिति तत्तत्पुराणगतमैतिह्यम्। अथ तृतीयो व्रजलोक एव। तत्र प्रेम्णो महत्त्वेन अधीनत्वमपि संपूर्णमेव नतु संपूर्णतमम्। अतः कदाचित् कथंचिदुद्भूतमस्यैश्वर्यं

तत्रस्थानां प्रेमाणं संकोचयितुं न प्रभवति। तत्र पूतनाघासुरादिवध-जृम्भण-मृद्भक्षण-दामबन्धनादिष्वैश्वर्यस्य श्रीकृष्णनिष्ठत्वेनानुसंधानाभाव एव हेतुः। क्वचिच्च वरुणलोकगमनदावाग्निपान-शैलेन्द्रधारणादिष्वैश्वर्यस्य तन्निष्ठत्वेनानुसंधानेऽपि स्वसंबन्धमननस्य प्राबल्यमेव हेतुः। नत्वन्यत्र वसुदेवदेवकी-पाण्डवादिष्विव स्वसंबन्धमननस्य शैथिल्यम्। "सूतीगृहे ननु जगाद" इति, "सस्वजाते न शङ्कितौ", इति, "सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्" इत्यादिषु तथा दृष्टेस्तत्र तत्र प्रेम्णः संपूर्णकल्पत्वमेव, अधीनत्वमपि संपूर्णकल्पमेव। अथ चतुर्थो नारदादिषु। तेषु तेषु प्रेमानुरूपमधीनत्वम्। किंचाधीनत्वेऽपि यत्र संपूर्णतममधीनत्वं तत्रैव सामस्त्येनैश्वर्यं नोद्भवति यथा खण्डमण्डलेश्वरेषु मध्ये केषांचित् कस्यचिदधीनत्वेऽपि तत्र तत्र स्वैश्वर्यप्रदर्शने संभवत्यपि मूलचक्रवर्तिनोऽग्रे ऐश्वर्यलवस्यापि न प्रकाश इति। ननु परमेश्वरस्य अस्वातन्त्र्यं विगीतमिव जीवसाम्यापत्तेः शास्त्रकारासंमतं च। नैष दोषः। प्रत्युत महागुण एव। माया हि जीवं दुःखयितुमेव वशीकरोतीति जीवस्य मायापारतन्त्र्यं दुःखार्थमेव। ईश्वरं तु सुखयितुमेव भक्तिस्तदीया शक्तिर्वशीकरोतीति तत्पारतन्त्र्यमीश्वरस्य सुखप्रयोजकमेव, वास्तवमेव। यथा विलासिनां स्वप्रेयसीपारतन्त्र्यमिति॥७॥

अपि च—

सामान्या याः रसाभासप्रसङ्गात्तादृगप्यसौ।
भावयोगात्तु सैरिन्ध्री परकीयैव सम्मता॥८॥

तथा च प्राञ्चः—

सामान्यावनिता वेश्या सा द्रव्यं परमिच्छति।
गुणहीने च न द्वेषो नानुरागो गुणिन्यपि।
शृङ्गाराभास एतासु न शृङ्गारः कदाचन॥९॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्ण-प्रेयसियोंको स्वकीया और परकीया दो रूपोंमें दिखलाया गया। इनमेंसे स्वकीया श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा आदि द्वारकापुरीकी महिषियाँ और परकीया व्रजसुन्दरीगण हैं। इसको उदाहरणके सहित दिखलाया गया है। श्रीकृष्णने कुब्जाको भी स्वीकार किया है। उनके भावको भी कान्तभाव कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कुब्जाका श्रीकृष्ण-प्रेयसियोंके किस गणमें प्रवेश है? उत्तर—प्राचीन रसिकोंके विचारसे नायिकाएँ तीन प्रकारकी हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था। इनमेंसे साधारणी नायिकामें रसाभासका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किन्तु कुब्जा साधारणी होनेपर भी उसका केवल श्रीकृष्णके ही प्रति एकनिष्ठ भाव था। वह किसी दूसरेके प्रति आसक्त नहीं थी,

इसलिए वह परकीया जैसी कही गई है। प्राचीन रसज्ञोंका यह मत है कि साधारण वेश्या ही साधारणी नायिका है। उसका गुणरहित नायकके प्रति द्वेष और गुणवान नायकके प्रति अनुराग नहीं होता। वह केवल अर्थकी अभिलाषासे ही किसीसे स्वार्थप्रद प्रेम दिखलाती है। ऐसी नायिकाओंमें शृङ्गाररसका आभास ही कहा गया है। उससे कभी भी शृङ्गाररसकी पुष्टि नहीं होती॥८-९॥

लोचनरोचनी—अथ सैरिन्ध्रयामपि रसोद्‌बोधं स्थापयति—सामान्याया इति। न खल्वसौ सामान्या वक्तव्या। सामान्याया न क्वचिद्भावयोगः, अस्यास्तु पूर्वं नान्यत्र भावो जातः; स्व कौरूप्य स्फुरणेन तदाच्छादनात्, उदयिष्यमाण-श्रीकृष्णप्रियात्वप्रभावाच्च। चन्दनदानायैव तु श्रीकृष्णसहिते रामेऽप्यनुरागो वर्णितः, नत्वङ्गसङ्गाय, तत्पश्चात् श्रीकृष्णस्यैवोत्तरीयाकर्षणात्। तदेतदभिप्रेत्याह—भावयोगादिति। परकीयैवेत्येवकारः सादृश्ये। "एव इवार्थे" इति कातन्त्रपरिशिष्टसूत्रात्। अतएव पट्टमहिषीणां रतेः सकाशात्तस्या रतेर्न्यूनता वक्तव्या। परकीयेवेति वा पाठः। प्रेयसीभावो लोकाद्गोप्यत इति हेतोरिति ज्ञेयम्॥८॥

तत्र सामान्याया रसाभासभाक्त्वं प्रमाणयति—तथा च प्राञ्च इति। वेश्येत्युपलक्षणं सैरिन्ध्र्यादीनामपि॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ प्राञ्चः। सामान्या साधारणस्त्रीत्यादिना स्वकीया परकीया साधारणीति नायिकायास्त्रैविध्यमाहुस्तत्र व्रजपुरयोः परकीयाः स्वकीयाश्च दर्शिता एव; किन्तु तृतीया नायिका श्रीकृष्णे वर्तते न वेत्याकाङ्क्षायामाह—सामान्याया इति। तस्या भावस्य बहुनायकनिष्ठत्वेन रसाभासप्रसंगात् कृष्णे सा न संभवतीत्याक्षेपलब्धम्। हेत्वर्थकपञ्चम्यन्तप्रयोगान्यथानुपपत्तिरेवात्र लिङ्गम्। यथा प्रविश पिण्डमित्यत्र क्रियापदकर्मपदयोरन्यथानुपपत्त्यैव गृहं भक्षयेत्यनयोराक्षेप इति। सैरिन्ध्री कुब्जा तु तादृगपि सामान्यासदृश्यपि न तु सामान्येत्यर्थो बहुनायकनिष्ठत्वधर्मायोगात्। सादृश्यं तु परिणयसंभावनाभावेनांशेनैव ज्ञेयम्; भावयोगात् परकीयैवेति लोकेभ्यो निह्नुत्यैव कृष्णेन तस्या रमणात्, तयापि तदेकनिष्ठया कृष्ण एव मे रहस्य एव रमण इति भावनात्। तथा तस्याः परमसुन्दर्या अपि कुब्ज एव पुरुषान्तरेभ्यो रक्षणे हेतुरासीत्। अत एवोक्तम्—"आहूय कान्तां नवसंगमह्रिया" इति तस्याः संगमस्य नवत्वमिति॥८॥

सामान्यां प्रत्युदाहर्तुं तस्यां रसाभासवत्त्वं प्रमाणयति—तथा चेति॥९॥

स्वकीयाश्च परोढाश्च या द्विधा परिकीर्तिताः।
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति प्रत्येकं तास्त्रिधा मताः॥१०॥

भेदत्रयमिदं कैश्चित् स्वीयाया एव वर्णितम्।
तथापि सत्कविग्रन्थे दृष्टत्वात् तदनादृतम्॥११॥

तथा प्राचीनैश्चोक्तम्—

उदाहृतिभिदां केचित्सर्वासामेव तन्वते।
तास्तु प्रायेण दृश्यन्ते सर्वत्र व्यवहारतः॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—अब गोपियोंमेंसे प्रत्येकके स्वभाव-वैचित्र्यके अनुसार उनके भेदका वर्णन कर रहे हैं। पहले स्वकीया और परकीया भेदसे दो प्रकारकी नायिकाओंका वर्णन किया गया है। उनमेंसे प्रत्येक मुग्धा, मध्या और प्रगल्भाके भेदसे तीन प्रकारकी बतलाई गई हैं। किसी-किसीने इन तीन भेदोंका केवल स्वकीया नायिकामें ही वर्णन किया है तथापि रसतत्त्वके ज्ञाता कवियोंके ग्रन्थोंमें पारकीया नायिकामें भी रसकी निष्पत्ति देखी जाती है, अतः उपरोक्त मतका अनादर कर रहा हूँ। प्राचीन रसशास्त्रकारोंने भी कहा है—स्वकीया और परकीया—इन दोनों प्रकारकी नायिकाओंके सम्बन्धमें ही इन उदाहरणोंका व्यवहार सर्वत्र देखा जाता है॥१०-१२॥

लोचनरोचनी—कैश्चिदिति। परकीयायां रसममन्यमानैरित्यर्थः। यदुक्तम्—"परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा। यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा। कन्या त्वजातोयपमा सलज्जा नवयौवना।" इति। सत्कविग्रन्थ इति। पूर्ववदङ्गस्यैव शृङ्गाररसस्य न त्वङ्गिन इति ज्ञेयम्। अतएव श्रीजयदेवेनाङ्गित्वेन तद्वर्णने त्वौपपत्यं नोट्टङ्कितं प्रत्युत "त्वामप्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदतीरोदरे शङ्के सुन्दरि कालकूटमपिबन् मूढो मृडानीपतिः।" इति प्रचरद्रूपे वाक्ये श्रीराधाया लक्ष्मीत्वस्थापनात् तत्संभावना प्रत्याख्याता। अतएव मेघैर्मेदुरमम्बरमित्यादावपि सा श्रीकृष्णात् किंचिदेव प्रौढा कुमारीति मतम्॥११॥

अङ्गेपि मन्यमानानुद्दिश्याह—उदाहृतिभिदां केचिदिति। तेषामुक्तिमाह—तास्त्विति॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वीयाया एवेति परकीयायां रसाभासवत्त्वेन तद्भेदकरणं विफलमिति तन्मतम्। तन्मतस्यानुपादेयत्वमाह—तथापीति। सत्कविग्रन्थे दृष्टत्वादवगम्यते। तदनादृतं तैः सत्कविभिरनादृतं तिरस्कृतमिति। इमे परकीयायां रसममन्यमाना असत्कवय इति भावः॥११॥

सत्कवीनां मतं प्रमाणयति—तथा प्राचीनैरिति। भिदां भेदम्॥१२॥

तत्र मुग्धा—

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा सखीवशा।
रतिचेष्टासु सव्रीडचारुगूढप्रयत्नभाक् ॥१३॥

कृतापराधे दयिते बाष्परुद्धावलोकना।
प्रियाप्रियोक्तौ चाशक्ता माने च विमुखी सदा ॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—उन नायिकाओंमेंसे **मुग्धा—**जो नायिकाएँ नवयौवन सम्पन्ना, नवीन (अल्प) कामयुक्ता, रतिदानमें वामा (सम्भ्रम और लज्जा आदिके द्वारा अधिक सरल नहीं), सखियोंकी वशीभूता, रतिचेष्टामें अतिशय लज्जायुक्ता फिर भी अत्यन्त मनोज्ञ अथच गुप्त रूपमें दूसरोंकी दृष्टिसे छिपकर इस विषयमें सुन्दर रूपसे प्रयत्नशील होती हैं, नायक अपराधी होनेपर वे सजल नेत्रोंसे नायकको देखती हैं। प्रिय और अप्रिय कुछ भी नहीं बोलतीं, मान भी नहीं करतीं, ऐसी नायिकाओंको मुग्धा नायिका कहते हैं ॥१३–१४॥

लोचनरोचनी—नववयःकामेत्यादिलक्षणानि समुदित्यैव मुग्धां लक्षयन्ति। उदाहरणान्यपि समुदित्यैव तामुदाहरन्ति। तत्र नववयःकामेति तु प्रायिकमेव नववयस्त्वेऽपि क्वचित्प्रागल्भ्यदर्शनात्। एवमुत्तरत्रापि ॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—नववयःकामेति। वयो यौवनं, कामो रमणेच्छा। अत्र वयःकामयोर्नवीनत्वेन कामकलाचातुर्यस्य अल्पत्वमात्रं लक्ष्यते। नववयसोऽपि कस्याश्चित् प्रागल्भ्यदर्शनात्, पूर्णयौवनाया अपि कस्याश्चित् मौग्ध्यदर्शनात्। तथा कामस्य नवत्वेऽपि विदग्धमाधवादौ—"पादान्ते विलुठत्यसौ मयि मुहुर्दष्टाधरायां रुषा" इति। "क्व वाहं का वाहं चकर किमहं वा सखि तदा" इत्यादिषु मध्यालक्षणस्य दृष्टत्वात्। "रतौ वामा" इत्यादिभिरपि वाम्याद्यतिशयो लक्षयितव्यः। मध्याप्रगल्भयोरपि वाम्यसखीवशत्वव्रीडागूढ प्रयत्नादिदर्शनात्। अतएवालंकारकौस्तुभे—"वार्तायामपि सुरतेः पराङ्मुखी सत्रपा मुग्धा" इति तल्लक्षणमुक्तम् ॥१३॥

तत्र नववयाः—

विरमति शैशवशिशिरे प्रविशति यौवनमधौ विशाखायाः।
दीव्यति लोचनकमलं वदनसुधांशुश्च विस्फुरति ॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—नववया—विशाखाको दूरसे देखकर कृष्ण कह रहे हैं—इस समय विशाखाका शिशिर ऋतुरूप पौगण्ड समाप्त होकर यौवनरूप

वसन्त प्रादुर्भूत हुआ है; क्योंकि उसके नेत्रकमल प्रस्फुटित और वदनचन्द्र विस्फुरित हो रहा है॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वमभिसरन्तीं विशाखां दूराद्दृष्ट्वा श्रीकृष्णो वर्णयति—विरमतीति। दीव्यति लोचनपक्षे क्रीडति, कमलपक्षे लक्षणया विकसति। अत्र चकारो विरोधव्यञ्जकश्चन्द्रकमलयोर्युगपदुल्लासात्। तेन चात्र विस्मयरसोऽङ्गी शृङ्गारोऽङ्गमिति॥१५॥

यथा वा—

बाल्यध्वान्तसखे प्रयाहि तरसा राधावपुर्द्वीपत—
स्तारुण्यद्युमणेर्यदेष विजयारम्भः पुरो जृम्भते।
कृष्णव्योम्नि रुचिर्दरोत्तरलता ताराद्युतौ काप्युरः—
पूर्वाद्रौ सुषमोन्नतिः स्मितकला पश्याद्य वक्त्राम्बुजे॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें नववयसकी प्रारम्भ दशाका वर्णनकर प्रस्तुत श्लोकमें उससे भी कुछ अधिक प्रकाशमान प्रथम कैशोर अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। श्रीमती राधिकाके प्रथम कैशोरमें प्रकटित विशेष शोभाको अनुभवकर परिहासपूर्वक श्यामला कह रही है—"हे बाल्यरूप अन्धकार! हे सखे! (बहुत दिनों तक इस देहमें स्थितिके कारण सख्य भावापन्न) तुम्हारे लिए परम हितकी बातें कह रही हूँ। श्रीराधाके देहरूपी द्वीपसे तुम शीघ्र ही प्रस्थान करो। यदि कहो, मैं अपनी इच्छासे स्वयं ही चला जाऊँगा। उसीके लिए तो कह रही हूँ; क्या तुम देख नहीं रहे हो? श्रीराधाके इस देहरूपी द्वीपमें तारुण्यरूप सूर्यका उदय हो रहा है। सूर्योदयके आरम्भसे जैसे अन्धकारका नाश हो जाता है, आकाशमें कान्तिकी वृद्धि होती है, नक्षत्रोंकी दीप्ति भी क्षीण हो जाती है, उदय पर्वतपर अनिर्वचनीय शुभ्रताकी समृद्धि होती है तथा कमलके पुष्प विकसित होने लगते हैं, उसी प्रकार श्रीमती राधिकाकी बाल्यावस्था दूर होनेपर तारुण्यके प्रवेशसे उनमें श्रीकृष्णके प्रति स्वाभिलाषाका उद्गम होने लगा है, नेत्रतारकाओंकी चञ्चलता, वक्षस्थलकी अनिर्वचनीय परम शोभाका विकास तथा मुखमण्डलमें मृदु मन्दहास्यकी शोभा विकसित हो रही है। अतः हे बाल्य! तुम यथाशीघ्र ही प्रस्थान करो॥"१६॥

लोचनरोचनी—तारायामक्ष्णोः कनीनिकायां, पक्षे नक्षत्रे। रुचिरभिलाषः, पक्षे कान्तिः॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—मुग्धालक्षणे वृन्दावनेश्वरीमप्युदाहर्तुं प्राह—यथा वेति। परिहसन्ती श्यामला राधां वर्णयति—बाल्येति। अत्र ध्वान्तेति रूपकेण वस्तुतो राधावपुषि भावहावहेलारतिप्रेमस्नेहादीनां रसोपकरणानां नित्यसिद्धत्वं स्थाप्यते। यथान्धकारे गृहान्ते स्थितानां घटपटादीनाम् अदर्शनमात्रं ज्ञाप्यते; नत्वभावस्तथैव राधायामस्यां शृङ्गारतृष्णापूर्वमप्यासीदेव; किन्तु बाल्येनाच्छादितत्वाल्लोकैरवितर्क्येति तां प्रत्युपहासः। सखे इत्यनेन मम तु त्वया सह सख्यमेवेति स्वस्मिन्नवहित्थया तारुण्यानुदगमः सूच्यते। तेन च इयमिव कयापि नाहं परिहसितुं शक्येति व्यज्यते। तरसेति अन्यथा त्वामसौ प्राप्य वधिष्यतीति सख्येन हितोपदेशः सूचितः। तेन च राधायास्तारुण्यस्येषत्प्रवेशमात्रेणैव सर्वैव बाल्यचेष्टा सहसैव परित्यक्तेति पुनरप्युपहासः। विजय आगमनम्, स्वशत्रुपराभवकर्तृत्वञ्च। जृम्भते प्रकाशते। तच्चिह्नं दर्शयति। कृष्णव्योम्नि कृष्णवर्णे कृष्णरूपे चाकाशे रुचिः कान्तिरभिलाषश्च। तारा नक्षत्राणि, कनीनिका च। दरोत्तरलता त्रासव्याकुलत्वम्, ईषच्चाञ्चल्यं च। उरःपूर्वाद्राविति। उरस एव तुङ्गत्वादिद्रित्वम्। तदानीं स्तनयोस्तादृशत्वाभावादिति ज्ञेयम्। सुषमोन्नतिः किरणशोभाधिक्यम्, पक्षे सुषमया सह उन्नतिरुच्चत्वम्॥१६॥

नवकामा यथा—

बाले कंसभिदः स्मरोत्सवरसे प्रस्तूयमाने छलात्
प्रौढाभीरवधूभिरानतमुखी त्वं कर्णमध्यस्यसि।
सब्याजं वनमालिका–विरचनेऽप्युल्लासमालम्बसे
रङ्गः कोऽयमवातरद्वद सखि स्वान्ते नवीनस्तव॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—नवकामा—नान्दीमुखी धन्यासे कह रही है—"हे बाले! प्रौढ़ा गोपियाँ किसी अन्य प्रसङ्गके बहाने श्रीकृष्णकी मन्मथक्रीड़ा विषयक रागका प्रस्ताव करनेपर तुम अवनत मुखसे उसे कान देकर सुनती हो। देवाराधनाके बहाने वनमाला गूँथनेमें भी तुम्हारा उल्लास देख रही हूँ। हे सखि! सच बोलो तो तुम्हारे हृदयमें कौन–से नवीन कौतुकका प्रादुर्भाव हुआ है?"॥१७॥

लोचनरोचनी—बाले इति। प्रौढदूत्या वचनम्। रङ्गः कौतुकम्॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी धन्यामाह—बाले इति। प्रौढाभीरवधूभिः श्यामाललिताराधादिभिः। छलादिति। राधेऽद्य निकुञ्जे विलासगुरोः सकाशात् किं किमधीतं तद्व्याचक्ष्व। श्यामे मया मन्दमेधसा तद्दुर्गमं शास्त्रमध्येतुमशक्यमिति कृपया

त्वयैव तस्मान्नित्यमधीत्याधीत्य तस्य पुराणस्य कथा कथनीया तयैवाहं कृतार्था भवेयम्। राधेऽलमनयावहित्थया, स विलासगुरुरपि संप्रति त्वत्तोऽधीते, स एवाध्येतुं त्वामेष्यतीत्यस्माभिस्तन्मुखादेव कथा श्रोतव्या श्रूयते च नित्यमित्यादिरीत्या प्रस्तूयमाने कृतप्रस्तावे सत्यानतमुखी तत्र स्वस्याः सहिष्णुत्वज्ञापनार्थम् ईषत्कुञ्चितमुखी। "ऊर्मिमत्कुञ्चितं नतम्" इत्यमरः। सव्याजमिति। युष्माकं देवपूजार्थेयं माला अद्य किंचित्पुण्यकामया मयैव रचनीयेति। रङ्गः कौतुकम्। अवातरदाविर्भवति स्म॥१७॥

रतौ वामा यथा—

नवबालिकास्मि कुरु नर्म नेदृशं पदवीं विमुञ्च शिखिपिञ्छशेखर।
विचरन्ति पश्य पटवस्तटीमिमामरविन्दबन्धुदुहितुर्नतभ्रुवः॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—रतिप्राङ्मुखी—किसी समय कोई बहाना बनाकर धन्याके यमुनाके तटपर आनेपर श्रीकृष्ण उसका पथ अवरोध करते हुए मृदु-मन्द मुस्कानके साथ नर्मभङ्गी प्रकाश करने लगे। श्रीकृष्णको ऐसा करते देख धन्या किञ्चित् स्वाभिलाषमय चिकनी-चुपड़ी मीठी बातें करने लगी—हे शिखिपिच्छचूड़! मैं नवबालिका हूँ (स्वयं अपने नवबालिका अवस्थाकी बात करनेसे यह समझना होगा कि इसमें कुछ गूढ़ अभिप्राय अवश्य ही है)। तुम मुझसे रहःकेलिप्रार्थनारूप परिहास न करो। मेरे मार्गको छोड़ो। देखो, यमुना तटपर नतभ्रू परमासुन्दरी और दूसरोंकी इङ्गित समझनेमें परम निपुणा गोपियाँ विचरण कर रही हैं। उनके साथ ही तुम्हारा विलास उपयुक्त है, मेरे साथ नहीं। यहाँ "नतभ्रू सुन्दरीगण विचरण कर रही हैं, वे ही रतिके विषयमें पटु हैं", इस वाक्यका गूढ़ार्थ यह है कि इनके सामने नहीं, इनके असाक्षात्, जिससे ये हमें देख न लें, हमारे साथमें रमण करो। अतः अन्तरमें परम उत्सुकता रहनेपर भी सखियोंके भयसे तत्कालीन बाह्यतः अस्वीकृति ही यहाँपर वामता है॥१८॥

लोचनरोचनी—तटीं प्राप्य विचरन्ति भ्रमन्ति॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—धन्या प्राह—नवेति। ईदृशं नर्मशुल्कमिषेण मन्नीवीग्रन्थिमोचनरूपं न कुरु। ननु पलमात्रं सुरतं दत्त्वा याहीति। तत्राह—नवबालिकास्मीति। त्वयि तत् स्थास्यति चेदहमेव ग्रहीष्यामीत्यत आह—विचरन्तीत्यादि। तेन कमपि रहःप्रदेशं विना नाहं सम्मता भविष्यामीति ध्वनिः। नतभ्रुवस्तास्तस्याः सख्य एव ज्ञेयाः॥१८॥

यथा वा—

यमुनापुलिने विलोकनान्मे चलितां स्मेरसखीगृहीतहस्ताम्।
अयि मुञ्च करं ममेति खञ्जद्वचनां खञ्जनलोचनां स्मरामि॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—उक्त उदाहरणकी नायिका पहले ही श्रीकृष्णाङ्गका सङ्ग प्राप्त कर चुकी है। उनकी वामता दिखलाकर यहाँ अप्राप्त-श्रीकृष्णसङ्ग नायिकाका उदाहरण दे रहे हैं। किसी समय राधिकाको देखकर तत्कालीन उसकी मधुरचेष्टा आदिका अनुभवकर श्रीकृष्ण स्वयं ही परम उत्कण्ठित होकर सुबलसे उस चेष्टाका वर्णन कर रहे हैं। यमुना पुलिनमें मुझे देखते ही पीछे लौटकर भागती हुई श्रीराधाका हाथ किसी विनोदिनी सखीने हँसकर पकड़ लिया तथा उसे आगे बढ़नेसे रोक लिया। इसपर श्रीमती राधाजी रुद्ध गलेसे अस्फुट वाक्योंसे कहने लगी—"हे सखि! मेरा हाथ छोड़ो।" इस पद्यमें वैस्वर्य नामक सात्त्विकभाव और विलास नामक अलङ्कारको दिखलाया गया है। मैं इस समय उसी खञ्जननयना श्रीराधाजीका स्मरण कर रहा हूँ। खञ्जनके सहित उपमाके द्वारा श्रीमती राधिकाके दोनों नेत्रोंका परम चाञ्चल्य और परम सौन्दर्य यहाँ सूचित हुआ है॥१९॥

लोचनरोचनी—'गृहीतत्वमत्र निरुद्धत्वम्। अयीत्यनुनये। 'अयि प्रश्नानुनययोः' इति विश्वः॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तोदाहरणे वाम्यातिशयो न व्यञ्जित इत्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। श्रीकृष्णः सुबलमाह—यमुनेति। स्मेरेति। वनं प्रत्यागमनं ते सफलमभूत्। किं यासीति हस्तग्रहणध्वनिः। अयि मुञ्चेति। त्वं मे न सखी; किंतु वैरिण्येव; यतोऽस्यां विपदि मां प्रक्षेप्तुमिच्छसीति प्रतिध्वनिः। खञ्जत् खञ्जमिवाचरत् कण्ठादर्द्धार्द्धमुच्चरद्वचनं यस्यास्ताम्। स्वरभेदोऽयम्। खञ्जनेति चापल्यं च। सात्त्विकसंचारिणावेतौ स्थायिभावोत्थावपि भयोत्थत्वेन प्रत्यायितौ। इयं तु श्रीराधैव विलासनामालंकारवती ज्ञेया॥१९॥

सखीवशा यथा—

व्रजराजकुमार कर्कशे सुकुमारीं त्वयि नार्पयाम्यमुम्।
कलभेन्द्रकरे नवोदयां नलिनीं कः कुरुते जनः कृती॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—सखीवशा—ललिता किसी प्रकार अभिसार करा श्रीराधाको श्रीकृष्णके समीप लाई। किन्तु श्रीकृष्णके हाथके औद्धत्यको लक्ष्यकर लौटाते हुए कहने लगी—"हे व्रजराजकुमार! असुरवध आदिके विषयमें तथा कुलबालाओंकी वञ्चनाके विषयमें अत्यन्त कठोर तुम्हारे हाथोंमें मैं इस अत्यन्त कोमला अपनी सखीको समर्पण नहीं कर सकती। बतलाओ तो कौन-सा बुद्धिमान व्यक्ति किसी मत्त-मातङ्गके हाथोंमें नवोदया (तत्कालोत्पन्ना) नलिनीको समर्पण करेगा?"॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—अभिसारितां राधां श्रीकृष्णसमीपे बलादाकृष्यानीयापि तस्य हस्तौद्धत्यमालक्ष्य पुनस्तां परावर्तयन्ती ललिता प्राह—व्रजेति। कलभेन्द्रेत्यर्थान्तरन्यासः। तेन स्वस्य कलभेन्द्रत्वं परित्यज्य यदि भ्रमरत्वमङ्गीकुरुषे तदैवेमां दास्यामीति भावः॥२०॥

यथा वा—

न स्वीकृता सखि मया स्रगिहास्ति कौन्दी किं दीर्घरोषविकटां भ्रुकुटीं तनोषि।
क्षिप्तेयमत्र मम मण्डनपेटिकायां चेद्वृन्दया चटुलया किमहं करिष्ये॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—मृदुस्वभावा नायिकाका सखीवशत्व दिखलाकर यहाँ मध्या नायिकाका सखीवशत्व दिखला रहे हैं। किसी मानिनी व्रजाङ्गनाका कलहान्तरित्व निरूपणकर उसकी प्रधाना सखीके अगोचर वृन्दाके साथ श्रीकृष्ण उसके निकट उपस्थित हुए और अनुनय-विनयके द्वारा उसको प्रसन्नकर स्वरचित माला उसको समर्पणकर वहाँसे चले गए। दैववश उसी समय उसकी प्रधाना सखी वहाँ उपस्थित होकर विख्यात श्रीकृष्णशिल्पसे गुथी हुई उस विचित्र मालाको देखते ही समझ गई कि श्रीकृष्णने अपनी चिकनी-चुपड़ी मीठी बातोंसे इसको प्रसन्न कर लिया है। ऐसा जानकर वह प्रधाना सखी बड़ी क्रोधित हुई। उसकी आँखें लाल हो गईं। ऐसा देखकर वह सखी भयभीत होकर बहाना बनाती हुई कहने लगी—"हे सखि! मैंने श्रीकृष्ण प्रदत्त इस मालाको कदापि स्वीकार नहीं किया। तुम क्यों क्रोधपूर्वक विकट भृकुटी धारण कर रही हो? यदि कहो कि तुमने इस मालाको स्वीकार न कर दूर क्यों नहीं फेंक दिया? इसके लिए मैं तुम्हें बतला रही हूँ कि चञ्चला

वृन्दाने चुपचाप चोरी छिपे इसे मेरी इस मणिमय भूषण-पिटारीमें रख दिया है। बतलाओ इसमें मेरा क्या दोष है?"॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तोदाहरणे परमवामायास्तस्याः सख्याः साहाय्यमेव कृतमिति सखीवशत्वं न यथावदायातमित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। कदाचिन्मानिनीं धन्यां मालादानमात्रेणैव प्रसाद्य गते श्रीकृष्णे आगतायां च मानशिक्षाकारिण्यां प्रौढसख्यां सैव धन्या ततो बिभ्यती सहसैव स्वकण्ठान्मालामुत्तार्य भूषणमञ्जूषिकायां क्षिप्त्वा तामाह—न स्वीकृतेति। चटुलया मद्बहुवारणममानन्त्या त्वत्तः प्राप्स्यमानतर्जनकारणं सृजन्त्या मद्वैरिण्येवेत्यर्थः॥२१॥

सव्रीडरतप्रयत्ना यथा—

द्वित्राण्येत्य पदानि कुञ्जवसतेर्द्वारे विलासोन्मुखी
सद्यः कम्पतरङ्गदङ्गलतिका तिर्यग्विवृत्ता ह्रिया।
भूयः स्निग्धसखीगिरां परिमलैस्तल्पान्तमासेदुषी
स्वान्तं हन्त जहार हारिहरिणीनेत्रा मम श्यामला॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—सव्रीडरतप्रयत्ना—प्रथम दर्शनसे उत्पन्न भयके कारण श्यामलाने एक समय कुञ्जमें रहोविलासके आरम्भमें जो-जो अत्यन्त मधुर चेष्टाएँ की थीं, क्रीड़ाविलासके पश्चात् श्रीकृष्ण अपने घर लौट जानेपर उन-उन मधुर चेष्टाओंको अत्यन्त माधुर्याकृष्ट चित्तसे सुबलसे कह रहे हैं—विलासोन्मुखी श्यामला कुञ्जगृहके द्वारमें दो-तीन पद अग्रसर होते ही तत्क्षण ससम्भ्रम हर्ष और उत्सुकता आदि हेतु काँपने लगी, उसकी अङ्गलता अत्यन्त सुशोभित हुई और लज्जाके कारण घरकी ओर चल पड़ी। परन्तु स्नेहशीला सखीके विविध प्रकारके साम-भेद आदि हितोपदेश सूचक वाक्यविनोदके कारण पुनः पुष्प शय्याके निकट किसी प्रकार लज्जामें सिमटी हुई उपस्थित हुई। उस समय तदीय नेत्र-माधुरी कैसी स्फुरित हो रही थी, उसे पुनः कह रहे हैं—अहो! वैसी मनोज्ञ अर्थात् चञ्चल नेत्रोंवाली श्यामला मेरे मनको हरण कर रही है!॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—सव्रीडो रते रमणविषये प्रयत्नो यस्याः सा। श्रीकृष्णः प्रातः सुबलमाह—द्वित्रेति। विलासोन्मुखी सुरताभिलाषिणीत्यौत्सुक्याश्लेषेण विलासनामा-

लंकारेणोत्कृष्टं सुन्दरं मुखं यस्याः सा। कम्पेन तरङ्गन्ती तरङ्गायमाणाङ्गलतिका यस्याः सा। सद्यस्तत्क्षण एव कान्तकर्तृकदर्शनाघातेनेव तिर्यग्विवृता परावर्तितमुखी पृष्ठीकृतकान्ता वामपाणिना अवगुण्ठनमुत्सारयामासेत्यर्थः। एवं च शङ्कालज्जावेगौत्सुक्यानां सन्धिः। ततश्च भूय इत्यनेन स्निग्धेत्यनेन च गिरामिति परिमलैरिति बहुवचनाभ्यां च तस्या आनयनार्थं सखीविनयप्रणयश्रीकृष्णोक्तचाटुकथनगमनागमनसामदानाद्युपाया व्यञ्जिताः। अत्र परिमलैरित्यनेन गिरां पुष्पमञ्जरीत्वम्, स्निग्धसखीनां कोमलवल्लीत्वम्, तस्या नायिकाया भ्रमरीत्वम्, श्रीकृष्णस्य भ्रमरत्वं चानीतम्। तथा सौरभलोभेनायाता भ्रमरी भ्रमरेण संभुक्तेत्यतिशयोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसे च ध्वनिते। हारिहरिणीति। तदानीन्तन तादृशनेत्रान्तचाञ्चल्यं च तस्यास्तेनास्वादितमिति॥२२॥

रोषकृतवाष्पमौना यथा—

सिद्धापराधमपि शुद्धमनाः सखी मे त्वां वक्ष्यते कथमदक्षिणमुद्धतेव।
नेमां विडम्बय कदम्बवनीभुजङ्ग वक्त्रं पिधाय कुरुतामियमश्रुमोक्षम्॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—रोषकृतवाष्पमौना—खण्डिता धन्याकी सखी श्रीकृष्णसे कह रही है—“हे कुटिल! तुम्हारा अपराध प्रमाणित होनेपर भी मेरी निर्मल चित्तवाली सखी अत्यन्त अधीर होकर भी तुम्हें क्यों कुछ कहेगी? हे कदम्बवनके भुजङ्ग! (कदम्बवनमें कामुक होकर जिसके साथ तुमने विलास किया है, उसको भी यह जानती है) अब इसकी और अधिक विडम्बना न करो। तुम्हारे द्वारा इसके वञ्चित होनेकी बात दूसरोंके जाननेपर महालज्जाका विषय होगा। इसलिए यह केवल अपने मुखकमलको ढककर अश्रुमोचन करे, रोए।” अथवा, “हे कदम्बकाननके भुजङ्ग! तुमने जहाँ रात्रिकाल व्यतीत किया, वहीं जाओ। तुम्हारा अपराध मेरी सखीको विदित है। तुम अति अदक्षिण हो, मेरी सखी बड़ी सरल और भोली-भाली है। उसको मत छेड़ो। वह अधीर हो रही है; उद्धतकी भाँति वह तुमसे कैसे बोलेगी? उसके आगे घुटने टेक कर झूठ बोल कर इससे परिहास न करो। यह मुख ढककर रोती है, तो रोने दो॥”२३॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डिताया धन्यायाः सखी कृष्णमाह—सिद्धेति। उद्धतेव अधीरेव, न विडम्बय प्रणिपातादिना नोपहस। वनीत्यल्पविवक्षायाम्। भुजङ्ग हे कामुक! कदम्बवने रात्रौ या रमिता तामियं जानीत इति भावः। कुरुतामिति। रोदने विघ्नं मा कार्षीः। अस्या ललाटे रोदनमेव लिखितमस्तीति भावः॥२३॥

अथ माने विमुखी—

मृद्वी तथाक्षमा चेति सा माने विमुखी द्विधा॥२४॥

तत्र मृद्वी यथा रससुधाकरे—

व्यावृत्तिक्रमणोद्यमेऽपि पदयोः प्रत्युद्गतौ वर्तनं,
भ्रूभेदोऽपि तदीक्षणव्यसनिना व्यस्मारि मे चक्षुषा।
चाटूक्तानि करोति दग्धरसना रूक्षाक्षरेऽप्युद्यता,
सख्यः किं करवाणि मानसमये संघातभेदो मम॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—मानके विषयमें विमुखी नायिकाओंके दो भेद होते हैं—(१) मृद्वी और (२) अक्षमा। रससुधाकरसे मृद्वीका उदाहरण दे रहे हैं। अप्रिय आचरणकारी प्रियतमके विषयमें प्रियतमाकी प्रसन्नताको लक्ष्यकर उक्त यूथेश्वरी नायिकाको उसकी सखियाँ तिरस्कारपूर्वक मान-पद्धतिका उपदेश करने लगी। उसे सुनकर वह नायिका कहने लगी—"मेरी प्यारी सखियो! मैं क्या करूँ? मैं उनको पीठ दिखाकर लौटनेकी इच्छा करती हूँ, किन्तु मेरे दोनों पैर विपरीत दिशामें ही अर्थात् प्रियतमकी ओर ही बढ़ने लगते हैं। मेरे इच्छा करनेपर भी मेरे नेत्र भ्रू-भङ्गीके द्वारा उनको निषेध करना भूलकर उनके दर्शनमें ही आसक्त हो उठते हैं। रुक्ष वचनोंके द्वारा तिरस्कार करनेकी इच्छा करती तो हूँ, किन्तु आग लगे इस रसनाको, जो उनके आगे मीठी चाटु बातें ही बोलने लगती है। अरी सखियो! मैं क्या करूँ? जब मान करनेका समय आता है, तब मेरी सारी इन्द्रियाँ मेरी इच्छाके विपरीत स्वतन्त्र व्यवहार करने लगती हैं। मेरा स्वभाव भी विपरीत हो जाता है। अब तुम्हीं बतलाओ मैं क्या करूँ?"॥२४-२५॥

लोचनरोचनी—'अक्षमेत्यत्र उद्धतेत्येव वा पाठः॥२४॥

व्यावृत्तीति। चक्षुषा व्यस्मारि विस्मारयामास। चेतसेति वा पाठः। संघातभेद आत्मीयगणमध्ये भेदो जात इत्यर्थः॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र प्रियाप्रियोक्तौ चाशक्तेत्यस्योदाहरणादानात् रोषकृतबाष्पमौनाया द्वैविध्यं बुध्यते। तथाहि—रोषकृतबाष्पमौना द्विधा भवति। प्रियाप्रियोक्तौ चाशक्ता, माने विमुखी चेति। अत्र चकारद्वयमपि द्वैविध्यज्ञापकम्। अत्र प्रथमा सामान्यलक्षणोदाहरणेनैव

चरितार्थैति तामुल्लङ्घ्य द्वितीयां भिनत्ति। मृद्वी कोमलमाना, अक्षमा मानशून्या। आद्या किंचिन्मध्यात्वांशस्पर्शिनी, द्वितीयातिमुग्धा॥२४॥

मानं शिक्षितवतीरायान्तीर्मानस्य क्षेमं पृच्छन्तीः स्वसखीः प्रति धन्या प्राह—व्यावृत्त्या परावृत्त्या तं पृष्ठीकृत्य क्रमणस्य गमनस्योद्यमे क्रियमाणेऽपि प्रत्युद्गतौ वर्तनं न तस्य सम्मुख एव अभ्युद्गमे पदयोर्वृत्तिः स्यात्। व्यस्मारि विस्मृतः। व्यसनिना आसक्तिमता। तत्रापि रसनायामेव दग्धेति विशेषणदानादियमेव सर्वतोऽनर्थकारिणीति सूचितम्। मम संघातस्य पदचक्षूरसनादिगणस्य भेदः स्वभावभेदो जातः। अत्र पदादिभिर्व्यावृत्तिभ्रूभेदरूक्षाक्षराणां चिकीर्षितत्वेऽपि यत्तद्दर्शनानन्तरं स्वस्वभाववैपरीत्यं गृहीतं तेन कयापि विद्यया वा मन्त्राभिमन्त्रितधूलिक्षेपेण वा सिद्धाञ्जनेन वा कृतेन पदादीन्द्रियाणि तदानीमुन्मादितानीति विभावनाविशेषोक्तिविरोधैर्व्यञ्जितम्॥२५॥

अक्षमा यथा—

आभीरपङ्कजदृशां बत साहसिक्यं याः केशवे क्षणमपि प्रणयन्ति मानम्।
मानेति वर्णयुगलेऽपि मम प्रयाते कर्णाङ्गणं वहति वेपथुमन्तरात्मा॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—मानमें अक्षमा—मानकी शिक्षा देनेवाली किसी सखीके प्रति मान करनेवाली गोपियोंके सम्बन्धमें आक्षेप करते हुए किसी कृष्णप्रेयसीने कहा—"अहो! कमलनयना आभीरियोंका साहस तो देखो, वे क्षणभरके लिए भी श्रीकृष्णके प्रति मान धारण करनेमें समर्थ हैं, किन्तु मेरे कानोंमें 'मान' नामक यह दो अक्षर प्रवेश करते ही मेरी अन्तरात्माको कम्पायमान कर देते है॥"२६॥

आनन्दचन्द्रिका—मानं शिक्षयन्तीं सखीं काचित् सर्वा मानिनीराक्षिपन्त्याह—आभीरेति। सहसा वर्तत इति साहसिकस्तस्य भावः साहसिक्यम्। केशवे दृष्टे सतीत्यर्थः। न चास्याः कान्तं प्रति रोषो नास्तीति वाच्यम्; "कृतापराधे दयिते बाष्परुद्धावलोकना" इति सामान्यलक्षणे रोषकार्यस्य बाष्पस्योक्तेः। किन्तु कान्तदर्शनक्षण एवानन्दानुभवात् मानस्यानुभावसहितस्यापि शान्तिः, प्रथमोक्तायान्तु तद्दर्शनक्षणे मानजनितस्य कायिकवाचिकचाक्षुषोद्यमस्य तद्दर्शनानन्दसंमदादजातफलस्यैव शान्तिः, तद्द्वितीयक्षणे मानस्यापि शान्तिरिति सा सवाष्परोषा कृष्णेन प्रथमं दृष्टैव। मानाक्षमा तु तथाभूतेन सम्यक्तया दृष्टेति भेदो विवेचनीयः। किन्तु कान्तदर्शनानन्दस्पर्शमात्र एव रोषो निवर्तत इति मानारम्भस्याभावः। प्रथमोक्तायास्तु मृद्व्याः स्तद्दर्शनानन्दसंमर्द एव रोषो यातीति आरब्धस्य मानस्यासिद्धिरिति भेदो विवेचनीयः॥२६॥

अथ मध्या—

समानलज्जामदना प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी।
किंचित्प्रगल्भवचना मोहान्तसुरतक्षमा।
मध्या स्यात्कोमला क्वापि माने कुत्रापि कर्कशा॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—मध्या—जिस नायिकाकी लज्जा और मद (काम) दोनों बराबर होते हैं (इससे सूचित होता है कि मुग्धामें मदनसे लज्जाकी अधिकता होती है और प्रगल्भामें लज्जासे मदन ही अधिक होता है), जो प्रकाशमान यौवनसे अत्यन्त श्लाघनीय है, प्रशंसनीय है, जिनकी वाणीमें कुछ-कुछ औद्धत्य, सुरत-व्यापारमें मूर्च्छा तक समर्थ है तथा मानके विषयमें समयविशेषसे कोमल और अन्य समयमें कर्कशा होती है, रसशास्त्रमें ऐसी नायिकाको ही मध्या कहा गया है॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—समानौ तुल्यप्रमाणौ लज्जामदनौ यस्यास्तेन मुग्धाया मदनल्लज्जाधिक्यम्, प्रगल्भाया लज्जातो मदनाधिक्यमिति ज्ञेयम्। प्रोद्यदिति तेन मुग्धाप्रगल्भे ईषत्तारुण्यपूर्णतारुण्ये ज्ञेये। किंचिदिति। तेन मुग्धाप्रगल्भे अप्रगल्भपूर्णप्रगल्भवचने ज्ञेये। मोह आनन्द मूर्च्छा कामाद्युद्गमजन्या अन्ते यत्र तथाभूते सुरते क्षमा, तावत्क्षणपर्यन्तसुरते सामर्थ्यवती तत आनन्दमूर्च्छानन्तरमशक्तेत्यर्थः। तेन मुग्धाया मदनाल्पत्वादानन्द एव; न तु मूर्च्छा तथा बलाल्पत्वादादिसुरतादप्यक्षमात्वं तथा प्रगल्भाया मदनाधिक्यादादिसुरत एवानन्दमूर्च्छाबलाधिक्यात्तदनन्तरमपि सामर्थ्यम्। ततश्च निर्मोहसुरतक्षमा, मोहान्तसुरतक्षमा, मोहादिसुरतक्षमेति तिसृणां लक्षणमायातमिति॥२७॥

तत्र समानलज्जामदना यथा—

विकिरति किल कृष्णे नेत्रपद्मं सतृष्णे
नमयति मुखमन्तःस्मेरमावृत्य राधा।
निदधति दृशमस्मिन्नन्यतः प्रेक्षतेऽमुं
तदपि सरसिजाक्षी तस्य मोदं व्यतानीत्॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **समानलज्जामदना—**लज्जा एवं मदन जिसमें समान रूपसे होता है, ऐसी नायिकाका उदाहरण—पुष्पचयनके बहाने विशाखा श्रीमती राधिकाको सङ्केतकुञ्जमें अवस्थित श्रीकृष्णके समीप ले गई। इस तत्कालीन वृत्तान्तको किसी दूसरे कुञ्जमें छिपकर देखती हुई नान्दी, पौर्णमासीके निकट बड़े आनन्दके साथ बतला रही है—"जब

श्रीकृष्ण ललचाए नेत्रोंसे श्रीराधाकी ओर देखते हैं, तब श्रीराधाजी किञ्चित् मुस्कुराकर अपने मुखकमलको घुमाकर नीचे कर लेती हैं, किन्तु श्रीकृष्णके दूसरी ओर दृष्टिपात करनेपर विस्फारित नेत्रोंसे तथा परम उत्सुकतासे उनका भरपूर दर्शन करती हैं। इससे श्रीकृष्णके हृदयमें अद्भुत आनन्दका विस्तार होता है॥"२८॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दी पौर्णमासीं प्राह—विकिरतीति। अन्तःस्मेरमिति। स्मितस्य बहिर्निष्क्रमणावरणम्। आवृत्येति। कटाक्षस्याप्याभावः; कान्तेन पूर्णनेत्राभ्यां दृष्टत्वात्। तेन प्रगल्भाया लज्जाल्पत्वात् मुखं सस्मितम्। आनमय्य ईषदावृत्य कटाक्षेण वीक्षते इत्यायातम्। तथा कान्तेनापाङ्गदृष्टत्वे मध्यापि कटाक्षेणेक्षते। मुग्धा तत्रापि लज्जाधिक्यान्नेक्षत इति विवेकः। इममेव स्पष्टीकर्तुमाह—निदधतीति। अन्यतः अन्यत्र कुञ्जादौ दृशं दृष्टिं संपूर्णामर्पयति सति प्रेक्षते प्रकर्षेण संपूर्णयैव दृष्ट्येक्षते। किंचिदपाङ्गागमनज्ञाने तु न प्रकर्षेणेति भावः॥२८॥

प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी यथा—

भ्रुवोर्विक्षेपस्ते कवलयति मीनध्वजधनुःप्रभारम्भं रम्भाश्रियमुपहसत्यूरुयुगलम्।
कुचद्वन्द्वं धत्ते रथचरणयूनोर्विलसितं वरोरुणां राधे तरुणिमणिश्चूडामणिरसि॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी—क्रीड़ाकुञ्जमें अपने पास उपस्थित श्रीमती राधिकाके उच्छ्वलित (उठती हुई कैशोरावस्था) कैशोरपूर्ण श्रीअङ्गोंको देखकर आनन्दसे अत्यन्त अधीर होकर श्रीकृष्ण उन्हींसे बोले—"हे राधे! तुम्हारी भ्रू-भङ्गी कामधनुषकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है। तुम्हारे दोनों उरुप्रदेश कदलीकी शोभाका भी उपहास कर रहे हैं। दोनों कुचयुगल चक्रवाकके विलासको (गोलाईको) धारण कर रहे हैं। अहो! तुम तो इस समय तरुण सुन्दरियोंकी चूड़ामणिकी भाँति ही सुशोभित हो रही हो॥"२९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—भ्रुवोरिति। धनुषः प्रभाया आरम्भं कवलयतीत्येतदग्रे तस्य शोभोद्गम एव न भवति किं पुनर्विक्रम इति। तच्छरादपि कोटिगुणाधिको भवत्याः कटाक्षशरो मां प्रहरिष्यतीति ध्वनिः। न जाने ततो मे का दशा भविष्यतीत्यनुध्वनिः। रथचरणश्चक्रवाको जातिर्ययोस्तयोर्यूनोरिति शाकपार्थिवादिः। विलसितं सहभावक्रीडाविशेषेण लसितं दीप्तिं तदाकारशोभां च॥२९॥

किंचित्प्रगल्भोक्तिर्यथोद्धवसंदेशे (५५)—

मद्वक्त्राम्भोरुहपरिमलोन्मत्त सेवानुबन्धे
पत्युः कृष्णभ्रमर कुरुषे किन्तरामन्तरायम्।
तृष्णाभिस्त्वं यदि कलरुतव्यग्रचित्तस्तदाग्रे
पुष्पैः पाण्डुच्छविमविरलैर्याहि पुन्नागकुञ्जम्॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—किञ्चित् प्रगल्भोक्ति—उद्धवसन्देशमें ऐसा कहा गया है कि एक समय श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकासे मिलनेकी उत्कण्ठासे जटिलाके गृहके समीपवर्ती किसी उद्यानमें बहुत समय तक मुरलीवादन करके श्रीमती राधिकाको मिलनेके लिए इङ्गित कर रहे थे। किन्तु बार-बार ऐसा करनेपर भी श्रीमती राधिकाजी श्रीकृष्णसे नहीं मिली। श्रीमतीजी क्यों नहीं मिलने आ रही हैं, यह वृत्तान्त जाननेके लिए श्रीकृष्णने अपनी विश्वस्त दूतीको गुप्त रूपसे वहाँ भेजा। उस समय श्रीमती राधिकाजी सास-ससुर आदि गुरुजनोंके निकट बैठी हुई थीं। उन्होंने दूतीको देखा, किन्तु उस दूतीको स्पष्ट रूपमें कुछ बोल न सकीं। अतएव दूरसे ही मिलनेके स्थानकी सूचना देती हुईं, सामने एक भ्रमरको देखकर उसे ही उपलक्ष कर कहने लगीं—"अरे श्रीकृष्ण भ्रमर! तुम मेरे वदनकमलके परिमलसे उन्मत्त होकर हमारी पतिसेवामें क्यों विघ्न उत्पन्न कर रहे हो? हे कलरुत! मधुर रूपमें गुञ्जार करनेवाले भ्रमर! यदि बहुत अधिक तृष्णावश व्यग्रचित्त हो रहे हो, तो सामने ही अनेकानेक पुष्पोंके द्वारा पीतवर्णके पुन्नागकुञ्जमें गमन करो। अवश्य ही तुम्हारी तृष्णाका उपशम होगा।" उपरोक्त पद्यका तात्पर्य यह है कि श्रीराधिका श्रीकृष्ण-प्रेरित दूतीको देखकर भ्रमरके उपलक्षसे बोली—हे सखि! श्रीकृष्ण मिलनके लिए इतने उतावले हो रहे हैं कि उन्हें स्थानास्थानका भी विचार नहीं है। गुरुगृहके समीपवर्ती इस उद्यानमें मिलन किस प्रकार सम्भव है? मैं गुरुजनोंको अपने पातिव्रत्य धर्मका प्रदर्शन कर रही हूँ। वे मेरे प्रति अत्यन्त विश्वस्त हैं। यदि तुम पुनः-पुनः वंशीके द्वारा इङ्गित करोगे, तो ये तुम्हारे अभिप्रायको समझ जाएँगे और तब एक भयङ्कर अनर्थ उपस्थित हो सकता है। इसलिए यहाँसे समीपवर्ती पुन्नागकुञ्जमें आप मेरे लिए प्रतीक्षा करें, मैं शीघ्र ही वहीं उपस्थित होऊँगी। इस प्रकार भङ्गीके द्वारा उसको सङ्केत प्रदान किया॥३०॥

लोचनरोचनी—दूरतो वंशीध्वनिं विधाय पुनः संध्यान्धकार एव गुप्तमागतं श्रीकृष्णं प्रति संकेतस्थानं कापि सूचयति—मद्वक्त्रेति। पत्युः सेवानुबन्धे पाकाद्यारम्भे। तदेतच्च गृहलोकानां सुखार्थमेवारोप्य वदति स्म॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—"अत्युकण्ठया जटिलागृहोपकण्ठ एव कस्मिंश्चिदुद्याने बहुक्षणं मुरलीं वादयताप्यप्राप्तां राधामालक्ष्य तद्वृत्तज्ञानार्थं श्रीकृष्णेन प्रेषितां काञ्चन दूतीं लक्षीकृत्य श्वश्रु–आदिगुरुजनमध्यस्था सा कमपि भ्रमरमुद्दिश्य ब्रुवाणा दूरतः संकेतस्थलं सूचयति—मद्वक्त्रेति। उन्मत्तेति संबोधनेन गुरुगृहातिनिकटे एवास्मिन्नुद्याने कथं विलासः सेत्स्यतीति तत्परामर्शाभावः सूचितः। पत्युः सेवानुबन्धे जलाद्युष्णीकरण इति वाङ्मात्रमेव श्वश्रूं ननान्दरं च प्रीणयितुम्। हे कलरुतेति। वंशीवाद्यश्रवणेनावदधद्भिर्गुरुजनैर्यद्यहं निरुध्येय तदा का गतिर्भविष्यतीति वंशीस्वनं मा कार्षीरिति भावः। पुंनागकुञ्जं ततो दूरस्थम्। यद्वा तृष्णाक्रान्तो दूरं यातुं न शक्नोषि तदोद्यानं परिहृत्य कुञ्जं निकटस्थमपि। पाण्डुच्छविमिति। अस्यां चन्द्रिकाबहुलायां रजन्यां तस्य जनैर्दुर्लक्ष्यत्वम्, अविरलैर्निबिडैरिति दुष्प्रवेशत्वम्, सुरभित्वात् शृङ्गारोपयोगित्वं च॥३०॥

मोहान्तसुरतक्षमा यथा—

श्रमजलनिबिडां निमीलिताक्षीं श्लथचिकुरामनधीनबाहुवल्लीम्।
मुदितमनसमस्मृतान्यभावां रतिशयने निशि राधिकां स्मरामि॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—मोहान्तसुरतक्षमा—रात्रिकालीन विलासके समय श्रीमती राधिकाके तत्कालीन माधुर्य-विशेषको स्मरणकर श्रीकृष्ण अपने-आप ही कहने लगे—"अहो! गत रात्रिकालमें सुरत शय्यापर श्रीमती राधिकाकी देह पसीनेसे लथपथ हो रही थी, आँखें मुन्दी हुईं थीं, केशपाश बिखरे हुए थे और बाहुलता शिथिल हो रही थी। उस समय विलास माधुर्यके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयका उन्हें स्मरण नहीं था। मैं श्रीराधाजीके उसी रूपका ही स्मरण कर रहा हूँ॥"३१॥

लोचनरोचनी—श्रमजलनिबिडामिति। श्रीकृष्णस्य भावनावचनम्। किन्तु "सोऽपि कां स्मरामि" इत्येव पाठः। "मुरजिदमुं नहि विस्मृतिं निनाय" इति पाठे सुबलस्य भावनामयं वचनम्॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—किं ध्यासीति सुबलेन पृष्टः कृष्ण आह—श्रमेति। अत्र श्रमजलानां नैबिड्यम्। चिकुराणां श्लथत्वम्, बाहुवल्ल्या दौर्बल्यं च सुरतान्तं

व्यनक्ति। न स्मृतोऽन्यस्य विषयाश्रयोद्दीपनादेर्भावो भावना यस्या इति रतिसुखविशेषानुभवो मूर्च्छायामपि वर्तमानस्तस्या मुखमाधुर्यात्तदानीमवगत इति ज्ञेयम्। अत्र मुदितमनसमित्यस्यापुष्टार्थत्वं वक्तुः प्रेमवत्त्वानुलापपरवशादेव सोढव्यम्। स च चिरान्मद्विषयकामाग्निसंतप्तमनाः सा सुरतेन मयाद्य मुदितमनाः कृता इत्यतः कृतार्थोऽस्मीति स्वाभिप्रायोद्गारमय इति॥३१॥

माने कोमला यथा—

**प्राणास्त्वमेव किमिव त्वयि गोपनीयं मानाय केशिमथने सखि नास्मि शक्ता।
एहि प्रयाव रविजातटनिष्कुटाय कल्याणि फुल्लकुसुमावचयच्छलेन॥३२॥**

तात्पर्यानुवाद—मानमें कोमला—हे प्रिय सखि! श्रीकृष्ण तुम्हारे समीप आ रहे हैं। ये बड़े ही चञ्चल एवं धूर्त हैं। तुम उनके साथ आलाप न कर मान प्रकाश करना। उनके साथ बातचीत न करना। ऐसी शिक्षा देनेपर श्रीमती राधिका कहने लगी—"ललिते! तुम मेरे प्राणोंके समान ही प्रिय हो। मैं कभी भी कोई बात तुमसे गुप्त नहीं रखती। अतएव तुम्हें बतला रही हूँ—केशीमथन श्रीकृष्णके प्रति मैं मान धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकूँगी। अतः हे कल्याणि! हम दोनों ही यमुनाके तटपर अवस्थित उद्यानमें कुसुम चयनके छलसे वहाँपर प्रस्थानकर श्रीकृष्णका दर्शन करें। यदि कहो अभी तो तुम चाटु वचनोंसे श्रीकृष्णका तिरस्कारकर आई हो और स्वयं अब उनके निकट जानेसे बड़ी लज्जाकी बात होगी तथा हठात् यमुना तटपर जानेसे तुम्हारी सास आदि भी सन्देह करेंगी; तो इसलिए मैं कह रही हूँ कि प्रस्फुटित पुष्पोंके चयनके छलसे वहाँ जानेपर दोनों तरफसे ही इसका समाधान हो जाएगा॥"३२॥

लोचनरोचनी—केशिमथन इति। पूर्वग्रन्थे स्थापितायामत्रापि स्थापयिष्यमाणायां द्वारकातः समागमात् परत्र जातायां लीलायां सम्भवति। केशिवधान्तसंध्यायामेवाक्रूरागमनेन व्रजे महावैयग्र्यजननात्। तदेवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। ननु सपत्न्यस्तूपहसिष्यन्तीति तत्राह—एहीति॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितां प्रत्याह—प्राणा इति। केशिमथन इति। केशिवधादुत्तरकालभवैव न तु तत्पूर्वकालभवेयं लीलेति नाशङ्क्यम्। "बहूनि सन्ति नामानि" इत्यादिना नामकरणकाल एव गर्गेण तत्त्रैकालिकान्येव नामानि श्रीव्रजराजं प्रत्युक्तानीति केशिमथन-मुरदमन-कंसहेत्यादिनामभिर्व्रजस्थजनैः सर्वदैव स उच्यते। अत्र पद्ये पूर्वार्धस्यार्थेन प्रसक्तं मुग्धात्वं किंचित्प्रगल्भवचनेन मध्याधर्मेण

वारयन्नाह—एहीति। प्रयावेति अनभिप्रेतं मानं शिक्षयन्त्यपि मे त्वमेव प्राणाः; अन्यथा कयाचिदन्ययैव सख्या त्वां वञ्चयित्वा तमहमभिसरिष्यामीति भावः। ननु किं सुरतं भिक्षितुं तत्समीपं यासि। मैवं मैवं, रुशतीं वाचमवोच इत्याह—कल्याणीति॥३२॥

माने कर्कशा यथा विदग्धमाधवे (५/३०)—

मुधा मानोन्नाहाद्‌गलपयसि किमङ्गानि कठिने
रुषं धत्से किम्वा प्रियपरिजनाभ्यर्थनविधौ।
प्रकामं ते कुञ्जालयगृहपतिस्ताम्यति पुरः
कृपालक्ष्मीवन्तं चटुलय दृगन्तं क्षणमिह॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—मानके समय कर्कशा—हृदयके अन्दर मान नहीं रहनेपर भी बाह्यतः श्रीकृष्णकृत अपराधाभासका स्मरणकर श्रीमती राधिकाके असन्तुष्ट होनेपर विशाखा उनको तिरस्कार करती हुई शिक्षा दे रही है—"हे कठोर हृदया! तुम वृथा मानकर अपने शरीरको क्यों सुखा रही हो? क्यों अपने प्रिय परिजनकी माँगको अस्वीकारकर रोष कर रही हो? देखो तो तुम्हारे सम्मुख कुञ्जगृहके स्वामी श्रीकृष्ण अत्यन्त परिताप कर रहे हैं। ऐसे प्रियतमके प्रति एक क्षणके लिए भी तो कृपा-सम्पत्तिपूर्ण कटाक्षपात करो॥"३३॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधामाह—मुधेति। उन्नाहादुद्गारात्। अङ्गानीति। स्वस्मै दुःखं ददासि। प्रियपरिजनेति। सखीभ्यः। ताम्यतीति स्वकान्ताय। ननु स्वयं कृतं मानं स्वयमेव कथं हातुं प्रभवामीत्यत आह—कृपेति। इह प्रणतिपरे प्रिये कृपासंपत्तिपूर्णं नेत्रान्तं चटुलय किंचिच्चञ्चलीकुरु, बहिः प्रसर्तुमाज्ञापय मा निरुन्धीति। कलहान्तरितात्वं ते ज्ञात्वैव मयैवमुच्यसे इति ध्वनिः॥३३॥

त्रिधासौ मानवृत्तेः स्याद्धीराधीरोभयात्मिका॥३४॥

तत्र धीरमध्या—

धीरा तु वक्ति वक्रोक्त्या सोत्प्रासं सागसं प्रियम्॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—ये मध्या नायिकाएँ मानके समय तीन प्रकारकी हो सकती हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। उनमेंसे जो नायिका अपने अपराधी प्रियतमके प्रति उपहासपूर्वक वक्रोक्तिका प्रयोग करती है, उसको धीरा कहा जाता है॥३४–३५॥

लोचनरोचनी—तत्र धीरमध्यां वक्तुं मध्याया लक्षितत्वान्मध्यामात्रं लक्षयति—धीरा त्विति॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—मानवृत्तेर्मानवृत्तिं प्राप्य तत्र धीरेत्येवमेव वक्तव्येऽपि धीरमध्या, अथाधीरमध्येत्यादिषु मध्यादिपदोपन्यासः सुखबोधनार्थो मध्यादेरनुवृत्त्यैव प्राप्तत्वात्॥३४॥
सोत्प्रासमुत्कर्षेणोत्कर्षकथनेनैव प्रास्यते तिरस्क्रियतेऽनेनेत्युत्प्रासः सोलुण्ठहासस्तद्विशिष्टं यथा स्यात्तथा॥३५॥

यथा—

स्वामिन् युक्तमिदं तवाञ्जननवालक्तद्रवैः सर्वतः
संक्रान्तैर्धृत नीललोहिततनोर्यच्चन्द्रलेखाधृतिः।
एकं किंत्ववलोचयाम्यनुचितं हंहो पशूनां पते
देहार्द्धे दयितां वहन् बहुमतामत्रासि यन्नागतः॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—खण्डिता अवस्थामें श्रीमती राधिका श्रीकृष्णसे कह रही हैं—"हे स्वामिन्! अपने अङ्गोंमें सर्वत्र कज्जल तथा महावर (अलक्तक) धारणकर आपने जो नीललोहितरूप धारण किया है, वह आपके लिए उपयुक्त ही है; क्योंकि अपने अङ्गोंमें आप चन्द्ररेखा धारण कर रहे हैं। किन्तु, बड़े दुःखकी बात है। हे पशुपते! अपनी गोदीमें अपनी दयिताको लेकर क्यों नहीं आए? मैं केवल एक यही त्रुटि देख रही हूँ।" इस उदाहरणका तात्पर्य यह है कि चन्द्रावलीके सहित कुञ्जलीलाके पश्चात् रात्रिके अन्तमें श्रीमतीके समीप आगमन करनेपर श्रीकृष्णके अङ्गोंमें कज्जलका चिह्न, ताम्बूलका राग, लाल रङ्ग, सिन्दूर, नखक्षत इत्यादि चिह्नोंको स्पष्ट रूपसे देखकर वे क्रोधसे भर उठी। उन्होंने उपहासपूर्वक वक्रोक्तिका प्रयोग करते हुए कहा—"अहा! यहाँ नीललोहित रुद्रमूर्त्तिको देख रही हूँ। बड़ा ही उत्तम वेश हुआ है, किन्तु रुद्राणीको सङ्गमें क्यों नहीं लाए? ऐसा होनेसे उपयुक्त ही होता। अतः तुम पशुपति ही नहीं, प्रधान पशुपति हो अर्थात् प्रधान पशु हो। मेरे सामने इस रूपको धारण करनेमें तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं आई? जाओ, जाओ, यहाँसे अभी चले जाओ। यहाँ आनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हें ऐसा नहीं देखना चाहती॥"३६॥

लोचनरोचनी—स्वामिन्नित्यत्र स्वामिन्निति हंहो पशूनां पते इत्याभ्यां किंचित्प्रगल्भवचनत्वात् तेन प्रोद्यत्तारुण्यस्य व्यक्तत्वात् मध्यात्वम्। वक्रोक्त्यादिकं तु स्पष्टमेवेति धीरात्वं च। किमिदं युक्तमित्यत्राह—यच्चन्द्रेति॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डिता श्रीराधा श्रीकृष्णमाह—स्वामिन्निति। हे पशूनां पते शम्भो! पक्षे हे गोपेत्यवैदग्ध्यम्, श्लेषेण प्रतिनायिकायाः पशुत्वम्। बहुवचनेन तत्सखीनां च, पते इति नायकस्य च सूचितम्। स्वस्य तन्निन्दकत्वात् शृङ्गाररसाभिज्ञत्वेन प्रोद्यत्तारुण्यशालित्वम्, पशुशब्दप्रयोगात् प्रगल्भवचनत्वम्, श्लिष्टोक्तित्वात् प्रगल्भात्वस्य किंचित्त्वं तेन स्वस्यामध्यात्वं च व्यञ्जितम्। यच्चन्द्ररेखाधृतिस्तदिदं युक्तम्। अतिशयोक्त्या नखाङ्कधारणं संभोगवैपरीत्यसूचकम्। सर्वतः सर्वाङ्गेष्वित्यञ्जनालक्तकयोरधरालकगतत्वेन औचित्येऽपि यत्सर्वाङ्गलग्नत्वं तत्तदीयाङ्गानां तव प्रत्यङ्गस्पर्शौत्सुक्यं सूचयति। अतो मद्भयेनालम्। सा सर्वाङ्गेषु सर्वदैव धर्तुमुचितेत्याह—एकमिति। तेन पशुपतिभक्तां मां कृतार्थीकर्तुं पशुपतिश्चन्द्रार्धभूषणो नीललोहितस्त्वमेवायातोऽसि, अर्द्धनारीश्वरो भूत्वा चेत् स्वमदर्शयिष्यस्तदाहं पूर्णमनोरथैवाभविष्यमिति भावः॥३६॥

अथाधीरमध्या—

अधीरा परुषैर्वाक्यै र्निरस्येद्वल्लभं रुषा॥३७॥

यथा—

उत्तुङ्गस्तनमण्डलीसहचरः कण्ठे स्फुरन्नेष ते
हारः कंसरिपो क्षपाविलसितं निःसंशयं शंसति।
धूर्ताभीरवधूप्रतारितमते मिथ्याकथाघर्घरी–
झङ्कारोन्मुखर प्रयाहि तरसा युक्तात्र नावस्थितिः॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—अधीरामध्या—जो नायिका अपने रोषको प्रकाशकर अपने वल्लभको निष्ठुर वाक्योंसे फटकार लगाती हैं, उसको अधीरामध्या कहा जाता है। अपराधी और अपने दोषके स्पष्ट रहनेपर भी उसका अपलाप अर्थात् उसको झूठा सिद्ध करते हुए छलपूर्वक श्रीकृष्णके कुछ कहनेपर अधीरामध्या नायिका कह रही है—"हे कंसरिपु! अधिक झूठ बोलनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। धूर्त आभीर वधुओंके सङ्गसे तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तुम्हारे गलदेशमें सुशोभित उनके उच्च स्तनोंका सहचर हार ही तुम्हारे रजनी-विलासको स्पष्ट रूपसे

प्रकाशित कर रहा है। अतएव शीघ्र ही यहाँसे प्रस्थान करें। यहाँ आपका रहना उपयुक्त नहीं है।”

इस श्लोकमें अधीरामध्याकी स्पष्ट रूपसे श्रीकृष्णके प्रति कर्कशता सूचित होती है। यहाँ श्रीकृष्णके हारके ऊपर दूसरी नायिकाके स्तनमण्डलपर लिप्त कुङ्कुम लगा हुआ है। उनके अङ्गोंमें दूसरी नायिकाका सिन्दूर और कज्जल इत्यादि रङ्ग भी लगे हुए हैं, फिर भी अपने स्पष्ट दोषको अस्वीकार करते हुए देखकर वह खण्डिता नायिका कह रही है—“हे धूर्त! (शठता करनेमें निपुण) मैं ऐसा समझती हूँ कि धूर्ता गोपाङ्गनाओंने ही तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है।” इससे यह सूचित होता है कि निर्लज्जता इत्यादि तुम्हारा स्वाभाविक धर्म नहीं है, परन्तु उन धूर्त व्रजाङ्गनाओंके सङ्गदोषसे तुम्हारी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। अतएव वे भी बड़ी निर्लज्जा हैं। तथापि धृष्टतापूर्वक निसंकोच होकर बातचीत करनेपर नायिकाने पुनः क्रोधपूर्वक कहा—“फिर भी तुम अपने अपराधोंको छिपाकर मिथ्या बोल रहे हो। अतः यहाँसे तुरन्त चले जाओ। मेरे निकट आनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥”३७–३८॥

लोचनरोचनी—उत्तुङ्गेत्यत्राप्यधीरात्वादिद्वयं पूर्ववद्विवेचनीयम्। एवमुत्तरत्र च। कंसरिपो इति पूर्ववत्॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—परुषैर्वाक्यैरिति। धैर्याभावाद्वक्रोक्तिवैदग्ध्यस्य समुत्थानानवकाशात् स्पष्टैरेव कठोरैरित्यर्थः॥३७॥

उत्तुङ्गेति। एष ते हारः स्तनसङ्गी स्तनगन्धी। कुङ्कुमाभ्यक्तत्वादिति। मन्नासानेत्राभ्यामेव निश्चीयत इति भावः। नात्र कोऽपि संदेह इत्याह—क्षपेत्यादि। हे कंसरिपो इति। यथा तव वैरी कंसो मथुरायां वर्तते तथा सापि मद्वैरिणी गोष्ठमध्ये एवेति मदसहिष्णुतायाः कारणं स्वानुभवेनैव जानीहीति भावः। किञ्च त्वं प्रेमगन्धेनापि शून्यां तां मनसा प्रेमवतीमेव जानासीत्याह—धूर्त्ता या आभीरवधूस्तया प्रतारिता। कूटकार्षापणन्यायेन स्वकामस्यैव प्रेमत्वख्यापनया वञ्चिता मतिर्यस्य। किंच तया यथा त्वं मिथ्याभावदर्शनया प्रतारितस्तथा त्वयापि त्वां विना स्पप्नेऽप्यन्यां न जानामीत्यादि मिथ्याकथाभिरहं प्रतारयितुं प्राप्ता इत्याह—मिथ्येति। घर्घरी क्षुद्रघण्टिका न हि मिथ्याकथा घण्टाझङ्कारेण मत्सख्युक्तप्रतिनायिकारमणरूपसत्यकथावज्राघातस्वन आच्छादितो भवतीति भावः। पूर्ववदत्रापि किंचित्प्रगल्भोक्तिर्मध्यात्वव्यञ्जिका॥३८॥

अथ धीराधीरमध्या—

धीराधीरा तु वक्रोक्त्या सवाष्पं वदति प्रियम्॥३९॥

यथा—

गोपेन्द्रनन्दन न रोदय याहि याहि सा ते विधास्यति रुषं हृदयाधिदेवी।
त्वन्मौलिमाल्यहृतयावकपङ्कमस्याः पादद्वयं पुनरनेन विभूषयाद्य॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—धीराधीरमध्या—जो नायिका अपराधी वल्लभके आनेपर अपने नेत्रोंसे आँसुओंको बहाती हुई वक्रोक्ति प्रयोग करती है, उसे धीराधीरमध्या नायिका कहते हैं। यथा—"हे गोपेन्द्र नन्दन! जाओ, जाओ, मुझे रुलाओ मत।" (मेरे मनको क्षुब्ध करनेवाले, मुझे दुःख देनेवाले तुम्हारे अङ्गोंमें लगे सुरत चिह्नोंको देखकर मुझसे रोए बिना रहा नहीं जाता। अत्यन्त शीघ्र यहाँसे चले जाओ! चले जाओ!!) अपने वल्लभके श्रीअङ्गोंमें प्रत्यक्ष रूपमें सुरतचिह्नोंको देखकर अपराधी वल्लभके धिक्कार देने योग्य होनेपर भी केवल "जाओ, जाओ" ही कहा गया। इसका तात्पर्य यह समझना होगा कि अभी भी नायिकाके हृदयमें अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति आदर विद्यमान है। यदि श्रीकृष्ण ऐसा सुनकर इस प्रकार बोलें—"क्यों मेरे प्रति मिथ्या कलङ्कका आरोप कर रही हो और इस प्रकार मुझे यहाँसे खदेड़ रही हो?" इसपर पुनः वल्लभा कहती है—"यदि तुम यहाँ कुछ देर विलम्ब करोगे, तो तुम्हारे हृदयमें सदा-सर्वदा क्रीड़ा करनेवाली वह तुम्हारी आराध्यादेवी तुम्हारे प्रति रूठ जाएगी।" रोषका कारण बतलाकर पुनः सोलुण्ठ वाक्यसे उपदेश देने लगी—"तुम्हारे मस्तकपर सुशोभित मालाके द्वारा तुम्हारी देवीके महावरका रङ्ग अर्पित हुआ है। अतएव तुम अपनी उसी हृदयकी अधिष्ठातृदेवीके चरणोंको ही पुनः-पुनः सुशोभित करो। (अर्थात् नये-नये कौशलको आविष्कारकर उन्हीं चरणोंकी ही आराधना करो। पुनः-पुनः वेश रचना द्वारा उसे प्रसन्न करो) शीघ्र ही चले जाओ। अधिक विलम्ब होनेपर तुम्हारी देवी भी तुम्हारे प्रति अधिक रूठ जाएगी और तुम्हारे लिए महाअन्याय होगा। इसके द्वारा सम्भुक्त नायिकाके विषयमें नायकका अनन्त रस विद्यमान रहता है। ऐसा दिखलाकर उस पूर्व नायिकाके प्रति धीराधीरमध्या नायिकाके हृदयमें ईर्ष्या भी ध्वनित हुई॥३९-४०॥

लोचनरोचनी—अनेनेति। यावकपङ्कमङ्गुल्या निर्दिश्यते। नतु समासेन गुणीभूतं तदाकृष्यते। तस्मादभवन्मतयोगनामा दोषो नाशङ्क्यः। "त्वन्मौलिना हृतमलक्तकपङ्कमङ्घ्रयोस्तस्या विभूषय पुनस्त्वममू अनेन।" इति पाठस्तु स्पष्टः॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—वक्रोक्त्येति धीराधर्मः सवाष्पमित्यधीराधर्मः। नन्वधीराधर्मो हि परुषोक्तिरुक्ता। सत्यम्। अयमत्र विवेकः। प्रगल्भाया रोषस्य पूर्णत्वात्ताडनमपि मुख्यं कार्यमुदयते। मध्याया रोषस्यापूर्णत्वान्मध्यमं कार्यं परुषोक्तिः। मुग्धाया रोषस्याल्पत्वात् कनिष्ठं कार्यं रोदनमेव। तत्र धीरमध्यायाः परुषोक्तिर्धृत्याच्छादिता सोत्प्रासवक्रोक्तिरूपेण परिणतेति। अधीराया धृत्यभावाच्छुद्धैव परुषोक्तिः। धीराधीरायास्तु धृत्यधृत्योर्यौगपद्येन सत्त्वसंभवाद् धीरात्वाधीरत्वयोरसंपूर्णत्वमेव व्याख्येयम्। तेन धीराधीरा द्विधा भिद्यते—धीरतांशाधिका, अधीरतांशाधिका च। तत्र प्रथमाया धीरत्वाधिक्याद् धीराधर्मो वक्रोक्तिः केवलैव; धीरत्वस्यासंपूर्णत्वान्नतु सोत्प्रासा। अधीरत्वस्य त्वल्पत्वाद् अधीराधर्मोऽप्यल्प-पारुष्यरहितैवोक्तिः। किञ्चाधीरत्वांशेऽपि रोषलक्षणस्यावश्यंसंभावितत्वात्, केवलोक्तौ च तदसंभवात् , ताडनपारुष्ययोश्चाप्राप्त्या पारिशेष्यात् कनिष्ठं रोषलक्षणं वाष्प एव लभ्यते, न च मुग्धालक्षणसांकर्यम्; मुग्धायां केवल एव वाष्पः, अत्र तु बाष्पसहितोक्तिरिति। द्वितीया त्वग्रे उदाहरिष्यते। धीराधीरायास्तु धृत्या वक्रोक्तिरेव केवला, न तु सोत्प्रासा; अधृतेः सत्त्वात्। तथा अधृत्या रोदनमेव कनिष्ठं कार्यम्; न तु परुषोक्तिः; धृतेः सत्त्वात्। धृतिशब्देनात्र गाम्भीर्यमुक्तम्॥३९॥

श्रीराधा प्राह—गोपेन्द्रनन्दनेति। मादृश्यो रुदित्वा रुदित्वा म्रियन्तां नाम, महाराजपुत्रस्य शतकोटिकामिनीवल्लभस्य तव का क्षतिरिति भावः। न रोदय याहि याहीति, त्वयि गते सति त्वां विस्मर्तुं यत्नोऽपि मे कर्तुं शक्यो भविष्यति न तु त्वयि साक्षाद्दृष्ट एवेति भावः। मदपराधं क्षमस्वेति प्रणमन्तं त प्रत्याह—सा ते इत्यादि। मां प्रसादयन्तं त्वां सा यदि श्रोष्यति तदा रुषं विधास्यति। अतः सौहृदेन त्वां हितमुपदिशामि। मत्प्रसादेनालमहमरुष्टैवास्मि। किञ्च न श्रोष्यतीति न वक्तव्यम्। यतः सा ते हृदयाधिदेवी हृदय एवाधिकृत्य ममैवैतन्नान्यस्या इति स्वत्वं समर्प्य दीप्यति विराजते। अतः शृणोतीत्यपराधस्ते जात एवेति भावः। किञ्चान्योऽपि महापराधस्त्वयि प्रकटं दृश्यते तमपि मार्जयेत्याह—त्वन्मस्तकस्थमाल्येन हृतश्चोरितो यावकपङ्को यस्य तथाभूतमस्याः पादद्वयमनेन मौलिस्थ माल्ययावकपङ्केनैव पुनर्भूषयेति। स्वयं चोरितस्य वस्तुनः स्वयमेव तत्स्थाने समर्पणमेव न्याय्यमिति भावः। मा किं प्रणमसि, तत्पादयोरेव पुनः पुनः पतेति भावः। अत्र हृदयाधिदेव्यास्तस्या अपरोक्षत्व प्रतिपादनादस्या इति इदं-शब्दप्रयोगो नानुपपन्नः। तथात्र बहुव्रीहिसमासे गुणीभूतस्य यावकपङ्कपदस्यानेनेत्यनेन परामर्शो न संगच्छत इत्यभवन्मतयोगनामा दोषः स्यादिति व्याख्यान्तरं चिन्त्यम्। तच्च यथा—त्वन्मौलिमाल्येन हृतं यावकपङ्कं विभूषय विशिष्टभूषां कुरु। माल्याद् यावकपङ्कमुत्तार्य स्वमौलिलग्नं कुर्वित्यर्थः। चोरितस्य दुर्लभवस्तुनो झटिति भोगार्थमेव

विनियोक्तुं युक्तत्वादिति भावः। पुनरनेन यावकपङ्केन स्वमौलिलग्नेनास्याः पादद्वयं विभूषय अपराधक्षमापनार्थं प्रणम वा, संभोगमात्रार्थिनीं तां कामिनीं संभुक्ष्व वा। उभयोरेव मौलिपादश्लेषसंभवादिति भावः। चोरितस्य वस्तुनः किंचित्कालभोगेन पुनस्तत्स्वामिने स्वयं प्रत्यर्पणेन च भोगः सिध्यति अधर्मश्च तावन्न भवतीति ध्वनितम्। अत्र पुनःशब्दबलाद्भूषयेत्यस्यावृत्तिर्नानुपपन्ना। अनेनेति। यावकपङ्कमङ्गुल्या निर्दिश्यते न तु समासेन गुणीभूतं तदाकृष्यते तस्मादभवन्मतयोगनामा दोषो नाशङ्कनीय इति श्रीजीवगोस्वामिचरणाः ॥४०॥

यथा वा—

तामेव प्रतिपद्य कामवरदां सेवस्व देवीं सदा
यस्याः प्राप्य महाप्रसादमधुना दामोदरामोदसे।
पादालक्तचितं शिरस्तव मुखं ताम्बूलशेषोज्ज्वलं
कण्ठश्चायमुरोजकुड्मलसुहृन्निर्माल्यमाल्याङ्कितः ॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें किञ्चित् धीरत्व अंशमें अधिका नायिकाका उदाहरण प्रस्तुतकर यहाँ किञ्चित् अधीरत्व अंशमें अधिका नायिकाका उदाहरण दे रहे हैं। अपनी अभीष्टवरदात्री उसी देवीको ही सर्वार्थ सिद्धि-दातृ निश्चयकर उसीकी सदासर्वदा सेवा करो, उसीका सर्वप्रकारेण आनुगत्य करो, इस प्रकार सदैव उसकी सेवा नहीं करनेपर तुम्हारे लिए उसके अनुग्रहकी प्राप्ति सुदुर्लभ होगी। यदि तुम यह कहो कि तुम्हीं तो मेरी प्राणवल्लभा हो; जिसकी सेवा करनेकी मुझे आज्ञा कर रही हो, वह नारी कौन है? इसके उत्तरमें उनके अपराधोंकी भङ्गीपूर्वक व्यञ्जना करती हुई सोलुण्ठ वचनोंसे कहने लगीं—"हे दामोदर! जिस देवीका महाप्रसाद अभी-अभी प्राप्तकर आमोद कर रहे हो, उसी देवीकी सेवा करो।" यदि यह पूछो कि वह महाप्रसाद कैसा है? उसे मैं बतला रही हूँ—"उस देवीके श्रीचरणोंमें संलग्न महावरका तुम्हारे मस्तकपर छाप, उनका भुक्तावशिष्ट ताम्बूलराग जिससे तुम्हारा मुख समुज्ज्वल हो रहा है तथा दोनों स्तनकुड्मलोंके (निविड़ आलिङ्गनादिके समय) चिरसङ्गी निर्माल्य माला—जिससे तुम्हारा यह कण्ठदेश सुशोभित हो रहा है—ऐसे मनोऽभीष्ट प्रसादको प्राप्त कर सकोगे॥"४१॥

आनन्दचन्द्रिका—धीराधीरा हि धीरतांशाधिका, अधीरतांशाधिकेति द्विविधा संभवतीति। तत्र पूर्वा उदाहृता, उत्तरामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। कामवरदां नतु

प्रेमामृतपरिवेषयित्रीमितीषत्परुषोक्तिरधीरतांशस्याधिक्येन। अतएव कनिष्ठलक्षणस्य वाष्पस्यात्र अभावः। प्रतिपद्य स्वात्मार्पणेनाश्रित्य। सदेति सेवनेऽव्यर्थकालत्वमुपदिष्टम्। तच्चात्र क्षणमात्र स्थित्यापि न भवेदिति भावः॥४१॥

सर्व एव रसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते।
यदस्यां वर्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युतिः॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—मध्या नायिकामें मुग्धा और प्रगल्भाका सम्मिश्रण रहनेके कारण मध्यामें ही सब प्रकारका रसोत्कर्ष विद्यमान होता है॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—युतिर्मिश्रणम्। तत्र प्रथमायां धीराधीरायां मौग्ध्यलक्षणमिश्रणं स्पष्टीभवति, द्वितीयायां तु प्रागल्भ्यलक्षणमिश्रणम्। अत्र राधाया मध्यात्वं, धीराधीरात्वं च स्वाभाविको धर्मः। केचित्तु धीरात्वादित्रयमपि स्वाभाविकमेव मानतारतम्यादुदयते "याहि माधव, याहि केशव, मा वद कैतववादम्" इत्यादेरधीरत्वस्यापि गीतगोविन्दे दृष्टत्वादित्याहुः॥४२॥

अथ प्रगल्भा—

प्रगल्भा पूर्णतारुण्या मदान्धोरुरतोत्सुका।
भूरिभावोद्गमाभिज्ञा रसेनाक्रान्तवल्लभा।
अतिप्रौढोक्तिचेष्टासौ माने चात्यन्तकर्कशा॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—प्रगल्भा—जो नायिका अपनी पूर्ण यौवन अवस्थामें होती है, मदमें अन्धी होती है, सुरत व्यापारमें अत्यन्त उत्सुक होती है, प्रचुर भावोदयमें पटु होती है, प्रेमरसके द्वारा प्रियतमपर आक्रमण करनेमें समर्थ होती है जिसकी बोली और चेष्टा अत्यन्त उद्भट होती है और मानके विषयमें अत्यन्त कर्कश होती है, उन्हें प्रगल्भा कहते हैं॥४३॥

लोचनरोचनी—प्रगल्भेति। ननु उरुरतोत्सुकत्वात् संभोगेच्छामय्येवेयं रतिः स्यात्। एषा च पूर्वग्रन्थे परपरत्र च तत्तद्भावेच्छात्मनः सकाशान्न्यूनैवोक्ता। सैरिन्ध्र्या एव चात्रोदाहरणमिष्टम्। व्रजदेवीनां तूत्तरत्र उच्यते—रसेनाक्रान्तवल्लभेत्युक्तेः प्रेमात्मकरसेनैव तदाक्रमणसंभावात्। प्रेम्णस्तु वल्लभसुखैकोद्देश्यत्वाद्वल्लभसुखार्थमेवास्याः प्रयत्नः। तत्तद्भावेच्छा मय्येवासाविति॥४३॥

तत्र पूर्णतारुण्या यथा—

मुष्णाति स्तनयुग्ममभ्रमुपतेः कुम्भस्थलीविभ्रमं
विस्फारञ्च नितम्बमण्डलमिदं रोधःश्रियं लुण्ठति।
द्वन्द्वं लोचनयोश्च लोलशफरी विस्फूर्जितं स्पर्धते
तारुण्यामृतसम्पदा त्वमधिकं चन्द्रावलि क्षालिता॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्णयौवन या तारुण्य—क्रीड़ानिकुञ्जमें चन्द्रावलीके साथ विहार करते समय श्रीकृष्ण उसकी वयस-शोभाका वर्णन कर रहे हैं—"हे चन्द्रावलि! तुम्हारे स्तनयुगल ऐरावतके गण्डदेश स्थित शोभाको भी तिरस्कृत कर रहे हैं, यह विशाल नितम्ब-बिम्ब भी यमुना पुलिनके तटशोभाको लुण्ठन कर रहे हैं, तुम्हारे नेत्रयुगल अत्यन्त चपल मीनके नेत्रोंके विक्रमको भी पराजित कर रहे हैं, अतएव तुम प्रतिक्षण वर्द्धमान तारुण्यामृत सम्पत्तिके द्वारा अधिकाधिक रूपमें अभिषिक्त हो रही हो॥"४४॥

लोचनरोचनी—विस्फूर्जितमाटोपः। अत्र धात्वर्थलक्षणे भावे "कालाध्वभावदेशानाम्" इत्यादिना कर्मत्वम्। "विस्फूर्जितैः स्पर्धत" इति वा पाठः। सहार्थे ह्यत्र तृतीया॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—मुष्णातीति। अभ्रमुपतेरैरावतस्य रोधःश्रियं पुलिनशोभाम्। विस्फूर्जितमाटोपः। अत्र "कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः। सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते॥" इत्यनेन कर्मत्वम्; "गोदोहमास्ते" इतिवत्। विस्फूर्जितं लक्ष्यीकृत्य स्पर्धत इत्यर्थः॥४४॥

अथ मदान्धा—

निष्क्रान्ते रतिकुञ्जतः परिजने शय्यामवापय्य मां
स्वैरं गौरि रिरंसया मयि दृशं दीर्घां क्षिपत्युच्यते।
सद्यःप्रोद्यदुरुप्रमोदलहरीविस्मारितात्मस्थिति-
र्नाहं तत्र विदांबभूव किमभूत् कृत्यं किलातः परम्॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—मदान्धा—श्रीकृष्णके सहित रजनीविलास विशेषके विषयमें भद्राके जिज्ञासा करनेपर चन्द्रावली कह रही हैं—"हे गौरि! कुञ्जभवनसे सखियोंके बाहर होनेपर अच्युत अपनी पुष्पशय्यापर मुझे

शयन कराकर यथेच्छ रमण करनेकी इच्छासे मेरे प्रति दीर्घ दृष्टि निक्षेप करने लगे; उस समय मेरे हृदयमें आनन्दकी ऐसी अद्भुत तरङ्ग उठी कि मैं अपने तन–मनकी सुध भी खो बैठी। इसके पश्चात् क्या हुआ, मैं जान ही नहीं पाई?" ॥४५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रातः पृच्छन्तीं भद्रां प्रति चन्द्रावल्याह—निष्क्रान्तेति। प्रमोदलहर्यां विस्मारिता आत्मनः स्थितिरिति तदानीं मद्देहे आत्मा आसीदेवेति संप्रति तदुपलम्भान्यथानुपपत्तेर्ज्ञायते। किन्तु मया तदानीं प्रमोदलहर्येव दृष्टा न त्वात्मा। नहि लहर्याग्रस्तं गुरुत्ववद्वस्तु तदानीं लभ्यते किन्तु तया रहितं कालान्तरे देशान्तरे च भाग्यवशाल्लभ्यत इति भावः। कृत्यं न विदाम्बभूव न ज्ञातवत्यस्मीति कैमुत्यमानीतम्॥४५॥

उरुरतोत्सुका यथा—

उदञ्चद्वैयात्यां पृथुनखपदाकीर्णमिथुनां स्खलद्बर्हाकल्पां दलदमलगुञ्जामणिसराम्।
ममानङ्गक्रीडां सखि वलयरिक्तीकृतकरां मनस्तामेवोच्चैर्मणितरमणीयां मृगयते॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—सुरत व्यापारमें विशेष उत्सुका—श्रीकृष्णके साथ पूर्व अनुभूत सुरतकेलिके स्मरणसे उत्पन्न उत्सुकतापूर्ण लज्जा कुछ दूर होनेपर पुनः तद्रूप विहारकी आकांक्षासे मङ्गला अपनी प्राणसखीको स्वाभीष्ट वस्तुके सम्बन्धमें प्रकट रूपसे ही कह रही है—"हे सखि! मेरा मन उसी पूर्वानुभूत अनङ्गक्रीड़ाको सदाकाल अन्वेषण कर रहा है। उसी सुरतक्रीड़ाकी बात मैं कह रही हूँ, जिसमें दोनोंका धृष्टतापूर्वक उच्छलन, विशाल नखचिह्नोंके द्वारा दोनोंका देहाङ्कन, नागरका मयूरपिच्छ एवं दोनोंकी माला, अनुलेपन, चित्रादि वेश रचना—इन सबका स्खलन, नायककी गुञ्जामाला एवं दोनोंके मुक्ताहारकी विच्युति (टूट जाना), दोनोंके हाथोंके वलयादि भूषणराहित्य तथा सीत्कारादि ध्वनि बहुत ही रमणीय हैं। इन सबका स्मरणकर मेरा चित्त उस पूर्व विलासक्रीड़ाको पुनः पानेके लिए ही परमोत्कण्ठित हो रहा है॥"४६॥

लोचनरोचनी—वैयात्यं धाष्टर्यम्। अन्तःस्थयमध्यपदम्। "धृष्टो धृष्णग्वियातश्च" इत्यमरः। मणितं रतिकूजितम्॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—उरुरते उत्सुकेति। समर्थरतिमतीनां गोपीनामासां रतौत्सुक्यादिकमपि सर्वं कृष्णसुखार्थमेव फलतीत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः। पूर्वग्रन्थे च कामरूपाया एव

संभोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति द्वैविध्यमुक्तं द्रष्टव्यम्। यथैवानुगानां धार्मिकत्वाधार्मिकत्वाभ्यां दृष्टाभ्यां तद्द्रष्टू राज्ञोऽपि धार्मिकत्वाधार्मिकत्वेऽवसीयते, एवं कामानुगाया द्वैविध्यदर्शनात् कामरूपाया अपि द्वैविध्यमिति ज्ञेयम्। अतोऽस्या नायिकात्वात् तादृशसंभोगाभिलाषः स्वकान्ततृप्तिप्रयोजनको नानुपपन्न इति। मङ्गला प्राणसखीं रहस्याह—मम मनस्तामेव नक्तंतनीमनङ्गक्रीडां सदा मृगयते। उदञ्चत्स्वयमेवोद्गच्छद्वैयात्यं नायकयोर्धाष्ट्‍र्यं यस्यामित्युद्गमने धाष्ट्‍र्यस्य स्वातन्त्र्यमुक्त्वा पुरुषायितत्वेऽपि स्वस्य दोषः परिहृतः। "धृष्टो धृष्णग्वियातश्च" इत्यमरः। अन्तस्थमध्यो यः। नखपदानि नखाङ्काः। मणितं सुरतध्वनिः॥४६॥

भूरिभावोद्गमाभिज्ञा यथा—

साचिप्रेंखदपाङ्गशृंखलशिखा विस्फारितभ्रूलता
साकूतस्मितकुड्मलावृतमुखी प्रोत्क्षिप्तरोमाङ्कुरा।
कुञ्जे गुञ्जदलौ विराजसि चिरात्कूजद्विपञ्चीस्वरा
बन्धुं बन्धुरगात्रि कृष्णहरिणं शङ्के त्वमाकाङ्क्षसि॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—भूरिभावोद्गम अभिज्ञा—वासकसज्जावती श्यामलाको श्रीकृष्णके समीप अभिसार करते हुए देखकर उसकी वकुलमाला नामक सखी परिहास करते हुए कह रही है—"हे रुचिराङ्गि! इस कुञ्जमें तो तुम बहुत देरसे बैठी हो; (इसके द्वारा उसका वासकसज्जोचित वेशधारित्व और चित्तका उल्लास-विशेष सूचित हुआ) इस कुञ्जमें भ्रमरसमूह मधुर झंकार कर रहे हैं। इससे ऐसा लगता है कि तुम श्रीकृष्णसार हिरणको (पक्षान्तरमें प्रियतम श्रीकृष्णरूप हिरणको) बाँधनेकी इच्छा कर रही हो। मृगको बाँधनेके लिए जिस प्रकारसे पाश और कुण्डलका प्रयोजन होता है, उसी प्रकारसे तुम्हारी वक्र और इतस्ततः प्रक्षिप्त चाञ्चल्यमय भ्रूभङ्गी ही श्रीकृष्णको बाँधनेके लिए पाश है। तुम्हारी विस्तृत भ्रू-भङ्गी ही कृष्णरूपी मृगको बाँधनेके लिए उपयोगी लता है। भ्रू-लताविस्फारण अर्थात् तुम्हारी विशाल भ्रू-लता मृग-बन्धनके लिए जालका कार्य सम्पादन करती है। मृगबन्धनके समय जिस प्रकारसे मुखावरण करना होता है, उसी प्रकारसे तुम भी स्वाभिलाषसूचक मृदुमधुर हास्ययुक्त मुखका आच्छादन कर रही हो। मृगके हृदयमें लोभ उत्पन्न करानेके लिए उसके लोभनीय जौ, तण्डुल इत्यादि उसके सामने डालने पड़ते है, उसी प्रकार तुम अपनी देहमें रोमाञ्च आदिको उदित करा रही

हो। हिरणको लुभानेके लिए जिस प्रकार वीणाका सुस्वर आवश्यक होता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी वीणाके षड्जादि विभिन्न सुस्वरोंके साथ मधुर रूपमें आलाप कर रही हो। जिसे सुनकर कृष्ण-मृग अवश्य ही आकृष्ट होकर आएगा।"

प्रस्तुत पद्यमें श्रीकृष्णकी हिरणके साथ और यूथेश्वरी श्यामलाकी व्याधके साथ तुलना की गई है॥४७॥

लोचनरोचनी—बन्धुं बन्धेन वशीकर्तुं कृष्णपक्षे बन्धेनेव वशीकर्तुम्॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—वासकसज्जां श्यामलामभिसरन्तं श्रीकृष्णमारादालोक्य बकुलमाला तत्सखी तां स्वगतमेव परिहसन्त्याह—कृष्ण एव हरिणस्तं श्लेषेण कृष्णसारं बन्धुं बद्धं कर्तुं श्लेषेण प्रियम्। साचि वक्रं यथा स्यादेवं प्रेंखन् दोलन्नपाङ्ग एव शृङ्खलाशिखा पाशकुण्डलिकाग्रं यस्याः सेति। कांचित् संभुज्यैवायातोऽस्यैतावता विलम्बेनानुमीयत इतीर्ष्यावितर्कौ। विस्फारिते भ्रूलते यस्याः सा इति सत्यमेव ब्रूषे गोसंभालनार्थमेव विलम्बोऽभूदिति सर्वं ते जानाम्येवेति गर्वासूये। एवं मृषा मानाभासेनैव लब्धशङ्कं विवर्णं तं कान्तमालोक्य साकूतं यत् स्मितकुड्मलं मया कृत्रिमभावेनैवायं प्रतारित इति व्यञ्जकं तेनावृतं मुखं यस्याः सा, इत्यवहित्थाशान्तिदयोद्गमौ। ततश्च गतशङ्कस्य तस्य मदभीष्टं सुरतधनं तर्हि देहीति प्रार्थनामाकर्ण्य प्रोत्क्षिप्तेति रत्याख्यस्थायिभावोदयः। कूजन्त्या विपञ्चया वीणाया इव स्वरो यस्या इति सांप्रतं मे सुरतधनं ग्रन्थौ नास्ति किंतु बहु एव तुभ्यं सुरतं प्रदातुं श्रद्धावत्यः पालीप्रभृतयो वर्तन्ते, तदस्मात्कुञ्जान्निःसृत्य ताभ्यस्तद्याचस्वेत्यौत्सुक्यचापलोत्थं नर्म। अत्र भ्रूलताविस्फारणं, स्वमुखाच्छादनं, चारुरोमाङ्कुरनिक्षेपो, विपञ्चीक्वाणश्च हरिणबन्धनसाधनानि ज्ञेयानि। ततश्च तवापि ग्रन्थौ तत्स्थास्यत्येव; भवतु, स्वयमेव नीवीग्रन्थिमुद्घाट्य पश्याम्यस्ति नास्ति वेति श्रीकृष्णेन तथोपक्रमः कृत इति ज्ञेयम्॥४७॥

रसाक्रान्तवल्लभा यथा—

अवचिनु कुसुमानि प्रेक्ष्य चारुण्यरण्ये
विरचय पुनरेभिर्मण्डनान्युज्ज्वलानि।
मधुमथन मदङ्गे कल्पयाकल्पमेतै-
र्युवतिषु मम भीमं रौतु सौभाग्यभेरी॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—रसाक्रान्तवल्लभा—अपनी विदग्धता और विलाससे नायकको पूर्णरूपेण वशीभूत रखनेवाली नायिका अपने कान्तको निर्देश

दे रही है—"हे मधुसूदन! तुम वनमें जाकर सुन्दरसे सुन्दर पुष्पोंका चयनकर उससे परमोज्ज्वल भूषण निर्माण करो और उसके द्वारा मेरे अङ्गोंको इस प्रकारसे मण्डित करो, जिससे इन सारी युवतियोंके बीच मेरी सौभाग्य-भेरी प्रचण्ड रूपसे बज उठे। यहाँ प्रगल्भा नायिकाका ही धर्मविशेष होनेके कारण रसाक्रान्तवल्लभत्व लक्षणसे नायिकाके आज्ञारूप प्रागल्भ्य अंशका ही उदाहरण दिया गया। [यहाँ विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीकाके अनुसार नायक यदि नायिकाके निर्देशके पालन करनेमें ही प्रस्तुत रहे तभी उसे सन्तताश्रवकेशवा नायिका कहते हैं। नायकको अपने निर्देशका पालन करानेमें आग्रह रखनेवाली नायिकाको रसाक्रान्तवल्लभा कहते हैं एवं अवस्था विशेषसे केवल नायक नायिकाके निर्देशवर्ती होनेपर ही नायिका स्वाधीनभर्तृका होती है तथा उसे रसाक्रान्तवल्लभा कहा जाएगा।] ॥४८॥

लोचनरोचनी—अवचिनु कुसुमानीत्यादिषु प्रणयविलासमात्रमुद्देश्यम्। निजालंकरणं तु व्याजमात्रम्। तादृग्विलासमात्र तात्पर्यकत्वात्तादृशीनाम्। तथा युवतिष्वित्यादावपि ज्ञेयम्॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—रसाक्रान्तेति। आक्रमोऽयं मया निरतिशयसम्भोगरसेन संतर्प्यमाणोऽयं सदा मद्वशे तिष्ठत्वित्याशंसामयो ज्ञेयः। मङ्गला प्राह—अवचिनु स्वयमेव न तु जनान्तर-द्वारा, तत्रापि चारूणि प्रेक्ष्येति मत्प्रसाधनयोग्यानि तान्यन्यजनो नैवानेतुं जनातीति भावः। युवतिष्विति। तादृशं त्वद्रचिताकल्पं युवतीर्दर्शयित्वा ताश्चमत्कृतिं प्रापयामीति भावः। नायिकाया निदेशे सदा स्थातुमाग्रहवान्नायकश्चेत् संतताश्रवकेशवा, नायकं स्वनिदेशे स्थापयितुमाग्रहवती चेत् रसाक्रान्तवल्लभा, अवस्थाविशेष एव नायिकाया निदेशवर्ती नायकश्चेत् तदा स्वाधीनभर्तृकेति तिसृणामासां भेदे विवेको ज्ञेयः॥४८॥

अतिप्रौढोक्तिर्यथा पद्यावल्याम् (२८०)—

काकुं करोषि गृहकोणकरीषपुञ्जगूढाङ्ग किं ननु वृथा कितव प्रयाहि।
कुत्राद्य जीर्णतरणिभ्रमणातिभीतगोपाङ्गनागणविडम्बनचातुरी ते॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—अतिप्रौढ़ोक्ति—एक समय श्रीकृष्ण अत्यन्त उत्कण्ठित होकर एकान्तमें श्यामलाके कुञ्जमें उपस्थित होकर इङ्गितके द्वारा अपनी दीनता दिखला रहे थे। उस समय पद्मा पूर्वकृत नौकाविलासके समय

अपने भयभीत होनेके प्रसङ्गको प्रकटपूर्वक तिरस्कार करते हुए तर्जनी अंगुली दिखाकर फटकारते हुए कहने लगी—"हे धूर्त! गृहके कोनेमें रखे हुए शुष्क कण्डोंके ढेरमें वृथा अपने अङ्गोंको छिपानेकी चेष्टा क्यों कर रहे हो? अभी यहाँसे भागो। जीर्ण-शीर्ण नौकामें आरोहण कराकर इधर-उधर उसे हिला-डुलाकर हम डरी हुई गोपियोंको और भी अधिक डराकर तुम्हीं ने ही न हमारी दुर्गति की थी, आज तुम्हारी वह चातुरी कहाँ गई?" ॥४९॥

लोचनरोचनी—काकुं करोषीति संकेतीकृतकोकिलादिनिनदमितिवज्ज्ञेयम् ॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—विनैव स्वसंमतिमत्युत्कण्ठया स्वभवनमागत्य निह्नुत्य सन्तं स्वकान्तमालोक्य मनसा प्रसीदन्त्यपि श्यामला कौतुकवती बहिष्कृतकोपेन त्वच्चरितमिदमार्यायै विज्ञापयामीति भीषयमाणा प्राह—काकुमिति। गृहकोणे रन्धनार्थमानीतानां करीषाणां यः पुञ्जस्तेन गुप्तीकृतस्वगात्रः किमिदानीं मुखमध्ये अङ्गुलीर्निक्षप्य हा हा वृद्धां मामाज्ञापयेति लक्षणां काकुं करोषि। इतः प्रयाहि यद्यात्मनो भद्रमिच्छसीति भावः। तस्य पूर्ववृत्तं स्मरन्ती तत्रात्मनो दुरवस्थां प्राप्तां स्मारयन्ती तत्प्रतिफलमिव दित्समाना प्राह—कुत्राद्येति ॥४९॥

अतिप्रौढचेष्टा यथा—

सख्यास्तवानङ्गरणोत्सवेऽधुना ननर्त मुक्तालतिका स्तनोपरि।
उत्प्लुत्य यस्याः सखि नायकश्चलो धीरं मुहुर्मे प्रजहार कौस्तुभम् ॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—अतिप्रौढ़चेष्टा—रात्रिकालमें कुञ्जके भीतर सुरतलीला विशेषके द्वारा चन्द्रावलीकी जो धृष्टता प्रकाशित हुई थी, हास-परिहासमें कुशल श्रीकृष्ण प्रातःकाल उसी रहस्यके विषयमें पद्माको बतला रहे हैं—"पद्मे! आज अनङ्गोत्सवमें तुम्हारी इस सखीके कुचोंके ऊपर मुक्तालतिका नृत्य कर रही थी—हे सखि! तन्मध्यगत दोलकमणि अचानक चञ्चल हो उठी और कूदकर मेरी धीर निरपराध कौस्तुभमणिपर प्रहार करने लगी॥"५०॥

आनन्दचन्द्रिका—सम्भोगसमाप्त्यनन्तरमायातां पद्मामालोक्य चन्द्रावलीं ह्रेपयन् श्रीकृष्ण आह—सख्या इति। उत्प्लुत्य सझम्पं पतित्वेत्यर्थः। नायको हारमध्यस्थमणिः। धीरं निरपराधमिति भावः। श्लेषेण विद्वांसम्। तत्रापि मुहुः प्रजहार। अत्र त्वमेव

सन्न्यायं ब्रूहीति भावः। चल इति धीरमिति पदाभ्यां वैपरीत्यं व्यक्तीकृतम्। अत्र "यो यं हन्यात्स तं हन्यात्" इति न्यायेन कौस्तुभोऽपि तच्छतगुणं तमधुना प्रहरत्विति सखीप्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥५०॥

मानेऽत्यन्तकर्कशा यथोद्धवसंदेशे (५४)—

मेदिन्यां ते लुठति दयिता मालती म्लानपुष्पा
तिष्ठन्द्वारे रमणि विमनाः खिद्यते पद्मनाभः।
त्वं चोन्निद्रा क्षपयसि निशां रोदयन्ती वयस्या
माने कस्ते नवमधुरिमा तन्तु नालोचयामि॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—मानमें अत्यन्त कर्कशा नायिकाका लक्षण उद्धव सन्देशसे दे रहे हैं—अपने अपराधका प्रक्षालन करनेके लिए विविध प्रकारके उपायोंमें निपुण श्रीकृष्णने अपनी नेत्रभङ्गीसे बकुलमालाको मानिनी श्यामलाका मान दूर करनेके लिए भेजा। बकुलमाला श्यामलाको कह रही है—"हे सुन्दरि! तुम्हारा ऐसा दुर्जय मान कहाँसे उपस्थित हुआ? जरा बतलाओ तो, मालती लताने तुम्हारा क्या अपराध किया है? उसकी जड़में जलसिंचन वा उसके पुष्पोंका चयन क्यों नहीं कर रही? तुम्हारे अनादरसे यह पुष्पलता अत्यन्त मलिन होकर भूतलमें लोट रही है। भला देखो तो पद्मनाभ भी तुम्हारे द्वारपर बड़े उदास होकर खेद कर रहे हैं। दूसरी ओर तुम्हें भी सारी रात निद्रामें जाते हुए मैंने नहीं देखा। वृथा ही सारी रात जगकर बिता रही हो और अपनी सखियों अर्थात् हमको भी रुला रही हो। मुझे समझ नहीं आ रहा कि तुम्हारे इस मानमें क्या नवीन माधुरी है?"॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—बकुलमाला श्यामलां प्रत्याह—मेदिन्यामिति। लुठति म्लानपुष्पेति। मालत्यानया किमपराद्धं यदि मां पुष्पचयनेन जलादानेन च खेदयसीति निरुपाधिकं कार्कश्यं व्यञ्जितम्॥५१॥

मानवृत्तेः प्रगल्भापि त्रिधा धीरादिभेदतः॥५२॥

तत्र धीरप्रगल्भा—

उदास्ते सुरते धीरा सावहित्था च सादरा॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—मान अवस्थामें प्रगल्भा नायिका भी धीरादि भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं—धीरप्रगल्भा, धीराधीरप्रगल्भा एवं अधीरप्रगल्भा। उनमेंसे धीरप्रगल्भा नायिका भी दो प्रकारकी होती हैं। पहली—मानिनी अवस्थाको प्राप्त होकर सम्भोगके विषयमें उदासीना और दूसरी—अवहित्थाके द्वारा अपने मानके भावको गुप्त रखकर ऊपरसे कान्तके प्रति आदर दिखलानेवाली॥५२–५३॥

लोचनरोचनी—मानवृत्तेर्मानसंबन्धिनी प्रगल्भापि धीराधीरादिभेदतस्त्रिधा भवति॥५२॥

तत्र धीरप्रगल्भां वक्तुं प्रगल्भाया लक्षितत्वाद्धीरामात्रं लक्षयति—उदास्त इति। सादरा सावहित्था च सतीत्यादरेणाकारं गोपयन्तीत्यर्थः। यैवं भवन्ती मानवृत्तिसंबन्धिनी सुरते उदास्ते सा धीरेत्यर्थः॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—मानवृत्तेर्मानवृत्तिं प्राप्य॥५२॥

उदास्ते उदासीना भवति। अत्र चकारात् धीरप्रगल्भमानिन्या लक्षणस्य द्वैविध्यम्। या मानवृत्तिं प्राप्य सुरते उदास्ते सा धीरा भवति; या अवहित्थादराभ्यां युक्ता सा च धीरेति धैर्यस्य पूर्णत्वापूर्णत्वाभ्यां व्याख्येयम्। उदाहरणं तु व्युत्क्रमेण पाठार्थक्रमयोरर्थक्रमस्य प्राबल्यादिति द्विविधाया धीरप्रगल्भाया लक्षणोदाहरणे परमतानुरोधेनैवोक्ते। स्वमते तु संपूर्ण-धैर्या प्रथमैव धीरप्रगल्भा। द्वितीयायामसंपूर्ण-धैर्यायामधृत्यंशस्यापि सद्भावात् धीरप्रगल्भाप्रायत्वमेव न तु धीरप्रगल्भात्वमित्यवगम्यते। यथा वेत्यग्रेतनाद्वाशब्दात्॥५३॥

यथा—

> **देवी नाद्य मयार्चितेति न हरे ताम्बूलमास्वादितं**
> **शिल्पं ते परिचित्य तप्स्यति गृहीत्यङ्गीकृता न स्रजः।**
> **आहूतास्मि गृहे व्रजेशितुरिति क्षिप्रं व्रजन्त्या वच–**
> **तस्याश्रावि न भद्रयेति विनयैर्मानः प्रमाणीकृतः॥५४॥**

तात्पर्यानुवाद—धीरप्रगल्भाका उदाहरण—एक सखी अपनी दूसरी सखीसे कह रही है—सखि! भद्राके मानिनी होनेपर श्रीकृष्ण उसका मान शान्त करनेके लिए बोले;

श्रीकृष्ण—भद्रे! ताम्बूल ग्रहण क्यों नहीं करती?

भद्राने विनम्र होकर कहा—हे गोकुलनाथ! अभी तक मैंने देवीका अर्चन नहीं किया, इसलिए अभी तक उसे ग्रहण नहीं किया।

श्रीकृष्णने कहा—प्रियतमे! मैं अपने हाथोंसे यह माला गूँथकर लाया हूँ। इसे धारण करो।

भद्राने कहा—श्रीकृष्ण! तुम्हारी शिल्पकलाको देखकर मेरे घरवाले पहचान जाएँगे कि यह तुम्हारे द्वारा ग्रथित है। ऐसी स्थितिमें वे मेरे प्रति शङ्का करेंगे। अतः तुम्हारी गूँथी हुई माला मैं अङ्गीकार नहीं कर सकती।

श्रीकृष्णने कहा—प्रिये! कुछ देर तक ठहरो और मेरी बात सुनो।

इसपर भी भद्राने कहा—हे गोपीनाथ! मुझे व्रजेश्वरीने बुलाया है। मैं शीघ्र जा रही हूँ। तुम्हारी बातोंको सुननेके लिए मेरे पास अवकाश नहीं है।

इसमें विनयके द्वारा भद्राका अत्यन्त गूढ़ मान सूचित हो रहा है॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—पाल्याः सखी स्वसखीं कांचित् प्रत्याह—देवीति। स्पष्टम्। क्वाचित्कोऽयं श्लोकः॥५४॥

तथा च—

कण्ठे नाद्य करोमि दुर्व्रतहता रम्यामिमां ते स्रजं
वक्तुं सुष्ठु न हि क्षमास्मि कठिनैर्मौनं द्विजैर्ग्राहिता।
का त्वां प्रोज्झ्य चलेत्खले यमचिरं श्वश्रूर्न चेदाह्वये–
दित्थं पालिकया हरौ विनयतो मन्युर्गभीरीकृतः॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरा उदाहरण—पालिका नामक यूथेश्वरीके निकट स्वकृत अपराधसे उत्पन्न मानकी शान्तिके लिए पहले दानरूप उपायकी उद्भावनाकर श्रीकृष्ण अपने स्वहस्त निर्मित हारको प्रदानकी इच्छासे उसके घरमें उपस्थित हुए और साक्षात् रूपसे मालाको धारण करनेके लिए प्रार्थना की। किन्तु, पालीने अवहित्थाके द्वारा अपने भावोंको छिपाकर कहा—हे हरि! मैं तुम्हारे हाथोंसे निर्मित मनोरम मालाको भी धारण नहीं कर सकती; क्योंकि आज मैंने माल्य, चन्दन और अन्यजनोंके स्पर्श आदिका वर्जनरूप दुष्कर व्रत धारण किया है। अतः व्रतके नियमोंसे बँधी हुई होनेके कारण मैं इसे धारण नहीं कर सकती।

श्रीकृष्णने कहा—अरी प्रियतमे! अपने वचनामृतकी वर्षाकर मेरे तप्तहृदयको शीतल करो।

पालीने कहा—हे आभीरवधु-वञ्चक! निष्ठुर और निर्दय ब्राह्मणोंने मुझे मौनव्रत रखनेके लिए कहा है। अतएव स्पष्ट अक्षरोंमें कोई बात करनेके लिए मैं सक्षम नहीं हूँ।

श्रीकृष्ण—प्रिये! यदि बातचीत करनेसे ही व्रतकी हानि होती है, तब थोड़ी देर तक मेरे निकट मौन रहकर ही बैठो। कुछ देर रुककर मेरी बातोंको तो सुनो, फिर जैसा उचित हो वैसा ही करना। इतनी जल्दी मुझे त्यागकर क्यों जा रही हो?

पालीने बड़ी विनम्रतासे कहा—हे मधुरभाषिन्! अवश्य ही तुम्हें छोड़कर कौन स्त्री अन्यत्र जाना चाहेगी? देखो खलस्वभाववाली सासने यदि मुझे बुलाया न होता तो मैं तुम्हें छोड़कर कैसे जा सकती थी?

इस प्रकार पाली विनम्रताके द्वारा, किसी आक्षेपके द्वारा नहीं, श्रीहरिके प्रति दुर्बोध मानको धारणकर रही है॥५५॥

लोचनरोचनी—अथ धीरप्रगल्भामुदाहरति—कण्ठे नाद्येति। अस्या धीरात्वं व्यक्तमेव प्रगल्भात्वं च दुर्व्रतेति, कठिनैरिति, खलेति च प्रोढोक्तित्वात्तदुपलक्षित-त्वेनान्येषामप्युपादानाद्गम्यम्॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र दुर्व्रतहतेति। एतद् व्रतमपि मे धिक्। यत्र सति त्वत्पाणिनिर्मितां स्रजं कण्ठे कर्तुं न लभेयेत्यादरावहित्थे। कठिनैरिति। द्विजानपि तान् रसाभिज्ञान् धिक्। यैर्व्रते मौनविधिर्दत्तः। अयं मौनत्यागस्तु त्वत्प्रेमानुरोधेनैव क्षणं निषिद्धोऽपि कृत इति भावः। तर्हि क्षणं मौनिन्येव मत्समीपे तिष्ठेत्यत आह—का त्वामिति। अत्र दुर्व्रतेति, कठिनैरिति, खलेति, प्रौढोक्तिमत्त्वात्प्रगल्भात्वम्। इयं सुरतमदित्समाना स्वमानं च निह्नुवाना व्रतादिकं व्याजीकरोतीति धैर्यपूर्त्यभावोऽस्या ज्ञातः॥५५॥

यथा वा—

> **कुचालम्भे पाणिर्न हि मम भवत्या विघटितो**
> **मुहुश्चुम्बारम्भे मुखमपि न साचीकृतमभूत्।**
> **परीरम्भे चन्द्रावलि न च वपुः कुञ्चितमिदं**
> **क्व लब्धा मानस्य स्थितिरियमनालोकितचरी॥५६॥**

तात्पर्यानुवाद—इस श्लोकमें पहलेसे भी अधिक महागम्भीर्यवती अधीराप्रगल्भाका मान दिखला रहे हैं। एक दिवस श्रीकृष्ण महागम्भीर

मानको धारण करनेवाली चन्द्रावलीके निकट पहुँचे और बोले—प्रिये! क्या तुमने मान किया है?

चन्द्रावली—नहीं तो। तुमने मुझमें मानका क्या चिह्न देखा, जो ऐसा कह रहे हो। तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया है। तुम्हारे प्रति मानका कोई अवकाश ही कहाँ है?

श्रीकृष्ण—प्रिये! यदि यही बात है तो अपने अङ्गोंका स्पर्श करने दो।

चन्द्रावली—यथेष्ट रूपमें कर सकते हो। इसमें सन्देह ही क्या है? मैंने अपने अङ्गोंको समर्पण किया। जैसी इच्छा हो वैसा ही करो। ऐसा कहकर दुर्जेय और गम्भीर मानवती चन्द्रावलीने उदासीनताका भाव अवलम्बन कर लिया।

श्रीकृष्णने यथेष्ट रूपमें चन्द्रावलीका आलिङ्गन किया। फिर बोले—प्रिये! आज तो तुमने हद ही कर दी। तुम्हारे मानकी अनोखी रीति आज ही देखी। ऐसा मान तो न कहीं देखा और न सुना। मैंने तुम्हारे स्तनोंपर हाथ रखा तो तुमने मेरे हाथको हटाया नहीं। मैं जब तुम्हारे मुखका बार-बार चुम्बन करने लगा तो तुमने मुख मोड़ा नहीं। जब मैंने तुम्हारा आलिङ्गन किया, तब भी तुमने अङ्गोंको संकुचित नहीं किया। तुमने इस मानकी शिक्षा कहाँसे प्राप्त की है?॥५६॥

लोचनरोचनी—कुचालम्भ इत्यत्र मानसमयेऽपि गाम्भीर्यमादरोऽवहित्था च गम्यत इति धीरात्वम्। मानेऽत्यन्त कर्कशत्वात् पाणिविघटनाकरणेन समर्थतया पूर्णयौवनत्वाच्च प्रगल्भात्वं च॥५६॥

आनन्दचन्द्रिका—यथा वेति। अस्यां पूर्णधैर्यायां परितोषव्यञ्जको वाकार इति न द्वैविध्यं स्वसंमतमिति भावः। कुचालम्भ इति। अत्रैवं ज्ञेयम्—प्रिये चन्द्रावलि, त्वं किं मानिन्यसि? नहि नहि, किं मे मानस्य लक्षणं पश्यसि निरपराधे त्वयि को वा मानस्यावकाशः? एवं चेत् स्वाङ्गस्पर्शं दास्यसि? दास्याम्येव कोऽत्र संदेहस्तवैवेदमङ्गमिति बहिर्ब्रूते। स्वगतं तु मानिन्या मयास्मिन् भावस्त्यक्त एव। किन्तु अस्मै दत्तचरमङ्गमिदमयं यज्जानाति, तदेव करोतु मम किमनेनेत्यौदासीन्यं संपूर्णधीरत्वकृतमिति। क्व लब्धेति। अद्य त्वत्संभोगे सुखलेशमात्रमपि मया न लब्धमिति भावः॥५६॥

अधीरप्रगल्भा—

सन्तर्ज्य निष्ठुरं रोषादधीरा ताडयेत्प्रियम् ॥५७॥

यथा—

मुग्धाः कंसरिपो वयं रचयितुं जानीमहे नोचितं
तां नीतिक्रमकोविदां प्रियसखीं वन्देमहि श्यामलाम्।
मल्लीदामभिरुच्छलन्मधुकरैः संयम्य कण्ठे यथा
साक्षेपं चकितेक्षणस्त्वमसकृत्कर्णोत्पलैस्ताड्यसे ॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—अधीरप्रगल्भा—जो नायिका वल्लभके अपराध करनेपर अपराधी वल्लभके प्रति क्रोध हेतु फटकार देती है और निष्ठुर भावसे प्रताड़न करती है, उसे अधीरप्रगल्भा नायिका कहते हैं॥५७॥

उदाहरण—किसी व्रजरमणीके साथ विहार कर प्रातःकाल अपने अङ्गोंमें रतिका चिह्न धारणकर श्रीकृष्ण उपस्थित होनेपर धीराधीरस्वभावा गौरीने कहा—"हे कंसरिपु! हम मुग्धा नारी हैं। हमें उचित रूपमें तुम्हारा प्रीतिविधान करनेकी शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है। हे चकितेक्षण! हम तो नीतिको अच्छी तरह जाननेवाली प्रियसखी श्यामलाके चरणोंमें प्रणाम करती हैं। उन्होंने तुम्हारे ही कण्ठदेशमें पहनी हुई मधुकर-रञ्जित मल्लिका मालाके द्वारा तुम्हारे कण्ठदेशको बाँधकर तिरस्कार और कर्णोत्पलोंके द्वारा जो बार-बार तुम्हारे वक्षःस्थलमें प्रहार किया था, हमलोगोंकी भी वैसा ही करनेकी इच्छा होती है, किन्तु हम किसी प्रकारसे भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं।" इस पदका तात्पर्य है कि धीराधीरस्वभावा नायिका अपराधी कान्तके प्रति मन और वचनसे ताड़न और बन्धन तो करती हैं, किन्तु हाथोंके द्वारा प्रहार करनेमें सक्षम नहीं होतीं। केवल अकेली श्यामला ही इस विषयमें समर्था है। धीराधीरस्वभावा गौरीके वचनोंसे इस पद्यमें "श्यामला अधीरप्रगल्भा हैं"—प्रदर्शित किया गया है॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—गौरी प्राह—मुग्धा इति। मुग्धम्मन्याः। श्यामलां वन्देमहीति। तत्कृतं चेष्टितमेव मच्चिकीर्षितमिति व्यञ्जनया, तथा मल्लीत्यादिना च बन्धनताडनयोर्मनोवाक्कृतत्वं सिद्धम्। साक्षात्स्वपाणिकृतत्वं तूत्तमाङ्गनानां नातिसुरसनीयमिति न तद्वर्णितम्। केचित्तु श्यामलैवोदाहरणमित्याहुः ॥५८॥

धीराधीरप्रगल्भा—

धीराधीरगुणोपेता　धीराधीरेति　कथ्यते॥५९॥

यथा—

स्फुरति मम न जातु क्रोधगन्धोऽपि चित्ते
व्रतमनु गहनाभूत् किन्तु मौने मनीषा।
अघहर लघु याहि व्याज आस्तां यदेताः
कुसुमरसनया त्वां बन्धुमिच्छन्ति सख्यः॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—धीराधीरप्रगल्भा—जिसमें धीरात्व, अधीरात्व और प्रगल्भात्व—ये तीनों गुण होते हैं उस नायिकाको धीराधीरप्रगल्भा नायिका तथा जिसमें धीरा, अधीरा दोनोंके गुण होते हैं, उसे धीराधीर नायिका कहते हैं॥५९॥

उदाहरण—मङ्गलाने कहा—"हे अघनाशन! अपनेको निरपराधी प्रमाणित करनेके लिए दम्भ क्यों कर रहे हो? छल-चातुरीका त्याग करो। हमारे मनमें तनिक भी क्रोध नहीं है। यदि कहो कि हमारे साथ बातचीत क्यों नहीं कर रही? उसका कारण यह है कि मैंने व्रत धारण किया है और इस व्रतमें मौनावलम्बन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए मैं अधिक बोल नहीं सकती। अतएव यहाँसे शीघ्र ही 'चले जाओ, चले जाओ'। (इस पद्यमें अधीरात्व अंशकी अभिव्यक्ति है।) यदि कहो यहाँसे शीघ्र चले जाओ, ऐसा कहकर मुझे क्यों यहाँसे बाहर कर रही हो? उसका उत्तर यह है कि छलकी कोई बात नहीं। मैं स्पष्ट ही कह रही हूँ कि देखो सखियाँ पुष्परज्जुके द्वारा तुम्हें अभी बाँधनेके लिए प्रस्तुत हो रही हैं। यदि तुरन्त यहाँसे नहीं भागे, तो तुम्हें वे शीघ्र ही बाँध देंगी और तुम अपनी प्रियतमासे मिल नहीं पाओगे।" इस उदाहरणमें पुष्पमय रज्जुके द्वारा बाँधनेके लिए प्रस्तुत हो रही हैं—इसके द्वारा अधीरात्व लक्षण स्पष्ट हुआ॥६०॥

लोचनरोचनी—स्फुरतीत्यादावस्याः प्रगल्भात्वं पूर्ववज्ज्ञेयम्। व्रतमन्वित्यत्र मौनत्यागोऽयं तु भवत्स्नेहेनैव क्रियत इति भावः। व्याज इति पुंस्येव क्लीवं तु लिखनभ्रमात्॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—मङ्गला प्राह—स्फुरतीति। लघु शीघ्रं व्याजः स्वस्य निरपराधत्वप्रकाशनमयो दम्भ आस्तां विरमतु। कुसुमरसनया पुष्पग्रन्थनरज्ज्वा, पक्षे पुष्पमयक्षुद्रघण्टिकया बन्धु बद्ध्वात्रैव स्थापयितुम्। तथा सति स्वप्रेयसीं तां द्रष्टुं न प्राप्स्यतीति भावः। अत्र पुष्पकाञ्चीमात्रविशिष्टां त्वां बन्धु प्रियमिच्छन्तीति श्लिष्टार्थप्रतीतावधीरात्वस्य बाह्यत्वापत्तेः धीरेत्यस्य च स्वानभिमतत्वादपरितोष-प्राप्तेरुदाहरणान्तरमाह—यथा वेति॥६०॥

यथा वा—

> **कृतागसि हरौ पुरः स्तुवति तं भ्रमद्भ्रूलता**
> **तिताडयिषुरुद्धुरा श्रुतितटाद्विकृष्योत्पलम्।**
> **न तेन तमताडयत्किमपि याहि याहीति सा**
> **ब्रुवत्यजनि मङ्गला सखि परं पराञ्चन्मुखी॥६१॥**

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें धीरात्व लक्षण स्पष्ट रूपसे व्यक्त न होनेके कारण ग्रन्थकर्त्ताने पुनः द्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। कोई एक सखी अपनी अन्य सखीके प्रति कह रही है—सखि! एक समय श्रीकृष्ण अपराधी होनेपर मङ्गलाके सामने पहुँचकर कुछ अनुनय-विनय करने लगे। उन्हें वैसा करते देखकर मङ्गलाने अपनी भ्रू-लताको किञ्चित् तानकर अपने हाथोंमें अपने कर्णभूषण कमलपुष्पको उठाकर अपने कान तक ले आईं, किन्तु प्रहार नहीं कर सकी और "केवल जाओ, चले जाओ, यहाँसे चले जाओ" मात्र कहकर अपने मुखको घुमा लिया। उक्त उदाहरणमें "जाओ, जाओ"—यहीं तक अधीरात्व है। अपने मुखको घुमाना—धीरात्वका लक्षण है॥६१॥

लोचनरोचनी—कृतागसीत्यादौ पूर्वार्द्धेन प्रगल्भात्वम्॥६१॥

आनन्दचन्द्रिका—कृतागसीति। पादत्रयेऽधीरालक्षणं स्पष्टम्। चतुर्थचरणे परं केवलं पराञ्चन्मुखीत्वेन नायिकोचितभावप्रदर्शनया नायकं प्रत्यादरः। तथा पराञ्चन्मुखीत्युक्तयाञ्चदित्यस्य शत्रन्तत्वेन किंचिद्पाङ्गदर्शनेन प्राप्तेन प्रसादव्यञ्जकेन स्वमाननिह्नुतिरित्यवहित्था चेति। पराञ्चन्मुख्येवाजनीति न प्रतिकूलम्, नाप्यनुकूलं किमपि चेष्टते स्मेत्यर्थे प्राप्ते सति पुनः कृष्णेन चरणयोः प्रणिपत्य सुरतार्थकप्रयत्ने क्रियमाणे संमतिव्यञ्जकचेष्टाया अभावे सति धीरालक्षणमप्यायातम्। "धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयेदमुम्।" इति साहित्यदर्पणोक्तधीराधीरप्रगल्भालक्षणम्, तथा

"अनलंकृतोऽपि सुन्दर हरसि यतो मे मनः प्रसभम्। किं पुनरलंकृतस्त्वं संप्रति नखरक्षतैस्तस्याः॥" इति तदुदाहरणं च नानुमतं धीरामध्यायामतिप्रसक्तत्वादिति॥६१॥

किशोरिकाणामप्यासामाकृतेः प्रकृतेरपि।
प्रागल्भ्यादिव कासांचित्प्रगल्भात्वमुदीर्यते॥६२॥

मध्या तथा प्रगल्भा च द्विधा सा परिभिद्यते।
ज्येष्ठा चापि कनिष्ठा च नायकप्रणयं प्रति॥६३॥

तात्पर्यानुवाद—इन किशोरियोंकी आकृति और प्रकृतिके प्रागल्भ्यके कारण ही (वयःकी अधिकताके कारण नहीं) किसी-किसीको प्रगल्भ कहा जाता है। ज्येष्ठा, कनिष्ठा भेदसे मध्या एवं प्रगल्भा प्रत्येकके दो-दो प्रकारके भेद होते हैं। अर्थात् ज्येष्ठा-मध्या, कनिष्ठा-मध्या, ज्येष्ठ-प्रगल्भा और कनिष्ठ-प्रगल्भा इत्यादि। नायकके द्वारा कृत प्रणयके आधिक्य और न्यूनताके कारण ही इस प्रकार ज्येष्ठा और कनिष्ठाका भेद होता है, अर्थात् नायक जिसके प्रति अधिक प्रीतिमान होता है, वह ज्येष्ठा है और जिसके प्रति न्यून प्रीति है, उसको कनिष्ठा कहा जाता है॥६२-६३॥

लोचनरोचनी—आकृतेः प्रकृतेरपि प्रागल्भ्यादिवेत्यन्वयः॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रागल्भ्यादिवेति। किंचिद्वयोऽधिकत्व एव वस्तुतः प्रागल्भ्यं संभवेदिति भावः॥६२॥

नायकप्रणयं प्रति लक्ष्यीकृत्य नायककर्तृकप्रणयाधिक्यन्यूनतावत्यौ क्रमेण ज्येष्ठाकनिष्ठे स्यातामित्यर्थः॥६३॥

यथा—

सुप्ते प्रेक्ष्य पृथक् पुरः प्रियतमे तत्रार्पयन्पुष्पजं
लीलाया नयनाञ्चले किल रजश्चक्रे प्रबोधोद्यमम्।
कृष्णः शीतल-तालवृन्त-रचनोपायेन पश्यागत-
स्तारायाः प्रणयादिव प्रणयते निद्राभिवृद्धिक्रमम्॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—मध्याजेष्ठा-कनिष्ठात्व—एक समय स्वजातीय हेतु परस्पर अत्यन्त सौहार्द्रसे पुष्प चयनका बहाना बनाकर लीला और

तारा दोनों मध्या यूथेश्वरियाँ श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वृन्दावनमें आईं, किन्तु वनभ्रमणके कारण अत्यन्त क्लान्त होकर एक निकुञ्जमें सो गईं। चतुरचूड़ामणि श्रीकृष्ण, इस वृत्तान्तको जानकर उनके पासमें उपस्थित होकर, जो कुछ करने लगे उसे वृन्दा अलक्षित भावसे अन्य कुञ्जमें रहकर नान्दीमुखीको दिखला रही है—"देखो, देखो! नान्दीमुखि! इस कुञ्जगृहमें प्रियतमा लीला और ताराको पृथक् रूपमें अथच परस्परको आमने-सामने निद्रित देखकर लीलाके नेत्राञ्चलपर पुष्परज फेंककर उसकी निद्रा भङ्ग करनेकी चेष्टा कर रहे हैं तथा ताराके प्रति प्रातीतिक प्रीति प्रदर्शन द्वारा शीतल तालवृन्द व्यंजनके द्वारा अधिकतर रूपसे उसके सो जानेकी व्यवस्था कर रहे हैं।" लीलाके प्रति अधिक प्रणय प्रकाश हेतु उसका ज्येष्ठत्व एवं ताराके प्रति प्रातीतिक प्रीति प्रदर्शन हेतु उसका कनिष्ठत्व सूचित हुआ॥६४॥

लोचनरोचनी—तालवृन्तं व्यजनम्॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—दूराल्लताकुञ्जे निह्नुत्य वृन्दा नान्दीमुखीं दर्शयति—सुप्त इति। अत्र नयने रजःप्रदानं निद्रावेशनाशार्थमेव, निद्रानाशस्तु पाणिकर्षणमात्रेनापि सिध्येतैवेति भावः। रजसः पुष्पजत्वेन नयनापकारकत्वं पराहतम्। तालवृन्तरचना व्यजनचालनवैदग्धी॥६४॥

यथा वा—

दीव्यन्त्यौ दयिते समीक्ष्य रभसादक्षैस्त्र्यहात्मग्लहै–
गौरीं घूर्णितयोपदिश्य हितवद्दायप्रयोगं भ्रुवा।
तस्यास्तूर्णमुपार्जयन्निव जयं शिक्षावशेनाच्युतः
श्यामामेव चकार धूर्तनगरीसंकेतविज्जित्वराम्॥६५॥

तात्पर्यानुवाद—प्रगल्भाज्येष्ठा-कनिष्ठात्व—महासौहार्द्रपूर्वक एकत्र अभिसार करनेवाली प्रगल्भा गौरी और श्यामा दोनों यूथेश्वरियोंने श्रीकृष्णके साथ मिलकर प्रचुर रूपमें विहार किया और उनके सामने ही कौतुकवशतः पासा खेलनेमें प्रवृत्त हुईं। इस विषयमें श्रीकृष्णने जैसा किया, उसे वृन्दा अनुभवकर पौर्णमासीके निकट कह रही हैं—कौतुकवशतः गौरी और श्यामा श्रीकृष्णके समीप पासा खेलने लगीं। दोनोंने यह पन रखा कि

जो पराजित होगी, वह तीन दिनों तक श्रीकृष्णको विजय करनेवालीके निकट रहेगी। ऐसा जानकर श्रीकृष्णने वहाँ उपस्थित होकर गौरीको भ्रू-सञ्चालनके द्वारा इस प्रकारसे पासा चलानेका उपदेश दिया, जिससे मानो शीघ्र ही गौरीकी जीत होनेवाली है। (वस्तुतः यहाँ गौरीका विजय होना उनका तात्पर्य नहीं था। इसलिए गौरीका कनिष्ठत्व सूचित होता है) किन्तु पासाक्रीड़ा खेलनेवालोंके जय-पराजय विषयक सभी रहस्योंके ज्ञाता श्रीकृष्णने दुस्तर्क्य कौशलके द्वारा श्यामाको ही विजयी बनाया। इसलिए श्यामाका यहाँपर ज्येष्ठत्व सूचित होता है॥६५॥

लोचनरोचनी—त्र्यहं व्याप्य आत्मा स्वमेव ग्लहो देयो येषु तैरक्षैर्दीव्यन्त्यौ समीक्ष्य दायस्याक्षपातलब्धस्य स्वोचितक्रीडाभागस्य प्रयोगं प्रयोक्तव्यं चालनविशेषं घूर्णितया भ्रुवा गौरीं दयितयोरेकतरां प्राक् हितमेवोपदिश्य तस्या गौर्य्या जयमिवोपार्जयन् शिक्षायास्तद्विद्याभ्यासस्य वशेनानुगत्या तल्लब्धचातुर्या श्यामां तयोरन्यतरामेव जित्वरांचक्रे। धूर्त्ता अक्षदेविनस्तन्नगर्य्यां यः संकेतो, येन चालनेन जय इव दृश्यमानेऽपि पराजयस्तथा तद्विपरीते विपरीतस्तत्र यः संकेत-श्छलेनोपदेशस्तद्वित्॥६५॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वत्र मध्ययोर्ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वे उदाहृत्य संप्रति प्रगल्भयोस्ते दर्शयति—यथा वेति। वाशब्दश्चार्थे। वृन्दा पौर्णमासीमाह—दीव्यन्त्याविति। अक्षैः पाशकैः। त्र्यहं व्याप्यात्मा स्वयं श्रीकृष्ण एव ग्लहो येषु तैः। "पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते।" इत्यमरः। घूर्णितयानुरागव्यञ्जिकया भ्रुवा। धूर्तनगरीशब्देन लक्षणया नानाविधा धूर्ता उच्यन्ते। संकेतस्तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमसाधारणधर्मविशेषस्तं विन्दति प्राप्नोति वेति स्वस्मिन्नर्पयितुं जानातीति वा। अत्र प्रकटमेव श्यामायाः पक्षपातत्वव्यञ्जनया तस्यै श्यामलायै सौभाग्यप्रदानं गौर्य्या सह प्रणयवत्यास्तस्या नाभिमतमिति न कृतम्। तथा सति गौर्य्या मनसि किंचिद्दुःखं स्यात्। गौर्य्याः पक्षपाते तु श्यामाया न दुःखम्। स्वस्मिन् सौभाग्यस्य निश्चयज्ञानेन तत्पक्षपातस्य बाह्यत्वमननात्। अतस्तयोर्मिथः प्रीतिः। श्रीकृष्णस्यापि तादृशी लीलासिद्ध्यर्थमभीष्टेति ज्ञेयम्। एवं पूर्वत्र तारालीलयोरपि विवेचनीयम्॥६५॥

काचित्कांचिदपेक्ष्य स्याज्ज्येष्ठेत्यापेक्षिकी भिदा।
अतो भेदद्वयमिदं न कृतं गणनान्तरे॥६६॥

कन्या मुग्धैव सा किन्तु स्वीयान्योढे उभे बुधैः।
मुग्धामध्यादिभेदेन षड्भेदे परिकीर्तिते॥६७॥

मध्याप्रौढे द्विषड्भेदे प्रोक्ते धीरादिभेदतः।
कन्या स्वीया परोढेति मुग्धा च त्रिविधा मता।
इति ताः कीर्तिताः पञ्चदश भेदा इहाखिलाः ॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—किस नायिकाकी अपेक्षा कौन नायिका ज्येष्ठ या कनिष्ठ है, यह आपेक्षिक भेदमात्र है। जो ज्येष्ठा हैं वे भी पुनः किसी अन्य नायिकाकी तुलनामें कनिष्ठा हो सकती हैं। इस विशेष भेदको यूथेश्वरी भेद प्रकरणमें विशद् रूपसे कहा जाएगा। इसलिए ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व रूप दोनों भेद नायिकाभेद प्रकरणमें नहीं कहे गए।

कन्या–नायिकाएँ सर्वदा मुग्धा होती हैं। उनका कभी भी अवस्थान्तर नहीं होता। किन्तु, स्वीया और परोढ़ा, ये दोनों प्रकारकी नायिकाएँ मुग्धा, मध्या और प्रगल्भाके भेदसे छह प्रकारकी होती हैं। मध्या और प्रगल्भा भी धीरादि भेदसे छह प्रकारकी हैं। कन्या, स्वीया और परोढ़ा ये तीन प्रकारकी मुग्धाएँ मिलाकर सब नायिकाएँ १५ प्रकारकी होती हैं। अर्थात् (१) स्वीयामुग्धा, (२) स्वीयाधीरमध्या, (३) स्वीया अधीरमध्या, (४) धीराधीरमध्या, (५) स्वीयाधीरप्रगल्भा, (६) स्वीया–अधीरप्रगल्भा, (७) स्वीयाधीराधीरप्रगल्भा; (१) परोढ़ामुग्धा, (२) परोढ़ाधीरमध्या, (३) परोढ़ाअधीरमध्या, (४) परोढ़ाधीराधीरमध्या, (५) परोढ़ाधीरप्रगल्भा, (६) परोढ़ाअधीरप्रगल्भा, (७) परोढ़ाधीराधीरप्रगल्भा और (८) कन्यामुग्धा—सब मिलाकर पन्द्रह प्रकारकी हुईं॥६६–६८॥

लोचनरोचनी—पूर्वोक्तान् प्रेयसीभेदान् पञ्चदशत्वेन दर्शयति—'कन्या मुग्धैव' इत्यादिना पञ्चदश भेदा 'इहाखिला' इत्यन्तेन। तत्र कन्या मुग्धैवेत्येकः। किन्तु स्वीयान्योढे इति स्वीयायाः सप्तभेदास्तावद्दर्श्यन्ते। मुग्धारूप एकः, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा, धीराधीरप्रगल्भा इति त्रयः। धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्येति मध्यायाश्च त्रयः। इति स्वीयायाः सप्त। एवमन्योढायाः सप्त भेदा पूर्ववज्ज्ञेयाः। तदेवं कन्याया एको भेदः। स्वीयान्योढायाः सप्त सप्तेति पञ्चदशैव स्थिताः॥६७॥

पञ्चदशत्वे च मध्याप्रगल्भयोर्भेदान् विविनक्ति, मध्याप्रौढ़े इति। प्रौढाप्रगल्भाधीरादि–भेदतः द्विषड्भेद इति षट्सु द्वित्वम्। स्वीयात्वपरकीयात्वद्वित्वेन ज्ञेयम्। पुनः पञ्चदशस्वेव मुग्धाया भेदान् विविनक्ति—कन्या स्वीयेति। कन्यामुग्धा स्वीयामुग्धा परोढ़ामुग्धेति त्रिधा मतेत्यर्थः॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—न कृतं गणनान्तर इति। यैव ज्येष्ठा सैव तदानीमेव कनिष्ठा चेति किं धर्मवत्त्वेन गणनीयेति भावः। अतएव वक्ष्यमाणोऽधिकादिभेदोऽपि नात्र गणनायामानीतः ॥६६॥

कन्या मुग्धैवेति। तस्या एक एव भेदः। स्वीयापरोढे षड्भेदे इति। स्वीयामुग्धा, स्वीयामध्या, स्वीयाप्रगल्भेति। एवं परोढामुग्धेत्यादि। एवं कन्यास्वीयापरोढानां स्थूलतः सप्त भेदाः ॥६७॥

मध्यादिभेदेन तु पञ्चदशैवेत्याह—मध्याप्रौढे इति। मध्या प्रथमं स्वीया परोढेति द्विविधा। ततः प्रत्येकं धीरा, अधीरा, धीराधीरेति त्रिविधा। ततो मध्या षड्विधा, प्रौढा च षड्विधेति मध्याप्रौढे द्विषड्भेदे। मुग्धा च त्रिविधा कन्या, स्वीया, परोढेति मिलित्वा पञ्चदश भेदाः ॥६८॥

अथावस्थाष्टकं सर्वनायिकानां निगद्यते।
तत्राभिसारिका वाससज्जा चोत्कण्ठिता तथा ॥६९॥

खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि च।
प्रोषितप्रेयसी चैव तथा स्वाधीनभर्तृका ॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—इन १५ प्रकारकी नायिकाओंमेंसे प्रत्येककी आठ अवस्थाएँ हो सकती हैं। ये आठ अवस्थाएँ हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनभर्तृका। रसशास्त्रमें ये संज्ञाएँ प्रसिद्ध पारिभाषिक हैं। इनमेंसे स्वकीया नायिकाओंकी—प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनभर्तृका—केवल ये दो अवस्थाएँ समझनी होंगी। उनके लिए अन्य अवस्थाएँ असम्भव हैं। किन्तु परकीयामें सभी अवस्थाएँ स्वीकृत हैं। स्वकीयामें वासकसज्जा, उत्कण्ठिता किसी-किसी अंशमें कुछ-कुछ सम्भव होनेपर भी ये सभी परकीयामें ही दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा ही सत्-शास्त्रियोंका विचार है ॥६९-७०॥

तत्राभिसारिका यथा—

याभिसारयते कान्तं स्वयं वाभिसरत्यपि।
सा ज्यौत्स्नीतामसीयानयोग्यवेषाभिसारिका ॥७१॥

लज्जया स्वाङ्गलीनेव निःशब्दाखिलमण्डना।
कृतावगुण्ठा स्निग्धैकसखीयुक्ता प्रियं व्रजेत् ॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—अभिसारिका—जो नायिकाएँ कान्तको अपने निकट अभिसार कराती हैं या स्वयं अभिसार करती हैं, उनको अभिसारिका कहते हैं। ये दो प्रकारकी होती हैं—ज्योत्स्नी और तामसी। शुक्लपक्षमें अभिसारोपयोगी शुक्लवर्णके वस्त्रोंको धारणकर अपने अङ्गोंको सफेद बनाकर तथा श्रीकृष्णपक्षमें श्रीकृष्णवर्णकी वेशभूषाको धारण करती हैं, वे यथाक्रमसे ज्योत्स्ना–अभिसारिका या तमो–अभिसारिका नायिका कहलाती हैं अर्थात् शुक्लपक्षमें अभिसारोपयोगी शुक्लवेशभूषाको धारण करनेवाली ज्योत्स्ना–अभिसारिका कहलाती हैं तथा कृष्णपक्षमें कृष्णवर्णके वेशभूषाको धारणकर अभिसार करनेवाली तमोभिसारिका कहलाती हैं। ये नायिकाएँ अपने प्राणेश्वरके निकट गमनकालमें लज्जासे अत्यन्त संकुचित होकर अपने अङ्गोंमें ही सिमटी हुईं रहती हैं। उनके कङ्गन, चूड़ियाँ, नूपुर इत्यादि निःशब्द रहते हैं। घूँघटको निकालकर केवलमात्र एक सखीके साथमें अभिसार करती हैं॥७१–७२॥

आनन्दचन्द्रिका—ज्यौत्स्नीतामस्योः शुक्लकृष्णपक्षवर्त्तिन्योर्यानमभिसारस्तद्योग्यः शुक्लकृष्णवर्णपरिच्छदमयो वेषो यस्याः सा॥७१॥

स्वाङ्गलीनेव स्वाङ्गैरेव स्वाङ्गमाच्छादयन्तीवेत्यर्थः॥७२॥

तत्राभिसारयित्री यथा—

> **जानीते न हरिर्यथा मम मनः कन्दर्पकण्डूमिमां**
> **मां प्रीत्याभिसरत्ययं सखि यथा कृत्वा त्वयि प्रार्थनाम्।**
> **चातुर्यं तरसा प्रसारय तथा सस्नेहमासाद्य तं**
> **यावत्प्राणहरो न चन्द्रहतकः प्राचीमुखं चुम्बति॥७३॥**

तात्पर्यानुवाद—अभिसारयित्री—अभिसार करनेवाली कोई–कोई व्रजदेवी श्रीकृष्णके स्वभाव, सौन्दर्य और माधुर्यके अनुभवसे क्षुब्ध होकर लज्जाको छोड़कर प्रकाश्य रूपमें ही श्रीकृष्णको बुलानेके लिए अपनी प्रिय सखीको भेजती हैं तथा उस समय प्रकट रूपमें ही उसे उपदेश करती हैं।

उदाहरण—श्रीराधाने विशाखासे कहा—"सखि! तुम शीघ्र ही श्रीकृष्णके समीप जाओ। उनसे ऐसी बात करना कि वे मेरे मनकी बात न जान सकें और तुमसे प्रार्थनापूर्वक वे स्वयं मेरे पासमें आकर

अभिसार करें। ऐसी शीघ्रता करना कि मेरे प्राणोंको हरण करनेवाला चन्द्र पूर्व दिशाका चुम्बन न करे। अर्थात् पूर्वमें चन्द्रके उदित होनेसे पहले ही प्राणनाथको मेरे पास अभिसार कराओ।" उक्त उदाहरणका तात्पर्य यह है कि श्रीराधाजी विशाखासे कह रही हैं—"हे विशाखे! मैं उच्चकुलकी कुलाङ्गना और अत्यन्त लज्जावती रमणी हूँ। तुम श्रीकृष्णके सामने मेरी आतुरता (कन्दर्पकण्डूयन) की बात मत कहना। उससे मेरी बड़ी हँसी होगी और उनको भी मेरे प्रति उपहासकर अन्य रूपमें समझनेका अवकाश होगा। वे समझेंगें कि अब यह मेरे प्रति दाक्षिण्य भाव अवलम्बन कर रही है। अतएव मेरे सौन्दर्य, शालीनता और माधुर्य इत्यादिका इस प्रकारसे वर्णन करना, जिससे वे स्वयं ही मेरे पास अभिसार करें। तुम मेरे मनकी कन्दर्प पीड़ाको समझती हो, तथापि मैं तुम्हें कुछ प्रकाश कर बतला रही हूँ, जिससे तुम वैसा ही करना। आज श्रीकृष्णपक्षकी चतुर्थी तिथि है। मैं तुम्हें अभी शामके समय उनके पास भेज रही हूँ। चन्द्रके उदित होनेके पहले ही यदि उनका अभिसार करा करके मेरे पास नहीं लाई तो एक प्रहरके बाद तुम मुझे जीवित नहीं देख सकोगी॥"७३॥

लोचनरोचनी—कयाचित्प्राणसख्या अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निर्णीय यत्नतस्तस्या मुखात् किंचिन्निष्कासिते तादृगुत्कण्ठिते स्वयमेव च दौत्याय कृते प्रारम्भे तस्या एव वाक्यम्—जानीत इति। मनसः कंदर्परूपा या कण्डूस्तद्वत् तच्छान्तिकरस्पृश्यं प्रति या उत्कण्ठा तां यथा न जानीत इत्यत्र मनःशब्दप्रयोगः, शमेऽपगतेऽपि दमस्तु मम दृढ एवास्तीति धैर्यमिव व्यञ्जयितुं कृतम्। पुरतस्तन्निर्वाहस्तु दुष्करः स्यादिति त्वयावश्यं गन्तव्यमिति व्यञ्जयितुमाह—यावदिति। मनःकन्दर्पकण्डूमिमामित्यत्र मनस्तृष्णामिमां धृष्टजामिति वा पाठः॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—जानीत इति। मम कंदर्पकण्डूयायां तेन ज्ञातायां कुलाङ्गनायाः परमलज्जावत्या ममाप्रतिष्ठा स्यात्, तस्य च मां प्रत्युपहासः स्वावाम्यप्रकटनं च भविष्यति। अतो मत्सौन्दर्यसौशील्यादिकमेव तदग्रे त्वया वर्णनीयमिति भावः। त्वन्तु मन्मनः कन्दर्पकण्डूं जानास्येव तदपि किंचिद्विवृणोमि शृण्वित्याह—यावदिति। अद्य कृष्णचतुर्थीतिथिः संप्रति सायम्, त्वं चलसि। प्रहरपर्यन्तं मे प्राणाः स्थास्यन्ति, न ततः परत्रेत्यवधिरुक्तः। चन्द्रनामा हतक इति शाकपार्थिवादिः। कुत्सितो हतकः परदुःखदत्वेन व्यर्थजीवनत्वाज्जीवन्मृत इत्यर्थः॥७३॥

अथ ज्योत्स्नायां स्वयमभिसारिका यथा—

इन्दुस्तुन्दिलमण्डलः प्रथयते वृन्दावने चन्द्रिकां
सान्द्रां सुन्दरि नन्दनो व्रजपतेस्त्वद्वीथिमुद्वीक्षते।
त्वं चन्द्राञ्चितचन्दनेन खचिता क्षौमेण चालंकृता
किं वर्त्मन्यरविन्दचारुचरणद्वन्द्वं न सन्धित्स्यसि॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—ज्योत्स्नी अभिसारिका—विशाखा श्रीराधासे कह रही हैं—"सुन्दरि! आज राकापति पूर्वदिशामें उदित होकर बड़ी शुभ किरणोंका विस्तार कर रहे हैं। (काल वैशिष्ट्य) व्रजेन्द्रनन्दन (पात्र वैशिष्ट्य) वृन्दावनमें तुम्हारे पथमें पलक पांवड़ी बिछाए हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम कर्पूरयुक्त चन्दन अङ्गोंमें लगाकर शुक्लवस्त्रोंको धारणकर अरविन्दसे भी अधिक अरुणवर्ण और सुकोमल चरणयुगलोंको उधर चालित क्यों नहीं कर रही हो? यदि कहो सुकोमल चरणोंके कारण कुञ्जकी ओर शीघ्रतापूर्वक नहीं चल सकती हूँ, तो इसलिए मैं कहती हूँ कि शीघ्र ही बिना विलम्ब किए अभी चलनेसे धीरे-धीरे चलनेसे भी उनका सङ्ग पा सकती हो। विलम्ब होनेसे तुम्हें अनुपस्थित देखकर उनके अन्यत्र चले जानेपर तुम दोनोंके लिए महादुःखकी बात होगी॥"७४॥

लोचनरोचनी—क्षौमेण सूक्ष्मातसीतन्तुसंभवेन वस्त्रेण। तच्च प्रायः शुक्लमेव भवतीति तदुपात्तम्॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधामाह—चन्द्रिकां प्रथयते। तेन चन्द्रिका प्रथते प्रशस्तीभवति। "प्रथ ख्यातौ"। त्वद्दर्शनरसास्वादमप्राप्य तथाभूतापि सा व्यर्थायतीति हेतोस्त्वद्वीथिमुच्चीभूय दूरपर्यन्तं वीक्षते। चन्द्राञ्चितेन कर्पूरवता। क्षौमेण सूक्ष्मातसीतन्तुसंभवेन वस्त्रेण। शुक्लपट्टदुकूले क्षौमशब्दप्रसिद्धिरिति केचित्॥७४॥

तामस्यां यथा विदग्धमाधवे (४/२२)—

तिमिरमसिभिः संवीताङ्ग्यः कदम्बवनान्तरे
सखि बकरिपुं पुण्यात्मानः सरन्त्यभिसारिकाः।
तव तु परितो विद्युद्वर्णास्तनुद्युतिसूचयो
हरि हरि घनध्वान्तान्येताः स्ववैरिणि भिन्दते॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—तामसी—विरहकातर श्रीराधाको अपने निकट अभिसार करानेके लिए सुबलको भेजकर स्वयं गोवर्द्धनके कुञ्जमें अवस्थित श्रीकृष्णको लक्ष्यकर अभिसारिणी श्रीराधासे ललिता कहने लगी—"हे सखि! पुण्यवती गोपाङ्गनाएँ अन्धकाररूप कज्जलसे अपने अङ्ग–प्रत्यङ्गको ढककर कदम्बवनमें वकरिपुके निकट अभिसार कर रही हैं, किन्तु तुम्हारी विद्युत् जैसी अङ्गकान्ति ही चारों ओर घनान्धकार राशिको भी भेदकर सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। तुमने नीलवसन तो धारण किया है, किन्तु तुम्हारी उज्ज्वल अङ्गकान्ति उसे भेदकर बाहर प्रकाशित हो रही है। अतएव हे सखि! तुम स्वयं ही अपनी शत्रु हो॥"७५॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीराधामाह—तिमिरेति। तनुद्युतय एव सूचयः वस्त्रसूक्ष्मरन्ध्रान्निर्गच्छन्त्यो घनध्वान्तानि परममित्रायितान्यपि भिन्दते विदारयन्त्यतो हेतोः स्ववैरिणि तव वैरित्वमेवेति व्याजस्तुत्या सर्वतोऽपि सौन्दर्यातिशय उक्तः॥७५॥

अथ वासकसज्जा—

स्ववासकवशात्कान्ते समेष्यति निजं वपुः।
सज्जीकरोति गेहं च या सा वासकसज्जिका॥७६॥

चेष्टा चास्याः स्मरक्रीडा–संकल्पो वर्त्मवीक्षणम्।
सखीविनोदवार्ता च मुहुर्दूतीक्षणादयः॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—वासकसज्जा—अपने अवसरके अनुसार प्रियतम अवश्य आएँगे, ऐसा सोचकर जो नायिका अपने अङ्गोंको तथा कुञ्जको सुसज्जित करती हैं, वे वासकसज्जा कहलाती हैं। इनकी चेष्टाएँ—केलिविनोदका सङ्कल्प, सब समय कान्तके आनेका पथ–निरीक्षण, सखीके साथमें विनोदपूर्वक बातचीत और पुनः–पुनः दूतीके प्रति दृष्टिपात इत्यादि करना है॥७६–७७॥

लोचनरोचनी—स्ववासकवशात् स्वावसरवशात्॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वं वासयतीति स्ववासकः। वशः कान्तिरिच्छा चेति यावत्। त्वं कुञ्जे तावद्वसाहं शीघ्रमेष्यामीति नायकस्येच्छैव नायिकां कुञ्जे वासयतीत्यर्थः।

अतो हेतोः समेष्यति कान्ते या वपुर्गेहं च सज्जीकरोति शृङ्गारोचितवस्तुविशिष्टं करोति सा वासकसज्जेति तेन वासकाद्धेतोः सज्जयतीति व्युत्पत्त्यैव विशेष्यपदस्य नायकस्य, तदिच्छायाश्च, तदागमनभावित्वस्य च, तत्कालस्य च, देहगेहयोः कर्मणोश्चाक्षेपादेव लाभश्च व्यञ्जितः ॥७६॥

यथा—

रतिक्रीडाकुञ्जं कुसुमशयनीयोज्ज्वलरुचिं
वपुः सालंकारं निजमपि विलोक्य स्मितमुखी।
मुहुर्ध्यायं ध्यायं कमपि हरिणा संगमविधिं
समृद्ध्यन्ती राधा मदनमदमाद्यन्मतिरभूत् ॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—दूरसे श्रीमती राधिकाको देखकर श्रीरूपमञ्जरी अपनी सखीको कह रही है—"सखि! देखो श्रीमती राधिका रतिक्रीड़ाके योग्य कुञ्जगृहमें सुन्दर पुष्पसज्जा तथा विविध प्रकारके अलङ्कारोंसे परिमण्डित अपने अङ्गोंका सौन्दर्य देखकर स्वयं ही हास्य कर रही हैं। क्षण-क्षणमें वे ध्यानमें निमग्न होकर श्रीहरिके साथ एक प्रकारकी रतिक्रीड़ाको समृद्ध करनेकी इच्छा कर रही हैं और पुनः-पुनः श्रीकृष्णके आनेके पथको अधीरताके साथ निरीक्षण कर रही हैं। ओह! श्रीमती राधिकाका श्रीकृष्णके प्रति कैसा अलौकिक भाव है?" ॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधां दूराद्विलोकयन्ती श्रीरूपमञ्जरी स्वसखीमाह—रतिक्रीडेति। स्मितमुखीति त्वमद्य स्वकान्तं प्रमोदयितुं योग्यतां धास्यसीति स्ववपुःप्रत्युक्तिव्यञ्जकं स्मितम् ॥७८॥

अथोत्कण्ठिता—

अनागसि प्रियतमे चिरयत्युत्सुका तु या।
विरहोत्कण्ठिता भाववेदिभिः सा समीरिता ॥७९॥

अस्यास्तु चेष्टा हृत्तापो वेपथुर्हेतुतर्कणम्।
अरतिर्वाष्पमोक्षश्च स्वावस्थाकथनादयः ॥८०॥

तात्पर्यानुवाद—उत्कण्ठिता—निरपराध प्रियतमके बहुत देर तक उपस्थित न होनेपर अत्यन्त विरहवशतः जो नायिका अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाती है, उसे रसज्ञ पण्डितगण उत्कण्ठिता कहते हैं। हृदयमें अत्यन्त

तापका होना, शरीरमें कंप, प्रियतम क्यों नहीं आए, उसके लिए विभिन्न प्रकारसे तर्क-वितर्क, अस्वस्ति बोध होना, दीर्घ-निःश्वास, अश्रुपात, अपनी सखियोंके प्रति अपनी स्थितिके सम्बन्धमें कहना—ये सब उत्कण्ठिता नायिकाकी चेष्टाएँ होती हैं॥७९-८०॥

लोचनरोचनी—अनागसीति। सागसि तु मान एव भवति न तूत्कण्ठेति ज्ञापकम्। विरहोत्कण्ठितेति पर्यायान्तरम्॥७९॥

आनन्दचन्द्रिका—अनागसीति। ज्ञात इति शेषोऽत्र देयः। नायकस्य सापराधत्वेऽपि निरपराधत्वज्ञान एवोत्कण्ठा भवेत्। निरपराधत्वेऽपि सापराधत्वज्ञाने मानविप्रलम्भ इति विवेचनीयम्॥७९॥

यथा—

सखि किमभवद्बद्धो राधाकटाक्षगुणैरयं
समरमथवा किं प्रारब्धं सुरारिभिरुद्धुरैः।
अहह बहुलाष्टम्यां प्राचीमुखेऽप्युदिते
विधौ विधुमुखी न यन्मां सस्मार व्रजेश्वरनन्दनः॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—चन्द्रावलीने अपनी प्रिय सखी पद्मासे कहा—"सखि! प्रियतमके आनेमें विलम्ब क्यों हो रहा है? कहीं वे श्रीमती राधिकाके कटाक्ष-रज्जुमें बद्ध तो नहीं हो गए अथवा प्रचण्ड असुरोंके साथमें उनका युद्ध तो आरम्भ नहीं हो गया? मैं कुछ भी समझ नहीं पा रही हूँ। हा! बड़े कष्टकी बात है। आज श्रीकृष्णाष्टमी है। देखो पूर्व दिशामें निशानाथ चन्द्र भी उदित होने जा रहे हैं। प्राणनाथ अभी भी न जाने क्यों मुझे स्मरण नहीं कर रहे?"॥८१॥

लोचनरोचनी—बहुलाष्टम्यां कृष्णाष्टम्याम्॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावली पद्मामाह—सखीति। बहुलाष्टम्यां कृष्णाष्टम्याम्। न सस्मारेति मन्माधुर्यस्य स्मृतिविषयीभूतत्वे तस्य क्वापि स्थातुमशक्तेरिति भावः। यद्वा मम स्मरणमपि न करोति धिङ् मामिति निर्वेदो व्यञ्जितः॥८१॥

वाससज्जादशाशेषे मानस्य विरतावपि।
पारतन्त्र्ये तथा यूनोरुत्कण्ठा स्यादसंगमात्॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—वासकसज्जा दशाके अन्तमें, मानके शान्त हो जानेपर अर्थात् कलहान्तरिता अवस्थामें और नायक दूसरी नायिकाके पराधीन होनेपर सङ्गमके अभावमें—इन तीन समयोंमें उत्कण्ठा होती है॥८२॥

लोचनरोचनी—मानस्य विरतावपीत्यत्रापि पूर्वोक्तेनानागसीत्यनेन न विरोधः। तदाप्यनागस्त्वमननात्॥८२॥

आनन्दचन्द्रिका—वाससज्जेत्यादिना प्रसङ्गेन उत्कण्ठितात्वस्य समयत्रयमुक्तम्। मानस्य विरतौ तु सैवोत्कण्ठिता कलहान्तरिताशब्देनोच्यत इति संप्रदायः॥८२॥

अथ खण्डिता—

उल्लङ्घ्य समयं यस्याः प्रेयानन्योपभोगवान्।
भोगलक्ष्माङ्कितः प्रातरागच्छेत् सा हि खण्डिता।
एषा तु रोषनिःश्वासतूष्णीम्भावादिभाग्भवेत्॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—खण्डिता—पूर्व निर्धारित सङ्केत कालके बीत जानेपर भी जिसके प्रियतम अन्य प्रेयसीके साथ निशा यापनकर उसके भोग चिह्नोंको स्पष्ट रूपसे धारणपूर्वक यदि निशाके अन्तमें उपस्थित होते हैं तो उन्हें देखकर पूर्व नायिका खण्डिता अवस्थाको प्राप्त होती है। क्रोध, दीर्घ निःश्वास छोड़ना, सम्पूर्ण रूपसे मौन साध लेना—इत्यादि खण्डिता नायिकाओंकी चेष्टाएँ होती हैं॥८३॥

आनन्दचन्द्रिका—समयमुल्लङ्घ्य पूर्वसंकेतितागमनकालं व्यतीत्य यस्याः प्रेयान् प्रातरागच्छेत् सा खण्डिता। अत्र रात्रेः प्रथमप्रहरमध्य एवागमिष्यामीत्युक्त्वा कदाचिदर्द्धरात्रमध्येऽप्यागमने खण्डिता माभूदिति प्रातरिति पदम्। तथा नायकस्य लुप्तोपभोगचिह्नत्वे दृष्टे सा मा भूदिति भोगलक्ष्माङ्कित इति पदम्। भोगलक्ष्मणामपि स्वपरिहासार्थकत्वेन कृत्रिमत्वे ज्ञाते खण्डिता न भवेदित्यन्योपभोगवानिति पदम्। नायिकया स्वकान्तस्यान्यसंभोगो यदि संभाव्यते तदैव नान्यथेत्यर्थः॥८३॥

यथा—

यावैर्धूमलितं शिरो भुजतटीं ताडङ्कमुद्राङ्कितां
संक्रान्तस्तनकुंकुमोज्ज्वलमुरो मालां परिम्लापि ताम्।
घूर्णाकुड्मलिते दृशौ व्रजपतेर्दृष्ट्वा प्रगे श्यामला
चित्ते रुद्रगुणं मुखे तु सुमुखी भेजे मुनीनां व्रतम्॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—श्यामासखी बकुलमाला सखीसे कह रही है—"हे देवि! आज निशान्त कालमें गोपाङ्गना-रतितस्कर श्रीकृष्ण अपने मस्तकपर अन्य नायिकाके चरणोंके महावरका राग धारणकर नीललोहित रुद्ररूपमें, बाहुमूलमें उसके कर्णभूषणका चिह्न, वक्षस्थलमें उसका स्तन-कुङ्कुम, गलेमें उसके अङ्गोंसे दलित पुष्पमाला धारणकर तथा जागरणके कारण विघूर्णित और ईषद्-उन्मिलित नेत्रोंसे देखते हुए आनेपर श्यामला क्रोधसे भर गईं तथा मुखके द्वारा सुमुखी होनेपर भी पूर्ण रूपसे मौनव्रत धारण कर लिया॥"८४॥

लोचनरोचनी—व्रजपतेरित्यत्र मुररिपोरिति वा पाठः। प्रगे प्रातः॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामासखी बकुलमालासखीं पृच्छन्तीं काञ्चिदाह—यावैरिति। धूमलितं कृष्णलोहितीकृतम्। ताटङ्कं कुण्डलम्। व्रजपतेरिति। प्रकरणवशाद्व्रजशब्दोऽयं समूहवाची। परःसहस्रस्त्रीजनोपभोक्तुरित्यर्थः। तस्मिन्नेतत्सर्वं नाश्चर्यमिति भावः। रुद्रगुणं क्रोधं तेन तत्सूचकं मुखवैवर्ण्यं नयनारुण्यं च तस्यास्तदाविर्भूतमिति भावः। मुनीनां व्रतं मौनम्। इयं धीराधीरप्रगल्भा ज्ञेया॥८४॥

अथ विप्रलब्धा—

कृत्वा संकेतमप्राप्ते दैवाज्जीवितवल्लभे।
व्यथामानान्तरा प्रोक्ता विप्रलब्धा मनीषिभिः।
निर्वेदचिन्ताखेदाश्रुमूर्च्छानिःश्वसितादिभाक् ॥८५॥

तात्पर्यानुवाद—विप्रलब्धा—सङ्केत करके भी प्राणनाथके उपस्थित न होनेपर जो नायिका अत्यन्त व्यथित होती है, उसीको रसज्ञ पण्डितलोग विप्रलब्धा कहते हैं। उदास होना, चिन्ता, खेद, अश्रु, मूर्च्छा, दीर्घनिःश्वास परित्याग आदि विप्रलब्धा नायिकाओंकी चेष्टाएँ हैं॥८५॥

लोचनरोचनी—विप्रलब्धा कान्तेन कारणान्तराद्वञ्चितेति यौगिकार्थः॥८५॥

आनन्दचन्द्रिका—अप्राप्ते इति। अप्राप्ते निर्धारे ज्ञाते सतीति व्याख्येयम्॥८५॥

यथा—

विन्दति स्म दिवमिन्दुरिन्दिरा नायकेन सखि वञ्चिता वयम्।
कुर्महे किमिह शाधि सादरं द्रागिति क्लममगान्मृगेक्षणा॥८६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाने विशाखासे कहा—"सखि! चन्द्रमाके उदित होनेसे श्रीकृष्णके आगमनका काल व्यतीत हो गया। ऐसा अनुमान हो रहा है कि वे किसी अत्यन्त सुन्दर रमणीके जालमें फँस चुके हैं। अब फिर हम वनचरी गोपियोंकी आवश्यकता ही उनके लिए क्या है? इसलिए हमलोगोंकी उन्होंने उपेक्षा की। अतएव प्रिय प्राणनाथके द्वारा अनादृत होकर जीवन धारण करनेकी आवश्यकता ही क्या है? अब मेरी मृत्युका उपाय बतलाओ, जिससे मैं सहज ही मर जाऊँ।" यह कहते ही मृगनयनी श्रीमती राधिका मूर्च्छित हो पड़ीं॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—विन्दतीति। तेनावधिसमयो व्यतीत इति भावः। इन्दिरा नायकेनेति। काचिल्लक्ष्मीस्तेनाद्य प्राप्ता ततः किमस्माभिस्तस्येति भावः। सादरं यथा स्यात्तथा शाधि। यत्र शिक्षणे ममादरस्तिष्ठति तद्ब्रूहीति भावः। तेनातःपरं प्राणधारणे ममानादर एवेति मरणमेव ज्ञापय न तु जीवनमिति भावः॥८६॥

अथ कलहान्तरिता—

या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा।
निरस्य पश्चात्तपति कलहान्तरिता हि सा।
अस्याः प्रलाप-संताप-ग्लानि-निःश्वसितादयः॥८७॥

तात्पर्यानुवाद—कलहान्तरिता—जो नायिका सखियोंके सामने अपने पदानत वल्लभको परित्यागकर पीछे अत्यन्त अनुताप अनुभव करती है, उसे कलहान्तरिता कहा जाता है। प्रलाप, सन्ताप, ग्लानि, दीर्घनिःश्वास त्याग इत्यादि कलहान्तरिता नायिकाओंकी चेष्टाएँ हैं॥८७॥

लोचनरोचनी—सखीनां पुर इति। निर्जने तु मानः स्थातुं न शक्नोतीत्य-भिप्रायात्॥८७॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता कलहाद्बहिर्भूता। त्यक्तकलहेत्यर्थः। "अन्तरमवकाशा-वधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च॥" इत्यमरः। कलहेनान्तरं भेदो जातो यस्या इत्यर्थे इति च। त्यक्तकलहेत्यर्थः॥८७॥

यथा—

स्रजः क्षिप्ता दूरे स्वयमुपहृताः केशिरिपुणा
प्रिया वाचस्तस्य श्रुतिपरिसरान्तेऽपि न कृताः।

नमन्नेष क्षोणीविलुठितशिखं प्रैक्षि न मया
मनस्तेनेदं मे स्फुटति पुटपाकार्पितमिव॥८८॥

तात्पर्यानुवाद—वञ्चना-पटु श्रीकृष्णको अपने निकट आया देख तथा उनके द्वारा चरणोंको छूकर नाना प्रकारसे अनुनय-विनय करनेपर भी, कठोर वचनोंसे फटकारकर श्रीमती राधिकाने उनको वहाँसे दूर कर दिया। तत्पश्चात् प्राणेश्वरके अन्यत्र गमन करनेपर वे अपने कठोर व्यवहारका स्मरणकर विलाप करती हुई कहने लगी—"सखियो! देखो! हमारा कैसा दुर्भाग्य है? केशीमथनने स्वयं अपने हाथोंसे गूँथकर यह माला मुझे उपहारमें दी थी, किन्तु मैंने अवज्ञाकर उसे दूर फेंक दिया। मैंने उनके अनुनय-विनयपूर्वक चाटुवचनोंको कर्णपात नहीं किया। उन्होंने मेरे चरणोंमें लोटकर नमस्कार भी किया। इस पर भी मैंने उनकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। इसलिए इन्हीं अपराधोंके कारण मेरा मन अत्यन्त उतप्त हो रहा है॥"८८॥

आनन्दचन्द्रिका—राधा स्वगतमाह—स्रज इति। पुटे मूष इति ख्याते मृण्मयपात्रे। पाकार्थमर्पितं स्वर्णरजतादिवस्त्विवेत्यर्थः॥८८॥

अथ प्रोषितभर्तृका—

दूरदेशं गते कान्ते भवेत्प्रोषितभर्तृका।
प्रियसंकीर्तनं दैन्यमस्यास्तानवजागरौ।
मालिन्यमनवस्थानं जाड्यचिन्तादयो मताः॥८९॥

यथा—

विलासी स्वच्छन्दं वसति मथुरायां मधुरिपु-
र्वसन्तः सन्तापं प्रथयति समन्तादनुपदम्।
दुराशेयं वैरिण्यहह मदभीष्टोद्यमविधौ
विधत्ते प्रत्यूहं किमिह भविता हन्त शरणम्॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—प्रोषितभर्तृका—श्रीकृष्णके दूर देश अर्थात् मथुरा या द्वारकामें गमन करनेपर जो विरहिणी कान्ता उनके आगमन पथको सदा देखती रहती है, उसको प्रोषितभर्तृका नायिका कहते हैं। प्रियतमके

गुणोंका कीर्त्तन, दैन्य, कृशता, जागरण, मालिन्य, और जाड्य इत्यादि प्रोषितभर्तृका नायिकाओंकी चेष्टाएँ होती हैं॥८९॥

उदाहरण—श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर उनके सुदीर्घ विरहसे क्षुब्ध होकर अत्यन्त विषादसे श्रीमती राधिकाने कहा—"ललिते! अहो! अब मैं क्या करूँ? मधुरिपु स्वच्छन्द रूपसे विलासपरतन्त्र होकर मधुपुरीमें अवस्थान करने लगे। इधर, मैं अब वसन्तका सन्ताप किसी प्रकार भी सह नहीं पाती। वह मुझे सब प्रकारसे पग-पगपर परितप्त कर रहा है। हाय! हाय!! अब देहत्याग करना मेरा अभीष्ट होनेपर भी 'श्रीकृष्ण शीघ्र ही आएँगे'—यह दुराशा विघ्न उत्पन्न कर रही है। हाय! इस विषम दशामें मैं किसका आश्रय ग्रहण करूँ? कौन मेरी रक्षा करेगा?"॥९०॥

लोचनरोचनी—प्रोषितभर्तृकादिद्वये भर्तृशब्दप्रयोगो दाम्पत्यस्यैवाङ्गिनि रसे रसशास्त्रकर्तृभिः स्वीकृतत्वाद् युक्त एव। अतएव वासकसज्जायां गेहशब्दः प्रयुक्तः। नहि भर्तृशब्देन जारोऽपि वाच्यते। चौरस्वामिनोरेकार्थत्वासंभवात्। अन्यथा स्वाधीनपतिकादिशब्दवत् क्वचित् स्वाधीनजारेत्यपि प्रयुज्यते। अश्लीलत्वाज्जारेऽपि तच्छब्दो न प्रयुज्यते। किं तु भर्त्रादिशब्द इति चेत् हन्त हन्त यस्य शब्दप्रयोगेणाप्यश्लीलतापद्यते तदर्थप्रयोगस्य सुतरामेव विरसतापादकत्वं स्यात्। न च वक्तव्यं दाम्पत्येऽप्यभिसारो न संभवति गृह एव मिथो नित्यप्राप्तेः बहुप्रबलसपत्नीसंरुढ़त्वे दक्षिणस्य नायकस्य बहुलगुर्वादिजनसंकटत्वेन लज्जालोः कस्याश्चिदनुरागिण्या एकान्ते समाह्वानं तां तां प्रति गमनं च संभवतीति। न च वक्तव्यं स्वगृहात् समाह्वानं सर्वेणैव ज्ञास्यत इत्यलं तत्प्रक्रिययेति परगृहात्तदाधिक्यापत्तेः, यया चातुर्य्या तत्र गोपनं स्यात्तयैवात्र संभवाच्च। तस्माद् व्रजयुवराजस्य समृद्धिमदाख्यसंभोगलीलायामभिसारलीला संभवत्येव। यथा ललितमाधवे चन्द्रावलीतः शङ्कया श्रीराधायाः श्रीकृष्णपार्श्वाय गुप्त्या मुहुर्गमनं वर्णितम्। तस्माद्भर्तृत्वे चौपपत्याभासे चास्त्येव तादृशलीलेति नान्यथा मन्तव्यम्॥८९-९०॥

आनन्दचन्द्रिका—दूरदेशं मथुरां द्वारकाञ्च। अत्र प्रोषितभर्तृकास्वाधीनभर्तृकयोः परकीयात्वं केचिन्न मन्यन्ते भर्तृशब्देन जारस्य वाचयितुमशक्यत्वात्तथैकत्र तच्छब्दलिङ्गेनाष्टावप्यवस्थाः स्वकीयाया एवाभिप्रेता इति व्याचक्षते। तदसंगतम्। "पूर्वं याः पञ्चदशधा प्रोक्तास्तासां शतं तथा। विंशतिश्चाभिरत्र स्यादवस्थाभिः किलाष्टभिः॥" इत्यग्रे पञ्चदशानामेवावस्थाष्टकस्य परिगणनात् परकीयां विना पञ्चदशत्वायोगात्। न च परकीयाणामप्यासां राधाचन्द्रावल्यादीनां कृष्णेन सह विवाहस्य भावित्वाद्भर्तृशब्दप्रयोग

इति वाच्यम्। विवाहस्य भावित्वे स्पष्टतया क्वाप्यार्षस्य प्रमाणस्याभावात्। न च पाद्मोत्तरखण्डे दन्तवक्रवधान्तप्रकरणदृष्ट्या तथा "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।" इति प्रथमस्कन्धोक्त्या च व्रजागतस्य कृष्णस्य पित्रोरभिलाषपूर्त्यर्थं विवाह आवश्यक इति वाच्यम्। पूर्वमक्रूरागमनकाले श्रीकृष्णस्य शेषकैशोरे स्थितस्यापि पितृभ्यां यथा तस्य पौगण्डानतिक्रम एव दृष्ट आसीत्तथैव दन्तवक्रवधानन्तरमप्यागतस्य तस्य तस्मिन्नेव वयसि दृष्टे नाधुनाप्यस्य विवाहे समय इति तदानीमपि पित्रोर्विवाहदानानभिलाषस्यैव युक्तिसिद्धत्वात्। अतएव तत्र कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्येति गद्यान्ते "गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास माधवः।" इत्यादिषु गोपनारीपदप्रयोग इति। तर्हि स्वाधीनभर्तृका प्रोषितभर्तृकयोर्भर्तृशब्दप्रयोगे किं बीजमिति चेत्, उच्यते। सर्वत्रैवालंकारशास्त्रे प्राचीनेऽर्वाचीने वा पत्युपपत्योरेव भर्तृशब्दप्रयोगो दृष्ट एव। यथा रसमञ्जर्याम्—इयं परकीया स्वाधीनभर्तृकेति, इयं वेश्या स्वाधीनभर्तृकेत्यादिकं बहुतरमेवास्ति, युक्तिस्तु देवोपदेवेषु पूजयितव्येषु देवेभ्यो नम इतिवदिति पूर्वमुक्तैव। तथा लोके प्राकृत्योऽपि नायिका योऽयं मे गृहे वर्तते स एष मद्यौवनरूपलावण्यवैदग्ध्यभोगानभिज्ञो नाम्नैव भर्ता त्वया त्वानेष्यमाणो मे सत्य एव भर्ता पतिः स्वामीत्यादिकं दूतीं प्रति वदन्ति, तथोपनायकस्य परोक्षं तस्मिन्नार्यपुत्रादिप्रयोगमपि कुर्वन्तीति दिक्॥८९॥

श्रीराधा ललितामाह—विलासीति। तत्र विलासस्य सदा प्राप्तत्वे कथमत्रागमिष्यतीति भावः। अतोऽभीष्टं मे मरणम्। प्रत्यूहं विघ्नम्॥९०॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—

स्वायत्ताऽऽसन्नदयिता भवेत् स्वाधीनभर्तृका।
सलिलारण्यविक्रीडा–कुसुमावचयादिकृत् ॥९१॥

तात्पर्यानुवाद—स्वाधीनभर्तृका—कान्त सदा-सर्वदा अधीन रहकर जिसके समीप निवास करते हैं, उसे स्वाधीनभर्तृका कहते हैं। स्वाधीनभर्तृकामें जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, पुष्पचयन इत्यादि चेष्टाएँ होती हैं॥९१॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वाायत्तः स्वाधीनः, आसन्नो निकटवर्ती दयितो यस्याः सा॥९१॥

यथा—

मुदा कुर्वन् पत्रांकुरमनुपमं पीनकुचयोः
श्रुतिद्वन्द्वे गन्धाहृतमधुपमिन्दीवरयुगम्।

सखेलं धम्मिल्लोपरि च कमलं कोमलमसौ
निराबाधां राधां रमयति चिरं केशिदमनः॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—रहोविलासके समय धृष्टताहेतु स्खलित-भूषणा श्रीराधाको चित्रपत्रभङ्गादि रचनाके द्वारा सुसज्जित करते हुए श्रीकृष्णको देखकर वृन्दा आनन्दोल्लासपूर्वक पौर्णमासीजीसे निवेदन कर रही है—"आज केशीदमन श्रीकृष्णने श्रीमती राधिकाके प्रेमाधीन होकर उनके पीनपयोधरके ऊपर निरुपम पत्रावलीकी रचना की। उनके कानोंमें कर्णभूषणके रूपमें कमलपुष्प पहनाए, जिसकी सुगन्धसे मधुपवृन्द झुण्डके झुण्ड आकर्षित हुए और कौतुकके साथ उनके जूड़ेके ऊपर कमलको समर्पणकर निर्बाधरूपसे बहुत देर तक उनके साथ रमण किया॥"९२॥

लोचनरोचनी—केशिदमन इति। पूर्ववत्॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासीं प्रति वृन्दाह—मुदेति॥९२॥

यथा वा श्रीगीतगोविन्दे (१२/२५)—

रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो-
र्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कबरीभरम्।
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुरा-
विति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत्॥९३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें श्रीराधाजीकी आज्ञाके बिना ही श्रीकृष्ण कृत श्रीराधाजीकी अङ्गभूषा-प्रसङ्गका उदाहरण देकर इस पद्यमें श्रीराधाजीके आदेशसे उनके अङ्गोंको अलंकृत करनेका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—श्रीकृष्णके सहित रहोविलासमें श्रीराधाजीके अङ्गोंके भूषण च्युत हो जानेपर श्रीकृष्ण उन्हें पुनः सुसज्जित कर रहे हैं, इसे अनुभव कर कवि कह रहे हैं—"हे प्राणेश्वर! तुम मेरे स्तनोंमें कस्तूरी-पत्रकी रचना करो, कपोलोंमें चन्दन बिन्दु प्रदान करो, मेरे जन्घोंपर मणिमय मेखला प्रदान करो, पुष्पमाला द्वारा कवरीको सुशोभित करो, दोनों हाथोंमें पुष्पोंके वलय पहनाओ, चरणोंमें नूपुर पहनाओ"—श्रीमतीके इस प्रकार आदेश करनेपर पीताम्बर श्रीकृष्णने बड़े प्रसन्न होकर उनकी आज्ञाका पालन किया॥९३॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकाधीनत्वं न शब्दोपात्तमित्यत आह—यथा वेति॥९३॥

चेदियं प्रेयसा हातुं क्षणमप्यतिदुःशका।
परमप्रेमवश्यत्वान्माधवीति तदोच्यते ॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—माधवी—जिस स्वाधीनभर्तृका नायिकाके प्रेममें वशीभूत होकर श्रीकृष्ण एक क्षणके लिए उसका त्याग करनेमें समर्थ न हों, उसे माधवी कहा जाता है॥९४॥

हृष्टाः स्वाधीनपतिका वाससज्जाभिसारिकाः।
मण्डिताश्च पराः पञ्च खिन्ना मण्डनवर्जिताः।
वामगण्डाश्रितकराश्चिन्तासन्तप्तमानसाः ॥९५॥

उत्तमा मध्यमा चात्र कनिष्ठा चेति तास्त्रिधा।
व्रजेन्द्रनन्दने प्रेम तारतम्येन कीर्तिताः ॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—आठ प्रकारकी नायिकाओंमेंसे स्वाधीनभर्तृका, वासकसज्जा, अभिसारिका—ये तीनों सर्वदा अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहती हैं। वे नाना प्रकारके अलङ्कारों और वेशभूषा इत्यादिके द्वारा सुशोभित रहती हैं। दूसरी ओर विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, प्रोषितभर्तृका और कलहान्तरिता—ये पाँच प्रकारकी नायिकाएँ दुःखी रहती हैं। अङ्गोंमें भूषण धारण नहीं करतीं, अपने बाएँ गालपर हाथोंको रखकर अत्यन्त खेद करती हैं तथा चिन्तासे बड़ी व्याकुल रहती हैं। पूर्वोक्त नायिकाओंमेंसे व्रजेन्द्रनन्दनके प्रति प्रेमके तारतम्यसे ज्येष्ठा, मध्यमा और कनिष्ठा आदि विविध प्रकारके भेद होते हैं। उत्तमा नायिकाओंमेंसे श्रीकृष्णके प्रति जिनका जैसा भाव होता है, श्रीकृष्णकी भी उनके प्रति वैसी ही प्रीति होती है॥९५—९६॥

लोचनरोचनी—उत्तमादित्रयो भेदा वस्तुविचारेण गणत्रयात्मकत्वात्। पूर्वोक्तं ज्येष्ठादि भेदद्वयं तु पारस्परिकापेक्षया सर्वेष्वपि तेषु संभवतीति व्यवहारमात्रात्मकत्वादिति ज्ञेयम्॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तानां सर्वासां पुनर्भेदत्रयमाह—उत्तमेति। प्रेमतारतम्येनेति प्रेमशब्देनात्र प्रेमपरिणामः, स्नेहादयो महाभावपर्यन्ता अप्युच्यन्ते। ननु ज्येष्ठाकनिष्ठे

पूर्वं न नायिकामध्ये गणिते, इदानीमुत्तमामध्यमाकनिष्ठा गण्यन्ते। व्रजेन्द्रनन्दने प्रेमतारतम्येनेत्यासां लक्षणम्। तत्रापि नायकप्रणयं प्रतीत्यूक्तमतो लक्षणस्यैकार्थ्यात्तयोरगणने, एतासां गणने च किं बीजमिति चेत्, उच्यते—इयमितः सकाशात् प्रेम्णा ज्येष्ठा, इयमितः सकाशात् प्रेम्णा कनिष्ठेति परस्परापेक्षा चेद् विवक्ष्यते तदा सर्वासामेवापेक्षिकं ज्येष्ठत्वं कनिष्ठत्वं चेति न गणनसंभवः। अत एव तत्रोदाहरणफलदर्शनेन ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्व-ज्ञापनार्थं द्वे द्वे एव नायिके उपन्यस्ते। अत्र तु प्रेम्णा इयमुत्तमत्वजातिमतीयं मध्यमत्व-जातिमतीत्येवं विवक्ष्यते। न तु इयमितः सकाशादुत्तमेति मध्यमायां तथा विवक्षानुपपत्तेर्न हीयमितः सकाशान्मध्यमेति केनचित् प्रयुज्यते। नन्वियमाभ्यामापेक्षिकोत्तमा-कनिष्ठाभ्यां सकाशान्मध्यमेति शक्यत एव वक्तुम्? मैवम्। तदपि मध्यमाया उत्तमातः कनिष्ठत्वं कनिष्ठाया उत्तमत्वमित्यवश्यमेव वक्तव्यम्। तथा सति मध्यमाया वैयर्थ्यमेवातोऽत्र मध्यमापदप्रयोगादापेक्षिकत्वविवक्षा निरस्तेत्येता युज्यन्ते एव नायिकाभेदगणना इति सर्वमवदातम्॥९६॥

भावः स्यादुत्तमादीनां यस्या यावान् प्रिये हरौ।
तस्यापि तस्यां तावान् स्यादिति सर्वत्र युज्यते॥९७॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि उभयनिष्ठ प्रेम ही उत्तमता आदिका हेतु हो, किन्तु केवल गोपियोंके श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमके तारतम्यसे क्यों उत्तम आदिका व्यवहार होगा? इसकी मीमांसा करते हुए कहते हैं कि उत्तम आदि नायिकाओंके श्रीकृष्ण-विषयमें जिसका जिस परिमाणमें, जिस जातिका भाव होता है, श्रीकृष्णका भी उसी प्रकारसे उनके विषयमें उसी परिमाणमें भाव होता है॥९७॥

आनन्दचन्द्रिका—यावानिति भावस्य प्रमाणमुक्तम्। जातिमपि क्रोडीकुर्यादेव "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति श्रीमुखवाक्यप्रसिद्धेः॥९७॥

तत्रोत्तमा यथा—

कर्तुं शर्म क्षणिकमपि मे साध्यमुज्झत्यशेषं
चित्तोत्सङ्गे न भजति मया दत्तखेदाप्यसूयाम्।
श्रुत्वा चान्तर्विदलति मृषाप्यार्तिवार्तालवं मे
राधा मूर्धन्यखिलसुदृशां राजते सद्गुणेन॥९८॥

तात्पर्यानुवाद—उत्तमा—श्रीकृष्णने सुबलसे कहा—"सखे! मेरे प्रति श्रीमती राधिकाकी कैसी आश्चर्यजनक प्रीति है? मैं उसे वर्णन नहीं

कर सकता। एक क्षणभरके लिए भी मेरे प्रीति–विधानके लिए अपने सारे कार्योंको छोड़ देती हैं। मेरे द्वारा उन्हें दुःख दिए जानेपर भी उनके हृदयमें विद्वेष उत्पन्न नहीं होता और यदि कोई झूठमूठ मेरी किञ्चित् पीड़ाकी बात उनसे कहता है, तो उनका हृदय विदीर्ण होने लगता है। वे उसे सह नहीं पातीं। अतः सभी गुणोंमें श्रीमती राधिका सभी मृगनयनियोंके मस्तकपर विराजमान हो रही हैं॥"९८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलं प्रत्याह—कर्तुमिति। मे मम एकक्षणपर्यन्तमपि सुखं कर्तुम् आत्मनोऽशेषं व्यावहारिकं लाभप्रतिष्ठादैहिकसुखशयनभोजनादि–प्राणधारणपर्यन्तं पारमार्थिकं देवब्राह्मणसेवादिकं साध्यं त्यजतीत्ययं रागः। यदुक्तम्—"स्नेहः स रागो यत्र स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम्। तत्संबन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि॥" इति। मया दत्तखेदा प्रीतिः प्रेमा। यदुक्तम्—"सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे। यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमेति निगद्यते॥" अन्तर्विदलति विदीर्यतीति रुढ़ो भावः। यदुक्तं तमोवाधिकृत्य—"तत्सौख्येऽप्यार्तिवार्तया खिन्नत्वम्" इति क्रमेणात्र पद्ये रागप्रेममहाभावानामशेषमिति मयेति मृषेति पदैर्जात्याधिक्यमपि त्रयेण प्रमाणाधिक्यं च विवेचनीयम्॥९८॥

मध्यमा यथा—

दुर्मानमेव मनसा वहु मानयन्ती किं ज्ञात कृष्ण हृदयार्तिरपि प्रयासि।
रङ्गे तरङ्गदखिलाङ्गि वराङ्गनानां नासौ प्रिये सखि भवत्यनुरागमुद्रा॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—मध्यमा—रङ्गा नामक किसी यूथेश्वरीके प्रति उसकी सखी कह रही है—"हे रङ्गे! आज क्रोधके मारे तुम्हारे अङ्ग तरङ्गोंकी भाँति काँप रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम आज दुष्ट मानको ही सम्मानित कर रही हो। प्रीतमके हृदयकी व्यथासे अवगत होनेपर भी तुम उनको छोड़कर चली जा रही हो। बड़े आश्चर्यकी बात है। क्या यही श्रेष्ठ रमणियोंके अनुरागका लक्षण है? मेरी समझमें ऐसा व्यवहार करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।"

उक्त उदाहरणका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी पीड़ाकी वार्त्ता श्रवणकर भी चित्त द्रवित न होनेके कारण मध्यमा नायिका नायकको छोड़कर चली जाती है। उल्लिखित नायिकाके मनमें यह विचार उपस्थित हुआ कि मैंने तो श्रीकृष्णकी पीड़ाको सुनते ही सम्पूर्ण रूपसे अपने

मानका विसर्जन कर दिया है, किन्तु मैं दो-तीन क्षणोंके पश्चात् ही फिरसे अपनी प्रसन्नता प्रकाश करूँगी। इतनी देर तक वे मेरे विच्छेदसे कुछ दुःख अनुभव करें, जिससे वे फिर इस प्रकार अन्याय न करें—यह मध्यमा नायिकाका लक्षण है॥९९॥

लोचनरोचनी—हे रङ्गे रङ्गानाम्नि॥९९॥

आनन्दचन्द्रिका—रङ्गानाम्न्या यूथेश्वर्याः सखी काचित्तामाह—हे रङ्गे! तरङ्गन्ति रोषात्तरङ्गायमाणान्यखिलान्यङ्गानि यस्याः। हे तथाभूते, इति श्रीकृष्णस्य कष्टांशज्ञानेऽप्यस्याश्चित्तद्रवाभाव एव प्रेम्णो मध्यमत्वं व्यनक्तीति भावः। वस्तुतस्त्वस्याश्चित्ते एवं विचारः—अहं त्वस्य कष्टश्रवणकाल एव मानं संपूर्णमत्यजमेव, किन्तु द्वित्रिक्षणानन्तरमेव स्वप्रसादं व्यक्तीकरिष्यामि तावदयं मद्विच्छेददुःखमनुभवतु यथा पुनर्नैवं करोतीत्यतोऽस्या न समर्थायां रतौ व्यभिचारः शङ्कनीयः। किन्तु स्नेहस्य जातिप्रमाणाभ्यामत्याधिक्ये सत्येष विचार एव मनसि नोद्भवतीत्यतोऽस्या मध्यमात्वमेव॥९९॥

कनिष्ठा यथा—

दनुजभिदभिसारप्रस्तुतौ वृष्टिमुग्रां
जनगमनविरामादन्यदाः स्तौषि तुष्टा।
कथय कथमिदानीं जृम्भते मेघडिम्भे
कुतुकिनि बत कुञ्जे प्रस्थितौ मन्थरासि॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—कनिष्ठा—प्रिय सखियोंके तिरस्कारसे मान कुछ शिथिल होनेपर भी कोई व्रजदेवी श्रीकृष्णके द्वारा किए गए अपराधका स्मरणकर अपने हृदयके खेदको सम्पूर्ण रूपसे त्याग नहीं कर सकी, फिर भी उसके प्रति स्पृहावशतः श्रीकृष्णने वृन्दाको उसे बुलानेके लिए भेजा। यह नायिका धीरमध्या होनेके कारण छलसे वृन्दादेवीके कहनेपर भी श्रीकृष्णसे मिलनके लिए कुञ्जमें जानेके लिए आनाकानी करने लगी। उसी छलका उल्लेखकर उसका तिरस्कार करती हुई वृन्दा कहने लगी—"हे सखि! अन्य समयमें (श्रीकृष्णकृत अपराधसे पहले) श्रीकृष्णके निकट अभिसारके लिए प्रस्तुत होनेपर भी लोकजनसे भीत अति वृष्टिका स्तव करके ही तुम सन्तुष्ट हो गई। कहो तो, हे कौतुकिनि! इस समय थोड़े-से मेघोंको देख करके ही अब जानेमें अनिच्छुक हो गई।"

यहाँ मानके विराममें भी श्रीकृष्णके अभीष्ट सम्पादनमें शिथिलता हेतु कनिष्ठ प्रेमके कारण इसका कनिष्ठत्व ही प्रतिपन्न हुआ।

इसका यह तात्पर्य है कि कनिष्ठा नायिकाका मान शिथिल होनेपर भी कुछ वृष्टि देखते ही अभिसारके लिए प्रस्तुत होनेपर भी कोई रास्तेमें देख न ले इस आशङ्कासे अभिसारके लिए उसकी इच्छा दमित हो जाती है। अथवा आकाशमें थोड़े-से मेघोंको देखकर भी अभिसार करनेमें वह अनिच्छुक हो जाती है। यह प्रेमका शुद्ध लक्षण नहीं है। उक्त अभिसारिका नायिकाके हृदयमें—"वर्षालु मेघ कुछ देर तक ही रहेंगे; फिर वृष्टिके द्वारा अपने वसन-भूषणोंको मैं क्यों भिगाऊँ। कुछ विलम्ब होनेमें क्या हर्ज है? मेघ छट जानेपर मैं अभिसार करूँगी"—इन भावोंके कारण श्रीकृष्णके प्रति उसकी प्रीतिकी अल्पता सूचित होती है। अतएव ऐसी नायिकाओंको कनिष्ठा कहते हैं॥१००॥

लोचनरोचनी—उच्चकैरित्यत्रान्यदेति पाठान्तरम्। अथोत्तमादि त्रयस्योदाहरणत्रयमिदं विप्रतिपद्यते। तत्रोत्तमोदाहरणे यथा, ननु कर्तुं शर्मेत्यन्येषां रतिमात्रेऽपि संभवति। यथोक्तं पूर्वग्रन्थे रतिलक्षणे—"क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता।" यथा प्रथमे। "तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः" इत्यादि। यथा "चित्तोत्सङ्गे" इत्यादिकं प्रेममात्रेऽपि घटते। ह्रासशङ्काच्युतेत्यादिना प्रेमलक्षणमुक्त्वा तदुदाहृतम्—"अणिमादिसौख्यवीचिमवीचिं दुःखप्रवाहं वा नय मां विकृतिर्नाहं मे त्वत्पादकमलावलम्बनस्य" इति श्रुत्वा चान्तरिति स्नेहमात्रेऽपियुज्यते। "सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते। क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता॥" यथा—"दन्तेन बाष्पाम्बुझरस्य" इत्यादिना। तदेवं स्वभावत एवात्रेदृशो विकार श्चेदार्तिवार्ताश्रवणे तु कैमुत्यमेवापद्यते। तथा मध्यमोदाहरणे दुर्माणमेवेत्यादि दर्शितम्। मानचरित्रं श्रीराधायामपि दृश्यते। यथा विदग्धमाधवे तद्वाक्यम्—"कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो मल्लीदाम निकामपथ्यवचसे सख्यै रुषः कल्पिताः। क्षौणीलग्नशिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नीक्षितः स्वान्तं हन्त ममाद्य तेन खदिराङ्गारेण दन्दह्यते॥" इति। न त्वत्र मानस्य मनसा बहुमाननं किं तु बहिश्चेष्टयैव। यतः स्वान्तमित्यनेन स्वान्तस्य भावोऽन्यथैव प्रतिपादितः। यद्येवं तर्हिं परमप्रेमवतीनां सर्वासामेव व्रजदेवीनां तदित्थमेव संभवति न तु मानस्य मनसा बहुमाननेन। तथा दुर्मानमित्यादि सखीनां शिक्षाचरणमिदं प्रणयरोषमयमिति किंचिदधिकमप्यारोपयत् प्रवृत्तम्। ततोऽस्या न तादृशत्वं मन्तव्यम्। तथा कनिष्ठोदाहरणे दनुजभिदित्यादिरीतिः श्रीव्रजदेव्यां कस्यांचिदपि न युज्यते। रागमात्रोदाहरणे भक्तान्तरेष्वपि तदसंप्रतिपत्तेः। यथोक्तम्—"स्नेहः सरागो यत्र स्यात्

सुखं दुःखमपि स्फुटम्। तत्संबन्ध लवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि॥" यथा—"गुरुरपि भुजगाद्भीस्तक्षकात्प्राज्यराज्यच्युतिरतिशयिनी च प्रायचर्या च गुर्वी। अतनुत मुदमुच्चैःकृष्णलीला सुधान्तर्विहरणसचिवत्वादौत्तरेयस्य राज्ञः॥" इति। तस्मादधिरूढ-महाभावपर्यन्तगतानां तासां तत्तदुदाहरणं नोचितमिति। उच्यते आरब्धजिज्ञासानामापातबोधार्थमेव तत्तदुदाहरणं विशेषजिज्ञासानां स्थायिप्रकरण एव तत्तत्तारतम्यं सुष्ठु व्यक्तीकर्तव्यमिति। तत्रोत्तमोदाहरणं प्रेमैकांशमवलम्ब्य कृतं, मध्यमोदाहरणं सख्युपालम्भांशमवलम्ब्य, कनिष्ठोदाहरणं तद्वाम्यव्यञ्जितांशमवलम्ब्येति ज्ञेयम्॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—कांचिदभिसर्तुमिच्छन्तीं त्वरयन्ती वृन्दा प्राह—दनुजेति। "जृम्भिते मेघडिम्भे" इत्यादिभिस्त्वस्या रागव्यभिचारव्यञ्जक उपालम्भो वाम्यविघातार्थ इति ज्ञेयम्। वस्तुतस्त्वस्या मनस्येवं विचारः—प्रत्यासन्नोऽयं वर्षुको मेघडिम्भः क्षणमात्रमेव स्थास्यत्यतोऽनेन दिव्यवस्त्रभूषाद्याद्रीकरणेन मत्कान्तसंभोगप्रतिकूलेनालमिति। अत्रायं विवेकः। प्रेमस्नेहरागादिषु विचारो हि तेषामगाढत्वमेव व्यनक्ति। रागाधिक्ये तु "तीव्रार्कद्युतिदीपितैरसिलताधाराकरालाश्रिभिर्मार्तण्डोपलमण्डलैः स्थपुटितेऽप्यद्रेस्तटे तस्थुषी। पश्यन्ती पशुपेन्द्रनन्दनमसाविन्दीवरैरास्तृते तल्पे न्यस्तपदाम्बुजेव मुदिता न स्पन्दते राधिका॥" इत्यत्र प्रियदर्शनगमनकाले शिलामण्डलं तप्तमतप्तं वा मत्प्रियभोग्योऽयं सुकुमारो देहः सव्रणो वा भवेदिति नैवास्ति कोऽपि विचारः। किन्तु योगमाययैव शक्त्या सदा जागरूकया तत्तत्सर्वसमाधानम्, अतएव वृष्टिमुग्रां जनगमनविरामादन्यदा स्तौषीत्येतदपि सविचारत्वाद्रागस्य न्यूनजातीयत्वं व्यनक्ति। यथा—अहो मद्भाग्यादभिसारकाले वृष्टिरियमायाता अतो गृहात्कोऽपि न निःसरिष्यति स्वच्छन्दं प्रियमभिसरिष्यामीत्येतावानेव मध्यमाया विचारो नाधिकः। कनिष्ठायास्तु स्वदेहपरिच्छदाद्यपेक्षापर्यन्तो व्याख्यात एव। तदेवं वृष्टिमुग्रामन्यदा स्तौषीति कनिष्ठां प्रत्युक्तिः कटाक्ष एव। स च त्वमात्मनि मध्यमाया लक्षणं यदा नयसि तद्वाचैव, क्रियया तु त्वयि कनिष्ठात्वमुपलभ्यत इत्याकारः। ततश्च रत्यादीनां महाभावपर्यन्तानां स्थायिनां जातिप्रमाणाधिक्ये दृष्ट उत्तमा, तदभावे मध्यमा, जातिप्रमाणयोरल्पत्वे कनिष्ठेति व्यवस्थेयम्। तत्र तत्तदुदयकाले अन्यानुसंधानमात्राभावे जातिप्रमाणाधिक्यमीषदन्यानुसंधाने तदनुभावः, अधिकानुसंधाने तदल्पत्वमिति। ननु "दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः" इत्यादौ रासाभिसारे सर्वा एवान्यानुसंधानाभाववत्यो दृष्टास्तत् किं मध्यमाकनिष्ठयोर्व्रजे भेदेन? सत्यम्, उच्यते—छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन तत्र तत्रोत्तमा एवोपन्यस्ताः, किन्तु मध्यमाकनिष्ठयोरपि तत्र सद्भावोऽवगन्तव्य एव "पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युता गताः" इति कासांचिदुक्तेः पत्याद्युल्लङ्घनानुसंधानमभिसारकालगतमेव मन्तव्यं सुखमहमस्वाप्समितिवत्। "लज्जाया स्वाङ्गलीनेव निःशब्दाखिलमण्डना"

इत्यभिसारिकालक्षणे गुरुजनादिभयरूपमन्यानुसंधानं प्रसक्तमेव। ननु तर्हि कथमेतल्लक्षणमुत्तमां लक्ष्यीकरिष्यति? सत्यम्। यत्राभिसारसमये रागनामा स्थायी संपूर्णतयोदेति तत्संचारी संभ्रमश्च तदैवान्यानुसंधानाभाव उत्तमात्वलक्षकः संभवति। यदुक्तं विदग्धमाधवे—"कंसारेरभिसारसंभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम्" इति। यदा तु रागो नोदेति तदा "जानीहि भ्रमराक्षि कुत्र गुरवः पश्य प्रदोषोद्गमे कुञ्जाभिक्रमणाय मां त्वरयति स्फारान्धकारावली" इत्युक्तमायाः श्यामाया अप्यन्यानुसधानरूपं मध्यामालक्षणमुद्भवति। ततश्चैवमत्र व्यवस्था—यस्यां बहुत्रोत्तमालक्षणं दृष्टं कदापि मध्यमाकनिष्ठयोरपि लक्षणं दृश्यते सोत्तमैव मन्तव्या राजनि सेनानीत्वादिवत्। यस्यामुत्तमालक्षणं कदापि न दृष्यमथ च मध्यमा कनिष्ठयो र्लक्षणं दृश्यते सा मध्यमैव। एवमुत्तमामध्यमालक्षणाभावे कनिष्ठैव। एवं च पूर्वरागप्रसङ्गे "सा कल्याणी कुलयुवतिभिः शीलिता धर्मशैली द्रागस्माभिः कथमविनयोत्फुल्लमुल्लङ्घनीया" इति श्रीवृन्दावनेश्वर्यामप्यन्यानुसंधानगाढत्वं न कनिष्ठात्वं लक्षयतीत्यवधेयम्॥१००॥

पूर्वं याः पञ्चदशधा प्रोक्तास्तासां शतं तथा।
विंशतिश्चाभिरत्र स्यादवस्थाभिः किलाष्टभिः॥१०१॥

पुनश्च त्रिविधैरेभिः प्रभेदैरुत्तमादिभिः।
त्रिशती स्पष्टमुक्तात्र षष्ट्या युक्ता मनीषिभिः॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—पहले मैंने नायिकाओंकी संख्या १५ बतलाई है। वे प्रत्येक ही पुनः अभिसारिका आदिके द्वारा आठ भेदसे १२० प्रकारकी हुईं। और उसमें पुनः उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठाके भेदसे नायिकाओंकी संख्या ३६० हुई॥१०१–१०२॥

लोचनरोचनी—पूर्वं याः पञ्चदशधेत्यधिकं न विस्तरभिया विव्रियते॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वं या इति। नन्वत्र धीराधीराधीराधीराणां कथमभिसाराद्यवस्था–सप्तकम्। केवलमेकं खण्डितात्वमेव तासां संभवति। खण्डिताया एव मानसंभवात् मानमवलम्ब्यैव धीरत्वादीनां लक्षितत्वात्। उच्यते—धीरत्वादिकं नायिकानामौत्पत्तिकः सार्वकालिक एव स्वभावो मानकाले तत्कार्यं सोत्प्रासवक्रोक्त्यादिकं सुरसनीयमिति तदानीमेव तल्लक्षणं कृतम्। अतो रसमञ्जर्यादौ मुग्धाभिसारिका, मध्याभिसारिका, प्रगल्भाभिसारिकेत्याद्युक्तरीत्या धीराभिसारिकेत्याद्यपि ज्ञेयम्। यथा धृत्या दुर्लक्ष्याभिसारा धीराभिसारिका, अधृत्या स्वाभिसारं स्पष्टयन्ती अधीरा, धृत्यधृतिभ्यां ईषल्लक्ष्याभिसारा धीराधीरेत्येवं सर्वत्रैवं विवेचनीयम्॥१०१॥

किञ्च—

यथा स्युर्नायकावस्था निखिला एव माधवे।
तथैता नायिकावस्था राधायां प्रायशो मताः ॥१०३॥

तात्पर्यानुवाद—जिस प्रकार श्रीकृष्णमें निखिल नायकोंकी अवस्थाएँ विद्यमान हैं, उसी प्रकार श्रीमती राधिकामें सभी नायिकाओंकी प्रायः सभी अवस्थाएँ विराजमान होती हैं। इस पद्यमें 'प्रायशः' शब्दसे स्वकीया और कन्यका अवस्था भेद तथा परोढ़ाके भी कनिष्ठादि भेद (भाव) श्रीराधिकामें अति अनुपयुक्त हैं, उनका भी परित्याग सूचित होता है—ऐसा समझना होगा॥१०३॥

अर्थ—और भी सुनिए जैसे नायकके सभी भेद और अवस्था श्रीकृष्णमें उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार नायिकाओंके समस्त भेद, समस्त अवस्थाएँ प्रायः राधाजीमें भी उपलब्ध होती हैं॥१०३॥

लोचनरोचनी—प्रायश इति सरसतानुसारेणैव न चान्यथेत्यर्थः॥१०३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रायश इति। यथा अनुकूलशठत्वाद्या अवस्थाः सर्वा एव सर्वथैव माधवे संभवन्ति तथा धीरप्रगल्भात्वादयो राधायां सर्वदा सर्वथा न, किन्तु किंचिदेव केनाप्यंशेनैवेत्यर्थः॥१०३॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

षष्ठोऽध्याय:
अथ श्रीयूथेश्वरीभेद–प्रकरणम्

एतासां यूथमुख्यानां विशेषो वर्णितोऽप्यसौ।
सुहृदादौ व्यवहृतिव्यक्तये वर्ण्यते पुनः॥१॥

तात्पर्यानुवाद—स्वभावादिके विशेष भेदसे यूथेश्वरियोंके भेदको दिग्दर्शन न्यायसे संक्षेपमें वर्णन करनेपर भी पुनः उनके सुहृद इत्यादि व्यवहार (तटस्थ, स्वपक्ष, विपक्ष आदि भेदों) को विशेष रूपसे अभिव्यक्त करनेके लिए यहाँ विस्तारसे वर्णन किया जा रहा है॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—सुहृदादौ सुहृत्तटस्थविपक्षस्वपक्षेषु॥१॥

सौभाग्यादेरिहाधिक्यादधिका साम्यतः समा।
लघुत्वाल्लघुरित्युक्तास्त्रिधा गोकुलसुभ्रुवः॥२॥

प्रत्येकं प्रखरा मध्या मृद्वी चेति पुनस्त्रिधा॥३॥

प्रगल्भवाक्या प्रखरा ख्याता दुर्लङ्घ्यभाषिता।
तदूनत्वे भवेन्मृद्वी मध्या तत्साम्यमागता॥४॥

तात्पर्यानुवाद—गोपियोंके सौभाग्य (सौभाग्यके कारणस्वरूप प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य, वैदग्ध्य आदि) के आधिक्यसे अधिका, बराबर होनेसे समान और लघुताहेतु लघु—ये तीन प्रकारके भेद हैं। इनमेंसे प्रत्येक प्रखरा, मध्या और मृद्वी तीन प्रकारकी होती हैं। जो प्रगल्भ-वचन बोलती हैं अर्थात् जिनकी सन्दर्भपूर्ण बातोंका कोई खण्डन या उल्लंघन नहीं कर सकता—वे प्रखरा कहलाती हैं। इस प्राखर्यकी न्यूनतासे वे मृद्वी और समतासे मध्या, दो प्रकारकी हो सकती हैं। प्रथमा प्राखर्य और मृदुताके साम्यसे (अन्यूनता व अनतिरेक) एवं दूसरी प्राखर्य या मृदुतामें अन्य सखियोंके साथ समता प्राप्तिमें॥२–४॥

लोचनरोचनी—सौभाग्यं नायकप्रेम्णा लब्धादरत्वम्। आदिग्रहणाद्गुणरूपादि तदाधिक्यात्॥२॥

वाक्यस्य दुर्लङ्घ्यत्वं चेष्टादीनामुपलक्षणम्। दुर्लङ्घ्यमन्याभिरपरिहरणीयं भाषितं यस्याः सेति। केवलप्रगल्भवाक्यत्वे वैरूप्यमेव स्यान्न तु रसोपयोगित्वमिति भावः। तदूनत्व इत्यत्रोनत्वं रिक्तत्वं विंशत्यादिना रिक्ता ह्यूनविंशत्यादय उच्यन्ते। ततश्च सत्स्वपि गुणान्तरेषु तेन प्राखर्येणैव रिक्तत्वे मृद्वी भवेदित्यर्थः। मध्येति साम्यमत्रैकत्वम्। "रषाभ्यां नो णः समानपदे" इत्यत्र समानत्ववत्। ततश्च तत्साम्यं तयोः प्राखर्यमार्दवयोः साम्यं समयोः शीतोष्णयोरिव मिलितयोः परस्परोपमर्देन परस्परसात्संपत्या द्वयोरेकत्व-प्राप्तत्वान्मन्द प्राखर्यमित्यर्थः। तदागता प्राप्ता मध्या भवेत्। मध्यावस्थात्वान् मध्या भण्यत इत्यर्थः॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—सौभाग्यं नायकप्रेमविषयीभूतत्वम्, आदिग्रहणात् रूपगुणादि॥२॥

दुर्लङ्घ्यमन्याभिः खण्डयितुमशक्यं भाषितं यस्याः सा। अत्र वाक्यपदोपादानात्तद्-व्याख्यायां च भाषितशब्दप्रयोगादत्र लक्षणे आकृतिचेष्टादेः प्रागल्भ्यं नोपलक्षणीयम्। अतः पूर्वलक्षिताभ्यः प्रगल्भामध्यामुग्धाभ्य एताः प्रायेण भिद्यन्ते। तदूनत्वे प्राखर्यस्याल्पत्वे मृद्वी, न तु तस्या भाव एवेति व्याख्येयम्। ऊनपदस्य तदर्थत्वेऽनभिधानात्। "प्राखर्यं मार्दवं चापि यद्यप्यापेक्षिकं भवेत्" इत्यग्रेतनवाक्यान्मृद्व्याः किंचित् प्राखर्यस्य प्राप्तेश्च तत्साम्यं प्राखर्यस्य तुल्यत्वमीषदल्पत्वं आगता प्राप्ता मध्योच्यते। चन्द्रसमं मुखमित्युक्ते चन्द्रादीषदल्पं मुखमिति प्रतीयते। "ईषदसमाप्तौ कल्पव् देश्यदेशीयरः" इति सूत्रे तथा व्याख्यानात्॥४॥

तत्राधिकात्रिकम्—

आत्यन्तिकी तथैवापेक्षिकी चेत्यधिका द्विधा॥५॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **अधिकात्रिक—**अधिका यूथेश्वरी दो प्रकारकी होती हैं—आत्यन्तिकाधिका और आपेक्षिकाधिका॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—त्रिकमिति "संख्यायाः संज्ञासङ्घ" इत्यादिना सङ्घे कन्। आत्यन्तिकीत्यत्राधिकेतिपदस्य धर्मिवाचकत्वादात्यन्तिक्यापेक्षिकीत्येतयोस्तद्विशेषणत्व आधिक्यस्यात्यन्तिकत्वमापेक्षिकत्वं न लभ्यत इत्यभवन्मतयोगः स्यात्। मैवम्। इयमधिकात्यन्तमन्तसीमातिक्रमं तथापेक्षां गच्छन्तीत्युक्ते केनाप्यंशेनेत्यपेक्षायां प्रत्यासत्तिन्यायेन आधिक्येनेति लब्धे सति न किंचिदसामञ्जस्यम्। "गच्छतौ परदारादिभ्यः" इति ठक्॥५॥

तत्रात्यन्तिकाधिका—

सर्वथैवासमोर्द्धा या सा स्यादात्यन्तिकाधिका।
सा राधा सा तु मध्यैव यन्नान्या सदृशी व्रजे॥६॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकाधिका—सब प्रकारसे जिसके समान या जिससे अधिक कोई नहीं होती, उसको आत्यन्तिकाधिका कहते हैं। श्रीमतीराधिका ही आत्यन्तिकाधिका हैं। मुग्ध तथा प्रखरा आदिके भेदसे वे मध्या ही हैं। व्रजमें उनके समान और कोई भी नायिका नहीं है॥६॥

लोचनरोचनी—आत्यन्तिकाधिकेति। आत्यन्तिकश्चासावधिकश्चेति कर्मधारये कृते पश्चात् स्त्रीत्वे विवक्षिते च टाप्प्रत्ययात् कोपधत्वेऽपि पूर्वपदस्य पुंस्त्वं सिध्यति। एवमुत्तरेष्वपि। सा राधेत्यत्र सा तु मध्यैवेत्यत्र च हेतुर्यदिति। तत्र पूर्वत्र पुराणादिकन्तु प्रमाणितमेव, उत्तरत्र च तदेव प्रमाणम्। मध्यात्वस्यैव रसातिशयाधायकत्वात्तस्या-स्तत्रोक्तमसाधारणत्वमुपपद्यत इति॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—सा तु मध्यैवेति। मुग्धादिभेदे प्रखरादिभेदे च सा मध्यैवेत्यर्थः। राधैवात्यन्ताधिकेत्यत्रहेतुर्यस्मात् व्रजे सा अन्यासदृश्यन्यस्याः सदृशी न भवति किन्तु स्वसदृश्येवेत्यर्थः। यद्वा अस्याः सदृशी ईषदल्पापि नान्या कापीति सर्वा एवात्यन्तन्यूना इत्यर्थः॥६॥

यथा—

तावद् भद्रा वदति चटुलं फुल्लतामेति पाली
शालीनत्वं त्यजति विमला श्यामलाहंकरोति।
स्वैरं चन्द्रावलिरपि चलत्युन्नमय्योत्तमाङ्गं
यावत्कर्णे न हि निविशते हन्त राधेति मन्त्रः॥७॥

तात्पर्यानुवाद—एक समय गोपीसमाजमें एकत्रित हुईं यूथेश्वरियोंके परस्पर संवादमें पद्माके स्वपक्ष-सौभाग्य सूचक कोई उपहासयुक्त वचन श्रवण करके परम क्रोधित हुई ललिताको देखकर वृन्दा प्रौढ़ वाक्योंसे बोली—"अरी सखियो! जब तक 'राधा'—ये दो मन्त्ररूप अक्षर कानमें प्रवेश नहीं करते हैं, तभी तक भद्रा चाटुपूर्ण अत्यन्त सुन्दर बातें कह सकती है, पाली प्रफुल्ल हो सकती है, विमला शालीनता त्याग कर

सकती है, श्यामला अहङ्कार कर सकती है, अधिक क्या कहूँ? चन्द्रावली स्वच्छन्द रूपसे मस्तक उन्नत कर सकती है॥"७॥

लोचनरोचनी—तत्रोभयत्राप्युदाहरणम्—तावद्भद्रेति। तत्र राधेतिनाम्नः प्रभावो दर्शितः। साक्षादौद्धत्यं तु न दर्शितमिति मध्यात्वं च। शालीनत्वमधृष्टत्वम्॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचित् समाजमिलितासु गोपीष्वारभ्यमाण पारस्परिकसंवादासु व्याजस्तुत्यादिभिः प्रति स्वयूथसौभाग्यमभिव्यञ्जयन्तीषु "भो व्रजदेव्यः परमार्थं तु स्पष्टं शृणुत" इति श्यामला प्राह—तावदिति। शालीनत्वमधृष्टत्वं त्यजति किन्तु धाष्टर्यं प्रागल्भ्यमेव करोतीत्यर्थः। उत्तमाङ्गं शिरः। अत्र श्यामलाहंकरोतीति स्वनामोल्लेखतः स्वस्याप्यपकर्षकथनेन तासु सर्वासु स्वस्य सत्यवादित्वं व्यञ्जितम्। तत्राप्यहं करोतीति मम राधासुहृत्त्वेऽपि पृथग्यूथेश्वरीत्वादन्याभ्यश्चोत्कर्षाद्गूढोऽहंकारः स्थातुमुचित एव, स चापि न तिष्ठतीति प्रत्यायितञ्च। राधेति मन्त्र इति। राधेति शब्दस्य श्रूयमाणत्व एवान्यजनपराभावकत्व-लिङ्गदर्शनेन मन्ये मन्त्रत्वमस्तीत्युत्प्रेक्षा। अथवा नाम न भवतीदं किन्तु मन्त्र एवेत्यपह्नुतिः। एतत् पद्यस्य सखीजनवक्तृकत्वे वृन्दादि वक्तृकत्वे वा श्यामलाहंकरोतीत्यनुपपत्तेः श्यामलावक्तृकत्वमेव सुरसम्॥७॥

अथापेक्षिकाधिका—

मध्ये यूथाधिनाथानामपेक्ष्यैकतमामिह।
या स्यादन्यतमा प्रेष्ठा सा प्रोक्तापेक्षिकाधिका॥८॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकाधिका—इन यूथेश्वरियोंमें एकसे दूसरी श्रेष्ठ होनेपर उसीको आपेक्षिकाधिका कहते हैं॥८॥

लोचनरोचनी—आपेक्षिकाधिकादिषु यस्या वाक्यं सैव सा ज्ञेया॥८॥

तत्राधिकप्रखरा यथा—

पश्य क्षोणिधरादुपैति पुरतः कृष्णो भुजङ्गाग्रणी-
स्तूर्णं भीरुभिरालिभिः सममितस्त्वं याहि मन्त्रोज्झिते।
आचार्याहमटामि भोगिरमणीवृन्दस्य वृन्दाटवीं
किं नः कामिनि कार्मणेन वशतां नीतः करिष्यत्यसौ॥९॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे अधिक प्रखरा—एक समय मृद्वी और प्रखरा दोनों यूथेश्वरियाँ परस्पर प्रगाढ़ बन्धुत्वसे पुष्पचयनादिके बहाने एकसाथ वृन्दावनमें उपस्थित हुईं। सामने ही श्रीकृष्णको देखकर कुछ सहमी

और चकित मृद्वीको प्रखरा यूथेश्वरीने कहा—"देखो! इस पर्वत–गुहासे काला भुजङ्गराज हमलोगोंके सामने आ रहा है। तुम सर्पवशीकरण मन्त्र नहीं जानती हो, अतएव भीरु सखियोंके साथ यहाँसे भाग जाओ। यदि कहो कि तुम भी घर लौट चलो। यहाँ रहकर उससे क्यों कलङ्कित होओगी? उसका उत्तर यह है कि मैं सर्पस्त्रियोंकी अध्यापिका होकर वृन्दावनमें पर्यटन करती हूँ। वशीकरणमन्त्र और सर्पविषकी औषधि जानती हूँ, अतः वे मेरा क्या कर लेंगे?" पक्षान्तरमें—"हे कामिनि सखि! देखो, कामुकचूड़ामणि श्रीकृष्ण उपस्थित हुए हैं। तुम तो श्रीकृष्णवशीकरणका उपाय जानती नहीं हो, अतः सखियोंके साथ घर लौट जाओ। यदि कहो कि तुम भी हमलोगोंके साथ घर चलो। यहाँ दुर्लील शिरोमणिके हाथों क्यों कलङ्कित होओगी? उसके उत्तरमें मैं कह रही हूँ, मैं सौभाग्यशालिनी रमणियोंकी अध्यापिका हूँ। सब समय वृन्दावनमें विचरण करती हूँ। दैहिक और वाचिक चेष्टासमूह द्वारा जब मैंने इनको वशमें कर लिया है तो ये मेरा क्या कर लेंगे?"॥९॥

लोचनरोचनी—कार्मणेन तत्पराभावकमूलकर्मणा। मूलमौषधं तेन॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र प्रकरणे यूथेश्वरीणामेव परस्परोक्तिः, तासां च नामाज्ञानात् काचित् कांचिदाहेति सर्वत्रावतारिका ज्ञेया। पश्येति। भुजङ्गः सर्पः, कामुकश्चेति। त्वमितो याह्यन्यथा त्वामसौ दङ्क्ष्यते। हे मन्त्रोज्झिते, त्वं मन्त्रं मन्त्रणां च न जानासीत्यर्थः। भोगी सर्पः कृष्णश्च। आचार्या सर्पमोहनशास्त्रविदुषी आहितुण्डिक्यस्मि, गोपीनां रसवैदग्ध्यादेरध्यापिका चास्मि। कार्मणेन वशीकारौषधेन, कर्मसमूहेन दैहिकवाचिकचेष्टावृन्देन च वशतां नीत इति। सौभाग्याधिक्यं प्राखर्यं च स्पष्टमित्यधिकप्रखरेयं दुर्हृत्॥९॥

अथाधिकमध्या—

> **आलीभिर्मे त्वमसि विदिता पूर्णिमायाः प्रदोषे**
> **रोषेणासौ प्रथयसि कथं पाटवेनावहित्थाम्।**
> **धृत्वा धूर्ते सह परिजनां मद्गृहे त्वां निरुन्ध्यां**
> **वर्त्मप्रेक्षी गुणयतु स ते जागरं कुञ्जराजः॥१०॥**

तात्पर्यानुवाद—अधिकमध्या—"श्रीकृष्ण सङ्केत स्थलमें गए हुए हैं", दूतीके मुखसे इस संवादको पाकर उस कुञ्जमें अभिसार करनेके लिए

प्रस्तुत कोई व्रजदेवी, पथमें मेरे वेशादिके द्वारा मेरा अभिप्राय अर्थात् मैं वनमें किसलिए जा रही हूँ, सभीके समक्ष व्यक्त हो गया है, अपने हृदयमें ऐसा जानकर भी लज्जा और वक्रतावशतः चातुरी करनेपर उसकी किसी अधिकमध्या सखीने कहा—"हे धूर्ते! सखियोंके साथ मैं तुमको अच्छी तरह जानती हूँ। इस पूर्णिमाके प्रदोषकालमें शुक्लवस्त्र और शुक्लमाल्य-चन्दन इत्यादिके वेश द्वारा तुम्हारे अन्तरको मैंने जान लिया है। फिर चातुरीके द्वारा मुझसे क्यों छिपा रही हो? परिजनोंके साथ तुमको मैं अपने घरमें अवरुद्ध करूँगी और तब तुम्हारा पथनिरीक्षक कुञ्जराज जागरणका अभ्यास करेगा।" इस प्रकार "पथमें परिजनोंके साथ यूथेश्वरीको निरोध करनेपर श्रीकृष्णके निकट सन्देश देनेके लिए कोई नहीं रह जाएगा, अतएव उनका जागरण निश्चित ही हुआ और तुम्हारे निरोधसे उनका कुञ्जराजत्व भी चला जाएगा"—यह उपहासोक्ति है। 'निरोध करूँगी' यह विभीषिकापूर्ण वचन ही उसके मध्यात्वका परिचायक है॥१०॥

लोचनरोचनी—आलीभिरिति। पूर्वं खल्वागच्छन्तमपि कृष्णं दृष्ट्वा संकोचमविधायान्यां परावर्तयितुं प्रौढमुक्तवती, एषा तु कृष्णाद्दूरत एवान्यां परिहसितवतीति मध्या। परिहासश्च गृहे नीत्वा तस्या बन्धनं न संभवतीति व्यक्त एव॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—आलीभिरित्यत्र वक्तव्या या गोपी सैवोदाहरणम्। ते तव वर्त्मप्रेक्षी कुञ्जराजो जागरमभ्यस्यत्वित्यनेन तस्या एव सौभाग्याधिक्यम्। अवहित्थां प्रथयसीत्यनेन संकोचप्राप्त्या प्राखर्याभावः। पाटवेत्यनेन मृदुत्वस्याप्यभावोऽतो मध्यात्वं च। वक्त्र्यास्तु त्वां निरुन्ध्यामित्यनेन प्राखर्यम्, तथा सौभाग्याधिक्यव्यञ्जकपदाभावा-ल्लघुत्वमिति लघुप्रखरेयं दुर्हृत्॥१०॥

अथाधिकमृद्वी—

> **न्यञ्चन्मूर्ध्ना सह परिजनैर्दूरतो मा प्रयासी-**
> **र्मामालोक्य प्रियसखि यतः प्रेमपात्री ममासि।**
> **माला मौलौ तव परिचिता मत्कलाकौशलाढ्या**
> **द्यूते जित्वा दनुजदमनं या त्वया स्वीकृतास्ति॥११॥**

तात्पर्यानुवाद—अधिकमृद्वी—श्रीकृष्णके सहित विलासके अन्तमें किसी व्रजसुन्दरीको अपने परिजनके साथ आती हुई पथके बीचमें "कोई देख

न ले" इस लज्जासे सशंकित गमन करते देखकर कोई अधिकमृद्वी सखी स्नेहपूर्वक कहने लगी—"हे प्रियसखि! मुझे देखकर सिर नीचे झुकाकर परिजनोंके साथ दूरसे मत जाओ। तुम भी तो मेरी स्नेहपात्री हो। तुमने अपने मस्तकपर जो माला धारण की है, वह मेरे ही कला-कौशलके द्वारा ग्रथित हुई है। द्यूतक्रीड़ामें श्रीकृष्णको जयकर तुमने उसे पाया है।" (यद्यपि श्रीकृष्णने इस नायिकाके केलि-वैदग्ध्यसे सन्तुष्ट होकर इसे अपने कण्ठकी माला दे दी है, तथापि "द्यूतक्रीड़ामें जय करके पाया है" यह अनुमानिक उक्ति है; किन्तु उस नायिकाके प्रति यह ईर्ष्यायुक्त आदरस्फूर्ति ही समझनी होगी। यद्यपि ये मृदुस्वभावा और सस्नेहा हैं, तथापि प्रणयकी स्वाभाविक वक्रतावशतः उसमें ईर्ष्याका उदय हुआ है।) ॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—न्यञ्चदित्यत्रापि या वक्तव्या सैवोदाहरणम्। न्यञ्चदित्यनेन मृदुत्वात्, माला मौलावित्यादिना सौभाग्याधिक्याच्च। वक्त्री तु लघुमध्यैवेयं सुहृत्॥११॥

अथ समात्रिकम्—

साम्यं भवेदधिकयोस्तथा लघुयुगस्य च॥१२॥

तत्र समप्रखरा—

न भवति तव पार्श्वे चेत्सखी कापि माभूत्
परिहर हृदि कम्पं किं हरिस्ते विधाता।
अहमतिचतुराभिर्वेष्टितालीघटाभिः
प्रियसखि पुरतस्ते दुस्तरा बाहुदास्मि॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—समात्रिक अर्थात् तीन प्रकारकी समता—आत्यन्तिकी और आपेक्षिकी दोनों अधिका और दोनों लघुके मध्यमें परस्पर तीन प्रकारसे समता होती हैं।

समप्रखरा—एक समय विशेष बन्धुत्वके कारण प्रखरा और मृद्वी—इन दोनों यूथेश्वरियोंने कुसुमचयन और देवपूजनके छलसे वृन्दावनमें प्रवेश किया। दैवयोगसे उसी समय श्रीकृष्णको सामनेसे आते देखकर अपने परिजन निकट नहीं हैं, देखकर मृद्वीके भयविह्वल होनेपर समप्रखरा

उसको आश्वासन दे रही है—"हे सखि! तुम्हारे साथ कोई सखी नहीं है, इससे तुम्हारी क्या हानि है? तुम्हारा हृदय क्यों काँप रहा है? डरो मत, ये हरि तुम्हारा क्या कर लेंगे? मैं सुचतुरा सखियोंसे परिवेष्टित होकर उनके आगे बाहुदा नदीके रूपमें दुर्लंघ्य होकर (हस्तावलम्बन-दात्री) तुम्हारी रक्षा करूँगी अर्थात् मैं अपनी सुचतुरा सखियों द्वारा बलशाली दोनों भुजाओंको पसारकर तुम्हारे अग्रभागमें आकर तुम्हारी रक्षा करूँगी। मुझे अतिक्रम करनेका किसका साहस है? देखें तो कौन तुम्हारा स्पर्श करता है?"॥१२-१३॥

लोचनरोचनी—श्लेषे बाहुदा नदीविशेषः॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—न भवतीति। केयं ममोद्यानस्य पुष्पाणि त्रोटयतीति दूराद्धावन्नपि हरिस्ते किं विधाता किं करिष्यति यतोऽहमित्यादि। श्लेषेण बाहुदा नदीविशेषः। अत्रागच्छतो हरेर्द्वयोरेव साक्षाल्लक्ष्यत्वात्द्वयोरेवाधिक्येन साम्यम्। अहमित्यादिना वक्त्र्याः प्राखर्यादियमेवोदाहरणं सुहृत्॥१३॥

अथ सममध्या—

लोले न स्पृश मां तवालिकतटे धातुर्यदालक्ष्यते
त्वं स्पृश्यासि कथं भुजङ्गरमणी दूरादतस्त्यज्यसे।
धिग्वामं वदसि त्वमेव कुहकप्रेष्ठासि भोगाङ्किते
येनाद्य च्युतकञ्चुकाः शुषिरतः सख्योऽपि सर्पन्ति ते॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—सममध्या—एक समय श्रीकृष्णके सहित रहोविलासके पश्चात् अपने घर लौटनेवाली रतिचिह्निता कोई यूथेश्वरी उसीके समान एक दूसरी सखीसे पथमें नर्मसंलाप-विलास कर रही है। एकने कहा—"हे चञ्चले! मुझे स्पर्श न करना, क्योंकि तुम्हारे ललाटप्रान्तमें गैरिक राग देखा जा रहा है।" इसे सुनकर दूसरीने कहा—"तुम कैसे छूने योग्य और पवित्र रह गई? तुम भी तो भुजङ्गरमणी हो (सर्पभार्या, पक्षमें बिट नायककी प्रिया हो), अतएव दूरसे मैं तुम्हें त्याग कर रही हूँ।" प्रथमा—"धिक्कार है तुमको, तुमने वक्रोक्तिके द्वारा मुझे भुजङ्ग-भार्या बतलाया; किन्तु इसके विपरीत तुम्हारे अङ्गोंमें ही भोगका चिह्न देखा जा रहा है। देखो तो गोवर्द्धन-कन्दराके छिद्रसे निर्मोक (केंचुली) मुक्त

होकर तुम्हारी सखियाँ भी सर्पिणीकी भाँति आ रही हैं।" पक्षमें, वेणुनादसे वक्षदेशकी कञ्चुलिका विच्युत होकर तुम्हारी सखियाँ इतस्ततः विचरण कर रही हैं॥१४॥

लोचनरोचनी—लोल इति। वाकोवाक्यम्। कुहको मायावी, पक्षे नागविशेषः। शुषिरतः शुषिरविशेषवंशीहेतोः, पक्षे बिलात्। सर्पन्त्यभिसरन्ति, पक्षे सर्पायन्ते। किंत्वत्र वक्तृश्रोतृभेदेन व्यङ्ग्यभेदसंप्रतिपत्तेर्वक्तुः श्रोतुश्चात्र श्रीकृष्णप्रेयसीजनत्वाद्धातुरागादीनां तद्विशेषपर्यवसानमेवावगन्तव्यम्। एवमन्यत्रापि॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—लोल इति। संभुक्ताभुक्तयोः परस्पर सुहृदोरुक्तिप्रत्युक्ती। प्रथमा प्राह—तव ललाटतटे धातुगैरिकरागोऽतस्त्वं कृष्णोच्छिष्टा अपवित्रासीत्यर्थः। द्वितीया प्राह—त्वं भुजङ्गरमणी सर्पी, पक्षे भुजङ्गं कामुकं कृष्णं रमयसीति प्रसिद्धा त्वदीयरमणस्य प्रयोजिका। अहं तु तेन बलादद्यैवानिच्छन्त्येव संभुक्तातस्त्वं मत्तोऽप्यपवित्रेति भावः। पुनः प्रथमाह—धिगिति। कुहकस्य नागविशेषस्य, पक्षे मायाविनः कृष्णस्य प्रेष्ठासि। अत्र प्रियशब्दस्य "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कर्तृवाचक क—प्रत्ययान्तत्वात्तत्रापीष्ठना चातिशयरमणेच्छावतीत्यर्थः। भोगोऽहिफणः संभोगश्च। शुषिरतो बिलात्, पक्षे शुषिरविशेषवंशीहेतोः। च्युतकञ्चुकाः त्यक्तनिर्मोकाः, सर्पन्ति सर्प इवाचरन्ति। पक्षे स्पष्टम्। अत्र प्रथमायाः मा स्पृशेति तिरस्काररूपात् प्रकटहास्यात् सौभाग्यमूहनीयम्। द्वितीयायान्तु संभोगचिह्नेन व्यञ्जितं सौभाग्यं स्पष्टमेव, मध्यात्वन्तु द्वयोरेव श्लिष्टोक्तेः॥१४॥

अथ सममृद्वी—

> **प्रत्याख्यातु सुहृज्जनः कथमयं ताराभिधस्ते गिरं**
> **प्राणास्त्वं हि ममोच्चकैरसि शपे धर्माय लीलावति।**
> **किन्तु त्वामहमर्थये परमिदं कल्याणि तं वल्लभं**
> **स्वीयं शाधि यथा स गौरि सरले कुर्याज्जने न च्छलम्॥१५॥**

तात्पर्यानुवाद—सममृद्वी—एक समय तारा नामकी यूथेश्वरी श्रीकृष्णके द्वारा वञ्चित होनेपर मानिनी हो गई। उस समय सर्वनीति–विधान–कुशल श्रीकृष्णने उसके मान प्रसाधनके लिए दूसरे उपायोंको त्यागकर ताराकी सुहृद्सखी लीलावतीको उसके पास प्रेरित किया। अनन्तर लीलावतीके द्वारा अनेक प्रकारसे सान्त्वना देनेपर ताराने कहा—"हे कल्याणि लीलावति! मैं धर्मतः शपथ लेकर कह रही हूँ कि तुम मेरी प्राणस्वरूपा

हो। तुम्हारी बातको तारा नामकी यह सुहृत्जन किस प्रकारसे टाल सकती है? किन्तु हे गौरि! मैं तुमसे यही प्रार्थना कर रही हूँ कि तुम अपने उस वल्लभको ऐसी शिक्षा दो कि वे पुनः इस सरलाके प्रति छलना न करें॥"१५॥

लोचनरोचनी—प्रत्याख्यातु परिहरतु। ताराभिध इति। स्वयमेव स्वनाम गृह्णाति प्रतिज्ञादाढर्य्यबोधनाय। सरले मद्विधे जने छलं न कुर्यात्॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रत्याख्यात्विति। ताराभिधो मल्लक्षणो जनस्ते गिरं मानं मुञ्चेति वाचं कथं प्रत्याख्यातु। स्वीयं वल्लभं कृष्णं शाधि शिक्षादानेन बोधय। अत्र मानवत्यास्ताराया मानभङ्गार्थं कृष्णेनैव तत्सुहृदो लीलावत्याः प्रेषणात्ताराया: सौभाग्याधिक्यं तथा स्वीयं शाधीति पदाभ्यां लीलावत्याश्च तत्। ताराया मृदुत्वं स्पष्टम्, लीलावत्यास्तु शाधीति शासनकर्त्तृत्वयोग्यताया हेतोः प्राखर्यम्॥१५॥

यथा वा—

प्रहित्य कठिने निजं परिजनं मदार्य्या त्वया
निकाममुपजप्यतां किमु विभीषिकाडम्बरैः।
व्रजामि रविजातटं गुरुगिरा मृषाशङ्किनि
प्रदोषसमये समं सवयसा शिवां सेवितुम्॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—किञ्चित् मध्यांश-मिश्रित मृद्वीका प्रकारान्तर रूपसे उदाहरण दे रहे हैं। कोई सममृद्वी सखी सङ्केतकुञ्जमें अवस्थित श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए अभिसार कर रही है। पथके बीचमें अन्य नायिका वेशादिके द्वारा उसके अभिसारका रहस्य अनुमानकर परिहास और तर्जनपूर्वक कुछ कहने लगी। उसके वाक्य सुनकर सममृद्वी प्रत्युत्तर दे रही हैं—"हे कठिनहृदये! अपनी परिजन सखियोंको भेजकर मेरे ससुरका यथेष्ट रूपसे मतिभेद करवाकर तुम मुझे इतना भयभीत क्यों कर रही हो? हे वृथाशंकिनि! गुरुजनोंकी आज्ञासे ही मैं इस प्रदोषकालमें यमुना तटपर सखियोंके साथ शिवानीकी आराधना करने जा रही हूँ।" इस पद्यके शेषार्द्धमें नायिकाके मार्दवांशकी सूचना हो रही है॥१६॥

लोचनरोचनी—प्रहित्य प्रस्थाप्य। मदार्या मम श्वश्रूः। उपजप्यतां भेद्यताम्। गुरुगिरा व्रजामि॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—"साम्यं भवेदधिकयोस्तथा लघुयुगस्य च।" इत्यधिकयोः साम्यं श्लोकत्रयेणोक्तम्। लघुयुगलस्य साम्यं वक्तुमाह—यथा वेति। सुन्दरि! किं त्वं गुरुजनान्न बिभेषि। यतः सायं स्पष्टमेव वनं गच्छसीति वदन्तीं कांचिदपि मृद्वीं काचिदपि प्रखरा दुर्हृत् प्रतिवदति—प्रहित्येति। प्रहित्य प्रस्थाप्य। मदार्या मम श्वश्रूः। उपजप्यतां भेद्यताम्। गुरुगिरा गुरोस्तस्या एव गिरेत्यर्थः। ततश्चाहं पृच्छामिमात्रम् किमिति कुप्यसि। प्रसीदेति पुनस्तस्याः प्रतिवचनं जातमिति ज्ञेयम्। अत्र द्वयोरेव सौभाग्याधिक्यद्योतकपदाभावाल्लघुत्वे साम्यम्॥१६॥

अथ लघुत्रिकम्—

लघुरापेक्षिकी चात्यन्तिकी चेति द्विधोदिता॥१७॥

तत्रापेक्षिकी लघुः—

मध्ये यूथाधिनाथानामपेक्ष्यैकतमामिह।
या स्यादन्यतमा न्यूना सा प्रोक्तापेक्षिकी लघुः॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—लघुत्रिक—आपेक्षिकी और आत्यन्तिकी भेदसे लघुत्रिक दो प्रकारकी होती हैं। उनमेंसे आपेक्षिकीलघु यूथेश्वरियोंमेंसे किसी एककी अपेक्षाकर अन्यकी न्यूनता होनेपर जो न्यून होती है, उसे आपेक्षिकी लघु कहते हैं॥१७–१८॥

आनन्दचन्द्रिका—लघुरिति। अपेक्षां गच्छति। तथान्तं सीमातिक्रमं गच्छति। केनांशेनेत्यपेक्षायां प्रत्यासत्त्या लाघवेनेति व्याख्येयं पूर्ववत्। अन्यथा अभवन्मतयोगो नाम दोषो दुर्वारः स्यात्॥१७॥

तत्र लघुप्रखरा—

त्वं मिथ्यागुणकीर्तनेन चटुले वृन्दाटवीतस्करे
गाढं देवि निबध्य मां किमधुना तुष्टा तटस्थायसे।
हत्वा धैर्यधनानि हन्त रभसादाच्छिद्य ह्रीवैभवं
येनायं सखि वञ्चितोऽपि बहुधा दुःखी जनो वञ्च्यते॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—पहलेसे ही श्रीकृष्णके सङ्गको प्राप्त किसी यूथेश्वरीने अपने सुहृदपक्षकी यूथेश्वरीके निकट श्रीकृष्णके अतुलनीय गुणादिका वर्णनकर श्रीकृष्णके प्रति उसको आसक्त कराया। वह एक समय श्रीकृष्णके द्वारा विप्रलब्धा होकर श्रीकृष्णके प्रति अनुराग करनेवाली

सुहृद् यूथेश्वरीको तिरस्कार करती हुई कह रही है—"हे चतुरे! तुमने श्रीकृष्णके कुछ मिथ्या गुणोंका वर्णनकर उस वृन्दावन-तस्करके प्रति पहले तो हमारी गाढ़ी आसक्ति जोड़ दी और अब सन्तुष्ट चित्तसे तटस्थाकी भाँति आचरण कर रही हो। अहो! उस तस्करने बलपूर्वक मेरे धैर्यधन और लज्जा सम्पदकी चोरी कर मुझे वञ्चित किया है। अभी भी बार-बार वञ्चना ही कर रहा है॥"१९॥

आनन्दचन्द्रिका—काचिन्मानवती स्वसुहृदमुपलभते—त्वमिति। अस्या धैर्यधनानीति धैर्यस्य धनत्वेन बहुत्वेन च। ह्रीवैभवमिति। ह्रियोऽप्यापेक्षिक्याधिक्येन परमधैर्यलज्जावत्त्वम्। तथाभूतयो धैर्यलज्जयोः सामस्त्येन हरणादभिव्यञ्जितेन प्रेमाधिक्येन सौभाग्याधिक्यम्। वञ्चितोऽपि वञ्च्यत इति मानिन्याः स्वाभाविकं वचनं तु न लघुत्वव्यञ्जकम्। वक्तव्यायास्तु मिथ्यागुणकीर्तनेनेति चटुले इति पदाभ्यां प्राखर्यम्। सौभाग्याधिक्य-व्यञ्जकपदाभावाल्लघुत्वमिति वक्तव्यैवोदाहरणम्। अस्याः पुनः पुनर्वञ्चनात् सौभाग्यस्याल्पत्वं चटुले इत्यादि पदैः प्राखर्यमिति वक्त्र्या एवोदाहरणत्वम्॥१९॥

अथ लघुमध्या—

गोष्ठाधीशसुतस्य सा नवनवप्रेष्ठस्य यावद्दृशोः
पन्थानं वृषभानुजा सखि वशीकारौषधिज्ञा ययौ।
तावत्त्वय्यपि रूक्षमस्य बलवद्दाक्षिण्यमेवेक्ष्यते
का चन्द्रावलि देवि दुर्भगतया दूनात्मनां नः कथा॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमध्या—एक समय चन्द्रावली अपनी सुहृत्पक्षकी यूथेश्वरीके प्रति स्नेहसे विभावित चित्तसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें प्रेमसौभाग्य आदि मङ्गलवार्ता पूछने लगी। चन्द्रावलीके पूछनेपर वह यूथेश्वरी दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई आक्षेपपूर्वक कैमुतिक-न्यायसे अपनी अवस्थाका वर्णन कर रही है—"हे सखि! नवनव प्रेयसी-प्रिय व्रजेन्द्रनन्दनके दृष्टिपथमें जिस दिनसे वशीकरणमन्त्रौषधि जाननेवाली वृषभानुनन्दिनी आई है, उसी दिनसे तुम्हारे प्रति भी उनका रूखा स्नेह रहित बलवत् दाक्षिण्य (बहुनायिकामें तुल्यभाव) देखा जा रहा है, तब मेरी जैसी दुर्भाग्यवशतः परितप्तचित्ता नारीकी बात ही क्या?"॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—गोष्ठेति। श्लोकद्वयं स्पष्टम्॥२०॥

अथ लघुमृद्वी—

अपसरणमितो नः साम्प्रतं साम्प्रतं स्यात्
यदपि हरिचकोरं चित्रमालोचयामः।
कलयत सहचर्यः पर्यटद्गौरदीप्ति–
स्तटभुवि नवशोभां सौति चन्द्रावलीयम्॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमृद्वी—कोई व्रजदेवी अपनी सखियोंके साथ श्रीकृष्णदर्शनकी अभिलाषासे किसी बहानेके द्वारा यमुना पुलिनमें आकर श्रीकृष्णको देखते-देखते और थोड़ी ही दूरीपर चन्द्रावलीको भी देखकर अपनी सखियोंसे सशंकित चित्तसे बोली—"अरी सखियों! इस समय हमारा इस स्थानसे भाग जाना ही युक्तिसङ्गत है; क्योंकि, यद्यपि हमने श्रीकृष्णरूपी चकोरको उत्तमरूपसे देखा है, तथापि इधर देखो, अपनी कान्ति मालाका चतुर्दिक विस्तार करती हुई चन्द्रावली यमुनाके तटपर नवशोभाका विस्तार कर रही है।" (यहाँ चन्द्रावलीके सौन्दर्यसुधापानमें कृष्ण-चकोरकी अत्यासक्ति भी भाग जानेका एक कारण है)॥२१॥

लोचनरोचनी—सौति जनयति। प्रातीति वा पाठः। प्रा पूरणे॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—सौति जनयति। प्रातीति पाठे प्रा पूरणे॥२१॥

अथात्यन्तिकी लघुः—

अन्या यतोऽसि न न्यूना सा स्यादात्यन्तिकी लघुः।
त्रैविध्यसंभवेऽप्यस्या मृदुतैवोचिता भवेत्॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकी लघु—जिस नायिकासे अन्य कोई भी न्यून नहीं है, वे आत्यन्तिकी लघु कहलाती हैं। इनमें प्रखरा आदि तीनों भेद सम्भव होनेपर भी मृदुता ही समुचित है॥२२॥

यथा—

निजनिखिलसखीनामाग्रहेणाघवैरी
कथमपि स मयाद्य व्यक्तमामन्त्रितोऽस्ति।
क्षणमुरुकरुणाभिः संवरीतुं त्रपां मे
मदुदवसितलक्ष्मीं गोष्ठदेव्यस्तनुध्वम्॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजमें अपनी जन्मतिथि पूजाके व्रतादि उद्यापनोत्सवको लक्ष्यकर सभी व्रजदेवियाँ इस अवसरपर श्रीकृष्णको निमन्त्रितकर अत्यन्त आनन्दका उपभोग किया करती हैं। इसे देखकर किसी आत्यन्तिकी लघु यूथेश्वरीने अपनी अयोग्यताको मन–ही–मन समझकर इस विषयमें अनिच्छुक होनेपर भी अपनी सखियोंके द्वारा पुनः–पुनः प्रार्थनाके द्वारा अनुरोध किये जानेपर एक दिन साहसकर श्रीकृष्णको निमन्त्रण दिया एवं दैववश एकत्र मिलित व्रजसुन्दरियोंकी सभामें आकर अपने अभीष्ट कार्यकी विज्ञप्तिकर प्रार्थना कर रही है—"अहो गोष्ठदेवीगण! आज मेरी जन्मतिथि–महोत्सवमें सभी सखियोंके आग्रहसे ही मैंने अघारि (श्रीकृष्ण) को भी साक्षात् रूपसे निमन्त्रित किया है। अतएव तुम्हारे निकट प्रार्थना है कि तुमलोग क्षणभरके लिए भी अधिकतर करुणा विस्तारपूर्वक मेरी लज्जा ढककर मेरी गृहशोभाका सम्पादन करो॥"२३॥

लोचनरोचनी—उदवसितं गृहम्॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—निजेति। स अघवैरी आमन्त्रितोऽद्य मज्जन्मतिथौ मत्पितृभ्यां कृतमहोत्सवाहूतभोजितोऽपि सायं मदीयकुञ्जे आगत्य किंचित् भुङ्क्ष्वेति निवेदितः। किन्तु तस्य युष्मदधीनत्वात् युष्मत्साहाय्यं विना स मे मनोरथो न स्यादित्याह—क्षणमिति। उदवसितलक्ष्मीं गृहशोभाम्। "गृहं गेहोदवसितम्" इत्यमरः। यूयमप्यागत्य किंचिद्भुक्त्वा मां कृतीर्थीकुरुतेति भावः। अत्र सखीनामाग्रहेणेति स्वस्यायोग्यता व्यञ्जनया तथा सखीजनप्रेषणं विना सर्वयूथेश्वरी संसदि स्वयमागमनेन क्षणमित्यादिभिर्विनयैश्च ताः सर्वा एव प्रसन्ना स्तस्या दूत्यं तद्दिने चक्रुरिति ज्ञेयम्॥२३॥

न समा न लघुश्चाद्या भवेन्नैवाधिकान्तिमा।
अन्यास्त्रिधाधिकाश्च स्युः समाश्च लघवश्च ताः॥२४॥

विनात्यन्ताधिकां तेन सर्वासु लघुता भवेत्।
सर्वास्वधिकता च स्याद्विनैवात्यन्तिकीं लघुम्॥२५॥

आद्यैकैवान्तिमा द्वेधा मध्यस्था नवधोदिताः।
इत्यसौ यूथनाथानां भिधा द्वादशधोदिता॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकी अधिका सम और लघु नहीं हो सकती। इसलिए वे एक प्रकारकी होती हैं। आत्यन्तिकी लघु कभी भी अधिका नहीं हो सकती है। इसलिए वे समा और लघु होंगी। मध्यस्थिता अन्यान्य तीन—आपेक्षिकाधिका, समा और आपेक्षिकी लघुके तीन भेद हैं। आत्यन्तिकी-अधिकाको छोड़कर सभी नायिकाएँ ही लघु हैं। आत्यन्तिकलघुको छोड़कर सभीका अधिकात्व सम्भव है। अतएव (१) आत्यन्तिकाधिका, (२) आत्यन्तिकलघु (समा और लघु), मध्यवर्तीगण अधिक, सम और लघुके भेदसे ९ प्रकारकी हैं। सब यूथेश्वरियोंके कुल १२ भेद स्वीकार हुए। (१) आत्यन्तिकाधिका, (२) आत्यन्तिकीलघु, (३) समालघु, (४) अधिकमध्या, (५) सममध्या, (६) लघुमध्या, (७) अधिकप्रखरा, (८) समप्रखरा, (९) लघुप्रखरा, (१०) अधिकमृद्वी, (११) सममृद्वी, तथा (१२) लघुमृद्वी॥२४–२६॥

लोचनरोचनी—न समेत्युक्तमेव विशदयति—विनेति॥२५॥

आद्येति। आद्या आत्यन्तिकाधिका, अन्तिमा आत्यन्तिकी लघुः। एषा त्वधिका न भवेदेव, तेन समा लघुश्चेति द्वेधा, आद्यया सह त्रयः। मध्यस्थास्त्वधिकप्रखरादिभेदेन मिलित्वा द्वादशभिदा मताः॥२६॥

आनन्दचन्द्रिका—आद्या अत्यन्ताधिका एकविधा एव। अन्तिमा आत्यन्तिकी लघुः, नाधिका न कस्या अप्यधिका तेन सा लघुरेव। किन्तु तत्सदृश्योऽन्या अपि बह्व्यो वर्तन्त इति ताभिः समा चेति द्विविधा। अन्या मध्यस्थिताः आपेक्षिकाधिका, समा, आपेक्षिकलघुश्चेति॥२४॥

यैव स्वलघुमपेक्ष्याधिका सैव तत्क्षण एव स्वाधिकामपेक्ष्य लघुः, स्वसदृशावपेक्ष्य समेत्येवं मध्यस्थानां त्रैविध्यं स्पष्टयति—विनेति॥२५॥

॥ षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

सप्तमोऽध्यायः
अथ दूतीभेद–प्रकरणम्

अथाश्रितसहायानां कृष्णसंगमतृष्णया।
एतासां पूर्वरागादौ दूत्ययुक्तिर्विलिख्यते॥१॥
दूती स्वयं तथाप्ता च द्विधात्र परिकीर्तिता॥२॥

तात्पर्यानुवाद—आश्रित–सहाया (अपनी अभीष्ट साधिकाओंका जो आश्रय ग्रहण करती हैं, उन) यूथेश्वरियोंके पूर्वराग आदिकी अवस्थाओंमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र अभिलाषा होनेपर उनके लिए दूतियोंकी सहायता लेना परम आवश्यक होता है अर्थात् जिस प्रकारसे नायकके लिए पूर्वराग अथवा अन्य अवस्थाओंमें नायिकाओंसे मिलनेके लिए दूत–दूतियोंकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नायिकाओंके लिए भी प्रियकान्तसे मिलनेके लिए दूतियाँ ही मुख्य सहायक होती हैं। इसलिए दूतीभेद प्रकरणमें इस विषयको दिखलाया जा रहा है। दूतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—स्वयंदूती और आप्तदूती॥१–२॥

आनन्दचन्द्रिका—यथापूर्वं नायकभेदानन्तरं तस्य दूत्याद्यर्थं नायकस्य सहायाः उक्तास्तथैव नायिकाभेदानन्तरं तस्याः सहायानां वक्तव्यत्वे मुख्यं साहाय्यं हि दूत्यमिति प्रथमं दूत्य एवोच्यन्ते। तद्वचनेनैव सर्वा एव सहाया उक्ता भविष्यन्ति इत्यभिप्रायेणाह—अथेति॥१॥

तत्र स्वयंदूती—

अत्यौत्सुक्यत्रुटद्व्रीडा या च रागातिमोहिता।
स्वयमेवाभियुङ्क्ते सा स्वयंदूती ततः स्मृता॥३॥

स्वाभियोगास्त्रिधा प्रोक्ता वाचिकाङ्गिकचाक्षुषाः॥४॥

तात्पर्यानुवाद—स्वयंदूती—अत्यन्त अधिक उत्कण्ठाके कारण जिनकी लज्जा दूर हो गई है, जो अत्यन्त अधिक अनुरागके कारण विशेष रूपसे विमोहित हैं एवं स्वयं ही स्वाभिप्राय अर्थात् अपनी इच्छाको प्रकाश करती हैं, वे रसशास्त्रमें स्वयंदूती कहलाती हैं। स्वाभिप्राय प्रकाश अथवा स्वाभियोग तीन प्रकारके होते हैं—कायिक, वाचिक और चाक्षुष॥३–४॥

लोचनरोचनी—अत्यौत्सुक्यत्रुटद्व्रीडा या रागातिमोहिता च येति या-पदस्य द्विरावृत्त्यान्वयः। पूर्वा चेत् स्वयमभियुङ्क्ते नायकं प्रति भावं प्रकाशयति, तदा उत्तरा तु सुतरामेवेति भावः। औत्सुक्यं रिरंसामयत्वेऽपि संभवति। रागस्तु रतिमयत्व एवेति विशिष्टतया पृथगुक्तिः॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—या चेति। चकाराद् या अत्यौत्सुक्यत्रुटद्व्रीडेति या-पदस्यावृत्त्यान्वयः। स्वयमेवाभियुङ्क्ते स्वाभिप्रायं प्रकाशयति सा स्वयंदूती। तत्र प्रथमा अलब्धाङ्गसङ्गा प्रायेण पूर्वरागवती, द्वितीया लब्धाङ्गसङ्गापि रागेणनुरागेणातृप्ता अतिमोहिता स्थायिभावेनैव विस्मारितलज्जाधैर्यशङ्का च ज्ञेया। आत्मानमलब्धाङ्गसङ्गमिव मन्यमानेत्यर्थः॥३॥

वाचिकााङ्गिकावध्यात्मादित्वात् ठगन्तौ॥४॥

तत्र वाचिकः—

वाचिको व्यङ्ग्य एवात्र स शब्दार्थभवो द्विधा।
उक्तौ व्यङ्ग्यौ च तौ कृष्णपुरःस्थविषयौ द्विधा॥५॥

तात्पर्यानुवाद—वाचिक स्वाभियोग—व्यञ्जना वृत्तिगम्य अपनी अभिलाषा ही वाचिक स्वाभियोग है। ये दो प्रकारके होते हैं—शब्दशक्ति-उत्थ और अर्थशक्ति-उत्थ। अत्यन्त गूढ़ तात्पर्यवाले शब्दोंको व्यङ्ग्य कहते हैं। इसलिए इनको शब्दोत्थव्यङ्ग्य और अर्थोत्थव्यङ्ग्य भी कहा गया है। ये व्यङ्ग्य भी दो प्रकारके होते हैं—एक श्रीकृष्ण-विषयक और दूसरा अग्रवर्तिद्रव्य-विषयक॥४–५॥

लोचनरोचनी—व्यङ्ग्य ऐवति वाच्यत्वे तु रसविघातः स्यादित्यभिप्रायात्। तदुक्तं रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाच्यत्वदोष इति॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—व्यङ्ग्य एव व्यञ्जनावृत्तिगम्य एव अभिधावृत्तिगम्यत्वे रसाभासापत्तेः। यदुक्तं रसाभासमधिकृत्य "प्रकटप्रार्थनादिः स्यात् संभोगादेश्च" इति। शब्दार्थभवः, शब्दशक्त्युत्थोऽर्थशक्त्युत्थश्च। तौ शब्दार्थभवौ व्यङ्ग्यौ द्विधा भवतः। कृष्णश्च तत्पुरःस्थपदार्थविशेषश्च तौ विषये ययोस्तौ॥५॥

तत्र कृष्णविषयः—

स साक्षाद्व्यपदेशाभ्यां स्यात्कृष्णविषयो द्विधा॥६॥

तत्र साक्षात्—

साक्षाद् बहुविधो गर्वाक्षेपयाच्ञादिभिर्भवेत्॥७॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे श्रीकृष्ण-विषयक व्यङ्ग्य साक्षात् और व्यपदेश भेदसे दो प्रकारका होता है। साक्षात् श्रीकृष्ण-विषयक व्यङ्ग्य—गर्व, आक्षेप, याचना और नर्मादि भेदसे बहुत प्रकारका होता है॥६-७॥

तत्र गर्वेण शब्दोत्थो व्यङ्ग्यो यथा विदग्धमाधवे (६/२०)—

साध्वीनां धूरि धार्य्या ललितासङ्गेन गर्विता चास्मि।
हितमालपामि माधव पथि माद्य भुजङ्गतां रचय॥८॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **गर्वहेतुक शब्दोत्थ व्यङ्ग्य—**पद्माके हाथोंसे भेजे गए श्रीकृष्णके हाथोंसे लिखित पद्यका अभिप्राय जानकर ललिता पुष्पचयनके छलसे श्रीराधिकाजीको वृन्दावनके निकट लाई। वहाँपर श्रीराधिका श्रीकृष्णसे संलाप कर रही हैं—"हे माधव! मैं सारे व्रजमें पतिव्रता स्त्रियोंकी शिरोमणिस्वरूपा हूँ। ललिताके सङ्गसे अत्यन्त गर्वका अनुभव करती हूँ। अतएव मैं तुम्हें हितोपदेश कर रही हूँ कि आज मेरे पथमें भुजङ्गता (कामुकता) प्रदर्शन मत करो, शान्त हो जाओ।" इस उदाहरणमें "साध्वी स्त्रियोंकी शिरोमणि हूँ, ललिताके संगवशतः गर्विता हूँ, भुजङ्गता मत करो"—इन तीनों वाक्योंका गूढ़ तात्पर्य यह है कि श्रीमती राधिका कह रही हैं—"हे श्रीकृष्ण! मैं सुन्दरियोंमें सर्वश्रेष्ठ हूँ। ललिताख्य रसवशतः मैं गर्विणी हूँ। अतएव मुझे तुम्हारी भुजङ्गता प्रदान करो अर्थात् दोनों भुजाओंसे मेरा यथेष्ट आलिङ्गन करो।" यह गूढ़-अर्थके द्वारा गर्व-हेतुक व्यङ्ग्यका उदाहरण है॥८॥

लोचनरोचनी—साध्वीनां पतिव्रतानां पक्षे सुन्दरीणां 'धूरि' इति वोढव्ये मस्तकोपरीत्यर्थः। ललितायाः सङ्गेन, पक्षे ललिताख्यभावस्य, भुजङ्गतां षिड्गताम्; पक्षे भुजमिति पृथक् पदम्। मा निषेधे, पक्षे मा माम्॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा प्राह—साध्वीनां पतिव्रतानां सुन्दरीणां च धूरि चिन्तने, गणनायामिति यावत्। धूः स्यात् भारचिन्तयोः। यद्वा धुरि मस्तकोपरि वोढव्यवस्तुमध्ये या धार्या धर्तुमर्हेत्यर्थः। ललितायाः सङ्गेन, पक्षे ललिताख्यो यो भावविशेषस्तस्यासङ्गेन किम्वा ललितेनासङ्गेन सर्वोत्कृष्टया त्वय्यासक्त्या, भुजङ्गतां लाम्पट्यम्, पक्षे मा मां भुजङ्गतां प्राप्तां रचय, आलिङ्गितां कुर्वित्यर्थः। ततश्च तदहं नापराध्यामीत्यादिना विदग्धमाधवोक्ते श्रीकृष्णोक्तिचेष्टेति ज्ञेये। अत्र साध्वीनामिति ललितासङ्गेनेति भुजङ्गतामित्येषां पदानां परिवृत्यसहत्वाच्छब्दभवत्वम्॥८॥

अर्थोत्थो यथा—

> **तमालश्यामाङ्ग क्षिपसि किमपाङ्गश्रियमितः**
> **प्रसिद्धाहं श्यामा त्रिजगति सतीनां कुलगुरुः।**
> **समारब्धे यस्याः कथमपि मनाग्बाधनविधौ**
> **मृगीमालाप्येषा प्रसभमभितो हन्ति कुपिता॥९॥**

तात्पर्यानुवाद—अर्थोत्थ व्यङ्ग्य अर्थात् गूढ़ार्थके द्वारा व्यङ्ग्य—यूथेश्वरी श्यामा श्रीकृष्णसे मिलनके लिए वृन्दावनमें उपस्थित होकर कटाक्षभङ्गीसे भीतर-ही-भीतर अत्यन्त व्याकुल होकर गर्वके साथ अपने भावोंको छिपाकर अवहित्था पूर्वक कह रही है—"हे तमाल श्यामाङ्ग! (इसके द्वारा श्रीकृष्णकान्तिके माधुर्यसे श्यामाके हृदयकी उन्मादना सूचित हुई।) मेरे प्रति अपाङ्गभङ्गी (कटाक्ष) क्यों कर रहे हो? मैं जगतीतलकी सभी सती-स्त्रियोंकी कुलगुरुके रूपमें प्रसिद्ध हूँ। अतएव हमारे प्रति अपाङ्गभङ्गी प्रदर्शन मत करो। यदि मेरे लिए कुछ-कुछ बाधा उपस्थित होती है, तो यह मृगमाला (सखीसमूह) सहसा क्रोधित होकर आगमनपूर्वक सब प्रकारसे उन बाधाओंको दूर कर देती हैं। अतएव शान्त हो जाओ।" इस उदाहरणमें अर्थोत्थ व्यङ्ग यह है कि यहाँ कोई भी सखी उपस्थित नहीं है, मैं एकाकी हूँ, अतएव तुम यथेष्ट रूपमें उपभोग कर सकते हो॥९॥

लोचनरोचनी—मनाग्बाधनविधावित्येव पाठः संमतः॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—इतः इह मयि। मृगीमालापीत्यनेन मम सख्योऽप्यत्र न सन्तीति स्वच्छन्दमेकाकिनीं प्राप्तां मां यथेच्छसि तथा कुर्विति भावः। ततश्चैवं चेत्तव पातिव्रत्यप्रभावमद्य परीक्षिष्ये, कथं मृग्यो मां हनिष्यन्तीति श्रीकृष्णेन बलात् तस्याः कुचौ स्पृष्टौ। अत्र मृगीमालेत्यादिशब्दानां परिवृत्तिसहत्वात्तदर्थानां च परिवृत्त्यसहत्वादर्थभवत्वं ज्ञेयम्॥९॥

अथाक्षेपेण शब्दोत्थो व्यङ्ग्यो यथा—

अध्वानं व्रज धूर्त मा वृणु पुरः पश्याम्बरान्ते दृशं
निक्षिप्योरुपयोधरोन्नतिमिमां नष्टेन्दुलेखाश्रियम्।
नव्या कञ्चुलिकोज्ज्वला तनुरियं रागेण वल्गुश्रिया
यावन्न स्तिमिता सती कुटिल मे वैवर्ण्यमापद्यते॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—आक्षेपकृत शब्दोत्थ व्यङ्ग्य—श्रीकृष्णसङ्गकी अभिलाषासे किसी बहानेसे वृन्दावनमें उपस्थित हुई, किसी यूथेश्वरीको श्रीकृष्ण द्वारा अवरोध करनेपर वह आक्षेपपूर्वक व्यङ्गसे कह रही है—"हे व्रजधूर्त! मेरे मार्गको मत रोको। आकाशकी ओर दृष्टि निक्षेप करके तो देखो, भयङ्कर मेघ उठ रहे हैं। चन्द्ररेखाकी श्री भी नष्ट हो रही है। हे कुटिल! मैंने अभी-अभी लाल रङ्गकी नयी कञ्चुलिका धारण की है। जब तक यह वर्षाके जलसे भीगकर बदरङ्ग नहीं हो जाती, उसके पहले ही मार्ग छोड़कर दूर हट जाओ।" इस उदाहरणमें आक्षेप हेतु शब्दोत्थ व्यङ्ग यह है कि "हे कुटिलचित्त! मेरी कञ्चुलिके सूक्ष्म होनेसे उसके अन्दरकी चीज भी देखी जा सकती है, अतएव कञ्चुलिकाके भीतर दृष्टिनिक्षेप पूर्वक देखो। सामने ही अत्यन्त उन्नत पयोधर हैं। बहुत दिनों तक तुम्हारे अङ्गका सङ्ग प्राप्त न होनेके कारण इनके ऊपर नखका चिह्न विलुप्त हो गया है, अतएव पुनः नखोंके द्वारा यहाँ चन्द्ररेखाओंको अङ्कित करो।" पक्षमें शीघ्र ही पथ छोड़ दो। दूसरे पक्षमें बिना किसी शब्दके मुझे चुपचाप अङ्गीकार करो। वस्त्र सूक्ष्म होनेके कारण तुम भलीभाँति मेरे उन्नत कुचयुगलको देख सकोगे। इनके ऊपर तुम्हारे नखोंके चिह्न विलुप्त हो गए हैं। अतः पुनः यहाँ नखाङ्कोंको विभूषित करो। मेरा यह शरीर भी नवीन कञ्चुलिका धारण करनेसे उज्ज्वल हो रहा है। मनोज्ञ कान्ति और अनुरागसे लुब्ध होकर जब

तक वह विवर्णताको प्राप्त न हो, तब तक मुझे यहाँ रोके रखो। इस प्रकार यहाँ अर्थके द्वारा आक्षेपके बहाने शब्दोत्थ स्वाभियोग सूचित हो रहा है॥१०॥

लोचनरोचनी—अध्वानं व्रजधूर्त, मा आवृणु, पक्षे अध्वानमशब्दं यथा स्यात्तथा मा मां वृण्वङ्गीकुरु। अम्बरमाकाशं, पक्षे वस्त्रम्। इन्दुलेखा चन्द्रकला, पक्षे नखाङ्कः। नव्या नूतना पक्षे स्तव्या। वल्गुश्रिया रागेण रक्तिम्ना, पक्षे अनुरागेणोज्ज्वला कञ्चुलिकयोज्ज्वला, तनुः सूक्ष्मा, पक्षे शरीरम्। स्तिमिता आर्द्रा, पक्षे स्तब्धा। वैवर्ण्यं तूभयत्र समानम्॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् प्रखरा यूथेश्वर्याह—अध्वानमिति। अध्वानं मार्गं मावृणु किन्तु व्रज इतोऽपसर, पक्षे अध्वानं निःशब्दं यथा स्यात्तथा मामावृणु रुन्धि। हे व्रजधूर्तेति। तत्फलं त्वं जानास्येवेति भावः। अम्बरमाकाशं वस्त्रं च। पयोधरो मेघः स्तनश्च। नष्टेति स्पष्टम्, पक्षे नष्टा बहुदिनसंभोगाभावात् लुप्तेन्दुलेखाश्रीर्नखाङ्कशोभा यस्यां ताम्। नव्या नवीना। रागेण रक्तिम्नोज्ज्वला। तनुः सूक्ष्मा कञ्चुलिका। स्तिमिता आर्द्रा सती। वैवर्ण्यं वैरूप्यम्, पक्षे नव्या स्तव्या कञ्चुलिकयोज्ज्वला तनुर्देहः, रागेण प्रेम्णा स्तिमिता स्तब्धा सती। वैवर्ण्यं सात्त्विकभावविशेषम्। ततश्च किं व्यग्रासि पयोधरौ ते स्पष्टेन्दुलेखाश्रियौ कुर्वे इति तथा चक्रे॥१०॥

अर्थोत्थो यथा—

कदम्बारण्यानिकितव विकचं लुण्ठसि नवं
मदुत्सङ्गाद्दिष्ट्या वरपरिमलं मल्लिपटलम्।
रुचिस्फारं हारं हरसि यदि मे कोऽत्र शरणं
विदूरे यद्गोष्ठं जनविरहिता चेयमटवी॥११॥

तात्पर्यानुवाद—आक्षेपकृत अर्थोत्थ व्यङ्ग्य—कोई व्रजदेवी श्रीकृष्णसङ्गकी अभिलाषासे वृन्दावनमें उपस्थित होकर अपने सामने ही पुष्पचयनकारी श्रीकृष्णको देखकर स्वाभिप्राय सूचक आक्षेप कर रही है—"हे कदम्बारण्य-धूर्त! मेरे क्रोड़देशसे तुमने केवल प्रस्फुटित अत्यन्त सुगन्धित मल्लिका पुष्पोंको ही लिया है। यह मेरा सौभाग्य ही है; क्योंकि गोष्ठसे अत्यधिक दूर इस निर्जनवनमें यदि तुम मेरे मनोहर हारको लुण्ठन कर लेते, तो यहाँ मेरी कौन रक्षा करता? अच्छा हुआ जो तुमने मेरे मल्लिका पुष्पोंको ही चुराया।" यहाँ "हारकी चोरी, गोष्ठसे दूर, निर्जनवन" इत्यादिकी बातें उत्थापितकर श्रीकृष्णको समुचित उपदेश

करनेमें आक्षेपके छलसे यहाँ अर्थोत्थ व्यङ्ग सूचित होता है। यहाँपर गभीर अर्थके द्वारा व्यङ्ग्य यह है कि गोष्ठ अत्यन्त दूर है, वन भी निर्जन है, सम्पूर्ण रूपसे निर्जन है, मैं भी अकेली हूँ और किसी भी गुरुजनका यहाँ उपस्थित होना सम्भव नहीं है। अतएव तुम यथेष्ट रूपसे उपभोग कर सकते हो॥११॥

लोचनरोचनी—कदम्बारण्यानीत्यादौ यद्यपि तेन स्वयं महानुद्यमः कृतस्तथापि तस्याः स्वयमभियोगस्त्वौत्सुक्यस्वभावादेव मन्तव्यः॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—हे कदम्बवनश्रेण्यां कितव, एतद्वनपालकोऽहमिति कैतवेन चौरेत्यर्थः। विकचं फुल्लम्। मल्लिर्मल्लिका। विदूर इत्यादिना स्वसंभोगस्यौचित्यं निर्विघ्नत्वं च ज्ञापितम्। ततश्च दूरे गोष्ठं चेत्तर्हि ममैवाद्य आतिथ्यं गृहाणेति तां पाणौ धृत्वोपवेशयामासेति ज्ञेयम्॥११॥

अथ याच्ञा—

याच्ञा स्वार्था परार्थेति द्विधात्र परिकीर्तिता॥१२॥

तत्र स्वार्थयाच्ञया शब्दोत्थो व्यङ्ग्यो यथा—

पुष्पमार्गण-मनोरथोद्धता कृष्ण मञ्जुलतया तवानया।
रक्षितास्मि सविकाशया पुरो विस्फुरत् सुमनसं कुरुष्व माम्॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—याच्ञा अर्थात् याचना (माँगना)—स्वार्थ और परार्थ भेदसे याच्ञा भी दो प्रकारकी होती है। उनमेंसे स्वार्थ-याच्ञा शब्दोत्थ व्यङ्ग्य—कोई व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णको प्रार्थना-भङ्गीसे अपने वचनोंके द्वारा अपने अभियोग (अपनी अभिलाषा) को व्यक्त कर रही है—"हे श्रीकृष्ण! पुष्पचयनके लिए उच्छृंखल होकर मैं तुम्हारे इस मनोज्ञ पुष्पिता लताके द्वारा अवरुद्ध हो गई हूँ। लताके अग्रभागमें सुशोभित पुष्पोंको स्वयं चयनकर मुझे प्रदान करो।" पक्षान्तरमें कामकी अभिलाषासे उच्छृंखल होकर मैं तुम्हारे इस मनोहर सौन्दर्यके द्वारा आबद्ध हो रही हूँ। अतः मुझे प्रचुर रूपसे आनन्द प्रदान करो॥१२-१३॥

लोचनरोचनी—पुष्पमार्गणं पुष्पान्वेषणम्, पक्षे पुष्पमार्गणः कामः। मञ्जुलतया मनोरमया लतया, पक्षे मनोहरतया। विस्फुरत्सुमनसं विराजमानशोभनचित्तम्, पक्षे विराजत्सुष्ठुपुष्पाम्॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—पुष्पमार्गणं पुष्पान्वेषणम्, पक्षे पुष्पमार्गणः कामः। मञ्जुर्मनोरमा या लता तयात्र रक्षितास्मि स्थापितास्मि, पक्षे मञ्जुलतया सौन्दर्येण। विस्फुरत् सुमनसं प्राप्तविराजमानपुष्पामवचिन्वित्याज्ञापयेत्यर्थः। पक्षे विस्फुरत्सानन्दं प्राप्तसंभोगमिति यावत्। शोभनं मनो यस्यास्ताम्। ततश्च श्रीकृष्णः स्वयमेव पुष्पाण्यवचित्य तस्याः कुञ्चुलिकान्तर्धारयामासेति ज्ञेयम्॥१३॥

अर्थोत्थो यथा—

वृन्दारण्यं भुजगनिकराक्रान्तमश्रान्तमस्मात्
कात्यायन्यै कुसुमपटलीं जातभीर्नाहरामि।
तेन क्रीडोद्धतफणिपते श्रद्धयास्मि प्रपन्ना
त्वामेकान्ते दिश विषहरं मन्त्रमेकं प्रसीद॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—स्वार्थयाच्ञा अर्थोत्थ व्यङ्ग्य—"हे श्रीकृष्ण! इस वृन्दावनमें इस समय चारों ओर सर्प भरे पड़े हैं। इसलिए मैं कात्यायनी पूजाके लिए पुष्पचयन नहीं कर सकती। अतः हे उद्धत! कालीयमर्दक! मैं तुम्हारी शरणागत होती हूँ। निर्जनमें मुझे विषको नाश करनेका मन्त्र प्रदान करो।" इस पद्यमें एकान्त पदके द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रार्थनाके छलसे स्वयं अपनी अभिलाषाको व्यक्त कर रही है॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—एकान्त इति। तवात्र सखायो मम सख्यश्च न सन्तीति भावः। दिश देहि, विषहरमिति। कन्दर्पसर्पेण दष्टास्मीति द्योतयति। ततश्च मन्त्रस्योच्चैरुच्चारणमनुचितमिति मन्मुखसमीपे स्वदक्षिणं कर्णमर्पयेति तथा कुर्वतीं तां मन्त्रोपदेशमिषेण गण्डे चुम्बित्वा दक्षिणार्थं कञ्चुकीं जग्राहेति ज्ञेयम्॥१४॥

यथा वा—

समस्तमभिरक्षितुं जनमरन्ध्रवीरुद्घने
वने चरसि कीर्त्यसे त्वमुरुकीर्तिभाजां धुरि।
प्रसीद करुणां कुरु त्वरितमुद्दिशाध्वक्रमं
यदूद्वह वधूजनः श्रयतु विस्मृताध्वा व्रजम्॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें प्रगल्भाका स्वाभियोग (अपनी अभिलाषा प्रकाश) दिखलाकर यहाँ मध्याके स्वाभियोगको दिखला रहे हैं। "हे यदुनाथ! तुम निश्छिद्र लताजाल आच्छादित इस घने वनमें निखिल

लोगोंकी रक्षाके लिए भ्रमण कर रहे हो। ऐसा सभी कहते हैं कि परम यशस्वी व्यक्ति भी तुम्हारा ध्यान करते हैं। अतएव मैं तुम्हारी शरण लेती हूँ। तुम प्रसन्न होकर कृपापूर्वक शीघ्र ही मुझे मेरे घरका रास्ता बतला दो, जिससे यह वधू सहज ही अपने घर लौट सके।" यहाँ अपना अत्यन्त दैन्य-प्रकाश और पथभ्रान्ता शब्दसे अपने आपको परिजन सखियोंके सङ्गसे रहित सूचितकर प्रार्थनाके छलसे अर्थोत्थ स्वाभियोग ही सूचित हुआ॥१५॥

लोचनरोचनी—समस्तं गो-गोपाल-हरिणादिकम्; अरन्ध्रत्वं निश्छिद्रत्वम्। यदूद्वहेति व्रजेन्द्रस्यापि यदुवंशजत्वात्। तदेतद्वैष्णवतोषण्याख्य-दशमटिप्पण्यां श्रीकृष्णसन्दर्भे च प्रकाशितमस्ति॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—मन्त्रजिघृक्षायां स्वाभिप्रायः प्रायेणाद्घाटितो भवतीत्यपरितुष्यन्नाह; यद्वा, प्रगल्भायाः स्वाभियोगमुदाहृत्य मुग्धाया आह—यथा वेति। समस्तेति। अरन्ध्राभिर्निश्छिद्राभिर्वीरुद्भिर्घने निबिडे धुरि चिन्तने गणनायामिति यावत्। यदूद्वहेति। व्रजराजस्य यादवत्वम्। "यादवानां हितार्थाय धृतो गोवर्द्धनो मया" इति श्रीहरिवेशोक्तेः। विस्मृताध्वेति। अतएव त्वत्समीपमध्वानमेव प्रष्टुमायातास्मीति भावः। ततश्चानेन पथा आगच्छेति तां कियद्दूरमानीय संप्रत्यग्रेतनः कुटिलवल्लीवेष्टितः पन्थास्त्वया दुर्बलया पद्भ्यामुल्लङ्घयितुमशक्य इति समस्तमभिरक्षितुं जनमित्यादि तस्या वचः सत्यापयन्निव तां बलादुत्थाप्य स्ववक्षसोवाहेति ज्ञेयम्॥१५॥

परार्थयाच्ञा शब्दोत्थो यथाः—

सकृत्पीत्वा वंशीध्वनिनवसुधां कर्णचुलुकै
र्मदाली विभ्रान्ता लघिमनिकरोत्तालितमतिः।
सदाहं कंसारे कमपि गदमासाद्य विषमं
विवर्णा त्वां धन्वन्तरिमिह परं निश्चितवती॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—परार्थयाच्ञा शब्दोत्थ व्यङ्ग्य—कोई आपेक्षिकी प्रखरा सखी अपनी यूथेश्वरीकी दूतीके छलसे श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर श्लेषालङ्कारका प्रयोगकर श्रीकृष्णके प्रति अपने अनुरागको निवेदन कर रही है—"हे कंसारि! तुम्हारी वंशीध्वनिरूपी सुधा केवल एक बार अपने कर्णाञ्जलिमें पान करती हुई मेरी सखी मदाली विभ्रान्त हो रही है। लघुत्वकी अधिकतासे उसकी मतिका भी विपर्यय हो रहा है। वह सन्तप्त

और विवर्ण हो रही है। विषम रोगसे अभिभूत होकर केवल तुम्हें ही धन्वन्तरिके रूपमें निर्णीत किया है, अर्थात् केवल तुम्हीं धन्वन्तरि उसके विषम रोगको दूर कर सकते हो।" पक्षान्तरमें—"केवल एक बार मात्र अपने कर्णरूपी प्यालेसे तुम्हारी वंशीनादरूपी सुधाका पान करके सदाके लिए मेरी मति विपर्यस्त हो गई है। मैं सन्तप्त और विवर्ण हो रही हूँ। अतएव रोगका निर्णय न होनेके कारण रोगकी निरन्तर वृद्धि हो रही है। अतः रोगको दूर करनेके लिए महाचिकित्सकके रूपमें केवल तुम्हींको ही स्थिर किया है। तुम मेरे रोगको दूर करो।" यहाँ परार्थयाच्ञाके छलसे स्वाभियोग प्रकाशित हुआ है। इस पद्यमें यद्यपि दिखाई दे रहा है कि एक व्रजदेवीने अपनी प्रियसखी मदालीके सन्तापमय रोगकी बात कही है, तथापि ऊपरसे मदालीका झूठ-झूठमें नाम लेनेपर भी उसने अपने हृदय (स्वाभियोग) को ही प्रकाशित किया है॥१६॥

लोचनरोचनी—सुधां पीयूषम्, पक्षे दग्धशङ्खादिचूर्णम्। मदाली मम सखी, पक्षे मदश्रेणी। सदाहं सर्वदैवाहम्, पक्षे दाहसहितम्॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—सकृदिति। सुधां दग्धशङ्खादिचूर्णममृतञ्च। मदाली मम सखी। विभ्रान्ता विशिष्टभ्रमयुक्ता। सदाहं दाहेन सह वर्तमानम्, पक्षे स्नुहीदुग्धं वा, मदाली मदश्रेणी। सदाहं सदैवाहम्। "सुधा स्त्री लेपने मूर्व्यां स्नुही गङ्गेष्टकामृते" इति मेदिनी। गदं रोगं कामक्रीडां च। ततश्च तादृशमहं मन्त्रमौषधं च जानामि। यथा त्वदङ्गेष्वेव मन्त्रमयेन कवचेन कृतरक्षेषु तथा तन्मुखनेत्रादिषु केनापि प्रलेपविशेषेण लिप्तेषु तस्याः क्रमेण बहिरन्तर्दाहस्य प्रशमो भविष्यतीति श्रीकृष्णस्य प्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥१६॥

अर्थोत्थो यथा—

असूर्यंपश्यापि प्रियसहचरीप्रेमभिरहं
तवाभ्यर्णं लब्ध्वा मधुमथन दूत्यं विदधती।
द्रुतं तस्याः स्नेहं निशमय न यावच्छशिधिया
धयन्वक्त्रज्योत्स्नां निशि हतचकोरस्तुदति माम्॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—परार्थयाच्ञा अर्थोत्थ व्यङ्ग्य—एक समय लघुप्रखरा कोई सखी अपनी यूथेश्वरीकी दूतीके छलसे श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर अपने अभिप्रायको प्रकाश कर रही है—"हे मधुमथन! मैं

असूर्यपश्या अर्थात् सूर्यके द्वारा भी न देखी जानेवाली रमणी होनेपर भी प्रियसखीके प्रेमसे तुम्हारे निकट दूतीके रूपमें आई हूँ। आप शीघ्र ही उसके स्नेहके विषयमें श्रवण करो; क्योंकि, रात्रिकालमें उदय होनेवाले चन्द्रमाके भ्रमसे दग्ध चकोर मेरे वदनचन्द्रका पान करते–करते मुझे वेदना प्रदान करेगा।" इस श्लोकमें अपने मुखके चन्द्रत्व निरूपणसे परम माधुरीको सूचितकर प्रकट रूपमें ही प्रियसखीकी दूती होनेका छल बनाकर स्वयं यह दूती हुई। प्रियसखीका दौत्य करनेके लिए अपने उत्कर्षका प्रतिपादन क्यों कर रही है? अर्थात् यह अपनी प्रियसखीकी दूतीके बहाने अपने ही उत्कर्षको प्रकाशित कर रही है॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—असूर्यंपश्येत्यनेन स्वस्य दुर्लभदर्शनत्वं राजकन्यात्वं च। शशिधियेत्यादिना परमसौन्दर्यं माधुर्यं चाभिव्यज्याहमेव ते संभोगयोग्येति द्योतितम्। ततश्च तस्याः स्नेहं पश्चात् श्रोष्यामि प्रथमं भवत्या रक्षणोपायं चिन्तयामि तत्र यदि बहिरिह तिष्ठसि तदा दुष्टचकोरोऽयं न त्वां त्यक्ष्यति। इहैव गिरिगह्वरं चान्धतमसव्याप्तमेकाकिनी प्रवेष्टुं विभेष्यतोऽहमेव त्वामतिभीतां स्ववक्षसोऽन्तरे निन्हुत्य क्वापि क्षणं स्थित्वा चकोरं वञ्चयामि, तस्याः स्नेहं च श्रृणोमीति श्रीकृष्णोक्तिर्ज्ञेया। आदिशब्दाद्दैन्येनापि। "सख्यो ययुर्गृहमहं कलशीं वहन्ती पूर्णामतीव महतीमनुलम्बितास्मि। एकाकिनीं स्पृशसि मां यदि नन्दसूनो त्यक्ष्यामि जीवितमिदं सहसा पुरस्ते॥" अत्र जीवनं, पक्षे जलं च। अत्र हन्त कथं जीवनं त्वं त्यक्ष्यसि किंत्वहमेव त्यक्ष्यामीत्युक्त्वा तन्मूर्ध्नः कलशीं गृहीत्वा तस्या जलमपसारयामास श्रीकृष्ण इति ज्ञेयम्। "स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाहमेकाकिनी क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छायातमःसंहतिः। तन्मे सुन्दर कृष्ण मुञ्च सहसा वर्त्मेति राधागिरः श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः॥" इति शब्दार्थभव वाचिकोदाहरणद्वयं ज्ञेयम्॥१७॥

अथ व्यपदेशः—

जल्पो व्याजेन केनापि व्यपदेशोऽत्र कथ्यते॥१८॥

तेन शब्दोत्थो यथा—

त्यजन्कुवलयाधिकां घनरसश्रियोल्लासिनीं
पुरः सुरतरङ्गिणीं मधुरमत्तहंसस्वनाम्।
मलीमसपयोधरामपि मदान्ध पद्मिन्निमां
भजन्किमिव पङ्किलामहह कर्मनाशामसि॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—व्यपदेश—अन्य किसी दूसरी वस्तुके वर्णनके द्वारा अपने स्वाभिलाषको प्रकाशित करना ही व्यपदेश कहलाता है। शब्दोत्थ व्यङ्ग्य व्यपदेशका उदाहरण—कोई व्रजदेवी मदमत्त हस्तीके व्यपदेशसे श्रीकृष्णका तिरस्कार करती हुई स्वाभियोग (अपने हृदयकी अभिलाषा) को प्रकाशित कर रही है—"हे मदान्धे! पद्मिन् (हस्ती)! तुम नीलकमलसे भरी हुई मधुर सुशीतल निर्मल जलविशिष्ट प्रमत्त हंसोंकी मधुर कलकल ध्वनिसे युक्त सम्मुख प्रवाहिनी सुरतरङ्गिणी गङ्गाको त्यागकर मलिन जल, फेन और पङ्कसे भरी हुई कर्मनाशाकी सेवा कर रहे हो। हाय-हाय! क्या ही अद्भुत व्यापार है?" पक्षमें—"हे मदमत्त लीलापद्म धारण करनेवाले श्रीकृष्ण! पृथ्वी भरमें असमोर्द्ध्व निबिड़रसशोभासे परमोल्लासिनी, निबिड़शृङ्गाररसमत्त मधुर हंसध्वनिकी भाँति नूपुरोंकी ध्वनि विशिष्टा इस सामने खड़ी मुझे छोड़कर मलिनकुचद्वन्द्वा पापिनी एवं वैदग्ध्यचेष्टालोपिनीका सङ्ग कर रहे हो!" ॥१८-१९॥

लोचनरोचनी—व्यपदेश इति रसशास्त्र एवात्रापदेशस्य पारिभाषिकी संज्ञा, अन्यत्र त्वभिधैवोच्यते। व्यपदेशस्तु व्याज एवेति। व्याजश्चान्यवर्णनेनाभीष्टार्थबोधनम्। अयमेवाप्रस्तुतप्रशंसानामालङ्कारः ॥१८॥

त्यजन्नित्यत्र श्लेषाः स्पष्टा एव। तत्र वक्त्र्याः स्वपक्षे मामिति गम्यते। इमामित्यनेन नायिकान्तरस्य च तत्र गमनं व्यज्यते। नदीपक्षे सुरतरङ्गिणी गङ्गा। कर्मनाशा नाम काचित् मगधदेशसमीपवाहिनी। यद्यप्यत्र श्लेषोऽप्यस्ति तथाप्यसौ व्याजमय एवेति व्यपदेशमेव पुष्णाति॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—जल्प इति। श्रीकृष्णं प्रत्येवोक्तिः। किन्तु केनापि व्याजेनाप्रस्तुतप्रशंसयेत्यर्थः ॥१८॥

काञ्चित् प्रगल्भा कांचित् स्वविपक्षामवलोकयन्तं श्रीकृष्णं प्रति स्वमभियुञ्जाना तदपकर्षस्वोत्कर्षौ व्यञ्जयति—त्यजन्निति। कुवलयं नीलोत्पलं भूमण्डलं च। घनरसो जलं शृङ्गाररसश्च। सुराणां तरङ्गिणीं गङ्गां सुरतेषु रङ्गिणीं च। पयो जलं पयोधरौ स्तनौ च। पद्मिन् हे हस्तिन्! पक्षे लीलाकमलधारिन्। पङ्कः कर्दमः पापं च। कर्मनाशां मगधदेशीयपापनदीम्, पक्षे विदग्धक्रियाणां नाशो लोपो यस्याम्, अस्या अज्ञत्वादित्यर्थः। अत्र पुरःशब्देन पक्षे त्वदग्रवर्तिनीं मामित्यर्थः। ततश्च त्वमपाङ्गेनैव पुरः कुञ्जं प्रविशेत्याह श्रीकृष्ण इति ज्ञेयम्॥१९॥

अर्थोत्थो यथा—

मधुपैरनवघ्रातां विमुच्य माकन्दमञ्जरीं मधुराम्।
भ्राम्यसि मदकल कोकिल कथमिव वृन्दावने परितः ॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—अर्थोत्थ व्यङ्ग्य व्यपदेश—कोई व्रजदेवी कोकिलके बहाने श्रीकृष्णसे कह रही है—"हे मदमत्त कोकिल! तुम मधुकरसमूहके द्वारा अनाघ्रात (जिसको अभी तक किसीने भी न सूँघा हो) मधुर आम्रमुकुलको त्यागकर वृन्दावनमें इधर-उधर भ्रमण क्यों कर रहे हो?" इस पद्यमें अप्रस्तुत प्रशंसाके द्वारा 'आम्रमुकुल' शब्दके द्वारा स्वयं वक्त्री एवं 'कोकिल' शब्दसे श्रीकृष्ण ही वाच्य हैं। अतएव श्रीकृष्णसे स्वयं ही दूतीके रूपमें अपने मनके अभिप्रायको प्रकाशित कर रही है—यही सूचित होता है॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—मधुपैर्भ्रमरैः, पक्षे मधुर्वसन्तस्तं पान्ति पालयन्तीति मधुपा दक्षिणानिलाः तैरप्यनीताङ्गसुगन्धामित्यात्मनः सदा वस्त्रावृतसर्वाङ्गतया स्थितत्वेन परमलज्जालुत्वं व्यञ्जितम्, व्याख्यान्तरं वैरस्यं स्यात्। अतिशयोक्तिः प्राप्तस्यार्थस्य शिलष्टार्थतो बहिरङ्गत्वाच्च त्यक्तम्। अत्र मधुपैरित्येकेनैव पदेन परिवृत्त्यसहेनास्योदाहरणस्य शब्दोत्थत्वं नाशङ्कनीयं सर्वत्रालंकारशास्त्रे शब्दार्थोभयशक्त्युत्थध्वनिषु भूम्नो व्यपदेशा भवन्तीति नियमात्। द्वित्रैस्त्रिचतुरैर्वा शब्दैरर्थैर्वा परिवृत्यसहैस्तत्तद्व्यपदेशस्वीकारो न त्वेकेनैव शब्देनार्थेन वा दृष्टः। ततश्च भोः कोकिल! सर्वं परित्यज्य माकन्दमञ्जरीं त्वमुपभुङ्क्ष्व। तत्र मत्तः सकाशात् तत्प्रकारशिक्षेति सा श्रीकृष्णेन हठाच्चुम्बितेति ज्ञेयम्॥२०॥

अथ पुरःस्थविषयः—

शृण्वतोऽपि हरेर्मत्वा व्याजादश्रुतिवत्किल।
जल्पोऽग्रतः स्थिते जन्तौ पुरःस्थविषयो मतः ॥२१॥

तत्र शब्दोत्थो यथा—

आहूयमानास्मि कथं त्वयाऽलिनां स्वनैः स्वपुष्पावचयाय मालति।
आमोदपूर्णं सुमनोभिराश्रितं पुन्नागमेव प्रमदेन कामये॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—पुरस्थविषय—श्रवण करनेवाले हरि, मानो श्रवण नहीं कर रहे हैं, ऐसा समझकर सम्मुख स्थित किसी जन्तुके प्रति छलोक्तिको 'पुरस्थविषय' कहते हैं। उसमें शब्दोत्थ यथा—श्रीकृष्णके सामने मालती

लताको सम्बोधनकर कोई व्रजसुन्दरी कह रही है—"हे मालति! मधुकरोंके गुञ्जनके द्वारा अपने पुष्पोंको चयन करनेके लिए मुझे क्यों बुला रही हो? मैं तो सुगान्धित एवं कुसुमयुक्त पुन्नागकी आनन्द सहित कामना करती हूँ। पुन्नाग पक्षान्तरमें पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण। आमोदपूर्ण पक्षान्तरमें आनन्द पूर्ण। 'सुमनोभिराश्रित' पक्षान्तरमें उत्तम मनोविशिष्ट अर्थात् मनस्वी साधुगण भी जिनका आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्रजसुन्दरीने मालती लताको उपलक्ष्य करके श्रीकृष्णको अपना अभिप्राय (शब्दोत्थ स्वाभियोग) बताया है॥२१-२२॥

लोचनरोचनी—व्यङ्ग्यपक्षे पुन्नागः पुरुषोत्तमः॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—पुन्नागं, पक्षे पुरुषोत्तमं श्रीकृष्णम्। ततश्च श्रीकृष्णेन तत्रागत्य सखि श्रुतस्ते मनोरथस्तदेहि पुन्नागं ते दर्शयामीति सा हस्तग्राहं पुन्नागपुष्परचितशय्यामेव प्रापिता॥२२॥

अर्थोत्थो यथा—

अनवचितचरीयं चारुपुष्पा लताली
तव निखिलविहङ्गाश्चात्र निर्द्धूतशङ्काः।
त्वयि विचरितुमीहे तेन गोवर्द्धनाद्य
प्रकटय तमुपायं निर्वृता येन यामि॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—अर्थोत्थ पुरस्थविषय—श्रीकृष्णके सम्मुख गोवर्द्धनको लक्ष्यकर कोई व्रजदेवी अपनी अभिलाषाको प्रकट कर रही है—"हे गिरिराज! तुम्हारी इन लताओंके पुष्प किसीने पहले चयन नहीं किए हैं। यहाँके पक्षी भी भयशून्य हैं। अतः तुम्हारे तटप्रदेशमें विचरण कर रही हूँ। ऐसा कोई उपाय बतलाओ कि मैं अपने मनोऽभीष्टको पूर्ण कर सकूँ।" इस पद्यमें विहङ्गमोंके लिए भी शङ्काराहित्य तथा निर्जनता इत्यादिके द्वारा अपने स्वाभिलाषको प्रकाश करना सूचित हो रहा है॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—निर्वृता सिद्धमनोरथा। ततश्च तत्रागत्य श्रीकृष्णेनोक्तम्—"अत्र गह्वरे साक्षात् प्रकटीकृतमूर्तिना श्रीगोवर्धनेन गिरिराजेनाहमुक्तः बहिर्मद्भक्ता काचिन्मह्यं किंचित् प्रार्थयते तां मत्समीपमानय" इति। अतः सखि! तं नमस्कर्तुं प्रविशेति सा गह्वरं नीता॥२३॥

यथा वा—

> **प्रसिद्धः साध्वीनां व्रतहरविनोदो व्रजपतेः,**
> **सुतोऽयं त्वं वाचाप्यलमसि निरोद्धुं न मृदुला।**
> **अहो धिङ् मूढाहं तदपि गहने ग्रन्थिललता-**
> **शताक्रान्ते श्रान्ता यदिह विचराम्यस्य पुरतः॥२४॥**

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें मध्यमाके स्वयंदौत्यका उदाहरण देकर यहाँ प्रगल्भाका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीकृष्णके सामने ही कोई सखी अन्य सखीसे कह रही है—"हे सखि! ये व्रजेन्द्रनन्दन सखियोंके पातिव्रत्य धर्मको ध्वंस करनेमें प्रसिद्ध हैं। तुम भी अत्यन्त मृदुल होनेके कारण केवल एकबार कुछ कहकर भी उसे रोक नहीं सकती। अहो! मैं तो मूर्ख हूँ। मुझे धिक्कार है; क्योंकि ये सब वृत्तान्त जानकर भी शत-शत लताओंके जालमें, जो दूसरोंके लिए प्रवेशके लिए असाध्य है, उसमें परिश्रान्त (शीघ्रतासे गमन करनेमें असमर्थ) होकर भी यहाँ इनके सम्मुख ही विचरण कर रही हूँ।" यहाँ श्रीकृष्णके सामने उसके सतीत्व-हरणके प्रसङ्गसे स्वाभियोग ही व्यक्त हुआ है॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र पुरःस्थशब्देन स्थावरो जङ्गमश्चोच्यते इति ज्ञापयितुमाह—यथा वेति। नालं न समर्थः। ग्रन्थिलेत्यन्यजनागमनासामर्थ्यम्, श्रान्तेति स्वस्य धारणासामर्थ्यम्। ततश्च तत्रागत्य तेनोक्तं "सुन्दरि! सख्या सह संवादस्ते मया श्रुतः। मत्त एव त्वं बिभेषि। श्रीविष्णोः शपथं करोमि तव साध्वीत्वं नैवाहं ध्वंसयिष्यामि। कः खलु विश्वस्तघाती मादृशो भवितुमीष्टे तदत्र कुञ्जे पुष्पशय्यायां क्षणं स्वपिहि वनविहारश्रान्तासीति मम दयोत्पद्यते अहमेवात्र रक्षकोऽस्मि माऽन्यजनागमनं शङ्किष्ठाः" इति॥२४॥

अथाङ्गिकाः—

> **अंगुलिस्फोटनं व्याजसंभ्रमाद्यङ्गसंवृतिः।**
> **पदा भूलेखनं कर्णकण्डूतिस्तिलकक्रिया॥२५॥**
>
> **वेशक्रिया भ्रुवोर्धूतिः सख्यामाश्लेषताडने।**
> **दंशोऽधरस्य हारादिगुम्फो मण्डनशिञ्जितम्॥२६॥**
>
> **दोर्मूलादिप्रकटनं कृष्णनामाभिलेखनम्।**
> **तरौ लताया योगाद्याः कृष्णस्याग्रे स्युराङ्गिकाः॥२७॥**

तात्पर्यानुवाद—आङ्गिकाभियोग—श्रीकृष्णके सामने अपनी अंगुलियोंको चटकाना, छल हेतु सम्भ्रम (शीघ्रता, शङ्का और लज्जा आदि) वशतः अपने अङ्गोंका आच्छादन, चरणोंकी अंगुलियोंके द्वारा भूमिलेखन, कानोंको खुजलाना, तिलकरचना, वेशरचना, भ्रू-कम्पन, सखीके प्रति आलिङ्गन तथा ताडन, अधरदंशन, हारगुम्फन, भूषणोंकी ध्वनि, बाहुमूल उद्घाटन, श्रीकृष्णनामका लिखना, वृक्षोंके ऊपर लताओंका सम्योग कराना आदि विविध प्रकारके भाव श्रीकृष्णके सामने किए जानेपर उनको आङ्गिकाभियोग कहते हैं॥२५-२७॥

आनन्दचन्द्रिका—व्याजेन यः संभ्रमादिः आवेग-शङ्का-लज्जास्तेनाङ्गसंवृतिः॥२५॥

अनुवाद—यहाँ व्याजसे सम्भ्रमादि कामका वेग, शङ्का लज्जादिके द्वारा अङ्गका सम्वरण होना समझना चाहिए॥२५॥

तत्राङ्गुलिस्फोटनम्—

इयं सतीनां प्रवरा वराक्षी कथं नु लभ्येति मयि क्लमाढ्ये।
विशाखयास्फोट्यत पञ्चशाखशाखावली मद्व्यसनेन सार्धम्॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **अंगुलियोंको चटकाना—**एक समय विशाखाके सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शनकर क्षुब्ध श्रीकृष्णको विशाखाने अपनी स्वाभिलाषाको प्रकटकर उन्हें आश्वस्त किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण उसी वृत्तान्तको सुबलसे कह रहे हैं—"हे बन्धु! सतीचूड़ामणि इस विशाखाको कैसे प्राप्त करूँ?—यह सोचते-सोचते जब मैं क्लान्त और निराश हो गया, तब विशाखाने स्वयं ही अपने दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको इस प्रकारसे चटकाया, जिसे देखकर मेरी आशालता प्रस्फुटित हो गई। मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। मेरा सारा दुःख दूर हो गया॥"२८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलं प्रत्याह—इयमिति। "पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः। शाखास्तदङ्गुल्यः॥२८॥

व्याजसंभ्रमाद्यङ्गसंवृतिः—

पिहितमपि पिधत्ते मत्पुरस्तादुरो यद्वृतमपि मुहुरास्यं यत्पटेनावृणोति।
व्रजनवहरिणाक्षी तन्मनोजस्य मन्ये, शरपरिभवघूर्णाघ्रातचित्तेयमास्ते॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—सम्भ्रमादिवशतः अपने अङ्गोंका आच्छादन—एक समय निर्जनमें अपने दर्शनसे उत्कण्ठित किसी गोपीकी चेष्टाको देखकर, अपने प्रति उसका अनुराग अनुमानकर श्रीकृष्ण मन–ही–मनमें कह रहे हैं—"यह व्रजनारी मुझे देखकर जिस प्रकार अपने वक्षःस्थलका पुनः–पुनः आच्छादन कर रही है, आच्छादित वदनको भी पुनः वस्त्रोंसे अवगुण्ठित कर रही है, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस व्रजसुन्दरीका चित्त कामज्वरसे पराजित होकर भ्रमित हो रहा है॥"२९॥

पदा भूलेखनम्—

कम्रं नम्रमुखी लिलेख चरणाङ्गुष्ठेन गोष्ठाङ्गने,
यत्किंचिद्व्रजसुन्दरी मयि दृशोर्वृत्ते नवप्राघुणे।
तेनानङ्गनिदेशपट्टपदवीमासाद्य मन्मानसं,
क्षिप्त्वा तत्कुचशैलसंकटतटीसन्धौ बलात्कीलितम्॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—चरणोंके द्वारा भूमिलेखन—श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न चिन्ताके कारण अपने हाथों या पैरोंकी अंगुलियोंसे भूमिपर कुछ लिखती हुई व्रजकी नवीन किशोरीको देखकर विवशचित्त श्रीकृष्ण उसकी चेष्टाका अनुवाद करते हुए सुबलसे कह रहे हैं—"अहो! आज मैं एक व्रजसुन्दरीके नयनपथमें प्रथम पथिक बना। मुझे देखकर इस व्रजसुन्दरीने गोष्ठाङ्गनमें अपने चरणोंके अंगुष्ठके द्वारा जो कुछ मोहन रूपसे लिखा है, उससे मेरा मन कामदेवके आज्ञापत्रको प्राप्त होकर उसके कुचगिरियुगलके संकीर्ण संधिस्थलमें बलात् बद्ध हो गया है॥"३०॥

लोचनरोचनी—नवप्राघुणे नवातिथौ, कीलितं संयतम्। "बद्धे कीलितसंयतौ" इत्यमरः॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—कम्रमिति। नवप्राघुणे नवीनातिथौ तेन लिखनेन कर्त्रा अनङ्गस्य निदेशेन यः पट्टो लेखभूमिका तस्य पदवीं कक्षामासाद्य प्राप्य स्वधारकेण केनापि द्वारा तस्याः एव कुचयोये संकटतय्यौ संकीर्णे कूले तयोः संधौ मध्यनिखातरेखायामित्यर्थः। क्षिप्त्वा बलात् प्रवेश्य कीलितं बद्धम्। "बन्धे कीलितसंयतौ" इत्यमरः। अर्थात् ताभ्यां तटीभ्यामेव भूलेखनकाले बाह्वोः संकोचेन तदुपरि निवेशिताभ्यामित्यर्थः। अत्रेयं विवृतिः—कन्दर्पेण संतुष्यता मल्लोचनाय सर्वं

राधाङ्गराज्यं दत्तं तत्र स्वत्वारोपदार्ढ्याय चरणाङ्गुष्ठलेखन्या भूपत्रिकायां पट्टलेखश्च दत्तः। ततश्च तस्मिन्नेव राज्ये मन्मनसश्च लोभं दृष्ट्वा कुपितेनेव मल्लोचनेन तदपराधशान्त्यर्थं पर्वतद्वय-संधिकारायां तन्निबध्य स्थापितमिति॥३०॥

कर्णकण्डूतिः—

रक्ताङ्गुलीशिखरघट्टनलोलपाणि–शिञ्जानकङ्कणकृतस्मरतूर्य्यशङ्कम्। लीलोच्चलत्कनककुण्डलमत्र कर्ण–कण्डूयनं व्रजसरोजदृशः स्मरामि॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—कानोंको खुजलाना—किसी निर्जन प्रदेशमें श्यामसुन्दरके दर्शनसे उत्पन्न हृतक्षोभसे धर्षिता व्रजकिशोरी अपने कानोंको खुजलाने लगी। उसे ऐसा करता देखकर श्रीकृष्ण अत्यन्त अधीर हो उठे। इस घटनाको देखकर सुबल द्वारा क्षोभका कारण पूछे जानेपर उन्होंने गद्‌गद वाणीसे कहा—“अपनी लाल-लाल अंगुलियोंके अग्रभागके द्वारा चञ्चल हाथोंके कङ्कणसमूह, जो व्रजसुन्दरीके कानोंको खुजलानेके समय, कामदेवकी भेरीकी शङ्का उत्पन्न कर रहे थे एवं कनक-कुण्डल भी लीलाके द्वारा इतस्ततः सञ्चलित अर्थात् हिलडुल रहे थे, मैं उसे स्मरण कर रहा हूँ।” यहाँ ‘मेरी शङ्का’ का गूढ़ार्थ यह है कि उसके कङ्‌नकी ध्वनि, कामदेवकी भेरीकी मधुर-ध्वनिकी भाँति मेरे हृदयमें काम उत्पन्न कर रही है॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—रक्ताङ्गुली अरुणवर्णवामहस्तकनिष्ठाङ्गुली तस्याः शिखरघट्टनेन कर्णरन्ध्र प्रवेशितस्याग्रभागस्य चालनेन लोलानि यानि पाणिस्थशिञ्जानकङ्कणानि तैः कृता स्मरतूर्यस्य कन्दर्पवाद्य विशेषस्य शङ्का भ्रमो यत्र तत्॥३१॥

तिलकक्रिया—

सानन्दं शरदिन्दुसुन्दरमुखी सिन्दूरबिन्दूज्ज्वलं,
बन्धूकद्युतिना करेण तिलकं गान्धर्विका कुर्वती।
त्वामालोक्य शिखण्डशेखर सकृत्कर्णोच्चलत्कुण्डला,
रुढं चेतसि रागकन्दलमिव व्यक्तं व्यतानीद्बहिः॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—तिलकरचना—एक समय किसी निर्जन प्रदेशमें श्रीकृष्णके दृष्टिपथमें रहकर श्रीमतीराधिका तिलकरचना कर रही थी। उसे देखकर कुन्दलता उनके अनुरागका श्रीकृष्णके निकट वर्णन कर रही हैं—“हे शिखण्डचूड़! एकमात्र तुम्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नतासे शरदेन्दु-सुन्दरमुखी

श्रीमती राधिका अपने बन्धूक–द्युतिशाली लाल–लाल हाथोंसे सिन्दूर बिन्दुके द्वारा उज्ज्वल तिलककी रचना कर रही हैं। उनके कर्ण–कुण्डल इतस्ततः दोदुल्यमान हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने हृदयके भीतर उत्पन्न अनुराग–अंकुरको बाहर प्रकाशित कर रही हैं॥"३२॥

आनन्दचन्द्रिका—कुन्दवल्ली श्रीकृष्णं प्रत्याह—सानन्दमिति। सकृदालोक्य आलोकनकाले गण्डस्य तिरश्चीनत्वात् कुण्डलस्य चाञ्चल्यं रागस्य कन्दलमनुरागाङ्कुरं चेतसि रूढं पूर्वमेवोत्पन्नं संप्रति बहिरपि व्यक्तमकार्षीदित्युत्प्रेक्षा तिलकस्याङ्कुराकारत्वात्॥३२॥

वेशक्रिया—

हरौ पुरःस्थे करपल्लवेन सलीलमुल्लास्य मिलन्मरन्दम्।
नालीकनेत्रा निज कर्णपालीं पाली लवङ्गस्तबकं निनाय॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—वेशरचना—एक समय यूथेश्वरी पाली श्रीकृष्णके सन्मुख अपने वेशकी रचना कर रही थी। उसे देखकर निकट अवस्थित वृन्दा सुबलजीको कह रही है—"कमलनयना पाली श्रीकृष्णके सन्मुख बैठकर लीलाक्रमसे मकरन्दस्रावी लवङ्ग–स्तवकको उठाकर अपने कानोंमें धारण कर रही है॥"३३॥

लोचनरोचनी—"पाली कर्णलताग्रे स्यात्" इति विश्वः॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—नालीकनेत्रा कमललोचना श्लेषेण अव्यर्थनेत्रा श्रीकृष्णमुखशोभा–पायित्वात्॥३३॥

भ्रुवोर्धूतिः—

विधुन्वती मदनधनुर्भयंकरं, भ्रुवोर्युगं कथय किमद्य खिद्यसे।
विशाखिके मुखशशिकान्तिशृंखला, बबन्ध ते मधुरिपुगन्धसिन्धुरम्॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—भ्रूकम्पन अर्थात् भ्रूभङ्गी—किसी समय अपने मुख–माधुरीके द्वारा श्रीकृष्णको विवशकर अपनी भौहोंको ताननेवाली विशाखाको वृन्दाजीने परिहासके छलसे कहा—"हे विशाखे! आज तुम मदनधनुषसे भी भयङ्कर अपने भ्रू–युगलोंको तानकर क्यों वृथा खिन्न हो रही हो? तुम्हारे वदनचन्द्रकी कान्ति–शृंखला ही तो इस समय मधुरिपु (श्रीकृष्णरूपी मत्तमातङ्ग) का बन्धन कर रही है॥"३४॥

लोचनरोचनी—गन्धसिन्धुरो मदस्त्रावी हस्ती॥३४॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा प्राह—विधुन्वतीति। कथमसौ मत्समीपमायातीति भ्रूधूननकारणं ज्ञेयम्॥३४॥

सख्यामाश्लेषः—

पुरः कलय मण्डलीकृतकठोरवक्षोरूहं,
चलत्कनककङ्कणक्वणिततुङ्गितानङ्गया ।
अपाङ्गमघमर्दने नयनवीथिनव्यातिथौ,
प्रसार्य परिषस्वजे सहचरी चिरं चित्रया॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—सखीके प्रति आलिङ्गन—पहले श्रीकृष्णका दर्शनकर महोल्लाससे अपनी सखीका आलिङ्गनकर अपने भावोंको प्रकाश करनेवाली चित्राको देखकर रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीसे कह रही हैं—"सखि! देखो तो अघारि आज चित्राके नयनपथके नवीन अतिथि होनेपर वह अपाङ्गभङ्गीके द्वारा अपने अत्यन्त सुन्दर गोल और कठोर वक्षयुगलोंको दिखलाकर एवं सुवर्ण कङ्कणोंकी ध्वनिके द्वारा श्रीकृष्णके कामका उद्दीपनकर अपनी सहचरीको बहुत देर तक आलिङ्गन कर रही है॥"३५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीरूपमञ्जरी रतिमञ्जरीं प्रत्याह—पुर इति। तुङ्गितोऽनङ्गोऽर्थात् श्रीकृष्णस्य यया तया। लम्पटोऽयं मां मृद्वीमधिकं कदर्थयिष्यति तदहं पलायिष्ये इत्यवहित्थावर्तीं चित्रां काचित् प्रखरा तत्सखी प्रत्युवाच। मदग्रे भयगन्धमपि मा कार्षीर्विश्वसिहि, साटोपवाक्प्रपञ्चैरयं मया पराजेतव्य इति। अतः सा प्रियसखी कल्याणी भवेति चित्रयालिङ्गितेत्यालिङ्गने कारणमूह्यम्॥३५॥

सखीताडनम्—

विमुञ्च निखिलं वशीकरणकारणान्वेषणं,
मनस्त्वयि विशाखया मुरहरोपहारीकृतम्।
मुहुर्यदनया भवत्पदसरोजकक्षामिल–
त्तडिच्चलदृगन्तया स्फुटमताडि पुष्पैः सखी॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—सखीका प्रताड़न—विशाखाके नवीन वेशकी माधुरी और अङ्गोंका विलास दर्शनकर परम उत्कण्ठासे उसको प्राप्त करनेके

विषयमें विविध प्रकारके उपायोंको अवलम्बन करनेवाले श्रीकृष्णको और उसी समय स्वाभिलाष प्रकाश करनेवाली विशाखाको देखकर सुबल नायकका धैर्य-बन्धन करा रहे हैं—"हे श्रीकृष्ण! अब तुमको विशाखाके प्रति वशीकरण उपाय प्रयोग (नानामन्त्रौषधि ढूँढ़ने) करनेकी आवश्यकता न होगी; क्योंकि उसने अपना मन और आत्मा सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें उपहार दे दिया है। 'यह अत्यन्त असम्भव है'—ऐसा मत समझो; क्योंकि वह तुम्हारे चरणकमलोंकी ओर बारम्बार तड़ितके समान चञ्चल कटाक्ष निक्षेपपूर्वक अपनी सखीको पुष्पोंके द्वारा प्रहार कर रही है॥"३६॥

आनन्दचन्द्रिका—सुबलः श्रीकृष्णमाह—विमुञ्चेति। सखि, फलितस्तव मनोरथो यदयं त्वदभिमुखमायाति कृष्णः तदस्मिन्नपाङ्गं समर्पयेति परिहसन्ती सखी पुष्पैरताडि॥३६॥

अधरदंशः—

भजति पथि दृशोर्व्रजेन्द्रसूनौ मदनमदोन्मुदिता पुरस्तवाली।
इयमिह कुपितेव पश्य सख्यै विधुवदना रदनच्छदावदाङ्क्षीत्॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—अधरदंशन अर्थात् होठोंको दबाना—श्यामला ललितासे कह रही है—"हे ललिते! इधर देखो तो, व्रजेन्द्रनन्दन जब तुम्हारी सखी श्रीराधाको सामने दिखाई दिए, तो वह मदनमदसे अत्यन्त मत्त होकर मानो सखी विशाखाके प्रति झूठ-मूठमें कुपित होते हुए श्रीकृष्णको दिखाकर अपने अधरका दर्शन कर रही है॥"३७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामला ललितां प्रत्याह—भजतीति। सख्यै कुपितेवेति। कुटिले विशाखिके पुष्पावचयनमिषेण दूरमानीयास्य लम्पटस्य हस्ते मां प्रक्षिपसि तिष्ठ तिष्ठ तत्प्रतिफलमहं च ते दास्यामीति द्योतयति॥३७॥

हारादिगुम्फाः—

केयं पुरः स्फुरति फुल्लसरोरुहाक्षी,
सव्ये यया सुबल मामवलोकयन्त्या।
आवृत्य मौक्तिकसरे परिगुम्फ्यमाने,
चेतोमणिर्मम सखे तरलो व्यधायि॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—हारादिगुम्फन—किसी समय निर्जन प्रदेशमें श्रीकृष्णको देखकर उत्सुकतासे पूर्ण होकर उनके नेत्रपथमें रहकर मुक्ताहार ग्रन्थनमें आसक्त किसी व्रजनागरीको देखकर परम विवश श्रीकृष्ण सुबलसे उसके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं—"हे सुबल! यह सामने फुल्लकमलाक्षी नारी कौन है? मुझे देखकर अपनी ग्रीवाको बाईं ओर फिराकर उसने मुक्ताहार ग्रन्थन करते-करते मेरी चित्तरूपी मणिको चञ्चल कर दिया है॥"३८॥

लोचनरोचनी—आवृत्य अभ्यस्य। तरलो नायकः, पक्षे चञ्चलः॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—आवृत्य मच्चेतोमण्याकर्षणसमर्थं स्वापाङ्गदस्युं मयि प्रस्थापयितुं ग्रीवां विवृत्येत्यर्थः। मौक्तिकसरे मौक्तिकमाल्ये। तरलो मध्यनायकः, पक्षे चञ्चलः॥३८॥

मण्डनशिञ्जितम्—

विलोक्य मां श्यामलया विदूरतः संकीर्यमाणा मणिकङ्कणावली।
वितन्वती झङ्कृतिडम्बरं मुहुः शङ्के ब्रवीत्यङ्गजराजशासनम्॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—मण्डनशिञ्जित अर्थात् भूषणोंकी झंकार—एक समय यूथेश्वरी श्यामला अपने सौन्दर्यसे उत्पन्न कामके मदमें स्वाभिप्रायकी व्यञ्जना कर रही थी। उसी समय श्रीकृष्ण उसे देखकर आशंका कर रहे हैं—"श्यामला दूरसे मुझे देखकर अपनी सोनेकी चूड़ियोंके द्वारा ऐसे झंकार कर रही है, मानों बारम्बार वह झंकार-राशि उत्पन्न करके मदनराजकी आज्ञाका ही प्रचार कर रही हो॥"३९॥

लोचनरोचनी—संकीर्यमाणा परस्परं संघट्यमाना॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—मणिकङ्कणावली दक्षिणहस्तस्थिता संकीर्यमाणा वामपाणिना सुस्थिरीकर्तुं संघट्यमाना। स्त्रीणां कार्यान्तररहितानां स्वभाव एवायमतो नात्र कारणज्ञापनम्॥३९॥

दोर्मूलप्रकटनम्—

श्यामे दिव्यतराः स्फुरन्ति परितो वृन्दावनान्तर्लता,
याः कल्याणि वहन्ति हन्त मधुरामग्रे फलानां ततिम्।
चित्रेयं तव दोर्लता वलयिनी यस्यास्त्वयोल्लासिते,
मूले नन्दितकृष्णकोकिलमभूदाविर्वरीयः फलम्॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—बाहुमूल-प्रकटन—श्रीकृष्णदर्शनसे उत्पन्न अत्यन्त अनुरागके कारण श्यामाको अपनी अभिलाषा प्रकाश करते हुए देखकर कृष्ण उपहास पूर्वक श्यामासे कह रहे हैं—"श्यामे! इस वृन्दावनमें चतुर्दिक तमालको परिवेष्टितकर नाना प्रकारकी लता-श्रेणियाँ स्फुरित हो रही हैं, जो अग्रभागसे मधुर-मधुर फलराशियोंको वहन कर रही हैं; किन्तु हे कल्याणि! विचित्र बात तो यह है कि तुम अपने बलयसे (चूड़ियोंसे) युक्त बाहुलता-युगलको ऊपर उठाकर उनके मूलमें श्रेष्ठतम दो फल दिखला रही हो, जिससे श्रीकृष्णरूप कोकिल आनन्दित हो रहा है॥"४०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः प्राह—श्यामे इति। वलयिनी स्वसमीपे तमालं चेत् प्राप्नोति तदा वेष्टनस्वभावेयं शीघ्रं वेष्टयतीति भावः। पक्षे कङ्कणयुक्ता॥ उल्लासिते उल्लास्य दर्शिते इत्यर्थः। वरीयः फलमाविर्बभूव। नन्दितः आनन्दितः कृष्णवर्णः कृष्णश्च कोकिलो येन तत्। ततश्च तेनेदमदृष्टचरत्वादद्भुतं प्राण्यङ्गुलिघट्टनेन निरूपयितुमुचितं कठोरं मृदुलं वेति तथा चक्रेऽसाविति ज्ञेयम्। हस्तोल्लासनमिदं दूरस्थां सखीं प्रत्येहीत्याह्वानेनेति ज्ञेयम्॥४०॥

कृष्णनामाभिलेखनम्—

दूत्यमत्र तव तिष्ठतु वृन्दे तिष्ठते यदियमिन्दुमुखी मे।
नाम मे विलिखति प्रियसख्याः पश्य गण्डफलके घुसृणेन॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णनामलेखन अर्थात् श्रीकृष्णका नाम लिखना—इन्दुमुखीके वयस-जनित विलासादिकी अतिशय शोभा-सौन्दर्यको अनुभवकर श्रीकृष्णके महातृष्णायुक्त होनेपर, उनके दौत्यके विषयमें प्रयत्न करनेवाली वृन्दाको तत्क्षणात् इन्दुमुखीके स्वाभियोगसे आश्वस्त श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे वृन्दे! अब तुम्हें दौत्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। देखो इन्दुमुखी स्वयं मुझे दिखाकर (स्वाभिलाषको प्रकट करनेके लिए) मुझे आलिङ्गन करनेकी इच्छासे कुङ्कुमके द्वारा अपनी गुल्फों (एड़ीके ऊपरकी गाँठ) पर मेरा नाम लिख रही है॥"४१॥

लोचनरोचनी—मे मह्यं तिष्ठते भावेनात्मानं प्रकाशयति। अत्रात्मनेपदं संप्रदानं च विहितमस्ति॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—मे मह्यं तिष्ठते भावेनात्मानं प्रकाशयति। "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इत्यात्मनेपदम्॥४१॥

तरौ लताया योगः—

रूपं निरूप्य किमपि व्रजपङ्कजाक्ष्याः, साक्षादभूवमहमर्ज्जुन यावदार्त्तः।
सा मामधीरमधिनोत्कलधौतयूथ्यास्तावत्तमालविटपे घटनां विधाय॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—वृक्षमें लताका संयोग—एक समय किसी व्रजसुन्दरीके अनुपम माधुर्य दर्शनसे विवश एवं उसके बाद उसीके द्वारा अपने भावको प्रकाशित करनेसे उद्दीपित श्रीकृष्ण प्रियनर्म सखा अर्जुनसे कह रहे हैं—"हे अर्जुन! मैं इस व्रजललनाके अनिर्वचनीय रूपको साक्षात् दर्शनकर अत्यन्त कातर हो रहा था, उसी समय उसने तमालवृक्षसे सुवर्ण यूथिकाका संयोग कराकर मेरी अधीरताको दूरकर मुझसे प्रेम किया॥"४२॥

लोचनरोचनी—निरूप्य दृष्ट्वा। अर्ज्जुनोऽत्र गोपकुमारविशेषः। कलधौतं सुवर्णम्॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—निरूप्य दृष्ट्वा अर्ज्जुनो नाम गोपः प्रियसखः। हन्त हन्त स्वर्णयूथीयं किमिति भूमौ लुठति। तदिमां तमालमारोहयामीति तथा कृत्वा स्वस्यापि प्रेम ज्ञापयन्ती सा ज्ञेया॥४२॥

अथ चाक्षुषाः—

नेत्रस्मितार्द्धमुद्रत्वे नेत्रान्तभ्रमकूणने।
साचीक्षा वामदृक्प्रेक्षा कटाक्षाद्याश्च चाक्षुषाः॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—चाक्षुष अभियोग—नेत्रस्मित (नेत्रोंके हास्य), नेत्रोंको आधा मूंदना, नेत्रान्तोंका घूर्णन, नेत्रान्तोंका संकोच, वक्रदृष्टि, वामचक्षुके द्वारा अवलोकन, कटाक्ष इत्यादि सभीका नाम चाक्षुषाभियोग है अर्थात् नयनोंके हास्यके द्वारा उत्पन्न अपने अभिप्रायको व्यक्त करते हुए—मदीयकान्त इन सबका आस्वादनकर मुझमें अत्यन्त अनुरक्त हों—ये सब स्वाभियोग प्रकाश हैं॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—कूणनं संकोचः। नेत्रस्मितादीनामेषामनुभावतयैवोद्भूतानां मत्कान्त एतानास्वाद्यास्वाद्य मय्यनुरज्यत्विति भावनायां स्वाभियोगत्वं न तु सर्वथैव कृत्रिमत्वं रसावहमिति विवेचनीयम्॥४३॥

तत्र नेत्रस्मितं यथा—

विभ्रमं रतिपतेः स्थगयन्तीं केशवस्य पुरतः कपटेन।
त्वामवेत्य चटुले सखि जात्या गूढमत्र हसतस्तव नेत्रे॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—नेत्रस्मित—एक बार श्रीकृष्ण शामके समय वनसे व्रजमें आगमन कर रहे थे। श्रीमती राधिकाने उन्हें देखकर प्रथमतः लज्जाके कारण अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया, किन्तु उनके दोनों नेत्र उत्सुकताके कारण प्रफुल्लित हो रहे थे। ऐसा देखकर श्यामाने कहा—"सखि! तुम्हें कपटता पूर्वक श्रीकृष्णके सामने रतिपतिके विभ्रमको गोपन करते हुए देखकर तुम्हारे चञ्चल नेत्र गूढ़ रूपसे तुम्हारा उपहास कर रहे हैं। अतएव अब अवहित्था (आकार गोपन) करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, उसका परित्याग करो॥"४४॥

लोचनरोचनी—स्थगयन्तीमावृण्वन्तीम्॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—सायं वनाद्गोष्ठमायान्तं कान्तमालोकयन्तीं श्रीराधां परिहसन्ती श्यामा तस्या नेत्रयोः प्रथमं लज्जामुद्रितयोरौत्सुक्योदयादीषत्फुल्लत्वमुत्प्रेक्षते—विभ्रममिति। विभ्रमं श्रीकृष्णदर्शनजन्यम्। "गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। तात्कालिकं तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गजम्॥" इत्युक्तलक्षणं विलासालंकारं सहसा आत्मन्युद्भूतं सखीभ्यो लज्जया स्थगयन्तीं कपटेनावहित्थया संवृण्वतीमवेत्य ज्ञात्वा तव नेत्रे त्वां हसतः। त्वदाश्रितयोरपि नेत्रयोस्त्वद्विषयकहास्ये कारणमाह—जात्या प्रकृत्यैव चटुले चञ्चले। गूढमन्यालक्षितम्॥४४॥

नेत्रार्द्धमुद्रा—

कवयो हरिवक्त्रपुष्करेऽस्मिन्सखि नेत्रे कथयन्ति पुष्पवन्तौ।
अनयोः सविधे तवाक्षिपद्मं भविता नार्द्धनिमीलितं कथं वा॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—नेत्रार्द्धमुद्रा—एक दिन श्रीमती राधिकाजी श्रीकृष्णके सन्मुख ही खड़ी थीं। यह देखकर कुन्दलता उपहासपूर्वक कहने लगी—"प्रियसखि! व्रजराजनन्दनके वदन-पुष्कर (आकाश) में तुम्हारे नेत्रयुगल विराजमान हो रहे हैं। क्या तुम उन्हें जानती हो? पण्डितजन श्रीकृष्णके दोनों नेत्रोंको पुष्पवन्त अर्थात् एक-कालीन उदित चन्द्र और

सूर्य बतलाया करते हैं। अतः हे मृगनयनि! हरिके नयनकमलोंके निकट तुम्हारे ये दोनों नेत्र अर्द्धमुद्रित क्यों न होंगे? अर्थात् अवश्य ही होंगे।"

तात्पर्य—श्रीकृष्णके दोनों नेत्रोंको पण्डितजन सूर्य और चन्द्र बतलाते हैं। राधाके दोनों नेत्र कमलके समान हैं। चन्द्रोदयसे कमल संकुचित हो जाता है तथा सूर्यके उदयसे प्रफुल्लित होता है। श्रीमती राधिका विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णके मुखका अवलोकन कर रही थीं। हठात् उनके नेत्र श्रीकृष्णके नेत्रोंसे संलग्न होनेपर वे बड़ी लज्जित हुईं। इसलिए अपने दोनों नेत्रोंको आधा मूँद लिया अर्थात् श्रीकृष्णके चन्द्रात्मक वाम लोचनसे श्रीमतीके कमलचक्षु संलग्न होनेपर बंद हो रहे थे और साथ-ही-साथ सूर्यात्मक दाहिनी आँखको देखकर उन्होंने विकसित होना आरम्भ कर दिया॥४५॥

लोचनरोचनी—कवय इति। उत्प्रेक्षामात्रं व्यज्यते न तु वास्तवता। श्रीभगवन्निजविग्रहस्य सर्वातीतपरमोत्तमतत्त्वस्वरूपत्वात्। पुष्करं पद्ममाकाशं च। पुष्पवन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ॥४५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णाग्रवर्तिनीं श्रीराधां कुन्दवल्ली परिहसन्त्याह—कवय इति। हरिवक्त्रमेव पुष्करमाकाशं तस्मिन् नेत्रे पुष्पवन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ। "एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ।" इत्यमरः। अर्द्धनिमीलितमिति। अर्द्धं चन्द्रेण निमीलितं अर्द्धं सूर्येण प्रकाशितम्। अत्र अत्यौत्सुक्येन प्रफुल्लयोरिव नेत्रयोः श्रीकृष्णनयनलग्नत्वे सहसा लज्जोदयादर्द्धनिमीलनमेव तथोत्प्रेक्षितम्॥४५॥

नेत्रान्तभ्रमः—

न हृद्येऽप्यध्यस्ता रतिरनडुहां संगररसे,
न रम्येऽपि क्रीडा सदसि सुहृदां धीरुपहिता।
त्वयि क्षिप्त्वा दृष्टिं परमिह तमालायितमभू-
न्मुकुन्देन श्यामे तदपि किमपाङ्गं नटयसि॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—नेत्रान्त-भ्रमण—एक समय श्रीकृष्णको देखकर श्यामा स्वाभिलाष कटाक्षपात करने लगी। उसके ऐसा करनेपर श्रीकृष्ण उस समय उसके माधुर्यानुभवसे विवश हो गए। ऐसा देखकर वृन्दा श्यामासे तिरस्कारपूर्वक बोली—"श्यामे! मुकुन्द तुम्हें देखकर साँड़ोंका युद्ध-दर्शन, जो उनको बहुत ही प्रिय है, उससे विरत हो रहे हैं; तथा प्रिय सखाओंके

साथ क्रीड़ा–विनोद करना भी भूलकर एक स्थानपर तमालकी भाँति निश्चल होकर खड़े हैं, फिर भी तुम अपाङ्गभङ्गी (कटाक्ष) क्यों कर रही हो?" ॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा प्राह—न हृद्य इति। अनडुहां वृषाणाम्। नटयसीति लज्जौत्सुक्याभ्यां नेत्रस्य मुद्रणविकासौ पूर्ववत्। अयं मां भाववैवश्येन सम्यङ् न पश्यति पश्यति वेति विचारेण विकाशित भाग एव भ्रमिः॥४६॥

नेत्रान्तकूणनम्—

कलिन्दजाकूलपुरंदरे दृशोरध्वन्यवाप्ते प्रथमाध्वनीनताम्।
त्रपाञ्चितं किञ्चिदकुञ्चि चञ्चलं विलक्षया श्यामलया दृगञ्चलम्॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—नेत्रान्तसंकोच—श्रीकृष्णके प्रथम दर्शनसे उसके अनुपम सौन्दर्य–माधुर्यका अनुभवकर विस्मिता श्यामलाकी चेष्टाको नान्दीमुखी पौर्णमासीसे कह रही है—"यमुनाकुलके पुरन्दर श्रीकृष्ण प्रथमतः श्यामलाके नयनपथके पथिक होनेपर उसने विस्मित, स्तब्ध एवं लज्जित होकर अपने चञ्चल दृगञ्चल (नेत्रप्रान्त) को किञ्चित् संकुचित कर लिया॥"४७॥

लोचनरोचनी—"विलक्षो विस्मयान्विते" इत्यमरः। तया॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी पौर्णमासीमाह—कलिन्देति। अध्वनीनतां पथिकताम्। त्रपाञ्चितमिति नेत्रमुद्रणे कारणम, चञ्चलमित्यौत्सुक्यचापल्याभ्यां नेत्रान्तभागोद्घाटने। प्रथमेत्याकुञ्चिताभ्यां प्राप्तेन भयेन तद्भागस्यापि संकुचितीकरणम्। विलक्षया विस्मयान्वितया॥४७॥

साचीक्षा—

तिर्य्यग्विवर्त्तितनटन्नयनत्रिभागं प्रैक्षिष्ट यत्तरणिजा पुलिने मृगाक्षी।
हृन्मग्नभग्नमकराङ्कशराग्रवन्मां सद्यस्तदद्य नितरां विवशीकरोति॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—साचीक्षा अथवा वक्रदृष्टि—श्रीकृष्ण सुबलको कह रहे हैं—"हे सखे! आज मैं यमुना पुलिनमें विचरण कर रहा था। सहसा श्रीमतीराधिका वहाँ उपस्थित हुईं और मुझे देखकर नर्तनशील नेत्रोंकी बंकिम–भङ्गीको इस प्रकार मेरे प्रति निक्षेप किया कि वह भयानक

वक्रदृष्टि सहसा मेरे हृदयमें प्रवेशकर मुझे प्रपीड़ित करने लगी और मैं अब तक उसीसे विवश हो रहा हूँ॥"४८॥

लोचनरोचनी—तिर्यगित्यादिकं क्रियाविशेषणम्। अत्र त्रिविष्टपशब्दवन्नयनस्य त्रिभागस्तृतीयभागः। "विवशोऽरिष्टदुष्टधीः" इत्यमरः॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—तिर्यगिति। तिर्यक् तिरश्चीनीभवन्, तत्रापि विवर्तितो भ्रमितः, तत्रापि नटन् नृत्यन् नयनस्य त्रिभागस्तृतीयो भागो यत्र तद् यथा स्यात्तथा। त्रिविष्टप-शब्दवद्विनापि तीयप्रत्ययं तदर्थावगतेः पूरणार्थप्रत्ययानां स्वार्थिकाधिकारगतत्वात्। अत्र लज्जाधिक्यादौत्सुक्येन नेत्रस्य तृतीयो भाग उद्घाटितः, तदैव श्रीकृष्णदृष्ट्याघातेन तिरश्चीनीकृतः, तत एवौत्सुक्यवृद्ध्या विवर्त्तितः, ततो हर्षचापल्याभ्यां नर्तित इति ज्ञेयम्। मृगाक्षी श्रीराधा तत्प्रेक्षणम्॥४८॥

वामदृक्प्रेक्षा—

पूर्णं प्रमोदोत्तरलेन राधे श्यामं रसानां निधिमिन्दुभाजम्।
सव्येन नेत्राञ्जलिना पिबन्ती त्वमुन्मनाः कुम्भभवायितासि॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—वामदृक्प्रेक्षा—एक समय निर्जन वनमें श्रीकृष्णदर्शनके लोभसे उनके सौन्दर्य-माधुर्य आदिको किसी बहानेसे देखनेवाली राधासे ललिताजी नर्मप्रयोगके द्वारा कह रही हैं—"हे राधे! आमोद-प्रमोद तरङ्गोंसे भरपूर शृङ्गार आदि रससमूहोंके आकर इन्दुयुक्त (चन्द्रयुक्त, दूसरे पक्षमें प्रकाशक, आह्लादक और सुशीतलताके द्वारा मण्डित) और श्यामवर्ण समुद्रको वामनेत्राञ्जलि द्वारा उत्कण्ठित होकर पान करनेके कारण तुमने अगस्त्यका ही रूप धारण कर रखा है। जैसे भी हो तुम साक्षात् अगस्त्य हो। अन्यथा यह विचित्र शक्ति किस प्रकार प्राप्त की?" अर्थान्तर—यथा, सम्भोगके अनन्तर श्रीमतीराधिकाका बायाँ नेत्र उद्घाटनपूर्वक श्रीकृष्णमुखचन्द्रका दर्शन कर रहा था। हठात् उनके नेत्र बन्द होनेसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो श्रीकृष्णके प्रति अपने किसी स्वाभियोगको प्रकाश कर रही थी। पास ही ललिता उसे देखकर कहने लगी—"राधे! तुम प्रमोद-तरङ्ग श्यामरसनिधिके मुखचन्द्रको अपने वाम नेत्रसे निरीक्षणकर अपूर्ण मनोरथकी भाँति विमनस्क क्यों हुई? क्या अभी भी तुम्हारी आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई? जैसे भी हो मैं तुम्हें अगस्त्यकी भाँति देख रही हूँ; क्योंकि जैसे महर्षि अगस्त्य समुद्रका सारा जल

सोखकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सके, उसी प्रकार तुम्हारी भी आकांक्षा निवृत्त नहीं हो रही। अभी और भी पान करनेकी अभिलाषा कर रही हो। अतएव तुम्हारी यह शक्ति अत्यन्त विचित्र है॥"४९॥

लोचनरोचनी—रसानां रसविशेषाणां निधिमिति वारांनिधिशब्दवत् समुद्रस्यापि वाचित्वम्। इन्दुभाजमित्यत्र श्रीकृष्णपक्षे मुखस्यैवेन्दुत्वमतिशयोक्त्या दर्शितम्। अस्या लक्षणं तु दर्शयिष्यते। सव्येन नेत्राञ्जलिनेति नेत्राञ्जलेः सव्यभागेन नतु समस्तांशेनेत्यर्थः। यथा चतुर्भुजाया इव भवत्या पक्ष्मद्वयसंवृततया नेत्रद्वयरूपमञ्जलिद्वयं दृश्यते तेन द्वयेनापि रूपपानात्। संप्रति तु सव्येनैव तेनेदृशं कर्म दृश्यत इत्याह—सव्येनेति। पिबन्तीति। शतृप्रत्ययेनाविच्छेदोक्तेः सम्यक् पीतस्यापि तस्य बहिराविर्भावादविच्छेदो दर्शितः। तस्या अप्यपरिच्छिन्नशक्तित्वं व्यञ्जितम्। अतः कुम्भभवस्य तत्पीतसमुद्रस्य च हीनोपमात्वमेव ज्ञापितम्। अथवा "पूर्णं प्रमोदोत्तरलेन राधे मनो मुरारे रसवारिराशिम्। सव्येन नेत्रेण विधाय पीतं तं कुम्भजातं भवती जिगाय॥" पाठान्तरं द्रष्टव्यम्॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता संभुक्तालंकृतां श्रीराधामाह—पूर्णमिति। प्रमोद एवोत्तरल उद्गततरङ्गः। रसानां जलानां शृङ्गारादिरसविशेषाणां च। श्यामं श्यामवर्णं श्रीकृष्णं च। इन्दुश्चन्द्रः, पक्षे प्रथमातिशयोक्त्या श्रीकृष्णमुखम्। सव्येन वामेन नेत्राञ्जलिनेत्यूर्ध्वाधःस्थितस्य पक्षद्वयस्य पाणिद्वयत्वेनानुभवात्। कुम्भभवोऽगस्त्यः। अत्र वामनेत्रस्य संपूर्णोद्घाटनं संप्रयोगोत्तरकाले लज्जापगमात्, स्वाभियोगत्वं पुनरपि संभोगस्पृहोदयात्॥४९॥

कटाक्षः—

यद्गतागतिविश्रान्तिवैचित्र्येण विवर्त्तनम्।
तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—कटाक्ष—नेत्र–तारकाओंका लक्ष्य पर्यन्त गमन और वहाँसे पुनः आगमन एवं गतागतिके बीचमें लक्ष्यसह थोड़े समयके लिए स्थिति, इनकी चमत्कारिताके रूपमें नेत्र–तारकाओंका जो घूमना अर्थात् अभ्यास है, उसीको रसतत्त्वके वेत्ता कटाक्ष कहते हैं॥५०॥

आनन्दचन्द्रिका—गतं लक्ष्यपर्यन्तं गमनम्, आगतिस्तत आगमनम्, विश्रान्तिस्तयोर्मध्य एवातिसूक्ष्मकाले लक्ष्यसहस्थितिः तासां वैचित्र्येण चमत्कारित्वेन विवर्त्तनमावृत्त्याभ्यासः। तारकायाः कनीनिकायाः॥५०॥

यथा—

चित्रं गौरि विवर्त्तते भ्रमिकरी विश्रम्य विश्रम्य ते,
दृक्ताराभ्रमरी गतागतिमियं कर्णोत्पले कुर्वती।
यस्याः केलिभिराकुलीकृतमतेः पद्मालिवार्ता क्व सा,
गान्धर्वे मधुसूदनस्य नितरां स्वस्याप्यभूद्विस्मृतिः॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाको सम्बोधनपूर्वक कहने लगे—"हे गौरि! तुम्हारे नेत्र-तारकाओंकी कैसी विचित्र शक्ति है, जो वह सबको मूर्च्छित कर रही है। हे गान्धर्विके! यह नेत्रतारकारूपी भ्रमरी मेरे कर्णोत्पल (कानोंके अलङ्कार) के प्रति आश्चर्य रूपसे गतागति कर रही है। उसे देखकर मधुसूदन (भ्रमर) को भी शरीरकी सुधबुध नहीं है। अतएव पद्मालि (पद्माकी सखी चन्द्रावली) के स्मरणकी तो बात ही क्या है? वह उसे अवश्य ही विस्मृत हो जाएँगे।"

'पद्माली' शब्दका अर्थ है पद्मश्रेणी एवं पद्माकी प्रियसखी चन्द्रावली और 'मधुसूदन' के भ्रमर और श्रीकृष्ण दोनों अर्थ हैं॥५१॥

लोचनरोचनी—हे गौरि हे गौराङ्गि गान्धर्वे श्रीराधे। पद्मानाम्न्या आलिश्चन्द्रावली तस्या वार्ता क्व। सा तु दूरे स्थितेत्यर्थः। पक्षे पद्मालिः पद्मश्रेणी। मधुसूदनो भ्रमरः। भ्रमिर्भ्रमणम्॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधां प्रति दूती स्वयं श्रीकृष्णो वा प्राह—चित्रमिति। कर्णोत्पले इति। गतागतिविश्रान्तयः कर्णोत्पले दृश्यन्ते मात्रम्। किन्तु श्रीकृष्णमुखं स्पृष्ट्वा एव ताः फलन्तीत्याह—यस्या इत्यादि। पद्मालिः कमलश्रेणी, पक्षे पद्मासखी चन्द्रावली। मधुसूदनस्य भ्रमरस्य श्रीकृष्णस्य च। आत्मविस्मृतिर्यतो भ्रमिकरी बुद्धिभ्रमिकरी॥५१॥

इत्येतेषामसंख्यानां दिगेवेयं प्रदर्शिता।
यथोचितममी ज्ञेया नायकेऽप्यघविद्विषि॥५२॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ स्वयंदूतीके जो लक्षण कहे गये हैं, वे असंख्य होनेके कारण मैंने यहाँ केवल उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है। अघनाशन श्रीकृष्णरूप नायकमें भी इन लक्षणोंको यथोचित रूपसे जानना होगा।

अर्थात् कभी–कभी वे स्वयंदूतीकी भाँति अपने स्वाभीष्टकी प्रार्थना किया करते हैं॥५२॥

आनन्दचन्द्रिका—नायकेऽपि ज्ञेया यथा—"मदधरविलुठद्विलोचनान्तं मृदुललता नवपल्लवं दशन्तम्। सखि हरिमवलोक्य भानुजायास्तटविपिने स्फुटदन्तरास्मि जाता॥" गीतावल्यां च—"कुटिलं मामवलोक्य नवाम्बुजमुपरि चुचुम्ब स रङ्गी। तेन हठादहमभवं वेपथुमण्डलसंचलदङ्गी॥ भाविनि पृच्छ न वारंवारम्। हन्त विमुह्यति वीक्ष्य मनो मम वल्लवराजकुमारम्॥ दाडिमलतिकामनु निस्तलफलनमितां स दधे हस्तम्। तदनुभवान्मम धर्मोज्ज्वलमपि धैर्यधनं गतमस्तम्॥ अदशदशोकलता पल्लवमयमतनुसनातनधर्मा। तदहमवेक्ष्य बभूव चिरं बत विस्मृत कायिककर्मा॥" इति। तथा युगपदपि नायक–नायिकयोर्यथा आनन्दवृन्दावने—"कृष्णे कर्षति कोकयुग्ममबला दोर्भ्यां व्यधुः, स्वस्तिकं कण्ठे चारु मृणालमर्पयति ताश्चक्रुर्भुजान्भङ्कुरान्। पद्मं जिघ्रति पाणिभिः पिदधिरे वक्त्रं जलक्रीडने, तासां तस्य बभूव सौरतरसः कोऽपीङ्गितैरिङ्गितैः॥" इति॥५२॥

स्वाभियोगा इति प्रोक्ताश्चेदमी बुद्धिपूर्वकाः।
स्वभावजास्तु भावज्ञैरनुभावाः प्रकीर्तिताः॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—स्वाभियोग कहनेसे स्वयं अपने भावोंको प्रकाशकर कान्तके साथ मिलनेको ही समझना चाहिए। वाचिक, आङ्गिक और चाक्षुष—ये स्वाभियोगसमूह यदि स्वमिलनके उद्देश्यसे विचारबुद्धिके द्वारा सम्पादित होते हैं, तभी उनको स्वाभियोग कहते हैं अर्थात् उल्लिखित वाचिक, आङ्गिक और चाक्षुष स्वाभियोग यदि बुद्धिपूर्वक किए जाएँ, तो उन्हें स्वाभियोग कहते हैं और स्वभावसे ही उत्पन्न होनेपर रसतत्त्वके जाननेवाले उन्हें अनुभाव कहा करते हैं। अर्थात् जब वाचिक, आङ्गिक और चाक्षुष स्वाभियोग, कान्तदर्शनादिके हेतु स्वभावतः ही उत्पन्न हुआ करते हैं, तब वे स्वभावस्थ भावोंके अवबोधक अनुभाव कहलाए जाते हैं। रसतत्त्ववेत्ता कवियोंका ऐसा ही विचार है॥५३॥

लोचनरोचनी—अमी वाचिकाङ्गिकचाक्षुषाः॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—अमी वाचिकाङ्गिकचाक्षुषाः बुद्धिपूर्वकाः। एवं श्रुत्वा दृष्ट्वा च मत्कान्तोऽयं मय्यनुरज्यत्विति बुद्धिः पूर्वं येषां ते। किन्त्वनुभावतयैव दर्शिता

इति ज्ञेयम्। तत्र वाचिकानां केषाञ्चिदनुभावतया अदर्शितत्वेऽपि न क्षतिः, आङ्गिक-चाक्षुषाणाञ्च सखीपरिरम्भताडनादीनां तथात्वे वैदग्धीलोपाद्-वैरस्यं स्यादिति च ज्ञेयम्। तत्रापि केषाञ्चिन्नेत्रस्मितादीनामनुभावतयैव प्रथममुद्भूतत्वेऽपि इदं दृष्ट्वा मय्यनुरज्यत्विति पश्चाद्बुद्ध्यापि स्वाभियोगत्वम्। बुद्धिपूर्वका इत्यत्र पूर्वशब्दस्य योगमात्रार्थ-तात्पर्यादित्यपि ज्ञेयम्॥५३॥

अथाप्तदूती—

न विश्रम्भस्य भङ्गं या कुर्यात्प्राणात्ययेष्वपि।
स्निग्धा च वाग्मिनी चासौ दूती स्याद्व्रोपसुभ्रुवाम्।
अमितार्था निसृष्टार्था पत्रहारीति सा त्रिधा॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—आप्तदूती—जो दूती प्राणविनाश होनेपर भी विश्वास-भङ्ग नहीं करती, अतिशय स्नेहवती और बातचीत करनेमें अत्यन्त निपुण होती है, उन्हींको रसशास्त्रमें व्रजसुन्दरियोंकी आप्तदूती कहते हैं। ये तीन प्रकारकी होती हैं—अमितार्था (ये राधाकृष्ण युगलके इङ्गितसे ही दूसरोंके लिए दुस्तर्क्य अगणित प्रयोजनोंका साधन करती हैं), निसृष्टार्था (ये विशेष कार्यभार अर्पित होनेपर केवल उसीका साधन करती हैं), पत्रहारिणी (जो एक दूसरेके प्रति मात्र पत्र-वहनका कार्य करती हैं)॥५४॥

लोचनरोचनी—मिथोमेलकत्वमेव दूतीलक्षणं प्रसिद्धमिति तदनुट्टङ्क्य तद्विशेषान् लक्षयितुमाह—अथाप्तेति॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—परस्परमिलनरूपे वस्तुनि घटकत्वं दूतीलक्षणं स्पष्टमिति तदलक्षयित्वा तद्विशेषान् लक्षयति—अथाप्तेति॥५४॥

तत्रामितार्था—

ज्ञात्वेङ्गितेन या भावं द्वयोरेकतरस्य वा।
उपायैर्मेलयत्तौ द्वावमितार्था भवेदियम्॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—अमितार्थादूती—जो नायक और नायिकाका सङ्केत पाकर विविध प्रकारके उपायोंसे उनमें परस्पर मिलन करा सकती हैं, वे अमितार्थादूती कहलाती हैं॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—अमितोऽपरिमितः अर्थः कार्यं यतो भवति सा। आसां यथापूर्वं श्रैष्ठ्यं ज्ञेयम्। द्वयोर्नायकनायिकयोर्भावमभिप्रायमात्रमिङ्गितेनाकारेण ज्ञात्वा एकतरस्य नायिकाया नायकस्य वेत्यर्थः। "आकारस्त्विङ्ग इङ्गितम्" इत्यमरः ॥५५॥

यथा—

सा ते बकान्तक कटाक्षशरार्दितापि,
जीर्णं त्रपाकवचमेव वृथा वहन्ती।
वर्णैर्नुनोद मुखचन्द्रविगाहिभिर्मां,
गम्यैर्दृशां गुणतया न किल श्रुतीनाम् ॥५६॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—श्रीकृष्णदर्शनसे उत्पन्न क्षोभके कारण स्वयं निरावलम्ब होनेपर भी लज्जाके कारण बाह्यतः किसीके निकट अपनी मनोभिलाषाको गुप्त रखनेवाली श्रीराधाके भावोंको समझकर कोई अमितार्थादूती श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर उनसे कहने लगी—"हे बकान्तक! तुम्हारे कटाक्षरूप बाणोंसे श्रीमतीराधिका अत्यन्त जर्जरित होनेपर भी लज्जारूप अपने जीर्ण कवचको वृथा ही धारण कर रही है। हे रसिकशेखर! मैं उनके मुखचन्द्रकी अवर्णनीय-मलिनताको देखकर ही यहाँ भेजी गई हूँ। उसे बिना देखे कभी भी समझा नहीं जा सकता। अतएव स्वयं आकर अपनी आँखोंसे एकबार उनके मुखचन्द्रका दर्शन करो॥"५६॥

लोचनरोचनी—गुणतया विषयतया गुणा गुणेषु वर्तन्त इतिवत् ॥५६॥

आनन्दचन्द्रिका—पत्रहारी दूती नायिकाया इङ्गितं ज्ञात्वा नायकं प्रति पत्रमिषेण तदाविष्करोति—सा ते बकेति। हे बकान्तक! तव प्रेमकटाक्ष पीडितापि युवतिजनसहज-लज्जाकवचेन मुग्धा पत्रगतवर्णैर्मां नुनोद प्रेरयामास। किमक्षरैर्लिखितैस्तर्हि तत्पत्रं देहि वाचयित्वा ज्ञास्यामि। त्वं पत्रहारी दूत्यसि, नहि नहि मुखचन्द्र विगाहिभि र्वर्णैस्तर्हि तानेवोच्चार्य कथय शुश्रूषुरस्मि। त्वं पत्रहारी निसृष्टार्था वा, नहि नहि दृशां गुणतया विषयतया गम्यैर्ज्ञेयैर्न तु श्रुतीनाम्। तेन तन्मुखधौसर्यं दृष्ट्वा तया अप्रेषितैवेवायातास्मीति माममितार्थां दूतीं विद्धीति भावः ॥५६॥

अथ निसृष्टार्था—

विन्यस्तकार्यभारा स्याद्द्वयोरेकतरेण या।
युक्त्योभौ घटयेदेषा निसृष्टार्था निगद्यते ॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—निसृष्टार्थादूती—नायक अथवा नायिकाके द्वारा किसी विशेष कार्यका भार प्राप्त होनेपर युक्ति और विचारके द्वारा दोनोंका मिलन करानेवाली दूतीको निसृष्टार्थादूती कहते हैं॥५७॥

यथा—

अघदमन जगत्यनर्घरुपा विलसति सा गुणरत्नराशिरेका।
धिगपटुमतिरस्मि यत्पुरस्तां कठिनमणेस्तव वक्तुमुद्यताहम्॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—निसृष्टार्थादूतीका उदाहरण—श्रीकृष्णके साथ अपना मिलन करानेके उद्देश्यसे श्रीराधाजीने किसी दूतीको श्रीकृष्णके निकट प्रेरित किया। उस दूतीने जाकर श्रीकृष्णसे कहा—"हे अघदमन! त्रिजगत्में श्रीमतीराधिकाके तुल्य रूपवती और गुणवती कोई भी सुन्दरी रमणी नहीं देखी जाती। उनका रूप अत्यन्त अमूल्य है। केवल गौरिम (अमूल्य-निधि) मात्र है, अधिक क्या कहूँ? वे गुणरत्नकी अथाह समुद्रस्वरूपा हैं अर्थात् उनका आङ्गिक सौन्दर्य, सौकुमार्य, सौरम्य, यथोचित स्थूलता और वर्तुलता (अङ्गोंका यथायथ विन्यस्त होना), उनके स्वरकी मधुरता तथा उनका मानसिक धैर्य, गाम्भीर्य—ये सब दुष्पार हैं। इसलिए हे अघान्तक! ऐसा कोई भी मूल्य मैं नहीं देख रही, जिसके बदले तुम्हारी घ्राणेन्द्रिय इत्यादि उनके सौरभ्य इत्यादिको ग्रहण कर सके और अधिक मैं क्या कहूँ? उनके धैर्य गुणकी तो सीमा ही नहीं।" दूतीके मुखसे श्रीमतीजीके गुणोंका बखान सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"दूति! मैं भी इस पृथ्वीपर अमूल्य रूपशाली हूँ। व्रजभरमें सभी जानते हैं, तुम किसीसे भी पूछकर विश्वास कर सकती हो। अतः मैं अपने सौन्दर्य आदि गुणोंको उनके नयनादिमें प्रदानकर विनिमय स्वरूप तदीय गुणरत्न इत्यादिको ग्रहण करूँगा।" श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर दूतीने कहा—"हाय! हाय! बड़े दुःखकी बात है। मैं थोड़ी बुद्धिवाली हूँ। मुझे धिक्कार है।" श्रीकृष्णने कहा—"सुन्दरि! आत्मनिन्दा क्यों कर रही हो?" दूतीने कहा—"किसी पाषाण-हृदयवाले व्यक्तिके निकट उनके (श्रीमतीराधिकाके) अगणित गुणोंको वर्णन करनेमें मैं क्यों प्रवृत्त हुई? जिससे मुझे निन्दाका पात्र होना पड़ा। हाय! यहाँ किसी

भी भव्य–व्यक्ति (सुयोग्य व्यक्ति) को नहीं देख पा रही हूँ, जो तुम्हारे और मेरी प्रियसखीके रूपकी तुलनाकर यथायथ रूपमें पार्थक्य निर्णय कर सके।" श्रीकृष्णने कहा—"सखि! धर्मकी शपथ है। तुम निश्चित ही जानती हो कि उनका अन्तर–हृदय कैसा है? सच–सच बतलाओ।" साथ ही दूतीने कहा—"श्रीकृष्ण! कठोर हृदयके कारण ही तुम्हारे समस्त गुणोंका मूल्य बहुत कम है। किन्तु हमारी प्रियसखी अपनी स्निग्धताके कारण समस्त गुणोंमें परमोत्कर्षताको प्राप्त है।" यह उदाहरण श्रीमतीके निर्देशसे युक्तिद्वारा श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाका मिलन करानेके लिए ही इस निसृष्टार्थादूतीके द्वारा कहा गया है॥५८॥

लोचनरोचनी—जगत्यनर्घरूपेत्यादिना तया सहजस्नेहो दर्शितः। ततश्च संभवन्तीमपि तत्प्रेरणां "धिगपटुमतिरस्मि" इत्यादिना निराकृत्य स्वयमेवेयं ममोक्तिरिति व्यक्तीकृत्य तत एव तदेकहितसाधने प्रवृत्तिदर्शनया तत्प्रतिरूपतां दर्शयित्वा तन्न्यस्तभारत्वं निगूढतया व्यञ्जितम्। कठिनमणेरिति। यथा हीरकादिमणेरुज्ज्वलतयात्मानं दर्शयन्नपि स्पृष्टः सन् कठिनतयैवानुभूयते। नतु कर्पूरमणिवत्तापेन यत्किंचित् स्निग्धतयापि तत्तुल्यस्येत्यर्थः। तदिदं तु तस्य साकूतमौदासीन्यं दृष्ट्वा सप्रणयकोपं वचनम्॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—अनर्घममूल्यं रूपं गौरिममात्रम्। त्रिजगति दुर्लभत्वादिति भावः। किं वक्तव्यम्, आङ्गिकं सौन्दर्य–सौकुमार्य–सौरभ्य–यथौचित्य–स्थूलता–वृत्ततादिकं तथा वाचिकं सौस्वर्यादि च। किं च मानसा धैर्यगाम्भीर्यादिगुणा दुष्पारा एवेत्याह—गुणरत्नेति। तेन तव नयनेन्द्रियेण तस्या रूपमात्रस्य जिघृक्षायां मूल्यं किंचिन्न दृश्यते, घ्राणादीन्द्रियैः सौरभ्यसौस्वर्यादीनां किं वक्तव्यं धैर्यादिगुणानां तु किन्तमामेवेति भावः। नन्वहमपि जगत्यनर्घरूपो भवामि सर्वत्र नगरादौ पृष्ट्वा प्रत्येहि ततश्च स्वसौन्दर्यादिकं तस्या नयनादिभ्यो दत्वा विनिमयेन तस्या अपि तत्तत्सर्वं जिघृक्षामीत्यत आह—धिगिति। ननु किमित्यात्मानं निन्दसीत्यत आह—यत्तव पुरस्ताद्वक्तुमुद्यतास्मीति। कश्चिदत्र भव्यलोको मध्यस्थो नास्तीति यस्तव तस्याश्च सौन्दर्यादिकं तुलामारोह्य कियदन्तरं भवेत्तद्वक्ति। ननु धर्मस्य शपथं त्वमेव जानासि चेदन्तरं तर्हि परमार्थं ब्रूहि, प्रत्येष्यामीत्यत आह—कठिनेति। तव एकेन कठोरत्वगुणेन ह्युपरक्ताः सर्व एव गुणा अल्पमूल्या अभूवन्। तस्यास्तु स्निग्धत्वेनैकेन मण्डिताः परमोत्कर्षमवापुरिति भावः। अत्र पूर्वश्लोके वर्णैर्नुनोद इति उत्तरश्लोके निभृतमर्पिता संदेशवागितीवेह श्लोके अमितार्थापत्रहार्योरसाधारणं लक्षणं किंचिन्नास्तीति पारिशेष्यादियं निसृष्टार्थैव ज्ञेया॥५८॥

अथ पत्रहारी—

सन्देशमात्रं या यूनोर्नयेत् सा पत्रहारिका॥५९॥

पत्रहारिणीदूती—जो दूती नायक और नायिकाके सन्देश मात्रको वहन करती है, उसे पत्रहारिणीदूती कहते हैं॥५९॥

यथा—

तया निभृतमर्पिता मयि मुकुन्द सन्देशवाग्–
व्रजाम्बुदृशाद्य या श्रुतिपुटेन तां स्वीकुरु।
प्रविश्य मम निर्भरे यदिह सान्द्रनिद्रोत्सवे,
कदर्थयसि धूर्त मां किमिव युक्तमेतत्तव॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—कोई एक पत्रहारिणीदूती किसी व्रजदेवीके द्वारा प्रेरित होकर श्रीकृष्णके निकट गमनकर एकान्तमें निवेदन कर रही है—"हे मुकुन्द! व्रजरमणीने आज अकेलेमें जो सन्देशवाक्य मुझे समर्पण किया है, तुम उसे सुनो; हे धूर्त! निबिड़ निद्रोत्सवमें निमग्न रहनेपर भी तुमने जो मेरी दुर्गति की है, क्या यही तुम्हारे लिए युक्तियुक्त है? अर्थात् हे धूर्त! मैं गभीर निद्रामें सो रही थी। अकस्मात् तुमने स्वप्नावेशमें प्रवेशकर मेरी जो दुर्गति की है, क्या यह तुम्हारे लिए उपयुक्त है? जैसा भी हो भविष्यत्में फिर इस प्रकार मेरी दुर्गति मत करना।" यहाँ दुर्गति या कदर्थनका तात्पर्य नाना प्रकारसे उपद्रव करना है॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—सान्द्रनिद्रेति। स्वप्नेऽप्यहं त्वन्मनस्कास्मीति स्वानुरागो दर्शितः॥६०॥

ताः शिल्पकारी दैवज्ञा लिङ्गिनी परिचारिका।
धात्रेयी वनदेवी च सखी चेत्यादयो व्रजे॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—इन आप्तदूतीयोंमें व्रजकी शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी (तपस्विनीवेश–धारण करनेवाली), परिचारिका, धात्रीकन्या, वृन्दा इत्यादि वनदेवियाँ और सखियाँ आदि आप्तदूतियाँ कही गई हैं।

अर्थात् उल्लिखित आप्तदूतियोंमें शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी, परिचारिका, धात्रीकन्या, वनदेवी और सखी इत्यादि बहुत प्रकारके भेद होते हैं॥६१॥

तत्र शिल्पकारी—

त्वामाहुः प्रमदाकृतिं भगवतस्त्वष्टुर्द्वितीयां तनुं,
तत्तूर्णं लिख रूपमत्र भुवने यद्वेत्सि लोकोत्तरम्।
इत्यभ्यर्थितया मयाद्य फलके त्वां प्रेक्ष्य सा चित्रितं,
चित्रा चित्रदशां गता सहचरी नेत्रेषु चित्रीयते॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—शिल्पकारिणी दूती—कोई एक दूती श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर कहने लगी—"हे सौन्दर्यनिधे! एकबार चित्राने मुझसे कहा—हे शिल्पकारिणि! तुम भगवान् विश्वकर्माकी दूसरी मूर्त्ति—स्त्रीरूपसे अवतीर्ण हुई हो। अतएव मेरी एक प्रार्थनाको पूर्ण करो। सखि! इस जगत्में जिनका रूप-सौन्दर्य सर्वोत्कृष्ट है, उसे अङ्कनकर मुझे दिखलाओ। हे व्रजराजसुन्दर! चित्राकी इस प्रार्थनाको सुनकर मैंने प्रस्तरफलकके ऊपर तुम्हारे रूपको चित्रितकर चित्राको दिखलाया और कहा—सखि! देखो, सारे जगत्में इससे बढ़कर और कोई भी उत्कृष्ट रूप नहीं है। अनन्तर चित्रा तुम्हारी उस चित्रित मूर्त्तिको देखकर ऐसी विचित्र दशाको प्राप्त हुई कि सखियाँ उनको स्वयं चित्रकी भाँति देखने लग गईं॥"६२॥

लोचनरोचनी—चित्रीयते आश्चर्यं करोति॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—त्वष्टुर्विश्वकर्मणः। विश्वकर्मा एव त्वं स्त्रीरूपेणावतीर्णासीति भावः। इत्यभ्यर्थितयैवेति चित्रायेव कर्त्र्येत्यर्थः। चित्रस्यालेख्यस्य दशां जाड्यम्। "आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः। सहचरीणां नेत्रेषु चित्रीयते आश्चर्यमिवाचरति। "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इत्याचारार्थे क्यच्॥६२॥

दैवज्ञा—

तवाद्य शुभरोहिणीवृषभराशिभाजः परा–
मवेत्य गणनादहं सुखसमृद्धिमत्रागता।
तदेहि मुदिराकृते परमचित्रकोदण्डभा–
गखण्डविधुमण्डला भवति विद्युदुद्द्योतताम्॥६३॥

तात्पर्यानुवाद—दैवज्ञा—श्रीमतीराधिकाके द्वारा प्रेरित कोई एक दैवज्ञा दूती उपस्थित होकर श्रीकृष्णसे बोली—"हे व्रजराजनन्दन! मैं गणना

करके देख रही हूँ कि जो व्यक्ति रोहिणी नक्षत्रयुक्त वृषराशिमें जन्म लेनेवाला है, आज उसको महासमृद्धि प्राप्त होगी। हे नवघनाकृते! हे नवीन मेघकी कान्तिको धारण करनेवाले! तुम्हारा जन्म भी ऐसे कालमें हुआ था। इसलिए तुम्हें भी आज परम सुख-समृद्धिकी प्राप्ति होगी, मैं इस प्रकार शास्त्रके द्वारा अर्थात् ज्योतिष-विद्याके द्वारा जानकर तुम्हारे निकट आई हूँ। अतः तुम शीघ्र मेरे साथ चलो। तुम्हें विचित्र कोदण्ड (भ्रूधनु) एवं अखण्ड विधुमण्डलशालिनी विद्युत्वल्ली प्राप्त हो॥"६३॥

लोचनरोचनी—परमचित्रेत्यादौ कोदण्डविधुविद्युद्रूपतया भ्रूयुगमुखगौराङ्ग्योऽध्यवसितेति प्रथमातिशयोक्तिनामालंकारः। तदुक्तम्—उपमानेनान्तर्निगीर्णस्य स्वोपमेयस्य यदध्यवसानं सैकातिशयोक्तिरिति। भवति त्वयि॥६३॥

आनन्दचन्द्रिका—भवति त्वयि। विद्युदिति प्रथमातिशयोक्तया। श्रीराधाकोदण्डे भ्रुवौ, विधुमण्डलं मुखम्॥६३॥

लिङ्गिनी—

लिङ्गिनी तापसीवेषा पौर्णमासीवदीरिता॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—लिङ्गिनी—पौर्णमासीके समान तपस्विनीवेशको धारण करनेवालीको लिङ्गिनी दूती कहते हैं॥६४॥

यथा—

सरले न विधेहि पुत्रि चिन्तां वशगस्ते भविता व्रजेन्द्रसूनुः।
यदहं चतुरात्र सिद्धमन्त्रा जरती प्रव्रजिता तवास्मि दूती॥६५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णसङ्गकी प्राप्तिकी उत्कण्ठासे श्रीमतीराधिकाकी व्याकुलताकी बात नान्दीमुखीके मुखसे सुनकर पौर्णमासी श्रीमतीराधिकाके निकट उपस्थित होकर अपने मधुर वाक्योंसे सान्त्वना देती हुई बोलीं—"हे सरले पुत्रि! चिन्ता मत करो। मैं आज तुम्हारे दौत्यकार्यमें नियुक्त हुई हूँ। व्रजेन्द्रनन्दन अवश्य ही तुम्हारे वशीभूत होंगे; क्योंकि इस व्यापारमें अत्यन्त चतुर और सिद्धमन्त्रोंको जाननेवाली व्रजकी यह वृद्धा संन्यासिनी प्रसिद्ध है। अतः तुम्हारी मनोभिलाषा पूर्ण होगी।"

पहले चातुरीके द्वारा उन्हें वशीभूत करूँगी। यदि उसमें भी अकृतकार्य होऊँगी, तो मुझे मन्त्रोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हैं। उनका नामोल्लेख कर

मन्त्रजप करूँगी। हे वत्स! हे पुत्रि! सिद्धमन्त्र कभी विफल नहीं होते। अवश्य वशीकरण सिद्ध होगा ही।" उसे सुनकर वृषभानुनन्दिनी श्रीमतीराधिकाने कहा—"देवि! आपने मन्त्रसिद्धि कब की?" पौर्णमासीजी बोलीं—"अज्ञे! मैं बूढ़ी हो रही हूँ। तुम्हीं बतलाओ मन्त्रजपके अतिरिक्त बाल्यावस्थासे लेकर अभी तक मैंने क्या किया है? क्या वृथा ही मैंने समय बिताया है।" श्रीमतीजी बोलीं—"देवि! पति, पुत्र और पौत्रादिका पालन करते-करते ही तो स्त्रियाँ बूढ़ी होती हैं।" देवीने कहा—"वत्से! इसी मन्त्रजपके लिए तो मैंने घरबार सब कुछ छोड़कर संन्यासाश्रमका अवलम्बन किया है। अतएव चातुरी और सिद्धमन्त्रजपके द्वारा अवश्य ही श्रीकृष्णका अन्तःकरण तुम्हारे वशीभूत कर दूँगी। तभी मैं यथार्थमें वृद्धा और तपस्विनी अर्थात् संन्यासिनी हूँ। मुझे वृद्ध देखकर उसके माता-पितामेंसे कोई भी मेरा अनादर नहीं करेंगे और अवश्य ही मेरी बातोंको मानेंगे। अतएव तुम स्थिर होओ और किसी प्रकारका खेद मत करो। मैं श्रीकृष्णको अवश्य ही तुम्हारे वशीभूत कर दूँगी॥"६५॥

आनन्दचन्द्रिका—चतुरेति। प्रथमं चातुर्येणैव तं वशीकरोमि तेनाशक्तौ सिद्धमन्त्रेति तन्नाम्ना मन्त्रजपेन मन्त्रसिद्धेर्वशीकरणं फलं प्रसिद्धमेवेति भावः। ननु कदा ते मन्त्रसिद्धिरभूदित्याह—जरतीति। बाल्यादारभ्य मन्त्रजपं विनैतावन्तं कालं केन व्यतीतमकरवं तद्वदेति भावः। ननु पति-पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-लालनादिभिरेव जरत्यो भवन्त्यत आह—प्रव्रजिता संन्यासिनी मन्त्रजपेऽवकाशप्राप्त्यर्थमेव मया संन्यासः कृत इति भावः। अत्र प्रथमेन विशेषणद्वयेन तदन्तःकरणस्य द्वितीयेन तद्बहिःकरणस्यापि वशीकारः। वयोऽधिकत्वेन संन्यासित्वेन च मयि तस्य तत्पित्रोश्च गौरवाधिक्यादाज्ञापालनमावश्यकं भावीति भावः॥६५॥

परिचारिका—

लवङ्गमञ्जरीभानुमत्याद्याः परिचारिकाः॥६६॥

तात्पर्यानुवाद—परिचारिका—लवङ्गमञ्जरी और भानुमती आदि सखियोंको परिचारिका दूती कहते हैं॥६६॥

आनन्दचन्द्रिका—लवङ्गमञ्जरीति। सर्वासु परिचारिकासु लवङ्गमञ्जर्य्या अभ्यर्हितत्वं नापलपनीयं गणोद्देशदीपिकायामपि तस्या एव प्राथम्यादिति रहस्यम्॥६६॥

यथा—

सहचरपरिषक्तः क्षिप्रमाराद्विकृष्ट–स्तव गुणमणिमालामीश्वरि ग्राहितश्च।
मधुरिपुरयमक्ष्णोः प्रापितश्चाभिकक्षां भण पुनरपि सेयं किंकरी किं करोतु॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाके द्वारा दौत्यकार्यके लिए नियुक्त लवङ्गमञ्जरी अपनी चातुरी–रचित छलसे सखाओंके बीचोंबीचसे श्रीकृष्णको निकालकर श्रीमतीराधिकाके निकट लाई तथा उनके सामने ही श्रीमतीसे कह रही हैं—"हे ईश्वरि! सहचर–गोष्ठीसे शीघ्र ही आकर्षणकर इन मधुरूपी श्रीकृष्णको तुम्हारी गुणरूपी मणिमाला पहनाई है और इन्हें पुनः तुम्हारे नयनपथका पथिक भी बनाया है। अब आज्ञा करो, यह किङ्करी तुम्हारे लिए और क्या सेवा करे?"॥६७॥

लोचनरोचनी—सहचरेति। तस्याः किंकर्या या काचित् स्निग्धा तस्या एव वचनम्॥६७॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वयं लवङ्गमञ्जर्येवाह—सहेति॥६७॥

धात्रेयी—

धात्रेयिकास्मि मधुमर्दन राधिकाया–
स्त्वय्यद्भुतं किमपि वक्तुमिहागताहम्।
निष्पद्य कृष्णरुचिरद्य हिरण्यगौरी,
सद्यः सुधाकरकलाधवलेयमासीत्॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—धात्रेयी—श्रीमतीराधिकाको श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए अत्यन्त व्याकुल देखकर धात्रीपुत्री श्रीकृष्णके निकट आकर आश्चर्यपूर्वक उनको कहने लगी—"हे मधुसूदन! मैं राधाकी धात्रीकन्या हूँ। एक अद्भुत कार्य तुम्हें निवेदन करनेके लिए यहाँ आई हूँ। कनकगौरी राधा कृष्णवर्णमें रुचिविधानकर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी प्राप्तिके लिए अभिलाषिनी होकर हठात् सुधाकर (चन्द्रकी कलाकी भाँति) धवलाङ्गी हो रही हैं अर्थात् तुम्हारे विरहमें कातर होकर चन्द्रकलाकी भाँति अत्यन्त खिन्नाङ्गी हो रही है॥"६८॥

आनन्दचन्द्रिका—धात्रेयी धात्र्याः पुत्री, हिरण्यगौरीयं श्रीराधा कृष्णरुचिः श्यामवर्णा, पक्षे कृष्णे त्वयि रुचिर्यस्याः सा निष्पद्य भूत्वा सद्यस्तत्क्षणादेव

सुधाकरस्यैका कलेवेति त्वयि प्रीत्युत्पत्तिकाल एव वैवर्ण्यकार्श्ययोरेवातिशयो जातस्तथापि सुधेति माधुर्यमपारमिति भावः ॥६८॥

वनदेवी—

जात्याहं वनदेवतापि भगिनी कुत्रापि ते प्रेमतः
क्वाप्यम्बा जननी क्वचित्प्रियसखी कुत्रापि भर्तुः स्वसा।
ग्रीवामुन्नमय प्रसीद रचय भ्रूरिङ्गितादीङ्गितं
कुर्याद्वल्लवकुञ्जरः परिणतिं वक्षोजकुम्भे तव ॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—वनदेवी—श्रीकृष्णने श्रीमतीराधिकाका मानभङ्ग करनेके लिए एक बहुरूपिया दूतीको उनके पास भेजा। वह अपने वचनोंकी अव्यर्थता सिद्ध करनेके लिए अपनी अचिन्त्य सिद्धिको प्रकाशकर श्रीमतीसे बोली—"वत्से! मैं जातिसे वनदेवी हूँ। किन्तु, कभी तुम्हारी छोटी बहन (अनङ्गमञ्जरी) होकर तुम्हें भोजन कराती हूँ, वस्त्र और अलङ्कार पहनाती हूँ, कभी तुम्हारी मातामही अर्थात् मुखरा होकर हितोपदेश प्रदान करती हूँ, कभी प्रियसखीका रूप धारणकर तुमको मानकी शिक्षा देती हूँ, कभी भाईकी पुत्री बनकर, कभी ननद बनकर गर्जन-तर्जन करती हूँ, किन्तु तुम कभी मुझे पहचान नहीं पाती। इस समय प्रणयवशतः तुम्हारा दौत्य स्वीकारकर मैं तुम्हारे निकट सब कुछ प्रकाशित कर रही हूँ। तुम एकबार मेरे प्रति मुखको ऊपर उठाकर देखो तो सही! मैं तुम्हारी अदृष्टचरी होकर विविध प्रकारसे तुम्हारी सहायता करती हूँ। तुमने कभी भी मेरा परिचय प्राप्त नहीं किया है। गौरव प्रकाश करती हुई प्रसन्नचित्तसे मेरा परिचय तो ग्रहण करो। हे पुत्रि! यदि लज्जावशतः कोई आन्तरिक भाव मेरे निकट प्रकाश न कर सको तो भङ्गी द्वारा ही व्यक्त करो, जिससे वल्लभकुञ्जर (श्रीकृष्ण) अपने करपल्लवोंके द्वारा तुम्हारे कुचकुम्भका मर्दन कर सकें॥"६९॥

लोचनरोचनी—भ्रुवोरिङ्गिताच्चालनादिङ्गितं भावव्यञ्जनां रचय। ततश्च कुर्यादिति वक्षोजयोः कुम्भत्वमारोप्य तस्याञ्च कुञ्जरीत्वं व्यञ्जितम् कुञ्जरेण परिवृत्य कृतदन्ताघातः परिणतिः। सा चात्र गाढालिङ्गनादिरूपा॥६९॥

आनन्दचन्द्रिका—मानभङ्गार्थं वृन्दया प्रहिता काचित् बहुरूपा दूती स्ववचनस्य वैयर्थ्याभावार्थं श्रीराधां प्रति स्वस्याचिन्त्यां सिद्धिं प्रख्यापयन्ती प्राह—जात्येति। कुत्रापि

समये तव भगिनी अनङ्गमञ्जरी भूत्वा त्वां भोजयामि परिधापयामि च। अम्बा जननी मुखरा भूत्वा हितमुपदिशामि, प्रियसखी ललितामूर्तिधारिणी भूत्वा मानं शिक्षयामि, भर्तुः स्वसा ननान्दा कुटिला भूत्वा संतर्जयामि। त्वं तु तदा तदा मां ज्ञातुं न प्राभूरेवेत्यधुना तु सौहार्देन दूत्यकाले सर्वं व्यक्तीकृत्य वच्मि। अतएव ग्रीवामुन्नमय मद्दिशीत्यर्थः। अहमदृष्टचरी दृष्टचरी वेति परिचिन्विति भावः। ततश्च मद्गौरवेण प्रसीद। यदि न ब्रवीषि तदा भ्रुवोरिङ्गिताच्चालनादिङ्गितं भावव्यक्तिं रचय, यथा वल्लभकुञ्जरस्तव वक्षोजकुम्भे परिणतिं स्वकरेण परिणामं मर्दनमिति यावत्। वक्षोजयोः कुम्भत्वारोपेण तस्याः कुञ्जरीत्वं व्यज्य औचित्यं दर्शितम्॥६९॥

अथ सखी—

स्वात्मनोऽप्यधिकं प्रेम कुर्वाणान्योन्यमच्छलम्।
विश्रम्भिणी वयोवेषादिभिस्तुल्या सखी मता॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—सखी—जो सब प्रकारसे निष्कपट होकर परस्पर एकदूसरेके प्रति अत्यन्त प्रीति रखती हैं और परस्पर विश्वास भाजन होती हैं, वयस, वेश, वैदग्ध्य, रूप, माधुर्य और विलासादिमें तुल्य होती हैं, उन्हें रसशास्त्रमें सखी कहा गया है॥७०॥

यथा—

न मे शोकस्तस्यां यदियमतिपूतैः प्रियसखी,
हता ते दृग्भङ्गीषुभिरनुपमां यास्यति गतिम्।
परं शोचाम्युच्चैर्जगदिदमहं यन्मधुरिपो,
विना तस्याः प्रेक्षामहह भविता व्यर्थनयनम्॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णदर्शनसे उत्पन्न उत्कण्ठासे श्रीमतीराधिकाकी चरमदशा उपस्थित होनेपर कोई मध्या स्वभाववाली सखी श्रीकृष्णके निकट आकर अपनी सखीका वृत्तान्त बतलाकर उनका तिरस्कार कर रही है—"हे मधुरिपु! तुम्हारे त्रिभङ्गीरूप अत्यन्त पवित्र बाणोंके द्वारा आहत होकर मेरी प्रियसखीको अनुपम गति प्राप्त होनेमें मुझे कोई शोक नहीं है। किन्तु, हाय! बड़े दुःखकी बात है कि उनके नयनोंके बिना यह सारा जगत् नयनहीन हो जाएगा।" अतः जितना शीघ्र हो सके, हमारी सखीके प्राणोंकी रक्षा करो॥"७१॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णं प्रति श्रीराधाया दशमीं दशां सूचयति—न मे शोक इति। यदि त्वमधुनापि तामभिसर्तुं विलम्बस इति भावः। जगदिदं शोचामीति इदं–पदेन स्वतर्जन्या स्वसङ्गिनीः सखीर्दर्शयति। तदुपलक्षितत्वेन सर्वं व्रजस्थं स्त्रीमण्डलमित्यर्थः। त्वां तु न शोचामि, यतस्त्वया स्वेच्छयैव स्त्रीवधो गृह्यत एव। आत्मानं च न शोचामि, यतोऽहं तामनु मरिष्याम्येवेति भावः ॥७१ ॥

वाच्यं व्यङ्ग्यमिति द्वेधा तद्दूत्यमुभयोरपि ॥७२ ॥

तत्र कृष्णाप्रियायां वाच्यं यथा—

शप प्रहर तर्ज मां क्षिप बहिः कुरुष्वाद्य वा,
कदापि मतिराग्रहान्न सखि मे विरंस्यत्यतः।
प्रयामि तदहं हरेरुपनयाय सत्यं ब्रुवे,
न सा श्वसितु या न वामनुभवेन्नवां संगतिम् ॥७३ ॥

तात्पर्यानुवाद—उल्लिखित सखीदूत्य (नायक और नायिका उभयनिष्ठ होनेके कारण) दो प्रकारका होता है—वाच्यदूत्य और व्यङ्ग्यदूत्य ॥७२ ॥

वाच्यदूत्य—यद्यपि श्रीमतीराधिका अवहित्था अवलम्बनपूर्वक अपने भावोंको गुप्त रखना चाहती हैं तथापि श्रीकृष्णके प्रति उनके अत्यन्त अधिक अनुराग और उससे उत्पन्न मिलनकी व्याकुलताका अनुमानकर कोई लघुप्रखरा सखी श्रीमतीराधाके द्वारा डाँट–डपटकर श्रीकृष्णके निकट जानेके लिए मना करनेपर भी वह श्रीकृष्णको राधासे मिलानेकी इच्छाकर श्रीमती राधिकासे प्रौढ़ वचनोंसे कह रही है—“हे सखि! आज तुम भले ही शाप दो, मुझे मारो, डाँटो, तिरस्कार करो, यहाँसे निकाल भी दो, किन्तु मैं अपने इस आग्रहसे कभी भी विरत नहीं होऊँगी। इसलिए मैं तुमसे सत्य कह रही हूँ, मैं हरिको लानेके लिए जा रही हूँ। जो सखी तुम्हारे इस नवीन मिलनका अनुभव नहीं करती, वे मर क्यों नहीं जाती?” ॥७३ ॥

लोचनरोचनी—क्षिप विकिर ॥७३ ॥

आनन्दचन्द्रिका—शपेति। तद्दूत्यं तस्याः सख्या दूत्यमुभयो र्नायिकानायकयो-र्विषययोरित्यर्थः ॥७२ ॥

तुङ्गविद्या श्रीराधामाह—एवमग्रेऽप्यवतारिका ज्ञेया। सा न श्वसितु म्रियतामित्यर्थः। या वां युवयोर्नवां नित्यनूतनां संगतिम् ॥७३ ॥

व्यङ्ग्यं यथा—

सखि तर्कितासि कामितकृष्णागुरुसौरभा त्वमिह।
भवदभिमतार्थविधये नैगमसविधं गमिष्यामि ॥७४ ॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाका व्यङ्ग्यदूत्य—कोई एक सखी श्रीमतीको श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित जानकर बोली—"हे सुन्दरि! तुम्हें देखकर मेरे मनमें ऐसा वितर्क उठ रहा है कि तुम कृष्णागुरुके सौरभकी कामना कर रही हो। अतएव तुम्हारे अभिलषित अर्थकी सिद्धिके लिए मैं नैगम (वणिक) के समीप जाऊँगी।" व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'कृष्ण-कामित-अगुरुसौरभा' इस पदसे तुम अगुरुके सौरभको प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्णकी कामना कर रही हो और द्वितीय पक्षमें—कृष्ण वर्ण अगुरुके सौरभकी कामना कर रही हो। 'नैगम' शब्दका अर्थ नागर एवं वणिक दोनों हैं। पक्षान्तरमें—"हे सखि! तुम्हें देखकर मेरा मन ऐसा वितर्क कर रहा है कि तुम अगुरु सौरभकी अभिलाषिनी होकर श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशा कर रही हो। अतएव तुम्हारे अभिमत अर्थके साधनके लिए मैं उसी नागरके समीप जा रही हूँ॥"७४॥

लोचनरोचनी—प्रथमपक्षे कामितकृष्णागुरुसौरभेत्येकं पदम्, द्वितीये कामितकृष्णेति, गुरुसौरभेति पदद्वयम्। नैगमो वणिक् नागरश्च। तत्र द्वितीये नागरो विदग्ध-सामान्यवाच्यपि तत्कामितत्वेन प्रस्तुतत्वात् श्रीकृष्णमेव बोधयति॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—कामितं कृष्णागुरोः सौरभं यया, पक्षे कामितकृष्णा, अगुरुसौरेभेति पदद्वयम्। नैगमो वणिग्नागरश्च। "नैगमः स्यादुपनिषद्वणिजोर्नागरेऽपि च।" इति विश्वः। स चात्र प्रत्यासत्त्या श्रीकृष्ण एव। सविधं निकटम्॥७४॥

यथा वा—

त्वमसि किमिव बाले व्याकुला तृष्णयोच्चैः,
श्रृणु हितमविलम्बां तत्र यात्रां विधेहि।

विलसदमलरागः पूर्वशैलस्य तिष्ठन्
विधुरुपरि चकोरि त्वत्प्रतीक्षां करोति॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें 'सखी' पदसे सम्बोधनकर साक्षात् व्यङ्ग्यके द्वारा दूतीका उदाहरण देकर प्रस्तुत श्लोकमें व्यपदेश व्यङ्ग्यका दिग्दर्शन कर रहे हैं। श्रीमतीराधिका अभिसारके लिए प्रस्तुत हैं। उन्होंने श्रीकृष्णका वृत्तान्त जाननेके लिए अपनी सखीको भेजा। वह कृष्णको सङ्केत स्थानमें लाकर पुनः परम उत्कण्ठापूर्वक अपने आनेके मार्गको निरीक्षण करनेवाली प्राणेश्वरीके निकट उपस्थित होकर उनको लक्ष्यकर वृक्षकी एक शाखापर स्थित एक चकोरीको सम्बोधनकर नायकके अवस्थानका उद्देश्यकर शीघ्रतासे अपनी सखीको उनके पास अभिसार करनेके लिए बोली—"हे बाले! चकोरि! तुम मिलनकी तृष्णासे अति व्याकुल हो रही हो। मेरा हितोपदेश श्रवण करो। अतिशीघ्र ही बिना विलम्बके अभिसार करो। देखो, इस पूर्व शैलके ऊपर (उदयगिरि पक्षान्तरमें पूर्वमें स्थित गोवर्द्धन पर्वतके ऊपरी भागमें) विमलराग (उज्ज्वल अनुराग पक्षान्तरमें निर्मल प्रेम ग्रहणकर्ता) विधु (चन्द्र, पक्षान्तरमें श्रीकृष्ण) उदित होकर वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं॥"७५॥

आनन्दचन्द्रिका—शब्दशक्त्युत्थं व्यङ्ग्यमुदाहृत्य अर्थशक्त्युत्थं वक्तुमाह—यथा वेति। पूर्वशैलस्योपरि। अत्र विधुपददृष्ट्या शब्दशक्त्युत्थं व्यङ्ग्यमिदमिति न संभावनीयम्। चकोरीति संबोधनपदवशादतिशयोक्त्यैव चन्द्रपदेनापि व्यङ्ग्यसिद्धेः, नापि रागशब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वे तथात्वं वाच्यम्। भूम्ना व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेनैकस्य पदांशमात्रस्य परिवृत्त्यसहत्वे तद्व्यपदेशायुक्तेः॥७५॥

अथ कृष्णे वाच्यम्—

तयास्मि कृष्ण प्रहिता तवाग्रे सौन्दर्यसारोज्ज्वलया त्रिलोक्याम्।
अभूतपूर्वां रचयन्विधिर्यां स्वस्यापि विस्मापकतामयासीत्॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति वाच्यदूत्य—विशाखा श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर बोली—"हे व्रजसुन्दर! श्रीमतीके सौन्दर्यकी बात मैं क्या कहूँ? त्रिभुवनमें उनके समान रूपवती कहीं भी कोई सुन्दर रमणी नहीं दीखती। उनका यह अत्यन्त उज्ज्वल और अनुपम सौन्दर्य ही विश्वको प्रकाशित कर रहा है। अधिक क्या स्वयं विधाता भी इनकी

सृष्टिकर अत्यन्त विस्मित हो गये अर्थात् विधाताने जब उनको निर्माणकर उसे देखा, तब उनके मनमें इस प्रकार विस्मय उत्पन्न हुआ कि अहो! मेरी कैसी अद्भुत विचित्र शक्ति है कि मैंने ऐसी अभूतपूर्व लावण्यमयी इस रमणीका सृजन किया। हे कृष्ण! उसी राधाने मुझे तुम्हारे समीप भेजा है कि तुम तदङ्ग–सङ्ग प्राप्तकर अपने जन्मको सफल करो॥"७६॥

लोचनरोचनी—तयास्मीत्यत्र तदभिलषित विशेषरूपं विवक्षितं सौन्दर्येत्यादिना व्यङ्ग्यमेव जातमिति न साक्षादुक्तम्। तथापि तत्प्रहितेत्युक्तांशेन वाच्यं जातमिति वाच्यत्वेनोदाहृतम्। स्वस्येति। स्वयं स्वमपि विस्मापयामासेत्यर्थः॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीविशाखा प्राह—तयेति। स्वस्याप्यन्यस्य विस्मापकोऽभूदिति किं वक्तव्यम्। स्वस्यापि स्वमपि स्वयं विस्मापयामास ममैतादृशी शक्तिः कुतोऽभूद्यदेवमरचयमिति विस्मितोऽभूदित्यर्थः। तेन तां संभुज्यैव त्वं स्वजन्म सफलयेति व्यङ्ग्यमेवेदं तथापि तयास्मि प्रहिता इत्यनेन दूत्यं वाच्यमेव जातमिति वाच्यतयेदमुदाहृतम्। श्रीकृष्णस्याग्रे नायिकादूत्यस्य सखीकृत्यस्य सर्वथा वाच्यत्वे वैदग्ध्यासिद्धेरसौरस्यं स्यात्॥७६॥

अथ व्यङ्ग्यम्—

तत्प्रियायाः पुरः पश्चात्कृष्णे व्यङ्ग्यं द्विधा भवेत्।
तत्साक्षाद्व्यपदेशाभ्यां द्विविधं च द्विधोदितम्॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—व्यङ्ग्य—श्रीकृष्ण–प्रेयसियोंके सामने और उनके अगोचर भेदसे श्रीकृष्णके प्रति व्यङ्ग दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों ही पुनः साक्षात् एवं व्यपदेश भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्यकी संख्या चार प्रकारकी हुई। (१) श्रीकृष्णप्रियाके सामने श्रीकृष्णके प्रति साक्षात् व्यङ्ग्य, (२) श्रीकृष्णप्रियाके आगे श्रीकृष्णके प्रति व्यपदेश व्यङ्ग्य, (३) श्रीकृष्णप्रियाके अगोचर श्रीकृष्णके प्रति साक्षात् व्यङ्ग्य और (४) श्रीकृष्णप्रियाके अगोचर श्रीकृष्णके प्रति व्यपदेश व्यङ्ग्य॥७७॥

तत्र तत्प्रियायाः पुरः कृष्णे साक्षात् व्यङ्ग्यं यथा—

माधव कलापिनीयं न सविधमायाति मे दुराराधा।
निजपाणिना तदेनां प्रसीद तूर्णं गृहाणाद्य॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाके सामने श्रीकृष्णके प्रति साक्षात् व्यङ्ग्य—श्रीमतीराधिकाकी कोई लघुमृद्वी सखी श्रीकृष्णकी अनुमतिसे श्रीमती राधाको अपने घरसे अभिसार कराकर वृन्दावनमें लाई। तत्पश्चात् कुछ दूरसे श्रीकृष्ण दर्शनसे उत्पन्न वाम्यभाववाली श्रीमती क्रीड़ाकुञ्जमें प्रवेश करनेमें अनिच्छुक हुईं, प्रत्युत् अपनेको ही आक्षेप करने लगीं—"मैं क्यों आई?" ऐसा देखकर सखी श्रीकृष्णके प्रति उनके आगमनकी सूचना कर रही है—"हे माधव! यह कलापिनी (मयूरी) तुम्हारे निकट नहीं आ रही; क्योंकि वह मेरी दुःसेव्या है। (पक्षान्तरमें स्निग्धा भूषणवती राधिका तुम्हारे निकट नहीं आ रही हैं) अतएव तुम प्रसन्न होकर तुरन्त इन्हें अपने हाथोंके द्वारा धारण करो॥"७८॥

लोचनरोचनी—कलापिनी बर्हिणी, पक्षे भूषणवती। "कलापो भूषणे बर्हे" इत्यमरनानार्थात्। मे मया दुराराधा कृच्छ्रेणाराध्या। संबन्धविवक्षया कर्तरि षष्ठी, तृतीयार्थमव्ययं वा। पक्षे मेदुरा स्निग्धा॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखाह—माधवेति। कलापिनी मयूरी, पक्षे भूषणवती। "कलापो भूषणे बर्हे" इत्यमरः। मे मम समीपं नायाति यतो दुराराधा न वश्येत्यर्थः। पक्षे मेदुरा स्निग्धा॥७८॥

यथा वोद्धवसंदेशे (५१)—

सन्ति स्फीता व्रजयुवतय स्त्वद्विनोदानुकूला,
रागिण्यग्रे मम सहचरी न त्वया घट्टनीया।
दृष्टवाभ्यर्णे शठकुलगुरुं त्वां कटाक्षार्द्धचन्द्रान्
भ्रूकोदण्डे घटयति जवात्पश्य संरम्भिणीयम्॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—मृद्वीकृतदौत्यके उदाहरणके पश्चात् प्रगल्भाकृतदौत्यका उदाहरण दे रहे हैं। विशाखा कृष्णसे कह रही हैं—"हे श्रीकृष्ण! देखो, तुम्हारे विलास योग्य व्रजमें बहुतसी युवतियाँ हैं, किन्तु मेरी इस सहचरीको तुम क्षुब्ध मत करो। (पक्षान्तरमें अन्य व्रजयुवतीगण तुम्हारे विलास योग्य नहीं हैं, किन्तु केवल एकमात्र हमारी यह सहचरी तुममें अनुरागिनी है, अतः तुम्हारे विलास योग्य है।) देखो, ये निकटमें ही सामने शठकुलके गुरु तुम्हें देखते ही शीघ्र उत्कण्ठित होकर अपने भ्रूधनुमें कटाक्षरूप अर्धचन्द्र बाणकी योजना कर रही हैं॥"७९॥

लोचनरोचनी—सन्ति स्फीता व्रजयुवतय इति परिहास एव। न घट्टनीया न क्षोभणीया। ननु कात्र शङ्का तत्राह—त्वामभ्यर्णे दृष्ट्वा रागिणी रक्तिम्ना युक्ता सती भ्रूकोदण्डे कटाक्षार्द्धचन्द्रान् जवात् जवं कृत्वा घटयति। कुत एवं तत्राह—संरम्भिणी कोपावेशवती। पश्येति वाक्यार्थकर्मकम्। ननु हर्षदानेनैवाहं क्षोभयन्नस्मि न तूद्वेगदानेनेति कुतः कोप इत्याशङ्क्य तं विशिनष्टि—शठकुलगुरुमिति। अन्तः शाठ्यमेव तवेति भावः॥७९॥

आनन्दचन्द्रिका—शब्दमूलं व्यङ्ग्यमुदाहृत्य पूर्ववदर्थमूलमुदाहर्तुमाह—यथावेति। विशाखा श्रीकृष्णमाह—सन्तीति। स्फीताः पीनाङ्ग्यस्तव विनोदानुकूलाः क्रीडायोग्याः, व्यङ्ग्यपक्षे क्रीडायामनुकूलाः वाम्यशून्याः। रागिणी मात्सर्यवती अनुरागिणी च। "रागोऽनुरागे मात्सर्ये" इति विश्वः। न घट्टनीया न चालनीया। संरम्भिणी कोपना। तेनान्यासु युवतिषु तव कामविलासो निर्विघ्न एव स्यात्, मम सहचरीं घट्टयसि चेत् कामसंग्रामो भावी। यदियं कंदर्पशास्त्रेषु महाप्रवीणा त्वया परमवीरेणापीयं दुर्जयैवेति जानीहीति भावः। अत्रापि रागिणी पददृष्ट्यैव न शब्दमूलत्वं वाच्यम्; तद्विनापि व्यङ्ग्यसिद्धेः॥७९॥

व्यपदेशेन यथा—

> **धवमुपेक्ष्य कठोरमियं पुरः परिमलोल्लसिता किल माधवी।**
> **श्रयितुमुत्कलिकावलिताद्धुतं ननु भवन्तमुपैति हलिप्रिय॥८०॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाका साक्षात् व्यपदेश व्यङ्ग्य—विशाखा कह रही है—"हे अलिप्रिय कदम्ब! यह माधवीलता अपने परिमलसे उल्लसित होकर उत्कृष्ट कलिकाओंकी माला धारण कर रही है एवं कठोर धववृक्षको त्यागकर तुम्हारा ही आश्रय ग्रहण कर रही है।" पक्षान्तर—"हे कृष्ण! यह माधवी नायिका तुम्हारे परिमलसे अत्यन्त उल्लसित होकर अपने निष्ठुर पतिको त्यागकर अत्यन्त उत्कण्ठित होकर तुम्हारे आश्रयकी प्रार्थना कर रही है॥"८०॥

लोचनरोचनी—धवं पतिम्, पक्षे वृक्षविशेषम्। माधवी वासन्ती, पक्षे वशीकृतस्वकान्ता। उत्कलिका उत्कृष्टकलिका पक्षे उत्कण्ठा। हलिप्रिय हे बलदेवप्रिय! पक्षे हे कदम्ब॥८०॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखाह—धवं तन्नामवृक्षं पतिं च। माधवी वासन्ती वशीकृतस्वकान्ता च। उत्कलिका उत्कृष्टा कलिका उत्कण्ठा च। तया वलिता युक्ता। हलिप्रिय, हे कदम्बवृक्ष! पक्षे बलदेवप्रिय॥८०॥

तत्प्रियायाः पश्चात्साक्षाद्व्यङ्ग्यं यथा—

स्फुरत्सुरमणिप्रभः सुरमणीघटाश्लाघितां,
सदाभिमतसौरभः प्रकटसौरभोद्भासिनीम्।
मुकुन्द मुदिरच्छविर्नवतडिच्छ्रियं तामसौ,
भवानपि न चम्पकावलिमृते किल भ्राजते॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाके अगोचर साक्षात् व्यङ्ग्य—चम्पकलताकी कोई सखी कह रही है—"हे मुकुन्द! असमोर्द्ध्व अनुपम सौन्दर्य–माधुर्य आदिके आश्रय रूपमें तुम्हारे प्रसिद्ध होनेपर भी वैसी ही प्रसिद्धा चम्पकावलिके बिना तुम्हारी शोभा नहीं हो रही। तुम जिस प्रकारसे इन्द्रनीलमणिकी कान्तिको धारण करनेवाले हो, वे भी उसी प्रकार सुशोभना रमणियोंके द्वारा सेविता हैं। तुम जिस प्रकार सदा–सर्वदा सुरभियोंको अथवा अङ्गपरिमलकी वाञ्छा करते हो, उसी प्रकार वे भी सदा–सर्वदा सर्वत्र प्रसारित अङ्ग–परिमलसे समस्त दिशाओंको उद्भासित करनेवाली हैं। तुम जैसे जलधर कान्तिवाले हो, उसी प्रकार वे भी अत्यन्त सुशोभित विद्युत्की कान्तिको धारण करनेवाली हैं। अतः दोनोंका मिलन ही वाञ्छनीय है॥"८१॥

लोचनरोचनी—चम्पकावलिं तन्नाम्नीं विना भवानपि न विभ्राजते। तस्या हि त्वयि तादृशतायां योग्यतास्तीति श्लेषेणाह—स्फुरतः सुरमणेः कौस्तुभस्य प्रभा यत्र सः। सौरभं सुरभीसमूहः। द्वितीयं तत्सौगन्ध्यम्। पुनर्गुणेनापि योग्यतामाह—मुदिरेति॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—चम्पकावल्याः सखी प्राह—स्फुरदिति। स्फुरतः सुरमणेः कौस्तुभस्य प्रभा यत्र सः। शोभनानां रमणीनां घटया श्लाघितां स्तुताम्। अभिमतं सौरभं सुरभीसमूहो यस्य सः। चम्पकावलिमृते इति तस्यास्तव च विशेषणसाम्यात्तया साहित्येनैव तव स्थितिरुचितेति भावः॥८१॥

व्यपदेशेन व्यङ्ग्यं यथा—

शैलस्तुङ्गशिरा विराजति सरस्तस्योत्तरे विस्तृतं,
तत्तीरे वनमुन्नतं तदुदरे हारी लतामण्डपः।
तस्य द्वारि गभीरसौरभभरैराह्लादयन्ती दिशः,
फुल्ला ते मधुसूदनाद्य पदवीमालोकते मालती॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाके अगोचर व्यपदेशके माध्यमसे व्यङ्ग्य— श्रीमतीराधिकाको उनके घरसे अभिसार कराकर श्रीराधाकुण्डके तटस्थित लीलाकुञ्जमें रखकर कोई प्रियसखी श्रीकृष्णके निकट बहुत-से लोगोंको देखकर वहाँ भ्रमरके छलसे श्रीकृष्णके प्रति श्रीमतीराधिकाकी स्थितिकी व्यञ्जना कर रही है—"हे मधुसूदन (भ्रमर)! देखो, ये अत्यन्त ऊँचे गिरिराज विराजमान हो रहे हैं। उनकी उत्तर दिशामें जो विराट सरोवर है, उसके तीरपर जो बहुत सुशोभनीय मनोहर वन विराजमान हो रहा है, उसके बीचमें लतामण्डपके द्वारपर मालती दसों दिशाओंमें अपने सौरभका विस्तारकर तुम्हारे आगमनपथकी प्रतीक्षा कर रही है।" पक्षान्तरमें—"हे श्रीकृष्ण! श्रीकुण्डके तीरवर्ती निकुञ्जमें श्रीराधा तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

यहाँ 'मधुसूदन' शब्दका अर्थ भ्रमर एवं श्रीकृष्ण है। 'मालती' शब्दके द्वारा वासन्तीलता और श्रीमतीराधिकाको समझना चाहिए॥८२॥

लोचनरोचनी—मालती लताविशेषः, पक्षे तन्नाम्नी काचित्॥८२॥

आनन्दचन्द्रिका—शैलोऽत्र गोवर्धनः, सरो राधाकुण्डम्। हे मधुसूदन! हे भ्रमर! पक्षे कृष्ण। मालती प्रसिद्धा, पक्षेऽतिशयोक्त्या श्रीराधा॥८२॥

यथा नायिकया दूत्ये वयस्याया नियोजनम्।
कृष्णाय क्रियते तस्य प्रकारोऽयं विलिख्यते।
नियोजनं क्रियासाध्यं वाचिकं चेति तद्द्विधा॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णको लानेके लिए नायिकाएँ जिस प्रकारसे दूतीका नियोग करती हैं, उसे यहाँ बतलाया जा रहा है। यह नियोग दो प्रकारका होता है—क्रियासाध्य और वाचिक॥८३॥

तत्र क्रियासाध्यम्—

दिवि वीक्ष्य नवाम्बुदं तथासौ परिरम्भोद्यममाततान तन्वी।
अपि किंचिदिहानुदीर्य वाचा प्रजिघायाघभिदे यथा वयस्याम्॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—क्रियासाध्यदूती नियोग—नवीन जलदको देखकर श्रीकृष्णके सौन्दर्यका स्मरण होनेपर अत्यन्त व्याकुल चित्ता श्रीमती

राधिकाके उन्मत्तवत क्रियाकलापको देखकर किसी प्रियसखीके श्रीकृष्णको बुलानेके लिए जानेपर वृन्दाजी पौर्णमासीको बतला रही हैं—"हे देवि! कृशाङ्गि राधा गगनमण्डलमें जलसे भरे हुए नवीन मेघोंको देखकर अपने दोनों हाथोंको उठाकर उन्हें आलिङ्गन करनेके लिए चेष्टा करने लगीं। श्रीमतीजीकी ऐसी अवस्था देखकर, श्रीमतीजीके कुछ नहीं कहनेपर भी सहचरी स्वयं उनके भावोंको समझकर अघरिपु श्रीकृष्णको बुलानेके लिए चली गई। श्रीमतीराधिकाने कोई आदेश नहीं दिया; किन्तु, उनकी बाह्य क्रियाओंको देखकर दूती स्वेच्छापूर्वक स्वयं श्रीकृष्णके समीप उन्हें बुलाने चली गई।" तात्पर्य यह है कि श्रीमती राधिकाकी उन्मत्तकी भाँति चेष्टाओंने ही उक्त सखीको दूतीके रूपमें नियोग किया॥८४॥

लोचनरोचनी—परिरम्भोद्यमं नाट्यशास्त्रोक्तं लघुलघुतदनुकरणम्। प्रजिघाय प्रहितवती॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दी पौर्णमासीमाह—दिवीति। असौ श्रीराधा परिरम्भोद्यमं बाहुद्वयप्रसारणेन तदनुकरणम्। वाचानुदीर्य अनुक्त्वापि प्रजिघाय प्रहितवती॥८४॥

यथा वा—

मुहुरपि विधुरान्तर्वेणुमाकर्ण्य मुग्धा,
स्वयमिह न वयस्यां माधवाय न्ययुङ्क्त।
अपि तु विशदमस्याः स्वेद शालिन्यरुद्धा,
तनुमनु विकसन्ती कण्टकश्रेणिरेव॥८५॥

तात्पर्यानुवाद—क्रियासाध्य दूती भी दो प्रकारकी होती हैं—अनुभाव और सात्त्विक। पूर्व उदाहरणमें अनुभावका प्रदर्शन कराकर अब सात्त्विकका उदाहरण देते हुए कह रहे हैं। एक दिन श्रीमतीराधिका श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको श्रवणकर अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। उनके अङ्गोंसे स्वेद-बिन्दुँ टपकने लगे। किन्तु, मुग्धा होनेके कारण माधवके प्रति स्वयं सखीका नियोग न कर स्वेद-बिन्दुओंसे लथपथ तथा कण्टकके समान रोमाञ्चको धारण करनेवाली श्रीमतीराधिकाको देखकर श्रीमती राधिकाकी प्रिय सखी उनके आदेशकी प्रतीक्षा किए बिना ही श्रीकृष्णको उनके निकट अभिसार करानेके लिए नियुक्त हुई है। यहाँ स्वयं आदेश

न देनेपर भी उनके सात्त्विक भावोंको दर्शनकर सखी स्वयं उस कार्यमें प्रवृत्त हुई। अर्थात् पूर्वराग अवस्थामें श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको सुनकर श्रीराधाके अङ्गोंसे पसीनेकी बूँदें निकलने लगीं। किन्तु, छोटी उम्र होनेके कारण लज्जावशतः स्वयं सखीको कुछ बोल न सकीं। अपने स्वेदपूर्ण पुलकाकुल कलेवरसे किञ्चित् अपने वसनोंको हटा दिया। उनकी इस क्रियाके द्वारा यह अभिप्राय प्रकाशित हुआ कि सखी यदि हमारे पुलकित अङ्गको देखेगी तो मेरी परमोत्कण्ठाको जानकर शीघ्र ही मुरहरको यहाँ बुला लाएगी। इस उदाहरणमें स्वेदोद्गम ही सात्त्विकभाव है॥८५॥

लोचनरोचनी—अरुद्धा रोद्धुमशक्येत्यर्थः। 'पराजेरसोढः' इत्यत्र असोढः सोढुमशक्य इतिवत्। कण्टकाः पुलकाः॥८५॥

आनन्दचन्द्रिका—क्रियासाध्यमिति। क्रिया ह्युत्कण्ठा कार्यज्ञापनरूपा। तत्कार्यं च द्विविधमनुभावरूपं सात्त्विकरूपं च पूर्वमुदाहृतम्। उत्तरमुदाहर्तुमाह—यथा वेति। मुग्धा नववयाः। सखीं प्रति स्पष्टं वक्तुमसमर्थेति भावः। अरुद्धा किंचित्-वस्त्रोद्घाटनेनानाच्छादिता सखी मे कण्टकश्रेणीं पश्यतु, यथा मदौत्सुक्यज्ञानेन श्रीकृष्णमानयेदित्यबोधनमेवात्र नियोजनसाधनं ज्ञेयम्। स्वेदशालिनी प्रस्वेदयुक्ता। कण्टकाः पुलकाः॥८५॥

अथ वाचिकम्—

वाच्यं व्यङ्ग्यमिति प्रोक्तं पूर्ववद्वाचिकं द्विधा॥८६॥

तत्र वाच्यं यथा—

त्वमसि मदसवो बहिश्चरन्तस्त्वयि महती पटुता च वाग्मिता च।
लघुरपि लघिमा न मे यथा स्यान्मयि सखि रञ्जय माधवं तथाद्य॥८७॥

तात्पर्यानुवाद—वाचिकव्यङ्ग्य—वाचिकव्यङ्ग्य भी वाच्य और व्यङ्ग्य भेदसे दो प्रकारका होता है।

उक्त उदाहरणमें वाच्यव्यङ्ग्य—श्रीमती राधिका विशाखासे बोली—हे प्रियसखि! तुम मेरे बहिश्चर प्राण हो अर्थात् यद्यपि प्राण शरीरके अन्दर रहते है, तथापि तुम मेरे प्राण होनेपर भी बाहर विचरण कर रही हो। इसलिए तुमपर मैं अत्यन्त विश्वास करती हूँ। दूसरी बात यह है कि तुम परम बुद्धिमती, चतुर और वाक्पटु भी हो। अतः मैं तुमसे

प्रार्थना करती हूँ कि तुम पुष्पचयनके बहाने वन भ्रमण करते-करते श्रीकृष्णके पास चली जाओ, किन्तु उनको अदृष्टकी भाँति रखकर अथच उनको सुनाकर अपनी सखीके साथ कथोपकथन करना। उन बातोंसे अन्यान्य व्रजवधुओंके प्रसङ्गमें सर्वापेक्षा मेरे रूप, गुण और प्रेमके आधिक्यका उनके सामने वर्णन करना। इससे श्रीकृष्ण तुम्हारे निकट आगमन कर पूछेंगे—'हे सखि! तुम किस अद्भुत माधुर्यवती रमणीकी बातें कर रही हो?' अनन्तर तुम आशा और सम्भ्रम प्रकाशपूर्वक जिह्वादंशन करके कहना—'नहीं, मैं किसीका वर्णन नहीं कर रही हूँ।' श्रीकृष्ण कहेंगे—'सखि! डरनेकी क्या आवश्यकता है? डरो मत। कहनेसे कोई भी दोष नहीं होगा, किन्तु मुझे नहीं बतलानेसे भी मैंने उसका परिचय पा लिया है।' तुम कहना—'माधव! उनके परिचयसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है?' इस वाक्यको सुनकर वे कहेंगे—'सखि! उसके साथ मेरा परम गुप्त कोई कार्य है।' तब तुम कहना—'माधव! दूर हटो, दूर हटो। तुम्हारे और उनके स्वभावमें बहुत अन्तर देखती हूँ। अतएव उनके साथ तुम्हारे मिलनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है।' यह सुनकर श्रीकृष्ण कहेंगे—'सखि! हम दोनोंके स्वभावमें तुमने क्या अन्तर देखा? बतलाओ तो।' तब तुम कहना—'माधव! तुम स्त्रीलम्पट हो, वे पतिव्रता हैं। तुम चञ्चल हो, वे अति धीर-स्वभाव की हैं। तुम धर्मकर्महीन हो, वे देवपूजा इत्यादिमें सब समय अनुरक्त रहती हैं। तुम अपवित्र रहते हो, वे तीनों सन्ध्या स्नान और स्वच्छ निर्मल वस्त्र एवं अलङ्कार इत्यादिको धारण करती हैं।' इसे सुनकर श्रीकृष्ण कहेंगे—'विशाखे! मैं भी तो ब्रह्मचारी हूँ। इस विषयमें तो दुर्वासा मुनि ही प्रमाण हैं। उन्होंने गोपालतापनीमें मुझे ब्रह्मचारीके रूपमें वर्णन किया है। क्या तुम नहीं जानतीं? और तुम जो मुझे चञ्चल कह रही हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? मैं एक सप्ताह तक, अपने हाथकी कनिष्ठा अंगुलीपर गोवर्द्धन पर्वतको धारणकर स्थिर भावसे स्थित था। दूसरी बात, धर्मकर्मको मैंने छोड़ दिया है, यह तुमने कैसे निर्णय कर लिया? मैं पिताजीकी आज्ञासे श्रीभागुरी मुनिके निकट विष्णुमन्त्रमें दीक्षित हुआ हूँ। गार्गी, नान्दी अथवा पौर्णमासीदेवीसे तुम पूछ सकती हो। वे मेरी धार्मिकताकी साक्षी हैं। दूसरी बात, मैं कभी अपवित्र नहीं रहता। साक्षात् पवित्रताका

मैं मूर्त्तिमान-विग्रह होकर इस जगत्‌में अवतीर्ण हुआ हूँ। इस विषयमें तुम्हारा अनुभव ही स्पष्ट प्रमाण है।' तदनन्तर, हे सखि! तुम कहना—'माधव! तो भी तुम पुरुषजातिके हो, वे सत्कुलमें उत्पन्ना हैं। वे तुम्हें उलट करके भी नहीं देखेंगी।' यह बात सुनकर श्रीकृष्ण कहेंगे—'सखि! वे हमें न देखें। मैं दूरसे ही उस धर्मवतीको देखकर कृतार्थ हो जाऊँगा।' तब तुम कहना—'माधव! दिखानेका उपाय क्या है?' श्रीकृष्ण कहेंगे—'एक उपाय है। मैं गोवर्द्धनकी कन्दरामें एक सूर्यमूर्त्ति स्थापनकर अपने हाथोंसे मन्दिर लेपन इत्यादि कर दूर बैठा रहूँगा। तुम उस अद्भुत देवताका दर्शन और पूजन करानेके लिए उन्हें वहाँ ले आओ। जब वे पूजाके लिए मन्दिरमें प्रविष्ट होंगी, तब उनके पीछे मैं उनके पृष्ठदेशको अवलोकन करके ही कृतार्थ हो जाऊँगा, और यदि इसके बाद तुम्हारी कृपा और सम्मति होगी तो अलक्षित रूपसे धीरे-धीरे आकर एकबार मात्र उनके श्रीचरणोंको स्पर्श करूँगा।' तत्पश्चात् तुम कहना—'माधव! तुम मुझे क्या घूस दोगे?' तब वे कहेंगे—'सखि! घूसकी बात क्या है? आत्मा पर्यन्त तुम्हारे हाथोंमें विक्रय कर दूँगा।' अनन्तर तुम कहना—'माधव! धैर्य धारण करो। तुम्हारे मनोरथको सम्पन्न कर रही हूँ। ऐसा कहकर शीघ्र ही वहाँसे लौटकर मुझे वहाँपर ले चलना।' इस प्रकारसे श्रीमतीने अपने मनोरथको विशाखाके प्रति व्यक्त किया॥८६-८७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—त्वमसीति। असवः प्राणाः। अतएव त्वयि विश्वसिमीति भावः। पटुता चातुर्यं वाग्मिता वावदूकता ते चैवं ज्ञेये। त्वया पुष्पावचयनमिषेण वनं भ्रमन्त्या तस्य निकट एव तमदृष्टवत्यैव तं श्रावयित्वा स्वसखीभिः सह कथोपकथासु वधूजनप्रसङ्गे सर्वाभ्यः सकाशादपि मद्रूपगुणप्रेमादय आधिक्येन वर्णनीयाः। ततश्च तेनागत्य त्वन्निकटे एवं वक्तव्यम्—सखि, कामेवमद्भुतमाधुर्यां वर्णयसीति। ततश्च त्वया साशङ्कं ससंभ्रमं वक्तव्यं—न कामपीति। सखि! मा भैषीः कोऽप्यत्र दोषो न भविष्यति, यामवोचस्तां परिचायय मामीति। माधव! तया ज्ञातया तव किं कार्यमिति। सखि! अस्ति महदेव रहस्यं कार्यमिति। माधव! इतोऽपसर। तस्यास्तव च महदेव वैसादृश्यं स्वभाववैजात्यात्। अतस्तव तया न किमपि कार्यमिति। सखि! किं तत्स्वभाववैजात्यं ब्रूहीति। माधव! त्वं स्त्रीलम्पटः सा पतिव्रता, त्वं चञ्चलः सा परमधीरा, त्वं धर्मकर्महीनः सा देवपूजापरा,

त्वमशुचिः सा त्रिसवनस्नानपरा धौतवस्त्रालंकारवतीति। सखि! अहमपि ब्रह्मचारीत्यत्र दुर्वासामुनिरेव प्रमाणम्। अहमचञ्चल इत्यत्र सप्तदिनपर्यन्तमेकहस्तेन गोवर्धनधारणमेव प्रमाणम्। अहं सांप्रतं पित्राज्ञया श्रीभागुरेर्गुरुदेवाल्लब्धविष्णुमन्त्रदीक्षाक इत्यत्र गार्गीनान्दीमुखीपौर्णमास्य एव प्रष्टव्याः। अहं शुचिः साक्षान्मूर्त एवात्र त्वदनुभव एव प्रमाणमिति। माधव! तदपि त्वं पुरुषजातिः सा कुलजा न त्वां द्रक्ष्यतीति। सखि! सा मां मा पश्यतु, अहं तु तां परमधर्मवतीं दूरादपि दृष्ट्वा कृतार्थीबुभूषामीति। माधव! कस्तत्रोपाय इति। सखि! अत्रैव गोवर्धनकन्दरामन्दिरेऽद्यैव मया एका सूर्यदेवमूर्तिः स्थापनीया, स्वहस्तेन मन्दिरलेपनादिकमपि कृत्वा दूरे स्थास्यामि। त्वयादृष्टचरस्य देवस्य दर्शनपूजनाद्यर्थं सात्रानेतव्या। ततश्च तस्याः पूजार्थमत्रोपविष्टायाः पृष्ठदेशदर्शनेनापि कृतार्थीभविष्यामि। यदि च तव कृपया संमतिर्भाविनी तदालक्षितमागत्य शनैः पादपीठश्च स्प्रष्टव्य इति। माधव! अत्र कमप्युत्कोचं दास्यसीति। सखि! आत्मानमेव तव हस्ते विक्रेष्यामि उत्कोचस्य का वार्तेति। माधव! समाश्वसिहि मनोरथमिमं ते संपादयिष्यामि इत्युक्त्वा आगत्य मां तत्र नयेति श्रीराधाया मनोगत एवोपदेशः स्वसख्यै विशाखायै ज्ञेय इति॥८७॥

अथ व्यङ्ग्यम्—

अत्र शब्दार्थमूलत्वाद्व्यङ्ग्यं च द्विविधं भवेत्॥८८॥

तत्र शब्दमूलं यथा—

नहि शिक्षितुं वरकलासु कौशलं, गुणचातुरीं च न मृगाक्षि कामये।
तमहं समभ्यसितुमेव सुभ्रुवां, सखि केशबन्धनविशेषमर्थये॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—व्यङ्ग्य—यह भी दो प्रकारका होता है—शब्दमूल और अर्थमूल॥८८॥

शब्दमूल—श्रीमतीराधिकाजी वृन्दासे कह रही हैं—“हे मृगाक्षि! मैं प्रधान-प्रधान कलाकौशल अथवा गुण, चातुर्य इत्यादिकी शिक्षा करनेकी कोई कामना नहीं करती। परन्तु, सुन्दरियोंकी कवरी आदिकी रचना करनेके अभ्यासकी अभिलाषा करती हूँ॥८९॥

लोचनरोचनी—समभ्यसितुमनुशीलयितुम्। सुभ्रुवां धनविशेषं केशवमिति तु व्यङ्ग्यम्॥८९॥

आनन्दचन्द्रिका—सुभ्रुवां केशानां बन्धनविशेषं वेणीकवर्यादिरूपतयेत्यर्थः। पक्षे सुभ्रुवां धनविशेषं केशवमभ्यसितुमनुशीलयितुम्। अत्र केशवपदस्य विशेष्यत्वात्तस्यैव

धनविशेषत्वस्य तात्पर्यविषयीभूतत्वात् तन्मात्रपरिवृत्त्यसहत्वेऽपि शब्दशक्त्युत्थध्वनि-विशेषो नानुपपन्नः ॥८९॥

यथा वा—

ण पउमराअप्पमुहं रअणं कामेइ गोइ मे हिअअम्।
किन्तु सदा हीरवरं वाञ्छइ हारान्तरे कादुम् ॥९०॥

[न पद्मरागप्रमुखं रत्नं कामयति गोपि मे हृदयम्।
किन्तु सदा हीरवरं वाञ्छति हारान्तरे कर्तुम् ॥]

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें वेशरचना इत्यादि कार्यमें अपनी अनिपुणताको दिखलाकर मुग्धादूतीके नियोगका उदाहरण देकर यहाँपर प्रवीण प्रौढ़ाकी सहायतासे दूतीनियोगको दिखला रहे हैं—"हे सुन्दरि! मेरे हृदयमें पद्मराग आदि मणियोंको धारण करनेकी इच्छा नहीं है, किन्तु सदैव सर्वश्रेष्ठ (हरिरूप) हीरेको अपने हारोंके बीच धारण करनेकी इच्छा हो रही है।"

उल्लिखित उदाहरणमें शब्दगतव्यङ्ग्य यह है कि 'सदाहीरवर' शब्दका विच्छेद करनेसे सदा एवं आहीरवर अर्थात् सदाका अर्थ सर्वदा और आहीरवरका अर्थ गोपश्रेष्ठ श्रीकृष्ण हैं अर्थात् "हे सखि! आहीरवरको अर्थात् श्रीकृष्णको हारके बीच पदकस्वरूप धारण करनेकी वासना हो रही है॥"९०॥

लोचनरोचनी—ण पउमेत्यत्र "न पद्मरागप्रमुखं रत्नं कामयते गोपि मे हृदयम्। किन्तु सदा हीरवरं वाञ्छति हारान्तरे कर्तुम्॥" इति वाच्यम्। सदा आभीरवरं श्रीगोपालमिति तु व्यङ्ग्यम्॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—मुग्धाया नियोजनमुदाहृत्य प्रौढाया वक्तुमाह—यथा वेति। ण पउमेति। "न पद्मरागप्रमुखं रत्नं कामयते गोपि मे हृदयम्। किन्तु सदा हीरवरं वाञ्छति हारान्तरे कर्तुम्॥" हीरवरं हीरकश्रेष्ठम्, पक्षे आभीरवरं श्रीकृष्णम्॥९०॥

अथार्थमूलम्—

आक्षेपेण स्वपत्यादे र्गोविन्दादेः प्रशंसया।
वैशिष्ट्येन च देशादेरर्थमूलमनेकधा ॥९१॥

तात्पर्यानुवाद—अर्थमूलव्यङ्ग्य—अपने पति आदिके प्रति आक्षेप, गोविन्द आदिकी प्रशंसा तथा देशादि वैशिष्ट्यके कारण अर्थमूलव्यङ्ग्य बहुत प्रकारके होते हैं॥९१॥

तत्र स्वपत्याद्याक्षेपेण यथा—

विधातुर्दौरात्म्यान्न हि वहति घोरप्रकृतये।
रुचिं चेतः पत्ये हतवपुरिदं दीव्यति रुचा।
भजत्कक्षामक्ष्णोर्विषममिदमुग्रं प्रहरते
यमीतीरारण्यं किमिह सखि शिक्षां न तनुषे॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—उक्त उदाहरणमें अर्थोद्भव व्यङ्ग्य यह है कि पूर्वरागवती श्रीमतीराधिका विशाखासे बोली—"हे प्रणयिनि! मेरा अपराध क्या है? विधाताका खिलवाड़ तो देखो। उन्होंने मुझे घोर निष्ठुर प्रकृतिका पति प्रदान किया है। उस पतिके प्रति मेरी किसी प्रकारसे भी रुचि उत्पन्न नहीं हो रही है।" इन वचनोंके द्वारा सखीका विश्वास उत्पन्न कराकर अपने आन्तरिक भावोंका प्रकाश कर रही हैं—"हे सखि! वस्तुतः विधाता यदि हमें सुन्दर प्रकृतिका पति प्रदान भी करते, तथापि उसके प्रति मेरी रुचि नहीं होती; क्योंकि मेरा मन एकान्त रूपसे श्रीकृष्णके प्रति ही अनुरक्त हो रहा है। हे सखि! यदि तुम ऐसा कहो कि पतिके प्रति रुचि हो या न हो, कुलाङ्गना पतिव्रता स्त्रियोंके लिए परपुरुषके प्रति रुचि वहन करना अत्यन्त अनुचित है, तो उसके उत्तरमें मैं यह कहती हूँ कि मेरी यह दुर्भागी देह यौवनसे दिन-दिन छलक रही है। इसलिए यौवनसे परिपूर्ण इस देहका ही दोष है, यह चित्तका दोष नहीं है। हे सखि! तुम यदि इस प्रकार आशङ्का करो कि सुप्रतिष्ठिता लज्जावती कुलनारीके लिए स्वधर्मके प्रति लक्ष्यकर धैर्य अवलम्बन करना ही उचित है। तो इस विषयमें भी मेरा यह उत्तर है कि दृश्यमान यमभगिनी श्रीयमुनाजीके तटवर्ती अरण्य मेरे नेत्रपथमें उदित होकर कन्दर्पाग्निका उद्दीपन कर रहा है, किन्तु वह मुझे सब प्रकारसे दग्ध नहीं कर रहा है। हे सखि! यह अग्नि अत्यन्त भयङ्कर है। यह न तो किसी युक्तिके द्वारा शान्त हो रही है और न ही किसी प्रकारसे कोई मणिमन्त्र आदिके

द्वारा इसे शान्त कर रहा है और न ही विपत्तिकालमें तुमलोग ही किसी सदुपदेशके द्वारा इसे शान्त कर पा रही हो। हे सखि! यदि मुझे जीवित देखनेकी इच्छा रखती हो, तब कुल, धर्म, लज्जा, प्रतिष्ठा आदिको जलाञ्जलि देकर शीघ्र ही यहाँ श्रीकृष्णको लाकर मुझे जीवित करो अथवा ऐसा न होनेपर मेरे जीवनकी रक्षाका कोई भी उपाय नहीं है॥"९२॥

लोचनरोचनी—विधातुरिति। जातपूर्वानुरागायाः कस्याश्चिद्वचनम्। तत्र विधातुर्दौरात्म्याद् यो घोरप्रकृतिः पतिर्जातस्तदर्थं चेतो रुचिं न वहतीत्येतावत्युक्तिः सख्या विप्रतिपत्तिं वितर्क्य समाधातुमेव। वस्तुतस्तु पत्ये चेतो रुचिं न वहतीत्येतावन्मात्रं विवक्षितम्। तदेतदुक्त्वा विधातुर्दौरात्म्यादेवेत्यनुगमय्य हतवपुरित्यादिकं यदुक्तं तत्तु वपुरयोग्यता यदि स्यात्तदा निर्विद्यापि स्थातुं शक्ता स्यां तच्च विपरीतं जातमिति विवक्षया। तत्र यमीतीरारण्यमुद्वेजकं जातमित्याह भजदिति। प्रहरते तत्र प्रहारित्वेन प्रसिद्धं कमपि नायकं प्रत्याकर्षणाय मम हृदयं ताडयति। तस्मात्त्वं किं किमिति शिक्षां न तनुषे। यया पूर्ववदत्रापि निर्विण्णा स्यामिति शेषः। प्रहारोऽयं तु दुःसह इति तत्र विहरन्तं तमेव योजयेति गूढोऽभिप्रायः॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वरागवती श्रीराधा विशाखामाह—विधातुरिति। मया कोऽपराधः कृतो यद्घोरप्रकृतिः पतिर्मह्यं विधात्रा दत्त इति तस्यैव दौरात्म्यमिति तत्र चेतसो रुच्यभावे मम को दोषः इति सखीप्रत्यायनैव। वस्तुतस्तु यदि सुन्दरप्रकृतिरपि पतिरदास्यत्तदपि रुचिर्नाभविष्यत्; मच्चेतसः श्रीकृष्णैकग्राहित्वादित्याभ्यन्तरो विचारः। ननु पत्ये रुचिर्नोत्पद्यतां नाम तदपि कुलाङ्गनया त्वया अन्यस्मिन् पुरुषे रुचिस्तु न कार्यैव। तत्राह—हतवपुरिति। रुचा यौवनोत्थकान्त्या दीव्यति दिने दिने सखेलमेव भवतीति। तत्रैतादृग्यौवनवतो वपुष एव दोषो न मच्चेतस इति भावः। ननु तथापि सुप्रतिष्ठया त्वया परमलज्जावत्या स्वधर्ममवेक्ष्य धैर्यमेव कार्यम्। तत्राह—भजदिति। ममाक्ष्णोः कक्षां प्राप्नुवत् यमी यमभगिनी तस्यास्तीरारण्यं प्रहरते कन्दर्पाग्निमुद्दीप्यते मात्रं न मां ज्वालयति। न च कयापि युक्त्या शाम्यतीत्याह—उग्रमिति। नाप्यत्र मणिमन्त्रमहौषधादयः प्रभवन्तीत्याह—विषममिति। इह विपत्तौ किं शिक्षां न तनुष इति नात्र शिक्षावकाश इति भावः। तेन कुलधर्मलज्जाप्रतिष्ठाभ्यो जलाञ्जलिं दत्त्वा श्रीकृष्णं शीघ्रमानय यदि मत्प्राणान् रक्षितुमिच्छसीति ध्वनिः॥९२॥

गोविन्दादेः प्रशंसया यथा—

कुलस्त्रीणां नेष्टा परपुरुषरूपस्तुतिकथा,
तथापि त्वं प्राणाः सखि मम बहिष्ठाः स्वयमसि।

कियानास्ते तस्मिन् व्रजपतिकुमारे मधुरिमा,
छटाप्यारादस्य म्रदयति दृशोर्द्वन्द्वममृतैः ॥९३ ॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीगोविन्दादिकी प्रशंसा—श्रीमतीराधिकाजी विशाखाको कह रही हैं—"हे सखि! तुम हमारे बहिश्चर (बाहर विचरण करनेवाली) प्राण हो। प्राणोंके निकट युक्त और अयुक्त कुछ भी गुप्त नहीं रहता। अतः मैं तुम्हारे प्रति विश्वस्त चित्तसे तुम्हें बतला रही हूँ। यद्यपि कुलकामनियोंके लिए परपुरुषके सौन्दर्य आदिका वर्णन करना बुरी बात है, तथापि तुम्हें बिना बोले मैं धैर्य धारण नहीं कर पाती। हे सखि! व्रजराजनन्दनकी रूपछटा दूरसे ही मेरे नेत्रोंमें प्रवेश कर नेत्रोंकी कठिनताको दूरकर अपनी सुधारसके द्वारा स्नेहार्द कर देती है। मैं उनका दर्शन नहीं करूँगी, यह प्रतिज्ञा करनेपर भी मेरे नेत्र स्वतः ही उन्हें देखकर खिल उठते हैं और उन्हींका पक्ष आश्रय करते हैं। वे मेरे मना करनेपर भी बारम्बार उन्हींकी ओर आकर्षित होते हैं। अतः हे सखि! इस विषयमें हमारा क्या अपराध है? मुझे बतलाओ॥"९३॥

लोचनरोचनी—तथापीत्यादौ तस्मात्। कथयामीति शेषः। आराद्दूरात्। अमृतैस्तैरिव दृशोर्द्वन्द्वं म्रदयति मृदूकरोति स्नेहयति॥९३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—कुलेति। तथापीति त्वां कथयाम्येवेत्याक्षेप-लब्धम्। यतस्त्वं प्राणा इति युक्तमुक्तं नहि प्राणेषु गोप्यत इति भावः। छटापि आराद्दूरादपि मम दृशोर्द्वन्द्वममृतैः सुधाभिरिव म्रदयति तयोः कठिनतां विलोक्य मृदुकरोति स्नेहयतीति यावत्। तेन न तं द्रक्ष्यामीति कृतप्रतिज्ञाया अपि मम दृशौ तस्मिन्नेव स्नेहवत्यौ तत्पक्षपातिन्यावेव बभूवतुरिति भावः॥९३॥

यथा वा—

दूत्यचक्रचतुरासि चञ्चले नन्दनो व्रजपतेः स नागरः।
मां जहाति शिशुता च रक्षणी मा कृथाः सखि ततः प्रमादिताम्॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—कोई एक सखी भङ्गीपूर्वक श्रीकृष्णमाधुर्यको वर्णन करनेवाली किसी एक अन्य सखीसे रोषपूर्वक कहने लगी—"हे चञ्चले! तुम्हारा दौत्य-चातुर्य अत्यन्त भयानक है। किसी प्रकार भी तुम अपने

चातुर्यको छोड़ नहीं रही हो। व्रजराजनन्दन यदि नागर रूपसे जन्म ग्रहण नहीं करते तो उसमें हमारी कोई हानि नहीं होती, किन्तु मैं जिसके बलसे इस प्रकारका साहस कर रही हूँ, उसी शैशवावस्थाने अब मेरा त्याग कर दिया है। अब तुम अपनी चतुरताका विस्तार मत करो। यदि ऐसा करोगी, तो मेरा सतीत्व सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाएगा, अधिकन्तु सर्वत्र ही तुम्हारे कलङ्क तथा मेरे भी कलङ्ककी चर्चा होगी। अतएव परिणामदर्शिनी होकर अपने स्वभावको गोपनपूर्वक तुम्हें चुपचाप रहना ही उचित है।” इसके द्वारा सखीके दौत्यकर्मकी प्रशंसा की गई है॥९४॥

लोचनरोचनी—श्रीकृष्णमाधुरीं भङ्ग्या व्यञ्जयन्तीं कापि सरोषमिवाह—दूत्येति। प्रमादितामनवधानतां परिणामदर्शित्वाभावेनेदृश-प्रलापितामित्यर्थः॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—गोविन्दादेः प्रशंसयेत्यादिशब्दाद्दूत्या अपि प्रशंसार्थमाह—यथावेति। हे चञ्चले इति। तव दुस्त्यजोऽयं स्वभावो यद्दूत्यकर्मणि चातुर्यम्। स नागर इति तत्रापि मे कापि क्षति र्नाभविष्यद् यदि स नागरो नाजनिष्यत्। किं चात्रापि मम स्वनिष्ठारक्षणे यस्या बलेन साहसमासीत् सापि शिशुता च मां जहाति। अतः प्रमादितामनवधानताम्। तेन भ्रमेणापि मदग्रतो दूत्यचातुर्ये प्रस्तुते मम सतीत्वं न स्थास्यति मम तव च लोके कलङ्को भविष्यति, अतः परिणामदर्शिन्या भवत्याः स्वस्वभावं संगोप्यैव स्थेयमिति भावः। आन्तरो भावस्तु त्वं दूत्यचक्रचतुरासीति प्रशंसयैव। तव चातुर्यं च फलिष्यत्येव; यतः स नागर एव, संप्रति ममापि काचन वामता अस्ति। अतः प्रमादितां दूत्ये शैथिल्यं मा कृथाः। अन्यथा कामशर-प्रहारपौनःपुन्येन मम प्राणापगमे कस्मै स्त्रीवधो लगिष्यति। न तावत् कंदर्पाय तस्य व्याधवत्तदेकवृत्तित्वात्, नापि श्रीकृष्णाय तस्य नागरत्वेन मत्संगमे वैमुख्याभावात्, नापि शिशुतायै यौवनेन बलवता राज्ञा तस्या अपसारितत्वात्, नापि यौवनाय तस्य तदर्थमेवागतस्यातिपतिततत्वात्। अतो मत्समीपवर्तिन्यै दूत्यकर्मणा मद्रक्षां कर्तुं समर्थायै धार्मिकायै तुभ्यमेव लगिष्यतीति स्वयमेव विचार्यतामिति॥९४॥

देशादिवैशिष्ट्येन यथा—

वृन्दारण्ये व्रततिपटलीसंकटे पुष्पहेतो–
र्भ्रामं भ्रामं सहचरि चिरं श्रान्तिमभ्यागतास्मि।
तद्विश्रान्तिं क्षणमिह करोम्येकिकाहं निकुञ्जे,
त्वं कालिन्दीतटपरिसरादाहरेथाः प्रसूनम्॥९५॥

तात्पर्यानुवाद—देशविशिष्ट प्रशंसा—श्रीमतीराधिकाने कहा—"सहचरि! देखो, वृन्दावन घनी लताओंके जालसे सङ्कटका स्थान बन गया है। मैं यहाँ पुष्पचयन करनेके लिए भ्रमण करते-करते अत्यन्त क्लान्त हो रही हूँ। अतएव हे सखि! मैं कुछ क्षण तक अकेली इस कुञ्जमें विश्राम करूँगी। तुम कालिन्दीकुलके उपवनसे पुष्पोंका चयन करो।" इस उदाहरणसे देशकी प्रशंसा यह है कि छलपूर्वक अपनी सखीके प्रति इस अभिप्रायको प्रकाश किया गया कि "कालिन्दीके तटस्थित पुष्पभरी लताओंके समूहमें श्रीकृष्ण वहाँ विराजमान हैं। अतः हे सखि! शीघ्र उनको अभिसार कराकर इस स्थानपर ले आओ॥"९५॥

लोचनरोचनी—पुष्पाहरणव्याजेन सख्याभिसारिता सौरभ्येणाधिगतश्रीकृष्णसांनिध्या काचित्तां प्रति प्राह—वृन्दारण्य इति॥९५॥

आनन्दचन्द्रिका—संकटे व्याप्ते। पुष्पहेतोरिरिति। भ्रामं भ्राममिति। तेनाभिलषणीयं पुष्पमत्र न लब्धम्। कालिन्दीति। यथा तेन प्रसूनेन इहैकिका कुचयोर्मण्डनं करोमीति भावः। ततश्च त्वं प्रसूनमाहरेथा इति तदुक्तिभङ्गीं ज्ञात्वा तत्र तया श्रीकृष्ण आनीत इति विवेचनीयम्॥९५॥

यथा वा—

मधुरिता मधुना विधुनाप्यसौ सखि पतङ्गसुतापुलिनाटवी।
सवयसा वयसा च विभूषिता तनुरियं किमिह क्षममुच्यताम्॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—कालपात्रादिका वैशिष्ट्य कथनके उपरान्त सन्तुष्टचित्त न होनेके उपरान्त अन्य उदाहरण दे रहे हैं। श्रीराधा विशाखासे कह रही है—"हे सखि! यह यमुना पुलिनका सुन्दर वन (स्थानवैशिष्ट्य), वसन्त और विधु (श्रीकृष्णचन्द्र) से अत्यन्त मधुर हो रहा है (काल वैशिष्ट्य)। मेरी यह देह भी इस समय वेशभूषारूपी सखी और प्रथम कैशारके द्वारा विभूषित हो रही है (पात्र वैशिष्ट्य)। इस समय मेरे लिए जो कर्तव्य हो, बतलाओ।" नियोजनके पक्षमें—सुरतलीलाके अनुरूप सब प्रकारकी सामग्रियोंका समावेश है, अतः मेरे साथ श्रीकृष्णका मिलन करा दो, यही ध्वनित हो रहा है। विधु पदके द्वारा श्रीकृष्णके लिए अपनी अभिलाषा भी अभिव्यञ्जित हो रही है॥९६॥

लोचनरोचनी—एका सखी यां विभूष्य येन सख्यन्तरेण पुष्पाद्याहरणमिषात् प्रस्थाप्य स्वयं श्रीकृष्णमानेतुं गतापि शीघ्रं नागतेति, सा तदैव सख्यन्तरमाह—मधुरितेति। सवयसा सख्या, वयसा नवयौवनेन, क्षममुचितम्॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र नियोजनप्रकारस्य दूत्यर्थता असाधारणतया न सम्यगुद्भूतेत्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। सखि! तवाद्य बुद्धिकौशलं परीक्षिष्य इति श्रीराधा विशाखामाह—मधुरितेति। मधुना वसन्तेन विधुना चन्द्रेणापीति यथा वस्तुद्वयेनाटवीयं मधुरीकृता तथैव वस्तुद्वयेन मम तनुश्चेत्याह—सवयसा सख्या तिलकालंकारादिभिर्वयसा यौवनेन च हावभावादिवैदग्ध्यैरटव्या मधुविधु इव तनोः सखीयौवने क्रमेण तटस्थस्वरूपलक्षणाभ्यां सौन्दर्यसाधने ज्ञेये। इह किं क्षममुचितमन्यदपेक्षितं वस्त्वित्यर्थः। ततश्च तद्वस्तु साक्षादेवानीय त्वामहं दर्शयिष्यामीत्युक्त्वा सखी श्रीकृष्णमानेतुं गतेति ज्ञेयम्॥९६॥

॥ सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अष्टमोऽध्यायः
अथ सखी–प्रकरणम्

प्रेमलीलाविहाराणां सम्यग्विस्तारिका सखी।
विश्रम्भरत्नपेटी च ततः सुष्ठु विविच्यते॥१॥

तात्पर्यानुवाद—सखी—प्रेम, लीला और विहार आदिका विस्तार करनेवालीको सखी कहते हैं। ये सखियाँ विश्वासरूपी रत्नकी पेटिकास्वरूप हैं अर्थात् विश्वासकी विशेष पात्री होती हैं। इसलिए इस प्रकरणमें सखियोंके भेदकी सुन्दर रूपसे विवेचना की जा रही है॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ सखीनां स्वभावभेदेन, पारस्परिक्या व्यवहृत्या प्राप्तेन स्वरूपभेदेन च वैविध्यात्तदीयदूत्यस्यापि वैविध्यं निरूपयिष्यन् प्रथमं तासां माहात्म्यमाह—प्रेमेति। न केवलं दूत्य एव तासां सखीनां प्राधान्यं किन्तु रसस्य सर्व एव निर्वाहस्तन्निदानक एवेत्याह—प्रेमेति। सखीति जात्यैकवचनम्। विस्तारोऽत्र विख्यापनं विवर्द्धनं च। तत्र नायकस्य प्रेमा नायिकायां, नायिकायाः प्रेमा नायके सख्या विख्याप्यते तत एव विवर्द्धते च। लीला चाभिसारादिभिः प्राप्तमिलनयोर्नायकयोः स्वस्थित्या नायिकावाम्यातिशयोत्थापनेन च हासपरिहासादिभिश्च विवर्द्धते स्थानान्तरे समयान्तरे च विख्याप्यते। विहारश्च संप्रयोगात्मको गुरुपत्यादि सर्वसाधनाङ्गीकारेण साहसदानाद्विवर्ध्यते, समयान्तरे च संभुक्तया नायिकया सह रसोद्गाराद्विख्याप्यते चेति। सम्यगिति। स्वाभियोगादौ विनापि सखीं तत्तत्सिद्धेरसम्यक्त्वमित्यर्थः। पारस्परिकव्यवहृत्या तासां स्वरूपभेदः स्वतश्च स्वभावभेदो दूत्यर्थं जिज्ञास्य इत्यत आह—एकेति। यूथनाथेति। सापि स्वसख्या दूत्यं कुर्वाणा सखीभावमालम्बत इत्यत्र सखीप्रकरणे सापि ध्रियत इति भावः॥१॥

एकयूथानुषक्तानां सखीनामेव मध्यतः।
अधिकादेर्भिदा ज्ञेया प्रखरादेश्च पूर्ववत्॥२॥

प्रेमसौभाग्य साद्गुण्याद्याधिक्यादधिका सखी।
समा तत्साम्यतो ज्ञेया तल्लघुत्वात्तथा लघुः ॥३ ॥

दुर्लङ्घ्यवाक्यप्रखरा प्रख्याता गौरवोचिता।
तदूनत्वे भवेन्मृद्वी मध्या तत्साम्यमागता ॥४ ॥

आत्यन्तिकाधिकत्वादिभेदः पूर्ववदत्र सः।
स्वयूथे यूथनाथैव स्यादत्रात्यन्तिकाधिका।
सा क्वापि प्रखरा यूथे क्वापि मध्या मृदुः क्वचित् ॥५ ॥

तात्पर्यानुवाद—इन सखियोंमें जो सखियाँ एक यूथमें अनुरक्त होती हैं, उनमें भी पहलेकी भाँति (यूथेश्वरी प्रकरणमें वर्णित) अधिकादि और प्रखरादि भेदोंको जानना होगा। सखियोंमें जिनका प्रेम, सौभाग्य और सद्गुण्य सबकी अपेक्षा अधिक होता है, उनको अधिका, जो प्रेमादिके विषयमें समान होती हैं, उन्हें समा या सम और लघु होनेपर उन्हें लघु कहा जाता है। जिनका वाक्य दुर्लंघ्य होता है, जो सब समय गर्वयुक्ता रहती हैं, वे प्रखरा कहलाती हैं। गर्वादिकी न्यूनतासे मृद्वी और समता होनेपर मध्या कही जाती हैं। आत्यन्तिकी अधिका आदिका भेद भी पहलेकी भाँति यहाँ समझना चाहिए। अपने यूथमें यूथेश्वरीको आत्यन्तिकाधिका कहते हैं। वे किसी यूथमें प्रखरा, कहीं मध्या और कहीं मृद्वी भी होती हैं ॥२–५ ॥

तत्रात्यन्तिकाधिकात्रिकम्—

तत्त्रिकं सकलापेक्ष्यं नातीवान्यवशं तथा।
स्वयूथे तद्व्यवहृतिव्यक्तये पुनरुच्यते ॥६ ॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **आत्यन्तिकाधिकात्रय—**आत्यन्तिकाधिकाके प्रखरा, मध्या और मृद्वी—ये तीनों भेद अपने यूथमें सभी सखियोंके प्रेमस्तरके अनुसार होते हैं। वे कभी भी किसी दूसरी सखीके वशीभूत नहीं होतीं, किन्तु देशकाल और पात्रकी दृष्टिसे वे कभी-कभी किसी विशेष दशामें वशीभूत भी हो सकती हैं। अपने यूथमें उनका पारस्परिक व्यवहार स्पष्ट करनेके लिए पुनः यहाँपर उसका विशेष रूपसे वर्णन किया जा रहा है ॥६ ॥

लोचनरोचनी—सकलानां स्वयूथ्यसखीनामपेक्षणीयम्॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—सकलाभिः स्वयूथ्यसखीभिरपेक्ष्यं परमादरणीयमित्यर्थः। नातीवेति। कदाचिद्देशकालादिवैशिष्ट्ये मार्दवे च परमस्वातन्त्र्येऽपि सखीनामधीनमपि भवतीत्यर्थः॥६॥

तत्रात्यन्ताधिकप्रखरा—

नीले नीलनिचोलमर्पय मघे देहि स्रजं दामनीं,
त्वं कालागुरुकर्दमैः सखि तनुं लिम्पस्व चम्पे मम।
जानीहि भ्रमराक्षि कुत्र गुरवः पश्य प्रदोषोद्गमे,
कुञ्जाभिक्रमणाय मां त्वरयते स्फारान्धकारावली॥७॥

अधिकप्रखराः श्यामामङ्गलाद्याः प्रकीर्तिताः॥८॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकाधिका प्रखरा—एक दिन श्यामला निबिड़ अन्धकारको देखकर अभिसारके लिए बड़ी व्याकुल होकर कहने लगी—"हे नीले! शीघ्र मेरी नील रङ्गकी चोली लाओ। हे मघे! दमनक पुष्पकी माला मुझे दो। हे प्रियसखि चम्पे! कालागुरुके पङ्कका मेरे अङ्गोंमें लेपन करो। हे भ्रमराक्षि! देखो, कहीं आसपासमें गुरुजन तो नहीं हैं? मुझे यह प्रदोषकालका घोर अन्धकार अभिसारके लिए बड़ा ही व्याकुल कर रहा है। अतः विलम्ब मत करो। शीघ्र ही सब कुछ जानकर मुझे बताओ।" वर्णित यूथमें श्यामा और मङ्गला आत्यन्तिकाधिका प्रखरा हैं॥७–८॥

लोचनरोचनी—दामनीं दमनकसंभवाम्॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामला प्राह—नीलेत्यादिभिः सखीनां प्रसाधनादिकं कृत्यमुक्त-मर्पयेत्यादिभिराज्ञाप्रदानादत्यन्ताधिकायाः सकलापेक्ष्यत्वमन्यानधीनत्वं चोक्तम्। दामनीं दमनकपुष्पसंभवाम्॥७॥

अथात्यन्ताधिकमध्या—

अनङ्गशरजर्जरं स्फुटति चेन्मनो वस्तथा,
मदर्थनं कदर्थनैः कृतमितः स्वयं गच्छत।
दृशां पथि भवादृशी प्रणयितानुरूपः सुखं,
यदत्र रतहिण्डकः स किल पाति गोमण्डलम्॥९॥

भवन्त्यधिकमध्यास्तु श्रीराधापालिकादयः ॥१० ॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्ताधिकमध्या—"सखि! अभिसारके लिए विलम्ब क्यों कर रही हो? शीघ्र ही प्रस्थान करो" इत्यादि उक्तिकारिणी सखियोंके प्रति हास्य, गर्व और प्रणयको प्रकाशपूर्वक श्रीमती राधिका कहने लगीं—"प्रियसखियो! यदि तुम्हारा चित्त अनङ्गके बाणोंसे जर्जरित हो रहा है, तो तुम ही अभिसार करो। मुझे वृथा पीड़ित क्यों कर रही हो? वह स्त्री-लम्पट तुम्हारी जैसे गोपियोंके प्रेमके सर्वथा योग्य है। इस समय वह सुखसे गोमण्डलका (गोओंके यूथका पक्षान्तरमें इन्द्रियोंका) पालन कर रहा है।" श्रीमती राधिका और पालिकादि आत्यन्ताधिकमध्या कही गईं हैं॥९-१० ॥

लोचनरोचनी—कृतमित्यलमित्यर्थे। रतहिण्डको रतिचौरः॥९ ॥

अधिकमध्या इति। आत्यन्तिकाधिकमध्येत्यर्थः। प्रकरणबलादापेक्षिकशब्दस्योत्तर-प्रयोगाच्च। एवमुत्तरत्रापि॥१० ॥

आनन्दचन्द्रिका—अभिसारे सखि! मा विलम्बस्वेति मुहुर्ब्रुवाणाः सखीः प्रति श्रीराधा सस्मितगर्भं सप्रणयकोपमाह—अनङ्गेति। अत्र प्रतीतमप्युक्तिप्राखर्यमवहित्थयैव सिध्यतीति मध्यात्वमेव। कृतमलम्। दृशां पथि अविदूर इत्यर्थः। रतहिण्डकः स्त्रीलम्पटः। गोमण्डलं श्लेषेणेन्द्रियवृन्दं चारयति॥९ ॥

आथात्यन्ताधिकमृद्वी—

शृणु सखि वचस्तथ्यं मानग्रहे मम का क्षतिः,
स्फुरति मुरलीनादे को वा श्रमः श्रवणावृतौ।
अतिकठिनतादुर्वादं ते निशम्य मया व्रजे,
दमयितुममुं किन्तु क्षिप्तं दृगर्द्धमघद्विषि॥११ ॥

अधिका मृदवश्चन्द्रावलीभद्रादयो मताः॥१२ ॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्ताधिकमृद्वी—एक समय मानिनी चन्द्रावलीके निकट पद्माको न देखकर चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित हुए और दक्षिण स्वभाववाली चन्द्रावलीको अनुनय-विनयपूर्वक चाटुकारीपूर्ण वचनोंके द्वारा प्रसन्न कर लिया। तदनन्तर पद्मा सखी सब कुछ जानकर रोषसे चन्द्रावलीका तिरस्कार करने लगी। इसपर चन्द्रावली अपने

भावोंको छिपाकर पद्माको विनयपूर्वक युक्तिके साथ कहने लगी—"सखि! सच बात तो यह है कि मान ग्रहण करनेमें मेरी हानि ही क्या है? मुरलीनाद श्रवणके समय कानोंको बन्द करनेमें क्या परिश्रम लगता है? तुम अत्यन्त कठोर हृदयवाली हो। ब्रजमें इस प्रकार जो तुम्हारा दुर्नाम हो रहा है, उसे दूर करनेके लिए ही मैंने एक बार मात्र उनके प्रति अर्द्धनिमीलित दृष्टिनिक्षेप किया है। उनसे न तो मैंने सम्भाषण किया और न उनका स्पर्श ही किया है। मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया।" चन्द्रावली और भद्राादि व्रजमें आत्यन्ताधिकमृद्वी कही गई हैं॥११-१२॥

लोचनरोचनी—व्रजे सखीसमूहे। सखीशब्दानुक्तिस्तु गोष्ठत्वव्यक्त्या। तस्याश्च संकोचाधिक्याय यत्र त्रिलोक्यादिशब्दा अपि प्रयुक्ता रसाधिक्यं व्यञ्जयन्ति॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता चन्द्रावली पद्मां प्रत्याह—श्रृण्विति। व्रजे या कापि त्वया कठिनासि कठिनासीत्युच्यते तमेव ते त्वद्दास्यमानं दुर्वादं दमयितुं संकुचितीकर्तुमिति वस्तुतः कठोरत्वं मया नैव दूरीकृतं दृगर्द्धमात्रार्पणात् संभाषणाद्यकारणात्तदपि किमिति कुप्यसीति भावः॥११॥

अथापेक्षिकाधिकात्रिकम्—

यौथिकीषु सखीष्वेव यूथेशातो लघुष्विह।
याधिकैकामपेक्ष्यान्या सा स्यादापेक्षिकाधिका॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकाधिकात्रिक—यूथेश्वरीकी अपेक्षा जो सखियाँ लघु होती हैं, उनमें एककी तुलनामें अन्य कोई अधिका होनेपर उन्हें आपेक्षिकाधिका कहते हैं॥१३॥

तत्रापेक्षिकाधिकप्रखरा—

सुमध्ये मा यासीस्त्वमधिकममीभिर्मृदुलतां,
मदस्योपादानैः शठकुलगुरोर्जल्पमधुभिः।
अयि क्रीडालुब्धे किमु निभृतभृङ्गेन्द्रभणिते,
कुडुङ्गे राधायाः क्लममपि विसस्मार भवती॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकाधिकाप्रखरा—एक दिन दैवात् विप्रलब्धा श्रीराधाके मानिनी होनेपर श्रीकृष्णने अनुनय-विनयपूर्वक चाटुकारीपूर्ण

वचनोंसे सुमध्या नामक सखीको वशीभूतकर श्रीराधाके समीप समझाने बुझाने भेजा। ललिता सखी श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित सुमध्याको देखकर तिरस्कार करती हुई बोली—"दूति! क्या तुम श्रीकृष्णके गुणोंसे परिचित नहीं हो? वे शठकुलके गुरु हैं। तुम उनकी मत्तताजनक मधुर वाक्योंसे दूसरी सखियोंके साथ स्वयं भी मृदुता स्वीकार मत करना। हे क्रीड़ालुब्धे! इस शठके वाक्‌जालसे मुग्ध होकर हमारी प्यारी सखीने उस दिन उस कुञ्जमें ग्लानिका भोग किया था, क्या उसे सम्पूर्ण रूपसे भूल चुकी हो? शायद इसीलिए तुम उस धूर्तके प्रति पक्षपात करनेके लिए प्रवृत्त हो रही हो।"

उक्त उदाहरणमें 'क्रीड़ालुब्धे' इस पदके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि तुम्हें देखकर मेरे मनमें ऐसी आशङ्का हो रही है कि श्रीकृष्णने तुम्हें किसी निर्जन स्थानमें सम्प्रयोग (अङ्गसङ्गरूप उत्कोच) देकर तुम्हें वशीभूत कर लिया है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रकाश करनेके लिए अधिकमध्यमाके लक्षणसे सन्तुष्ट न होकर पुनः दूसरा उदाहरण दे रहे हैं॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा मानभञ्जनार्थं श्रीकृष्णेन चाटुभिर्वशीकृतां सुमध्यानाम्नीं प्रियसखीं ललिता सोपालम्भमाह—क्रीडालुब्ध इति। मन्ये तुभ्यं तेन निभृतं संप्रयोगात् कोचोऽङ्गीकृत इति भावः। नितरां भृतं पूर्णं भृङ्गेन्द्राणां भणितं यत्र तस्मिन् कुडुङ्गे कुञ्जे॥१४॥

यथा वा—

मुग्धे तूष्णीं भव शठकला मण्डलाखण्डलेन,
त्वं मन्त्रेण स्फुटमिव वशीकृत्य तेनानुशिष्टा।
कुञ्जे गोवर्द्धनशिखरिणो जागरेणाद्य राधां,
दृष्ट्वाप्युच्चैः सखि यदसि मे चाटुवादे प्रवृत्ता॥१५॥

ललिताद्यास्तु गान्धर्वा यूथेऽत्र प्रखराधिकाः॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—ललिताने चित्राको कहा—"मुग्धे! चुप रहो, मैं जानती हूँ, शठराजने तुम्हें वशीभूत कर भेजा है। बड़े आश्चर्यकी बात है! तुम्हारे स्वभावपर मैं बलिहारी जाऊँ। अभी तक श्रीराधा गोवर्द्धनके कुञ्जालयमें रातभर जागरण कर रही हैं, ऐसा देखकर भी तुम

चाटुकारीपूर्ण बातोंका प्रयोग कर रही हो। जैसा भी हो, अब पुनः ऐसा अनुरोध मत करना। यहाँसे शीघ्र ही प्रस्थान करो।" श्रीमती राधिकाके यूथमें ललिता ही अधिकप्रखरा कही गई हैं॥१५–१६॥

आनन्दचन्द्रिका—क्रीड़ालुब्धे इति व्यंग्यगर्भया परिहासोक्त्या मध्यात्वमेव स्यादित्यपरितुष्यन्नाह यथावेति। ललिता चित्रामाह मुग्ध इति। शठानां यत् कलामण्डलं तस्येन्द्रेण तेन श्रीकृष्णेनानुशिष्टा ललितां प्रसादयेति शिक्षिता। जागरेण सह श्रीराधां दृष्ट्वा॥१५॥

अथाधिकमध्या—

दामार्प्यतां प्रियसखी प्रहितं त्वयैव,
दामोदरे कुसुममत्र मयावचेयम्।
नाहं भ्रमाच्चतुरिके सखि सूचनीया,
दृष्टां कदर्थयति मामधिकं यदेषः॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकाधिकामध्या—किसी समय श्रीमती राधिकाने विशाखाके हृदयके भीतर श्रीकृष्णाङ्गसङ्गकी अभिलाषाको जानकर चतुरिका नामक अपने समान स्वभाववाली स्निग्धा सखीको दूतीकार्यमें नियुक्त किया। श्रीमती राधिकाने अपने हाथोंसे गुँथी हुई मालतीकी सुन्दर मालाको विशाखा और चतुरिकाके हाथों श्रीकृष्णके पास भेजा। निकुञ्जके समीप जाकर विशाखा थोड़ी दूरीपर रुक गई और चतुरिकाको विनयपूर्वक कहने लगी—"हे प्रणयिनि! प्रियसखीके द्वारा प्रेरित इस पुष्पमालिकाको तुम स्वयं ही दामोदरके गलेमें अर्पण कर दो। मैं यहाँ पुष्पचयन कर रही हूँ। हे चतुरिके! भ्रमवशतः भी श्रीकृष्ण मेरे यहाँ उपस्थित होनेकी बात जान न पाएँ, अन्यथा मुझे देखते ही दामोदर मेरी विडम्बना करेंगे।" इस उदाहरणमें वे मेरी कदर्थना करेंगे, विशाखाकी इस उक्तिसे उनके हृदयमें सम्भोगकी स्पृहा अभिव्यक्त होनेपर यहाँ उनका सखीत्व प्रकाशित नहीं हुआ, वरन् नायिकत्व ही सूचित हुआ॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा चतुरिकानाम्नीं सखीमाह—दामेति। अत्र कदर्थयतीत्यनेन संभोगस्पृहापि व्यञ्जिता स्यात्॥१७॥

यथा वा—

गिरो गम्भीरार्थाः कथमिव हितास्ते न श्रुणुयां,
निगूढ़ो मां किन्तु व्यथयति मुरारेरविनयः।
मयोल्लासात्तस्मै स्वयमुपहृता हन्त सखि या,
कुरङ्गाक्षीकेशोपरि परिचिता सा स्रगधुना ॥१८॥

अत्र यूथे विशाखाद्या भवन्त्यधिकमध्यमाः ॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—विशाखा चम्पकलतासे बोली—"हे सखि! तुम्हारे नाना प्रकारके गम्भीर अर्थवाले मेरे लिए हितकर वचनोंको मैं क्यों नहीं सुनूँगी? जैसे—'हे विशाखे! कल सौभाग्य पूर्णिमा है। अब तक श्रीराधाका मान शान्त नहीं हुआ, बल्कि वह मान विपक्षकी सखियोंको सुख प्रदान करनेवाला है।' परन्तु मुरारिका गूढ़ अविनयपूर्ण व्यवहार मुझे अत्यन्त व्यथित कर रहा है। बड़े आश्चर्यकी बात है। मैंने स्वयं बड़े उल्लासवशतः अपने हाथोंसे जिस मालाको गूँथकर श्रीकृष्णको उपहार दिया था, उसे चन्द्रावलीकी सखी कुरङ्गाक्षीकी कबरीके ऊपर सुशोभित देख रही हूँ। यह मेरे द्वारा गूँथी हुई है। मैं अच्छी तरहसे इसे पहचान रही हूँ। मैं यह कैसे सहन कर सकती हूँ?" ॥१८॥

श्रीराधाके यूथमें विशाखा ही अधिकमध्या कही गई हैं॥१९॥

लोचनरोचनी—अत्र श्रीराधासंबन्धिनि यूथे॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—सत्यां च तस्यां नायिकात्वमेव प्रसज्जेदस्यां न तु सखीत्वमित्यपरितुष्यन्नाह—यथावेति। विशाखा चम्पकलतामाह—गिर इति। गम्भीरार्था इति। विशाखे श्वः सौभाग्यपौर्णमासी भवित्री, अद्य राधाया मानस्थितिर्युष्मत्प्रतिपक्षसखीः सुखयतीति गम्भीरार्था हिता गिरस्ते कथं न शृणुयामपि तु यथा तथाद्य मानं भञ्जयिष्याम्येवेति भावः। कुरङ्गाक्षीयं काचिद्यूथेश्वरी चन्द्रावल्या वा सखी श्रीकृष्णाङ्गात् क्वापि पतितां स्रजं श्रीराधासखीः क्षोभयितुं स्वशिरसि धृतवतीति ज्ञेयाम्॥१८॥

अथाधिकमृद्वी—

दरापि न दृगर्पिता सखि शिखण्डचूडे मया,
प्रसीद बत मा कृथा मयि वृथा पुरोभागिताम्।

नटन्मकरकुण्डलं सपदि चण्डि लीलागतिं,
तनोत्ययमदूरतः किमिह संविधेयं मया॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकाधिकमृद्वी—श्रीराधाकी प्रियसखी चित्रा स्वभावसे कोमल होनेपर भी एक दिन किसी कारण मानिनी हो गई। उसके स्वभावको जाननेवाले श्रीकृष्णने उसके निकट उपस्थित होकर विविध प्रकारसे अनुनय-विनय और चाटुकारीपूर्ण वचनोंसे उसे प्रसन्न किया। चित्राको प्रसन्न देखकर चित्राकी प्रियसखी उसका तिरस्कार करने लगी। "हे सखि चित्रे! श्रीराधाका मानभङ्ग करनेके लिए तुमने ही श्रीकृष्णको आश्वासन दिया है। अन्यथा वे इस स्थानपर यातायात क्यों करते? अतएव तुम्हारा यह सब चरित्र ललिताजीको ही मैं निवेदन कर रही हूँ।" इत्यादि भीषण उक्तियोंके द्वारा भय दिखलानेवाली श्रीराधाकी किसी एक प्रखरसखीको चित्रा अनुनय करके कह रही है—"तुम मेरे प्रति वृथा कोप क्यों कर रही हो? प्रसन्न होओ। शिखण्डचूड़के प्रति सम्भाषण करने अथवा आश्वासन प्रदान करनेकी बात तो दूर रहे, मैंने उनके प्रति तनिक भी दृष्टिपात नहीं किया। तुम क्यों मुझे अनर्थक दोषका भागी बना रही हो। हे चण्डि! यदि श्रीकृष्ण मेरे आङ्गनमें अपने नर्तनशील मकरकुण्डलोंके द्वारा लीलारति विस्तार कर रहे हों, तो मैं क्या करूँ? मुझे उपदेश दो। वे स्वतन्त्र राजपुत्र हैं, मैं उन्हें कैसे शासन कर सकती हूँ? मैं इसमें समर्थ नहीं हूँ। अतएव इस स्थानसे मेरा दूर भाग जाना ही उचित है॥"२०॥

लोचनरोचनी—दोषैकदृक् पुरोभागी तद्रूपताम्॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—सखि चित्रे! श्रीराधामानभङ्गप्रसङ्गे त्वयैव दत्ताश्वासोऽयं श्रीकृष्ण इत एव यातायातं करोति तदिदं ते चरित्रं सर्वं ललितायै विज्ञापयिष्यामीति भीषयमाणां कांचित् प्रखरां श्रीराधाप्राणसखीं चित्रा सानुनयमाह—दरापीति। मया दृगपि दरेषदपि नार्पिता दूरे अस्तु संभाषणाश्वासादेर्वार्ता पुरोभागिता दोषभागित्वम् "दोषैकदृक् पुरोभागी" इत्यमरः। सपदीति। यदैव त्वमिहायाता दैवात्तदैवेत्यर्थः। लीलागतिं लीलया गमनमितो दूरे कस्मै स्वकृत्याय तनोति तदहं किं ज्ञातुमीशे इति भावः। चण्डि हे कोपने। अस्य स्वच्छन्दचरितस्य राजपुत्रस्य किमहं शास्त्री क्व वा इतः पलाय्य तिष्ठामीति भावः॥२०॥

अधिका मृदवश्चात्र चित्रामधुरिकादयः ॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—उक्त यूथमें चित्रा और मधुरिकादिको अधिकमृद्वी कहा जा सकता है॥२१॥

अथ समात्रिकम्—

गाढविश्रम्भनिर्भेदप्रेमबन्धं समात्रिकम्॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—समात्रिक—अत्यन्त प्रगाढ़ विश्वाससे एकात्मता प्रयुक्त प्रेमसे जो सखियाँ परस्पर अत्यासक्त होती हैं, उन्हें समात्रिक कहते हैं अथवा सौभाग्यमें कुछ न्यून अथवा आधिक्यके अभाववशतः जो परस्पर प्रगाढ़ सख्य होता है और उसके द्वारा एकात्मता होनेसे परस्पर आसक्त रहती हैं, उन्हें समात्रिक कहते हैं॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—गाढः सौभाग्यस्य न्यूनातिरेकाभावाददतिनिबिडो यो विश्रम्भः सख्यं तेन निर्भेद एकात्मके यः प्रेमा तेन बद्धं परस्परात्यासक्तम्॥२२॥

तत्र समप्रखरा—

प्रविशति हरिरेष प्रेक्ष्य नौ हृष्टचेताः,
सखि सपदि मुधा त्वं संभ्रमान्मा प्रयासीः।
पृथुभुजपरिघाभ्यां स्कन्धयोरर्पिताभ्यां,
तटभुवि सुखमावां मण्डिते पर्य्यटावः॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—समप्रखरा—अपने दौत्यकार्यमें नियुक्त समप्रखरा दो सखियोंपर श्रीमती राधिकाने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन दोनों सखियोंको श्रीकृष्णके निकट अभिसार करनेके लिए अनुमति प्रदान की। अनन्तर उन तुल्य समप्रखरा सखियोंमेसे कोई एक प्रखरा सखी कहने लगी—"देखो, हम दोनोंको देखकर अत्यन्त आनन्दसे उल्लसित होकर हरि हमलोगोंकी ओर आ रहे हैं। अतः तुम झूठमूठका सम्भ्रम प्रकाश करो, यहाँसे भागो मत। चलो हम दोनों उनके वज्रतुल्य दोनों हाथोंको अपने कन्धेपर धारणकर मनोहर यमुना तटपर भ्रमण करें॥"२३॥

लोचनरोचनी—पृथुभुजपरिघाभ्यामित्यत्र श्रीकृष्णस्येति गम्यत एव॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायैव कृतदूत्ययोः स्वप्राणसख्योस्तत्प्रीत्यनुरोधेनैवाभिसरन्त्योः समयोर्मध्ये प्रखरा प्राह—प्रविशतीति। पृथुभुजपरिघाभ्यामिति। पृथुभुजपरिघपदेन श्रीकृष्णस्यैवेति गम्यते। तदप्यस्येति संबन्धिपदानुपादानं लज्जाामवहित्थां च व्यनक्ति॥२३॥

अथ सममध्या—

श्यामे गौरि हरिः क्व दीव्यति सखि क्षौणीभृतः कन्दरे
किं पञ्चास्यनखाः स्वविक्रममधुर्वक्षोजकुम्भे तव।
आकर्षत्यभितः स नागमथनस्त्वामेव कृत्वा रवं
मिथ्यालास्यनटि त्वमेव रमसे तस्मिन् सुकण्ठीरवे॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—सममध्या—सममध्या गौरीको गोवर्द्धनके तटप्रदेशसे आते देखकर सममध्या श्यामा उससे पूछ रही है—"सखि! हरि किस जगह क्रीड़ा कर रहे हैं?" इस प्रश्नको सुनकर गौरीने वक्रोक्तिके द्वारा हरि शब्दका अर्थ सिंह ग्रहण करते हुए कहा—"हरि भूधर गह्वर अर्थात् गोवर्द्धनकी कन्दरामें क्रीड़ा कर रहे हैं।" अनन्तर इसको सुनकर श्यामाने निश्चय किया कि गौरीने मेरे साथ छल करना आरम्भ किया है। अतः मैं भी उसको उसी रूपसे पूछूँ। यह स्थिरकर सन्तुष्ट चित्तसे बड़ी विनम्रतापूर्वक बोली—"सखि! तुम्हारे वक्षोज-कुम्भके ऊपर करिकुम्भके भ्रमसे सिंहने पञ्चनखोंसे अपने विक्रमका प्रकाश किया है। यदि यह बात ठीक है तो अपने वस्त्रोंको हटाकर मुझे दिखलाओ, उसमें कैसी व्यथा है? मैं जैसे-तैसे भी तुम्हारी व्यथाको शान्त करूँगी।" गौरीने कहा—"प्रियसखि! वह नागमथन (हस्तिदमन) हस्तिनीरूपा तुमको ही सबसे अधिक आकर्षण कर रहा है।" तदन्तर श्यामा बोली—"हे नटि! तुम झूठ क्यों बोल रही हो? 'मैं हस्तिनी हूँ और तुम मृगी हो'—तुम्हारी ये दोनों बातें ही मिथ्या हैं, किन्तु मैं देख रही हूँ कि सिंहके साथ तुम ही रमण कर रही हो। अतः तुम सिंहिनी जैसी जान पड़ती हो; क्योंकि पञ्चास्य (सिंह) के नखाघातसे तुम्हारा ही रमण देख रही हूँ।" अर्थान्तरमें 'हरि' शब्दसे श्रीकृष्ण और सिंह दोनोंको ही समझना होगा, 'वक्षोज' शब्दसे कुचद्वय एवं करिकुम्भसे हाथीके कुम्भको समझना होगा। 'पञ्चास्य' शब्दका अर्थ सिंह एवं अंगुलियोंके

नख, 'नागमथन' शब्दसे हस्तीदमन और कालीयमर्दन, 'सुकण्ठीरव' का अर्थ सिंहरव एवं मुरलीनाद। अथवा "तुम सुकण्ठी हो, अद्यापि तुम्हारी विज्ञता उपस्थित नहीं हुई। इसलिए मुरलीरवमें ही तुम्हारा रमण देख रही हूँ। अतएव तुम अतिशय अज्ञा हो॥"२४॥

लोचनरोचनी—"श्यामे गौरि" इति मिथः संबोधनक्रमः। तत्र श्यामाह—हरिः क्व दीव्यति सखीति। गौर्याह—क्षौणीभृत इत्यादि। तत्र शब्दच्छलं प्राप्य सिंहवाचकेन शब्दान्तरेण परिहसन्ती श्यामाह—किं पञ्चेत्यादि। अत्रास्य पञ्चनखा इति तु प्रतिपाद्यम्। अधुर्धृतवन्तः। पूर्ववत् गौर्याह—आकर्षतीत्यादि। तत्र नागमथनः सिहः। कालियदमन इति प्रतिपाद्यम्। श्यामाह—मिथ्येति। मिथ्यैव लास्यं, तत्र हे नटि! सुकण्ठीरवे सौष्ठववति सिंहे। सुकण्ठीत्वमित्यादि तु प्रतिपाद्यम्॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियसख्योर्मिथः परिहसन्त्योरुक्तिप्रत्युक्ती। प्रथमं श्यामे गौरीति मिथः संबोधनमात्रम्। श्यामाह—हरिः क्व दीव्यति। गौरी तु वक्रोक्त्या हरिशब्दस्य सिंहवाचकत्वं ख्यापयन्ती श्रीकृष्णं तु न जानामीति व्यञ्जयन्ती प्राह—क्षौणीभृतः कन्दर इति। ततश्च सत्यं सिंहमेव पृच्छामीति व्यञ्जयन्ती श्यामा सभयाभिनयं प्राह—पञ्चास्यस्य सिंहस्य नखास्तव वक्षसि जाते कुम्भे करिकुम्भस्थले स्वविक्रमं किमधुर्नवा यद्यप्यधुस्तर्हि वस्त्रमुद्घाट्य दर्शय, कीदृशी व्यथा जाता तस्याश्चिकित्सां यतस्ततः स्पृष्ट्वा करिष्यामीति भावः। पक्षे अस्य श्रीकृष्णस्य पञ्च नखा अत्र कुम्भे इत्येकवचनेन नखानां पञ्चसंख्याकत्वेन श्रीहरेर्दक्षिणहस्तेन वामस्तनग्रहणं वामहस्तेन शिरोऽवगुण्ठनापसारणं गम्यते। अन्यो नामास्तु नास्तु वा एतन्मात्र-सम्भोगस्त्ववश्यमेवाभूदिति भावः। ततश्च सिंहस्य चरितं यत्पृच्छसि तन्मन्ये त्वया तन्मुहुरनुभूतमिति व्यञ्जयन्ती गौरी प्राह—आकर्षतीति। नागमथनो हस्तिदमनस्तेन त्वामेव हस्तिनीमाकर्षति न तु मां मृगीमिति भावः। पक्षे नागः कालियः। रवं मुरलीरवम्। पुनः श्यामा प्राह—मिथ्यैव लास्यं तत्र हे नटि! अहं हस्तिनी त्वं मृगीति त्वदुक्तमेतद्द्वयमपि मिथ्यैवेत्यर्थः। किन्तु शोभने कण्ठीरवे सिंहे तस्मिन् त्वमेव रमसे अतस्त्वं सिंही भवसि तन्नखस्पर्शेऽपि तव स्वस्तिमत्त्वादेवानुमीयत इति भावः। पक्षे त्वं सुकण्ठी अतो गानविज्ञत्वात्तस्मिन् रवे मुरल्या रवे रमसे॥२४॥

अथ सममृद्वी—

प्रालम्बमिन्दुमुखि यादृशमेव दत्तं,
कृष्णेन तुभ्यमपरं सखि तादृशं मे।
त्वं चेन्मदीयमपि दित्ससि नाद्य मा दा,
हास्यं विमुञ्च चलिता तव पार्श्वतोऽस्मि॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—सममृद्वी—इन्दुमुखी और मदिरा श्रीराधाकी प्रियसखियाँ हैं। प्रायः ही दोनों समान स्वभावके कारण परस्पर स्नेहशीला हैं। एक दिन श्रीकृष्णने प्रसन्न चित्तसे प्रालम्ब नामक दो मालाएँ दोनोंको प्रदान करनेकी इच्छा की। इन्दुमुखी ज्येष्ठा होनेके कारण श्रीकृष्णने दोनों मालाएँ उसीके हाथोंमें प्रदान कीं। रास्तेमें मदिराका उपहास करनेके लिए इन्दुमुखीने उसे माला देनेसे मना कर दिया, तब मदिरा दुःखसे बोली—"हे इन्दुमुखि! श्रीकृष्णने तो हम दोनोंके लिए मालाएँ दी थी, इस समय यदि तुम मुझे वह माला न भी दो, तो मत दो। किन्तु मेरा उपहास न करो। देखो, मैं यहाँसे चली॥"२५॥

लोचनरोचनी—प्रालम्बमृजुलम्बि माल्यम्॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्राणसखी काचित्स्वसमामिन्दुमुखीमाह—प्रालम्बमृजुलम्बि माल्यं मदीयमपीति। यदि मदीयमुत्तमं मन्यसे तदा तदेव त्वं गृहाण त्वदीयं निकृष्टमेव मह्यं देहि। स्वीयमपि न दास्यसि मदीयमपि न दित्ससि चेन्मा दाः। ननु न दास्यामीति न, किन्तु मम मनोरथो वर्त्तते, चल पुनः श्रीकृष्णनिकटमेव, तद्धस्तेनैव तव कण्ठे परिधापयिष्यामीति ब्रुवाणां तामाह—हास्यं मुञ्चोभयं त्वमेव गृहाणेत्यर्थः। तदपि हसन्तीं पुनराह—चलितास्मीति॥२५॥

अथ लघुत्रिकम्—

लघुत्रिकं प्रियसखीसौख्योत्कर्षार्थचेष्टितम्॥२६॥

यद्यप्यन्योन्यनिष्ठं स्यात् सख्यं तदपि युज्यते।
सदा साहाय्यहेतुत्वान्मुख्यं तत्तु लघुत्रिके॥२७॥

लघुरापेक्षिकी चात्यन्तिकी चेति द्विधेरितो॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—लघुत्रिक—लघुप्रखरा, लघुमध्या और लघुमृद्वी—इन तीनोंको लघुत्रिक कहते हैं। अपनी-अपनी यूथेश्वरियोंका प्रीतिविधान करनेके लिए ही इन तीनों सखियोंकी चेष्टा होती है। यद्यपि यह सख्य अन्योन्यनिष्ठ (परस्पर निष्ठ) होता है, तथापि शारीरिक चेष्टाओंसे पुष्ट सख्य प्रधानतासे लघुत्रिकसे ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि ये ही सर्वदा गमनागमन, कुछ ले आना-दे आना रूप सहायता करती है। लघु दो प्रकारकी होती हैं—आपेक्षिकीलघु और आत्यन्तिकीलघु॥२६-२८॥

आनन्दचन्द्रिका—लघुत्रिकं लघुप्रखरा लघुमध्या लघुमृद्वीरूपम्। प्रियसख्याः स्वतोऽधिकायाः सख्योत्कर्षार्थमेव चेष्टितं कायिकादिव्यापारो यस्य तत्॥२६॥

अन्योन्यनिष्ठमिति। यद्यप्यधिकप्रखराद्या अपि लघुप्रखरादीनां सख्यं कुर्वन्ति तदपि यातायातं विनैव दूत्यादिकं कदाचिदेवेति न तासु स्वतो लघुष्वधिकानां मुख्यः सखीभाव इत्यर्थः॥२७॥

तत्रापेक्षिकलघुः—

आपेक्षिकलघुश्चात्र कथिता ललितादिका॥२९॥

तत्र लघुप्रखरा यथा विदग्धमाधवे (५/३२)—

धारा वाष्पमयी न याति विरतिं लोकस्य निर्मित्सतः
प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दनरतं लोभान्मनो मा कृथाः।
इत्थं भूरि निवारितापि तरले मद्वाचि साचीकृत-
भ्रूद्वन्द्वा नहि गौरवं त्वमकरोः किं नाद्य रोदिष्यसि॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—आपेक्षिकीलघु—श्रीमती राधिकाकी तुलनामें ललिता आदि सखियोंको आपेक्षिकीलघु कहते हैं। लघुप्रखरा—श्रीकृष्णके अनुनय-विनय तथा चाटुकारीपूर्ण वाक्योंको सुनकर श्रीमती राधिकाका मानभङ्ग हो गया। अब वे अनुताप करती हुई क्रन्दन करने लगीं। यह देखकर ललिता उनका तिरस्कार करती हुई श्रीकृष्णके प्रति उनके अत्यधिक अनुरागको प्रकाश कर रही हैं—"जो नन्दनन्दनसे प्रेम करना चाहती हैं, उनके नेत्रोंसे आँसू कभी बन्द नहीं होते। इसलिए उनके प्रति मनको अनुरक्त मत करो—मेरे बारम्बार निषेध करनेपर भी, हे तरले! भौओंको वक्र करती हुई मेरी बातोंकी तुमने उपेक्षा की। अब रोओगी क्यों नहीं?" यहाँ 'तरले' यह सम्बोधन पद ही वचनोंके उल्लंघनके रूपमें व्यञ्जनाकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाके स्वाभाविक सर्वनिरपेक्ष प्रेम-प्रवाहको सूचित करता है॥२९-३०॥

लोचनरोचनी—"प्रेमस्विन्नजिते तदत्र सहसा लोभान्मनो मा कृथाः" इति वा पाठः॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितादिका राधामपेक्ष्य लघुः॥२९॥

श्रीराधाया गाढानुरागं प्रकटयन्ती ललिता श्रीकृष्णाग्रतस्तां मानाभासवर्ती

श्रीराधामाह—धारेति। प्रेमेति कर्मपदम्। साचीकृतं वक्रीकृतं भ्रूद्वन्द्वं यया सा कोपावज्ञावतीत्यर्थः ॥३०॥

सा लघुप्रखरा द्वेधा भवेद्वामाथ दक्षिणा ॥३१॥

तत्र वामा—

मानग्रहे सदोद्युक्ता तच्छैथिल्ये च कोपना।
अभेद्या नायके प्रायः क्रूरा वामेति कीर्त्यते ॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—ये लघुप्रखरा वामा और दक्षिणाके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं ॥३१॥

वामा—जो नायिका मानग्रहण करनेमें सदा आन्तरिक रूपमें चेष्टाशील होती है, मानमें शैथिल्य होनेसे अत्यन्त कोप करती है, नायक जिसको सहज ही वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं होता तथा जो नायकके प्रति प्रायः कठोर होती है, उसको रसशास्त्रमें वामा कहा गया है ॥३२॥

लोचनरोचनी—नायके प्रायः क्रूरेति। तस्मिन् कठिनैवेत्यर्थः ॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—अभेद्या नायकेनेति गम्यते। नायके विषये प्रायः कठिनेति काठिन्यस्य सार्वदिकत्वे ललितादीनां समस्नेहत्वानुपपत्तिः स्यात्। मानस्य शैथिल्यमात्रेऽपि कोपना किमुत त्याग इत्यर्थः ॥३२॥

तत्र मानग्रहे सदोद्युक्ता यथा पद्यावल्याम् (२२२)—

कंचन वञ्चनचतुरे प्रपञ्चय त्वं मुरान्तके मानम्।
बहुवल्लभे हि पुरुषे दाक्षिण्यं दुःखमुद्वहति ॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—मानग्रहण करनेमें सदैव चेष्टाशील—एक समय दक्षिणा यूथेश्वरीके प्रति उसकी वामा सखीने कहा—"सुन्दरि! तुम वञ्चना करनेमें अत्यन्त चतुर हो। मुरारिके प्रति किसी प्रकारसे मान-विस्तार करो; क्योंकि बहुवल्लभ पुरुषमें दाक्षिण्यभाव सुखप्रद नहीं होता। निरन्तर उससे दुःखकी ही प्राप्ति होती है। अतएव उनके प्रति सरलताका व्यवहार मत करो ॥"३३॥

आनन्दचन्द्रिका—कामपि दक्षिणां यूथेश्वरीं तत्सखी वामाह—कंचनेति ॥३३॥

मानशैथिल्ये कोपना यथा—

> **सरभसमभिव्यक्तिं याते नवाविनयोत्करे,**
> **चटुपटिमभिर्नीता मृद्वी प्रसादमघद्विषा।**
> **असरलसखीचिल्लीव्यालीपरिभ्रमकम्पिता,**
> **विमुखितमुखी भूयो भद्रा हठाद्भ्रुकुटीं दधे॥३४॥**

तात्पर्यानुवाद—मानशैथिल्य अवस्थामें कोप करना—एक बार श्रीकृष्णका अपराध देखकर भद्राके मानिनी होनेपर श्रीकृष्णने निर्जन स्थानमें अनुनय-विनय आदिके द्वारा उसको प्रसन्न किया। किसी वामप्रखरा सखीने इस व्यापारसे अत्यन्त रुष्ट होकर पुनः श्रीकृष्णके नये-नये अपराधोंका वर्णनकर भद्राको पुनः मान धारण करा दिया। इस वृत्तान्तको नान्दीमुखी पौर्णमासीसे कह रही है—"अकस्मात् नये अपराध व्यक्त होनेपर मानिनी अथच मृदुस्वभावा भद्राको बहुत चाटुकारीपूर्ण वाक्योंसे श्रीकृष्णने प्रसन्न तो करा लिया, किन्तु वामासखीकी भ्रू-सर्पिणीके प्रभावसे तत्क्षणात् वह पुनः भृकुटी धारणकर विमुखी हो गई॥"३४॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी पौर्णमासीमाह—सरभसेति। नवे नवीनेऽविनयोत्करेऽपराधसमूहे॥३४॥

नायकाभेद्या यथोद्धवसंदेशे—

> **कामं दूरे वसतु पटिमा चाटु वृन्दे तवायं,**
> **राज्यं स्वामिन् विरचय मम प्राङ्गणं मा प्रयासीः।**
> **हन्त क्लान्ता मम सहचरी रात्रिमेकाकिनीयं,**
> **नीता कुञ्जे निखिलपशुपी नागरोज्जागरेण॥३५॥**

तात्पर्यानुवाद—नायकाभेद्या अर्थात् नायकके द्वारा अभेद्य मानवती— कदाचित् दैवइच्छासे श्रीमती राधिका विप्रलब्धा अवस्थाको प्राप्त होनेपर श्रीकृष्ण ललिताके निकट उपस्थित होकर दैवाधीनताके कारण अपने अपराधको क्षमा करानेके लिए ललिताको निवेदन करने लगे। उनके अनुनय-विनयको सुनकर ललिता बोली—"हे स्वामिन्! आपकी चाटुकारीपूर्ण वचनोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप यहाँ

राज्य–विस्तार करें, किन्तु मेरे प्राङ्गणकी ओर देखना तक नहीं, आनेकी तो बात ही क्या? हे वैदग्धीशून्य निखिल गोपियोंके नागर! तुम्हारे प्रेममें पड़कर मेरी यह प्रियसखी निर्जन कुञ्जमें अकेली सारी रात रोती रही॥"३५॥

लोचनरोचनी—प्राङ्गणमिति समीपदेशमित्यर्थः॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीकृष्णमाह—काममिति। चाटुवृन्दे चाटुसमूहे। पटिमा पाटवम्। दूरे वसत्विति मदग्रे स्थातुमशक्तेः। मम प्राङ्गणं मा आगच्छेति अहमेवैका त्वत्प्रतिकूला स्वप्राङ्गणान्निःसृत्य कदापि तव राज्ये विघातं न करिष्यामीति विश्वसिहीति भावः। ननु त्वत्प्राङ्गण एव राधा, तां विना च बहिः किं मे राज्येनेति सत्यं मिथ्यावादिशिरोमणिरसीत्याह—हन्तेति। उज्जागरेण रात्रि नीतेयं त्वं तु पशून् पान्ति पालयन्तीति पशुप्यो गोप्यस्तासां नागरोऽतः किं ते राधयेति भावः॥३५॥

नायके क्रूरा यथा दानकेलिकौमुद्याम् (५७)—

अमूर्व्रजमृगेक्षणाश्चतुरशीतिलक्षाधिकाः,
प्रतिस्वमिति कीर्तितं सवयसा तवैवामुना।
इहापि भुवि विश्रुता प्रियसखी महार्घ्येत्यसौ,
कथं तदपि साहसी शठ जिघृक्षुरेनामसि॥३६॥

यूथेऽत्र वामप्रखरा ललिताद्याः प्रकीर्तिताः॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—नायकके प्रति क्रूरा—(दानकेलिकौमुदी) एक समय यज्ञके लिए सद्यप्रस्तुत घी आदि द्रव्योंको लेकर सखियोंके साथ श्रीराधाको गोवर्द्धनके ऊपर नीलमण्डपसे होकर जाते समय वहाँ दानग्रहण करनेका बहाना बनाकर श्रीकृष्णने उनका मार्ग रोक लिया। उस समय ललिताके साथ उनका वाद–विवाद होनेपर श्रीकृष्ण श्रीराधाको स्पर्श करनेके लिए अग्रसर होते ही ललिता डाँट–डपटकर उन्हें निषेध कर रही है—"चौरासीलाख मुद्राओंसे भी ये व्रजाङ्गनाएँ अधिक मूल्यवान हैं। इन सभीमें मेरी प्रियसखी श्रीराधा ही अकेली महा–अमूल्य निधि हैं—यह जनश्रुति सारे संसारमें प्रसिद्ध है और तुम्हारे सखा मधुमङ्गलको भी यह बात अच्छी तरह विदित है। अतः हे शठ! किस साहससे तुम इन्हें स्पर्श करनेकी चेष्टा कर रहे हो? ये अन्य यूथेश्वरियोंके समान

नहीं हैं। उन सबका मूल्य एकत्र करनेपर क्या हमारी प्रियसखीके मूल्यके बराबर हो सकता है? यहाँसे अभी चले जाओ। फिर कभी ऐसा साहस मत करना।" उक्त यूथमें ललितादि सखियोंको वामप्रखरा कहा जा सकता है॥३६–३७॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीकृष्णमाह—अमूरिति। प्रतिस्वं स्वं स्वम्। एकैकेति यावत्। अमुना मधुमङ्गलेन कीर्त्तितं नान्दीमुख्युक्तसूत्रव्याख्याप्रसङ्गे। इहापि सर्वास्वस्मासु मध्ये प्रियसखी राधा महार्घा नहि यूथेश्वरी अन्यतुल्या भवितुमर्हतीति भावः। साहसीति। चतुरशीतिलक्षमात्रशुल्के कृते ततोऽप्यधिकमूल्यायाः श्रीराधाया ग्रहणे राजफूत्कारादपि न किं बिभेषीति भावः। हे शठेति। "शठे शाठ्यं प्रकुर्वीत" इति न्यायेन वरं राज्ञः सकाशादश्ववारा आनेतव्या इति भावः॥३६॥

अथ दक्षिणा—

असहा माननिर्बन्धे नायके युक्तवादिनी।
सामभिस्तेन भेद्या च दक्षिणा परिकीर्तिता॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—दक्षिणा—जो नायिका मान करनेमें असमर्थ होती है, नायकके प्रति युक्तिपूर्ण प्रिय वचनोंका प्रयोग करती है और नायकके प्रीतिपूर्ण वचनोंसे प्रसन्न हो जाती है, उसे दक्षिणा कहते हैं॥३८॥

तत्र माननिर्बन्धासहा श्रीगीतगोविन्दे (९/१०)—

स्निग्धे यत्परुषासि यत्प्रणमति स्तब्धासि यद्रागिणि
द्वेषस्थासि यदुन्मुखे विमुखतां यातासि तस्मिन्प्रिये।
तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चा विषं
शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहः क्रीडामुदो यातनाः॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—माननिर्बन्धमें असमर्थ—(श्रीगीतगोविन्द) कलहान्तरिता श्रीराधाको उनकी प्रखरासखी तुङ्गविद्या तिरस्कारपूर्वक कह रही है—"हे सखि! स्नेहशील प्राणेश्वरके प्रति अत्यन्त कठिन हो जाती हो। वे प्रणत होनेपर तुम कठोर बन जाती हो। अनुरागी नायकके प्रति विद्वेष करती हो। वे उन्मुख होनेपर तुम विमुखी हो जाती हो। हे विपरीतक्रियाशीले! तुम्हारे विपरीत व्यवहारसे दुःखी होकर प्रियतमका चला जाना युक्तियुक्त ही हुआ है। अभी भी तुममें वैपरीत्य विधान

दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम चन्दनलेपनको विष समझती हो। चन्द्रकिरणोंको सूर्यकी तापप्रद प्रखर किरणें समझ रही हो। हिमको अग्नि, क्रीड़ाविनोदको भी यातना बोध कर रही हो॥"३९॥

आनन्दचन्द्रिका—तुङ्गविद्या कलहान्तरितां श्रीराधामाह—यद्यतः स्निग्धे तस्मिन् प्रिये श्रीकृष्णे तद्विपरीतधर्मा त्वं परुषासि तत्तस्मात् श्रीखण्डचर्चापि विषं तद्विपरीतधर्मकम् विषवद्दाहकं भवतीत्यर्थः। यथा क्रियते तथा भुज्यत इति न्यायात्। रागिण्यनुरागिणि। क्रीडायां मुदो हर्षा एव यातनाः। केलौ यान्येव सुखदानि तान्येव दुःखदान्यभूवन्नित्यर्थः॥३९॥

नायके युक्तवादिनी यथा पद्यावल्याम् (२९७)—

अदोषाद्दोषाद्वा त्यजति विपिने तां यदि भवान्
अभद्रं भद्रं वा व्रजकुलपते त्वां वदतु कः।
इदन्तु क्रूरं मे स्मरति हृदयं यत्किल तया,
त्वदर्थं कान्तारे कुलतिलक नात्मापि गणितः॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—नायकके प्रति युक्तवादिनी—रासक्रीड़ामें जब श्रीकृष्ण अरण्यमें श्रीराधाको परित्यागकर अन्तर्हित हो गए, तब वहींपर ही श्रीराधा श्रीकृष्णके विरहमें अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण मूर्च्छित होकर अकेली गिर पड़ीं। उसी समय श्रीराधाकी किसी प्रियसखीने अपनी प्रियसखीको इस प्रकार मूर्च्छित होकर भूमिमें पड़ी हुई देखकर श्रीकृष्णको यह संवाद देनेके लिए वनमें प्रवेश किया। कुछ क्षणों तक इधर-उधर भ्रमण करनेपर हठात् श्रीकृष्णको देखकर वह उनके प्रति दोषारोप करती हुई बोली—"हे व्रजकुलपते! दोषी हो या निर्दोषी हो, तुमने हमारी प्रियसखीका घने वनमें परित्याग किया है। इसके लिए तुम्हें भला या बुरा कौन कह सकता है? किन्तु, हे कुलतिलक! वे तुम्हारे लिए इस दुर्गम वनमें अपने देह-दैहिक सब कुछ त्यागकर भी आनेमें नहीं डरती। मेरा क्रूर (वाच्यव्यङ्गसे अतिकोमल) हृदय सर्वदा उस बातको स्मरण कर रहा है॥"४०॥

आनन्दचन्द्रिका—रसान्तर्द्धाने "ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्" इत्युक्तेः श्रीकृष्णेन परित्यक्तां श्रीराधां मूर्च्छितां वीक्ष्य काचित्तस्याः सखी

श्रीकृष्णमन्वेष्टुं वनं प्रविश्य प्राप्तञ्च तमनुनयन्तमुपालभते—अदोषादिति। नय मां यत्र ते मन इति। स्वाधीनभर्तृकाया गर्वस्य समुचितत्वादित्यर्थः। दोषादिति। अहंकारिणा त्वया रसिकशेखरेण तद्वचनस्य सोढुमशक्यतया दोषत्वेनैव गृहीतत्वादित्यर्थः। व्रजकुलपते इति। व्रजपतेः पुत्रस्त्वमपि व्रजकुलस्य पतिरतो दुर्लीलराजपुत्रस्य तव व्रजस्यापि वधे पालने वा किमभद्रं भद्रं वा किं पुनरेकस्यास्तस्या वधे। मम तु क्रूरं हृदयमिति विरुद्धलक्षणयोक्तिः। तथा कुलतिलकेति चात्र कुलपते कुलतिलकेति कुलपदस्य पौनरुक्त्यं न मन्तव्यं समूह स्वगोत्रवाचित्वेनार्थभेदात्। पद्यमिदं मध्यात्वगमकमपि त्यजतीति क्रूरमिति गणित इति पदैः प्रौढिवादात् प्राखर्ये उदाहृतम्॥४०॥

नायकभेद्या यथा—

न व्यर्थां कुरुषे ममैव भणितिं मध्ये सखीनामिति,
श्रुत्वा ख्यातिमसौ कृती मधुरिपुर्यां बाढमाशिश्रिये।
दृष्ट्वा मद्वदनं प्रसीद रभसादेनं पुरः कातरं,
कल्याणीभिरलं कृशोदरि दृशोर्भङ्गीभिरङ्गीकुरु॥४१॥

तुङ्गविद्यादिका चात्र दक्षिणप्रखरा भवेत्॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—एक बार विप्रलब्धा राधाको प्रसन्न करनेके लिए महाकुशल कृष्णने अनुनय-विनयपूर्वक तुङ्गविद्याको वशीभूत कर लिया। तुङ्गविद्या श्रीराधिकाके समीप आकर काकुपूर्वक प्रार्थना कर रही है—"हे कृशोदरि! सखियोंमेंसे तुङ्गविद्याके वचनका तुम कभी भी उल्लंघन नहीं करती हो, इस जनश्रुतिको सुनकर कृष्णने मेरा आश्रय लिया है। मेरी ओर दृष्टि रखते हुए तुम अब प्रसन्न होओ और समीपवर्ती कृष्णको अपनी कल्याणमयी दृष्टिभङ्गी द्वारा अङ्गीकार करो॥"४१॥

तुङ्गविद्या ही इस यूथमें दक्षिणप्रखरा है॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—तुङ्गविद्या कलहान्तरितां श्रीराधामाह—न व्यर्थमिति। ममैवेति मानसमये विशाखादय इव मानं त्यजेति उत्कण्ठासमये ललितादय इव मानं कुर्विति त्वामहं कदापि नावोचमतो ममैव न तु तासामित्यर्थः। कृती पण्डितस्तां मत्ख्यातिं परीक्षितुमिति भावः। दृष्ट्वा मद्वदनमिति त्वयैव दत्तां तां मत्ख्यातिं त्वमेव चेद्विध्वंसयिष्यसि तदा जन्मपर्यन्तं मन्मुखं म्लानं त्वां प्रति समौनमेव स्थास्यति। "संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" इति नीतेः। अयि परामर्शशून्ये तर्हि किं

कर्तुमाज्ञापयसीत्यत आह—एनं पुरः कातरमित्यादि। ततश्च सा रभसात् पादलग्नं श्रीकृष्णमश्रुभिरभ्यषिञ्चत्। सोऽपि स्वपाणिना तन्मुखं संमार्ज्य चुचुम्बेति ज्ञेयम्॥४१॥

अथ लघुमध्या—

त्वया रचितसंकथां पथि समीक्ष्य मां मानिनी,
सखी मम विषण्णधीः कृतकटाक्षमाक्षेप्स्यति।
व्रजाधिपतिनन्दन त्वमवधेहि मन्त्रं ब्रुवे,
विनात्र ललिताश्रयं भवदुपक्रमोऽयं वृथा॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमध्या—एक समय सहेतुक मानवती श्रीमती राधिकाका मान शान्त करनेके लिए अपना कार्य करनेमें पटु श्रीकृष्ण रास्तेमें चम्पकलताको देखकर अपनी वाञ्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए उससे निवेदन करने लगे। श्रीकृष्ण द्वारा ऐसा करनेपर चम्पकलता उनको भयपूर्वक उपदेश करने लगी—"हे व्रजेन्द्रनन्दन! पथमें तुम्हारे साथ बातचीत करती हुई देखकर मानिनी प्रियसखी मेरे प्रति विपन्न चित्तसे कटाक्षकर आक्षेप करेगी। फिर भी मैं तुम्हें यह परामर्श दे रही हूँ कि ललिताके आश्रय बिना तुम्हारा सारा उद्यम व्यर्थ होगा॥"४३॥

आनन्दचन्द्रिका—चम्पकलता सचाटुकारं श्रीकृष्णमाह—त्वयेति। संकथा संवादः। समीक्ष्येति स्वपरिजनद्वारा दूरतः स्वयमेव वा। आक्षेप्स्यति चम्पकलते को रहस्य उत्कोचः श्रीकृष्णाल्लब्ध इत्येवम्। व्रजेति। व्रजराजस्यानन्ददायिनि पुत्रे त्वयि सा ललिता गौरवं करिष्यत्येवेति भावः। अवधेहीति युक्त्यन्तरं स्वहृदयादुत्थितमन्यमुखाद्वा श्रुतं त्वत्कार्यसाधकं किं न भवेदिति मनसि विचारयेत्यर्थः। मन्त्रं मन्त्रणां श्लेषेण मन्त्र इव स्वहृदय एव गोप्यः न तु कस्याश्चिदग्रे मन्नामोल्लेखः कर्तव्य इत्यर्थः। ब्रुवे इत्यात्मनेपदमात्मदोषाच्छादनफलकम्। त्वामस्मि वच्मिविदुषामित्यादि वदत्र पद्ये ध्वनयोऽन्वेष्टव्याः॥४३॥

अथ लघुमृद्वी—

सखि तव मुहुर्मूर्ध्ना पादग्रहोऽपि मया कृत–
स्तदपि च हरौ जातासि त्वं प्रसादपराङ्मुखी।
भवतु यमुनातीरे वेणोरुदञ्चति पञ्चमे
विचलितधृतिस्त्वं लोलाक्षी मयाऽपि हसिष्यसे॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमृद्वी—मानिनी श्रीराधाका मान शान्त करनेके उद्देश्यसे अनुनय-विनय और चाटुकारीपूर्ण वचनोंसे श्रीकृष्ण द्वारा भेजी गई चित्रासखी उनके निकट उपस्थित हुई। बहुत देर तक काकुवाक्य और प्रणतोक्तिके द्वारा प्रार्थना करनेपर भी श्रीमतीजीका मानभङ्ग नहीं हुआ, अधिकन्तु आक्षेपपूर्वक उसके विनयको अमान्यकर चित्रा भी उनके प्रति क्रोधित होकर बोली—"हे सखि! मैंने बारम्बार तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया, मनाया, तथापि तुम हरिके सम्बन्धमें विमुख ही रहीं। अच्छा देखूँगी—यमुनाके तटपर वेणुके पञ्चम आलापको सुनकर जब तुम स्वयं ही विचलित होकर उनके निकट उपस्थित होओगी, तब मैं तुम्हारा उपहास करूँगी?"॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—चित्रा मानिनीं श्रीराधामाह—सखीति। मुहुरिति। अपेहि दुर्बुद्धे अपेहीति। त्वत्कृत तिरस्कारमगणयित्वेति भावः। भवत्विति। स्वसंमति व्यञ्जकं तवाभीष्टमेव भवत्वित्यर्थः। यदि त्वं प्रसन्ना अभविष्यस्तदा त्वत्कृतं तिरस्कारमप्यहं सत्कारमेव मंस्ये, अधुना तु तिरस्कारस्य फलमहं मृदुरपि तुभ्यं दास्यामीत्याह—यमुनातीर इति। वेणोरिति। अस्मान् सखीस्त्वदुपकारेऽप्रभविष्णुरनादृत्य स स्ववेणुमेव शरणं यास्यतीति भावः। मम धृतिदुर्जयेति मा वादीरित्याह—विचलितेति। कथं त्वं धृतेश्चलनं ज्ञास्यसीत्यत आह—लोलाक्षीति। तदानीं तदक्ष्णोर्लौल्यमेव तत्कथयिष्यतीति भावः। ततश्च स्वयमभिसरिष्यन्ती यद्धसिष्यसे तत्र कः संदेह इति भावः। इयं कार्यवशान्मध्यात्वस्पर्शिन्यपि स्वभावतो मृदुरेवेति मार्दवे उदाहृता॥४४॥

अथात्यन्तिकलघुः—

आत्यन्तिकलघुस्तत्र प्रोक्ता कुसुमिकादिका।
सर्वथा मृदुरेवेयं यन्नितान्तलघीयसी॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकलघु—कुसुमिका आदि सखीगण ही आत्यन्तिकलघु हैं। सब विषयमें लघु होनेके कारण ये सर्वथा ही लघु हैं॥४५॥

यथा—

वन्दे सुन्दरि संदिश प्रियसखीं मानं विमुञ्चत्वसौ
सोत्कण्ठापि मनस्विनीव वसति त्वच्छङ्कया वेश्मनि।

दूरे त्वन्मुखमीक्षते हरिरयं मौनं शुकः शिक्षते
लास्यं नेच्छति चन्द्रकी सवयसः क्वास्मीति न स्वं विदुः॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—मानके शान्त हो जानेपर कलहान्तरिता अवस्थामें भी श्रीमती राधिका ललिताके आग्रहको लंघनके भयसे बाह्यतः मानाभास धारण करनेपर श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित कुसुमिका सखी ललिताके चरणोंमें प्रणामपूर्वक अपनी आर्तिको निवेदन कर रही है—"हे सुन्दरि! मैं पुनः-पुनः तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम कर रही हूँ। अपनी प्रियसखीको अनुमति प्रदान करो, जिससे वे मानका त्याग करें। वे श्रीकृष्णसे मिलनेमें उत्कण्ठित होनेपर भी तुम्हारे डरसे मानिनीकी भाँति गृहमें ही अवस्थान कर रही है। यह देखो, हरि भी थोड़ी दूरमें खड़े होकर तुम्हारे मुखके प्रति दृष्टिनिबद्ध कर रहे हैं, शुक मौन धारण कर रहा है, मयूरने अपने नृत्यका त्याग कर दिया है तथा सखियाँ भी आत्मविस्मृत होकर हम कहाँ हैं? हम कौन हैं?—इस प्रकार अपने तनमनकी सुधबुध खो बैठी हैं। इस अवस्थामें तुम्हारे प्रसन्न न होनेपर तुम्हारी निष्ठुरता ही प्रमाणित होगी॥"४६॥

लोचनरोचनी—हे सुन्दरीति सखीमुख्यायाः संबोधनम्। प्रियसखीं यूथेशाम्॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—कुसुमिका ललितां प्रत्याह—वन्द इति। ननु किं तत्र गत्वा तस्याः पादे निपत्य मया मानत्यागो भिक्षणीयः। नहि नहि अत्रैव स्थित्वा संदिश। मद्वारा अन्यसखीद्वारा वा संदेशं प्रेषय। तत्रापि वृन्दावनेश्वरीं प्रति न किन्तु स्वसखीं कलावतीं प्रत्यसौ राधा मानं विमुञ्चतु मत्तो मा बिभेतु। आज्ञा दत्ता मया प्रतिबन्धिकया न भवितव्यमिति व्यञ्जयेति भावः। ततः सैव त्वदाज्ञां वदिष्यतीत्यर्थः। यतः सोत्कण्ठापि मनस्विनीव मानिनीव। किञ्च त्वदाज्ञां विना सर्वेषामेव दुःखं जातिमित्याह—दूर इति। चन्द्रकी ताण्डविकनामा मयूरः। सवयसः सखायः सख्यश्च। क्वास्मीति प्रत्येकं स्वं न विदुः। मूर्च्छिता इत्यर्थः॥४६॥

प्रखरादिष्वन्यतमा यूथेशैकैव कीर्तिता।
मध्यस्था नवधैवान्त्या समा लघुरिति द्विधा॥४७॥

एकैकस्मिन्नतो यूथे भिदा द्वादशधा भवेत्।
अथ दूत्यार्थमेतासां विशेषः पुनरुच्यते॥४८॥

दूत्यमत्र तु तद्दूराद्यूनोर्यदभिसारणम्।
तत्र तु प्रथमा नित्यनायिकैवात्र कीर्त्तिता॥४९॥

स्युर्नायिकाश्च सख्यश्च तिस्रो मध्यस्थितास्ततः॥५०॥

तत्राद्या नायिकाप्राया द्वितीया द्विसमा ततः।
तृतीया तु सखीप्राया नित्यसेव पञ्चमी॥५१॥

आद्यायां निखिलाः सख्यो दूत्य एव न नायिकाः।
पूर्वोक्ता नायिका एव पञ्चम्यां न तु दूतिकाः॥५२॥

तात्पर्यानुवाद—प्रखरा, मध्या, मृद्वी आदि तीन प्रकारकी सखियोंमें अकेली यूथेश्वरी ही अपने यूथमें आत्यन्तिकाधिकाप्रखरा, आत्यन्तिकाधिका-मध्या या आत्यन्तिकाधिकामृद्वी होती है। आपेक्षिकाधिका, समा और आपेक्षिकलघु—यूथमें इन तीन भेदोंकी परस्पर अपेक्षाकर ही सखियाँ प्रखरा, मध्या और मृद्वी भेदसे नौ प्रकारकी हो सकती हैं। आत्यन्तिकलघु—समा और लघु भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। सब मिलाकर इनके द्वादश भेद हुए। इन श्रीकृष्णप्रियाओंकी दूती कहनेसे दूरवर्ती नायक और नायिकाको जो परस्पर अभिसार कराती हैं, उन्हींको समझना चाहिए। उनमें जो प्रथमा (आत्यन्तिकाधिका) हैं, उनको **नित्य–नायिका** कहते हैं। तदनन्तर मध्यस्था तीन प्रकारकी—आपेक्षिकाधिका, समा और आपेक्षिकलघु—ये नायिका और सखी दोनों हो सकती हैं। इनमेंसे पहली—आपेक्षिका **नायिकाप्राया** होती है। (ये प्रथमा यूथेश्वरीकी नित्यसखी होती हैं और कभी-कभी लघुनायिकाकी सखी भी हो सकती हैं)। द्वितीया—समा अर्थात् द्विसमा (पाँचों भेदोंमेंसे इसे नायिकात्व और सखीत्वके विषयोंमें समा अर्थात् कभी नायिका और कभी सखी तथा अपनेसे पूर्ववालीकी सखी एवं परवर्तीवालीको नायिका समझना चाहिए)। तृतीया—आपेक्षिकाधिकलघु **सखीप्राया** (पूर्ववर्ती तीनोंकी ही सखीरूपमें कार्य करती है। कभी किसी स्थलमें नायिका भी हो सकती है)। आत्यन्तिकलघु—जो पञ्चमी हैं, वे **नित्यसखी** हैं। (ये कभी भी नायिका नहीं होतीं। सर्वलघु होनेके कारण इनका नायिकात्व असम्भव है।) प्रथमवाली आत्यन्तिकाधिकासखीके विषयमें चारों दूतीका कार्य करती हैं, ये कभी नायिका नहीं होतीं और पञ्चमी आत्यन्तिकलघुके लिए

सभी सखियाँ ही नायिका होती हैं, किन्तु उनका कभी भी दूतीत्व नहीं होता॥४७–५२॥

लोचनरोचनी—यूथेसा अत्यन्ताधिका अन्यतमा प्रखरा वा मध्या वा मृदुर्वा इत्यर्थः। तस्मादेकैव मध्यस्था। आपेक्षिकाधिकाः समाश्चापेक्षिकलघवश्च नवधा। अधिकप्रखरा, अधिकमध्या, अधिकमृद्वीति तिस्रः। तथा समप्रखरा, सममध्या, सममृद्वीति तिस्रः। तथा लघुप्रखरा, लघुमध्या लघुमृद्वीति तिस्रः। तदेवमेता नव। अन्त्या आत्यन्तिकी लघुः। सा च द्विधा, समा लघुश्चेति द्वादशधेति॥४७॥

तत्र तु प्रथमेति प्रथमा आत्यन्तिकाधिका॥४९॥

तत्राद्येति। आद्या अधिका आपेक्षिकाधिकेत्यर्थः। लघुष्वपि कदाचित् सखी स्यादिति प्रायपदम्। द्वितीया समा सा च द्विसमा नायिकात्वे सखीत्वे च। तृतीया आपेक्षिकी लघुः। नित्यसख्याः पञ्चमीत्वमात्यन्तिकाधिकापेक्षयेति ज्ञेयम्॥५१॥

आद्यायामात्यन्तिकाधिकायां पूर्वोक्ता आत्यन्तिकाधिकाद्याश्चतस्रः॥५२॥

आनन्दचन्द्रिका—यूथेशा आत्यन्तिकाधिकाः। सा क्वचित् यूथे प्रखरा, क्वचिन्मध्या, क्वचिन्मृद्वीति स्वयूथापेक्षया एकैव। मध्यस्था आपेक्षिकाधिका, समा, लघुश्चेति तिस्रः। प्रत्येकं प्रखरामध्यामृद्व्य इति नव। अन्त्या आत्यन्तिकी लघुः। सा च द्विधा—समा लघुश्चेति द्वादशधेति। प्रथमा आत्यन्तिकाधिका यूथेश्वरी नित्यनायिका। लघुत्वाभावेन सखीत्वासंभवादित्यर्थः। मध्यस्था आपेक्षिकाधिकाद्या नायिकाः स्वतो लघुपेक्ष्येत्यर्थः। सख्यः स्वतोऽधिका अपेक्ष्येत्यर्थः॥४७–५०॥

तत्र मध्यस्थितासु तासु तिसृषु मध्य इत्यर्थः। आद्या आपेक्षिकाधिका नायिका प्राया। अस्याः स्वाधिका अपेक्ष्य लघुत्वेनात्यन्तिकादराभावात् स्वलघुष्वपि नायिकात्वं प्रायिकमेव। कदाचित्तासामपि प्रेम्णा सख्यकरण–स्वभावादिति प्रायपदम्। द्वितीया समा द्विसमा द्वयोर्नायिकात्वसखीत्वयोस्तुल्या स्वसमामपेक्ष्य स्वप्रीत्या सखीत्वस्य तत्प्रीत्या नायिकात्वस्य च संभवात्। तृतीया आपेक्षिकलघुः सखीप्राया। अस्याः स्वलघुरपेक्ष्य नायिकात्वे किंचिदादरात् स्वाधिकास्वपि सखीत्वं प्रायिकमेव। कदाचित्तास्वपि तत्प्रीत्या नायिकात्वसंभवादिति प्रायेति पदम्। पञ्चमी आत्यन्तिकलघुर्नित्यसखीति। अस्याः क्वापि लघुर्नास्तीति नायिकात्वासंभवेन गौरवाभावात् सर्वा अप्यपेक्ष्य सखीत्वमेवेति नित्यपदम्। पञ्चमीति। आत्यन्तिकाधिकातो गणनेन मध्यस्थासु तिसृषु अस्याः अन्तःपातित्वासंभवात् प्रथमात एव गणनौचित्यात्॥५१॥

ततश्चैव निर्गलितार्थ इत्यत आह—आद्यायामात्यन्तिकाधिकायां निखिला आपेक्षिकाधिकाद्याश्चतस्रो दूत्य एव न नायिकाः। तस्याः सर्वाधिकत्वात्तदसंभवात्। पञ्चम्यामात्यन्तिकलघौ। नायिका एव न दूतिकाः। अस्याः सर्वास्वपि लघुत्वात्। ततश्च द्वितीया–तृतीया–चतुर्थ्यः परस्परं तारतम्येन दूत्यो नायिकाश्च स्युः॥५२॥

तत्र नित्यनायिका—

यात्र यूथेश्वरी प्रोक्ता सा भवेन्नित्यनायिका।
अपेक्ष्यत्वादतीवास्या मुख्यं दूत्यं न विद्यते॥५३॥

स्वयौथिक्य सखीमध्ये या यत्रातीव रागिणी।
नियुक्तैवास्ति तद्दूत्ये सुष्ठु सा यूथमुख्यया।
तथापि प्रणयात् क्वापि कदाचिद्गौणमीक्ष्यते॥५४॥

दूरे गतागतमृते यद्दूत्यं गौणमत्र तत्।
गौणं हरेः समक्षं च परोक्षं चेति तद्द्विधा॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—नित्यनायिका—जिनको यूथेश्वरी कहा गया है, वे ही नित्यनायिका हैं। सभीकी आदरणीया होनेसे इनका मुख्य दूतीत्व नहीं है। स्वयूथवर्ती सखियोंमें जो जिसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त होती है, यूथेश्वरी उसीको उसकी दूतीके रूपमें नियोग करती हैं। तथापि प्रणयवशतः कभी-कभी उनमें गौणदूत्य भी देखा जाता है।

गौणदूत्य—दूर गमन किए बिना भी (निकटमें ही) अथवा कभी सखीके अलक्षित रूपमें गतागतिके द्वारा भी नित्यनायिकाका दूत्यसाधन संभव है। पुनः गौणदूत्य भी दो प्रकारका होता है—श्रीहरिके सामने और उनके परोक्षमें (उनके सामने नहीं)॥५३-५५॥

आनन्दचन्द्रिका—अपेक्ष्यत्वादादरणीयत्वात्। नियुक्तैवास्ति सखि त्वयास्या दूत्यं कार्यमिति प्रथमदिन एव निर्दिष्टा सा यथासमयं दूत्यं करोत्येवेति किं तस्योदाहरणप्रदर्शनेन। तद्दूत्यं न मुख्यं नापि गौणमित्यर्थः। एवं च यद्यपि सखीद्वारैव स्वसखीनां दूत्यं सिद्धं तथापि गौणं यूथेश्वर्या दूत्यं स्वकर्तृकमपीक्ष्यते दृश्यते। निखिलाः सख्यो दूत्य एव न नायिकाः सखीष्वपि प्रणयेन स्वसाम्यदृष्ट्या दूत्यं विना स्थातुमशक्तेरिति भावः॥५३-५४॥

दूरे गमनागमनं विनेति निकटे तु कदाचित् सख्या अलक्षितेन गमनागमनेनापीत्यर्थः। आद्यं सांकेतिकं दृगन्ताद्यैर्दृगन्तभ्रूतर्जनीचालनैः॥५५॥

तत्र समक्षम्—

साङ्केतिकं वाचिकं च समक्षं द्विविधं मतम्॥५६॥

तत्र साङ्केतिकम्—

तत्राद्यं स्याद्दृगन्ताद्यैः कृष्णं प्रेर्य स्वनिह्नुतिः॥५७॥

यथा—

प्रियसखि विदितं ते कर्म यत्प्रेरयन्ती,
त्वमघदमनमक्ष्णा क्षिप्रमन्तर्हितासि।
अहह न हि लताः स्युस्तत्र चेत्कण्टकिन्यो,
मम गतिरभविष्यत्तत्करात्का न वेद्मि॥५८॥

—इदमधिकमृद्वीदूत्यम्।

तात्पर्यानुवाद—समक्ष (लक्षित रूपसे) दूत्य भी दो प्रकारका होता है—सांकेतिक और वाचिक॥५६॥

साङ्केतिक समक्षदूत्य—नेत्रोंके प्रान्त भागसे, अंगुली और भ्रू-सञ्चालनसे तथा ओष्ठस्पन्दनके द्वारा अपनी सखीके निकट श्रीकृष्णको भेजकर स्वयं आत्मगोपन (छिपकर रहना) ही साङ्केतिक समक्षदूत्य कहा जाता है॥५७॥

एक समय कोई एक सखी श्रीकृष्णके द्वारा सम्भुक्त होकर अपने रतिचिह्नको छिपाती हुई अपनी यूथेश्वरीको आक्षेपपूर्वक कहने लगी—"प्रियसखि! मैं अच्छी तरहसे तुम्हारे व्यवहारको समझ गई। तुम श्रीकृष्णको अपने नेत्रोंसे इङ्गितके द्वारा मेरे निकट भेजकर कहीं छिप गई। अहा! बड़े कष्टकी बात है। वहाँ पर यदि कँटीली लताएँ न होतीं, तो मैं किसी प्रकारसे अघदमनके हाथोंसे बच नहीं पाती और तब उनके हाथों मेरी क्या गति होती, मैं कह नहीं सकती।" इस उदाहरणमें अधिकमृद्वीका दूत्य सूचित हुआ॥५८॥

लोचनरोचनी—तत्राद्यन्तयोर्मध्ये आद्यं साङ्केतिकम्॥५७॥

अहह न हीति तस्या वाक्यं गोपनमेव न तु यथार्थः। तेन तस्या रहस्यमेव प्रकटीभूतमिति ज्ञापितम्॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् श्रीकृष्णकर्तृकं स्वसंभोगं स्वस्मिन्नलपन्ती स्वयूथेश्वरी-मुपालम्भमाना प्राह—प्रियेति। ततश्च हन्त हन्त तद्भयादतिसंभ्रमेणापसरन्त्यास्तव वक्षसि कीदृशं कण्टकैः क्षतं कृतं मत्समीपमेत्य अञ्चलमुद्घाट्य दर्शय। मयानभिज्ञया कष्टं प्रापितासि किं कर्तव्यं त्वय्यतीव लोभतस्तस्यैव प्रार्थनया तथा कृतं त्वं तु स्वपुण्येनैव रक्षिताभूत्। मा क्रुध्य नैवं पुनः करिष्यामीति यूथपायाः प्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥५८॥

अथ वाचिकम्—

मिथःपुरो वा पश्चाद्वा वाक्यमेकत्र वाचिकम्॥५९॥

तात्पर्यानुवाद—वाचिक समक्ष दूत्य—सखी और श्रीकृष्णके सामने श्रीकृष्णको, श्रीकृष्णके असाक्षात् किन्तु सखीके साक्षात् सखीको तथा श्रीकृष्णके साक्षात् सखीके असाक्षात् श्रीकृष्णके प्रति वाक्य-प्रयोगको वाचिक दूत्य कहते हैं—अतः वाचिक दूत्य तीन प्रकारके होते हैं॥५९॥

लोचनरोचनी—मिथः पुरः श्रीकृष्णसख्योर्द्वयोरपि शृण्वतोरित्यर्थः। पश्चादिति। कदाचित् श्रीकृष्णस्यागोचरे कदाचित् सख्या इत्यर्थः। तदेतयोरेकत्र वाक्यं वाचिकं दूत्यं भवति॥५९॥

आनन्दचन्द्रिका—पुरोऽग्रे मिथः परस्परं वाक्यं वा पश्चादेकत्र वाक्यं वा वाचिकं दूत्यं स्यादित्यन्वयः। अत्र पुर इत्यस्य संबन्धिपदानुपादानात् कृष्णसख्योर्द्वयोरेवेति ज्ञेयम्। वाक्यं तु यूथेश्वर्या एव, मिथः शब्देनौचित्यात् श्रीकृष्णेन सार्द्धमिति ज्ञेयम्। पश्चादित्यत्र तु एकत्रेति पदोपादानात् कृष्णस्य पश्चात् सख्याम्, सख्याः पश्चात् श्रीकृष्णे इति द्विविधं पुरस्त्वेकविधमिति त्रिविधं वाचिकम्॥५९॥

तत्र मिथः पुरः कृष्णे वाचिकम्—

मयापलपनं कियत्त्वयि करिष्यते या सखी,
ममानिशमुपेन्द्र ते कुसुममञ्जरीर्लुञ्चति।
इयं गुणवती करे तव विधृत्य दत्ताद्य सा,
यथेच्छसि तथा कुरु स्वयमितो गृहं गम्यते॥६०॥

—इदमधिकप्रखरादूत्यम्।

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे सखी और श्रीकृष्णके प्रति वाचिकदूत्य—"हे श्यामले! मैं प्रतिदिन ऐसा ही देखता हूँ कि तुम कहती हो, यहाँ मैं कुसुमचयन नहीं करती। ठहरो! एक दिन मैं छिपकर तुम्हें पकड़कर मन्मथ राज्यके कारागारमें बन्द कर दूँगा, तब तुम भलीभाँति जान सकोगी।" इत्यादि भय प्रदर्शनकारी श्रीकृष्णको श्यामलाने कहा—"हे उपेन्द्र! मैं कभी भी तुम्हारे वनमें पुष्पचयन नहीं करती, किन्तु मेरी यह सखी तुम्हारे आगे जो ऐसा कहती है कि—मैं पुष्पचयन नहीं करती—आज प्रत्यक्ष रूपमें ऐसा करती हुई देखी गई। यह सखी चोरीके

विषयमें अत्यन्त पटु है। इसलिए मैं इसके हाथोंको पकड़कर तुम्हारे करकमलोंमें इसको समर्पण कर रही हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, तुम इसके लिए वही दण्ड विधान कर सकते हो। मैं तो अब यहाँसे घरको चली।" उक्त उदाहरणमें श्यामला अधिकप्रखरा है। इसलिए सखीके सामने सखीके निमित्त श्रीकृष्णसे वाचिकदूत्य कर रही है। यहाँपर यूथेश्वरी श्यामला, गुणवती नामक अपनी प्रियसखीके हाथोंको पकड़कर श्रीकृष्णको समर्पण करते हुए इस प्रकारसे बोली थी। अतएव इसे श्रीकृष्ण और सखीके सामने ही अधिकप्रखराका वाचिकदूत्य कहा जा सकता है॥६०॥

लोचनरोचनी—कियत् करिष्यत इति। यत् कृतं तत् कृतमेव परतस्तु न कर्तुं शक्यत इति भावः॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामले, नित्यमेव पृष्टा त्वं नाहं पुष्पाणि लुञ्चामीति ब्रूषे तिष्ठ तिष्ठ एकस्मिन् दिने उद्यान एव निह्नुत्य स्थित्वा त्वां ससखीमेव धृत्वा मन्मथराजकारागारस्थां करिष्यामि, तदा ज्ञास्यसीति ब्रुवाणं श्रीकृष्णं प्रति श्यामला प्राह—मयेति। अपलपनं मिथ्याभाषणम्। गुणवतीति चौर्यलक्षणस्य स्वगुणस्य स्वयमेव फलं प्राप्स्यतीति तेन मम किमिति तस्याः साहाय्याकरणे हेतुर्व्यञ्जितः गुणवतीति नामैव वा॥६०॥

कृष्णस्य पश्चात्सख्यां यथा—

मत्कण्ठादिह मौक्तिकानि विचिनु त्वं वीरुदारोधतः
स्रस्तान्येष किलास्ति माल्यरचनाव्यासक्तचित्तो हरिः।
दिष्ट्या क्षेममुपस्थितं सुमुखि नः सानौ यदस्य च्युतो
हस्ताद्वेणुरिति प्रयामि कपटान्निह्नोतुमेनं गिरौ॥६१॥

—अधिकमध्यादूत्यमिदम्॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके असाक्षात् सखीके प्रति वाचिकदूत्य—श्रीकृष्ण द्वारा प्रार्थना करनेपर भी चित्रजी श्रीकृष्णसङ्गमें रुचि नहीं ले रही थी—यह जानकर श्रीराधाजीने उसी कुञ्जमें ही श्रीकृष्णके साथ उसका सङ्ग कराना चाहा, जहाँ श्रीकृष्ण माला गूँथनेमें आविष्ट थे। राधाजीने वहाँसे चले जानेका सोचा और छलपूर्वक चित्रसे कहने लगी—"चित्रे! इन सघन लताओंकी बाधाके कारण मेरे गलेका मुक्ताहार टूट गया है, उसके मुक्ताको तुम चयनकर दो। श्रीकृष्णके प्रति कोई भी आशङ्का मत करो।

वे इस समय माला गूँथनेमें अत्यन्त आसक्त हैं। हे सखि! आज सौभाग्यवश मुझे और भी एक शुभकार्य करना है, हमलोगोंका मङ्गल उपस्थित हुआ है; क्योंकि जो मुरली श्रीकृष्णके हाथोंसे कदापि विच्युत नहीं होती, आज उनके हाथोंसे वह भ्रष्ट होकर पर्वतगुहामें पड़ी हुई है। अतएव मैं छलपूर्वक उसे उठाकर किसी दूसरे स्थानमें गुप्तरूपसे रख दूँगी।" प्रस्तुत उदाहरणमें अधिकमध्याका दूत्य सूचित हुआ है अर्थात् श्रीमती छलपूर्वक चित्राके लिए दूत्यकार्य कर रही हैं॥६१॥

लोचनरोचनी—कृष्णस्य पश्चादिति तस्मिन् शृण्वतीत्यर्थः। हस्ताद्वेणुश्च्युत इति। एतत् क्षेममुपस्थितं तस्मात् प्रायामीत्यादि। उपागतमिति वा पाठः॥६१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा चित्रामाह—मदिति। नन्वहं श्रीकृष्णाद्बिभेमीत्यत आह—माल्येति। तेन श्रीकृष्णस्य समक्षत्वं ज्ञापितम्। ननु त्वमपि किं न विचिनोषीत्यत आह—दिष्ट्येति॥६१॥

सख्याः पश्चात्कृष्णे यथा—

विचकिलमवचेतुं सा सखी मद्वचोभिः,
कथमपि तटपुष्पारण्यमेका गतास्ति।
अघहर मम गेहाद् यान्तमभ्यर्थये त्वां,
पुनरियमतिमुग्धा न त्वया खेदनीया॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—सखीके पीछे अगोचर श्रीकृष्णके लिए वाचिकदूत्य—"हे राधे! तुम्हारी सभी सखियोंका माधुर्य मैंने अनुभव किया। किन्तु, चित्राको यहाँ क्यों नहीं देख रहा हूँ? वह कहाँ है?" श्रीकृष्णके इस प्रकार पूछनेपर श्रीमती राधिका बोली—"प्रियतम! मैंने उसको मल्लिका कुसुम चयन करनेके लिए भेजा है। वह किसी प्रकारसे जानेके लिए सहमत नहीं हो रही थी, किन्तु मैंने नाना प्रकारके विनम्र वचनोंके द्वारा अनुरोध करते हुए उसे भेजा है। वह अभी यमुनाके तटपर पुष्पारण्यमें अकेली गई हुई है। उसके साथ कोई सखी नहीं है। अतः वह अकेली पुष्पचयन कर रही होगी। हे अघहर! तुम मेरे कुञ्जसे जा रहे हो। किन्तु, मैं तुमसे यही प्रार्थना कर रही हूँ कि तुम उस मुग्धाके साथमें कोई छेड़छाड़ मत करना।" यहाँ श्रीमती राधिका ऊपरसे अघहर श्रीकृष्णको अपनी

सखीके साथ छेड़छाड़ करनेके लिए यद्यपि निषेध कर रही हैं, किन्तु गम्भीर भाव यह है कि वे अपनी सखीके लिए दूतीका कार्य कर रही हैं और श्रीकृष्णको अपनी सखीसे मिलनेके लिए इङ्गित कर रही हैं॥६२॥

लोचनरोचनी—विचकिलं मल्लिकाम्॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—राधे! अद्य ते सर्वा एव सख्योऽनुभूतमाधुर्या अभूवन् चित्रा न दृश्यते सा क्वेति पृच्छन्तं श्रीकृष्णं श्रीराधा प्राह—विचकिलेति। विचकिलं मल्लिकां वचोभिरीति बहुवचनेन तत्कर्मण्यपि सा त्वद्भयात् प्रायो न संमतासीदिति भावः। कथमपीति। मया तस्या दूत्यमेव कृतमिति भावः। एकेति तदर्थमेव काचित् सङ्गिन्यपि तस्यै न दत्तेति भावः। अघहरेति। तस्याः कंदर्पशरज्वाला भद्रेणैव निर्वापणीयेति भावः। "अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्" इत्यमरः। पुनरिति संभोज्यापि सा न त्यक्तव्येति भावः॥६२॥

अथ हरेः परोक्षम्—

> **तत् परोक्षं हरेः सख्याः सखीद्वारा यदर्पणम्।**
> **व्यपदेशादिना वापि तत्पार्श्वे प्रेषणादिकम्॥६३॥**

तात्पर्यानुवाद—हरिके असाक्षात्दूत्य—सखीके द्वारा सखीको समर्पण अथवा छलपूर्वक अपनी सखीको श्रीहरिके निकट प्रेरित करना—ये दोनों हरिके परोक्ष दूत्य कहलाते हैं॥६३॥

आनन्दचन्द्रिका—तत् हरेः परोक्षं दूत्यं भवति यत्सखीद्वारा सख्याः समर्पणम्। अर्थात् हरये इत्यर्थः॥६३॥

तत्र सखीद्वारा यथा—

> **रुद्धां विद्धि गुरोर्गिरा शशिकलामात्मद्वितीयामत–**
> **स्त्वामुद्यम्य नयामि शर्मणि सदा जागर्ति ते राधिका।**
> **भृङ्गाः सुभ्रु तदङ्गसौरभभरैराकृष्यमाणाः क्रमात्**
> **पन्थानं प्रथयन्ति ते कुरु पुरः कुञ्जप्रवेशे त्वराम्॥६४॥**

तात्पर्यानुवाद—सखी द्वारा सखीको हरिके प्रति समर्पण—अपनी किसी प्रियसखीके दूत्यके लिए शशिकला नामक तत्समस्वभावा एवं तदनुरागिनी सखीको श्रीराधाने पहले ही नियुक्त कर रखा था। एक दिन उसी

सखीको अभिसार करानेके लिए शशिकलाको अवसर नहीं है, ऐसा सुनकर श्रीराधा द्वारा आदेश प्राप्त होकर अन्य एक सखी—जो शशिकलाकी द्वितीयमूर्त्तिस्वरूपा थी, पुष्पचयनके बहानेसे अपनी पूर्व सखीको वृन्दावनमें जहाँ श्रीकृष्ण विराजमान थे, उस कुञ्जके द्वारपर लाकर उससे ठिठोली करती हुई बोली—"हे सखि! तुम्हारी द्वितीयमूर्त्ति शशिकला आज गुरुजनोंके आदेशसे घरमें अवरुद्ध हो रही है। इसलिए अत्यन्त चेष्टाकर मैं ही तुम्हारा अभिसार करा रही हूँ। मेरा इस कार्यमें कोई भी कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि तुम्हारे सुखमें सतत उत्सुक श्रीमती राधिकाकी आज्ञासे ही मैं तुम्हारा अभिसार करा रही हूँ। देखो, आकृष्ट होकर भ्रमरवृन्द झंकारके द्वारा इस वनमें तुम्हारे आनेकी सूचना कर रहे हैं। अतएव इस कुञ्जमें प्रवेश करनेमें तनिक भी आनाकानी मत करो।"

तात्पर्य—पहले ही कहा गया कि अपनी यूथसम्बन्धी सखीमें जिनकी अनुरक्ति जिसके प्रति है, यूथेश्वरी अनुरक्ता सखीको ही उसकी प्रियसखीके दूत्यके लिए नियोग करती है। इस श्लोकमें उसी लक्षणको सूचित किया गया है॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—त्वं चाहं च वृन्दावनेऽद्य चन्द्रिकां पश्यावेत्युक्त्वा मामेतावद्दूरं त्वमानैषीः, चन्द्रिकां दृष्ट्वापि पुनः कुञ्जगह्वरमार्गे चन्द्रिकारहिते याहि, पुरः पुरो याहीत्युक्त्वा मां कुत्र निनीषसीति सशङ्कं पृच्छन्तीं रङ्गदेवीं कलावती प्राह—रुद्धामिति। आत्मद्वितीयां त्वत्सखीं सदा त्वामभिसारयित्रीमित्यर्थः। नयाम्यभिसारयामि। ननु विश्वासघातिनी त्वदाज्ञाकारिणीमेव मां त्वं किमवैषि अहं तु परावृत्य गृहमेव यामीत्यत आह—शर्मणीति। विरुद्धलक्षणयेदृक् त्वद्विडम्बनलक्षणे त्वदकल्याणे राधा सदैव जागर्ति न कदापि स्वपितीति सैव विश्वासघातिनी त्वद्वैरिणीत्यर्थः। अहं तु त्वदाज्ञयैवैवं करोमीति भावः। भवतु त्वदभिमतमेव करोमि किन्तु तया त्वं मे सङ्गिनी दत्तासि कथमित एव विच्युता बुभूषसि, अग्रे अग्रे चलेति साकूतं ब्रुवाणां तां प्रत्याह—भृङ्गा इत्यादि। इतो भृङ्गा एव तव सङ्गिनः, एतेषां पश्चात् पश्चात् याहि, हे सुभ्रु, भ्रुवं शोभनां कुरु तव मङ्गलं फलतीति भावः। ततश्च तयोः संलापकलहेन श्रुतेनैव रङ्गदेवीं नायिकां ज्ञात्वा कुञ्जान्निःसृत्य श्रीकृष्णस्त्वामेव जग्राह कलावतीं हर्षयामास चेति ज्ञेयम्। अत्र स्वयौथिकसखीमध्ये या यत्रैकानुरागिणी नियुक्तास्ति, तद्दूत्ये सुष्ठु सा यूथमुख्ययेत्येतद्वारणार्थमेवात्र श्लोके रुद्धां विद्धीत्याद्युपन्यासो ज्ञेयः॥६४॥

अथ व्यपदेशः—

व्यपदेशो हरौ लेखोपायनाद्यर्पणक्रिया।
निजप्रयोजनाश्चर्यदर्शनादिश्च कीर्तितः ॥६५ ॥

तात्पर्यानुवाद—व्यपेदश—श्रीहरिके प्रति पत्र–प्रेरण, उपहारादि अर्पण, अपना प्रयोजन अथवा आश्चर्य दर्शन आदिको व्यपेदश कहते हैं॥६५॥

तत्र लेख्यव्यपदेशेन यथा—

दूतीपद्धतिमुद्धते परिहर त्वं साचि किं प्रेक्षसे,
वामाक्षि स्वयमाहृतं प्रियसखीलेखं पुरो वाचय।
शय्या पुष्पमयी निकुञ्जभवने सौरभ्यपुञ्जावृता,
मृद्वी त्वामियमाह्वयत्यलिघटाकोलाहलव्याजतः ॥६६ ॥

तात्पर्यानुवाद—व्यपेदश द्वारा हरिके निकट सखीप्रेरण—"मैं श्रीराधाकी पत्रहारिणी दूती हूँ। तुम मेरे प्रति लाम्पट्य क्यों प्रकाशित कर रहे हो? मुझसे छेड़छाड़ मत करो। दूतीका यह धर्म नहीं है। वह प्राणत्याग कर सकती है, तथापि अपने शरीरका दान नहीं कर सकती।"—इस प्रकार सम्भ्रम प्रकाशकारिणी रसालमञ्जरीको श्रीकृष्णने कहा—"हे उद्धते! दूतीपद्धतिका परित्यागकर मेरे प्रति वक्रदृष्टि निक्षेप क्यों कर रही हो? टेढ़ी नजरोंसे क्यों देख रही हो? हे कुटिलनेत्रे! क्या तुम अपनी प्रियसखीका पत्र लाई हो? यदि लाई हो तो उसे खोलकर मेरे सामने पढ़ो। हे सुन्दरि! इस कुञ्जगृहमें सौरभमयी अत्यन्त मृदु पुष्पशय्या भ्रमर–झंकारके बहाने तुम्हें बुला रही है। अतः शीघ्र ही इस पुष्पमयी शय्यापर शयन करो॥"६६॥

आनन्दचन्द्रिका—अहं पत्रहारी श्रीराधाया दूत्यस्मि, किमिति मयि लाम्पट्यं तनोषि। दूत्यः प्राणान् वरमर्पयन्ति न तु तनुमिति दूतीस्वभावं जानास्येवेति संभ्रान्तां रसालमञ्जरीं श्रीकृष्णः प्राह—दूतीपद्धतिमिति। दूत्या व्यवहारं परिहर मुञ्च, हे उद्धते, किमिति व्यधिकरणं ब्रूषे। त्वं दूती न भवसीति यदि न प्रत्येषि तदा प्रियसखीलेखं श्रीराधास्वहस्तलिखितं पत्रं त्वमेव वाचय। स्वयामाहृतमिति भावः। नात्र मया किमपि कापट्यं सृष्टमिति भावः। पत्रञ्चेदं सर्वं मे प्रथयिष्यति। रसालमञ्जरीयं यान्ती त्वत्सविधे। अद्य वनप्रिय कृष्ण, न मे लुम्प हा धर्ममिति। अत्र तव रसालमञ्जरीत्वं

मम वनप्रियत्वं चेत्येवार्थान्तरं स्पष्टमेवापलपतीति त्वयैव विचार्यताम्। धर्ममधर्मं वा मा लुम्पेत्यर्थद्वयमप्यवास्तवम्। किन्तु धर्मं स्वपरिजनदूत्यलक्षणमित्येव तथा सर्वपरिजनप्रेमवत्त्वमित्येवार्थः सत्य इति। ततश्च तां पराजितां हस्ते गृहीत्वा शय्येत्यादि॥६६॥

उपायनव्यपदेशेन यथा—

प्रसीद वसनाञ्चलं मम विमुञ्च निर्मञ्छनं,
व्रजामि ननु निर्दय स्फुरति पश्य संध्योर्जिता।
विदत्यपि तवोन्नतं गुणमुपाहरं मदन्धीः,
स्रजं प्रियसखीगिरा व्रजपते न ते दूषणम्॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—उपायन व्यपदेश—श्रीमतीने स्वयं माला गूँथकर रतिमञ्जरीके द्वारा श्रीकृष्णके निकट भेजी। श्रीकृष्ण रतिमञ्जरीको देखकर सहसा उसके अञ्चलको पकड़कर अपनी ओर खींचने लगे। उसे देखकर रतिमञ्जरी बोली—"हे निष्ठुर! मेरे प्रति प्रसन्न होओ। मैं तुम्हारी बलिहारी जाऊँ। मेरे अञ्चलको छोड़ो। देखो, सामने ही भयङ्कर सन्ध्या उपस्थित है, (तात्पर्य यह है कि इस समय रहोविलास अनुचित है, अथवा इस समय गृहकार्यके लिए मेरी सास मुझे घरमें न देखकर भयङ्कर उत्पात मचाएगी) इस समय मुझसे छेड़छाड़ मत करो।" ऐसी प्रार्थना करनेपर भी जब श्रीकृष्णने उसके अञ्चलको नहीं छोड़ा, तब पुनः रतिमञ्जरी कहने लगी—"हे व्रजपते! तुम्हारा इसमें कोई भी दोष नहीं है। तुम्हारा ऐसा उद्धत स्वभाव जानकर भी जब अपनी प्रियसखीके अनुरोधसे उपहार देनेके लिए आई हूँ, तब मेरी ही बुद्धि मन्द है, अन्यथा मैं इस क्रूरके हाथमें कैसे पतित हुई?" इस उदाहरणमें 'व्रजपतिसुत' के बदले भय, सम्भ्रम और क्षोभवशतः रतिमञ्जरीके मुखसे सहसा 'व्रजपते' शब्द ही निकल गया॥६७॥

लोचनरोचनी—संध्योर्जिता इत्यत्र 'संध्याहवे' इति 'व्रजपते' इत्यत्र 'चलमते' इति वा पाठः। न ते दूषणमिति सरलार्थपक्षे त्वचलमते इत्यकारप्रश्लेषः कार्यः॥६७॥

आनन्दचन्द्रिका—गृहीतवस्त्रं श्रीकृष्णं प्रति रतिमञ्जरी प्राह—प्रसीदेति। हे निर्दय! अहं संप्रत्यसुस्थशरीरास्मीति भावः। सन्ध्योर्जिता सन्ध्याया मध्यभाग एवायमित्यर्थः। सन्ध्यायां रुद्रभूताः पर्यटन्तः स्त्रीधर्षिणं लगन्तीति तेभ्योऽपि न

विभेषीति भावः, अत्र सन्ध्योर्जिता इत्योजोव्यञ्जकवर्णोपन्यासो घोरत्वज्ञापनाय नानुपपन्नः। तदप्यपरित्यागिनं तं ममैवायं दोष इत्याह—विदत्यपीति। विदती जानती गुणमिति विरुद्धलक्षणया मन्दधीः प्रियसखीगिरोऽयमर्थ इति बोद्धुमसमर्था। व्रजपतिसुत इति वक्तव्ये भयसंरम्भसंभ्रमक्षोभवशाद् व्रजपते इत्येव मुखान्निःसृतमिति ज्ञेयम्॥६७॥

निजप्रयोजनव्यपदेशेन यथा—

मुक्तावली निशि मया दयिता कदम्ब–
वाटीकुटीरकुहरे सखि विस्मृतास्ति।
तामाहरेति वृषभानुजया नियुक्ता,
तां प्रोज्झ्य किं शशिकले गृहमागतासि॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—निजप्रयोजन (अपने किसी प्रयोजन) के बहाने दूत्य—ललिताने शशिकलासे पूछा—"सुन्दरि! तुम्हारी प्रियसखी वृषभानुपुत्री श्रीमती राधिकाने तुम्हें आदेश दिया था—सखि शशिकले! मैं पिछली रात कदम्बवनकी कुञ्जकुटीमें अपने मुक्ताहारको भूलकर छोड़ आई हूँ, उसे ले आओ—हे सखि! तुम उसे न लाकर खाली हाथ ही घरमें लौट आई, इसका क्या कारण है?" उक्त उदाहरणमें अपनी किसी प्रयोजनीय वस्तुको लानेके बहाने सखीका दूत्य करती हुई श्रीमती राधिकाने उसे कुञ्जके भीतर भेजकर श्रीकृष्णके साथ उसका मिलन कराया॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता शशिकलां सनर्माह—मुक्तावलीति। ततश्च सा यथा मुक्तावल्यर्थं मां न्ययुङ्क्त त्वमपि तथैव मां पृच्छसि, नमो युवाभ्यामिति तस्याः प्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥६८॥

आश्चर्यदर्शनव्यपदेशेन यथा—

सखि व्यालीं वक्त्रे द्युमणिपटलं कण्ठसविधे,
दधच्चन्द्रान्मूर्द्धोपरि सकलरत्नानि वमति।
अलिश्यामो हंसः स्फुटमिति मदुक्त्यासि चलिता,
तदाश्चर्यं द्रष्टुं किमिव कुपितेवात्र मिलसि॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—आश्चर्यदर्शनके बहाने अपनी सखीके प्रति यूथेश्वरीका दूत्यकरण—श्रीकृष्णके रूप-वेशादिका गूढ़ प्रहेलिका द्वारा वर्णनकर श्रीराधाजीने एक सखीको कहा कि यदि तुम उस आश्चर्यको देखना चाहती हो, तो स्वयं जाकर देख लो। इस बहानेसे श्रीराधाजीने उसे सङ्केत स्थलपर भेजा। जब वह सखी श्रीकृष्णके साथ लीला-विलास करके घर लौट रही थी, तब उसको प्रणयकोपसे युक्त तथा लज्जासे नीचे मुख झुकाए देखकर श्रीराधाजीने पूछा—"हे प्रणयिनि! एक अलितुल्य श्याम हंस अत्यन्त अद्भुत रूपसे क्रीड़ा कर रहा है, उसके मुखमें सर्पिणी है, उसके कण्ठके निकट अनेक सूर्य हैं, उसने सिरके ऊपर अनेक चन्द्र धारण कर रखे हैं, वह अपने मुखसे नाना प्रकारके रत्नोंको उगल रहा है। मेरे इस वचनको सुनकर तुम स्वयं उस आश्चर्यको देखने गई थी, किन्तु अब लौटकर कुछ क्रोधित-सी दिखती हो, ऐसा क्यों?"

उल्लिखित पद्यमें अर्थान्तर—'ब्याली' शब्दसे सर्पिणी एवं अतिशय उक्तिमें कुलाङ्गना, दर्शनसाधर्म्यहेतु मुरली, 'द्युमणिपटल' शब्दसे सूर्यसमूह और कौस्तुभमणि, 'चन्द्रान्' शब्दसे अनेक चन्द्र और दूसरे पक्षमें मयूरपिच्छसमूह। 'नाना प्रकारके रत्न' शब्दसे चिन्तामणि प्रभृति मणि, पक्षान्तरमें 'स' शब्दसे श्रीकृष्ण और 'कल' शब्दसे अव्यक्त मधुर स्फुटध्वनि अर्थात् श्रीकृष्ण मधुर-मधुर अस्फुट ध्वनि कर रहे हैं। अलि अर्थात् भ्रमर तुल्य श्रीकृष्णवर्ण हंस पक्षान्तरमें सरोवर तटके समीप होनेके कारण श्रीकृष्ण, 'कुपिता' इस शब्दके प्रयोग द्वारा सखीकी श्रीकृष्णसङ्ग प्राप्तिके लिए कुछ-कुछ उत्सुकता दिखाई पड़ती है आगे और भी वर्णन किया जाएगा कि इन सखियोंमे कोई-कोई सखी नायिकात्वमें कुछ उत्सुक रहती है और किसी-किसीका उस विषयमें अनाग्रह हेतु सखीत्वमें ही उसकी रुचि देखी जाती है। उक्त उदाहरणमें आश्चर्य-दर्शनके लिए कौतुहलग्रस्ता सखीका कुछ-कुछ नायिकात्व भी सूचित हुआ॥६९॥

लोचनरोचनी—सकलरत्नानीत्यत्र स इति पक्षे पृथक् पदम्। श्लेषास्तु ज्ञेयाः॥६९॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वोपकण्ठमागत्योपविष्टाः श्यामलाप्रभृतीः कृतचरं स्वसख्यां दूत्यं ज्ञापयन्ती श्रीराधा तां परिहसन्त्याह—सखीति। व्यालीं सर्पीम्। पक्षेऽतिशयोक्त्या कुलाङ्गना दर्शनसाधर्म्यान्मुरलीम्। द्युमणिपटलं सूर्यसमूहं पक्षे कौस्तुभम्। चन्द्रान्, पक्षे चन्द्रकान्। सकलरत्नानि सर्वानेव चिन्तामण्यादिमणीन्, पक्षे स श्रीकृष्णः कलरत्नानि मधुरास्फुटसुन्दरशब्दान् वमति, पक्षे वक्ति। अलिरिव श्यामो हंसः सरस्तटवर्तित्वात्, पक्षे श्रीकृष्णः। अद्य मया सरसि दृष्ट इति वाक्यशेषस्यासमापनम् आश्चर्योत्थसंभ्रमाभिनयवशात्। कुपितेवेत्यत्र इवशब्दस्तस्याः किंचित् श्रीकृष्णसङ्गौत्सुक्यं सूचयति। तथैव वक्ष्यते—"आसां मध्ये भवेत्काचिन्नायिकात्वे दरोत्सुका। तस्मिन्नाग्रहा काचित् सख्यसौख्याभिलाषिणी॥" इति। ततश्च स हंसो गत्वा मया दृष्टो धूलौ लुठन् मूर्च्छोत्थितो राधा राधेति निनदन् पृष्ट्श्च तां दुरवस्थां मां प्रत्यब्रवीत्। राधयैव मदुपरि कमलधूलिक्षेपेणाहमुन्मादितस्तयैव चेज्जीवयिष्ये तर्हि जीवामीति ततोऽहं तुभ्यमधुना कुप्यामि कथं त्वं तथा कृत्वा विलम्बसे शीघ्रं गत्वा जीवयेति तस्याः प्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥६९॥

अथ नायिकाप्रायात्रिकम्—

आपेक्षिकाधिकानां यत्तिसृणां लघुषु स्फुटम्।
कदाचिदेव दूत्यं ता नायिका प्रायिकास्ततः॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—तीन प्रकारकी नायिकाप्राया—आपेक्षिकाधिकाादि प्रखरा, मध्या और समा नायिकाएँ जब स्वभावतः ही लघु सखियोंका कदाचित् दौत्य विधान करती हैं, तब उन्हें नायिकाप्राया कहा जाता है॥७०॥

लोचनरोचनी—आपेक्षिकाधिकानां तिसृणां यद्यस्माद् लघुसु कदाचिदेव दूत्यं स्यात् तत्तस्मात्तिस्रो नायिका उच्यन्ते॥७०॥

आनन्दचन्द्रिका—आपेक्षिकेति। कथ्यन्त इति शेषः॥७०॥

तत्राधिकप्रखरादूत्यम्—

पाणौ मे पतितासि शम्भलि चिरादत्याकुलं मा कृथाः
काकुं ते करवाणि निष्क्रियमहं शीर्णाभिसारैः सदा।
त्वं दिष्ट्यात्र निकुञ्जसीमनि समानीता किमु स्तम्भसे
मुक्तास्त्वत्कुचकुम्भगाः क्षपयतु श्यामः स सिंहीपतिः॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **अधिकप्रखरादूत्य—**ललिता अपनेसे न्यून अपनी किसी सखीको पुष्पचयनके बहाने वृन्दावनमें उस कुञ्जके समीप ले

आई जहाँ श्रीकृष्ण कुञ्जमें विराजमान हैं और अत्यन्त शठोक्तिपूर्वक कहने लगी—"हे शम्भलि दूति! बहुत दिनोंके बाद तुम मेरे हाथमें आई हो। व्याकुल होकर कुछ प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुमने मुझे सदैव अभिसार कराकर जीर्णशीर्ण बना दिया है। आज सौभाग्यवश तुम मेरे पास आई हो। मैं तुम्हारे पूर्व कर्मोंका आज प्रतिदान दूँगी। तुम इस निकुञ्जके निकट आकर भी निस्तब्ध क्यों हो रही हो? आज यह श्यामवर्णका सिंह तुम्हारे कुचरूपी कुंभपर स्थित मुक्ताओंको अपने बलवीर्यके पराक्रमको दिखलाकर सिंही सदृश तुम प्रगल्भाकी मध्यवर्ती मुक्तामालाको सुरत-संग्राममें छिन्न-भिन्न करें॥"७१॥

लोचनरोचनी—शम्भली दूतीभेदः। आकुलं व्याकुलं यथा स्यात्तथा काकुं मा कृथाः। निष्क्रयं स्वस्मिंस्त्वत्कृत्यस्य खेदनस्य परिवर्त्तम्। अनेनाभिसारैरित्यत्र त्वत्कृतैरित्येव लभ्यते। समानीतेत्यत्र मया नीतेति वा पाठः। वास्तवार्थे सिंहीपतिरिति रूपकम्। किन्तु सिंह इत्यनुक्त्वा सिंहीपतिरित्युक्तिः सिंहीसदृशीनां पतिरिति प्रतिपाद्य तस्य तादृशचेष्टिते प्रागल्भ्यं दर्शयति॥७१॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता स्वतो लघुं सखीं प्रत्याह—हे शम्भलि! आकुलं यथा स्यात्तथा काकुं निष्क्रयं बहुधा त्वया दत्तस्य मत्कष्टस्य परिवर्त्तम्। तदेव स्वकष्टं सूचयन्त्याह—शीर्णेति। अभिसारैस्त्वयैव निष्पादितैरिति भावः। स्तम्भसे किमिति स्तब्धीभवसि। यद्दत्तं तद्भुज्यत इति न्यायेन तुभ्यमहं प्रतिफलं ददाम्येव का त्वयि मे दयेति भावः। क्षपयतु तत उत्कृत्य इतस्ततो विकिरतु। स दृप्तो हरिरिति श्लिष्टमनुक्त्वा सिंहीपतिरित्यतिशयोक्तिस्वीकारेण तस्यातितारुण्यद्योतनया त्वामधिकं सुरतैर्व्याकुलयिष्यतीति ज्ञापितम्। किम्वा त्वं हस्तिन्यप्यद्य सिंहीसाधर्म्यं लप्स्यसे। यद्वा स सिंहीपतिरपि स्त्रीमात्रलाम्पट्यात् त्वयि हस्तिन्यामपि रमताम्, सर्वथैव सुरताधिक्यं विवक्षितम्॥७१॥

अथाधिकमध्यादूत्यम्—

व्यथयसि सदा मां वाग्भङ्ग्या शनैरनुशिष्य यं,
छलयसि च मां भ्रूनर्तक्या विनूद्य यमुद्धते।
अयमिह वशीकृत्य स्वैरी मयाप्युपलम्भित-
स्त्वयि वितनुतां कृष्णः पद्मी स पद्मिनि विभ्रमम्॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—अधिकमध्यादूत्य—विशाखा अपनेसे न्यून अपनी प्रियसखीको श्रीकृष्णके समीप लाकर किञ्चित् वाम्यभावके द्वारा उसकी

सुरतविलासमें अनिच्छा जानकर समझा रही है—"हे सखि! तुमने वाक्यभङ्गीके द्वारा धीरे-धीरे शिक्षा देकर सदैव मुझे श्रीकृष्णके प्रति अभिसार कराकर क्षुब्ध किया है। अपनी भ्रू-नर्तकीके द्वारा वञ्चनापूर्वक मेरा अभिसार कराया है। आज उस स्वच्छन्द श्रीकृष्णको मैं वशीभूत कर तुम्हारे समीप लाई हूँ। हे पद्मिनि! वह कृष्णवर्णवाला पद्मी (हस्ती) तुम पद्मिनी-नायिकाके साथ विलास करे॥"७२॥

लोचनरोचनी—अनुशिष्य शिक्षयित्वा। उपलम्भितः प्रापितः। उपयापित इति वा पाठः। छलयसि पूर्वं निःशङ्कतां व्यज्य पश्चात्तद्वारा कदर्थयसि सोऽयमित्यन्वयः। अयमित्यत्र द्रुतमिति वा पाठः। पद्मी हस्तिवर्यः। हे पद्मिनि॥७२॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा स्वतो लघुं सखीं कांचिद् व्याजेन श्रीकृष्ण-समीपमानीयाह—व्यथेति। यं वाग्भुङ्ग्यानुशिष्य शिक्षयित्वा मयि प्रेर्य्येत्यर्थः। मां व्यथयसि खेदयसि व्यथावर्तीं करोषीति वा। व्यथात्राधरस्तनादौ क्षतसंबन्धिनी ज्ञेया। तथा त्वमत्रैव पुष्पाणि चिनु श्रीकृष्णोऽत्र नायास्यति यदि वा आयास्यति तदप्यहमेव त्वां रक्षिष्यामि धर्मस्यैव शपथ इति मयि विश्वासमुत्पाद्य पुनर्भ्रूनर्तक्यायं विनुद्य कृष्ण! निःशङ्कमेवास्या अङ्गानि स्पृश अहमेव ते सहायेति भ्रूनर्तनेनोपदिश्य मां छलयसि वञ्चयसि। अयं श्रीकृष्णो मया वशीकृत्य त्वयि प्रापितः, त्वया बहुधा कृतस्य दौरात्म्यस्यैकवारमपि परिशोधं कर्तुमुचितमिति भावः। स्वैरी यद्यपि स्वच्छन्दचारी त्वामनिष्टाम्। मामेवेच्छतीत्यर्थः। तेन वक्तव्यायाः सख्या लघुत्वं ज्ञाप्यते। किञ्चास्य स्वैरित्वे तद्भ्रूरेव कारणमिति व्यञ्जितमपि स्वसौभाग्यमपलपितं ज्ञेयम्। पद्मी हस्ती। विभ्रमं विलासम्। हे पद्मिनि! हस्तिनीति तत्रौचित्यम्। श्लेषेण हे कमलिनीति सुरताधिक्यं च द्योतितम्॥७२॥

अधिकमृद्वीदूत्यम्—

अनुदिनमभिसारं कारितास्मि त्वयाहं,
कुसुमितरविकन्यातीरवन्याकुटीषु ।
सकृदहमकृतज्ञा त्वां पुरः कुञ्जमध्ये,
यदियमुपनये का निष्कृतिस्ते ततोऽभूत्॥७३॥

तात्पर्यानुवाद—अधिकमृद्वीदूत्य—एक दिन चित्रा अपनी सखीको श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करानेके लिए पुष्पचयनके बहाने वृन्दावन लाकर श्रीकृष्णके समीप भेज रही है। सखी द्वारा उससे असम्मति प्रकाश करनेपर चित्रा उसके द्वारा किए हुए उपकारको स्नेहपूर्वक प्रकाशकर

कह रही है—"हे सखि! तुमने प्रतिदिन यमुनाके तटपर पुष्पित कुञ्जकाननमें मेरा अभिसार कराया है। मैं अकृतज्ञ तुम्हारा अभिसार नहीं करा सकी। इसलिए यदि तुमको एकबार भी इस अग्रवर्ती कुञ्जमें प्रवेश करा सकूँ, तभी मैं तुम्हारे ऋणसे उऋण हो सकती हूँ॥"७३॥

लोचनरोचनी—ते—इति कर्मणि षष्ठी। निष्कृतिः प्रत्युपकारः। "अनुदिनमभिसारं कारिताहं त्वया या हरिमनु रविकन्यातीरवन्याकुटीषु। सकृदियमकृतज्ञां त्वां तदीयं समीपं समनयमिह कास्मिन्निष्कृतिस्ते मयास्ति॥" इति वा पाठः॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—पुष्पाहरणनिदेशेन मां गृहादानीय संप्रति कुञ्जं प्रविशेति यद्ब्रूषे तत् किं मामभिसारयसि? हन्त हन्त किंकर्यहं त्वया किमभिसारयितुमुचितेति विनयवतीं कांचित् सखीं चित्राह—अनुदिनमिति। निष्कृतिः प्रत्युपकारः॥७३॥

अथ द्विसमात्रिकम्—

समानां प्रखरा–मध्या–मृद्वीनां तु परस्परम्।
दूत्यं च नायिकात्वं च समं ता द्विसमास्ततः॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—द्विसमात्रिक—समानुभावा प्रखरा, मध्या और मृद्वी—इन तीनोंका परस्पर दूत्य और नायिकात्व सम्भव होनेके कारण ये 'द्विसमा' कही जाती हैं॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—समं तुल्यं स्यात्ततो हेतोस्ता द्विसमाः॥७४॥

तत्र समप्रखरादूत्यम्—

प्रागेकान्तरमेव निश्चितमभूदन्योन्यदूत्यं हि नौ,
वारस्तत्र तवायमस्तु करवै दूत्यं तथाप्यद्य ते।
भ्रूभङ्गं सखि मुञ्च मण्डय तनुं यद्याचते मामसौ,
सव्या ते स्फुरती दृगद्य मृगये गोष्ठाङ्गणे माधवम्॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **समप्रखरादूत्य—**श्रीमती राधिकाने समप्रखरा दो सखियोंको पर्याय क्रमसे एकको दूसरीकी दूती होनेके लिए नियुक्त किया। एक समय, उनमेंसे पहली दूसरीको अपने दूत्य–दिवसमें आकर–इङ्गितके द्वारा क्रीड़ाकी इच्छा रखनेवाली जानकर बोली—"हे सखि! पहलेसे ही एक दूसरेके लिए एक दिन मेरी पारी और दूसरे दिन तुम्हारी

पारीके लिए दूत्य स्थिर रहनेपर भी आज मैं तुम्हारे लिए दौत्य करूँगी। भ्रू-संकुचित मत करो, जाओ अपने अङ्गोंको भूषणादिके द्वारा सजाओ और अपना श‍ृङ्गार करो; क्योंकि तुम्हारा बाँया नेत्र फड़ककर मुझसे यही प्रार्थना कर रहा है कि अब आज्ञा करो व्रजमें माधवका अन्वेषण करूँ॥"७५॥

लोचनरोचनी—एकमेकतरं दूत्यमन्तरं व्यवधानं यत्र तद्यथा स्यात्। वारोऽवसरः। तस्माद्गोष्ठस्याङ्गणे निकटदेशे माधवं मृगये॥७५॥

आनन्दचन्द्रिका—यूथेश्वर्याः परस्परं समाः सख्यस्तयैव परस्परदूत्ये सदा नियुक्ता एव स्युः। स्वयौथिकसखीमध्य इतिवत् तत्र समप्रखरयोः सख्योरेका द्वितीयामाह—प्रागिति। एकान्तरमेकदिनान्तरम्। एकान्तरोपवासवद्दिनपदं विनापि तदर्थप्रतीतिः, एकमेकतरं दूत्यमन्तरं व्यवधानं यत्र तदिति वा तद्गणनक्रमेण यद्यप्यद्यतनो वारोऽवसरो मम, तथापि तवास्तु। अत्र कारणं तत्पितुर्गेहात् सुगन्धवस्त्रालंकारभक्ष्यभोज्यादिसामग्री श्रीकृष्णोपभोगयोग्या तस्मिन्नेवाकस्मादागतेति तदर्थं तस्याः स्वाभिसारौत्सुक्यमन्तर्मनस्युत्थितमिति द्वितीयया सख्या सहसावगतमिति ज्ञेयम्। यद् यस्माद् याचते तस्मादहं माधवं त्वदर्थं मृगयेऽन्वेषयामि, यद्वा किं याचत इत्यत आह मृगय इति॥७५॥

अथ सममध्यादूत्यम्—

त्वं न्यस्तासि मुरद्विषः शशिकले पाणौ मया गम्यते
दूती हन्त तवाहमेव कमले किं धिङ्मृषा जल्पसि।
इत्यन्योन्यविलक्षण प्रणयितामाधुर्यमुग्धो हरि-
र्दोर्भ्यां ते हृदये निधाय युगपत्पश्योन्मदः खेलति॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—सममध्यादूत्य—एक दिन श्रीराधाकी दो प्रियसखियों—कमला और शशिकलामें यद्यपि एककी ही दौत्यकी पारी थी, तथापि श्रीकृष्णके निकट आनेपर एक दूसरेके लिए दौत्यकी इच्छा करनेपर श्रीकृष्ण दोनोंको ही अपनी दोनों बगलमें एक ही साथ लेकर क्रीड़ा करने लगे। इसपर अन्य कोई प्रियसखी श्रीराधाको कह रही है—"कमलाने शशिकलासे कहा—'हे शशिकले! मैं तुमको मुरारिके हाथोंमें समर्पणकर जा रही हूँ।' शशिकलाने कहा—'हे कमले! आज मैं तुम्हारी दूती होकर आई हूँ। क्यों अधिक वृथा बातें कर रही हो?' इस प्रकारसे उन दोनोंके

एक दूसरेके प्रति प्रणय–माधुर्यको देखकर परमोल्लास विशिष्ट हरि एक ही साथ दोनोंको अपनी दोनों भुजाओंसे ग्रहणकर अपने वक्षपर धारणकर उन्मत्त हो क्रीड़ा कर रहे हैं। इधर देखो तो सही॥"७६॥

लोचनरोचनी—अहमेव तव दूती न तु त्वं मम दूतीत्यर्थः॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—रङ्गदेव्याः सख्योः कमला–शशिकलयोरुक्तिप्रत्युक्ती। रतिमञ्जरीं रूपमञ्जरी दर्शयति—त्वं न्यस्तेति॥७६॥

यथा वा—

क्व मालतिकयार्पिता चलसि माधवि त्वं मम,
क्व माधविकयार्पिता त्वमपि यास्यलं मालति।
असंभवसहोद्गमे रहसि कृष्णभृङ्गो युवा,
युवामिह धयन्नयं वहतु कञ्चिदानन्दथुम्॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्ववत् मालती और माधवी नामकी श्रीराधाकी दो सखियाँ श्रीकृष्णके निकट क्रीड़ाके लिए परस्परको नेत्रभङ्गीके द्वारा सूचना कर रही थी, उनको ऐसा करते देख श्रीकृष्णने उन दोनोंको ही अवरोधकर युक्तिसङ्गत वचन कहे—"हे माधवि! तुम कहाँ जाओगी? क्योंकि दूती मालतीके द्वारा मुझे समर्पित हुई हो।" यह बात सुनकर मालती कुछ पीछे हटनेपर, उससे भी बोले—"तुम कहाँ जा रही हो? क्योंकि दूती माधवीने तुम्हें मुझे समर्पित किया है।" तब दोनोंने कहा—"यह कैसी बात है? तुम तो सदा एक ही के साथ विहार करते हो। आज भी वैसा ही हो। मुझे किसलिए रोक रहे हो?" तब श्रीकृष्ण अपनी अभीष्टक्रीड़ाकी अभिलाषा प्रकाश करते हुए (श्लेषार्थसे दोनोंकी ही पुष्पलता वाचकार्थ अङ्गीकारपूर्वक) युक्ति दिखला रहे हैं—"शरत् और वसन्तमें क्रमसे उदित होनेवाली माधवी और मालती दोनोंका एकत्र एक ही साथ उदय होना असम्भव होनेपर भी, हे सखियों! आज कृष्णरूपी युवाभृङ्ग तुम दोनोंको ही एक साथ पानकर अनिर्वचनीय आनन्दोत्सवको प्राप्त हो॥"७७॥

लोचनरोचनी—क्व मालतीति श्रीकृष्णवाक्यम्। मम मयि असंभवसहोद्गमत्वं पुष्पपक्षे कविसंप्रदायानुसारेण मालत्याः शरदि माधव्या वसन्ते पुष्पितत्वाद् युगपत् प्रकाशलक्षण उदयो नास्तीति॥७७॥

आनन्दचन्द्रिका—समयोः सख्योः पारस्परिकवचनस्य माधुर्यमुदाहृत्य तत्र श्रीकृष्णस्यापि तदाह—यथावेति। विशाखायाः सख्यौ माधवीमालत्यौ परस्परदूत्यकारिण्यौ प्रति श्रीकृष्ण आह—क्वेति। हे माधवि! त्वं मम मदीया क्व चलसि। कुतोऽहं त्वदीयेत्यत आह—मालतिकयार्पिता, हे कृष्ण! इयं माधवी सखी तुभ्यं मया दत्तेति। अनया दत्तत्वादित्यर्थः। एवं हे मालतीत्यादि। युवां धयन् पिबन्। कीदृश्यौ? असंभवः सहैवोद्गमो ययोः ते। न हि द्वे नायिके रहस्येकदैव नायकमुपगच्छत इत्यर्थः। पुष्पपक्षे नहि माधवीमालत्यौ वसन्तशरद्विकासिन्यावेकदैव भृङ्गः पिबतीति कविमर्यादैवात्र ग्राह्या। लोकमर्यादायान्तु वसन्ते माधवीमालत्यौ पुष्पाणि धत्त एव॥७७॥

अतीवाभेदमधुरं सौहृदं सममध्ययोः।
विरलं शक्यते ज्ञातुं किन्तु प्रेमविशेषिभिः॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—सममध्या दो सखियोंका परस्पर सौहार्द—अत्यन्त अभिन्नताके कारण मधुर और सर्वत्र असुलभ, किन्तु प्रेमविशेषज्ञ ही इस तत्त्वको जानते हैं॥७८॥

अथ सममृद्वीदूत्यम्—

द्रुतमनुसरन्मन्दराक्षीं मुकुन्द निवर्त्तय,
व्रजति निभृतं या कुञ्जान्तःकुटीमुपनीय माम्।
इति तव सखीवाक्येन त्वामहं सुखमाह्वये,
स्फुरति हि मुहुर्मध्ये तिष्ठन्विधुः समतारयोः॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—सममृद्वी दूत्य—श्रीराधिकाकी प्रियसखी मन्दाराक्षी अपनेसे अभिन्न अन्य सखीके दूत्यके दिन श्रीकृष्णके निकटसे छिपकर अपने घर लौटने लगी। अभिसारके लिए आई हुई सखी श्रीकृष्णसे बोली—"हे मुकुन्द! बड़ी द्रुतगतिसे लौटती हुई मन्दाराक्षीको निषेध करो। वह मुझे कुञ्जभवनमें लाकर स्वयं छिपकर यहाँसे भाग रही है।" कृष्ण मन्दाराक्षीसे बोले—"तुम्हारी सखीकी इन बातोंसे ही मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। दो समान नक्षत्रोंके बीचमें ही चन्द्रमा अधिकाधिक रूपसे सुशोभित होता है अर्थात् तुम दोनोंके बीचमें शयन करके मैं अनिर्वचनीय सुखशोभा प्राप्त करूँगा॥"७९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मन्दराक्षी नाम्नीं श्रीराधासखीमाह—द्रुतमिति। द्रुतमनुसरन् पश्चाद्गच्छन् सन् त्वमेव निवर्त्तय। अहं तु मृदुत्वात्तस्या दूत्यपि तां

निवर्त्तयितुं न शक्ष्यामीति भावः। मां कुटीमुपनीयेति। मद्दूत्यं मृषैव कृत्वेति भावः॥ सखीवाक्येनेति। यस्यास्त्वं दूत्यमकार्षीः सा तव सख्येव तद्दूत्यं करोतीति मम को दोष इति भावः। नन्वेकदैव द्वे नायिके एकस्मिन् रहो गृहान्तर्नायको रुन्धे इति कुत्रत्यो विचार इत्यत आह—स्फुरति हीति। तेनाद्यैकस्यामेव शय्यायां युवयोर्मध्ये शयित्वा कांचिच्छोभामेव प्राप्स्यामीति भावः॥७९॥

अथ सखीप्रायात्रिकम्—

लघूनां प्रखरामध्यामृद्वीनां प्रायशः सदा।
दूत्यं भवति तेनेमाः सखीप्रायाः प्रकीर्तिताः॥८०॥

तात्पर्यानुवाद—सखीप्रायात्रिक—आपेक्षिकलघु प्रखरा, मध्या और मृद्वी, ये तीनों सखियाँ प्रायः सब समय दूतीकार्यमें नियुक्त रहती हैं। इसलिए इनको सखीप्राया कहते हैं॥८०॥

आनन्दचन्द्रिका—लघूनामापेक्षिकलघूनाम्। प्रायग्रहणादात्यन्तिकाधिकया आपेक्षिकाधिकया वा। कदाचिदस्या दूत्येः कृते पूर्वपूर्वोक्तयुक्त्या नायिकापीयं भवति॥८०॥

तत्र लघुप्रखरादूत्यं यथा गीतगोविन्दे—

त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमिति श्रान्तो भृशं तापितः
कन्दर्पेण च पातुमिच्छति सुधासंबाधबिम्बाधरम्।
अस्याङ्कं तदलंकुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलव-
क्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः संभ्रमः॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—लघुप्रखरादूत्य—कलहान्तरिता दशाके अन्तमें श्रीकृष्ण द्वारा विभिन्न प्रकारसे अनुनयकर प्रसन्न करनेपर भी कुछ-कुछ मानके अंश शेष रहनेपर श्रीराधिका लज्जावशतः उनके समीप जानेमें अनिच्छुक होनेपर उनकी प्रियसखी तुङ्गविद्या कह रही है—"हे सुन्दरि! ये नागरेन्द्र बहुत समय तक तुमको अपने चित्तपर वहन करनेके कारण श्रान्त—क्लान्त हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे कन्दर्पके तापसे भी अत्यन्त सन्तप्त हो रहे हैं। इसलिए तुम्हारे सुधापूर्ण बिम्बफल जैसे अधरोंका पान करनेकी इच्छा कर रहे हैं। (अधरसुधापानसे उनकी क्लान्ति और ताप भी एक ही साथ दूर होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होगी।) इसलिए

क्षणकालके लिए उनकी गोदको सुशोभित करो। तुम्हारी लज्जा और सम्भ्रमका तो कोई कारण नहीं है; क्योंकि तुमने इनको अपनी भ्रूभङ्गीकी शोभासे ही मोल ले लिया है। इसलिए मैं कहती हूँ कि क्रीतदासकी भाँति इनसे सम्भ्रम, गौरव या लज्जा करनेकी आवश्यकता नहीं है। अहो! उन्होंने तो तुम्हारे चरणोंकी बहुत बार उत्तम रूपसे सेवा भी की है। इसलिए परम दुर्लभतम वस्तु जब अल्प मूल्यमें ही मिल गई तो तुम्हारे लिए अलभ्य लाभ ही हुआ।" इसलिए अभी तुरन्त इनकी गोदमें शयन करो॥"८१॥

आनन्दचन्द्रिका—तुङ्गविद्या श्रीराधां प्रत्याह—त्वामिति। अयमिति। श्रान्तस्तव सुधाव्याप्तं बिम्बाधरं पातुमिच्छति। श्रमकारणमाह—त्वां चिरं वहन्निति। स्ववाहनायेति श्रान्तायाहारादिकं दीयत एवेति न्यायस्तत्रापि कंदर्पेण तापितः पञ्चभिर्विषमबाणैरित्यर्थः। अतस्तापितोऽप्यतिश्रान्तोऽपि त्वां वहन्नेवास्तीति पश्यास्य प्रेमदार्ढ्यमिति भावः। ननु कन्दर्पेण तापने को हेतुस्तत्र तदेवाह—त्वां चित्तेन चिरं वहन्निति। तस्यायमभिप्रायः—चित्तं मम जन्मभूमिस्तेन कथमिमां वहसि, चेद्भद्रमिच्छसि तदेनां परित्यज्य किम्वा वक्षसि वहेति, अस्य तु त्वद्वहनव्रते प्रौढिरेवाभूत् वरं कष्टैः प्राणांस्त्यक्ष्यामि तदपि वहन्नेव स्थास्यामीति। तस्मादहमुद्भूतदया त्वत्सखी त्वां प्रार्थये अस्याङ्कमलंकुरु। त्वामसौ वक्षसा वहत्वित्यर्थः। कन्दर्पोऽपि प्रसीदतु दाहश्च प्रशाम्यत्विति भावः। ननु पूर्वं "याहि माधव याहि केशव" इत्यादिना परुषमुक्ते तदपि प्रिये चारुशीले इत्यादि चाटुशतं कुर्वाणेऽपि प्रसादमनाविष्कुर्वत्यहं संप्रति लज्जासाध्वसाभ्यां संभ्रान्तास्मीत्यत आह—भ्रूक्षेपेति। अयमर्थः। त्वद्भ्रूक्षेपसंपल्लेशमेव स्वमूल्यं प्राप्यानेन स्वात्मा विक्रीतः, त्वया तु संपूर्णैव भ्रूक्षेपसंपद्दत्तेति ऋणीकृत्य मूल्यक्रीताद्दासादप्ययं न्यूनीकृतः; अतएव इवशब्दः। किञ्च किं वक्तव्यं तवौदार्यमित्याह—उपसेवितेति। अयं दासोऽपि भवितुं योग्यतां न धत्ते तदपि त्वद्दत्ते पदरूपेऽम्भोजे उपसेवितवान् स्वनासाभ्यामाधिक्येनाघ्रातवान्। अम्भोजयोः सेवा घ्राणमेवेति युक्तिः। अतः पुनरपि त्वं पादौ प्रसारय पाणिभ्यामयं तौ धृत्वा जिघ्रतु तदलक्तरसेन स्वालकानप्यलंकरोत्विति गूढः परिहासध्वनिः। एवं क्रमेणाधरं पायय संपरिरम्भय रमय चेति प्रार्थनात्रयम्॥८१॥

अथ लघुमध्यादूत्यम्—

किमिति कुटिलितभ्रूश्चण्डि वृत्ताद्य सद्य–
स्त्वमिह कुसुमहेतोः सौहृदादाहृतासि।

व्रजनरपतिपुत्रं सन्तमन्तर्निलीय,
प्रियसखि तटकुञ्जे हन्त जाने कथं वा॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमध्यादूत्य—श्रीराधाकी कोई प्रियसखी पहलेसे ही सङ्केत द्वारा श्रीकृष्णको किसी कुञ्जमें छिपाकर अपने घरमें आ गई और अपनेसे अभिन्न किसी सखीको पुष्पचयन करनेके लिए उस कुञ्जमें ले आई। वहाँ पहलेसे उपस्थित श्रीकृष्णने उसे अवरुद्ध कर लिया। ऐसा देखकर प्रिय सखी, वनमें लानेवाली उस सखीके प्रति भ्रूभङ्गीके द्वारा अपना रोष प्रकट करने लगी। उसे रोष करते देख दूतीसखी कह रही है—"हे कोपने! मैं स्वबन्धुत्ववशतः तुमको पुष्पचयनके लिए यहाँ ले आई और तुम मुझपर भृकुटी तान रही हो? हे सखि! व्रजेन्द्रनन्दन यहाँ छिपे हुए हैं—यह मैं कैसे जानती, तुम्हीं बतलाओ?"॥८२॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधामाह—किमिति। सौहृदादिति। दक्षिणां न ददात्यब्राह्मणं च करोतीति न्यायः प्रत्यक्षीकृत इति भावः। अन्ये ध्वनयोऽत्र स्पष्टा एव॥८२॥

अथ लघुमृद्वीदूत्यम्—

कुञ्जगेहमवगाह्य माधवं सुप्तमत्र सिचयेन वीजय।
फुल्लमिन्दुकिरणैः कुमुद्वतीकोरकप्रकरमाहराम्यहम्॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—लघुमृद्वी दूत्य—शैब्या चन्द्रावलीसे कह रही है—"सखि! इस कुञ्जमें प्रवेशकर सोए हुए माधवको अपने अञ्चलसे वीजन करो। तब तक मैं चन्द्रकिरणोंसे छिटकती हुई चाँदनीरातमें कुमुदकी कलियोंका चयन कर लाऊँ॥"८३॥

आनन्दचन्द्रिका—शैब्या चन्द्रावलीमाह—कुञ्जेति॥८३॥

आसां मध्ये भवेत्काचिन्नायिकात्वे दराग्रहा।
तस्मिन्ननाग्रहा काचित्सख्यसौख्याभिलाषिणी॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—इन आपेक्षिकाधिकादि तीन प्रकारकी सखियोंमें कोई-कोई नायिकात्वमें कुछ-कुछ उत्कण्ठित रहती है और कोई-कोई नायिकात्वके विषयमें अनिच्छुकतावशतः अपनी सखीके सुखके लिए

अभिलाषा करती हैं। (यहाँ चक्रवर्तीपाद दिखला रहे हैं कि जो नायिकाएँ नायिकात्वमें कुछ–कुछ आग्रह रखती हैं, उनका वह आग्रह भी यूथेश्वरीके आग्रह और अनुरोधसे ही है, ऐसा समझना होगा। यूथेश्वरीके आग्रह दो प्रकारके होते हैं—अपने कान्तकी कामपूर्तिके लिए और अपनी सखी–विषयक स्नेहसे। सखी भी दो प्रकारकी होती हैं—श्रीकृष्णके लिए अत्यन्त लोभनीय सुन्दर देहवाली एवं न–अतिलोभनीय देहवाली—प्रथम पक्षवाली सखियोंमें दोनों प्रकारके आग्रह ही ग्रहणीय हैं, किन्तु द्वितीय पक्षीयामें द्वितीय प्रकारका आग्रह ही देखा जाता है। मेरी सुकुमारी सखी कामसमुद्र स्वकान्तको सम्पूर्ण रूपसे रतिदानमें असमर्थ हो रही है, इसलिए इसकी सहायता करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा सोचकर प्रथमा कुछ आग्रहवती होती हैं। द्वितीय प्रकारवाली किन्तु, अपनी देहके प्रति श्रीकृष्णका अल्प लोभ जानकर भी अपने द्वारा सहायता असम्भव मानकर यूथेश्वरी एवं उनकी सौभाग्यवती सखियोंका श्रीकृष्णसे सम्भोग कराकर ही अपनी यूथेश्वरीको सुख देनेकी इच्छाकर नायिकात्वके प्रति आग्रहवती नहीं होतीं।) ॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—आसामापेक्षिकाधिकानां तिसृणाम्। दराग्रहेति। आग्रहोऽयं यूथेश्वर्य्या आग्रहानुरोधेनैव मन्तव्यः। अस्या आग्रहश्च द्विविधः—स्वकान्ताकामपूर्त्त्युत्पादन–हेतुकः, स्वसखीविषयस्नेहहेतुकश्च, सख्योऽपि द्विविधाः—श्रीकृष्णस्यातिलोभनीयगात्र्यः, नातिलोभनीयगात्र्यश्च। तत्र प्रथमासु प्रथम एवाग्रहः, द्वितीयासु द्वितीय एव। सुकुमार्य्यानया स्वकान्ताय कामसमुद्राय संपूर्णरतिदानासमर्थया तदर्थं वयमपि नियुज्यामहे, तदस्याः साहाय्यं कुर्म इति नायिकात्वे प्रथमा ईषदाग्रहवत्यो भवन्ति। द्वितीयास्तु स्वेषु श्रीकृष्णलोभस्याल्पतां जानत्यः स्वैस्तादृशसाहाय्यानतिसंभवं मन्यमानास्तां तत्सखीश्च सौभाग्याधिकाः स्वप्रयत्नैः श्रीकृष्णेन संभुज्यैव तां सुखयितुमिच्छन्त्यो नायिकात्वेन आग्रहवत्यो न भवन्तीत्याह—तस्मिन्निति ॥८४॥

तत्राद्या यथा—

लेखामाहर नीपकुञ्जकुहरात्त्वं चन्द्रकाणां मया,
न्यस्तानामिति मद्गिरा सरभसं स्मेरा स्वयं प्रस्थिता।
तामुन्मुच्य मदीरितां शशिकले किं चन्द्रलेखाशतं,
चेलेनावृतमन्यदेव दधती लब्धासि नम्रा गृहम् ॥८५॥

तात्पर्यानुवाद—नायिकात्वके प्रति अल्पोत्सुका—श्रीमती राधिकाने अपनी प्रियसखी शशिकलाको मयूरपुच्छ लानेके बहाने श्रीकृष्णके समीप भेजा। तत्पश्चात् श्रीकृष्णके साथ यथेष्ट विहारकर जब वह लौटकर अपने कुञ्जगृहमें आयी, तब उसे देखकर श्रीमती राधिका उससे हास-परिहासकर कह रही हैं—“मैंने तुम्हें कदम्बकुञ्जमें अपने भूलसे छोड़े हुए मयूरपुच्छोंको लानेके लिए कहा और तुम भी हँसती हुई तीव्रगतिसे वहाँ चली गई। हे शशिकले! एक चन्द्रलेखाको त्यागकर तुम सैंकड़ों चन्द्रकश्रेणियोंको (नखक्षत) लेकर वस्त्रोंसे ढककर और मुखको नीचे किए हुए लौट रही हो, बात क्या है?” ॥८५॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितादिसखीं श्रावयन्ती श्रीराधा शशिकलां परिहसन्त्याह—लेखामिति। लेखां श्रेणीम्। अत्र सरभसेति पदत्रयं तस्या नायिकात्वाग्रहं सूचयति। नम्रेति। चन्द्रकाणामेकैव लेखा आनेतुमुक्ता। त्वया तु लेखाशतमानीतं तदपि किं लज्जसे किन्तु प्रगल्भस्येति भावः ॥८५॥

द्वितीया यथा—

मां पुष्पाणामवचयमिषाद्वृन्दशो मा प्रहैषी–
र्वृन्दारण्ये परमिह भवद्दुःखभीत्या प्रयामि।
सत्यं सत्यं सुमुखि सखितासौख्यतस्ते मम स्या–
न्न स्वादीयानघविजयिनः केलिशय्याधिरोहः ॥८६॥

तात्पर्यानुवाद—सखीसुखाभिलाषिनी—श्रीराधिकाकी कोई प्रियसखी श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गकी स्पृहासे रहित होनेपर श्रीमती राधिका द्वारा पुनः-पुनः पुष्पचयनके बहाने श्रीकृष्णके समीप प्रेरित हो रही है। उस समय वह सखी श्रीराधाकी आन्तरिक अभिलाषाको समझकर अपनी अभिलाषाको राधिकाके निकट निवेदनकर उनके आदेशका प्रत्याख्यान कर रही है—“हे सुमुखि! पुष्पचयनके बहाने मुझको पुनः-पुनः वृन्दावन मत भेजो। नहीं जानेसे तुम दुखी होओगी, इसलिए मैं अब तक जाती थी, किन्तु मैं सच कह रही हूँ कि तुम्हारा सख्यसुख ही मुझे अधिक प्रिय है। केलिशय्यापर आरोहण करना मेरे लिए वैसा सुखकर नहीं है॥”८६॥

लोचनरोचनी—वृन्दश इति वारं वारमित्यर्थः ॥८६ ॥

आनन्दचन्द्रिका—यूथेश्वर्या दूत्यमसहमाना काचित्तामाह—मामिति। वृन्दशो बहुशः। वारं वारमित्यर्थः ॥८६ ॥

अथ नित्यसखी—

सख्येनैव सदा प्रीता नायिकात्वानपेक्षिणी।
भवेन्नित्यसखी सा तु द्विधैकात्यन्तिकी लघुः।
आपेक्षिकलघूनां च मध्येऽन्या काचिदीरिता ॥८७ ॥

तात्पर्यानुवाद—नित्यसखी—नायिकात्वमें आग्रह न रखकर सदैव सखीके सुखमें ही प्रसन्न रहनेवाली सखियोंको नित्यसखी कहा जाता है। वे आत्यन्तिकलघु और आपेक्षिकलघुके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। आपेक्षिकलघु सखियोंमें पहले जो नायिकात्वके प्रति अनाग्रह रखनेवाली और अपनी सखीके सुखकी अभिलाषिणीके रूपमें कही गई, वे ही द्वितीय भेदकी श्रेणीमें हैं ॥८७ ॥

आनन्दचन्द्रिका—ईरिता पूर्वमुक्ता। "तस्मिन्ननाग्रहा काचित्। सख्यसौख्याभिलाषिणी।" इत्युक्ता या सा, कापि नित्यसखीत्यर्थः ॥८७ ॥

यथा—

त्वया यदुपभुज्यते मुरजिदङ्गसङ्गे सुखं,
तदेव बहु जानती स्वयमवाप्तितः शुद्धधीः।
मया कृतविलोभनाप्यधिकचातुरीचर्य्यया,
कदापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ॥८८ ॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाके यूथमें मणिमञ्जरी आपेक्षिकलघु सखी है। एक समय श्रीमती राधिकाने वृन्दाको मणिमञ्जरीका श्रीकृष्णके निकट अभिसार करानेके लिए आदेश दिया, किन्तु मणिमञ्जरीने अभिसार नहीं किया। इसी वृत्तान्तको वृन्दा सखीसमाजमें श्रीमती राधिकाके निकट आश्चर्य प्रकाश करती हुई निवेदन कर रही है—"हे राधे! तुम श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गसे जो सुखभोग करती हो, उस सुखको ही वह अपने आत्मसुखसे भी अधिक समझती है। उसका कारण यह है कि वह निर्मल बुद्धिवाली

है। देखो तो सही, मेरे द्वारा बड़ी निपुणताके साथ नाना प्रकारके प्रलोभनसे श्रीकृष्णके निकट जानेकी प्रार्थना किए जानेपर भी मणिमञ्जरीने कभी भी श्रीकृष्णके निकट अभिसारमें स्पृहा प्रकाशित नहीं की॥"८८॥

आनन्दचन्द्रिका—मणिमञ्जरीमभिसारयेति श्रीराधया नियुक्ता काचित् सखी तां युक्त्याप्यभिसारयितुमसमर्था परावृत्य श्रीराधां तद्वृत्तमाह—त्वयेति। स्वयमवाप्तितः स्वेन श्रीकृष्णस्य या प्राप्तिस्तस्याः सकाशात् तदेवं सुखं बह्वधिकं जानती कृतविलोभनेति श्रीकृष्णाङ्गसङ्गसुखादन्यत् त्रिजगति नास्ति सुखमिति तदेकवारमनुभूय जानीहीति। चातुरीचर्य्ययेति। सखीत्वं नायिकात्वं च ललितादीनां सर्वासामेव समये समये स्यादेवेति। त्वमपि तादृश्येव भव किमिति सर्वतो लघुर्बुभूषसीति युक्त्योक्तापीत्यर्थः॥८८॥

यथा वा—

राधारङ्गलसत्त्वदुज्ज्वलकलासंचारणप्रक्रिया-
चातुर्योत्तरमेव सेवनमहं गोविन्द संप्रार्थये।
येनाशेषवधूजनोद्भटमनो राज्यप्रपञ्चावधौ,
नौत्सुक्यं भवदङ्गसंगमरसेऽप्यालम्बते मन्मनः॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकी कोई नित्यसखी एक समय श्रीकृष्णके द्वारा विहारके लिए प्रार्थना किए जानेपर भी अपनी अभिलाषाको प्रकट करती हुई श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णकी रहोलीलाकी ही सेवामें सर्वाभीष्ट पूर्तिकी स्थापना कर रही है—"हे गोविन्द! श्रीराधाके सहित कौतुक हेतु विराजमान तुम्हारी शृङ्गाररस-वैदग्धीके संघटनरूप परिपाटीकी सेवामें ही मेरी एकमात्र अभिलाषा है। इसके अतिरिक्त मेरे हृदयमें और कोई अभिलाषा नहीं है। इस प्रकार स्वसुखलेश-वर्जित सेवामें ही निखिल स्त्रीजातिका निर्बाध सर्वसौख्य-चरमावधि तक विराजमान रहता है, किन्तु तुम्हारे अङ्गसङ्गमें कदाचित् ऐसा सुख नहीं है। अतएव मैं तुम्हारे अङ्गसङ्गके लिए उत्सुक नहीं हूँ। मुझे अपनी चिरवाञ्छनीय वही सेवा दो, जिससे तुम दोनोंका मिलन कराकर मैं सुखी रह सकूँ॥"८९॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वितीयामुदाहर्तुमाह—यथावेति। तत्र मया सहात्रैव कुञ्जे क्षणं शयित्वा स्वजन्म सफलयेति श्रीकृष्णेनोक्ता काचिद्वनमालार्थं पुष्पाण्यवचिन्वती स्त्रीभावोचितं वाम्यचातुर्यं परित्यज्य यथार्थं ब्रुवाणा तं स्वमनोगतं प्रत्याययन्त्याह—

राधारङ्गेति। राधैव रङ्गः सुरतलास्यरङ्गभूमिस्तत्र लसन्ती या तवोज्ज्वलकला तस्यां शृङ्गारवैदग्ध्ये संचारणप्रक्रिया संचरणप्रयोजकताप्रकारस्तत्र यच्चातुर्यं तदेवोत्तरं प्रधानं यत्र तत्। येन सेवनेन लब्धेनाशेषवधूजनानामुद्भटो यो मनसि राज्यप्रपञ्चो मनोरथविस्तारस्याप्यवधौ अन्तसीमनि त्वदङ्गसङ्गसुखे मदीयं मनो नावलम्बते तेन त्वया सह स्वाङ्गसङ्गसुखादपि जालरन्ध्रादौ श्रीराधाङ्गसङ्गदर्शनोत्थं सुखमधिकमनुभूतं मन्मनसा नहि लब्धाधिकसुखा जना अल्पे सुखे प्रवर्तन्त इति भावः। ततश्च मास्तु तव सुखं मत्सुखं तु कुर्विति श्रीराधिकादत्तचर-मन्त्रणेन श्रीकृष्णेन सा बलात् संभुक्तैवेति ज्ञेयम्॥८९॥

तत्र तद्दूत्यं यथा—

अन्तः प्रविशति न सखी कुप्यति मे कुञ्जदेहली लीना।
तदिमां भङ्गुरितभ्रुवमनुनय वृन्दाटवीचन्द्र॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—इनका दूत्य—श्रीमती राधिकाकी कोई नित्यसखी श्रीराधाको घरसे अभिसार कराकर श्रीकृष्ण द्वारा विराजित सङ्केतकुञ्जके निकट लाई। श्रीमती राधिका कुञ्जमें प्रवेश करनेमें आनाकानी करने लगी तथा सखीके प्रति भृकुटी तानने लगी। ऐसा देखकर नित्यसखी श्रीकृष्णके सामने बोली—"हे वृन्दावनचन्द्र! मेरी सखी बहिर्द्वारमें विलीन होकर कुञ्जके भीतर प्रवेश नहीं कर रही है, प्रत्युत् मेरे प्रति कोपकर भृकुटी तान रही है। तुम इनको अनुनय-विनयपूर्वक प्रसन्नकर अपने निकट ले आओ॥"९०॥

आनन्दचन्द्रिका—तद्दूत्यं तयोर्दूत्योरपि दूत्यमेकप्रकारकमित्येकेनैव पद्येनाह—अन्तरिति। तदिमामित्यादिना स्वस्य मृदुत्वं लघुत्वं च ज्ञापितम्। त्रैविध्यसंभवेऽप्यस्या मृदुतैवोचितेत्युक्त्वात्॥९०॥

प्राखर्यं मार्दवं चापि यद्यप्यापेक्षिकं भवेत्।
तथापि विस्तरभयात्तद्विशेषोऽत्र नेरितः॥९१॥

प्राखर्यादिस्वभावोऽयं यथायथमुदीरितः।
देशकालादिवैशिष्ट्ये स्यादस्यापि विपर्ययः॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—प्राखर्य और मार्दव—ये दोनों आपेक्षिक हैं अर्थात् जो प्रखरा हैं, वे भी अतिप्राखर्यवतीकी तुलनामें मृद्वी हो जाती हैं और

जो मृद्वी हैं वे अतिमृद्वीकी अपेक्षा प्रखरा हो सकती हैं। इसलिए इनके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक नहीं कहा गया। यहाँ प्रखरादियोंके स्वभावका यथायथ वर्णन किया गया, किन्तु देश, काल और पात्रादिके वैशिष्ट्यसे उनके स्वभावमें कभी-कभी विपर्यय हो सकता है॥९१-९२॥

आनन्दचन्द्रिका—आपेक्षिकमिति। या प्रखरोक्ता साप्यति प्राखर्यवतीमपेक्ष्य मृद्वी कथ्यते, या च मृद्वी साप्यति मार्दववतीमपेक्ष्य प्रखरेत्यर्थः॥९१॥

तत्र प्राखर्यस्य विपर्ययो यथा—

ध्वान्तैर्गाढतमां तमीमगणयन्वृष्टिं च धारामयीं,
चण्डं चानिलमण्डलं सखि हरिर्द्वारं तवासौ श्रितः।
हा क्रोधं विसृज प्रसीद तरसा कण्ठे गृहाण प्रियं,
मूर्ध्नायं ललिताभिधस्तव पदं नत्वा जनो याचते॥९३॥

तात्पर्यानुवाद—प्राखर्यका विपर्यय—एक समय वर्षाकी रातमें घनी घटाओंके बीच दीर्घमानसे आक्रान्तचित्ता श्रीमती राधिका अपने मन्दिरके द्वारको बन्दकर सो गई। उनका मानभङ्ग करनेके लिए जब श्रीकृष्ण उपस्थित हुए, तब ललिता श्रीराधाको प्रणामकर काकु-विनतीपूर्वक अनुनय कर रही है—"हे प्रियसखि! अन्धेरी रात है, प्रचण्ड वृष्टिसे पृथ्वी जलमग्न हो रही है, उसमें भी प्रचण्ड आँधी आदिका विचार न कर हरि तुम्हारे द्वारपर उपस्थित हुए हैं। हे सखि! शीघ्र ही मानका विसर्जनकर प्रसन्न होकर प्रियतमको अपने कण्ठमें धारण करो। तुम्हारे चरणोंमें अपना मस्तक रखकर यह ललिता तुमसे प्रार्थना कर रही है॥"९३॥

लोचनरोचनी—ध्वान्तैरिति। ललितायाा एव वाक्यम्। अत्र श्रीराधायाः क्रोधस्तु ललिताभयात् छलमय एव ज्ञेयः॥९३॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्रीराधां ललिता प्राह—ध्वान्तैरिति। तमीं रात्रिम्॥९३॥

मार्दवस्य विपर्ययो यथा—

गुणस्तवनकूटतः कुटिलधीः सखि त्वामसौ,
कटाक्षितवती कथं तदपि नोज्झसि प्रश्रयम्।

रुषं कुरु करोषि चेन्मृदुतराद्य चित्राप्यसौ,
विधास्यति तदौचितीं हिमघटेव पद्मोपरि॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—मार्दवका विपर्यय—एक दिन चन्द्रावलीकी सखी पद्माको आया देखकर श्रीमती राधिकाने उससे पूछा—पद्मे! कहाँसे आ रही हो?

पद्माने उत्तर दिया—अपने घरसे आ रही हूँ।

श्रीमतीने पुनः जिज्ञासा की—इस समय तुम्हारी प्रियसखी चन्द्रावली क्या कर रही है?

पद्माने कहा—हे शोभनदशने! हमारी प्रियसखी केवल रोदन कर रही है।

श्रीराधाजीने कहा—किसलिए रोदन कर रही है?

पद्माने कहा—हे राधे! कान्तका विरह उपस्थित होनेपर भी तुम्हारे नेत्रोंसे अश्रुपात नहीं होता। इसलिए तुम्हारे समान धैर्य, गाम्भीर्यशालिनी और कौन है, जो कान्तके विरहमें आँसू न बहाती हो?

इस प्रकार प्रश्न और उत्तरके बाद पद्माके वहाँसे प्रस्थान करनेपर चित्रा उस कथोपकथनको दूसरे किसीके मुखसे श्रवणकर अनुताप करने लगी और श्रीमती राधिकाका तिरस्कार करने लगी—"हे प्रियसखि! कुटिल बुद्धि सम्पन्न पद्माने तुम्हारे गुणोंकी स्तुतिके बहाने तुम्हारे प्रति कटाक्ष किया और तब भी तुमने अपनी विनम्रताको परित्याग नहीं किया, तुम्हें क्रोध नहीं आया। हे सखि! तुम क्रोधका अवलम्बन करो। तुम्हें यदि क्रोधित होते देखूँ, तो अत्यन्त मृद्वी यह चित्रा पद्मके ऊपर हिमकणोंके फेंकने जैसा उसके (पद्माके) लिए उपयुक्त दण्डका विधान करेगी। जैसे हिमकणोंकी शीतलतासे पद्म जल जाते हैं, वैसे ही मेरे जैसी मृद्वीकी केवलमात्र उपस्थितिसे ही अर्थात् मेरे कुछ भी नहीं करनेपर भी चित्रा दण्डित हो जाएगी। अतः हे सखि! तुम क्रोध प्रकाश करो।" उक्त उदाहरणके द्वारा अत्यन्त मृद्वी चित्रासखीकी भी प्रखरताको दिखलाया गया है। यही मृदुताका विपर्यय है॥९४॥

लोचनरोचनी—उपरि श्लेषेण पद्मानामुपरि॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—"पद्मे! कुतः स्वसदनात् कुरुते सखी ते, किं सांप्रतं सुदति रोदिति कोऽत्र हेतुः। गाम्भीर्यधैर्यजलधिस्त्वमिवास्तु कान्या यन्नाश्रु कान्तविरहेऽपि बहिष्करोषि॥" इत्युक्तिप्रत्युक्तयनन्तरं गतायां पद्मायां चित्रान्यसखीमुखात्तत्तत्सर्वं श्रुत्वा सानुतापं सोपालम्भं श्रीराधामाह—गुणेति। कूटो व्याजः। "कूटोऽस्त्री निस्वने राशौ लोहमुद्गरदन्तयोः। मायाद्रिशृङ्गयोस्तुच्छे सीरावयवयन्त्रयोः॥" इति मेदिनी। कुटिलधीः पद्मा गुणस्तुतिव्याजेन त्वां कटाक्षितवती कटाक्षविषयीकृतवतीत्यर्थः। कटाक्षशब्देन सूच्यमाननिन्दोच्यते। अत्र तु लक्षणया तद्विषयकव्याजस्तुत्या त्वां निन्दितवतीत्यर्थः। अश्रु बहिर्न करोषीत्यनेनाश्रुणोऽपह्नोतुं शक्यत्वेन त्वत्प्रेम्णोऽल्पप्रमाणत्वमुक्तम्। प्रश्रयं विनयं विधास्यतीत्यधुनैवेतश्चलन्ती यत्र तां प्राप्स्यति तत्रैवेत्यर्थः। औचितीमौचित्यम्। हिमघटेवेति। शीतलमुद्रयैव मृद्व्याश्चित्राया औष्ण्यानौचित्यादिवेति भावः। पद्मायाश्चन्द्रावलीसख्या उपरि पद्मानामुपरीवेति सा शैत्येनैव ज्वलिष्यतीति भावः॥९४॥

दूत्यं तु कुर्वती सख्याः सखी रहसि संगता।
कृष्णेन प्रार्थ्यमानापि स्यात्कदापि न संमता॥९५॥

तात्पर्यानुवाद—सखीका यह धर्म है कि यूथेश्वरीका दौत्य करते समय यदि श्रीकृष्णके साथ निर्जन वनप्रदेशमें भेंट हो और श्रीकृष्ण उस सखीसे सुरतके लिए प्रार्थना भी करें, फिर भी वह उसके लिए सहमत नहीं होती॥९५॥

लोचनरोचनी—संमतेति सम्यगङ्गीकारिणीत्यर्थः। सम्यक् मतं यस्या इति विग्रहात्॥९५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रार्थ्यमाना सुरतमित्यर्थः॥९५॥

यथा—

दूत्येनाद्य सुहृज्जनस्य रहसि प्राप्तास्मि ते संनिधिं,
किं कंदर्पधनुर्भयंकरममुं भ्रूगुच्छमुद्यच्छसि।
प्राणानर्पयितास्मि संप्रति वरं वृन्दाटवीचन्द्र ते,
नत्वेतामसमापितप्रियसखीकृत्यानुबन्धां तनुम्॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—उदाहरण—श्रीराधाके द्वारा प्रेरित कोई दूती श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुई। श्रीकृष्ण उसे देखकर बारम्बार उसके प्रति

कटाक्षभङ्गी करने लगे। दूती उनके अभिप्रायसे अवगत होकर बोली—"हे गोविन्द! मैं अपने सुहृज्जनके दौत्यके लिए दूती बनकर तुम्हारे निकट आई हूँ। मैं उसकी अत्यन्त विश्वासपात्री हूँ। अतएव तुम मेरे प्रति भयङ्कर कन्दर्पधनुसे भ्रूरूपी बाण निक्षेप मत करो। हे वृन्दाटवीचन्द्र! मैं अपने प्राणोंको तुम्हारे प्रति समर्पण कर सकती हूँ, तथापि मैं तनुदान नहीं कर सकती; क्योंकि अभी इस तनुके द्वारा प्रियसखीका कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ है॥"९६॥

आनन्दचन्द्रिका—दूत्येन हेतुना प्राप्तास्मि किमिति तवेदं चेष्टितमनुचितमिति भावः। भ्रूगुच्छं भ्रूस्तबकमुद्यच्छस्युत्क्षिपसि। कंदर्पधनुषः सकाशादपि भयंकरं कामपीडाभयादेवेयं स्वहठं जहात्विति बुद्धयेति भावः। किञ्च तद्भयं मम हृदि नोत्पद्यते सुहृज्जने सौहार्दस्य प्राबल्यादिति भावः। ननु तर्हि बलात्कारं करिष्यामीत्यत आह—प्राणानिति। हे वृन्दाटवीचन्द्रेति। त्वं वृन्दावनस्य चन्द्रो निष्कलङ्क एव वर्तसे स्त्रीवधरूपकलङ्के जिघृक्षा चेद्गृह्यतामिति भावः। ननु त्वदभिलषितं दूत्यमहं तत्र गत्वा संपादयिष्याम्येव क्षणमात्रमिदानीं मदभिलषितं त्वदङ्गसङ्गं देहि मह्यमन्यथा मयि त्वं प्रेमशून्यैवाभूरिति चेत् सत्यं त्वयि मे स्वतः प्रेमा नास्त्येव किन्तु मत्प्रियसखीरमणत्वेनैवेत्यत आह—न त्वेतामिति। न समापितः प्रियसखीकृतस्यानुबन्धोऽपि यया ताम्। तेन मद्दूत्यस्य फलं मत्प्रियसख्या अङ्गसङ्गः स च साङ्गोपाङ्गो यावन्न भवेत्तावत्तनुं न दास्यामीति भावः। अत्रेदं कारणम्—सख्यं हि विश्वासमूलकं नायिकया स्वदूत्ये विश्वस्ता सखी यदि नायकेन निभृतं रमेत तदा विश्वासघाते सति सख्यस्य नाशे प्रेम्णो निर्मूलतायां कथय कथं रसः सेत्स्यतीति ज्ञेयम्। यस्तु काव्यप्रकाशे "निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं"—इत्यादिषु दूतीसंभोगः स च नायिकयापि सेर्ष्यया ज्ञातस्तदपि सख्यं ततो रसश्च। स तैरास्वाद्यतां नास्माभिः॥९६॥

मिथः प्रेमगुणोत्कीर्तिस्तयोरासक्तिकारिता।
अभिसारो द्वयोरेव सख्याः कृष्णे समर्पणम्॥९७॥

नर्माश्वासननेपथ्यं हृदयोद्घाटपाटवम्।
छिद्रसंवृतिरेतस्याः पत्यादेः परिवञ्चना॥९८॥

शिक्षा संगमनं काले सेवनं व्यजनादिभिः।
तयोर्द्वयोरुपालम्भः संदेशप्रेषणं तथा।
नायिकाप्राणसंरक्षा प्रयत्नाद्याः सखीक्रियाः॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—सखियोंकी क्रियाएँ—

(१) नायकके प्रति नायिकाके एवं नायिकाके प्रति नायकके प्रेम और गुणावलीका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करना।

(२) परस्पर नायकमें नायिकाकी आसक्ति वृद्धि कराना और नायिकामें नायककी आसक्ति वृद्धि कराना।

(३) इन दोनोंका परस्पर अभिसार कराना।

(४) श्रीकृष्णके निकट सखी समर्पण।

(५) परिहास।

(६) आश्वासन प्रदान कराना।

(७) नेपथ्य अर्थात् नायक-नायिकाकी वेश-रचना या उनका शृङ्गार करना।

(८) हृदयके उद्घाटनमें पटुता अर्थात् हृदयके भावोंको प्रकाश करनेमें दक्षता।

(९) छिद्रसंवृति अर्थात् नायिकाके दोषको गुप्त रखना।

(१०) पति, सास, ननद, देवरादिकी वञ्चना।

(११) हितोपदेश—नायक और नायिका दोनोंको यथोचित समयमें यथोचित शिक्षा प्रदान करना।

(१२) उचित कालमें नायक और नायिकाका मिलन कराना।

(१३) चामरादिके द्वारा उनका सेवन।

(१४) दोनोंके प्रति उपालम्भ अर्थात् कोई त्रुटि देखनेपर शिक्षादान।

(१५) दोनोंके प्रति आवश्यक होनेपर तिरस्कार।

(१६) सन्देश ले जाना और ले आना।

(१७) नायिकाकी प्राण रक्षाके लिए यत्न करना।

—सखियोंके ये सत्रह प्रकारके कार्य हैं॥९७–९९॥

लोचनरोचनी—द्वयोर्मिथः परस्परस्मिन प्रेमगुणोत्कीर्तिः। द्वयोः प्रेम्णो गुणस्य च यथावसरं द्वौ प्रत्युत्कर्षेण कथनमित्यर्थः। काले संगमनमित्यभिसारानन्तरं मेलनमित्यर्थं॥९७–९९॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वयोर्नायिकानायकयोर्मिथः परस्परं प्रति परस्परस्य प्रेम्णो गुणस्य चोत्कर्षेण कीर्तनं तयोः परस्परस्मिन्नासक्तिं कारयितुं शीलं यस्यास्तस्या

भावस्तत्ता। काले समुचितावसर इति सर्वत्र योज्यम्। क्रियाः सप्तदश। आद्यशब्दाद्विपक्षादिसखीनां गुर्वादेश्च विचिकीर्षितस्य मिथः कृतसंकेतस्य च ज्ञानं ज्ञापनं च विपक्षसखीभिर्वाग्युद्धं चेत्यादयो ज्ञेयाः॥९७–९९॥

तत्र कृष्णे सखीप्रेमोत्कीर्तिर्यथा पद्यावल्याम् (१८९)—

मुरहर साहसगरिमा कथमिव वाच्यः कुरङ्गशावाक्ष्याः।
खेदार्णवपतितापि प्रेमधुरां ते न सा त्यजति॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णमें सखीप्रेमोत्कीर्त्ति—कलहान्तरिता श्रीराधाकी प्रियसखी विशाखा किसी समय श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर श्रीमतीकी विरहार्त्तिको निवेदनकर श्रीकृष्णके प्रति उसकी प्रेमातिशयताका प्रकाश कर रही है—"हे मुरारि! बालहिरणी, परम सुन्दरी श्रीराधाके साहसकी मैं और क्या प्रशंसा करूँ? वह तुम्हारी विरहार्त्तिके समुद्रमें मग्न रहनेपर भी तुम्हारे प्रेमभारको वहन कर रही है। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र अपना अङ्गसङ्ग दानकर उस प्रियसखीको अङ्गीकार करो॥"१००॥

लोचनरोचनी—खेदो भवदौदासीन्याद्दुःखम्॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—मुरहरेति। खेदोऽत्र भवदौदासीन्यजातं दुःखं तेन त्वत्परीक्षायामुत्तीर्णा सा स्वाङ्गसङ्गदानेनाङ्गीक्रियतामिति भावः। सम्यक् प्रकारेण स्वप्राणादितोऽप्युत्कर्षेण वहतीत्यन्यथा सा प्राणांस्त्यक्ष्यत्येव नहि समुद्रे पतन्महाभारं वहन् तं चात्यजन् कश्चिज्जनो जीवतीति भावः॥१००॥

सख्यां कृष्णप्रेमोत्कीर्तिर्यथा तत्रैव (१९१)—

केलीकलासु कुशला नगरे मुरारेराभीरनीरजदृशः कति वा न सन्ति।
राधे त्वया महदकारि तपो यदेष दामोदरस्त्वयि परं परमानुरागः॥१०१॥

तात्पर्यानुवाद—सखीसे श्रीकृष्ण-प्रेमोत्कर्ष कीर्त्तन—श्रीराधाके मानिनी होनेपर चम्पकलता श्रीमती राधिकाको कह रही है—"हे प्रियसखि! इस व्रजनगरीमें केलिकलामें सम्पूर्ण रूपसे कुशल न जाने कितनी आभीर पङ्कजनयना रमणियाँ हैं, किन्तु हे राधे! तुमने न जाने कौन-सी कठोर तपस्या की है, जिसके फलस्वरूप दामोदरकी केवल तुम्हारे प्रति ही प्रगाढ़ अनुरक्ति देख रही हूँ। भाग्य तुम्हारे प्रति अत्यन्त सुप्रसन्न है॥"१०१॥

लोचनरोचनी—नगरे व्रजे। व्रजस्य तस्य ग्राम्यतामतीत्य नागरताव्यवहारशालित्वात् तत्रापि मुरारेरिति परमविशिष्टता व्यक्ता॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—चम्पकलता श्रीराधामाह–केलीति॥१०१॥

तत्र तस्या गुणोत्कीर्तिर्यथा—

निनिन्द निजमिन्दिरा वपुरवेक्ष्य यस्याः श्रियं,
विचार्य्य गुणचातुरीमचलजा च लज्जां गता।
अघार्दन तया विना जगति कानुरूपास्ति ते,
परं परमदुर्ल्लभा मिलतु कस्य सा मे सखी॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाका गुणकीर्त्तन—श्रीराधाकी सखी ललिता किसी बहानेसे श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुई। श्रीकृष्णके द्वारा प्रार्थित होनेपर उसने गम्भीरताके साथ कहा—"हे वृन्दाटवीचन्द्र! श्रीमती राधिकाके समान इस जगतीतलमें रूपवती अत्यन्त विरल हैं; क्योंकि वैकुण्ठनाथकी कामिनी इन्दिरा (लक्ष्मी) उनके सौन्दर्य माधुर्यका दर्शनकर अपने वपुके प्रति घृणा प्रकाश करती है, तथा वैसे ही सुन्दर होनेकी अभिलाषा करती है, शैलपुत्री पार्वती उनकी गुण–चातुरीका विचारकर लज्जित हो जाती हैं। अतः हे अघनाशन! त्रिभुवनमें वृषभानुजा श्रीमती राधिकाके अतिरिक्त तुम्हारे अनुरूप और कौन हो सकती है? अतएव वे परम दुर्लभा हैं। तुम्हारे अतिरिक्त वे किससे मिलेंगी? तुम्हें छोड़कर इस जगत्में उनसे मिलनेके लिए और कौन योग्य है?"॥१०२॥

लोचनरोचनी—अचलजेत्यत्र ह्रियमवाप पद्मालयपीति वा पाठः। पद्माया लक्ष्म्या आली तत्र प्रकाशभेदेन श्रेण्यपि। यद्वा पद्मायास्तन्नाम्न्या गोप्या आली चन्द्रावल्यपि। कस्येति कर्मणि संबन्धविवक्षा माषाणामश्नीयादिति भाष्यप्रयोगादेः॥१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीकृष्णमाह—निनिन्देति। इन्दिरा लक्ष्मीः, अचलजा दुर्गा। ननु यदि सैव ममानुरूपा तर्हि सैव मे प्रेयसी भवतु भवत्या तत्र यतनीयमित्यत आह—परमतिशयेन दुर्लभेति। तवानुरूपत्वे सत्येव किं सा लभ्या किन्तु यदि तत्र तव प्राचीनं तपोभाग्यादिकं स्यात्तदैव सा तव भवेदिति भावः। कस्येति कर्मणि सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। मिलतु कं सखी सा ममेत्यनुक्त्वा कस्येति षष्ठ्यन्त–प्रयोगोऽर्थान्तरस्य प्रक्षेपार्थः। तच्च यथा—ननु साभिमन्योर्भार्या श्रुता? तत्राह—सा मे सखी न कस्यापीत्यर्थः। नहि विवाहमात्रेणैव सा लभ्यत इति भावः। तर्हि मया

कथं सा लभ्या स्यादित्यपेक्षायामाह—परं परकीयं पुरुषं श्रेष्ठमिति। अत्र संभावनायां लोट्। स्वानुरूपत्वादिति भावः। अतएव श्लेषेण परमतिशयेन दुर्लभा। ममोद्यम मात्रेणैव तव सुलभेति भावः॥१०२॥

तस्यां तस्य गुणोत्कीर्तिर्यथा ललितमाधवे (१/४९)—

महेन्द्रमणिमण्डलीमदविडम्बिदेहद्युति-
व्रजेन्द्रकुलचन्द्रमाः स्फुरति कोऽपि नव्यो युवा।
सखि स्थिरकुलाङ्गनानिकरनीविबन्धार्गल-
च्छिदाकरणकौतुकी जयति यस्य वंशीध्वनिः॥१०३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधासे श्रीकृष्णका गुणवर्णन—कुन्दलताके 'श्रीकृष्ण' नाम उच्चारण करनेपर श्रीराधा विस्मित होकर ललिताके प्रति बोली—"ये श्रीकृष्ण कौन हैं?" ललिताने कहा—"प्रियसखि! इन्द्रनीलमणिकी कान्तिको भी विजय करनेवाले व्रजेन्द्रकुल-चन्द्रमास्वरूप एक नित्यनवीन युवा विराजमान हो रहे हैं। उन्हींकी वंशीध्वनि परम पतिव्रता कुलबालाओंके नीविबन्धनको खिसका देनेका कार्य सम्पन्नकर जययुक्त हो रही है। अतएव वे स्वयं क्या करेंगे, मैं नहीं जानती?॥१०३॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीराधामाह—महेन्द्रेति। नीवीबन्ध एवार्गलम्। कंदर्प-गृहद्वारकपाटस्येत्यर्थः। तस्य छिदाकरणे द्वैधीकरणे कौतुकी। यथाहि कश्चिद्बहिः स्थित्वैव कपाटे दत्ताघातेनैवान्तर्गतमर्गलमपि भित्त्वा स्वबलं दर्शयति तथैव यस्य मुखोद्भूतः पवन एव वंशरन्ध्रप्रविष्टो वंशीध्वनिरूपस्तथा करोति न जाने स वा स्वयं कीदृशं बलं दर्शयिष्यतीति भावः॥१०३॥

कृष्णे सख्या आसक्तिकारिता यथा विदग्धमाधवे (२/१०)—

सा सौरभोर्मिपरिदिग्धदिगन्तरापि,
वन्ध्यं जनुः सुतनु गन्धफली बिभर्त्ति।
राधे न विभ्रमभरः क्रियते यदङ्के,
कामं निपीतमधुना मधुसूदनेन॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णमें सखीको अनुरक्त कराना—श्रीमती ललिता और विशाखा एकत्र मिलित होकर श्रीमती राधिकाकी तीन पुरुषोंके प्रति आसक्तिके भ्रमको दूर करनेपर श्रीमती राधिकाके परमानन्दित होनेपर ये दोनों सखियाँ कह रही हैं—"हे सुतनु! यद्यपि गन्धफली (चम्पक)

अपने सौरभसे दिग्-दिगन्तको व्याप्त कर रही है, यह सत्य है तथापि इसका जन्म विफल है; क्योंकि हे राधे! मधुसूदनने (भ्रमर) यथेष्ट रूपमें मधुपानकर जिनकी गोदीमें विलासोत्सव प्रकाश नहीं किया, उनको जीवन धारण करनेकी क्या आवश्यकता है?" ॥१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिताविशाखे श्रीराधामाहतुः—सेति। दिग्धं व्याप्तं गन्धफली चम्पकम्। विभ्रमो विलासः। पीतमधुना पीतमकरन्देन पीताधरामृतेन च, मधुसूदनेन भ्रमरेण श्रीकृष्णेन च॥१०४॥

तस्यां तस्यासक्तिकारिता यथा—

यद्येतस्यां वरपरिमलाब्धविश्वोत्सवायां,
न त्वं कृष्णभ्रमर रमसे राधिकामल्लिकायाम्।
अर्थः को वा नवतरुणिमोद्भासिनस्ते ततः स्याद्
वृन्दाटव्यामिह विहरणप्रक्रियाचातुरीभिः ॥१०५॥

तात्पर्यानुवाद—सखीके प्रति श्रीकृष्णको आसक्त करना—श्रीमती राधिका द्वारा इङ्गित पाकर विशाखा श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर भ्रमरके उपदेशके बहाने उनको सम्बोधनपूर्वक श्रीराधाका गुणोत्कर्ष बतलाकर श्रीराधिकामें उनकी आसक्ति उत्पन्न करा रही है—"हे कृष्ण मधुकर! जिसके उत्कृष्ट सौरभके आरम्भ मात्रसे विश्वमें सर्वत्र उत्सव छा जाता है, ऐसी श्रीराधा-मल्लिकामें यदि तुम रमण न करो, तो तुम्हारा जो तारुण्य, अभी आश्चर्य रूपसे प्रकाशित हो रहा है, उसके द्वारा केवल वृन्दावन-विहारमें चतुरता प्रकाश करनेसे भी कौन-से अर्थकी सिद्धि होगी? अतएव तुम शीघ्र ही श्रीराधा-मल्लिकाका मकरन्द पान करो॥"१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—यद्येतस्यामिति। परिमल आमोदो रूप-गुण-वैदग्ध्यादि-ख्याति-विस्तारश्च। विश्वेषामुत्सवाः विश्वे सर्वे उत्सवा-श्चार्थात्तवैवेत्यर्थः। अर्थः प्रयोजनम्॥१०५॥

कृष्णस्याभिसारणं यथा—

अवरुद्धसुधाशुवैभवं विनुदन्तं सखि सर्वतोमुखम्।
इह कृष्णघनं प्रगृह्य तं ललिताप्रावृडियं समागता॥१०६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णको अभिसार कराना—वासकसज्जा श्रीमती राधाको रूपमञ्जरीने कहा—"सुन्दरि! देखो मनोज्ञा वर्षा (ललिता) चन्द्रप्रभाको अवरोध करनेवाले जल वर्षणशील मेघ (कृष्ण) को सङ्ग लेकर उपस्थित हुई है। अतएव चिन्ता करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। अब स्थिर हो जाओ, शीघ्र ही तुम्हारा आन्तरिक सन्ताप दूर हो जाएगा॥"१०६॥

लोचनरोचनी—सर्वतोमुखं जलं विनुदन्तं क्षिपन्तम्, पक्षे मुखं सर्वतो विनुदन्तं चालयन्तम्॥१०६॥

आनन्दचन्द्रिका—वासकसज्जां श्रीराधां रूपमञ्जरी प्राह—अवेति। पक्षेऽवरुद्धं तिरस्कृतं सुधांशोश्चन्द्रस्य वैभवं येन स्वमुखकान्त्येत्यर्थः। सर्वतोमुखं जलं नुदन्तं वर्षन्तम्। "कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।" इत्यमरः। नायिकान्तरदृष्टिपक्षे लोकशङ्कया सर्वस्यां दिशि मुखं क्षिपन्तम्। ततश्च विरहनिदाघदूनां श्रीराधामालतीं प्रफुल्लीकर्तुमिति प्रयोजनं ध्वनितम्॥१०६॥

सख्या अभिसारणं यथा श्रीगीतगोविन्दे (५/१७)—

त्वद्वाम्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तं गतो,
गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सान्द्रताम्।
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थना,
तन्मुग्धे विफलं विलम्बनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः॥१०७॥

तात्पर्यानुवाद—सखीका अभिसार कराना—मान उपशम हुआ देखकर सुदेवीने श्रीराधाको कहा—"हे मुग्धे! अब तुम्हारा वाम्य–सम तिग्मांशु (सूर्य) भलीभाँति अस्त हो गया है अर्थात् तुम्हारे रोषके साथ सूर्य भी अस्त हो गया है। गोविन्दके मनोरथके साथ अन्धकार भी गाढ़ा होने लगा है। विरह–विधुरा चक्रवाकगण इस रात्रिकालमें जिस प्रकार करुण स्वरसे विलाप कर रहे हैं, श्रीकृष्णके निकट जानेके लिए हम भी उसी प्रकार सुदीर्घकालसे तुमको विनय वचनोंसे प्रार्थना कर रही हैं। अतः हे सुन्दरि! अब विलम्ब क्यों कर रही हो? अभिसारके लिए बहुत ही रमणीय समय है। शीघ्र अभिसारके लिए प्रस्थान करो॥"१०७॥

आनन्दचन्द्रिका—सुदेवी श्रीराधां प्राह—वाम्येन मानेन सममिति। तापकत्वात् श्रीकृष्णमनोरथप्रतिकूलत्वाच्च। त्वन्मानतिग्मांशू उभावपि तुल्यधर्माणावित्यर्थः। सान्द्रतां नैबिड्यं वस्त्वन्तरानुद्भासात् मानतिग्मांशुनाश्यत्वाच्च मनोरथतमसी अपि तुल्ये एव। तथा सहस्रावृत्तित्वेऽप्यविश्रामात् सगद्गदत्वाच्च कोकस्वनमदभ्यर्थने अपि समाने एव। विफलमिति पुनरपि किं मानमानिन्यसि। नहि तदानीमस्तं गतस्तदानीमेवोदेति कश्चिदपि पदार्थ इति भावः। अस्तं गत इति। हा हन्त मद्बन्धुर्मानः सहसा नष्ट इति तं त्वमधिकमा शुचः कालविलम्बे च तिग्मांशुरिव पुनरप्यसावुदेष्यत्यपीत्याश्वासः परिहासश्च ध्वनितः॥१०७॥

कृष्णे सख्याः समर्पणं यथा—

यदन्तरमुपासितुं कमलयोनिमीजुर्गुणा,
यदङ्गमुपसेवितुं तरुणिमापि चक्रे तपः।
नवप्रणयमाधुरी प्रमदमेदुरेयं सखी,
मयाद्य भवतः करे मुरहरोपहारीकृता॥१०८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति सखी-समर्पण—विशाखा श्रीकृष्णसे कह रही है—"हे मुरारि! मेरी सखीके अन्तःकरणको आश्रय करनेके लिए धैर्य, वैदग्ध्य, कारुण्य इत्यादि सभी कल्याणमय गुणोंने ब्रह्माजीका अर्चन किया था और उनके अङ्गोंको आश्रय करनेके लिए तारुण्यने भी कठोर तपस्या की थी। उसी प्रियसखीको मैं तुम्हारे हाथोंमें समर्पण कर रही हूँ। तुम इन्हें स्वीकार करो॥"१०८॥

लोचनरोचनी—ईजुर्यजन्ति स्म॥१०८॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—यदिति। यस्या अन्तरमन्तःकरणमुपासितुं सेवितुम्। तत्र वासं प्राप्तुमित्यर्थः। गुणा धैर्य-गाम्भीर्यकला-वैदग्ध्यादयः कमलयोनिं ब्रह्माणमीजुर्यजन्ति स्म। ततश्च बहुभिर्जनैः प्रसादितात्तस्माल्लब्धेन वरेणैव वासं प्रापुरित्यर्थः। एवं तरुणिमापि तपोबलेनैव तस्या अङ्गे प्रवेशं प्राप। नन्वीदृशमहिमत्वे तस्याः किं कारणमित्यपेक्षायां सर्वाधिकः प्रेमैवेत्याह—नवप्रणयेति। नवा नित्यं नवीनीभवन्ती या प्रणयमाधुरी तया यः प्रमद आनन्दः प्रकृष्टो मदो मत्तता गर्वश्च तेन मेदुरा स्निग्धा। उपहार उपायनम्॥१०८॥

नर्म यथा विदग्धमाधवे (१/३३)—

देहं ते भुवनान्तरालविरलच्छायाविलासास्पदं,
मा कौतूहलचञ्चलाक्षि लतिकाजाले प्रवेशं कृथाः।

नव्यामञ्जनपुञ्जमञ्जुलरुचिः　कुञ्जेचरी　देवता,
कान्तां　कान्तिभिरङ्किंतामिह　वने　निःशङ्कमाकर्षति ॥१०९ ॥

तात्पर्यानुवाद—नर्म—वृन्दावनमें ललिता द्वारा उच्चारित 'श्रीकृष्ण' नामको श्रवणकर श्रीमती राधा क्षुब्ध होनेपर भी अवहित्थाका अवलम्बनकर वहाँके निकुञ्जके ऊपर राशि–राशि पके हुए गुञ्जाफलोंका चयन करनेकी अभिलाषा प्रदर्शित करने लगी। तब ललिता नर्मवचनोंसे हँसती हुई बोली—"हे कौतुहल हेतु चञ्चलाक्षि राधे! तुम्हारा यह देह त्रिभुवनमें सुदुर्लभ कान्तिसमूहका क्रीड़ागृह (महाशोभासम्पन्न) है, इसलिए उसे लताजालमें प्रवेश मत कराओ। इस वनमें अञ्जनपुञ्जसे भी अधिक मनोज्ञ कान्तिको धारण करनेवाला एक कुञ्जदेवता है। वह नवीना–कान्तिमती कान्ताको देखते ही निशङ्क होकर आकर्षण कर लेता है॥"१०९॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीराधामाह—भुवनान्तराले त्रिभुवनमध्ये विरला दुर्लभा याश्छायाः कान्तयस्तासां विलासस्य क्रीडाया आस्पदं मन्दिरम्। लतिकेत्यनुकम्पार्थक–कप्रत्ययेन कोमलत्वव्यञ्जकेन प्रवेशे सामर्थ्यं जालपदश्लेषेण च परावर्तनासामर्थ्यं च ध्वनितम्॥१०९॥

आश्वासनं यथा—

मा　गाः　क्लमं　सखि　मुहुर्वृषभानुपुत्रि,
भानुं　प्रतीहि　चरमाचलचङ्क्रमोत्कम्।
आनन्दयन्नयनमुद्धुरधेनुधूलि–
ध्वान्तं　विधूय　विधुरेष　पुरोज्जिहीते ॥११० ॥

तात्पर्यानुवाद—आश्वासन—श्रीकृष्ण गोचारणके लिए वृन्दावनमें जानेपर विरहसे खिन्न हुई श्रीमती राधिकाको अपराह्नकालमें ललिता आश्वासन दे रही है—"हे सखि! वार्षभानवि! इस समय भानु अस्ताचलमें जानेके लिए शीघ्र ही उत्कण्ठित हो रहे हैं। तुम और पुनः–पुनः आलस्य न करो। देखो, विशृंखल गायोंके खुरके आघातसे धूलिरूप अन्धकारको नाश करते हुए नयनोंके आनन्दप्रद विधुका उदय हो रहा है।" यहाँ विधुका अर्थ चन्द्र और श्रीकृष्ण है अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र आ रहे हैं॥११०॥

लोचनरोचनी—पुरोज्जिहीते उदयं प्राप्स्यति। पुरायोगे भविष्यति लट्॥११०॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिताह—मा गा इति। नन्वद्यतने दिने युगसहस्रमपि व्यतीतं तदपि कथं भानुर्नास्तं यातीत्यत आह—भानुमिति। चङ्क्रमो वक्रगमनं तत्रैवोत्कण्ठितम्। श्रीकृष्णदर्शनकालाधिक्यलाभार्थमिति भावः। भानोर्गमनस्य ऋजुत्वे प्रत्यक्षेऽपि तासां तथा संभावनं प्रेम्णा न विरुद्ध्यते। अर्थान्तरं तु "नित्यं कौटिल्ये गतौ" (पा. ३।१।२३) इति कौटिल्य एव यङ्-विधानादशक्यम्। तत्र च कौटिल्ये गतावित्यनेनैव विधित्सिते सिद्धे नित्यपदोपादानं तक्रकौण्डिन्यन्यायस्यानित्यत्वज्ञापनात् क्रियासमभिव्याहार-प्राप्तिवारणार्थमेव। यत्तु "व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चंक्रमणं तथा। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान्भवेत्॥" इति वैद्यके दृष्टं तच्चिन्त्यम्। ननु भानुरपि तथा प्रतीपायते चेत् कथं तर्हि जीविष्यामीत्यत आह—आनन्दयन्निति। विधुश्चन्द्रः श्रीकृष्णश्च पुरा निकट एवोज्जिहीते उदयते। "स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा।" इत्यव्ययनानार्थवर्गः॥११०॥

नेपथ्यं यथा—

भाले मया ते मृगनाभिनासौ यः पत्रभङ्गोऽस्ति विरच्यमानः।
स बिन्दुरूपेण पतञ्छ्रमाम्बुलिप्तो हरेर्वक्त्रमलङ्करोतु॥१११॥

तात्पर्यानुवाद—नेपथ्य—श्रीमती राधिकाके ललाटमें पत्रावलिकी रचना करती हुई ललिता चित्तके उल्लाससे उन्मत्त होकर पत्रांकुर-रचनाकी सार्थकता प्रकाशकर नर्मप्रयोग द्वारा श्रीराधाके भाव-विलासकी सूचना कर रही है—"हे सखि! मैं मृगमदके द्वारा तुम्हारे ललाटमें जिस पत्रभङ्गीकी रचना कर रही हूँ। वह सुरतयुद्धमें उत्पन्न स्वेद-बिन्दुओंसे धुलकर बूँद-बूँद टपक-टपककर श्रीकृष्णके वदनको अलंकृत करे॥"१११॥

लोचनरोचनी—हरेर्वक्त्रमलंकरोत्वित्यत्र हरेर्वक्त्रमुपस्करोत्विति वा पाठः॥१११॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधामलंकुर्वती ललिता परिहसन्त्याह—भाल इति। हरेर्वक्त्रामिति। विपरीतं संप्रयोगमाशास्ते, तदैव पत्रभङ्गस्य मल्लिखनश्रमस्यापि सार्थकत्वं भविष्यतीति भावः॥१११॥

हृदयोद्घाटपाटवं यथा—

तथ्यं वदाद्य नहि संकुच पङ्कजाभं,
द्वन्द्वं दृशोरिह किशोरि निमीलयन्ती।

का रज्यते सखि विवोढरि गोकुलेऽस्मिन्,
क्षुण्णा न वीथिरियमेकिकया त्वयैव ॥११२ ॥

तात्पर्यानुवाद—हृदयोद्घाटनमें पटुता—किसी समय पूर्वरागकी अवस्थामें लज्जावशतः श्रीराधाजी अपने हृदयके विकारोंको सखियोंके समीप भी प्रकाश न करनेपर ललिता कह रही है—"हे किशोरि! आज अपने नेत्रकमलको बन्दकर संकुचित क्यों हो रही हो? सच-सच बतलाओ कि तुम्हारे हृद्रोगका कारण क्या है? हे सखि! इस गोकुलमें कौन ऐसी कुलवती नारी है, जिसने अपने विवाहित पतिके प्रति पातिव्रत्य धर्मको छोड़ नहीं दिया है? क्या तुम अकेली ही पातिव्रत्य धर्मकी रक्षा करोगी?" ॥११२ ॥

लोचनरोचनी—अस्मिन् गोकुले का विवोढरि भर्तरि रज्यते न कापीति तस्याः संकोचं विधूय हृदयोद्घाटनार्थमेवाभिव्यापिनीयं नर्मोक्तिः। वस्तुतस्तु प्रायिकतामात्रमभिप्रेतम्। इयं विवोढरि अरतिरूपा वीथिः पद्धतिस्तु त्वयैव न क्षुण्णा न चरणपातदलितीकृता ॥११२ ॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वरागे सुहृद्विकारं सखीमपि लज्जयैवाब्रुवाणां श्रीराधां ललिता पृच्छन्त्याह—तथ्यमिति। दृशोर्द्वन्द्वं निमीलयन्ती मुद्रयन्ती सती नहि संकुच किन्तु तदुद्घाटयन्त्येव सत्यं वद, स्वमनःपीडाकारणमित्यर्थः। परपुरुषे मनस आसक्तिरेव ममाधिहेतुस्तां च वक्तुं कथं न संकुचामीति चेत्तत्राह—का रज्यत इति। विवोढरि भर्तरि अस्मिन् गोकुले का कुलाङ्गना रज्यते। न कापीत्यर्थः। अत इयं प्रसिद्धा वीथिः पातिव्रत्यधर्मरूपो मार्गस्त्वयैकिकयैव न च क्षुण्णा चरणपातदलितीकृता अपि तु सर्वाभिरपीत्यर्थः। पातिव्रत्यवीथीं पदभ्यामेव छित्वा औपपत्यवीथिरेव स्वीकारेण प्रवर्त्तितेत्यर्थः। अतो "न दुःखं पञ्चभिः सह" इति न्यायेनात्र संकोचोऽप्यिसंकोचायत एवेति भावः ॥११२ ॥

यथा वा—

वयस्ते साम्राज्यं सखि वितनुते पुष्पधनुषो,
जिहीते सौन्दर्यं त्रिभुवनदृगासेचनकताम्।
न दास्येऽप्यौचित्यं वहति परिणेता परिणत-
स्त्वमेका ह्रीदग्धे बत विमुषितासि व्रजकुले ॥११३ ॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें सामान्यतः हृदयोद्घाटनमें अत्यन्त पटुता दिखलाकर यहाँ युक्तियुक्त कारण प्रदर्शनकर दूसरा उदाहरण दे रहे

हैं। ललिताजीने श्रीराधाको कहा—"हे प्रियसखि! अब लज्जासे दग्ध होनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने हृदयगत भावोंको खोलकर कहो। बड़े ही आश्चर्यकी बात है! तुम्हारा यह तनु कन्दर्पके साम्राज्यका विस्तार कर रहा है। तुम्हारे सौन्दर्यको देखकर त्रिभुवनमें सभीके नयनोंकी तृप्ति नहीं हो रही है, बल्कि और वृद्धि प्राप्त हो रही है। तुम्हारा विवाहित वृद्ध-पति तुम्हारे दास होनेके लिए भी उचित औचित्य वहन नहीं करता। अतएव हे राधे! इस ब्रजकुलमें अकेली तुम ही वञ्चित रही हो, बाकी सभी नारियोंने श्रीकृष्णमें अनुरक्त होकर अपने जीवनको सफल बना लिया है॥"११३॥

लोचनरोचनी—वयःसौन्दर्यं च कर्तृ। जिहीते गच्छति। "तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्"। परिणेता विवोढा। परिणतो वृद्धः। एकेति पूर्ववत्। हे ह्रीदग्धे, विमुषितासि हारितनिधिरसि। स्वयंप्राप्तमपि श्रीकृष्णं हारितवत्यसीत्यर्थः॥११३॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र परपुरुषासक्तिरूपस्य दोषस्य सर्वसाधारण्य-मात्रज्ञापनेन वस्तुतो निर्दोषत्वं न स्यादतो न तेन हृदयोद्घाटनं सम्यक् संभवेदित्यत आह—यथावेति। वयो यौवनं कंदर्पस्य साम्राज्यं वितनुत इत्यत्रायं भावः—कंदर्पेण त्वद्यौवनाविर्भावात् पूर्वमेव यद्यपि त्रैलोक्यं जितमेव तदाप्येकस्य श्रीकृष्णस्य जयाभावात् साम्राज्यमसिद्धमासीदिति, इदानीं तु त्वद्यौवनमाविर्भूयैव श्रीकृष्णं जित्वा तस्य साम्राज्यं साधयामासैवेति। न च केवलमिदानींतनस्य यौवनस्यैतावन्माहात्म्यं किन्तु यौवनात्पूर्वमपि बाल्येऽपि सौन्दर्यस्यापीत्याह—जिहीते प्राप्नोति। "तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्।" इत्यमरः। एवं तस्या वयः सौन्दर्योपलक्षितसर्वगुण-महामाधुर्यादिकमुपपाद्य तस्य वैफल्यं द्योतयन्ती तत्परिणेतारं निन्दति—न दास्येऽपीति। ईदृशो दासोऽपि विना मूल्यं प्राप्तोऽपि नाङ्गीकर्तुं युज्यत इति भावः। एवमस्य गुणराहित्यकौरूप्ये उक्ते पश्वादिवद् यौवनमपि नाभूदित्याह—परणेता परिणत इति। परिणेतृत्वदशामारभ्यैव परिणतो वृद्धः। तेन बाल्यपौगण्डानन्तरमेवास्य वार्द्धकमायातमिति भावः। ननु किं कर्तव्यमीदृशमेव ममादृष्टमिति चेत्तत्राह—ह्रीदग्धे इति। तव गुणरूपानुरूपः श्रीकृष्णो व्रज एव सोत्कण्ठ एव वर्त्तते तत्सङ्गार्थमुद्यममकुर्वाणा लज्जयैव त्वं दह्यसे न तु ते किमपि दुरदृष्टमस्तीति भावः। नन्वेवं का कुलाङ्गना कुरुत इत्यत आह—बतेति खेदे। व्रजकुले व्रजकुलाङ्गनाकुले त्वमेवैका विमुषितासि वञ्चितासि, अन्यास्तु सर्वा एव स्वस्वपतीनपि विहाय श्रीकृष्णसङ्गं प्राप्य विहरन्त्यः सफलरूपयौवना एवाभूवन्निति भावः। तेन परपुरुषाक्ति जिहासां यद्गुणं मन्यसे, एष ते एव महादोषः। विधात्रा दत्तानां रूपगुणयौवनानां वैफल्यापादनाद्विधातुः स्थानेऽपि

तवापराधो भविष्यतीत्यतः सर्वं विचार्य विधित्सितं ब्रूहि। यथा वयमेव तत्र यतामहे इति। ततश्च तया हृदयमुद्घाट्य कुलस्त्रीणां नेष्टा परपुरुषरूपस्तुतिकथेत्यादिपद्यानि सास्रं पठितानीति ज्ञेयम्॥११३॥

छिद्रसंवृतिर्यथा विदग्धमाधवे (६/१)—

मुदा क्षिप्तैः पर्वोत्तरलहृदयाभिर्युवतिभिः,
पयः पूरैः पीतीकृतमतिहरिद्राद्रवमयैः।
दुकूलं दोर्मूलोपरि परिदधानां प्रियसखीं,
कथं राधामार्ये कुटिलितदृगन्तं कलयसि॥११४॥

तात्पर्यानुवाद—छिद्रसम्वृत्ति—जटिला प्रातःकाल श्रीराधाके अङ्गपर श्रीकृष्णका पीताम्बर देखकर तिरस्कार करने लगी। उस समय विशाखा अवहित्था अवलम्बनपूर्वक जटिलाकी वञ्चना करती हुई कहने लगी—"हे आर्ये! श्रीराधाके प्रति वक्रदृष्टिसे क्यों देख रही हो? आपकी इस वधूने शुक्लवसनको परिधानकर अन्यान्य व्रजाङ्गनाओंके साथ सतीव्रत धारणकर देव मन्दिरमें रात्रिजागरण किया था एवं जागरणके अन्तमें उत्सव पूर्ण करनेके लिए परस्पर व्रतधारणियोंने प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरेके ऊपर हल्दी-जलका सिञ्चन किया था। इसलिए इनका वस्त्र पीले जलमें भींग गया और बहुत देर तक उस भींगे हुए पीले वस्त्रको अङ्गोंपर धारण करनेसे सूख जानेके कारण वह पीला हो गया है। आप वधूके अङ्गपर पीतवसन देखकर दूसरे प्रकारकी जो आशङ्का कर रही हैं, वह आपका भ्रम है॥"११४॥

लोचनरोचनी—पीतवस्त्रं कदाप्युपरि दधानायां श्रीराधायामकस्मात् परिहितं दृष्ट्वा पूर्वपूर्वसंदेहानुसारेण श्रीकृष्णवस्त्रतया वितर्कयन्तीं वार्द्धक्यमन्ददृष्टिं श्रीराधाश्वश्रूंमन्यां [जटिलां] वञ्चयन्ती श्रीराधासख्याह—मुदा क्षिप्तैरिति। तत्र दोरन्तराल इति वास्तवत्वेऽपि दोर्मूलोपरीत्युक्तेर्विवर्णीकृततया प्रतिपाद्ये वस्त्रे तस्या जिहासासूचनया वञ्चनार्थमनादरोऽपि सूचितः॥११४॥

आनन्दचन्द्रिका—स्ववध्वाः श्रीराधाया अङ्गे प्रातः श्रीकृष्णस्य पीतवस्त्रं परिचिन्वतीं रुषाधिक्षिपन्तीं जटिलां प्रतारयन्ती विशाखा प्राह—मुदेति। अद्य व्रतिन्या राधया परिहितशुक्लवस्त्रया देवमन्दिरेऽन्याभिरपि बह्वीभिर्व्रतिनीभिः सह जागरः कृतस्तत्र जागरान्ते उत्सव पूर्त्यर्थं मुदा क्षिप्तैरित्यादि। ततश्च तदेव वस्त्रं विलम्बतो गात्र एव शुष्कं पीताम्बरं जातमिति बुद्ध्यस्वेति ध्वनितम्॥११४॥

पत्यादेः परिवञ्चना यथा—

श्यामाङ्गः पटुरेष कर्मणि वटुर्गर्गस्य शिष्यो मया,
राधामर्चयितुं प्रगे दिनकरं सद्मन्ययं प्रापितः।
तेनाभीर पयस्त्वमागमय गां दुग्ध्वा पतङ्गप्रियां,
पिङ्गाक्षीमरुणामहं तु करवाण्येभिः सरोजैः स्रजम्॥११५॥

तात्पर्यानुवाद—पति आदिकी वञ्चना—एक दिन प्रातःकाल श्रीकृष्ण विप्रवेश धारणकर श्रीराधाके घरमें उपस्थित हुए। उस समय ललिता सूर्यपूजामें परम श्रद्धालु अभिमन्युको छलपूर्वक स्थानान्तरित करनेके लिए कहने लगी—"हे आभीरराज! तुम्हारी वधू द्वारा सूर्यपूजाके लिए बारम्बार आग्रह करनेपर मैं प्रातःकाल इस कृष्णवर्ण वाले अत्यन्त सुयोग्य ब्राह्मण बालकको लेकर आई हूँ। इनको साधारण मत समझना। ये गर्गाचार्यके शिष्य और समस्त पूजाके कार्योंमें परम निपुण हैं, किन्तु हे अभिमन्यु! सूर्यपूजाके लिए दूसरी गायोंका दूध मत लाना। सूर्यपूजाके लिए अन्य गायोंका दूध नहीं लगता। जिस गायके नेत्र पिङ्गल हैं एवं वर्ण कुछ अरुणरङ्गका है, उसी गायका दूध सूर्यके लिए अत्यन्त प्रीतिदायक है। अतएव तुम स्वयं जाकर यह सब देख कर उक्त प्रकारकी गायका दूध दोहन कर ले आओ। मैं तब तक पद्मपुष्पोंकी माला ग्रन्थन कर रही हूँ। विलम्ब मत करो, शीघ्र जाओ।" यह पतिवञ्चनाका उदाहरण है॥११५॥

लोचनरोचनी—श्यामाङ्ग इति। श्रीकृष्णमपलपति। अर्चयितुरिति हेतुणिजन्तम्। राधामिति प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वम्। कैश्चिद्गत्यर्थादन्यत्रापि तस्य स्वीकारात्। प्रगे प्रातःकाले। हे आभीरेति श्रीराधायाः पतिन्मन्यं प्रति संबोधनम्। त्वं गां दुग्ध्वा पय आगमय आनय। पिङ्गाक्षीम् अरुणामिति कपिलाविशेषत्वं गमयति। अतएव पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रियाम्॥११५॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता विप्रवेशेन गतं श्रीकृष्णमपलपन्ती श्रद्धालुमभिमन्युं व्याजेन ततोऽपसारयन्त्याह—श्यामाङ्ग इति। अर्चयितुमिति हेतुणिजन्तं राधामिति प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वम्। गत्यर्थादिव्यतिरिक्तानामणौ कर्तुर्णावुभयं भवति कर्तृकत्वं कर्मत्वं चेति भाषावृत्तिदृष्टेः। आभीर, हे अभिमन्यो! सूर्यपूजायां स्नानाद्यर्थं कपिलादुग्धमपेक्षितमतस्त्वं गां दुग्ध्वा पय आगमय आनय। अरुणामिति। या हि सर्वाङ्गेष्वरुणवर्णा अथ च पिङ्गाक्षी सैव पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रिया कपिलेति तामन्यः

परिचेतुं न शक्ष्यतीत्यन्यो न प्रेषणीय इति भावः। अतएवाभीरेति संबोधनम्। सर्वमिदं तस्य विलम्बागमनार्थमेवेति बोद्धव्यम्॥११५॥

शिक्षा यथा—

त्वमीरय समीरणं वरसरोजवल्लीदलै-
र्विधेहि सखि मन्थरं चरणपद्मसंवाहनम्।
मुखे घटय वीटिकामवदलय्य कर्पूरिणीं,
हरेरिति नवाङ्गना प्रणयिनीपदं विन्दति॥११६॥

तात्पर्यानुवाद—शिक्षा—एक दूतीने अपनी प्रियसखीको श्रीकृष्णके साथ प्रथम अङ्गसङ्ग करानेके लिए अभिसार कराया और उसे श्रीकृष्णके समीप ले गई। श्रीकृष्णके सामने ही वह अपनी सखीको शिक्षा प्रदानकर कहने लगी—"हे प्रियसखि! तुम इन प्रशस्त अत्यन्त सुन्दर पवित्र कमलदलके द्वारा श्रीकृष्णके अङ्गोंमें वीजन करो, धीरे-धीरे उनके चरणोंका सम्वाहन करो, ताम्बूलके शिराओंको निकालकर कर्पूरादिसे भरकर पानकी बीड़ी उनके मुखमें दो, हे सखि! इस प्रकार सेवा करनेसे ही नवाङ्गनाओंका हरिके प्रति प्रणयिनी पद प्राप्त होता है।" उक्त उदाहरणमें नायिकाके प्रति जो शिक्षा दी गई, वह सरस न होनेके कारण असन्तुष्ट चित्त होनेके कारण पुनः द्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं॥११६॥

लोचनरोचनी—त्वमीरयेत्यादि द्वयं प्रायो नवोढाविषयं गम्यते। अवदलय्य समन्तात् खण्डयित्वा॥११६॥

आनन्दचन्द्रिका—काञ्चिदभिसार्य्य श्रीकृष्णाग्रे प्रथमसंगतां तां सखीं काचिदुपदिशति—त्वमीरयेति। अवदलय्य शिरादूरीकरणेन खण्डयित्वा रचितां वीटिकामित्यर्थः। श्रीहरेर्मुखे घटय॥११६॥

यथा वा—

कुर्वीथाः परमादरं प्रियसुहृद्वर्गे सदा प्रेयसः
कामं तस्य रहस्यसंवृतिविधौ निर्बन्धमङ्गीकुरु।
मा चेतस्तदसंमते सखि निजाभीष्टेऽपि कृत्ये कृथाः
प्राप्स्यत्येवमनर्गलोऽपि स हरिस्तूर्णं तवाधीनताम्॥११७॥

तात्पर्यानुवाद—एक दिन ललिता श्रीमती राधिकाको शिक्षा देती हुई कहने लगी—"सखि! श्रीकृष्णके सुहृदवर्ग सुबलादिके प्रति सर्वदा आदर प्रकाश करना, श्रीकृष्णके रहस्यको छिपानेके विषयमें अत्यन्त प्रयत्न करना एवं श्रीकृष्णकी जिस कार्यमें असम्मति हो, वह अपना अभीष्ट होनेपर भी उस विषयमें चित्तको मत लगाना। इस प्रकार आचरण करनेसे, यद्यपि परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण किसीके वशीभूत नहीं होते, तथापि वे तुम्हारे वशीभूत हो जाएँगे॥"११७॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकां प्रत्येवं शिक्षा नातीव सुरसेत्यपरितुष्यन्नाह—यथावेति। ललिता श्रीराधामाह—कुर्वीथा इति। प्रियसुहृदः सुबलादयः। अनर्गलोऽनन्यवशः॥११७॥

अथ काले संगमनं यथा—

वासरीयविरहक्लमविद्धां लोचनोत्पलवलद्भ्रमरालिम्।
राधिकाकुमुदिनीं विधुनेयं संयुनक्ति ललितोत्तरसंध्या॥११८॥

तात्पर्यानुवाद—यथा समय सङ्गमन अर्थात् उचित समयमें नायक–नायिकाको मिलाना—श्रीकृष्ण विरह–व्याकुला श्रीराधाजीका श्रीललिताजी प्रदोषके आरम्भमें श्रीकृष्णसे मिलन करा रही थी। यह देखकर रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीसे कह रही है—"यह परम मनोज्ञा उत्तर–सन्ध्या (ललिता) कुमुदनी श्रीराधाको दिवाविरह व्यथिता एवं लोचनोत्पलसे भ्रमरालिका सेवन करते हुए देखकर विधु (श्रीकृष्णचन्द्र) के साथ संयोग करा रही है।" तात्पर्य—ललितासखीने सायंकालको उपस्थित देखकर दिनमें विरहातुर श्रीमती राधिकाके नेत्रोत्पलमें चूर्णकुन्तल पतित होते देखकर श्रीकृष्णके साथ उनका मिलन कराया। यहाँ चन्द्रके साथमें सङ्गमित कराया अर्थात् श्रीकृष्णरूपी चन्द्रसे श्रीराधा कुमुदिनीका मिलन कराया॥११८॥

लोचनरोचनी—भ्रमराः पक्षे चूर्णकुन्तलाः॥११८॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीमाह—वासरीयेति। विधुना चन्द्रेण श्रीकृष्णेन च। ललिता मञ्जुला तन्नाम्नी सखी च। लोचनेषु रलयोरैक्याद्रोचनेषु कान्तिमत्सु उत्पलेषु तत्पुष्पेषु वलन्त्यो भजन्त्यो भ्रमरश्रेणयो यस्यास्तां पक्षे

नयनोत्पलयोर्वलन्त्यश्चूर्णकुन्तलपङ्क्तयो यस्यास्ताम्। "ते ललाटे भ्रमरकाः" इत्यमरः॥११८॥

अथ व्यजनादिना सेवा यथा—

चामरीकृतलताचमरीका कुञ्जधाम्नि ललिता लुलिताङ्गीम्।
स्विद्यदाकृतिमबीजयदेनां पेतुषीमघहरोरसि राधाम्॥११९॥

तात्पर्यानुवाद—व्यजनादिसेवन—क्रीड़ाकुञ्जमें विहार करनेके पश्चात् अत्यन्त क्लान्त होनेपर श्रीमती राधिकाने श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर अपनी देहलताका समर्पण किया। उस समय उनके श्रीअङ्गोंसे श्रमजल निर्गत होते देखकर श्रीललिता पुष्प, पल्लव और मञ्जरियोंसे निर्मित रमणीय तालवृन्त (तालसे बने हुए पंखे) के द्वारा मन्द-मधुर वायुका सञ्चालन कर रही है। उस समय ललिताके इस परमानन्दमयी सेवा-सौभाग्यको लक्ष्यकर उन्हींकी प्रियसखी उनके सौभाग्यकी सराहना करते हुए कह रही है—"शिथिलाङ्गी और पसीनेसे लथपथ श्रीमती राधिकाको श्रीकृष्णके वक्षस्थलमें लेटी हुई देखकर ललिता लतामञ्जरियोंसे निर्मित पंखेके द्वारा कुञ्जमें बड़े प्रेमसे वीजन कर रही है॥"११९॥

लोचनरोचनी—चमरी मञ्जरी। पेतुषीमित्यत्र संगतामिति वा पाठः॥११९॥

आनन्दचन्द्रिका—चमरी मञ्जरी, पेतुषीं विपरीतशृङ्गारान्ते श्रान्तिभरात् श्रीकृष्णवक्षसि पतिताम्॥११९॥

अथ तयोर्द्वयोरुपालम्भः, तत्र हरेरुपालम्भो यथा—

सौम्यमूर्त्तिरुपनीय निर्भरं शारदार्क इव रागमग्रतः।
त्वं भजन् सपदि तीव्रतां कुतः पूतनार्द्दन दुनोषि मे सखीम्॥१२०॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीहरिके प्रति तिरस्कार—एक समय दैवयोगसे श्रीमती राधिकाके विप्रलब्धा होनेपर उनका मान भञ्जन करनेके लिए श्रीकृष्ण अनुनय विनय कर रहे हैं। ठीक उसी समय ललिता क्रोधसे उनका तिरस्कार करती हुई बोली—"हे पूतनार्दन! (बाल्यकालसे ही नारीवध आदिके द्वारा कठोर हृदय) तुम पहले अपनी सौम्यमूर्त्ति दिखलाकर अन्तमें हठात् शरद्कालीन सूर्यकी भाँति तीव्र ताप विस्तारकर मेरी सखीको क्यों दुखी कर रहे हो?"॥१२०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायां खण्डितायां सत्यामनुनयन्तं श्रीकृष्णं ललितोपालभते। सौम्यमूर्तिः सरलजन विश्वासोत्पत्त्यर्थं त्वां विनान्यां स्वप्नेऽप्यहं न जानामीत्यादि मृषावचनैरागमनुरागम्, पक्षे रक्तिमानम्, अग्रत इत्यनेन उदितोऽस्तं यास्यन्नेव वार्को लभ्यते। तथाभूतस्येवाग्रतोवर्त्तित्वसंभवात्। स च रक्तः सौम्यमूर्तिरप्याश्विनमासीयतीव्रतां पित्तकरत्वात्तैक्ष्ण्यं गच्छन् स्वं सेव्यमानमनभिज्ञजनं यथापकरोति तथेत्यर्थः। यदुक्तम्—"बालार्कस्तरुणं दधी"त्यादौ "सद्यःप्राणहराणि षडि"ति। हे पूतनार्दनेति। बाल्यमारभ्यैव विश्वासमुत्पाद्य यदि स्त्रीवध एव तव तात्पर्यं तर्हि बह्व्येव स्त्रीततिः पूतनेव कपटप्रेमवती वर्त्तते तां विहाय मे सखीं कुतो दुनोषीति मन्ये। प्रेमाणमपि सत्यमसत्यं न परिचिनोषीति भावः॥१२०॥

सख्या उपालम्भो यथा—

विपक्षे दाक्षिण्यं प्रणयसि परं केलिकुतुके,
मुकुन्देनारब्धे कलयसि पृथुं वेपथुभरम्।
मुधैवाभ्यस्यन्ती सहचरि सदा मण्डनकलां,
कुतो मौग्ध्येन त्वं समयमनभिज्ञे गमयसि॥१२१॥

तात्पर्यानुवाद—सखीके प्रति तिरस्कार—एक समय प्रणयमानका उदय होनेपर सारी सखियोंकी प्रार्थनाको भी अग्राह्यकर श्रीमती राधिका श्रीकृष्णके प्रति अप्रसन्न हो गईं। अप्रसन्न अवस्थामें श्रीमती राधाजी हार-ग्रन्थन करती हुई नाना प्रकारसे शिल्प चमत्कारित्वका प्रकाश कर रही थीं। उसी समय चन्द्रावलीकी प्रियसखी पद्मा उनके निकट उपस्थित हुई। श्रीमती राधिका नाना प्रकारकी प्रियोक्तिके द्वारा पद्माको सम्मान प्रदान करने लगी। थोड़ी देरके पश्चात् पद्माके चले जानेपर ललिता असहिष्णुता प्रकाशपूर्वक श्रीमती राधिकाका तिरस्कार करती हुई बोली—"हे केलिकौतुके! तुम केवल विपक्षके प्रति दाक्षिण्य भावको प्रकाश करती हो, किन्तु मुकुन्दके साथ अपना क्रीड़ाकौतुक आरम्भ होते ही तुम्हारा अङ्ग काँपने लगता है। अतः हे अनभिज्ञे! तुम्हारा शीलचातुर्यका अभ्यास अत्यन्त वृथा है। अपने मुग्धत्वका प्रदर्शनकर क्यों वृथा समयको नष्ट कर रही हो?"॥१२१॥

आनन्दचन्द्रिका—अकस्मान्मिलितायै पद्मायै श्रीराधया प्रियोक्तिभिर्दत्तं संमानमसह-माना ललिता तस्यां गतायां हारगुच्छगुम्फनशिल्पे स्वकल्पितवैचित्रीं कुर्वाणां श्रीराधां प्रत्याह—विपक्ष इति। तव कां कामनीतिं गणयामीति भावः। तिरस्कार्यं

विपक्षजनमादरपात्रीकृत्य स्वापकर्षमङ्गीकुरुषे चेत्कथं तवोत्कर्षो भविष्यति। तथा श्रीकृष्णेन सह संप्रयोगलीलायां समुचितं कायिकं वाचिकं प्रागल्भ्यं विहाय तत्पाणिस्पर्शमात्रेणैव केवलं कम्पसे चेत्कथं तव विलाससुखं संभवेत्। ततश्च व्यर्थमेव स्वगात्रे मण्डनवैचित्रीमभ्यस्यसि। तस्या हि फलं सौभाग्यं तस्य च सदा श्रीकृष्णाङ्गसङ्गस्तस्य च परमानन्दादानप्रदाने तयोश्च सर्वतः स्वोत्कर्ष इत्यवधिः। तमेव स्वोत्कर्षं निकृष्टजनमादृत्य दूरीकुरुषे चेत् कस्तव परामर्श इति। अतएवानभिज्ञे इति संबोधनम्। वस्तुतस्तु सर्वैवेयं व्याजस्तुतिरुत्कर्षमेव व्यनक्ति॥१२१॥

अथ संदेशप्रेषणं यथा हंसदूते—

त्वया गोष्ठं गोष्ठतिलक किल चेद्विस्मृतमिदं,
न तूर्णं धूमोर्णापतिरपि विधत्ते यदि कृपाम्।
अहर्वृन्दं वृन्दावनकुसुमपालीपरिमलै–
र्दुरालोकं शोकास्पदमथ कथं नेष्यति सखी॥१२२॥

तात्पर्यानुवाद—संदेशप्रेरण—श्रीकृष्णके मथुरामें चले जानेपर माथुरविरहमें कातर श्रीमती राधिकाकी मूर्च्छाको देखकर ललिता मोहोन्मत्ता होकर हंसको दूतके रूपमें श्रीकृष्णके निकट भेज रही है—“हे कुलतिलक! तुम यदि सचमुच ही गोष्ठको विस्मृत हो गए हो और यदि यम शीघ्र ही कृपा न करें, तो मेरी सखी इस वृन्दावनकी कुसुमराशिके परिमलसे दुर्दर्शनीय और शोकास्पद दिनोंको किस प्रकार अतिवाहित करेगी? अतएव यदि तुम शीघ्र ही वृन्दावन आ सको तो श्रीराधाको देख सकोगे, अन्यथा विलम्ब होनेपर उसको कभी भी नहीं देख पाओगे॥”१२२॥

लोचनरोचनी—धूमोर्णापतिर्यमः॥१२२॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता मथुरास्थे श्रीकृष्णे हंसद्वारा संदेशं प्रेषयन्त्याह—त्वयेति श्लोकद्वयेन। गोष्ठीतिलकेति विपरीतलक्षणा स्वगोष्ठ्या दुःखदायित्वात्। यद्वा संप्रति यदुकुलमेव तव गोष्ठी धूमोर्णापतिर्यमः। कृपां कृपया दशम्या दशायाः प्रदानं तूर्णमिति विलम्बेन तु करिष्यत्येवेति भावः। तेन च शीघ्रमायासि चेत्तदैवेमां द्रक्ष्यसि नान्यथा। वृन्दावने तूद्दीपनविभावः॥१२२॥

अथ नायिकाप्राणसंरक्षाप्रयत्नो यथा—

त्वामायान्तं कथयति मृषा कुर्वती दिव्यमुग्रं,
मूर्च्छारम्भे तव मणिमयीं दर्शयत्याशु मूर्तिम्।

वन्ये वेणौ ध्वनति मरुता कर्णरोधं विधत्ते,
रक्षत्यस्याः कथमपि तनुं माधवी यादवेन्द्र॥१२३॥

तात्पर्यानुवाद—नायिकाकी प्राणरक्षा हेतु प्रयत्न—वृन्दावनसे पुनः मधुपुरी आगमन करनेपर उद्धवसे श्रीकृष्णने पूछा—सखे! श्रीमती राधिका कुशल तो हैं? उद्धवने कहा—"हे यादवेन्द्र! माधवी नामक सखी नाना प्रकारके उपायोंसे किसी प्रकार उनके प्राणोंकी रक्षा कर रही है अर्थात् श्रीराधिका तुम्हारे विरहमें अत्यन्त कातर होकर माधवीसे पूछ रही हैं—"सखि! श्रीकृष्णने शपथ लेकर कहा था कि वे शीघ्र ही लौटकर आ रहे हैं, किन्तु उनके आगमनका दिन तो व्यतीत हो गया और अभी तक उनका आगमन नहीं हुआ। अतः हे सखि! तुम आदेश दो, मैं प्राण त्याग करूँ।" इसे सुनकर माधवीने कहा—"राधे! मैं शपथपूर्वक कह रही हूँ कि श्रीकृष्ण अवश्य ही आ रहे हैं।" श्रीराधिकाने कहा—"सखि! क्या तुम मुझे प्रतारित कर रही हो? मैं तो उन्हें कहीं भी नहीं देख रही हूँ।" ऐसा कहते हुए सहसा मूर्च्छित हो गईं। उस समय माधवीने शीघ्र ही तुम्हारी मणिमयी मूर्त्तिको उनके सामने प्रदर्शितकर कहा—"सखि! देखो, यही तो तुम्हारे प्राणनाथ हैं।" किसी दूसरे समय कभी-कभी अरण्यमें श्रीमती राधिकाके अधीर हो जानेपर वनमें वायुके वेगसे वेणुओंके परस्पर संघर्ष हेतु शब्द उत्पन्न होनेपर, कहीं श्रीकृष्णकी मुरलीका नाद समझकर पुनः मूर्च्छित न हो जाएँ, इस आशङ्कासे मालती उनके कानोंका आच्छादन करती है। अतः हे सखे! इस प्रकार महाकष्टपूर्वक जैसे-तैसे श्रीमती राधिकाके प्राणोंकी रक्षा कर रही हैं॥"१२३॥

लोचनरोचनी—दिव्यं शपथम्। वेणौ कीचके। माधवीनाम्नी॥१२३॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवः श्रीराधावृत्तान्तं पृच्छन्तं श्रीकृष्णमाह—त्वामिति। मूर्च्छारम्भ इत्युभयत्रैव काकाक्षिगोलकन्यायेन संबन्धनीयमन्यथान्त्यस्य वाक्यद्वयस्य लक्ष्यद्वयेन संबन्धे प्रथमवाक्यस्य लक्ष्याभावात् प्रक्रमभङ्गो नाम दोषः स्यात्। तत्र प्रक्रम शब्दस्यादितोऽन्ततश्च ग्रहणव्याख्यानात्। यद्वैवमवतारणीयम्—हे सखि! अवधि दिनं व्यतीतं तदनुज्ञापय प्राणांस्त्यजामीत्युक्तवत्यां तस्यां त्वामायान्तमित्यादि। उग्रं दिव्यं महाशपथं सखि मां शपथादिना प्रतारयसिमात्रम्। यतोऽग्रे नासौ चिरादपि दृश्यत इति मूर्च्छाया आरम्भे तव मणीत्यादि। ततश्चास्यां लब्धविश्वासायां त्वां

मिलितवत्याम् अकस्मात्तदैव मरुता हेतुना वनोद्भवे वेणौ कीचके ध्वनति सति अस्याः कर्णौ रुन्धे। अर्थात् स्वपाणिभ्यामित्यर्थः। मुरलीध्वनिबुद्ध्या रासप्रतीत्या तत्रोन्मादेन धावितवत्यास्तत्र श्रीकृष्णादर्शनेन पुनर्मूर्च्छाया भावित्वशङ्कयेति भावः। माधवीनाम्नी काचित्सखी॥१२३॥

अथासामपरः कोऽपि विशेषः पुनरुच्यते।
असमं च समं चेति स्नेहं सख्यः स्वपक्षगाः।
कृष्णे यूथाधिपायां च वहन्त्यो द्विविधा मताः॥१२४॥

तात्पर्यानुवाद—इन सखियोंके दूसरे प्रकारके वैशिष्ट्योंका पुनः वर्णन कर रहे हैं—स्वयूथ स्थित सखियोंका श्रीकृष्ण तथा स्वयूथेश्वरीमें असम और सम स्नेह वहन करनेके कारण असमस्नेहा और समस्नेहा प्रकारसे दो भेद होते हैं॥१२४॥

आनन्दचन्द्रिका—आसां सखीनाम्॥१२४॥

तत्रासमस्नेहाः—

अधिकं प्रियसख्यास्तु हरौ तस्यां ततस्तथा।
वहन्त्यः स्नेहमसमस्नेहास्तु द्विविधा मताः॥१२५॥

तात्पर्यानुवाद—असमस्नेहा—ये दो प्रकारकी होती हैं—हरिकी अपेक्षा प्रियसखीमें और प्रियसखीकी अपेक्षा हरिमें अधिक स्नेहवती॥१२५॥

लोचनरोचनी—ततो हरेः॥१२५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियसख्याः स्वयूथेश्वर्य्याः सकाशाच्छ्रीहरावधिकं तथा ततो हरेः सकाशात्तस्यां प्रियसख्यामधिकम्॥१२५॥

तत्र हरौ स्नेहाधिकाः—

अहं हरेरिति स्वान्ते गूढामभिमतिं गताः।
अन्यत्र क्वाप्यनासक्त्या स्वेष्टां यूथेश्वरीं श्रिताः॥१२६॥

मनागेवाधिकं स्नेहं वहन्त्यस्तत्र माधवे।
तद्दूत्यादिरताश्चेमा हरौ स्नेहाधिका मताः॥१२७॥

तात्पर्यानुवाद—प्रियसखीकी अपेक्षा हरिके प्रति अधिक स्नेहवती—जो सखियाँ अपने अन्तःकरणमें "मैं हरिकी हूँ" ऐसा गूढ़ अभिमान रखकर और किसी भी दूसरी यूथेश्वरीमें आसक्त नहीं होतीं, केवल अपनी यूथेश्वरीका ही आश्रय ग्रहण करती हैं और अपनी यूथेश्वरीके प्रति सम्पूर्ण स्नेहवती रहनेपर भी उनकी अपेक्षा कुछ अधिक परिमाणमें माधवके प्रति स्नेह वहन करती हुई उनके लिए दौत्यादि कार्योंमें निरत रहती हैं, उन सखियोंको हरिमें अधिक स्नेहवती कहा जाता है॥१२६–१२७॥

आनन्दचन्द्रिका—अभिमतिमभिमानम्। गूढमिति। बहिस्तु द्वयोरपि स्नेहसाम्यमात्मनो दर्शयन्त्य इत्यर्थः॥१२६॥

क्वापि यूथेश्वरीषु। नन्वहं हरेरित्यभिमानश्चेत्तदा किं यूथेश्वर्याः आश्रयणेनेत्याह—मनागिति। यूथेश्वर्यां पूर्णमेव स्नेहं किन्तु तस्याः सकाशादपि माधवे मनाग् किंचिन्मात्रमधिकम्॥१२७॥

यथा—

> **न मे चेतस्यन्यद्वचसि पुनरन्यत्कथमपि,**
> **स्थवीयान् मानस्ते सखि मयि मुखं न प्रथयति।**
> **रवेस्तापेनेव क्षणमुदयता येन जनितो,**
> **वकारेर्वक्त्रेन्दुश्छविशबलिमा मां ग्लपयति॥१२८॥**

तात्पर्यानुवाद—एक समय अति मानिनी श्रीमती राधिकाके प्रति दक्षिण प्रखरा धनिष्ठा आक्षेप करती हुई अपनी निष्ठाका परिचय दे रही है—"हे सखि! मैं अन्यान्य सखियोंकी भाँति मन और वचनसे भिन्न नहीं हूँ। देखो, तुम्हारा यह दुर्जेय मान मुझे अच्छा नहीं लगता; क्योंकि यह मान क्षणकालके लिए उदित होनेपर भी सूर्यकी प्रखर किरणोंके समान ताप प्रदान करता हुआ श्रीकृष्णके वदन चन्द्रको उदास कर देता है और उससे मैं भी अत्यन्त ग्लानि-भोग करती हूँ॥"१२८॥

लोचनरोचनी—मम चेतस्यन्यद्वचसि पुनरन्यदिति कथमपि न स्यात्। किन्तु द्वयोरेकमेवेत्यर्थः। तदेव कथयेत्याकाङ्क्ष्याह—स्थवीयानिति॥१२८॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्रीराधां घनिष्ठा प्राह—न मे चेतसीति। यदेव तुभ्यं रोचते तदेव न्याय्यतया त्वन्मुखालोकार्थं ब्रुवन्त्योऽन्याः सख्य इव नाहं ब्रवीमीति

भावः। स्थवीयानतिस्थूलः। प्रथयति प्रख्यापयति प्रकाशयतीति यावत्। येन मानेन॥१२८॥

यथा वा—

सुरकुलमखिलं प्रणम्य मूर्ध्ना प्रवरममुं वरमर्थये वराङ्गि।
मुहुरभिमतसेवया यथाहं सुबलसखं सुखयामि राधिकां च॥१२९॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें प्रखरासखीके श्रीकृष्णके प्रति स्नेहाधिक्यको दिखलाकर मध्याके स्नेहाधिक्यको दिखला रहे हैं। श्रीमती राधिकाकी दक्षिणमध्या एक सखीसे कुछ सखियाँ परिहासपूर्वक श्रीकृष्णके साथ उसके सम्बन्धके विषयमें पूछ रही थी, इसपर वह कह रही है—"हे सखि! मैं सभी देवताओंको मस्तकसे प्रणामकर एकमात्र अत्यन्त श्रेष्ठ यही वर प्रार्थना करती हूँ कि मैं सुबलसखा श्रीकृष्णको एवं समय विशेषमें श्रीराधाको भी अभिमत सेवाके द्वारा सुखी कर सकूँ।" यहाँ श्रीराधाकी सेवाका गौणत्व सूचित होनेसे श्रीकृष्णके प्रति स्नेहाधिक्यका वर्णन हुआ है॥१२९॥

आनन्दचन्द्रिका—वचनमिदं समस्नेहानामपि संभवेत्। यदुक्तम् "आसां सुष्ठु द्वयोरेव प्रेम्णः परमकाष्ठया। क्वचिज्जातु क्वचिज्जातु तदाधिक्यमिवेक्ष्यते॥" इत्यतोऽसाधारणताख्यापकमुदाहरणान्तरं वक्तुमाह—यथावेति। तत्रातिरहसि। स्वभाव-साजात्यवर्तीं कांचित् स्वशिक्ष्यमाणसख्यप्रकारां काचिदाह—सुरकुलेति। राधिकां चेति। चकारेण सूचितं श्रीराधिकाविषयकसेवाग्रहाल्पत्वं श्रीकृष्णस्नेहाधिक्यं बोधयति॥१२९॥

याः पूर्वं सख्य इत्युक्तास्तास्तु स्नेहाधिका हरौ॥१३०॥

तात्पर्यानुवाद—पहले कही गईं कुसुमिका और बिन्ध्या आदि सखियोंको श्रीहरिमें स्नेहाधिका कहा गया है॥१३०॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वं सखीनां पाञ्चविध्यप्रसङ्गे सख्यः कुसुमिका विन्ध्या इत्याद्या उक्ताः॥१३०॥

अथ प्रियसख्यां स्नेहाधिकाः—

तदीयताभिमानिन्यो याः स्नेहं सर्वदाश्रिताः।
सख्यामल्पाधिकं कृष्णात् सखीस्नेहाधिकास्तु ताः॥१३१॥

यथा—

विरमतु तव वृन्दे दूत्यचातुर्यचर्या, सहचरि विनिवृत्य ब्रूहि गोष्ठेन्द्रसूनुम्।
विषमविषधरेयं शर्वरी प्रावृषेण्या, कथमिह गिरिकुञ्जे भीरुरेषा प्रहेया॥१३२॥

तात्पर्यानुवाद—प्रियसखीमें स्नेहाधिका—जो सखियाँ "मैं तुम्हारी हूँ" ऐसा तदीयतामय स्नेह वहन करती हैं और श्रीकृष्णसे भी श्रीमती राधिकाके प्रति कुछ अधिक स्नेह करती हैं, उन्हें सखीस्नेहाधिका कहा जाता है। यथा, श्रीकृष्णको सङ्केतकुञ्जमें विराजमान कराकर श्रीमती राधिकाको अभिसार करानेके लिए उपस्थित हुई श्रीवृन्दाको श्रीमती राधिकाकी प्राणसखी शशिकला अत्यन्त भयपूर्वक कह रही है—"हे सहचरि! दौत्यकार्य स्थगित करो। यहाँसे लौटकर श्रीकृष्णसे कहो कि यह भयङ्कर वर्षाकी घोर अन्धेरी रात है और उसमें विषधर सर्पसमूह इधर-उधर विचरण कर रहे हैं। इस स्थितिमें भीरुसखीको किस प्रकारसे गिरिकुञ्जमें ले आऊँ। अभी वे ही स्वयं किसी प्रकार छिपकर श्रीमती राधिकाके निकट अभिसार करें॥"१३१-१३२॥

लोचनरोचनी—श्रीकृष्णेन दिनांश एव वृन्दाद्वारा हृतायां स्वसख्यां चलन-युक्त्यलाभेन रात्र्यागमे जाते काचित् प्रत्याचष्टे—विरमत्विति। प्रावृषेण्या प्रावृषि भवा॥१३२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधिकायाः प्राणसखी काचित् प्रखरा श्रीराधाभिसारं प्रत्याचक्षाणा वृन्दामाह—विरमत्विति। प्रावृषेण्या प्रावृषि भवा। विषधराः सर्पाः। प्रहेया प्रस्थापनीया। तेन निर्भयेन कालियादिसर्पमर्दनेन त्वयैव प्रच्छन्नमत्राभिसारणीयम् इति भावः॥१३२॥

यथा वा—

वयमिदमनुभूय शिक्षयामः कुरु चतुरे सह राधयैव सख्यम्।
प्रियसहचरि यत्र बाढमन्तर्भवति हरिप्रणयप्रमोदलक्ष्मीः॥१३३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार उल्लिखित वाक्य समस्नेहासखीके लिए भी सम्भव हो सकता है। इसलिए उससे सर्वथा सन्तुष्ट न होनेके कारण पुनः कह रहे हैं। अर्थात् पूर्वपद्यमें प्रखराका सखीस्नेहाधिक्य दिखलाकर इस पद्यमें मध्याका उदाहरण दे रहे हैं।

मणिमञ्जरी किसी एक नवीन सखीको शिक्षा दे रही है—"हे सखि! मैं स्वयं अनुभवकर तुम्हें उपदेश दे रही हूँ। तुम श्रीराधाके सहित सख्य विधान करो। यदि ऐसा समझती हो कि हरिके साथ प्रणय नहीं करनेसे श्रीराधाके साथमें प्रणय करनेकी आवश्यकता क्या है? तो हे सखि! उसका कारण मैं तुम्हें बतला रही हूँ। श्रीराधाके सहित यदि तुम्हारा प्रणय सिद्ध होता है, तो हरिप्रीतिरूप सम्पत्ति स्वयं आकर तुम्हारे लिए उपस्थित होगी। अतएव श्रीराधाके सहित सख्य विधान करना ही तुम्हारे लिए उचित है॥"१३३॥

लोचनरोचनी—यत्र श्रीराधासख्ये श्रीहरिप्रणयानन्दसंपत्तिरन्तर्भावं प्राप्नोति॥१३३॥

आनन्दचन्द्रिका—इदमपि वचनं पूर्वोक्तयुक्त्या समस्नेहानामपि संभवेदित्यत आह—यथावेति। मणिमञ्जरी कांचिन्नवीनां शिक्षयन्त्याह—वयमिति। ननु राधयैवेत्येवकारेण किं श्रीकृष्णविषयकं सख्यं नाभिप्रेतमित्यत आह—यत्रेत्यादि। यत्र श्रीराधासख्ये हरेः प्रणयः श्रीकृष्णकर्तृकं सख्यं स एव प्रमोदलक्ष्मीः आनन्दसंपत्तिः साप्यन्तर्भवति किं पुनर्वक्तव्यं श्रीकृष्णविषयकं सख्यमन्तर्भविष्यतीति। अयमर्थः। तव श्रीराधासखीत्वे सिद्धे मत्प्रेयस्याः सखीयमिति त्वयि श्रीकृष्णस्य स्नेहाधिक्यमवश्यम्भावि। तथा श्रीराधायाः कदाचिन्मानगुरुनिरोधादावतिदौर्लभ्ये तत्प्राप्त्यर्थं त्वामप्यपेक्षिष्यमाणेन तेन प्रथमत एव त्वया सह सख्यमवश्यं कर्तव्यमिति तेन सह तव सख्यमयत्न-सिद्धमिति॥१३३॥

याः पूर्वं प्राणसख्यश्च नित्यसख्यश्च कीर्तिताः।
सखीस्नेहाधिका ज्ञेयास्ता एवात्र मनीषिभिः॥१३४॥

तात्पर्यानुवाद—जिन शशिमुखी, वासन्ती आदि प्राणसखियों और कस्तूरी, मणिमञ्जरी इत्यादि नित्यसख्यिोंका वर्णन किया गया है, उन्हींको मनीषिगणोंके द्वारा सखीस्नेहाधिका कहा गया है॥१३४॥

आनन्दचन्द्रिका—"सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन। प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठसख्यश्चेति पूर्वत्र यथोत्तरश्रैष्ठ्येऽप्युक्तेऽत्र प्राणसख्यश्च नित्यसख्यश्चेति यथा पूर्वश्रैष्ठ्येनोक्तिरुदाहरणे मुख्यस्यैव प्राथम्यौचित्यात्। एवमग्रेऽपि "परमप्रेष्ठसख्यश्च प्रियसख्यश्च ता मताः" इति वक्ष्यते॥१३४॥

अथ समस्नेहाः—

कृष्णे स्वप्रियसख्यां च वहन्त्यः कमपि स्फुटम्।
स्नेहमन्यूनताधिक्यं समस्नेहास्तु भूरिशः ॥१३५॥

तात्पर्यानुवाद—समस्नेहा—जो सखियाँ श्रीकृष्णमें और अपनी सखीमें ठीक-ठीक समान सुव्यक्त और अनिर्वचनीय स्नेह वहन करती हैं, उनको समस्नेहा कहा गया है। सखियोंमें इन्हींकी संख्या अधिक होती है॥१३५॥

यथा—

विना कृष्णं राधा व्यथयति समन्तान्मम मनो,
विना राधां कृष्णोऽप्यहह सखि मां विक्लवयति।
जनिः सा मे मा भूत् क्षणमपि न यत्र क्षणदुहौ,
युगेनाक्ष्णोर्लिह्यां युगपदनयोर्वक्त्रशशिनौ ॥१३६॥

तात्पर्यानुवाद—समस्नेहाका उदाहरण—श्रीमती राधिकाके मानिनी होनेपर अकस्मात् श्यामाकी सखी बकुलमाला वहाँ उपस्थित हुई और चम्पकलतासे कहने लगी—"सखि! श्रीकृष्णके बिना अकेली श्रीराधा मेरे अन्तःकरणको सब प्रकारसे व्यथित करती है। हा कष्ट! उसी प्रकार श्रीराधाके बिना अकेले श्रीकृष्ण भी मेरे हृदयमें अत्यन्त व्यथा उत्पन्न करते हैं। अतएव हे सुन्दरि! जिस जन्ममें एक कालीन श्रीराधा और श्रीकृष्णका उत्सवप्रद वदनचन्द्र नयनोंके द्वारा आस्वादनीय न हो, वह जन्म मुझे प्राप्त न हो॥"१३६॥

लोचनरोचनी—विना कृष्णमिति। मानिन्यां सत्यां श्रीराधायां वामां सखीं प्रति समस्निग्धावाक्यम्। क्षणदुहावुत्सवपूरकौ॥१३६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायां मानिन्यामकस्मादागतां श्यामासखीं वकुलमालां प्रति चम्पकलता प्राह बिना कृष्णमिति। यत्र जन्मनि। क्षणदुहावुत्सवपूरकौ॥१३६॥

तुल्यप्रमाणकं प्रेम वहन्त्योऽपि द्वयोरिमाः।
राधाया वयमित्युच्चैरभिमानमुपाश्रिताः।
परमप्रेष्ठसख्यश्च प्रियसख्यश्च ता मताः ॥१३७॥

तात्पर्यानुवाद—उल्लिखित सखियोंमें जो सखियाँ श्रीराधाकृष्णके प्रति एक मात्रामें प्रेम वहन करनेपर भी "मैं राधिकाकी ही हूँ" इस प्रकार अतिशय अभिमानका पोषण करती हैं, उनमें परमप्रेष्ठसखी ललिता आदि और प्रियसखी कुरङ्गाक्षी प्रभृति ही समस्नेहा हैं॥१३७॥

लोचनरोचनी—राधाया वयमिति। स्त्रीत्वादि साम्येन तदन्तरेव प्रवेशात्॥१३७॥

आनन्दचन्द्रिका—तुल्यप्रमाणकमिति। नन्वत्र ग्रन्थे श्रीकृष्णे स्नेहाधिकाः, प्रियसख्यां स्नेहाधिकाः, द्वयोः समस्नेहा इति त्रैविध्यस्यैव फलितत्वे पूर्वं सखीनां पाञ्चविध्यं कथमुक्तम्। सखीस्नेहाधिकानां समस्नेहानां चेति उभयासां प्रेमतारतम्यार्थं द्वैविध्यतयोक्तिश्चेत् श्रीकृष्णे स्नेहाधिकानां कथमैकविध्यम्; तासामपि द्वैविध्यतयोक्तिरुच्यताम्। तासामपि किं प्रेमतारतम्यं न संभवेत् तथा समस्नेहानां श्रैष्ठ्यमिव द्वयोरसमस्नेहानां निष्कर्ष एकरूप एव वक्तुमुचितः। कस्माच्छ्रीकृष्णे स्नेहाधिकाः सख्यः कुसुमिका विन्ध्या इत्याद्याः सर्वतोऽपि न्यूनकक्षायां निवेशिताः। स्वप्रेयस्यां स्नेहाधिकाः, प्रियसख्यां स्नेहाधिकाः श्रीकृष्णेनोत्कृष्यन्त इति चेत् स्वप्रियतमे प्रेमाधिकाः श्रीराधिकयाप्युत्कृष्यन्ताम्। ननूत्कृष्यन्त एव किन्तु श्रीकृष्णेनैव संतुष्यता तानि तानि नामानि कृतानीति चेत् श्रीराधयापि किं तादृशानि कर्तुं न शक्यन्ताम्। अयमत्र समाधिरवधेयः। सख्यः, नित्यसख्यः, प्राणसख्यः, प्रियसख्यः, प्रियनर्मसख्यश्चेति ता वस्तुतः श्रीराधाकृष्णयोर्द्वयोरेव यथोत्तरप्रेमाधिक्यवत्यो भवन्तीति तथातथानामतयाख्यायन्ते। तथा हि याः श्रीकृष्णे स्नेहाधिकाः सख्यस्ताभ्यः सकाशात् द्वयोरेवाधिकस्नेहवत्यो भवन्त्योऽपि नित्यसख्यः श्रीकृष्णविषयात् स्नेहाच्छ्रीराधाविषयं स्नेहं किंचिन्मात्रमधिकं वहन्तीति सखीस्नेहाधिका उच्यन्ते। ताभ्यो नित्यसखीभ्यः सकाशादपि द्वयोरेवाधिकस्नेहवत्यः प्राणसख्योऽपि तथैव श्रीराधायां किंचिन्मात्रस्नेहाधिक्यात् सखीस्नेहाधिकास्ता अप्युच्यन्ते। ताभ्योऽपि सकाशात् द्वयोरेवाधिकं स्नेहं किन्त्वन्यूनानतिरेकं वहन्तीति प्रियसख्यः समस्नेहा स्ताभ्योऽपि प्रियनर्मसख्यस्तथैव समस्नेहा इति। ननु भवत्वेषामुत्तरोत्तरोत्कर्षेण न विप्रतिपद्यामहे किन्तु सखीस्नेहाधिका यथा नित्यसख्यः प्राणसख्यः इति द्विविधाः कृतास्तथैव श्रीकृष्णस्नेहाधिका अपि सख्यः, स्निग्धसख्य इति नाम्ना द्विविधाः किं न कृता इत्यभिप्रायमनवाप्य मुह्यामः। सत्यमिह खलु गोपीपदवीप्राप्ती रागानुगां भक्तिं विना न भवतीति पूर्वप्रतिपादितात् सिद्धान्तादानुग्यं च विना रागानुगाया असिद्धे रागानुगमनेनैव रागवतीनां तासामप्यनुगतिर्व्याख्यातेति अनुगम्या नित्ससिद्धा गोप्य इवानुगन्त्र्योऽपि लब्धसिद्धयोऽनादित एवानुगम्याभ्यः किंचिन्यूनतया वर्तन्त एव। तत्र स्ववासनानुसारेण यूथेश्वरीणां तत्सखीनां चानुग्ये प्राप्ते याः यूथेश्वरीरनुगन्त्र्यस्ताः परमप्रेष्ठसख्यः समस्नेहपरमप्रेष्ठसखीरनुगन्त्र्यस्ताः प्रियसख्यः, याश्चासमस्नेहासु मध्ये श्रीराधास्नेहाधिकप्राणसखीरनुगन्त्र्यस्ता नित्सख्योऽनादित एव स्थिताः। श्रीकृष्णस्नेहाधिकानां

सखीनामनुगन्त्र्यस्तु नासन्निति तासामेकविध्यमनुगमनानर्हत्वादन्याभ्योऽन्यूनत्वं च युक्तिसिद्धमेव। ननु ताः कथमनुगमनानर्हाः? उच्यते। रागानुगीयभक्तमते श्रीकृष्णादन्यूनप्रीतिमत्तयैवानुजिगमिषिता गोपी खल्वनुगम्यते। तस्मान्न्यूनप्रीताप्यनुगमने वाच्ये वैधाद्रागस्य को विशेषः। भक्तानुगतिं विना वैधभक्तेरप्यसिद्धेः। तस्माच्छ्रीकृष्णेऽधिका सखी तदनुजिगमिषुभिर्जनैः श्रीकृष्णादन्यूनप्रीतिविषयीकर्तव्या, श्रीराधिकाद्या सर्वयूथेश्वरी तु श्रीकृष्णादीषन्न्यूनप्रीतिविषयीकार्येति सख्याः सकाशादपि यूथेश्वर्य्या अपकर्षे द्योतिते महानैवानय इत्यतः सख्यो नानुगम्यन्त इति ता एकविधा एवेति सर्वमवदातम्॥१३७॥

॥ अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

नवमोऽध्यायः
अथ श्रीहरिवल्लभा–प्रकरणम्

आसां चतुर्विधो भेदः सर्वासां व्रजसुभ्रुवाम्।
स्यात्स्वपक्षः सुहृत्पक्षस्तटस्थः प्रतिपक्षकः ॥१॥

सुहृत्पक्ष–तटस्थौ तु प्रासङ्गिकतयोदितौ।
द्वौ स्वपक्ष–विपक्षाख्यौ भेदावेव रसप्रदौ ॥२॥

प्रोक्तस्तत्र स्वपक्षस्य विशेषः पूर्वमेव हि।
सुहृत्पक्षादिभेदानां दिगेव किल दर्श्यते ॥३॥

तत्र सुहृत्पक्षः—

सुहृत्पक्षो भवेदिष्टसाधकोऽनिष्टबाधकः ॥४॥

तात्पर्यानुवाद—उल्लिखित व्रजसुन्दरियोंके चार भेद होते हैं—स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ और विपक्ष। प्रसङ्गक्रमसे सुहृत्पक्ष और तटस्थपक्षका वर्णन पहले किया जा रहा है। क्योंकि स्वपक्ष और विपक्ष, ये दोनों भेद अतीव रसप्रद हैं। उनमेंसे स्वपक्षका विशेष वर्णन भी पहले किया जा चुका है। यहाँ सुहृत्पक्षादिका भेद दिग्दर्शन–न्यायसे किया जा रहा है। **सुहृत्पक्ष—**इष्टसाधक और अनिष्टबाधक भेदसे दो प्रकारका होता है ॥१–४॥

लोचनरोचनी—अथ सर्वासामेव व्रजसुभ्रुवां भेदान्तराण्याह—आसामिति ॥१॥

सुहृत्पक्षो भवेदित्यत्र यत्किंचिदेवेष्टसाधकत्वादिकं ज्ञेयम्। कार्त्स्न्ये तु सख्यमापद्येतेति। यद्वा तदेतन्मात्रं सौहृदलक्षणमित्यर्थः। गाढप्रणयादिकं सख्य एव ज्ञेयम् ॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ सखीनां यूथेश्वरीणां च भावसाजात्यवैजात्यनिबन्धनान् भेदान् संक्षिप्य पृथक् प्रदर्शयन्नाह—आसामिति ॥१॥

या यस्या इष्टं साधयत्यनिष्टं बाधते सा तस्याः सुहृत्पक्षः। यद्यप्येतत् स्वपक्षेण साधारणं तदप्येतन्मात्रत्वे सुहृत्पक्षत्वं स्वपक्षस्य तु ऐकमत्यैकधर्माधिकं बहुतरमेवासाधारणं लक्षणमस्ति॥४॥

तत्रेष्टसाधकत्वं यथा—

अद्याकर्णय मद्गिरं परिजनैरेभिः समं श्यामले,
राधायास्त्वयि सौहृदं सखि जगच्चित्तेषु चित्रीयते।
उल्लासाद्भवदाख्यया यदनिशं तस्याङ्गरागस्त्वया,
सान्द्रश्चन्द्रकशेखरस्य समये चन्द्रान्वितः प्रेष्यते॥५॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **इष्टसाधक—**एक दिन कुन्दलता श्यामलाके घरमें आकर सखीसमाजमें बैठी हुई श्यामलासे बोली—"हे श्यामले! तुम अपने परिजनोंके साथ मेरी बातोंको सुनो। तुम्हारे सम्बन्धमें श्रीराधाजीकी मैत्री जगत्-वासियोंके चित्तको विस्मित कर रही है। हे सखि! वे तुम्हारे प्रति सौहृद्यके कारण परम उल्लासवशतः कर्पूरयुक्त चन्दन, अगुरु, कुमकुम और कस्तूरीके मिश्रित गाढ़ा अङ्गराग प्रस्तुतकर तुम्हारे नामसे तुम्हारी सखीके द्वारा उचित समयपर शिखण्डचूड़ श्रीकृष्णके निकट भेजती हैं। अतएव हे सखि! इन कारणोंसे श्रीमती राधिकाका तुम्हारे प्रति विशेष स्नेह सूचित होता है। मैं बहुत दिनोंसे इस व्यापारको देखकर उसे प्रकाश किए बिना रह नहीं सकी। इसीलिए मैं तुमसे कह रही हूँ॥"५॥

लोचनरोचनी—चन्द्रशेखरस्येति। तादर्थ्ये संबन्धमात्रे षष्ठी॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—कुन्दवल्ली श्यामलाया गृहं गत्वा तस्याः सभामध्यमासीना तामाह—अद्येति। अस्माभिः प्रतिदिनमेवास्वाद्यते। अद्य तु त्वामहं तदास्वादयामीति भावः। एभिः सममिति मद्गिरं मृषा मा मंस्थाः। एषां मध्ये केऽपि तत्र साक्षिणोऽपि भविष्यन्तीत्यभिप्रायात्। त्वयि विषये श्रीराधायाः सौहृदं "पटो भग्न" इति न्यायेन जगद्वर्त्तिनामेव स्त्रीजनानां चित्तभित्तिषु लिखितं चित्रमिव शोभत इत्यर्थः। यदैव विभाव्यते जनाः स्वचित्ते परमविस्मयानन्दं प्राप्नुवन्तीति भावः। तदेवाह—उल्लासादित्यादि। तस्य चन्द्रकशेखरस्य श्रीकृष्णस्याङ्गरागश्चन्दनागुरु-कुङ्कुम-कस्तूर्यादीनां स्वकल्पिताद्भुत-शिल्पकौशलेन योजनया साधितश्चन्द्रान्वितः कर्पूरयुक्तोऽनुलेपविशेषोऽनिशं नित्यमेव भवत्या आख्यया नाम्ना प्रेष्यते। अयमर्थः—मह्यमिव श्यामायै मत्कान्तेन तेन सौभाग्यं

दीयतामित्यभिप्रायेण भवत्याः सखीनां मध्ये कामपि संबोध्य राधया एवमुच्यते—हे सखि! इममङ्गरागं गृहीत्वा श्रीकृष्णनिकटं याहि। तेन पृष्टा त्वं श्यामालयैव त्वदर्थं स्वहस्तेनैव निर्मितोऽयमङ्गरागो मद्वारा प्रेषित इति ब्रूहीति॥५॥

अनिष्टबाधकत्वं यथा—

गीर्भिर्मूढजनस्य खण्डितमतिर्भाण्डीरमूले मुधा,
किं गन्तास्मि तवोदिते बलवती श्यामे प्रतीतिर्म्मम।
निर्व्याजं वटराजरोधसि वधूवेषक्रियोद्भासिना,
कंसारिः सुबलेन गोष्ठनगरीवैहासिकः क्रीडति॥६॥

तात्पर्यानुवाद—अनिष्टबाधक—एक समय श्रीमती राधिका भाण्डीरवटकी छायामें श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा कर रही थीं। यह देखकर चन्द्रावलीकी सखी पद्मा वहाँसे जटिलाके निकट उपस्थित होकर कहने लगी—"आर्ये! तुम्हारी वधूका चरित्र मैं अपनी आँखोंसे देखकर आई हूँ। हाय, हाय! मैं क्या कहूँ? उस वटके नीचे श्रीकृष्णके साथ स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा कर रही है।" इतना सुनते ही जटिला अत्यन्त क्रोधित होकर भाण्डीरवटकी ओर जाने लगी। इसी समय श्यामला सहसा वहाँ उपस्थित होकर प्रतारणापूर्वक जटिलाको समझाते हुए कुछ कहने लगी। जटिला उसकी बातोंपर विश्वासकर सन्तुष्ट चित्त होकर बोली—"श्यामले! आज तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। मैं तत्त्वसे अनभिज्ञ मूढ़ (पद्मा जैसे) लोगोंकी बातोंपर विश्वासकर भाण्डीरवट जा रही थी, किन्तु तुम्हारी बातोंको सुनकर मैं दृढ़ विश्वासके साथ जान गई कि वटराजवृक्षके नीचे वधूवेशधारी सुबलके साथ गोष्ठनगरी-विहासक (गोकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले) कृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। अब मुझे व्यर्थ ही वहाँ जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अब घर लौट रही हूँ।" यहाँ अनिष्ट दूर करनेवाली श्यामला सखी अनिष्टबाधक है॥६॥

लोचनरोचनी—गीर्भिरिति। जटिलानाम्न्या वृद्धाया वचनम्। वैहासिक इति। नापि तत्र तयोर्भावान्तरं किन्तु विहसनमात्रमिति भावः॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—पद्माया उपजापाद्वधूं प्रति कुप्यन्ती जटिला भाण्डीराभिमुखं गच्छन्ती दैवादागतया श्यामलया प्रतार्य प्रबोधिता तुष्यन्ती तां प्रत्याह—गीर्भिरित्यादि।

मूढजनस्य तत्त्वानभिज्ञस्य पद्माभिधस्य जनस्य किं गन्तास्मि कस्माद्यास्यामि नैव यास्यामीत्यर्थः। नन्विच्छा चेद्याहीत्यत आह—तवोदित इति। वटराजो भाण्डीरः। वध्वाः श्रीराधाया इव वेशश्च क्रिया च चरणनयनकरग्रीवादिचालनं ताभ्यामुद्भासिना। तत्रापि नास्ति तयोर्भावान्तरं किंचित् किन्तु विहसनमात्रमित्याह—गोष्ठनगर्यास्तद्वासिनीनामस्मादृशीनां वृद्धानां वैहासिकः। हे जटिले! त्वद्वधूमेतामनङ्गपीडितां विलोक्य कृपयाहं स्वस्पर्शमणिदानेन तूर्णमेनां पूर्णमनोरथां करोमि, तत् प्रत्यक्षमेवालोक्य स्वगोष्ठीमेव धन्यां मन्यस्व, मह्यं च पारितोषिकं किंचिद्देहीति मां विहस्योत्क्षेपयति, तदहं तत्र नैव यामीति भावः॥६॥

अथ तटस्थः—

यो विपक्षसुहृत्पक्षः स तटस्थ इहोच्यते॥७॥

यथा—

खेदं न व्यसने तनोषि वहसे नोल्लासमस्याः शुभे,
दोषाणां प्रकृटीकृतौ न हि धियं धत्से गुणानामपि।
अव्याक्षिप्तमनोगतिः सुवदने द्वेषेण रागेण च,
त्वं श्यामे मुनिवृत्तिरत्र सततं चन्द्रावलौ दृश्यसे॥८॥

तात्पर्यानुवाद—तटस्थ—विपक्षके सुहृत्पक्षको रसशास्त्रमें तटस्थ कहा गया है। यथा—चन्द्रावलीकी सखी पद्मा, श्रीराधाकी सुहृत्पक्ष श्यामला सखीकी निन्दागर्भ स्तुतिके द्वारा उसके स्वभावको व्यक्त कर रही है—"हे श्यामले! तुम चन्द्रावलीके दुःखसे न तो दुःखी होती हो और न ही इनके सुखसे सुखी होती हो। इनके दोष या गुणके कथनमें भी तुम मौन रहती हो। उसके सम्बन्धमें द्वेष या राग तुम्हारी चित्तवृत्तिको बिन्दु-मात्र भी विचलित नहीं करता। अतएव हे सुवदने! इस व्रजमें तुम्हीं केवल चन्द्रावलीके विषयमें सदासर्वदा मौन रहती हो।" इस उदाहरणमें पद्मा चन्द्रावलीके पक्षमें, श्यामला श्रीराधाके पक्षमें सुहृत् है। श्रीराधा और चन्द्रावली परस्पर विपक्ष है। किन्तु श्रीराधाका सुहृत्पक्ष श्यामला चन्द्रावलीके पक्षमें तटस्थ है। विपक्षके सुहृत्पक्षको विपक्ष इसलिए नहीं माना जाता है, क्योंकि उसमें विपक्षकी भाँति ईर्ष्या नहीं रहती। श्रीराधाजी चन्द्रावलीके प्रति जैसे ईर्ष्यादि रखती हैं, श्यामला ऐसा नहीं करती चन्द्रावलीके प्रति। वह चन्द्रावलीके प्रति उदासीन या तटस्थ रहती है॥७–८॥

लोचनरोचनी—विपक्षस्य सुहृत्पक्ष इति। विपक्षे सौहृद्यमात्रपरिग्रहात्तदीयमर्मास्पर्शात् न तद्वदीर्ष्यादिकं तदीयविपक्षे भजतीति तटस्थ एव स्यादिति भावः॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—"विपक्षस्य सुहृत्पक्षस्तटस्थः स्यात्" इति लक्षणं श्रीभगवतैवेन्द्रमखभङ्गप्रसङ्गे व्यञ्जितम्। यदुक्तं—"उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते" इति। अस्यार्थः—उदासीनस्तटस्थः, अरिवत् न त्वरिः। सुहृद्बन्धुः आत्मवन्नत्वात्मा। किन्तु स्त्रीपुत्रभृत्यादिषु सुहृच्छब्दप्रयोगदर्शनाभावात्तद्भिन्नात्महितकर्ता सुहृदुच्यते इति तेन स्वपक्षभिन्नत्वे सति हितकर्तृत्वमिति सुहृदो लक्षणमायातम्। उभयत्रापि वतिप्रत्ययेन प्रकृत्यर्थे हितकर्तृत्वेनांशेनैव सादृश्यमुच्यते। ततश्च उदासीनोऽरिवत् अरिहितकर्तृत्वादरिसुहृद्वदविश्वास्यतया उपेक्ष्यः, सुहृदात्मवदात्महितकर्तृत्वादपेक्ष्य इति॥७॥

पद्मा श्यामामुपालम्भगर्भस्तुत्या प्राह—खेदमिति। अस्याश्चन्द्रावल्या व्यसने अमङ्गले सति खेदं न किंत्वन्ततः सुखमेवेति ध्वनिः। शुभे सति नैवोल्लासं किंत्वन्ततः किंचित्खेदं दोषाणां प्राकट्यस्यैव करणे धियं न धत्से किन्तु सुगुप्तमपकारं करोष्येव। यतस्त्वं राधाया हितकर्त्रीति भावः। गुणानामपीत्यत्र केवला अभिधैव न तु व्यञ्जना प्रवर्त्तितुं प्रभवति, तस्या हि दोषाणामिति प्रथमप्रवर्त्तितया व्यञ्जनया बाधितत्वात्। यद्वा भावगोपानार्था मरीचिकायमाना व्यञ्जनापि ज्ञेया। तथा हि गुणानां प्रकटीकरणे धियं न धत्से किन्तु तद्गोपन एवेति भावः। रागेण प्रेम्णा, पक्षे द्वेषकारणेन रागेण च कोपेनेत्यर्थः। न विशेषेणाक्षिप्ता आक्षेपविषयीभूता मनोगतिर्यस्याः सा। हन्त निरपराधां चन्द्रावलीमहं द्वेष्मि तद्धिङ्मे मन इति ते कुत्रापि नानुतापः स्यादिति भावः। सुवदने इति तत्र तव वदनप्रफुल्लतैव तस्य परिचायिकेत्यर्थः। मुनिवृत्तेर्मौनेनैव सर्वं सापेक्षितं कार्यं साधयसीति भावः। एवं च विपक्षहितकारित्वलिङ्गेन तटस्थपक्षोऽन्तर्वैरगर्भमौदासीन्यमयं व्यवहरतीति फलितोऽर्थः। अन्तर्बहिरेकरूपमौदासीन्यमेव भजन्ननन्यतटस्थस्तु विपक्षस्यापि हिताहितकारी न भवति यः सोऽत्र रसानाधायकत्वान्नोद्धृतः॥८॥

अथ विपक्षः—

मिथ्याद्वेषी विपक्षः स्यादिष्टहानिष्टकारकः॥९॥

तत्रेष्टहन्तृत्वं यथा—

राधे त्वत्पदवीनिवेशितदृशं कुञ्जे हरिं जानती,
पद्मा तत्र निनाय हन्त कुटिला चन्द्रावलीं छद्मना।
इत्याकर्ण्य मुकुन्द सा सुबलतः स्तब्धा तथाद्य स्थिता,
दृष्ट्वा नीलपटीं तनौ जटिलया प्रातर्यथा तर्जिता॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्ष—इष्टनाशक और अनिष्टकारक, परस्पर विद्वेषीजनको विपक्ष कहते हैं॥९॥

इष्टनाशकत्व—एक समय श्रीराधाको अभिसार कराकर अपने निकट लानेके लिए दूती भेजकर श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके पथकी ओर दृष्टि-निबद्धकर निरन्तर देख रहे हैं। उसी समय इस रहस्यको किसी प्रकार जानकर महाधूर्ता पद्माने चन्द्रावलीका अभिसार करा दिया। सुबलके मुखसे इस संवादको पाकर श्रीराधाने जो कुछ किया, उसीको वृन्दा श्रीकृष्णके समीप कह रही है—"हे मुकुन्द! आज सुबलके मुखसे श्रीराधाने सुना 'श्रीकृष्ण कुञ्जगृहमें तुम्हारे आगमनपथको बड़े व्याकुल होकर देख रहे थे। यह जानकर कुटिल पद्माने किसी बहाने चन्द्रावलीको वहाँ लाकर अभिसार करा दिया' इस बातको सुनते ही श्रीमती राधिका इस प्रकार स्तम्भित हुईं (तनमनकी सुधबुध ही भूल गईं) कि प्रातःकाल अपने शरीरकी सुधबुध न रहनेके कारण उनके अङ्गोंपर तिमिराभिसारोचित (अन्धकारमें अभिसार करने योग्य) वेशभूषाको देखकर जटिला उनपर क्रोधसे तर्जन-गर्जन करने लगी॥"१०॥

लोचनरोचनी—मिथो द्वेषी जनो विपक्षः स्यादित्यर्थः। स चेदिष्टहानिष्टकारकश्च स्यात्॥९॥

नीलपट्या अन्धकाराभिसारलक्षणत्वात् कृष्णानुरागतस्तद्वर्णमय—तादृशपटी-धारणसंभवाच्च। धूर्ततया तर्जितेति नीलपदस्य शक्त्या गम्यते॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—मिथो द्वेषी जनो मिथो विपक्षः स्यात्। द्वेषलिङ्गमिष्टहेत्वादि॥९॥

वृन्दा श्रीकृष्णमाह—राधे इत्यादि। अद्येति। पूर्वरात्रिमारभ्याद्यपर्यन्तमित्यर्थः। नीलपटीमिति तदुपलक्षितत्वेनान्धकाराभिसारोचितं सर्वाङ्गाभरणं च। अद्य तथा स्तब्धा स्थिता यथा तर्जितेति। स्तम्भोऽपि तया भयहेतुकत्वेन न विचारित इति बोध्यम्। तर्जिता "अयि कूलद्वयकज्जलपत्रिके अभिसारोचितवेषभूषां धृत्वा किमस्माकं गृहे वससि, किं ललिताद्या दूत्योऽद्य न मिलिताः, उत्तिष्ठ मयैवोच्यसे उपपतिसमीपं याहि मद्गृहं मा पुनरागच्छ युवयोश्चिकित्सार्थं मया सपुत्रया संप्रति मथुरां गम्यत" इत्यादिकटूक्तिभिः॥१०॥

अनिष्टकारित्वं यथा—

कुतः पद्मे पुत्रि क्षितिधरतटादम्ब जटिले,
वधूर्दृष्टा दृष्टा क्व नु रविनिकेतस्य पुरतः।

चिरं नायात्येषा कथमिव निरुद्धात्र हरिणा,
तवाध्वानं पश्यत्यहह भवती धावतु रुषा॥११॥

तात्पर्यानुवाद—अनिष्टकारित्व—गोवर्द्धनके तटप्रान्तमें सूर्यमन्दिरके निकट श्रीकृष्णके साथ राधाके विहारकी बात दूतीके मुखसे सुनकर किसी बहानेसे पद्मा जटिलाके घरमें उपस्थित हुई। उस समय जटिलाके पूछे जानेपर कि तुम कैसे आई? वह कुटिलतावशतः उस लीलामें बाधा सृष्टि करनेके लिए वृद्धाके साथ आलाप करने लगी।

जटिला—पद्मे! कहाँसे आ रही हो?

पद्मा—गोवर्द्धनके तटसे आ रही हूँ।

जटिला—क्या तुमने हमारी वधूको देखा है?

पद्मा—हाँ, मैंने देखा है।

जटिला—कहाँ है वह?

पद्मा—सूर्यमन्दिरके सामने ही है।

जटिला—बहुत देर हो गई, अभी तक घर लौटी क्यों नहीं?

पद्मा—सूर्यमन्दिरके सामने श्रीकृष्णके द्वारा अवरुद्ध होकर तुम्हारे लिए प्रतीक्षा कर रही है। अतएव तुम शीघ्र ही वहाँ जाओ और उसे बचाओ, अन्यथा उसे देख नहीं पाओगी॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—जटिलापद्मयोरुक्तिप्रत्युक्ती। कुत इति स्पष्टम्। धावत्विति श्रीराधाकृष्णयोः सुरतानन्तरं स्थानान्तरगमनशङ्कया॥११॥

छद्मेर्ष्या चापलासूया मत्सरामर्षगर्वितम्।
व्यक्तिं यात्युक्तिचेष्टाभिः प्रतिपक्षसखीष्विदम्॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्षकी सखियोंकी बातों और चेष्टा इत्यादिके द्वारा छलना, ईर्ष्या, धृष्टता, गुणमें भी दोष आविष्कार, मात्सर्य, अमर्ष और गर्व प्रकट होते हैं॥१२॥

तत्र छद्म यथा—

श्रुत्वा कीचकमद्रिमूर्ध्नि पशवः श्यामं च दृष्ट्वाम्बुदं
धावन्त्वल्पधियः कथं त्वमपि धिग्धीराधिकं धावसि।

इत्युच्चैरनृतोत्तरेण तरलां प्रत्याय्य पद्मामसौ
प्राप्ता पश्य गृहं करोति ललिता राधाप्रयाणे त्वराम्॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—छद्म—श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिको सुनकर गोवर्द्धनके ऊपर श्रीकृष्णको देखकर पद्मा परमान्दित होकर उसी ओर जा रही थी। ललिताने अपनी कपटतापूर्ण बातोंसे वेणुध्वनि और श्रीकृष्णको अन्य प्रकार समझाकर अर्थात् "अरे! वहाँ न तो श्रीकृष्णकी वेणुध्वनि है और न वहाँपर श्रीकृष्ण ही हैं"—उसे वहाँ जानेसे निवृत्तकर लौटा दिया तथा वहाँ श्रीमती राधिकाका अभिसार करानेके लिए शीघ्रता करने लगी। ऐसा देखकर भानुमती परमानन्दित होकर मणिमञ्जरीसे कहने लगी—"यह देखो, पद्माको प्रतारित करनेके लिए ललिता इस प्रकार बोली—'पर्वतमें बांसोंसे निकली वंशी जैसी ध्वनिको सुनकर तथा कालेरङ्गके मेघको श्रीकृष्ण मानकर अल्पबुद्धिसम्पन्न पशु भले ही धावित हों, किन्तु तुम परम धैर्यशील और बुद्धिमती होकर भी क्यों इस प्रकारसे वृथा दौड़ती हुई बड़े वेगसे जा रही हो?' इस प्रकारसे झूठी-मूठी बात कहकर चञ्चला पद्माको प्रतारितकर, देखो ललिता स्वयं घरमें जाकर श्रीमती राधिकाका अभिसार करानेके लिए शीघ्रता कर रही है॥"१३॥

लोचनरोचनी—गृहं प्राप्ता॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—भानुमती मणिमञ्जरीमाह—श्रुत्वेति। कीचकं सशब्दवंश-जातिविशेषम्। "कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः।" इत्यमरः। कीचकं वेणुध्वनिं मत्वा अम्बुदं श्रीकृष्णं मत्वा पशवो गावो धावन्तु नाम। हे पद्मे! त्वमपि तथैव धावसि धिक् त्वां तव बुद्धिं धीरतां वा। प्रत्याय्याम्बुदप्रतीतिं कारयित्वा॥१३॥

अथेर्ष्या—

उद्घटय्य कुटिलं कचपक्षं देवि दर्शयसि किं वनमालाम्।
नीलयष्टिवदमुं मदलिन्दे लोकयालि वनमालिनमेव॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—ईर्ष्या—किसी समय श्रीकृष्ण-प्रदत्त वनमालाको अपने केशपाशमें गर्भकहारके रूपमें विन्यस्तकर पद्मा छलसे ललिताको दिखाने लगी। इसपर ललिताने कहा—"देवि! तुम अपने कुटिल केशोंको उद्घाटन पूर्वक मुझे वनमाला क्यों दिखला रही हो? स्वयं यहाँ आकर देखो,

हमारे आङ्गनमें वनमाली नील लकुटीकी भाँति खड़े हैं।" उक्त उदाहरणमें ईर्ष्या यह है कि ललिता कहने लगी—"पद्मे! इतना गर्व क्यों करती हो? अरे! हमारे घरमें आकर तो देखो, हमारे आङ्गनमें नील-लकुटीकी भाँति वनमाली खड़े हैं। हे सखि! यदि तुम उनके निकट जानेमें समर्थ हो, तभी उनकी दी हुई मालाके सम्बन्धमें विश्वास करूँगी। अन्यथा उनके कण्ठसे भ्रष्ट होकर मार्गमें कहीं गिरी हुई मालाको ही तुमने उठाकर अपने मस्तकपर धारण किया है।" शुद्ध ईर्ष्याका उदाहरण दिखलाकर अब असूयागर्भ-ईर्ष्याका उदाहरण दे रहे हैं॥१४॥

लोचनरोचनी—कचपक्षं कचसमूहम्। "पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परः।" इत्यमरः। नीलयष्टिवदित्यादिकमीर्ष्यया तथैवोक्तम्॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णदत्तवनमालादर्शनया स्वसौभाग्यातिरेकं दर्शयन्तीं पद्मां प्रति ललिताह—कचपक्षं केशसमूहम्। "पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे" इत्यमरः। कुटिलमिति। जानीमस्ते कुटिलाः केशाः यतस्तेषां कौटिल्यरूपं सौन्दर्यं दर्शयसि। न त्वस्माकमिव ते तव स्निग्धाः सूक्ष्मा इति भावः। नीलयष्टिवदिति। श्रीकृष्णस्य स्तम्भं सात्त्विकमपि विज्ञापयामास स च श्रीराधिकादिदर्शनानन्दोत्थो वा तदभिनीतमाननिबन्धनाद्भयाद्वा अभूदित्यभ्यसूयां चकार। लोकय हे सखि! मद्गृहं गत्वा तं पश्य तेन च तन्निकटं चेद्गन्तुं शक्नोषि तदा मालामिमां तद्दत्तां प्रत्येमि। अन्यथा तत्कण्ठाद्भ्रष्टामिमां कुतोऽपि मार्गाद्विचित्य शिरसि दधासीत्येवमेव प्रत्येमीति भावमपि ज्ञापयामासैवेति॥१४॥

यथा वा—

निर्बन्धप्रवणेन कंसरिपुणा प्रागर्प्यमाणोऽपि यः
प्राज्यं दोषमवेक्ष्य नायकमणौ न स्वीकृतोऽभून्मया।
हारः संप्रति सोऽयमेव विषमो लुब्धे क्व लब्धस्त्वया
द्रागिष्टोऽप्युरगक्षताङ्गुलिनिभो दुष्टः सखि त्यज्यताम्॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—एक समय श्रीमती राधिकाके मानको भङ्ग करके तथा उन्हें अपने निकट बैठाकर श्रीकृष्ण बड़े सन्तुष्ट हुए तथा उपहारस्वरूप चित्राको अपने गलेका हार दिया। चित्राके गलेमें उस हारको देखकर पद्मा अत्यन्त असहिष्णु होकर उस महामूल्यवान परम दुर्लभ हारमें भी मिथ्या दोषारोपकर कहने लगी—"हे लुब्धे! यह हार तुमने कहाँ

प्राप्त किया? कंसरिपु अत्यन्त आग्रहपूर्वक पहले इस हारको मुझे दे रहे थे, किन्तु मैंने इस हारकी नायकमणि (बीचवाली बड़ी मणि) में प्रचुर दोष देखकर उसको असौभाग्यसूचक समझकर ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की। हाय! हे लुब्धे! इस समय वही विषम (अशुभ) हार तुम्हें कहाँसे मिला? यदि अपने कल्याणकी इच्छा रखती हो तो इसे तुरन्त फेंक दो। यदि कहो कि किसलिए फेंक दूँ? तो उसका कारण यह है कि जिस प्रकारसे जीवित रहनेकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति विषधर सर्पके द्वारा काटी हुई अंगुलीका भी छेदन कर देता है, उसी प्रकार इस असौभाग्यप्रद हारको तुम शीघ्र दूर फेंक दो॥"१५॥

लोचनरोचनी—प्राज्यं प्रचुरम्॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—शुद्धेर्ष्यामुदाहृत्य असूया गर्भामपि तामुदाहर्तुमाह—यथावेति। पद्मा पथि दृष्टां काञ्चिदाह—"निर्बन्धेन सखि गृहाण कृपया"—इत्यादिचाटुभिः प्रवणेन नम्रेणापि अर्प्यमाणोऽपि दीयमानोऽपि न गृहीतः। कुतः नायकमणौ हारमध्यनायके प्राज्यं प्रचुरं दोषं धारयितुरसौभाग्यकरणलक्षणकम्। सोऽयं मत्परिचित एवेत्यर्थः। श्रीकृष्णेन दत्त इष्टश्चेत्तदपि त्यज्यतां त्यागे दुःखं स्यात्तदपि सहस्वेत्याह—उरगेण क्षतोऽङ्गुलिं स्वदेहावयवोऽपि छिद्यत एव न चेत् प्राणहानिरपि स्यादिति। त्वामहमन्तरङ्गतया उपदिशामीति भावः॥१५॥

अथ चापलम्—

नात्मानं व्यथय वृथा निकुञ्जमध्ये, खद्योति द्युतिमिह कुर्वती सरागम्।
कृष्णाभ्रे गिरिवरसंगतेऽनुरूपा, सोमाभा विलसितुमत्र विद्युदेव॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—चापल—एक समय श्रीमती राधिकाको सङ्केतकुञ्जमें उपस्थितकर वहाँ श्रीकृष्णको न देखकर उन्हें लानेके लिए विशाखा गोवर्द्धनके कुञ्जमें उपस्थित हुई। उसी समय दैवयोगसे चन्द्रावली और पद्माके साथ श्रीकृष्णको बातचीत करते हुए देखकर वह निकटवर्ती कुञ्जमें खड़ी होकर अवसरकी प्रतीक्षा करने लगी। पद्मा यह जानकर उसको खद्योतिका छलसे सोलुण्ठवचनों द्वारा अपने पक्षके सौभाग्यका बखान करने लगी—"हे खद्योतिके! तुम वृथा निकुञ्जमें रागयुक्त (रक्तवर्ण, पक्षान्तरमें अत्यधिक अनुरागसे पूर्ण) कान्ति प्रकटकर अपनेको दुःखी क्यों कर रही हो? पर्वतके ऊपर कृष्णवर्ण मेघमें चन्द्रकान्ति विद्युत् ही विलासके सुयोग्य है अर्थात् श्रीकृष्ण इस समय चन्द्रावलीके साथ

गोवर्द्धन पर्वतपर विलास कर रहे हैं। अतः यहाँसे लौट जाओ। दुखित मत होओ॥"१६॥

लोचनरोचनी—सोमाभानाम्नी विद्युदेवात्र विलसितुमनुरूपेत्यन्वयः॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—संकेतकुञ्जे श्रीराधामभिसार्य तत्र श्रीकृष्णमदृष्ट्वा तदन्वेषणाय गोवर्धनपार्श्वे गतां तत्र क्वचन कुञ्जे चन्द्रावल्यां संगतं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा क्षणमुदर्कं चिन्तयन्तीं काञ्चित् श्रीराधासखीं जानात्येव पद्मा खद्योतीमपदिश्य सासूयमाह—हे खद्योति! सरागं यथा स्यात्तथा द्युतिं कुर्वती? आत्मानं न व्यथय दुःखितं न कुरु। तब मनोरथोऽद्य न सेत्स्यतीति भावः। कृष्णवर्णे मेघे सा प्रसिद्धा उमा दुर्गा तदाभा तद्वर्णा, विद्युत्पक्षे सोमाभा चन्द्रावली, अनुरूपा योग्या॥१६॥

अथ असूया—

यद्भाण्डीरे तव सहचरी ताण्डवं सा व्यतानीत्,
पद्मे शैव्या समजनि न तत् कस्य विस्मापनाय।
सा चेत्तन्वी प्रकृतिलडहा शिक्षिता चाभविष्य-
न्मन्ये सर्वं जगदपि ततः प्रेक्षयामोहयिष्यत्॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—भाण्डीरवृक्षके नीचे श्रीकृष्णके अनुरोधसे तथा चन्द्रावलीकी प्रार्थनासे शैब्या नृत्य कर रही थी। उसे देखकर असहिष्णु रङ्गदेवी पथमें पद्माको देखकर व्याजस्तुतिके द्वारा दोषारोप करती हुई कह रही है—"हे पद्मे! तुम्हारी सखी भाण्डीरवटके नीचे जो ताण्डव नृत्य कर रही थी, उसे देखकर ऐसा कौन था जिसको विस्मय न हुआ हो, किन्तु यदि यह सभा-सुन्दरी खिन्नाङ्गी शैब्या नृत्यकलामें तुम्हारे निकट कुछ शिक्षित होती, तो मैं समझती हूँ कि वह अपनी नृत्यकलासे सारे जगत्-वासियोंको अवश्य ही मुग्ध कर देती।" इस उदाहरणमें श्रीमती राधिकाकी पक्षपातिनी तुङ्गविद्या पद्माकी सखी शैब्याके नृत्यसे असहिष्णु होकर व्याजस्तुतिके रूपमें असूया प्रकाश कर रही है॥१७॥

लोचनरोचनी—प्रकृतिलडहा स्वभावसुन्दरी॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—रङ्गदेवी पद्मामाह—प्रकृतिलडहा स्वभावेन सुन्दरी। शिक्षिता अर्थात्त्वया। यद्वा शिक्षिता निपुणा, त्वमिवेति भावः॥१७॥

मत्सरः—

अलं चक्रे राधा हृदयमुरुहारेण हरिणा,
स्रजा धूर्तेनेयं तव तु कबरश्रीरवरया।
मनो द्वन्द्वातीतं मुनिवदविकल्पं च दधती,
तथापि त्वं मुग्धे न विपिनविनोदाद्विरमसि॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—मात्सर्य—दूसरेकी अच्छी बातको देखकर असहिष्णु होना। एक समय सखियोंसे परिवेष्टित श्रीराधा और चन्द्रावलीके साथ वनविहार करते हुए श्रीकृष्णने श्रीराधाको बहुमूल्य हार और चन्द्रावलीको पुष्पहारसे भूषित किया। श्रीमती राधिकाके गलेमें बहुमूल्य हारको देखकर तदोत्कर्ष देखनेमें असमर्थ पद्मा चन्द्रावलीको अतिसरल दोषके लिए प्रतारित कर रही है—"इस धूर्त श्रीकृष्णने बहुमूल्य हारके द्वारा श्रीराधाके वक्षस्थलको भूषित किया तथा उससे कम मूल्यवान् गर्भक नामक हारके द्वारा तुम्हारी कबरीकी शोभाका विधान किया। हा मुग्धे! तथापि तुम मुनिकी भाँति रागद्वेषरहित और भेदभावशून्य मन लेकर वनविहारसे विमुख नहीं हो रही हो? फूटी तीन कौड़ी मूल्यके एक निकृष्ट पुष्पदामके द्वारा तुम्हारी कबरीको शोभित किया। अथवा, "हे मूढ़े! तुम्हारा मन मुनियोंकी भाँति द्वन्द्वातीत, मान-अपमान और प्रशंसादिसे शून्य देख रही हूँ; क्योंकि इतनी विषमतामें भी तुम वनविहारके प्रति निवृत्त नहीं हो रही हो॥"१८॥

लोचनरोचनी—अवरया अधमया स्रजा। यद्वा "हृदयमुरुमूल्यैर्मणिसरैः" "स्रजा कृष्णेनेयम्" इति वा पाठः॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—पद्मा चन्द्रावलीमाह—उरुहारेण बहुमूल्येन। मुक्तामयेनेत्यर्थः। स्रजा द्वित्रकपर्दिकामूल्यया, तत्राप्यवरया निकृष्टया॥१८॥

अथामर्षः—

स्फुटद्भिरिव कोरकैरलघुभिश्च गुञ्जाफलै–
र्मयाद्य विरचय्य यन्मुरहराय विश्राणितम्।
त्वयात्र सखि राधिकाश्रवसि वीक्ष्य तत्कुण्डलं,
मनः स्वमुदघाटि यत्तदतिलाघवायैव नः॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—अमर्ष (क्रोध)—चन्द्रावली अपनी सखी पद्माका प्रेमगर्भ तिरस्कार (मनमें प्रेम, किन्तु बाहरसे तिरस्कार) कर कह रही है—"पद्मे! मैंने नाना प्रकारकी रङ्गीन पुष्पकलियों तथा पके हुए श्वेत-रक्त गुञ्जाफलोंके द्वारा अपनी शिल्पकलाकी पराकाष्ठा प्रदर्शितकर इस उत्कृष्ट कर्णभूषणका निर्माणकर श्रीकृष्णको उपहार दिया था, उसी कुण्डलको श्रीराधाके कानोंमें देखकर तुमने अपनी मानसिक व्यथाको क्यों प्रकट किया? हा, हा! बड़े कष्टकी बात है। उससे हमलोगोंकी अत्यन्त हीनता ही प्रमाणित हुई।" अर्थात् तुमको इस प्रकारसे कहना चाहिए था—"हे राधे! चन्द्रावली शिल्पकलामें जिस प्रकार निपुण है, उससे व्रजकी सारी रमणियाँ भलीभाँति परिचित हैं। तुम्हें विस्मयापन्न करनेके लिए ही मेरे द्वारा निर्मित इस कुण्डलको श्रीकृष्णने तुम्हारे कानोंमें धारण कराया है।" अथवा यह कहना चाहिए था कि "हे वृन्दावनेश्वरि! तुम्हारे कानोंमें जिस कुण्डलको देख रही हूँ, इसे मैंने यमुना तटके पथमें कहीं पड़ा हुआ देखा था। मैं ऐसा समझती हूँ कि किसी सखीने इसे उठा लिया और उसे लाकर तुम्हारे कानोंमें पहना दिया है। हे सखि! क्या तुम ऐसी मिथ्या बातें करना नहीं जानती? अतः इसी दोषके कारण हमलोगोंको इस प्रकारसे हीनता स्वीकार करनी पड़ी॥"१९॥

लोचनरोचनी—विश्राणितं दत्तम्॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावली स्वसखीं प्रेमगर्भमुपालभते—स्फुटद्भिरिति। विश्राणितं दत्तम्। तत्सभायां स्वं मनः कर्म उदघाटि उद्घाटितम्। स्वमनःस्थदुःखं यत्प्रकाशितमित्यर्थः। तदतिलाघवाय मानहानये तदानीं कृत्रिमोऽपि मुखप्रसाद एवान्तरङ्गताव्यञ्जकः कर्तुमुचितः स्यात्। सखि राधे! चन्द्रावल्या अतिविचित्रं शिल्पकौशलं व्रजस्थैः सर्वैर्यौवतैरेवाविज्ञातमिदं त्वामपि विस्मापयितुं तुभ्यं श्रीकृष्णेन दत्तमिति वा वक्तुं युज्येतेति। किं वा हे सखि! प्रातर्यमुनातटमार्गे पतितं यदद्य कुण्डलं दृष्टं तदेवेदं कया सख्या आनीय त्वत्कर्णे दत्तमिति मृषोक्तिरपि वक्तुं नाज्ञायि भवत्येति त्वद्बुद्धिस्तया गर्हितेति ज्ञेयम्॥१९॥

अथ गर्वितम्—

अहंकारोऽभिमानश्च दर्प उद्धसितं तथा।
मद औद्धत्यमित्येष गर्वः सोढा निगद्यते॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—गर्व—गर्व छह प्रकारका होता है (पृथक्-पृथक् कार्य भेदसे नाम भेद मात्र)—अहङ्कार, अभिमान, दर्प, उद्धसित, मद और औद्धत्य॥२०॥

लोचनरोचनी—गर्वितं गर्वः। अस्य सामान्यतो लक्षणमन्यस्य हेलनं गर्व इति॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—गर्वितं गर्वस्तस्य लक्षणमन्यहेलनमिति। अहंकारादयस्तद्विशेषाः॥२०॥

तत्राहंकारः—

अहंकारः पराक्षेपः स्वपक्षगुणवर्णनात्॥२१॥

यथा—

आकाशे रुचिलवमिन्द्रनीलशोभे,
सोमाभा जनयति तावदस्फुटश्रीः।
नेत्राणां तिमिरहरा वरेण्यदीप्तिः,
सा यावन्न हि वृषभानुजाभ्युदेति॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—अहङ्कार—स्वपक्षका गुण वर्णन करनेके लिए परस्पर जो आक्षेप होता है, उसीको अहङ्कार कहते हैं। यथा, एक समय ललिता द्वारा चन्द्रावलीके सखीसमाजमें उपस्थित होनेपर पद्मा कहने लगी—"हे सखि ललिते! कृष्णवर्णके आकाशमें सोमाभाकी ही शोभा होती है।" उसे सुनकर ललिता असहिष्णुता प्रकाशपूर्वक बोली—"सखि पद्मे! इन्द्रनीलमणि तुल्य आकाशमें जब तक नेत्रोंके अन्धकारको हरण करनेवाली अत्यन्त दीप्तिमती वृषभानुजा अर्थात् ज्येष्ठमासके सूर्यका प्रभाव प्रकाशित नहीं होता, तभी तक सोमाभा अस्फुट शोभा विस्तार किया करती है।"

उक्त उदाहरणका तात्पर्य—'सोमाभा' शब्दसे चन्द्रकला एवं चन्द्रावली दोनोंको समझना चाहिए। 'आकाश' अर्थात् गगन एवं अर्थान्तरमें 'आ' शब्दसे सम्यक्, 'काश' शब्दसे प्रकाश अर्थात् सम्यक् रूपसे प्रकाश। 'वृषभानुजा' शब्दका अर्थ वृष-राशिस्थित भानु अर्थात् सूर्यकी आभा और राधिका। अर्थात् जब तक श्रीराधा श्रीकृष्णके पासमें विराजमान नहीं रहतीं, तभी तक चन्द्रावलीकी अस्फुट शोभा देखी जाती है; क्योंकि

श्रीराधाकी अङ्गकान्ति, श्रीकृष्ण-इन्द्रनीलमणि-प्रभारूप माधुर्यको आच्छादित कर उसे गौरत्व (स्वर्णवर्णत्व) की प्राप्ति कराती है॥"२१-२२॥

लोचनरोचनी—अस्फुटश्रीरिति। न विद्यते स्फुटा श्रीर्यतः सा। सर्वोत्तमश्रीरपीत्यर्थः। तथापि संदिग्धार्थतयोक्तिरहंकारेणैव। लवपदोक्तिरपि तेनैव। आ सम्यक् काशत इत्याकाशपदेन तु श्रीकृष्ण एव विवक्षितः। "आकाशे रुचिमपि नीलरत्नशोभे सोमाभा जनयति तारका विजित्य" इति। तथा "सा यावन्नहि सखि भानुजा" इति वा पाठः॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचिच्चन्द्रावलीसभां गतवती ललिता "सोमाभयैव कृष्णव्योम शोभते" इति ब्रुवाणां पद्मां प्रत्याह—आकाश इति। इन्द्रनीलस्येव शोभा यस्य तस्मिन्नाकाशे, पक्षे आ सम्यक् प्रकाशत इति श्रीकृष्णे रुचिलवं कान्तिलेशं रोचकत्वलेशं च। अस्फुटश्रीः श्रीकृष्णसौन्दर्येण तत्सौन्दर्याच्छादनादिति श्रीकृष्णपक्षे ध्वनिः। वृषभानुजा ज्येष्ठमाससूर्योद्भवा, पक्षे श्रीराधा अभ्युदेति। श्लेषेण आकाशस्य श्रीकृष्णस्य च सैवाभ्युदयः परममाङ्गल्यम्॥२२॥

अथाभिमानः—

अभिमानो निजप्रेमोत्कर्षाख्यानं तु भङ्गितः॥२३॥

तत्र कृष्णे स्वपक्षप्रेमाख्यानं यथा—

त्वं धीरधीः फणिह्रदे हरिझम्पगाथां निष्कम्पमेव यदियं गदितुं प्रवृत्ता।
तत्रानुषङ्गिकतयाप्युदिते कदम्बे वक्षः पिनष्टि रुदती तरला सखी मे॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—अभिमान—भङ्गीपूर्वक स्वपक्षके प्रेमोत्कर्ष वर्णनको अभिमान कहते हैं। उसमेंसे श्रीकृष्णके प्रति स्वपक्षका प्रेमाख्यान—एक समय चम्पकलताके मिलनेपर चन्द्रावली स्वकृत श्रीकृष्णलीलाका गीत सुनाने लगी। उसे श्रवणकर ललिता अत्यन्त क्षुब्ध होकर व्याजस्तुतिके द्वारा चन्द्रावलीका तिरस्कारकर श्रीकृष्णके विषयमें स्वपक्षकृत प्रेमातिरेकका प्रकाश कर रही है—"मैं तो तुम्हें बड़ी स्थिर बुद्धिवाली रमणी देख रही हूँ; क्योंकि तुम निष्कम्प हृदयसे कालीयह्रदमें श्रीकृष्णके कूद जानेके गीतका गान कर रही हो, किन्तु मेरी सखी प्रसङ्गवशतः किसी प्रकार कदम्बका नाम उच्चारित होनेपर भी अपने वक्षःस्थलपर आघात करती हुई रोदन करने लगती है।"

उक्त उदाहरणमें ललिता चन्द्रावलीके श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमकी अल्पता और श्रीमती राधिकाके प्रेमकी अधिकताको सूचित कर रही है॥२३-२४॥

लोचनरोचनी—तत्रेति। कृष्णे यः स्वपक्षस्य प्रेमा तस्याख्यानं यथेत्यर्थः। अतः पूर्वमपि निजपदेन स्वपक्ष एवोक्तः। त्वं धीरधीरिति तत्प्रस्तावमात्रं निन्दित्वा स्वयं यत् प्रस्तुतं तत्खलु गौणरसेषु हासादीनामिव स्थायिनमावृत्य गर्वस्योदयादिति ज्ञेयम्। झम्पोऽयमव्यक्त शब्दानुकरणमुन्नतदेशाद्बलेन जले पतनवाची देशीयः। "प्रदत्तझम्पः स्तनसङ्गवाञ्छया" इति। तद्वत् पतनसाम्येपि प्रयुज्यते। तत्र तज्झम्पसंबन्धिनि कदम्बे उदिते कथिते। तदिदं तु तया कृतं यत्किंचित्प्रस्तावमालम्ब्येर्ष्यया विस्तार्यैव प्रोक्तं तस्यापि सर्वातिक्रमिप्रेम्णां श्रीव्रजदेवीनामेकतरत्वात्॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—निजः स्वपक्षस्तस्य तस्मिंश्च यः प्रेमोत्कर्षः॥२३॥

चन्द्रावलीं प्रति ललिता प्राह—त्वमिति। झम्पः उन्नतदेशात् बलेन जले विनिपातः। आनुषङ्गिकतया कथान्तरप्रसङ्गेनापि। न जाने साक्षात् कालियमर्दनवार्तायां किं स्यादिति भावः। यतो झम्पस्तस्मिन् कदम्बेऽपि, तथा उदितेऽस्माभिरुक्तेऽपि। स्वयं कीर्तिते तु न जाने किं स्यादिति भावः। रुदती सती वक्षः पिनष्टि। तत्र हेतुस्तरलेति तारल्यमेव। त्वं प्रेमवत्यपि तत्कीर्तने यन्निर्विकारा तत्र धैर्याधिक्यमेवेति व्याजस्तुत्या श्रीकृष्णविषयकः श्रीराधायाः प्रेमोत्कर्षो ज्ञापितः॥२४॥

स्वपक्षे कृष्णप्रेमाख्यानं यथा—

धन्यासि कृष्णकरकल्पितपत्रवल्ली,
रम्यालिका विहरसे मदमन्थराङ्गी।
हा वञ्चितास्मि कलिते ललितामुखेन्दौ,
जाड्यं स यात्यखिलशिल्पधुरंधरोऽपि॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—स्वपक्षमें प्रेमाख्यान—ललिताकी सखी रत्नप्रभा दैवयोगसे पथमें हठात् पद्माको देखकर बोली—"हे सखि पद्मे! तुम्हारे सौभाग्यकी बात मैं क्या कहूँ? श्रीकृष्णके करकमलोंके द्वारा रचित पत्रवल्ली (तिलक) तुम्हारे ललाटपर सुशोभित हो रही है। इसीलिए मैं समझती हूँ कि तुम सौभाग्य-गर्वके कारण अलसाङ्गी होकर चल रही हो। जैसे भी हो तुम अतिधन्य हो।" इसे सुनकर पद्मा बोली—"रत्नप्रभे! तुमलोग भी तो स्वाधीनकान्ता नामसे प्रसिद्ध हो।" रत्नप्रभाने कहा—"हा! बड़े दुर्भाग्यकी बात है। हमलोग इस विषयमें

वञ्चित हैं; क्योंकि श्रीकृष्ण अखिल शिल्पकलामें धुरन्धर होनेपर भी ललिताके मुखचन्द्रका दर्शन करनेमात्रसे ही स्तम्भित होकर जड़तापन्न हो जाते हैं। वे इस प्रकार प्रेमविवश हो जाते हैं कि किसी प्रकारसे वे पत्रवल्लीकी रचना करनेका अवकाश ही नहीं पाते। अतएव हे सखि! तुमलोग ही सौभाग्यवती हो। हमारा वैसा अदृष्ट (सौभाग्य) कहाँ?"

उक्त उदाहरणके द्वारा ललिताके प्रति श्रीकृष्णके परमोत्कर्षका वर्णन किया गया।

तात्पर्य—तुम्हारे अङ्गोंके स्पर्श करनेपर भी श्रीकृष्णके हृदयमें कोई विकार नहीं होता। इसलिए पद्माका प्रेम शिथिल है और ललिताके मुखचन्द्रके दर्शनमात्रसे ही श्रीकृष्णको सात्त्विक विकार होनेके कारण उसके परम प्रेमके विवशहेतु स्वपक्षका ही गुण कीर्तन हुआ॥२५॥

लोचनरोचनी—स्वपक्ष इति पूर्ववद्व्याख्येयम्॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितायाः सखी रत्नप्रभा पथि मिलन्तीं पद्मामाह—धन्याऽसीति। अलिकं ललाटम्। ननु यूयमपि स्वाधीनकान्तात्वेन ख्याताः स्थ किमेवं ब्रूथेत्यत आह—हा वञ्चितेत्यादि। कलिते दृष्टे। जाड्यमिति ललिताविषयकः श्रीकृष्णस्य प्रेमोत्कर्षो ज्ञापितः॥२५॥

दर्पः—

गर्वमाचक्षते दर्पं विहारोत्कर्षसूचकम्॥२६॥

यथा—

विद्मः पुण्यवती शिखामणिमिह त्वामेव हर्म्ये यया,
नीयन्ते शरदिन्दुधामधवलाः स्वापोत्सवेन क्षपाः।
कोऽयं नः फलति स्म कर्मविटपी वृन्दाटवीकन्दरे,
श्यामः कोऽपि करी करोति हृदयोन्मादेन निद्राक्षयम्॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—दर्प—विहारोत्कर्षसूचक गर्व अर्थात् विहार उत्कर्षसूचक गर्वको दर्प कहते हैं।

कदाचित् व्रजमें सखीसमाजमें उपस्थित होनेपर नान्दीमुखी पुराण प्रस्ताव कर रही हैं। उसके श्रवण प्रसङ्गमें ललिताके घूर्णित नेत्रोंको

देखकर हास्यकारिणी पद्माको ललिताने कहा—"सखि! आज हमने तुमको ही पुण्यवती रमणियोंके चूड़ामणिके रूपमें निश्चित किया है; क्योंकि तुम ही अट्टालिकाके ऊपर शरदचन्द्रकी चन्द्रिकाके द्वारा धवलित रजनियोंको निद्रोत्सवमें व्यतीत कर सकती हो, किन्तु हमलोगोंको किस जन्मका कर्मफल भोगना पड़ रहा है, उसे निश्चित नहीं कर पा रही हैं? हम वृन्दावनकी कन्दराओंमें सो नहीं पातीं; क्योंकि निद्राकी चेष्टाके आरम्भमें ही एक उन्मत्त श्यामकरीन्द्र (हाथी) उपस्थित होकर हमारी निद्राको भङ्ग कर देता है। अतः हे पद्मे! तुम अत्यन्त भाग्यवती हो। सुखसे सोनेका अवकाश तो पाती हो।"

उक्त उदाहरणमें परपक्षके लिए श्रीकृष्णसङ्गमका अभाव और छलसे अपने पक्षके लिए श्रीकृष्णसङ्गमका लाभ सूचित हुआ॥२६–२७॥

लोचनरोचनी—अलिकं ललाटम्॥२६॥

कोऽपि हृदयोन्मादेन निद्राक्षयं करोतीति स्वप्नमिव प्रकटं व्यज्य जागर एव गूढं व्यज्यते। यत्र श्यामपदेन श्रीकृष्ण एव व्यक्तः॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचित् यौवतसदसि प्रसङ्गसंगतया नान्दीमुख्याः कथ्यमानायाः पुराणकथायाः श्रवणप्रसङ्गे ललिताद्या घूर्णिताक्षीर्वीक्ष्य हसन्ती पद्मां ललितैवाह—विद्म इति। पुण्यवतीति। पूर्वजन्मनि यत् पुण्यं भवत्या कृतं तदस्माभिर्न कृतम्। कर्मविटपी प्राचीनकर्मरूपो वृक्षः फलितोऽन्यथा पूर्णचन्द्रासु रात्रिषु पराधीनतया ध्वान्तावृतकंदर-गिरिगह्वरादिषु जागरादिदुःखं कथं संभवेत्। यतो दिवसेऽपि तदालस्यक्रमवशात् पुण्यकथाश्रवणभाग्यस्याप्यभाव इति व्याजस्तुत्या स्वपक्षपरपक्षयोः श्रीकृष्णकर्तृकसंभोग तदभावौ ज्ञापितौ॥२७॥

उद्घसितम्—

उपहासो विपक्षस्य साक्षादुद्घसितं भवेत्॥२८॥

यथा—

नोच्चैर्निश्वसिहि प्रसीद परमे मुञ्च ग्रहं दुर्लभे
ग्लानिं ते सखि वीक्ष्य हन्त कृपया मच्चित्तमुत्ताम्यति।
बद्धः पश्य विभङ्गुरेऽत्र ललितावाग्वागुराडम्बरे
जानीते न किल स्वमेव सरले श्यामः कुरङ्गीपतिः॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—उद्धसित—विपक्षके प्रति जो साक्षात् उपहास होता है, उसे उद्धसित कहते हैं।

एकदिन पद्मा चन्द्रावलीको सङ्केत स्थानमें ले गई तथा स्वयं श्रीकृष्णका अन्वेषणकर उन्हें वहाँ लानेके लिए श्रीकृष्णके समीप आ रही थी। दैववश दूरसे ही ललिताके साथ श्रीकृष्णको बातचीत करते हुए देखकर बड़ी हताश हुई और विषाद करने लगी। उसी समय निकट खड़ी विशाखाने कहा—"पद्मे! दीर्घ निःश्वास परित्याग मत करो। विवेकरूप अस्त्रके द्वारा विषादका छेदनकर प्रसन्न होओ। परम दुर्लभ विषयको प्राप्त करनेके लिए अपने दुराग्रहका त्याग करो। उदास मुखको देखकर तुम्हारे प्रति दया करनेके लिए हमारा चित्त व्याकुल हो रहा है। सखि! अपनी आँखोंसे तो देखो, ललिताके मृगबन्धनके जालमें श्याम–हरिण पुनः–पुनः बद्ध होकर अपने लिए स्वयं ही विस्मित हो रहा है। उसे दूसरोंका स्मरण करनेके लिए अवकाश ही कहाँ है? अतएव विषाद करना विफल है।" यहाँ अतिवक्र वाक्यरूप जालमें मृगबन्धनी रज्जुसे श्याम हरिण बद्ध होकर विस्मित ही हो रहा है॥२८–२९॥

लोचनरोचनी—वागुरा मृगबन्धनी॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावलीं संकेतस्थां विधाय श्रीकृष्णमानेतुमागतां दैवाल्ललिता–मिलितं श्रीकृष्णं दूराद्विलोक्य विषीदन्तीं पद्मां विशाखा प्राह—नोच्चैरिति। प्रसीद आत्मानमदृष्टं विभाव्य विवेकास्त्रेण खेदं संछिद्य प्रसन्नमुखी भव। दुर्लभे वस्तुनि श्रीकृष्णनिनीषारूपे ग्रहमाग्रहम्। ननु त्वं किमेवं ब्रवीषीत्यत आह—ग्लानिमित्यादि। युक्तिस्तु काप्यत्र नास्तीत्याह—बद्ध इति। पश्य स्वचक्षुर्भ्यामेव प्रतीहि। विशेषतो भङ्गुरे वागेव वागुरा मृगबन्धनी तस्या आडम्बरे आरम्भे। "आडम्बरः समारम्भे गजगर्जिततूर्ययोः।" इति विश्वः। मत्सखीं स्मृत्वा ललितां प्रतार्य स्वयमेवासौ आयास्यतीति चेत्तत्राह—स्वमेव न जानीते नानुसंधत्ते कुतस्ते सखीं ज्ञास्यति। तद्वाङ्मधुपानमदविस्मृतदेहदैहिक इत्यर्थः। सरले इति। इयांस्ते परामर्षोऽपि नास्तीति भावः॥२९॥

मदः—

सेवाद्युत्कर्षकृद्गर्वो मद इत्यभिधीयते॥३०॥

यथा—

जगति ललिते धन्या यूयं सुगन्धिभिरद्भुतै–
रविरविरतं याभिः पुष्पैरमीभिरुपास्यते।
बत विधिवशाज्जातं वन्यस्रजि व्यसनं तथा,
दलमपि न नः कात्यायन्यै यथा परिशिष्यते॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—मद—सेवाके उत्कर्षसे जो गर्व होता है, उसे मद कहते हैं।

एक समय यमुनाके तटवर्ती कुञ्जमें पुष्पचयन करती हुई ललिताको देखकर पद्माने उनसे पुष्पचयन करनेका कारण पूछा। ललिताने कहा—मैं सूर्यपूजाके लिए पुष्पचयन कर रही हैं। ऐसा कहनेपर पद्मा स्वपक्षकी श्रीकृष्णसेवासे प्राप्त सुखातिरेकको व्यक्त कर रही है—हे ललिते! इस पृथ्वीमें तुम्हीं लोग धन्या हो; क्योंकि इन सुगन्धित पुष्पोंके द्वारा अनवरत और निरन्तर सूर्यपूजा करती हो। किन्तु, हाय! हमारी प्रियसखी वनमाला गूँथनेमें ही ऐसी आसक्त हो जाती है कि कात्यायनीकी पूजाके लिए एक पुष्प या पत्र भी नहीं बच पाता। यहाँपर पद्माका श्रीकृष्णसेवाके निमित्त मद व्यक्त हो रहा है॥३०-३१॥

आनन्दचन्द्रिका—सेवा श्रीकृष्णविषया परिचर्या॥३०॥

सूर्यपूजार्थं पुष्पमवचिन्वानां ललितां पद्मा प्राह—जगतीति। ननु भवतीभिरपि कथं कात्यायनी तथा नोपास्यते इति चेत्, अयि नास्माकमीदृशं भाग्यमित्याह—बतेति। वनमालाग्रथने तथा व्यसनमासक्तिः। दलमपीति यानि यानि समीचीनानि पुष्पपत्राणि सखीभिरानीयन्ते तानि सर्वाणि चन्द्रावल्या वनमालायामेव विनियुज्यन्ते न तु कात्यायनीपूजायाम्। मन्ये इष्टदेवतायां तस्या भक्तिर्नास्ति यथा राधिकाया इति भावः॥३१॥

औद्धत्यम्—

स्पष्टं स्वोत्कृष्टताख्यानमौद्धत्यमिति कीर्त्यते॥३२॥

यथा—

कस्तावद्व्रजमण्डले स वलते गान्धर्विका स्पर्धतां,
सार्द्धं हन्त जनेन येन जगतीजङ्घालकीर्तिध्वजा।

कुल्यायाः कृपणावलीषु कृपया कामं द्रवच्चेतसो,
यस्याः प्रेरणया क्षणं भवति वः पद्मे निषेव्यो हरिः ॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—औद्धत्य—स्पष्ट रूपसे स्वपक्षकी उत्कृष्टताका आख्यान औद्धत्य कहलाता है।

पद्मा नान्दीमुखीसे कह रही है—"सखि! आज ऐसा भी काल उपस्थित हो गया है? श्रीराधा भी चन्द्रावलीके साथ स्पर्धा करने लगी। हम उन्हें ताराकी श्रेणियोंमें गणना करती हैं। इस प्रकार पद्मा अत्युक्ति करते रहनेपर ललिता लताओंके भीतर छिपकर यह श्रवण कर रही थी। वह तत्क्षणात् लताओंके अन्दरसे बाहर प्रकट होकर स्पष्ट रूपसे बड़े क्रोधपूर्वक कहने लगी—"पद्मे! व्रजमण्डलमें ऐसी कौन रमणी है, जो जगतीतलमें बलवती कीर्तिध्वजाको फहरानेवाली श्रीमती गान्धर्विका श्रीराधाके साथ स्पर्धा करेगी? दीन-हीन नारियोंको देखते ही सत्कुलमें उत्पन्न श्रीमती राधिकाका चित्त कृपासे द्रवित हो जाता है। हे पद्मे! अधिक क्या कहूँ? श्रीमती राधिका मन-ही-मनमें यह विचार करती हैं कि हा! मेरे कान्तके साथ सङ्गलाभ न करनेपर ये सारी आभीर रमणियाँ कामज्वरसे प्राणोंका त्याग कर सकती हैं। अतः कुछ समयके लिए अपने कान्तको उनसे मिलनेके लिए अनुमति देना ही उचित है। यह विचारकर श्रीकृष्णको उनसे मिलनेके लिए आज्ञा देनेपर श्रीकृष्ण कुछ क्षणोंके लिए तुमलोगोंके लिए सेव्य होते हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि हे पद्मे! इसीसे तुम्हारा इतना गर्व?"॥३२-३३॥

लोचनरोचनी—जगत्यां जङ्घालो वेगवत्तरः कीर्तिध्वजो यस्याः। कुल्यायाः कुलीनायाः। कृपणावलीषु युष्मद्विधासु॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—स्पष्टमिति अभिधयैव न तु व्यञ्जनयेत्यर्थः॥३२॥

"सखि नान्दीमुखि! तादृशोऽयं काल आगतो यथा राधापि चन्द्रावल्या सह स्पर्धते। सा ह्यस्माभिस्तारात्वेन गण्यते।" इति पद्मासंजल्पं लतान्तरेऽलक्षितैव ललिता श्रुत्वा तदैव स्पष्टीभूय स्पष्टमेव ससंरम्भं प्राह—कस्तावदिति। सजनस्तावत् को वलते सामर्थ्यं धत्त इत्यर्थः। स्पर्धतामिति संभावनायां लोट्। जगत्यां जङ्घालो वेगवत्तरः कीर्तिध्वजो यस्याः सा। "जङ्घालोऽतिजवः" इत्यमरः। अतिजवत्वं तस्य विचित्य सर्वकीर्तिं विजेतुमिति प्रयोजनं ज्ञेयम्। तस्यां गान्धर्विकायां व्रज एव

विराजमानायां सत्यां युष्माभिरपि श्रीकृष्णाङ्गस्पर्शो मनोरथविषयीकर्तुं शक्यत इति परम एवासंभवः। किन्तु कुल्याया महाकुलोद्भवायाः अतएव तथाभिजात्यादेव कृपणावलीषु युष्मादृशीषु कृपया सर्वथा मत्प्रेमाधीनस्य मत्कान्तस्य सङ्गमप्राप्य सर्वा एता महाकामज्वरेण संतप्यमाना हा मरिष्यन्त्येवेति दयया द्रवीभवच्चित्ताया यस्याः श्रीराधायाः ॥३३॥

किञ्च—

शिलष्टोक्तिश्च क्वचित्तासां निन्दागर्भोपजायते ॥३४॥

यथा—

गोविन्दाहितमण्डना विधुरतावाप्तिप्रसङ्गोज्झिता,
दक्षानल्पकला वयोघनरुचिं तन्वा मुहुस्तन्वती।
सर्वानुत्तमसाधुतापद कृतिर्भव्ये भवत्याः सखी,
नासौभाग्यभरात्कदापि विरतिं प्राप्नोति सौदामिनी ॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—इन व्रजगोपियोंके दो प्रकारके अर्थवाले वाक्य कभी निन्दासूचक भी होते हैं।

चन्द्रावलीकी सखी सौदामिनीका अत्यन्त रुचिकर रूप, वेश, लीला इत्यादि अनुभवकर क्षुब्ध चम्पकलता सौदामिनीकी अन्तरङ्गा सखी भव्याकी व्याजस्तुतिके द्वारा निन्दा कर रही है—"हे भव्ये! तुम्हारी सखी सौदामिनीके सौभाग्यकी सीमा नहीं है!! (निन्दापक्षमें असौभाग्यकी सीमा नहीं है); क्योंकि गोविन्दने उसे अलङ्कार आदि धारण कराया है (निन्दार्थमें उसने—गोविन्दके लिए अरुचिकर अप्रिय भूषणोंको धारण किया है) इससे उसका सम्पर्क नहीं है। (निन्दार्थ—इसके साथ विहार करनेमें श्रीकृष्ण सदैव विमुख रहते हैं) यह अत्यन्त दक्ष और बहुत शिल्पविद्या पारदर्शिनी है। (दूसरे अर्थमें यह महाविवादमें पटु है) इसके शरीरमें नवतारोंकी कान्ति झलक रही है। (दूसरे अर्थमें इसके अङ्गमेंसे लौहकी कान्ति निकल रही है) इसके सभी कार्य सर्वोत्कृष्टताके परिचायक हैं। (पक्षमें इसके सभी कार्य निकृष्ट हैं तथा उससे साधुजनोंको ताप ही होता है)॥"३४–३५॥

लोचनरोचनी—गोविन्देनाहितमर्पितम्, पक्षे गोविन्दस्याहितं द्वेषविषयं मण्डनं यस्याः। विधुरता दुःखित्वम्, पक्षे विधोः श्रीकृष्णस्य रतं सुरतं तस्यास्तस्य वा

अवाप्तिप्रसङ्गेनाप्युज्झिता। अनल्पकला बहुकला वयसो घनां रुचिम्, पक्षे अनल्पकलौ दक्षा। अयोघनरुचिं लोहमुद्गरकान्तिम्। अनुत्तमत्वं सर्वोत्तमत्वम्। पक्षे उत्तमतारहितत्वम्। असौ भवत्याः सखी। पक्षे असौभाग्यभरात् दौर्भाग्यातिशयात्। सौदामिनीनाम्नी॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—सदसि कदाचित् सखीनां रूपगुणप्रेमादिविवेचनप्रसङ्गे चन्द्रावल्याः सखीं भव्याभिधानां प्रति चम्पकलता प्राह—गोविन्देनाहितमर्पितम्, पक्षे तस्याहितमप्रियं मण्डनं हारपत्रभङ्ग्यादिकं यस्याः सा। विधुरता दुःखिता, पक्षे विधोः श्रीकृष्णस्य रतं संभोगस्तस्यास्तस्य च अवाप्तिः प्राप्तिस्तत्प्रसङ्गेनाप्युज्झिता त्यक्ता। अनल्पकला पूर्णवैदग्ध्या। वयसो यौवनस्य घनां निबिडां रुचिम्, पक्षे अनल्पकलौ बहुतरकलहे दक्षा अयोघनरुचिं लोहमुद्गरकान्तिम्। "द्रुघनो मुद्गरघनौ" इत्यमरः। सर्वानुत्तमा सर्वतोऽपि अत्युत्तमा। साधुतापदं साधुत्वास्पदं कृतिर्व्यापारो यस्याः सा, पक्षे सर्वा अनुत्तमा उत्तमत्वरहिता साधुतापदा साधुभ्यस्तापदात्री कृतिः कर्म यस्याः सा। हे भव्ये सखि! असौ भवत्याः सखी भाग्यभराद्विरतिं न प्राप्नोति, पक्षे असौभाग्यभराद्दौर्भाग्यातिशयात्। सौदामिनीनाम्नी॥३५॥

यथा वा—

समस्तजनलोचनोत्सवविनोदनिष्पादिनी,
विलक्षणगतिक्रिया विचलिताङ्गहारस्थितिः।
निरस्य हरितालजं रुचितरङ्गमात्मोर्जितैः,
सखी नटति ते रसस्खलितमत्र खेलावती॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें वैदग्ध्य इत्यादि निन्दागर्भ श्लेषोक्तिको दिखलाकर इस पद्यमें गुणादिनिन्दागर्भरूपी दो अर्थोंवाले वाक्योंका उदाहरण दे रहे हैं।

अर्थात् निन्दागर्भ दो प्रकारके होते हैं—प्रेमसम्बन्धी और गुणसम्बन्धी। प्रेमसम्बन्धी निन्दाका उदाहरण उपरोक्त श्लोकके द्वारा देकर गुणसम्बन्धी निन्दाका उदाहरण यहाँ दे रहे हैं।

शैब्याके प्रति रङ्गदेवीने कहा—"सुन्दरि! इस कुञ्जगृहमें तुम्हारी खेलावती जिस प्रकारसे अस्खलित रसमें नृत्य कर रही थी, उससे सारे लोग अपने नेत्रोंका विनोद सम्पादन कर रहे थे अर्थात् हँस रहे थे। हे सखि! उसके चरणोंकी गति बड़ी विलक्षण प्रतीत हो रही थी, किन्तु हार हिल नहीं रहे थे, वे बिलकुल स्थिर थे। दूसरी बात, उसके

अङ्गोंकी उर्जितकान्ति इस प्रकारसे प्रकाशित हो रही थी, मानो दलित हरितालकी कान्तिको भी पराजित कर रही हो। अतः हे शैब्ये! तुम्हारी सखीका नृत्य अत्यन्त अद्भुत था।" इस उदाहरणमें 'विनोद' शब्दका एक अर्थ आनन्द है। दूसरे अर्थमें विनोदका तात्पर्य विशेष रूपसे दूरीकरण है। 'विलक्षणगति' शब्दसे विचित्रगति। दूसरे अर्थमें सङ्गीत शास्त्रोक्त लक्षणके विपरीत गति। 'हरिताल' धातुविशेषसे उत्पन्न कान्तिको पराजित कर। दूसरे पक्षमें ताल, लयके विपरीत, रङ्गको निराशकर अपनी देहकी चञ्चलताको विस्तार करना। 'अरस स्खलित' अर्थात् रसच्युति रहित। दूसरे पक्षमें रसच्युत॥३६॥

लोचनरोचनी—विनोदो विलासः, पक्षे दूरीकरणम्। विलक्षणा परमाश्चर्या या गतिक्रिया तया विचलिता अङ्गस्य हाराणां च स्थितिर्नैश्चल्यं यस्याः। पक्षे विगतसंगीतोक्तलक्षणा या गतिक्रिया स्वच्छन्दाङ्गचालनरूपप्रक्रिया तया विचलिता स्थानभ्रष्टा अङ्गहाराणामङ्गचालनसौष्ठवानां स्थितिर्मर्यादा यस्याः। हरितालं धातुविशेषः। पक्षे हरेस्तालस्तेन वादितः कालक्रियामानमयः शब्दस्तस्माज्जातम्। देहस्योर्जितैः शिक्षामयशक्तिविशेषैः। पक्षे स्वाच्छन्द्यचापलमयैस्तैः। रसेन स्खलितो नृत्यगतिविशेषो यत्र तत्। पक्षे रसात् स्खलितं यथा स्यात्। खेलावतीनाम्नी। अत्रापि बाल्यक्रीडामात्रं तत्तस्या इति भावः॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—निन्दागर्भेत्युक्तं सा च निन्दा द्विधा प्रेम्णो गुणस्य च। पूर्वा उक्ता, उत्तरां वक्तुमाह—यथा वेति। शैब्यां प्रति रङ्गदेव्याह—समस्तेति। विनोद आनन्दः, पक्षे विशेषेण नोदो दूरीकरणम्। विलक्षणा विचित्रा या गतिक्रिया नृत्यगतिविशेषस्तयाप्यविचलिता शिक्षाचातुर्यविशेषबलाद् यथास्थान एव स्थिता अङ्गेषु हारस्य स्थितिरवस्थानं यस्याः सा, पक्षे विगतलक्षणा संगीतशास्त्रोक्तलक्षणादन्या या गतिक्रिया तया विचलिता स्खलिता अङ्गहाराणां नृत्योचिताङ्गविक्षेपाणां स्थितिर्मर्यादा यस्याः सा। "अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः" इत्यमरः। हरितालं धातुविशेषस्तदुद्भवं रुचितरङ्गं कान्तिलहरीमात्मनो देहस्य ऊर्जितैः कान्तिबलैर्निरस्य न्यक्कृत्य, पक्षे हरेस्तालस्तेन वादितो झम्पचच्चत्पुटादिसंज्ञस्तालस्तदुद्भवो यो रुचितोऽभीप्सितो रङ्गस्तं निरस्य आत्मन ऊर्जितैर्देहस्य प्राणनैश्चाञ्चल्यैः। "ऊर्ज बलप्राणनयोः"। रसेन स्खलितं नृत्यगतिविशेषो यत्र तद् यथा स्यात्। यद्वा अरसस्खलितं रसच्युतिरहितम्, पक्षे रसात् स्खलितं च्युतम्॥३६॥

यास्तु यूथाधिनाथाः स्युः साक्षान्नेर्ष्यन्ति ताः स्फुटम्।
विपक्षाय स्वगाम्भीर्य मर्यादादि गुणोदयात्॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्षकी सखियोंकी परस्पर छलछन्म एवं ईर्ष्या आदिका निरूपण किया गया, किन्तु जो व्रजसुन्दरियाँ यूथेश्वरीकी पदवीको प्राप्त हैं, वे अपने धैर्य, गाम्भीर्यादि गुणोंके कारण स्पष्ट रूपसे कभी भी विपक्षके प्रति ईर्ष्याभावको प्रकट नहीं करतीं॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रतिपक्षसखीष्विदमित्युक्तं प्रतिपक्षयूथाधिपानां का वार्तेत्य-पेक्षायामाह—यास्त्विति॥३७॥

यथा वा—

विपक्षरमणीसखीं पिशुनितोरुगर्वच्छटां,
विलोक्य किल मङ्गलाविरलहासफेनोज्ज्वलम्।
ततान तमनाकुलं विनयनिर्झरं येन सा,
निजे तरसि मज्जिता सपदि लज्जिता विव्यथे॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—यूथेश्वरी मङ्गलाके घरमें एक समय विपक्षकी यूथेश्वरीकी सखी उपस्थित होकर श्लेष वाक्योंसे आत्मपक्षके सौभाग्य आदिका वर्णन करनेपर भी मङ्गलाने सुशीलतावश विनय-माधुर्यके द्वारा ही उस सखीको निरुत्तर और संकुचित कर दिया, उसे देखकर वृन्दा पौर्णमासीसे कह रही है—"मङ्गलाने विपक्षकी यूथेश्वरीकी सखीकी महागर्वच्छटाको देखकरके भी स्थिर चित्तसे इस प्रकार विनयको प्रकाश किया, जिससे मङ्गलाकी मन्द-मधुर मुस्कानरूप फेन प्रकाशित होने लगी और इस प्रकार अपनी विनम्रताके स्रोतसे उस सखीको निमज्जित कर दिया। वह लज्जित होकर पश्चात्ताप करने लगी॥"३८॥

लोचनरोचनी—पिशुनितत्वं सूचितत्वम्। निजे स्वस्य विनयनिर्झरस्य संबन्धिनि, तरसि वेगे। येन विनयनिर्झरेणैव मज्जिता मग्नीकृता॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीं प्राह—पिशुनिता सूचिता उरुगर्वस्य स्वावहेलनरूपस्य छटा यया तां विलोक्य लक्षणेन ज्ञात्वा विरलो मन्दहास एव फेनस्तेनोज्ज्वलं येन विनयनिर्झरेण प्रयोजककर्त्रा निजे तरसि वेगे सा प्रयोज्यकर्मभूता मज्जिता अतएव लज्जिता सती विव्यथे, पश्चात्तापेन खिद्यते स्मेत्यर्थः॥३८॥

विपक्षयूथनाथायाः पुरतः प्रकटं न हि।
जल्पन्ति लघवः सेर्ष्यं प्रायशः प्रखरा अपि॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—लघुसखीगण प्रखरा होनेपर भी विपक्षकी यूथेश्वरीके सामने ईर्ष्यासूचक वाक्योंका प्रयोग नहीं करतीं॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—लघवः सख्य इत्यर्थः॥३९॥

यथा—

दिष्ट्या दुस्तरतो मदुक्तिनिगडान्मुक्तासि मुग्धे क्षणा–
दभ्यर्णे वृषभानुजा विजयते यद्भानुजायास्तटे।
नातथ्यं प्रथयामि देव्यपि गिरां वाग्दूतकेलीषु मे,
निर्धूतप्रतिभोद्गमा भगवती लज्जार्णवे मज्जति॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाके साथ आई हुई चम्पकलताको व्याजस्तुतिके द्वारा प्रकट रूपमें निन्दा करते हुये देखकर पद्मा क्रोध पूर्वक अधर कम्पन कर बोली—"हे मुग्धे! तुम भाग्यवशतः क्षणकालके लिए हमारे वाक्य-निगड़से मुक्त हुई; क्योंकि यमुनाके तटपर वृषभानुजा विराजमान है। उसके सामने मेरे लिए औद्धत्य प्रकाश करना उचित नहीं है। हे सखि! मैं अपने वाक्य-विलासके प्रभावका वर्णन कर रही हूँ, सावधानीसे सुनो। जब मेरी वाक्चातुरीसे वाक्देवी सरस्वतीकी वाक्पटुता भी बन्द हो जाती है और वह लज्जाके समुद्रमें डूब जाती है, तब तुम्हारे विषयमें क्या कहूँ?"॥४०॥

लोचनरोचनी—हे मुग्धे! क्षणात् क्षणं प्राप्य॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—व्याजस्तुत्या तथा प्रकटमेव निन्दन्तीं चम्पकलतां प्रति दूरात् पद्मा संरम्भसाधरकम्पमाह—दिष्टयेति। हे मुग्धे! मदुक्तिरेव निगडः शृङ्खलस्तस्मादद्य दिष्ट्या मुक्तासि। क्षणात् क्षणमात्रात्। यदि क्षणात् किंचिदधिकं विलम्बमकरिष्यस्तदा वृषभानुजायामितो गतायां सुष्ठु तुभ्यं दक्षिणामहमदास्यमिति भावः। किं कर्तव्यं वृषभानुजा अभ्यर्णे निकट एव विजयते। तस्या अग्रे ममौद्धत्यमनुचितमिति भावः। मम वाग्विलासप्रभावं चावधाय शृण्वित्याह—नातथ्यमिति। प्रथयामि प्रख्यामीति गिरां देवी सरस्वत्यपि॥४०॥

हरिप्रियजने भावा द्वेषाद्या नोचिता इति।
ये व्याहरन्ति ते ज्ञेया अपूर्वरसिकाः क्षितौ॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—आशङ्का—यह पहले ही कहा जा चुका है कि हरिके प्रियजनोंमे द्वेषादि प्रतिकूल भाव होना उचित नहीं है, तब भी इन व्रजगोपियोंमें न जाने क्यों? इस प्रकारके ईर्ष्या, द्वेष आदिका वर्णन किया गया।—जो ऐसा कहते हैं वे अद्भुत रसिक है अर्थात् उन्हें तनिक भी रसतत्त्वका ज्ञान नहीं है; क्योंकि उक्त वादियोंके विचारसे शोक और अमर्ष आदि भावोंके द्वारा जिनका चित्त आक्रान्त होता है, उनके चित्तमें किसी भी प्रकारसे मुकुन्दकी स्फूर्ति होनेकी सम्भावना नहीं है—भक्तिरसामृतसिन्धुमें ऐसा कहा गया है। इत्यादि वचनोंके द्वारा जब द्वेषादि भाव साधक भक्तोंके लिए ही भक्तिके प्रतिकूल कहे गए हैं, तब सिद्धोंकी प्रेमावस्थामें ये कैसे अनुकूल हो सकते हैं? बात तो सत्य है। उसका उत्तर यह है कि साधकदशामें राग, द्वेषादि मनोविकारके हेतु प्राकृत होते हैं, इसलिए भक्तियोगके विरुद्ध होते हैं, किन्तु, सिद्धदशामें अन्तःकरणके प्रेमविकारके हेतु और उससे उत्पन्न द्वेषादि भाव भी प्रेममय होते हैं। इसलिए ये भाव प्रेमके विरोधी नहीं हैं॥४१॥

लोचनरोचनी—अपूर्वरसिका इति। अत्र अरसिका इति शब्दश्लेषश्च॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—अपूर्वरसिका अद्भुतरसिका इति वक्रोक्तिः, श्लेषेण च अकारः पूर्वे येषाम्, अरसिका इत्यर्थः॥ ननु "शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्। कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्तिसंभावना भवेत्॥" इति साधकानामपि भक्तिप्रतिकूलत्वेनोक्ता द्वेषादयः कथं सिद्धानां प्रेम्णामनुकूला भवन्त्विति। सत्यम्। साधकत्वदशायां ते रागद्वेषादयो मनोविकाराः प्राकृता भक्तौ विरुध्यन्त एव सिद्धदशायां त्वन्तःकरणस्य प्रेमाकरत्वात्तद्वृत्तयोऽपि ये शोकमोहरागद्वेषादयस्तदाकाराः प्रेम्णो न भिद्यन्त इति। भक्तिरसामृतसिन्धौ—"उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ। ऊर्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते॥" इति। निर्वेदाद्याः संचारिणो मनोधर्मा अपि सात्त्विकराजसतामसाकारत्वेन प्रतीयमाना अपि निर्गुणा एव व्याख्याताः। प्रेम्ण एव स्थायिभावत्वात् स्थायिन एव तत्तद्रूपेणाविर्भावात्। ननु प्रेमैव कथं प्राकृतो नास्तु; तस्यापि निर्गुणत्वे किं प्रमाणम्? उच्यते। "लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्येत्युदाहृतम्।" इति श्रीभागवतमेव प्रमाणम्। तस्या एव भक्तेः परिपाकदशायां प्रेमेति नाम। "भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।" इत्युक्तेः। किं च प्रेम्णो गुणमयत्वे सर्वशास्त्रेषु श्रीभगवतः प्रेमाधीनत्वप्रथा अपलपिता एव स्यात्। "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।" इत्युक्तेर्नहि निर्गुणस्य प्रकृतेः परस्य श्रीभगवतो गुणमयप्रेमाधीनत्वं युज्यते। नन्वस्तु प्रेमा निर्गुणः, कथं मनोवृत्तीनामपि तन्मयता।

आधाराधेयसंबन्धेन चेदजातरतीनामारब्धभजनगन्धामपि भक्तानामन्तःकरणस्य भक्त्यधिकरणत्वे तद्वृत्तीनामपि तन्मयत्वे कथं रागद्वेषादयो भक्तेः प्रतिकूलायन्ताम्? सत्यम्। नात्राधाराधेयसंबन्धेनैक्यमुच्यते किन्तु तं विनैव। तथा हि प्रथमं प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानामित्यादिरीत्या भक्तेः कर्णप्रवेशमात्रेणैव झटिति न तेन मेलनं स्यात् किन्तु निरन्तरमन्तःकरणेन सह भक्तेरभ्यासपौनःपुन्येनानर्थनिवृत्ति–निष्ठा–रुच्यासक्तिभूमि–कारोहानन्तरमेव। यावच्च तया न मेलनं स्यात् तावन्मनोवृत्तयो रागद्वेषादयः प्राकृता अनर्थकरा एव। यथा गन्धकचूर्णेषु पारदस्य प्रवेशमात्रेणैव न मेलनं किं तु संमर्दपौनःपुन्येन चिरेणैव, मेलने च यथा गन्धकस्य स्वाकारापगमो रूपान्तर–प्राप्तिस्तथैवान्तःकरणस्य प्राकृतध्वंसश्चिन्मयत्वावाप्तिः। यथैव पारदगन्धकयोरैकरूप्यं कज्जलीभावस्तथैव भक्त्यन्तःकरणयोरैकरूप्यं प्रेमा, यथैव पारदः सर्वत्रालिप्तोऽप्यन्तर्भूत–पार्वतीप्रीतिकं गन्धकमेव स्वसंघर्षेण स्वरूपान्तरं नयन् स्वयमनष्टस्वरूप एव तदुपरक्तत्वेनैव किमपि परिपाकविशेषेण नामरूपवैलक्षण्यं स्वीयमेव भजते तथैव कर्णरन्ध्रादिद्वारा श्रवणकीर्तनादिरूपो भगवानन्यत्रालिप्तोऽपि प्रीतिमदन्तःकरणं प्रविश्य स्वशक्त्या स्वसंघर्षणेन तां चिद्रूपतां नयन् तदुपरक्ततया तदैक्येनोत्तरोत्तरपरिपाकविशेषेण प्रेम–स्नेह–प्रणयादि–नाम–रूप–वैलक्षण्यं प्राप्नोति। यथा च तच्च पुनरनुकूलवस्तु–संयोगेनानेकान् भेदान् धत्ते तथैव प्रेमापि श्रीभगवतो दाससखिगुरुकान्ताभावमिश्रणेन दास्यादिप्रभेदम्। एवं च साधनसिद्धानामपि प्रेमा यद्येतादृशत्वेन निरूपितस्तदा नित्यसिद्धानां नित्यसिद्ध एव प्रेमणि कः संदेह इति॥४१॥

यथा वा—

संमोहनस्य कन्दर्पवृन्देभ्योऽप्यघविद्विषः।
मूर्त्तो नम्रप्रियसखः शृङ्गारो वर्त्तते व्रजे॥४२॥

क्षिपेन्मिथो विजातीयभावयोरेष पक्षयोः।
ईर्ष्यादीन् स्वपरिवारान् योगे स्वप्रेष्ठतुष्टये।
अतएव हि विश्लेषे स्नेहस्तासां प्रकाशते॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—कन्दर्पसमूहके भी सम्मोहक श्रीकृष्णके सम्बन्धसे शृङ्गाररस मूर्त्तिधारणपूर्वक प्रियनर्मसखा स्वरूपसे व्रजमें सुशोभित हो रहे हैं। वे ही अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी तुष्टिके लिए सम्भोग शृङ्गारकालमें परस्पर विजातीय दो प्रकारके भावोंको सपरिवार ईर्ष्यादि (मात्सर्य, दम्भ, असूया अमर्ष, गर्व प्रभृतिको) प्रेरण करते हैं। इसीलिए विप्रलम्भभेदरूप प्रवासमें श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंमें स्नेह ही प्रकाशित होता है॥४२–४३॥

लोचनरोचनी—अत्र साधारणस्यापि शृङ्गाररसस्यौज्ज्वल्यं सापत्न्यादिमयत्वेनैव तच्छास्त्रे मतम्, किमुत श्रीकृष्णलीलामयस्य तस्येत्याह—संमोहनस्येति। कन्दर्प-वृन्दानप्यतिक्रम्य सम्मोहनस्येति सर्वासामेव पृथक् पृथक् तत्र गाढसंभोगलालसा दर्शिता। "साक्षान्मन्मथमन्मथः" इति श्रीभागवतोक्तं तस्य महामन्मथत्त्वं सूचितम्। महामन्मथत्वे च शृङ्गारपरिकरत्वं च सिद्धम्, तत्परिकरत्वे च सति तासां संभोगश्च भक्तान्तराणां सेवकादिकमिव यौगपद्येन न संभवति तस्मादीर्ष्यादिकं जायते एवेति भावः। किंच अघविद्विष इति। अघस्यापि मोक्षदातृत्वेन सर्वाश्रयपरमपारमैश्वर्यात्। "देवत्वे देवदेहा सा मानुषत्वे च मानुषी।" इति दिशा प्रेयसीगणविशेषत्वेन लक्ष्म्यादिवच्छृङ्गारोऽपि प्रियनर्मसखत्वेन व्रजेऽपि वर्त्तत एव। यदि चासौ वर्त्तते तदेर्ष्यादिस्वपरिवारान् क्षिपेत्, तत्र तत्र प्रवर्तयत्वेव। नन्वीर्ष्यादीन् विशेषेण क्षिपति चेत्तर्हि सखीसुहृद्वर्गौ कथं दर्शितौ? तत्राह—मिथो विजातीयभावयोः परपक्षयोः क्षिपतीति। लोके यथा व्यावहारिक-मिथोविजातीय-भावयोर्मिथो विपक्षत्वं तथा तासामपि श्रीकृष्णविषयकविजातीयभावानां मिथो विपक्षत्वं स्यात् परस्परमरोचकत्वात्। तासामेव मिथोऽसावीर्ष्यादीन् क्षेप्तुं शकनोति यूनामेव कामः काममिवेति। तत्र भावानां साजात्यवैजात्ये तु दर्शयिष्येते। न च वक्तव्यं तेन श्रीकृष्णस्य तस्मिन्नसहनं स्यात् इत्यालोच्याह—प्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य तुष्टय एव क्षिपतीति परस्परमीर्ष्यादयः श्रीकृष्णरागमेव पुष्णन्ति। पुष्टे च रागे तस्य तुष्टिरेव जायते इत्यर्थः। विरुद्धायमानापि व्यभिचारिणः स्थायिपोषका भवन्तीति तासां ते चेर्ष्यादयो बहिर्वृत्तावेवोदीयन्ते नान्तर्वृत्तौ, सर्वासां तदेकजीवनत्वादात्मैकजीवनानां चक्षुरादीनामिव। ततश्च योग एव तासु सोऽसौ तान् क्षेप्तुं शकनोति न वियोगे। नहि यथा जागरे स्वस्वविषयानास्वादयितुं मिथः स्पर्धमानानि चक्षुरादीनि प्रत्येकमात्मानुगतिं वाञ्छन्ति तथा सुषुप्तावपि किन्तु आत्मन औदासीन्यमय्यां सुषुप्तौ सर्वाण्यपि मिलित्वा आत्ममात्रानुगतानि तिष्ठन्ति। न तु मिथः स्पर्धमानानि तद्वदत्रापीत्याह—ईष्यादीनिति। तत्र योगे युगपत् पोषितभर्तृकावस्थात्वं विनान्यावस्थत्वे, विश्लेषे युगपत् प्रोषितभर्तृकावस्थत्वे इत्यर्थः ॥४२–४३॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ प्रकृतमनुसरामः। नन्वस्तु हरिप्रियजने सिद्धे द्वेषादीनामनौचित्याभावः, तदप्येष शृङ्गाररसस्तान् विनैव कथं निर्वहतु इत्यत आह—संमोहनस्येति। एकः कन्दर्प एव लोके संमोहयति तत्संबन्धिनोऽपि शृङ्गाररसस्य कविभिर्भरतप्रणीतरसशास्त्रदृष्ट्या खण्डिता-विप्रलब्धादिवर्णने प्राकृतैरपीर्ष्याद्वेषादिभावैरेव निर्वाहपरिपोषौ वर्णितौ। तादृशानां कन्दर्पाणां वृन्देभ्योऽपि सकाशात् संमोहनस्याघविद्विषः शृङ्गारस्य। चिन्मयैस्तैर्विना तौ कथं भवेतामिति भावः। श्लेषेण सरसास्वादयित णां सर्वस्याप्यघस्य विद्वेष्टुः खण्डकस्य। लौकिकः कन्दर्पस्तु तेषां पापवर्द्धक एव भवतीति

भावः। तथाभूतस्य श्रीकृष्णस्य शृङ्गारो रसो नाम व्रजे मूर्तो मूर्तिमानेव वर्त्तते तदवतारत्वेन उज्ज्वल शृङ्गारनामैवेत्यर्थः॥४२॥

स परस्परविजातीयभाववतोः पक्षयोः परस्परवैरिणोरित्यर्थः। स्वस्य स्थायिरूपस्य परीवारान् पोषकान् संचारिरूपान् ईर्ष्यादीन् क्षिपेत् अर्पयेत्। प्रयोजनमाह—स्वप्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य तुष्टये। तत्तदुद्भुतस्वीय धृष्टत्वादिकौतुकविलाससुखायेत्यर्थः। योगे योगमात्रे यस्याः कस्या अपि नायिकायाः संयोगसंभावनायामपीत्यर्थः। तेन स्वविरहेऽपि तस्या अमूनि नः क्षोभमितीर्षा दृष्टा, विश्लेषे युगपत् सर्वासां संयोगसम्भवनायाभावे इत्यर्थः, तेन—"ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्।" इति सखीपदोपन्यासः। ततश्च युगपत् संभोगशृङ्गाररसधर्मा एव द्वेषेर्ष्यादयो भावाः। न तु हरिप्रियजनाः सदा परस्परद्वेषेर्ष्यादिमन्त इति भावः॥४३॥

यथा ललितमाधवे (३/३९)—

सान्द्रैः सुन्दरि वृन्दशो हरिपरिष्वङ्गैरिदं मङ्गलं,
दृष्टं ते हतराधयाङ्गमनया दिष्ट्याद्य चन्द्रावलि।
द्रागेनां निहितेन कण्ठमभितः शीर्णेन कंसद्विषः,
कर्णोत्तंससुगन्धिना निजभुजद्वन्द्वेन संधुक्षय॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—जैसे ललितमाधवमें; माथुरविरहमें कातर श्रीमतीराधिका गोवर्द्धनशिलामें अपनी मूर्त्तिको प्रतिबिम्बित देखकर चन्द्रावलीत्व रूपमें निश्चित कर कहने लगी—"सुन्दरि! तुमने हरिका बहुत बार आलिङ्गन किया है। उसीसे तुम्हारा यह अङ्ग परम मङ्गलजनक हुआ है। जैसा भी हो सौभाग्यका विषय यह है कि तुम्हारा यह अङ्ग मेरे दृष्टिगोचर हुआ है। अतः हे सखि! तुम्हारी ये दुबली-पतली भुजाएँ जो कंसरिपुके कर्णोत्पलका सौरभ वहन कर रही हैं, उनके द्वारा मेरे कण्ठ देशको सब प्रकारसे वेष्टनकर मुझे प्राणदान करो। उक्त उदाहरणका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके साथ सम्भोगके समय श्रीराधा एवं चन्द्रावलीकी परस्पर विपक्षता देखी जाती है; किन्तु, श्रीकृष्णके साथ वियोगकी दशा उपस्थित होते ही इन दोनोंमें सख्यभाव उत्पन्न हो जाता है॥४४॥

लोचनरोचनी—तत्रोदाहरणमाह—यथेति। तत्र सान्द्रैः सुन्दरीति विरहावस्थायां श्रीराधिकावचनम्। संधुक्षय जीवय। तदेवं श्रीरासपञ्चाध्याय्यामपि वर्ण्यते। "तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।" इत्येकासां विश्लेषे। उभयासां तु विश्लेषे "ददृशुः प्रियविश्लेषाद्दुःखितां मोहितां सखीम्।" इति॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—माथुरविरहेण विषीदन्ती श्रीराधा स्वमूर्तिं गोवर्द्धनशिलायां प्रतिबिम्बितां चन्द्रावलीत्वेन निश्चिन्वती प्राह—सान्द्रैरिति। वृन्दशो बहुबारान्। एनां राधां मां कण्ठमभितः कण्ठस्य सर्वदिक्षु निहितेनार्पितेन, शीर्णेन श्रीकृष्णविरहात् क्षीणेन संधुक्षय जीवय। कंसद्विषः श्रीकृष्णस्य कर्णावतंससुगन्धधारिणा इत्यनेन त्वत्संभोगानन्तरं त्वद्भुजद्वन्द्वमुपाधायक्रमेण दक्षिणवामपार्श्वयोस्तेन शयितमित्यभिव्यज्य तादृशसौभाग्यभाजनत्वद्भुजाश्लेषेणाहमपि परम्परया तदीयाश्लेषसुखमेवानुभवामीति ध्वनितम्॥४४॥

यूथेशायाः स्वपक्षादिभेदहेतुरथोच्यते।
भावस्य सर्वथैवात्र साजात्ये स्यात्स्वपक्षता॥४५॥

मनागेतस्य वैजात्ये सुहृत्पक्षत्वमीरितम्।
साजात्यस्य तथाल्पत्वे सति ज्ञेया तटस्थता।
सर्वथा खलु वैजात्ये निश्चिता प्रतिपक्षता॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—यूथेश्वरियोंके स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थपक्ष और विपक्षादिके भेदोंका जो कारण है, उसे यहाँ बतलाया जा रहा है। भावके सब प्रकारसे स्वजात्य अर्थात् समान जातित्व होनेपर ही स्वपक्षता होती है। भावोंकी अल्प विजातीयता रहनेपर सुहृत्पक्षता, सजातीयताकी अल्पता रहनेपर तटस्थता और भावकी सर्वांश रूपमें विजातीयता रहनेपर प्रतिपक्षता निरूपित होती है॥४५–४६॥

लोचनरोचनी—स्वजातीयविजातीयभावाभ्यां मिथःस्वपक्षादिभेदं विवृणोति—यूथेशाया इति। भावस्य प्रेमविशेषस्वभावस्य। साहं कृष्णस्येति, ममायं कृष्ण इति द्विधा भिन्नस्य मिथः साजात्ये सति चक्षुषोरिव कर्णयोरिव च मिथः सपक्षता स्यात्। एवं मनागेतस्येति साजात्यस्य तथाल्पत्वे एकत्र सजातीयता तस्याल्पत्वेनान्यत्र प्राचुर्येण मिथः प्रवेशो न जायते। तदल्पतामय्या अवज्ञाविषयत्वात्, तत्प्राचुर्यमय्याः संकोचविषयत्वात् ताटस्थ्यं जायत इत्यर्थः। एवं सर्वथेति॥४५–४६॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु रसोऽप्येकः शृङ्गार एव, विषयोऽप्येकः श्रीकृष्ण एव तदपि तदाश्रयालम्बनानां व्रजसुन्दरीणां परस्परविपक्षसुहृत्पक्षादित्वं कथमित्यत आह—यूथेति। अयमत्र विवेकः—विनयवतान्तःकरणेन मधुराख्यस्य प्रीतिवस्तुनो मेलने विनयात् सकाशात् प्रीतेरतितमां जातिप्रमाणाभ्यामाधिक्ये विनयस्य प्रीतिनिगीर्णत्वे ममायं कृष्ण इतिप्रकारको मदीयतामयो मधुस्नेहाख्यो भावः स्थायी

आदरप्राकट्यशून्यो भवति। तथा विनयात् सकाशात् प्रीतेराधिक्याभावे प्रीतिमयानां विनयानामुद्भासस्य प्राकट्ये कृष्णस्याहं कान्तेतिप्रकारकाभिमानेन तदीयतामयो घृतस्नेहाख्यो भावः स्थायी आदरमयो भवति, भावयोरनयोर्मधुघृतयोरिव परस्परसाजात्याभावात्तुल्यप्रमाणयोर्मेलने विसदृशधर्मकत्वाच्च तत्तद्भाववत्योः कान्तयोरपि परस्परभावारोचकत्वात् परस्परविपक्षतैव स्यात्। ते च कान्ते मुख्यत्वात् राधाचन्द्रावल्योरेव ज्ञेये। किञ्च तुल्यप्रमाणकविनयवत्योरपि राधाचन्द्रावल्योर्मध्ये श्रीराधाविनयस्योक्तयुक्त्या प्रीत्या निगीर्णत्वेनैव न बहिः प्राकट्यम्; न पुनश्चन्द्रावल्याः सकाशात् विनयोऽल्प इति ज्ञेयम्। एवं च ललिताविशाखादीनां श्रीराधाचन्द्रावलीभ्यां सकाशात् विनयस्याल्पत्वेऽपि विनयापेक्षया प्रीतेरतितरामाधिक्ये विनयस्य प्रीतिनिगीर्णत्वे मधुस्नेह एव तद्वत्यो ललितादयः श्रीराधायाः सकाशादल्पप्रमाणकप्रेमवत्योऽपि सर्वथा भावसाजात्यवत्यस्तस्याः स्वपक्ष एव, सखीत्वयूथेश्वरीत्वयोस्तु प्रेमतारतम्यमेव सर्वत्र कारणं ज्ञेयम्। एवमेव श्रीराधाचन्द्रावलीभ्यां सकाशात् पद्मादीनां विनयस्याल्पत्वे, विनयापेक्षया प्रीतेराधिक्याभावे घृतस्नेह एव तद्वत्यस्ताश्चन्द्रावल्याः स्वपक्षः, ललितादीनां तु विपक्ष एव॥४५॥

मनागिति। एतस्य भावस्य मनाग्वैजात्ये बहुतरसाजात्येन तदभावेऽप्यल्पमात्रवैजात्य-प्रक्षेपे सतीत्यर्थः। तथाहि विनयस्य प्रीत्या निगीर्णप्रायत्वे ईषद्विनयोद्भासे ईषद्घृतस्नेहसंपृक्तो मधुस्नेहो भवति, तद्वती श्यामला श्रीराधायाः सुहृत्पक्षः तथा साजात्यस्याल्पत्वे सति बहुतरवैजात्यसद्भावेऽप्यल्पमात्रसाजात्यप्रक्षेपे सतीत्यर्थः। तथाहि विनयस्य प्रीत्या ईषन्निगीर्णत्वे प्रायः संपूर्णविनयोद्भासे ईषन्मधुस्नेहसंपृक्तो घृतस्नेहो भवति। तद्वती भद्रा श्रीराधायास्तटस्थपक्षः, चन्द्रावल्यास्तु सुहृत्पक्षः॥४६॥

मिथोभावस्य वैजात्ये न भावो रोचते मिथः।
अरोचकतयैवायमक्षान्तिं जनयेत् पराम्॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—प्रतिपक्षभावमें असहिष्णुताका कारण यह है—परस्पर भावोंके सर्वथा विपरीत होनेपर वह परस्पर रुचिकर नहीं होता। यह आरोचकतारूप एकमात्र हेतु ही दुर्निवार्य असहिष्णुताको उपस्थित करता है॥४७॥

लोचनरोचनी—अत्र सर्वथा वैजात्ये विपक्षत्वं विवृत्य स्थापयति—मिथ इति॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—मिथो वैजात्ये सर्वथा विपरीतजातित्वे॥४७॥

यथा—

या मध्यस्थपदेन संकुलतरा शुद्धा प्रकृत्या जडा
वैदग्धीनलिनीनिमीलनपटुर्दोषान्तरोल्लासिनी ।
आशायाः स्फुरणं हरेर्जनयितुं युक्तात्र चन्द्रावली
सापि स्यादिति लोचयन् सखि जनः कः सोढुमीष्टे क्षितौ॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—"हे राधे! यदि श्रीकृष्णको सुख प्रदान करना ही तुम्हारा उद्देश्य है और वह सुख यदि श्रीकृष्ण चन्द्रावलीके सम्भोगसे प्राप्त करते हैं, तब तुम क्यों वृथा ही चन्द्रावलीसे द्वेष करती हो? क्योंकि खण्डितादशामें चन्द्रावलीका सङ्ग करनेसे श्रीकृष्णके प्रति क्रोधित हो जाती हो और श्रीकृष्णके प्रति मानधारण करती हो"—इत्यादि प्रेमसिद्धान्त–कारिणी किसी एक वृन्दासङ्गिनी वनदेवताको श्रीराधा प्रेमतत्त्वका उपदेश कर रही हैं—"हे सखि! चन्द्रावली श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त आदर (गौरव) प्रकाश करनेसे उसकी तटस्थता ही प्रकाशित होती है; क्योंकि चन्द्रावली स्वयं शुद्धा अर्थात् वाम्य इत्यादि भाव रहित है और स्वभावतः ही अत्यन्त जड़ है अर्थात् वैदग्धीरूपा पद्मिनी मुद्रितनयना और वाम्यादि शून्य दोषसे ही उल्लासवती होती है। अतः हे देवि! यह चन्द्रावली हरिकी अभिलाषा पूर्ण करनेमें कैसे समर्थ हो सकती है? हा कष्ट! विचार करनेपर पृथ्वीतलमें यह सब कौन सह सकती है?"॥४८॥

लोचनरोचनी—तत्र राधायाः वचनम्—येति। मध्यस्थस्य तटस्थस्य यत्पदं व्यवसायस्तेन संकुलतरेति तस्याः श्रीकृष्णे आदरबाहुल्यमेव ताटस्थ्येन मन्यते। चन्द्रश्रेण्याः पक्षे मध्यवर्त्तिना पदेन लक्षणेनेति। शुद्धा माधुर्यविशेषरहिता, पक्षे श्वेता। जडा प्रणयिप्रणयोचितबुद्धिरहिता, पक्षे शीतला। दोषान्तरं उत्तमजातीयस्वभावेष्वस्मद्वर्गेषु द्वेषः। पक्षे दोषा रात्रिस्तन्मध्योल्लासिनी। हरेः श्रीकृष्णस्य आशायास्तृष्णायाः, पक्षे इन्द्रस्य दिशो लोचयन् विचारयन्॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु श्रीकृष्णाय सुखदानमेव तवोद्देश्यं तच्च सुखं चन्द्रावलीसंभोगे यदि श्रीकृष्णो लभते तदा तां त्वं कथं द्वेक्षि कथं वा खण्डितादशायां कृतसङ्गाय श्रीकृष्णाय च कुप्यसीति पृच्छन्तीं प्रेमसिद्धान्तजिज्ञासुं कामपि वृन्दासङ्गिनीं वनदेवतां वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा तत्त्वं बोधयन्त्याह—या मध्यस्थेति। या चन्द्रावली

चन्द्रश्रेणी। द्वादशानामेव मासानां चन्द्रा इत्यर्थः। मध्यस्थितेन पदेन मालिन्य मयेन चिह्नेन संकुलतरा सर्वथा युक्ता पक्षे मध्यस्थस्य तटस्थस्य यत्पदं व्यवसायस्तेन श्रीकृष्णे तस्या आदरबाहुल्यमेव ताटस्थ्यं व्यनक्ति। अशुद्धा अविशदा मध्यस्थितकलङ्कत्वात्, पक्षे शुद्धा "अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्" इति साहजिकवक्रतामयप्रेमरीतिशून्या। प्रकृत्या स्वभावेनैव जडा शैत्यदुःखदा, पक्षे आदरेण सख्यं निर्वातीत्यपि बुद्धिरहिता। वैदग्धीति रूपकेण पक्षद्वयनिर्वाहः। यद्वा वैदग्ध्या विपरीतलक्षणया अवैदग्ध्या हेतुना नलिन्या निमीलने मुद्रणे पटुः, पक्षे वैदग्ध्येव नलिनी श्रीकृष्णभ्रमरस्य सुखदा तस्या निमीलने लोपे दोषा रात्रिस्तदनन्तर एव उल्लसितुं शोभां प्राप्तुं शीलं यस्याः। न तु दिवसे इत्यर्थः। पक्षे दोषैरुक्तलक्षणैरपि वैगुण्यैरन्तरे स्वमनसि उल्लसनशीला। स्वताटस्थ्यादिदोषान् दोषत्वेन न जानातीति भावः। या खल्वेवमेवम्भूता सापि हरेरिन्द्रस्य आशाया दिशः स्फुरणं प्रकाशम्, पक्षे हरेर्व्रजेन्द्रसूनोराशाया अभिलाषस्य स्फुरणं स्फूर्तिमात्रमपि किं पुनः प्रादुर्भावं किन्तरां पूर्ति जनयितुं युक्ता उचिता स्यादिति सोढुं को जनो लोचयन् विचारयन्। विचारवानित्यर्थः। क्षितौ पृथिवीमध्येऽपि ईष्टे शक्नोति। अपि तु सर्व एवेर्ष्यामाविष्करोति। न पुनरहमेव त्वयोपालम्भनीयेति भावः। सा तावदास्तां तत्सङ्गिनं श्रीकृष्णमपि खण्डिता भवन्ती यदहमीर्ष्यामि तदपि नायुक्तं यं भोजयितुमतियत्नतो रोचकं रोचकं वस्तु संगृह्य संगृह्य प्रस्तुतीक्रियते स यदि क्वचिदन्यत्रारोचकैर्विरसैरेव वस्तुभिः संभुक्तैः समयं गमयित्वा आयाति तदा तस्मै कुप्यते न वेति त्वमेव तत् विविच्य ब्रूहीति प्रेमतत्त्वं सा ज्ञापिता॥४८॥

षोडश्यास्त्वमुडोर्विमुञ्च सहसा नामापि वामाशये,
तस्या दुर्विनयैर्मुनेरपि मनः शान्तात्मनः कुप्यति।
धिग्गोष्ठेन्द्रसुते समस्तगुणिनां मौलौ व्रजाभ्यर्चिते,
पादान्ते पतितेऽपि नैव कुरुते भ्रूक्षेपमप्यत्र या॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—जिस प्रकार चन्द्रावलीका भाव श्रीराधाके लिए अरोचक होता है, उसी प्रकार श्रीराधाका भाव भी चन्द्रावलीके लिए रुचिकर नहीं होता। कोई एक सखी प्रसङ्गवशतः श्रीराधाका चरित्र वर्णन कर रही थी। उसे सुनकर चन्द्रावली असहिष्णु होकर तिरस्कार करती हुई उस सखीको बोली—"हे वामाशये! श्रीराधाका साक्षात् नाम तो दूरकी बात है, तुम षोड़श नक्षत्रोंमें उक्त नामका भी परित्याग कर दो; क्योंकि उसमेंसे एक नक्षत्रका नाम अनुराधा है। श्रीराधा ऐसी दुर्विनीत है कि उसे देखकर शान्तात्मा मुनियोंके भी मनमें क्रोध उत्पन्न हो

जाता है। बड़े आश्चर्यकी बात है! व्रजेन्द्रनन्दन जो समस्त मुनियोंके शिरोभूषण और व्रजपूजित हैं; जब श्रीराधाके चरणोंमें अपने मस्तक तकको भी झुका देते है, तब भी श्रीराधा एकबार भी उनके प्रति भ्रू–क्षेप नहीं करती। अतः उसे धिक्कार है॥"४९॥

लोचनरोचनी—अथ चन्द्रावल्या वचनम्—षोडश्या इति। षोडश्यास्त्वमुडोरिति। तत्सनाम्न्या राधाया इत्यर्थः। साक्षात्तन्नामाग्रहणं त्वीर्ष्यया मन्तव्यम्। तथैव मध्याया अपि तस्याः प्रखरात्वं प्रख्यापितम्। मुनेरिति मौनशीलस्यापि तत्र दोषोद्गारः संभाव्यत इत्यर्थः॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावल्या भावः श्रीराधायै न रोचत इति दर्शितं श्रीराधाभावोऽपि चन्द्रावल्यै न रोचत इति दर्शयितुमाह—षोडश्या इति। कामपि स्वसखीं प्रसङ्गोपगतं श्रीराधाचरित्रं ब्रुवाणामक्षिपन्ती चन्द्रावल्याह—षोडश्यास्त्वमुडोरिति। तत्सनाम्न्याः श्रीराधाया इत्यर्थः। साक्षात्तन्नामस्पर्शेऽपि मज्जिह्वा कटुर्भवतीति भावः। सहसापि किं पुनः प्रकरणेन नामापि, किं पुनश्चरित्रं विमुञ्च त्यज। वामाशये इति। संप्रति तव बुद्धिर्भ्रष्टा जातेति बुध्ये। यत्तस्याः प्रसङ्गमकस्मादुत्थापयसीति भावः। ननु त्वं जगत्यस्मिन् कमपि जनं न द्वेक्षि न निन्दसीति परमदक्षिणायास्ते सौशील्यं प्रसिद्धं, सत्यम्, तदपि तन्निन्दा मया दुस्त्यजैवेत्याह—तस्या इति। "परस्वभावकर्मणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्" इति शान्तस्य स्वाभाविको धर्मः। तस्यापि मुनेर्मौनशीलस्यापि अहं तु गोपकन्या व्यवहारमार्गस्था असंयतवाक्। कथं न कुप्यामि न वा निन्दामीति भावः। के ते दुर्विनया इति चेत्तत्राह—धिगिति। सामान्याकारेणोक्तेस्तां धिक्, तस्या अपि तच्चेष्टितं धिक्, त्वामपि तत्प्रसङ्गकारिणीं धिक् इति। पादान्ते पतितेऽपीति—सा खलु का भाविनी भवेत् या स्वकान्तं स्वपादतलगतं कुर्यात्। मानिनी हि कान्तस्य सामदानभेदाञ्जलिकिंचिन्मौलिमात्रावनतिखेदान् विलोक्य प्रसीदेत्। इत्येव प्रेमरसपरिपाटी भवेदिति भावः। भवतु वा कान्तः स्वयं पादान्तपतितः, तथाभूतं तं दृष्ट्वा भाववती मनसापि विषीदेदेव। हन्त हन्त या भ्रुवः क्षेपमपि न कुरुते सा कथं प्रेम्णो गन्धमपि धत्तामिति भावः। मास्तु वा प्रेम तदपि व्रजेन्द्रस्य सूनौ तत्रापि समस्तेति, तत्रापि व्रजेति। बुद्धिमता जनेनादरः कर्तुमुचित एवेति भावः। नन्वेवं चेत् प्रेमशून्यां तां त्वत्कान्तः स्वेच्छयैव कथं मुहुर्मुहुर्गच्छेत् तस्य च तस्यामिच्छा चेत् कथं वा त्वं प्रेमवती तां द्वेक्षि। सत्यं तस्याः सौन्दर्यमस्ति काममत्ताधिक्यं च। अतः संप्रयोगसुखमात्रार्थं स्वस्य संगत्या शिक्षया च सद्भावप्रापणार्थं च स तस्याः पार्श्वं गच्छति तस्याश्च "स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते" इति न्यायेन सद्भावः कदापि न भावी तदभावकलुषितेन तस्यां संप्रयोगेण च तस्य किं सुखं स्यादिति परामृश्य तामहं द्वेष्मीत्यादि स्वरसतत्त्वमपि सा बोधितेति ज्ञेयम्॥४९॥

यत्र स्यान्निजभावस्य प्रायस्तुल्यप्रमाणता।
पक्षः स एव मैत्राय विद्वेषाय च युज्यते॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रकार यह स्थिर हुआ कि परस्पर भावोंका अरोचकत्व ही विपक्षताका कारण है।

पूर्वके दोनों पद्योंमें इसीका उदाहरण देकर भाव परिमाणके तारतम्यसे मैत्री और प्रतिपक्षताका औचित्य वर्णन कर रहे हैं। जिस पक्षमें अपने भावोंकी प्रायः (अधिकतर) समानता होती है, उसीसे मित्रता और उसके अभावमें विपक्षता सम्भवपर होती है।

तात्पर्य—मूल कारिकामें 'प्रायः' शब्द ग्रहण करनेसे ऐसा सूचित होता है कि न्यून परिमाण होनेपर भी यदि सामान्य वैजात्ययुक्त स्वजातीयता होती है, तब उसे सुहृत्पक्ष कहते हैं और यदि सर्वथा ही वैजात्य होता है, तब उसे विपक्ष कहते हैं॥५०॥

लोचनरोचनी—निजभावस्य श्रीकृष्णविषयकस्वप्रेम्णस्तुल्यप्रमाणता रतिप्रेमप्रणयादि-नामभिर्वक्ष्यमाणैरुत्तरोत्कर्षैः सदृशता। प्राय इति। क्वचित्तु सादृश्यातिशयाभावेऽपि सदृशम्मन्यता च तत्र हेतुरिति ज्ञापितम्॥५०॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु श्रीराधायाः सर्वथा विजातीयभावाः घृतस्नेहवत्यो गोप्यः किमन्या न सन्ति यतश्चन्द्रावल्यामेव तस्या द्वेषप्रसिद्धिः। एवं चन्द्रावल्या अपि श्रीराधायामेव नान्यास्वित्यत्र को हेतुस्तत्राह—यत्र स्यादिति। यत्र यदीयभावे प्रायोग्रहणाद्यत्किंचिन्मात्रन्यूनप्रमाणत्वेऽपि यत्किंचिद्वैजात्यस्पृष्टसाजात्ये मैत्राय, सर्वथा वैजात्ये विद्वेषाय युज्यते इति प्राकृतलोकेऽपि तथा दर्शनादित्यर्थः॥५०॥

नांशोऽप्यन्यत्र राधायाः प्रेमादिगुणसम्पदाम्।
रसेनैव विपक्षादौ मिथः साम्यमिवार्प्यते॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—किन्तु श्रीराधाके प्रेमादि असाधारण गुणसम्पत्तिका एक अंश भी अन्यत्र चन्द्रावली आदिमें नहीं है। फिर भी क्यों उभयपक्षका उदाहरण दिया गया है? उसके उत्तरमें कह रहे हैं कि केवलमात्र रस साजात्यमात्रसे ही विपक्ष आदिमें परस्पर साम्यवत् भावका आरोप किया जाता है, वस्तुतः साम्य नहीं होता; क्योंकि निरतिशय असमानोर्द्ध्व प्रेमादि गुण सम्पत्तिके आश्रय रूपमें श्रीराधाकी ही प्रसिद्धि है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीमती राधिकाके प्रेमादि गुण–सम्पदका एक अंश भी अन्यत्र चन्द्रावली आदि व्रजरमणियोंमें नहीं है, तथापि रस स्वयं अपनी पुष्टिके लिए विपक्षादिमें भी परस्पर समता अर्पण करता है॥५१॥

लोचनरोचनी—अत्र श्रीराधामहिममहोदधिमवगाहमानानां मतमाश्रित्याह—नांशोऽपीति। विपक्षादौ विपक्ष–स्वपक्ष–सुहृत्पक्ष इति त्रये। रसेनैवेति। यथा हनुमदादिचरितश्रवणेन वीररससमुल्लासे समुद्रलङ्घनोद्यमादयः समीक्ष्यन्ते मन्यन्ते च रसविद्भिस्तथात्रापीति भावः॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु श्रीराधाया भावस्य तुल्यप्रमाणकभाववत्यौ किं चन्द्रावलीश्यामले भवेतां यतस्तयोरेव द्वेषमैत्र्यौ दृश्येत इत्यत आह—नांशोऽप्यन्यत्रेति। तदपि रसेनैव कर्त्रा स्वपुष्ट्यर्थं मिथः परस्परसाम्यं राधाचन्द्रावल्योर्भावयोर्मिथः परमवैजात्येऽपि तुल्यप्रमाणतायामेव साम्यमिव॥५१॥

भावस्यात्यन्तिकाधिक्ये साजात्यं सर्वथा द्वयोः।
तथा तुल्यप्रमाणत्वमेवं प्रायः सुदुर्घटम्॥५२॥

स्याच्चेद्घुणाक्षरन्यायात्सुहृत्तैवेह संमता।
रसस्वभावादत्रापि वैपक्ष्यमिति केचन॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—आत्यन्तिकाधिक्यसे अर्थात् दो यूथेश्वरियोंमें सर्वथा भावस्वजात्य और तुल्य परिमाणत्व अत्यन्त असम्भव है॥५२॥

कदाचित् घुणाक्षर न्यायसे इन दोनों यूथेश्वरियोंमें सर्वथा भावसाजात्य होनेपर भी सुहृत्पक्षता ही स्वीकृत है; क्योंकि सदाकाल एकत्र वासमूलक स्वपक्षत्व वहाँ सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ (साम्याभास होनेपर भी) कोई–कोई शृङ्गाररसके स्वभाववशतः ही विपक्षता प्रमाणित करते हैं। इस विचारके मतसे सुहृत्पक्ष एवं स्वपक्षके लक्षण आक्रान्त होनेपर भी निजभिन्न अन्यत्र सभी जगह विपक्षता ही परिलक्षित होती है। अर्थात् यद्यपि घुन नामक कोई कीट जीर्णकाठको काटनेपर संयोगवश उसमें अक्षरका आकार दिखाई पड़ता है, उसी प्रकारसे यूथेश्वरियोंमें किञ्चित् सौहृद्य सम्मत होनेपर भी कोई–कोई रसज्ञ कहते हैं कि रसके स्वभाववशतः ही विपक्ष होता है॥५३॥

लोचनरोचनी—नन्वत्यन्ताधिकयोरपि कयोश्चिद्भावसाजात्यं भवतु ततश्च स्वपक्षत्वमपि स्यात्? तत्राह—भावस्येति। द्वयोः स्वतन्त्रयूथाधिपयोः स्वस्य यूथमत्यन्ताधिकत्वे सति भावस्य कृष्णे त्वदीयतामयस्य मदीयतामयस्य च साजात्यं सर्वथा सुदुर्घटम्। किंत्वंशेनैव तत्स्यात्। सर्वथा साजात्ये सति कस्याञ्चित् क्स्याश्चित् प्रवेशे यूथाधिपात्वं न स्यात्। ननु प्रेम्णस्तुल्यप्रमाणत्वे स्वतन्त्रतैव स्यात् तत्राह—तथा सर्वथा तुल्यप्रमाणत्वमित्येवमपि सुदुर्घटमिति। प्राय इति। ललिताविशाखादिषु दृश्यते इति चेद्विरलचारित्वमेवेत्यर्थः॥५२॥

ननु राधाचन्द्रावल्यौ विनान्यत्र साजात्यं ब्रूमः। ते हि परमात्यन्ताधिके इति स्वस्वयूथात्यन्ताधिकानां ललितापद्मादीनामपि तत्तद्विषयं सख्यं संभवत्येव। अन्यत्र तु का वार्तेत्याशङ्क्याह—स्याच्चेदिति। रसस्वभावादिति। शृङ्गाररसस्य स्वभावोऽयं यत्र परस्परं वैपक्ष्यं भवतीति। केचनेति। सख्यादिदर्शनात्तन्न घटत इति भावः। यदुक्तं श्रीदशमे—"काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्।" इति॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु सर्वथा वैजात्ये तुल्यप्रमाणकभाववत्त्वे वैरमिव कयोश्चिद्यूथेश्वर्योः सर्वथा भावसाजात्ये किं मिथः स्वपक्षत्वमन्यो वा कश्चन व्यपदेशः स्यादित्यपेक्षायामाह—भावस्येति। द्वयोरात्यन्तिकाधिक्ये यूथेश्वरीत्वे इत्यर्थः। सर्वथा साजात्यं तु दुर्घटमवश्यमेव किंचिद्वैजात्यं विना पृथग्यूथेश्वरीत्वं न संभवेत्। सर्वथा भावसाजात्यं हि परस्परातिप्रीतेः कारणम्। अतिप्रीतिश्च निरन्तरसहावस्थितिः परस्परसुखदानानुगतीनां तासु सहावस्थित्यादिषु सखीषु कथं पार्थक्यमभिमतं भवति। तत्र चेयं व्यवस्था—परस्परभावसाजात्यवतीषु बह्वीषु मध्ये यस्या भावस्य प्रमाणधिक्यं सैवैका यूथेश्वरी भवति अन्यास्तत्सख्यो भवन्तीति। यदुक्तम्—"यूथाधिपात्वेऽप्यौचित्यं दधाना ललितादयः। स्वेष्टराधादिभावस्य लोभात् सख्यरुचिं दधुः॥" इति।

ननु सर्वथा यूथाधिपासु मध्ये श्रीराधाचन्द्रावल्योरेव परमात्यन्ताधिक्ये, अतस्ताभ्यां सकाशादल्पप्रमाणकभाववत्यो ललितापद्मादयस्तयोः सख्यो बभूवुरित्युचितमेव। किन्तु ताभ्यामन्या यूथेश्वर्यो बह्वयो यास्तासु काश्चित्तुल्यप्रमाणकभावसाजात्यवत्यः किं न संभवन्ति, संभवन्ति वेत्यपेक्षायामाह—तथा तुल्यप्रमाणत्वमिति। बह्वीनां का कथा, द्वयोरेव यूथेश्वर्योः सर्वथा भावस्य साजात्यं तथा तुल्यप्रमाणत्वं चेति सुदुर्घटम्, सर्वथा साजात्ये सति भावस्य किंचिन्मात्रन्यूनाधिकप्रमाणत्वेऽपि सखीत्वयूथपात्वे एव भवतः। वैजात्ये वैजात्यस्यैव भेदकत्वात् द्वयोर्यूथाधिपात्वे कारणत्वं न तत्र तुल्यप्रमाणत्वापेक्षा। साजात्ये तु साजात्यस्य भेदकत्वाभावात् सर्वथा तुल्यप्रमाणत्वस्यैव कारणता। तच्च युगपत् सुदुर्घटमिति स्वयूथ एव साजात्यं पृथग्यूथ एव वैजात्यं निर्णीतमिति॥५२॥

प्रायोग्रहणं स्वयमेव व्याचष्टे—स्याच्चेदिति। घूणाक्षरं जीर्णकाष्ठादौ घूणाख्यकीट-विशेषोत्कीर्णं दैवादक्षराकाराङ्कवृन्दमेवाक्षराभासत्वादक्षरं तन्न्यायात्तदिवेत्यर्थः। इह

ईदृश्यां यूथेश्वर्यां सुहृत्तैव सर्वथा साजात्येऽपि न स्वपक्षत्वं सदा सहावस्थित्यादीनां तत्कार्याणामसंभवादिति भावः। स्वमतं समाप्य परमतमाह—रसस्वभावादिति। न तु तत्र प्रेमापेक्षेति भावः। अत्रापि अपिकारात् सुहृत्पक्षे स्वपक्षेऽपि सर्वत्र स्वस्मादन्यत्रैव वैपक्ष्यम्।

अथ संक्षेपेण प्रकरणार्थसिद्धिलेखः। अनन्तकोटिगोपीषु या याः शुद्धघृतस्नेहवत्यस्तासु मुख्या एकैव चन्द्रावली, अन्यास्तत्सख्यः पद्मादयस्तास्वेव श्रीराधाललितादीनां द्वेषो नान्यत्र कास्वपि यूथपासु, सर्वथा भाववैजात्याभावात्। एवं चन्द्रावलीपद्मादीनां शुद्धमधुस्नेहवतीषु श्रीराधाललितादिष्वेव नान्यत्र। श्रीराधाललितादीनां सौहार्दन्तु बह्वीष्वेव यूथपासु अशुद्धमधुस्नेहासु श्यामलामङ्गलादिष्वल्पाल्पतराल्पतमघृतस्नेह–सम्पर्कादशुद्धिवैविध्यात्। तासु चन्द्रावल्यादीनां ताटस्थ्यम्। एवमशुद्धघृतस्नेहवतीषु भद्रादिषु बह्वीषु श्रीराधादीनां ताटस्थ्यं चन्द्रावल्यादीनां तु सौहार्दम्। एवं श्यामलादीनां पाल्यादिषु विपक्षत्वादिभेदा ज्ञेयाः। एवं च स्वपक्षता स्वयूथेष्वेव विपक्षता एकस्यामेव यूथपायां घूणाक्षरन्यायतः साजात्ये बह्वीष्वपि सौहार्दताटस्थ्ये बह्वीष्वेव यूथपास्विति दिक्॥५३॥

॥ नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

दशमोऽध्याय:
अथोद्दीपन–प्रकरणम्

अथ विभावेषूद्दीपना:—

उद्दीपना विभावा हरेस्तदीयप्रियाणां च।
कथिता गुण–नाम–चरित–मण्डन–संबन्धिनस्तटस्थाश्च॥१॥

तात्पर्यानुवाद—विभाव दो प्रकारके होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। पूर्वोक्त प्रकरणोंमें आलम्बन विभावके सभी प्रसङ्गोंका वर्णनकर इस प्रकरणमें उद्दीपन विभावका वर्णन कर रहे हैं। भावोंकी उद्दीपक वस्तुओंको उद्दीपन विभाव कहते हैं। श्रीहरि और उनकी प्रेयसियोंके गुण, नाम, चरित्र, मण्डन, शृङ्गार और तटस्थ (अस्थायी) भावसमूह ही शृङ्गाररसमें उद्दीपक हैं॥१॥

लोचनरोचनी—तदीयप्रियाणां चेति। यद्यप्युज्ज्वलरसेऽस्मिन् रसान्तरवत् श्रीकृष्णविषयिकाया रते रसत्वं प्रतिपाद्यं न तु तत्प्रेयसीविषयिकाया:। ततश्च श्रीकृष्णगुणा एवोद्दीपकत्वेन वाच्या: न तु तासां गुणा:। तथापि तासां स्वस्मिन् स्वीयरूपयौवनादयोऽप्युद्दीपना भवन्तीति तद्भावभावितेष्वाधुनिकेष्वपि तद्वदेव ते स्फुरन्तीत्यभिप्रायेणोक्तम्॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—तदेवं नायकनायिकातत्परिकराद्यालम्बनविभावं परिसमाप्येदानीम्–उद्दीपनविभावानाह—उद्दीपना इति। तदीयप्रियाणां चेति। रसेऽस्मिन्नायिकानायकयो: परस्परविषयाश्रयभावात् परस्परगुणादय: परस्परोद्दीपना भवन्तीति ज्ञापितम्। अनुगामिन: साधकभक्तास्तु श्रीकृष्णविषयकं व्रजदेवीनां भावं स्वरूपलक्षणेन व्रजदेवीविषयकं श्रीकृष्णस्य भावं तु तटस्थलक्षणेनास्वादयन्तीत्यत्र समाधानं च ज्ञेयम्॥१॥

तत्र गुणा:—

गुणास्त्रिधा मानसा: स्युर्वाचिका: कायिकास्तथा॥२॥

तत्र मानसाः—

गुणाः कृतज्ञताक्षान्तिकरुणाद्यास्तु मानसाः ॥३ ॥

यथा—

वशमल्पिकयापि सेवयाऽमुं विहितेऽप्यागसि दुःसहे स्मितास्यम्।
परदुःखलवेऽपि कातरं मे हरिमुद्वीक्ष्य मनस्तनोति तृष्णाम् ॥४ ॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **गुणावलि—**मानसिक, वाचिक और कायिक भेदसे गुण भी तीन प्रकारके होते हैं।

मानसगुण—कृतज्ञता, क्षमा और करुणादि। श्रीराधिकाकी कोई सखी श्रीकृष्णदर्शनके प्रभावसे अपने मनमें आविर्भूत अलौकिक गुणोंका वर्णन किसी अन्य सखीसे कर रही है—"हे सखि! जो अति अल्प सेवासे ही वशीभूत हो जाते हैं (कृतज्ञता), दुःसह अपराध करनेपर भी मृदुहास्य करते हैं (क्षमाशीलता), और दूसरोंके दुःखसे अत्यन्त कातर हो उठते हैं (करुणा), उन हरिका दर्शन करनेके लिए मेरा मन अत्यन्त उतावला हो रहा है॥"२–४॥

लोचनरोचनी—वशमल्पिकयेति वाक्यमेव पुरवासिन्याः पूर्वरागमयमिति ज्ञेयम्। तत्तद्गुणानुभवसातत्यावगतेः। हरिमुद्वीक्ष्येति। प्रथमाया रुचेः प्रतिपत्तेश्च। एषा च श्रीसत्यभामावगम्यते। किन्तु मधुराख्यरसस्यासाधारणतोद्दीपनगुणानुक्तिः सखीं प्रति कंचिदवहित्थार्थमिति ज्ञेयम् ॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायाः सखी काचिदसमस्नेहा कैंकर्यांशप्रधाना सजातीयाशयां कांचिदन्यां सखीं प्रत्याह—वशमिति। विशेषणत्रयेण कृतज्ञत्वस्य, क्षमित्वस्य, कारुण्यस्य परावधित्वं तेन चास्मद्विधबालाजनसुखसेव्यत्वम्, तेन च शृङ्गाररसश्चान्तर्भावितः ॥४॥

अथ वाचिकाः—

वाचिकास्तु गुणाः प्रोक्ताः कर्णानन्दकतादयः ॥५ ॥

यथा—

कर्णापहारिवर्णामश्रुतचरमाधुरीभिरभ्यस्ताम् ।
आलि रसालां माधववाचं नाचम्य तृप्यामि ॥६ ॥

तात्पर्यानुवाद—वाचिकगुण—जो वचन कर्णरसायन होते हैं, उन्हें वाचिकगुण कहा जाता है। किसी प्रियनर्म सखाके साथ श्रीकृष्ण परिहाससूचक आलाप कर रहे हैं। श्रीराधिका निकटवर्ती कुञ्जमें छिपकर उनके वचनामृतका पान करते-करते अपनी सखी विशाखाको अपनी अतृप्तिके विषयमें बतला रही है—"हे सखि! जिनके मुखसे निःसृत अक्षरसमूह हमारे कर्णोंको अन्य विषयोंसे आकर्षणकर स्वैकनिष्ठ अर्थात् अपनी ओर आकर्षण करके अपनेमें ही लगाकर रखते हैं, श्रीमाधवके मुखनिःसृत ऐसे अश्रुतपूर्व, अनुपम माधुर्ययुक्त और रसाल वचनामृतका पानकर मैं कभी भी परितृप्त नहीं हो पाई॥"५–६॥

लोचनरोचनी—कर्णापहारिवर्णामिति। अत्र च तद्वत्। श्रीव्रजकुमार्याः कस्याश्चित्तद्रूपावेशेन स्थानादचलायाः पृच्छन्तीं सखीं प्रति हि वचनमिदम्। माधुरीभिरर्थवैचित्रीभिः। रसमालाति आदात्ते इति रसालाम्। न तृप्यामीत्यन्वयः॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—सखि लतान्तरितासीत्यतः स्वकान्तमपि न पश्यन्ती किमत्र विलम्बसे इति पृच्छन्तीं विशाखां श्रीराधा प्राह—कर्णेति। तेन यावदत्र श्रीकृष्णः सुबलेन समं संकथयन्नास्ते तावदहमत्रैव स्थास्यामीति भावः। रसाला पानकभेदः। तामिवेति उपमैवेयं न तु रूपकम्। कर्णापहारि वर्णामिति विशेषणं माधववाच्येवानुकूलं न तु रसालायामसंभवादिति रूपकस्य बाधकम्। यदुक्तं काव्यप्रकाशे—"पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।" इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितमम्बुजे प्रतिकूलमसंभवादिति बाधकं रूपकस्येति॥६॥

अथ कायिकाः—

ते वयो रूपलावण्ये सौन्दर्यमभिरूपता।
माधुर्यं मार्द्दवाद्याश्च कायिकाः कथिता गुणाः॥७॥

तत्र वयः—

वयश्चतुर्विधं त्वत्र कथितं मधुरे रसे।
वयःसंधिस्तथा नव्यं व्यक्तं पूर्णमिति क्रमात्॥८॥

वयोमुखा गुणाः पूर्वमुक्ताः केशवसंश्रयाः।
तेन तेऽत्र प्रवक्ष्यन्ते प्रायशस्तत्प्रियानुगाः॥९॥

तात्पर्यानुवाद—कायिकगुण—वयस, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मार्दव इत्यादि कायिक गुण हैं॥७॥

वयस—मधुररसमें वयस चार प्रकारका कहा गया है—वयःसन्धि, नव्य, व्यक्त और पूर्णयौवन। श्रीकृष्णके वयस प्रभृति कायिक गुणोंका वर्णन भक्तिरसामृतसिन्धु (२/१/३०८–३१२) में किया गया है। यहाँ उनकी प्रेयसियोंके इन गुणोंका वर्णन किया जा रहा है॥८–९॥

लोचनरोचनी—रूपलावण्यादीनामपि भेदाः स्वयमेव वक्ष्यन्ते॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—वयो यौवनम्। वय इति पृथक् पदम्। गुणा उक्ता भक्ति-रसामृते। किन्तु संज्ञान्तरेणेति ज्ञेयम्। तत्र यत् प्रथमकैशोरशब्देनाभिहितं तस्यैव पूर्वापरभागौ वयःसंधिनव्यशब्दाभ्यामत्रोच्येते। तथा मध्यकैशोरशेषकैशोरे व्यक्तपूर्ण-शब्दाभ्यामिति। प्रायश इति तदपि तत्तत्स्मारयितुं श्रीकृष्णस्यात्रापि किंचिदुच्यते इत्यर्थः॥७–९॥

तत्र वयःसन्धिः—

बाल्ययौवनयोः सन्धिर्वयःसन्धिरितीर्यते॥१०॥

स कृष्णस्य यथा—

यान्ती श्यामलतां विमुच्य कपिशच्छायां स्मरक्ष्मापते-
रद्याज्ञालिपिवर्णपंक्तिपदवीमाप्नोति रोमावली।
वाञ्छत्युच्छलितुं मनागभिनवां तारूण्यनीरच्छटां,
लब्ध्वा किंचिदधीरमक्षिशफरद्वन्द्वं च कंसद्विषः॥११॥

तात्पर्यानुवाद—वयःसन्धि—बाल्य (पौगण्ड) और यौवनकी सन्धि अर्थात् प्रथम कैशोरको वयःसन्धि कहते हैं।

किसी वृक्षके मूलमें अवस्थित श्रीकृष्णको दूरसे लताजालके रन्ध्रोंके भीतरसे श्रीमतीराधिकाको दिखलाकर दूती कह रही है—"हे प्रियसखि! देखो, कंसारिकी रोमावलि पिङ्गलता (भूरे पीलेपन) को छोड़कर श्यामत्वको प्राप्त हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी वह रोमावलि स्मरराजाकी आज्ञालिपिकी अक्षरपंक्तिकी पदवी प्राप्त कर रही है और उनके अभिनव तारुण्यकी किञ्चित् छटाको प्राप्त होकर उनके दोनों नेत्ररूपी सफरी (मछली) उच्छलित होनेकी अभिलाषा कर रही है। अतः हे सखि! कंसरिपुके मोहनरूपका संदर्शन करो॥"१०–११॥

लोचनरोचनी—वाल्ययौवनयोः संधिरिति। कैशोरस्य प्रथमभागतात्पर्यकं सर्वस्यापि कैशोरस्य तत्संधिरूपत्वात्। बाल्यमत्र पौगण्डम्॥१०॥

यान्तीति। कस्यांचिद् व्रजकुमार्यां श्रीकृष्णेन सह तस्याः परस्परमिथुनता–स्पृहिण्या वचनम्। लिपिलिंखिताक्षरविन्यासः। ततश्चाज्ञालिपिं वर्णयति ज्ञापयति या पङ्क्तिस्तस्याः पदवीं परिपाटीम्। कंसद्विष इति सामर्थ्यमपि द्योतितम्॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—कस्यापि तरोर्मूले तिष्ठन्तं श्रीकृष्णं दूराल्लतारन्ध्रनिहिताक्षीं श्रीराधां दर्शयन्ती दूती वर्णयति—यान्तीति। कंसद्विषः श्रीकृष्णस्य रोमावली कपिशच्छायां कृष्णपीतमिश्रधूषरकान्तिं विमुच्य त्यक्त्वा आज्ञालिपिः "अतःपरं कुलजानां लज्जाधृतिपातिव्रत्यादिधर्मा ध्वंसनीयाः, गुरुपत्यादिवञ्चनार्यपथ–त्यागवनाभिसारचापल्याधृत्युन्मादादिधर्माः प्रवर्तनीयाः।" इत्येवंलक्षणः शासनलेखस्तस्य ये वर्णा अक्षराणि तत्पङ्क्तिसारूप्यं तेन दुरन्तशासनस्य तस्य राज्ञ आज्ञानुरूपमेव त्वया वर्त्तितव्यमिति व्यञ्जितम्। तथा ह्युक्तम्—"वर्णस्योज्ज्वलता कापि नेत्रान्ते चारुणच्छविः। रोमावलीप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति॥" उच्छलितुमभितः प्रसर्तुम्। तथा हि—"खरतात्र नखाग्राणां धनुरान्दोलिता भ्रुवोः" इति। कंसद्विष इति सामर्थ्याधिक्यम्॥११॥

तन्माधुर्यम्—

दशार्द्धशरलुब्धकं चलमवेक्ष्य लक्ष्येच्छया,
विशन्तमिह सांप्रतं भवदपाङ्गशृङ्गोपरि।
सदाश्रुनिकरोक्षिता व्रजमहेन्द्र वृन्दावने,
कुरङ्गनयनावली दरपरिप्लवत्वं गता॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—वयःसन्धिका माधुर्य—प्रतिक्षण समुच्छलित सुषमा द्वारा श्रीकृष्णके अलौकिक माधुर्यको अनुभव करती हुई तन–मनकी सुध–बुध खो बैठी व्रजदेवियोंके वृत्तान्तको नान्दीमुखी श्रीकृष्णके समीप निवेदन कर रही है—"हे व्रजमहेन्द्र! तुम्हारे नेत्रान्तरूप पर्वतशिखरमें लक्ष्यको सन्धानकर चञ्चल कामरूप व्याध प्रवेश करना चाहता है, यह देखकर अब इस समय वृन्दावनके हिरणोंकी (दूसरे अर्थमें हरिणीनयना व्रजाङ्गनाओंकी) नेत्रश्रेणी अश्रुधारासे सर्वदा स्नात हो रही है एवं भयसे (पक्षान्तरमें ईषत्) चञ्चल भी हो रही है।

तात्पर्य—श्रीकृष्णके नेत्रप्रान्तमें पहले अननुभूत चञ्चल पूर्व कटाक्षकी शोभा विकाससे गोपियाँ विह्वल हो रही हैं॥१२॥

लोचनरोचनी—तन्माधुर्यमिति। तस्य रोचकतेत्यर्थः। एषैवोद्रिक्ता क्वचिन्मोहनतेत्युच्यते। लक्ष्यं वेध्यम्। कुरङ्गनयना नामावली, पक्षे कुरङ्गाणां नयनावली। ईषदर्थे दराव्ययम्। पक्षे दरं भयम्॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—तन्माधुर्यं तद्रूपास्वादकजनदर्शनसूचितः स्वादविशेषः। कथं व्रजसुन्दर्यो मया लब्धा भवेयुरिति ध्यायन्तं पूर्वरागवन्तं श्रीकृष्णं नान्दीमुखी भङ्ग्या समाश्वसत्याह—दशार्द्धेति। दशार्द्धशरः पञ्चेषुरेव लुब्धकस्तं लक्ष्येच्छया शरैर्विद्धा। लक्ष्यं लब्धुमित्यर्थः। भवतोऽपाङ्ग एव शृङ्गं मणिमयपर्वताग्रं तदुपरि विशन्तमवेक्ष्य कुरङ्गाणां नयनावली, पक्षे मृगाक्षीततिः। दरं भयम्, पक्षे ईषदर्थे दराव्ययम्। परिप्लवत्वं चापल्यम्॥१२॥

तत्प्रियाणां यथा—

वाद्यं किङ्किणिमाहरत्युपचयं ज्ञात्वा नितम्बो गुणी
स्वस्य ध्वंसमवेत्य वष्टि वलिभिर्योगं ह्रसन्मध्यमम्।
वक्षः साधुफलद्वयं विचिनुते राजोपहारक्षमं
राधायास्तनुराज्यमञ्चति नवे क्षोणीपतौ यौवने॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—सखियोंकी वयःसन्धि—श्रीमती राधिकाकी वयःसन्धिमें उनके अङ्गोंकी रमणीयताको देखकर श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे हैं—"नवयौवनरूप राजाके श्रीमतीराधिकाकी देहरूप राज्यको पानेपर काञ्चियुक्त नितम्बने अपना उपचय (लाभ और वृद्धि) जानकर उल्लासके साथ किङ्किणीवाद्यको बजाना आरम्भ किया। क्षीण मध्यदेश अपने टूट जानेकी सम्भावनासे बलवान व्यक्तियों (दूसरे अर्थमें त्रिवलि) के साथ संयोग करनेकी इच्छा करने लगा। वक्षस्थल यौवनराजको उपहार देनेके लिए स्तनरूप दो उत्तम फलोंका संचय करने लगा। अतः हे सखे! यौवनराज्यका कैसा अद्भुत प्रभाव है?"॥१३॥

लोचनरोचनी—तत्प्रियाणां यथेति। वयःसन्धिर्यथेत्यर्थः। वाद्यं किङ्किणिमिति। कस्याश्चिद्दूत्याः श्रीकृष्णं प्रति वचनम्। तेन वयसा श्रीराधाया भावोद्रेकं बोधयति। एवमुत्तरेष्वपि ज्ञेयम्। किङ्किणिरूपं वाद्यम्। गुणीति राजयोग्यत्वं व्यनक्ति। पक्षे गुणी वस्त्रबन्धडोरकवान्। मध्यममिति। ततो न्यूनत्वात्तत्रायोग्यमित्यर्थः। पक्षेऽवलग्ननामक-मुदरनितम्बयोः सन्धिः। साध्विति वक्षोविशेषणम्। अञ्चति गच्छति सति। नवयौवने क्षौणीपतौ च नवे इत्यन्वयः॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधां दूरादालोक्य श्रीकृष्णः सुबलमाह—वाद्यमिति। यौवने यौवनाख्ये नवे राजनि अञ्चति स्वराज्यं प्राप्नुवति सति गुणी नितम्बः, तं व्यञ्जयितुमिव किंकिणिवाद्यमाहरति। कौशलेन वादयतीत्यर्थः। उपचयं ज्ञात्वा अस्मिन् गुणज्ञे राजनि मम संपत्तिर्भविष्यतीति विभाव्येत्यर्थः। पक्षे गुणो रसना डोरी। उपचयं स्थौल्यम्। तथा मध्यमं मध्यदेशः स्वस्य ध्वंसमवेक्ष्य नितम्बस्येव मम गुणाभावात् वक्षस एव द्रव्याभावात् करदानाशक्तेश्चास्मिन् राजनि मम ध्वंस एव भविष्यति यतोऽहं मध्यमम्, उत्तमं न भवामीत्यर्थः। तदहं वलिभिः कृतसाहाय्यं सदैव यथाकथंचिज्जीवामीति, पक्षे त्रिवल्या ह्रसत् ह्रासं प्राप्नुवत्॥१३॥

तन्माधुर्यम्—

आशास्ते पतितुं कटाक्षमधुपो मन्दं दृगिन्दीवरे,
किंचिद् ब्रीडबिसाङ्कुरं मृगयते चेतोमरालार्भकः।
नर्मालापमधुच्छटाद्य वदनाम्भोजे तवोदीयते,
शङ्के सुन्दरि माधवोत्सवकरीं कांचिद्दशामञ्चसि॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकी वयःसन्धिका माधुर्य—श्रीराधाकी वयःसन्धि दशामें उनके अङ्गोंकी रूपमाधुरीको देखकर आनन्दसे उल्लसित हो विशाखा श्रीमती राधिकासे परिहासपूर्वक कह रही है—"हे सुन्दरि! तुम्हारा रूपमाधुर्य अत्यन्त चमत्कार कर रहा है। देखो, तुम्हारे नयनरूप इन्दीवरमें कटाक्षरूप मधुकर अल्प-अल्प परिमाणमें पतित होनेकी अभिलाषा कर रहा है। तुम्हारा चित्तरूपी हंसशावक ईषत् लज्जास्वरूप मृणालाङ्कुरका अन्वेषण कर रहा है। अतः हे राधे! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम माधवके लिए उत्सवप्रद कोई दशा विशेषको (माधवके लिए पक्षमें श्रीकृष्णके लिए और दूसरे पक्षमें वसन्तके लिए) प्राप्त कर रही हो।" (इस समय श्रीराधिकाके नेत्रोंमें कटाक्ष, हृदयमें लज्जा और मुखमें नर्मालाप देखा जा रहा है)॥१४॥

लोचनरोचनी—आशास्ते इति सख्याः सखीं प्रति भावोद्दीपनं वचनं मन्दमीषद् यथा स्यात्तथाऽऽशास्ते। उदीरत इति कर्तर्येव प्रयोगः। ईङ् गताविति दैवादिकस्य॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधां परिहसन्त्याह—आशास्त इति। तव दृगेवेन्दीवरं तत्र कटाक्ष एव भ्रमरः पतितुमाशास्ते इच्छति, एतावत्कालं तव नयनं

कटाक्षं कर्त्तुं न जानीते स्म। संप्रति ज्ञास्यतीत्यर्थः। व्रीडो लज्जा। व्रीडोऽक्लीव इति रभसः। "व्रीडमेति नतवक्षसः प्रिया" इति माघः। माधवो वसन्तः श्रीकृष्णश्च॥१४॥

अथ नव्यम्—

दरोद्भिन्नस्तनं किंचिच्चलाक्षं मन्थरस्मितम्।
मनागपि स्फुरद्भावं नव्यं यौवनमुच्यते॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—नव्यवयस—जिस समय स्तन कुछ स्निग्ध और उठने लगते हैं, नेत्र कुछ चञ्चल हो उठते हैं, मुखमें मृदुमन्द हास्य खिलने लगता है और मनमें थोड़े-थोड़े विकार भी उठने लगते हैं, उस उम्रको रसशास्त्रमें नव्यवयस या नवयौवन कहा जाता है॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—दरेति तेन वयःसन्धौ स्तनस्थानस्य स्निग्धत्वमांसलत्वे एव, न तु तदाकार इति ज्ञेयम्। किंचिच्चलाक्षमिति—वयःसंधिनव्ययोर्नयन-चाञ्चल्यस्यालक्ष्यत्वलक्ष्यत्वाभ्यां भेदः। मन्थरं मुखान्निर्गन्तुं विलम्बमानं स्मितं यत्र इति वयःसन्धौ मुखमध्य एवासीदित्यर्थः। अभि सर्वतोभावेन स्फुरन् भावो यत्रेति प्रथमविक्रियारूपस्य भावस्य तयोरलक्ष्यत्वलक्ष्यत्वाभ्यां भेदः॥१५॥

यथा—

उरः स्तोकोच्छूनं वचनमुदयद्वक्रिमलवं,
दरोद्घूर्णा दृष्टिर्जघनतटमीषद्घनतरम्।
मनाग्व्यक्ता रोमावलिरपचितं किंचिदुदरं,
हरेः सेवौचित्यं तव सुवदने विन्दति वयः॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकी प्रथम कैशोरावस्थाका उदाहरण—वृन्दा अत्यन्त उल्लसित चित्तसे उपदेश-भङ्गी द्वारा श्रीकृष्णका दौत्य करते हुए किसी एक सखीसे कह रही है—"हे सुवदने! हे चन्द्रवदने! तुम्हारा वक्षःस्थल किञ्चित् उन्नत देख रही हूँ। तुम्हारे वचन भी वक्र भावका अवलम्बन कर रहे हैं। तुम्हारे दोनों नेत्र कुछ-कुछ घूर्णित होने लगे हैं, रोमावलियाँ भी कुछ-कुछ अभिव्यक्त हो रही हैं, उदरकी क्षीणता भी आरम्भ हो गई है। दोनों जंघायें भी किञ्चित् घनीभूत (स्थूल) हो रही हैं, जैसे भी हो, हे सुवदने! तुम्हारा यह अभिनव वयस हरिसेवाकी

योग्यताको प्राप्त हो चुका है। अतः अब तुम हरिसेवामें विलम्ब मत करो॥"१६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दाह—उर इति। किंचिदपचितमीषत् क्षीणम्॥१६॥

तन्माधुर्यम्—

वारं वारं विचरसि हरेरद्य विश्रामवेद्या,
मुद्भ्रान्तासि स्फुरति पवने तद्वपुर्गन्धभाजि।
बाले नेत्रे विकिरसि मुहुर्नैचिकीनां पदव्यां,
भावाग्निस्ते स्फुटमिह मनोधाम्नि धूमायितोऽस्ति॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—नवयौवनका माधुर्य—प्रथम कैशोर दशामें प्रकाशमान माधुरी विशिष्टा किसी गोपीको देखकर कोई एक प्रौढ़ा गोपी उसकी चेष्टा आदिका वर्णनकर श्रीकृष्णके विषयमें नवयौवनोद्‌गत भावाङ्कुरको निश्चित कर रही है—"हे सुन्दरि! आज तुम बारम्बार हरिकी विश्राम वेदीमें गमन कर रही हो। उनकी देहगन्ध वहन करनेवाले पवनके स्पर्शसे उद्‌भ्रान्त हो रही हो और पुनः-पुनः नैचिकी (उत्तम गायों) के पथमें अपने नेत्रोंको निरन्तर निक्षेप कर रही हो। इससे यह स्पष्ट ही समझा जाता है कि तुम्हारे मनमन्दिरमें भावाग्नि धूमायित हो रही है॥"१७॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित्प्रौढवधूः स्वननान्दरं परिहसन्ती तद्वृत्यं विधित्सन्त्याह—वारं वारमिति। विचरसीति चापल्यम्। उद्‌भ्रान्तासीत्यावेगः। विकिरसीत्यौत्सुक्यम्॥१७॥

अथ व्यक्तम्—

वक्षः प्रव्यक्तवक्षोजं मध्यं च सुवलित्रयम्।
उज्ज्वलानि तथाङ्गानि व्यक्ते स्फुरति यौवने॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—व्यक्तयौवन—जिस समय वक्षःस्थलपर दोनों स्तन सुन्दर रूपसे लक्षित होने लगते हैं, मध्यदेशमें त्रिवलि तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें उज्ज्वलता प्रकाशित होने लगती है, उस कालको व्यक्तयौवन कहते हैं॥१८॥

यथा—

रथाङ्गमिथुनं नवं प्रकटयत्युरोजद्युति–
र्व्यनक्ति युगलं दृशोः शफरवृत्तिमिन्द्रावलि।

बिभर्ति च वलित्रयं तव तरङ्गभङ्गोद्गमं,
त्वमत्र सरसीकृता तरुणिमश्रिया राजसि॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—इन्द्रावलीके मध्यकैशोरकी शोभा देखकर नान्दीमुखी आनन्दसे उल्लसित होकर वर्णन कर रही है—"हे इन्द्रावलि! ऐसा लगता है कि तुम्हारे गोल-गोल वक्षोजोंकी दीप्ति नवीन चक्रवाकको प्रकट कर रही है, तुम्हारे दोनों नेत्र सफरी (मछली) की चञ्चलताको व्यक्त कर रहे हैं, त्रिवलि भी मानो तरङ्गोंकी कान्ति परम्पराको धारण कर रही है। अतएव इस व्रजमें तुम तारुण्य-सम्पदमें सरसी सदृश (रसशालिनी) होकर विराजमान हो रही हो॥"१९॥

लोचनरोचनी—सरसीकृतेति। पूर्वमसरसा संप्रति तु तादृशी कृतेत्यर्थः। पक्षे सरसी सरः॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुख्याह—रथाङ्गमिथुनं चक्रवाकद्वयम्। शफरयोरिव वृत्तिं चरित्रम्, पक्षे शफरवत्ताम्। हे इन्द्रावलि! सरसी सरोवरम्, पक्षे पूर्वमसरसा त्वं संप्रति रसिकाऽभूरित्यर्थः॥१९॥

तन्माधुर्यम्—

भ्राजन्ते वरदन्तिमौक्तिकगणा यस्योल्लिखद्भिर्नखैः,
क्षिप्ताः पुष्करमालयावृतरुचः कुञ्जेषु कुञ्जेष्वमी।
शौटीर्याब्धिरुरोजपञ्जरतटे संवेशयन्त्या कथं,
स श्रीमान् हरिणेक्षणे हरिरभून्नेत्रेण बद्धस्त्वया॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—मध्यकैशोरका माधुर्य—श्रीमतीराधिकाके मध्यकैशोरके महामाधुर्यके द्वारा महाविक्षुब्ध श्रीकृष्णको देखकर श्यामला श्रीराधाके निकट भङ्गीक्रमसे प्रशंसापूर्वक श्रीकृष्णकी विवशता-प्रसङ्गको बतला रही है—हे मृगनयने! तुमने अपने नेत्रोंसे किस प्रकार उस हरिका बन्धन किया है? एकमात्र हरिणको प्रेषितकर अर्थात् केवल दृष्टि निक्षेपके द्वारा उस हरिरूप महापराक्रमी सिंहको किस प्रकार बाँधा है, यह अति विस्मयकी बात है! श्लेषमें—गोपी होनेके कारण नेत्रोंके कटाक्ष अर्थात् दधिमन्थन डोरसे उस सिंहको बाँधनेकी तुम्हारी इच्छा उचित ही है। क्योंकि वह तो स्वयं ही तुम्हारे उरोजरूप पिञ्जड़में शयन कर रहा

है। किन्तु, देखो, वह सिंह कोई साधारण नहीं है। वह शौटीर्य (पराक्रम) का सागर है। श्लेषमें—परम सुकुमार तुम उस महापराक्रमी श्रीकृष्णका शृङ्गाररस-सम्बन्धी मर्दन किस प्रकार सहन करोगी? अर्थान्तर यह है कि हे शोभनदशने! जिसके नखराघात करनेपर रमणियोंके स्तनोंके मौक्तिकसमूह पद्ममालासे आच्छन्न कान्ति होकर कुञ्ज-कुञ्जमें पतित होकर शोभाका विस्तार कर रहे हैं तथा जो पराक्रमके सागर हैं अर्थात् शृङ्गाररसमें परम सुख देनेवाले हैं, उन श्रीहरिको तुम अपने स्तनोंके मध्यमें शयन करा रही हो। वह तुम्हारे नेत्रोंके द्वारा किस प्रकार बँध गए हैं?॥२०॥

लोचनरोचनी—हे वरदन्ति श्रेष्ठदशने, पक्षे वरदन्तिनां श्रेष्ठहस्तिनां मौक्तिकगणाः। पुष्करमाला पद्ममाला, पक्षे करिशुण्डाग्रसमूहः। संवेशयन्त्या शाययन्त्या। नेत्रेण चक्षुषा, पक्षे मन्थनडोरकेण॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामला श्रीराधामाह—स हरिः कथं त्वया नेत्रेण बद्धः। हे हरिणेक्षणे! इति एकमेव हरिणं प्रहित्य तद्वारैव भवती सिंहमबध्नादिति विस्मयः। श्लेषेण तु नेत्रेण मन्थनडोरकेण सिहं बन्धुमिच्छन्त्यास्तव गोपीत्वात्तदेव बन्धनसाधनमुचितमेवेति भावः। किमर्थमुरोज एव पञ्जरं तत्तटे संवेशयन्त्या शाययन्त्या। हेतौ शतृप्रत्ययः। "स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेशः" इत्यमरः। न च स सिंहोऽपि साधारणधर्मेत्याह—शौटीर्येति। शौटीर्यं पराक्रमस्तस्याब्धिरिति, पक्षे परमसुकुमारया त्वया तस्य महाबलस्य श्रीकृष्णस्य शृङ्गाररससंमर्दः कथं सोढव्य इति नर्म ध्वनितम्। यस्य हरेः सिंहस्य, पक्षे श्रीकृष्णस्योल्लिखद्भिरुच्चैर्लिखद्भिः, पक्षे उच्चै रेखां कुर्वद्भिर्नखैः क्षिप्ता वरदन्तिमौक्तिकगणाः श्रेष्ठगजमुक्ताराशयः, पक्षे हे वरदन्ति इति पृथक्पदम्। अत्रोभयपक्षेऽपि करिकुम्भस्तनौ कर्मभूतावाक्षेपलब्धौ प्रविश पिण्डमित्यत्र गृहं भक्षयेतिवज्ज्ञेयौ। कीदृशाः? पुष्करमालया छिन्नकरिशुण्डाग्रश्रेण्या, पक्षे निर्माल्यकमलमालया आवृता रुचयः कान्तयो येषां ते। "पुष्करं करिहस्ताग्रे" इत्यमरः॥२०॥

अथ पूर्णम्—

> **नितम्बो विपुलो मध्यं कृशमङ्गं वरद्युति।**
> **पीनौ कुचावूरुयुगं रम्भाभं पूर्णयौवने॥२१॥**

तात्पर्यानुवाद—पूर्णयौवन—जिस समय कामिनियोंके नितम्बदेशकी विपुलता होती है, मध्यदेशमें कृशता होती है, अङ्गोंमें महाकान्ति, स्तनोंकी

स्थूलता एवं जंघायुगलमें कदलीवृक्षके समान कान्ति आदि दिखाई पड़ती हैं, उसे पूर्णयौवन कहते हैं॥२१॥

यथा—

दृशोर्द्वन्द्वं वक्रां हरति शफरोल्लासलहरी–
मखण्डं तुण्डश्रीर्विधुमधुरिमाणं दमयति।
कुचौ कुम्भभ्रान्तिं मुहुरविकलां कन्दलयत–
स्तवापूर्वं लीलावति वयसि पूर्णे वपुरभूत्॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—लीलावती यूथेश्वरीकी चरमकैशोर दशामें प्रकटित अङ्ग–प्रत्यङ्गके सौष्ठवको देखकर वृन्दा उससे कह रही है—"हे लीलवति! तुम्हारे दोनों नेत्र मत्स्ययुगलकी वक्रोल्लास तरङ्गको धारण कर रहे हैं, वदनशोभा अखण्डचन्द्रमाके माधुर्यको तिरस्कृत कर रही है और तुम्हारे दोनों वक्षोज पुनः–पुनः अपनेमें घटका भ्रम उत्पन्न करा रहे हैं। अतः तुम्हारा पूर्णयौवन अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है॥"२२॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दाह–दृशोरिति। कन्दलयतोऽङ्कुरयतः। प्रकाशयत इति यावत्। वयसि यौवने॥**२२**॥

तन्माधुर्यम्—

न वित्रस्ता का ते प्रति युवतिरासीन्मुखरुचा,
दधार स्तैमित्यं प्रणयघनवृष्ट्या तव न का।
व्रजे शिष्या काभून्नहि तव कलायामिति हरे,
निकुञ्जस्वाराज्ये त्वमसि रसिके पट्टमहिषी॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्णयौवनका माधुर्य—श्रीराधिकाके सौभाग्यसे विद्वेष कर रही चन्द्रावलीको पद्मा आश्वासन दे रही है—"तुम्हारे वदनकी अद्भुत चमत्कारपूर्ण शोभासे प्रतिपक्षकी कौन–सी युवती आश्चर्यचकित नहीं हो उठती? तुम्हारे प्रणयधनकी वर्षासे कौन रमणी स्तब्ध नहीं हो रही है? तुम्हारी वैदग्धीकलासे ऐसी कौन गोपी है, जो तुम्हारी शिष्या न हो चुकी हो? हे रसिके! श्रीहरिके निकुञ्जरूप स्वर्गराज्यमें केवल तुम ही पट्टमहिषीके रूपमें सुशोभित हो रही हो!!"॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधासौभाग्याद्विषीदन्तीं चन्द्रावलीं पद्मा समाश्वसिति—न वित्रस्तेति। प्रतियुवतिः प्रतिपक्षगोपी॥२३॥

तारुण्यस्य नवत्वेऽपि कासांचिद् व्रजसुभ्रुवाम्।
शोभापूर्तिविशेषेण पूर्णतेव प्रकाशते॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—पहले नायिका-प्रकरण (५/२७) में श्रीमतीराधिका आदिके मध्यत्व-स्थापन कालमें मध्यानायिकाको प्रोद्यत्तारुण्याशालिनी कहा गया है; किन्तु यहाँ कहीं-कहीं उनके पूर्ण-तारुण्यको वर्णन करनेका क्या हेतु है? उत्तर—किसी-किसी व्रजदेवी (श्रीराधादि) के नवतारुण्यमें भी शोभाका पूर्ति-वैशिष्ट्य पूर्ववत् प्रकाश पाता है। अतएव यहाँ और पहले भी 'प्रगल्भा पूर्णतारुण्य' इत्यादि कहा गया है। अथवा कोई-कोई व्रजसुन्दरी तारुण्यकी अल्पता होनेपर भी शोभाकी पूर्ति विशेषके द्वारा पूर्णताकी भाँति ही प्रकाश पाती हैं॥२४॥

लोचनरोचनी—तारुण्यस्य तत्समयस्य शोभापूर्तिर्दृशोरित्यादिवर्णिता। पूर्णतेवेति यथान्यत्र पूर्णतावस्था तथेत्यर्थः॥२४॥

अथ रूपम्—

अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना।
येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमिति कथ्यते॥२५॥

यथा दानकेलिकौमुद्याम् (२२)—

त्रपते विलोक्य पद्मा ललिते राधां विनाप्यलङ्कारम्।
तदलं मणिमयमण्डनमण्डलरचना प्रयासेन॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—रूप—शरीरमें भूषणादिके बिना भी जिसके द्वारा सभी अङ्ग भूषितवत् अर्थात् परम सुन्दर दिखाई पड़ते हैं, उसे रूप कहते हैं। अलङ्कारके भारको वहन करनेमें असमर्थ श्रीमतीराधिकाके अङ्गसे विशाखा एकके बाद दूसरे अलङ्कारोंको खोल रही है। वृन्दा श्रीराधाके अङ्गोंमें तत्कालीन स्वाभाविक शोभाको अनुभवकर उल्लाससे विशाखाको कह रही है—"हे विशाखे! श्रीमतीके अभूषित अङ्गोंको देखकर ही जब पद्मा लज्जित हो रही है, तब उनके शरीरपर मणिमय अलङ्कारोंको परिधान करानेकी आवश्यकता ही क्या है?"॥२५-२६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दाह—त्रपत इति। मम सखी चन्द्रावली एवं सौन्दर्यवती न भवतीति स्वपक्षोत्कर्षच्युतिजनितेयं लज्जा॥२६॥

यथा वा विदग्धमाधवे: (७/४८)—

नीतं ते पुनरुक्ततां भ्रमरकैः कस्तूरिकापत्रकं,
नेत्राभ्यां विफलीकृतं कुवलयद्वन्द्वं च कर्णार्पितम्।
हारश्च स्मितकान्तिभङ्गिभिरलं पिष्टानुपेषीकृतः,
किं राधे तव मण्डनेन नितरामङ्गैरसि द्योतिताः॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दाके अनुभव अनुसार श्रीराधाके रूपमाधुर्यका वर्णनकर श्रीकृष्णके अनुभव द्वारा उससे भी अधिक वैशिष्ट्यका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सौभाग्यपूर्णिमाके दिन गौरीतीर्थमें विहार करनेवाले श्रीकृष्ण श्रीराधाका शृङ्गार करते हुए कह रहे हैं—"हे राधे! तुम्हारे चूर्णकुन्तलों (कुञ्चित केशदाम) ने तुम्हारे ललाटपर कस्तूरिकाके द्वारा पत्रभङ्गी रचनाको व्यर्थ कर दिया है, तुम्हारे दोनों नेत्र कानोंके आभरणस्वरूप व्यवहृत नीलपद्मको विफल बना रहे हैं तथा ईषत् मृदुमधुर हास्यतरङ्ग भी तुम्हारे हारको विफल कर रही है। जब बिना भूषणके ही तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वाभाविक शोभाका विस्तार कर रहे हैं, तब व्यर्थ ही भूषण परिधान करनेकी क्या आवश्यकता है?"॥२७॥

लोचनरोचनी—पुनरुक्तादिशब्दा व्यर्थीकृतवाचकाः शब्दभेदविन्यासभङ्ग्या सरसाः॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—भूषितवद्भान्तीत्येषोऽर्थो नात्र शब्दोपात्तोऽभूदित्य-परितुष्यन्नाह—यथा वेति। श्रीकृष्णः प्रसाध्यमानां श्रीराधामाह—नीतमिति। भ्रमरकैरलकैः॥२७॥

अथ लावण्यम्—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—लावण्य—मुक्ताओंके भीतरसे जिस प्रकार स्वाभाविक रूपसे निर्मल-कान्ति बाहरमें प्रकाशित होती है, उसी प्रकार

अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे अतिस्वच्छतापूर्वक स्वाभाविक प्रतिक्षण उदीयमान कान्तिकदम्बको लावण्य कहते हैं॥२८॥

लोचनरोचनी—छायायाः कान्तेस्तरलत्वमिवेति तरङ्गायमानत्वमित्यर्थः। लावण्यशब्दः खलु लवणाशब्दप्रकृतिकः। लवणो हि कान्तिरुच्यते। "लवणा रसभेदे स्याल्लवणा तु नदीत्विषोः" इति मेदिनीकरकोषात्। ततश्च लवणास्मिन्नस्तीति लवणः। अर्श आदिभ्योऽच्। तस्य भावो लावण्यम्, लवणिमा चेति सिद्धम्॥२८॥

आनन्दचन्द्रिका—छायायाः कान्तेस्तरलत्वं तरङ्गायमानत्वम्। यथा तथा यदन्तरा मध्ये एवाङ्गेषु प्रतिभाति प्रतिभानं भवेदित्यर्थः। अतिस्वच्छत्वादाधिक्याच्च प्रतिक्षणमुद्गच्छन्त्य इव कान्तयो यतो लक्ष्यन्ते तल्लावण्यमुच्यत इत्यर्थः॥२८॥

यथा वा—

जगदमलरुचीर्विचित्य राधे व्यधित विधिस्तव नूनमङ्गकानि।
मणिमयमुकुरं कुरङ्गनेत्रे किरणगणेन विडम्बयन्ति यानि॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाके साथ वनविहार करते-करते श्रीकृष्ण श्रीमतीराधिकाके अङ्ग-लावण्यका वर्णन कर रहे हैं—"हे राधे! ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माने जगत्की सारी विमलकान्तिको संग्रहकर तुम्हारे अङ्गोंकी रचना की है; क्योंकि हे मृगनयने! तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्गसे निसृत किरणोंके द्वारा मणिमय दर्पण भी धिक्कृत हो रहा है॥"२९॥

लोचनरोचनी—व्यधित अकरोत्। विडम्बयन्ति निन्दन्ति। तत्रेदृशलावण्याभावात्तिरस्कुर्वन्तीव॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—जगत्सु या या अमला रुचय आसंस्ता एव सर्वा विचित्य ततस्ततः समाहृत्यैव व्यधित अकरोत् अतएव जगत्सु त्वदङ्गसादृश्यं न दृश्यते इति भावः। अङ्गकानीत्यनुकम्पार्थकप्रत्ययेनाङ्गानां सुभगत्वं सुकुमारत्वं चोक्तम्॥२९॥

यथा वा—

शृणु सखि तव कर्णे वर्णयाम्यत्र नीचै-
र्विरचय मुखचन्द्रं मा वृथाराद्विवर्णम्।
इयमुरसि मुरारेरस्ति नान्या मृगाक्षी,
मकरतमुकुराभे बिम्बितासि त्वमेव॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णका अङ्गलावण्य—श्रीमती राधाजी ललिताके साथ अपने घरसे अभिसार करकेके लिए बाहर निकली। पथमें दृष्टिपातकारी सङ्केतकुञ्जमें स्थित श्रीकृष्णके निकट जब श्रीराधाजी उपस्थित हुई, तब वह श्रीकृष्णके अङ्गलावण्यमें प्रतिबिम्बित अपनी मूर्त्तिको देखकर अन्य कामिनी समझकर क्षुब्ध हुईं। उसे जानकर ललिता उनको प्रबोध देती हुई बोली—"हे सखि! मैं धीरे-धीरे तुम्हारे कानोंमें बतला रही हूँ; सुनो, (जोरसे बोलनेपर तुम्हारे इस भ्रमको जानकर श्रीकृष्ण हमारा उपहास कर सकते हैं, इसलिए तुमको धीरे-धीरे बतला रही हूँ।) मुरारिके निकट आश्चर्यसे चकित हो अपने मुखको विवर्ण मत करो; क्योंकि इस वैवर्णताका अपलाप तुम नहीं कर सकती। श्रीकृष्णका वक्षःस्थल मरकतमणि-रचित दर्पणकी भाँति अत्यन्त स्वच्छ है। उसमें तुम ही प्रतिबिम्बित हो रही हो, अन्य किसी नारीका वहाँ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। तुम भ्रमवशतः ही उसे दूसरी नारी समझ रही हो॥"३०॥

लोचनरोचनी—शृणु सखीति। परमलावण्ययुक्त स्वप्रतिबिम्बेन स्वसदृशी काचिदन्याप्यस्तीति समत्सरां श्रीराधां प्रति सखीसान्त्वनम्॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधाङ्गनिष्ठं लावण्यमुदाहृत्य श्रीकृष्णनिष्ठमपि तदुदाहर्तुमाह—यथावेति। एवमग्रेऽपि यथा वेत्यस्यैवमेवावतारिका ज्ञेया। श्रीकृष्णस्याग्रत एवोपविश्य खेलन्तीमकस्मादन्तर्मानोदयां श्रीराधां परामृश्योपरिष्टादस्यामुपहास्यमानताभूदिति विशाखा बोधयन्ती तामाह—शृण्विति॥३०॥

अथ सौन्दर्यम्—

> **अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः संनिवेशो यथोचितम्।**
> **सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥३१॥**

तात्पर्यानुवाद—सौन्दर्य—बाहु प्रभृति अङ्ग तथा प्रगण्ड, प्रकोष्ठ और मणिबन्धादि प्रत्यङ्गोंकी स्थूलता, कृशता, गोलाईरूप यथोचित (जिस स्थलमें जहाँ सुन्दर रूपसे दिखाई पड़े उसी प्रकार) संस्थान—जहाँ सन्धिस्थान भी मांसल (जहाँ हड्डी होनेपर भी केवल मांस ही दिखाई दे) होकर ऐक्यभावको प्राप्त होती है, रसशास्त्रमें उसे सौन्दर्य कहते

हैं। अथवा अङ्ग–प्रत्यङ्ग आदिके यथोचित सन्निवेश तथा सन्धिस्थानोंके यथायथ मांसलत्वको भी सौन्दर्य कहते हैं॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—अङ्गानां बाह्वादीनां प्रत्यङ्गकानां प्रगण्डप्रकोष्ठमणिबन्धदीनां यथोचितं स्थौल्यकार्श्यवर्तुलत्वादिकं यत्र यत्र यद्यदुचितं भवति तदनतिक्रम्य संनिवेशः सुश्लिष्टः यथोचितं मांसलत्वेनैक्यमाप्तः सन्धीनां कफोण्यादीनां बन्धो यस्मिन् सः॥३१॥

यथा—

अखण्डेन्दोस्तुल्यं मुखमुरुकुचद्योतितमुरो,
भुजौ स्रस्तावंसे करपरिमितं मध्यमभितः।
परिस्फारा श्रोणी क्रमलघिमभागूरुयुगलं,
तवापूर्वं राधे किमपि कमनीयं वपुरभूत्॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णने कहा—"हे राधे! तुम्हारे सौन्दर्यादिकी कहाँ तक प्रशंसा करूँ? तुम्हारा मुखमण्डल चन्द्रमण्डलकी भाँति अत्यन्त सुन्दर है, उच्च कुचयुगल अत्यन्त सुदृश्य मनोहर हैं, तुम्हारी दोनों भुजाएँ स्कन्धदेशमें नत हैं अर्थात् तुम आनत–कन्धरा हो, मध्यभाग मुट्ठीभरका अत्यन्त क्षीण है, नितम्ब अतिशय विशाल और दोनों जाँघें क्रमशः ऊपरसे नीचेकी ओर लघु होकर अद्भुत शोभाको धारण कर रही हैं। जैसे भी हो, हे प्रिये! तुम्हारा यह वपु अत्यन्त अपूर्व कमनीय रूपसे सुशोभित हो रहा है॥"३२॥

लोचनरोचनी—अंसे स्कन्धे स्रस्तौ नतावित्यर्थः। नम्राविति वा पाठः॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—अखण्डेन्दोरिति। अंसे स्कन्धे। स्रस्तौ नतावित्यर्थः। मध्यमभितो मध्यस्य सर्वदिक्षु करेण करविस्तारेण परिमितम्। करेणैव ग्रहीतुं शक्यमित्यर्थः। "अभितः परितः समया" इत्यादिना द्वितीया॥३२॥

अथाभिरूपता—

यदात्मीयगुणोत्कर्षैर्वस्त्वन्यन्निकटस्थितम्।
सारूप्यं नयति प्राज्ञैराभिरूप्यं तदुच्यते॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—अभिरूपता—जो अपने गुणोत्कर्षके द्वारा निकटस्थित दूसरी वस्तुओंको भी अपने सारूप्य (अपने समान रूप) की प्राप्ति कराता है, उसे अभिरूपता कहते हैं॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—यदिति कर्तृपदम्। अन्यद्वस्तु कर्मभूतम्। सारूप्यं स्वतुल्य-रूपत्वम्॥३३॥

यथा—

> **मग्ना शुभ्रे दशनकिरणे स्फाटिकीव स्फुरन्ती,**
> **लग्ना शोणे करसरसिजे पद्मरागीव गौरि।**
> **गण्डोपान्ते कुवलयरुचावैन्द्रनीलीव जाता,**
> **सूते रत्नत्रयधियमसौ पश्य कृष्णस्य वंशी॥३४॥**

तात्पर्यानुवाद—कालिन्दी तटवर्ती माधवीकुञ्जके द्वारपर अपने हाथोंमें वंशी धारण किए हुए विराजमान श्रीकृष्णको किञ्चित् दूरसे देखकर विशाखा श्रीराधिकाको दिखाते हुए कह रही है—"हे सखि! कितने आश्चर्यकी बात है? यह वंशी श्रीकृष्णकी शुभ्र दन्तकान्तिसे मग्न होकर स्फटिकवत् स्फूर्ति पा रही है, रक्तवर्ण हस्तकमलोंमें संलग्न होकर पद्मरागमणिकी भाँति शोभा पा रही है, पुनः नीलकमलकी कान्तिविशिष्ट गण्डयुगलोंसे मिलकर वह इन्द्रनीलमणिकी कान्तिका विस्तार कर रही है। यह कृष्णवंशी तीनों रत्नोंका ही भ्रम उत्पन्न करा रही है। हे सखि! तुम केवल गौरवर्णकी हो, किन्तु यह वंशी श्रीकृष्णके सान्निध्यमें विविध वर्ण वैचित्रीसे सुशोभित हो रही है। जड़ बाँसकी नली भी यदि श्रीकृष्णस्पर्शके प्रभावसे इतने सौन्दर्यको धारण कर सकती है, तब परम रूप, गुण, वैदग्धीशालिनी तुम्हारी इससे भी करोड़ों गुण शोभा होगी, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? अतः तुम शीघ्र ही श्रीकृष्णके निकट चली जाओ—यह (नर्म) ध्वनि सूचित होती है। एक बात और—वंशी इस समय केवल उनके हाथोंमें है, यदि अपने अधरोंपर धारण कर बजावें, तब श्रीकृष्णकी स्थिति जानकर यहाँ अन्यान्य नारियाँ उपस्थित हो जाएगी तथा तुम्हारे लिए अपने अभीष्टकी प्राप्ति असम्भव होगी। अतएव तुम अभी श्रीकृष्णके निकट गमन करो॥"३४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णेन वाद्यमानां वंशीं दूराद्दर्शयन्ती विशाखा श्रीराधामाह—मग्नेति। सूते जनयति॥३४॥

यथा वा—

वक्षोजे तव चम्पकच्छविमवष्टम्भोरुकुम्भोपमे,
राधे कोकनदश्रियं करतले सिन्दूरतः सुन्दरे।
द्रागिन्दीवरबन्धुरेषु चिकुरेष्विन्दीवराभां वह–
न्नेकः कैरवकोरको वितनुते पुष्पत्रयीविभ्रमम्॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकी अङ्गकान्तिकी अभिरूपता—एक समय वृन्दाके द्वारा उपहारस्वरूप दी गई कुमुदकी कलिकाको, अपने हाथमें धारणकर श्रीमतीराधाजी कृष्णके साथ विहार कर रही थी। श्रीकृष्ण बलपूर्वक उनके हाथसे उस कलिकाको लेकर कौतुहलवशतः, उन्हींके वक्षःस्थलादि स्थानोंसे उसका स्पर्श करा रहे थे। श्रीराधाके उन–उन अङ्गोंके सङ्गसे कलिकाके रङ्गका भी वैसा ही रङ्ग–परिवर्तन देखकर उसकी प्रशंसाके सम्पर्कमें वे श्रीराधाकी ही अङ्गकान्तिकी अत्यन्त प्रशंसा करने लगे—"हे राधे! कैसे आश्चर्यकी बात है? केवल एक ही कैरवकी कलिका तीन पुष्पोंके विलासको धारण कर रही है!! स्वर्णकलश जैसे तुम्हारे वक्षोजोंके सङ्गसे शीघ्र ही चम्पक–कान्ति, सिन्दूर जैसे लाल सुन्दर करतलके सङ्गसे लालकमलकी आभा तथा भ्रमरसे भी गाढ़े नीलरङ्गके तुम्हारे केशकलापके सङ्गसे वह इन्दीवर (नीलकमल) की कान्तिको धारण कर रही है॥"३५॥

आनन्दचन्द्रिका—यथा वेति। अत्र नायकनायिकयोः शृङ्गाररसस्य परस्परविषयाश्रयत्वे परस्पररूपादीनां परस्परोद्दीपनत्वेन वर्णने पूर्वपश्चाद्भावो न नियम्यत इति ज्ञेयम्॥ श्रीकृष्ण आह—वक्षोज इति। कैरवकोरकः श्वेतोत्पलकलिका, अवष्टम्भः स्वर्णम्, कोकनदं रक्तोत्पलम्, इन्दिरो भ्रमरः, इन्दीवरं नीलोत्पलम्॥३५॥

अथ माधुर्यम्—

रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते॥३६॥

यथा—

किमपि हृदयमभ्रश्यामलं घाम रुन्धे,
दृशमहह विलुण्ठत्याङ्गिकी कापि मुद्रा।

चटुलयति कुलस्त्रीधर्मचर्यां वकारेः,
सुमुखि नवविवर्त्तः कोऽप्यसौ माधुरीणाम्॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—माधुर्य—शरीरके किसी अनिर्वचनीयरूपको माधुर्य कहते हैं। विशाखा श्रीराधासे कह रही है—"हे सुमुखि! श्रीकृष्णकी मेघश्यामल कान्ति मेरे हृदयको अवरुद्ध कर रही है; अहो! उनकी दैहिक अनिर्वाच्य (अकथनीय) भङ्गी मेरे नयनोंको लूट रही है; अतएव उनके इस अनिर्वचनीय माधुर्यका प्रथम विवर्त्त (परिणामविशेष); कुलवती नारियोंके पातिव्रत्यादि धर्मोंका चाञ्चल्य विधान कर रहा है!!"॥३६–३७॥

लोचनरोचनी—रूपमङ्गान्यभूषितानीत्यादिना लक्षितं यत्तदेव किमपि विरलप्रचारमनिर्वाच्यमास्वाद्यमानत्वेऽपि निर्वक्तुमशक्यं चेत्तदा तनोर्माधुर्यमुच्यते॥३६॥

वधूनामिति सर्वत्रान्वेति। हृदयं कर्मरूपम्। धाम कर्तृरूपम्। बकारेर्माधुरीणां कोऽप्यसौ विवर्त्तः परिपाकः॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमङ्गान्यभूषितानीत्यादिना यल्लिखितं तदेव किमपि निर्वक्तुमशक्यं चेद्यद्वाचकः शब्दो न लभ्यते किन्तु मनसैवास्वाद्य प्रतीयते तन्माधुर्यं किमपीत्यादिशब्दैर्यथा कथंचिद्गम्यमित्यर्थः॥३६॥

विशाखा श्रीराधामाह—किमपि धाम कर्तृ हृदयं कर्म रुन्धे। स्वस्मिन्नावृत्य स्थापयतीत्यर्थः। विलुण्ठति बलादपहरति। एवं च मनोदृशोरभावे कथं धर्मः स्थास्यतीत्याह—चटुलयति चञ्चलीकरोति। विवर्त्तः परिपाकविशेषः॥३७॥

अथ मार्द्दवम्—

मार्दवं कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते।
उत्तमं मध्यमं प्रोक्तं कनिष्ठं चेति तत्त्रिधा॥३८॥

तत्रोत्तमम्—

अभिनव वनमालिकामयं सा,
शयनवरं निशि राधिकाधिशिश्ये।
न कुसुमपटलं दरापि जग्लौ,
तदनुभवात्तनुरेव सव्रणासीत्॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—मार्दव—अत्यन्त कोमल वस्तुके संस्पर्शमें असहिष्णुताको मार्दव कहते हैं। यह उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारका होता है॥३८॥

उत्तम मार्दव—क्रीड़ाकुञ्जमें रजनीवृत्तान्त-वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीराधाके अलौकिक अङ्ग-सौकुमार्यका स्मरणकर अत्यन्त विस्मित हुई रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीसे कह रही है—"हे सखि! विगत रजनीमें श्रीराधा अभिनव नव-मल्लिका निर्मित उत्कृष्ट शय्यापर शयन कर रही थीं; किन्तु अत्यन्त विस्मयकी बात है कि उन कुसुमोंके न मुरझानेपर भी श्रीराधाके अङ्गोंमें ही व्रण (क्षत) समूह प्रतीयमान होने लगे। अर्थात् यदि कुसुम मुरझा जानेपर कठोर हो जाते, तब तो राधाजीके अङ्गोंमें व्रण होनेकी बात समझ आती, किन्तु कुसुमोंके नहीं मुरझानेपर भी ऐसा होना श्रीराधाजीके अङ्गोंकी सुकोमलताको ही प्रदर्शित करता है॥"३९॥

लोचनरोचनी—निशि राधिकाऽधिशिष्ये कृष्णेन सहेति बोध्यते। ततस्तस्या मार्दवलक्षणः स्वगुणोऽयं श्रीकृष्णभोग्यत्वेनानुभूयमान उद्दीपनाय कल्पते स्मेति भावः। वक्ष्यमाणमध्यमकनिष्ठोदाहरणे तु तां तां प्रति सखीवाक्यत्वात् पूर्ववदुद्दीपने जाते एवेत्येवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। सव्रणेति स्नेहादत्युक्तिः। ग्लपितेत्येव वास्तवम्॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीमाह—अभिनवेति। तेनाद्यारभ्य नवमालि-कायाः शय्या न कार्य्या किन्तु यूथिकानां स्थलकमलानां वा दलाग्राणि किंवा तदर्थमन्यान्येव पुष्पाण्यवचेतुमन्वेष्टव्यानीति भावः। अधिशिश्ये। "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इत्याधारकर्मणि प्रत्ययः॥३९॥

मध्यमं यथा—

चित्रं धनिष्ठे तनुवाससोऽपि चीनस्य पीनस्तनि संगमेन।
लिप्तेव ते लोहितचन्दनेन मूर्तिर्विदूना सखि लोहितासीत्॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—मध्यममार्दव—अत्यन्त सूक्ष्म पटवस्त्रोंको पहननेसे क्षताङ्गी धनिष्ठाको देखकर ललिता कह रही है—"हे सखि धनिष्ठे! बड़े ही आश्चर्यकी बात है। अत्यन्त मृदु सूक्ष्म वस्त्रके स्पर्शसे भी तुम्हारा कोमल-अङ्ग उसकी रगड़से लाल चन्दन जैसा हो रहा है॥"४०॥

लोचनरोचनी—चीनस्य तन्नामदेशोद्भवस्य॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिताह—चित्रमिति। चीनस्य चीनदेशोद्भवस्याति-सूक्ष्मस्य। लोहितचन्दनेन रक्तचन्दनेन॥४०॥

कनिष्ठं यथा रसार्णवसुधाकरे (१/२९८)—

आमोदमामोदनमादधानं विलीननीलालकचञ्चरीकम्।
क्षणेन पद्मामुखपद्ममासीत्त्विषा रवेः कोमलयापि ताम्रम्॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—कनिष्ठ मार्दव—प्रभातकालीन सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे भी विवर्ण पद्माको देखकर उसकी सखी अपनी सङ्गिनीको बड़े खेदसे कह रही है—"हे सखि! पद्माके आनन्दजनक मनोहर गन्धविशिष्ट मुखकमलपर नीलवर्णके चूर्णकुन्तलरूप भ्रमरावलि स्वेदकणाओंके साथ संलग्न है, किन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि उस समय कोमल सूर्यकी किरणें उनके मुखकमलपर पड़ते ही उनका मुखकमल लाल हो गया॥"४१॥

लोचनरोचनी—आमोदं सौरभम्। आमोदनमानन्दनम्॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—पद्मायाः सखी स्वसखीमाह—आमोदं सौरभमामोदनमानन्ददायि आदधानमन्येभ्योऽप्यर्पयन्तम्। निलीनाः स्वेदसंपर्काद्भालोपान्तसंस्पृष्टा नीलालका एव चञ्चरीका भ्रमरा यत्र तत्। नन्वासां सदैव वस्त्रालंकारादिमतीनां दिवसेऽप्यभिसारवनविहारादौ सूर्यकिरणस्पर्शिनीनां मार्दवनिबन्धनवैवर्ण्यस्य सार्वदिकत्वे विभाववैरूप्यं प्रसज्जेत्। मैवम्। आसां प्रायः सदैव जागरूकरागाख्यस्थायिभाववतीनां दुःखमपि परमसुखरूपमेव भवेत्। तस्मिन् सति कुतो वैरूप्यं प्रत्युत सौरूप्यमेवाधिकं भवेत्। अत्र प्रमाणं "तीव्रार्कद्युतिदीपितैः" इति वक्ष्यमाणं रागोदाहरणपद्यमेव। तत्र संतप्ततीक्ष्णशिलापि परमसुकुमारचरणतलवैरूप्यलेशमपि नाकरोत्; किमुत श्रीकृष्णदृष्टिसुखदत्वेनानुसंधीयमानानि वस्त्रालंकारदीनि। ततश्च कलहान्तरितत्वदशादावासां श्रीकृष्णसंबन्धसंभावना-भावाद्रागाख्यस्थायिभावानुद्गमसमय एव मार्दवनिबन्धनं वैवर्ण्यं ज्ञेयम्। अतएव मार्दवोदाहरणेषु श्रीकृष्णसंबन्धेनोपात्तमार्दवस्योत्तमत्वकनिष्ठत्व ज्ञापनार्थं श्लोकत्रयम्। मार्दवस्य तारतम्यं तु स्पर्शनदर्शनादौ ज्ञेयमिति केचिदाचक्षते॥४१॥

अथ नाम यथा—

तटभुवि रविपुत्र्याः पश्य गौराङ्गि रङ्गी,
स्फुरति सखि कुरङ्गीमण्डले कृष्णसारः।
इति भवदभिधानं शृण्वती सा मदुक्तौ,
सुतनुरतनुघूर्णापूरपूर्णा बभूव॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—नाम—वृन्दा श्रीकृष्णके समीप आकर श्रीराधाजीकी अवस्थाका निवेदन करते हुए कहने लगी कि जैसे ही मैंने राधाजीको कहा कि—"हे सखि! गौराङ्गि! यह देखो, यमुनाके तटप्रान्तमें हिरणियोंकी मण्डलीमें कृष्णसार सुशोभित हो रहा है।" तो हे कृष्ण! मेरी इस बातमें तुम्हारा नाम सुनते ही सुतनु श्रीमती राधिका अतनु (महती) अथवा कामावर्त्तसे परिपूर्ण हो उठीं। यहाँ अतनुका तात्पर्य काम अर्थात् कामावर्त्तसे पूर्ण हो उठी॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीकृष्णमाह—तटेति॥४२॥

अथ चरितम्—

अनुभावाश्च लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा।
अग्रेऽनुभावा वक्तव्या लीलेयं कथ्यतेऽधुना॥४३॥

लीला स्याच्चारुविक्रीडा ताण्डवं वेणुवादनम्।
गोदोहः पर्वतोद्धारो गोहूतिर्गमनादिका॥४४॥

तत्र चारुविक्रीडा—

रासकन्दुकखेलाद्या चारुक्रीडात्र कीर्तिता॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—चरित—अनुभाव और लीलाभेदसे यह दो प्रकारका होता है। आगे अनुभावके सम्बन्धमें वर्णन किया जायेगा। यहाँ लीलाके सम्बन्धमें वर्णन किया जा रहा है। लीला कहनेसे अतिशय मनोज्ञ विशेषक्रीड़ाको समझना चाहिए। जैसे ताण्डव, वेणुवादन, गोदोहन, गिरिधारण, गऊओंको पुकारना एवं गमन इत्यादि। उनमेंसे चारुविक्रीड़ा—रासादि और कन्दुक (गेन्द खेलना) इत्यादि चारु विक्रीड़ाएँ हैं॥४३–४५॥

लोचनरोचनी—अनुभावा अत्रालंकाराख्या उद्भास्वराख्या वाचिकाख्याश्च॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुभावा अलंकाराख्या उद्भास्वराख्या वाचिकाख्या च ज्ञेयाः॥४३॥

तत्र रासः—

तं विलासवति रासमण्डले पुण्डरीकनयनं सुराङ्गनाः।
प्रेक्ष्य संभृतविहारविभ्रमं बभ्रमुर्मदन संभ्रमोर्मिभिः॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—रास—श्रीग्रन्थकार कह रहे हैं कि व्रजसुन्दरियोंके साथ तौर्यत्रिकादि (नृत्य, गीत और वाद्य आदि) विविध केलिविलासयुक्त रासमण्डलमें देववधूगण उस प्रसिद्ध पद्मपलाशलोचन श्रीकृष्णको परम उत्कण्ठासे स्वसर्वस्व रूपमें सब प्रकारसे क्रीड़ाविलास आदिको अङ्गीकार करते हुए देखकर मदनवेगके परमावेशसे महाभ्रान्त हो उठीं॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामला श्रीराधामाह—तमिति। हे विलासवति राधे! अत्र वर्ण्यमानत्वेन स्मृतो रासो रतेरुद्दीपनो ज्ञेयः॥४६॥

कन्दुकक्रीडा—

अरुणरुचिमुदस्य क्षेपणीं कुञ्चिताग्रां,
सरभसमभिधावन्विभ्रमाद्दीर्घवेणिः ।
विरचयति मुकुन्दः कन्दुकान्दोलनृत्य-
द्विपुलनयनभङ्गीविभ्रमः कौतुकं नः॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—कन्दुक अथवा गेंदक्रीड़ा—यमुनाके तटपर भाण्डीरवृक्षकी छायामें प्रियसखाओंके साथ गेंदक्रीड़ाके आवेशमें मधुर श्रीकृष्णको देखकर थोड़ी ही दूरपर सघन लताओंके बीचमें छिपी हुई श्रीराधिका आनन्दसे उल्लसित होकर चित्राके समीप तत्कालीन शोभाका वर्णन कर रही हैं—"जब श्रीकृष्ण संकुचिताग्र अरुणवर्णके गेंदचालन-दण्डको (जिसका अग्रभाग कुछ संकुचित है, ऐसे अरुणवर्णके दण्डको) उठाकर बड़ी शीघ्रतासे इधर-उधर दौड़ते हैं, तब उनकी सुदीर्घ वेणीकी गति अर्थात् उनके घुँघराले बालोंकी गति भी बड़े वेगसे इधर-उधर सञ्चालन होने लगती है। गेंदके इधर-उधर जानेसे उनके नृत्यशील विशाल नयनोंकी भङ्गीकी परिपाटीका विलास भी मुझे आनन्दित कर रहा है॥"४७॥

लोचनरोचनी—अरुणरुचिमिति। द्वयं कांचित् प्रति सख्या वचनम्। तेनावगतत्वाच्च तत्तल्लीलाया उद्दीपनत्वम्॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—वयस्यैः सह खेलन्तं श्रीकृष्णं लताजालदत्तनेत्रा पश्यन्ती श्रीराधा स्वसखीः प्रत्याह—अरुणरुचिं हिङ्गुलेन रञ्जितां क्षेपणीं कन्दुकोत्क्षेपणलकुटिकामुदस्य कन्दुकमुच्चालयितुमुत्क्षिप्य विभ्रमन्ती विभ्रमवती धावनेनाद्भुतविलासयुक्ता दीर्घा वेणिर्यस्य सः। कन्दुकान्दोलनेन नृत्यतोर्विपुलयोर्नयनयोर्भङ्ग्या विभ्रमः शोभाविशेषो यस्य सः॥४७॥

ताण्डवम्—

प्रचलप्रचलाककुण्डलोऽयं स्वसुहृन्मण्डलचर्च्चरीपरीतः।
हरिरद्य नटन् पतङ्गपुत्रीतटरङ्गे मम रङ्गमातनोति॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—ताण्डव—सूर्यनन्दिनी यमुना पुलिनके विशाल प्राङ्गणमें अपनी सखियों द्वारा कृत वाद्य इत्यादिकी मधुर तालपर श्रीकृष्णको नृत्य करते हुए देखकर लताओंसे आवृत श्रीमतीराधिका सखियोंसे कह रही हैं—"हे सखियो! यह देखो, कालिन्दीकी विशाल तटवर्ती रङ्गभूमिमें सखाओंके साथ श्रीकृष्ण ताल–तालपर इस प्रकारसे अद्भुत नृत्य कर रहे हैं कि उनके मस्तकपर चन्द्र (मयूरपिच्छ) मण्डलाकार होकर शोभाका विस्तार कर रहा है। बड़े आश्चर्यकी बात है! उसको देखनेसे मेरा चित्त भी परमानन्दके उल्लाससे परिपूर्ण हो गया है॥"४८॥

लोचनरोचनी—प्रचलाकः पिच्छम्। चर्चरी तालविशेषः॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—लताजाले पश्यन्ती श्रीराधा सखीः प्राह—प्रचलेति। प्रचलाकः पिच्छम्। चर्चरी तालविशेषः॥४८॥

वेणुवादनं यथा ललितमाधवे (४/२७)—

जंघाधस्तटसङ्गिदक्षिणपदं किंचिद्विभुग्नत्रिकं,
साचिस्तम्भितकन्धरं सखि तिरःसञ्चारिनेत्राञ्चलम्।
वंशीं कुट्मलिते दधानमधरे लोलाङ्गुलीसंगतां,
रिङ्गद्भ्रूभ्रमरं वराङ्गि परमानन्दं पुरः स्वीकुरु॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—वेणुवादन—ललिता श्रीमतीराधिकाको वेणुवादनमें आसक्त श्रीकृष्णको दिखला रही है—"हे वराङ्गि राधे! देखो, श्रीकृष्ण अपनी बाँई जंघाको अपने दक्षिण चरणके ऊपर स्थापनकर कमरको ईषत् वक्रकर तथा अपने गलदेशको भी वक्र और स्तब्ध कर रहे हैं। वे अपनी अपाङ्गभङ्गी (कटाक्ष) का विद्युत्की भाँति वक्रभावसे इतस्ततः सञ्चालन कर रहे हैं। वेणुके रन्ध्रोंपर चञ्चल अंगुलियोंका सञ्चालनकर संकुचित अधरपर वंशीको धारण कर रहे हैं। वे अपने भ्रू–भ्रमरको नृत्य करा रहे हैं। हे सखि! हमारे सामने ही विराजमान परमानन्दघनमूर्त्ति श्रीकृष्णको अपनी कटाक्षभङ्गीसे अङ्गीकार करो॥"४९॥

लोचनरोचनी—जंघाधस्तटेति। दाम्पत्येन श्रीकृष्णप्राप्त्युपायसमये तदभेदेन श्रीराधायाः प्रतीतायाः प्रतिमाया वर्णनम्॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीराधामाह—जंघेति। परमानन्दं तदेकस्वरूपत्वेनाधा-राधेयभेदशून्यम्। मूर्तमेव सुखमित्यर्थः। अङ्गीकुरु कटाक्षेङ्गितेन स्वीकुरु। कीदृशम्? जंघया वामजंघया सहाधस्तटेन स्वाधोभागेन सङ्गि दक्षिणपदं यस्य तम्। किंचिदीषद्भुग्नं त्रिकं मध्यभागो यस्य तम्। "पृष्टवंशाधरे त्रिकम्" इत्यमरः। साचि तिर्यक् स्तम्भिता स्तम्भभावेनैव निश्चला कन्धरा ग्रीवा यस्य तम्॥४९॥

गोदोहो यथा पद्यावल्याम् (२६२)—

अङ्गुष्ठाग्रिमयन्त्रिताङ्गुलिरसौ पादार्द्धनीरुद्धभू-
रापीनाञ्चलमादर्दयन्निह पुरो द्वित्रैः पयोबिन्दुभिः।
न्यग्जानुद्वयमध्ययन्त्रितघटीवक्रान्तरालस्खल-
द्धाराध्वानमनोहरं सखि पयो गां दोग्धि दामोदरः॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—गोदोहन—विशाखा सन्ध्याके समय वृन्दावनसे अपने गोष्ठमें आकर गोदोहनमें निरत श्रीकृष्णकी शोभाविशेषको श्रीराधिकाको दिखला रही है—"हे सखि! देखो, ये श्रीकृष्ण अर्द्ध चरणोंको ऊपर उठाकर एड़ियोंके ऊपर अपने नितम्ब भागको रखकर, नीचे मुख किए हुए अपनी दोनों जांघोंके बीचमें दोहनपात्रको भलीभाँति रखकर दोनों वृद्धांगुष्ठोंके अग्रभागके द्वारा अन्य अंगुलियोंको संकुचितकर दो-तीन जलकी बूँदोंसे थनको आर्द्रकर गोदोहन कर रहे हैं। पात्रमें दुग्धधारा पड़नेसे बड़ा ही सुन्दर मधुर शब्द हो रहा है॥"५०॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णं दर्शयन्ती श्रीराधामाह—अङ्गुष्ठस्याग्रिमोऽग्रभवो यो भागस्तेन यन्त्रिता सुश्लिष्टा अङ्गुलयो येन सः। तत्र भागशब्दस्य समासेऽन्तर्भावो वाच्यः। यदुक्तं भाषावृत्तौ "क्वचिदुत्तरपदस्य वृत्तावन्तर्भावः सुवर्णविकारोऽलंकारोऽस्य सुवर्णालंकारः" इति। आपीनमुधस्तस्याञ्चलम्। पुरः दोहक्रियायाः प्रथममेवेत्यर्थः। न्यक् किञ्चिदधोऽञ्चद्यज्जानुद्वयमूरुपर्वयुगलं तन्मध्ये यन्त्रिता निश्चलतया न्यस्ता या घटी तस्या यद्वक्त्रान्तरालं मुखमध्यं तत्र स्खलन्त्यः पतन्त्यो या धारास्तासां ध्वानेन मनोहरं यथा स्यात्तथा। पयो गामिति कर्मद्वयम्॥५०॥

पर्वतोद्धारः—

उद्यम्य कन्दुकितमन्दरसोदराद्रिं,
सव्यं करं कटिमनु स्थगयन्नसव्यम्।

स्मेराननश्चलदृगञ्चलचञ्चरीक-
श्चित्ताम्बुजं मम हरिश्चटुलीचकार॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—पर्वतोद्धार—गोवर्द्धनको धारण करनेवाले श्रीकृष्णकी तत्कालीन अङ्गमाधुरीका अनुभव करती हुई श्रीमतीराधिका विशाखाको अपनी विवशताका निवेदन कर रही है—"हे सखि! श्रीकृष्ण मन्दरतुल्य गोवर्द्धन पर्वतको क्रीड़ाकन्दुक (गेंद) की भाँति अवलीलाक्रमसे (खेल-खेलमें) बाएँ हाथपर उठाकर अपने दक्षिण हाथको कटिप्रदेशमें विन्यस्त कर रहे हैं। उनके मुखपर मृदुमन्द हास्य खेल रहा है तथा उनके नेत्र भङ्गीपूर्वक अत्यन्त चञ्चल हो रहे हैं। ऐसे हरि मेरे चित्तको अत्यन्त चञ्चल कर रहे हैं॥"५१॥

लोचनरोचनी—कन्दुकितः कन्दुकीकृतः। मन्दरसोदरस्तत्तुल्योऽद्रिर्येन तम्। सव्यं करमुद्यम्य, असव्यं करं कटिमनु स्थगयन् संवृततया स्थापयन्॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—उद्यम्येति। कन्दुकितः क्रीडार्थमिव लीलयैव कन्दुकीकृतो मन्दरसोदरस्तत्तुल्योऽद्रिर्येन, तं सव्यकरमुद्यम्योत्थाप्य तथा असव्यं दक्षिणकरं कटिमनु कट्यां स्थगयन् संवृततया स्थापयन्। "षगे ष्ठगे संवरणे" धातुः॥५१॥

गोहूतिः—

पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे,
मृदङ्गमुखि धूमले शबलि हंसि वंशीप्रिये।
इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्णहीहीध्वनि-
र्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः॥५२॥

तात्पर्यानुवाद—गोहूति (गऊओंको पुकारना)—दिनके अन्तिम भागमें वृन्दावनसे अपने घरमें आते हुए श्रीकृष्ण अपनी प्रिय गायोंको पुकारने हेतु मुद्रा धारण कर रहे हैं। उनको ऐसा करते देख अधीरा श्रीमतीराधिका ललिताके निकट अपनी विवशताको बतला रही हैं—"हे ललिते! देखो तो, अपनी दूरवर्ती गायोंको पुकारनेके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण अपने मुखसे उच्चारित पुनः-पुनः 'ही-ही' ध्वनि उच्चारणपर्वूक हे पिशङ्गि! मणिकस्तनि! प्रणतशृङ्गि! पिङ्गेक्षणे! मृदंगमुखि! धूमले! शबलि! हंसि!

हे वंशीप्रिये! प्रभृति नाम उच्चारणकर एवं उन्हें पानी पिलानेके लिए 'चू-चू' ध्वनि कर रहे हैं तथा पानी पिलाकर तीरपर लौटानेके लिए 'तीरी-तीरी' ध्वनि कर रहे हैं। ऐसे हरि मेरे चित्तको हरण कर रहे हैं॥"५२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितामाह—पिशङ्गीत्यादि पद्यत्रयम्॥५२-५४॥

गमनम्—

> **अनुपदमदमन्दान्दोलिदोरर्गलश्रीः,**
> **सुरगजगुरुगर्वस्तम्भिगम्भीरकेलिः ।**
> **सहचरि दरचञ्चच्चारुचूडारुचिर्म्मा,**
> **मदयति गतिमुद्रामाधुरी माधवस्य॥५३॥**

तात्पर्यानुवाद—गमन—सायंकालमें वृन्दावनसे लौटते हुए श्रीकृष्णको निकट देखकर उनकी गमन परिपाटीको अनुभवकर आनन्दमें मग्ना श्रीमतीराधिका ललिताजीसे कह रही हैं—"हे सहचरि! गमन करते समय पग-पगपर उनके दोनों हाथ मन्द-मन्द आन्दोलित होकर अनर्गल शोभाको धारण कर रहे हैं, मस्तकपर चूड़ा ईषत् सञ्चलित (टेढ़ा) होकर अपूर्व शोभाको वहन कर रहा है। जो अपनी गम्भीर केलिके द्वारा देवराजके ऐरावतके गर्वको भी स्तम्भित कर रहे हैं। हे सखि! उन माधवकी गमनमुद्रा मुझे आनन्द प्रदान कर रही है॥"५३॥

अथ मण्डनम्—

> **चतुर्द्धा मण्डनं वासोभूषामाल्यानुलेपनैः॥५४॥**

तत्र वस्त्रं यथा—

> **अम्बरं रचितधैर्यसंवरं रम्यमम्बरमणिप्रभोज्ज्वलम्।**
> **सुभ्रु किं नहि कटीरमण्डले पुण्डरीकनयनस्य पश्यसि॥५५॥**

तात्पर्यानुवाद—मण्डन—यह चार प्रकारका होता है—वस्त्र, भूषा, माल्य और अनुलेपन। उनमेंसे **वस्त्र**—पट्टवस्त्रको धारण करनेवाले श्रीकृष्णको देखकर अत्यन्त आसक्तिसे उनके प्रति देखनेवाली व्रजसुन्दरीको जब उसकी एक सखी उधर देखनेके लिए मना करने

लगी। तब उस व्रजसुन्दरीने कहा—"हे सुभ्रु! श्रीकृष्ण अपने कटिप्रदेशमें सूर्यके समान उज्ज्वल और मनोज्ञ पीतवस्त्रको धारणकर मेरे धैर्यका हरण कर रहे हैं। क्या तुम देख नहीं रही?" ॥५४–५५॥

लोचनरोचनी—दृष्टमपि वाम्येनादृष्टिमिव ज्ञापयन्तीं कांचित् प्रति सख्यास्तत्तदङ्ग वर्णनेष्वम्बरमित्याद्यपि वर्णनं ज्ञेयम्। किं न पश्यसीति स्वारस्यात्। संवरः संवरणम्। प्रारब्धा भा प्रभा मध्यपदलोपान्नवमुद्गतेत्यर्थः। रम्यमित्यादौ प्रोद्यदम्बरमणिप्रभाम्बरामिति वा पाठः ॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—रचितो धैर्यस्य संवरः संवृत्तिः, लोप इति यावत्। अम्बरमणेः सूर्यस्य प्रभाभिर्लग्नाभिरुज्वलम्, अतिचाकचिक्यवदित्यर्थः। अम्बरमिदं पीतमरुणं वा ज्ञेयम्॥५५॥

यथा वा—

अमलकमलरागरागमेतत्तव जयति स्फुटमद्भुतं दुकूलम्।
मम हृदि निजरागमत्र राधे दधदपि यद्द्विगुणं बभूव रक्तम्॥५६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके वस्त्रोंका उद्दीपनत्व दिखलाकर श्रीमतीराधिकाके वसनोंका भी उद्दीपनत्व दिखला रहे हैं। क्रीड़ा निकुञ्जमें श्रीमतीराधिकाके साथ विहार करते-करते श्रीकृष्ण श्रीमतीराधिकाके अङ्गसङ्ग हेतु अतिशोभा विशिष्ट वस्त्रका वर्णन कर रहे हैं—"हे राधे! निर्मल पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे विशिष्ट तुम्हारा यह पट्टवस्त्र जययुक्त हो रहा है। इस जगत्में ऐसा देखा जाता है कि कोई भी वस्तु अपने गुणोंको अन्यत्र अर्पण करनेपर स्वयं गुणशून्य हो जाती है; किन्तु तुम्हारा यह पट्टवस्त्र मेरे हृदयमें अपना राग (रक्तिम, पक्षान्तरमें प्रीति) धारण (अर्पण) करके भी अर्थात् मेरे मनको अनुरञ्जित करके भी स्वयं दुगुना लाल हो रहा है॥"५६॥

लोचनरोचनी—कमलरागः पद्मरागमणिः द्विगुणं बभूव। रक्तमिति। स्वहृदयस्य रागातिशयो व्यञ्जितः। रागस्यानुरागवाचकत्वेऽपि स्वविषयोत्कर्षव्यञ्जकत्वाद्युक्तमेव तदित्यपि सूचितम्॥५६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः श्रीराधामाह—अमलेति। कमलरागः पद्मरागमणिस्तस्येव रागो रक्तिमा यस्य तत्। निजस्य रागं रक्तिमानम् अनुरागं च दधदर्पयत्। द्विगुणमिति।

अनुरागस्य स्वभाव एवायं यत् स्वविषयस्य नित्यनूतनीकरणेन प्रतिक्षणं शोभातिशयमनुभावयतीति॥५६॥

भूषा यथा—

प्रहरतु हरिणा कदम्बपुष्पं प्रियसखि शेखरितं यदङ्गजास्त्रम्।
बत कथममुनावतंसितोऽसौ मम हृदि विध्यति नीलकण्ठपक्षः॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—भूषा—सायंकालके समय वृन्दावनसे लौटते हुए वन्यभूषणोंसे अलंकृत श्रीकृष्णको देखकर उन्मथित चित्तवाली श्रीमतीराधिका ललिताको बड़ी कातर होकर बोलीं—"हे सखि! कामदेवके अस्त्र रूपसे विख्यात यह कदम्बपुष्प, जिसे श्रीकृष्णने अपने मस्तकके ऊपर शिखामालाके रूपमें धारण किया है, वह मुझे प्रहार करता है तो करे; किन्तु उन्होंने जिस प्रकारसे नीलकण्ठ रुद्र (मयूरपिच्छ) को अपने कानोंका अवतंस कर रखा है, वह भी मेरे हृदयको व्यथित क्यों कर रहा है, बतलाओ तो? श्लेषपक्षमें नीलकण्ठ जो रुद्र हैं, कामदेवकी सहायताकर मेरे चित्तको व्यथित क्यों कर रहा है? तथा कामदेव अपने शत्रु रुद्रकी सहायता क्यों कर रहा है?—यह अत्यन्त असम्भव व्यापार ही है॥५७॥

लोचनरोचनी—नीलकण्ठपक्षो मयूरपिच्छम्। पक्षे नीलकण्ठो रुद्रः तस्याङ्गजविद्वेषित्वेन प्रसिद्धस्य पक्षः सहायोऽपीत्यर्थः॥५७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितामाह—प्रहरत्विति। शेखरितं शेखरीकृतम्। "शिखास्वापीडशेखरौ" इत्यमरः। अङ्गजस्य कन्दर्पस्यास्त्रमिति तस्य पुष्पशरत्वान्मम च सदैव तल्लक्ष्यत्वात् प्रहरत्वित्युचितमेव नीलकण्ठस्य सदैव तद्विद्वेषित्वेन प्रसिद्धस्य रुद्रस्य पक्षः सखा मम हृदि कथं विध्यति? "पक्षः सखिसहाययोः" इति मेदिनी। नीलकण्ठः, पक्षे पक्षो मयूरपिच्छम्। "नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्" इत्यमरः॥५७॥

यथा वा—

हारेण तारद्युतिना कपोलप्रेंखोलिना कुण्डलयोर्युगेन।
उत्तुङ्गभासा कनकाङ्गदेन मां लालितेयं ललिता धिनोति॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णकी भूषाका उद्दीपनत्व दिखलाकर यहाँ प्रेयसियोंकी भूषाका उद्दीपनत्व दिखला रहे हैं—व्रजपथपर जाती हुई

ललिताकी भूषणशोभाका दर्शनकर उल्लसित होकर श्रीकृष्ण सुबलसखाको कहने लगे—"गलेमें मुक्तादिका उज्ज्वलकान्तिविशिष्ट हार, दोदुल्यमान दो कुण्डलोंके साथ अत्यन्त उत्कृष्ट कान्तिविशिष्ट ललिता मेरे चित्तमें विकार उत्पन्न कर रही है॥"५८॥

लोचनरोचनी—हारेणेत्याद्यपि। हरिविषया या ललिता। रतेरुद्दीपनत्वं पूर्वरीत्या ज्ञेयम्। साक्षाद्वा परम्परया वा, तया तादृश-श्रीकृष्णवाक्यश्रुतेः। तारेण मुक्ता शुद्धा द्युतिर्यस्य तेन। लालिता सखीभिरुपसेविता॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः पथि चलन्तीं ललितां वर्णयन् सुबलमाह—हारेणेति। तारो नाम मुक्तानां संशुद्धिर्गुणविशेषस्तेन द्युतिर्यस्य तेन। "तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरले शुद्धमौक्तिके" इति विश्वः। ललिता हारादिभिरीप्सितीकृता। "लल ईप्सायाम्" चुरादिः॥५८॥

माल्यानुलेपने यथा रसार्णवसुधाकरे—

आलोलैरनुमीयते मधुकरैः केशेषु माल्यग्रहः,
कान्तिः कापि कपोलयोः प्रथयते ताम्बूलमन्तर्गतम्।
अङ्गानामनुभूयते परिमलैरालेपनप्रक्रिया,
वेषः कोऽपि विदग्ध एष सुदृशः सूते सुखं चक्षुषोः॥५९॥

तात्पर्यानुवाद—माल्य और अनुलेपन—पुष्पचयनके लिए वृन्दावनमें उपस्थित श्रीमतीराधिकाका विशाखाने अपनी नाना प्रकारकी कलाओंसे प्रसाधन किया। उसे देखकर श्रीकृष्ण प्रियनर्मसखा सुबलसे कहने लगे—"श्रीराधिकाने अपने केशकलापमें पुष्पमालाको धारण किया है, यद्यपि वह वस्त्र द्वारा आवृत है, तथापि मकरन्द लोलुप महाचञ्चल भ्रमरोंके सञ्चलनके द्वारा ही उसका अनुमान हो रहा है, दोनों कपोलोंकी अनिर्वचनीय कान्ति ही मुखके भीतर ताम्बुलके रहनेकी सूचना देती है, उनके अङ्गपरिमल यह बतला रहे हैं कि कर्पूर और कस्तूरीके द्वारा इनका अङ्गराग हुआ है। श्रीमतीराधिकाका यह विदग्ध वेश मुझे अनिर्वचनीय सुख प्रदान कर रहा है॥"५९॥

लोचनरोचनी—आलोलैरित्यपि। पूर्ववत्। परपरत्र चावतारिका भङ्ग्या तथैव योज्यम्॥५९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—केशेषु वस्त्राच्छादितेष्वपि माल्यग्रहो माल्यधारणं प्रथयते ख्यापयते॥५९॥

यथा वा—

अनङ्गरागाय बभूव सद्यस्तवाङ्गरागोऽपि किमङ्गनासु।
उद्दामभाराय तथा किमासीद्दामापि दामोदर तावकीनम्॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—इस पद्यमें श्रीकृष्णके भी माल्य और अनुलेपनका उद्दीपनत्व दिखला रहे हैं। दूती श्रीकृष्णसे कह रही है—"हे दामोदर! क्या तुम्हारे अङ्गोंका यह अङ्गराग व्रजाङ्गनाओंके अनङ्गराग अर्थात् काम उद्दीपनके लिए ही हो रहा है? क्या तुम्हारी यह पुष्पमाला भी उनके अनर्गल भाव विधानके लिए ही धारण की जा रही है?"॥६०॥

लोचनरोचनी—अनङ्गरागायेति। तत्प्रेयस्याः पुरतः श्रीकृष्णं प्रति सखीकृत-परिहासवचनम्॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—दूती श्रीकृष्णमाह—अनङ्गेति। अङ्गरागश्चन्दनकुङ्कुमाद्यनुलेपः। तव दाम माल्यमपि उद्दामो विनिर्मलो यो भावस्तदर्थम्, विरोधपक्षे उदुपसर्गो नञर्थे। उद्वर्त्मना गच्छतीतिवत्॥६०॥

अथ संबन्धिनः—

लग्नाः संनिहिताश्चेति द्विधा संबन्धिनो मताः॥६१॥

तत्र लग्नाः—

वंशीशृङ्गीरवौ गीतं सौरभ्यं भूषणक्वणः।
पदाङ्काद्या विपञ्च्यादिनिक्वाणाः शिल्पकौशलम्।
इत्यादयोऽत्र कथिता लग्नाः संबन्धिनो बुधैः॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—सम्बन्धी—लग्न, सम्बन्धी और सन्निहित भेदसे दो प्रकारका होता है।

लग्नसम्बन्धी—वंशीरव और शृङ्गीरव, गीत, सौरभ्य, भूषणशब्द, चरणचिह्न, वीणारव, शिल्पकौशल इत्यादिको इस रसमें लग्नसम्बन्धी कहा जाता है॥६१–६२॥

आनन्दचन्द्रिका—गुणादयो मण्डनान्ता उद्दीपनविभावा नायकयोः साक्षाद्वर्त्तित्वे एव, संबन्धिनस्तु तदसाक्षाद्वर्त्तित्वे इति भेदो ज्ञेयः। संबन्धिष्वपि तदविनाभाववन्तो वंशीरवाद्या लग्ना इति तौ विनापि पृथग्विधा निर्माल्यादयः संनिहिता इत्याख्यायन्ते। किञ्च वंशीरवादीनां तत्साक्षाद्वर्त्तित्वे गोहूतिर्गमनादिकेत्यादिपदग्राह्यत्वेन लीनेत्याख्या साक्षाद्वर्तित्वाभावे तु संबन्धिन इति। अतएव वेणुवादनताण्डवगोहूतयो लीलामध्येऽपि पठिता इति॥६१–६२॥

तत्र वंशीरवो दानकेलिकौमुद्याम् (३२)—

> **वेणोरेष कलस्वनस्तरुलताव्याजृम्भणे दोहदं,**
> **संध्यागर्जभरः पिकद्विजकुहूस्वाध्यायपारायणे।**
> **आभीरेन्दुमुखीस्मरानलशिखोत्सेके सलीलानिलो,**
> **राधाधैर्यधराधरेन्द्रदमने दम्भोलिरुन्मीलति॥६३॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिका आदि यूथेश्वरियोंको वृन्दा कह रही हैं—"अरी सखियो! श्रीकृष्णका यह वेणु जो तुम श्रवण कर रही हो, साधारण नहीं है। यह वेणुरव तरुलताओंके पुष्प–पल्लव आदिके प्रकाशनके लिए एक विशेष प्रकारकी औषधि है, कोकिलादि द्विजों (पक्षियों या ब्राह्मणों) के मुखसे निकली हुई ध्वनिरूप वेदपाठके विषयमें सन्ध्या–गर्जन जैसी है (अर्थात् वेणुरव पिकप्रभृति पक्षियों तथा ब्राह्मणोंको भी नीरव कर रहा है), आभीर रमणियोंकी कन्दर्पाग्निकी शिखाको और भी वर्द्धित करनेके लिए विशेष प्रकारकी वायु है तथा श्रीराधाके धैर्यरूप श्रेष्ठ धराधर (पर्वत) को दमन करनेके लिए वज्रसदृश होकर व्रजमें अत्यन्त सुशोभित हो रहा है॥"६३॥

लोचनरोचनी—पारायणं पाठस्य साकल्यकरणम्। व्याजृम्भणे पुष्पादिप्रकाशे निमित्ते दोहदं वाञ्छनीयमित्यर्थः॥६३॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीराधाप्रभृतीराह—वेणोरिति। व्याजृम्भणे पुष्पपल्लवादि–प्रकाशे निमित्ते दोहदं तदानन्दकौषधविशेषः। तथा पिका एव द्विजास्तेषां कुहूरेव स्वाध्यायो वेदपाठस्तस्य पारायणे साकल्येनावर्तने संध्यागर्जातिशयः। दम्भोलिर्वज्रम्॥६३॥

यथा वा रसार्णवसुधाकरे—

> **माधवो मधुरमाधवीलतामण्डपे पटुरटन्मधुव्रते।**
> **संजगौ श्रवणचारु गोपिकामानमीनबडिशेन वेणुना॥६४॥**

तात्पर्यानुवाद—उक्त उदाहरणमें श्रीमतीराधिकाके दर्पपर्वतको चूर्णविचूर्ण करनेके लिए ही मुरलीध्वनिके महात्म्यको बताया गया है; किन्तु गोपाङ्गनाओंके लिए उद्दीपन न होनेके कारण सम्पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट न होनेके कारण पुनः कह रहे हैं। किसी एक सखीने कहा—"हे सखियो! माधव सभी विषयोंमें अत्यन्त पटु हैं; क्योंकि वे मधुकर-गुञ्जित मधुर माधवीलता मण्डपमें भ्रमण करते-करते मोहन वेणुको इस प्रकारसे बजा रहे हैं कि उसकी मधुर-ध्वनि गोपियोंकी मानरूपी मछलीको पकड़नेवाली बड़िशकी भाँति उनके मनमें बिद्ध होकर सम्पूर्ण रूपसे उनके मानको दूर कर देती है।" अर्थात् गोपियोंकी मानरूपी मछली इस प्रकार बड़िशके द्वारा बिद्ध हुई॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र राधाधैर्येत्यनेन श्रीराधाया एव भावोद्दीपनत्वं वेणुस्वनस्यावगतं विवक्षितं तु सर्वासामेव इत्यत आह—यथावेति। माधव इति। अत्र गोपिकापदेन नायिकामात्रमुक्तम्॥६४॥

कृष्णवक्त्रेन्दुनिष्ठ्यूतं मुरलीनिनदामृतम्।
उद्दीपनानां सर्वेषां मध्ये प्रवरमीर्य्यते॥६५॥

तात्पर्यानुवाद—जिन सब उद्दीपनोंका यहाँ वर्णन किया गया है, उनमेंसे श्रीकृष्णके मुखचन्द्रसे निःसृत मुरलीनाद ही सबसे श्रेष्ठ है॥६५॥

आनन्दचन्द्रिका—निष्ठ्यूतमुद्गीर्णम्॥६५॥

शृङ्गीरवः—

कंसारातेः पिबतु मुरली तस्य सद्वंशजन्मा,
सा वक्त्रेन्दुं स्फुटमकुटिला पञ्चमोद्गारगुर्वी।
आस्वाद्यामुं त्वमपि विषमा भङ्गुराङ्गारकाली,
तुङ्गं शृङ्गि ध्वनसि यदिदं तत्तु दुःखाकरोति॥६६॥

तात्पर्यानुवाद—शृङ्गीरव—यमुनाके तटपर गऊओंको सम्भालनेके लिए श्रीकृष्णने अपने शृङ्गको बजाया। उसे सुनकर श्रीमतीराधिका अधिरूढ़ महाभाव-दशाको प्राप्तकर शृङ्गीके प्रति ईर्ष्यापूर्वक निन्दा करती हुई बोली—"हे शृङ्गी! सद्वंशमें उत्पन्न, अत्यन्त सरल और पञ्चम स्वरमें

आलाप करनेके कारण महान मुरली श्रीकृष्णकी अधरसुधाका पान करती है, तो यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है; किन्तु तुम इस मुखचन्द्रको पानकर भी विषम, वक्र और अङ्गारकी (कोयलाकी) भाँति कृष्णवर्ण धारणकर जो ध्वनि करती हो, वह हम सबको बड़ा ही क्लेश देती है। उसे सुनकर हमारे हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न होती है॥"६६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधाह—कंसेति। विषमा स्थौल्येऽपि सर्वत्र सामान्यरहिता सा प्रसिद्धा यशस्विनी दुःखाकरोति दुःखं ददाति। "दुःखात् प्रातिलोम्ये" इति डाच्॥६६॥

अथ गीतम्—

मानानलं मे शमयन्प्रसिद्धं गानामृतं वर्षति कृष्णमेघः।
मा क्रुध्य वात्यासि सखि प्रसीद दूरे नयामुं निजविभ्रमेण॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—गीत—कलहान्तरिता श्रीराधा ललितासे कह रही है—"हे सखि! कृष्णरूप मेघ मेरे मानरूप अग्निको दूर करनेके लिए गानरूप जलकी (अमृत) वर्षा कर रहे हैं। इसलिए मेरे प्रति क्रोधकर आँधीरूप तुम उनको अपनी झंझावातके द्वारा अर्थात् असाधारण वाक्य विलासाडम्बरके द्वारा दूर करो॥"६७॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता श्रीराधा ललितामाह—मानेति। शमयन् शमयितुं त्वं वात्या असि यतो मामेव चालयसि। तं किं न चालयसि यदि शक्नोषीति भावः॥६७॥

सौरभ्यम्—

मिलति परिमलोर्म्मिः कस्य रोमश्रियासौ,
मम तनुलतिकायां कुर्वती कुड्मलानि।
सखि विदितमिहाग्रे माधवः प्रादुरासीद्,
भुवि सुरभितया यः ख्यातिमङ्गीकरोति॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—सौरभ—ललिताके साथ पुष्पचयनके बहाने श्रीमतीराधिका वृन्दावनमें उपस्थित होकर बहुत दूरसे ही श्रीकृष्णके अङ्गसौरभको सूंघकर उनके मोहनत्वका वर्णन कर रही हैं—"हे सखि! किसके अङ्गोंका

परिमल-तरङ्ग आकर मेरी देहलताको पुलकित कर रहा है? अहो! समझ गई, सामने ही माधव (वसन्त और दूसरे पक्षमें कृष्ण) यहाँ आए हुए हैं। सारे जगत्में उनके अङ्गोंका सौरभ ही सुविख्यात है (अर्थान्तरमें श्रीकृष्णके अङ्गोंमें असाधारण सुगन्ध है, वही चारों तरफ विस्तृत होकर मेरी देहमें पुलकादि सात्त्विक विकारोंको उदित करा रही है)॥"६८॥

लोचनरोचनी—"मिलति परिमलश्रीः कस्य वा रोममूले मम" इत्येव वा पाठः। सुरभितया सुगन्धितया, पक्षे वसन्ततया॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—अभिसरन्ती श्रीराधा वनमध्य एवाह—मिलतीति। परिमलश्रीः सौरभसंपत्तिः। रोमश्रिया रोम्णामुद्गमशोभया इत्यर्थः। दध्ना उपासिक्त ओदनो दध्योदन इतिवदुद्गमपदस्य वृत्तावन्तर्भावः। प्रत्युत्तरमवदन्तीं ललितां स्वयमेवाह—हे सखि! विदितं मया सहसा ज्ञातं सुरभिर्वसन्तः, सौरभवांश्च श्रीकृष्णः। "वसन्ते पुष्पसमयः सुरभिः" इत्यमरः॥६८॥

यथा वा—

मदयति हृदयं किमप्यकाण्डे मम यदिदं नवसौरभं वरीयः।
तदिह कुसुमसंग्रहाय राधा शिखरितटे शिखरद्विजा विवेश॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाका अङ्गसौरभ—गोवर्द्धनके तट प्रदेशमें सखाओंके साथ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण सहसा श्रीमतीराधिकाके अङ्गपरिमलको पाकर समीपमें ही उनके आगमनकी सम्भावनाकर अपने मन-ही-मन सोच रहे हैं—"इस अत्यन्त नव्य और श्रेष्ठ परिमलने हठात् मेरे हृदयको आनन्दसे उल्लसित कर दिया। इससे ऐसा ही बोध होता है कि माणिक्यदशना श्रीमतीराधिका कुसुमचयन करनेके लिए समीप ही गिरिराज गोवर्द्धनकी तलहटीमें उपस्थित हुई है॥"६९॥

लोचनरोचनी—मदयतीति। कदाचिदभिसृत्यापि श्रीकृष्णं निकटस्थं वितर्क्य लीनतया शृण्वत्यां श्रीराधायां श्रीकृष्णवाक्यम्। अकाण्डेऽनवसरे। "पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः॥"६९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—मदेति। "पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः॥"६९॥

भूषणक्वणः—

कलहंसनादमिह हंसगामिनी निशमय्य हंसदुहितुस्तटान्तरे।
तव नूपुरध्वनिधिया परिप्लवा कलसीं न वेद शिरसश्च्युतामपि॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—भूषणोंका शब्द—एक समय स्वाभीष्टदेवता सूर्यकी पूजा हेतु यमुनाका जल लानेके लिए उपस्थित श्रीमती राधिका वहाँ कलहंसकी ध्वनि सुनकर मोहित हो गई। वृन्दा उसी वृत्तान्तको श्रीकृष्णके निकट निवेदन कर रही है—"आज हंस-गमनी श्रीराधा यमुनातटमें कलहंसके नादको श्रवणकर उसे तुम्हारी नूपुरध्वनि मानकर ऐसी उल्लसित हुई कि उनके मस्तकसे सोनेका कलश गिर जानेपर भी उन्हें उसकी सुधबुध नहीं रही॥"७०॥

लोचनरोचनी—परिप्लवा चञ्चला। कलसीयं देवताराधनाय भक्त्यैव स्वयमूढा न तु परिजनाभावेन स्वगृहकर्मणे। तत आरभ्य नन्दस्येत्यादेः॥७०॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीकृष्णमाह—कलेति। परिप्लवा चञ्चला। "चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे" इत्यमरः। कलसीमिति। दास्यादिसद्भावेऽपि देवतापूजानार्थं कलसीं स्वयमेव वहामीति निमिषमात्रं यमुनातटं गत्वा श्रीकृष्णं दूरादपि पश्येयमिति तु वास्तवम्॥७०॥

यथा वा ललितमाधवे (१/५१)—

मधुरिमलहरीभिः स्तम्भयत्यम्बरे या,
स्मरमदसरसानां सारसानां रुतानि।
इयमुदयति राधा किंकिणीझङ्कृतिर्मे,
हृदि परिणमयन्ती विक्रियाडम्बराणि॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाके भूषणोंकी ध्वनि—श्रीराधाका दर्शन करनेकी इच्छाकर श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार कर रहे हैं—"अहा! यह देखो, श्रीमतीराधिकाकी किङ्किणीकी झंकार!! जिसकी माधुर्यलहरीके द्वारा गगनमें उड़ते हुए कन्दर्पमदरसशाली सारस पक्षीकी कलध्वनि भी तिरस्कृत हो रही है। क्या किङ्किणीकी झंकारने मेरे हृदयको आनन्दसे उल्लसित कर दिया है?"॥७१॥

लोचनरोचनी—कदाचिददूरवर्तिनीमपि श्रीराधामविलोक्य तस्यां शृण्वत्यां श्रीकृष्णः प्राह—मधुरिमेति। परिणमयन्ती परिपाकं प्रापयन्ती॥७१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधादिदृक्षुः श्रीकृष्णो वितर्कयति—मधुरिमेति। स्तम्भयति तिरस्करोति। परिणमन्ती परिपाकं प्रापयन्ती॥७१॥

पदाङ्काद्या यथा दानकेलिकौमुद्याम् (१३)—

पदततिभिरलङ्कृतोज्ज्वलेयं　ध्वजकुलिशाङ्कुशपङ्कजाङ्किताभिः।
नखरलुठितकुड्मला वनाली किमपि धिनोति धुनोति चान्तरं मे॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—पदाङ्कादि—श्रीमतीराधिका अपनी सखियोंके साथ यज्ञके लिए सद्य-प्रस्तुत घृत लेकर गोवर्द्धनकी तलहटीमें जाती हुई इतस्ततः सर्वत्र ही श्रीकृष्णके चरणोंका दर्शनकर विस्मयके साथ ललिताजीसे कह रही हैं—"यह वनराजि! (गोवर्द्धनका तटप्रदेश) ध्वज, वज्र, अंकुश और पद्मादि पदाङ्कसमूहसे सुशोभित हो रहा है। इसके पुष्प और मञ्जरियाँ भी श्रीकृष्णके द्वारा स्पर्श किए गए हैं। इसलिए यह वनमाला (वनश्रेणी) मेरे मनको अत्यन्त आनन्दित कर रही है और उनका (श्रीकृष्णका) दर्शन न होनेके कारण व्यथा भी दे रही है॥"७२॥

लोचनरोचनी—लुठितत्वं स्खलितत्वम्॥७२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधामाह—इयं वनाली वनश्रेणी वनरूपाली च ध्वजादिभिरङ्किताभिः पदततिभिः। अत्र पदशब्देन पदचिह्नं लक्षयितव्यम्। पक्षे चिह्नश्रेणीभिरलंकृता तेन श्रीकृष्णेनैवेत्यर्थतो गम्यते। नखराणां लुठितं स्पर्शो येषु तथाभूतानि कुड्मलानि यस्याः सा। "लुठ संश्लेषणे" तुदादिः। श्रीकृष्णेनैव स्वपाणिना पुष्पावचये तन्नखरस्पर्शात्। पक्षे नखरेषु लुठितं कुड्मलतिशयोक्त्या स्तनो यस्याः सा इति विपरीतशृङ्गारः सूचितः। अत्र वनपक्षे धिनोति सुखयति तदीयचरणनखरचिह्नदर्शनात्, धुनोति कम्पयति साक्षात्तद्दर्शनोत्कण्ठाव्यथोत्पादनात्। आलीपक्षे श्रीकृष्णसंभुक्ता सखी स्निह्यन्तीं मां सुखयति, विपरीतसंभोगचिह्नयुक्ता सा कम्पयति। तद्दर्शनेन कामोद्गमात्॥७२॥

विपञ्चीनिक्वाणो यथा ललितमाधवे (१/३६)—

स्मरकेलिनाट्यनान्दीं　शब्दब्रह्मश्रियं　मुहुर्दुहती।
वहति मुदं मम महतीमिह महिता श्यामलामहती॥७३॥

तात्पर्यानुवाद—विपञ्चीशब्द—सायंकालमें वृन्दावनसे घर लौटते समय श्रीकृष्ण व्रजके निकटवर्ती पथमें उपस्थित श्यामलाकी वीणाध्वनिको सुनकर मधुमङ्गलसे कह रहे हैं—"कामक्रीड़ा नृत्यके मङ्गलाचरण स्वरूप पुनः–पुनः वेदपाठकी शोभा या सम्पत्तिको वहन करती हुई श्यामलाकी यह अति उत्तम महती वीणा मुझे अतिशय आनन्दित कर रही है॥"७३॥

लोचनरोचनी—स्मरकेलीत्यपि। मधुरिमेत्यादिसहोदरम्। शब्दब्रह्मश्रियं शब्दरूपं ब्रह्म वेदाख्यं तस्य संपत्तिरूपतया वितर्क्यमानायास्तादृशीं स्मरकेलिनाट्यनान्दीम् आरम्भत एव मङ्गलपाठं दुहती प्रपूरयन्ती। महती विपञ्चीनामा वीणाभेदः॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः श्यामलां दिदृक्षुराह—स्मरेति। श्यामलाया महती वीणा महतीं मम मुदं वहति। "वीणाभेदेऽपि महती" इत्यमरः। शब्दरूपं यद्ब्रह्म वेदस्तस्य श्रियं संपत्तिं दुहती प्रपूरयन्ती। कीदृशीम्? स्मरकेलिरेव नाट्यं तस्य नान्दीमारम्भसूचकमङ्गलपाठरूपाम्॥७३॥

शिल्पकौशलं यथा—

वर कुसुमनिवेशप्रक्रियासौष्ठवेन,
प्रकटितहरिशिल्पा पट्टसूत्रोज्ज्वलश्रीः।
हृदि विनिहितकम्पा निर्म्मिमीते स्रगेषा,
निशितशरपरीतस्मारतूणीरशङ्काम् ॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—शिल्पकौशल—श्रीकृष्णने अपने हाथोंसे पुष्पमाला गूँथकर वृन्दाके हाथों श्रीमतीराधिकाको भेजी। उस मालाको पाकर श्रीमतीराधिकाके अष्टसात्त्विक भाव प्रदीप्त हो उठे। श्रीमतीराधिका उस मालाके उत्कर्षका वर्णन करते हुए कह रही हैं—"अत्यन्त उत्कृष्ट पुष्पोंके विन्यासकी अतिसुन्दर परिपाटीको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह माला श्रीहरिके शिल्प–कलाके पाण्डित्यको ही प्रकाशित कर रही है। (अर्थात् श्रीकृष्णने ही इसे ग्रन्थन किया है।) पट्टसूत्रों द्वारा ग्रथित इसकी शोभा अत्यन्त उज्ज्वल होकर मेरे हृदयको भी कम्पायमान कर रही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कही यह तीक्ष्ण बाणोंसे परिपूर्ण कामदेवकी तूणीर (तर्कश) तो नहीं है?"॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णेन कस्याश्चिद् वनदेवताया हस्तेन प्रेषितां मालां विलोक्य श्रीराधा वितर्कयति—वरेति। हृदि विनिहितेति। "हृद्द्युभ्यां ङेरलुक्" इति अलुक्समासः। स्मारस्य स्मारसंबन्धिनस्तूणीरस्य निषङ्गस्य शङ्का भ्रमम्॥७४॥

अथ संनिहिताः—

निर्माल्याद्याः संनिहिता बर्हगुञ्जाद्रिधातवः।
नैचिकीनां समुदयो लगुडी–वेणु–शृङ्गिकाः॥७५॥

तत्प्रेष्ठदृष्टिर्गोधूलिर्वृन्दारण्यं तदाश्रिताः।
गोवर्द्धनो रविसुता तथा रासस्थलादयः॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—सन्निहित—निर्माल्यादि, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, गिरिधातु, उत्तमा गाभी, लगुड़ी (लकुटि) वेणु, भृङ्गी, श्रीकृष्णके प्रियजनोंका दर्शन, गोधूलि, वृन्दावन, वृन्दावनके पक्षी, मृग, कुञ्जादि, गोवर्द्धन, यमुना और रासस्थली प्रभृतिको सन्निहित कहते हैं॥७५–७६॥

लोचनरोचनी—अथ संनिहिता इति। अत्र संनिहितजातीया अप्युपलक्ष्याः। बर्हादिमात्र दर्शनेनावेशसंभवात्॥७५॥

तत्र निर्माल्याद्या यथा विदग्धमाधवे—

अङ्गोत्तीर्णविलेपनं सखि समाकृष्टिक्रियायां मणि–
र्मन्त्रो हन्त मुहुर्वशीकृतिविधौ नामास्य वंशीपतेः।
निर्माल्यस्रगियं महौषधिरिह स्वान्तस्य संमोहने,
नासां कस्तिसृणां गृणाति परमाचिन्त्यां प्रभावावलीम्॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—निर्माल्यादि—पूर्वरागकी अवस्थामें श्रीकृष्णको कामलेख प्रदान करनेके पश्चात् विशाखाके मुखसे अपने प्रति श्रीकृष्णके कृत्रिम औदासीन्यको सत्य समझकर श्रीमतीराधिका मूर्च्छित हो गईं। तदनन्तर विशाखाके हाथोंसे श्रीकृष्णके अङ्गोंके निर्माल्य रङ्गनमालाकी सुगन्ध पाकर मूर्च्छा दूर होनेका कारण जाननेपर श्रीराधा विशाखाको कह रही है—"हे सखि! कितने आश्चर्यकी बात है? श्रीकृष्णके अङ्गोंसे उतरा हुआ चन्दनादि लेपन युवतियोंको आकर्षण करनेमें मणिस्वरूप है। वंशीपतिका नाम पुनः–पुनः वशीकरणकी भाँति मन्त्रस्वरूप है तथा उनकी यह माला चित्तको सम्मोहित करनेमें महौषधिके समान है। अतः हे सखि! इन

तीनोंका अर्थात् श्रीकृष्ण सम्बन्धीय मणि, मन्त्र और औषधिके अचिन्त्य प्रभावको कौन नहीं जानता?" ॥७७॥

लोचनरोचनी—आसामङ्गोत्तीर्णविलेपननामनिर्माल्यस्रजाम्। को न गृणाति न कथयति॥७७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—अङ्गादुत्तीर्णं विलेपनं चन्दनाद्यङ्गरागः। आसां अङ्गोत्तीर्णविलेपननामनिर्माल्यस्रजां तिसृणां क्रमान्मणिमन्त्रमहौषधीनां को न गृणाति न कथयति। अत्र नामशब्दस्य नपुंसकत्वात् 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिनैकशेषादेषामित्येव भवति नत्वासामिति। सत्यम्। तदप्यत्रोद्देश्यानामन्ते स्रक्पदस्य विधेयानामन्ते ओषधिपदस्य स्त्रीत्वादिदमादिशब्दानामव्यवहितप्रक्रान्तपरामर्शात् क्रमभङ्गस्य काव्यार्थविघातकत्वात् बौद्धापादानवद्बौद्धो द्वन्द्व एव विलेपननामस्रजामिति मणिमन्त्रमहौषधीनामित्याकारोऽत्रासामिति पदेन बोधयितव्य इति काव्यज्ञानामेव न तु केवल वैयाकरणानां व्युत्पत्तिः। वंशीपतेरित्ये कारं वंशी एवास्य स्वकीया स्त्री परकीयनारीणामानयने दूती। अन्यच्चोक्तलक्षणमुपायत्रिकं च प्रबलमतो ममापि मनोरथसिद्धिः स्वत एव संभाव्यत इति भावः॥७७॥

यथा वा ललितमाधवे (६/२६)—

दुकूलेऽस्मिन्कार्त्तस्वरमहसि विस्तारितदृशो,
वपुः किं ते फुल्लैर्वहति तुलनां नीपकुसुमैः।
त्रुटन्तीभिः किं वा स्फटिकमणिमालाभिरुपमां,
लभन्तेऽमी क्षामोदरि नयनयोस्तोयपृषताः॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—नववृन्दावनकी बातोंसे अपरिचिता श्रीराधासे रुक्मिणी (चन्द्रावली) पूछ रही है—"हे राधे! स्वर्णकान्तिसे युक्त इस पट्टवसनको देखकर ही तुम्हारे नेत्र विस्फारित हो रहे हैं, शरीर प्रफुल्ल कदम्बके पुष्पोंकी भाँति कंटकित हो रहा है, तुम्हारे नेत्रोंके अश्रुबिन्दु–स्फटिक–मालाकी शोभाको धारण कर रहे हैं, कृशोदरि! इसका क्या कारण है? प्रस्फुटित कदम्बपुष्पोंकी भाँति तुम्हारा यह अङ्ग पुलकसे क्यों व्याप्त हुआ?" ॥७८॥

लोचनरोचनी—तोयपृषताः जलबिन्दवः॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितमाधवस्थनववृन्दावनीयकथायामपरिचीयमानां श्रीराधां चन्द्रावली पृच्छति—दुकूले इति। कार्त्तस्वरं सुवर्णम्। पृषता बिन्दवः॥७८॥

अथ बर्हगुञ्जे यथा विदग्धमाधवे (२/१५)—

अग्रे प्रेक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते,
गुञ्जानां च विलोकनान्मुहुरसौ सास्त्रं परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां,
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत्कोऽयं नवीनग्रहः ॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—मयूरपिच्छ और गुञ्जा—पूर्वरागकी दशामें श्रीराधाजी द्वारा श्रीकृष्णकी प्राप्तिजनित उन्माद चेष्टाको देखकर उसे भूतावेश समझकर मुखरा पौर्णमासीके निकट बड़े विषादके साथ कह रही है—"अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि श्रीराधा अपने सामने पड़े मयूरपिच्छ या उसके खण्डको देखकर तत्क्षणात् काँप उठती है, गुञ्जामालाका दर्शनकर बारम्बार अश्रु विसर्जनकर बड़े जोर-जोरसे रोने लगती है। इसकी चेष्टा द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भूतप्रेत अथवा कोई नवग्रह प्रवेशकर गया है; क्योंकि अदृष्टपूर्ण हाथ-पैरोंके फेंकने जैसी विविध प्रकारकी नृत्य लीलाओंके द्वारा सभीको विस्मित कर रही है॥"७९॥

आनन्दचन्द्रिका—मुखरा श्रीराधाचेष्टितं पौर्णमासीमावेदयति—अग्र इति॥७९॥

अद्रिधातुर्यथा—

आभीरवृन्दाधिपनन्दनस्य कलेवरालङ्करणोज्ज्वलश्रीः।
क्षिप्तेन्द्रगोपांशुरपांशुलोऽयं तनोति रागं मम धातुरागः ॥८०॥

तात्पर्यानुवाद—अद्रिधातु—गोवर्द्धनकी तलहटीमें विशाखाके साथ पुष्पचयन करती हुई श्रीमती राधिका वहाँ गैरिकधातुका दर्शनकर अत्यन्त उल्लसित हुईं। उनके शरीरमें तरह-तरहके भाव उद्दीप्त होने लगे और वह उसकी महिमाका वर्णन करने लगी—"श्रीनन्दनन्दनके श्रीअङ्गोंके आभरणोचित सौन्दर्यधारी और वर्षाकालीन रक्तवर्णवाले इन्द्रगोप नामक कीटकी भी कान्तिको धिक्कार देनेवाला यह उज्ज्वल धातुराग श्रीकृष्णके प्रति मेरी आसक्तिको वर्द्धित कर रहा है॥"८०॥

लोचनरोचनी—अपांशुलत्वम् मलिनत्वम्॥८०॥

आनन्दचन्द्रिका—विरहिणी श्रीराधा गोवर्द्धनस्थं गैरिकमालोक्याह—आभीरेति। क्षिप्तस्तिरस्कृत इन्द्रगोपस्य वर्षोद्भवकीटविशेषस्यांशुः किरणो येन सः, अपांशुलोऽमलिनः। रागं तद्दर्शनतृष्णाम्॥८०॥

नैचिकीसमुदयो यथा—

सन्ध्याद्योते विलसति गताः प्रेक्ष्य गोष्ठप्रकोष्ठे,
हम्बारम्भोन्मुखरितमुखीर्नैचिकीस्त्वद्विहीनाः ।
अन्तश्चिन्ताचुलुकितमतिर्यादवेन्द्राद्य मन्दा,
कष्टं चन्द्रावलिरिह कथं प्राणबन्धं करोतु॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—नैचिकीसमूदय—पद्मा किसी पथिकको दूत मानकर मथुरावासी श्रीकृष्णको सन्देश भेज रही है—"हे यादवेन्द्र! सायंकाल उपस्थित होनेपर व्रजकी सारी गऊएँ दुःखसे हम्बा-हम्बा ध्वनि करने लगती हैं। चन्द्रावलीका ऐसा दुर्भाग्य है कि इन गऊओंको ही देखकर अत्यन्त चिन्तामें निमग्न हो जाती है। बड़े कष्टकी बात है! हाय! हाय! चन्द्रावली तुम्हारे विरहमें किस प्रकार अपने प्राणोंको धारण करे?"॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरास्थं श्रीकृष्णं केनचित् पान्थेन पद्मा संदेशं प्रस्थापयति—संध्याया द्योते प्रकाशे गोष्ठस्य प्रकोष्ठे निकटप्रदेशविशेषे। हे यादवेन्द्रेति। गोपेन्द्रवंशजात, त्वं यादवेन्द्रोऽभूः कथमस्मान् गोपीः स्मरिष्यति। धिक् दुरदृष्टमस्माकमिति भावः॥८१॥

लगुडी यथा—

विष्टभ्य यां भुवि पुरः शिखरार्पितेन, विन्यस्तचारुचिबुकेन करद्वयेन।
दीव्यन्हरिर्गिरितटे मुदमादधान्नः, सा हन्त यष्टिरधुना हृदयं पिनष्टि॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—लकुटि—श्रीकृष्णके मथुरा गमन करनेपर उनकी लकुटिको देखकर कोई एक गोपी विलाप करते हुए कहने लगी—"हे सखि! श्रीकृष्ण वनमें विचरण करते-करते इस लकुटिको सामने खड़ीकर उसके अग्रभागके ऊपर अपने दोनों हाथोंको विन्यस्तकर उसके ऊपर अपने चिबुकको अर्पणकर अद्भुत भङ्गीको प्रकाश करते हुए हमें परमानन्द प्रदान करते थे; हा! बड़े कष्टकी बात है कि सम्प्रति श्रीकृष्णके विरहमें अब यही लकुटि हमारे हृदयको मानो पीस रही है॥"८२॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरां प्रस्थिते श्रीकृष्णे काचिद्गोपी विलपति—यां यष्टिं पुरो भुवि विष्टभ्य आलम्ब्य शिखरे यदग्रे अर्पितेन उपर्युपरि मुष्टीभूततया वा अनुत्तानतलतया वा करद्वयेन दीव्यन्॥८२॥

वेणुर्यथा—

हृदि न्यस्ता वंशी त्वदधरसुधाभागिति मया,
दुरन्तं विश्लेषज्वरगरलमस्याः शमयितुम्।
वितेने सा तूर्णं शतगुणमिदं यादवपते,
विरक्तो यत्रेशस्तमिह नहि वा कः प्रहरति॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—वेणु—श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर उनकी वेणु-स्पर्शसे अत्यन्त विरह-कातरा श्रीमतीराधिकाके संवादको ललिता किसी पथिकके द्वारा श्रीकृष्णको भेज रही है—"हे मथुरानाथ! श्रीमतीराधिकाके दुरन्त विरहरूप विषका नाश करनेके लिए तुम्हारे अधरामृतका पान करनेवाली वंशीको मैंने उसके हृदयपर अर्पित किया; किन्तु हाय! विरहज्वर उपशम होनेके बदले तत्क्षण सैंकड़ों गुणा और अधिक वर्द्धित हो गया!! जिसके प्रति प्रभुकी विरक्ति है, उसे कौन प्रहार नहीं करता? आज वंशी भी उनके हृदयके ऊपर प्रहार कर रही है॥"८३॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरास्थं श्रीकृष्णं प्रति ललिता संदेशं हंसद्वारा प्रेषयति—हृदीति। अस्याः श्रीराधाया हृदय एव यतो विरहविषज्वाला, अतो हृदय एव वंशी अर्पिता। अस्यां त्वदधरसुधायाः स्थितत्वात् सुधायाश्च विषदाहशामकत्वप्रसिद्धेः। किं चासौ मत्कृतोपायो विपरीतोऽभूदित्याह—वितेन इति। सा वंशी इदं विश्लेषज्वरगरलं शतगुणं वितेने। अत्रार्थान्तरन्यासेन युक्तिमुत्थापयति—यत्र ईशः प्रभुर्विरक्तो भवेत् तत्र जने प्रभुसंबन्धी को वा जनो न प्रहरति अपि तु सर्व एव। यतो वंशीविवरस्था त्वदधरसुधापि मात्सर्येणास्या विषं वर्द्धयति॥८३॥

शृङ्गिका यथा—

वलितं विलोचनाग्रे शबलं धूलिभिरिदं बलावरज।
बलवत्कुवलयनयनास्तव गवलं कवलयत्यद्य॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—शृङ्गिका—वृन्दावनसे पुनः मथुरापुरी लौटे उद्धवसे जब श्रीकृष्णने शृङ्ग, लकुटि आदिकी कुशलता पूछी तो स्वयं साक्षात्

व्रजदेवियोंके विरहका अनुभव करनेवाले उद्धव श्रीकृष्णको निवेदन करते हुए कहने लगे—"हे रामानुज! तुम्हारी शृङ्गकी पहले जैसी शोभा नहीं है। अब तो वह धूलिमें धूसरित हो रही है। हे सखे! यह शृङ्ग ऐसी बलवान् है कि कुवलयनयना आभीरी रमणियोंके नयनपथमें पतित होने मात्रसे ही उनको ग्रास करनेके लिये प्रस्तुत हो रही है॥"८४॥

लोचनरोचनी—गवलमत्र वनमहिषशृङ्गम्। उपलक्षणं चैतत् खड्गादिशृङ्गाणाम्॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रजात् पुनर्मथुरां गत उद्धवः शृङ्गवेत्रादिवार्तां पृच्छन्तं श्रीकृष्णमाह—वलितं व्याप्तं गवलं माहिषं शृङ्गं कर्तृ। कुवलयनयनाः कर्मभूताः कुवलयति। शवलं धूलिभिरिति—एतावन्तं कालं त्वद्व्यवहाराभावादुत्तम-स्थानस्थापितमपीत्यर्थः॥८४॥

तत्प्रेष्ठदृष्टिर्यथा—

सखि मृगमदलेखया विशाखाहृदि मकरीरपि राधिका लिखन्ती।
सुबलमवकलय्य घूर्णिताग्रे पुलकवती वनमालिनं लिलेख॥८५॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियजनोंका दर्शन—श्रीमती राधिका विशाखाका पत्रभङ्गी आदिके द्वारा शृङ्गार कर रही थी। उसी समय सुबलके दर्शनसे श्रीमती राधिका अनिर्वचनीय शोभाको धारणकर अत्यन्त आनन्दसे उल्लसित हो गईं। रूपमञ्जरी कौतुहलसे आक्रान्त होकर उसी वृत्तान्तका वर्णन किसी सखीसे कर रही है—"हे सखि! विशाखाके वक्षःस्थलपर आज मृगमदके द्वारा मकरीकी रचना करते-करते सामने ही सुबलको देखकर श्रीराधाका श्रीअङ्ग पुलकित हो उठा। अपने तन-मनकी सुध भूलकर उन्होंने मकरीके स्थानपर कृष्ण-मूर्त्तिका ही अङ्कन कर दिया॥"८५॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी सखीमाह—सखीति॥८५॥

यथा वा ललितमाधवे (६/४३)—

निखिलसुहृदामर्थारम्भे विलम्बितचेतसो,
मसृणितशिखो यः प्राप्तोऽभून्मनाङ्मृदुतामिव।
स खलु ललिता सान्द्रस्नेहप्रसङ्गघनीभवन्,
पुनरपि बलादिन्धे राधावियोगमयः शिखी॥८६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमतीराधिकाकी प्रियसखी ललिताका दर्शनकर श्रीकृष्णका उद्दीपन—जाम्बवानके घरमें ललिताके दर्शनसे भावोद्दीप्त श्रीराधाके विरहमें विपन्न श्रीकृष्ण द्वारकामें लौटकर मधुमङ्गलके सामने रोते हुए कह रहे हैं—"वसुदेव और उग्रसेनादिके प्रयोजन साधनके लिए (जरासन्धादिके उपद्रवको दूर करनेके लिए) मेरा मन उसीमें अभिनिविष्ट था। उसीसे मेरी श्रीमती राधिकाविषयक विरहाग्निकी शिखा कुछ शान्त-सी थी; किन्तु हे सखे! वही पुनः अब ललिताके स्नेहसे (अर्थान्तर तैल इत्यादिके द्वारा) घनीभूत होकर अत्यन्त दीप्त हो उठी है। इस अग्निको शान्त करनेके लिए कोई दूसरा उपाय भी तो नहीं है? बल्कि उसकी दाहकता ही अधिकाधिक रूपसे वर्द्धित होकर मुझे यातना दे रही है॥"८६॥

लोचनरोचनी—निखिलसुहृदामिति। तत्र ललितमाधवे खल्वितिहासोऽयम्। ललिता नाम व्रजदेव्येव जाम्बवती, योगमायया तस्या एव व्रजे जाम्बवद्गृहे च संचारणात् कन्यात्वेन रक्षणाच्च। सा च स्यमन्तकाहरणे कृष्णाय जाम्बवता दत्ता। पूर्ववत् श्रीराधैव योगमायया सत्यभामाख्यत्वेन सत्राजिद्गृहे प्रापिता, श्रीकृष्णेन प्रथममभिज्ञाता नासीत्। तत्र सति श्रीकृष्णस्य ललिताप्राप्तौ सत्यां तद्विरहं वर्णयतीति ज्ञेयम्। तदिदं च स्थायिप्रकरणे विरोधं परिहृत्य प्रमापयिष्यामः। तदेवं ललिताया अपि स्वस्वरूपप्रेष्ठजनस्य जाम्बवतीरूपस्य श्रीकृष्णसान्निध्यं प्राप्तस्य दर्शनेन स्वसख्याः श्रीराधाया विप्रलम्भस्मरणमपि श्रीकृष्णमुद्दीप्यते स्म। राधायाः स्मरणेन च तस्याः संभोगसुखमपि तिरस्क्रियते। किंत्वायत्यामुभयोरपि सहचर्योः पारदार्य्यभ्रममय-विप्रलम्भो दाम्पत्यमयं संभोगमुद्दीपयिष्यतीति भावः॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मधुमङ्गलमाह—निखिलसुहृदां वसुदेवोग्रसेनादीनां ये अर्था जरासन्धाद्युपद्रवशान्तिपूर्वकस्वस्वाधिकारसुस्थिरीकरणादीनि तेषामारम्भे विलम्बितमा-वेशितं चेतो येन तस्य मम यो राधावियोगाग्निर्मसृणितशिखाश्चित्तैकाग्र्याभावात् किंचिन्मन्दीभूताग्रः सन् मृदुतामिव प्राप्तोऽभूत्, स खलु ललिताया यः सान्द्रः स्नेहः प्रेमपरीपाकः, पक्षे घृतादिरसस्तत्प्रसङ्गेन घनीभवन् हन्त हन्त यस्याः सखीयं ललिता सा मे क्व गतेति निबिडीभवन्। शिखी अग्निः॥८६॥

गोधूलिर्यथा उद्धवसंदेशे (३८)—

> **आ प्रत्यूषादपि सुमनसां वीथिभिर्ग्रथ्यमाना,**
> **धत्ते नासौ सखि कथमहो वैजयन्ती समाप्तिम्।**
> **धिन्वन् गोपीनयनशिखिनो व्योमकक्षां जगाहे,**
> **सोऽयं मुग्धे निबिडधवला धूलिचक्राम्बुवाहः॥८७॥**

तात्पर्यानुवाद—गोधूलि—पद्मा चन्द्रावलीको कह रही है—"सखि! कितने आश्चर्यकी बात है! तुम प्रातःकालसे लेकर सायंकाल तक पुष्पोंका चयनकर वैजयन्ती मालाका ग्रन्थन कर रही हो और अभी तक ग्रन्थन कार्य पूरा नहीं हो पाया। हे मुग्धे! अब सन्ध्या उपस्थित हो चुकी है। देखो, अत्यन्त शुक्लवर्णकी धवला गाभियोंके खुरसे उत्थित धूलिकणोंसे उत्पन्न मेघ गोपियोंके नयनमयूरको आनन्द प्रदानकर आकाश प्रदेशमें उदित हो रहा है। अतएव अब माला ग्रन्थनकी कोई आवश्यकता नहीं, उठो॥"८७॥

आनन्दचन्द्रिका—पद्मा चन्द्रावलीमाह—आ प्रत्यूषादिति। शिखिनो मयूरान्। व्योमकक्षामाकाशप्रदेशम्। अम्बुवाहो मेघः॥८७॥

वृन्दारण्यं यथा तत्रैव—

आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धं,
जात्या भीरुः कति पुनरहं वासराणि क्षयिष्ये।
एते वृन्दावनविटपिनः स्मारयन्तो विलासा–
नुत्फुल्लास्तान् मम किल बलान्मर्म निर्मूलयन्ति॥८८॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दावन—माथुरविरह कातरा श्रीमतीराधिकाको ललिता सान्त्वना देती हुई समझाने लगी। उसे सुनकर श्रीमतीराधिका विलाप करते–करते ललितासे कहने लगी—"हे सखि! मैं स्वभावतः अत्यन्त भीरुरमणी हूँ। आज कल करते हुए नित्यनवीन आशारज्जुसे प्राणोंको बाँधकर और कितने दिनों तक समय व्यतीत करूँ? यह दृश्यमान उत्फुल्ल वृन्दावन पूर्वानुभूत विविध प्रकारके विलासोंको स्मरण कराकर पल–पल बलपूर्वक मेरे अन्तर हृदयको छिन्न–विछिन्न कर रहा है। हा! बड़े कष्टकी बात है। मैं यह कितने दिनों तक और सहन करूँ, कैसे सहन करूँ?"॥८८॥

आनन्दचन्द्रिका—माथुरविरहवती श्रीराधा विलपति—आशेति। अद्य श्व इति कृत्वा कति वासराणि व्याप्य क्षयिष्ये, प्राणबन्धं तद्रूपं महाकष्टं सहिष्ये। किं चान्यां विपत्तिं शृणु। एत इति। उत्फुल्लाः सन्तः।ताननुभूतचरान् वनविहारकुसुमकेल्यादीन्॥८८॥

तदाश्रिताः—

तदाश्रिताः खगा भृङ्गा मृगाः कुञ्जा लतास्तथा।
तुलसी कर्णिकारश्च कदम्बाद्याश्च कीर्तिताः ॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दावनाश्रित—पक्षी, भ्रमर, कुञ्ज, लता, तुलसी, कनेर और कदम्ब आदिको तदाश्रित कहते हैं॥८९॥

तत्र खगा यथा ललितमाधवे (१०/१६)—

कस्तान्पश्यन्भवदुपहृतस्निग्धपिच्छावतंसान्,
कंसाराते न खलु शिखिनः खिद्यते गोष्ठवासी।
उन्मीलन्तं नवजलधरं नीलमद्यापि मत्वा,
ये त्वामन्तर्मुदितमतयस्तन्वते ताण्डवानि॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—पक्षी—व्रजराजादिके साथ द्वारकामें उपस्थित होकर पौर्णमासी श्रीकृष्णसे कह रही हैं—"हे कंसारि! वृन्दावनके मयूर तुम्हारे शिरोभूषणके लिए अपने स्निग्ध रङ्ग-बिरङ्गे पंखोंका उपहार देते थे, वे अब आकाशमें उदित होनेवाले नवीन मेघोंको देखकर (वर्णादिके साम्यसे तुम्हारा आगमन जानकर) बड़े आनन्दके साथ नृत्य करते हैं। उसे देखकर ऐसा कौन व्रजवासी है जो दुःखी नहीं होता है?"॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी द्वारकास्थं श्रीकृष्णमाह—कस्तानिति॥९०॥

भृङ्गा यथा—

वृन्दावने श्रवसि ये निनदं विपञ्ची–
निष्ठ्यूतपञ्चममनोहरमाहरन्तः ।
ये षट्पदाः कुलिशघट्टनघोरमेतं,
दैवे विरोधिनि भवन्ति न के विपक्षाः॥९१॥

तात्पर्यानुवाद—भृङ्ग—माथुरविरह कातरा कोई गोपी भ्रमरका गुञ्जन सुनकर अतिशय दुःखी होकर अपने सखीसमाजमें विलाप करती हुई कह रही है—"इस वृन्दावनमें जो भ्रमरसमूह पहले वीणासे उत्थित पञ्चम स्वरसे भी अधिक मनोरम गुञ्जन करते थे, वही अब प्राणनाथके विरहमें वज्रपातकी कठोर ध्वनिसे भी अधिक भयानक ध्वनि कर रहे हैं। हा! दैव प्रतिकूल होनेपर सभी शत्रु हो जाते हैं॥"९१॥

आनन्दचन्द्रिका—विरहिणी श्रीराधाह—वृन्दावन इति। विपञ्च्या वीणाया निष्ठ्यूतः निर्गतो यः पञ्चमः स्वरभेदस्तस्मादपि मनोहरं निनदं शब्दं कुलिशस्य वज्रस्य घट्टनं निपातस्तस्मादपि घोरं निनदं संप्रत्याहरन्तीत्यर्थः॥९१॥

मृगा यथा तत्रैव—

हरि हरि भवतीभिः स्वान्तहारी हरिण्यो,
हरिरिह किमपाङ्गातिथ्यसङ्गी व्यधायि।
यदनुरणितवंशीकाकलीभिर्मुखेभ्यः,
सुखतृणकवला वः सामिलीढाः स्खलन्ति॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—मृग—माथुरविरहमें कातर दिव्योन्मादकी उद्घूर्णावस्थामें किंकर्तव्यविमूढ़ श्रीराधा हरिणियोंसे श्रीकृष्णके विषयमें प्रश्न कर रही हैं—"हे हरिणियों! जिनकी मुखर वंशीकी कलतानको सुनकर तुम्हारे मुखसे अत्यन्त सुखद नवीन तृणोंका ग्रास भी अर्द्ध आस्वादित होकर मुखसे गिर जाता था, तुम भी हमलोगोंके समान सुधबुधरहित होकर उनके प्रणयकी भिक्षा करती थी। हाय-हाय! क्या तुमने कहीं उन चित्तचोर हरिको देखा है?"॥९२॥

लोचनरोचनी—सामि त्वर्द्धे॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्रैव ललितमाधवे श्रीवृन्दावनेश्वरी माथुरविराहोन्मादेन श्रीकृष्णमन्वेषयन्ती प्राह—हरिहरीति खेदे। सुखरूपास्तृणकवलास्तृणग्रासाः सामिलीढा अर्धनिगीर्णा अपि॥९२॥

कुञ्जा यथा उद्धवसंदेशे (१२५)—

लब्धान्दोलः प्रणयरभसादेष ताम्रोष्ठि नम्रः,
प्रम्लायन्तीं किमपि भवतीं याचते नन्दसूनुः।
प्रेमोद्दामप्रमदपदवीसाक्षिणी शैलकक्षे,
द्रष्टव्या ते कथमपि न सा माधवीकुञ्जलेखा॥९३॥

तात्पर्यानुवाद—कुञ्ज—श्रीकृष्णने उद्धवके द्वारा श्रीमतीराधिकाके निकट सन्देश भेजा। उद्धव वृन्दावनमें उपस्थित होकर विरह-कातरा

उन्मत्त श्रीराधाजीसे बोले—"हे ताम्रोष्ठि! लाल-लाल होठोंवाली राधिके! नन्दनन्दनने बड़े प्रेमसे अत्यन्त अधीर होकर विनीत भावसे तुम्हारे लिए एक प्रार्थना की है अर्थात् मेरे वहाँसे आते समय उन्होंने कहा—हे सखे! श्रीराधा मेरे वियोगमें कातर होकर अत्यन्त मलिन हो रही हैं। अतएव उनसे कहना कि वे गोवर्द्धन प्रदेशमें उद्दामप्रमोदके साक्षीस्वरूप माधवी-कुञ्जोंका कदापि दर्शन न करें; क्योंकि उन कुञ्जोंका दर्शन करते ही पूर्वानुभूत विलासोंका स्मरण कराकर वह कुञ्जश्रेणी उन्हें दशम दशाको प्राप्त करा देगी अर्थात् उन्हें मूर्च्छित कर देगी॥"९३॥

लोचनरोचनी—लब्धान्दोल इति। श्रीराधां प्रति श्रीकृष्णसंदेशः। शैलकक्षे पर्वतारण्ये। "कक्षः स्मृतो भुजामूले कक्षोऽरण्ये च वीरुधि।" इति धरणिकोषात्॥९३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण उद्धवद्वारा श्रीराधां प्रति संदेशं प्रेषयति—लब्धान्दोल इति। प्रणयरभसात् तद्विषयकप्रणयवेगात् लब्धान्दोलः प्राप्तवैयग्र्यः। शैलकक्षे गोवर्द्धनप्रदेशे किं वा तत्रत्यारण्ये। कक्षोऽरण्ये च वीरुधि' इति धरणिः। कुञ्जानां लेखा श्रेणी न द्रष्टव्येति सा तांस्तान् विलासांस्तां स्मारयन्ती ते दशमीं दशां प्रापयिष्यन्तीति भावः॥९३॥

लतादिर्यथा—

तुलसि विलससि त्वं मल्लि जातासि फुल्ला,
स्थलकमलिनि भृङ्गैः संगताङ्गी विभासि।
कथयत बत सख्यः क्षिप्रमस्मासु कस्मिन्,
वसति कपटकन्दः कन्दरे नन्दसूनुः॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—लतादि—रासस्थलीसे श्रीकृष्णके अन्तर्ध्यान होनेपर दिव्योन्मादवती श्रीमती राधिका श्रीतुलसी आदिको अपनी सखी समझकर उनसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें पूछ रही हैं—"हे तुलसि! मैं तुमको विलासिनीके रूपमें देख रही हूँ? हे मल्लिके! तुम तो बड़ी प्रफुल्लित हो रही हो? हे स्थलकमलिनि! तुम भी भृङ्गोंके साथ रङ्ग कर रही हो। हे सखियों! कपट शिरोमणि नन्दसूनु हमें परित्यागकर किस गुहामें छिपे हुए हैं? हमें शीघ्र बतलाओ॥"९४॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्ववदेव श्रीवृन्दावनेश्वरी प्राह—तुलसीति॥९४॥

कर्णिकारो यथा ललितमाधवे (७/१५)—

रासात्तिरोहिततनुः सखि यस्य पुष्पैश्चूडां चकार चिकुरे मम पिच्छचूडः।
कूले कलिन्ददुहितुर्धृतकन्दलोऽयं, मां दन्दहीति स मुहुर्नवकर्णिकारः॥९५॥

तात्पर्यानुवाद—कर्णिका—नववृन्दावनके पूर्वानुभूत कर्णिकारके वृक्षको देखकर अत्यन्त उद्विग्न श्रीराधा पूर्वकृत विलासोंका स्मरणकर विलाप करती हुई कह रही हैं—"हे सखि! शिखिपिच्छचूड़ श्रीकृष्णने रासस्थलीसे अन्तर्हित होकर जिस पुष्पके द्वारा मेरे चूड़ाका निर्माण किया था, वही कर्णिकार वृक्ष यहाँ यमुनाके उपकूलमें नवाङ्कुरको धारणकर पुनः-पुनः मेरे हृदयको अनुतप्त कर रहा है॥"९५॥

आनन्दचन्द्रिका—नववृन्दावने भ्रमन्ती विरहिनी श्रीराधा विलपति—रासादिति। धृतकन्दलो जातपूर्वाङ्कुरः॥९५॥

कदम्बो यथा—

सखि रोपितो द्विपत्रः शतपत्राक्षेण यो व्रजद्वारि।
सोऽयं कदम्बडिम्भः फुल्लो वल्लभवधूस्तुदति॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—कदम्ब—माथुरविरहमें अतिशय कातर कोई गोपी श्रीकृष्णके हाथोंसे रोपे गए कदम्बके पौधेको इस समय पुष्पोंसे भरपूर देखकर विषादग्रस्त होकर अपनी सखीसे कहने लगी—"हे सखि! पद्मपलाशलोचन श्रीकृष्णने व्रजके द्वारपर जिस दो पत्रवाले छोटेसे कदम्बके पौधेका रोपण किया था, आज वह शिशु-कदम्ब पूर्ण रूपसे बढ़कर सुन्दर-सुन्दर फूलोंसे भरपूर पूर्ण वृक्ष हो उठा है। उसे देखकर व्रजवधुओंके हृदयमें बड़ी पीड़ा होती है॥"९६॥

आनन्दचन्द्रिका—माथुरविरहिणी काचिदाह—सखीति॥९६॥

गोवर्द्धनो यथा ललितमाधवे—

गोवर्द्धन त्वमिह गोकुलसङ्गिभूमौ,
तुङ्गैः शिरोभिरभिपत्य नभो विभासि।
तेनावलोक्य हरितः परितो वदाशु,
कुत्राद्य बल्लवमणिः खलु खेलतीति॥९७॥

तात्पर्यानुवाद—गोवर्द्धन—माथुरविरहमें कातर दिव्योन्मादमें विभ्रान्त श्रीमतीराधिका गोवर्द्धनसे पूछ रही है—"हे गोवर्द्धन! इस गोकुल सम्बन्धी भूमिमें तुम अपनी उच्च शृङ्गोंके द्वारा आकाशका चुम्बन करते हुए सुशोभित हो रहे हो। अच्छा, तुम चारों ओर भलीभाँति दृष्टिपात करते हुए बतलाओ तो आज व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण किस स्थानमें क्रीड़ा कर रहे हैं?" ॥९७॥

आनन्दचन्द्रिका—विरहोन्मादेन श्रीकृष्णमन्वेषयन्ती श्रीराधा पृच्छति—गोवर्द्धनेति। शिरोभिः शृङ्गैर्नभः स्वर्गं संस्पृश्य हरितो दिशः॥९७॥

रविसुता यथा पद्यावल्याम्—

मथुरापथिक मुरारेरुपगेयं द्वारि बल्लवीवचनम्।
पुनरपि यमुनासलिले कालियगरलानलो ज्वलति॥९८॥

तात्पर्यानुवाद—यमुना—विरह सन्तप्ता श्रीराधा श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति जैसे यमुनाजलको देखकर महोद्विग्न हो रही हैं। उन्हें अत्यन्त व्यग्र देखकर ललिता मथुरापुरी जानेवाले किसी पथिकको सम्बोधनकर उसके द्वारा श्रीकृष्णको संवाद दे रही है—"हे मथुराके पथिक! तुम मुरारिके द्वारपर यह गाथा कहना—हे मुरारि! पुनः यमुना जलमें कालीयनागके विषसे अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है॥"९८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायाः सखी काचित् संदिशति—मथुरेति। यमुनासलिल इति। पूर्वं कालियह्रद एव, संप्रति यमुनाजलमात्र एवेति विशेषश्च ध्वनितः॥९८॥

रासस्थली यथा—

गोष्ठादप्यवलोक्यमानशिखरोच्छ्रायश्रिया दूरतः,
सद्यः खेदिनि चित्तचत्वरतटे वंशीवटेनार्पिता।
कुर्वाणा हृतवृत्तिमिन्द्रियगणं सा यादवेन्द्राद्य ते,
कष्टं रासविहारभूर्विहरति प्राणैः कुरङ्गीदृशाम्॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—रासस्थली—ब्रजसे मथुरा लौटकर उद्धव व्रजस्थित व्रजदेवियोंके साक्षात् विरहके अनुभवको श्रीकृष्णसे निर्जनमें निवेदन कर रहे हैं—"हे यादवेन्द्र! दूरवर्ती व्रजमण्डलसे भी दृश्यमान शिखरशोभा-विशिष्ट वंशीवट तुम्हारे विरहतापसे स्वभावतः खेदयुक्त विरहिणी गोपियोंके

चित्ताङ्गनमें इस रासस्थलीको अर्पित कर रहा है। हा! बड़े कष्टकी बात है। इस समय तुम्हारी वह रासक्रीड़ास्थली भी गोपाङ्गनाओंके मनादि इन्द्रियोंको चेष्टारहित निर्जीव बनाकर उनके प्राणोंके साथ क्रीड़ा कर रही है॥"९९॥

लोचनरोचनी—लोकप्रसिद्धवंशीवटनामा कश्चिद्वटो वृन्दावने स्थितः। मुहुः प्राणैः सह विहरतीति प्राणैर्मम क्रीडतीति श्रीगीतगोविन्दवत् प्रयोगः। मुहुः प्राणाकर्षरूपां क्रीडां करोतीत्यर्थः॥९९॥

आनन्दचन्द्रिका—गोष्ठान्मथुरां पुनर्गत उद्धवो रासस्थलीं पृच्छन्तं श्रीकृष्णं प्रत्याह—गोष्ठादिति। हे यादवेन्द्र! संप्रति यादवानां सुखदायिन्, सा तव रासभूः कुरङ्गीदृशां प्राणैः सह विहरति, तदानीं कुरङ्गीदृग्भिरेव सह विहरन्त्यासीत् या सैवेयं तासां देहात् प्राणान्निष्काश्य तैरिति। ननु ता मद्विरहखिन्ना गोष्ठ एव रासभूस्ततोऽतिविदूरे कथं तया सह तासां समागमस्तत्राह—वंशीवटेन कर्त्रा तासां चित्तचत्वरतटे सा रासभूरर्पिता। प्राणनिष्क्रमणार्थमिति भावः। केन प्रकारेणेत्यपेक्षायामाह—गोष्ठान्नन्दीश्वरादप्यवलोक्यमाना शिखरोच्छायश्रीः अग्रविस्तारशोभा यस्य तेन रासभूतटवर्त्तिनो वंशीवटस्यैवानर्थकारित्वं यतः स तासां नेत्रेषु प्रविश्य हृदयमध्ये रासभुवमानीय तद्द्वारा प्राणान् निष्क्रमयामासेत्यर्थः॥९९॥

अथ तटस्थाः—

तटस्थाश्चन्द्रिकामेघविद्युतो माधवस्तथा।
शरत्पूर्णसुधांशुश्च गन्धवाहखगादयः॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—तटस्थ—चन्द्रिका, मेघ, विद्युत्, वसन्त, शरत्, पूर्णचन्द्र, वायु और पक्षियोंको तटस्थ उद्दीपन कहते हैं॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—आदिशब्देन लीलातल्पादिकमपि ज्ञेयम्। यथा—"शून्य-क्रोडानिबिडकमलैः कल्पिता तल्पवेदी नेदीयस्यास्तनुलहरीभिः शीलिता हेलिपुत्र्याः। अङ्गज्वालापरिचयमिलन्मुर्मरा मर्मदुःखव्याख्यापञ्जी मम धियमियं धूम्रयन्ती धुनोति॥" तटस्थाः साधारणा इत्यर्थः॥१००॥

तत्र चन्द्रिका यथा रसार्णवसुधाकरे (१/३०६)—

दुरासदे चन्द्रिकया सखीगणैर्लतालिकुञ्जे ललिता निगूहिता।
चकोरचञ्चुच्युतकौमुदीकणं कुतोऽपि दृष्ट्वा भजति स्म मूर्च्छनाम्॥१०१॥

तात्पर्यानुवाद—चन्द्रिका—ललिताकी कोई एक सखी अन्य सखी द्वारा ललिताका वृत्तान्त पूछनेपर बोली—"हे वयस्ये! तुम्हारी प्रणयिनी सखीकी बात क्या पूछ रही हो? जिसमें चन्द्रकी किरणें भी प्रवेश नहीं करतीं, ऐसे कुञ्जमें सखियोंने ललिताको छिपाकर रखा था, किन्तु सहसा चकोरके चञ्चुसे विच्युत (लतापत्रके किञ्चित् छिद्रसे) कौमुदीकणाका किसी प्रकार अवलोकनकर ललिता हठात् मूर्च्छित हो पड़ी॥"१०१॥

लोचनरोचनी—चकोरचञ्चुच्युतमिव कौमुदीकणमित्यर्थः॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितायाः सखी कांचित्पृच्छन्तीं तद्वृत्तान्तमाह—दुरासदे चन्द्रिकया दुष्प्रापे स्थले निगूहिता संगोप्य रक्षिता। विरहिण्यास्तस्याः प्राणरक्षणार्थमिति भावः। तत्रैव लतापत्ररन्ध्रेण केनचिदायान्तं ज्योत्स्नाकणमुत्प्रेक्षते—चकोरेति॥१०१॥

मेघो यथा रससुधाकरे—

वासः पीतं कुतुकिनि कुतः कुत्र बर्हं मदान्धे,
कंसारिर्वा क्व नु सखि मुधा संभ्रमान्मा प्रयाहि।
पश्योत्तुङ्गे क्षणरुचिघटालिङ्गितः शैलशृङ्गे,
नव्यः शाक्रं दधदुदयते कार्मुकं वार्मुगेषः॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—मेघ—"हाय! गोवर्द्धनके शिखरपर मयूरपिच्छधारी पीताम्बर श्रीकृष्ण मुझे धर्षण करनेकी इच्छासे अवस्थित हैं, इसलिए मैं आगे नहीं जाऊँगी।"—ऐसा कहकर वापस जा रही श्रीराधिकासे ललिता कह रही है—"हे कुतुकिनि सखि! तुमने कहाँ पीतवसन और मयूरपिच्छको देखा? हे मदान्धे! कंसारि कहाँ हैं, जिन्हें तुम देख रही हो? तुम व्यर्थ ही वापस मत जाओ। क्या देखती नहीं हो, अति उच्च गिरिराजके शृंगदेशमें विद्युत्घटालिङ्गित इन्द्रधनुधारी नवीन जलधरका उदय हो रहा है? ये पीताम्बर श्रीकृष्ण नहीं हैं॥"१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—हन्त हन्त गोवर्द्धनशृङ्गे पीताम्बरः पिच्छावतंसो मां दिधीर्षन्नेवास्ति, तदहमग्रे न गच्छामीति वितर्त्तितमुखीं श्रीराधां ललिताह—वास इति। हे कुतुकवति! निरन्तरमेव श्रीकृष्णेन समं विलासार्थिनी तं ध्यायन्ती तमेव सर्वत्र पश्यसीत्यर्थः। क्षणरुचिर्विद्युत्। वार्मुक् मेघः॥१०२॥

विद्युद्यथा रसार्णवसुधाकरे—

वर्षासु तासु क्षणरुक्प्रकाशाद्रोपाङ्गना माधवमालिलिङ्ग।
विद्युच्च सा वीक्ष्य तदङ्गशोभां ह्रीणेव तूर्णं जलदं जगाहे॥१०३॥

तात्पर्यानुवाद—विद्युत्—एक दिन नान्दीमुखी द्वारा वृन्दासे रात्रिका वृत्तान्त पूछनेपर वृन्दा कह रही है—"देवि! वर्षाकालीन अन्धकार रजनीमें हठात् विद्युत्के चमकनेसे डरकर किसी व्रजाङ्गनाने माधवका आलिङ्गन किया और विद्युत् भी उस व्रजाङ्गनाकी अङ्गशोभाको देखकर मानो लज्जित होकर सहसा मेघमें ही विलीन हो गई।" अर्थात् मेघके कारण अन्धकार रात्रिमें निर्वस्त्र होकर व्रजाङ्गना श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा कर रही थी। अकस्मात् विद्युत्के चमकनेपर श्रीकृष्ण कहीं हमारे अङ्गोंको देख न लें, इसलिए लज्जासे वह व्रजाङ्गना श्रीकृष्णके अङ्गोंमें ही मानो सिमटकर आलिङ्गनपाशमें बद्ध हो गई और विद्युत् भी गोपाङ्गनाके गुह्याङ्गका संदर्शनकर लज्जासे मानो जलदमें ही विलीन हो गई॥"१०३॥

लोचनरोचनी—ह्रीणेवेति। अत्र इवशब्द उत्प्रेक्षाद्योतकः। ततश्च वीक्ष्येत्यादावन्वितः। विद्युदिति। अत्र क्षणरुगित्येव वक्तव्यम्। वर्षासु विद्युद्वलयप्रकाशादित्येव वा पठनीयम्॥१०३॥

आनन्दचन्द्रिका—नक्तंतनं वृत्तान्तं वृन्दा नान्दीमुखीमाह—वर्षास्विति। माधवमालिलिङ्गेति। अनावृतं मदङ्गविशेषं श्रीकृष्णो मा पश्यत्विति। लज्जयेवेत्यर्थः। विद्युतश्च तत्काल एवान्तर्द्धाने कारणमुत्प्रेक्ष्यते। ह्रीणेव लज्जितेव॥१०३॥

वसन्तो यथा—

ऋतुहतकः सखि भुवने किमवतितीर्षुर्बभूवाद्य।
मन्दादरमलिवृन्दं वृन्दावनकुन्दसंगमे यदभूत्॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—वसन्त—कोई एक विरहिणी गोपी पूछ रही है—"हे सखि! क्या आज विवेकशून्य मूर्ख वसन्तऋतु भुवनमें अवतीर्ण होनेकी अभिलाषा कर रहा है? क्योंकि वृन्दावनमें ये भृङ्गसमूह कुन्दोंके प्रति अनादर प्रकाश कर रहे हैं। अतएव यह भलीभाँति बोध होता है कि ऋतुराज वसन्तका आगमन हो रहा है॥"१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—काचिद्विरहिण्याह—ऋतुहतकः ऋतुनामा हतकः। निर्विवेक इत्यर्थः ॥१०४॥

शरद्यथा—

कलहंसोज्ज्वलजल्पा प्रकटितवृन्दावनोरुमाधुर्य्या।
धृतिमपहर्तुं सखि मे दूतीव हरेः शरन्मिलिता ॥१०५॥

तात्पर्यानुवाद—शरत्—कोई विरहिणी गोपी शरत्के आगमनको देखकर उसके विक्रमसे भयभीत होकर श्रीकृष्णके विरहमें कातर होकर अपनी सखीसे कहने लगी—"हे सखि! क्या मेरे धैर्यको हरण करनेके लिए ही शरत्ऋतु माधवकी दूतीके रूपमें यहाँ उपस्थित हुई है? क्योंकि वह वृन्दावनके महामाधुर्यको प्रकाशितकर कलहंसोंके निर्मल कूजनके छलसे श्रीकृष्णके प्रेमादि गुणको अभिव्यक्त कर रही है॥"१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—सैव शरदं वर्णयति—कलहंसोज्ज्वलेति॥१०५॥

पूर्णसुधांशुर्यथा—

राकासुधांशुरभवन्न तमांसि हर्त्तुं,
वृन्दाटवीजठरगाण्यधुनापि शक्तः।
राकासुधांशुमुखि तानि तवोन्नतानि,
हृत्कन्दरान्तरचराणि कथं जहार॥१०६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्णचन्द्र—विशाखा कलहान्तरिता श्रीराधासे कह रही है—"हे पूर्णचन्द्रानने! पूर्णचन्द्रयुक्त पूर्णिमामें उदित चन्द्र इस समय (निशा आरम्भ होनेपर भी) वृन्दावनकी भीतरी अन्धकार राशिको हरण नहीं कर सका, किन्तु तुम्हारी हृदयकन्दरामें स्थित अत्यन्त प्रौढ़मानको हरण कर लिया, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!"॥१०६॥

लोचनरोचनी—तानि तमांसि मानरूपाणि दुःखानि। राकासुधांशुमुखीति संबोधनं संदेहमेव द्विगुणयति। यस्या ईदृशं मुखं तस्या हृदि तम एव न संगच्छत इत्यभिप्रायात्॥१०६॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा कलहान्तरितां श्रीराधामाह—राकेति। तानि मानरूपाणि तमांसि। हे राकासुधांशुमुखीति। त्वन्मुखमाधुर्येणैवानुमीयत इति भावः॥१०६॥

गन्धवाहो यथा श्रीगीतगोविन्दे—

मनोभवानन्दन चन्दनानिल प्रसीद रे दक्षिण मुञ्च वामताम्।
क्षणं जगत्प्राण विधाय माधवं पुरो मम प्राणहरो भविष्यसि॥१०७॥

तात्पर्यानुवाद—गन्धवाह—विप्रलब्धा श्रीराधा विलाप कर रही है—"हे चन्दनवायु! (सुशीतल और सुरभियुक्त) हे दक्षिणमलय! (अति सुशीतल और स्वच्छ) हे जगत्प्राण! (जगत्–वासियोंके लिए परम जीवातु होनेके कारण परम प्रेमास्पद होनेपर भी) मेरे प्रति तुम्हारा अत्यन्त कुटिल आचरण अर्थात् प्रतिकूल होना युक्तिसङ्गत नहीं है। इसलिए मेरे प्रति प्रतिकूलताका परित्याग करो।" यदि कहो कि मेरी प्रतिकूलता तुमने कहाँ देखी? तो उसके उत्तरमें मैं कहती हूँ—"रे मनोभवानन्दन (कामको वर्द्धन करनेवाले)! अपने प्राणेश्वरके साथ वियोग होनेके साथ–ही–साथ यदि मुझमें काम भी सम्वर्द्धित होने लगे, तब तो अवश्य ही मेरी मृत्यु हो जाएगी।" यदि कहो कि जो कामानन्दनत्व मेरा स्वाभाविक धर्म है, मैं उसे कैसे त्याग कर सकता हूँ? उसके उत्तरमें कहती हूँ—"इस समय तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ। क्षणभरके लिए भी माधवका सामने दर्शन कराकर फिर भले ही मेरे प्राणोंको हरण कर लेना॥"१०७॥

आनन्दचन्द्रिका—विप्रलब्धा श्रीराधिका विलपति—मनोभवं कन्दर्पमानन्दयसि तच्छरलक्ष्यभूताया मम प्राणाकर्षणेन तत्साहाय्यकरणात्। हे चन्दनानिल! मलयशैलोद्भवत्वात् हे चन्दनसम्बन्धिन् प्रसीद, किं तापयसि, चन्दनमिव किमिति न शिशिरयसीति भावः। नन्वहं संप्रति मनोभवराजसेवकः, स यथा मामादिशति तथैव कर्तुं शक्नोमि न तु तदन्यथा इति चेत्तत्राह—रे इत्याक्रोशामन्त्रणे। यदि त्वं मां जिघांसस्येव तदा संप्रति त्वयि को वा विनय उचित इति भावः। रे इति दक्षिणदेशोद्भवत्वात्, श्लेषेण हे सरल! क्षणं क्षणमात्रं मयि वामतामदक्षिणतां मुञ्च, यदि कन्दर्पसेवायां प्रवृत्तस्तदपि स्वधर्ममाभिजात्यं च मा त्याक्षीरेव। क्षणमपि तं कुर्विति भावः। ननु कं स्वधर्ममाचरामीति ब्रूहीति आह—हे जगत्प्राण। "समीर–मारुत–मरुज्जगत्प्राणसमीरणाः।" इत्यभिधानात् तव जगत्प्राणरूपत्वे मम च जगन्मध्यवर्तित्वेऽपि यदि मम प्राणहरो भविष्यसि तदा मम पुरः क्षणं माधवं विधायैव, तव माधवसखत्वात् तदानयने सामर्थ्यम्। माधवो वसन्तः श्रीकृष्णश्च, न त्वविधायैवेति यथाहमेकवारमप्यन्तकाले तं पश्येयमिति भावः॥१०७॥

खगा यथा—

मानेन सार्द्धं पशुपालसुभ्रुवां मरालमाला चलिता घनागमे।
कदम्बकुञ्जे विजिहीर्षया समं समागता नागरि चातकावली॥१०८॥

तात्पर्यानुवाद—खग—श्रीकृष्ण श्रीमतीजीको कह रहे हैं—"हे नागरि! मेघके समागम होनेसे व्रजसुन्दरियोंके मानके साथ हंसश्रेणियाँ भी यहाँसे प्रस्थान कर गई हैं; किन्तु इस समय विहारकी अभिलाषासे चातकोंकी श्रेणियाँ कदम्बकुञ्जमें उपस्थित हो रही हैं॥"१०८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो राधामाह—मानेनेति॥१०८॥

आदिशब्दात्सखीस्नेह आत्मन्युद्दीपनो वरः॥१०९॥

तात्पर्यानुवाद—खगादि पदमें 'आदि' शब्दके उल्लेखसे अपने प्रति सखीस्नेहको भी श्रेष्ठ उद्दीपन समझना चाहिए॥१०९॥

यथा—

हरिमवेक्ष्य पुरो गुरुतो भिया मुहुरभून्मुकुलन्नवविभ्रमा।
ललितया विवृते निजसौहृदे चलदृगञ्चलमाधित राधिका॥११०॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजवीथिमें अर्थात् व्रजकी गलियोंमें कहींपर श्रीकृष्णको देखकर आनन्दित होनेपर भी, गुरुजनोंसे भयभीता श्रीराधिका ललिताके सौहार्द्यामृतका अनुभवकर अत्यन्त उत्फुल्ल होकर श्रीकृष्णको देखने लगीं। इस विषयको रूपमञ्जरी अपनी सखीसे बतला रही है—"श्रीकृष्णको देखकर श्रीराधा गुरुजनोंके भयसे बारम्बार अपने नव-विलासको संकुचित करने लगी। ललिताके सौहार्द्यपूर्ण आश्वासन देनेपर उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति सहज ही चञ्चल नेत्रोंका समर्पण किया अर्थात् उन्हें देखने लगी॥"११०॥

लोचनरोचनी—हरिमवेक्ष्येति। ललितयेति। अनयोर्भिन्नसमयचरित्रमयत्वं ज्ञेयम् आधित हरावर्पितवती॥११०॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी स्वसखीमाह—हरिमवेक्ष्येति। गुरुशङ्कयेति। श्वश्रूःपतिर्वा कदाचिदागच्छेदिति भावनया गुरोर्या शङ्का तयेति वा। मुकुलयन् मुकुलमिवाचरन्

अस्पष्टविभ्रमेत्यर्थः। ललितयेति। तदीयास्पष्टविभ्रमस्य श्रीकृष्णादिदृक्षितत्वं ज्ञात्वेत्यर्थः। हे प्रियसखि! पित्रादिस्नेहं तथा प्राप्तामपि चन्द्रावलीं परित्यज्य तदेकतानमानसोऽयं त्वत्सौहार्दस्थानमहमिति मामेवाश्रितवान्, अहं चाश्वास्य त्वदन्तिकमिममलम्भयम्। अतोऽद्य मामवेक्ष्य गुरुभयमप्यनपेक्ष्य कृपापाङ्गेनैनमङ्गीकुर्विति सौहार्दे विवृते, आधित अर्पितवती॥११०॥

॥ दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

एकादशोऽध्यायः
अथानुभाव—प्रकरणम्

अनुभावास्त्वलङ्कारास्तथैवोद्भास्वराभिधाः ।
वाचिकाश्चेति विद्वद्भिस्त्रिधामी परिकीर्तिताः॥१॥

तात्पर्यानुवाद—अनुभाव—अलङ्कार (भावसे लेकर चकित तक २२), उद्भास्वर (नीवी और उत्तरीय-स्रंसनादि ७) और वाचिक (आलाप-विलापादि १२) भेदसे अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं॥१॥

लोचनरोचनी—अलंकारादिसंज्ञा रूढ्या प्रयुक्ता यथाकथंचिदेव यौगिकार्थं भजन्ते॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—अलंकारा भावादिचकितान्ता द्वाविंशतिः। उद्भास्वरा नीव्युत्तरीयस्रंसनादयः सप्त। वाचिका आलापादयो द्वादश॥१॥

तत्रालंकारः—

यौवने सत्त्वजास्तासामलङ्कारास्तु विंशतिः।
उदयन्त्यद्भुताः कान्ते सर्वथाभिनिवेशतः॥२॥

भावो हावश्च हेला च प्रोक्तास्तत्र त्रयोऽङ्गजाः॥३॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः॥४॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्वोको ललितं तथा।
विकृतं चेति विज्ञेया दश तासां स्वभावजाः॥५॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे **अलङ्कार—**यौवनावस्थामें कामिनियोंके सत्त्वगुणसे उत्पन्न अलङ्कार बीस प्रकारके होते हैं, किन्तु कान्तके प्रति सब प्रकारसे

अभिनिवेशके कारण ये सभी अलङ्कार समय-समयपर प्रकाशित होते हैं। इनमेंसे हाव, भाव और हेला—ये तीन अङ्गज कहलाते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात अयत्नज कहलाते हैं अर्थात् शोभाके कारण वेशादि प्रयत्नके अभावमें भी ये स्वतः प्रकाशित होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टुमित, विब्बोक, ललित और विकृत—ये दस स्वभावज कहलाते हैं अर्थात् नायिकाओंके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं॥२-५॥

आनन्दचन्द्रिका—कृष्णसंबन्धिचेष्टोत्थभावैराक्रान्तं चित्तं सत्त्वं तस्माज्जाताः सत्त्वजाः॥२॥

अङ्गजा इति। नेत्रान्त-भ्रू-ग्रीवाभङ्ग्यादीनां तत्सूचकत्वात्तेभ्य एवाङ्गेभ्यो जाताः। प्रतीता इत्यर्थः। न तु वस्तुतोऽङ्गजाः सत्त्वजा इत्युक्तत्वात्॥३॥

अयत्नजा इति। शोभाद्यर्थं वेशादिप्रयत्नाभावेऽपि शोभादयः स्युरित्यर्थः॥४॥

स्वभावजा इति। लीलाद्यर्थप्रयत्नवत्त्वेऽपि युवतीनां लीलादयः स्वाभाविकप्रयत्नादेवोत्पद्यन्त इति॥५॥

तत्र भावः—

प्रादुर्भावं व्रजत्येव रत्याख्ये भाव उज्ज्वले।
निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया॥६॥

तात्पर्यानुवाद—भाव—उज्ज्वल या श्रृङ्गाररसमें रति नामक बीजस्थानीय भावके प्रादुर्भूत होनेपर जो निर्विकार चित्तमें आदि या पहली विक्रिया होती है, उसे भाव कहते हैं॥६॥

लोचनरोचनी—उज्ज्वल इति। निमित्त सप्तमी "चर्मणि द्वीपिनं हन्ति" इतिवत्। ततश्चोज्ज्वलाख्यं रसं साधयितुं रत्याख्ये रतितयान्यत्र प्रसिद्धे मधुरेतिनाम्ना त्वत्र परिभाषिते भावे सत्यपि गाम्भीर्य्य लज्जादिना यन्निर्विकारं व्यञ्जनाशून्यं चित्तं तत्र या प्रथमा विक्रिया संवरीतुमशक्यतया नेत्रादिभङ्ग्या तस्य भावस्य किंचिद्व्यञ्जना प्रादुर्भावं व्रजति, सा व्यञ्जना भावाख्योऽनुभाव इत्यर्थः। न त्वयं स्थायी भावो व्यभिचारी भावो वा। "विकारो मानसो भावोऽनुभावो भावबोधकः।" इति विभागलब्धेः। किंत्वत्र भाव्यते व्यज्यतेऽनेनेति करणे घञ्॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्र भाव इति। उज्ज्वले श्रृङ्गारे रसे रत्याख्यो रतिनामा यो भावः स्थायी तस्मिन् प्रादुर्भावं व्रजति प्राप्नुवति सति चित्ते या प्रथमविक्रिया वयःसंधौ अभूतपूर्वः प्रथमो यः कन्दर्पक्षोभानुभवः स भावः। चित्ते कीदृशे।

निर्विकारात्मके पौगण्डवयस्त्वेन कन्दर्पप्रवेशाभावात् तद्विकारहीन इत्यर्थः। ननु तर्हि कथमस्यानुभावत्वं बहिर्विकारस्यैव भावबोधकत्वे संभवात्। यदुक्तम्—"अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधका;" इति। सत्यम्। सात्त्विकानां स्तम्भस्वेदादीनामनुभावत्वमिवैषां भावहावादीनामपि युगपदन्तर्बहिर्विकाररूपत्वमनुभावत्वं च। वयःसन्ध्यारम्भे यदैव श्रीकृष्णदर्शनश्रवणादिभिरभूतचरः कन्दर्पक्षोभानुभवो भवेत्तदैवान्तश्चित्तं विकृतं स्यात्, बहिरपि तद्व्यञ्जिका नेत्रादिभङ्गी स्यादिति। अतएवैतल्लक्षणमेवं व्याख्येयम्। चित्ते निर्विकारात्मके सति रत्याख्यभावोदयाद्या प्रथमविक्रिया, अर्थाच्चित्तस्य यथासम्भवं तनोश्च स्वभाव इति। सर्वथा चित्तविकारस्यैव विवक्षितत्वे चित्तस्य निर्विकारस्येति षष्ठ्यन्तमेव प्रयुज्यते। अलंकारकौस्तुभकृद्भिस्त्वनुभावादिदमेव पृथगिति लक्षितम्। नन्वेवंलिखितलक्षणोऽयं भावस्तथास्यैव परिणामविशेषो हावो हेला चेत्येतत्त्रितयं वयःसन्ध्युत्तरकाले तरुणीनां न संभवेत्। सत्यं न संभवेदेव। यदुक्तं साहित्यदर्पणकृद्भिरपि। 'जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनस्युद्बुद्धमात्रो विकारो भावः।' इत्येके। अन्ये पुनरेवमाहुः—"आसां व्रजसुन्दरीणां सर्वासामेवावस्थानां नित्यत्वात् प्रकटतारुण्येऽपि गूढो वयःसन्धिः सदास्त्येव" इति। कश्चिदत्रैवं व्याचष्टे। प्रथमविक्रियेति न केवलमात्यन्तिकमेव प्रथमत्वं व्याख्येयम्। किन्तु वार्तान्तरासक्तत्वेन कादाचित्केऽपि निर्विकारत्वे श्रीकृष्णदर्शनादिभिः स्थायिनि रत्याख्ये भावे प्राकट्यं प्राप्ते या प्रथमा ईषन्मात्रा विक्रिया स भाव इति। अपरे तु न ह्यभावाद्भावो जायते इत्यतो गाम्भीर्यलज्जादिना यन्निर्विकारं तद्व्यञ्जनाशून्यं चित्तं तत्र या प्रथमा विक्रिया संवरीतुं दुःशकतया बहिर्नेत्रादिभङ्गीभावव्यञ्जिका स्यात् स भाव इत्याहुः। वस्तुतस्तु श्रीमद्ग्रन्थकृच्चरणानामन्य एवाशयस्तं च "पितुर्गोष्ठे स्फीतः" इत्याद्युदाहरणादवगम्यैवं व्याख्येयम्। प्राकृतगुणरहितत्वेन निर्गुणस्य भगवतो गुणा एव श्रीकृष्णव्यतिरिक्त-पुरुषान्तरादविक्रियमाणत्वेन निर्विकारात्मके चित्ते सति या प्रथमा विक्रिया श्रीकृष्णस्य दर्शनाद् य ईषन्मनसस्तनोश्च विकारः स एव भाव इत्यर्थः॥६॥

तथा ह्युक्तम्—

> **चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति।**
> **तत्राद्या विक्रिया भावो बीजस्यादिविकारवत्॥७॥**

तात्पर्यानुवाद—विकारके विषयमें विद्वत्–प्रमाण—विकार या विकृतिका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तकी अविकृतिको सत्त्व कहते हैं। उस अविकृत चित्तमें प्रथम विकार ही भाव है। जैसे वर्षा होनेपर भी अपने समयके बिना बीजका अङ्कुर उद्गम नहीं होता, उसी प्रकार अविकृत चित्तकी वयःसन्धि और कृष्णदर्शनादि उद्दीपनोंके बिना रतिका अङ्कुर प्रकाशित नहीं होता॥७॥

लोचनरोचनी—विकृतेर्भावव्यञ्जनायाः कारणे भावोत्पत्तिलक्षणे सत्यपि चित्तस्याविकृतिर्बहिर्व्यक्तिशून्यत्वं सत्त्वमुच्यते, तत्र सत्त्वे सति आद्या विक्रिया प्रथमा किंचिद्व्यञ्जनापि भावतया संज्ञाप्यते स च रतिस्थानीयस्य बीजस्यादिविकारवदित्यर्थः ॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—न चालंकारिकैरेवं न व्याख्यातमिति वाच्यं प्राचीनैरुक्तत्वादित्याह—तथा हीति। विकृतेः कारणे सुन्दरपुरुषदर्शने सत्यपि चित्तस्याविकृतिश्चेत् सत्त्वं रजस्तमःस्पर्शशून्यं शुद्धं सत्त्वं तस्यैवाविक्रियमाणस्वभावत्वात्। तत्र सति या आद्या विक्रिया श्रीकृष्णदर्शनोत्था अप्राकृता चिदानन्दमयीत्यर्थः। स भावो बीजस्य बीजविशेषस्य वास्तूकदेर्विकारकारणे वर्षावृष्ट्यादावप्यविक्रियमाणस्य हैमन–हिमस्पर्शे यथा आदिविकार इति। प्राकृतवस्तुनाप्यप्राकृतपदार्थस्योपमा नासमञ्जसा। मेघादिनेव श्रीकृष्णस्य अप्राकृतवस्तूनां लोके साक्षादनुपलब्धेरिति। ननु तर्ह्येतल्लक्षणं प्राकृतनायिकासु दमयन्तीमालत्यादिष्वव्याप्तमिति चेदिष्टापत्तिरेव। "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" इति श्रुतिप्रतिपादितस्य साक्षाच्चिदानन्दघनस्य रसस्य विवृत्तिर्भवदादिभिरप्राकृतीर्भगवत्प्रेयसीरालक्ष्यैव कृता। तत्र मुह्यद्भिः कविभिर्यदि प्राकृतादिषु पिशितासृग्विण्मूत्रजरामरणादिमतीषु स्त्रीषु स रसः पर्य्यापयिष्यते तर्हि वयं किं कुर्मः। तथा ह्युक्तं रसपक्षव्याख्यायाम्—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः। तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः।" इति। य आद्यस्य रसस्य ब्रह्म तत्त्वम् आदिकवये भरताय तेने। "वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म" इत्यमरः। यत्र रसतत्त्वे कवयः काव्यकृतो मुह्यन्ति। भ्रमेणालक्ष्येऽपि प्राकृतरसलक्षणस्य संगमनात्। तत्र दृष्टान्तस्तेजोवारीति ॥७॥

यथा—

> **पितुर्गोष्ठे स्फीते कुसुमिनि पुरा खाण्डववने,**
> **न ते दृष्ट्वा संक्रन्दनमपि मनः स्पन्दनमगात्।**
> **पुरो वृन्दारण्ये विहरति मुकुन्दे सखि मुदा,**
> **किमान्दोलादक्षणः श्रुतिकुमुदमिन्दीवरमभूत् ॥८॥**

तात्पर्यानुवाद—तत्त्वको जाननेवाली और हृदयके उद्घाटनमें निपुणा कोई सखी अपनी यूथेश्वरीसे अनजान बनती हुई पूछ रही है—"हे सखि! मैंने अपनी आँखोंसे देखा है कि तुम्हारे यौवनकालमें तुम्हारे पिताके गोष्ठमें परम समृद्धियुक्त और पुष्पित खाण्डव वनमें ऐश्वर्यशाली देवराज इन्द्रको देखकर भी तुम्हारे मनमें लेशमात्र चञ्चलता उदित नहीं हुई, किन्तु आज इस वृन्दावनमें मुकुन्दको विहार करते देखकर

आनन्दसे तुम्हारे नेत्र इस प्रकार क्यों सञ्चालित हो रहे हैं, तथा तुम्हारे कर्णभूषण श्वेतपद्मने भी किसलिए नीलवर्णको धारण कर लिया है॥"८॥

लोचनरोचनी—"पितुर्गोष्ठे स्फीते" इत्यादिकं परिहासाय संभावितमिति कृत्वा पुरो वृन्दारण्ये इत्यादिकं साश्चर्यमिवोक्तम्। अपीति संभावनायाम्। वस्तुतस्तु संक्रन्दनं दृष्ट्वा मनः कर्तृ स्पन्दनं मा गात्। मुकुन्दे तु विहरति किमित्यादिवाग्भङ्ग्या मुकुन्दस्यैव माधुर्यमाधिक्येन स्थापितम्॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित्सखी ज्ञाततत्त्वापि हृदयोद्घाटनपाटववती स्वयूथेश्वरीम–जानतीव पृच्छति—पितुर्गोष्ठ इति। संप्रति त्वं द्वित्रदिनानि खाण्डवप्रस्थनिवासिनः पितुर्गृहात् श्वशुरगृहम् नन्दगोष्ठमागतासीत्यर्थः। अत्र पुरा कुसुमिनीत्युद्दीपनविभावो दर्शितः। संक्रन्दनमिन्द्रमतिसुन्दरमपि दृष्ट्वा मनो न स्पन्दनमगात् ईषदपि नाचलदिति तत्र सङ्गिन्या मया तथा लक्षितैवासीरिति विकृतेः कारणेऽपि विकाराभाव उक्तः। पुरोऽग्रे मुकुन्दे विहरतीति तमपाङ्गेन दृष्टवत्यास्तवाक्ष्णोस्तथा आन्दोलो जातो यथा श्रुतावतंसितं श्वेतोत्पलमपि नीलोत्पलमभूत् इति प्रथमविकारो नयनचाञ्चल्यं भावलक्षणम्॥८॥

अथ हावः—

ग्रीवारेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकासकृत्।
भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते॥९॥

तात्पर्यानुवाद—हाव—गर्दनकी वक्रता, भ्रू और नेत्रादिके विकासके साथ–साथ भावसे भी अधिक प्रकाशित अवस्थाको हाव कहते हैं॥९॥

लोचनरोचनी—ग्रीवारेचको ग्रीवायास्तिर्यक्करणविशेषः॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—भावात् नयनचाञ्चल्यमात्रसूच्याद्भावात् सकाशादीषदधिकः प्रकाशो यस्य सः। ततोऽपि विकाराधिक्यादित्यर्थः ग्रीवाया रेचकस्तिर्यक्करणम्॥९॥

यथा—

साचिस्तम्भितकण्ठि कुट्मलवतीं नेत्रालिरभ्येति ते,
घूर्णन्कर्णलतां मनाग्विकसिता भ्रूवल्लरी नृत्यति।
अत्र प्रादुरभूत्तटे सुमनसामुल्लासकस्त्वत्पुरो,
गौराङ्गि प्रथमं वनप्रियवधूबन्धुः स्फुटं माधवः॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—श्यामा श्रीराधासे कह रही है—“हे गौराङ्गि! तुम्हारा कण्ठ वक्र और स्तब्ध हो रहा है, नेत्रभृङ्ग भी कर्णलताकी ओर अग्रसर हो रहे हैं; क्योंकि वह कर्णलता अवतंसके रूपमें धारण की हुई पुष्प-कलियोंसे विभूषित है, इसलिए नेत्रभ्रमर भी घूम-घूमकर उसीकी ओर जा रहे हैं। भ्रूरूपी लताका कुछ-कुछ नृत्य भी हो रहा है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि तुम्हारे सामने इस दृश्यमान यमुनाके तटपर पुष्पोंको उल्लसित करनेवाले और कोकिलवृन्दके बन्धु वसन्तका आगमन हो रहा है।” (पक्षमें सज्जनोंके लिए आनन्दप्रद वसन्त और व्रजवासियोंके लिए श्रीकृष्णचन्द्रका आगमन हो रहा है।) ॥१०॥

लोचनरोचनी—सुमनसां सुचित्तानाम् पक्षे पुष्पाणाम्। वनप्रिया या वध्वः श्रीव्रन्दावनविहारिण्यस्तासां बन्धुः, पक्षे कोकिलवधूनां बन्धुः। माधवः श्रीकृष्णः, पक्षे वसन्तः। स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम्। तस्मादत्रेत्यादिकं संभावयामीत्यर्थः ॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामा श्रीराधामाह—साचि वक्रीकृतः स्तम्भितः स्तम्भतां नीतः कण्ठो ययेत्यौत्सुक्याधिक्यादपाङ्गदर्शनेनातृप्यन्त्या त्वया ग्रीवा तिरश्चीनीकृता। सा चानन्दजाड्याभ्यां स्तब्धीभूता तथैव स्थितेत्युपहासः। कर्ण एव लता तां नेत्रालिरभिमुखमेति यतः कुड्मलवर्ती मुकुलान्वितां पक्षे सावतंसाम्। तत्र कारणमाह—अत्रेत्यादि। सुमनसां मालतीनाम्, अतिशयोक्त्या सुन्दरीणाम्। “सुमना मालती जातिः।” इत्यमरः। श्लेषेण सुचित्तानां पुष्पाणां च। वनप्रियः कोकिलः, पक्षे वनमेव प्रियं यासां तासां वधूनां बन्धुः। माधवो वसन्तः श्रीकृष्णश्च। स्फुटं तस्मादेवं संभावयामीति भावः ॥१०॥

अथ हेला—

हाव एव भवेद्धेला व्यक्तः शृङ्गारसूचकः ॥११॥

यथा—

श्रुते वेणौ वक्षः स्फुरितकुचमाध्मातमपि ते,
तिरोविक्षिप्ताक्षं पुलकितकपोलं च वदनम्।
स्खलत्काञ्चि स्वेदार्गलितसिचयं चापि जघनं,
प्रमादं मा कार्षीः सखि चरति सव्ये गुरुजनः ॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—हेला—यदि यही भाव स्पष्ट रूपसे शृङ्गारकी सूचना करते हैं तब उसे हेला कहते हैं ॥११॥

श्रीकृष्णके वेणुवादनको सुनकर तन–मनकी सुधको भूलकर अवश हुई श्रीराधाको उसकी प्रियसखी विशाखा कह रही है—"वेणुध्वनिको सुनकर ही तुम्हारे दोनों वक्षोज स्फुरित होकर दीर्घ निःश्वासके कारण नत और उन्नत हो रहे हैं, नयनोंकी बङ्किम गति और पुलकित कपोलोंसे तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा देख रही हूँ, तुम्हारी कमरसे काञ्ची स्खलित हो रही है और अङ्गोंके स्वेदजलसे तुम्हारे वस्त्र भींग रहे हैं। अतएव यहाँ ऐसा प्रमाद प्रकट मत करो; क्योंकि बाँई दिशामें गुरुजन आ–जा रहे हैं।"

इस पद्यमें वक्षस्थल प्रभृति अङ्गोंके विकारदर्शनसे व्यक्त–शृङ्गार सूचित हो रहा है॥१२॥

लोचनरोचनी—आध्मातं भस्त्रावत् श्वासं वायुगत्यागतिप्रकारेणैव नतोन्नतं जघनमपीत्यन्वयः। प्रमादमनवधानम्॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधामाह—श्रुत इति। आध्मातं भस्त्रावत् श्वासगत्या गतिप्रकारेण नतोन्नतं जघनमपीत्यन्वयः। प्रमादमनवधानम्। सव्ये गुरुजनश्चरतीति। तेन त्वं दक्षिणे प्रदेशे पक्षद्वारान्निःसृत्य शीघ्रमेवाभिसर। अहं तु गुरुजनं समाधाय पश्चादायास्ये इति ध्वनितम्॥१२॥

अथायत्नजाः—

तत्र शोभा—

सा शोभा रूपभोगाद्यैर्यत् स्यादङ्गविभूषणम्॥१३॥

यथा—

धृत्वा रक्ताङ्गुलिकिशलयैर्नीपशाखां विशाखा,
निष्क्रामन्ती व्रततिभवनात् प्रातरूर्द्धूर्णिताक्षी।
वेणीमंसोपरि विलुठतीमर्द्धमुक्तां वहन्ती,
लग्ना स्वान्ते मम न हि बहिः सेयमद्याप्ययासीत्॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—अयत्नज शोभा—रूप–उपभोग और तारुण्यादिके द्वारा अङ्ग–विभूषणको अयत्नज शोभा कहते हैं॥१३॥

प्रातःकालमें कुञ्जसे बहिर्गमनके समय चेष्टा और वेशादिके द्वारा नैश–विलासकी विशेष रूपसे सूचना करनेवाली विशाखाकी शोभाको

स्मरण कर श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"प्रातःकालमें जब विशाखा कुञ्जसे अपनी लाल-लाल अंगुलीरूप नवकिशलयके द्वारा कदम्ब-शाखाको धारण करती हुई तथा नेत्रोंको घूमाती हुई बहिर्गमन कर रही थी, उस समय उसके कन्धेपर अर्द्धमुक्त वेणी अत्यधिक सुन्दर रूपमें दोदुल्यमान हो रही थी। विशाखाकी वह छवि मेरे मनमें इस प्रकार समाई हुई है, कि बाहर निकलनेका नाम ही नहीं लेती॥"१४॥

लोचनरोचनी—भोगः सम्भोगः॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो विशाखासखीमाह—धृत्वेति। तेन दिनेऽप्यत्र पुनस्तामभिसारयेति ध्वनिः॥१४॥

अथ कान्तिः—

शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला॥१५॥

यथा—

प्रकृतिमधुरमूर्त्तिर्बाढमत्राप्युदञ्च-
त्तरुणिमनवलक्ष्मीलेखयालिङ्गिताङ्गी ।
वरमदनविहारैरद्य तत्राप्युदारा,
मदयति हृदयं मे रुन्धती राधिकेयम्॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—कान्ति—कामतृप्तिके विधानमें उज्ज्वल शोभाको कान्ति कहते हैं। यदि शोभा ही मन्मथकी वृद्धि कर अत्यन्त उज्ज्वला होती है, तब उसे कान्ति कहते हैं॥१५॥

श्रीमतीराधिकाके स्वाभााविक रूपमाधुर्य, वयःशोभादि और लीलाकौशलादिको देखकर आक्रान्तचित्त श्रीकृष्ण उनकी प्रशंसा करते हुए सुबलको अपनी विवशताका कारण कह रहे हैं—"स्वाभाविक रूपसे मधुर-मूर्त्तिधारिणी और उसमें भी क्षण-क्षणमें वर्द्धित होते हुए यौवनकी नव-नव द्युतिमालाके द्वारा प्रत्येक अङ्गमें आलिङ्गिता और उसमें भी पुनः इस समय स्मरकेलि विनोदादिमें अनुपमा अथवा सर्वसुख पूर्ति करनेमें परमोदारा श्रीमती राधिका मेरे हृदयको आक्रमणकर आनन्द-विधान कर रही हैं॥"१६॥

लोचनरोचनी—प्रकृत्या गाढानुरागस्वाभाव्येन मधुरा मूर्तिर्यस्याः सा॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—प्रकृतीति। मम हृदयं रुन्धतीति संप्रति नाहमन्यस्यै कस्यै अपि स्पृहयामीति भावः। ननु काममहोदधेस्तव कथमेकयानयैव निर्वाहस्तत्राह—उदारेति। इयमेकैव मम मनोरथं सर्वमेव पूरयतीति भावः॥१६॥

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेव वयोभोगदेशकालगुणादिभिः।
उद्दीपितातिविस्तारं प्राप्ता चेद्दीप्तिरुच्यते॥१७॥

यथा—

निमीलन्नेत्रश्रीरचटुलपटीराचलमरु–
न्निपीतस्वेदाम्बुस्त्रुटदमलहारोज्ज्वलकुचा ।
निकुञ्जे क्षिप्ताङ्गी शशिकिरणकिर्म्मीरिततटे,
किशोरी सा तेने हरिमनसि राधा मनसिजम्॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—दीप्ति—वयस, उपभोग, देश, काल, गुण, रूप और वेशादिके द्वारा उद्दीप्त और अत्यन्त विशाल कान्तिको दीप्ति कहते हैं॥१७॥

स्वाधीनभर्तृकाकी अवस्थामें श्रीकृष्णके साथ विलासातिरेकसे उत्पन्न श्रमसे आलस्ययुक्ता श्रीमतीराधिकाकी तदानीन्तन शोभासे आकृष्टचित्त श्रीकृष्णको देखकर रूपमञ्जरी निकट ही दूसरे कुञ्जमें रहकर अपनी सखीसे कह रही है—"सखि! यह देखो, अभिनव तारुण्यरूपी अलङ्कारसे अलंकृता श्रीराधा चन्द्रकिरणोंके द्वारा चित्रित तटनिकुञ्जमें समर्पित देह होनेपर भी श्रीहरिके हृदयमें कामसागरको वर्द्धित कर रही है। उनके दोनों नेत्र निमीलित रहनेपर भी शोभाविशिष्ट हो रहे हैं, धीर मलयवायुके सेवनसे उनका स्वेदजल प्रायः सूख रहा है और छिन्न–भिन्न विशुद्ध हारसे उनके कुचयुगल परम उज्ज्वल शोभासे सम्पन्न हो रहे हैं॥"१८॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमरूजरी स्वसखीं प्रत्याह—निमीलदिति। निद्राणेत्यर्थः। पटीराचलो मलयपर्वतः। त्रुटदितिक्षिप्ताङ्गीत्याभ्यां संप्रयोगाधिक्यजनितः श्रमो व्यञ्जितः। लताजालरन्ध्रात् पतितेन शशिकिरणेन किर्म्मीरितं चित्रितं तटं यस्य तस्मिन्नित्येनेन तदङ्गदर्शनशोभाधिक्यम्, मनसिजं तेने इति पुनरपि संप्रयोगार्थं श्रीहरिस्तां जागरांबभूवेति; रात्रावद्य सा निद्रां न लेभे इति; संप्रति तां क्षणं शाययितुं शीघ्रं याम इति ध्वनिः॥१८॥

अथ माधुर्यम्—

माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता॥१९॥

यथा—

असव्यं कंसारेर्भुजशिरसि धृत्वा पुलकिनं,
निजश्रोण्यां सव्यं करमनृजुविष्कम्भितपदा।
दधाना मूर्द्धानं लघुतरतिरस्त्रंसिनमियं,
बभौ रासोत्तीर्णा मुहुरलसमूर्त्तिः शशिमुखी॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—माधुर्य—चेष्टाओंकी सर्वावस्थामें चारुताको माधुर्य कहते हैं॥१९॥

रासलीलाके समाप्त होनेपर श्रीमतीराधिकाके तत्कालीन माधुर्यके अनुभवसे उल्लसित रतिमञ्जरी दूरसे अपनी सखीको दिखाते हुए कह रही है—"सखि! यह देखो, चन्द्रानना श्रीमतीराधिका रासविहारसे निवृत्त होनेपर पग-पगपर विहारश्रमसे अलसाङ्गी होकर भी कैसी शोभाको धारणकर रही है। श्रीकृष्णके कन्धोंपर अपने पुलकित दक्षिण हस्तको धारणकर अपने बाँये हाथको अपनी कमरपर रखी हुई है। वक्रभावसे दोनों चरण परस्परका अवलम्बन कर रहे हैं और शिरोदेश भी ईषत् वक्रभावसे कुछ झुका हुआ है॥"२०॥

आनन्दचन्द्रिका—रतिमञ्जरी दूरात्स्वसखीं दर्शयति। असव्यं दक्षिणकरम्। भुजशिरसि स्कन्धे। शशिमुखी श्रीराधा तस्याः सखी वा॥२०॥

अथ प्रगल्भता—

निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता॥२१॥

यथा विदग्धमाधवे (७/४०)—

प्रातिकूल्यमिव यद्विवृण्वती राधिका रदनखार्पणोद्धुरा।
केलिकर्मणि गता प्रवीणतां तेन तुष्टिमतुलां हरिर्ययौ॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—प्रगल्भता—सम्भोगके विषयमें भयराहित्यको पण्डितगण प्रगल्भता कहते हैं॥२१॥

विहारचेष्टामें निपुणता प्राप्त करते हुए दाँत और नखके आघातके अर्पणमें निरंकुशा होकर श्रीराधाने जो प्रतिकूलवत् आचरण किया, उससे श्रीहरिने अनुपम तुष्टि प्राप्त की॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रयोगेषु संप्रयोगेषु प्रगल्भता शौर्यम्॥२१॥

वृन्दाह—प्रातीति। तेन तच्छोभादर्शनेनेत्यर्थः। अप्रागल्भ्यस्वभावाया अपि श्रीराधायाः प्रागल्भ्यं कामोन्मादादयत्नजमिदमिति ज्ञेयम्॥२२॥

अथौदार्यम्—

औदार्यं विनयं प्राहुः सर्वावस्थागतं बुधाः॥२३॥

यथा विदग्धमाधवे (४/१३)—

न्यविशत नयनान्ते कापि सारल्यनिष्ठा,
वचसि च विनयेन स्तोत्रभङ्गी न्यवात्सीत्।
अजनि च मयि भूयान् संभ्रमस्तेन तस्या,
व्यवृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—औदार्य—सभी अवस्थाओंमें विनय प्रदर्शनको पण्डितगण औदार्य कहते हैं॥२३॥

जैसे विदग्धमाधवमें—श्रीकृष्ण मधुमङ्गलको चन्द्रावलीके हृद्गत भावों और चेष्टाओंका तात्पर्य समझा रहे हैं—"चन्द्रावलीकी अपाङ्गभङ्गीमें सरलताकी सीमा तक प्रविष्ट हो रही है। बातोंमें भी विनयके साथ स्तुतिकी परिपाटी वास कर रही है और उसमें भी मेरे सम्बन्धमें अत्यन्त आदर भी प्रकाशित हो रहा है। इसलिए चन्द्रावलीका अति दाक्षिण्य ही उसके हृदयके निगूढ़ अन्तरमें छिपे हुए क्रोधको व्यक्त कर रहा है॥"२४॥

लोचनरोचनी—सुष्ठ्विति। स्वाभाविकं दाक्षिण्यमतिक्रम्यारोपितमित्यर्थः। तज्जातं मन्युमेव व्यावृणुतेत्यर्थः। सुष्ठुतामेव दर्शयति—कापीत्यादिभिः॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मधुमङ्गलमाह—न्यविशतेति। तस्याश्चन्द्रावल्याः। चन्द्रावल्या दक्षिणायाः प्रायः स्वभाव एवायम्॥२४॥

यथा वा—

कृतज्ञोऽपि प्रेमोज्ज्वलमतिरपि स्फारविनयो–
ऽप्यभिज्ञानां चूडामणिरपि कृपानीरधिरपि।
यदन्तःस्वच्छोऽपि स्मरति न हरिर्गोकुलभुवं,
ममैवेदं जन्मान्तरदुरितदुष्टद्रुमफलम्॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें विनयकी कृत्रिमताको दिखलाकर उससे संतुष्ट न होनेपर अन्य उदाहरण दे रहे हैं। प्रोषितभर्तृका श्रीमतीराधिका कह रही हैं—"हे सखि! श्रीकृष्ण बड़े कृतज्ञ हैं। उनकी बुद्धि भी प्रेमवशतः परम उज्ज्वला है। वे स्वयं विनयी भी हैं तथा अभिज्ञजनोंके चूड़ामणि हैं। वे कृपाके समुद्र और निर्मल हृदय होकर भी इस गोकुल भूमिका स्मरण नहीं कर रहे हैं। यह सब मेरे जन्म-जन्मान्तरोंके पापवृक्षोंके फलसे ही ऐसा हो रहा है और दूसरा कोई कारण नहीं है॥"२५॥

आनन्दचन्द्रिका—किञ्च तदानीं स्वविनयसिद्धर्थं नेत्रान्तसारल्यादीनां किंचिद्यत्न-कृतत्वेन कृत्रिमत्वादयत्नजश्च विनयोऽयं सम्यङ् न संभवेदित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। प्रोषितभर्तृका श्रीराधां प्राह—कृतेति। स्वभावतो वामाया अपि श्रीराधायाः प्रेयसि विनयोऽयं तदानीं दैन्यनिर्वेदादिभिरयत्नज एवाभूत्। पूर्वत्र यत्नेनैवावहित्था सिध्यति न त्ववहित्थयैव यत्न इति विनयस्य यत्नजत्वमेव॥२५॥

अथ धैर्यम्—

स्थिरा चित्रोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति कीर्त्यते॥२६॥

यथा ललितमाधवे (७/७)—

औदासीन्यधुरापरीतहृदयः काठिन्यमालम्बतां,
कामं श्यामलसुन्दरो मयि सखि स्वैरी सहस्त्रं समाः।
किन्तु भ्रान्तिभरादपि क्षणमिदं तत्र प्रियेभ्यः प्रिये,
चेतो जन्मनि जन्मनि प्रणयितादास्यं न मे हास्यति॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—धैर्य—चित्तवृतिकी स्थिरताको धैर्य कहते हैं॥२६॥

उदाहरण—नववृन्दाके सन्मुख श्रीराधाके मनकी परीक्षा करनेके लिए जब बकुलासखी व्रजेन्द्रनन्दनकी सर्वत्र उदासीनताके साथ उनकी निष्ठुरताकी बात कहने लगी, तब श्रीमतीराधिका नववृन्दाको अपनी निष्ठाका परिचय दे रही है—"हे सखि! स्वच्छन्दविहारी श्रीश्यामसुन्दर मेरे प्रति उदासीन होकर सहस्त्र-सहस्त्र वर्षों तक अत्यन्त कठोरताका भी अवलम्बन करें, तथापि अपने करोड़ों-करोड़ों प्राणोंसे भी प्रिय श्यामके सम्पर्कमें मेरा यह चित्त प्रमादवशतः एक क्षणके लिए भी उनकी प्रणयिनी दासीके लिए समुचित दास्य 'सेवा' को कदापि त्याग नहीं कर सकता॥"२७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा नववृन्दामाह—औदासीन्येति। प्रणयितया प्रेम्णा दास्यं कैंकर्यं न हास्यति न त्यक्ष्यति। अत्र विरहवैवश्येनाधीरस्वभावाया अपि श्रीराधायास्तदानीं रत्याख्यसंचारिप्राबल्योदयात् धैर्यमिदमयत्नजम्। एवं शोभादयो माधुर्यान्तास्तत्तद्देहस्वभावजा अपि शोभाद्यर्थप्रयत्नाभावादयत्नज-शब्देनैवोच्यन्ते। प्रगल्भतादयस्त्रयोऽलंकारास्तु न स्वभावजाः, तत्र तत्रोक्तयुक्त्या नापि प्रयत्नजा इत्ययत्नजा एव॥२७॥

अथ स्वभावजाः—

तत्र लीला—

प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेशक्रियादिभिः॥२८॥

यथा विष्णुपुराणे—

दुष्टकालिय तिष्ठाद्य कृष्णोऽहमिति चापरा।
बाहुमास्फोट्य कृष्णस्य लीलासर्वस्वमाददे॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—स्वभावज, उनमेंसे **लीला—**रमणीय वेश और क्रियादिके द्वारा प्रियतमकी भाँति आचरण॥२८॥

विष्णुपुराणमें पराशर ऋषि मैत्रेयसे कह रहे हैं—रासलीलाके समय व्रजसुन्दरियोंको परित्यागकर श्रीकृष्णके अन्तर्ध्यान होनेपर उनमेंसे एक गोपनारी कालियदमनकी लीलाका अनुकरण करती हुई कालियनागको, अपनी तर्जनी अंगुली उठाकर तर्जन करती हुई कह रही है—"अरे दुष्ट कालिय! ठहरो-ठहरो! मैं कृष्ण हूँ।" ऐसा कहती हुई अपने दाहिने हाथसे बाँए बाहुमूलको ठोकती हुई श्रीकृष्णलीलाका सर्वथा अनुकरण करने लगी॥२९॥

लोचनरोचनी—लीलासर्वस्वं तस्या लीलाया यावान् परिकरस्तावन्तमाददे गृहीतवती अनुकृतवतीत्यर्थः॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वभावजा इत्येषु क्वापि यत्नस्य बुद्धिपूर्वकत्वम्, क्वापि संचारिभावोत्थत्वेनाबुद्धिपूर्वकत्वम्। किन्तु सर्वत्र स्वभावो जागरूक इति स्वभावजशब्देनैवोच्यन्त इति प्रियस्यानुकरणं बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं वा प्रेमवतीनां स्वाभाविकमेव॥२८॥

पराशरो मैत्रेयं प्रत्याह—दुष्टेति। आस्फोट्य शौर्यद्योतनार्थं वामबाहुप्रगण्डे करतलप्रहारेण शब्दमुत्थाप्य। लीलेयं विप्रलम्भभरेणोन्मादोत्थत्वादबुद्धि-पूर्वकयत्नवती॥२९॥

यथा वा छन्दोमञ्जर्याम्—

मृगमदकृतचर्चा पीतकौशेयवासा,
रुचिरशिखिशिखण्डाबद्धधम्मिल्लपाशा ।
अनृजुनिहितमंसे वंशमुत्क्वाणयन्ती,
कृतमधुरिपुवेषा मालिनी पातु राधा॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें करुणमिश्र रौद्ररसके लीलानुकरणको दिखलाकर चित्तमें असन्तोष रहनेके कारण मधुररससे भी उसका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीकृष्णकी वेशलीलाका अनुकरण करनेवाली श्रीमतीराधिकाके स्वरूपका वर्णन करते हुए कह रहे हैं। रतिमञ्जरी अपनी सखीसे कहने लगी—"श्रीमतीराधिकाने हाथोंमें वनमालाको धारणकर अपने सर्वाङ्गमें मृगमदका लेपन किया है। उन्होंने पीतवस्त्रको भी धारण किया है। केशदाममें मनोज्ञ मयूरपिच्छ, कुछ वक्रीभूत कन्धोंपर श्रीकृष्णकी वंशीको रखकर उच्च स्वरसे बजा रही हैं। अहो! श्रीकृष्णवेशमें सज्जिता ये श्रीमतीराधिका विश्वकी रक्षा करें॥"३०॥

आनन्दचन्द्रिका—बुद्धिपूर्वकयत्नवतीमपि तामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। रतिमञ्जरी स्वसखीमाह—मृगेति। मालिनी मालावती तन्नामच्छन्दश्च॥३०॥

अथ विलासः—

गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
तात्कालिकं तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसंगजम्॥३१॥

यथा—

रुणत्सि पुरतः स्फुरत्यघहरे कथं नासिका–
शिखाग्रथितमौक्तिकोन्नमनकैतवेन स्मितम्।
निरास्थदचिरं सुधाकिरणकौमुदीमाधुरीं,
मनागपि तवोद्गता मधुरदन्ति दन्तद्युतिः॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—विलास—प्रियके सङ्गमसे उत्पन्न गति, स्थान, आसन, मुख और नेत्रादिकी क्रियाओंके तात्कालिक वैशिष्ट्यको विलास कहते हैं॥३१॥

अभिसारिणी राधाको कृष्णके सम्मुख वाम्य–प्रकाश करते हुए देखकर वीरा कह रही है—"श्रीकृष्णको साक्षात् अपने समक्ष देखकर तुम्हारे मुखकमलमें हास्यका विकास हो रहा है, नासिकाके अग्रभागमें ग्रथित मुक्ताओंको ऊपर उठानेके बहाने हँसीको क्यों छिपा रही हो? हे मधुरदंति! क्या तुम देखती नहीं हो कि अत्यन्त शीघ्र ही तुम्हारी दन्तद्युतिने यत्सामान्यमात्रामें प्रकट होकर चन्द्रज्योत्स्नाकी माधुरीको भी पराजित कर दिया है॥"३२॥

लोचनरोचनी—निरास्थत् निरस्तवती॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—तात्कालिकमिति। अनेन प्रियसङ्गारम्भकाल एव लक्ष्यते॥३१॥
अभिसार्यानीतां श्रीराधां श्रीकृष्णाग्रे वाम्यं कुर्वाणां वीरा प्राह—स्मितं रुणत्सीति। स्मितेन मुखचन्द्रव्यापारवैशिष्ट्यं निरास्थत्तिरस्कृतवती॥३२॥

यथा वा—

अध्यासीनममुं कदम्बनिकटे क्रीडाकुटीरस्थली–
माभीरेन्द्रकुमारमत्र रभसादालोकयन्त्याः पुरः।
दिग्धा दुग्धसमुद्रमुग्धलहरीलावण्यनिस्यन्दिभिः,
कालिन्दी तव दृक्तरङ्गितभरैस्तन्वङ्गि गङ्गायते॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें मुखक्रियाके वैशिष्ट्यको मन्दस्मितके द्वारा वर्णनकर इस श्लोकमें नेत्रक्रियाके वैशिष्ट्यको दिखला रहे हैं। वृन्दा श्रीमतीराधिकाको अभिसार कराकर कहने लगी—हे कृशोदरि! इस कदम्बवृक्षके निकट क्रीड़ाकुञ्जस्थलीमें गोपेन्द्रनन्दन विराजमान हैं। कौतुकके साथ उनको अवलोकन कर तुम्हारे दोनों नेत्रोंमें ऐसी तरङ्गें उठ रही हैं, मानो क्षीरोदसागरका लावण्य ही झर रहा हो। उसका विस्तार करानेके लिए ही कालिन्दी भी गङ्गातुल्य श्वेतवर्णको धारण कर रही है॥३३॥

लोचनरोचनी—दुग्धेत्यादिना स्मितमेव व्यञ्जितम्। ततश्च कालिन्द्या गङ्गायमानत्वं व्यक्तम्॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—नेत्रव्यापारवैशिष्ट्यं दर्शयितुमाह—यथा वेति। अभिसार्यानीतां श्रीराधां वृन्दा प्राह—अध्यासीनमिति। दुग्धसमुद्रस्य सुन्दरलहरीणामिव लावण्यं निस्यन्दयितुं शीलं येषां तैर्दिग्धा निचितेति स्मितं व्यञ्जितम्॥३३॥

अथ विच्छित्तिः—

आकल्पकल्पनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्॥३४॥

यथा—

माकन्दपत्रेण मुकुन्दचेतःप्रमोदिना मारुतकम्पितेन।
रक्तेन कर्णाभरणीकृतेन राधामुखाम्भोरुहमुल्ललास॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—विच्छित्ति—अत्यन्त अल्प वेशरचना भी यदि कान्तिका पोषण करती हो तो उसे विच्छित्ति कहते हैं॥३४॥

वृन्दा नान्दीमुखीसे कह रही है—श्रीमतीराधिकाने मुकुन्दके चित्त-प्रमोदकर एकमात्र अभिनव अत्यन्त सुन्दर लाल आम्रपल्लवको कर्णभूषाके रूपमें धारण किया है। वह मृदुमन्द पवनोंसे दोदुल्यमान हो रहा है, किन्तु उसीसे उनका मुखपद्म अत्यन्त उल्लसित हो रहा है॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा नान्दीमुखीमाह—माकन्देति॥३५॥

यथा वा हरिवंशे—

एकेनामलपत्रेण कण्ठसूत्रावलम्बिना।
रराज बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—वैशम्पायनने श्रीकृष्णकी व्रजलीलाके प्रसङ्गमें कहा है—"अहो! निर्मलपत्र और केशरवृन्दयुक्त कण्ठसूत्रावलम्बी और मृदुवायु द्वारा कम्पित केवल एक मयूरपिच्छ धारण करनेपर भी न जाने श्रीकृष्णकी कितनी शोभा हो रही है?"॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णेऽप्युदाहर्तुमाह—यथावेति। वैशम्पायनो व्रजविहारिणं श्रीकृष्णं वर्णयति—बर्हिपत्रेण मयूरपक्षेण। कीदृशेन? अमलानि पत्राणि धात्र्यादिदलानि। यद्वा आमलानि आमलक्या एव दलानि। तच्चतुर्दिक्षु शोभार्थं वल्लीसूत्रेण प्रोतानि यत्र तेन। "आमलं कमलं कुष्ठम्" इति वैद्यकदृष्टेः॥३६॥

सखीयत्नादिव धृतिर्मण्डनानां प्रियागसि।
सेर्ष्यावज्ञा वरस्त्रीभिर्विच्छित्तिरिति केचन॥३७॥

यथा—

मुद्रां गाढतरां विधाय निहिते दूरीकुरुष्वाङ्गदे,
ग्रन्थिं न्यस्य कठोरमर्पितमितः कण्ठान्मणिं भ्रंशय।
मुग्धे कृष्णभुजङ्गदृष्टिकलया दुर्वारया दूषिते,
रत्नालङ्करणे मनागपि मनस्तृष्णां न पुष्णाति मे॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—मतान्तरसे विच्छित्ति—प्रिय–व्यक्तिका अपराध होनेपर वराङ्गनागण सखीके प्रयत्नसे ईर्ष्या और अवज्ञाके साथ मण्डनादि धारण करनेपर उसको भी विच्छित्ति कहते हैं॥३७॥

श्रीकृष्णके द्वारा अपराध किए जानेपर श्रीराधिका मानिनी होकर अपनी देहमें धारण किए अलङ्कारोंको दूर करनेके लिए अपनी सखी विशाखाको आदेश दे रही है—"हे सखि! मेरे हाथोंमें अच्छी तरहसे बँधे हुए दोनों केयूरोंको हटा दो, मेरे गलेमें कठोर ग्रन्थियोंके द्वारा बँधी हुई इस मणिको भी दूर कर दो। यदि कहो कि तुम्हारे प्रति अप्रिय आचरणसे शठनायकके प्रति तुम्हारा रुष्ट होना युक्तियुक्त है, किन्तु अङ्गदादि अलङ्कारोंने क्या दोष किया है, जो इन्हें दूर करनेके लिए मुझे आदेश दे रही हो? उसीके लिए मैं कह रही हूँ—हे मूढ़े! श्रीकृष्णरूप भुजङ्गके (विषधर सर्पके) दुर्दान्त ईषत् दर्शनसे दूषित ये रत्नाभूषण मुझे बिन्दुमात्र भी अच्छे नहीं लग रहे हैं॥"३८॥

लोचनरोचनी—प्रियागसि प्रियकर्तृकेऽपराधे सति॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियागसि प्रियकर्तृकेऽपराधे सतीर्ष्यावज्ञाभ्यां सह वर्तमाना॥३७॥
मानिनी श्रीराधा विशाखामाह—गाढतरामिति कठोरमिति आभ्यां स्वयं दूरीकरणसामर्थ्यं द्योतितम्॥ तेन च त्वमेव मल्लाघवं कुर्वती विपक्षायसे इति ध्वनिः॥ नन्वलंकारेण किमपराद्धं, तत्राह—मुग्धे इति। तव ज्ञानं नास्तीति भावः। कृष्णभुजङ्गेति। दृष्टैव विषवर्षणादेषु विषं लग्नमिति भावः। तद्दृष्टिविषदिग्धेषु मदङ्गेषु पुनर्विषदाहार्पणमयुक्तमिति भाव॥३८॥

अथ विभ्रमः—

वल्लभप्राप्तिवेलायां मदनावेशसंभ्रमात्।
विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्ययः॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—विभ्रम—अपने प्रियतमके साथ मिलनेके समय प्रबल मदनवेगके कारण हार और मालाादि भूषणोंको अन्य स्थानोंमें धारण करना विभ्रम कहलाता है॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—वल्लभप्राप्त्यर्थं वल्लभनिकटस्थानगमनार्थं या वेला अभिसारसमयस्तस्यां हारादीनां स्थानविपर्ययः, अयथास्थानधृतिरित्यर्थः॥३९॥

यथा विदग्धमाधवे—

धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वयारोपितो,
विन्यस्तः कुचकुम्भयोः कुवलयश्रेणीकृतो गर्भकः।
अङ्गे चर्चितमञ्जनं विनिहिता कस्तूरिका नेत्रयोः,
कंसारेरभिसारसंभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम्॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्ण द्वारा भेजे गए संवादको सुबलके मुखसे श्रवण करके तथा श्रीकृष्णके सङ्केतकुञ्जमें विराजमान होनेकी बातको जानकर उसी कुञ्जमें अभिसार करनेवाली श्रीमतीराधिकाके उल्लाससे भरे हुए भूषण-धारणमें विपर्ययको देखकर ललिता हँसती हुई कहने लगी—"प्रियसखि! आज तुमने अपनी वेणीमें नीलरत्नोंसे निर्मित हारको अर्पण किया है, वक्षःस्थलपर नीलपद्मादि विरचित गर्भक (केशमाला) को धारण कर रखा है, अङ्गोंमें अञ्जनका अनुलेप और नेत्रोंमें कस्तूरी धारण की है, इसे देखकर ऐसा लगता है कि श्रीकृष्णके निकट अभिसारके आवेशमें जगत्को भी भूल गयी हो॥"४०॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीराधामाह—धम्मिल्लेति। गर्भकः केशोचितमाल्यम्॥४०॥

यथा वा श्रीदशमे—

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमतीराधिकाका विभ्रम वर्णनकर आर्ष उदाहरण दे रहे हैं—कोई-कोई गोपी अङ्गोंमें अङ्गराग लेपन करते-करते, कोई अङ्गोंका मार्जन करते-करते, कोई नेत्रोंमें अञ्जन लगाते-लगाते और कोई दूसरी गोपी वसन और भूषणोंको उल्टे-पुल्टे धारणकर श्रीकृष्णके समीप उपस्थित हुई॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—आर्षमुदाहर्तुमाह—यथा वेति ॥४१ ॥

अधीनस्यापि सेवायां कान्तस्यानभिनन्दनम्।
विभ्रमो वामतोद्रेकात्स्यादित्याख्याति कश्चन ॥४२ ॥

यथा—

त्वं गोविन्द मयासि किं नु कबरीबन्धार्थमभ्यर्थितः
क्लेशेनालमबद्ध एव चिकुरस्तोमो मुदं दोग्धि मे।
वक्त्रस्यापि न मार्ज्जनं कुरु घनं घर्माम्बु मे रोचते
नैवोत्तंसय मालतीर्मम शिरः खेदं भरेणाप्स्यति ॥४३ ॥

तात्पर्यानुवाद—किसीका कहना है कि वाम्यभावके उठनेपर सेवाधीन कान्तके प्रति भी जो अनादर होता है, उसीको विभ्रम कहते हैं ॥४२ ॥

विहारके अन्तमें स्वाधीनभर्तृकावस्था प्राप्त श्रीमतीराधिकाका शृङ्गार करनेमें उत्सुक श्रीकृष्णको श्रीराधाजी प्रणयवेगसे उत्पन्न वाम्यभावके कारण निषेध कर रही हैं—"हे गोविन्द! क्या मैंने तुम्हें मेरे केश बाँधनेके लिए कहा है? फिर भी तुम वृथा क्लेश क्यों कर रहे हो? मेरे बिना बँधे हुए केश ही मुझे आनन्द प्रदान कर रहे हैं। मेरे मुखका भी मार्जन मत करो, पसीनेसे भरा हुआ मुख ही मेरे लिए रुचिकर है। मेरे सिरपर मालती माला प्रदान मत करो, उससे मेरे सिरमें दर्द ही होगा ॥"४३ ॥

लोचनरोचनी—कान्तस्येति। मनसाभिनन्दनं तु वर्त्तत एवेति भावः। तर्हि कथं तत्राह—वामतोद्रेकाद् वाङ्मात्रेण कौटिल्यातिशयात्। प्रणयविशेषस्य तथैव स्वभाव इति भावः। तदुक्तम्—"अहेरिव गतिः प्रेम्णस्वभावकुटिला भवेत्" इति ॥४२ ॥

आनन्दचन्द्रिका—वामतोद्रेकादनभिनन्दनं वस्तुतस्तु मनसा त्वभिनन्दनमस्त्येवेति भावः॥ कश्चानाख्यातीति। अन्ये विव्वोकोऽयमित्याचक्षते इत्यर्थः ॥४२ ॥

मया किमर्थमभ्यर्थित इति। ममैवानभिज्ञत्वं त्वां प्रयुञ्जानाया दोष इति भावः। क्लेशेनालमिति। बहुतरप्रयत्नपौनःपुन्येनापि मद्दासीभिरिव त्वया कबरीनिर्माणमशक्यमिति भावः। अत्र हेतुर्गोविन्देति। त्वया गोचारणशास्त्रमेव आबाल्यमभ्यस्तं नत्वेतत्कला–शास्त्रमिति भावः। "गोविन्दो गोविचारणादिति" क्रमदीपिकोक्तेः। ननु तर्हि दास्य एव करणीयस्तत्राह—अबद्ध एवेति। त्वत्प्रेयानिदमपि न जानातीति त्वां मां च हसिष्यन्तीति

ता नाहूयन्त इति भावः। मुदं दोग्धीति। त्वत्कृतप्रसाधनादप्रसाधनमेव वरं शोभते इति भावः। मार्जनं न कुर्विति मुखमार्जनप्रकारस्तावदन्य एव स च त्वया दुर्ज्ञेय एवेति भावः। तत्रापि हेतुर्गोविन्देति त्वं गवां मुखपृष्ठपिच्छादिमार्जनकण्डूयनादिविद्यायां पारं गतोऽसि नतु नवाङ्गनाङ्गमार्जनकलायामिति भावः। गां विन्दतीति तत्पदव्युत्पत्तेः। मालतीर्बह्वीर्नोत्तंसय शिरोभूषणं न कुरु। तत्र हेतुर्ममेत्यादि। खेदं भरेणेति। नहि गुरुत्ववानवतंसः प्रशस्यते, मद्दासीभिर्हि कृतवृन्ताभिर्मालतीभिरवतंसविरचनान्न तेन मम भार इति भाव इति। अत्रापि हेतुर्गोविन्देति। गोवर्द्धनधारणात् प्राप्तगोविन्दाभिधानात् त्वमपि महाँल्लोको गोवर्द्धनपर्वतमपि स्वशिरसि भारं न मन्यसे मम तु निकृष्टायाः शिरो मालतीकुसुमस्तोमभरेणापि व्यथत इति भावः॥ 'गोविन्देति चाभ्यधा'दिति स्मृतेः॥४३॥

अथ किलकिञ्चितम्—

गर्वाभिलाषरुदितस्मितासूयाभयक्रुधाम् ।
संकरीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम्॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—किलकिञ्चित्—हर्षसे उत्पन्न गर्व, अभिलाष, रोदन, स्मित, असूया, भय और क्रोध—इन सबके एक ही समयमें उदित संमिश्रणको किलकिञ्चित् कहते हैं॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—गर्वादीना सप्तानां संकरीकरणं मिश्रणं युगपत् प्राकट्यमित्यर्थः। हर्षादिति। तत्र हर्ष एव हेतुरित्यर्थः॥४४॥

यथाः—

मया जातोल्लासं प्रियसहचरी लोचनपथे,
बलान्न्यस्ते राधाकुचमुकुलयोः पाणिकमले।
उदञ्चद्भ्रूभेदं सपुलकमवष्टम्भि वलितं,
स्मराम्यन्तस्तस्याः स्मितरुदितकान्तद्युति मुखम्॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—एक समय विशाखाके सामने ही श्रीकृष्ण बलपूर्वक श्रीमती राधिकाके वक्षोजोंको स्पर्श करनेपर श्रीमतीराधिकाके तत्कालीन विलासमाधुर्यको स्मरणकर श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे हैं—"अहो! सखे, जब मैंने विशाखाके सामने ही अत्यन्त उल्लाससे श्रीमती राधिकाके वक्षोज-मुकुलोंको बलपूर्वक स्पर्श किया, तब श्रीमतीके मुखमण्डलपर जो भाव उदित हुए, मैं उन्हींका स्मरण कर रहा हूँ। उस समय उनकी

भ्रू-भङ्गी प्रकाशसे असूया और क्रोध, पुलकसे अभिलाष, स्तब्धतासे गर्व, वक्रभावसे खड़ी होनेसे भय तथा हास्य और रोदनके मिश्रणसे मनोज्ञ शोभा ही प्रकाशित हो रही थी॥४५॥

लोचनरोचनी—तथैवोदाहरन्नाह—यथेति। अवष्टम्भि तिर्यक्तया सखीमवलम्ब-मानमिति गर्वः। सपुलकमित्यभिलाषः। स्मितरुदिताभ्यां कान्तद्युतिकं मुखं यत्रेति। स्मितरुदिते शाब्दे एव। उदञ्चद्भ्रूभेदमित्यसूयाक्रुधौ। वलितं किंचित् परावृत्तमिति भयम्। तस्या इति। समासेनोपसर्जनीभूतामपि श्रीराधामेव गृह्णाति, अन्यस्या अतिविप्रकृष्टत्वात्॥४५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—मयेति। उदञ्चद्भ्रूभेदमित्यसूयाक्रोधौ, सपुलकमित्यभिलाषः, अवष्टम्भि तिर्यक्तया स्तब्धमिति गर्वः, वलितं किंचित्परावृत्तमिति भयम्, स्मितरुदिताभ्यां कान्ता द्युतिर्यस्येति स्मितरुदिते शाब्दे एवेति सप्त॥४५॥

यथा वा दानकेलिकौमुद्याम्—

अन्तःस्मेरतयोज्ज्वला जलकणव्याकीर्णपक्ष्माङ्कुरा
किंचित्पाटलिताञ्चला रसिकतोत्सिक्ता पुरः कुञ्चती।
रुद्धायाः पथि माधवेन मधुरव्याभुग्नतारोत्तरा
राधायाः किलकिंचितस्तबकिनी दृष्टिः श्रियं वः क्रियात्॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—अङ्गस्पर्शज किलकिञ्चित्से भी अधिक वैशिष्ट्यका वर्णन करनेके लिए प्रस्तुत श्लोकमें पथरोधन हेतुक भावोदयका दूसरा उदाहरण दे रहे हैं।

श्रीमतीराधाजीके भावोद्गमके वर्णन प्रसङ्गमें मङ्गलाचरणके द्वारा श्रील रूपगोस्वामिपाद सभीके प्रति मङ्गलाशीर्वाद प्रदान करते हुए कह रहे हैं—"श्रीमती राधिका दानघाटीके तङ्ग रास्तेसे घी इत्यादि यज्ञ-सामग्रियोंको पास ही यज्ञस्थलीमें ले जा रही थीं। बीचमें ही शुल्क-ग्रहणके बहाने दानघाटीमें श्रीकृष्णके द्वारा अवरुद्ध हो गईं। उस समय श्रीराधाजीके नयन किलञ्चित्भावरूप पुष्प-गुच्छसे सुशोभित हो रहे थे। श्रीमतीराधिकाकी वही दृष्टि या नयन तुम्हारी परमार्थ-सम्पत्तिका विधान करें—जो नेत्र चित्तके विकाससे प्रसन्न हैं, जिनकी रोमावलियाँ पसीनेके जलकणाओंसे सिक्त और व्याप्त हैं, प्रान्तभाग ईषत् पाटल (श्वेतरक्त) हो रहा है तथा उसमें रसिकताका आतिशय्य प्रकाशित हो रहा है

अथच उसका अग्रभाग कुटिलता प्राप्त एवं मधुर वक्र ताराओंसे वैलक्षण्यको व्यक्त कर रहा था। इससे अन्तरमें कामतरङ्ग हेतु ईषत्-हास्य, अश्रुकणाओंके व्याप्त होनेसे रोदन, लालीपन धारण करनेसे क्रोध, रसिकतासे अभिलाष, कौटिल्यके द्वारा भय, माधुर्य और वक्रिमासे गर्व और असूया—ये सात भाव प्रकाशित हो रहे हैं॥४६॥

लोचनरोचनी—रसिकोत्सिक्तेति गर्वः। उत्सेको ह्यत्र चित्तौन्नत्यम्। मधुरेत्यभिलाषः। व्याभुग्नेत्यसूया। स्मितरुदिते स्पष्टे। पुरो मीलितेति भयम्। किंचित् पाटलिताञ्चलेति क्रुत्। किलकिञ्चितरूपो यः स्तबको गाम्भीर्यमयत्वादस्फुटो भावविशेषस्तद्वती॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—न केवलमङ्गस्पर्श एव किलकिञ्चितं स्यात् किन्तु वर्त्मरोधनादावपि स्यादित्याख्यातुमाह—यथा वेति। कोऽपि नटेन्द्रो रसिकसभ्यान्नान्दी-प्रयोगेणानन्दयति—अन्तरिति। पथि दानघट्टमार्गे श्रीमाधवेन शुल्कग्रहणमिषेण रुद्धायाः श्रीराधाया दृष्टिर्वो युष्माकं श्रियं प्रेमोत्थस्तम्भकम्पादिशोभां क्रियात्। कीदृशी दृष्टिः? किलकिञ्चितमेव स्तबको नानाभाव-पुष्पगुच्छः तद्वतीति दृष्टेर्वल्लित्वमारोपितम्। तत्रापि श्रियं क्रियादिति कल्पवल्लीत्वम्, अन्तः स्मेरतयेति स्मितम्, जलकणेति रुदितम्, किंचित् पाटलितेति क्रोधः। "श्वेतरक्तस्तु पाटलः" इत्यमरः। अत्र श्वेतिमा स्वाभाविक एव, रक्तिमा क्रोधात्, रसिकतयोत्कर्षेण सिक्तेत्यभिलाषः, पुरः कुञ्चतीति भयम्, मधुरं यथा स्यात्तथा व्याभुग्ना वक्रा या तारा कनीनिका तयोत्तरा श्रेष्ठा इति गर्वासूये। "उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः" इति नानार्थवर्गः॥४६॥

अथ मोट्टायितम्—

कान्तस्मरणवार्त्तादौ हृदि तद्भावभावतः।
प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमुदीर्यते॥४७॥

यथाः—

न ब्रूते क्लमबीजमालिभिरलं पृष्टापि पाली यदा,
चातुर्येण तदग्रतस्तव कथा ताभिस्तदा प्रस्तुता।
तां पीताम्बरजृम्भमाणवदनाम्भोजा क्षणं शृण्वती,
बिम्बोष्ठी पुलकैर्विडम्बितवती फुल्लां कदम्बश्रियम्॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—मोट्टायित—कान्तके स्मरण और उनके संवाद आदिको सुनकर कान्त-विषयक अपने हृदयमें अवस्थित स्थायीभावके सद्भाव हेतु अथवा उन भावोंके चिन्तनसे हृदयस्थ वाञ्छाके प्राकट्यको मोट्टायित

कहते हैं। अर्थात् कान्तके स्मरण और उनकी वार्त्ताके सुननेमें कान्त-विषयक स्थायीभावकी भावनासे हृदयमें जो अभिलाषा प्रकट होती है उसको मोट्टायित कहते हैं॥४७॥

यूथेश्वरी पालीने पूर्वरागकी अवस्थामें श्रीकृष्णके प्रति परमानुरागके कारण अथच उसकी अप्राप्तिमें अत्यन्त सन्तप्त होनेपर भी लज्जासे अपने भावोंको किसीके निकट प्रकाश नहीं किया, किन्तु उसकी सखिगणकृत पालीके हृदयोद्घाटन चातुरी-कथनके छलसे, विस्मिता होकर वृन्दा श्रीकृष्णके प्रति पालीके स्वाभााविक प्रेमको व्यक्त कर रही है—"हे पीताम्बर! सखियोंके द्वारा बारम्बार पूछे जानेपर भी पालीने जब अपने सन्तापका कारण नहीं बतलाया, तब सखियोंने चतुरताका अवलम्बनकर जैसे ही उसके सामने तुम्हारी प्रशंसा करनी प्रारम्भ की, तब हास्यपूर्वक पाली इस प्रकारसे पुलकाञ्चित हुई, कि उसकी शोभा विकसित कदम्बपुष्पकी शोभाको भी तिरस्कृत करने लगी॥"४८॥

आनन्दचन्द्रिका—तद्भावः स्थायी रतिस्तस्य भावतो भावनातः॥४७॥
वृन्दा श्रीकृष्णमाह—न ब्रूत इति॥४८॥

अथ कुट्टमितम्—

स्तनाधरादिग्रहणे हृत्प्रीतावपि संभ्रमात्।
बहिः क्रोधो व्यथितवत् प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः॥४९॥

यथाः—

करौद्धत्यं हन्त स्थगय कबरी मे विघटते,
दुकूलं च न्यञ्चत्यघहर तवास्तां विहसितम्।
किमारब्धः कर्तुं त्वमनवसरे निर्दय मदात्,
पताम्येषा पादे वितर शयितुं मे क्षणमपि॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—कुट्टमित—नायक द्वारा स्तनयुगल और अधरादिको स्पर्श किये जानेपर नायिकाके हृदयमें प्रीति होनेपर भी सम्भ्रमवशतः बाह्य रूपमें क्रोध प्रकाशको ही पण्डितगण कुट्टमितभाव कहते हैं॥४९॥

विलासकुञ्जमें विराजमान श्रीमतीराधिकाकी नीवि प्रभृतिको खोलनेके लिए इच्छुक श्रीकृष्णके प्रति राधिकाजी निषेध करते हुए कह रही

हैं—"हे अघनाशन! तुम अपने हाथोंके चाञ्चल्यको स्थगित रखो। मेरा केशपाश भी विपर्यस्त हो रहा है और पटवस्त्र भी स्खलित हो रहे हैं, (उसपर भी विरत न होकर बल्कि हास्य करनेपर फिर कह रही हैं) तुम्हारा हास-परिहास अब विश्राम करे। (उसपर भी निवृत्त नहीं होनेपर फिर कह रही हैं) हे कठोर! असमयमें उन्मत्तकी भाँति तुम क्या करनेमें प्रवृत्त हो रहे हो? पुनः दैन्य कर कहने लगीं—मैं तुम्हारे चरणोंमें गिरकर क्षमा चाहती हूँ। क्षणभरके लिए मुझे सोने दो॥"५०॥

आनन्दचन्द्रिका—स्तनाधरादीत्यत्र विविक्त इति शेषो देयः। सखीदृष्टिपथे तु किलकिञ्चितमेव स्यादिति ज्ञेयम्॥४९॥

संभुक्तप्रसाधिता श्रीराधा पुनरपि संभुक्तकामं श्रीकृष्णमाह—करौद्धत्यमिति॥५०॥

यथा वा—

न भ्रूलतां कुटिलय क्षिप नैव हस्तं,
वक्त्रं च कण्टकितगण्डमिदं न रुन्धि।
प्रीणातु सुन्दरि तवाधरबन्धुजीवे,
पीत्वा मधूनि मधुरे मधुसूदनोऽसौ॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—इस श्लोकमें हृदयकी प्रीति और बाह्य रूपसे क्रोध स्पष्ट न होनेके कारण कुछ सन्देहकी बात रह जाती है। इसलिए पुनः स्पष्ट उदाहरण दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण कदाचित् एकान्तमें श्रीराधाका कण्ठ पकड़कर कह रहे हैं—"भ्रू-लताको कुटिल क्यों कर रही हो? तथा मेरे हाथोंको हटा क्यों रही हो? हे सुन्दरि! अब तुम अपने पुलकित गण्डयुक्त मुखको अवरोध मत करना।" भ्रू-लताको कुटिल करने और श्रीकृष्णके हाथको दूर हटानेमें श्रीराधाजीका क्रोध सूचित हो रहा है तथा पुलकित गण्डयुक्त मुखको अवरोध करनेमें हृदयकी प्रीति प्रकटित हो रही है। इतनेपर भी जब श्रीमती राधाजीने कोई प्रतिक्रिया नहीं की, तब उत्कण्ठासे प्राणेश्वर विशाखाके मुखकी ओर कातर दृष्टिनिक्षेप करने लगे। श्रीकृष्णकी अवस्था देखकर विशाखा श्रीमतीजीसे बोली—"हे सुन्दरि! यह मधुसूदन भ्रमर (पक्षमें श्रीकृष्ण) तुम्हारे अधररूप मधुवर्षी बन्धूकपुष्पका मधुपान करके तृप्त होवे॥"५१॥

लोचनरोचनी—न भ्रूलतामिति। कृष्णस्यैव वचनम्॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्रोदाहरणे रतिश्रान्तायाः शिषयिषोस्तस्या हृत्प्रीत्यभावः संभवेदित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। श्रीकृष्णः कदाचिद्रहःप्राप्तां श्रीराधां कण्ठे गृहीत्वाह—न भ्रूलतामिति। कण्टकितगण्डमिति हृत्प्रीतिचिह्नम्। असौ मधुसूदनो मल्लक्षणभ्रमरः॥५१॥

अथ विव्वोकः—

इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विव्वोकः स्यादनादरः॥५२॥

अत्र गर्वेण यथा—

प्रियोक्तिलक्षेण विपक्षसंनिधौ,
स्वीकारितां पश्य शिखण्डमौलिना।
श्यामातिवामा हृदयंगमामपि,
स्रजं दराघ्राय निरास हेलया॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—विव्वोक—अपनी अभिलषित वस्तु तथा चेष्टाओंसे गर्व और मानहेतुक अनादरको विव्वोक कहते हैं॥५२॥

गर्वहेतु विव्वोक—पुष्पचयन करते-करते श्रीरूपमञ्जरी मार्गमें पड़ी हुई बकुलमालाकी ओर इङ्गित करते हुए एक सखीसे कहने लगी—"हे सखि! देखो, विपक्षकी रमणियोंके सामने शिखिपिच्छमौलि श्रीकृष्णने लक्ष-लक्ष प्रियवाक्य बोलकर श्यामाको अपने हाथोंसे बनी हुई एक माला पहनाई थी। यद्यपि यह माला अत्यधिक मधुर होनेके कारण श्यामाको बहुत प्रिय थी, तथापि उसने इसको तनिक सूँघकर अनादरपूर्वक दूर फेंक दिया।" यहाँ अपनी अभीष्ट मालाके प्रति भी अनादरसूचित होनेसे विव्वोककी सूचना की गई॥५३॥

लोचनरोचनी—इष्टेऽपि कान्तार्पितवस्तुन्यपि कान्ते वा। अधीनस्यापीति विभ्रमलक्षणस्य परमतत्वान्नानेन सांकर्य्यम्॥५२॥

आनन्दचन्द्रिका—इष्टेऽपि कान्तदत्तवस्तुनि कान्ते वा॥५२॥

पुष्पमवचिन्वती रूपमञ्जरी कुवलयमालां दूराद्दर्शयन्त्याह—विपक्षसंनिधौ संध्यादेवीपूजापर्वणि श्रीराधायाश्चन्द्रावल्याश्च विनाभूते सर्वव्रजसुन्दरीणां संसदीत्यर्थः।

प्रियोक्तिलक्षेणेति—प्रियतमे श्यामे! अद्भुतशिल्पमयीयं मत्पाणिनिर्मिता माला तवैव कण्ठदेशे स्थितिमवाप्य सफला भवत्वित्यादिना हृदयंगमामपीति। एकान्ते चेत्प्राप्ताभविष्यत्तदेयं माला हृदय एव श्यामया अधारयिष्यत इति भावः। दराघ्रायेति। आघ्राणमपि त्वदनुरोधेनैव कृतं वस्तुतस्त्वीदृश्यो माला मत्किंकरीभिरपि न परिधीयन्त इति ज्ञापयामास। निरास चिक्षेप॥५३॥

यथा वा—

स्फुरत्यग्रे तिष्ठन् सखि तव मुखक्षिप्तनयनः,
प्रतीक्षां कृत्वायं भवदवसरस्याघदमनः।
दृशोच्चैर्गाम्भीर्यग्रथितगुरुहेलागहनया,
हसन्तीव क्षीवे त्वमिह वनमालां रचयसि॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—दर्शन-क्रियाका अनादर दिखला रहे हैं—सूर्यपूजाके बहाने मन्दिर-प्राङ्गणमें वनमाला गूँथती हुई श्रीमतीराधिकाको देखकर श्रीकृष्ण उनके दृष्टिप्रसादके लिए प्रतीक्षा करते हुए उनकी आँखोंके सामने आकर खड़े हो गए, फिर भी स्वाभााविक सौभाग्य-गर्ववशतः श्रीमती राधिकाका अमनोयोग देखकर श्यामला श्रीराधाको आक्षेप करते हुए कहने लगी—"तुम्हारी दृष्टिपातरूपी कृपा प्राप्त करनेके लिए प्रतीक्षामें तुम्हारी ओर मुख किये हुए सतृष्ण नयनोंसे अघारि श्रीकृष्ण तुम्हारे सामने खड़े हैं। हे मदमत्ते! तुम किन्तु महागाम्भीर्ययुक्त अतिशय अवज्ञाव्यञ्जक नयनोंसे हास्य करती हुई वनमाला रचनामें ही आविष्ट हो रही हो॥"५४॥

आनन्दचन्द्रिका—कान्ते चानादरं दर्शयितुमाह—यथा वेति। श्यामला श्रीराधामाह—स्फुरतीति। वनादपराह्णे आगत्य निःसङ्ग एव तमुद्यानं प्रविश्य कदा वा वनमाला पूर्णा भविष्यति, कदा वा क्षणमवसरं प्राप्स्यामि प्राप्तेऽवसरे मम मनोरथं पूरयिष्यति नवेति ध्यायन्नित्यर्थः। त्वं तु दृशा हसन्तीव अहो कामिनः कस्य न कामातुरत्वमिति श्रीकृष्णमवजानतीवेत्यर्थः। दृशा कीदृश्या। गाम्भीर्यपुष्पैर्ग्रथिता गुरुहेलैव माला तया गहनया दुर्गमया किमियं मयि कृपावती कठोरा वेति तेन दुर्ज्ञेयभावया। क्षीवे हे मत्ते इति। मत्तानां हि दया नोत्पद्यत एवेति भावः। कराभ्यां पुष्पमालां रचयसि, दृशा दुर्ज्ञेयभावमालां च सृजसि श्रीकृष्णे तु दयां न प्रकटयसि। किं ते चरितमिदमसमञ्जसमिति व्याजस्तुतिः॥५४॥

मानेन यथा—

हरिणा सखि चाटुमण्डलीं क्रियमाणामवमन्य मन्युतः।
न वृथाद्य सुशिक्षितामपि स्वयमध्यापय गौरि शारिकाम्॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—मानहेतु विव्वोक—कलहान्तरिता गौरीसे उसकी सखीने कहा—"हे गौरि! तुमने मानवशतः श्रीहरिके चाटुपूर्ण वचनोंका भी अनादर किया, किन्तु अब यहाँ वृथा ही अपनी सुशिक्षिता सारीको हरे, कृष्ण, गोविन्द इत्यादि नामोंको क्यों पढ़ा रही हो?" यहाँ इस कथनका तात्पर्य यह है कि सारिकाको हरे, कृष्ण, गोविन्द इत्यादि नामोंको पढ़ानेके बहाने चाटुपरायण श्रीकृष्णको और अपनेको दुःखी क्यों कर रही हो?"॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरितां गौरीं प्रति तत्सखी प्राह—हरिणेति। तेन गते सति हे शारिके! हरे, कृष्ण, गोविन्देति वदेति शारिकाध्यापनमिषेण पश्चात्तापजर्ज्जरिता स्वप्राणरक्षार्थं तन्नामामृतमेवावलम्बसे इति सुशिक्षितामिति, स्वयमिति पदयोर्ध्वनिः॥५५॥

अथ ललितम्—

विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलासमनोहरा।
सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदीरितम्॥५६॥

तात्पर्यानुवाद—ललित—जिन चेष्टाओंसे अङ्गोंकी विन्यासभङ्गी, सौकुमार्य और भ्रू-विलासका मनोहरत्व प्रकट होता है उसे ललित कहते हैं॥५६॥

यथा—

सभ्रूभङ्गमनङ्गबाणजननीरालोकयन्ती लताः,
सोल्लासं पदपङ्कजे दिशि दिशि प्रेंखोलयन्त्युज्ज्वला।
गन्धाकृष्टधियः करेण मृदुना व्याधुन्वती षट्पदान्,
राधा नन्दति कुञ्जकन्दरतटे वृन्दावनश्रीरिव॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—विहारके अन्तमें श्रीराधाके लिए ही अपने हाथोंसे पुष्पमण्डन निर्माणके लिए श्रीकृष्ण पुष्पचयन कर रहे हैं। इसी समय

केलिनिकुञ्जके प्राङ्गणमें पुष्पित लता श्रेणियोंकी शोभाको देखनेके लिए धीरे–धीरे श्रीराधा वहाँ जा रही है। यह देखकर श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"यह देखो, श्रीमतीराधिका वृन्दावनकी लक्ष्मीकी भाँति कुञ्जगुहाके तटदेशमें बड़े आनन्द और उल्लासके साथ जा रही हैं। उनके होठोंपर मृदुमन्द हास्यकी सुषमा विराजमान हो रही है, वे कामबाणरूप पुष्पसमूहका उत्पादन करनेवाली लतामण्डलीका भ्रू–भङ्गीके साथ दर्शन कर रही हैं। उल्लासके अतिरेकसे चारों ओर धीरे–धीरे कभी इधर, कभी उधर पैरोंका सञ्चालन करती हुई श्रीमदङ्गसौरभसे आकृष्ट भ्रमरोंको भी अपने सुकोमल हाथोंसे दूर कर रही हैं॥"५७॥

लोचनरोचनी—प्रेङ्खोलयन्ती चालयन्ती॥५७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधाप्रसाधनार्थं पुष्पान्यवचिन्वन् श्रीकृष्णो दूरात्तामवलोक्य वर्णयति—लताः सभ्रूभङ्गं सासूयं पश्यन्ती। अत्र हेतुः अनङ्गेति। युष्माकमेव पुष्पाणि बाणान् कृत्वा तैरनङ्गो मां प्रहरतीति यूयमेव मद्वैरिण्य इति भावः। प्रेङ्खोलयन्ती चालयन्ती वृन्दावनस्य श्रीः संपत्तिरिव॥५७॥

अथ विकृतम्—

ह्रीमानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम्।
व्यज्यते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधाः॥५८॥

तत्र ह्रिया यथा—

निशमय्य मुकुन्द मन्मुखाद्भवदभ्यर्थितमत्र सुन्दरी।
न गिराभिननन्द किन्तु सा पुलकेनैव कपोलशोभिना॥५९॥

तात्पर्यानुवाद—विकृत—जहाँ लज्जा, मान और ईर्ष्यादिके द्वारा स्वविवक्षित (अपने मनसे स्थिर किया हुआ विचार) विषय प्रकाशित नहीं होता, बल्कि चेष्टा द्वारा ही व्यक्त होता है, उसीको 'विकृत' कहते हैं अर्थात् स्पष्ट रूपसे हृदयके छिपे हुए भावोंको ही विवक्षित कहते हैं॥५८॥

लज्जाहेतु विकृत—सुबलने श्रीकृष्णसे कहा—श्रीमतीराधिकाने, यद्यपि मेरे मुखसे तुम्हारी अभिलषित प्रार्थनाको अर्थात् "हे प्रिय! अब अनुग्रह प्रकाश कर गोवर्द्धनकी कन्दरामें मेरे द्वारा निर्मित आश्चर्य चित्रको दर्शन

करनेके लिए पधारो"—सुनकर वाक्यके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी अभिनन्दन नहीं किया, तथापि उनके कपोलोंकी पुलकित शोभाने ही स्पष्ट रूपसे इस बातका अभिनन्दन किया॥"५९॥

लोचनरोचनी—विवक्षितमिति। पूर्वं मोट्टायितेऽभिलाषस्य व्यक्तिरत्र तु विवक्षितमात्रस्येति भेदः। किन्तूदाहरणेषु भावस्य व्यक्तिरपि यद्दृश्यते तद्विवक्षितान्तर्गतत्वात्तेनांशेनैवेति ज्ञेयम्। केवलविवक्षितोदाहरणं तु मय्यासक्तवतीत्येव॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—विवक्षितमिति। पूर्वं मोट्टायिते कान्तवार्ताश्रवणेनाभिलाषव्यक्तिः स्वयमेव भवेदत्र तु न व्यक्तं वस्तु चेष्टया व्यज्यत इति भेदः॥५८॥

सुबलः श्रीकृष्णमाह—भवतोऽभ्यर्थितं हे प्रेयसि! हे राधे! अद्य गोवर्द्धनकन्दरायां मन्निर्मितं चित्रं द्रष्टुमवश्यमेवावगन्तव्यं यदि मामनुगृह्णासीति पुलकेनैव कस्माच्चिन्मिषाद्दर्शितेन भद्रमागमिष्यामीति ज्ञापयामासेत्यर्थः॥५९॥

यथा वा—

न परपुरुषे दृष्टिक्षेपो वराक्षि तवोचित–
स्त्वमसि कुलजा साध्वी वक्त्रं प्रसीद विवर्त्तय।
इति पथि मया नर्म्मण्युक्ते हरेर्नववीक्षणे,
सदयमुदयत्कार्पण्यं मामवैक्षत राधिका॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—विशाखा ललिताजीसे कह रही है कि राधाजी दूतियोंके निकट अपने हृदयकी छिपी हुई अभिलाषाको तो प्रकाश करती ही नहीं, बल्कि अपनी प्राणतुल्य सखियोंके निकट भी उसे अप्रकाशित ही रखती है। इसीको कैमुतिक न्यायसे दिखानेके लिए उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्वरागकी दशामें श्रीकृष्णके प्रथम दर्शनके समय विशाखाके उपदेशको सुनकर श्रीमतीराधाजीकी कैसी असूयायुक्त अतिशय दैन्यमय स्थिति हुई, उसीको विशाखाजी ललिताके निकट कह रही है कि जब मैंने राधाजीसे कहा—"हे वराक्षि राधे! तुम कुलबाला और साध्वी हो। तुम्हारे जैसी सतीके लिए अपने पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषोंके प्रति दृष्टिपात करना उचित नहीं है। प्रसन्न होकर अपने मुखको घुमा लो"—हरिके प्रथम दर्शनके समय श्रीमतीको मार्गमें परिहासपूर्वक यह बात कहनेपर वह असूयायुक्त कातरदृष्टिसे मेरी ओर देखने लगी॥"६०॥

लोचनरोचनी—इति नर्म्मण्युक्ते सति। सदयं दयासहितं दयाविषयं यथा स्यात्तथा। उदयत् कार्पण्यं यथा स्यात्तथा मामवैक्षत॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र पुलकस्य सात्त्विकत्वेन स्वभावोत्थत्वादस्पष्टचेष्टाभावात् तेन नायिकाकर्त्तृकं विज्ञापनमस्पष्टं नेत्याह—यथा वेति। विशाखा ललितां प्रति श्रीराधाचरित्रं विज्ञापयन्त्याह—न परेति। वक्त्रं विवर्त्तय परावर्त्तय। नर्म्मणि तस्या हृदयज्ञापनार्थमुक्ते सति सदयमानन्दयस्वेति प्रार्थ्यमानत्वेन दया वर्त्तते यत्र तद् यथा स्यात्तथा। उदयत्कार्पण्यमिति विशेषणसाहचर्यादैक्षतेति तथाभूतेक्षणक्रियैव चेष्टा, तया चैकवारमपि श्रीकृष्णमवलोकयितुमाज्ञापयतान्यथा जीवितुमहं न प्रभविष्यामीति स्वविवक्षितं व्यञ्जितम्॥६०॥

मानेन यथा—

मय्यासक्तवति प्रसाधनविधौ विस्मृत्य चन्द्रग्रहं,
तद्विज्ञप्तिसमुत्सुकापि विजहौ मौनं न सा मानिनी।
किन्तु श्यामलरत्नसंपुटदलेनावृत्य किञ्चिन्मुखं,
सत्या स्मारयति स्म विस्मृतमसौ मामौपरागीं श्रियम्॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—मानहेतु विकृत—एक समय द्वारकामें मानिनी सत्यभामाके मानको शान्त करनेमें श्रीकृष्ण अत्यन्त आविष्ट हो गए। दैववश उस दिन चन्द्रग्रहण होनेकी बातको भी विस्मृत होनेपर सत्यभामा अपने मानका त्याग न करके प्रकारान्तरसे उन्हें चन्द्रग्रहणकी बातको अपनी चेष्टाओंसे बतला दिया। सत्यभामाकी उस अपूर्व चेष्टाको श्रीकृष्ण बड़े कौतुकसे उद्धवके निकट कह रहे हैं—"मैं चन्द्रग्रहणकी बात सम्पूर्ण रूपसे भूलकर उनके मानको शान्त करनेके आवेशमें नियुक्त रहनेपर भी उन्होंने चन्द्रग्रहणकी बात मुझे स्मरण करानेके लिए उत्कण्ठित होनेपर भी अपने मौनका त्याग नहीं किया। फिर भी श्यामवर्ण रत्नके द्वारा निर्मित सम्पुटके ऊपर स्थित आच्छादक खण्डके द्वारा ही हास्यरहित अपने मुखको किञ्चित् ढककर मुझे चन्द्रग्रहणकी बातका स्मरण करा दिया।" यहाँपर मुखका चन्द्रत्व और श्यामवर्ण सम्पुटका राहुत्व सूचित हुआ॥६१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण उद्धवं प्रत्याह—मय्यीति। तस्य चन्द्रग्रहणस्य विज्ञप्तौ संप्रति चन्द्रग्रहणं वर्त्तते तदितो बहिर्निःसृत्य स्नानदानादिकाः क्रियाः कुर्विति विज्ञापने

समुत्सुकापि मुखमावृत्येति। मुखस्य चन्द्रत्वम्, संपुटस्य राहुत्वम्। तेन च दर्शितेनेत्यर्थः। विस्मितमिति। अहो बुद्धेरस्याः पराकाष्ठा एतज्ज्ञापनमिषेण संप्रसाधनं निराकृतवतीति मां परास्तीभूतं कृतम्॥६१॥

ईर्ष्यया यथा—

वितर तस्करि मे मुरलीं हृतामिति मदुद्धरजल्पविवृत्तया।
भ्रुकुटिभङ्गुरमर्कसुतातटे सपदि राधिकयाहमुदीक्षितः॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—ईर्ष्याहेतु विकृत—यमुनाके तटपर पुष्पचयनके लिए उपस्थित श्रीमती राधिकाके साथ जो घटना हुई थी, उसीको श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे हैं—"हे तस्करि! तुमने ही मेरी मुरलीको चुराया है। अब जल्दीसे उसे लौटा दो" यमुनाके तटपर मेरे इस प्रगल्भ वाक्यको सुनकर श्रीराधाने अपने मुखको घुमाकर तत्क्षणात् बङ्किम भृकुटीयुक्त नेत्रोंसे मेरी ओर दृष्टिपात किया।" यहाँ श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाका क्रोध ही विवक्षित है॥६२॥

लोचनरोचनी—विवृत्तया परावृत्तया॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—वितरेति। भ्रुकुटिभङ्गुरमिति यत्त्वं मे चोरिकापवादं ददासि तदहमार्य्यायै सर्वमिदमुक्त्वा सुष्ठु तुभ्यमेतत्फलं दास्यामीति भ्रुकुट्या व्यञ्जितम्॥६२॥

अलङ्कारा निगदिता विंशतिर्गात्रचित्तजाः।
अमी यथोचितं ज्ञेया माधवेऽपि मनीषिभिः॥६३॥

कैश्चिदन्येऽप्यलंकाराः प्रोक्ता नात्र मयोदिताः।
मुनेरसंमतत्वेन किन्तु द्वितयमुच्यते।
मौग्ध्यं च किंचितं चेति किंचिन्माधुर्यपोषणात्॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ तक अङ्गजात और चित्तजात बीस प्रकारके अलङ्कारोंका वर्णन किया गया। ये अलङ्कार श्रीकृष्णकी देहमें भी सञ्चारित हो सकते हैं—मनीषिलोगोंको ऐसा ही समझना चाहिए॥६३॥

अन्यान्य पण्डितगण यहाँ अन्यान्य अलङ्कारोंका विवरण देनेपर भी भरतमुनिकी उसमें असम्मति जानकर उनका मैंने यहाँ उल्लेख नहीं

किया। उनमेंसे किन्तु यत्सामान्य माधुर्यके पोषक होनेके कारण मौग्ध्य और चकित नामक दो भावविभूषाका वर्णन कर रहा हूँ॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—कैश्चित्साहित्यदर्पणकृदादिभिरन्येऽपि तपनविक्षेपकुतूहलाद्याः। मुनेर्भरतस्य॥६४॥

तत्र मौग्ध्यम्—

ज्ञातस्याप्यज्ञवत्पृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमीरितम्॥६५॥

यथा मुक्ताचरिते—

कास्ता लताः क्व वा सन्ति केन वा किल रोपिताः।
कृष्ण मत्कङ्कणन्यस्तं यासां मुक्ताफलं फलम्॥६६॥

तात्पर्यानुवाद—मौग्ध्य—प्रियतमसे अपनी किसी जानी हुई बातको भी अज्ञकी भाँति पूछनेको मौग्ध्य कहते हैं। सत्यभामाने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया—"हे कृष्ण! मेरे कंकणस्थित मुक्ताफलकी भाँति जिनका फल होता है, उन लताओंका नाम क्या है? वे कहाँ हैं और किसने उनका रोपण किया है?"॥६५–६६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीसत्यभामा श्रीकृष्णमाह—कास्ता इति॥६६॥

चकितम्—

प्रियाग्रे चकितं भीतेरस्थानेऽपि भयं महत्॥६७॥

यथा—

रक्ष रक्ष मुहुरेष भीषणो धावति श्रवणचम्पकं मम।
इत्युदीर्य मधुपाद्विशङ्किता सस्वजे हरिणलोचना हरिम्॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—चकित—भयका कारण नहीं रहनेपर भी प्रियतमके सामने महाभयको प्रकाश करना चकित कहलाता है। कोई सखी अपनी किसी सखीसे कह रही है—"रक्षा करो, रक्षा करो! मेरी रक्षा करो! यह भयङ्कर मधुकर मेरे कानोंमें स्थित चम्पकपुष्पके प्रति बड़े वेगसे बारम्बार आक्रमण कर रहा है। बचाओ! बचाओ!"—ऐसा कहकर मधुकरके भयसे अत्यन्त भीता हिरणाक्षीने हरिका आलिङ्गन किया।"

यहाँपर चम्पकपुष्पपर भ्रमरका पतन असम्भव है; क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि चम्पकपुष्पका मधु उसके लिए विषक्रिया करता है। इसलिए नाट्यशास्त्रमें चम्पकपुष्पके ऊपर मधुप-पतनका वर्णन नहीं पाया जाता। तथापि अपने मुखसौरभसे आकृष्ट भ्रमरको देखकर ही नायिकाके मनमें ऐसा भाव हुआ कि उसके कर्णभूषण स्वरूप चम्पकके प्रति ही भ्रमरकी स्पृहा हो रही है॥"६७-६८॥

लोचनरोचनी—चम्पकस्य मधुपास्पृहणीयत्वेऽपि विलासादेव तथोक्तिरित्य-स्थानत्वमितिस्पष्टम्। हल्लकमिति वा पाठः॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित्सखी कांचिदाह—रक्ष रक्षेति। एष मधुपः। यद्यपि मधुपश्चम्पकं न धावति तथापि स्वमुखामोदेनागतस्य तस्य तथावगमात्तथोक्तम्॥६८॥

इति अलंकारविवृतिः

अथोद्भास्वराः

उद्भासन्ते स्वधाम्नीति प्रोक्ता उद्भास्वरा बुधैः॥६९॥

नीव्युत्तरीयधम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनम्।
जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासाद्याश्च ते मताः॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—उद्भास्वरभाव—भावविशिष्ट जनकी देहमें जो विशेष रूपसे प्रकाशित होता है, पण्डितजन उसे उद्भास्वर कहते हैं॥६९॥

नीवि, उत्तरीयवसन और धम्मिल्ल इत्यादिका स्खलन, गात्रमोटन, जृंभा, नासिकाकी प्रफुल्लता, दीर्घनिःश्वास, विलुठित (जूड़ा), गीत, आक्रोशन, लोकानपेक्षिता, घूर्णा और हिक्का इत्यादिको उद्भास्वर कहते हैं॥७०॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्भासन्ते प्रकाशन्ते। 'स्थेशभास-' इत्यादिना वरच्। स्वधाम्नि भाववज्जनदेहे। आद्यशब्देन विलुठितगीतक्रोशनलोकानपेक्षिता घूर्णाहिक्कादयो ज्ञेयाः॥७०॥

तत्र नीविस्रंसनं यथा विदग्धमाधवे—

नैरञ्जन्यमुपेयतुः परिगलन्मोदाश्रुणी लोचने,
स्वेदोद्धूतविलेपनं किल कुचद्वन्द्वं जहौ रागिताम्।

योगौत्सुक्यमगादुरः स्फुरदिति प्रेक्ष्योदयं संगिनां,
राधे नीविरियं तव श्लथगुणा शङ्के मुमुक्षां दधे॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—नीविस्रंसन—नीविका खिसकना ही नीविस्रंसन कहलाता है। गौरीतीर्थमें परस्पर विहार करते हुए श्रीराधाकृष्णको निकटसे देखकर वृन्दाने धीरे-धीरे श्रीराधाके कानमें कहा—हे राधे! निरन्तर आनन्दाश्रुओंको पोंछते-पोंछते तुम्हारे नेत्र निरञ्जनत्व (कज्जल-हीनता पक्षान्तरमें निरुपाधिता) को प्राप्त हो रहे हैं। तुम्हारे दोनों वक्षोज भी स्वेदजलसे अभिसिक्त होकर कुङ्कुम चर्चाको धौतकर रागिता (रक्तवर्णता पक्षमें विषयासक्ति) त्याग कर रहे हैं। वक्षःस्थलने पुनः-पुनः स्पन्दित होनेके कारण श्रीकृष्णके साथ योगौत्सुक्य (मिलन विषयक उत्कण्ठा पक्षमें अष्टाङ्गयोगका आग्रह) प्राप्त किया है। इस प्रकारसे स्वसङ्गी नयनादिकी सम्पत्तिको देखकर तुम्हारी यह नीवि भी श्लथगुण होकर (सूत्रबन्धनको ढीला कर, पक्षान्तरमें सत्त्वादि गुणोंके बन्धनको काटकर) मुमुक्षाको ही (खुल जानेकी इच्छा, पक्षान्तरमें संसारसे मुक्तिकी इच्छा) मानो अङ्गीकार कर रही है॥"७१॥

लोचनरोचनी—नैरञ्जन्यमिति। अत्र श्लेषपक्षे तेषामधिकारिणां क्रमान्न्यूनत्वमवगतम्। तच्च नीव्याः क्रमप्राप्तं प्रथमारम्भं बोधयितुं कृतम्। उदयं स्वस्वाधिकारानुरूपप्रकाशम्॥७१॥

आनन्दचन्द्रिका—गौरीतीर्थे श्रीकृष्णेन सह विहरन्तीं श्रीराधां दूरादालोक्य वृन्दा तां नीचैः संबोध्य वर्णयति—नैरञ्जन्यमञ्जनमुपाधिरविद्या तद्राहित्यम्। संसारान्मोक्षमित्यर्थः। पक्षे निष्कज्जलत्वम्। तत्रोभयत्र हेतुः—परिगलदिति। मोदाश्रूणि भक्तिसुखोत्थानि कामसुखोत्थानि च। रागितां रागो विषयासक्तिस्तद्वत्तां कुङ्कुमरागवत्तां च जहौ। तत्रोभयत्र हेतुः स्वेदो भक्तिसुखोत्थः कामसुखोत्थश्च तेनोद्धूतं खण्डितं विशिष्टं लेपनं लेपो विषयेन्द्रियसंसर्गः, पक्षे चन्दनकुङ्कुमादिमयी चर्चा यत्र तत्। योगेऽष्टाङ्गयोगे श्रीकृष्णवक्षःस्पर्शे च। तत्रोभयत्र हेतुः स्फुरद्देदीप्यमानं धृतस्पन्दनं चेति सङ्गिनां चतुर्णामुदयं मोक्षसुखसंपत्तिं कामसुखसंपत्तिं च। गुणः सत्त्वादि सूत्रं च। मुमुक्षां मोक्षस्पृहां स्खलनेच्छां च। अत्र नेत्रकुचर्नीवीनां क्रमेण ज्ञानदौर्बल्यान्मोक्षसुखे कामसुखे च क्रमेणैव न्यूनाधिकारित्वं व्यञ्जितम्॥७१॥

उत्तरीयस्रंसनं यथा—

तव हृदि मम रागात्कोऽपि रागो गरिष्ठः,
स्फुरति तदपसृत्य व्यक्तमेतं करोमि।

इति खलु हृदयात्ते राधिके रोधकारि,
च्युतमिव पुरतो मे मञ्जु माञ्जिष्ठवासः ॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—उत्तरीय स्त्रंसन—श्रीकृष्णके दर्शनसे जब श्रीराधाका उत्तरीयवस्त्र स्खलित हुआ, तब उसे देखकर श्रीकृष्ण परिहासपूर्वक बोले—"राधे! मेरे अनुरागकी अपेक्षा भी गरिष्ठ कोई राग तुम्हारे हृदयमें स्फूर्ति पा रहा है। अतएव मैं किञ्चित् हटकर इस रागको प्रकाश करता हूँ। यह कहकर थोड़ा-सा हट गए और कहने लगे कि 'हे राधे! देखो, तुम्हारा मनोहर मञ्जिष्ठा रागरञ्जित उत्तरीयवसन, जो तुम्हारे वक्षःस्थलका आवरण कर रहा था, वह अब मेरे सामने स्खलित होकर गिर रहा है॥"७२॥

लोचनरोचनी—इति वेत्यन्वयः ॥७२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः स्वदर्शनेन श्रीराधाया उत्तरीयस्खलनमवलोक्य तां परिहसति—तवेति। हे राधे! तव माञ्जिष्ठं मञ्जिष्ठया रक्तं वासः कर्त्तृ। मम पुरतस्तव हृदयात् इति विचार्य्य च्युतं निःसृतम्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। तत्र वासोवदति मम रागात् रक्तिम्नः सकाशात्, पक्षे क्रोधात्तव हृदि रागः कोऽप्यनिर्वचनीयो रागः स्फुरति। ततस्तस्मादितोऽपसृत्य एतं रागं व्यक्तं लोकदृष्टं करोमीति तेन च प्रेयसि राधे! तव वास ईर्ष्यया चेदपसृतमपसरतु का चिन्ता, संप्रति मम हृदयमेव सौहार्देन एतं रागमाच्छादयत्विति सहसा तामालिलिङ्गेति ध्वनिः ॥७२॥

धम्मिल्लस्त्रंसनं यथा—

स्फुरति मुरद्विषि पुरतो दुरात्मनामपि विमुक्तिदे गौरि।
नाद्भुतमिदं यदीयुः संयमिनस्ते कचा मुक्तिम् ॥७३॥

तात्पर्यानुवाद—धम्मिल्ल स्त्रंसन (चूड़ाके स्त्रंसनका उदाहरण)—मुक्त-वेणी श्रीराधिकासे वृन्दा परिहास-रङ्गसे बोली—"हे गौरि! मुररिपु सामने विराजमान होनेपर जब दुरात्माओंका भी संसार-बन्धन खुल जाता है, उनकी मुक्ति हो जाती है, तब तुम्हारा केश-बन्धन मुक्त हो जायेगा—इसमें आश्चर्यकी बात क्या है?" ॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीराधां सनर्म्माह—स्फुरतीति। संयमिनो वशीकृतेन्द्रियाः, पक्षे बद्धाः ॥७३॥

गात्रमोटनं यथा—

व्रजाङ्गने वल्लवपुङ्गवस्य पुरः कुरङ्गीनयना सलीलम्।
अप्यङ्गभङ्गं किल कुर्वतीयमनङ्गभङ्गं तरसा व्यतानीत्॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—गात्रमोटन—सायंकाल वृन्दावनसे अपने गोष्ठाङ्गनमें लौटकर गोदोहनके लिए अवस्थित श्रीकृष्णके दर्शनसे अङ्गड़ाई लेती हुई किसी व्रजदेवीको देखकर नान्दीमुखी वृन्दासे कहने लगी—"इस गोष्ठके चबूतरेपर गोपश्रेष्ठ श्रीकृष्णके सामने ही यह मृगनयना लीलाके साथमें अङ्गड़ाई लेनेपर भी उससे अनङ्गभङ्ग अर्थात् कामकृत तरङ्गमाला ही विस्तारित हुई॥"७४॥

लोचनरोचनी—अङ्गभङ्गं गात्रमोटनम्, अनङ्गभङ्गं कामतरङ्गम्॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी वृन्दामाह—व्रजेति। अङ्गभङ्गं गात्रमोटनम्। अनङ्गभङ्गं कन्दर्पतरङ्गम्॥७४॥

जृम्भा यथा—

पुष्पैरवेत्य विशिखैर्भवतीमसाध्यां,
साध्वीमधीत्य मदनः किल जृम्भणास्त्रम्।
चन्द्रावलि प्रसभमेव वशीचकार,
यद्गोष्ठसीमनि मुहुः सखि जृम्भसेऽद्य॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—जृम्भा—चन्द्रावली श्रीकृष्णका दर्शन करते समय बारम्बार जृम्भा (जम्भाई) ले रही थी, चन्द्रावलीकी ऐसी अवस्था देखकर स्वयं श्रीकृष्ण कह रहे हैं—हे सखि चन्द्रावलि! कामदेवने तुम साध्वीको पुष्पबाणके प्रयोगसे अवशीभूत जानकर निश्चय ही जृम्भनरूप महास्त्रकी शिक्षाकर उससे हठात् तुम्हें वशीभूत कर दिया है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर इस गोष्ठके बीच केवल तुम ही पुनः-पुनः जम्भाई क्यों लेती?॥७५॥

लोचनरोचनी—अधीत्येत्यत्र प्रयुज्येति पाठान्तरम्॥७५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णश्चन्द्रावलीमाह—पुष्पैरिति। असाध्यामवश्याम-धीत्य स्वशस्त्रगुरोः सकाशात् पठित्वा स्वयमेवाधिगत्येति वा॥७५॥

घ्राणफुल्लत्वं यथा—

रचितशिखरशोभारम्भमम्भोरुहाक्षी,
श्वसितपवनदोलान्दोलिना मौक्तिकेन।
पुटयुगमतिफुल्लं बिभ्रती नासिकायां,
मम मनसि विलग्ना दर्शनादेव राधा॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—घ्राणफुल्लता—सायंकाल वृन्दावनसे व्रजमें प्रवेश कर रहे श्रीकृष्णके दर्शन करके नाना प्रकारसे विकारग्रस्ता श्रीराधाकी स्वाभााविक चेष्टा–माधुरीसे आकृष्टचित्त होकर श्रीकृष्ण स्वयं सुबलसे बोले—"हे बन्धु, हे सखे! कमलनेत्रा श्रीमतीराधिका अपने प्रफुल्लित नासापुटमें धारण किए गए गजमौक्तिकके द्वारा अत्यन्त शोभाका विस्तार कर रही हैं, वह निःश्वास–वायुसे दोदुल्यमान होकर अत्याश्चर्य सौन्दर्यको धारण कर रहा है। अतएव, हे सखे! श्रीराधाकी वह छवि मेरे हृदयमें बँधकर रह गई हैं॥"७६॥

लोचनरोचनी—रचितेति। श्रीकृष्णस्य भावना। आरम्भशब्दोऽत्र परिपाटीतात्पर्यकः। युगशब्दोऽत्र मौक्तिकस्य तत्तत्पुटमध्यस्थत्वं मर्यादायां कृतं छिद्रमवलम्ब्य बोधयति॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—रचितेति। पुटयुगं कीदृशम्? मौक्तिकेन नासालंकारवर्त्तिना अधरारुण्योपरक्तेन रचितः शिखरस्य पक्वदाडिमबीजाभस्य माणिक्यस्येव शोभारम्भो यत्र तत्। पुटयुगस्य स्वच्छत्वान्मौक्तिकनिष्ठश्वेतिम्नो रक्तिमच्छविलग्नत्वादित्यर्थः। ननु नासालंकारो वामनासापुटाग्रस्थ एव भवेत् कथं पुटयुगं तथाभूतमभूदित्यत आह—श्वसितपवनो निश्वासानिल एव दोला प्रेङ्खा तया आन्दोलनशीलेन। तेनाग्रवर्त्तिनो मौक्तिकस्यान्दोलनात् पुटद्वयस्यापि तच्छविलग्नत्व–संभवः॥७६॥

यद्यप्येते विशेषाः स्युर्मोट्टायितविलासयोः।
शोभाविशेषपोषित्वात्तथापि पृथगीरिताः॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—यद्यपि ये उद्भास्वरसमूह मोट्टायित और विलासके ही भेद हैं, तथापि शोभा विशेषके पोषक होनेके कारण इनका पृथक् रूपसे वर्णन किया गया है॥७७॥

आनन्दचन्द्रिका—पृथगित्युद्भास्वरशब्देनोच्यन्त इत्यर्थः। आदिशब्दगृहीत–विलुठिताद्युदाहरणानि—"नवानुरागेण तवावशाङ्गी वनस्रजामोदमवाप्य मत्ता। व्रजाङ्गने सा कठिने लुठन्ती गात्रं सुगात्री व्रणयांचकार॥" इत्यादीनि भक्तिरसामृतादेवावगन्तव्यानि॥७७॥

अथ वाचिकाः—

आलापश्च विलापश्च संलापश्च प्रलापकः।
अनुलापोऽपलापश्च संदेशश्चातिदेशकः॥७८॥

अपदेशोपदेशौ च निर्देशो व्यपदेशकः।
कीर्त्तिता वचनारम्भा द्वादशामी मनीषिभिः॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—वाचिकानुभाव—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश—इन बारहको मनीषिगण वाचिक अनुभाव कहते हैं॥७८–७९॥

तत्रालापः—

चाटुप्रियोक्तिरालापः॥८०॥

यथा श्रीदशमे—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत,
संमोहितार्य्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं,
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—आलाप—चाटुकारितापूर्ण प्रिय वचनको आलाप कहते हैं॥८०॥

उदाहरण—यद्यपि श्रीकृष्णने स्वयं ही रासलीलाके लिए व्रजदेवियोंको अपनी मधुर वंशीकी तानके द्वारा बुलाया था, उनकी काकुमिश्रित वाक्यमाधुरीको श्रवण करनेकी अभिलाषासे प्रारम्भमें अपनी कृत्रिम उदासीनताको भी व्यक्त किया था, तथापि गोपियोंने अनुरागपूर्ण स्वभावके कारण उनकी दुर्लभत्व स्फूर्तिसे उस कृत्रिम उदासीनताको भी सच समझा तथा उन्होंने जो औपपत्य भावकी निन्दा की, उसीके उत्तरस्वरूप चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे कहा—"हे कृष्ण! त्रिभुवनमें ऐसी कौन-सी रमणी है, जो तुम्हारे वेणुगीतकी मधुर स्फोटध्वनिके आकर्षणसे—जो अमृतकी

तरह स्वादु और मादक है—विवेकशून्य होकर पातिव्रत्य धर्मको तिलाञ्जलि न दे। अधिकन्तु तुम्हारा यह जो त्रिभुवनवासियोंके सौन्दर्य-सारस्वरूप सर्वविलक्षण रूप है, उसे भलीभाँति दर्शनकर कौन नहीं विचलित होगा? त्रैलोक्यवासिनी रमणीमात्रका ही यदि ऐसा चित्त-विभ्रम हो जाता है, तब इस पृथ्वीमें, उसमें भी इस जम्बुद्वीपमें, उसमें भी भारतखण्डमें, उसमें भी ब्रजमें उत्पन्ना सामान्यजातिकी अर्थात् गोपजातिकी होकर तुम्हारी ही कान्तातुल्या, तुम्हारे लिए ही यथा-सर्वस्वको त्याग करनेवाली हमारे लिए यह कौन-से दोषकी बात हुई? अहो! और भी बड़ी विचित्र बात है कि तुम्हारे वेणु-कलनाद और रूपमाधुरीसे मोहित होकर गाय और हिरणादि पशुगण, मोर, कोयल और पपीहे आदि पक्षीगण और स्थावर भी पुलकित होकर अपने-अपने धर्मोंसे विचलित हो रहे हैं। जड़ जङ्गम और जङ्गम जड़की भाँति हो रहे हैं, तब तुम्हारी सजातीय हम गोपियोंके लिए यह दोषकी बात कैसे हो गई?" ॥८१॥

लोचनरोचनी—अबिभ्रन् अबिभरुः ॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रजदेव्यः श्रीकृष्णमाहुः—का स्त्रीति। वेणुगीतेति। गुणानां मोहनत्वम्। त्रिलोक्यामिति। दूरवर्त्तिनीषु स्त्रीषु निरीक्ष्य। रूपमिति। निकटवर्त्तिनीषु गुणस्य रूपस्य च। ननु न केवलं मन्निष्ठयो र्गुणरूपयोरेव मोहनत्वम्, स्त्रीनिष्ठस्य कामस्यापि तत्र साहाय्यदानादि चेत्तत्राहुः—गोद्विजेति। गावः पक्षिणो मृगाश्च द्रुमाश्च मुह्यन्तीति तेषां कुतः काम इति। कृपया अस्मानङ्गीकुर्विति भावः। ननु नायिकानां संभोगप्रार्थनामयी चाटुप्रियोक्ती रसाभासस्तस्मादरसिका युष्मानङ्गीकरोमीति चेत्तत्र सरस्वत्येव समादधाति—गीतसंमोहितेति। त्वया मुरलीगीतेनोन्माद्य मोहितानामासां स्वभावविपर्ययः कृतः। तेन मधुपानेनोन्मादितानां वधूनां निर्लज्जता संभोगप्रार्थनाद्या न दोषाः प्रत्युत रसावहत्वाद्गुणा एव यथा तथैवासामपीति भावः॥८१॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

> **कठोरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके।**
> **अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गतिः ॥८२॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाओंके चाटुकारीपूर्ण प्रियवचनोंका उदाहरण देकर श्रीकृष्णके भी श्रीराधाके विषयमें चाटुकारीपूर्ण प्रियवचनोंका

उदाहरण दे रहे हैं। अपने और वृन्दाके शत-शत अनुनय-विनयसे कुछ शिथिल मानवती श्रीमतीराधिकासे श्रीकृष्ण विनयके साथ चाटुकारितापूर्ण प्रियवचनोंसे कह रहे हैं—"हे प्राणेश्वरि! तुम निष्ठुर हो या मृदु हो, किन्तु तुम मेरी प्राण स्वरूपा हो; क्योंकि चन्द्रलेखाके बिना चकोरकी और कोई दूसरी गति नहीं हो सकती॥"८२॥

आनन्दचन्द्रिका—नायकस्य तु चाटुप्रियोक्तिर्नायिकायां स्वत एव सुरसेति वक्तुमाह—यथा वेति। चन्द्रलेखामिति द्वितीया। चन्द्रमपि विना किं पुनः पूर्णचन्द्रमिति भावः॥८२॥

अथ विलापः—

विलापो दुःखजं वचः॥८३॥

यथा श्रीदशमे—

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—विलाप (दुःखसे उत्पन्न वचन)—जिस समय उद्धव व्रजसे आ रहे थे, उस समय व्रजदेवियोंने उनसे कहा—"नैराश्यमें ही सुख है—यह बात स्वैरिणी होनेपर भी पिङ्गलाने कही है। ऐसा सुनकर यदि उद्धव कहे, ठीक है! मैं पूछता हूँ, तुमलोग तो परम साध्वी हो, महाकुलमें जन्मी हो, तुमलोग भी पिङ्गलाकी भाँति अपने मनको स्थिर क्यों नहीं कर पा रही हो?" इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—"निराशामें ही सुख है, ऐसा जाननेपर भी पशु-पक्षी, स्थावरादि सबके आकर्षक उन गोविन्दसे मिलनकी आशा छोड़ देना हमारे लिए असम्भव है॥"८३-८४॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवयाने गोप्य आहुः—परमिति। श्रीकृष्णे आशा तु दुरतिक्रमेति पिङ्गलायाः श्रीकृष्णविषयिण्याशा नासीदिति। तस्या अस्माकमिव न दुःखमिति भावः॥८४॥

संलापः—

उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलाप इति कीर्त्यते॥८५॥

यथा पद्यावल्याम्—

उत्तिष्ठारात्तरौ मे तरुणि मम तरोः शक्तिरारोहणे का
साक्षादाख्यामि मुग्धे तरणिमिह रवेराख्यया का रतिर्मे।

वार्तेयं नौप्रसङ्गे कथमपि भविता नावयोः संगमार्था
वार्तापीतिस्मितास्यं जितगिरमजितं राधयाराधयामि ॥८६ ॥

तात्पर्यानुवाद—संलाप—उक्ति-प्रत्युक्तियुक्त वचनोंका प्रयोग ही संलाप कहलाता है॥८५॥

उदाहरण—गोवर्द्धनकी तलहटीमें मानसीगङ्गाके घाटपर नौका-केलिविनोदके लिए नाविकका वेश बनाकर आए हुए श्रीकृष्णके साथ श्रीमतीराधिकाका संलाप। श्रीकृष्णने कहा—"हे तरुणि! निकटमें ही मेरी नौका (तरौ) प्रस्तुत है, उसमें आरोहण करो। मैं तुम्हें पार कर दूँगा।" श्रीमतीराधिकाने 'तरौ' का अर्थ वृक्ष लेते हुए कहा कि वृक्षपर आरोहण करनेकी मुझमें शक्ति कहाँ है? श्रीकृष्णने कहा—"हे मुग्धे! तरु नहीं, स्पष्ट करके ही मैं कह रहा हूँ, इस तरणीमें आरोहण करो।" श्रीराधा 'तरणि' शब्दसे सूर्यका अर्थ ग्रहण कर बोली—"मुझे सूर्यसे क्या तात्पर्य है?" तब श्रीकृष्णने कहा—"अरी राधाजी! मैं नौकामें बैठनेके लिए तुम्हें प्रस्ताव दे रहा हूँ। शीघ्र ही नौकामें बैठ जाओ।" श्रीराधा 'नौ' शब्दसे हम दोनोंके लिए अर्थ लगाकर बोली—"हम दोनोंके सङ्गमके लिए किसी वार्त्तालापकी सम्भावना नहीं है।" इस प्रकार श्रीमतीराधिकाकी अद्भुत प्रतिभाका दर्शनकर वाक्यालापमें पराजित और हँसते हुए अजित श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाजीकी आराधना करता हूँ॥८६॥

लोचनरोचनी—तरावुत्तिष्ठ तरुमधिकृत्योर्द्ध्वस्थितिं कुर्वित्यर्थः॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—मानसगङ्गायां नौकाकेलिविनोदी श्रीकृष्णः श्रीराधामाह—उत्तिष्ठेति। मम तरौ नौकायामुत्तिष्ठ आरोहणं कुरु। ततः श्रीराधा वक्रोक्तिप्रतिभया तरावित्यस्यार्थान्तरं दर्शयन्ती तं प्रत्याह—तरोर्वृक्षस्यारोहणे मम का शक्तिः। श्रीकृष्ण आह—मुग्धे! मद्वचनानभिज्ञे, अहं तरणिं नौकामाख्यामि त्वं तरुं कथं प्रत्येषीति भावः। श्रीराधाह—रवेराख्ययेति। तरणिशब्देन रविं प्रत्येमीति भावः। श्रीकृष्ण आह—इयं नौप्रसङ्गे वार्त्ता अत्र नौशब्दस्यानेकार्थत्वाभावात् कथमर्थान्तरं कल्पयिष्यसीति। श्रीराधाह—कथमपीति। नौप्रसङ्गे आवयोः प्रसङ्गे वार्त्ता इति किं त्वं ब्रूषे इति भावः। इति तदनन्तरं स्मितास्यं प्रत्युत्तरदानाशक्तेः स्मितमेव स्वपराभवगोपनार्थं कुर्वन्तमित्यर्थः॥८६॥

प्रलापः—

व्यर्थालापः प्रलापः स्यात् ॥८७ ॥

यथा—

करोति नादं मुरली रली रली
व्रजाङ्गनाहृन्मथनं थनं थनम्।
ततो विदूना भजते जते जते
हरे भवन्तं ललिता लिता लिता ॥८८ ॥

तात्पर्यानुवाद—प्रलाप—व्यर्थ आलापको प्रलाप कहते हैं। मधुपानसे उन्मत्ता श्रीराधा श्रीकृष्णसे कह रही हैं—"हे कृष्ण! मैं जानती हूँ कि तुम्हारी मुरली 'रली-रली' व्रजाङ्गनाओंके हृदयको मन्थन 'थन-थन' शब्द प्रकाश करती है और इसीलिए ललिता 'लिता-लिता' दुःखी होकर तुम्हारा भजन 'जन-जन' कर रही है।" यहाँ 'रली-रली, थन-थन, जते-जते, लिता-लिता' प्रभृति शब्द निरर्थक हैं॥८७-८८॥

आनन्दचन्द्रिका—मधुपानेनोन्मत्ता श्रीराधा श्रीकृष्णमाह—करोतीति। अत्र रली रली थनं थनं जते जते लिता लितेति शब्दा व्यर्थाः॥८८॥

अनुलापः—

अनुलापो मुहुर्वचः ॥८९ ॥

यथा—

कृष्णः कृष्णो नहि नहि तापिञ्छोऽयं वेणुर्वेणुर्नहि नहि भृङ्गोद्घोषः।
गुञ्जा गुञ्जा नहि नहि बन्धूकाली नेत्रे नेत्रे नहि नहि पद्मद्वन्द्वम् ॥९० ॥

तात्पर्यानुवाद—अनुलाप—बारम्बार एक ही कथनको अनुलाप कहते हैं। पुष्पचयनके छलसे श्रीकृष्णसङ्गकी प्राप्तिकी अभिलाषासे वृन्दावनमें उपस्थित हुई श्रीमतीराधिका अपने हृदयमें श्रीकृष्ण-भावनासे विभावित होकर वहाँ तमालवृक्षमें श्रीकृष्णबुद्धि और कमल-पुष्पमें उनके नेत्रोंकी भावना करती हुई पहले उनका नाम लेकर पीछे निश्चय करती हैं—"क्या ये दोनों नेत्र हैं? नहीं-नहीं! ये दोनों कमल हैं। क्या ये गुञ्जा हैं? नहीं-नहीं! ये बांधुलीपुष्प हैं। क्या यह वेणु है? नहीं-नहीं! यह भ्रमरोंकी

झँकार है। क्या ये श्रीकृष्ण हैं? नहीं–नहीं यह तमालका वृक्ष है॥"८९–९०॥

लोचनरोचनी—तापिञ्छसंगतस्थलपद्मं पुष्पितबन्धूकं च दृष्ट्वा भ्रान्त्या प्रलपन्तीं कांचित् प्रति काचिदाह—नेत्रे नेत्रे इति॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—वन्धूकस्थलकमलाभ्यां मिलितं कमपि तमालपोतमालोक्य श्रीराधा ललितां दर्शयन्ती सहर्षौत्सुक्यावेगमाह—कृष्णः कृष्ण इति। पश्चात् स्वयमेव विचार्य्य निश्चिनोति—नहि नहि किन्तु तापिञ्छस्तमालोऽयम्। एवं पादत्रयेऽपि निश्चयान्तसंदेहोऽयम्। यद्वा प्रथमत एव निश्चिनोति—कृष्णः कृष्ण इति। अतोऽयं नहि नहि तापिञ्छ इति। एवं सर्वत्र॥९०॥

अपलापः—

अपलापस्तु पूर्वोक्तस्यान्यथा योजनं भवेत्॥९१॥

यथा—

फुल्लोज्ज्वलवनमालं कामयते का न माधवं प्रमदा।
हरये स्पृहयसि राधे नहि नहि वैरिणि वसन्ताय॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—अपलाप—पूर्वोक्त वचनोंकी दूसरे प्रकारसे योजनाको अपलाप कहते हैं। मानिनी श्रीराधाकी विशाखासे निर्जनमें स्वाभिलाषोक्ति—"फुल्ल और उज्ज्वल वनमाला शोभी (पक्षान्तरमें पुष्पित और उज्ज्वल अरण्यश्रेणी विशिष्ट) माधवको (श्रीकृष्णको अर्थान्तरमें वसन्तको) कौन प्रमदा अभिलाषा नहीं करती?" ललिता उनकी बात सुनकर कह रही हैं—"तब क्या हे राधे! तुम श्रीकृष्णकी कामना कर रही हो।" उस समय श्रीराधा अपने पूर्वोक्त वचनोंका अन्य प्रकारसे अर्थ लगाकर (माधवका अर्थ वसन्त) कहने लगीं—"हे वैरिणि! मैं वसन्तकी बात कह रही हूँ॥"९१–९२॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वोक्तस्य प्रथमं स्वेनैवोक्तस्य वाक्यस्य पुनः स्वेनैवान्यथा योजनमन्यार्थकरणमिति संलापादसौ भिद्यते॥९१॥

कलहान्तरिता श्रीराधा सौत्सुक्यं रहसि विशाखामाह—फुल्लेति। तदैवाकस्मादागत्य ललिता सोपहासमाह—हरय इत्यादि। पुनः सभयप्रतिभं श्रीराधा तां प्रत्याह—नहि

नहीति। हे वैरिणि, इदमपि प्रवादं दातुं त्वं समर्थासि इति भावः। अहं तु वसन्ताय स्पृहयामि। फुल्ला उज्ज्वला वनानां माला श्रेणी यतस्तस्मै माधवायेति। माधवशब्देन मया वसन्त एवाभिप्रेत इति भावः॥९२॥

संदेशः—

संदेशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्ताप्रेषणं भवेत्॥९३॥

यथा—

व्याहर मथुरानाथे मम संदेशप्रहेलिकां पान्थ।
विकला कृता कुहूभिर्लभते चन्द्रावली क्व लयम्॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—सन्देश—परदेशमें गए हुए कान्तके पास अपनी वार्त्ताके भेजनेको 'संदेश' कहते है।

पद्मा मथुरामें विराजमान श्रीकृष्णके निकट प्रहेलिकाके रूपमें सन्देश प्रेरणके लिए एक पथिकको कह रही है—हे पथिक! मथुरानाथके निकट मेरे एक सन्देश-प्रहेलिकाको सुनाना—कुहू समूह द्वारा (अमावस्या द्वारा, पक्षान्तरमें कोकिलोंकी कुहू-ध्वनि द्वारा) चन्द्र-श्रेणी (पक्षान्तरमें चन्द्रावली सखी) विकला (कलाहीन, पक्षान्तरमें व्याकुला) होते-होते कहाँ लय हो जाए?॥९३-९४॥

लोचनरोचनी—व्याहरेति। चन्द्रावलीसख्या उक्तिः। कुहूः कोकिलध्वनिरमावास्या च। चन्द्रावली तन्नाम्नी चन्द्रश्रेणी च। विकला वैकल्ययुक्ता कलाहीना च। विकला कृता चेत् तदा क्व लयं लभत इति प्रश्नः। कृष्णाख्ये पक्षे हराविति तु प्रत्युत्तरमुद्देश्यम्॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितस्य प्रवासगतस्य कान्तस्य स्थाने॥९३॥

पद्मा श्रीकृष्णं संदिशति—व्याहर मथुरानाथ इति। श्रीनन्दगोकुलं क्लिश्यतु नश्यतु वा तत्र तस्य न कापि क्षतिरिति भावः। किन्तु स आत्मानमतिसुबुद्धिमन्तं मन्यत इत्यतो मे प्रहेलिकां वदत्विति भावः। कुहूभिरमावास्याभिः कोकिलध्वनिभिश्च विकला कलाहीना वैकल्ययुक्ता च कृता चन्द्रावली चन्द्रश्रेणी तन्नाम्नी गोपी च कुत्र लयं लभत इति। ततश्च तदुत्तररूपं पद्यं श्रीकृष्णेन तस्यै प्रेषितम्। तद्यथा—"चन्द्रावली चेद्विकलीकृता स्यात् कुहूभिराप्नोति हरौ लयं सा। हरिर्विवस्वानघमर्दनश्च लयः क्षयः स्यादुपगूहनं च॥" इति। तेन प्रहेलिकाप्रेषणमिषेण स्वसख्या दशां ज्ञापयन्तीनां किमुपालभसे अहं तु तत्र शीघ्रं गमिष्यन्नथ च नित्यमेव त्वत्सख्या सह रमे रमयामि

च। सापि च स्फूर्तिं स्वप्नं वा मन्यत इति सैव चन्द्रावली रहसि तत्त्वतः प्रष्टव्येति ध्वनिः ॥९४॥

अतिदेशः—

सोऽतिदेशस्तदुक्तानि मदुक्तानीति यद्वचः ॥९५॥

यथा—

वृथा कृथास्त्वं विचिकित्सितानि मा गोकुलाधीश्वरनन्दनात्र।
गान्धर्विकाया गिरमन्तरस्थां वीणेव गीतिं ललिता व्यनक्ति ॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—अतिदेश—उसकी उक्ति ही मेरी उक्ति है, ऐसी बातोंको अतिदेश कहते हैं ॥९५॥

श्रीराधाके मानिनी होनेपर जब कृष्ण उनको प्रणाम आदिके द्वारा मना रहे थे, तब ललिता श्रीकृष्णसे कहती है—"तुम श्रीराधाको प्रणाम क्यों कर रहे हो? यहाँसे शीघ्र चले जाओ।" ललिताका कठोर वचन सुनकर श्रीकृष्ण श्रीराधाके वचनोंकी प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहे। इसपर वृन्दा कहती है—"हे व्रजराज! आप सन्देह न करें। ललिताजी राधाके हृदयकी बातको वीणाकी तरह व्यक्त कर रही हैं ॥९६॥

लोचनरोचनी—वृथेति। स्वयमेव रचयित्वा ललितेयं वदतीति निष्प्रयोजनतया प्रतीतानि विचिकित्सितानि संदेहान्। ललितेति स्वनाम्ना स्वमेवोद्दिष्टम् ॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्रीराधां प्रणत्यादिभिः प्रसादयन्तं श्रीकृष्णं किमिह राधां प्रणमसि इतः शीघ्रमपसर तत्रैव गत्वा तस्या एव पदयोर्मुहुः मुहुः पतेति ललिता परुषोक्त्याप्यगच्छन्तं श्रीराधिकामुखादुदेष्यमाणं किंचन वचनं प्रतीक्षमाणं तं प्रति वृन्दाह—वृथेति। विचिकित्सितानि श्रीराधा स्वमुखेन किंचिन्मधुरं वा मां वक्ष्यतीति वृथा संदेहान् मा कृथाः। "विचिकित्सा तु संशयः" इत्यमरः। यतो राधाया अन्तरस्थां हृदयस्थां गिरं ललिता स्ववचनेन व्यनक्ति वादयितुश्चित्तस्थं गीतं वीणेव ॥९६॥

अथापदेशः—

अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इतीरितः ॥९७॥

यथा—

धत्ते विक्षतमुज्ज्वलं पृथुफलद्वन्द्वं नवा दाडिमी,
भृङ्गेन व्रणितं मधूनि पिबता ताम्रं च पुष्पद्वयम्।

इत्याकर्ण्य सखीगिरं गुरुजनालोके किल श्यामला,
चेलेन स्तनयोर्युगं व्यवदधे दन्तच्छदौ पाणिना॥९८॥

तात्पर्यानुवाद—अपदेश—वक्तव्य विषयके अन्य प्रकारसे अर्थ-कथनको अपदेश कहते हैं॥९७॥

अपने अधर और दोनों वक्षोजोंपर विलासके समयमें लगे दन्त और नखचिह्नोंका अनुसन्धान न करके ही श्यामला उसी लीलाविलासके आवेशमें गुरुजनोंके सन्मुख ही स्वच्छन्द रूपसे अवस्थित है। उस समय उसकी अपनी सखीके द्वारा दूसरे प्रकारके कथनके छलसे प्रबोधिता श्यामाने हठात् उन दोनों चिह्नोंको ही अपने हाथ और वसनके द्वारा आच्छादित कर लिया। उसी वृत्तान्तको नान्दीमुखी पौर्णमासीसे निवेदन कर रही है। सखीने कहा—"यह नवीना दाड़िमी दो प्रफुल्ल फलोंको धारण कर रही है। ये दोनों फल पक्षीके द्वारा क्षत होनेपर भी अतिशय उज्ज्वल हैं और देखो, यह रक्तवर्णके दो पुष्प भी धारण किए हुए है। ये दोनों पुष्प भी मधुपानमें निरत भ्रमरकृत चिह्नोंसे परिपूर्ण दिखाई दे रहे हैं।" इस वाक्यमें दाड़िमीके दो फल और दोनों पुष्पोंके क्षततत्वके बहानेसे श्यामलाको दोनों वक्षोजों और दोनों होठोंके क्षतचिह्नोंकी बात स्मरण करानेपर, उसने गुरुजनोंके समक्ष वस्त्राञ्चलके द्वारा वक्षस्थल और दोनों हाथोंके द्वारा होठोंको आवृत कर लिया॥९८॥

लोचनरोचनी—सोऽपदेशः कथमीरितस्तत्राह—इति इत्थं। तच्च किं तत्राह—अन्यार्थेन अन्येन वाच्येन यत्तु कथनं सूचनं तदित्यर्थः॥९७॥

श्यामलानाम्न्यां कथंचित् प्रोषिते पतिमन्ये कदाचिदेकान्तेऽभ्यञ्जनीं कुर्वत्यामकस्मादतिसंकोचकारणस्यागमनं ज्ञापयन्ती सखी, तच्च तस्मादपलपन्ती चातुरीविशेषेण प्राह—धत्त इति। विक्षतं पक्षिक्षतम्। इति सखीगिरमाकर्ण्येति कदा तत्राह—गुरोर्जनस्य दासीलक्षणस्यालोके दूराद्दर्शने सति॥९८॥

आनन्दचन्द्रिका—अन्यार्थेनान्याभिधेयेन कथनं प्रस्तुतस्य वस्तुनो यत्सूचनं सोऽपदेश इति। ईरित इतीति समाप्त्यर्थकं लक्षणस्यान्ते योजनीयम्। अन्यथा इति पदस्य कर्मत्वे ईरितमिति नपुंसकं स्यात्॥९७॥

नान्दीमुखी पौर्णमासीं प्रत्याह—धत्त इति। विक्षतं विना पक्षिणा शुकेन क्षतं फलद्वयं नवा नवीना दाडिमीयं धत्ते तथा भृङ्गेणेत्यादि। व्रणितं व्रणयुक्तीकृतमिति सखीगिरं समवधापयन्त्या सख्या वचनमाकर्ण्य कदा गुरुजनस्य श्वश्र्वा आलोके

तत्कर्त्तृकदृष्टिक्षेपे सति व्यवदधे आच्छादयामास। "अन्तर्द्धा व्यवधा पुंसि त्वन्तर्द्धिरपवारणम्" इत्यमरः ॥९८॥

उपदेशः—

यत्तु शिक्षार्थवचनमुपदेशः स उच्यते ॥९९॥

यथा छन्दोमञ्जर्याम्—

मुग्धे यौवनलक्ष्मीर्विद्युद्विभ्रमलोला,
त्रैलोक्याद्भुतरूपो गोविन्दोऽतिदुरापः।
तद्वृन्दावनकुञ्जे गुञ्जद्भृङ्गसनाथे,
श्रीनाथेन समेता स्वच्छन्दं कुरु केलिम् ॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—उपदेश—शिक्षा देनेके उद्देश्यसे उच्चारित वचनोंको उपदेश कहते हैं ॥९९॥

उदाहरण—श्रीकृष्णके अतिशय सौन्दर्यादि एवं वृन्दावनकी रमणीयताके कथनसे मानिनी श्रीमतीराधिकाके भावोंका उद्दीपनकर तारुण्यकी भी अनित्यताकी सूचनाके द्वारा उनकी उत्कण्ठाको पैदा करनेके लिए तुङ्गविद्या श्रीमतीराधिकाको मान त्यागपूर्वक श्रीकृष्णके निकट लानेकी अभिलाषासे उपदेश कर रही है—"हे सुन्दरि! तारुण्य-सम्पत्ति तड़ितकी गतिके विलासकी भाँति अत्यन्त चञ्चल है। परम सुन्दर तनु श्रीकृष्ण भी इस त्रिभुवनमें अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव मधुकर-गुञ्जित वृन्दावनके कुञ्जमें श्रीनाथके साथ मिलकर स्वच्छन्द विलासादि करो॥"१००॥

आनन्दचन्द्रिका—तुङ्गविद्या मानिनीं श्रीराधां प्रत्याह—मुग्धे इति॥१००॥

निर्देशः—

निर्देशस्तु भवेत्सोऽयमहमित्यादिभाषणम् ॥१०१॥

यथा—

सेयं मे भगिनी राधा ललितेयं च मे सखी।
विशाखेयमहं कृष्ण तिस्रः पुष्पार्थमागताः ॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—निर्देश—वही मैं हूँ—इस प्रकारके भाषणका नाम निर्देश है॥१०१॥

उदाहरण—वृन्दावनमें कुसुम चयनके लिए उपस्थित श्रीराधादि सखियोंको देखकर श्रीकृष्णने पूछा—"तुमलोग कौन हो और यहाँपर क्यों आई हो?" तब विशाखाने कहा—"हे कृष्ण! मेरी भगिनी वे श्रीराधा है। ये मेरी सखी ललिता है और यह मैं विशाखा हूँ। हम तीनों पुष्पचयनके लिए यहाँ आईं हैं॥"१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—सोऽयमिति पुंस्त्वेन निर्देशः सामान्यतो जन इत्यपेक्षया ज्ञेयः॥१०१॥

विशाखा श्रीकृष्णं पृच्छन्तमात्मनः परिचाययति—सेयमिति। ततश्च मया पुष्पकेदारिका एतदर्थमेव कृता यद्भवतीनां साध्वीनां देवोपासिकानां प्रत्यहं दर्शनभाग्यं भवेदित्यतो नित्यमेव पुष्पाण्यवचित्य क्षणमस्यां पुष्पशालायां विश्रम्य यथाशक्ति मह्यं पारितोषिकं किंचिद्दत्त्वा गच्छतेति श्रीकृष्णस्य प्रत्युक्तिर्ज्ञेया॥१०२॥

व्यपदेशः—

व्याजेनात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीर्यते॥१०३॥

यथा—

विलसन्नवकस्तबका काम्यवने पश्य मालती मिलति।
कथमिव चुम्बसि तुम्बीमथवा भ्रमरोऽसि किं ब्रूमः॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—व्यपदेश—किसी बहानेसे अपने हृदयकी अभिलाषाको प्रकाश करनेका नाम व्यपदेश है॥१०३॥

उदाहरण—मालतीकी किसी प्रियसखीने श्रीकृष्णको लानेके लिए वृन्दावनमें उपस्थित होकर देखा कि श्रीकृष्ण अन्य एक व्रजाङ्गनाके साथ प्रेमसे बातचीत कर रहे हैं। इसे देखकर वह भ्रमरके छलसे श्लेषभङ्गीके द्वारा कामवनस्थित संकेतस्थलीमें अपनी सखीकी सूचना करते हुए कहने लगे—"हे भ्रमर! इधर देखो, काम्यवनमें नवीन-नवीन स्तवकोंसे भूषिता मालती कैसी शोभा पा रही है? तुम अभी यहाँ इस तुम्बीका ही क्यों चुम्बन कर रहे हो? अथवा तुम तो भ्रमर हो, मैं तुम्हें क्या कहूँ? तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा है।" पक्षमें—"हे लम्पटशेखर! हे भ्रमविशिष्ट! कामिजनोंके सर्वाभीष्टपूरक काम्यवनमें युवतियोंमें सुरमणी मेरी सखी नवीन पल्लवोंके अलङ्कारादि धारणकर उपस्थित हुई है, यह जानकर भी तुम किस प्रकार इस अविदग्धा, अरसिक

रमणीके साथ रमण कर रहे हो? अथवा इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है, तुम तो भले–बुरेके विचारसे रहित हो, इसलिए चञ्चल होकर अस्थान–कुस्थानमें भी तृप्त हो जाते हो॥"१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—मालत्याः सखी श्रीकृष्णं विपक्षगोपीरतिलालसमवेक्ष्य तदग्रे भृङ्गमाह—विलसन्नवकेति। मालती जातिस्तन्नाम्नी गोपी च। स्तबको गुच्छः अतिशयोक्त्या स्तनश्च॥ काम्यवने पक्षे कामार्हे वने। कामिनस्तवावने पालने इति वा। भ्रमरो भृङ्गः कामुकश्च, श्लेषेण भ्रमं रासीति तुम्बीचुम्बनात् पक्षद्वयेऽपि वैदग्धीलोपादुन्मत्तता सूचिता। एतौ निर्देशव्यपदेशौ दूतीप्रकरणोचितावपि सखीप्रेमानुभावप्रदर्शनार्थमत्रैवोक्तौ॥१०४॥

अनुभावा भवन्त्येते रसे सर्वत्र वाचिकाः।
माधुर्याधिक्यपोषित्वादिहैव परिकीर्तिताः॥१०५॥

तात्पर्यानुवाद—ये वाचिक अनुभावसमूह शान्त, प्रीत प्रभृति सभी रसोंमें सम्भवपर होनेपर भी मधुररसमें अधिक माधुर्य पोषक होनेके कारण यहींपर इनका वर्णन किया गया है॥१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—सर्वत्र रसे शान्तप्रीतादावपि॥१०५॥

॥ एकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

द्वादशोऽध्यायः
अथ सात्त्विक–प्रकरणम्

तत्र स्तम्भः—

स हर्षाद्यथा दानकेलिकौमुद्याम्—

> **अभ्युक्ष्य निष्कं पतयालुना मुहुः,**
> **स्वेदेन निष्कम्पतया व्यवस्थिता।**
> **पञ्चालिकाकुञ्चितलोचना कथं,**
> **पञ्चालिकाधर्ममवाप राधिका ॥१॥**

तात्पर्यानुवाद—स्तम्भ, हर्षहेतुक—गोवर्द्धनकी नीलमण्डप घाटीमें देय–शुल्कके बहाने अवरुद्धा श्रीमती राधिका कृष्णके दर्शन करके अत्यन्त हर्षादिसे उत्पन्न स्तब्धताको प्राप्त हो गई। उनकी ऐसी अवस्था देखकर श्रीकृष्ण मधुमङ्गलसे बड़े आश्चर्यके साथ कह रहे हैं—"हे सखे! आज श्रीमती राधिका अपने अङ्गोंसे बारम्बार झरते हुए स्वेदजलसे पदोंका अभिषेक करती हुई स्थिरभावसे खड़ी थी। पाँच सखियाँ साथमें रहनेपर भी वे लज्जायुक्त कुटिल नेत्रोंसे देखती हुई न जाने क्यों साक्षात् पुतलीकी भाँति निस्तब्ध हो गईं?"

उक्त उदाहरणमें श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे स्तम्भित होकर श्रीमती राधिका स्थिर हो गई। यह स्तम्भका उदाहरण है॥१॥

लोचनरोचनी—अथ सात्त्विकाः। निष्कमभ्युक्ष्य पतयालुना पतनशीलेन स्वेदेन। पञ्च आलयो यस्याः सा। उत्तरत्र पञ्चालिका प्रतिमा॥१॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ सात्त्विकविवृतिः॥ श्रीकृष्णो मधुमङ्गलमाह—अभ्युक्ष्येति। निष्कं पदकमभ्युक्ष्य पतयालुना पतनशीलेन स्वेदेन निष्कम्पतया पञ्च आलयः सख्यो यस्याः सा। पञ्चालिकाधर्मं पुत्रिकास्वभावं तेन राधिकायाः पञ्चालिका उपमेति ज्ञेयम्। "पञ्चालिका पुत्रिका स्यात्" इत्यमरः। साक्षाद्रतिभरत्वेन स्तम्भोऽयं स्निग्धो मुख्यः॥१॥

भयाद्यथा—

घनस्तनितचक्रेण चकितेयं घनस्तनी।
बभूव हरिमालिङ्ग्य निश्चलाङ्गी व्रजाङ्गना॥२॥
—दिग्धोऽयम्।

तात्पर्यानुवाद—भयहेतुक—श्रीकृष्णके साथ विहार करती हुई कोई व्रजदेवी प्रणयपूर्ण स्वभावके कारण अहैतुकी मानिनी तो हुई, किन्तु तत्कालीन मेघध्वनिको सहसा सुनकर भयसे स्वयं ही मानभङ्ग करती हुई श्रीकृष्णका आलिङ्गन करने लगी। इस घटनाको कुञ्जके बाहर खड़ी नान्दीमुखी पौर्णमासीसे कह रही है—"यह घनस्तनी सुन्दरी मेघगर्जनकी ध्वनिसे भयभीत होकर हरिको आलिङ्गनपाशमें बद्धकर स्तम्भित हो गई॥"२॥

लोचनरोचनी—भयाद्यथेति। अत्र भयं त्रासः॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—भयाद्यथा भयमत्र त्रासः। श्रीराधाया मानिन्याश्चेष्टितं दूरादालोक्य नान्दीमुखी पौर्णमासीमाह—घनस्य मेघस्य स्तनितचक्रेण निर्घोषसमूहेन चकिता त्रस्ता। घनस्तनितमिति धनुर्ज्याकरिबृंहितादिवत्। यद्वा, घनेन निबिडेनेति व्याख्येयम्। दिग्धोऽयमिति संचारिभावोत्थत्वात्। यदुक्तम्—"रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात्। जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः॥" इति। रतिद्वयं चात्र शान्त्यादिर्मुख्या हासादिर्गौणीति॥२॥

आश्चर्याद्यथा—

तव मधुरिमसम्पदं विलक्ष्य त्रिजगदलक्ष्यतुलां मुकुन्द राधा।
कलय हृदि बलवच्चमत्क्रियासौ समजनि निर्निमिषा च निश्चला च॥३॥

तात्पर्यानुवाद—आश्चर्यहेतुक—श्रीकृष्णके अलौकिक अतिशय सौन्दर्य और शोभाका दर्शनकर स्तब्ध हुई श्रीमती राधिकाको दिखलाकर मधुमङ्गल श्रीकृष्णसे कह रहा है—"हे मुकुन्द! तुम्हारी अनुपम माधुर्य सम्पत्तिका दर्शनकर श्रीमती राधिका अत्यन्त चमत्कृत होकर निर्निमेष नेत्रोंसे निश्चल होकर खड़ी हैं॥"३॥

लोचनरोचनी—दिग्धोऽयमिति। अत्र पूर्वग्रन्थोऽन्वेषणीयः। यथोक्तम्—"रतिद्वयं विनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात्। जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः॥" इति। रतिद्वयं चात्र शान्त्यादिर्मुख्या हासादिश्च गौणीति ज्ञेयम्॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधां दर्शयन् मधुमङ्गलः श्रीकृष्णं प्रत्याह—तवेति॥३॥

विषादाद्यथा—

विलम्बमम्भोरुहलोचनस्य विलोक्य संभावितविप्रलम्भा।
संकेतगेहस्य नितान्तमङ्के चित्रायिता तत्र बभूव चित्रा॥४॥

तात्पर्यानुवाद—विषादहेतुक—सङ्केतकुञ्जमें दैवयोगसे श्रीकृष्णके अनागमनका निश्चयकर विप्रलब्धा दशामें स्थित चित्राकी तत्कालीन खेदावस्था और स्तब्धताका वर्णन कोई सखी कर रही है—"अद्य श्रीकृष्णके आनेमें विलम्ब देखकर—अब श्रीकृष्ण नहीं आएँगे, ऐसा निश्चयकर चित्रा सङ्केतकुञ्जकी गोदमें अत्यन्त स्तब्ध हो गई॥"४॥

आनन्दचन्द्रिका—चित्रायाः सखी स्वसखीमाह—विलम्बमिति। संभावितेति। अद्याहं विप्रलब्धैवाभूवमित्यर्थः॥४॥

अमर्षाद्यथा—

माधवस्य परिवर्त्तितगोत्रां श्यामला निशि गिरं निशमय्य।
देव योषिदिव निर्निमिषाक्षी छायया च रहिता क्षणमासीत्॥५॥

तात्पर्यानुवाद—अमर्षहेतुक—रात्रिकालमें श्यामलाके साथ विहार करते-करते श्रीकृष्णका हठात् गोत्रस्खलन होनेपर श्यामलाकी स्तब्धताकी बात उसकी कोई सखी श्रीराधासे कह रही है—"हे सखि! रात्रिकालमें माधवके मुखसे 'हे प्रिय पालि!' सम्बोधन सुनकर श्यामला निर्निमेषनेत्रा और प्रतिबिम्बशून्या देवाङ्गनाकी भाँति क्षणकालके लिए निमेषरहित और कान्तिहीन हो गई॥"५॥

लोचनरोचनी—गोत्रं नाम। छायया कान्त्या। पक्षे स्वव्यवधानकृतातपाभावरूपया। "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" इति नानार्थवर्गात्॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामलायाः सखी श्रीराधामाह—माधवस्येति। गोत्रं नाम, हे प्रिये, पालीत्याकारां गिरम्। छायया कान्त्या॥५॥

अथ स्वेदः—

स हर्षाद्यथा श्रीविष्णुपुराणे—

गोपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ।
पुलकोद्गमशस्याय स्वेदाम्बुघनतां गतौ॥६॥

तात्पर्यानुवाद—स्वेद, हर्षहेतुक—रासक्रीड़ा-वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीपराशरकी उक्ति—"हरिकी दोनों भुजाएँ गोपियोंके कपोलोंका स्पर्शकर पुलकोद्गमरूपी शस्यके लिए स्वेदरूपी जल वर्षणस्वरूप मेघत्वको प्राप्त हो रही हैं॥"६॥

लोचनरोचनी—अभिपत्य प्राप्य। पुलकोद्गमशस्यं संपादयितुं स्वेदाम्बूनां घनतां मेघतां प्राप्तौ। घनशब्दस्य निबिडवाचित्वं तु प्रकृतम्॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—पराशरो मैत्रेयमाह—अभिपत्य प्राप्य पुलकोद्गमरूपं शस्यं संपादयितुं स्वेदाम्बुभिर्घनतां मेघत्वम्, पक्षे निबिडतां गतौ ययतुः॥६॥

यथा वा—

ध्रुवमुज्ज्वलचन्द्रकान्तयष्ट्या विधिना माधव निर्मितास्ति राधा।
यदुदञ्चति तावकास्यचन्द्रे द्रवतां स्वेदभरच्छलाद् बिभर्ति॥७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें सामान्यतः गोपियोंके स्पर्शसे अत्यन्त हर्षके कारण श्रीकृष्णकी भुजाओंमें स्वेदका वर्णनकर यहाँ श्रीमती राधाजीके वैशिष्ट्यका उदाहरण दे रहे हैं। ललिताके साथ क्रीड़ाकुञ्जमें अभिसारकर श्रीमती राधिका श्रीकृष्णका दर्शनकर स्वेद-बिन्दुओंसे भर गईं (उनके अङ्गोंसे पसीना बहने लगा)। उसे देखकर वृन्दा श्रीकृष्णसे कह रही हैं—"हे माधव! ऐसा लगता है कि विधाताने उज्ज्वल चन्द्रकान्तमणिकी यष्टि (छड़ी) के द्वारा श्रीराधाकी रचना की है। देखो न तुम्हारे मुखचन्द्रके उदय होनेपर उसका दर्शनकर स्वेदके बहाने उनके अङ्ग द्रवित हो रहे हैं॥"७॥

लोचनरोचनी—द्रवतीति द्रवस्तद्रूपतां द्रववत्तामित्यर्थः। स्वेदभरच्छलादिति। स्वेदोऽयं न भवति किंतु तद्वद्द्रव इत्यर्थः॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता श्रीकृष्णमाह—ध्रुवमिति। चन्द्रकान्त-शिलयेत्यनुक्त्वा यष्ट्येत्यनेन तस्याः कृशाङ्गत्वं तेन च प्रथमकैशोरं व्यञ्जितम्॥७॥

भयाद्यथा—

मा भूर्विशाखे तरला विदूरतः पतिस्तवासौ निबिडा लताकुटी।
मया प्रयत्नेन कृताः कपोलयोः स्वेदोदबिन्दुर्मकरीर्विलुम्पति॥८॥

तात्पर्यानुवाद—भयसूचक—केलिकुञ्जमें विहारके अन्तमें स्वच्छन्दविहारी श्रीकृष्ण पत्रभङ्गादिकी रचनाके द्वारा विशाखाका शृङ्गार कर रहे थे। हठात् उसी समय दूरसे पतिके आगमनकी बात सुनकर अत्यन्त भयभीत होकर विशाखा पसीनेसे लथपथ हो गई। श्रीकृष्ण उसको सान्त्वना दे रहे हैं—"हे विशाखे! डरो मत, तुम्हारा पति बहुत दूर है, कुञ्ज भी अत्यन्त घना अन्धकारमय है। अत्यन्त यत्नसे तुम्हारे दोनों कपोलोंमें मैंने जो मकरीपत्रकी रचना की है, वह तुम्हारे स्वेदजलसे विलुप्त हो रहा है॥"८॥

आनन्दचन्द्रिका—कुञ्जे सम्भुक्तां विशाखां दैवात् पतिंमन्यगोपागमनश्रवणेन बिभ्यतीं प्रसाधयन् श्रीकृष्णः प्राह—मा भूरिति॥८॥

क्रोधाद्यथा—

खिन्नापि गोत्रस्खलनेन पाली शालीनभावं छलतो व्यतानीत्।
तथापि तस्याः पटमार्द्रयन्ती स्वेदाम्बुवृष्टिः क्रुधमाचचक्षे॥९॥

तात्पर्यानुवाद—क्रोधहेतुक—पालीके सहित निकुञ्जमें विहार करते–करते श्रीकृष्णके गोत्रस्खलन होनेपर पाली शालीनतावशतः बड़े आग्रहसे अवहित्थाके द्वारा अपने क्रोधको छिपा गई। परन्तु तब भी उसके शरीरसे क्रोधके कारण पसीने निकल रहे थे। वह पसीनेसे लथपथ हो रही थी। इसी बातको नान्दीमुखी पौर्णमासीसे कह रही है—"गोत्रस्खलनसे पाली अत्यन्त खिन्न हो गई। फिर भी उसके पट्टवस्त्रको आर्द्र करनेवाली उसके अङ्गोंकी स्वेद–वृष्टिने उसके क्रोधको व्यक्त कर ही दिया॥"९॥

लोचनरोचनी—शालीनभावं मृदुचेष्टाम्॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी पौर्णमासीमाह—गोत्रस्खलनेन हे प्रिये श्यामले! इति श्रीकृष्णकर्त्तृकसंबोधनेन अन्तःखिन्नाप्यवहित्थया शालीनभावं सौशील्यम्॥९॥

अथ रोमाञ्चः—स आश्चर्याद्यथा—

चुम्बन्तमालोक्य चमूरुचक्षुषां चमूरमूषां युगपन्मुरद्विषम्।
व्योमाङ्गने तत्र सुराङ्गनावली रोमाञ्चिता विस्तृतदृष्टिराबभौ॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—रोमाञ्च, आश्चर्यहेतुक—रासमहोत्सवमें एक ही समय एक-एक व्रजाङ्गनाके साथ एक-एक श्रीकृष्णके रूपमें विहारपरायण श्रीकृष्णको देखकर विमानमें विचरण करनेवाली देवियाँ भी विस्मयसे उत्फुल्ल हो गईं। उनकी रोमावलियाँ पुलकित हो गईं। श्रीकृष्णकी रासलीलाके विषयमें पूछ रही गार्गीसे पौर्णमासी कह रही है—"श्रीकृष्ण एक ही समयमें सभी मृगनयना गोपियोंका चुम्बन कर रहे हैं, यह देखकर आकाशमार्गमें देवाङ्गनाएँ बड़ी विस्मित हुईं। वे विस्फारित नेत्रोंसे देखने लगीं तथा उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वे अपने पतियोंकी गोदीमें मूर्च्छित हो गईं॥"१०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य रासलीलां पृच्छन्तीं गार्गीं पौर्णमासी प्राह—चुम्बन्तमिति॥१०॥

हर्षाद्यथा श्रीदशमे—

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥११॥

तात्पर्यानुवाद—हर्षहेतुक—रासोत्सवके समय अन्तर्द्धानके पश्चात् हठात् आविर्भूत श्रीकृष्णको पाकर किसी गोपीके आनन्द-विकारका श्रीशुकदेव गोस्वामी वर्णन कर रहे हैं—"किसी गोपीने अपने नेत्र-रन्ध्रोंके द्वारा श्रीकृष्णको अपने हृदयमें लेकर अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया और हृदयमें उनका आलिङ्गन करने लगीं। ऐसा करनेपर उसका रोम-रोम योगियोंकी भाँति पुलकित हो उठा और वह आनन्दसागरमें निमज्जित हो गई॥"११॥

लोचनरोचनी—योगीव संयोगीव यथा स्यात्तथास्ते स्म॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीशुकः परीक्षितमाह—तमेति। काचिद्गोपी नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्येति भाग्यातिशयेन प्राप्तोऽयं पुनरप्यन्तर्द्धास्यतीति शङ्कयेति भावः॥११॥

यथा वा रुक्मिणीस्वयंवरे—

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावात्प्रियश्रियं द्रष्टुमिवोत्सुकानि।
तस्यास्तदा कोरकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन् ॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—अभीष्ट लाभसे रोमाञ्चका उदाहरण देकर यहाँ अभीष्टके श्रवणसे ही रोमाञ्चका उदाहरण दे रहे हैं—ब्राह्मणके मुखसे श्रीकृष्णकी आगमन-वार्त्ता सुनकर आनन्दसे रुक्मिणीका रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसीका श्रीईश्वरपुरीपाद वर्णन कर रहे हैं—उस समय प्रियतमके सौन्दर्य दर्शनकी आकांक्षासे अत्यन्त उत्कण्ठित होकर ही मानो रुक्मिणी देवीका रोम-रोम पुलकित हो उठा। उस समय शिशुकी भाँति उनकी रोमावलियाँ सेमुलके काँटेके समान दिखाई दे रही थीं॥१२॥

लोचनरोचनी—बालभावादिति। बालः केशस्तत्सजातीयत्वादत्र रोमस्वपि बालत्वमारोप्यते। ततश्चार्भकसमानपर्यायतया तत्स्वभावत्वादिव। उद्गता ग्रीवा सैव उद्ग्रीविका तस्या दानं तत्रार्पणं तदेवान्वभूवन् स्वीचक्रुरित्यर्थः॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वयंवर इति। श्रीकृष्णं प्रति स्वयं लिखितपत्रीद्वारैव स्वयंवरणं ज्ञेयम्। तद्ग्रन्थकृतः श्रीमदीश्वरपुरीश्रीपादाः स्वशिष्यानाहुः—रोमाणीति। तस्याः श्रीरुक्मिण्या बालभावात् बालत्वात्। अत्र केशवाचकबालशब्देन स्वसजातीयानि रोमाणि लक्ष्यन्ते ततश्च बालभावात् बालकत्वादिव गाम्भीर्य्यातिशयोक्तेः प्रियश्रियं सुनन्दाख्यब्राह्मणमुखाच्छ्रुतस्यागतस्य प्रियस्य श्रीकृष्णस्य श्रियं शोभां द्रष्टुमुत्सुकानि। उद्गता ग्रीविका, अनुकम्पार्थकप्रत्ययेन सुकुमारा ग्रीवेत्यर्थः। तस्या दानमर्पणमिव रोमाणि श्रीकृष्णं द्रष्टुं ग्रीवामुच्चीचक्रुरित्यर्थः॥१२॥

भयाद्यथा—

परिमलचटुले द्विरेफवृन्दे मुखमभिधावति कम्पिताङ्गयष्टिः।
विपुलपुलकपालिरद्य पाली हरिमधरीकृतह्रीधुरालिलिङ्ग ॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—भयहेतुक—कुञ्जगृहमें श्रीकृष्णके साथ विहार करते-करते प्रणय स्वभावके कारण अहैतुकी मानिनी पाली नीरव हो गई। भ्रमर-दंशके भयसे रोमाञ्चोद्गमपूर्वक उन्होंने स्वयं ही श्रीकृष्णका आलिङ्गन कर लिया। कुञ्जके बाहरसे देखकर कोई सखी इसी व्यापारको अन्य सखीसे कह रही है—"सौरभसे चपल भ्रमरोंको अपने मुखकी ओर उड़ते हुए देखकर

पालीका अङ्ग अतिशय पुलकित हो उठा, वह भयसे काँपने लगी तथा लज्जा त्यागकर श्रीहरिका आलिङ्गन करने लगी॥"१३॥

आनन्दचन्द्रिका—पाल्याः सखी स्वसखीमाह—परिमलेति॥१३॥

अथ स्वरभङ्गः—स विषादाद्यथा श्रीगीतगोविन्दे—

विपुलपुलकपालिः स्फीतशीत्कारमन्तर्जनितजडिमकाकुव्याकुलं व्याहरन्ती।
तव कितव विधायामन्दकन्दर्पचिन्तां रसजलनिधिमग्ना ध्यानलग्ना मृगाक्षी॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—स्वरभङ्ग, विषादहेतुक—श्रीमती राधिका कलहान्तरिताकी अवस्था प्राप्त होनेपर अत्यन्त विषन्न हो गई। उस समय उनकी अवस्थाको देखकर कोई सखी परम विह्वल होकर श्रीकृष्णके निकट उलाहना देते हुए कह रही है—"हे शठ! मृगनयनी श्रीमती राधिका तुम्हारे महाकामजनित क्लेशको स्मरणकर ध्यानमग्न होकर विषसमुद्रमें निमग्न हो रही हैं। अर्थात् तुम्हारे विरहसमुद्रमें निमग्न होकर किसी प्रकार तुम्हारा ध्यान करती हुई अपना जीवन धारण कर रही है। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है और मुखसे बारम्बार चीत्कार ध्वनि निकल रही हैं। तुम्हारे विरह दुःखसे जड़ताको प्राप्त होकर वे स्वरभङ्गके कारण अस्पष्ट मृदुमन्द बातें कर रही हैं॥"१४॥

लोचनरोचनी—तव ध्यानलग्ना सती अमन्दकन्दर्पचिन्तां विधाय रसजलनिधिमग्नासीदिति योज्यम्। तन्निमग्नत्वे लक्षणम्—विपुलपुलकेत्यादि॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—वासकसज्जायाः श्रीराधायाः सखी श्रीकृष्णं प्रति तदप्राप्तिजनितं तस्या अनुतापं ज्ञापयन्ती सोपालम्भमाह—विपुलेति। हे कितव इति। तव धूर्त्तताद्य फलन्ती त्वां स्त्रीवधभागिनं करिष्यतीति भावः। जडिम्ना यः काकुस्तेन व्याकुलं सगद्गदमित्यर्थः। कुलधर्मलज्जादिकं यदत्यजं तत्फलमिदमेव यदत्र जाज्वलीमीति व्याहरन्ती। रसजलनिधौ विषसमुद्रे "शृङ्गारादौ विषे वीर्य्ये गुणे रागे द्रवे रसः।" इत्यमरः॥१४॥

विस्मयाद्यथा—

गुरुसंभ्रमस्तिमितकण्ठया मया, करसंज्ञयापि बहुधावबोधिता।
न पुनस्त्वमत्र हरिवेणुवादने, पुलकान् विलोकितवती लतास्वपि॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—विस्मयहेतुक—श्रीमती राधिका ललितासे बोली—“हे सखि! अभिसारके लिए गमन करते ही मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो जानेसे मेरे वचन नहीं निकल सके। इसलिए अपने हाथोंके इङ्गितसे तुम्हें बारम्बार अपने मनकी बात बतलाई, किन्तु तुम उसे नहीं समझ सकी। परन्तु उससे भी अधिक आश्चर्यका विषय तो यह है कि श्रीकृष्णकी मुरलीके निनादसे लताओंका जो पुलकोद्गम हो रहा था, तुम उसे भी नहीं देख सकी॥”१५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितामाह—गुरुसंभ्रमोऽभिसारार्थमावेगस्तेन स्तिमितः स्तब्धः कण्ठो यस्यास्तया। अतः स्पष्टं वक्तुमसामर्थ्यात् करसंज्ञया हस्तचालनेनापि। “संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना।” इत्यमरः॥१५॥

अमर्षाद्यथा—

प्रेयस्यः परमाद्भुताः कति न मे दीव्यन्ति गोष्ठान्तरे
तासां नोज्ज्वलनर्मभङ्गिभिरपि प्राप्तोऽस्मि तुष्टिं तथा।
द्वित्रैरद्य मुहुस्तरङ्गदधरग्रस्तार्द्धवर्णैर्यथा
राधायाः सखि रोषगद्गदपदैराक्षेपवाग्बिन्दुभिः॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—अमर्षहेतुक—एक समय श्रीमती राधिकाके परोक्षमें प्रसङ्गवशतः श्रीकृष्ण उनके गुणमाधुर्यको स्मरणकर विशाखासे कह रहे हैं—“हे विशाखे! इस गोष्ठमें न जाने कितनी परम सुन्दर अद्भुत प्रेयसियाँ विराजमान हैं, किन्तु उनकी उज्ज्वल नर्मभङ्गियोंसे भी मैं उतना सन्तुष्ट नहीं होता, जितना आज श्रीराधाके रोषवशतः दो-तीन गद्गद वचनोंसे युक्त तिरस्कार सूचक अथच निरन्तर कम्पायमान क्रोधसे फड़फड़ाते हुए अधरोंसे आधी-आधी उच्चारित वर्णयुक्त वाक्यबिन्दुओंसे तृप्त हो रहा हूँ॥”१६॥

लोचनरोचनी—रोषगद्गदपदैरिति। अत्र “जातगद्गदपदैः” इति वा पाठः। पदमत्र व्यवसायः। “पदं व्यवसितित्राण” इत्यादि नानार्थवर्गात्॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—राधया सह संकीर्णसंभोगानन्तरं कदाचिद्रहसि श्रीकृष्णो विशाखां प्रति सरसोद्गारमाह—प्रेयस्य इति। आक्षेपवाचां—भोः करालिकानप्त्रीक्रीडाकुरङ्ग! कपटकुटिलनटीसूत्रधार! मन्नेत्रवीथीं मा दूषय त्वरितमपसरेत्यादिलक्षणानां बिन्दुभिः

कर्णैरित्यनेन वाचाममृतनदीत्वमारोपितम्। कीदृशैः। रोषेण गद्गदयुतानि अस्पष्टानि पदानि सुप्तिङन्तानि येषु तैः। तत्रापि तरङ्गन् तरङ्ग इवाचरन् कम्पमान इत्यर्थः। एवंभूतं योऽधरस्तेन ग्रस्ता म्लिष्टा अर्द्धार्द्धा वर्णा येषु तैः। अत्र रोष इत्यस्य व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं नाम दोषो नाशङ्कनीयः। गद्गदेत्यादीनां तदनुभावानां हेतुत्वेन तस्य वाच्यतयैव हेत्वलङ्कारस्य स्वभावोक्तेरुपस्थापकत्वेन च चमत्काराधिक्यपोषणात्। न तु जातगद्गदपदैरिति पाठे तस्य गम्यमानत्वेन तथा चमत्कार इति ध्येयम्। न च व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यतेतिलक्षणस्य सार्वत्रिकत्वमालङ्कारिकैरभिमतम्। यदुक्तं काव्यप्रकाश एव—"न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।" इति॥१६॥

हर्षाद्यथा रुक्मिणीस्वयंवरे—

पश्येम तं भूय इति ब्रुवाणां सखीं वचोभिः किल सा ततर्ज।
न प्रीतिकर्णेजपतां गतानि विदांबभूव स्वरवैकृतानि॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—हर्षहेतुक—"हे सखि रुक्मिणि! तुम व्याकुल क्यों हो रही हो? आओ, किसी प्रकार बहानेसे पुनः श्रीकृष्णका दर्शन करें।"—सखियोंकी इस बातको सुनकर रुक्मिणी अवहित्था प्रकाशपूर्वक उन सखियोंको गर्जन-तर्जन करती हुई निषेध करने लगी, किन्तु उसके स्वरभङ्गने ही उसकी प्रीतिको गुप्त न रखकर व्यक्त कर दिया॥१७॥

लोचनरोचनी—तं भूयः पश्येमेत्यस्य मा व्यग्रा भूरित्याक्षेपलभ्यम्। भूय इति तस्यैव कवेः प्रबन्धानुसारेण पूर्वमपि दर्शनं जातमिति ज्ञेयम्। कर्णेजपः सूचकः॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—तद्ग्रन्थकृत एवाहुः—पश्येमेति। हे सखि रुक्मिणि! किं व्यग्रासि, एहि, केनचिन्मिषेण तं भूयः पश्येम इति। "अस्मदो द्वयोश्च" इति बहुत्वम्। वचोभिरिति। हे लम्पटे सखि! किं निजधर्मं परमुण्डे पातयसि, त्वं स्वयमेव स्पष्टं पश्येत्यवहित्थया श्रीकृष्णदर्शने प्रीत्यभावं व्यञ्जयन्ती सा रुक्मिणी प्रीतेः कर्णेजपतां सूचकत्वं गतानि प्राप्तानि स्वरवैकृतानि कण्ठस्वरभेदान् न विदांबभूव नानुसंधत्ते स्म। सा वचसा स्वप्रेमाणं गोपयामास। वचस्तु तस्याः प्रेमाणं स्पष्टयामास इति सा न परामम‍र्षेत्यर्थः॥ "कर्णेजपः सूचकः स्यात्" इत्यमरः। 'उषविद-' इत्यादिना लिट्याम्॥१७॥

भीतेर्यथा—

प्रथमसंगमनर्मणि साध्वसस्खलितयापि गिरा सखि राधिका।
नवसुधाह्लदिनीं मदिरेक्षणा श्रुतितटे मम कांचिदवीवहत्॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—भयहेतुक—श्रीकृष्ण विशाखासे कह रहे हैं—"हे सखि! प्रथम मिलनके दिन मैंने श्रीराधासे परिहासपूर्वक कहा—हे पद्मिनि! कृपाकर प्यासे मधुकरको अपना मकरन्द पान करनेके लिए अनुमति प्रदान करें। उसे सुनकर उस खञ्जनाक्षीने भयभीत होकर गद्गद स्वरसे ना-ना कहती हुई किसी अत्यन्त आश्चर्य नवसुधा-वाहिनी तरङ्गिनी (नदी) को मेरे श्रुतिपथमें प्रवाहित कर दिया॥"१८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो विशाखामाह—प्रथमसंगमे संभोगस्य प्रथमदिने सखि पद्मिनि! मधुपमिममतितृष्णार्तं दयस्व स्वमकरन्ददानादनुमत्येति मया कृते सुरतप्रार्थनसमये नर्म्मणि यत् साध्वसं भयं तेन स्खलितया गिरा नहि नहीति वाचा। मदिरेक्षणा खञ्जनाक्षीति कटाक्षेण दत्तानुमतिः सा अवीवहत् वाहयामास॥१८॥

अथ वेपथुः—स त्रासेन यथा—

केशवो युवतिवेशभागयं बालिशः किल पतिस्तवाग्रतः।
राधिके तदपि मूर्त्तिरद्य ते किं प्रवातकदलीतुलां दधे॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—वेपथु—शरीरके कम्पनको वेपथु कहते हैं।

त्रासहेतुक वेपथु—एक दिन जटिलाने श्रीराधाको घरमें ही अटका दिया। इसलिए श्रीराधिका दिनमें अभिसारकर श्रीकृष्णसे मिलनके लिए नहीं जा सकी। इसी समय श्रीकृष्ण स्त्रीका वेश धारणकर वहाँ उपस्थित हुए और श्रीराधाके पासमें ही बैठ गए। दैवयोगसे अभिमन्युने भी उसी समय गृहमें प्रवेश किया। उसे देखकर श्रीमती राधिका भयसे काँपने लगी। यह देखकर पासमें ही बैठी हुई विशाखाने राधिकासे धीरे-धीरे कहा—"हे सखि! क्यों काँप रही है? केशवने तो युवतीका वेश धारण किया हुआ हैं। यद्यपि तुम्हारा पति तुमलोगोंके सामने आ रहा है, तथापि इससे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। नितान्त मूर्ख होनेके कारण वह तनिक भी सन्देह करनेमें समर्थ नहीं होगा कि यह स्त्रीके वेशमें बैठा हुआ श्रीकृष्ण ही है। तुम क्यों वृथा हवाके झोंकोंसे कदलीकी भाँति काँप रही हो?"॥१९॥

लोचनरोचनी—बालिशो मूर्खः। न किंचिदूहितुं शक्त इत्यर्थः। प्रकृष्टो वातो यस्यां कदल्यां तत्तुलाम्॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचिज्जटिलया निरुध्यमानत्वाद्दिवसेऽभिसर्तुमक्षमायाः श्रीराधायाः पार्श्वे स्त्रीवेशधारिणि श्रीकृष्णे आगत्योपविष्टवति अकस्मादभिमन्यौ च तदेव गृहं किंचित्कार्यार्थं प्रविष्टवति भीतां श्रीराधां विशाखा नीचैराह—केशव इति। बालिशो निर्बुद्धिर्न किंचिदप्यूहितुं शक्त इत्यर्थः। प्रकृष्टो वातो यस्यां कदल्यां तत्तुलाम्॥१९॥

हर्षेण यथा—

बल्लवराजकुमारे मिलिते पुरतः किमात्तकम्पासि।
तव पेशलास्मि पार्श्वे ललितेयं परिहरातङ्कम्॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—हर्षजात—श्रीकृष्णके सङ्गकी अभिलाषासे सूर्यकी पूजा हेतु पुष्प चयन कर रही श्रीमती राधिका श्रीकृष्ण दर्शनसे आनन्दित होकर काँपने लगीं। अथच फिर भी अवहित्थाका अवलम्बनकर यह कहने लगीं कि श्रीकृष्णको देखकर नहीं, बल्कि भयके कारण ही मेरा शरीर काँप रहा है। उस समय ललिता उसको आश्वासन देती हुई बोली—"हे सखि! व्रजेन्द्रनन्दन उपस्थित होनेसे तुम काँप क्यों रही हो? यह परम चतुर ललिता तुम्हारे पासमें ही है। अतएव किसी प्रकारसे भयभीत मत होओ॥"२०॥

लोचनरोचनी—पेशला चतुरा॥२०॥

आनन्दचद्रिका—पुष्पमवचिन्वतीं श्रीराधां ललिताह—बल्लवेति। पेशला चतुरा॥२०॥

अमर्षेण यथा—

यदि कुपितासि न पद्मे किं तनुरुत्कम्पते प्रसभम्।
विचलति कुतो निवाते दीपशिखा निर्भरस्निग्धा॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—अमर्षजात—एक समय जब श्रीकृष्ण पद्माको ललिताके नामसे सम्बोधन करने लगे, तब वह दुःख और क्रोधके साथ अत्यन्त क्षुब्ध होनेपर भी बाहरमें अवहित्थाके द्वारा अपने क्रोधको छिपाने लगी। श्रीकृष्णने विनयके साथ उससे कहा—"हे पद्मे! यदि तुम मेरे प्रति क्रोधित नहीं हो तो तुम्हारी तनुलता इस प्रकारसे हठात् काँप क्यों रही है? तीव्र हवासे रहित प्रदेशमें तैल या घृत आदिसे युक्त दीपकी शिखा क्या कभी प्रकम्पित होती है? यदि तुम मेरे प्रति अतिशय प्रणययुक्त हो तो तुम काँप क्यों रही हो?"॥२१॥

लोचनरोचनी—निवाते वातप्रवेशरहिते देशे। निवातकवचशब्दवत् प्रयोग दृश्यते च "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते" इत्यादौ॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मानिनीं श्रीपद्मां प्रत्याह—यदीति। निवाते निर्वातप्रदेशे इत्यर्थः। नीत्युपसर्गः कदाचिन्निवृत्त्यर्थे वर्त्तते। "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते" इत्यादौ "निवातदीपस्तिमितेन चक्षुषा" इति रघुवंशकाव्ये च। "निवाते ये गुणाः प्रोक्तास्ते गुणाः कर्णबन्धने।" इति वैद्यके च॥२१॥

अथ वैवर्ण्यम्—तद्विषादाद्यथा—

मधुरिमभरैर्मुक्तस्यालं कलङ्कितकुङ्कुमै-
र्द्विरदरदनश्येनीमाभां चिराय वितन्वतः।
विधुरपि तुलामाप्तस्तस्या मुखस्य बकीरिपो,
वद परमतः सारङ्गाक्ष्याः किमस्ति विडम्बनम्॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—वैवर्ण्य, विषादज—विप्रलब्धा श्रीराधाके पसीनेसे लथपथ विवर्ण मुखमण्डलको देखकर कोई सखी श्रीकृष्णका तिरस्कार करती हुई बोली—"हे बकरिपु! (बाल्यकालसे ही स्त्रीका वध करनेवाले परम निष्ठुर, निर्दय) मृगनयनी श्रीराधाजीकी इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है, कि उसका मुख इस समय सफेद (फीका) पड़ गया है। अहा! वही मुख पूर्वकालीन कुङ्कुमको भी तिरस्कार करनेवाली महासुषमामण्डित माधुर्यराशिसे विहीन होकर अब गजदन्तकी भाँति श्वेतकान्तिको ही धारण कर रहा है॥"२२॥

लोचनरोचनी—श्येनी श्वेतवर्णा। तस्याः सारङ्गाक्ष्या इति तच्छब्देन वैशिष्ट्यव्यक्तिः। अतएव विधुतुलितत्वं धिक्कृतं स्यात्॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—विप्रलब्धायाः श्रीराधायाः सखी श्रीकृष्णमाह—मधुरिमेति। द्विरदो हस्ती श्येनीं श्वेतां तस्या मुखस्य साहजिकमाधुर्येऽपसृते सति वैवर्ण्येन पाण्डिमन्युद्भूते सति। विधुरपीत्यादि। अन्यथा विद्युद्वर्णो विधुस्त्रिलोक्यां क्वास्ते येन तदुपमा स्यादिति। वदेत्यादिना विडम्बनं तु तस्यास्त्वया उत्पादितमेव, संप्रत्यग्रे दशमी दशैवावशिष्यते इत्याह—बकीरिपो पूतनाघातिन्, स्त्रीवधेऽपि तव भयं नास्तीति भावः। प्रतीप नामायमलङ्कारः। तल्लक्षणम्—"आक्षेपमुपमानस्य प्रतीपं भण्यते बुधैः" इति॥२२॥

रोषाद्यथा—

विलसति किल वृन्दारण्यलीलाविहारे,
कथय कथमकाण्डे ताम्रवक्त्रासि वृत्ता।
प्रसरदुदयरागग्रस्तपूर्णेन्दुबिम्बा,
किमिव सखि निशीथे शारदी जायते द्यौः॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—रोषजनित—श्रीकृष्णके वक्षःस्थलमें अपने प्रतिबिम्बको देखकर उसे अन्य कान्ता होनेके भ्रमसे राधिकाके मानिनी होनेपर श्रीकृष्णने कहा—"प्रियतमे! इस वृन्दावनमें विहारके समय तुम्हारा मुख अकस्मात् विवर्ण क्यों हो गया? बड़े आश्चर्यकी बात है! क्या अन्धकारपूर्ण रजनीके शारदीय-आकाशमें पूर्णचन्द्रकी लाल-लाल किरणें उदित हो सकती हैं? अर्थात् शरत्कालीन अर्द्धरात्रिमें क्या पूर्णचन्द्रके उदय होनेकी सम्भावना हो सकती है? हे प्रिये! तुम किसी बातकी आशङ्का मत करो; तुम्हीं मेरे इस पदकमें प्रतिबिम्बित हुई हो, दूसरी कोई कान्ता नहीं। यह तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब है॥"२३॥

लोचनरोचनी—वृन्दारण्ये या लीला सुखपूर्विका चेष्टा तया यो विहारः इतस्ततो भ्रमणं तस्मिन्। द्यौः किमिव कथं निशीथेऽर्द्धरात्रे प्रसरदित्यादिलक्षणा जायते तत्र तद्रागस्याभावात्। शारदीति। तत्र विद्युदादिदोषाभावेन नान्यथापि संभवतीति भावः॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वप्रतिबिम्बिं श्रीकृष्णवक्षसि विलोक्य कान्तान्तरभ्रमेण मानवतीं श्रीराधां श्रीकृष्ण आह—विलसतीति। वृन्दारण्यलीलासु यो विहारः संप्रयोगलक्षणस्तत्र अतएवाकाण्डे अनवसरे ताम्रवक्त्रा कोपवतीत्यर्थः। निशीथे अर्द्धरात्रे द्यौः किमिव कथं प्रसरदित्यादिलक्षणा जायते। नैव जायत इत्यर्थः। पूर्णेत्यर्द्धचन्द्रव्यावृत्तिः, शारदीति विद्युदाभादिदोषव्यावृत्तिः॥२३॥

भीतेर्यथा—

क्रीडन्त्यास्तटभुवि माधवेन सार्द्धं,
तत्रारात्पतिमवलोक्य विक्लवायाः।
राधायास्तनुमनु कालिमा तथासी–
त्तेनेयं किमपि यथा न पर्यचायि॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—भयहेतुक—यमुनाके सुन्दर उपकूल प्रदेशमें श्रीकृष्णके साथ विहार परायणा श्रीमती राधिका पतिम्मन्य अभिमन्युके दर्शनसे भयभीत हो गई तथा उनका मुख विवर्ण हो गया। ऐसा देखकर विस्मित हुई वृन्दा पौर्णमासीसे कह रही हैं—"श्रीमती राधिका माधवके साथ यमुनाके उपकूलमें विहार करते-करते अपने पतिको देखकर अत्यन्त भयभीत हो गई। उस समय भयसे उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग इस प्रकार काला पड़ गया कि उसे देखकर अभिमन्यु उनको तनिक भी पहचान नहीं सका॥"२४॥

लोचनरोचनी—तेन पत्या। किमपीति किंचिदपीत्यर्थः। दर चेति वा पाठः॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीं प्रत्याह—क्रीडन्त्या इति। तनुमनु तनावित्यर्थः। किमपि किंचिदपि न पर्यचायि न परिचिता। श्रीराधायाः किंचिदपि लक्षणं तेन पतिंमन्येन न दृष्टमित्यर्थः॥२४॥

अथाश्रु—तद्धर्षाद्यथा श्रीगीतगोविन्दे—

अतिक्रम्यापाङ्गं श्रवणपथपर्य्यन्तगमन-
प्रयासेनैवाक्ष्णोस्तरलतरतारं पतितयोः।
तदानीं राधायाः प्रियतमसमालोकसमये,
पपात स्वेदाम्भःप्रसर इव हर्षाश्रुनिकरः॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—अश्रु, हर्षवशतः—क्रीड़ाकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ मिलनेपर परमानन्दिता श्रीमती राधिकाके अङ्गोंमें सात्त्विक विकारोंको लक्ष्यकर श्रीजयदेव कवि भी कह रहे हैं—"प्रियतम श्रीकृष्णके संदर्शनके समय श्रीमती राधिकाके नेत्रोंकी दोनों पुतलियाँ चञ्चल होकर अपाङ्गदेशको अतिक्रमकर कानों तक उपस्थित हुईं और इस परिश्रमसे ही मानो स्वेदबिन्दु-प्रवाहकी भाँति उनके नेत्रोंसे आनन्दकी धारा वर्षित होने लगी॥"२५॥

लोचनरोचनी—तदानीं यः प्रियतमसमालोकसमयस्तदवसरस्तस्मिन्। राधाया अक्ष्णोर्हर्षाश्रुनिकरः पपात। क इव स्वेदाम्भःप्रसर इव। स्वेदप्रसरसंभावनायाः को हेतुः? तत्राह—अक्ष्णोरितिवर्जेन पूर्वार्द्धेन। पतितयोर्गतयोः। "पत्लृ गतौ"॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीजयदेवकविचूडामणिः प्राह—अतीति। तदानीं श्रीराधाया हर्षाश्रुनिकरः अक्ष्णोः प्रस्वेदाम्भःप्रसर इव पपात। अक्ष्णोः प्रस्वेदकारणं श्रममुत्प्रेक्षते। अपाङ्गमतिक्रम्योल्लङ्घ्य श्रवणपथपर्यन्तं यद्गमनं तेन यः प्रयासः श्रमस्तेनैव। अक्ष्णोः कथंभूतयोः तरलतरा तारा यत्र तद्यथा स्यादेवं पतितयोः। तस्याधिकरणं श्रीकृष्णमुखचन्द्र एवाक्षेपलब्धं प्रविश पिण्डीमितिवत्॥२५॥

फुल्लगण्डं सरोमाञ्चं बाष्पमानन्दजं मतम्॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—आनन्दाश्रु—कपोलोंके विकास और पुलकके साथ अश्रुवर्षण ही आनन्दाश्रुका परिचायक है॥२६॥

लोचनरोचनी—वाष्पमत्र नायिकायामेव ज्ञेयम्॥२६॥

रोषाद्यथा—

प्रातर्मुरद्विषमुरःस्फुरदन्यनारीपत्राङ्कुरप्रकरलक्षणमीक्षमाणा।
अप्रोच्य किंचिदपि कुञ्चितदृष्टिरेषा, रोषाश्रुबिन्दुभरमिन्दुमुखी मुमोच॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—रोषजात—अपनी वञ्चना करनेवाले श्रीकृष्णको निशान्तकालमें, अन्य गोपरमणीके रति-विलासका चिह्न धारणकर अपने निकट आते हुए देखकर महादुःखित इन्दुमुखीके हृदयमें गूढ़रोषजात अश्रुपात देखकर उसकी कोई सखी स्वसखीसे कह रही है—"प्रातःकालमें श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर अन्य नायिकाके मृगमदादिसे निर्मित पत्रश्रेणीको सुशोभित देखकर इन्दुमुखी मुखसे कुछ न बोलनेपर भी कुटिल दृष्टिपात पूर्वक रोषसे विगलित अश्रु-बिन्दुओंका ही विमोचन करने लगी॥"२७॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डिताया इन्दुमुख्याः सखी स्वसखीमाह—प्रातरिति॥२७॥

यथा वा बिल्वमङ्गले—

राधेऽपराधेन विनैव कस्मादस्मासु वाचः परुषा रूषा ते।
अहो कथं ते कुचयोः प्रथन्ते हारानुकारास्तरलाश्रुधाराः॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—साधारण रोषज अश्रुका उदाहरण देकर श्रीपाद पुनः स्वाश्रित चरणकमल श्रीराधाके रोषाश्रुका वर्णन कर रहे हैं—श्रीकृष्णके साथ निकुञ्जमें विहार करती हुई श्रीमती राधिकाके प्रणय-ईर्ष्यासे उदित

मानको देखकर उसका कारण निश्चित न होनेसे श्रीकृष्ण सान्त्वना-वाक्यसे उनसे पूछ रहे हैं—"हे राधे! बिना किसी अपराधके भी तुम क्यों क्रुद्ध होकर मुझे कठोर वचनोंको सुना रही हो? अहो! तुम्हारे वक्षःस्थलपर मुक्ताहारकी भाँति शुभ्र-अश्रुधारा क्यों प्रवाहित हो रही है?"॥२८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। श्रीकृष्णः खण्डितां श्रीराधामाह—राधे इति॥२८॥

शिरःकम्पि सनिश्वासं स्फुरदोष्ठकपोलकम्।
कटाक्षभ्रुकुटीवक्त्रं स्त्रीणामीर्ष्योत्थरोदनम्॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—स्त्रियोंकी ईर्ष्यासे उत्थ रोदनसे शिरःकंप, दीर्घ-निःश्वास त्याग, ओष्ठ और कपोलोंका स्फुरण, कटाक्ष और भृकुटीयुक्त मुखमण्डल प्रकाशित होता है॥२९॥

विषादाद्यथा—पद्यावल्याम्—

मलिनं नयनाम्बुधारया मुखचन्द्रं करभोरु मा कुरु।
करुणावरुणालयो हरिस्त्वयि भूयः करुणां विधास्यति॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—विषादज—माथुरविरहके असहनीय सन्तापसे श्रीमती राधिकाके क्रन्दन करनेपर विशाखा उन्हें आश्वासन प्रदान करती हुई कह रही है—"हे सुन्दरि राधे! अश्रुधाराओंसे अपने मुखचन्द्रको मलिन मत करो। करुणावरुणालय श्रीहरि पुनः तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे ही॥"३०॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितभर्त्तृकां श्रीराधां विशाखा प्राह—मलिनमिति॥३०॥

अथ प्रलयः—स सुखेन यथा—

जंघे स्थावरतां गते परिहृतस्पन्दा द्वयी नेत्रयोः,
कण्ठः कुण्ठितनिस्वनो विघटितश्वासा च नासापुटी।
राधायाः परमप्रमोदसुधया धौतं पुरो माधवे,
साक्षात्कारमिते मनोऽपि मुनिवन्मन्ये समाधिं दधे॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—प्रलय—किसी भी प्रकारकी चेष्टासे रहित होना ही प्रलय कहलाता है।

सुखमें प्रलय—श्रीराधाके श्रीकृष्णदर्शन जनित आनन्दका ललिता विशाखाके साथ आस्वादन कर रही है—"माधवके नेत्रगोचर होनेसे ही श्रीराधाकी दोनों जंघायें स्थावरताको प्राप्त हो गईं, दोनों नेत्र स्पन्दनरहित हो गए, कण्ठ शब्दरहित हो गया और नासापुट भी श्वासरहित हो गई। अधिक और क्या कहूँ? उनका मन भी परमानन्द सुधासे परम निर्मल होकर मुनियोंकी भाँति बाह्यज्ञानरहित समाधिस्थ हो गया॥"३१॥

लोचनरोचनी—मुनिवत् मुनिरिवेति सर्वत्र योज्यम्॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायाः श्रीकृष्णदर्शनानन्दं श्रीललिता विशाखया सहास्वादयति—जंघे इति। साक्षात्कारमिते प्राप्ते। मन्ये इति सर्वत्र योज्यम्॥३१॥

दुःखेन यथा—श्रीललितमाधवे—

दंशः कंसनृपस्य वक्षसि रुषा कृष्णोरगेणार्प्यतां,
दूरे गोष्ठतडागजीवनमितो येनापजह्रे हरिः।
हा धिक् कः शरणं भवेन्मृदि लुठद्भ्रात्रीयमन्तःक्लमा-
दाभीरीशफरीततिः शिथिलितश्वासोर्मिरामीलति॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—दुःखजात प्रलय—माथुरविरह कालमें श्रीमती राधिकाके दिव्योन्मादग्रस्त होनेपर नेपथ्यसे पौर्णमासी कंसको अभिशाप दे रही हैं—"कंस राजाके वक्षःस्थलमें कृष्णरूप सर्प रोषसे भरकर दंशन करे। जिसने गोष्ठरूपी तड़ाग जल अर्थात् जीवनरूप श्रीहरिका अपहरण किया है, उस कंसका विनाश हो। उस कंसकी छातीपर सर्प दंशन करे। हा धिक्कार है! हा धिक्कार है!! अब धरतीपर छटपटाती आभीरीस्वरूप मछलियाँ, जो अत्यन्त आन्तरिक वेदनासे श्वासरहित होकर कीचड़ (विरह) में तड़फड़ा रही हैं, उनका आश्रय कौन होगा?॥"३२॥

लोचनरोचनी—दंश इति। पौर्णमास्या वचनम्। अत्र गोष्ठस्य तडागत्वेन रूपकम्। जीवनशब्दस्य च श्लिष्टतया प्रयोगो लभ्यते तत्र गोष्ठपक्षे जीवनं जीवद्दशा। तडागपक्षे जलम्। तत्र च सति गोष्ठशब्देन अत्र तत्स्थाः प्राणिन उच्यन्ते। श्रीकृष्णरूपे जीवने हृते सति सर्वेषामेव जीवद्दशायामपगतायामाभीरीशफरीणां शिथिलितश्वासोर्म्मिमात्रत्वं

न स्यात्। अपि तु नष्टश्वासोर्मित्वमेव स्यात्। सति च पूर्वत्वे गोष्ठस्थप्राणिमात्रेभ्य आसां वैशिष्ट्यं न स्यात्। तस्माद्गोष्ठशब्देन तद्वासस्थानमेव वाच्यम्। तस्य च वाच्यत्वे जीवनशब्देन याथातथ्येन तदीया स्थितिरुच्यते। तदपहारेण च वैतथ्येन स्थितिरिति। स्थिते ते च श्रीकृष्णस्थितिरूपे एव ज्ञापिते। ततः श्रीकृष्णापहारे तु जाते तत्रस्था येऽन्ये प्राणिनस्तेषां कंचित्कालमपि स्थितिः स्यात्। आभीराणां तु न स्यादिति तासामतिकोमलतासूचकेन शफरीरूपकेण बोधितम्॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी कंसमभिशपति—दंश इति। जीवनं जीवनरूपं, पक्षे जलम्। आमीलति दशमीं दशां प्राप्नोति॥३२॥

अथैषु धूमायिताः—

सुराङ्गने सखि मधुरापुराङ्गने,
पुरः पुरातनपुरुषस्य वीक्षया।
तवाक्षिणी जलकणसाक्षिणी कुतः,
कथं पुनः पुलकि च गण्डमण्डलम्॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—सात्त्विकभावसमूहका धूमायित—विमानचारिणी देवियोंको श्रीकृष्ण-दर्शनके आनन्दसे यत् सामान्य कुछ-कुछ सात्त्विक-अङ्कुरसे अलंकृत देखकर अन्तरिक्षमें स्थित कोई ब्रह्मिष्ठा (सिद्ध योगिनी) उनसे प्रश्न कर रही है—"हे देवि! इस मथुराके प्राङ्गणमें पुराणपुरुष नारायणका दर्शनकर तुम्हारे अङ्गोंमें ऐसा भावोदय क्यों हुआ? भावोंके साक्षी हैं—तुम्हारे अश्रुवाही दोनों नेत्र और मुखमण्डलके पुलक-कदम्ब!!"

पूर्वोक्त भावसमूह एक अथवा दो मिलित होकर थोड़े-थोड़े प्रकाशित हों और उनको छिपाना यदि सम्भव हो तब उन भावोंको धूमायित कहते हैं। अतएव पूर्वोक्त सभी भाव धूमायित हैं॥३३॥

लोचनरोचनी—धूमायिता इति। तल्लक्षणं पूर्वग्रन्थे—"अद्वितीया अमी भावा अथवा सद्वितीयकाः। ईषद्व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मताः॥" इति। पुराणपुरुषस्य वीक्षया तावत् सर्वेषामस्राादिकं भवत्येव। किन्तु तत्र भावभेदाः सन्ति भवत्यास्तु को भावस्तत्र हेतुरिति सुराङ्गन इत्यादिकस्यायमभिप्रायः। श्लेषेण तु पुराणपुरुषस्येत्यत्र नर्म्मव्यञ्जना वृद्धवाचित्वात्। जलकणः साक्षी विद्यमानो ययोस्तादृशे। "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि"ति साक्षिपदसाधनसूत्रम्। साक्षी च विद्यमानो भवतीति तत्रैव पर्यवसीयते॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—"प्रायो धूमायिता एव रूक्षास्तिष्ठन्ति सात्त्विकाः।" इति पूर्वग्रन्थोक्तेर्व्रजपुरदेवीषु धूमायिता न संभवन्तीति देवीषु तानुदाहरति—सुराङ्गने इति। धूमायितलक्षणं च पूर्वग्रन्थ एव। यथा "अद्वितीया अमी भावा अथवा सद्वितीयकाः। ईषद्व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मताः॥" इति। काचित् सिद्धवनिता कामपि विमानचारिणीं देवीं सनर्म्माह—सुराङ्गने इति। त्वं सुरस्याङ्गना अथ च पुरातनपुरुषस्य श्रीकृष्णस्य वीक्षया तव भावः। ननु किं मे भावलक्षणं पश्यसि तत्राह—तवाक्षिणी जलकणानामश्रूणां साक्षिणी। यद्यपि त्वमश्रूणि निरुणत्सि तदपि तवाक्षिणी एव ऐच्छून्यचाकचिक्कणाभ्यां स्वान्तःस्थितानश्रुकणान् ज्ञापयत एवेत्यर्थः। तेन तवावहित्था एव कामस्पृहां सूचयन्ती त्वां हास्यास्पदीकरोति न त्वश्रुपुलकादिकमिति भावः॥३३॥

ज्वलिताः—

सखि स्तब्धीभावं भजति नितरामूरुयुगलं,
तनूजाली हर्षं युगमपि तवाक्ष्णोः सरसताम्।
तदुन्नीतं धन्ये रहसि करपङ्केरुहतलं,
प्रपन्नस्ते दिष्ट्या नलिनमुखि नीलो निधिरभूत्॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—ज्वलित—दो या तीन भाव एक कालमें प्रकटित हों और यदि बहुत कष्टसे उनको छिपाया जा सके, तब उनका नाम ज्वलित है।

धन्याके प्रति उसकी सखीने कहा—"हे सखि धन्ये! जब तुम्हारी दोनों जंघाओंको अति स्तब्ध, रोमावलीको पुलकित, नेत्रोंको सरस देखती हूँ, तब मैं ऐकान्तिक रूपमें यही निश्चित करती हूँ कि निस्सन्देह तुमसे नीलनिधि प्रसन्न हैं। मैं ऐसा समझती हूँ कि तुमने निर्जनमें निश्चय ही इन्द्रनीलमणिको करतलगत कर लिया है। हे पद्ममुखि! तुम्हारा भाग्य अत्यन्त महान् है॥"३४॥

लोचनरोचनी—ज्वलिता इति। तल्लक्षणं चोक्तम्—"द्वौ वा त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम्। शक्याः कृच्छ्रेण निह्नोतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः॥"३४॥

आनन्दचन्द्रिका—ज्वलिता इति। तल्लक्षणं यथा—"द्वौ वा त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम्। शक्याः कृच्छ्रेण निह्नोतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः॥" इति धन्यां प्रति तत्सखी प्राह—सखीति। स्तब्धीभाव इति स्तम्भः। तनुजाली रोमश्रेणी। हर्षमिति रोमाञ्चः। सरसतामित्यश्रु, "नीलो निधिः" पक्षे श्रीकृष्णः॥३४॥

अथ दीप्ताः—यथा विदग्धमाधवे—

क्षोणिं पङ्किलयन्ति पङ्कजरुचोरक्ष्णोः पयोबिन्दवः,
श्वासास्ताण्डवयन्ति पाण्डुवदने दूरादुरोजांशुकम्।
मूर्त्तिं दन्तुरयन्ति संततममी रोमाञ्चपुञ्जाश्च ते,
मन्ये माधवमाधुरी श्रवणयोरभ्यासमभ्याययौ॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—दीप्त—तीन, चार अथवा पाँच प्रौढ़भाव एक समय उदित होनेपर यदि उसे किसी भी प्रकारसे संवरण नहीं किया जा सके, तो उसको दीप्तभाव कहते हैं।

पूर्वरागकी दशामें श्रीराधाके, श्रीकृष्णनाम और वेणुनाद श्रवण हेतु परम व्याकुलताके साथ अत्यन्त अधिक सात्त्विकभावको देखकर विशाखा स्वयं समझ लेनेपर भी श्रीराधाके मुखसे ही जाननेकी अभिलाषासे बोली—"हे सखि! तुम्हारा मुखमण्डल पाण्डुरङ्गको धारण कर रहा है, कमल जैसे सुशोभित दोनों नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है, तुम्हारा दीर्घ निःश्वास वक्षःस्थलके वस्त्रोंको ऊपर-नीचे नृत्य करा रहा है, तुम्हारा रोम-रोम पुलकित हो रहा है। इससे ऐसा बोध होता है कि माधव-माधुरी (वसन्तका माधुर्य और दूसरे अर्थमें श्रीकृष्ण रूप, गुणकी महिमा) तुम्हारे कानोंमें प्रविष्ट हुई है॥"३५॥

लोचनरोचनी—दीप्ता इति। तल्लक्षणं चोक्तम्—"प्रौढास्त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः। संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः॥" इति। दन्तूरयन्ति नतोन्नतं कुर्वन्ति॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—दीप्ता इति। तल्लक्षणं यथा—"प्रौढास्त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः। संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः॥" विशाखा श्रीराधामाह—क्षौणिमिति। दन्तुरयन्ति नतोन्नतं कुर्वन्ति। "दन्तुरं तु नतोन्नतम्" इत्यमरः। अभ्यासं निकटम्॥३५॥

उद्दीप्ताः—

स्नाता नेत्रजनिर्झरेण दधती स्वेदाम्बुमुक्तावलिं,
रोमाञ्चोत्करकञ्चुकेन निचिता श्रीखण्डपाण्डुद्युतिः।

खञ्जन्मञ्जुलभारती सवयसा युक्ता स्फुरन्तीत्यसौ,
सज्जा ते नवसंगमाय ललिता स्तम्भाश्रिता वर्त्तते॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—उद्दीप्त—पाँच, छह अथवा समस्त भावसमूह यदि एक साथ उदित होकर प्रेमकी परमोत्कर्ष दशाको प्राप्त हो तो उसको उद्दीप्तभाव कहते हैं।

उद्धव श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर विरहिणी ललिताकी अवस्थाका निवेदन कर रहे हैं—"तुम्हारे नवसङ्गमके लिए ललिता सुसज्जित होकर कुञ्जमें विराजमान है। उसने अश्रुप्रवाहसे स्नानकर स्वेदजल स्वरूप मुक्ताकी मालाको धारण किया है। पुलक-समुदायरूप चोलीसे अपने अङ्गोंको ढक रही है एवं चन्दनकी भाँति शुक्लवर्ण धारणकर रुद्ध गलेसे अर्द्ध-अर्द्ध वाणीरूप सखीको सङ्ग लेकर स्तम्भभावको धारण किया है।" यहाँ क्रमसे अश्रु, स्वेद, पुलक, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग और स्तम्भ आदि सात्त्विकभावोंका एक ही साथ उद्गम सूचित हुआ है॥३६॥

लोचनरोचनी—उद्दीप्ता इति। "एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषाः सर्व एव वा। आरूढाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्तिताः॥" स्तम्भशब्दः श्लिष्टः॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्दीप्ता इति। "एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषा सर्व एव वा। आरुढाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्तिताः॥" विरहिण्या ललिताया दशामुद्धवः श्रीकृष्णमाह—स्नातेति। संप्रति तां प्रोषितभर्तृकां वासकसज्जात्वेनोत्प्रेक्षते। तव नवसंगमाय सज्जा। तत्र वासकसज्जायाः स्वतनोः प्रियसंगमोचितभूषणवस्त्रादिशोभा अपेक्षितेति प्रथमं स्नानमाह—स्नातेति। स्वेदाम्बुन्येव मुक्तावलीत्यलंकारपरिधानं श्रीखण्डेन चन्दनचर्चया पाण्डुवर्णा द्युतिर्यस्याः सा, पक्षे त्वद्विरहेण श्रीखण्डस्येव द्युतिर्वैवर्ण्यम्। खञ्जन्ती अर्द्धार्द्धं निःसरन्ती मञ्जुला सा भारती स्फूर्तिप्राप्तेन त्वया सह वाणी सैव सवयाः सखी तया युक्तेति सखी साहित्यम्। स्तम्भः सात्त्विकः, कुञ्जगृहस्थूणा च॥३६॥

उद्दीप्तानां भिदा एव सूद्दीप्ताः सन्ति कुत्रचित्।
सात्त्विकाः परमोत्कर्षकोटिमत्रैव बिभ्रति॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—उद्दीप्त सात्त्विकभावके ही भेद-विशेषसे सुद्दीप्त सात्त्विकभाव किसी-किसी नित्यसिद्ध-प्राय महाभावका आश्रयकर (सर्वत्र

नहीं) प्रकट होते हैं। यह सुद्दीप्तभाव ही परमोत्कर्षके साथ (अलौकिक चमत्कारिताके साथ) चरमसीमा तक प्राप्त होता है।

कभी-कभी उद्दीप्तभावोंके भेद (भाव) स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होते हैं, किन्तु सभी सात्त्विकभाव उद्दीप्तभावमें ही परमोत्कर्षसे परम पराकाष्ठाको धारण किए होते हैं॥३७॥

यथा—

स्वेदैर्दर्शितदुर्दिना विदधती बाष्पाम्बुभिर्निस्तृषो,
वत्सीरङ्गरुहालिभिर्मुकुलिनी फुल्लाभिरामूलतः।
श्रुत्वा ते मुरलीं तथाभवदियं राधा यथाराध्यते,
मुग्धैर्माधव भारतीप्रतिकृतिर्भ्रान्त्याद्य विद्यार्थिभिः॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वाह्नके समय द्वितीय प्रहरमें घरसे निकलकर श्रीमती राधिका वनपथमें जा रही थी। इसी समय सहसा श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको सुनकर उनके अङ्गोंमें सुद्दीप्तभावसमूह प्रकाशित होने लगे। कोई सखी दूरसे उसे देखकर बड़ी शीघ्रतासे श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर बोली—"हे माधव! तुम्हारे मुरलीनादको सुनकर श्रीमती राधिकाके अङ्गोंसे स्वेदवारि उद्गत हो रही है। उसीसे वे दुर्दिन (मेघाच्छन्न) का प्रदर्शनकरा अश्रुजलसे बछड़ोंकी प्यास बुझा रही हैं। आपादमस्तक रोमावलियोंका उद्गम हो रहा है, जिससे देह पुलक-मञ्जरियोंसे ऐसी भर रही है, जिसे देखकर मुग्ध विद्यार्थीगण उन्हें सरस्वतीकी मूर्त्ति समझकर श्रद्धापूर्वक उनकी आराधना कर रहे हैं। अतः हे गोविन्द! अब श्रीराधाका पहले जैसा सौन्दर्य नहीं है। निरन्तर स्वेदवारि और अश्रुपात करते-करते पाण्डुवर्णको धारण कर रही हैं॥"३८॥

लोचनरोचनी—स्वेदैरित्याद्युक्तिरुदात्तालंकारमयी सूद्दीप्ततामात्र-तात्पर्या॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—गृहादभिसृत्य पूर्वाह्ने वनपथे चलन्तीमकस्मान्मुरलीनादेन सूद्दीप्तसात्त्विकभावां श्रीराधामालोक्य दूती जवेन श्रीकृष्णान्तिकमासाद्य तमाह—स्वेदैरेव दर्शितं दुर्दिनं यया इति स्वेदानां मेघत्वं निरन्तर तद्बिन्दुपातानां वृष्टित्वम्। वाष्पाम्बुभिरश्रुजलैर्वत्सीस्तर्णकान् निस्तृषो विगतपिपासाः कुर्वतीत्यश्रूणां निर्झरजल-प्रवाहत्वम्। वत्सीरित्यल्पाख्यायां स्त्रीप्रत्ययः। "स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि" इत्यमरः॥ अङ्गरुहालिभिः रोमश्रेणिभिः। तदैव ते मुरलीनादं श्रुत्वा

अतिजाड्येनातिस्तब्धा अतिविवर्णा चाभूदित्याह—श्रुत्वेति। यथा तदानीमेवाकस्मादागतै-विद्यार्थिभिरहो सरस्वती प्रतिमेयमिति मुग्धे स्तम्भशितिमभ्यां भ्रान्तैराराध्यते पाद्यार्घ्यधूपादिभिः पूज्यते इति। अत्र जाड्याख्यस्तम्भोदयः प्रथमक्षण एव प्रस्वेदाश्रुरोमाञ्चस्तम्भवैवर्ण्यानां पञ्चानां सात्त्विकानामाधिक्येन युगपदुद्भूतत्वात् सूद्दीप्तत्वं द्वितीयतृतीयादिक्षणे तु स्तम्भप्रलययोरत्याधिक्येन स्वेदाश्रुरोमाञ्चानां लोपाद्भारतीप्रतिमायितत्वम्। तदैव विद्यार्थिनामागमनं तैः पूजनं च। अश्रुपुलकयोः सद्भावे प्रकृतित्वानुपपत्तेरिति च ज्ञेयम्॥३८॥

॥ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

त्रयोदशोऽध्यायः
अथ व्यभिचारि–प्रकरणम्

निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद्भावा ये परिकीर्त्तिताः।
औग्र्यालस्ये विना तेऽत्र विज्ञेया व्यभिचारिणः॥१॥

सख्यादिषु निजप्रेमाप्यत्र संचारितां व्रजेत्॥२॥

साक्षादङ्गतया नेष्टाः किंत्वत्र मरणादयः।
वर्ध्यमानास्तु युक्त्यामी गुणतामुपचिन्वते॥३॥

तात्पर्यानुवाद—पहले श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२/४/१–६) में जिन निर्वेदादि तैंतीस भावोंका वर्णन किया गया है, उनमेंसे उग्रता और आलस्यको छोड़कर सभीको मधुररसमें व्यभिचारीभावके रूपमें जानना चाहिए। सखियों, दूतियों और प्रियनर्मसखाओंके प्रति श्रीकृष्णवल्लभाओंका जो प्रेम है, वह भी इस मधुररसमें व्यभिचारिताको प्राप्त होता है, किन्तु इसमें मरणादि (उग्रता और आलस्य) साक्षात् रूपसे इसके अङ्ग नहीं होते। वे युक्तिके बलसे वर्त्तमान रहनेपर भी उत्कर्ष वृद्धिकारक होते हैं या गौणभावसे रसपोषक होते हैं॥१–३॥

लोचनरोचनी—अथ व्यभिचारिणः। औग्र्यस्य हिंसाकरचण्डतारूपत्वा–दालस्यस्य शक्तावपि क्रियानुन्मुखतारूपत्वात्। ते न संभवत इति किन्तु मिथुनस्य परस्परमिति ज्ञेयम्॥१॥

संचारितां व्यभिचारिताम्॥२॥

उपचिन्वते अधिक्येन गृह्णन्ति। युक्त्येति व्यक्तीकरिष्यते॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ व्यभिचारिविवृतिः। परिकीर्तिता इति। "निर्वेदोऽथ विषादो दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ।" इत्यादिभिः पूर्वग्रन्थ एवोद्देशलक्षणोदाहरणैः सम्यगुक्ता अत्र तूज्ज्वले रसे ते औग्र्यालस्ये द्वे विनेति। औग्र्यस्य विषयालम्बनसुख–प्रतीपाचरणचण्डिमरूपत्वात्, आलस्यस्य तु शक्तावपि क्रियानुन्मुखतारूपत्वात्ते न

संभवतः; किन्तु नायकयोः परस्परमेवेति ज्ञेयम्। परस्परसङ्गिविघातिषु जनेषु तु ते भवत एवेत्यग्रेतनग्रन्थे ज्ञेयम्॥१॥

सख्यादिष्विति। सखीप्रभृतिषु कृष्णवल्लभानां यः प्रेमा सः। आदिशब्दात् दूतीष्वपि परस्परायोगेषु, अन्येष्वपि च॥२॥

तत्र निर्वेदः—स महात्यॉ यथा विदग्धमाधवे (२/४१)—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग् धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥४॥

तात्पर्यानुवाद—निर्वेद अर्थात् आत्मधिक्कार—पूर्वरागकी अवस्थामें श्रीकृष्णके निकट कामलेख-हारिणी विशाखाके मलिन मुखसे श्रीकृष्णकृत बाह्य उदासीनताको जानकर और उसे अपने प्रणय-स्वभावसे सत्य मानकर परम दुःखसे मार्मिक पीड़ाका अनुभवकर श्रीराधा निर्वेदके साथ कह रही हैं—"हे सखि! जिस श्रीकृष्णकी गोदीमें बैठनेके सुखकी आशासे मैंने गुरुजनोंकी भयङ्कर लज्जाको भी जलाञ्जलि दे रखी है, प्राणोंसे भी अत्यन्त प्रियतम तुम सखियोंको भी बहुत प्रकारसे कष्ट दिया है और परम सती-साध्वी रमणियोंके द्वारा अनुष्ठित महान पातिव्रत्यधर्मकी भी उपेक्षा की है। हाय! मेरी धीरताको शत-शत बार धिक्कार है। अहो! उसी श्रीकृष्णके द्वारा उपेक्षित होकर भी यह पापिनी अब तक जीवित है॥"४॥

लोचनरोचनी—पूर्वग्रन्थानुसारेण निर्वेदः स्वावमाननम्॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—निर्वेद आत्मधिक्कारः। निर्वेदवती श्रीराधा श्रीकृष्णसमीपादागतायाः सख्या मुखम्लान्याः स्वस्मिन् तस्योपेक्षामनुमिमाना प्राह—यस्य उत्सङ्ग एव सुखं तस्य सुखमूर्त्तित्वात् तदाशया, उत्सङ्गप्राप्त्यर्थमित्यर्थः। यद्यप्यत्र "अधरसीधुनाप्याययस्व नः" इति "कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयं" इत्यादौ स्पष्टोक्त्या स्वसुखस्पृहा प्रतीयते; तदपि स्वसौन्दर्यवैदग्ध्यादिभिः श्रीकृष्णमहं विशेषतः सुखं प्रथयानीति सूक्ष्मो मानसो व्यापारः समर्थरतिमतीनां सर्वासामेव व्रजसुन्दरीणां सदैवास्त्येव किमुत तस्याः सर्वव्रजवामामुकुटमणिभूतायाः। किन्तु स ताभिः स्ववाग्विषयीभूतः प्रायेण न क्रियते, श्रीकृष्णस्त्वभिज्ञचूडामणिस्तं जानात्येवेति "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्"

इत्यादिभिस्तद्वशीकारान्यथानुपपत्त्या एवं व्याख्यायते। अतएवोक्तं यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम इति। तथा—“आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः” इति “साहं गृहमार्जनी” इत्यादिभिः स्पष्टोक्त्या समञ्जसरतिमतीनां पुरसुन्दरीणां स्वसुखस्पृहाया अभावेऽपि स्वाङ्गस्पर्शादिभिः श्रीकृष्णो मां सुखयत्विति सूक्ष्मो मानसो व्यापारः केनाप्यंशेनास्त्येव, तं च श्रीकृष्णो जानात्येव “यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः” इति श्रीशुकवाक्यान्यथानुपपत्त्येव व्याख्यायत इति। अध्यासितः अनुशीलितः ॥४॥

विप्रयोगेण यथोद्धवसंदेशे—

न क्षोदीयानापि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे,
क्रन्दन्तीं मां निजशुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं,
ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि ॥५॥

तात्पर्यानुवाद—विरहजनित निर्वेद—श्रीकृष्णके मथुरा जानेपर उनके विरहमें अत्यन्त असहनीय पीड़ासे निरन्तर अश्रुमुखी श्रीमती राधिकाको देखकर ललिता उन्हें सान्त्वना देने लगी। उस समय श्रीमती राधिका निर्वेदसूचक वचनोंको व्यक्त करती हुई कहने लगीं—“हे सखि! मुकुन्दके प्रति मेरी तनिक भी प्रेमगन्ध नहीं है। फिर भी उनके वियोगमें जो मैं रोदन करती हूँ, उसका कारण लोकसमाजमें अपने सौभाग्यको ज्ञापन करना ही है। हा! बड़े ही खेदकी बात है, विविध प्रकारके राग, स्वर और मूर्च्छनादिका आलाप करनेवाली वंशीसे युक्त विलासपरायण उनके मुखमण्डलका अवलोकन न करके—अवलम्बन रहित होकर भी मैं अपने प्राणकीटको कैसे धारण कर रही हूँ?” ॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितभर्तृका श्रीराधा ललितामाह—न क्षोदीयानिति। निजसुभगताख्यापनाय तस्याहं सर्वतोऽप्याधिक्येन प्रेमपात्री पूर्वमासमिति लोके ज्ञापनाय। खेलन्ती राग-स्वर-ताल-मूर्च्छनादिवैचित्र्या विलसन्ती या वंशी तदुत्थनादमण्डली सैव वलयस्तद्युक्तम्। प्राण एव कीटस्तं निरन्तरं मां दशन्तमपि बिभर्मि धारयामि पालयामि च ॥५॥

ईर्ष्यया यथा—

नात्मानमाक्षिप त्वं म्लायद्वदना गभीरगरिमाणम्।
सखि नान्तरं क्षितौ कश्चन्द्रावलितारयोर्वेत्ति ॥६॥

तात्पर्यानुवाद—ईर्ष्याहेतुक निर्वेद—पग-पगपर प्रकाशित श्रीमती राधिकाके प्रेम सौभाग्यादि-सम्पत्तिको देखकर असहिष्णुतावशतः चन्द्रावली द्वारा बारम्बार अपनेको धिक्कार देते रहनेपर पद्मा उसे सान्त्वना दे रही है—"हे सखि! तुम अपने मलिन उदास मुखसे दुर्बोध और गुरुत्वशालिनी अपनी और अधिक निन्दा मत करो। इस पृथ्वीपर कौन नहीं जानता कि चन्द्रावलीमें (चन्द्रश्रेणीरूप तुममें) एवं तारामें (विशाखानक्षत्ररूप राधामें) बहुत ही पार्थक्य है॥"६॥

लोचनरोचनी—ताराशब्देनात्र श्रीराधा द्योतिता॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायाः सौभाग्यसंपत्तिं सर्वत्र विख्यातां विलोक्य तामसहमाना धिङ्मामित्यात्मानमधिक्षिपन्तीं चन्द्रावलीं सान्त्वयन्ती पद्मा प्राह—नेति। गभीरो गरिमा अर्थात् श्रीकृष्णदत्तो यस्य तम्। ननु मत्तः सकाशात् अपि तस्याः ख्यातिरधिका श्रूयत इति चेत् सत्यं ख्यातिरियमलीकैव त्वत्प्रतिपक्षजनख्यापितेति प्रतीहि। यतः सखीत्यादि। त्वं चन्द्रावलिः, राधा तारैव राधाविशाखेत्यभिधानात्॥६॥

अथ विषादः—स इष्टानवाप्तितो यथा विदग्धमाधवे (२/५६)—

पीतं न वागमृतमद्य हरेरशङ्कं, न्यस्तं मयास्य वदने न दृगञ्चलं च।
रम्ये चिरादवसरे सखि लब्धमात्रे, हा दुर्विधिर्विरुरुधे जरतीच्छलेन॥७॥

तात्पर्यानुवाद—इष्टवस्तुकी अप्राप्ति हेतु विषाद—अनुताप करनेको विषाद कहते हैं। पूर्वरागकी अवस्थामें श्रीमती राधा सखियोंके प्रयत्नसे जटिलादि गुरुजनोंको वञ्चितकर प्रस्कन्दनतीर्थमें श्रीकृष्णके साथ मिली, किन्तु हठात् उसी स्थलपर जटिला भी उपस्थित हो गई। श्रीकृष्ण तो जटिलाको देखकर अन्तर्धान हो गए। उस समय अपनी स्वाभीष्ट प्राप्तिमें बाधा समझकर श्रीराधा विशाखासे खेदपूर्वक धीरे-धीरे कहने लगी—"हे सखि! आज मैं श्रीहरिके वचनामृतका निशङ्क रूपसे पान भी नहीं कर पाई थी, उनके वदनकमलको मैं अपने नेत्रोंके द्वारा अभी पूर्ण रूपसे देख भी नहीं पाई थी। हे सखि! बहुत दिनोंके बाद इस रमणीय अवसरमें दुष्ट विधाता वृद्धाके छलसे आकर मेरे लिए प्रतिबन्धक हुआ। मेरा दुर्भाग्य ही वृद्धाके छलसे मेरे समीप उपस्थित हुआ है॥"७॥

लोचनरोचनी—विषादोऽनुतापः॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—विषादः पश्चात्तापः। पूर्वरागवती श्रीराधा जटिलाया अन्तिके विशाखां प्रति नीचैराह—प्रीतिमिति। जरती जटिलाभिधाना श्वश्रूः॥७॥

यथा वा श्रीदशमे (२१/७)—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः, सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं, यैर्वै निपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम्॥८॥

तात्पर्यानुवाद—इसीका दूसरा उदाहरण श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धसे प्रस्तुत कर रहे हैं। शरत्कालीन अत्यन्त वर्द्धित शोभासे युक्त वृन्दावनमें अपने सखाओंके साथ प्रवेश करते हुए विहारपरायण श्रीकृष्णके वेणुनादको सुनकर उसके माधुर्यके द्वारा आकृष्ट हृदयवाली गोपियाँ अपनी-अपनी सखियोंसे कह रही हैं—"हे सखियो! चक्षुष्मान व्यक्तियोंके लिए उनके नेत्रोंका प्रयोजन एकमात्र यह है कि व्रजेन्द्रनन्दन राम और उनके पीछे गमन करनेवाले वंशीधारी श्रीकृष्णका जो मन्द-मुस्कानयुक्त मुखारविन्द है, जिससे अनुरक्त जनोंके प्रति नित्य कटाक्षमोक्षरूप अपाङ्गभङ्गी हो रही है, उस मुखकमलको जो नित्य-निरन्तर अपनी नेत्ररूप प्यालियोंसे आदरपूर्वक पान करते हैं, आस्वादन और अनुभव करते हैं, उन्हीं लोगोंके नेत्र सार्थक हैं। यदि कहो कि तुमलोग भी निरन्तर ही उसका व्रजमें आस्वादन और पान करती हो, तो फिर विस्मयके साथ उसका वर्णन क्यों कर रही हो? तो उसके उत्तरमें कह रही हैं—"जब सखाओंके साथ वे एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं, उस समय उनके मुखकी शोभा अत्यन्त अनिर्वचनीय हो उठती है; क्योंकि उस समय उनको पिता-मातादि गुरुजनोंके सम्भ्रमसे संकोच नहीं होता और यही हमारे लिए अत्यन्त दुर्लभ है।" इसलिए स्वाभीष्ट वस्तुकी अप्राप्ति हेतु यहाँपर विषाद सूचित हुआ॥८॥

लोचनरोचनी—वयस्यैः सह पशूननुविवेशयतोर्वनाद्वनं प्रवेशयतोर्व्रजेशसुतयोः श्रीरामकृष्णायोर्विषययोरनु पश्चाद्वेणुजुष्टं यद्वक्त्रं तत् यैर्निपीतं तेषां तद्रूपं यत्फलं तदिदमेव अक्षण्वतां चक्षुष्मतां फलं परन्तु न विदामो न विद्मः। तस्मात्तदपश्यन्तीनामस्माकं व्यर्थमेव चक्षुष्मत्त्वमिति भावः॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायां कादाचित्कं विषादममुदाहृत्य सर्वासु प्रतिदिनमपि पौर्वाह्णिकं विषादमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। व्रजसुन्दर्यः परस्परमाहुः। अक्षण्वतां

चक्षुष्मतां जनानामिदमेव फलम्, इतः परमन्यत्फलं न विदामः। किन्नु ते फलमित्यत आहुः। वयस्यैः सह पशूननु विवेशयतोर्वनाद्वनं प्रवेशयतोर्व्रजेशसुतयोर्मध्ये यदनुकूलेन वेणुना जुष्टं वक्त्रम्। श्रीकृष्णमुखमित्यर्थः। तत् यैर्निपीतं चक्षुषा आस्वादितम्। अनुरक्तेषु जनेषु कटाक्षमोक्षो यस्य तत्, अनुरक्तानां वा अपाङ्गप्रेरणं यस्मिन् तत्तेन कुलधर्म्मलज्जाभयादिभ्यो जलाञ्जलिं दत्त्वा वयमेतावन्तं कालमपि कथं तत्र नागच्छाम इति पश्चात्तापध्वनिः। हे सख्यः, मिथोऽनुजानीत संप्रत्यपि तत्रानुसृत्य तन्माधुर्यस्य कमप्यंशं लब्धु यतेमहीत्यनुध्वनिः॥८॥

प्रारब्धकार्यसिद्धिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे (२/१०)—

गणयति गुणग्रामं भामं भ्रमादपि नेहते,
वहति च परितोषं दोषं विमुञ्चति दूरतः।
युवतिषु बलत्तृष्णे कृष्णे विहारिणि मां विना,
पुनरपि मनो वामं कामं करोति करोमि किम्॥९॥

तात्पर्यानुवाद—प्रारब्ध कार्यकी असिद्धि होनेसे विषाद—श्रीकृष्णके व्यवहारसे मानिनी होनेकी इच्छा रहनेपर भी श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी रासलीलोचित रूप, गुणादिके स्मरणसे मानका निर्वाह न कर पानेपर खेदपूर्वक कह रही हैं—"हे सखि! महातृष्णार्त श्रीकृष्ण मुझे त्यागकर अन्यान्य प्रतिपक्षकी युवतियोंके साथ विहार कर रहे हैं, तथापि मेरा कुटिल मन उन्हींकी कामना कर रहा है। मेरा मन श्रीकृष्णके गुणोंको ही सदा स्मरण कर रहा है। हाय-हाय! वह तनिक भी क्रोध करनेकी इच्छा नहीं करता। मैं अधिक क्या कहूँ? उनके दोष दर्शनको दूरसे परित्यागकर उसीमें सन्तुष्ट है। अब तुम ही बताओ! मैं क्या करूँ? मुझे परामर्श दो, मैं क्या करूँ?"॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता श्रीराधा ललितामाह—गणयतीति। मम मनः कर्तृ श्रीकृष्णे काममभिलाषमेव करोति, पुनरपीत्येकवारं प्रथमभिलाषं कुर्वदपि मनो मम निरुद्धमेवासीदिति भावः। करोमि किमित्यधुना तु मया निरोद्धुमशक्यमेवेति भावः। यतो वामं मत्प्रातिकूल्ये एव तिष्ठतीति भावः। प्रातिकूल्यस्थितिमेवाह—मां विना विहारिण्यपि सेति श्रीकृष्णे गुणानां ग्रामं गणयति न चैकत्वाद्वचनगुणान्। भामं कोपमेकमपि भ्रमादपि न ईहते साक्षात्प्रत्यक्षेऽपि दोषाणां ग्रामे सत्यपि प्रत्युत परितोषं वहति। किं च यदि तेषु दोषेषु कोऽप्यनपलपनीयो महान् दोषोऽतिस्पष्टतया प्रत्यक्षीभवति तमपि दूरत एव मुञ्चति। यथा निकटमायातुं न शक्नोतीति भावः।

तमेव दोषमाह—युवतिषु बलत्तृष्ण इति। तेन मानमहं श्रीकृष्णे कस्मादकरवमिति पश्चात्तापध्वनिः। त्वयापि मानशास्त्रमतःपरं नाहमध्यापनीयेत्यनुध्वनिः॥९॥

विपत्तितो यथा ललितमाधवे (३/२६)—

निपीता न स्वैरं श्रुतिपुटिकया नर्म्मभणिति-
र्न दृष्टा निःशङ्कं सुमुखि मुखपङ्केरुहरुचः।
हरेर्वक्षःपीठं न किल घनमालिङ्गितमभू-
दिति ध्यायं ध्यायं स्फुटति लुठदन्तर्मम मनः॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—विपत्तिहेतुक विषाद—माथुरविरहमें अत्यन्त कातर तथा दिव्योन्मादग्रस्ता श्रीमती राधिकाका विलाप—"हे सुमुखि! मैं श्रीकृष्णके मधुर नर्मवचनोंको अपने कर्ण-कुहरोंसे स्वच्छन्द रूपसे पान नहीं कर सकी। उनके मुखकमलकी कान्तिको भी निशङ्क मनसे देख नहीं सकी। उनके वक्षःस्थलमें भी पूर्ण रूपसे आलिङ्गित नहीं हुई। अब वही सब चिन्ताएँ मेरे मन और हृदयको विदीर्ण कर रही हैं॥"१०॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितभर्तृका श्रीराधा विलपति—निपीतेति। अत्रानुरागेण स्थायिना नर्मभणित्यादीनि मुहुरनुभूतान्येव क्रियन्त इति तथोक्तिः। अन्तर्ममान्तःकरणे लुठत् सन् मनः स्फुटति॥१०॥

अपराधाद्यथा—

हरेर्वचसि सूनृते न निहिता श्रुतिर्वा मया,
तथा दृगपि नार्पिता प्रणतिभाजि तस्मिन्पुरः।
हितोक्तिरपि धिक्कृता प्रियसखी मुहुस्तेन मे,
ज्वलत्यहह मुर्मुरज्वलनजालरुद्धं मनः॥११॥

तात्पर्यानुवाद—अपराधहेतुक विषाद—कलहान्तरिता अवस्थामें स्थित श्रीराधा अपने अपराधका स्मरण करते-करते विलाप कर रही हैं—"हाय-रे! मैं अतिशय क्रूर हूँ। मैंने हरिके सत्य और प्रियवचनोंको अनसुना कर दिया। मेरे सामने दण्डकी भाँति पतित होनेपर भी मैंने उनकी ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं किया। हितकारिणी प्रियसखी विशाखाका भी मैंने तिरस्कार किया। हाय-हाय! इस समय मेरा मन तुषाग्निसे पुनः-पुनः दग्ध हो रहा है॥"११॥

लोचनरोचनी—मुर्म्मुरज्वलनस्तुषाग्निः। दावाग्न्यादिवदेषां शब्दानां पृथक् पृथगपि प्रयोगः ॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरिता श्रीराधा विलपति—हरेरिति। सूनृते सत्यप्रिये, वामया क्रूरया। हितोक्तिर्हितोपदेशवाक्यम्। मुर्मुरज्वलनस्तुषाग्निः ॥११॥

अथ दैन्यम्—तद्दुःखेन यथा बिल्वमङ्गले (२/११)—

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द, श्वसनरसरसज्ञे तां नमस्कृत्य याचे।
मधुरमधरबिम्बं प्राप्तवत्यां भवत्यां, कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः ॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—दुःखवशतः दैन्य—श्रीकृष्णकी कृपासे बिल्वमङ्गल मधुररसाश्रित व्रजबालाओंके भावोंमें विभावित होकर मुरलीसे दीनतावश प्रार्थना कर रहे हैं—"हे मुरलि! श्रीकृष्णके मृदुमन्द हास्ययुक्त मुखकमलसे संस्पृष्ट वायुका तुम आस्वादन करती हो। हे देवि! इसीलिए मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ तुम्हारे निकट एक प्रार्थना है कि तुम जब उनके मधुर अधरबिम्बोंको प्राप्त होओ, उस समय मेरी इस दशाको (परम दुःसह वियोग जनित पीड़ाको) उन्हें निवेदन कर देना॥"१२॥

लोचनरोचनी—दैन्यं चात्मनिकृष्टतामननेन चाटुः। पूर्वेण रसशब्देन माधुर्यमुच्यते द्वितीयेन त्वास्वादः ॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—दैन्यमात्मनिकृष्टतामननम्। बिल्वमङ्गलाभिधो भक्तो व्रजबाला-भावभावितान्तःकरणं प्रार्थयते—अयीति। श्वसनरसः फूत्कारानिलमाधुर्यं तस्य रसज्ञे आस्वादविदुषि, मम दशां तत्प्राप्त्युत्कण्ठानल दह्यमानत्वम् ॥१२॥

यथा वा श्रीदशमे (२९/३८)—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं, प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—साधकभक्तकी श्रीकृष्णदर्शनजनित दुःखसे उत्पन्न दीनताका उदाहरण देकर इस पदमें सिद्धोंकी दैन्योक्तिको दिखला रहे हैं। श्रीव्रजदेवियोंकी प्रेमपरीक्षाके लिए श्रीकृष्णने पहले उनके प्रति उदासीनताका भाव प्रदर्शनकर जो कुछ कहा था, गोपियोंने प्रणय-स्वभावके कारण सत्य मान लिया और अत्यन्त दुःखसागरमें निमज्जित

होकर उनसे प्रार्थना करने लगीं—"हे दुःखनाशन कृष्ण! हमारे प्रति प्रसन्न होओ। स्वयं दुःख सहकर भी तुमने गोवर्द्धनको अपनी अंगुलीपर धारणकर, दावाग्निको पानकर नाना प्रकारसे व्रजवासी प्राणीमात्रके दुःखोंको दूर किया है, किन्तु वही दुःख तुम इस समय स्वयं हमको प्रदान कर रहे हो। क्या यह तुम्हारे लिए अनुचित नहीं है? देखो! हमने घर–बार एवं पति आदि सब कुछ छोड़कर तुम्हारे चरणोंका आश्रय लिया है, तुम्हारे चरणोंकी सेवाको छोड़कर हमारे हृदयमें और किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं है। यदि कहो कि जब तुमलोगोंने मुझे दुःख देनेवाला ही निश्चित कर लिया है, तो इसमें मेरा क्या दोष है? तुमलोगोंको मैं कैसे सुख दे सकता हूँ, तुम जैसे बतलाओ, मैं वैसा ही करूँ। इसके उत्तरमें कहती हैं—हे पुरुषशिरोमणि! तुम्हारी अत्यन्त सुन्दर हास्य–सम्वलित दृष्टिसे उद्भूत जो असहनीय काम अर्थात् तुम्हारी ही दासी होनेकी अभिलाषा है, उसकी अप्राप्तिसे ही हमारा चित्त क्षुब्ध हो रहा है। अतएव हमें अपनी सेवामें अधिकार प्रदान करो॥"१३॥

आनन्दचन्द्रिका—साधकभक्तस्य दैन्यमुदाहृत्य सिद्धानामपि तमुदाहर्तुमाह—यथावेति। रासारम्भे श्रीकृष्णस्यौदासीन्यव्यञ्जकवाक्येन व्याकुलाः सचाटु गोप्य आहुः—तन्न इति॥१३॥

त्रासेन यथा—

अपि करधूतिभिर्मयापनुन्नो मुखमयमञ्चति चञ्चलो द्विरेफः।
अघदमन मयि प्रसीद वन्दे कुरु करुणामवरुन्धि दुष्टमेनम्॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—त्रासहेतुक दैन्य—विलासकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ विहार करते–करते श्रीमती राधिकाने देखा कि उनके अङ्गसौरभसे आकृष्ट भ्रमर उनके मुखकमलके ऊपर पुनः–पुनः मँडरा रहे हैं। इससे वे अत्यन्त भयभीत होकर श्रीकृष्णसे दीनतापूर्वक कहने लगीं—"हे दुःखनाशन कृष्ण! देखो तो यह चञ्चल मूढ़ भ्रमर मेरे हाथोंके द्वारा बारम्बार निषेध किये जानेपर भी धूर्तकी भाँति पुनः–पुनः मेरे मुखकी ओर ही आ रहा है। अतः आप मेरे प्रति प्रसन्न होओ। मैं आपकी वन्दना करती हूँ। दया करके इस दुष्टको दूर भगाओ॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—वनविहारे श्रीराधा कृष्णमाह—अपीति। करधूतिभिः करचालनैः अपनुन्नो निरस्तोऽपि॥१४॥

अपराधेन यथा—

आलि तथ्यमपराद्धमेव ते दुष्टमानफणिदष्टया मया।
पिञ्छमौलिरधुनानुनीयतां मामकीनमनवेक्ष्य दूषणम्॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—अपराधवशतः दैन्य—एक दिन जब श्रीमतीराधाजी विशाखाको श्रीकृष्णके पास जानेके लिए प्रार्थना कर रही थी, तब विशाखा कुछ उलाहना देते हुए राधाजीसे कहने लगी—एक दिन तुम्हारे मानिनी होनेपर श्रीकृष्ण जब तुम्हारे समीप उपस्थित हुए और तुम्हारे चरणोंमें बारम्बार प्रणामकर अपने अपराधको क्षमा करनेके लिए प्रार्थना करने लगे। उसी समय मैंने आपसे कहा—"हे सखि! ये कान्त हमारे कोटि-कोटि प्राणोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्रिय हैं। इन्होंने केवलमात्र एक बार अपराध किया है। अतः इन्हें क्षमा कर दो", मेरे ऐसा कहनेपर तुमने मुझे कहा था—"हे दुर्बुद्धि विशाखे! तुम यहाँसे दूर चली जाओ। इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक मुझे दूर भगा दिया था। अब, वही तुम, क्यों स्वयं मेरे निकट आकर मुझसे उन्हें प्रसन्नकर बुलानेके लिए आग्रह कर रही हो?" ऐसा सुनकर श्रीराधा बड़ी नम्रतापूर्वक बोलीं—"सखि! यद्यपि मैंने यथार्थ रूपमें अपराध किया है तथापि इस विषयमें मेरा क्या दोष है? अर्थात् मेरा दोष नहीं। उस समय मानरूपी सर्पिणीने मुझे दंशन किया था। जैसा भी हो, हे सुन्दरि! तुम मेरे दोषोंके प्रति दृष्टिपात मत करो। शिखिपिञ्छमौलीसे ऐसा अनुनय-विनय करना कि वे मेरे प्रति विमुख न हों॥"१५॥

लोचनरोचनी—ते तव संबन्धे त्वयीत्यर्थः। अपराद्धमिति। तव वचनानवधानेनेति गम्यते। तत्र हेतुर्दुष्टेति॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णप्रणामसमये सखि राधे, त्वत्प्राणकोटेरधिकस्य कान्तस्यास्य सकृदप्यपराधं क्षमस्वेत्युक्तवत्यहं दुर्बुद्धे विशाखे! मदन्तिकादितो दूरीभवेत्याक्षिप्य तदानीं त्वयाहं दूरीकृता अभूवम्। संप्रति स्वयमेव मन्निकटं कथमायासीति वदन्तीं विशाखां श्रीराधा प्राह—आलीति। ते तुभ्यम्। मानफणीति। न हि सर्पदष्टो जनस्तद्विषोन्मादितः प्रलपन् बन्धुजनेनोपालभ्यत इति भावः। ननु श्रीकृष्णस्त्वयि विमुखो वर्त्तत इत्यत आह—पिञ्छेति॥१५॥

अथ ग्लानिः—सा श्रमेण यथा—

व्यात्युक्षीमघमथनेन पङ्कजाक्षी, कुर्वाणा किमपि सखीषु सस्मितासु।
क्षामाङ्गी मणिवलयं स्खलत्करान्तात्कालिन्दीपयसि रुरोध नाद्य राधा॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रमहेतुक ग्लानि—श्रमसे ग्लानि जिस प्रकार उदित होती है उसका उदाहरण देते हुए कह रहे है—यमुनाजलमें श्रीमती राधिका अपनी सहेलियोंको लेकर श्रीकृष्णके साथ जलकेलि कर रही थीं। आज कोई भी सखी श्रीकृष्णके साथ जलक्रीड़ामें समर्थ नहीं हो पा रही थी। श्रीकृष्ण सबको पराजित कर रहे थे। उसको देख करके श्रीमती राधिका अपनी सखियोंका तिरस्कार करती हुईं स्वयं ही श्रीकृष्णके साथ जलक्रीड़ामें प्रवृत्त हो गईं। किन्तु उससे उनको इतनी ग्लानि उत्पन्न हुई कि शरीरकी विवशताके कारण उनके हाथोंसे मणिनिर्मित चूड़ियाँ स्खलित होकर यमुनाजलमें गिरने लगे, किन्तु चूड़ियोंको गिरनेसे बचानेमें भी वे समर्थ न हो सकीं॥१६॥

लोचनरोचनी—ग्लानिर्निर्बलता। व्यात्युक्षीमन्योन्यसेचनम्॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—ग्लानिर्निर्बलता॥ वृन्दा पौर्णमासीमाह—व्यात्युक्षीं परस्परजल–सेकम्। सस्मितास्विति। सखीराक्षिप्य स्वयमेव द्वन्द्वयुद्धे प्रवृत्ता, अथ च तदपारयन्तीमहंकारमात्रावशिष्टां तां विलोक्येत्यर्थः। करान्तात् हस्ताग्रतः स्खलत् पतदपि वलयं न रुरोध रोद्धुं नाशकदित्यर्थः। तत्र हेतुः क्षामाङ्गीति॥१६॥

आधिना यथा हंसदूते (९५)—

प्रतीकारारम्भ श्लथमतिभिरुद्यत्परिणते–
र्विमुक्ताया व्यक्तस्मरकदनभाजः परिजनैः।
अमुञ्चन्ती सङ्गं कुवलयदृशः केवलमसौ,
बलादद्य प्राणानवति भवदाशा सहचरी॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—मनःपीड़ाहेतुक ग्लानि—माथुरविरहके कारण श्रीमती राधिकाको अत्यन्त व्याकुल देखकर ललिता उन्मत्त होकर हंसके द्वारा श्रीकृष्णको सन्देश भेज रही हैं—अरे हंस! तुम मथुरा प्रवासी श्रीकृष्णको मेरा यह सन्देश दे देना, "कमलनयना श्रीमती राधिका मदनपीड़ाके कारण दशम दशाको प्राप्त कर रही हैं। वे अब अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकतीं। उनकी सखियोंने उन्हें बचानेकी नाना प्रकारसे चेष्टा

की; किन्तु इस समय सम्पूर्ण रूपसे उन चेष्टाओंको भी त्याग दिया है। हे कृष्ण! तुम्हारे मिलनकी आशारूपी सहचरी श्रीराधिकाको किसी प्रकारसे भी त्याग नहीं कर रही है। अधिकन्तु निकलते हुए प्राणोंको बलपूर्वक देहसे निकलने नहीं दे रही। तुम विलम्ब न कर शीघ्र ही वृन्दावनमें पधारो॥"१७॥

लोचनरोचनी—कुवलयदृशः श्रीराधायाः प्राणान् केवलमसौ भवदाशा-सहचरी बलादद्यावति। कीदृश्याः। व्यक्तस्मरकदनभाजः। स्मरोऽत्र प्रेमविशेषस्तत्स्मरणम्। पुनः कीदृश्याः? परिजनैर्विमुक्तायाः। कीदृशैस्तैः। प्रतीकारारम्भश्लथमतिभिः। कुतस्तादृशता तेषामित्याशङ्क्य तादृगवस्थाविशेषमेव तत्र हेतुमाह—उद्यती उदयमाना परिणतिरन्तिमावस्था यस्यास्तादृश्याः। अहो आशासहचरी कीदृशी? तत्राह—सङ्गममुञ्चन्तीति। तदेवं ललिता स्वालीर्निन्दित्वा त्वामाशामेव स्तुवती तस्यास्तवाशायाः पालनं न भवता त्याज्यमिति व्यञ्जयति। अत्र च बलादद्यावतीति। बलं तु तस्याः श्वः स्थाता न वेति वितर्क्य तर्पयन्तमपि विलम्बं मा कार्षीरिति भावः॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता हंसं प्रति वदन्ती श्रीकृष्णं संदिशति—प्रतीति। कुवलयदृशः श्रीराधायाः प्राणान् भवदाशैव सहचरी केवलं बलादेव अवति देहान्निःसर्तुं न ददातीति प्राणेभ्योऽपि तस्याः प्राबल्यमुक्तम्। कीदृश्याः? व्यक्तः सर्वगोचरीभूतः स्मरस्त्वद्विषयकः प्रेमा। "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्॥" इत्युक्तेः। तेनैव यत्कदनं पीडा तद्वत्यः, न च तत् कदनं परिमातुं शक्यमिति पुनर्विशिनष्टि। उद्यन्ती परिणतिरन्तिमावस्था यस्यास्तादृश्याः। अतएव परिजनैरस्मद्विधैरियं न जीविष्यतीति निश्चयेन तत्कदनस्य प्रतीकारारम्भे श्लथमतिभिः सद्भिर्विमुक्तायाः। भूमिशय्यायां शयिताया इत्यर्थः। किञ्च आशैव असाध्येऽपि गदे स्वसामर्थ्येन चिकित्सितुं प्रवृत्तेत्याह—अमुञ्चन्ती सङ्गमिति। तेन त्वत्प्रेयसीं सा आशा सहचर्य्येव जीवयन्ती संप्रति वर्त्तते साचावधिदिवसात् परदिने न स्थास्यतीति भवता न ज्ञायत एव इति एतन्मध्ये शीघ्रमागन्तव्यमिति ध्वनिः॥१७॥

रतेन यथा श्रीगीतगोविन्दे (१२/१२)—

माराङ्के रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस-
प्रायं कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्संभ्रमात्।
निस्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—सुरतहेतुक ग्लानि—श्रीकृष्णके साथ विशेष सुरतक्रीड़ामें अत्यन्त क्लान्त श्रीमती राधिकाकी ग्लानिका श्रीजयदेव गोस्वामी वर्णन कर रहे हैं—युद्धके आरम्भमें वीरोंकी देह जैसे क्षत–प्रहारसे अलंकृत होती है उसी प्रकार युगलकिशोरके भी परस्पर सुरतकेलि व्याप्त कन्दर्पयुद्धके प्रारम्भमें ही श्रीमती राधिका (पुरुषायित भावसे) कान्तको जय करनेकी अभिलाषासे उनके वक्षस्थलके ऊपर अत्यधिक साहससे आवेग द्वारा अथवा शीघ्र ही जहाँ–जहाँ, जो–जो करना आरम्भ किया, उससे उनका नितम्ब–प्रदेश स्तब्ध हो गया, बाहुलता शिथिल हो गई, वक्षःस्थल महाप्रकम्पित हो उठा और आँखें बन्द हो गईं [स्तब्ध, शिथिल तथा महाप्रकम्पित होकर आँखें बन्द कर लेना, ग्लानिको प्रदर्शित करता है]—यह कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है; क्योंकि पुरुषकृत वीररसमें क्या स्त्रियाँ कभी सिद्ध हो सकती हैं अथवा रमणियाँ क्या कभी पुरुषोचित कार्य कर सकती हैं? ॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—सख्यः परस्परं श्रीराधाकृष्णयो रहस्यलीलामास्वादयन्ति। मारः कन्दर्पः श्लेषेण प्रहारः। माराङ्कश्चिह्नं यत्र तस्मिन्, रतिकेलिभिः संकुलो व्याप्तो यो रणस्तस्यारम्भे। तया श्रीराधाया। यद्यस्मात् किंचिदुपरीति रहस्यम्॥१८॥

अथ श्रमः—सोऽध्वनो यथा पद्यावल्याम्—अब श्रमका उदाहरण जैसा कि पद्यावलीमें रहा है—

> **द्वित्रैः केलिसरोरुहं त्रिचतुरैर्धम्मिल्लमल्लीस्त्रजं**
> **कण्ठान्मौक्तिकमालिकां तदनु च त्यक्त्वा पदैः पञ्चषैः।**
> **कृष्णप्रेमविघूर्णितान्तरतया दूराभिसारातुरा**
> **तन्वङ्गी निरुपायमध्वनि परं श्रोणीभरं निन्दति॥१९॥**

तात्पर्यानुवाद—पथभ्रमणहेतुक श्रम—श्रीकृष्ण सङ्केतकुञ्जमें विराजमान होकर श्रीमती राधिकाके अभिसारकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऐसा जानकर श्रीमती राधिका उनसे मिलनेके लिए अभिसार करने लगी, किन्तु उनके पथभ्रमणसे उत्पन्न परिश्रमको देखकर सखियाँ श्रीकृष्णसे कह रही हैं—“हे कृष्ण! आज क्षीणकटिवाली श्रीमती राधिकाने अभिसारके लिए प्रवृत्त होकर पहले अपने हस्तस्थित लीलाकमलको, तीन–चार पद अग्रसर

होकर केशबन्धनकी गर्भक नामक मल्लिकापुष्पकी मालाको और पाँच-छह पद और आगे बढ़नेपर अपने कण्ठोंकी मौक्तिकमालाको भी फेंक दिया। वे केवल तुम्हारे प्रति अपने प्रेमसे और उनके प्रति तुम्हारे प्रेमसे विघूर्णित चित्त होनेके कारण दूर अभिसार करनेके लिए पथमें आगे बढ़नेमें असमर्थ होकर केवल अपने नितम्बकी ही अधिक निन्दा करने लगी॥"१९॥

लोचनरोचनी—श्रमः क्लेशः। द्वित्रैरिति। कस्याश्चिद्दूत्याः श्रीकृष्णं प्रति वचनम्। अत्र कृष्णेति संबोधनमेव। निरुपायं प्रतीकारान्निष्क्रान्तम्। दूराभिसारे आतुरा सामर्थ्यरहिता॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—सख्यः परस्परं श्रीराधाभिसारलीलामास्वादयन्ति—द्वित्रैरिति। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रास्तैः पदैः पादविन्यासैः। एवं तदन्विति सर्वत्र योज्यम्। अतो केलिकलादयो भावाः सर्व एव त्यक्तास्तदप्यहं कथं शीघ्रं चलितुं न शक्नोमीति विमृशन्ती स्वश्रोणीं दृष्ट्वा अहो अस्या एव महाभारेण इति तं निरुपायं दुस्त्यजं निन्दति—धिक् त्वां त्वन्निर्मातारं विधातारं च धिगिति। यदि श्रोण्या भारो मे नाभविष्यत्तदा शीघ्रमभ्यसरिष्यमिति मे नास्ति दोष इति भावः॥१९॥

नृत्याद्यथा—

शिथिलगतिविलासास्तत्र हल्लीशरङ्गे,
हरिभुजपरिघाग्रन्यस्तहस्तारविन्दाः ।
श्रमलुलितललाटश्लिष्टलीलालकान्ताः,
प्रतिपदमनवद्याः सिष्विदुर्वेदिमध्याः॥२०॥

तात्पर्यानुवाद—नृत्यहेतुकश्रम—वृन्दा पौर्णमासीको कह रही है—"हे देवि! आज हल्लीशरङ्ग (रासविषयक नृत्यविशेष) में अनिन्दिता, क्षीणाङ्गी गोपियोंका गतिविलास स्खलित होनेपर वे क्लान्त हो श्रीहरिके स्कन्धदेशमें अपने हस्तकमलोंको रखकर खड़ी हो गईं। अतिशय श्रमके कारण उनके प्रत्येक अङ्गोंसे स्वेदकी बूँदे टपकने लगीं। उनके केलिसूचक चूर्णकुन्तल उनसबके ललाट प्रदेशसे संश्लिष्ट हो गये। उनका यह अनुपम माधुर्य, रूपवैदग्ध्य इस त्रिजगत्‌में अनुपम है॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—शिथिलेति। हल्लीशं रासनृत्यम्। श्रमेण लुलिताः स्रस्ताः ललाटे शिलष्टाः प्रस्वेदबिन्दुशिलष्टा लीलालकानां केलिसूचक-चूर्णकुन्तलानामन्ता अग्रभागा यासां ताः। वेद्या मध्यमिव क्षीणं मध्यं यासां ताः॥२०॥

रतेर्यथा—

अहह भुजयोर्द्वन्द्वं मन्दं बभूव विशाखिके,
समजनि घनस्वेदं चेदं युगं तव गण्डयोः।
धृतमधुरिमस्फूर्तिर्मूर्त्तिस्तथापि वरानने,
प्रमदसुधयाक्रान्तं स्वान्तं मम प्रणयत्यसौ॥२१॥

तात्पर्यानुवाद—रतिहेतुक श्रम—केलिनिकुञ्जमें विशाखाके साथ विहारपरायण श्रीकृष्ण, विविध प्रकारके विनोदसे क्लान्त होनेपर भी विशाखाकी तत्कालीन शोभाका वर्णन कर रहे हैं—"अहो विशाखे! तुम्हारी भुजाएँ शिथिल हो पड़ी हैं, ये दोनों गण्डप्रदेश भी पसीनेसे लथ-पथ हो गए हैं। तथापि हे सुन्दरवदने! तुम्हारी यह माधुर्यमयी मूर्त्ति मेरे मनको आनन्दामृतसे अभिषिक्त कर रही है॥"२१॥

लोचनरोचनी—मन्दत्वमपटुता। प्रणयति करोति॥२१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः संभुक्तां विशाखामाह—अहहेति। मन्दमपटु। "मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दा" इति नानार्थवर्गात्। मम स्वान्तं प्रमदसुधया आक्रान्तं प्रणयति करोति। अत्रानुवादविधेययोः पौर्वापर्याभावोऽनुप्रासानुरोधात् सोढव्यः॥**२१**॥

अथ मदः—समधुपानजो यथा—

या ह्रिया हरिपुरो मुखमुद्रां भङ्क्तुमध्यवससौ न कदापि।
सा पपाठ चटुलं मधु पीत्वा शारिकेव पशुपालकिशोरी॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—मधुपानहेतुक मद—सुरतशय्यामें श्रीकृष्णके साथ विहारपरायणा किसी गोपीके मधुपान हेतु विकारको देखकर कुन्दवल्ली नान्दीमुखीसे कह रही है—"क्या ही आश्चर्यकी बात है? पहले जिसने श्रीकृष्णके सम्मुख कभी भी अपने मुखको खोलनेकी चेष्टा नहीं की, इस समय वही किशोरी मधुपानकर सारिकाकी भाँति कैसे सुन्दर पाठ कर रही है?"॥२२॥

लोचनरोचनी—मदो विवेकहरोल्लासः। नाध्यवससौ नाध्यवसितवती। नेष्टवतीत्यर्थः॥२२॥

आनन्दचन्द्रिका—मदो मधुपानोत्था मत्तता विवेकशून्या। कुन्दवल्ली नान्दीमुखीमाह—येति। नाध्यवससौ नेष्टवती। अनङ्गविक्रियाभरजो मदस्तु प्रायः स्वाभियोग एव पर्यवस्यतीत्यत्र नोद्दिष्टः॥२२॥

अर्थ गर्वः—स सौभाग्येन यथा—

मुञ्चन्मित्रकदम्बसंगमभजन्नप्युत्सुकाः प्रेयसी
रेष द्वारि हरिस्त्वदाननतटीन्यस्तेक्षणस्तिष्ठति।
यूथीभिर्मकराकृति स्मितमुखी त्वं कुर्वती कुण्डलं
गण्डोद्यत्पुलका दृशोऽपि न किल क्षीबे क्षिपस्यञ्चलम्॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—सौभाग्यसे उदित गर्व—श्रीकृष्णको अपने घरमें उपस्थित देखकर भी सौभाग्य अतिशयके कारण गर्वसे कुण्डल निर्माणमें आवेशका बहाना बनाकर, मानो उन्होंने श्रीकृष्णको देखा ही नहीं है—ऐसी श्रीमती राधिकाको तिरस्कार करती हुई विशाखा कह रही है—“हे सखि! अत्यन्त प्रिय सखाओंका सङ्ग त्यागकर, परम उत्कण्ठिता चन्द्रावली प्रभृति प्रेयसियोंका भी अनादरकर, ये हरि तुम्हारे द्वारपर तुम्हारे मुखकमलपर अपनी दृष्टिको स्थिरकर तुम्हारे कृपाकटाक्षके लिए खड़े हैं और इसपर भी तुम मुस्कुराती हुई प्रफुल्ल कपोलोंसे यूथिका कुसुमके द्वारा मकराकृत कुण्डल-रचनामें ही आविष्ट हो रही हो। एक बार भी आँखें उठाकर इनकी ओर देख नहीं रही हो। अरी सखि! तुम एकबार तो दृष्टिपात करो॥”२३॥

लोचनरोचनी—गर्वोऽन्यहेलनम्॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—गर्वोऽन्यहेलनम्। विशाखा कुञ्जमन्दिरस्थां श्रीराधां प्रत्याह—मुञ्चन्निति। अभजन् नैवेच्छन्नित्यर्थः। मकराकृतीति कुण्डलमपि श्रीकृष्णार्थमेव करोषि तदपि दृशोऽञ्चलं न क्षिपसि। स्मितमुखीति हर्षोत्थं स्मितमपि रोद्धुं न शक्नोषि तदपीति पूर्ववत्। उत्पुलकेति। पुलका एव तवौत्सुक्यं कथयन्ति तदपीति पूर्ववत्। विव्वोकोऽयम्॥२३॥

रूपेण यथा—

चन्द्रावलीवदनचन्द्रमरीचिपुञ्जं,
कः स्तोतुमप्यतिपटुः क्षमते क्षमायाम्।
येनाद्य पिञ्छमुकुटोऽपि निकेतवाटी–
पर्य्यन्तकाननकुटीरचरः कृतोऽयम्॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—रूपहेतु गर्व—किसी समय गोपियोंकी सभामें चन्द्रावलीके रूप और गुणके प्रति ललिताके द्वारा कटाक्ष किए जानेपर चन्द्रावलीकी सखी पद्मा उसे सहन नहीं कर सकी। वह प्रकाश्य रूपसे सबके सामने कहने लगी—"ललिते! इस पृथ्वीमें ऐसा कौन कुशल व्यक्ति है, जो चन्द्रावलीके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाओंकी वन्दना करनेमें सक्षम हो सके; क्योंकि इस चन्द्रिकाने मोरमुकुटधारीको भी चन्द्रावलीके गृहके समीपवर्ती कानन–स्थित कुञ्जमें विचरण करनेके लिए बाध्य कर दिया है अर्थात् चन्द्रावलीकी मुखकान्ति द्वारा श्रीकृष्ण आकर्षित होकर कुञ्ज–कुञ्जमें इधर–उधर भ्रमण कर रहे हैं॥"२४॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचित्संसदि चन्द्रावलीसौन्दर्य्यकृतकटाक्षायां ललितायां पद्मा ससंरम्भमाह—चन्द्रावलीति। येन मरीचिपुञ्जेन॥२४॥

यथा वा विदग्धमाधवे (७/२७)—

सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते।
चन्द्रावलीशतान्यपि भवन्ति निर्धूतकान्तीनि॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें पद्माकी श्लाघाका उदाहरण देकर उससे पूर्णरूपसे सन्तुष्ट न होनेपर अपनी स्वामिनी श्रीमती राधिकाका उत्कर्ष दिखलानेके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। सौभाग्य पूर्णिमाके दिन सङ्कर्षणकुण्डके निकट श्रीकृष्णके साथ सखियों सहित चन्द्रावली मिलित हुईं। उस समय श्रीकृष्णको ढूँढ़ते हुए ललिता भी वहाँ उपस्थित होकर प्रसङ्गवश पद्मा और शैव्याके सामने ही स्पर्धाके कारण धैर्यरहित होकर स्वपक्षका उत्कर्ष प्रदर्शन करती हुई बोली—"हे सखि पद्मे! तुम इतना गर्व क्यों कर रही हो? वृषभानुजाके प्रादुर्भावसे शत–शत चन्द्रावलीकी कान्ति भी फीकी पड़ जाती है।"

उल्लिखित उदाहरणमें 'वृषभानुजा' शब्दका अर्थान्तर वृषराशिस्थित भानु अर्थात् सूर्यकी प्रभासे है तथा 'चन्द्रावली' शब्दसे चन्द्रश्रेणी॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधिकायामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। तां पद्मोक्तिमाकर्ण्य ललिता साटोपमाह—सहेति। वृषभानुजया ज्येष्ठमासीयसूर्योत्थया वरत्विषा श्रेष्ठकान्त्या कर्त्र्या प्रादुर्भावे उपगते प्राप्ते सति चन्द्रश्रेणीशतान्यपीत्यादि, पक्षे वृषभानुजया श्रीराधया। कीदृश्या? वरत्विषा॥२५॥

गुणेन यथा—

रमयन्तु तावदमलैर्ध्वनिभिर्गोपीकपोतिकाः कृष्णम्।
इह ललिताकलकण्ठी कलं न यावत्प्रपञ्चयति॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—गुणहेतु गर्व—एक समय सखीसमाजमें इस विषयपर चर्चा हो रही थी कि किस गोपीके सङ्गीतसे श्रीकृष्ण अधिक सुखी होते हैं। इसपर सभी गोपियाँ अपने-अपने सङ्गीतकी प्रशंसा करने लगीं। इससे ललिताकी कोई सखी असहिष्णु होकर बड़े गर्वसे बोली—"इस सारे व्रजमें गोपी कपोतिकाएँ (कबूतरियाँ) तब तक सुन्दर सुस्वर सम्वलित अपने सुन्दर सङ्गीतसे श्रीकृष्णको सुखदान करें, जब तक कलकण्ठी (सुन्दर कण्ठवाली) ललिता अपने मधुर कण्ठकी मधुर ध्वनिका विस्तार नहीं करती। अर्थात् व्रजमें गोपीरूपी कपोतिकाएँ अपने-अपने सङ्गीतकी मधुर ध्वनिसे तब तक श्रीकृष्णको प्रसन्न करें, जब तक ललितारूपी कोकिल अपने कुहूध्वनिका विस्तार न करें। अर्थात् ललिता ही सबसे श्रेष्ठ सङ्गीतज्ञा है॥२६॥

लोचनरोचनी—ललितैव कलकण्ठी कोकिला॥२६॥

आनन्दचन्द्रिका—विपक्षसुन्दरीसंसदि गानप्रस्तावे ललितायाः सखी प्राह—ललितैव कलकण्ठी कोकिला॥२६॥

सर्वोत्तमाश्रयेण यथा श्रीविष्णुपुराणे (५/३०/४९)—

जानामि ते पतिं शक्रं जानामि त्रिदशेश्वरम्।
पारिजातं तथाप्येनं मानुषी हारयामि ते॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—सर्वोत्तम आश्रयहेतु गर्व—श्रीकृष्णके साथ इन्द्रभवनमें उपस्थित होनेपर सत्यभामाने इन्द्रकी पत्नी शचीके निकट एक पारिजात

पुष्पके लिए प्रार्थना की। उस समय इन्द्राणी शचीने कहा—"यह पुष्प तुम जैसी मानुषीके लिए उपयुक्त नहीं है।" यह बात सुनकर श्रीकृष्णने सत्यभामासे कहा—"इस पारिजात वृक्षको ही उखाड़कर तुम्हारी गृहवाटिकामें ले चल रहा हूँ।" कान्तका आश्वासन पाकर वह अत्यन्त गर्वसे इन्द्राणीको उपहासपूर्वक कहने लगी—"मैं जानती हूँ कि तुम्हारे पति स्वर्गके राजा इन्द्र हैं, किन्तु मैं मानुषी होनेपर भी श्रीकृष्णके द्वारा तुम्हारे पारिजातको ले जाऊँगी॥"२७॥

लोचनरोचनी—जानामीति श्रीसत्यभामावाक्यम्॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—सत्यभामा शचीं संदिशति—जानामीति॥२७॥

इष्टलाभेन यथा—

नम्रा न भवतु वंशी मुकुन्दवक्त्रेन्दुमाधुरीरसिका।
त्वं दुर्लभतद्गन्धा लगुडि वृथा स्तब्धतां वहसि॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—इष्टलाभहेतुक गर्व—मादनाख्य महाभाववती श्रीमती राधिका अचेतन वस्तुमें भी मनुष्यबुद्धि कर वंशी आदिमें ईर्ष्याहेतु गर्वकी उत्प्रेक्षाकर श्रीकृष्णकी लकुटीका तिरस्कार कर रही है—अरे लकुटि! श्रीकृष्णके मुखचन्द्रके माधुर्यका आस्वादन करनेवाली मुरली नम्र हो या न हो, किन्तु तुम तो इनके वदनचन्द्रका गन्ध भी नहीं पाती; क्योंकि सर्वदा ही उनके हाथमें रहती हो। फिर भी तुम वृथा ही इतना गर्व क्यों करती हो?॥२८॥

लोचनरोचनी—नम्रेत्यत्रोत्प्रेक्षितमात्रोऽपि गर्वः श्रोत णां चेतसि सत्यवद्भातीत्युदा-हृतम्॥२८॥

आनन्दचन्द्रिका—चोरितां श्रीकृष्णलगुडीं रहसि स्वसखीसदसि श्रीराधा साक्षेपमाह—नम्रेति। अत्र वंश्याः गर्वं व्यञ्जितं तुष्टाव, लगुड्या निनिन्द॥२८॥

यथा वा श्रीदशमे (१०/८३/२९)—

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम्॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—लोकदृष्टिमें अचेतन वस्तुमें भी इष्टलाभजनित गर्वका उदाहरण देकर उससे सन्तुष्ट न होकर कवि दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें समागत श्रीकृष्णकी महिषियोंके समाजमें द्रौपदी द्वारा पूछे जानेपर लक्ष्मणा देवी अपने विवाहके विवरण प्रसङ्गमें अपनी अभीष्ट पूर्तिके विषयमें बतला रही हैं—"हे देवि! श्रीकृष्ण किधर हैं? यह जाननेके लिए मैं अपने दीर्घ केशकलाप और कुण्डलोंकी कान्तिसे परिमण्डित अपने मुखको ऊपर उठाकर वहाँ एकत्रित असंख्य राजाओंसे भरी हुई सभामें चारों ओर देखने लगी। मैंने मृदुमन्द गति और मृदुहास्यसे सुशोभित कटाक्षभङ्गिमाके साथ श्रीकृष्णके गलेमें ही स्वयंवरमालाको प्रदान किया; क्योंकि बाल्यकालसे ही उनकी अतुलनीय रूपराशि और मधुरगुणोंको श्रवणकर मैंने अपना चित्त उन्हींके चरणोंमें अर्पित कर दिया था॥"२९॥

लोचनरोचनी—उन्नीयेति। लक्ष्मणायाः स्वयंवरणायागतायाश्चरितं स्वयमेव तया कथितम्। उरुकुन्तलेत्यादिलक्षणं वक्त्रमुन्नीय स्वयंवरणीयस्य मुरारेर्दर्शनस्यान्यथानुपपत्तेरुन्नमय्य मुरारेरंसे स्कन्धे स्वां स्वयंवरणाय स्वेन रचितां मालां निदधे निहितवत्यस्मि। किं कृत्वा। शनकैरवज्ञया मन्दं मन्दं राज्ञो निरीक्ष्य। निरीक्षणपूर्वकं परित्यज्येत्यर्थः। कैरुपलक्षितां मालां निहितवत्यस्मि तत्राह—शिशिरः शिशिरकरांशुरिव हर्षस्वाभाविको हासः स्मितं येषु तादृशैः कटाक्षमोक्षैरपाङ्गदृष्टिविसृष्टिभिः। तत्र कारणमाह—अनुरक्त हृदयेति॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—पुरसुन्दरीष्वपि व्यभिचारिभावा एवं सर्व एवोदाहर्त्तव्या इति ज्ञापयितुमाह—यथा वेति। लक्ष्मणा कुरुक्षेत्रे युवतिसंसदि स्वीयस्वयंवरणचरित्रं द्रौपदीमाह—उन्नीयेति। परितश्चतुर्दिक्षु स्थितान् राज्ञो निरीक्ष्येति मद्वरणीयः श्रुतचररूपगुणः श्रीकृष्णः क्व खलूपविष्ट इति तमन्वेष्टुमिति भावः। ततश्चोरुकुन्तलेत्यादिलक्षणं वक्त्रमुन्नीय शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः सह मुरारेरंसे स्कन्धे मालां स्वयंवरणद्योतिनीं पुष्पस्रजं निदधे निहितवत्यस्मि इति स्वगर्वो व्यञ्जितः॥२९॥

अथ शङ्का सा चौर्येण यथा—

हरन्ती निद्राणे मधुभिदि करात्केलिमुरलीं,
लतोत्सङ्गे लीना घनतमसि राधा चकितधीः।
निशि ध्वान्ते शान्ते शरदमलचन्द्रद्युतिमुषा-
मसौ निर्मातारं स्ववदनरुचां निन्दति विधिम्॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—चौर्यहेतु शङ्का—क्रीड़ाकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ श्रीराधिकाने विहार करते-करते देखा कि प्राणेश्वर रसोल्लासवश निद्रित हो रहे हैं। उस समय उनके हाथसे मुरलीकी चोरी करनेके लिए शङ्काग्रस्त श्रीराधिकाकी चेष्टाको वृन्दा कुञ्जसे बाहर रहकर अपनी किसी सखीसे कह रही है—"आज केलिकुञ्जमें श्रीकृष्णके निद्रित होनेपर उनकी मुरली चुरानेकी इच्छासे श्रीराधिका उनके हाथोंसे मुरलीको लेकर घोर अन्धकारमयी लताजालमें छिप गईं। उस समय उनकी मुखकान्तिसे हठात् अन्धकार विनष्ट होते देखकर वे शारदीय विमलचन्द्रकान्ति-विजयी निजमुखके निर्माता विधाताकी ही निन्दा करने लगीं॥"३०॥

लोचनरोचनी—अथ शङ्केति। तल्लक्षणं चोक्तम्—स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं शङ्केति। भयं त्वस्याः कार्य्यम्। तच्च लक्षितम्—"भयं चित्तातिचाञ्चल्यं मत्तघोरेक्षणादिभिः।" हरन्तीत्यादौ "लतोत्सङ्गे लीना वृषरविसुता यत्र तमसि घने तस्मिन् शान्ते निजवदनकान्तेर्विततिभिः। विधातारं तासां जितविधुरुचां निन्दति विधिम्" इति चान्तिमचरणत्रयमस्ति॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—शङ्का स्वानिष्टोत्प्रेक्षणम्। श्रीराधिकामुरलीचौर्य्यलीलां सख्यः परस्परमास्वादयन्ति—हरन्तीति। निद्राणे लब्धनिद्रे सति केलिमुरलीं हरन्ती हर्त्तुमिच्छन्तीत्यर्थः। ततश्च ध्वान्ते शान्ते विरते सति। चकितधीः अहो कथमकस्मादन्धकारपुञ्जो नष्ट इति स्वप्रकाशभयात् त्रस्तचित्ता। ततश्च विमृश्य ध्वान्तध्वंसकारणं स्वमुखकिरणजालमेव ज्ञात्वा स्वमुखरुचां निर्मातारं विधिं विधातारमेव निन्दति—यदि विधाता मन्मुखकान्तीरीदृशीर्नास्रक्ष्यत् तदाहमधुनैव मुरलीमचोरयिष्यमिति मदभिलषिते स एव विघ्नकरोऽभूदिति धिक् तं विधातारमिति भावः॥३०॥

अपराधाद्यथा ललितमाधवे (२/४)—

> **उत्ताम्यन्ती विरमति तमस्तोमसंपत्प्रपञ्चे,**
> **न्यञ्चन्मूर्द्धा सरभसमसौ त्रस्तवेणीवृतांसा।**
> **मन्दस्पन्दं दिशि दिशि दृशोर्द्वन्द्वमल्पं क्षिपन्ती,**
> **कुञ्जाद्गोष्ठं विशति चकिता वक्त्रमावृत्य पाली॥३१॥**

तात्पर्यानुवाद—अपराधहेतुक—रात्रिकालमें कुञ्जके भीतर श्रीकृष्णके साथ विहार करनेके पश्चात् प्रभातकाल आरम्भ होनेपर अपने गृहमें

आगमन करनेवाली पालीकी अपने अपराधके कारण सशङ्कित चेष्टा करते देखकर वृन्दा अपनी एक सखीसे कह रही है—"सखि! रातके समय जो घोर अन्धकार सम्पत्तिस्वरूप हो रहा था, निशाके अन्तमें वह सहसा दूर होते ही हाय! प्रभात हो गया। अब कैसे घर जाऊँ? इस आशङ्कासे पाली बड़ी व्याकुल हो उठी। दूरवर्ती लोग मुझे यहाँ देख न लें, इस भयसे मुख नीचेकर बड़ी तीव्र गतिसे इधर-उधर देखती हुई जाने लगी। कहीं समीपमें कोई परिचित व्यक्ति मुझे पहचान न ले, इस आशङ्कासे अपनी वेणीको मुक्तकर उससे अपने मुखको भी ढककर रात्रि-जागरणसे अलसाङ्गी होकर, देखो, किस प्रकार कुञ्जसे अपने घरकी ओर जा रही है?"॥३१॥

लोचनरोचनी—चकिता भीता॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दाह—उत्ताम्यन्तीति। हन्त प्रातर्जातं कथमद्य गोष्ठं प्रविशामीति विह्वलेत्यर्थः। न्यञ्चन्मूर्द्धेति। दूरस्थः कोऽपि मां पश्यन्नपि न परिचिनोत्वित्यभिप्रायेण। सरभसं सत्वरम्। मन्दस्पन्दमिति। रजन्युज्जागरेण। वक्त्रमावृत्येति। समीपागतोऽपि जनो मां न परिचिनोत्विति बुद्ध्या॥३१॥

शङ्का तु प्रवरस्त्रीणां भीरुत्वाद्भयकृद्भवेत्॥३२॥

तात्पर्यानुवाद—वराङ्गनाएँ स्वभावतः भीरु होती हैं। इसलिए उनकी शङ्काएँ भयको उत्पन्न करनेवाली होती हैं। अल्प परिमाणमें भयको ही शङ्का कहते हैं। फिर प्रचुर रूपमें शङ्का ही भयानक रसके स्थायीभाव भयके रूपमें पर्यवसित हो जाती है॥३२॥

लोचनरोचनी—तर्हि कथं शङ्काया एवोदाहरणमत्र कृतं तत्राह—शङ्का त्विति। शङ्का तु भयं न व्यभिचरत्येव प्रवरस्त्रीणां तु विशेषतः। तत् कथं तद्विनोदाहर्तव्यमिति भावः॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र शङ्कायाः कारणमपराधः स च स्वकुलधर्मोल्लंघनरूपः, तथा भयानकरसस्य स्थायी यद्भयं तस्यापि कारणमपराधः। यदुक्तम्—"भयं चित्तातिचाञ्चल्यं मन्तुघोरेक्षणादिभिः।" इति। तस्माद्भयस्य सान्द्रत्वे स्थायित्वमसान्द्रत्वे शङ्काभिधानतया व्यभिचारित्वमिति भेदः कल्प्यः। किं चात्र शङ्का त्विति। प्रवरस्त्रीणां

भीरुत्वाद्धेतोः शङ्का तु भयकृत् भयस्य कर्त्री स्यात्। प्रथममसान्द्रं स्तोकमेव भयं शङ्काख्यं स्यात्। तदेव क्षणमात्रत एव सान्द्रं बहुलं सत् भयानकरसस्य स्थायिभावो भयं स्यादित्यर्थः॥३२॥

परक्रौर्याद्यथा विदग्धमाधवे (५/२३)—

व्यक्तिं गते मम रहस्यविनोदवृत्ते,
रुष्टो लघिष्ठहृदयस्तरसाभिमन्युः।
राधां निरुध्य सदने विनिगूहते वा,
हा हन्त लम्भयति वा यदुराजधानीम्॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरोंकी क्रूरता हेतु शङ्का—श्रीराधावेशधारी सुबलको अपनी बहू समझकर क्रोधवशतः जटिला श्रीकृष्णके निकटसे बलपूर्वक खींचकर व्रजकी ओर जाने लगी। ऐसा देखकर श्रीकृष्ण उस समय बड़े अनुतापके साथ कहने लगे—"यदि मेरे इस रहस्यपूर्ण विनोद-वृत्तान्तकी बात कहीं प्रकट हो गई, तो उससे क्षुद्रमतीवाला अभिमन्यु शीघ्र ही श्रीराधाको अपने घरमें अवरुद्ध कर देगा अथवा उसे निर्जनमें कहीं छिपाकर रखेगा अथवा यदुराजकी राजधानी मथरुामें ही उसे ले जाएगा। हाय! अब मैं क्या करूँ?"॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधावेशधारिणं सुबलं स्ववधूं ज्ञात्वा जटिलया श्रीकृष्णसमीपात् कोपेन गोपीनां सभां प्रति नीतमालोक्य स श्रीकृष्णोऽपि तत्संदर्भमजानन् सानुतापमाह—व्यक्तिमिति॥३३॥

अथ त्रासः—स तडिता यथा—

स्फुर्जिते नभसि भीरुरुद्यतां विद्युतां द्युतिमवेक्ष्य कम्पिता।
सा हरेरुरसि चञ्चलेक्षणा चञ्चलेव जलदे न्यलीयत॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—विद्युत्के कारण त्रास (भय)—केलिनिकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ विहारिणी श्रीमती राधिकाको भीषण मेघ-गर्जन और विद्युत् प्रकाशके भयसे श्रीकृष्णकी गोदमें लीन होते देखकर रूपमञ्जरीने कुन्दलतासे कहा—भीरु-स्वभावकी राधिका मेघ-गर्जनके साथ विद्युत् प्रकाशको देखकर भयसे काँपती हुई चकित-नेत्रोंसे चञ्चल-विद्युत्की भाँति श्रीकृष्णके वक्षमें विलीन हो गईं॥३४॥

लोचनरोचनी—अथ त्रास इति। तल्लक्षणम्—"त्रासः क्षोभो हृदि तडिद्घोरसत्त्वोग्रनिस्वनैः।" इति। "गात्रोत्कम्पी मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासाद्विभिद्यते॥" इति॥३४॥

आनन्दचन्द्रिका—त्रासोऽकस्माद्विद्युदादिभिर्मनसः कम्पः, पूर्वापरविचारोत्था शङ्का, सैवातिसान्द्रा बहुला भयमिति त्रासशङ्काभयानां भेदः॥ श्रीरूपमञ्जरी कुन्दवल्लीं प्रत्याह—स्फूर्जिते इति। नभसि आकाशे स्फूर्जिते मेघगर्जनेन शब्दिते सति उद्यतामुद्गताम्। सा राधा चञ्चलेव विद्युदिव॥३४॥

घोरसत्त्वेन यथा विदग्धमाधवे (५/४४)—

कर्णोत्तंसितरक्तपङ्कजजुषो भृङ्गीपतेर्झङ्क्रिया,
भ्रान्तेनाद्य दृगञ्चलेन दधती भृङ्गावलीविभ्रमम्।
त्रासान्दोलितदोर्लतान्तविचलच्चूडाझणत्कारिणी,
राधे व्याकुलतां गतापि भवती मोदं ममाधास्यति॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—भयानक जन्तुओंसे उत्पन्न त्रास—वनविहारके समय वृन्दादेवीके द्वारा लाए गए दो रक्तवर्णके कमल पुष्पोंको श्रीकृष्णने श्रीराधाके कानोंमें कर्णभूषणके रूपमें पहनाया। उसके मधुकी सुगन्धके लोभसे आते हुए भ्रमरकी झङ्कार सुनकर भयभीत श्रीराधिकाके कार्यकलापको देखकर प्राणेश्वर श्रीकृष्ण हँसते हुए कह रहे हैं—"हे राधे! तुम्हारे कानोंमें भूषणस्वरूप धारण किए हुए लालकमलका सेवन करनेके लिए समागत भ्रमरकी झङ्कारको सुनकर ही तुम अपनी घूर्णित अपाङ्गभङ्गिमाके द्वारा शत-शत भ्रमरोंके विलासको उत्पन्न कर रही हो। डरसे इधर-उधर अपनी बाहुलताओंको प्रक्षिप्त (इधर-उधर फैंकती हुई) करती हुई अपने हाथोंमें पहने हुए वलयसमूहको झंकृत भी कर रही हो। हे प्रिये! व्याकुल होकर भी तुम मुझे आनन्द ही प्रदान कर रही हो॥"३५॥

लोचनरोचनी—कर्णोत्तंसितेति श्रीकृष्णवचनम्। चूडाः कङ्कणाः आधास्यति अर्पयति। ममेति सप्तम्यर्थे संबन्धसामान्यास्तित्वविवक्षया षष्ठी॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—कर्णोत्तंसितेति। दृगञ्चलेनेति जात्या एक-वचनम्। मुहुर्मुहुस्तिर्यग्गतैर्दृगञ्चलैरित्यर्थः। त्रासेनान्दोलितयोरितस्ततो विक्षिप्त-योर्दोर्ल्लतयोरन्तर्वर्तिनीनां विचलन्तीनां चूडानां वलयानां झणत्कारवती। "चूडा

शिखायां वलभौ चूडा बाहुविभूषणे।" इति विश्वः। वाहुशब्देन करपर्य्यन्तोऽप्यसावुच्यते। आजानुबाह्वादिशब्दप्रयोगात् अध्यस्यत्यर्पयति। अत्र तव कष्टं मम मोद इत्यस्य विवक्षितत्वात् संबन्धस्य प्राधान्यात् षष्ठी॥३५॥

उग्रनिस्वनेन यथा—

त्वमसि मम सखेति किंवदन्ती मुदिर चिराद्भवता व्यधायि तथ्या।
मृदुरसि रसितै र्निरस्य मानं यदुदितवेपथुरर्पिताद्य राधा॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—भयानक शब्द हेतु त्रास—श्रीकृष्णने आकाशमें मेघोंको कुपित होते देखकर कहा—"हे मेघ! तुम मेरे सखा हो, इस प्रकारकी जो किंवदन्ती है, बहुत दिनोंके बाद आज सत्य हुई; क्योंकि तुमने अपनी गर्जनाके द्वारा श्रीमती राधिकाका मान दूरकर उनको मेरे हृदयसे लगा दिया। अतः हे सखे! इसीका नाम बन्धुत्व है॥"३६॥

लोचनरोचनी—त्वमसीति। श्रीकृष्णवाक्यम्, किंवदन्ती च "सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्" इत्यादिरूपा। आवेगश्चित्तस्य संभ्रमः॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्ण आह—त्वमिति। "किंवदन्ती सख्युर्व्यधात्स्व-वपुषाम्बुद आतपत्रम्" इत्यादिरूपा। "किंवदन्ती जनश्रुतिः" इत्यमरः। मुदिर हे मेघ, तथ्या सत्या रसितैर्गर्जनशब्दैः॥३६॥

अथ वेगः—स प्रियदर्शनजो यथा ललितमाधवे (२/११)—

सहचरि निरातङ्कः कोऽयं युवा मुदिरद्युति-
र्व्रजभुवि कुतः प्राप्तो माद्यन्मतङ्गजविभ्रमः।
अहह चटुलैरुत्सर्पद्भिर्दृगञ्चलतस्करै-
र्मम धृतिधनं चेतःकोषाद्विलुण्ठयतीह यः॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—आवेग अर्थात् चित्त-विभ्रमहेतु किंकर्त्तव्यविमूढ़ होना ही आवेग कहलाता है।

प्रियदर्शनजात चित्तविभ्रम—श्रीमती राधिकाकी अतिशय उत्कण्ठाको जानकर जब कुन्दलताने जटिलाकी आज्ञा लेकर सूर्यपूजाके बहाने उनका ब्राह्मण-बालक-पुजारी वेशधारी श्रीकृष्णके साथ मिलन कराया, तब श्रीराधा अपने प्रियतमको पहचान न सकी। श्रीकृष्णका विषयालम्बन आवृत रहनेपर भी उनके प्रति अपने मनकी स्वाभाविक आसक्ति देखकर

श्रीमती राधिका वितर्क करने लगी—"हे सखि! ये निडर, निशङ्क, जलदकान्ति युवा व्रजमण्डलमें कहाँसे आए हैं? ये मतवाले हाथीकी भाँति गतिविलासको अङ्गीकार कर रहे हैं। अहो! ये अपने चञ्चल नेत्राञ्चलरूप चोरके द्वारा मेरे अन्तःकरणरूप कोषागारको लुण्ठनकर मेरे धैर्यधनका भी अपहरण कर रहे हैं॥"३७॥

लोचनरोचनी—प्रतिक्षणं नवनवायमानं तं दृष्ट्वा श्रीराधावचनम्॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—"आवेगश्चित्तसंभ्रमः" इतिकर्तव्यतामूढ इति यावत्॥ अनुरागाख्य स्थायिभाववती श्रीराधा वितर्कयति—सहचरीति॥३७॥

यथा वा तत्रैव—

उपतरु ललितां तां प्रत्यभिज्ञाय सद्यः,
प्रकृतिमधुररूपां प्रेक्ष्य राधाकृतिं च।
मणिमपि परिचिन्वन् शङ्खचूडावतंसं,
मुहुरहमुदघूर्णं भूरिणा संभ्रमेण॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके आवेगका वर्णन—ललितमाधवकी कथानुसार माथुरविरहोन्मादमें श्रीमती राधिकाने विशाखाके साथ खेलातीर्थमें निमग्न होनेपर सूर्यमण्डलमें उपस्थित होकर अपने कण्ठसे शंखचूड़के शिरोभूषण स्यमन्तक नामक मणि सूर्यदेवको उपहार स्वरूप प्रदान की। इधर ललिता श्रीराधाके विरहज्वरसे उन्मत्त होकर गोवर्द्धनमें पर्वतसे गिरकर प्राण त्याग करने जा रही थी। उसी समय जाम्बवान अपने हाथोंमें उसे पकड़कर अपनी गुफामें अन्दर ले गए और उसका नाम जाम्बवती रखकर अपनी कन्याके रूपमें उसका पालन-पोषण किया। अनन्तर वही जाम्बवती नाम धारण करनेवाली ललिता इन्द्रनीलमणि और जाम्बूनद हेम (स्वर्ण) द्वारा श्रीकृष्ण और श्रीराधाकी दो प्रतिमाओंका निर्माणकर उन दोनोंका दर्शनकर किसी प्रकार समय बिताने लगी। दूसरी ओर सूर्यदेवने श्रीमती राधिकाका नाम सत्यभामा और शंखचूड़की मणिका नाम स्यमन्तक रखकर भक्त सत्राजितको वह कन्या और रत्न दोनों प्रदान कर दिए। अनन्तर सत्राजित द्वारा मणिहरणका कलङ्क लगानेके कारण श्रीकृष्ण जाम्बवानकी पुरीमें उपस्थित हुए। जाम्बवानने भी युद्धके अन्तमें अपने

प्रभुको पहचानकर रत्नालङ्कारादिसे युक्त पलङ्कके ऊपर उनको बैठाकर मणि लानेके लिए अन्तःपुरमें प्रवेश किया। इसी बीच किसी वृद्धाने आकर जाम्बवती नाम धारण करनेवाली ललिताके पूर्व–वृत्तान्तको सुनाया। ललिता उस बूढ़ीके हाथोंमें राधिकाकी प्रतिमा, जिनके गलदेशमें स्यमन्तकमणि थी, उसे अर्पणकर श्रीकृष्णके दर्शनके लिए पेड़की आड़में खड़ी हो गयी। अनन्तर ललिताको देखकर श्रीकृष्णकी जो दशा उपस्थित हुई, द्वारिका जाते समय श्रीकृष्ण अपनी उसी दशाका वर्णन मधुमङ्गलसे कर रहे हैं—"सखे! तरु समीपवर्तिनी ललिताको पहचान कर तथा स्वाभाविक मधुरा श्रीमती राधिकाकी प्रतिमाको देखकर, शंखचूड़मणिका भी परिचय पाकर मैं ऐसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ कि मेरा सिर चकराने लगा॥"३८॥

लोचनरोचनी—उपतरु ललितामिति। अत्र कथा पूर्ववल्ललितमाधवाज्ज्ञेया॥३८॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्रेतिकर्तव्यतामूढत्वं न स्पष्टमित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। अत्र ललितमाधवीयकथायां माथुरविरहोन्मादेन खेलातीर्थमवगाहमाना सविशाखा श्रीराधा सूर्यमण्डलं प्राप्ता स्वकण्ठात् शंखचूडाख्यमणिं सूर्य्यायोपजहार। ललिता च श्रीराधाविश्लेषज्वरोन्मत्ता गोवर्द्धने भृगुपतनं कुर्वती जाम्बवता स्वहस्तेन गृहीत्वा स्वपुरमानीता, स्वकन्यात्वेन ख्यापिता जाम्बवती बभूव। सा चेन्द्रनीलमणिजाम्बूनदाभ्यां श्रीकृष्णराधयोः प्रतिमे निर्माय तद्दर्शनादिनैव कालं यापयामास। सूर्यश्च श्रीराधां सत्यभामाख्यतया, मणिं च स्यमन्तकाभिधानतया ख्यापयन् स्वभक्ताय सत्राजिते ददौ। सत्राजिता च दत्तकलङ्कः श्रीकृष्णो जाम्बवतः पुरीं जगाम। जाम्बवांश्च युद्धान्ते स्वप्रभुं परिचित्य, तं रत्नपर्यङ्के उपवेश्य, मण्यानयनार्थं स्वान्तःपुरमविशत्। अथ क्षणतः कयाचिज्जरत्या प्रोक्तसर्ववृत्तान्ता ललिता जरतीहस्ते श्रीराधाप्रतिमां स्यमन्तकमणिकण्ठीं समर्प्य श्रीकृष्णं द्रष्टुं तरुमन्तरा तस्थौ। ततस्तां ललितां दृष्टवतः स्वस्य या दशा अजनि तामेव द्वारकामागत्य श्रीकृष्णो मधुमङ्गलं प्रत्याह—उपतरु तरोः समीपे, प्रत्यभिज्ञाय—सैवेयं ललितेति परिचित्य। राधाकृतिं श्रीराधाप्रतिमाम्॥३८॥

प्रियश्रवणजो यथा तत्रैव (१/२५)—

धन्ये कज्जलमुक्तवामनयना पद्मे पदोढाङ्गदा,
सारङ्गि ध्वनदेकनूपुरधरा पालि स्खलन्मेखला।
गण्डोद्यत्तिलका लवङ्गि कमले नेत्रार्पितालक्तका,
मा धावोत्तरलं त्वमत्र मुरली दूरे कलं कूजति॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—प्रिय-श्रवणसे उत्पन्न आवेग—सायंकाल वृन्दावनसे व्रजमें आगमनकारी श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको दूरसे सुनकर उत्कण्ठावशतः समीप देशके भ्रमसे सम्भ्रमवती धन्यादि गोपियोंको कुन्दवल्ली दूरत्वकी बात बताते हुए कह रही है—"हे धन्ये! तुम्हारे बाएँ नेत्रमें कज्जल नहीं है, हे पद्मे! तुमने हाथोंका अङ्गद चरणोंमें पहन रखा है, हे सारङ्गि! तुमने केवल एक ही चरणमें झंकृत होते नूपुरको धारण किया है, हे पालि! तुम्हारी नीवि खिसक रही है, हे लवङ्गि! तुमने अपने कपोलोंमें तिलक लगा रखा है, हे कमले! तुमने अपने नयनोंमें अलक्तक राग लगा रखा है। तुमलोग अत्यन्त चञ्चल होकर मत भागो, वंशी बहुत दूर बज रही है॥"३९॥

लोचनरोचनी—मा धावेति प्रत्येकमन्वितम्॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—कुन्दवल्ली प्राह—मा धावेति प्रत्येकमन्वितम्॥३९॥

अप्रियदर्शनजो यथा तत्रैव (३/१८)—

क्षणं विक्रोशन्ती विलुठति शताङ्गस्य पुरतः,
क्षणं वाष्पग्रस्तां किरति किल दृष्टिं हरिमुखे।
क्षणं रामस्याग्रे पतति दशनोत्तम्भिततृणा,
न राधेयं कं वा क्षिपति करुणाम्भोधिकुहरे॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—अप्रिय-दर्शनसे उत्पन्न आवेग—मथुरा प्रस्थानके समय रथपर आरूढ़ श्रीकृष्णको देखकर महाविपदग्रस्ता श्रीराधाके दिव्योन्मादसे उत्पन्न चेष्टाकी बात वृन्दा किसी सखीसे बड़े खेदपूर्वक कह रही है—"हे सखि! देखो, श्रीराधा चिल्लाती हुई रथके अग्रभागमें लुण्ठित हो रही है, कभी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे श्रीकृष्णके मुखकमलको कातर होकर देख रही हैं, कभी दाँतोंके तले तृण धारणकर बलरामके आगे गिर जाती हैं। यह श्रीराधा करुणासागरमें किसे निमज्जित नहीं कर रही हैं?"॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुराप्रस्थाने रथारूढं श्रीकृष्णमालोकयन्त्याः श्रीराधायाश्चेष्टितं वृन्दा वर्णयति—शताङ्गस्य रथस्य॥४०॥

अप्रियश्रवणजो यथा—

व्रजनरपतेरेष क्षत्ता करोति गिरा प्रगे,
नगरगतये घोरं घोषे घनां सखि घोषणाम्।
श्रवणपदवीमारोहन्त्या यया कुलिशोग्रया,
रचितमचिरादाभीरीणां कुलं मुहुराकुलम्॥४१॥

—एवमन्येऽप्यूह्याः।

तात्पर्यानुवाद—अप्रिय-श्रवणसे उत्पन्न आवेग—श्रीरामकृष्णको मथुरामें ले जानेके लिए अक्रूर व्रजमें उपस्थित हुए हैं। रात्रिकालमें व्रजराजके आदेशसे द्वारपालने गोपोंको सम्बोधित करते हुए घोषणा की कि "प्रातःकाल हम सबको मथुरा जाना है", उसे सुनकर यथार्थ बात क्या है, उसे न जाननेपर भी प्रणय स्वभाववशतः आन्तरिक व्याकुलताका अनुभवकर कुन्दवल्ली नान्दीमुखीसे कह रही है—"हे देवि! व्रजराजके आदेशसे आगामी कल मथुरामें उनके जानेके लिए द्वारपाल पुनः-पुनः भयङ्कर घोषणा कर रहा है, किन्तु वज्रसे भी अत्यन्त कठोर इस घोषणाने कर्णकुहरोंमें प्रवेश करते ही गोपियोंको महाव्याकुल कर दिया॥"४१॥

आनन्दचन्द्रिका—कुन्दवल्ली नान्दीमुखीं प्रत्याह—व्रजनरपतेर्गिरा एष क्षत्ता व्रजनगरद्वारपालः प्रगे श्वः प्रातःकाले नगरपतये मथुरां गन्तुं घोरं यथा घोषणया॥४१॥

अथोन्मादः—स प्रौढानन्दाद्यथा—

प्रसीद मदिराक्षि मां सखि मिलन्तमालिङ्गितुं,
निरुन्धि मुदिरद्युतिं नवयुवानमेनं पुरः।
इति भ्रमरिकामपि प्रियसखी भ्रमाद्याचते,
समीक्ष्य हरिमुन्मदप्रमदविक्लवा वल्लवी॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—महानन्द हेतुक उन्माद—सम्मुखमें ही श्रीकृष्णको हठात् उपस्थित देखकर श्रीराधा अत्यन्त उत्कण्ठित होकर आनन्दसे उन्मत्त हो उठीं तथा भ्रमरको ही अपनी सखी समझकर कुछ कहने लगी। वृन्दा कुञ्जके बाहर रहकर उसीका वर्णन अपनी किसी सखीसे करते हुए कह रही है कि भ्रमवशतः भ्रमरको अपनी प्रिय सखी समझकर श्रीराधाजी उससे यह प्रार्थना कर रही है—"हे मदिराक्षि सखि! प्रसन्न

होओ। देखो, वह मेघकान्तिवाला नवयुवक मुझे आलिङ्गन करनेके लिए आ रहा है, उसे निषेध करो॥"४२॥

लोचनरोचनी—उन्मादो हृद्भ्रमः॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—उन्मादश्चित्तविभ्रमः। वृन्दा प्राह—भ्रमरिकां भृङ्गीम्॥४२॥

विरहाद्यथा—

क्वाप्यान्दोलितकुन्तला विलुठति क्वाप्यङ्गुलीभङ्गत–
स्त्वङ्गद्भ्रूर्दशनैर्विदश्य दशनान् कंसं शपत्युद्धुरा।
कुत्राप्यद्य तमालमुत्तरलधीरालोक्य धावत्यलं,
राधा त्वद्विरहज्वरेण पृथुना दूना यदूनां पते॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—विरहजात उन्माद—व्रजसे मथुरामें लौटकर उद्धव श्रीराधाकी उन्मत्त दशाको साक्षात् रूपसे अनुभवकर उसे निर्जनमें श्रीकृष्णको बतला रहे हैं—"हे यदुपते! तुम्हारे भयानक विरहज्वरसे सन्तप्त होकर श्रीमती राधिका कभी तो केश खोलकर पृथ्वीतलपर लुण्ठित होती हैं, तो कभी भृकुटीको उठाकर, कभी क्रोधसे अङ्गुली हिलाकर, कभी दाँतोंसे अधर दंशनकर कंसको भी अभिशाप दे रही हैं, कभी तमाल तरुको देखकर पागलिनी होकर उसको आलिङ्गन करनेके लिए द्रुतगतिसे भागती हैं॥"४३॥

लोचनरोचनी—त्वङ्गद्भ्रूश्चलद्भ्रूयुगला॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवो व्रजादागत्य श्रीकृष्णाय वर्णयति—अङ्गुलीनां भङ्गतः स्फोटनात्। त्वङ्गद्भ्रूश्चलद्भ्रूयुगला। "त्वगि चलने" धातुः। कंसं शपतीति। रे कंस! परलोकगतस्यापि तवाशा तुषायमाणा भवतु यत्त्वयाहमेतावद्दुःखं प्रापितेति। दूना उपतप्ता सती। यदूनां पते इति। संप्रति त्वं यदून् पालय। तया प्रेमवत्या तव किं प्रयोजनमिति भावः॥४३॥

अथापस्मारो यथा—

अङ्गक्षेपविधायिभिर्निबिडितोत्तुङ्गप्रलापैरलं,
गाढोद्वर्तिततारलोचनपुटैः फेनच्छटोद्गारिभिः।
कृष्ण त्वद्विरहोत्थितैर्मम सखीमन्तर्विकारोर्म्मिभि–
र्ग्रस्तां प्रेक्ष्य वितर्कयन्ति गुरवः संप्रत्यपस्मारिणीम्॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—अपस्मार (चित्तविप्लव या आपस्मृति)—अतिशय दुःखके कारण धातुवैषम्यजनित चित्तकी व्याकुलताको अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं। मथुरा जाते हुए किसी पथिकको दूत कल्पनाकर मथुरामें निवास करनेवाले श्रीकृष्णके प्रति ललिता सन्देश भेजती हुई कह रही है—"कृष्ण! तुम्हारे विरहमें मेरी प्रियसखी कभी अपने अङ्गोंको इधर–उधर पटकती है, कभी उच्च स्वरसे विलाप करती है, कभी उसकी आँखोंकी पुतलियाँ उलट जाती हैं, कभी उनके मुखसे फेन निकलने लगता है। किन्तु गुरुजन (ससुर इत्यादि) उसे किसी अन्तर विकारसे ग्रस्त (मृगी रोगसे आक्रान्त) समझकर नाना प्रकारसे इसके लिए शङ्का कर रहे हैं॥"४४॥

लोचनरोचनी—अपस्मारो दुःखोत्थधातुवैषम्याद्युद्भूतश्चित्तविप्लवः। अपस्मारिणीं लोकप्रसिद्धेनापस्मारेण युक्ताम्। न तु त्वदीयमहारागजातेन॥४४॥

आनन्दचन्द्रिका—अपस्मारो दुःखोत्थधातुवैषम्योद्भूतचित्तविप्लवः॥ मथुरास्थं श्रीकृष्णं केनापि द्वारा ललिता संदिशति—अङ्गेति। त्वद्विरहादुद्भूतैरन्तर्विकारतरङ्गैर्ग्रस्तां मम सखीं लोकप्रसिद्धापस्माररोगवतीं गुरवः श्वशुरश्वश्र्वादयः। निबिडिता उत्तुङ्गाः प्रलापा येषु तैः॥४४॥

अथ व्याधिः—स यथा रसार्णवसुधाकरे—

> **शय्या पुष्पमयी परागमयतामङ्गार्पणादश्नुते,**
> **ताम्यन्त्यन्तिकतालवृन्तनलिनीपत्राणि गात्रोष्मणा।**
> **न्यस्तं च स्तनमण्डले मलयजं शीर्णान्तरं लक्ष्यते,**
> **क्वाथादाशु भवन्ति फेनिलमुखा भूषामृणालाङ्कुराः॥४५॥**

तात्पर्यानुवाद—व्याधि अर्थात् ज्वरादि जैसा विकार—माथुरविरहरूपी ज्वरसे प्रपीड़ित श्रीराधाकी तत्कालीन अवस्थाका वर्णनकर ललिता पथिकके द्वारा श्रीकृष्णको सन्देश भेज रही है—"हे कृष्ण! तुम्हारे विरहमें श्रीमती राधिकाको ऐसा विरह ज्वर हो रहा है कि उनके गात्रस्पर्शसे पुष्पशय्या भी सूखकर चूर्ण–विचूर्ण हो जाती है। उनके अङ्गतापसे निकटवर्ती पंखोंमें ग्रथित कमलकी पंखुड़ियाँ भी सूख जाती हैं। उनके स्तनमण्डलमें शीतलचन्दनका पङ्क लगानेके साथ–ही–साथ सूखकर चूर्ण–विचूर्ण हो जाता है। अधिक क्या कहूँ तापशान्तिके उद्देश्यसे मृणालके

अङ्कुरोंके द्वारा रचित भूषा धारण कराए जानेपर अङ्गतापसे सिद्ध होकर फेन उगलने लगती है॥"४५॥

लोचनरोचनी—व्याधिर्ज्वरादिप्रतिरूपो विकारः। परागोऽत्र चूर्णम्॥४५॥

आनन्दचन्द्रिका—व्याधिज्वरादिप्रतिरूपो विकारः। श्रीराधायाः सखी श्रीकृष्णं प्रति तस्या विरहमाह—परागमयतामित्यनेनाङ्गानां संतापो विवर्त्तन परिवर्तनोद्वर्त्तनादि पौनःपुन्यं च लक्ष्यते। तत्र संतापेन पुष्पदलानां शोषो विवर्त्तनपरिवर्तनादिभिश्चूर्णीभावः, पुष्पाणामङ्गानां च सौरभ्येण परागत्वम्। तालवृन्तं व्यजनं मलयजं चन्दनपङ्कं न्यस्तमेव शीर्णान्तरं विशीर्णमध्यभागं लक्ष्यते। क्षणान्तरे तु चूर्णमेव भवतीति भावः। चकार एवार्थे। विन्यासतुल्यकाल एवेत्यर्थः। भूषा वलयाद्यलङ्काररूपाः, तापशान्त्यर्थं मृणालाङ्कुरास्तेऽङ्गसङ्गतापेन यः क्वाथः पाकस्तस्मात् फेनिलमुखाः फेनयुक्ताग्रा भवन्ति॥४५॥

अथ मोहः—स हर्षाद्यथा विदग्धमाधवे (२/६)—

दरोन्मीलन्नीलोत्पलदलरुचस्तस्य निबिडा–
द्विरूढानां सद्यः करसरसिजस्पर्शकुतुकात्।
वहन्ती क्षोभाणां निवहमिव नाज्ञासिषमिदं,
क्व वाहं का वाहं चकर किमहं वा सखि तदा॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—हर्ष हेतुक मोह—श्रीकृष्णनाम और श्रीकृष्णकी वेणु-ध्वनिको सुनकर तथा चित्रस्थ मूर्त्ति दर्शनसे क्षुब्ध श्रीराधाकी प्रेमदशाको जानकरके भी उन्हींके मुखसे क्षोभका कारण सुननेके लिए ललिता और विशाखाके द्वारा जिज्ञासा करनेपर श्रीराधा स्फूर्ति प्राप्त श्रीकृष्णके स्पर्शादिसे उत्पन्न अपने मोहको साक्षात् मान करके ही विशाखासे कह रही हैं—"हे सखि! ईषत् विकसित नीलकमलकी पंखुड़ियोंकी भाँति कान्तिधारी उन दुर्लील श्रीकृष्णके करकमलोंके स्पर्शसे अखण्डानन्दसे उत्पन्न तत्कालीन क्षोभराशिको वहन कर मैं कहाँ हूँ, कौन हूँ और क्या कर रही हूँ, यह सब कुछ भूल गई॥४६॥

लोचनरोचनी—मोहो हृन्मूढता। लीनचित्ततेति यावत्॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—मोहो मूर्च्छा। श्रीराधां पृच्छन्त्यौ ललिताविशाखे प्रत्याह—दरोन्मीलदिति। तस्य श्यामलकिशोरस्य करसरसिजस्पर्शकुतुकात् सद्यस्तत्क्षण एव विरूढानामुत्पन्नानां क्षोभाणां निवहं वहन्ती इदं क्व वाहमित्यादिकं नाज्ञासिषं सनिर्द्धारं

न ज्ञातवत्यस्मीत्यन्वयः। क्व वाहमिति प्राङ्गणे वर्त्मनि पुष्पशय्यायां वेत्यर्थः। का वेत्यहं जटिलाया वधूः, तस्यैव वा सर्वकालभोग्या कान्तेत्यर्थः। किं चकरेति संप्रयोगे वाम्यं वा दाक्षिण्यं वा पुरुषायितत्वं वा किमहमकार्षमित्यर्थः। मत्तोऽहं किल विललाप, सुप्तोऽहं किं चकारेतिवत् लिट्॥४६॥

यथा वा श्रीदशमे (२१/१२)—

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं, श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविविक्तगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा, भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—इस पद्यके अलङ्कारस्वरूप साक्षात् आनन्दजनित मोहको दिखलानेके लिए दशमस्कन्धका श्लोक उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीकृष्णके त्रिभुवन मोहन–सौन्दर्यके दर्शनसे एवं वेणुध्वनिकी माधुरीको श्रवणकर देवाङ्गनाएँ मोहित हो उठीं। उसे देखकर व्रजदेवियाँ परम विस्मित होकर परस्पर कह रही हैं—"हे सखियो! अनुरागिनी रमणियोंके आनन्ददायक सौन्दर्यशाली और सघन शोभा विशिष्ट श्रीकृष्णको निहारकर तथा उनकी जादूभरी वंशीकी तान सुनकर विमानचारिणी देवाङ्गनाओंका, कामवेगसे धैर्य टूट जाता है उनकी कबरी खुल जाती है, और उससे पुष्पसमूह गिर जाते हैं, उनका नीवि–बन्धन स्खलित हो जाता है और वे कामसे मोहित होकर मूर्च्छित हो जाती हैं॥"४७॥

आनन्दचन्द्रिका—समर्थायां रतौ मोहमुदाहृत्य कैमुत्यार्थं साधारण्याभ्यास–रूपायामप्युदाहर्तुमाह—यथा वेति। गोप्यः परस्परमाहुः—कृष्णमिति। स्मरेण नुन्नस्तासामन्तःकरणान्निष्काश्य दूरतः क्षिप्तः सारो धैर्यं यासां ताः॥४७॥

विश्लेषाद्यथोद्धवसंदेशे—

सा पल्यङ्के किसलयकुलैः कल्पिते तत्र सुप्ता,
गुप्ता नीरस्तबकितदृशां चक्रवालैः सखीनाम्।
द्रष्टव्या ते क्रशिमकलिता कण्ठनालोपकण्ठे,
स्पन्देनान्तर्वपुरनुमितप्राणसङ्गा वराङ्गी॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—विरहजात मोह—उद्धवको व्रजमें भेजते समय श्रीकृष्ण उनको श्रीमती राधिकाके परिचय प्रसङ्गमें तत्कालीन दशाकी सूचना कर रहे हैं—"हे उद्धव! वह वराङ्गी श्रीराधा अश्रुपूरित नेत्रोंवाली सखियों

द्वारा परिवेष्टित होकर नवपल्लवसमूह और पुष्पोंसे विरचित शीतल शय्यापर सो रही होगी, उसका श्रीअङ्ग अत्यन्त कृश हो रहा होगा, कण्ठनालमें क्षीण-स्पन्दन हो रहा होगा, जिससे लोग अनुमान करते होंगे कि शरीरमें प्राण हैं। मेरी श्रेष्ठाङ्गी प्राणप्यारी राधाको तुम इसी दशामें ही देखोगे॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—तासु व्रजसुन्दरीषु मध्ये श्रीराधा मया कथं परिचेतव्येति पृच्छन्तमुद्धवं प्रति श्रीकृष्ण आह—सेति। नीरस्तबका अश्रुजलगुच्छाः संजाता यासु तथाभूता दृशो नेत्राणि यासां तासाम्। तारकादित्वादितच्। सखीनां चक्रवालैर्मण्डलैर्गुप्ता रक्षिता क्रशिम्ना कलिता व्याप्ता। कण्ठनालस्योपकण्ठे यः स्पन्दः किंचिच्चलनं तेनान्तर्वपुर्वपुषो मध्ये अनुमितः प्राणसंज्ञः प्राणस्यास्तित्वं यस्याः सा॥४८॥

विषादाद्यथा श्रीदशमे (३५/१६,१७)—

> **निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।**
> **व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीरितवेणुः॥४९॥**
>
> **व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः।**
> **कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन वसनं कबरं वा॥५०॥**

तात्पर्यानुवाद—विषादजात मोह—श्रीकृष्ण द्वारा गोचारणके लिए वृन्दावनमें गमन करनेपर, गोपियोंके दैनन्दिन कृत्यका श्रीशुकदेव गोस्वामी गोपीगीतमें दिग्दर्शनके रूपमें वर्णन कर रहे हैं। उस समय कोई गोपी अपने स्वानुभूत अनुभवको अपनी समजातीय सखीके निकट कह रही है—"मदमत्त हस्तीकी भाँति मन्थर गतिवाले श्रीकृष्ण जब वज्र, ध्वज, अङ्कुश और कमलके विचित्र चिह्नोंसे देदीप्यमान अपने चरणकमलोंके द्वारा गोकुल भूमिकी खुरक्षतसे उठी हुई व्यथाको दूर करते हुए वेणुनादसे भुवनको मोहितकर गमन करते हैं, उस समय उनके विलासयुक्त निरीक्षणसे समर्पित कामवेगसे हम वृक्षधर्म (स्थावरत्व) को प्राप्त हो जाती हैं। वस्त्रों और कबरीबन्धन इत्यादिके स्खलित होनेपर उसे हम जान ही नहीं पाती कि कब हमारी कबरी या वस्त्र खुल गए?"॥४९-५०॥

लोचनरोचनी—ललामं चिह्नम्। व्रजभुवस्तदीयतृणादेः खुरतोदं गवां खुरैः कृतच्छेदम्। निजपदाब्जदलैस्तत्स्पर्शैः सद्य एवाङ्कुरोत्पादकैः शमयन्

वर्ष्मधूर्य्यगतिर्गजतुल्यगतिः। ईरितवेणुरिति वेणुवादनेन तत्रापि वैशिष्ट्यं दर्शितम्। कुजो वृक्षः, कश्मलो मोहः॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य गोपोपसहितस्यापराह्निकव्रजागमनलीलामास्वादयन्त्यः काश्चन गोप्यो लज्जाधैर्य्य कुलधर्मादिभ्यो जलाञ्जलिं दत्त्वा सुबलादय इव वयमपि तत्सङ्गिन्यः कथं नाभूम इत्यनुतापेन मुह्यन्त्यश्च तदन्तरान्तरा परस्परमाहुः—निजेति। ललामं चिह्नं व्रजभुवस्तदीय तृणादेः खुरतोदं गोखुरच्छेदजन्यं दुःखं निजपदाब्जदलैर्गवां पश्चात् पश्चाद्विन्यस्तैरेव शमयन् सद्य एव। तदङ्कुरपत्राद्युद्गमैरिति भावः। वर्ष्मधुर्यगतिर्गजतुल्यगतिः सन् य ईरितवेणुर्व्रजति तेन कुजगतिं वृक्षस्येव दशां गमिताः प्रापिताः कश्मलेन मोहेन। सर्वत्रात्र मोहे स्थायिभावलोपो नाशङ्कनीयः मोहस्य संचारित्वात्। संचारित्वस्य स्थायिभावसाहाय्यरूपत्वादत एवोक्तं रसामृत एव— "अन्यत्रात्मादिपर्यन्ते स्यात्सर्वत्रैव मूढता। कृष्णस्फूर्तिविशेषस्तु न कदाप्यत्र लीयते॥" इति॥४९–५०॥

अथ मृतिः—

मृतेरध्यवसायोऽत्र वर्ण्यः साक्षादियं न हि॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—मृति—मधुररसमें मरणके उद्यमको ही मृत्यु समझना चाहिए, साक्षात् मृत्युको नहीं; क्योंकि समर्था, समञ्जसा और साधारणी स्थायीभाववती श्रीकृष्णप्रेयसियाँ नित्यसिद्ध होनेके कारण उनका मरना असम्भव है। किसी-किसी श्रीकृष्णप्रियाकी मृत्यु सम्भव होनेपर भी अमङ्गल होनेके कारण वह उपेक्षित रही अर्थात् उसका वर्णन नहीं किया गया॥५१॥

लोचनरोचनी—मृतिः प्राणत्यागः। मृतेरध्यवसाय इति। अन्तर्गृहगताः काश्चिदित्यादेर्गतिस्तु श्रीवैष्णवतोषिण्यां व्याख्यातास्तीति भावः॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—अध्यवसाय उद्यमः। इयं मृतिः प्राणत्यागो न वर्ण्येति समर्थ-समञ्जस-साधारण-स्थायिभाववतीनां श्रीकृष्णप्रेयसीनां नित्यसिद्धत्वेन तदसंभवात्। अन्तर्गृहागताः काश्चिदित्यादेस्तथा "कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निम्" इत्यादेर्व्याख्या वैष्णवतोषिणीसंदर्भादौ द्रष्टव्या। क्वचित्साधकप्रायाणां कासांचिन्मृतेः संभवेऽप्यमङ्गलत्वान्न वर्ण्येति॥५१॥

यथोद्धवसंदेशे (६९)—

यावद्व्यक्तिं न किल भजते गान्दिनेयानुबन्ध,
स्तावन्नत्वा सुमुखि भवतीं किंचिदभ्यर्थयिष्ये।

पुष्पैर्यस्या मुहुरकरवं कर्णपूरान्मुरारेः,
सेयं फुल्ला गृहपरिसरे मालती पालनीया॥५२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधा ललितासे कह रही है—"हे सुमुखि! जब तक गान्दिनीपुत्र अक्रूरका आग्रह निश्चित् रूपसे व्यक्त न हो जाए उसके पहले ही मैं नमस्कारपूर्वक तुम्हारे निकट एक प्रार्थना करती हूँ—मैंने जिसके पुष्पोंसे श्रीकृष्णके कानोंका भूषण निर्माण किया है, मेरे घरके समीप उस प्रफुल्लित मल्लिकाका तुम यत्नसे पालन करना। अब मैं जीवित नहीं रह सकती॥"५२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितां प्रत्याह—यावदिति। गान्दिनेयोऽक्रूरः। तावदिति। श्रीकृष्णस्य मथुराप्रस्थाननिश्चये श्रुते तु मरिष्यन्त्या मम वाक्यं नैव निःसरिष्यतीति भावः॥५२॥

अथालस्यम्—

साक्षादङ्गं न चालस्यं भङ्ग्या तेन निबध्यते॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—आलस्य अर्थात् सामर्थ्य रहनेपर भी कर्त्तव्यके प्रति उसे न करनेकी इच्छा—श्रीकृष्णकी प्रियाओंमें श्रीकृष्णके विषयमें किसी प्रकारके आलस्यकी सम्भावना नहीं रहनेपर भी व्यभिचारी प्रकरणमें आलस्यके साक्षात् अङ्ग न होनेपर भी उसे भङ्गिक्रमसे दिखलाया जा रहा है॥५३॥

लोचनरोचनी—साक्षादंङ्गं न चेति। आलस्यं खलु शक्तौ सत्यामप्यशक्तिव्यञ्जना। सा तु तासां कृष्णसेवादौ न संभवत्येव। न पारयेऽहं चलितुमिति तु कृत्रिमालस्यं ज्ञेयम्। तस्माद्विरोधिगततद्वर्णनात् स्थायिपोषणपरिपाट्येव तन्निबद्धता युक्ता॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—आलस्यं सामर्थ्यसद्भावेऽपि कर्तव्यवस्तुनि न चिकीर्षा। तदालस्यमासक्तेर्विषयभूते वस्तुनि चेद्भवेत्तदा आसक्तेरेव लोपः स्यादिति प्रेमवतीनां कृष्णे कृष्णसंबन्धिवस्तुनि च तस्यासंभवः, किन्तु जरत्यादिषु विद्यमानं तदासां स्थायिभावं पुष्यतीत्याह—साक्षादङ्गमिति॥५३॥

यथा—

निरवधि दधिपूर्णां गर्गरीं लोडयित्वा,
सखि कृततनुभङ्गं कुर्वती भूरि जृम्भाम्।

भुवमनुपतिता ते पत्युरास्ते सवित्री,
विरचय तदशङ्कं त्वं हरेर्मूर्ध्नि चूडाम्॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—क्रीड़ाकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ विहारके अन्तमें जब श्रीमती राधिका श्रीकृष्णका चूड़ा निर्माण करनेमें आविष्ट थी, तब पद्मा द्वारा शिक्षिता सारिकाके मुखसे जटिलाकी झूठी आगमनवार्त्ताको पाकर त्रस्त हो उठीं। उसी समय दैवयोगसे अपने घरसे रूपमञ्जरी वहाँ उपस्थित हुई तथा यथार्थ बातोंको कहकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगी—"हे सखि! तुम्हारी सास जटिला निरन्तर दधिमन्थनके श्रमसे अङ्गमोटनपूर्वक जम्भाई लेती हुई पृथ्वीपर शयन कर रही है। तुम निशङ्क चित्तसे श्रीकृष्णके लिए चूड़ा निर्माण करो।" यहाँ जटिलाका परिश्रमसे आलस्य सूचित किया गया। इसलिए कारिकामें 'साक्षात्' शब्द व्यवहृत हुआ है अर्थात् गोपियोंके आलस्यका वर्णन न कर वृद्धाओंके विषयमें वर्णित होनेसे मधुररसमें आलस्यको गौण ही समझना चाहिए॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—कुञ्जे श्रीकृष्णेन सह विलसन्तीं श्रीराधा पद्माशिक्षितायाः कस्याश्चित् शारिकाया मुखतो जटिलाया आगमनं श्रुत्वा बिभ्यतीं श्रीराधां तदानीमेव दैवाद्गोष्ठादागता रूपमञ्जरी आश्वासयति—निरवधीति॥५४॥

अथ जाड्यम्—तदिष्टश्रुत्या यथा—
गोपुरे रुवति कृष्णनूपुरे निष्क्रमाय धृतसंभ्रमाप्यसौ।
कीलितेव परिमीलितेक्षणा सीदति स्म सदने मनोरमा॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—जाड्य (इष्टवस्तुके विषयमें श्रवणसे उत्पन्न जाड्य)—घरसे गोचारणहेतु गमनके लिए प्रस्तुत श्रीकृष्णके नूपुरोंकी ध्वनिको सुनकर मनोरमा अपने घरसे निकलकर पुरद्वारपर जानेकी इच्छा करनेपर भी जाड्यवशतः वहाँ जा न सकी। उसे देखकर कुन्दवल्ली नान्दीमुखीसे कह रही है—"पुरद्वारपर श्रीकृष्णके चरणोंकी नूपुरध्वनिको सुनकर मनोरमा गृहसे बाहर निकलकर पुरद्वारपर आनेकी चेष्टा करने लगी, किन्तु घरके भीतर ही पूर्वदृष्ट श्रीकृष्णके रूप आदिका ध्यानकर विस्फारित नेत्रोंसे खड़ी-की-खड़ी ही रह गई॥"५५॥

लोचनरोचनी—जाड्यमप्रतिपत्तिः॥५५॥

आनन्दचन्द्रिका—जाड्यमप्रतिपत्तिः। कुन्दवल्ली नान्दीमुखीमाह—गोपुरे पुरद्वारे॥५५॥

अनिष्टश्रुत्या यथा ललितमाधवे (३/१०)—

आलीव्यलीकवचनेन मुहुर्विहस्ता,
हस्तारविन्दविगलद्ग्रथितार्द्धमाल्या ।
हा हन्त हन्त किमपि प्रतिपन्नतन्द्रा,
चन्द्रावली किल दशान्तरमारुरोह॥५६॥

तात्पर्यानुवाद—अनिष्ट–श्रवणसे उत्पन्न जाड्य—मथुरा यात्राके समय श्रीकृष्णके रथमें बैठनेपर उनके लिए ही माला ग्रन्थनमें आसक्तचित्ता श्रीकृष्णके जानेके वृत्तान्तको न जाननेवाली चन्द्रावलीको जब पद्माने सारा वृत्तान्त कहा तब उसके अङ्गोंमें जो अत्यन्त जाड्य प्रकाशित हुआ, उसीको पौर्णमासीजी खेदके साथ कह रही हैं—"अहो! पद्माके मुखसे उस अप्रिय और पीड़ादायक वृत्तान्तको सुनकर चद्रावली अत्यन्त व्याकुल हो उठी। अर्द्ध–ग्रथित पुष्पमाला उसके हाथोंसे गिर पड़ी और हाय! हाय! किसी अनिर्वचनीय घूर्णावस्थाको प्राप्त होकर न जाने कैसी हो गई?"॥५६॥

लोचनरोचनी—आलीव्यलीकवचनेनेति। अस्य प्रसङ्गो ललितमाधवाज्ज्ञेयः। व्यलीकमप्रियम्॥५६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य मथुराप्रस्थाने पौर्णमासी सखेदमाह—आल्याः पद्माया व्यलीकवचनेन विहस्ता व्याकुला। "विहस्तव्याकुलौ समौ" इत्यमरः। व्यलीकवचनं च तत्रैव यथा—"अज्झारूढो वहमिह पुरा सङ्गरङ्गी रहङ्गी हा पुप्फाणं तहवि चडुले गण्ठणुक्कण्ठिदासि। आहीरीणं वहिरि गहिरुक्कोसदीहा विलावा किं दे चन्दाअलि ण परिदो कण्णकूअं विसन्ति?" इति। दशान्तरं दशमीं दशाम्॥५६॥

इष्टेक्षणेन यथा विदग्धमाधवे (३/२९)—

अहो धन्या गोप्यः कलितनवनर्म्मोक्तिभिरलं,
विलासैरामोदं दधति मधुरैर्या मधुभिदः।
धिगस्तु स्वं भाग्यं यदिह मम राधा प्रियसखी,
पुरस्तस्मिन्प्राप्ते जडिमनिबिडाङ्गी विलुठति॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—इष्ट दर्शनसे उत्पन्न जाड्य—विशाखाके साथ सङ्केतकुञ्जमें अभिसार करनेवाली श्रीमती राधिकाकी श्रीकृष्णानन्दसे उत्पन्न जड़ताको देखकर विशाखा व्याजस्तुति अलङ्कारके द्वारा वर्णन कर रही है—"अहो! वे गोपियाँ ही धन्य हैं, परम पुण्यवती हैं, जो अत्यन्त प्रतिभावशतः नव–नव परिहास–रङ्ग (प्रश्न–उत्तर) के साथ अत्यन्त मधुर विलासके द्वारा श्रीमधुमथनके आनन्दका विस्तार करती हैं, किन्तु मेरे भाग्यको शत–शत बार धिक्कार है; क्योंकि मेरी प्रियसखी श्रीराधा हरिको देखते ही महाजाड्यसे निष्पन्दित होकर भूतलपर लुण्ठित होने लगती हैं॥"५७॥

लोचनरोचनी—अहो धन्या इत्याद्यवगते ईदृशस्वभावेऽपि यन्नाटकादिष्वत्रापि च कुत्रचिन्नर्मादिकं वर्ण्यते तत्खलु विरलमेव ज्ञेयम्। स्वं मदीयम्॥५७॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णेन मिलितायाः श्रीराधायाः प्रेमोत्कर्षं व्याजस्तुत्या वर्णयति—अहो इति। आमोदमानन्दम्॥५७॥

अनिष्टेक्षणेन यथा—

राधा वनान्ते हरिणा विहारिणी, प्रेक्ष्याभिमन्युं स्तिमिताभवत्तथा।
क्रुद्धास्य तूर्णं भजतोऽपि संनिधिं, यथा भवानीप्रतिमाभ्रमं दधे॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—अनिष्टदर्शनसे उत्पन्न जाड्य—क्रीड़ाकुञ्जमें विहार करनेवाली श्रीराधाके सम्मुख हठात् पतिम्मन्य अभिमन्युके उपस्थित होनेपर उनकी जो अतिशय जड़ता उपस्थित हुई, उसे देखकर वृन्दा पौर्णमासीसे विस्मयके साथ कह रही है—"आज वनके भीतर हरिके साथ विलास करनेवाली श्रीमती राधिका दूरसे ही अभिमन्युको देखकर ऐसी जड़ताको प्राप्त हुईं, जिन्हें देखकर निकट आनेवाले महाक्रोधी अभिमन्युको भवानीकी प्रतिमाका भ्रम हो गया॥"५८॥

लोचनरोचनी—नासूयन् खलु कृष्णायेत्यादिना श्रीभागवते तत्पतिंमन्यादीनामसूयाया निवारणाय मायया तत्तदाच्छादनं प्रतीत्यन्तरं च दर्शितम्। तस्माद्राधा वनान्त इत्यादावत्र यद्भवानीप्रतिमाकारत्वं तस्या जातं तच्च मायाया एव कार्य्यम्। साक्षात्तद्रूपप्रतिमयोर्बहुवैलक्षण्यात्। एवमन्यत्रापि प्रकारभेदेन तत्तत्प्रतारणमुक्तमनुक्तमपि ज्ञेयम्। तस्मान्नासूयन्नित्यनेन विरोधः कुत्रापि न मन्तव्यः॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—राधेति। स्तिमिता स्तब्धा जाड्येन जातस्तम्भभावा तथा अभवत् यथा अभिमन्योर्भवानीप्रतिमैवेयं कामुकी न तु राधेति भ्रमः। ततश्च भोः कृष्ण, अस्या भवानीप्रतिमाया निकटे किमर्थं वससीति कृष्णे पृष्टे इमां गन्धपुष्पचन्दनादिभिः शृङ्गारयितुमिति तेन च प्रत्युक्ते "भवान्यै नमः" इति राधां प्रणम्य स गृहं गत इति ज्ञेयम्॥५८॥

विरहेण यथा पद्यावल्याम् (१८७)—

गृहीतं ताम्बूलं परिजनवचोभिर्न सुमुखी,
स्मरत्यन्तःशून्या मुरहर गतायामपि निशि।
तथैवास्ते हस्तः कलितफणिवल्लीकिशलय-
स्तथैवास्यं तस्याः क्रमुकफलफालीपरिचितम्॥५९॥

तात्पर्यानुवाद—विरहसे उत्पन्न जाड्य—घरसे सङ्केतकुञ्जमें अभिसारकर श्रीमती राधिकाने, श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा करते-करते उन्हें न पाकर विप्रलब्धा दशामें रातभर जो कुछ किया, उस वृत्तान्तको वृन्दा श्रीकृष्णके निकट निवेदन कर रही है—"हे कृष्ण! श्रीमती राधिका विगत रजनीके बीत जानेपर भी सखियों द्वारा दिए गए ताम्बूलको भी अन्यमनस्कताके कारण मुखमें दे न सकीं; क्योंकि उनके हाथोंमें ताम्बूल बीटिका जैसी-की-तैसी धरी रह गई। उसमें गुवाक् अर्थात् कसैलीके टुकड़े भी दिए गए थे, किन्तु उसको चबानेकी याद भी नहीं रही॥"५९॥

लोचनरोचनी—फणिवल्लयाः पर्णदलस्यैव स्वादुत्वेऽपि सखीभिः किशलयसमर्पणं विरहे शीतलप्रयोगापेक्षयेति ज्ञेयम्। फाली खण्डम्॥५९॥

आनन्दचन्द्रिका—विप्रलब्धाया राधाया विरहपीडां व्यञ्जयन्ती वृन्दा श्रीकृष्णं प्रत्याह—गृहीतमपि ताम्बूलं न स्मरति हस्ते अस्ति वा नास्तीति नानुसंधत्ते। परिजनानां वचोभिरित्यनेन तत्र स्वतः स्पृहाभावः सूचितः। तत्रापि बहुवचनेन सशपथत्वदानयनाद्याश्वासाः सूचिताः। कलितं गृहीतम्। फणिवल्ल्यास्ताम्बूलवल्लयाः किसलयं पत्राणि यस्यः सः। क्रमुकफलस्य गुवाकस्य फाली खण्डं तया परिमितमास्यं च तथैवास्त इति। प्रथमं ताम्बूलवेष्टिता गुवाकफाल्यो मुखे याः परिजनैरर्पितास्ता न चर्वयति स्म। ततश्च खदिरचूर्णैलालवङ्गादियुक्ता पर्णवीटिका हस्तेऽर्पिता यास्ता मुखे नार्पयति स्मेति। निशायां गतायामपीति प्रहरत्रयव्यापिनी जडता॥५९॥

अथ व्रीडा सा नवीनसंगमेन यथा—

विधुमुखि भज शय्यां वर्त्तसे किं नतास्या,
मुहुरयमनुवर्ती याचते त्वं प्रसीद।
इति चटुभिरनल्पैः सा मयाभ्यर्थ्यमाना,
व्यरुचदिह निकुञ्जश्रीरिव द्वारि राधा॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—नवसङ्गमहेतु व्रीड़ा अर्थात् लज्जा—घरसे अभिसारकर क्रीड़ाकुञ्जके द्वारपर उपस्थित होकर भीतरमें प्रियतमको देखकर श्रीमतीजी वहींपर ठिठककर खड़ी हो गईं। उन्हें मुख नीचेकर कुञ्जमें प्रवेश करनेमें अनिच्छुक जानकर विचित्र विनयपूर्ण वचनोंसे श्रीकृष्णने कुञ्जमें प्रवेश कराया। उस समयके उनके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे हैं—"हे सखे! मैंने श्रीमती राधिकासे कहा, 'हे चन्द्रमुखि! शय्यापर गमन करो। तुम नीचे मुख करके खड़ी क्यों हो? तुम्हारे अधीन यह जन बारम्बार प्रार्थना कर रहा है, प्रसन्न होओ।' इस प्रकार विनीत वचनोंसे उनकी अभ्यर्थना करते रहनेपर भी श्रीमती राधिका कुञ्जके द्वारपर ही निकुञ्जलक्ष्मीकी भाँति अधिकतर रूपमें शोभाका विस्तार करने लगीं॥"६०॥

लोचनरोचनी—व्यरुचदिहेत्यत्र "लसति बत" इति वा पाठः॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रीडा लज्जा। श्रीकृष्णः सुबलमाह—विधुमुखीति। अनुवर्त्ती मल्लक्षणोजनः। याचत इति। तवाङ्गसंवाहनार्थं सोत्कण्ठ इति भावः। द्वारीति। तदपि शय्यायां लज्जयैव न गतेत्यर्थः॥६०॥

अकार्येण यथा—

पटुः किमपि भाग्यतस्त्वमसि पुत्रि वित्तार्जने,
यदेतमतुलं बलादपजहर्थ हारं हरेः।
गभीरमिति शृण्वती गुरुजनादुपालम्भनं,
मणिस्त्रगवलोकनान्मुखमवञ्चयन्मालती ॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—अकार्यके कारण लज्जा—रात्रिकालमें श्रीकृष्णके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करनेके अनन्तर प्रातःकाल घर लौटनेपर मालती गोपीकी

मातामहीने देखा कि उसके कण्ठमें श्रीकृष्णकी पहनी हुई रत्नमाला सुशोभित हो रही है। इस मालाको या तो स्वयं श्रीकृष्णने दिया है अथवा रजनी बीत गई और प्रभातकाल उपस्थित हो रहा है, इस आशङ्कासे शीघ्र ही घर लौटते समय अपना हार समझकर इसने स्वयं ही अपने गलेमें धारण कर लिया है। इस प्रकार तर्क–वितर्क करती हुई मातामही द्वारा तिरस्कृत होनेपर उसको अतिशय लज्जा हुई। उसीका उसकी सखी वर्णन कर रही है—"हे सुपुत्रि! अब तो तुम बहुत चतुर हो गई हो। पुण्यफलसे सम्पत्ति अर्जनके विषयमें तुम्हारी असाधारण क्षमता देख रही हूँ; क्योंकि तुम हरिके इस अमूल्य हारको छलपूर्वक चोरी करके लाई हो।" मणिमालाको देखकर गुरुजनोंके द्वारा इस गम्भीर तिरस्कारको सुनकर वह चुपचाप सिर नीचे किए हुए खड़ी रही॥६१॥

लोचनरोचनी—पटुः किमपीति। प्रतिपक्षनायिकया प्रेषिताया मालतीमातामहीवेश–धारिण्या मालतीं प्रत्युपहासवचनम्। किमपीति। असीत्यस्य विशेषणं गुरुजनादिति च गौण्या वृत्त्या तत्सदृशादित्येव ज्ञेयम्॥६१॥

आनन्दचन्द्रिका—मालत्याः सखी कांचिदाह—गुरुजनात् स्वमातामह्याः॥६१॥

स्तवेन यथा—

संकुच न तथ्यवचसा जगन्ति तव कीर्त्तिकौमुदी मार्ष्टि।
उरसि हरेरसि राधे यदक्षया कौमुदीचर्चा॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—स्तवसे उत्पन्न व्रीड़ा—वृन्दा और ललितादिके सम्मुख श्रीराधाके स्वाभाविक और अतुलनीय गुणोंका वर्णनकर पौर्णमासी प्रशंसा करने लगी। उनके मुखसे अपनी प्रशंसा श्रवणकर श्रीमती राधिका अत्यन्त संकुचित हुई। उसे देखकर वृन्दाने कहा—"हे राधे! ये सम्पूर्ण सत्य कह रही हैं। इसलिए संकोचकी कोई बात नहीं है। तुम्हारी कीर्त्ति–कौमुदी जगत्भरमें छा रही है; क्योंकि तुम ही तो हरिके वक्षस्थलमें लगी हुई कुंकुम रागके रूपमें वहाँ नित्य सुशोभित हो रही हो॥६२॥

लोचनरोचनी—संकुच नेति। ललितमाधवादिरीत्या दाम्पत्ये जाते सोऽयं कयाचित् स्तवः कृत इति गम्यते। तत एव स्तवबुद्धिस्तस्या जायते। अदाम्पत्ये तु कलङ्कबुद्धिरेवेति॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधिकाया माहात्म्यं गार्गीं प्रति वर्णयन्त्यां पौर्णमास्यां दैवात्तत्रायातायां श्रीराधायां स्वोत्कर्षश्रवणेन संकुचितायां तस्यां वृन्दा सप्रौढि प्राह—संकुचेति। मार्ष्टि उज्ज्वलीकरोति॥६२॥

अवज्ञया यथा श्रीगीतगोविन्दे (८/१०)—

तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव,
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणद्योतिहृदयम् ।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभङ्गेन कितव,
त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति॥६३॥

तात्पर्यानुवाद—अवज्ञाहेतु व्रीड़ा—खण्डितावस्थापन्ना श्रीमती राधिकाके निकट आकर जब श्रीकृष्ण नाना प्रकारसे विनयपूर्ण वचनोंसे अनुनय करने लगे, तब श्रीराधिका उन्हें आक्षेपपूर्वक कहने लगीं—"हे धूर्त! तुम्हारे इस विपर्यस्त वेश और वीभत्स रूपको देखकर मुझे क्षोभ होनेपर भी अनिर्वचनीय लज्जा ही लग रही है; क्योंकि सभी गोपियोंसे मुझपर जो तुम्हारा विख्यात अत्यधिक प्रेम है आज उसका अपलाप हो गया। यदि कहो कि क्यों वृथा कलङ्कका आरोपकर मुझे और अपने आपको दुःख दे रही हो? तो इसका उत्तर (प्रमाण) तुम्हारा यह वक्षःस्थल ही दे रहा है। हे शठ! तुम्हारे वक्षःस्थलमें तुम्हारी प्रियतमाके चरण–महावरकी कान्ति उसके प्रति (तुम्हारे) आन्तरिक अनुरागको व्यक्त कर रही है। इसे देखकर मेरा प्रणय भङ्ग होता जा रहा है। मुझे महान दुःख हो रहा है; परन्तु मुझे शोककी अपेक्षा लज्जा ही अधिक हो रही है॥"६३॥

लोचनरोचनी—हे कितव! तवेदं पश्यन्त्या मम त्वदालोकः कर्त्ता। प्रणयभरभङ्गजातं शोकमतिक्रम्यापि किमप्यनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथा लज्जां जनयति। इदं किम्? हृदयम्। कीदृशम्? अरुणद्योति। तादृशत्वे लज्जाजनकत्वे च हेतुः—प्रियेति। छुरितं युक्तम्। किमिव? बहिः प्रसरन्ननुरागस्तद्विषयोऽनुरागो यत्र तदिव॥६३॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डिता श्रीराधा श्रीकृष्णं साक्षेपमाह—तवेति। हे कितव! तवेदं हृदयं पश्यन्त्या मम त्वदालोकस्त्वत्कर्मकोऽवलोकः कर्त्ता। प्रख्यातस्य प्रणयभरस्य भङ्गेन हेतुना यः शोकस्तस्मात् सकाशादपि किमप्यनिर्वचनीयं यथा

स्यात्तथा अधिकदुःखदां लज्जां जनयति। शोकादधिकदुःखदामिति पञ्चम्यन्तपदेनाक्षेपः। यद्वा त्वां द्रष्टुमहं स्वभावादेव सदा लज्जे अधुना तु प्रणयभरभङ्गेन शोकादपि विशेषतो लज्जे इत्यर्थः। हृदयं कीदृशम्? प्रियायाः पादालक्तेन छुरितं म्रक्षितमतएवारुण इव द्योतते जनिष्यमाणमत्संतापसूर्योदयसूचकम् किमिव? बहिः प्रसरन्ननुरागो यस्मात्तदिव। एतावद्दिनपर्य्यन्तं मत्प्रतिनायिकाविषयस्तवानुरागस्त्वया हृदयमध्य एव संगोपित आसीत्। अधुना मद्वधार्थं सोऽयं निःसृतवानित्यर्थः॥६३॥

अथावहित्था सा जैह्म्येन यथा श्रीजगन्नाथवल्लभे—

अमुष्याः प्रोन्मीलत्कमलमधुधारा इव गिरो,
निपीय क्षीबत्वं गत इव चलन्मौलिरधिकम्।
उदञ्चत्कामोऽपि स्वहृदयकलागोपनपरो,
हरिः स्वैरं स्वैरं स्मितसुभगमूचे कथमयम्॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—अवहित्था—कपटता हेतु पूर्वरागकी दशामें श्रीमती राधिकाके द्वारा भेजे हुए कामलेखको शशिमुखी सखीके हाथसे पाकर श्रीकृष्णने अन्तरमें उल्लसित होनेपर भी बाहरमें श्रीराधाके दृढ़भावकी परीक्षाकी अभिलाषासे अपनी उदासीनताको ही प्रकट किया, किन्तु उनके हृदय-स्वारस्य—आन्तरिक भावको जानकर वनदेवी मदनिका वितर्क कर रही है—"अहो! प्रफुल्लित कमलकी मधुधाराकी भाँति शशिमुखीके मुखसे निकली हुई वचनामृतधाराका भलीभाँति आस्वादनकर मत्तप्राय श्रीकृष्ण अपने सिरको हिला रहे थे। स्वाभिलाष अत्यधिक मात्रामें प्रकटित होनेपर भी हृदयके सुखको छिपाते हुए मन्द-मधुर हास्य करते हुए भी क्यों उन्होंने ऐसा कहा?"॥६४॥

लोचनरोचनी—अवहित्था आकारगुप्तिः। क्षीबत्वं मत्तत्वम्। इवेति वाक्यालंकारे। कला कलना भावनेत्यर्थः। स्वैरं स्वैरं मन्दं मन्दम्। "मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरम्" इति नानार्थवर्गात्। कथमूचे तथा कथयेति शेषः॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—अवहित्था आकारगुप्तिः। मदनिकानाम्नी वनदेवी वितर्कयति—अमुष्याः श्रीराधाकामलेखोपहारिण्याः शशिमुख्याः गिरो निपीय प्रेमपरीक्षार्थं स्वहृदयकमलास्तद्विषयकरमणौत्सुक्यवैदग्ध्यस्तासां गोपनपरोऽयं श्रीकृष्णः स्वैरं स्वैरं मन्दं मन्दम्। "मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरम्" इति नानार्थवर्गः। स्मितसुभगं यथा स्यात्तथा कथमूचे। उच्यमानवाक्यजातस्यौदासीन्यव्यञ्जकस्य सत्यत्वे स्मितादेरसंभवादिति भावः॥६४॥

जैह्म्यलज्जाभ्यां यथोद्धवसंदेशे (५२)—

मा भूयस्त्वं वद रविसुतातीरधूर्तस्य वार्तां,
गन्तव्या मे न खलु तरले दूति सीमापि तस्य।
विख्याताहं जगति कठिना यत्पिधत्ते मदङ्गं,
रोमाञ्चोऽयं सपदि पवनो हैमनस्तत्र हेतुः॥६५॥

तात्पर्यानुवाद—जम्भाई और लज्जाहेतु—कृष्णके द्वारा प्रेषित दूतीसे कलहान्तरिता श्यामा कह रही है—हे चञ्चल दूति! तुम पुनः यमुनातटवर्ती उस धूर्तकी बात मत करो। मैं उस धूर्तकी छाया तकके समीप भी नहीं जाऊँगी; क्योंकि जगत्में मैं कठोरा नामसे प्रसिद्ध हूँ। तब मेरे अङ्गोंमें जो पुलकावलीको देख रही हो, उसका कारण शीतलवायुका संस्पर्श ही समझना। इस उदाहरणमें लज्जा ही प्रदर्शित की गई है॥६५॥

लोचनरोचनी—यत्पिधत्ते मदङ्गमिति। तर्हि कुतोऽयं रोमाञ्च इति तदाक्षेपमाक्षिपति यत् पिधत्ते इति। हैमनो हेमन्तभवः॥६५॥

आनन्दचन्द्रिका—कृष्णप्रेषितां दूतीं प्रति कलहान्तरिता श्यामा प्राह—मा भूय इति। तर्हि कुतोऽयं रोमाञ्च इति चेत्तत्राह—यत् पिधत्ते इति। हैमनो हिमसंभवः॥६५॥

दाक्षिण्येन यथा ललितमाधवे (७/३८)—

उद्धूता स्मितकौमुदी न मधुरा वक्त्रेन्दुबिम्बात्तया,
मृद्वीनां न निराकृता निजगिरां माधुर्य्यलक्ष्मीरपि।
कोष्णैरद्य दुरावरैर्निजमनो गूढव्यथाशंसिभिः,
श्वासैरेव दरोद्धुतस्तनपटैस्तस्या रुषः कीर्त्तिताः॥६६॥

तात्पर्यानुवाद—दाक्षिण्यवशतः व्रीड़ा—द्वारकाके नववृन्दावनमें सत्यभामाके द्वारा निर्मित प्रतिमासे किए हुए सम्भाषणसे उत्फुल्ल चित्त श्रीकृष्णको देखकर सत्यभामाके साथ इनका मिलन हुआ है, ऐसा सोचकर गम्भीर चित्तवाली रुक्मिणीने भी मान कर लिया—किन्तु इसे मधुमङ्गल समझ न सके—उस समय श्रीकृष्ण ही उनको बतला रहे हैं—"सखे! इस रुक्मिणीके क्रुद्ध होनेपर भी इसके मुखचन्द्रसे मधुर हास्यचन्द्रिका दूर नहीं हुई तथा मृदु-मधुर वचनोंकी माधुर्य-सम्पत्ति भी दूर नहीं हुई, किन्तु यहाँ उसके मनकी निगूढ़ मनोव्यथा-प्रकाशक दुर्निवार ईषदुष्ण

निःश्वास और ईषत् कम्पित पट्टिकाने ही उसके गूढ़ रोषावेशको प्रकट कर दिया॥"६६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मधुमङ्गलं प्रत्याह—उद्धूतेति। तया चन्द्रावल्या दुरावरैरावरितुमशक्यैः॥६६॥

ह्रिया यथा विदग्धमाधवे (२/१६)—

भजन्त्याः सव्रीडं कथमपि तदाडम्बरघटा–
मपह्नोतुं यत्नादपि नवमदामोदमधुरा।
अधीरा कालिन्दीपुलिनकलभेन्द्रस्य विजयं,
सरोजाक्ष्याः साक्षाद्वदति हृदि कुञ्जे तनुवनी॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—लज्जावशतः—पूर्वरागकी दशामें श्रीमती राधिकाकी श्रीकृष्णकी प्राप्तिके विषयमें व्यग्रता देखकर किसी विशेष व्याधिके उपसर्गकी आशङ्काकर मुखराने पौर्णमासीको बुलवाया है। उन्हें देखकर श्रीमती राधिका द्वारा लज्जासे अपने भावोंको छिपा लेनेपर भी पौर्णमासीने उनकी चेष्टाओंके द्वारा यह निश्चय किया कि यह उपसर्ग श्रीकृष्णके लिए ही है। वे सोचने लगीं—"इस कमलनयना श्रीराधाके हृदयकुञ्जमें कालिन्दी पुलिनमें स्थित स्वैरलील श्रीकृष्णकी स्फूर्ति ही है। (श्रीकृष्णके ही रूप, गुण, लीलादिके प्रभावका पराक्रम है) इसीको उसकी देह साक्षात् रूपसे सूचित कर रही है। क्षुद्रवनमें मत्तमातङ्गराज प्रविष्ट होनेपर क्या अपनेको छिपा सकता है? उस गजराजके पुनः–पुनः गर्जनसे भी वह गुप्त नहीं रह सकता। इस प्रकार इसकी देहमें भी नवीन–नवीन स्मरविकारसे उत्पन्न मत्ततासे उत्थित आनन्दोद्रेकपूर्ण माधुर्यको देखा जा रहा है। साथ ही बारम्बार कम्प हो रहा है। इसलिए लज्जावशतः इन भावोंको गुप्त रखनेकी चेष्टा करनेपर भी श्रीकृष्णका पराक्रम किसी प्रकार उसे छिपने नहीं दे रहा है, उसे प्रकाशित ही कर रहा है।

तात्पर्य—भीतरमें सचमुच उदासीनता रहनेपर हास्यादिका उद्गम नहीं हो सकता। अतः भीतरमें अपनी अभिलाषा पूर्ण होनेके कारण यह मधुर मन्दहास्य प्रस्फुटित हो रहा है॥६७॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी स्वगतमाह—सरोजाक्ष्याः श्रीराधायास्तनुवनी तनुरेव वनी क्षुद्रं वनं कालिन्दीपुलिनसंबन्धिनः कलभेन्द्रस्यातिशयोक्त्या पक्षे श्रीकृष्णस्य

विजयमागमनं वदति। क्व? हृदि हृदयरूपे कुञ्जे। तस्यासाधारणं लक्षणं वक्तुं विशिनष्टि—नवेन मदामोदेन दानगन्धेन, पक्षे मत्तताधिक्येन मधुरा माधुर्यवती। अधीरा चञ्चला। सरोजाक्ष्याः कीदृश्याः? तस्य कलभेन्द्रस्य आडम्बरघटां गर्जनश्रेणीमपह्नोतुं संगोपयितुं यत्नान् भजन्त्याः कुर्वत्याः। "आडम्बरस्तुर्यरवे गजेन्द्राणां च गर्जिते।" इति नानार्थवर्गः। गर्जितमत्र विक्रमव्यञ्जिका ख्यातिः॥६७॥

ह्रीभयाभ्यां यथा—

हृदये त्वदीयरागं माधव दधती शमीव सा दहनम्।
अन्तर्ज्वलितापि बहिः सरसा स्फुरति क्षमागुणतः॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—लज्जा और भयहेतु व्रीड़ा—श्रीकृष्णके प्रति अनुरागिनी होनेपर भी लज्जावशतः अपने मनकी अभिलाषाको प्रकाश न कर हृदयमें अधिकतर पीड़िता श्रीराधाको देखकर उसकी अमितार्था दूती श्रीकृष्णके निकट निवेदन कर रही है—"शमी वृक्ष जिस प्रकार अन्तरमें अग्नि ज्वाला वहन करते हुए भी पृथ्वीके गुणसे बाहरमें पल्लवादि अङ्कुरोंके द्वारा रसाल जैसा लगता है उसी प्रकार वह गोपी भी हृदयमें तुम्हारे अनुरागको वहनकर अन्तरमें दग्ध होनेपर भी किन्तु सहिष्णुताके गुणसे शमी वृक्ष जैसी लग रही है॥"६८॥

लोचनरोचनी—क्षमा शान्तिः। पक्षे भूः॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधाया अमितार्था दूती श्रीकृष्णं प्रत्याह—हृदय इति। शमी 'छेकर' इति प्रसिद्धो वृक्षः। स यथा अन्तःकोटरगतेन स्वाभाविकेन दहनेन प्रतिक्षणं दह्यमानोऽपि बहिः पुष्पपल्लवादिभिः सारस्यं प्रकाशयति तथेत्यर्थः। क्षमागुणतः 'क्षमा पृथिवी' पक्षे लोको मम श्रीकृष्णानुरागं न जानात्विति तेभ्यो लज्जा भयाभ्यामनुरागज्वालाया सहिष्णुता॥६८॥

भयेन यथा—

चन्द्रावली मन्दिरमण्डलानि पत्युः पुरस्ताच्चिरमाचरन्ती।
वंशीनिनादेन विरूढकम्पा निनिन्द धूर्त्ता घनगर्जितानि॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—भयहेतु व्रीड़ा—चन्द्रावलीके चरित्रको कहींसे सुनकर आई ललिताकी कोई सखी सखीसमाजमें कह रही है—"चन्द्रावली पतिके सामने ही गृहको सजा रही थी। उस समय श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिको

सुनकर उसकी देहमें अष्टसात्त्विकभाव उदित हुए, किन्तु वह धूर्ततावशतः तत्कालीन दैवकृत मेघगर्जनकी ही निन्दा करने लगीं अर्थात् अपने भावको छिपाकर मेघगर्जनके कारण वह काँप रही है—यह सूचित करने लगी॥"६९॥

लोचनरोचनी—चन्द्रावलीति। प्रतिपक्षनायिकायाः सख्या वचनम्। निनिन्देति। वंशीनिनादघनगर्जितयोः समकालत्वं बोधयति॥६९॥

आनन्दचन्द्रिका—ललितायाः सखी काचित् चन्द्रावलीचरित्रं कुतोऽपि श्रुत्वा आगत्य सखीसंसदि कथाप्रस्तावेनाह—निनिन्देति। वंशीनिनादकाले दैवान्मेघानां गर्जितेषु सत्सु धिङ्मेघानां गर्जितानि यानि मां त्रासेन कम्पयन्तीत्युक्त्वा तेषामेव मूर्ध्नि दोषं ददौ॥६९॥

गौरवदाक्षिण्याभ्यां यथा—

स्वकरग्रथितामवेक्ष्य मालां विलुठन्तीं प्रतिपक्षकेशपक्षे।
मलिनाप्यऽघमर्दनादरोर्मिस्थगिता चन्द्रमुखी बभूव तूष्णीम्॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—गौरव और दाक्षिण्यहेतु व्रीड़ा—चन्द्रमुखी गोपीने अपने हस्तकमलसे निर्माणकर जो माला श्रीकृष्णको दी थी, उसीको विपक्षकी यूथेश्वरीके शिरोभूषणके रूपमें देखकर हृदयमें अत्यन्त क्षुब्ध होनेपर भी श्रीकृष्ण-विषयक गौरवादिके कारण अपने मानसिक सन्तापको छिपा रही है, यह देखकर वृन्दा विस्मित होकर चन्द्रमुखीकी सखीको कह रही है—"हे सखि! देखो तुम्हारी प्रियसखी चन्द्रमुखी अपने हाथोंसे ग्रथित पुष्पमालाको प्रतिपक्षकी रमणीके केशदाममें विलुण्ठित देखकर यद्यपि अन्तरमें परितप्त (दुःखी) हो रही है, फिर भी श्रीकृष्णके प्रति आदर हेतु अथवा अपने प्रति श्रीकृष्णके गौरवहेतु क्रोधको प्रकाश न कर चुप है॥"७०॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रमुख्याः सखीं वृन्दा प्राह—स्वेति। केशपक्षे कबर्य्याम्। "पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे" इत्यमरः। स्थगिता संवृतक्षोभेत्यर्थः॥७०॥

अथ स्मृतिः—सा सदृशेक्षया यथा हंसदूते (२३)—

तमालस्यालोकाद्गिरिपरिसरे सन्ति चपलाः,
पुलिन्द्यो गोविन्दस्मरणरभसोत्तप्तवपुषः।

शनैः स्वेदं तासां क्षणमपनयन्यास्यति भवा–
नवश्यं कालिन्दीसलिलशिशिरैः पक्षपवनैः ॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—स्मृति (तुल्यवस्तुके दर्शन हेतु)—जब ललिता देवी हंसको दूतके रूपमें श्रीकृष्णके समीप भेजते समय पथ–परिचयके प्रसङ्गमें कुछ कह रही थी, तब उनको पुलिन्दियोंके तमाल–दर्शनसे श्रीकृष्ण–भ्रान्ति हेतु क्लान्तिकी स्फूर्ति हो आई। उन पुलिन्दियोंके प्रति दया परवश होकर उन्हें सान्त्वना देने हेतु ललिताजी हंसको कुछ उपदेश दे रही है—"तमालवृक्षके दर्शनसे मुकुन्दकी स्फूर्ति होनेसे सन्तप्त हृदयवाली, धैर्य धारण करनेमें असमर्थ पुलिन्दियोंको गोवर्द्धनके समीप देखकर तुम कालिन्दीकी सुशीतल वायु द्वारा उनके प्रस्वेदको दूरकर धीरे–धीरे अग्रसर होना॥"७१॥

लोचनरोचनी—पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः स्मृतिः॥७१॥

आनन्दचन्द्रिका—स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थस्फूर्तिः। ललिता संदेशहारकं मथुरां यास्यन्तं हंसं पन्थानमुपदिशन्ती प्रार्थयते—तमालस्येति॥७१॥

दृढाभ्यासेन यथा—

ते पीयूषकिरां गिरां परिमलाः सा पिञ्छचूडोज्ज्वला
तास्तापिञ्छमनोहरास्तनुरुचस्ते केलयः पेशलाः।
तद्वक्त्रं शरदिन्दुनिन्दि नयने ते पुण्डरीकश्रिणी
तस्येति क्षणमप्यविस्मरदिदं चेतो ममाघूर्णते॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—दृढ़ अभ्यासहेतु—सखीके मुखसे श्रीकृष्णके रूप, गुण, माधुर्यादिको सुनकर अति अनुरागिनी श्रीराधा निरन्तर उनके स्मरण–आवेशसे उत्पन्न दृढ़ अभ्याससे उन माधुरियोंकी स्फूर्ति होनेपर उद्धवके निकट अपनी विकलताको व्यक्त कर रही है—"श्रीकृष्णके अमृत बरसानेनेवाले वचनोंका परिमल (उत्कर्ष विशेष), उज्ज्वल मयूरपिच्छ चूड़ा, तमालविनिन्दि अत्यन्त सुन्दर कान्तिमाला, अत्यन्त मधुर हास–परिहास और विहारोंकी विलास श्रेणियाँ, शरदेन्दु–विजयी वह वदनकमल तथा उनके कमलके सदृश सुन्दर नयन—इन सब वस्तुओंको क्षणकालके लिए भी विस्मृत न होकर मेरा चित्त घूर्णायमान हो रहा है॥७२॥

लोचनरोचनी—पीयूषकिरामिति क्विबन्तस्य षष्ठ्यन्तं पदम्॥७२॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितभर्तृका श्रीराधा विलपन्त्युद्धवं प्रत्याह—त इति। पीयूषकिरामिति क्विबन्तषष्ठ्यन्तम्। परिमला इत्यनेन गिरां पुष्पमञ्जरीत्वमारोपितं तेन चातिस्पृहणीयत्वं व्यञ्जितम्। पुण्डरीकस्य श्रीः श्वेतिमशोभा ययोस्ते॥७२॥

अथ वितर्कः—स विमर्शाद्यथा विदग्धमाधवे (६/२९)—

विघूर्णन्तः पौष्पं न मधु लिहतेऽमी मधुलिहः,
शुकोऽयं नादत्ते कलितजडिमा दाडिमफलम्।
विवर्णा पर्णाग्रं चरति हरिणीयं न हरितं,
पथानेन स्वामी यदिभवरगामी घ्रुवमगात्॥७३॥

तात्पर्यानुवाद—वितर्क (संशयहेतु)—दोनों पक्षोंका भलीभाँति विचारकर निर्णय न कर पानेकी स्थितिको वितर्क कहते हैं।

कारणान्वेषणहेतु वितर्क—वृन्दावनमें परस्पर स्पर्धा करते हुए लुकाचोरीका खेल खेलनेमें युगलकिशोर प्रवृत्त हो रहे हैं। श्रीकृष्णके घोर अन्धकारपूर्ण एक कुञ्जमें छिप जानेपर श्रीराधा उनको ढूँढ़ती हुई एक स्थानपर उपस्थित होकर वहाँ भ्रमरोंकी जड़ता देखकर श्रीकृष्णके वहीं छिपे रहनेका वितर्क करने लगीं—"अहो! जब यहाँ भ्रमरसमूह आनन्द-विह्वल होकर पुष्पोंके मधुका आस्वादन नहीं कर रहे हैं, यह शुकपक्षी भी जड़ताको प्राप्त होकर अनारके फलोंका आस्वादन नहीं कर रहा है, यह हरिणी भी अपने सात्त्विकभावोंके कारण विवश होकर हरी-हरी घासोंको नहीं चर रही है, तब मतवाले गजराजकी भाँति गमन करनेवाले मेरे प्राणेश्वर निश्चय ही इसी मार्गसे गए हैं॥"७३॥

लोचनरोचनी—वितर्को विमर्शानन्तरं विचारः। विमर्शो हेतुपरामर्शः। विशेषस्तु पूर्वग्रन्थाज्ज्ञेयः। विघूर्णन्त इति। अत्र व्याप्तिग्रहरूपो विचारः पूर्वपूर्वानुभवात्॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—वितर्को हेतुपरामर्शादिजन्योऽत्यूहः॥ विमर्शात् हेतुपरामर्शात्। वने निह्नोतुं श्रीकृष्णमन्विष्यन्ती श्रीराधा वितर्कयति—विघूर्णन्त इति। व्याप्तिग्रहणरूपो विचारः पूर्वपूर्वानुभवात्। न चरति न भक्षयति॥७३॥

संशयाद्यथा ललितमाधवे (३/४०)—

विदूरे कंसारिर्मुकुटितशिखण्डावलिरसौ,
पुरा गौराङ्गीभिः कलितपरिरम्भो विलसति।

न　कान्तोऽयं　शङ्के　सुरपतिधनुर्धाममधुर–
स्तडिल्लेखाहारी　गिरिमवललम्बे　जलधरः ॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—संशयजात वितर्क—माथुरविरहमें कातर श्रीमती राधिका दिव्योन्मादकी दशाको प्राप्त होकर गोवर्द्धनपर्वतके ऊपर विद्युत् और इन्द्रधनुके साथ मेघमालाको देखकर वितर्क करते हुए कह रही हैं—"अहो! ये दूरमें शिखिपिच्छ निर्मित भूषणको धारणकर श्रीकृष्ण समीपवर्ती गौराङ्गी व्रजसुन्दरियोंके साथ आलिङ्गित होकर विलास कर रहे हैं! अथवा, ये तो प्राणकान्त नहीं हैं, इन्द्रधनु और विद्युत्–भूषित मेघ ही गोवर्द्धनके ऊपर अलङ्कारके रूपमें विराजमान हो रहा है॥"७४॥

लोचनरोचनी—संशयाद्यथेति। संशयानन्तरं यो विपर्यासस्तस्मादित्यर्थः॥ न कान्तोऽयमिति। अत्र "न कंसारिः" इति वा पाठः॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—संशयः कोटिद्वयं स्पृशन्निर्णेतुमशक्यं ज्ञानं तस्मात्। प्रोषितभर्तृका श्रीराधा दिव्योन्मादेव भ्रमन्ती गोवर्द्धने मेघमालोक्याह—विदूर इति। गाढं निभाल्य निश्चिनोति—न कान्तोऽयमिति॥७४॥

अथ चिन्ता सा इष्टानवाप्त्या यथा पद्यावल्याम् (२३८)—

आहारे　विरतिः　समस्तविषयग्रामे　निवृत्तिः　परा
नासाग्रे　नयनं　यदेतदपरं　यच्चैकतानं　मनः।
मौनं　चैदमिदं　च　शून्यमखिलं　यद्विश्वमाभाति　ते
तद् ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—चिन्ता—अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति और अनिष्टकी प्राप्तिके लिए चिन्ताभावना करनेका नाम चिन्ता है।

इष्टकी अप्राप्ति हेतु चिन्ता—श्रीकृष्णके गुणादिको श्रवणकर अनुराग उत्पन्न होनेपर भी श्रीकृष्णकी अप्राप्तिके कारण चिन्तासागरमें निमग्न श्रीमती राधिकाके अन्तर और बाहरकी चेष्टाओंको अनुभवकर उस विषयको जाननेवाली विशाखा श्रीराधासे पूछ रही है—"हे सखि! आहारमें तुम्हारी विरति देख रही हूँ, समस्त विषयोंसे तुम्हारी निवृत्ति, नासाग्रमें तुम्हारे नयनोंकी दृष्टि, मनकी एकतानता अथवा मौनावलम्बन भी परिलक्षित हो रहा है और समग्र विश्वको तुम शून्यवत् देख रही हो।

तुम्हीं बतलाओ कि सचमुच ही क्या तुम योगिनी हो या वियोगिनी? क्योंकि इन दोनोंको छोड़कर ये सब लक्षण दूसरी जगह प्रकाशित नहीं होते॥"७५॥

आनन्दचन्द्रिका—चिन्ता इष्टलाभार्थमनिष्टपरिहारार्थं च भावना। ज्ञाततत्त्वापि विशाखा पूर्वरागवतीं केनापि प्रकारेणाहं श्रीकृष्णसङ्गं लप्स्य इति ध्यायन्तीं श्रीराधां पृच्छति—नासाग्रे नयनमित्यादिध्यानमात्रस्यानुभवः। एकतानमनन्यवृत्ति॥७५॥

यथा वा विदग्धमाधवे (३/४)—

अक्ष्णोर्द्वन्द्वं प्रसरति दरोद्घूर्णतारं मुरारेः,
श्वासाः क्लृप्तां किल विचकिलैर्मालिकां म्लापयन्ति।
केयं धन्या वसति रमणी गोकुले क्षिप्रमेतां,
नीतस्तीव्रामयमपि यया कामपि ध्याननिष्ठाम्॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाकी इष्टप्राप्तिकी चिन्ताका उदाहरण देकर इस प्रस्तुत पद्यमें श्रीकृष्णकी चिन्ताका भी उदाहरण दे रहे हैं। पूर्वरागके प्रसङ्गमें कामलेख प्रस्तुत करनेके लिए मधुमङ्गलके साथ जब श्रीकृष्ण प्रस्कन्दन तीर्थमें आए, तब दैवयोगसे विशाखाके साथ श्रीमती राधिकाका दर्शन करनेका सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, किन्तु जटिला उसी समय वहाँ उपस्थित होकर उन्हें घर लौटा ले गई। श्रीमती राधिकाके साथ मिलन न होनेके कारण चिन्तासे व्याकुल श्रीकृष्णको देखकर पौर्णमासी वितर्क कर रही है—"अहो! मुरारिके दोनों नेत्रोंकी दोनों तारकाएँ विरहसे उत्पन्न त्राससे महाघूर्णाको प्राप्त हो रही हैं। उनके दीर्घनिःश्वास मल्लिकापुष्प रचित मालाको भी शुष्क कर रहे हैं। गोकुलकी वह परम सौभाग्यवती रमणी कौन है, जिसकी चिन्तामें ये गोकुलपति अनिर्वचनीय ध्यानमें निमग्न हो रहे हैं?"॥७६॥

लोचनरोचनी—नासाग्रे इति। अत्र नातिसंतुष्य काव्यान्तरमुदाहरति—यथावेति॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकानामिव नायकेऽपि संचारिभावा उदाहर्त्तव्या इति प्रदर्शयितुमाह—यथा वेति। पूर्वरागवन्तं कथमहं राधासङ्गं लप्स्य इति ध्यायन्तं श्रीकृष्णं दूरादालोक्य पौर्णमासी वितर्कयति—विचकिलैर्मल्लिकापुष्पैः॥७६॥

अनिष्टाप्त्या यथा—

बाल्यस्योच्छिदुरतया यथा यथाङ्गे, राधाया मधुरिमकौमुदी दिदीपे।
पद्मायाा मुखकमलं विशीर्णमन्तःसंताम्यद्भ्रमरमिदं तथा तथासीत्॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—अनिष्ट प्राप्ति हेतु—श्रीमती राधिकाकी वयःसन्धिकी अतिशय शोभाको देखकर खेदग्रस्त पद्माके मुखमालिन्यको अनुभवकर नान्दीमुखी पौर्णमासीजीसे कह रही है—"बाल्यावस्थाके दूर होनेपर जिस प्रकार धीरे–धीरे श्रीमती राधिकाके अङ्गमें माधुर्यचन्द्रिका दीप्तिशील होने लगी है, ठीक वैसे–वैसे ही पद्माका मुखकमल भी भ्रमरोंके अन्तःकरणमें ग्लानि समर्पणपूर्वक सूखने लगा है अर्थात् पद्माके हृदयमें मलिनता वृद्धिके साथ मुखमें भी (भ्रमरोंकी कालिमाको तिरस्कार करनेवाली) कालिमा देखी जा रही है॥"७७॥

लोचनरोचनी—छिदुरेति कर्मकर्त्तरिप्रयोगः। तत्तया स्वयं छिद्यमानतयेत्यर्थः। विशीर्णत्वं स्खलितप्रकाशत्वेनानवस्थितयथावदवयवत्वम्। मुखपक्षे अन्तःकरणं तदेव संताम्यन् भ्रमरो यत्र तादृशम्॥७७॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी पौर्णमासीं प्रत्याह—बाल्यस्येति। उच्छिदुरतया स्वयमुच्छिद्यमानतया। कर्मकर्तरि कुरच्। मुखपक्षे अन्तरन्तःकरणं तदेव संताम्यन् भ्रमरो यत्र तदासीत् अभूत्॥७७॥

यथा वा—

मा चन्द्रावलि मलिना भव राधायाः समीक्ष्य सौभाग्यम्।
ज्याोतिर्विदोऽपि विद्युः कृष्णे किल बलवती तारा॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाकी वयःसन्धिमें उनके अङ्गोंकी शोभाके दर्शनस्वरूप अनिष्ट प्राप्तिसे उत्पन्न पद्माकी चिन्ताका उदाहरण देकर इस पद्यमें श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमती राधिकाके प्रति सौभाग्यातिशय प्रदानके सम्पर्कमें चन्द्रावलीकी चिन्ताको सूचित कर रहे हैं। उत्तरोत्तर श्रीराधाके विषयमें श्रीकृष्णकृत सौभाग्य–संचयको देखकर चिन्ताग्रस्त चन्द्रावली द्वारा एक दिन निर्जनमें वृन्दासे निर्वेदके साथ अपने अन्तरके दुःखका उद्घाटन करनेपर वृन्दा कह रही है—"हे सखि चन्द्रावलि! श्रीमती राधिकाके सौभाग्यको देखकर मलिन मत होओ। ज्योतिर्विद पण्डितजन भी यह

जानते हैं कि कृष्णपक्षमें तारा ही बलवती होती है अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दनको विशाखा नामकी श्रीराधा ही समधिक प्रीतिदायिनी है॥"७८॥

लोचनरोचनी—मा चन्द्रावलीति श्रीराधासख्या शिक्षितायाः सारिकाया वचनम्। यूथेशाग्रे विपक्षसखीनां तादृशधाष्ट्र्यस्यासंप्रतिपत्तेः। सौभाग्यं तादृश विषयककान्तप्रेम्णा तादृश्या लालित्यम्। तच्च नायुक्तमित्याह—ज्योतिर्विद इति। कृष्णे कृष्णस्वरूपे, पक्षे तारा तद्विशेषरूपा, श्लेषे तु तारा तद्विशेषनाम्नी श्रीराधा 'कृष्णे कृष्णाख्ये निजकान्ते॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधायाः सौन्दर्य्येण पद्मायाश्चिन्तामुदाहृत्य तस्याः सौभाग्येन चन्द्रावल्या अपि चिन्तामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। ललितया पाठिता काचित् सारी चन्द्रावलीनिकटे पठति—मेति। कृष्णे कृष्णपक्षे श्रीनन्दपुत्रे च। तारा अश्विन्यादिः श्रीराधा च॥७८॥

अथ मतिः—सा यथा पद्यावल्याम् (३३७)—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु नागरो, मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—मति—विचारके द्वारा यथार्थका निर्धारण करना ही मति कहलाता है।

एक समय माथुरविरहमें कातर मलिनाङ्गी श्रीमती राधिकाको देखकर पौर्णमासी स्नेहसे उसे उपदेश करती हुई बोली—"वत्से! भगवान् श्रीनारायणकी पूजा, परिचर्या, जप और स्तवादि करो, मैं तुम्हें यही उपदेश दे रही हूँ। जबतक कृष्ण न मिल जाएँ, तब तक उन्हींमें अपने मनको निमग्न करो। इस प्रकार इस भयानक समयको व्यतीत करो। यही उपाय समीचीन है। इसके द्वारा ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही लोकोंमें सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना है। अतः तुम नारायणका भजन करो।" इसे सुनकर श्रीमती राधिका बोलीं—"हे भगवति! यदि यही मेरा कर्त्तव्य है, तो सर्वज्ञ गर्गाचार्यकी उक्ति प्रामाणिक होनेसे नारायणके समतुल्य कृष्णकी ही पूजा, जप, स्तुति प्रभृतिके लिए मुझे उपदेश क्यों नहीं कर रही हो? मैं उसी प्रकारसे श्रीकृष्णकी आराधना करूँ, जिससे वे आविर्भूत होकर मुझे अपना दर्शन प्रदान करें।" अनन्तर देवीने कहा—"पुत्रि! तुम नहीं जानती। उनका स्वभाव अत्यन्त दुर्निवार

है। उनका वह स्वभाव कभी छूट नहीं सकता। पुनः वे तुम्हें विरहवेदना प्रदान करेंगे।" इसे सुनकर श्रीमती राधिकाने कहा—"देवि! मैं कृष्णके चरणोंमें अनुरक्त हूँ। वे मुझे आलिङ्गन प्रदान करें या मेरे हृदयको पीसकर चूर्णविचूर्ण कर डालें; चाहे दर्शन दें अथवा दर्शन न देकर मुझे मर्माहत ही करें, उनकी जैसी भी इच्छा हो करें, किन्तु हे देवि! वे नागर मेरे प्राणनाथ हैं, वे मेरे लिए कभी भी दूसरे नहीं हैं।"

यह उदाहरण श्रीराधाभाव-कान्ति-सुवलित श्रीशचीनन्दन गौरहरिके मुखकमलसे निःसृत है॥७९॥

लोचनरोचनी—मतिर्विचारोत्थमर्थनिर्धारणम्। कापि सखी कस्याश्चित् श्रीकृष्णप्रेयस्याः सत्त्वपरीक्षार्थमेवमुक्तवती। स खलु तरुणवयास्तव नववयस्काया जातु सुखदायी दृश्यते तथापि तदेकानुरक्तां त्वामुपदिशामि तदनुरागं त्यजेति। तत्राह—आश्लिष्येति। पादरतामिति तु त्यागभयाद्दैन्योक्तिः॥७९॥

आनन्दचन्द्रिका—मतिर्विचारोत्थमर्थनिर्धारणम्। कदाचिन्माथुरविरहव्यथाविशीर्णाङ्गीं श्रीराधामालोक्य पौर्णमासी स्नेहेनोपदिदेश। वत्से! श्रीभगवतो नारायणस्य पूजापरिचर्याजपस्तुत्यादिकं त्वामहमुपदिशामि तत्रैव स्वमनो निमज्ज्य दुस्तरं समयमिमं यापय यावच्छ्रीकृष्णागमनम्, उपायोऽयं लोकद्वयसुखद एवेति त्वं नारायणभक्ता भवेति। ततस्तां प्रति श्रीराधाह—हे भगवति! एवं चेत् सर्वज्ञस्य गर्गस्योक्तिप्रामाण्येन नारायणसमस्य श्रीकृष्णस्यैव पूजा-जप-स्तुत्यादिकं कथं मां नोपदिशसि। ततश्च मया तेनैव प्रकरेणाराधितोऽसौ प्रादूर्भूय स्वदर्शनं मे दास्यतीति। ननु स स्वीयस्वभावं त्यक्तुमसमर्थः पुनरपि ते विरहदुःखं दास्यतीति चेत्तत्राह—आश्लिष्येति। पादरतां चरणयोः पतितां मामाश्लिष्य स्वहस्ताभ्यां धृत्वा उत्थापयन् स्ववक्षसि निधाय स्वबाहुभ्यां पिनष्टु अतिगाढतरालिङ्गनेनानन्दसमुद्रे निमज्जयतु। किं वा तदैवादर्शनं प्रदाय, ल्यब्लोपे पञ्चमी, मर्महतां करोतु इतोऽप्यधिकदुःखसमुद्रे निमज्जयतु। यथा तथा वेत्यनेन मत्समक्षमेव मत्प्रतिनायिकां रमयतु वेति व्यञ्जितम्। यतो लम्पटः तस्य लाम्पट्यमेव विचाराभावव्यञ्जकमिति भावः। किन्तु व्यवहारे वा परमार्थे वा मम प्राणानां नाथः स एव नत्वन्यः, तेन श्रीनारायणमहं परलोकार्थमपि सेवितुं न शक्नोमि मम प्राणानां श्रीकृष्णैकतानत्वादिति भावः। प्रकारान्तरेण व्याख्यायां स एव नापर इत्यन्ययोगव्यवच्छेदकेनैवकारेण व्यञ्जितो रसाभासो दुर्निवार एव स्यात्। स एव ना पुरुषः। कीदृशः? पर इति व्याख्यायामपि स एव दोषः। यद्वा स तु मत्प्राणनाथ एव नापर इत्येवकारतुकारयोःस्थानविनिमयेन योजनायामन्ययोगव्यवच्छेदे किंचिदसामञ्जस्यं न स्यात् किंत्वस्थानस्थपतितानामदोषः स्यादिति पूर्वोक्तप्रकार

एवोपादेयः। किन्तु श्लोकोऽयं भगवतः श्रीमहाप्रभोर्मुखान्निःसृत इति नानवधानीयो भवितुमर्हति। स च श्रीमहाप्रभुः श्रीराधिकां विनान्यत्र कस्यामप्युदाजिहीर्षति। किं चात्र पूर्वमहाजनप्रसिद्धो लम्पट इत्येव पाठस्तदीय इत्यश्रौष्म॥७९॥

यथा वा—

भवाम्बुजभवादयस्तव पदाम्बुजोपासना-
मुशन्ति सुरवन्दिताः किमुत मन्दपुण्या नृपाः।
अतस्तव जगत्पते मधुरिमाम्बुधेर्मद्विधो,
न दास्यमिह वष्टि कः पुरुषरत्न कन्याजनः॥८०॥

तात्पर्यानुवाद—ऐश्वर्यज्ञानशून्य समर्था व्रजदेवियोंकी मतिका उदाहरण देकर शास्त्र-विचारकी अवधारणासे ऐश्वर्यज्ञानप्रधाना समञ्जसा रतिवाले द्वारकाके परिकरको ही मुख्य मानकर दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। सुनन्द नामक विप्रके द्वारा कृष्णके निकट सन्देश भेजकर रुक्मिणीदेवी उसमें कृष्णको सम्बोधन कर कह रही है—"हे पुरुषरत्न! देव-वन्दित शङ्कर और ब्रह्मादि भी जब तुम्हारे चरणमकलोंकी उपासना करते हैं, तब अल्प पुण्यवाले नृपतियोंकी तो बात ही क्या है? अतः हे जगत्पते! तुम माधुर्यके समुद्र हो, मुझ जैसी ऐसी कौन कन्या है, जो तुम्हारी दासी होनेकी कामना न करे?"॥८०॥

लोचनरोचनी—भवाम्बुजेति। श्रीरुक्मिण्याः श्रीकृष्णकृतपरिहासादनन्तरं वचनम् किमुतेत्यत्र "क इह" इति वा पाठः॥८०॥

आनन्दचन्द्रिका—सर्मथायामुदाहृत्य समञ्जसायामप्युदाहर्त्तुमाह—भवेति। सुनन्दनामानं विप्रं श्रीकृष्णसंनिधौ प्रस्थापयन्ती श्रीरुक्मिणी संदेशपत्रीं लिखति। अम्बुजभवो ब्रह्मा। उशन्ति कामयन्ते। मधुरिमाम्बुधेरिति। श्लेषेण मधुरस्य शृङ्गाररसस्य भावो मधुरिमा तस्याम्बुधेस्तव दास्यं दासीत्वम्॥८०॥

अथ धृतिः—सा दुःखाभावेन यथा श्रीदशमे (३२/१३)—

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे॥८१॥

तात्पर्यानुवाद—दुःखके अभावहेतु धृति—रासलीलासे अन्तर्धान होकर पुनः आविर्भूत कृष्णका दर्शनकर गोपियोंके दुःख-ध्वंसकी पूर्णताकी

बातको शुकदेव गोस्वामी कीर्त्तन कर रहे हैं—"कृष्णके दर्शनसे जो महानन्द हुआ, उससे गोपियोंकी उक्त अन्तर्द्धानसे उत्पन्न सारी मनःपीड़ा दूर हो गई। जिस प्रकार श्रुतियाँ अपने परमाभीष्टकी सीमाको लाभकर पूर्ण हुईं थीं, गोपियाँ भी उसी प्रकार कृष्णको पाकर कृतकृतार्थ हो गईं। उस समय उन्होंने कुच-कुंकुमसे व्याप्त अपने-अपने उत्तरीय वस्त्रको बिछाकर आसन प्रस्तुत किया। उन्होंने श्रीकृष्णको कभी सपनेमें भी कान्तबुद्धिके अतिरिक्त दूसरे रूपमें नहीं देखा था। इसलिए अपने व्यवहृत वसनोंके द्वारा ही आसन निर्माणकर परमाराध्यतमको निवेदन करनेमें संकोच नहीं किया अर्थात् गोपियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् प्राप्तकर पूर्णकाम हो गईं॥"८१॥

लोचनरोचनी—धृतिः पूर्णता। मनसोऽचाञ्चल्यमिति यावत्॥ न केवलं ता मनोरथान्तं तत्पराकाष्ठां ययुः। श्रुतयोऽपि यथा येन तासां तत् सौभाग्यवर्णनप्रकारेण तं ययुरित्यर्थः। ततश्च ताः स्वैरुत्तरीयैरिति॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—धृतिः पूर्णता मनसः स्थैर्यसंपादिनी॥ रासलीलायां तिरोधाय पुनराविर्भूतं श्रीकृष्णमालोक्य व्रजसुन्दरीणां सर्वदुःखप्रशमकं पूर्णमानन्दं तदुत्थचेष्टां च श्रीशुकदेवो वर्णयति—तदिति। तस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनानन्देन खण्डितसर्वमनोदुःखा व्रजसुन्दर्य्यः स्वीयैरुत्तरीयैरात्मबन्धवे श्रीकृष्णाय आसनं तथा अचीक्लृपन् उपजह्रुर्यथा श्रुतयो महोपनिषदोऽपि मनोरथानामन्तं परमकाष्ठां ययुः। यतोऽधिकोऽन्यो मनोरथो नास्ति तं प्रापुः। वयमपि व्रजे गोप्यो भूत्वा श्रीकृष्णेन सहैवं स्वकुचकुङ्कुमस्तिमित-वस्त्रार्पणादिना कदा विलसामेत्युत्कण्ठिता बभूवुरित्यर्थः। अतएव श्रुतयो गोपीनां पदवीं प्राप्तुमनुगतिमयं तीव्रं तपश्चक्रुरिति बृहद्वामनीया कथा प्रसिद्धा। श्रीदशमे च "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः" इति तासामुक्तिः। अत्र पूर्वकल्पगतश्रीकृष्णावतारदर्शिन्यः श्रुतयो लब्धचरमनोरथा एतस्मिन् कल्पे गोप्यो बभूवुः। एतस्मिन् कल्पे तु लब्धमनोरथा अन्याः श्रुतयोऽग्रेतने कल्पे गोप्यो भविष्यन्ति, श्रुतीनामानन्त्यादिति ज्ञेयम्॥८१॥

उत्तमाप्त्या यथा—

नव्या यौवनमञ्जरी स्थिरतरा रूपं च विस्मापनं,
सर्वाभीरमृगीदृशामिह गुणश्रेणी च लोकोत्तरा।
स्वाधीनः पुरुषोत्तमश्च नितरां, त्यक्तान्यकान्तास्पृहो,
राधायाः किमपेक्षणीयमपरं पद्मे क्षितौ वर्त्तते॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—उत्तम वस्तुकी प्राप्तिहेतु धृति—एक समय पद्मा द्वारा श्रीमती राधिकाकी तत्कालीन अपेक्षित वाञ्छित वस्तुके विषयमें पूछनेपर विशाखाने उत्तर दिया—"देखो पद्मे! इस पृथ्वीमें श्रीराधाके लिए कुछ भी अपेक्षाकी वस्तु नहीं है; क्योंकि उनकी नवयौवनरूपा मञ्जरी सदासर्वदा नित्यस्थित होकर सुशोभित हो रही है। उनका रूप समस्त गोपियोंके लिए विस्मयकारक है और उनके दुर्लभ गुण त्रिजगत्के लिए विलक्षण हैं, अधिकन्तु उसपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भी अन्य दूसरी समस्त कान्ताओंकी स्पृहाको सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर उनमें ही समासक्त हो रहे हैं। अतः श्रीराधा और क्या कामना करेंगी?"॥८२॥

लोचनरोचनी—सर्वासामेवाभीरमृगीदृशां या यौवनमञ्जरी नव्यं यौवनं किमुतान्यासां पुनरिह श्रीराधायाम्। नव्या स्तव्या। सर्वश्रेयसीत्यर्थः। तथा तासां यद्रूपं सौन्दर्य्यं तदिह विस्मापनं सर्वश्रेष्ठमित्यर्थः। तथा तासां या गुणश्रेणी सा चेह लोकोत्तरा। सर्वतोऽपि लोकानां चमत्कारकारिणीत्यर्थः। तथा तासां स्वाधीनो यः पुरुषोत्तमः स चेह त्यक्तान्यकान्तास्पृहः। अन्यकान्तास्त्वत्र ता एव लभ्यन्ते॥८२॥

आनन्दचन्द्रिका—किं कामनया प्रत्यहमेव राधा देवपूजार्थं प्रयतत इति पथि पद्मया पृष्टा विशाखा तां प्रत्याह—नव्येति। सर्वासामेव यौवनं वर्त्तत एव श्रीराधायास्तु यौवनमञ्जरी श्रीकृष्णभ्रमरचित्ताकर्षिणीत्यर्थः। तत्रापि नव्या भवन्ती स्थिरतरा नित्यनवीनेत्यर्थः। यद्वा स्तव्या युष्माकं सर्वाभिर्मृगीदृशाम्। रूपं च महारूपवतीनां सर्वासामप्याभीरमृगीदृशां विस्मापनमित्यनेन तव सखीं चन्द्रावलीमपि चमत्कारयति किं पुनरन्येति भावः। एवं सर्वत्रैव ध्वनयोऽत्र स्पष्टा एव। तेन देवपूजादिकं गूरुजनप्रतारणमात्रार्थकमेवेति ध्वनितम्॥८२॥

अथ हर्षः—सोऽभीष्टेक्षणेन यथा श्रीदशमे (३२/३)—

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—अभीष्ट वस्तुके दर्शनहेतु हर्ष—शुकदेव गोस्वामी, रासलीलासे अन्तर्धान होनेके पश्चात् पुनः आविर्भूत श्रीकृष्णके संदर्शनसे उत्पन्न व्रजाङ्गनाओंके हर्षका वर्णन कर रहे हैं—"उन प्रियतम कृष्णको लौटा हुआ देखकर अत्यधिक हर्षोल्लाससे प्रफुल्लित नेत्रोंवाली अबला

गोपियाँ मुख्य प्राणवायुके पुनः आगमनसे हस्त पदादि अङ्ग–प्रत्यङ्गमें चेष्टाकी भाँति पुनः एकसाथ ही उठकर खड़ी हो गईं॥"८३॥

लोचनरोचनी—हर्षश्चेतः प्रसन्नता। तन्वस्तदवयवाः। आगतमित्यनेन पूर्वं गतमित्यूह्यते॥८३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीशुकदेवो वर्णयति—तं विलोक्येति। तन्वस्तन्ववयवाः॥८३॥

यथा वा ललितमाधवे (१/५३)—

स एष किमु गोपिकाकुमुदिनीसुधादीधितिः,
स एष किमु गोकुलस्फुरितयौवराज्योत्सवः।
स एष किमु मन्मनःपिकविनोदपुष्पाकरः,
कृशोदरि दृशोर्द्वयीममृतवीचिभिः सिञ्चति॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—साधारण रूपमें सभी गोपियोंके हर्षोदयका उदाहरण देकर ग्रन्थकार उससे सन्तुष्ट न होनेपर अपनी स्वाभीष्टपदकमला श्रीमती राधिकाके हर्षोदयका उदाहरण दे रहे हैं—सायंकाल वृन्दावनसे व्रजमें प्रवेश करनेवाले कृष्णको देखकर परम अनुरागवती श्रीमती राधिका मन–ही–मन सोचने लगीं कि मैंने कभी भी इस मूर्त्तिको नहीं देखा है!! उस समय ललितासे पूछा—"बतलाओ तो ये कौन हैं?" ललिताके द्वारा बताए जानेपर उन्होंने जाना कि वे उन्हींके प्राणनाथ हैं। उस समय श्रीमती राधिका आनन्द और प्रेमोन्मादके साथ कह रही हैं—"अहो! क्या ये वही गोपी–कुमुदिनियोंके चन्द्र हैं? (उनकी अनन्यगति और परमोल्लासको वर्द्धन करनेवाले हैं!) क्या ये ही व्रजमण्डलके युवराजके रूपमें स्फूर्ति पानेवाले मूर्त्तिमान उत्सव हैं? क्या ये ही मेरे मानस–कोकिलके आनन्दोल्लासके वसन्त हैं? हे कृशोदरि ललिते! ये मेरे दोनों नेत्रोंको अमृतरससे अभिसिक्त कर रहे हैं॥"८४॥

लोचनरोचनी—स एष किमु गोकुलस्फुरितेति चरणस्य प्रथमतः पाठस्तु वैशिष्ट्यक्रमगमकः॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—अभीष्टस्य सामान्याकारेणेक्षणेन हर्षमुक्त्वा विशेषाकारेणाप्युदाहर्त्तुमाह—यथावेति। श्रीराधिका वर्णयति—स एष इति। सुधादीधितिश्चन्द्र इति

गोपिकाभ्यो मद्विधाभ्यः सर्वाभ्य एवोल्लासदायित्वम्। यूनां राजा युवराजस्तस्य भावः कर्म वा यौवराज्यं तद्रूप उत्सव इति कामविलाससुखदायित्वं चोक्त्वापि मन्मन एव पिकस्तस्य विनोदे क्रीडालाम्पट्ये। पुष्पाकरो वसन्त इति स्वस्य विशेषत आसक्त्याधिक्यदायित्वं श्रीकृष्णस्य व्यञ्जितम्। उत्सवपक्षे पुष्पाकरपक्षे चामृतवीचिभिरानन्दतरङ्गैः॥८४॥

अभीष्टलाभेन यथा तत्रैव (८/११)—

> **आलोके कमलेक्षणस्य सजलासारे दृशौ न क्षमे,**
> **नाश्लेषे किल शक्तिभागतिपृथुस्तम्भा भुजावल्लरी।**
> **वाणी गद्गदकुण्ठितोत्तरविधौ नेशा चिरोपस्थिते,**
> **वृत्तिः कापि बभूव संगमनये विघ्नः कुरङ्गीदृशः॥८५॥**

तात्पर्यानुवाद—अभीष्ट लाभहेतु हर्ष—द्वारकाके नववृन्दावनमें श्रीकृष्णके साथ मिलनेपर श्रीराधिकाके आनन्द वैवश्यको देखकर नववृन्दा कह रही है—"बहुत दिनोंके पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्णका दर्शन पाकर मृगनयना श्रीराधाके दोनों नेत्र अश्रुजलसे भर गए और वे कुछ भी देख न सकीं, उनकी बाहुलताएँ भी महास्तम्भ भावको प्राप्त होकर उनका आलिङ्गन न कर सकीं, उनकी वाणी भी गद्गद और वैस्वर्यको प्राप्त होनेके कारण वे कृष्णकृत प्रश्नोंका उत्तर भी देनेमें सक्षम नहीं हो सकीं, अतएव यह कहना ही उचित होगा कि बहुत दिनोंके बाद मिलन-व्यापारमें समुचित दर्शन, आलिङ्गन और संलापादि क्रियाओंमें भी उनके प्रेमकी अनिर्वचनीय कोई वृत्ति ही प्रतिबन्धक हो गई॥"८५॥

लोचनरोचनी—गद्गदकुण्ठिता सती उत्तरविधौ नालं न समर्थासीत्। तदेवं कापि वृत्तिश्चिरोपस्थिते संगमनये विघ्नो बभूव॥८५॥

आनन्दचन्द्रिका—समृद्धिमति संभोगारम्भे श्रीराधाया आनन्दवैवश्यं नववृन्दा वर्णयति—आलोके विषये दृशौ न समर्थे। यतः सजलासारे अश्रुधारासंपातवत्यौ। तथा गद्गदकण्ठिता च वाणी उत्तरविधौ नालं न समर्था। तदेवं चिरादुपस्थिते संगमस्य नये प्राप्तौ कापि प्रेम्ण एव वृत्तिर्विघ्नो बभूव॥८५॥

अथौत्सुक्यम्—तदिष्टेक्षास्पृहया यथा हंसदूते (३५)—

> **असव्यं बिभ्राणा पदमधृतलाक्षारसमसौ,**
> **प्रयाताहं मुग्धे विरम मम वेशैः किमधुना।**

अमन्दादाशङ्के सखि पुरपुरन्ध्रीकलकला-
दलिन्द्रागे वृन्दावनकुसुमधन्वा विजयते॥८६॥

तात्पर्यानुवाद—इष्ट दर्शनकी स्पृहाहेतु औत्सुक्य—मथुरामें प्रविष्ट होकर राजपथपर गमनकारी कृष्णके दर्शनकी उत्कण्ठासे वहाँकी कोई पुरस्त्री अपने एक चरणमें महावर राग लगाकर ही दौड़ने लगी। उसकी सखी द्वारा निषेध करनेपर उसने कहा—"हे समयानभिज्ञे! दक्षिण चरणमें महावर राग न देनेपर भी मैं तो चली! शृङ्गार-करना बन्द करो, उससे मेरा लाभ क्या है? अथवा, हे सखि! पुरनारियोंकी जो यह महान कोलाहलध्वनि उठ रही है, उससे ऐसा लगता है कि वृन्दावन-कन्दर्प हमारे आङ्गनके सन्मुख उपस्थित हो रहे हैं॥"८६॥

लोचनरोचनी—औत्सुक्यं स्पृहया कालयापनाक्षमत्वम्॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—औत्सुक्यं स्पृहया कालयापनायामक्षमत्वम्। मथुरां प्रविष्टे श्रीकृष्णे काचित् पुरस्त्री प्रसाधयित्रीं स्वसखीं प्रत्याह—असव्यं दक्षिणम्। मुग्धे इत्यलंकारपरिधानं मे नित्यं वर्त्तत एव श्रीकृष्णदर्शनं तु परमदुर्लभमिति त्वं न जानासीति भावः। नन्वधुनापि कृष्णो दूरे आयाति किं तरला भवसीत्यत आह—अमन्दादीति। अलिन्दाग्र इति। क्षणमात्रविलम्बे सति अयमितो यास्यति द्रष्टुमहं न प्राप्स्यामीति भावः। वृन्दावनस्य कुसुमधन्वेति। मूर्त्तिधारी कन्दर्पो मां शरैस्तत्रत्या गोपीरिव शरैर्विध्यतु। गाढमिति। मे महानेवाभिलाषो वर्त्तते। पातिव्रत्याय मयाद्य जलाञ्जलिर्दातव्येति ध्वनिः। अत्रेष्टेक्षास्पृहयैव प्रथममौत्सुक्यं स्पष्टमिति तदेवोदाहृतम्। कुसुमधन्वेतिपदव्यञ्जितया इष्टाप्तिस्पृहया, द्वितीयमौत्सुक्यं तु नास्याः प्रायः सफलमिति न तदुदाहृतम्॥८६॥

इष्टातिस्पृहया यथा श्रीगीतगोविन्दे (६/११)—

अङ्गेष्वाभरणं करोति बहुशः पत्रेऽपि संचारिणि,
प्राप्तं त्वां परिशङ्कते वितनुते शय्यां चिरं ध्यायति।
इत्याकल्पविकल्पतल्परचनासंकल्पलीलाशत-
व्यासक्तापि विना त्वया वरतनुर्नैषा निशां नेष्यति॥८७॥

तात्पर्यानुवाद—इष्टप्राप्तिकी स्पृहाहेतु औत्सुक्य—वासकसज्जा श्रीमती राधिकाकी कोई सखी श्रीकृष्णके निकट आकर कह रही है—"हे पूतनाहन्तक! आज श्रीराधा तुम्हारे आगमनकी प्रत्याशामें अपने अङ्गोंमें

नाना प्रकारके अलङ्कार धारण कर रही हैं, वृक्षोंके पत्तोंके हिलने–डुलनेसे तथा सूखी पत्तियोंकी खड़खड़ाहटसे तुम्हारा आगमन हो रहा है, ऐसा समझकर शङ्कित हो रही हैं, क्षणकालमें कभी शय्याकी रचना कर रही हैं, कभी दीर्घ निःश्वास ले रही हैं। हे मुरारे! इस प्रकार सुन्दर अङ्गोंवाली वेशरचना, वितर्क, शय्या–निर्माण, सङ्कल्परूप शत–शत लीलाओंमें आसक्त रहनेपर भी तुम्हारे बिना रातको व्यतीत करनेमें किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो रही हैं॥"८७॥

आनन्दचन्द्रिका—वासकसज्जायाः श्रीराधायाः सखी श्रीकृष्णमाह—अङ्ग इति। (इति) अनेन प्रकारेण आकल्पो वेषः, विकल्पो वितर्कः तल्परचना शय्यानिर्माणकौशलं संकल्पेन लीलाशतमिति चिरं ध्यायतीत्यस्य विवरणम्। संकल्पश्चाद्य स आगत्य यदा मे कञ्चुकीं धास्यति तदा तत्करं स्वकरेण रुद्ध्वा अपसार्य्य विवर्त्तिष्ये। यदा मे पादौ धृत्वा किमपि प्रार्थयिष्यते तदा स्मितमुखी नहि नहीति वक्ष्यामीत्यादिप्रकारः। तथाभूतापि त्वया विना, त्वं चेत्तत्र न यास्यसीत्यर्थः। एषा श्रीराधा निशां न नेष्यति न यापयिष्यति। यथा यथा विरहसंतापः प्रबलीभविष्यति तथा तथा आशा दुर्बलीभूय नश्यन्ती तां दशमीं दशां प्रापयिष्यतीति भावः॥८७॥

अथौग्र्यम्—

औग्र्यं न साक्षादङ्गं स्यात्तेन वृद्धादिषूच्यते॥८८॥

तात्पर्यानुवाद—उग्रता—मधुररसमें उग्रता साक्षात् अङ्ग नहीं है। अतएव मातामही, सास–ससुर प्रभृति वृद्ध या वृद्धाओंके विषयमें ही उग्रताका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं॥८८॥

लोचनरोचनी—औग्र्यं चण्डता॥८८॥

आनन्दचन्द्रिका—औग्र्यमपराधदुरुक्त्यादिभवं विषयालम्बनसुखप्रतीपाचरणरूपं चण्डत्वम्। तच्च न साक्षादङ्गं स्यादिति। नायकयोः परस्परप्रेमवत्वादित्यर्थः। वृद्धादिषु मुखराजटिलादिषु। यद्यपि व्रजवासिजनमात्रस्यैव प्रेमवत्त्वसिद्धान्तान्मुखराजटिलादयोऽपि श्रीकृष्णसुखप्रतीपाचरणवत्यो न संभवन्ति, तदपि नप्तुः श्रीकृष्णस्य नप्त्र्याः श्रीराधादेश्च धर्मोल्लङ्घनं सुखमपि दुःखोदर्कमहितममङ्गलमयश इति मनसि विचार्य तत्र मुखराद्याः प्रतीपायन्ते, अतस्तासां तत्रौग्र्यं नायकयोः परस्परदुर्लभत्वापादकमिति स्थायिभावपुष्टिः॥८८॥

यथा विदग्धमाधवे (४/५०)—

नवीनाग्रे नप्त्री चटुल नहि धर्मात्तव भयं,
न मे दृष्टिर्मध्ये दिनमपि जरत्याः पटुरियम्।
अलिन्दात्त्वं नन्दात्मज न यदि रे यासि तरसा,
ततोऽहं निर्दोषा पथि कियति हंहो मधुपुरी॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—मानिनी श्रीमती राधिकाको नाना प्रकारसे अनुनय विनयसे प्रसन्नकर श्रीकृष्ण मधुमङ्गलके साथ सूर्यमन्दिरमें विराजमान हुए। उसी समय मुखरा उपस्थित होकर रोषके साथ कहने लगी—"हे चञ्चल! सामने ही मेरी यह पौत्री नवीना युवती है। तुम्हें तो किसी प्रकार डर नहीं है। मैं वृद्धा अब दिनमें भी अच्छी तरहसे देख नहीं पाती। अरे नन्दनन्दन! यदि तुम मेरे आङ्गनसे शीघ्र नहीं निकलते तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। मथुरा यहाँसे कितनी दूर है? अर्थात् मथुराके राजदरबारमें तुम्हारे उपद्रवकी बात कहने जा रही हूँ॥"८९॥

लोचनरोचनी—नवीनेति। अत्र नप्त्री दौहित्री। "नप्त्री पौत्री सुतात्मजा" इत्यत्र क्वचित्तथा च व्याख्यानात्। "ततः पुत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः।" इति तृतीयस्कन्धे भेदेनोपादानाच्च। यद्यपि "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते।" "नासूयन् खलु कृष्णाय" इत्यादिरीत्या श्रीकृष्णं प्रति व्रजमात्रस्य असूयादिकं न संभवत्येव, तथापि स्वनप्त्रीपक्षपातेन "नवीनाग्रे" इत्यादिना तस्मिन्नाक्षेपः परदारसंनिकर्षमयम-मङ्गलमयस्य माभूदित्यन्तर्विचिन्त्य तत्र तत्रौग्र्याभासो दर्शितः॥८९॥

आनन्दचन्द्रिका—मानभङ्गार्थं श्रीराधासंनिधौ यतमानं श्रीकृष्णमकस्मादायाता मुखरा वीक्ष्य हे कृष्ण! इह स्त्रीजनानां मध्ये तव स्थितिरनुचिता अतस्त्वमितो याहीत्युक्तेऽपि धृष्टतया तस्मिन्न याते सा सामर्षमाह—नवीनेति। नप्त्री मम दौहित्री "नप्त्री पौत्री सुतात्मजा" इत्यत्र सुताया आत्मजेत्यपि व्याख्यानात्। "ततः पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः।" इति तृतीयस्कन्धे भेदेनोक्तत्वाच्च। नन्वत्र पश्यन्त्यास्तवाग्रे तिष्ठतो मम को दोषस्तत्राह—न मे दृष्टिरिति। दिनस्य मध्ये मध्येदिनं तदपि हसन्तमेव तं पुनर्भीषमाणाह—ततोऽहमिति। कियति पथि। अदूरे इत्यर्थः। तुभ्यमेतत् फलं दातुं कंसादश्ववारानानेष्य इति भावः॥८९॥

अथामर्षः—सोऽधिक्षेपाद्यथा श्रीदशमे (६०/४४)—

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः,
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाया–
द्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चिसभासु गीता॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—निन्दाहेतु अमर्ष—असिहष्णुताको अमर्ष कहते हैं। रुक्मिणीके रोषमिश्रित वचनामृत पान करनेकी अभिलाषासे श्रीकृष्णके अत्यन्त निष्ठुर परिहास–वचन श्रवणमात्रसे ही देवी उसे सत्य मानकर मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। श्रीकृष्णके बहुत सान्त्वना देनेके पश्चात् स्वस्थ्य होनेपर श्रीकृष्णकृत परिहासपूर्ण दुर्बाद वचनोंका प्रत्याख्यानकर दृढ़ निश्चयके साथ श्रीकृष्णपद विमुख अन्य नारियोंकी निन्दा करने लगी—"हे अच्युत! तुम जो कहते हो कि अन्य राजाओंको पति रूपमें वरण कर लो; इस सम्बन्धमें मेरा तो यही मन्तव्य है कि शिव और ब्रह्माकी सभामें गीयमान तुम्हारी कथाको जिस कामिनीने श्रवण नहीं किया है, वह मन्दभागा है। हे अरिदमन! ऐसी मन्दभागा स्त्री ही गधा, गाय, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदिके समान पशु–तुल्य राजन्यवर्गको अपने पति होनेके योग्य समझ सकती है, क्या मेरे जैसी स्त्रीके लिए, जिसने तुम्हारी कथाको श्रवण कर रखा है, उनको पतिके रूपमें अङ्गीकार करना सम्भवपर है!"॥९०॥

लोचनरोचनी—अथामर्ष इति। "अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता"। कर्कशपरिहासं विधाय श्रीकृष्णेनोद्वेजिताया रुक्मिण्या वचनम् तस्याः स्युरच्युतेति॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—अमर्षोऽधिक्षेपापमानादेरसहिष्णुता। श्रीकृष्णपरिहासेनाधिक्षिप्ता श्रीरुक्मिणी साक्षेपमाह—नृपाश्चैद्यशाल्वादयो नृपा अपि, अन्यत्र शूरा अपि स्त्रीणां गृहेषु अन्तःपुरेषु खराद्या इव। तत्तद्धर्मिणो बीभत्सा इत्यर्थः। यस्याः कर्णयोर्मूलमपि ईषदपि। हे अरिकर्षण॥९०॥

अपमानाद्यथा विदग्धमाधवे (४/३९)—

बाले वल्लवयौवतस्तनतटीदत्तार्द्धनेत्रादितः,
कामंदश्यामशिलाविलासिहृदयाच्चेतः परावर्त्तय।

विघ्नः किं नहि यद्विकृष्य कुलजाः केलीभिरेष स्त्रियो,
धूर्त्तः संकुलयन् कलङ्कततिभिर्निःशङ्कमुन्मुञ्चति ॥९१ ॥

तात्पर्यानुवाद—अपमानहेतु अमर्ष—रात्रियोगमें चन्द्रावलीके साथ क्रीड़ाविलासकर प्रभातकालमें श्रीमती राधिकाकी सूर्य आराधनाकी वेदीके निकट उपस्थित होकर नागरेन्द्र जो शठतापूर्वक कापट्यपूर्ण वचन बोले, उन्हें सुनकर उनको निर्दोष समझकर सखियोंके साथ श्रीमती राधिका प्रसन्न हो गईं, किन्तु हठात् वहाँ उपस्थित मधुमङ्गलकी असावधानतासे उसके मुखसे निकले हुए यथार्थ तथ्यको सुनकर श्रीमती राधिका सन्देह, विस्मय और विषादसे आक्रान्त हो उठी। ललिता श्रीकृष्णके अङ्गोंमें रतिचिह्न देखकर क्रोधसे उनकी भर्त्सना करने लगी तथा राधिकाको भी निषेध करने लगी—"हे अज्ञे! राधे! इनसे प्रेम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इनसे अपने चित्तको फिरा लो; क्योंकि ये वल्लभियोंके स्तनतटपर सदा अपनी दृष्टिको गड़ाये रखते हैं। इनका हृदय भी वर्ण और कठोरतामें कृष्णवर्ण-पाषाण सदृश है। क्या हम यह नहीं जानतीं कि यह धूर्त तरह-तरहसे वेणुवादन, चातुरी, कटाक्षभङ्गी आदि अपनी क्रीड़ाकौतुकसे बलपूर्वक कुलबालाओंको आकर्षणकर कलङ्कराशिमें डुबोकर, अपने कार्यका समाधानकर निशङ्क और निष्ठुर चित्तसे उनका त्याग कर देता है?" ॥९१ ॥

लोचनरोचनी—यद्यपि बाले इति। सख्या एवामर्षो नतु नायिकायास्तथापि तस्या अप्यमर्षेण तस्या रतिः पुष्यत इति युक्तमेवोदाहरणम्। एवं पूर्वत्र परत्र च ज्ञेयम्। कलङ्कततिभिः संकुलयन्नित्यन्वयः। मिलितीकुर्वन्नित्यर्थः ॥९१ ॥

आनन्दचन्द्रिका—मानं प्रवर्त्तयन्ती ललिता श्रीराधामाह—वल्लवयौवतेति। बहुवल्लभत्वेन काममात्रतात्पर्यकत्वेन। प्रेमशून्यादिति भावः। तत्रापि श्यामशिलेव विलासिवर्णतो द्रढिम्ना च शोभमानं हृदयं यस्य तस्मादिति प्रणयिजनकष्टदर्शनेऽप्यद्रुत-हृदयादिति भावः। परावर्त्तयेत्यपरामर्शेन पूर्वं प्रवेशितमपि चित्तं संप्रत्यपि परिणामदर्शिनी भूत्वा निवर्त्तयेति भावः। किं चात्र मद्वाचि संदेहो नैव कर्त्तव्य इत्याह—विघ्न इत्यादि। संकुलयन् व्याप्तीकुर्वन्। निःशङ्कमिति। हन्त हन्त आसां लोकधर्म्मावुभावपि मया विध्वस्तौ तथापि पुनः स्वविरहसंतापेन ज्वालेन परलोके का गतिर्मे भविष्यतीति भयमप्यस्य नास्तीति भावः ॥९१ ॥

अथासूया—सा सौभाग्येन यथा श्रीदशमे (३०/३२)—

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—सौभाग्यहेतु असूया—रासलीलामें अन्तर्हित श्रीकृष्णके साथ गई हुई श्रीमती राधिकाके अतिशय सौभाग्यको, वनप्रदेशमें उनके पदचिह्नोंका दर्शनकर उनको ढूँढ़नेमें तत्पर गोपियाँ असहिष्णु होकर श्रीकृष्णके प्रति असूया प्रकट कर रही हैं—"अरी गोपियो! अपने स्कन्धमें वधूको वहन करनेवाले भाराक्रान्त कामपरायण श्रीकृष्णके पृथ्वीमें अधिक धँसे हुए पदचिह्नोंको देखो।" यह कथन चन्द्रावलीकी सखियोंका भी हो सकता है॥९२॥

लोचनरोचनी—असूया परोदये द्वेषः॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—असूया परोदये द्वेषः। रासान्तर्द्धाने श्रीकृष्णमन्विष्यन्तीनां गोपीनां मध्ये पद्मादय आहुः—वधूं श्रीराधाम्। हे गोप्य इति। युष्मद्विधाः प्रेमवतीरपि त्यक्त्वा वधूं वहतः कामिन इति संप्रयोगमात्रतात्पर्यस्येत्यर्थः॥९२॥

यथा वा तत्रैव (१०/२१/९)—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु–
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो,
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥९३॥

तात्पर्यानुवाद—कैमुतिक न्यायसे असूयाके लिए अनुपयोगी अचेतन पदार्थोंके विषयमें भी दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। अर्थात् उक्त उदाहरणसे अपनी स्वामिनी–सम्बन्धी असूया स्पष्ट रूपमें न होनेके कारण असन्तुष्ट होकर दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। गोचारणके लिए वृन्दावनमें प्रवेश करनेपर श्रीकृष्णके मधुरातिमधुर वेणु नादको श्रवणकर आनन्दसे मुग्ध कोई गोपी वेणुके अतिशय भाग्यका वर्णन करती हुई भ्रङ्गीक्रमसे दोषारोप कर रही है—"हे सखियों! बतलाओ तो पुरुषजातिके इस वेणुने क्या पुण्य किया था? जिसके प्रभावसे वह गोपियोंके एकमात्र आस्वादनीय श्रीकृष्णकी अधरसुधाको गोपियोंके सामने ही उनका

तिरस्कारकर स्वयं उपभोग करता है। यह वेणु अधरसुधाका सम्पूर्ण रूपसे पान कर लेता है, इसलिए तो श्रीकृष्ण अधरसुधा त्रिजगत्के लिए विलक्षण है। इधर देखो! जिनके जलसे यह पुष्ट हुआ था, वे यमुना और मानसीगङ्गादि नदियाँ भी खिले हुए कमलपुष्पोंके बहाने रोमाञ्चित हो रही हैं और जिनके वंशमें यह वेणु पैदा हुआ है, वे वृक्ष भी परमानन्दसे विह्वल होकर मधुधारा क्षरणके बहाने आसुँ बहा रहे हैं। कुलवृद्धाएँ भी अपने वंशमें भगवत्-सेवकको देखकर रोमाञ्चित अङ्गोंसे जिस प्रकार अश्रु-विसर्जन किया करती हैं, ऐसे ये वृक्ष भी अपने वंशमें जन्मे इस वेणुको भगवत्-सेवक समझकर रोमाञ्चित कलेवरसे मानो अश्रु विसर्जन कर रहे हैं॥"९३॥

लोचनरोचनी—हे गोप्यः! वेणुरयं किं कुशलं पुण्यमाचरत्। यद्यस्मात् गोपिकानां स्वमपि धनरूपामपि दामोदराधरसुधां भुङ्क्ते। स्त्रीजातिश्चेदत्यनुरागेण परासां पत्युरधरसुधां भुङ्क्तां नाम, सोऽयं वेणुः पुरुषजातीयस्तत्रापि कथं तां भुङ्क्ते इति तु वेणुशब्दाभिप्रायेण तत्रोपहासः। तत्र च स्वयमात्मनैव भुङ्क्ते कस्याश्चिदपि गोपिकायास्तल्लेशप्राप्त्यभावात्तत्रापि आश्चर्यमिति भावः। अहो आस्तां तदपि। यस्यावशिष्टो भुक्तत्यक्तो यो रसः तं परमपवित्रा ह्रदिन्योऽपि भुञ्जते समास्वाद्य फुल्ला भवन्ति। अहो तदपि आस्ताम्। तस्य वेणोस्तादृशमहिमदर्शनात्तद्गोत्रप्रायास्तरवोऽप्यङ्कुरादि-मिषेण हृष्यत्त्वचो रोमहर्षयुक्ता मधुमिषेणाश्रु मुमुचुर्मुञ्चन्तीत्यर्थः। तदेतं तस्यान्यायमपि न गणयन्तीति भावः। तत्र च यथा आर्य्याः केचिदात्मगोत्रजमहिमदर्शनेन तत्तद्भावान् दधति। तथेति। तेषामनार्षत्वं व्यञ्जितम्॥९३॥

आनन्दचन्द्रिका—असूयायाः स्वस्वामिजनविषयत्वेनैव प्रसिद्धत्वात्, अत्र तु कामिन इति पदेन तस्याः श्रीकृष्णविषयत्वेनैव स्पष्टत्वादपरितुष्यन्नाह—यथावेति। पूर्वाह्णे गाश्चारयतः श्रीकृष्णस्य वेणुमाकर्ण्य गोप्यः परस्परमाहुः। हे गोप्यः! वेणुः किंस्वित् कुशलं पुण्यमाचरत्। यद्वा किं मङ्गलमाचरत् अपि तु न किमपि। स्थावरजातित्वेनैव लक्ष्यत इति भावः। तदपि दामोदरस्याधरसुधां भुङ्क्ते इति कथं वयं सोढुं प्रभवाम इति भावः। तत्र हेतुः—गोपिकानामिति। अधरसुधायां गोपिकानामस्माकमेव स्वत्वं श्रीकृष्णस्य गोपत्वात् पुरुषत्वाच्च, अस्माकं गोपीत्वात् स्त्रीत्वाच्चेति न्यायप्राप्तेः, नित्यं रात्रावस्माभिः संभुज्यमानत्वाच्च। वेणुस्तु विजातीयस्तत्रापि, पुरुषजातिस्तत्रापि श्रीकृष्णरमितत्वमात्मनो मत्वा श्रीकृष्णप्रेयसीत्वाभिमानं धत्ते। तत्रापि धाष्ट्र्येन पुनः पौरुषमाविष्कृत्य संभुङ्क्ते तत्रापि परकीयं धनं तत्रापि न चौर्य्येण किन्तु धनस्वामिनीरस्मान् फूत्कारेण ज्ञापयित्वैव। किं वा नायं फूत्कारः

किन्तु स्वसंभोगोत्थं मणितमेव। तच्चास्मान् श्रावयित्वैव तत्रापि न विशिष्टो नावशिष्टो रसः किंचिन्मात्रोऽपि यत्र तद्यथा स्यात्तथा भुङ्क्ते। "वष्टि भागुरिरल्लोपम्" इत्यादिना अकारलोपः। धनस्वामिनीनामस्माकं कृते स्वभुक्तावशिष्टमपि न किंचिद्रक्षतीत्यहो धार्ष्ट्यमिति भावः। किञ्च तद्देशवर्त्तिनः सर्व एव जनास्तादृशा एवेत्याहुः। यत् यतोऽधरसुधाभोगात् तं वीक्ष्येत्यर्थः। ह्रदिन्यो नद्यो हृष्यत्त्वचः उत्फुल्ल कमलादिमिषेण पुलकवत्यो बभूवुः। तरवो मकरन्दमिषेणाश्रु मुमुचुः यथा आर्याः साधवोऽश्रुपुलकादिमन्तो भगवद्गुणानुवादाद्भवन्ति तथैव ते वेणोर्मणितादिभिः। ह्रदिन्योऽस्य सख्यः, तरवोऽस्य सखायः दूता एवेति वेणुह्रदिनीतरवः सर्व एवास्माकं वैरिण एवेति भावः॥९३॥

यथा वा—

कृष्णाधरमधु मुग्धे पिबसि सदेति त्वमुन्मदा मा भूः।
मुरलीभुक्तविमुक्ते रज्यति भवतीव का तत्र॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—दोनों पद्योंमें क्रमसे श्रीकृष्ण और वेणुके विषयमें असूयाका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। पहले पद्यमें प्रेयसीके विषयमें असूया गूढ़भावसे रहनेपर भी प्रकट रूपमें दिखानेके उद्देश्यसे दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीकृष्ण-चुम्बनसे अपने अधरोंमें क्षतचिह्नको धारण की हुई किसी गोपीको देखकर उसीके सौभाग्यसे असहिष्णु विपक्षकी रमणी कह रही है—"अरे मूढ़े! निरन्तर श्रीकृष्णके अधरका मधुपानकर तुमको इतना गर्व करनेकी कोई बात नहीं है; क्योंकि वह तो मुरलीका भुक्त अवशेष है। तुम जिस प्रकार उस उच्छिष्टके प्रति अनुरक्त हुई हो, वैसे तो कोई भी नारी आसक्त नहीं होती॥"९४॥

लोचनरोचनी—कृष्णाधरेति। वचनमप्यनुरागवैचित्र्येन पूर्ववन्मुरल्यास्तदधरपानं निश्चित्य॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—अचेतने वेणावसूया हि न फलवती भवतीति पुनरप्यपरितुष्यन्नाह—यथावेति। काचिन्मधुपानोन्मत्ता गोपी पथि स्वविपक्षां व्रजदेवीं कांचिद्वीक्ष्य उन्मादेनैव तस्याः श्रीकृष्णसंभोगमनुमाय सासूयमाह—हे मुग्धे! त्वं श्रीकृष्णाधरमधु सदा पिबसि इत्युन्मदा उत्कृष्टगर्वा माभूः। अस्माभिस्तु तदपवित्रं ज्ञात्वा परित्यक्तमेवेत्याह—मुरल्या आदौ भुक्तम्, पश्चाद्विमुक्तं त्यक्तं यत्तस्मिन्नधरमधुनि। हे मुग्धे! इति उच्छिष्टपानतोऽपि गर्वोद्रेकादिति भावः॥९४॥

गुणेन यथा—

त्वत्तोऽपि मुग्धे मधुरं सखी मे वन्यस्स्रजः स्रष्टुमसौ प्रवीणा।
नास्याः करौ सिञ्चति चेदुदीर्णा निरुध्य दृष्टिं प्रणयाश्रुधारा॥९५॥

तात्पर्यानुवाद—गुणमें असूया—एक समय श्रीकृष्णके लिए अत्यन्त सुन्दर वनमालाको अपने हाथोंसे निर्माणकर पद्मा उसकी प्रशंसा करने लगी। विशाखाकी एक सखी उससे असहिष्णु होकर असूयाके साथ बोली—"अरे मूढ़े! तुम तो मेरी सखीका गुण नहीं जानती। तुम्हारी अपेक्षा मेरी प्रियसखी अत्यन्त उत्कृष्ट वनमाला गूँथ सकती है। यदि प्रेमकी अश्रुधारा उसकी दृष्टिका अवरोधकर, उसके दोनों हाथोंको भिगो नहीं देती तो वनमालाकी रचनामें कौन उसकी समता करनेमें समर्थ हो सकती थी?"॥९५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वनिर्मितवनमालाश्लाघनपरां पद्मां विशाखायाः सखी काचिदाह—वन्यस्स्रजः कर्मभूताः। प्रणयाश्रुधारेति वनमाला नाममात्रेणैव वनमालिनं स्मृत्वा सद्यः प्रेमोदयात्। तेन त्वं प्रेमशून्येति ध्वनितम्॥९५॥

अथ चापलम्—तद्रागेण यथा—

फुल्लासु गोकुलतडागभवासु केलिं,
निःशङ्कमाचर चिरं वरपद्मिनीषु।
मृद्वीमलब्धकुसुमां नलिनीं त्वमेनां,
मा कृष्णकुञ्जर करेण परिस्पृशाद्य॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—रागसे उत्पन्न चापल्य—सूर्यपूजाके बहाने ललिताके साथ वृन्दावनमें उपस्थित हुई श्रीराधाको देखकर श्रीकृष्ण जब उनका स्पर्श करनेकी अभिलाषा करने लगे, तब ललिता श्रीकृष्णको श्लेषोक्तिभङ्गिसे श्रीराधिकाके अप्रौढ़त्व, दूसरोंके स्पर्श करनेके अयोग्य, कोमलत्वादिका वर्णनकर यथार्थ-पक्षमें समर्पण करनेके लिए ही बाह्यतः निषेध करके मानो मातङ्गके बहाने चपलताके साथ बोलीं—"हे कृष्णरूप कुञ्जर! तुम निशङ्क-चित्तसे गोकुलरूप सरोवरमें उत्पन्न, प्रस्फुटित और विकसित श्रेष्ठ-कमलिनीरूप परम सुन्दरी गोपललनाओंके साथ बहुत समय तक केलिविलास करते हो, उसमें बाधा देनेके लिए कोई भी नहीं है, किन्तु

इस मृदुला अविकसित नलिनीरूप श्रीराधाको तुम हस्तरूपी सूंड़से स्पर्श मत करो।" (श्लोकमें 'पुष्प' पद स्त्रीके रजोवाची होनेपर भी श्लेषमें ऋतुशून्याको ही सूचित कर रहा है। यद्यपि परम लज्जाशील गोपियोंके लिए उनके सम्मुख ऐसी धृष्टता प्रकाश करना अनुपयुक्त है, तथापि रागजात चापल्यमें प्रतिवाद–श्लेषभङ्गिमें कहनेके कारण इसमें कोई भी दोष नहीं है। विशेषकर यहाँ साक्षात् रूपमें न कह कर किसी बहानेसे सूचना करनेमें दोषकी गन्ध भी नहीं है, बल्कि श्रीराधाके सुकोमलत्वादि गुणोंकी व्यञ्जनाके कारणस्वरूप गुण ही कहना होगा॥९६॥

लोचनरोचनी—चापलं चित्तलाघवम्। फुल्लास्वित्यत्रालुब्धकुसुमामित्येतत्पदं श्लिष्टामिति चापलाय कल्पते स्म। तत्र चैनामिति स्वमेवोपदिष्टम्। यद्वा नायकचापलमेवेदमुदाहृतम्॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—चापलं चित्तलाघवमगाम्भीर्य्यमिति यावत्॥ महारासाङ्गभूतायां वनविहारलीलायां कन्दर्पविलासोत्सुकं श्रीकृष्णं वारयन्ती ललिता प्राह—फुल्लास्विति। नलिनीपक्षे अलब्धकुसुमामिति। कुसुमं विना केवलपत्रमय्या नलिन्या तव कतरद्वा प्रयोजनम्? श्रीराधापक्षे कुसुमपदेनातिशयोक्त्या स्पष्टयौवनमेव व्यज्यते। तेन विना महातारुण्योन्मत्तस्य तव राधया किं प्रयोजनमिति भावः। स्पष्टयौवनाया अपि श्रीराधायास्तथात्वेनोक्तिः स्त्रीणां स्वभाव एवायमवहित्थामय इति ज्ञापयति। किं चात्र कुसुमपदेन श्लेषेणान्यो बीभत्सितोऽर्थो न व्यञ्जयितव्यः सर्वासामेव व्रजबालानां श्रीकृष्णनित्यसङ्गार्थं योगमाययैव स्त्रीधर्मरूपस्य रजसः सर्वथैवानुत्पादितत्वात्। प्रकृतेऽर्थे च रजस्वला किं पुनः संभोगानुकूला भवतीति तन्निषेधोऽपि नोपपद्यते स्विदिति च विचार्यम्॥९६॥

यथा वा श्रीगीतगोविन्दे—

रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवा–
मभ्यर्णे परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया।
साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति–
व्याजादुद्भटचुम्बितः स्मितमनोहारी हरिः पातु वः॥९७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व उद्धृत पद्यके प्रमाण रूपमें निखिल साधुमण्डलीके पूजनीय श्रीजयदेव गोस्वामीके वर्णनका उदाहरण दे रहे हैं। रासोल्लाससे उल्लसित विभ्रमवती आभीरी सुन्दरियोंके समीप श्रीमती राधिका प्रेममें अन्धी होकर मुरहरके वक्षस्थलमें गाढ़ालिङ्गन करती हुई बोली—"कृष्ण!

तुम्हारा वदन अत्यन्त उत्कृष्ट सुधामय है।" यह कहकर गीत और स्तुतिके बहाने उनके कपोलोंका दृढ़ रूपसे चुम्बन किया। इस प्रकार श्रीमती राधिकाकी प्रेमशृंखलासे जिनके मुखकमलमें मन्दस्मित खिलने लगी थी, वे मनोहारी श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें॥९७॥

लोचनरोचनी—विशेषेण भ्रमभृतां किञ्चिदप्यनुसन्धातुमसमर्थानां ततश्च रहसीव परिरम्भादिकं नायुक्तम्, चापल्यं तु व्यक्तमेवेति भावः॥९७॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकाविषयं नायकचापल्यमुदाहृत्य नायकविषयं च तन्मुख्यमुदाहरति—यथावेति। महानुभावकविचूडामणिः श्रीजयदेवो वर्णयति—रासेति। प्रवर्त्तमानेन महारासोल्लासस्यातिशयेन तुमुलनृत्यगीत-वाद्यरसानन्दनिमग्नानामाभीरवामभ्रुवां विभ्रमभृतां स्वस्वविलासमेव गुणचातुर्याविष्कारेण दधतीनां पुष्यन्तीनां च तेन चान्यानुसंधानरहितानां तासामभ्यर्णे निकट एव श्रीराधया गीतस्तुतिव्याजादहो त्वमतिधन्योऽसि यदश्रुतचरमाधुर्यमेवं गायसि तत्तुभ्यमहं किं पारितोषिकं दास्यामीति स्वस्य सभ्यत्वेन गानास्वादमभिनीय तत्संतोषेणैवोरो वक्षःस्थलं निर्भरं गाढं परिरभ्य उद्भटं यथा स्यात्तथा चुम्बितः। ननु तदपि परमलज्जावत्यास्तस्याः कथमेवं युज्यत इत्यत आह—प्रेमान्धयेति। प्रेमोत्थं चापल्यमेवात्र हेतुरिति भावः॥९७॥

द्वेषेण यथा—

यातु वक्षसि हरेर्गुणसङ्गप्रोज्झिता लयमियं वनमाला।
या कदाप्यखिलसौख्यपदं नः कण्ठमस्य कुटिला न जहाति॥९८॥

तात्पर्यानुवाद—द्वेषहेतु चापल्य—श्रीकृष्णको दूरसे देखकर मादनाख्य महाभाववती श्रीराधा वनमालाके प्रति द्वेषभावके साथ ललितासे बोलीं—"हे सखि! यह वनमाला सब प्रकारसे निर्गुण (बिना गुणोंके) होकर भी हरिके वक्षःस्थलमें ही लय प्राप्त हो; क्योंकि श्रीकृष्णका कण्ठ हमलोगोंके निखिल सौभाग्यका आस्पद है। यह कुटिल वनमाला क्षणकालके लिए भी श्रीकृष्णके कण्ठको परित्याग नहीं करती। अतएव इसका विनाश होना ही उचित है॥"९८॥

लोचनरोचनी—लयं यात्वित्यन्वयः॥९८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णं दूराद्विलोक्य मादनाख्यमहाभाववती श्रीराधा वनमालां द्विषन्ती ललितां प्रत्याह—यात्विति। लयं नाशं मोक्षं च यातु प्राप्नोतु। गुणः सूत्रं

सत्त्वादिश्च। अत्र वनमालां प्रति द्वेषेणाभिशाप एव गाम्भीर्यभावरूपं चापलं व्यनक्ति॥९८॥

अथ निद्रा—सा क्लमेन यथा—

श्वासस्पन्दनबन्धुरोदरतलं पुष्पावलीस्रस्तर–
न्यञ्चन्मौक्तिकहारयष्टि कलयन् नीवीं मनागाकुलाम्।
क्लान्तः केलिभरादुरोजकलसीमाभीरवामभ्रुवः,
कल्याणीमुपधाय सान्द्रपुलकामद्रौ निदद्रौ हरिः॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—निद्रा (परिश्रमहेतु क्लान्ति)—गोवर्द्धनके ऊपर निकुञ्जमें श्रीराधाके साथ विहारसे उत्पन्न परिश्रमके कारण उसीकी गोदमें सोते हुए श्रीकृष्णको देखकर वृन्दा नान्दीमुखीसे कह रही है—"अत्यन्त विलासके परिश्रमसे क्लान्त होकर श्रीहरि निबिड़ पुलकाञ्चिता श्रीमती राधिकाके वक्षोजोंको ही उपाधानके रूपमें ग्रहणकर गोवर्द्धनमें निद्रित हो रहे हैं। उनका उदरतल श्वासवायुसे किञ्चित्-किञ्चित् सञ्चलित होकर ऊपर-नीचे हो रहा है, सुन्दर मनोहर पुष्पोंसे निर्मित शय्यापर हार भी टूटकर पड़ा हुआ है एवं उनका परिधान वस्त्र भी कुछ-कुछ शिथिल होकर नीचे गिर रहा है॥"९९॥

लोचनरोचनी—वन्धुरं तु नतोन्नतम्। स्रस्तरः शय्याभेदः। "स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च।" इति नानार्थवर्गात्। एषाभीरवामभ्रुव एवेति गम्यते। तां कलयन् स्पृशन्नेवेत्यासक्तिविशेषो व्यञ्जितः। उपधाय उपधानं कृत्वा॥९९॥

आनन्दचन्द्रिका—निद्रा चित्तनिमीलनम्। वृन्दा नान्दीमुखीं प्रत्याह—श्वासेति। बन्धुरं तु नतोन्नतम्। स्रस्तरः शय्या। नीवीं श्रीराधाया एव। "स्त्रीकटिवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च।" इति नानार्थवर्गात्। तां कलयन् गृह्णन् जघनदेशान्निष्कास्य स्वहस्तेनैवेति ज्ञेयम्। उरोजकलसीमुपधाय उपधानं कृत्वा सान्द्रपुलकामिति श्रीराधाया जागरो निद्रायामप्यानन्दोत्थः पुलको वा ज्ञेयः॥९९॥

यथा वा हंसदूते (११५)—

अलिन्दे कालिन्दीकमलसुरभौ कुञ्जवसते–
र्वसन्तीं वासन्तीनवपरिमलोद्गारिचिकुराम्।
त्वदुत्सङ्गे निद्रासुखमुकुलिताक्षीं पुनरिमां,
कदाहं सेविष्ये किसलयकलापव्यजनिनी॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाकी निद्राका उदाहरण—माथुरविरहमें कातर हतविवेका ललिता कालिन्दीके जलमें सरल सञ्चरणशील हंसको दूत बनाकर मथुरा भेजनेके समय पूर्ववत् युगलकिशोरकी स्वाभीष्ट सेवाकी आकांक्षा प्रकट कर रही है—"हे श्रीकृष्ण! कालिन्दी–कुसुमोंके सौरभसे सुवासित कुञ्जगृहमें श्रीमती राधिका नवसौरभको वहन करनेवाले माधवीपुष्पोंके द्वारा अपने केशकलापको सजाकर तुम्हारी गोदमें अपनी आँखोंको बन्दकर कब निद्रामें अभिभूत होंगी? नव किसलयोंसे निर्मित व्यजनके द्वारा मैं कब श्रीराधाकी सेवा करूँगी?"॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकायां निद्रामुदाहर्त्तुमाह—यथावेति। शीघ्रमेव श्रीवृन्दावन–मागत्यास्मान् जीवयेति व्यञ्जयन्ती ललितादेवी मथुरास्थं श्रीकृष्णं प्रति स्वाभिलाषमाविष्कुर्वती प्राह—कुञ्जवसतेरलिन्दे वसन्ती अहं किसलयानां कलापः समूह एव व्यजनं तद्वती सती इमां श्रीराधां कदा सेविष्ये। कीदृशीम्—त्वदुत्सङ्ग इत्यादि। वासन्ती माधवी लता॥१००॥

अथ सुप्तिर्यथा—

पुरः पन्थानं मे त्यज यदमुना यामि यमुना–
मिति व्याचक्षाणा चुचुकविचरत्कौस्तुभरुचिः।
हरेः सव्यं राधा भुजमुपदधत्यम्बुजमुखी,
दरीक्रोडे क्लान्ता निबिडमिह निद्राभरमगात्॥१०१॥

तात्पर्यानुवाद—सुप्ति—गोवर्द्धन स्थित कुञ्जमन्दिरमें श्रीकृष्णकी वामबाहुको तकिया बनाकर सोई हुई श्रीमती राधिकाके स्वप्न सम्बन्धी अनुभवको रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीसे कह रही है—"हे कृष्ण! मेरे मार्गका अवरोध मत करो। मैं इस मार्गसे यमुनामें स्नान करने जा रही हूँ—स्वप्नमें इस प्रकार कहते–कहते कन्दरामें विलाससे उत्पन्न श्रम द्वारा क्लान्त श्रीमती राधिका श्रीकृष्णके वामबाहुको उपाधान बनाकर गभीर निद्रामें अभिभूत हो गईं। उस समय उनके मुखसे अत्यन्त शोभाका विकास हो रहा था। उनके स्तनके अग्रभागमें कौस्तुभमणि सुशोभित हो रही थी॥"१०१॥

लोचनरोचनी—सुप्तिः स्वप्नः॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—सुप्तिः स्वप्नः। रूपमञ्जरी पुष्पमवचित्यायातां रतिमञ्जरीं प्रत्याह—पुर इति। श्रीराधायाः स्वप्नायितं व्याचक्षाणा कथयन्ती। चूचुकं कुचाग्रम्। "चूचुकं तु कुचाग्रं स्यात्" इत्यत्र चुचुकशब्दो ह्रस्वादिरपि टीकाकृद्भिर्व्याख्यातः॥१०१॥

यथा वा—

आभीरेन्द्रसुतस्य गण्डमुकुरे स्वाप्नीभिरुल्लासितं,
लीलाभिः पुलकं विलोक्य चकिता निश्चिन्वती जागरम्।
सा वेणोर्हरणोत्सवे धृतनवोत्कण्ठापि तल्पाञ्चले,
विस्रस्तं करतोऽपि नाध्यवससौ तं हर्तुमेणेक्षणा॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णसुप्ति—विलासकुञ्जमें विहारके अन्तमें निद्रित श्रीकृष्णकी वेणुको हरण करनेकी अभिलाषासे कौतुकिनी श्रीमती राधिकाको सघन लताकुञ्जमें देखकर वृन्दा वर्णन कर रही है—"व्रजेन्द्रनन्दनके दर्पण सदृश कपोलोंमें स्वप्नानुभूत लीलाके द्वारा प्रकाशित रोमाञ्च देखकर मृगनयनी श्रीमती राधिका उनके जागे रहनेका अनुमानकर उनकी वेणुको हरण करनेके आनन्दोत्सवकी नवोत्कण्ठा धारण करनेपर भी चकित होकर शय्याके एकदेशमें उनके हाथोंसे च्युत वंशीको हरण नहीं कर सकीं॥"१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य स्वप्नमुदाहर्त्तुमाह—यथावेति। वृन्दा नान्दीमुखीं प्रत्याह—आभीरेन्द्रेति। स्वाप्नीभिर्लीलाभिरिति श्रीराधामुखचुम्बनरूपाभिरित्यर्थः। जागरं निश्चिन्वतीति पुलकान्यथानुपपत्तिरेव तत्र लिङ्गमित्यर्थः। करतोऽपि सकाशात् निद्रावैवश्येन तल्पाञ्चले स्रस्तमपि वेणुं नाध्यवससौ न निश्चतवतीत्यर्थः॥१०२॥

अथ प्रबोधः—यथा—

निद्राप्रमोदहरमप्युरुकण्ठनादं,
कण्ठीरवस्य शितिकण्ठपतत्रमौलिः।
तुष्टाव सत्वरविबुद्धपरिप्लवाक्ष–
राधापयोधरगिरीन्द्रनिपीडिताङ्गः ॥१०३॥

तात्पर्यानुवाद—बोध—निद्रा निवृत्तिका नाम बोध है। वृन्दाने पौर्णमासीको कहा—"आज गिरिकन्दरामें निद्रासुखको दूर करनेवाले सिंहके भयानक गर्जनकी भी व्रजेन्द्रनन्दन प्रशंसा करने लगे; क्योंकि सिंह–गर्जनसे

भयभीत चञ्चल–नयना श्रीमती राधिका हठात् उठकर अपने पयोधररूप गिरिराजके द्वारा उनका दृढ़ आलिङ्गन करने लगी॥"१०३॥

लोचनरोचनी—कण्ठीरवः सिंहः। स तु विदूरपर्वतगततया ननादेति तद्विधोऽपि श्रीकृष्णसांनिध्यगुणेन किंचिदपि न हिनस्तीति च नात्र भयानकेन मधुरोऽयमाभास्यते॥१०३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रबोधो निद्रानिवृत्तिः। वृन्दा पौर्णमासीं प्रत्याह—निद्रेति। कण्ठीरवस्य सिंहस्य नादं शितिकण्ठपतत्रमौलिः पिच्छमुकुटस्तुष्टाव। तत्र हेतुः—सत्वरेत्यादि। परिप्लवाक्षी चञ्चलनेत्रा॥१०३॥

सख्यां स्वस्नेहो यथा—

शैलमूर्ध्नि हरिणा विहरन्ती रोमकुट्मलकरम्बितमूर्त्तिः।
राधिका सुललितं ललितायाः पश्य मार्ष्टि लुलितालकमास्यम्॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—सखियों, दूतियों और प्रियनर्म सखाओंके प्रति श्रीकृष्णप्रियाओंका प्रेम सञ्चारीभाव होता है। पूर्वोक्त वाक्यमें सखियोंके प्रति जिस स्नेहकी व्यभिचारीभावमें गणना की गई है, यहाँ उसका उदाहरण दिया जा रहा है। गोवर्द्धनके ऊपर निकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ विहारपरायणा श्रीमती राधिकाके द्वारा ललिताके मुखमार्जनादि स्नेहावधिको देखकर रूपमञ्जरी ललिताकी किसी सखीसे प्रशंसा करती हुई बोली—"देखो! श्रीमती राधिका गोवर्द्धनपर्वतके ऊपर श्रीहरिके साथ विहार करते–करते पुलकित, रोमाञ्चित कलेवरसे ललिताके विपर्यस्त केशकलापयुक्त मुखकमलका विलासपूर्वक मार्जन कर रही हैं॥१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—सख्यां स्वस्नेह इति। सखीविषयकोऽपि नायिकायाः स्नेह एको व्यभिचारी भवतीत्यर्थः। यदुक्तं भक्तिरसामृतसिन्धावेव—"संचारी स्यात् समोना वा कृष्णरत्याः सुहृद्रतिः। अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते॥" इति। अस्यार्थः—सुहृद्रतिः सुहृद्विषयारतिः कृष्णरत्याः सकाशात् समा वा ऊना वा यदि वा स्यात्तदा संचारी स्यात्। सुहृद्रतेः श्रीकृष्णरतिमूलकत्वात् तत्पोषणाच्चेति भावः। यदि क्वचित् श्रीकृष्णरतेः सकाशादप्यधिका स्यात्तया पुष्यमाणा च स्यात्तदा भावोल्लास इतीर्य्यते। न तस्याः संचारित्वं नापि तस्याः स्थायित्वमिति भावः।

रूपमञ्जरी ललितायाः सखीं कांचिदाह—शैलेति। ललिताया आस्यं मार्ष्टि विहारजं प्रस्वेदमपनयतीति ललिताविषया श्रीराधारतिरत्र संचारीभावो भवन् श्रीकृष्णरतिं पुष्णाति॥१०४॥

अथोत्पत्त्यादिदशाचतुष्टयम्—तत्रोत्पत्तिर्यथा—

मृदुरियमिति वादीर्मा त्वमस्याः कुडुङ्गे, शशिमुखि तव सख्याः पौरुषं दृष्टमस्ति।
इति भवदुपकण्ठे मद्गिरा भुग्नदृष्टेः, स्थपुटितवदनाया राधिकायाः स्मरामि॥१०५॥
—अत्रासूयोत्पत्तिः।

तात्पर्यानुवाद—उत्पत्ति (भावोत्पत्ति)—एक समय प्रभातकालमें, प्रियसखी शशिमुखीके सामने श्रीमतीकी विगत रात्रिकी विलासगत धृष्टताकी बात भङ्गीक्रमसे सूचना करनेवाले श्रीकृष्णके प्रति श्रीमती राधामें असूया भावोत्पत्ति हुई। समयानन्तर शशिमुखीके दर्शनसे उसी घटनाको स्मरणकर श्रीकृष्ण महानन्दमें विवश होकर उस मधुर चेष्टाकी बातकी ही पुनरावृत्ति कर रहे हैं—"हे शशि! श्रीमती राधिका अत्यन्त कोमल हैं—यह बात तुम और मत कहना; क्योंकि मैंने कुञ्जके भीतर तुम्हारी सखीका पौरुषत्व दर्शन किया है। यह बात तुम्हारे निकट कहते ही उन्होंने मुझपर भृकुटी तान ली। अब भी मैं उसी श्रीराधाका स्मरण कर रहा हूँ।" यहाँ इस पद्यमें असूयाभावकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया॥१०५॥

लोचनरोचनी—मृदुरियमिति। ललितायां मथुरातः श्रीकृष्णस्य पत्रिका। राधिकाया इति कर्म्मणि पाक्षिकी संबन्धषष्ठी। अत्रासूयोत्पत्तिरिति उत्पत्तेरस्या भूतपूर्वत्वं ज्ञेयम्॥१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—उत्पत्त्यादिरिति। यदुक्तम्—"भावानां क्वचिदुत्पत्ति-संधिशाबल्यशान्तयः। दशाश्चतस्र एतासामुत्पत्तिर्भावसंभवः॥" इति। आस्वादितचरं श्रीराधाया मुखमाधुर्य्यं पुनरप्यास्वादयन् श्रीकृष्णस्तस्याः सखीं शशिमुखीं तत्साक्षितया प्राह—यद्वा मथुरास्थस्य श्रीकृष्णस्य ललितायां संदेश इयमुद्धवोक्तिः। मा वादीर्मा वद। कुडुङ्गे कुञ्जे। पौरुषं पुरुषाकारं विपरीतरमणमिति यावत्। स्थपुटितं कुटिलीभूतम्। "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी। राधिकां स्मरामीत्यर्थः॥ असूयोत्पत्तिरिति। दृष्टेर्भुग्नत्वमेव तस्मादुत्पन्नमसूयां वक्तीत्यर्थः॥१०५॥

अथ सन्धिः—तत्र सरूपयोर्यथा—

चिराभीष्टप्रेक्षे दनुजदमने विन्दति दृशोः,
पदं पत्यौ चार्द्धस्फुटवचसि रक्तत्विषि रुषा।

इयं निस्पन्दाङ्गी निमिषकलनोन्मुक्तनयना,
बभूवावष्टम्भप्रतिकृतिरिवाम्भोजवदना ॥१०६॥
—अत्रेष्टानिष्टेक्षणकृतयोर्जाड्ययोः सन्धिः।

तात्पर्यानुवाद—भावसन्धि—दो प्रकारके भावोंके एकत्रीकरणको भावसन्धि कहते हैं। श्रीकृष्णके प्रथम दर्शनके समय हठात् दैवयोगसे अपने पतिम्मन्य अभिमन्युका भी दर्शन होनेपर युगपत् इष्ट और अनिष्टके दर्शनसे स्तब्ध अङ्गोंवाली राधिकाको देखकर खेदसे वृन्दा पौर्णमासीसे कह रही है—"अहो! चिराभीष्ट श्रीकृष्ण नेत्रोंके पथके पथिक होते–न–होते ही दैवयोगसे क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले अभिमन्युके वहाँ उपस्थित होकर अस्फुट वचनोंका प्रयोग करते रहनेपर श्रीराधा स्तम्भित हो गई और उसके नेत्र स्थिर हो गए। इस प्रकार वे स्वर्ण–प्रतिमाकी भाँति सुशोभित हुईं।" इस पद्यमें इष्ट और अनिष्ट दोनोंके युगपत् दर्शनसे जाड्यादि दोनों भावोंकी सन्धि हुई है। श्रीकृष्णको देखकर प्राप्त आनन्दसे जड़ता और अभिमन्युको देखकर भयसे प्राप्त जड़ता, दोनोंका एकत्र मिलन हुआ है॥१०६॥

लोचनरोचनी—अवष्टम्भप्रतिकृतिः स्वर्णप्रतिमा॥१०६॥

आनन्दचन्द्रिका—सन्धिरिति। "रूपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः।" इति तल्लक्षणम्। वृन्दा पौर्णमासीमाह—चिरादभीष्टा अभिलषिता प्रेक्षा यस्य तस्मिन्। दैवाद्वृषान्वेषणार्थं वनं पर्यटमाने पत्यावभिमन्यौ च दृशोः पदं गोचरं विन्दति सति। निमेषकलनं निमेषक्रिया। अवष्टम्भप्रतिकृतिः स्वर्णप्रतिमा। ततः श्रीकृष्णे श्रीराधाया अदर्शनमभिनीय दूरं याते ललिताया वचनसंदर्भसृष्ट्या प्रतारितोऽभिमन्युः क्रोधं परित्यज्य गृहं जगामेति ज्ञेयम्॥१०६॥

अथ भिन्नयोः—तत्रैकहेतुजयोर्यथा ललितमाधवे—

शिखरिभरवितर्कतः प्रतप्तं समहमहर्निशमीक्षया प्रियस्य।
हृदयमिह समस्तवल्लवीनां युगपदपूर्वविधं द्विधा बभूव॥१०७॥
—अत्र विषादहर्षयोः।

तात्पर्यानुवाद—एक ही कारणसे उत्पन्न अथच भिन्न–भिन्न दो भावोंकी सन्धि—द्वारकाके नववृन्दावनकी कन्दरामें चित्रित चित्रोंके दर्शन करती

हुई श्रीमती राधिका गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्णका दर्शनकर तत्कालीन पूर्वावस्थाका स्मरणकर बोली—"श्रीकृष्णको गोवर्द्धन पर्वतको उठाकर अपने हाथोंपर धारण करते देखकर गोपियोंका हृदय युगपत् विषाद और हर्षसे आप्लुत हो गया।" पर्वतके गुरुतर भारको देखकर हृदयमें सन्ताप और निरन्तर प्रियतमका दर्शन करनेपर हर्ष—दोनोंने एक ही समयमें गोपियोंके हृदयको दो भावोंमें विभक्त कर दिया। इस पद्यमें एक ही श्रीकृष्णके लिए विषाद और हर्षरूपी दोनों सञ्चारीभावोंकी सन्धि सूचित होती है। उक्त उदाहरणमें विषाद और हर्ष इन दोनों भावोंकी सन्धि है॥१०७॥

लोचनरोचनी—प्रियस्येति। शिखरीत्यादावहर्निशमित्यादौ चान्वितम्॥ अतः प्रिय एवोभयोर्हेतुर्जातः। समहं सोत्सवम्। अपूर्वविधमाश्चर्य्यप्रकारम्॥१०७॥

आनन्दचन्द्रिका—गोवर्द्धनधारणकाले पौर्णमासी स्वगतोक्तमुपश्लोकयन् विश्वकर्मा लिखति—शिखरीति। हन्त हन्त एतावान् भारः प्रियतमस्य शिरीषकुसुमसुकुमारेण भुजेन महाकष्टेनैव सह्यत इति प्रतप्तं सन्तप्तम् तथा समहं सोत्सवमिति "उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनाम्" इतिवत् प्रियावलोकनस्य सुखदत्वं हि स्वाभाविको धर्मः। अत्र संतापस्योत्सवस्य च कारणं प्रियत्वमेव। अतस्तद्वतः प्रियस्येत्येवैक एव हेतुर्विषादहर्षयोः॥१०७॥

भिन्नहेतुजयोर्यथा—

स्थवयति नवरागं माधवे राधिकायां,
गिरमथ ललितायाः सावहेलां प्रतीत्य।
चलतरचरणाग्रेणालिखन्ती धरित्रीं,
विधुतवदनपद्मा तत्र सिष्वेद पद्मा॥१०८॥

—अत्र चिन्तामर्षयोः सन्धि।

तात्पर्यानुवाद—भिन्न हेतुसे उत्पन्न दो प्रकारके भावोंकी सन्धि—सौभाग्य पूर्णिमाके दिन श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए गौरीतीर्थसे आकर ललिताने सङ्कर्षणकुण्डके तटपर चन्द्रावली, पद्मा और शैव्या आदिके साथ मिलित श्रीकृष्णको देखा। उस समय ललिताजीकी औद्धत्यपूर्ण बातोंसे श्रीमती राधिकाके प्रति श्रीकृष्णके अतिशय अनुरागको जानकर, चिन्ता और

अमर्ष भावसे आक्रान्ता पद्माकी तत्कालीन दशाका वृन्दादेवी वर्णन कर रही है—"श्रीमती राधिकाके प्रति माधवका नवीन अनुराग प्रगाढ़ होने तथा ललिताकी अवज्ञासूचक बातोंको सुनकर पद्मा उसी जगह अपने चञ्चल चरणोंके अग्रभागसे भूलेखन करते-करते काँपने लगी तथा उनके मुखकमलसे स्वेदकी बूँदें भी टपकने लगीं।" यहाँ ललिताके अवज्ञासूचक वचनोंको श्रवणकर स्वेद तथा कम्पनसे अमर्ष और श्रीराधाके प्रति माधवके प्रेमाधिक्य हेतु चरणोंके अग्रभागसे भूमिलेखनसे चिन्ता, ये दोनों भाव दूसरे-दूसरे कारणोंसे उत्पन्न होकर एक साथ मिले हैं॥१०८॥

लोचनरोचनी—स्थवयति स्थूलं कुर्वति॥१०८॥

आनन्दचन्द्रिका—सौभाग्यपूर्णिमादिने गौरीतीर्थाच्छ्रीकृष्णमन्वेष्टुमायातायां ललितायां संकर्षणकुण्डतीरे चन्द्रावली-पद्मा-शैब्यादिभिः सहितं तमालोक्य तत्सभां प्रविश्य गोष्ठीं कुर्वत्यां यद्वृत्तमासीत्तदेव वृन्दा कुन्दलतां प्रत्याह—स्थवयतीति। स्थूलं कुर्वति "हरिणाभिलष्यमाणा सारङ्गमणि, सदा त्वमत्रासि। तदमुं तद्वशहृदयं हृदयंगमलोचने विद्धि" इति विदग्धमाधवीयश्लोकोक्त्या इत्यर्थः। तथा "सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते। चन्द्रावलीशतान्यपि भवन्ति निर्धूतकान्तीनि॥" इति ललितायाः सावहेलां गिरम्। अत्र चरणाग्रलिखनगम्या चिन्ता श्रीकृष्णहेतुका, तथा स्वेदकम्पगम्योऽमर्षो ललिताहेतुकः॥१०८॥

अथ शावल्यम्—यथा विदग्धमाधवे—

धन्यास्ता हरिणीदृशः स रमते याभिर्नवीनो युवा,
स्वैरं चापलमाकलय्य ललिता मां हन्त निन्दिष्यति।
गोविन्दं परिरब्धुमिन्दुवदनं हा चित्तमुत्कण्ठते,
धिग्वामं विधिमस्तु येन गरलं मानाभिधं निर्ममे॥१०९॥

—अत्र चापलशङ्कौत्सुक्यामर्षाणां शाबल्यम्।

तात्पर्यानुवाद—भावशाबल्य—कलहान्तरिता श्रीराधाकी निर्जनमें तर्क-वितर्कमूलक उक्ति—"अहो! ये नित्यनवीन युवक श्रीकृष्ण जिन रमणियोंके साथ आनन्द विलास करते हैं, वे धन्य हैं। (यहाँपर चापलभाव) फिर सोचती हैं—मेरी इस स्वेच्छाचाररूप चपलतासे ललिता मेरी निन्दा करेगी। (यहाँ चापल्य-उपमर्दक शङ्का सूचित हो रही है),

पुनः सोचती हैं—हाय-रे! चन्द्रवदन गोविन्दका आलिङ्गन करनेके लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है, (इस वाक्यसे शङ्का-उपमर्दक उत्सुकता सूचित होती है), फिर सोचने लगी—हाय! जिस कुटिल विधाताने इस गरल मानकी रचना की है, उसको शत-शत बार धिक्कार है। (यहाँ पुनः औत्सुक्यका उपमर्दक अमर्ष सूचित है) इस उदाहरणमें क्रमशः चापल्य, शङ्का, औत्सुक्य और अमर्ष भावोंका शाबल्य उत्तरोत्तर सम्मर्द है अर्थात् अनेक भाव एकसाथमें उदित हो रहे है॥१०९॥

लोचनरोचनी—धन्यास्ता इत्यादिक्रमकं पद्यं प्रायिकम्। किन्तु गोविन्दमित्यादि-कश्चरणः प्रथमो धन्यास्ता इत्यादिकं तु तृतीय इत्येष क्रम एव श्लोकयितुरन्विष्टः। तर्ह्येव स इति पदस्य गोविन्दमित्याकर्षणाय यथास्थानविन्यासः स्यात्॥१०९॥

आनन्दचन्द्रिका—शाबल्यं भावानामुत्तरोत्तरसंमर्दः। कलहान्तरिता श्रीराधा प्राह—धन्यास्ता इति। प्रथमे पादे चापलमौत्सुक्योत्थम्, द्वितीये ललितास्मृत्युत्था शङ्का तस्योपमर्दिनी, तृतीये स्वचित्तनिरोधोत्थमौत्सुक्यं शङ्काया उपमर्दकम्, चतुर्थे पुनः श्रीकृष्णावलोकेन स्वयं जनिष्यमाणो मानः स्वाभीष्टप्रतिबन्धीति तन्निर्मातरि विधावमर्ष औत्सुक्यसंमर्दकः॥१०९॥

अथ शान्तिः—यथा—

आलीयुक्तिकुठारिकापटिमभिर्यो न प्रपेदे च्छिदां,
दूतीजल्पितनिर्झरेण च चिरं यः क्वापि नौच्चालितः।
वंशीनादमरुल्लवेण कमलाचेतस्तटीवेष्टनो,
मानाख्यः प्रबलोन्नतिस्तरुरयं स क्षिप्रमुन्मूल्यते॥११०॥

—अत्र ईर्ष्याख्यभावस्य शान्तिः।

तात्पर्यानुवाद—भावशान्ति—भावोंका लय होना शान्ति कहलाता है।

नान्दीमुखी कह रही है—"कमलाकी चित्तरूप नदीके उपकूलको परिवेष्टनकर मान नामक बहुत ही ऊँचा वृक्ष प्रवर खड़ा था, जिसे सखियोंकी युक्तिरूप कुठारके सदृश दक्षता भी छिन्न नहीं कर सकी, जिसे दूतियोंके द्वारा श्रीकृष्णको निर्दोष सिद्ध करनेवाले वचनरूप झरनेका जल प्रवाह भी बिन्दुमात्र हिला नहीं सका, किन्तु वही वंशीध्वनिरूप

सामान्य वायुके फुत्कारसे ही तुरत जड़से उखड़कर गिर गया अर्थात् उसका मान शान्त हो गया॥"११०॥

आनन्दचन्द्रिका—शान्तिर्भावस्य लयः। नान्दीमुख्याह—आलीति। मरुल्लवेणेति। वंशीनादारम्भमात्रस्यापि सर्वोपायेभ्य आधिक्यं व्यञ्जितम्॥११०॥

॥ त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

चतुर्दशोऽध्यायः
अथ स्थायिभाव-प्रकरणम्

स्थायिभावोऽत्र शृङ्गारे कथ्यते मधुरा रतिः ॥१॥

सा यथा गोविन्दविलासे—

कालाहिवक्त्रविलसद्रसनाग्रजाग्रद्गोपीदृगञ्चलचमत्कृतिविद्धमर्मा ।
शर्मादिशत्वरुणघूर्णितलोचनान्तसंचारचूर्णितसतीहृदयो मुकुन्दः ॥२॥

तात्पर्यानुवाद—शृङ्गाररसमें मधुररतिको स्थायिभाव कहते हैं॥१॥

'गोविन्दविलास' नामक ग्रन्थके रचयिता मङ्गलाचरण करते हुए कह रहे हैं कि कालसर्पके मुखमें विलास करनेवाली लपलपाती हुई रसनाके अग्रभागके सदृश गोपियोंके दृगञ्चलकी महाचमत्कृतीमात्रसे जिनका हृदय बिद्ध हो रहा है, एवं जो अपने अरुणाभ नेत्रोंकी कुटिल दृष्टिसे सती रमणियोंके हृदयको चूर्णविचूर्ण कर रहे हैं, वे मुकुन्द सबका आनन्द विधान करें॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ स्थायिभावाः। नमश्चैतन्यरूपाय माधुर्यस्थायिने सदा। स्वसामर्थ्येऽप्यहो साम्यसामञ्जस्यानुवर्त्तिने॥ तद्ग्रन्थकृदेव ग्रन्थारम्भे मङ्गलमाचरति— कालाहीति। कालाहेः कालसर्पस्य वक्त्रे विलसन्ती या रसना तस्या अग्रमिव जाग्रत् स्वशौर्यमाविष्कुर्वत् यद्गोपीदृगञ्चलं तस्य चमत्कृत्या चमत्कृतिमात्रेणैव विद्धं मर्म यस्य स इति गोपीविषया श्रीकृष्णरतिः स्थायिभावो विद्धेतिपदेनास्वादव्यञ्जकेन रसतां प्राप्तः। तत्र गोपी विषयालम्बनस्तत्कटाक्ष उद्दीपनविभावः, जृम्भारोमाञ्चादय आक्षेपलब्धा अनुभावाः, औत्सुक्यचापल्यादयो व्यभिचारिणः। तथा अरुणो घूर्णितो जातघूर्णो यो लोचनान्तस्तस्य संचारेण चूर्णितं सतीनां हृदयं येन स इति श्रीकृष्णविषया गोपीरतिः स्थायिभावश्चूर्णितेति पदेनास्वादव्यञ्जकेन रसतां प्राप्तः। श्रीकृष्णस्तदीयकटाक्षादयः पूर्ववद्विभावाद्याः। एवं च मधुरा रतिः परस्परविषयाश्रयोक्ता। यदुक्तम्—"मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्। मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥" इति॥२॥

यथा वा दानकेलिकौमुद्याम् (३०)—

गोवर्द्धनं गिरिमुपेत्य कटाक्षबाणान्, कर्णस्फुरन्मणिशिलोपरि संक्ष्णुवाना।
का भ्रूधनुर्धुवनसूचितलुञ्चनेयं, व्यग्रीकरोत्यहह मामपि संभ्रमेण॥३॥

तात्पर्यानुवाद—साधारण रूपसे गोपीमात्रके कटाक्षसे ही श्रीकृष्णकी विवशता एवं श्रीकृष्णके कटाक्षसे गोपियोंकी भावविह्वलताको दिखलाकर इस पद्यमें वृन्दावनेश्वरीकी कटाक्षभङ्गीसे श्रीकृष्णकी अतिशय विह्वलताका प्रतिपादन कर रहे हैं—गोविन्दकुण्डमें आरम्भ किए हुए यज्ञके लिए सखियोंके साथ घी आदि द्रव्योंको लेकर गोवर्द्धन स्थित दानघाटीमें आती हुई श्रीराधिकाको देखकर सुबलादि सखाओंके सहित श्रीकृष्णने वहाँ नीलमण्डपमें विराजमान होकर नान्दीमुखीसे उत्सुकतापूर्वक पूछा—"इस गोवर्द्धन पर्वतमें उपस्थित होकर अपनी कटाक्षरूपी बाणोंको अपने कर्णोंमें सुशोभित कुण्डलमें जड़े हुए रत्नरूप पाषाणमें धार चढ़ाकर यह कौन-सी रमणी भ्रू-धनुके कम्पनके द्वारा चौर्यवृत्तिको सूचितकर उन कटाक्षबाणोंके प्रहारसे अत्यन्त धैर्य और गम्भीरशाली मुझे भी क्षिप्रगतिसे व्यग्र कर रही है (मेरे धैर्यरूपी धनका हरण कर रही है)?"

तात्पर्य—आकर्ण विस्तारित भ्रू-धनुसे निकली कटाक्षभङ्गीरूपी बाणसे मेरे गम्भीर धैर्यको चूर्णविचूर्ण कर दिया॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—गोपीमात्राणां स्थायिभावमुक्त्वा तन्मुकुटमणेः श्रीराधायाः सर्वाधिक्येन तमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। गोवर्द्धने घट्टशुल्कमिषेण युवतीर्निरोत्स्यन् श्रीकृष्णः श्रीराधामालोक्याह—मणिशिलाकुण्डलस्थं पद्मरागखण्डं तदुपरि संक्ष्णुवाना तेजयन्तीति नेत्रान्तस्य कुण्डलपर्यन्तं पुनःपुनर्यातायातेन श्रीकृष्णदर्शनस्पृहा तया च तद्विषया रतिः सूचिता। केति मधुमङ्गलं प्रति प्रश्नः। भ्रूधनुःकम्पनेन सूचितं लुञ्चनं चौर्यं ययेति। शरैर्विद्ध्वा मामचेतनीकृत्य धैर्यमतिस्मृत्यादिधनं मे हरिष्यतीति भावः। व्यग्रीकरोतीति शरतेजनधनुर्धुवनदर्शनेनैव तावदहं व्यग्रो विकलचित्तोऽभूवं न जाने शरैर्विद्धः कीदृशो भविष्यामीति भावः। मामपि शूराणां शिरोमणिमपीति भावः। तेन च श्रीराधाविषया रतिः सूचिता॥३॥

अभियोगाद्विषयतः संबन्धादभिमानतः।
सा तदीयविशेषेभ्य उपमातः स्वभावतः।
रतिराविर्भवेदेषामुत्तमत्वं यथोत्तरम्॥४॥

तात्पर्यानुवाद—रति आविर्भावका कारण—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, उसका विशेष, उपमा और स्वभाव—उत्तरोत्तर श्रेष्ठ इन सात कारणोंसे रति आविर्भूत होती है॥४॥

आनन्दचन्द्रिका—तस्या रतेः प्रादुर्भावे लोकरीत्या कारणान्याह—अभियोगादिति। सिद्धान्तरीत्या तु प्रोक्ता अत्राभियोगाद्या इत्यग्रे समाधास्यते सा रतिः॥४॥

तत्राभियोगः—

अभियोगो भवेद्भावव्यक्तिः स्वेन परेण च॥५॥

तात्पर्यानुवाद—अभियोग—अपने द्वारा अथवा दूसरोंके द्वारा अपने भावोंको प्रकाश करनेका नाम अभियोग है। दूत्य-प्रकरणमें उक्त वाचिक, आङ्गिक और चाक्षुष भाव-व्यञ्जना अपने द्वारा प्रकाशित होती है एवं अमितार्थादि दूतियोंके रूपमें दूसरोंके द्वारा भी ये भाव प्रकाशित होते हैं॥५॥

आनन्दचन्द्रिका—अभियोगो भावस्य व्यक्तिर्व्यञ्जनं सा च स्वेन परेण अमितार्थादिदूतीजनेन। अत्र नायकस्य स्वाभियोगो नायिकाया रतिप्रादुर्भावे कारणम्। तथा नायिकायाः सः नायकस्य तदिति ज्ञेयम्॥५॥

तत्र स्वेनाभियोगाद्यथा—

मदधरविलुठद्विलोचनान्तं, मृदुललतानवपल्लवं दशन्तम्।
सखि हरिमवलोक्य भानुजायास्तटविपिने स्फुटदन्तरास्मि जाता॥६॥

तात्पर्यानुवाद—स्वाभियोग—एक समय यमुनापुलिनमें श्रीराधाको देखकर इङ्गितके द्वारा श्रीकृष्णने स्वाभिलाष प्रकट की। कृष्णको ऐसा करते हुए देखकर श्रीराधिका जब अत्यन्त व्याकुल होने लगी, तब श्रीविशाखाके द्वारा उस व्याकुलताका कारण पूछनेपर निर्जनमें श्रीमतीजीने कहा—"हे सखि विशाखे! आज यमुनाके तटवर्ती विपिनमें श्रीहरिको जबसे देखा है, तबसे मेरा हृदय बड़ा ही व्याकुल हो रहा है। उन्होंने मेरे अधरोंके प्रति अपने चञ्चल नेत्रोंको निरन्तर सञ्चालन करते हुए एक नवीना लताके नव-पल्लवका दंशन किया।"

यहाँ श्रीकृष्णने अपने आप नव-पल्लव तुल्य श्रीराधाजीके अधरको दंशन करनेकी अपनी अभिलाषाको व्यक्त किया है। इसके द्वारा आङ्गिक और चाक्षुष अभियोगकी अभिव्यक्ति हुई है॥६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृत्तान्तं पृच्छन्तीं विशाखां प्रति श्रीराधाह—मदधरेति। विलुठदित्यनेन न केवलं तल्लोचनान्तस्य मदधरे स्पर्श एव किन्तु मदधरसीधुना तथा तल्लोचनान्तो मत्तोऽभूद्यथा विर्वत्तनोवर्त्तनादिना पतित्वैव स्थितो नास्मादुत्थातुमशकदिति ध्वनितम्। एवं च स्वलोचनान्तं कृतार्थीकृत्य स्वदर्शनरसनाभ्यामिममास्वादयितुमप्राप्य मदधरोपमं पल्लवं दशन्तं विलोक्यं स्फुटदन्तरास्मीति रतिप्रादुर्भावो दर्शितः। अत्र तं प्रति दयोद्रेकेण तत्कालोदितकन्दर्पज्वालया चेति ध्वनिद्वयम्। तत्राद्यं सखीं प्रति ज्ञापयितुमिष्टं द्वितीयं तु रहस्यम्। तेन च स्वाधरं यावत्तं न दंशयामि तावदहं स्फुटदन्तरैव स्थास्यामीत्यनुध्वनिः। तेन च मां शीघ्रमभिसारयेति प्रत्यनुध्वनिः॥६॥

यथा वा—

कुवलयविपिनान्यसौ सृजन्ती, दिशि दिशि लोचनचापलाच्चलाक्षी।
हरति तरणिजातटे पुरः का, सुबल बलान्मम चित्तचञ्चरीकम्॥७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके द्वारा स्वाभियोगका उदाहरण देकर यहाँ श्रीराधाकृत स्वाभियोगको दिखला रहे हैं—यमुनाके तटपर अत्यन्त उल्लसित श्रीमती राधिकाको अपने प्रति नेत्र-विभ्रम विशेषसे स्वाभिप्रायकी सूचना करते देखकर सुबलसे श्रीकृष्ण प्रश्न कर रहे हैं—"हे सखे! सूर्य-तनया कालिन्दीके तटपर चञ्चल-नेत्रोंवाली यह रमणी कौन है? जो अपने नेत्र-चाञ्चल्यसे समस्त दिशाओंमें नीलकमलके वनोंका सृजनकर हठात् मेरे चित्तरूपी मधुकरको आकर्षित कर रही है?" यह चाक्षुषभियोग है॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—नायकस्वाभियोगान्नायिकाया रत्युद्भवमुदाहृत्य नायिका-स्वाभियोगान्नायकस्य रत्युद्भवमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। श्रीकृष्णः सुबलं पृच्छति—कुवलयेति। लोचनचापलादिति चाक्षुषोऽभियोगः॥७॥

परेणाभियोगाद्यथा—

त्वदीयमापीय गतावलम्बा संवादमाध्वीकमतीव साध्वी।
आघूर्णमाना व्रजराजसूनो नीवीं स्खलन्तीं न विदाञ्चकार॥८॥

तात्पर्यानुवाद—परकृत अभियोग—कोई पत्रहारिणी दूती श्रीकृष्णके समीप श्रीराधाका अनुराग वर्णन कर रही है—"हे व्रजराजनन्दन! परम पतिव्रता यह गोपी तुम्हारे संवादरूप मधुको अत्यन्त आदरसे अपने श्रुतिपुटसे पानकर धैर्यरहित होकर घूर्णावशतः अपनी स्खलित होती हुई नीविको भी पकड़ना भूल गई॥"८॥

लोचनरोचनी—अतीव साध्वी समर्यादापि त्वदीयं संवादं मया सह त्वदनुरागमयं संकथनं तदैव माध्वीकं मत्तो निपीय आस्वाद्य गतावलम्बा सर्वत्रोदासीना सती आघूर्णमाना स्थैर्यविनाभूता नीवीं स्खलन्तीमपि न विदांचकार॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् पत्रहारी दूती श्रीराधानुरागं श्रीकृष्णं प्रति वक्ति—नीवीं स्खलन्तीमिति। रत्युद्भवः॥८॥

अथ विषयाः—

शब्दस्पर्शादयः पञ्च विषयाः किल विश्रुताः॥९॥

तत्र शब्दाद्यथा विदग्धमाधवे (१/३४)—

नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्, को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने।
हा हा कुलीनगृहिणीगणगर्हणीयां, येनाद्य कामपि दशां सखि लम्भितास्मि॥१०॥

तात्पर्यानुवाद—विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंको विषय कहते हैं। इनमेंसे **शब्दजात रति**—श्रीकृष्णके द्वारा बजाई गई अश्रुतपूर्व वेणुध्वनिको सुनकर श्रीराधा विवश हो गईं। उसे देखकर ललिता उसका रहस्य जाननेपर भी उनके मुखसे ही सुननेकी इच्छासे उनकी विवशताका कारण पूछने लगी। श्रीमती राधिकाने उत्तर देते हुए कहा—"अरी सखि! कदम्बवृक्षकी शाखाओंके भीतरसे निकलकर किसी अश्रुतपूर्व ध्वनिने मेरे कर्णकुहरोंमें प्रवेश किया। वह क्या है? मैं कह नहीं सकती। हाय! इस ध्वनिको जबसे मैंने सुना है, मैं कुलवती नारियोंके लिए निन्दनीय किसी अनिर्वाच्य अवस्थाको प्राप्त हो रही हूँ॥"९–१०॥

लोचनरोचनी—नादोऽत्र वेणुनादः प्रकरणाल्लभ्यते॥१०॥

आनन्दचन्द्रिका—कथं विवशासीति ललितया पृष्टा श्रीराधा प्राह—नादो वेणुध्वनिः। कुलीनेत्यादिना स्वपातिव्रत्यध्वंसो व्यञ्जितः। कामपि दशामिति वैणविकपुरुषविषयरत्युद्भवः॥१०॥

यथा वा तत्रैव (२/९)—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं,
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्ना सकृद्वीक्षणात्,
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥११॥

तात्पर्यानुवाद—ब्रह्मा–शिव–इन्द्रादिको मोहित करनेवाले श्रीकृष्णके मुखसे निःसृत वेणुनादामृतकी बात तो दूर रहे, दूसरोंके द्वारा उच्चारित श्रीकृष्णनामाक्षरको श्रवणकर भी रतिके आविर्भावको दिखला रहे हैं—एक ही श्रीकृष्णमें 'श्रीकृष्ण', 'श्रीकृष्णवेणुवादक' और 'श्यामकिशोर' भेदसे तीन पुरुषोंकी बुद्धिसे अपनी रतिको धिक्कार देती हुई देहत्याग ही उचित है, ऐसा निश्चित करनेवाली श्रीमती राधिकाको वास्तविक तत्व बतलानेवाली ललिता और विशाखा पुनः–पुनः शपथपूर्वक उनके मनकी विकलताका कारण जिज्ञासा करने लगी। उनके प्रश्नके उत्तरमें श्रीमती राधिका कह रही हैं—"हे सखि! एक पुरुषके 'श्रीकृष्ण' नामको श्रवणकर मेरी मति लुब्ध हो गई। दूसरे किसी पुरुषके मधुर वंशीनादने मेरे कर्णकुहरमें प्रविष्ट होकर मुझे निबिड़ उन्माद–परम्पराको प्राप्त कराया है और इसी विशाखाके हाथोंमें विराजमान चित्रपटमें अङ्कित जलधरकान्तियुक्त तीसरे पुरुषके एकबार मात्र दर्शन करके ही यह मेरे मनमें संलग्न हो रहा है। हाय! हाय!! मुझे धिक्कार है। परपुरुषमें रति होना ही निन्दनीय है, तिसपर भी इन तीनों पुरुषोंके प्रति मेरी रति उत्पन्न हुई है। इस स्थितिमें मरण ही मेरे लिए कल्याणजनक है॥"११॥

लोचनरोचनी—एकस्येति। अत्रायं तत्रत्यप्रबन्धः। राधेयं प्रथमं कृष्णनाममात्रं श्रुत्वा परममधुरत्वेनानुभूय तन्नामनि रतिमुवाह। ततश्च वंशीनादं परममधुरत्वेनास्वाद्य तद्वादिनि रतिमुवाह। ततश्च कृष्णाकारं चित्रं नेत्राभ्यां तथा सकृदेवास्वाद्य तद्भेदेन तस्मिन् रतिमुवाह। तत्र यद्यपि त्रीण्यपि तानि स्वाश्रयं श्रीकृष्णमेव स्फोरयित्वा रतिमुद्भासयामासुः। तत्स्फूर्त्त्यसंभवे सा न संभवेत्, वक्ष्यते चान्तिक एव

लोकोत्तरपदार्थानामिति तथापि तदेकस्फूर्तावपि तत्रितयतामननस्यैकरूप्येऽपि पृथक् पृथग् अनुभवादेकवस्तुत्वं न प्रतीतमित्यत एव ज्ञेयम्। कच्चिदेकजातित्वं स्यादिति वितर्कात्। अत आह—पुरुषत्रये रतिरभूदिति। प्रथमं तावत् परपुरुषे रतिरेवायोग्या किमुत तत्त्रये। तस्मात् मृतिरेव श्रेयसीति मृतिं विना दुष्परिहरेयं रतिः धिक्कारिण्येवेति भावः॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—न केवलं तत्कर्त्तृक एव शब्दः कारणं किं तु तत्संबन्ध्यन्यकर्त्तृकोऽपीति ज्ञापयितुमाह—यथावेति। पृच्छन्तीः सखीः प्रति श्रीराधाह—एकस्य पुरुषस्य। श्रीकृष्णेति नामाक्षरमिति। कस्येदं वृन्दावनमिति मत्पृष्टया ललितया कृष्णस्येति यदुक्तं तदा कृष्णस्येति नाम्नोऽक्षरमेकमपि किमुत तत्संपूर्णं नाम श्रुतमेव कर्णरन्ध्रे प्रविष्टमेव किं पुनर्हृदये धृतं मे मतिं लुम्पतीति तत्पुरुषविषया रतिर्मे जातेति भावः। लुम्पतीति वर्तमाननिर्देशेन तत्संस्कारोऽधुनापि तत्प्रतियोगिवस्त्वन्तराभिनिवेशेऽपि न यातीति द्योतितम्। तथान्यस्य पुरुषस्य वंशीकलः सान्द्रामुन्मादपरम्परामिति बुद्धिलोपः पूर्वमेव नाम्ना कृतः, यदवशिष्टं मे मनस्तस्यापि उन्मादबाहुल्यमभूदिति भावः। वर्तमाननिर्देशोऽत्रापि पूर्ववद्व्याख्येयः। एवं च तस्मिन्नपि पुरुषे रतिरभूदित्यभिव्यज्य पुनराह—एष इति। विशाखादर्शितचित्रपटमध्यवर्त्तीत्यर्थः। अतएव तस्मिन्नपि रतिरभूदिति। धिगिति कुलाङ्गनाया मम परपुरुषे रतिरनुचिता किमुत तत्त्रितय इति। अत्र नित्यसिद्धा स्वाभाविकी तस्या रतिरेव स्वविषयं श्रीकृष्णं स्वयं परिचिनोति। सा तु तमेकमपि श्रीकृष्ण इति, वैणविक इति, श्यामलकिशोर इति, पुरुषत्रयं मत्वा खिद्यति स्मेति सखीभ्यां तत्त्वं ज्ञात्वा समाश्वस्ता बभूवेति तत्रत्या कथा॥११॥

स्पर्शाद्यथा—

> **व्रजं मुष्टिग्राह्ये तमसि निगिरत्यङ्गमिह मे,**
> **सखि स्पर्शं दैवाद्यदवधि परं कस्यचिदगात्।**
> **गृहीता जागर्य्या तदवधि सदैवाङ्गजगणैः,**
> **सशङ्कैर्या पश्य क्षणमपि न साद्याप्युपरता॥१२॥**

तात्पर्यानुवाद—स्पर्शजात रति—एक समय रात्रिकालमें दैवयोगसे श्रीकृष्णके अङ्गोंका स्पर्श पाकर सात्त्विक विकारयुक्ता किसी गोपीसे जब उसकी प्रियसखी आग्रहके साथ उसके विकारका कारण पूछ रही है, तब वह उत्तर देते हुए कह रही है—"हे सखि! यह व्रजमण्डल घने अन्धकारसे आच्छादित हो गया था। मैं अभ्यन्तर मार्गमें होकर जा रही थी। अकस्मात् किसी परपुरुषका अङ्गस्पर्श हो गया। सखि! तभीसे

शङ्कित रोमावलियोंने जाग्रत धर्मका अवलम्बन किया है। देखो न, अभी तक भी वह रोमाञ्च क्षणभरके लिए भी दूर नहीं हो रहा है॥"१२॥

लोचनरोचनी—सद्य एव दूरादागताया नववध्वाः स्वया सहागतां सखीं प्रति वचनम्—व्रजमिति। अस्तु तावदङ्गवार्त्ता, अङ्गजगणैरङ्गाज्जातैस्तनूरुहसमूहैरपि जागर्या गृहीता जागर्या उद्गमः श्लेषेण निद्राच्छेदः। अङ्गजगणपदेन कामस्य गणाः शिलष्यन्ते। "सशङ्कैः" अहो कोऽयं सुखस्पर्श इति वितर्कसहितैरित्यर्थः। एवं मनोधर्मोऽपि चमत्कारविशेषेण हृत्स्वारोप्यते॥१२॥

आनन्दचन्द्रिका—स्ववैयग्र्यकारणं पृच्छन्तीं स्वसखीं काचिद्गोपी ह्यस्तनं स्ववृत्तमाह—व्रजमिति। तमसि मुष्ट्या ग्राह्ये इति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्या अतिनिबिडे इत्यर्थः। व्रजं व्रजनगरं निगिरति ग्रसति सतीति स्पर्शकर्त्तुरज्ञाने हेतुः सूचितः। मे मम रथ्यायां गच्छन्त्या इत्यर्थात्। अङ्गं गात्रं कर्तृ अङ्गजगणैरङ्गाज्जातैर्लोमभिरित्यर्थः। गृहीता जागर्येति। निरन्तरमेव मे रोमाञ्चो जायत इति भावः। सशङ्कैरिति तत्र मे शङ्कैव कारणमित्यवहित्था। अत्र मनोधर्मः शङ्का अङ्गजेष्वारोपिता शङ्काधिक्यज्ञापनार्थम्॥१२॥

रूपाद्यथा हंसदूते (७७)—

कृताकृष्टिक्रीडं किमपि तव रूपं मम सखी,
सकृद्दृष्ट्वा दूरादहितहितबोधोज्झितमतिः।
हताशेयं प्रेमानलमनुविशन्ती सरभसं,
पतङ्गीवात्मानं मुरहर मुहुर्दाहितवती॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—रूपजात रति—माथुरविरहकी दशामें ललिता हंसके द्वारा श्रीकृष्णको संवाद भेज रही है—"हे मुरारि! अनिर्वचनीय भावसे आकर्षणरूप क्रीड़ाविशिष्ट आपके रूपको दूरसे ही मात्र एकबार देखकर मेरी प्रियसखी हिताहित विचारबुद्धिसे रहित हो गई है और जिस प्रकार पतङ्गी अत्यन्त सुन्दर रूपके दर्शनसे सुखकी इच्छाको त्यागकर अग्निमें कूदकर अपने शरीरको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार दुर्भागिनी श्रीराधा भी सुखकी इच्छाको जलाञ्जलि देकर वेगसे प्रेमानलमें अपनेको दग्ध कर रही है॥"१३॥

लोचनरोचनी—कृताकृष्टिक्रीडं प्रेमानन्द स्वरूपं तव रूपं दृष्ट्वा अनुविशन्तीत्यन्वयः। ततो हताशेयमित्येव किं वक्तव्यम्। आत्मानं च दाहितवती। मुहुरिति। तज्ज्वालादेशादपगत्यापगत्येत्यर्थः॥१३॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरास्थं श्रीकृष्णं ललिता हंसद्वारा श्रीराधाविरहदशां संदिशति—कृता कृष्टिराकर्षणं सैव क्रीडा यस्येति। तव रूपस्यैव दोषो मम सखी किं करिष्यतीति भावः। अहितहितेति। अत्यार्जवादिति भावः। हताशेयमिति। अस्या अदृष्टमेवतादृशं तव को दोष इति भावः। सरभसं सानन्दम्। मुहुरिति पतङ्गीपक्षे द्वित्रिवारमनलान्निःसृत्यापि पुनरनलं प्रविष्टा, श्रीराधापक्षे व्रजस्थे त्वयि तदानीं मानसमये कतिवारमेव प्रेमत्यागं संकल्प्यापि पुनः प्रेमाणमेवाविशदित्यर्थः॥१३॥

रसाद्यथा—

पुलकयति यदङ्गं सेवते गात्रभङ्गं,
वहति हृदि तरङ्गं सद्य एवाद्य मुग्धा।
तदघदमनवक्त्रोद्गीर्णताम्बूलमल्पं,
स्फुटमविदितमास्ये न्यस्तमस्यास्त्वयालि॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—रसकृत रति—किसी मुग्धा व्रजसुन्दरीकी प्रियसखीने श्रीकृष्णके प्रति उसकी रतिके प्रादुर्भावका दूसरा कोई उपाय न देखकर श्रीकृष्णके द्वारा चर्वित ताम्बूलके लवमात्रको अलक्षित रूपसे उसके मुखमें दे दिया। देखते-ही-देखते उसमें भावोद्गम हो गया। उसके सात्त्विकभावादि विकारोंको देखकर कोई सखी उसका कारण निश्चितकर ताम्बूल देनेवाली सखीसे कहने लगी—"हे सखि! आज अचानक तुम्हारी इस मुग्धा प्रियसखीके अङ्गमें रोमाञ्च, अँगड़ाई, सञ्चार, गात्रमोटन, उल्लघंन और बारम्बार हृतकम्प हो रहा है। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने अलक्षित रूपसे उसके मुखमें श्रीकृष्णमुखके चर्वित ताम्बूलका कुछ भाग समर्पण किया है॥"१४॥

लोचनरोचनी—कापि सखी सख्या मुखे सद्यस्तनं ताम्बूलचिह्नं दृष्ट्वा कांचिदेकाकितया तन्निकटस्थां दत्तताम्बूलां वितर्क्य तां चाघदमनानुगतां ज्ञात्वा तदुद्गीर्णताम्बूलस्य तादृशं प्रभावं पूर्वमनुभूय सख्याश्च सद्यस्तनुविकारं दृष्ट्वा ताम्बूलदात्रीं प्रत्याह—पुलकयतीति। पुलकवत् करोतीत्यर्थः। "विन्मतोर्लुक्" चेति शाब्दिकाः॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित्सखी स्वयूथेश्वर्याः श्रीकृष्णे रतिमाशासाना तत्सुखसाधनं च तदीयताम्बूलचर्वितमनुभूय तदेव वीटिकामध्यगतं कृत्वा तामलक्षितं भोजयामास। ततश्च तां सद्य एवोत्पन्नविकारां विवशां जातरतिं वितर्क्य काचिदन्या सखी ताम्बूलदात्रीं प्रत्याह—पुलकयतीति। पुलकयति अङ्गं पुलकवत् करोति।

"विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक्। हृदि तरङ्गं सद्य एवानुरागसमुद्रस्य लहरीम्। तत्तस्मादस्या आस्ये न्यस्तम्॥१४॥

गन्धाद्यथा—

विभ्राजन्ते क्व सखि सुखिनः शाखिनो मोहनास्ते,
येषां पुष्पैरियमनुपमा वैजयन्ती कृतास्ति।
पश्याकृष्टभ्रमरपटला यातयामापि कामं,
या भूयोभिर्मम परिमलैः स्तम्भयत्यद्य चेतः॥१५॥

तात्पर्यानुवाद—गन्धजात रति—श्रीकृष्णके प्रति रति उत्पन्न करानेके लिए किसी बहानेसे वृन्दा द्वारा दी गई, श्रीकृष्णके अङ्गपरिमलसे व्याप्त, वैजयन्तीमालाको सूँघकर उन्मत्त हुई सखीसे उसका कारण पूछनेपर वह कह रही है—"हे सखि! जिस वृक्षके पुष्पसमूह द्वारा यह अनुपम वैजयन्तीमाला निर्मित हुई है, वह सुकुमार और मोहनवृक्ष कहाँ हैं? तुम देखो, यह वैजयन्तीमाला परिभुक्त होनेपर भी इसकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर भ्रमर इधर आ रहे हैं। यह वैजयन्ती अपने परिमलके द्वारा यथेष्टरूपमें मेरे चित्तको स्तम्भित कर रही है॥"१५॥

लोचनरोचनी—"जीर्णं च परिभुक्तं च यातयाममिदं द्वयम्।" इति नानार्थवर्गः॥१५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वसख्या दर्शितामज्ञापिततत्त्वां श्रीकृष्णनिर्माल्यमालां वैजयन्ती-माघ्राय संमुह्य पुनः प्रवुद्ध्य च सविस्मयमाह—विभ्राजन्ते इति। सुखिनो मोहना इति येषां पुष्पाण्यपि सुखयन्ति सुखेनैव मूर्च्छां प्रापयन्ति च ते पुनरपरिमितसुखवन्तो भवन्तीत्यनुमिमे इति भावः। यातयामेति। "जीर्णं च परिभुक्तं च यातयाममिदं द्वयम्।" इत्यमरः॥१५॥

लोकोत्तरपदार्थानां प्रभावः कोऽप्यनर्गलः।
रतिं तद्विषयं चासौ भासयेत्तूर्णमेकदा॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—सन्देह—यदि कहो कि रूपदर्शनसे आलम्बनस्वरूपके निश्चय हेतु तद्विषयक रतिकी उत्पत्तिका होना उपयुक्त है, किन्तु जिसका तत्त्व परिज्ञात नहीं है, ऐसे शब्द, रूपादिसे विषयालम्बनरूप स्वरूपके अज्ञानसे किस प्रकारसे रति उत्पन्न होगी? इस शङ्काका समाधान करते

हुए कह रहे हैं—जब लोकोत्तर पदार्थ अर्थात् मणि, मन्त्र, महौषधि आदिके अनिर्वचनीय प्रभावको साक्षात् रूपमें देखा और अनुभव किया जाता है, तब श्रीकृष्ण-सम्बन्धी शब्द आदिकी बात ही क्या? वे सभी एक साथ रति और रति-विषयक आलम्बनको शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं। अर्थात् अप्राकृत वस्तुओंका अनिर्वचनीय प्रभाव अत्यन्त निरंकुश है। वही प्रभाव एक समयमें एक साथ अत्यन्त शीघ्र ही रति और तद्विषयक आलम्बनको प्रकाश कर देता है॥१६॥

लोचनरोचनी—तत्र तत्रासंभावनार्थमाह—लोकेति। लोकोत्तरपदार्थानां मणिमन्त्र-महौषधीनामपि किमुत श्रीकृष्णसंबन्धिनामित्यर्थः॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु रूपात्तावदालम्बनस्वरूपनिश्चयेन तद्विषयकरत्युत्पत्तिर्युक्तैव। अविज्ञाततत्त्वेभ्यः शब्दादिभ्यस्तु विषयालम्बनरूपाज्ञानात् किमाकारा रतिराविर्भवेदिति संशये समादधाति—लोकोत्तरपदार्थानां महाचमत्कारवतामप्राकृतवस्तूनां श्रीकृष्णसंबन्धिनां तद्विषयं तस्या रतेरालम्बनं भासयेत् प्रकाशयेत्। एकदा सहैव तत्रापि तूर्णमेव॥१६॥

अथ संबन्धः—

संबन्धः कुलरूपादिसामग्रीगौरवं भवेत्॥१७॥

तात्पर्यानुवाद—सम्बन्ध—कुल, रूप, वैदग्ध्य, शौर्य, माधुर्य और सौशील्यादि अनन्त कल्याणजनक गुणोंके अत्यधिक समावेशको सम्बन्ध कहते हैं॥१७॥

लोचनरोचनी—संबन्धशब्देनात्र संबन्धहेतुर्लक्ष्यते। गौरवमाधिक्यम्॥१७॥

आनन्दचन्द्रिका—कुलरूपशौर्यसौशील्यादीनां सामग्री समग्रत्वं तस्या गौरवं कुलादीनां संपूर्णत्वाधिक्यमित्यर्थः॥१७॥

यथा—

वीर्यं कन्दुकिताद्रि रूपमखिलक्ष्मामण्डलीमण्डनं,
जन्माभीरपुरन्दरस्य भवने पारेपरार्द्धं गुणाः।
लीला कापि जगच्चमत्कृतिकरीत्येतस्य लोकोत्तरा,
वृत्तिर्वेणुधरस्य दुर्मुखि धृतिं कस्याः क्षणं रक्षति॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—"तुम कुलाङ्गना हो। परपुरुषके प्रति अनुरक्त होना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।" उसके प्रेमकी परीक्षा करनेवाली सखीके

इस प्रकार कहनेपर किसी व्रजसुन्दरीने कहा—"हे सुमुखि! जो तुम्हारे मुखमें आता है, वही बकती हो, तुम्हें तनिकमात्र भी बोध नहीं है। देखो! सखि! जिनके बलसे यह गोवर्द्धनपर्वत भी गेंदके समान बन गया, जिनका रूप निखिल त्रिभुवनका भूषणस्वरूप है, आभीरपुरन्दर नन्दके वंशमें जिन्होंने जन्म ग्रहण किया है, जिनका गुण असंख्य परार्द्धसे भी अगिणत है, जिनकी अनिर्वचनीय लीला जगत्को विस्मित कर रही है, उन कलवेणुवादनपर श्रीकृष्णके इस लोकातीत चरित्रको देखकर क्षणकालके लिए भी कौन अपने धैर्यको धारण कर सकती है?"

उक्त उदाहरणमें 'वंशीधर' शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि "हे सखि! यद्यपि मैं किसी प्रकारसे श्रीकृष्णके बल, रूपादिमें अपने मनको प्रणिधान न कर धैर्यको धारण कर रही थी, तथापि ऐसा होनेपर भी वेणुधरकी वेणुध्वनि उनसे सम्बन्धित रूप, गुणादिको स्मरण करा कर पुनः उनके प्रति मेरी रतिको उत्पन्न करा रही है॥"१८॥

लोचनरोचनी—वीर्य्यमिति। कस्याश्चिद्व्रजकुमार्या वचनम्॥१८॥

आनन्दचन्द्रिका—कुलाङ्गनायास्तव परपुरुषे रतिर्नोचितेति तत्प्रेमपरीक्षार्थं वदन्तीं सखीं प्रति काचिदाह—वीर्यमिति। हे दुर्मुखीति। यदेव मुखे आयाति तदेव त्वं ब्रूषे। बुद्धिस्तु तव नास्त्येवेति भावः। वृत्तिश्चरित्रम्। कन्दुकितः कन्दुकसदृशीकृतोऽद्रिर्यस्मात्तद्वीर्यं पराक्रमः। परार्द्धस्यापि पारे गुणा गणयितुमशक्या इत्यर्थः। वेणुधरस्येति। यद्यपि पूर्वोक्तेषु वीर्यरूपादिषु मनःप्रणिधानमकुर्वत्या मया कथंचित् धृतिः संगोप्यते तदपि वेणुनैव बलादेव स्मारितानि तस्य साद्गुण्यादीनि मे रतिमुत्पादयन्तीति भावः॥१८॥

अथाभिमानः—

सन्तु रम्याणि भूरीणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते॥१९॥

तात्पर्यानुवाद—अभिमान—"संसारमें नाना प्रकारकी मनोरम वस्तुएँ हैं, वे रहें, किन्तु मेरे लिए केवल यही प्रार्थनीय है"—इस प्रकार स्थिरीकरणको पण्डितगण अभिमान कहते हैं।

तात्पर्य—ममतास्पद किसी अनन्यतामय सङ्कल्प विशेषको अभिमान कहते हैं। यह अभिमान किसी उपाधिकी अपेक्षा न कर रतिको उत्पन्न कर देता है॥१९॥

लोचनरोचनी—अभिमानस्य गाढप्राचीनममताभ्यास एव स्वरूपम्। स च सौन्दर्य्यादिकमनपेक्ष्यैव रतिमुत्पादयति। तमेव कार्यभेदेनाह—सन्तु रम्याणीति॥१९॥

आनन्दचन्द्रिका—सन्तु रम्याणीति। अभिमानोऽयं ममत्वास्पदे कोऽप्यनन्यतामयः संकल्पविशेषः स च रूपादिकमनपेक्ष्यापि रतिमुत्पादयति। यद्यपि वक्ष्यमाणात् स्वभावादेव भिद्यते तदपि बहिर्हेतुसापेक्षत्व निरपेक्षत्वाभ्यामेतयोर्भेदस्तु कल्पनीयः। दृश्यते च यथा साधकभक्तानां कस्यचिद्भगवत्यनन्यत्वं तादृशसङ्गशिक्षादिजनितं कस्यचित् साहजिकं च भवति तथेति ज्ञेयम्॥१९॥

ततो यथा—

> **स्फुरन्तु बहवः क्षितौ मधुरिमोर्मिधौरेयका,**
> **विदग्धमणयो गुणावलिपतिंवराभिर्वृताः।**
> **न यस्य शिखिचन्द्रकः शिरसि नैव वेणुर्मुखे,**
> **न धातुरचना तनौ सखि तृणाय मन्ये न तम्॥२०॥**

तात्पर्यानुवाद—"हे सखि! अनेक प्रियाओंवाले, प्रेमशून्य, अतिकठोर चेष्टावाले कामुक श्रीकृष्णका परित्यागकर किसी अन्य महागुणशाली पुरुषमें रति करनी चाहिए।"—इस प्रकार प्रेमकी परीक्षा ले रही नान्दीमुखीसे श्रीराधा कह रही है—"हे सखि! यदि इस पृथ्वीमें माधुर्य तरङ्गवाही अनेकानेक विदग्धचूड़ामणि विराजमान हैं तो हो, पतिके रूपमें नाना प्रकारके गुणोंवाली नारियाँ उनको वरण करती हैं, तो करें, किन्तु जिनके मस्तकपर शिखिपिच्छ नहीं, जिनके मुखमें मुरली नहीं है और देहमें गैरिकादि धातुओंसे तिलकादिकी रचना नहीं है, मैं उन्हें तृणके समान भी नहीं मानती॥"२०॥

लोचनरोचनी—तथैवोदाहरति—स्फुरन्त्विति। तच्चाभिमतं व्यतिरेकेणोपलक्षणद्वारा दर्शयति—न यस्येति। एभिरुपलक्षणैः श्रीमन्नन्दनन्दन एवोपलक्ष्यते नान्यः। तैरप्युपलक्ष्यत एव न तु विशिष्यते। भोजनशयनादौ तैर्विनापि रत्यविच्छेदात्। अन्यस्य तत्परिच्छेदत्वेऽपि रतिविषयत्वायोग्यत्वात्। किंत्वत्र सखि तृणाय मन्ये न

तमिति वैशिष्ट्योक्त्या रतिजन्म व्यज्यते। तदिदं च वचनं स्वमनःप्रेक्षिकां कांचिन्निजसखीं प्रतीति ज्ञेयम्॥२०॥

आनन्दचन्द्रिका—सखि! बहुवल्लभं प्रेमशून्यमतिरुक्षचेष्टं कामिनं श्रीकृष्णं परित्यज्य कस्मिंश्चिदन्यस्मिन् महागुणवति पुरुषे रतिः कार्येति प्रेम परीक्षमाणां परिहसन्तीं नान्दीमुखीं श्रीराधा प्राह—स्फुरन्त्विवति। धौरेयका माधुर्यतरङ्गभावं वहन्त इत्यर्थः। विदग्धमणयो विदग्धश्रेष्ठा गुणावलय एव पतिंवराः स्वयमेव पतिं वृण्वत्यस्ताभिर्वृता इति महतोऽपि गुणान् ये नापेक्षन्ते किन्तु गुणा एव सर्वे स्वयमत्याग्रहेण यानाश्रयन्ते इत्यर्थः। एवंभूताश्च वैकुण्ठनाथरघुनाथादयो ये तेषां मध्ये कस्मिंश्चिदपि मे रुचिर्नोत्पद्यत इति भावः। रुचेः पुनः का वार्त्ता मन्मनोगतं तु शृण्वित्याह—न यस्येत्यादि॥२०॥

अथ तदीयविशेषाः—

तदीयानां विशेषाः स्युः पदगोष्ठप्रियादयः॥२१॥

तत्र पदानि—

पदान्यत्र पदाङ्काः स्युः॥२२॥

ततो यथा—

स्फुरति सखि रथाङ्गाम्भोजदम्भोलिभाजां,
तटभुवि विशदेयं कस्य पङ्क्तिः पदानाम्।
हृदयमघृणघूर्णाघ्रातमुद्घाटयन्ती,
मम तनुलतिकायां कुट्मलं या तनोति॥२३॥

तात्पर्यानुवाद—तदीय–विशेष—पद, गोष्ठ और प्रिय प्रभृति श्रीकृष्ण–सम्बन्धी वस्तुओंको विशेष कहा जाता है। उनमेंसे **पद**—यहाँ 'पद' शब्दसे पदाङ्क समझना होगा। श्रीराधा विशाखासे कह रही है—"हे सखि! यमुनापुलिनमें किस पुरुषके चक्र, पद्म, वज्रादि चिह्नोंसे युक्त ये चरणचिह्नसमूह सुव्यक्त रूपसे अङ्कित हो रहे हैं। अहो! इनके दर्शनसे मेरे हृदयमें अत्यन्त तीव्र वेदनाभरी व्याकुलता उत्पन्न हो रही है। देहलतामें भी मञ्जरियों जैसा पुलकोद्गम हो रहा है॥"२१–२३॥

लोचनरोचनी—तदीयानां विशेषा इति पूर्ववदेषामपि प्रकारविशेषो मन्तव्यः॥२१॥

स्फुरतीति। कस्याश्चिद्दूरतो नवपरिणीतायाः प्रथममेव व्रजेऽस्मिन्नागन्तुं लब्धवृन्दावनप्रवेशायाः साश्चर्यं वचनम्। तत्रापि साश्चर्यं हृदयमिति। अघृणा कृपारहिता। पीडाकर्त्रीति यावत्। तादृशी या घूर्णा व्याकुलत्वं तया घ्रातमाविष्टम्। हृदयमुद्घाटयन्ती व्यक्तीकुर्वती। मम तनुलतिकायां कुट्मलं तद्रूपं रोमाञ्चमातनोति। नहि पीडाजनकत्वाल्लतिकायां कुट्मलं जायत इति भावः॥२३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखां प्रत्याह—अघृणा कृपारहिता या घूर्णा अतिकष्टदात्रीत्यर्थः। तया आघ्रातमाविष्टं हृदयमुद्धाटयन्ती आविष्कृत्य लोकानपि दर्शयन्तीत्यर्थः। तथाभूतापि कुट्मलं हर्षोत्थं पुलकं विस्तारयतीत्यतो महदाश्चर्यमिदं त्वामहं पृच्छामीति स्वरत्युत्पत्तिं सखीं ज्ञापयामास॥२३॥

अथ गोष्ठम्—

गोष्ठं वृन्दावनाश्रितम्॥२४॥

ततो यथा—

मदयति हृदयं सखि व्रजोऽयं,
मधुरिमभिः क्वचिदप्यदृष्टपूर्वैः।
इह विहरति कोऽपि नागरेन्द्र–
स्त्रिभुवनमण्डनमूर्त्तिरित्यवेहि ॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—गोष्ठ—वृन्दावनाश्रित स्थानका नाम गोष्ठ है।

कोई गोप दूसरे किसी गाँवसे किसी गोपीके साथ विवाहकर उस नववधूको अपने निवासस्थान नन्दगाँवमें ले आया। व्रजभूमिके स्पर्शमात्रसे ही उस नवेली वधूके हृदयमें व्रजप्रेम सञ्चरित हो गया। तब वह अपनी सखीसे पूछ रही है—"अरी सखि! इस भूमिमें क्या जादू है कि अन्यत्र अदृष्ट मधुरिमाओंसे युक्त यह व्रज मेरे हृदयको उन्मादित कर रहा है।" तब उस नवेली वधूको समझाती हुई दूसरी सखी कहती है—"हे सखि! तुम निश्चित रूपमें समझो कि इस गाँवमें त्रिभुवन–भूषण मधुरमूर्त्ति कोई नागरेन्द्र विहार कर रहे हैं।"

उल्लिखित उदाहरणका तात्पर्य पहले उल्लेख किया गया है। श्रीकृष्ण सम्बन्धी वस्तु—रति और रति–विषयक आलम्बन—दोनोंको अत्यन्त शीघ्र एक समयमें ही प्रकट कर देती है। यहाँ श्रीकृष्ण सम्बन्धी व्रजपुरने,

नववधूके हृदयमें एक समयमें ही श्रीकृष्ण-विषयक-रति और उसके आलम्बनस्वरूप श्रीकृष्णको प्रकट कर दिया॥२४-२५॥

लोचनरोचनी—तथैव दर्शयति—मदयतीति॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—केनचिद्गोपेन देशान्तरात् परिणीय श्रीमन्नन्दव्रजं स्ववासस्थलमानीता काचिन्नववधूर्व्रजभूमिस्पर्शमात्रेणैव जातभावा स्वसखीं प्रत्याह—मदयति हर्षयति मत्तं करोति तदैवादृष्टाश्रुतचरमपि श्रीकृष्णं हृदि स्फुरितमनुभूय सर्वज्ञेव सखी-मवधापयन्त्याह—इहेत्यादि। अत्र कारणं गोष्ठस्यैव शक्तिविशेषः। यदुक्तम्—"रतिं तद्विषयं चापि भासयेतूर्णमेकदा।" इति॥२५॥

अथ प्रियजनः—

प्रौढभावानुविद्धो यस्तस्य प्रियजनोऽत्र सः ॥२६॥

ततो यथा—

गुरुभिरपि निषिद्धा तामहं यावदक्ष्णोः,
पदमनयमनन्तः श्रेयसां सद्म राधाम्।
तृषितमिव मनो मे प्रेक्षते तन्वि तावद्-
दिशि दिशि विहरन्तीं श्यामलां शालभञ्जीम्॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—प्रियजन—राग, अनुराग, महाभावके द्वारा आक्रान्त व्यक्ति ही इस मधुररसमें श्रीकृष्णके प्रियजन कहलाते हैं।

उदाहरण—श्रीकृष्णसे आशङ्कित होनेके कारण सास-ससुरादि गुरुजनोंके द्वारा मना किए जानेपर भी कोई नवेली वधू श्रीमती राधिकाके दर्शनमात्रसे ही श्रीकृष्णके प्रति जातरति तथा सर्वत्र श्रीकृष्णकी स्फूर्ति होनेसे श्रीकृष्णमें ही आविष्ट हो गई। उसकी व्याकुलताका कारण पूछे जानेपर वह अपनी सखीसे कह रही है—"हे कृष्णाङ्गि! गुरुजनोंके द्वारा निषेध किये जानेपर भी जबसे मैंने उस निखिल मङ्गलमयी श्रीराधिकाका दर्शन किया है उसी समयसे मेरा मन प्यासेकी भाँति चारों ओर विहारकारिणी किसी श्याम प्रतिमाका दर्शन कर रहा है॥"२६-२७॥

लोचनरोचनी—पूर्ववदेव कस्याश्चिन्नवागतायाः श्वशुरगृहं श्रीवृषभानुगृहानुगतमेव। श्रीव्रजराजगृहं त्वतिदूरम्। गोष्ठस्याष्टक्रोशीपरिमितत्वात्। ततस्तस्या गुरुभिः श्रीकृष्णप्रस्तावस्तस्याश्चित्तक्षोभक इत्यालक्ष्यासौ ततो निवारितः। ततश्च पितृगेहमागतायां श्रीराधिकायां तस्यास्तत्सङ्गिनीनां च जाड्यादिमयीमवस्थामाशङ्क्य तद्दर्शनमपि

निवारितम्। तथापि कथंचिद्दर्शनं प्राप्तायास्तस्या निजसङ्गगतां सखीं प्रति वचनम्—गुरुभिरपीति। तत्रानन्तश्रेयसामिति। तस्यां स्वरुचिं व्यज्यापि किमाश्चर्यमाह—तृषितमिति। शालभञ्जी प्रतिमा॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—हे मदीयस्नुषे, महाकुलप्रसूतापि राधा संप्रत्युन्मत्ताभूदिति तस्याः सङ्गं त्वं माकार्षीरिति श्रीकृष्णादाशङ्कमानाभिः श्वश्र्वादिभिर्निवारितापि काचित् सकृदेव तामवलोक्य जातभावा कामपि स्वसुहृदं वैवश्यकारणं पृच्छन्तीमाह—गुरुभिरिति। तज्जातीयप्रेमसुखमनुभूयाह—अनन्तेति। तस्यामपि स्वाशक्तिं द्योतयामास, तृषितमित्यनुरागं च श्रीकृष्णे। शालभञ्जीं प्रतिमाम्॥२७॥

अथोपमा—

यथा कथंचिदप्यस्य सादृश्यमुपयोगिता॥२८॥

ततो यथा—

नवाम्बुघरमाधुरी स्फुरति मूर्त्तिरुर्वीतले,
कृशोदरि दृशोरियात्पथि किमीदृशो वा युवा।
पुरः सुमुखि गोपतेः सदसि संनिविष्टस्य मे,
पितुर्वितनुते नटो यमनुकृत्य नृत्यक्रमम्॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—उपमा—श्रीकृष्णके किञ्चिन्मात्र सादृश्यको उपमा कहते हैं। किसी गोष्ठाध्यक्षकी सभामें श्रीकृष्णवेशमें लीलानुकरण करनेवाले नर्तकको गवाक्षरन्ध्रसे देखकर गोष्ठाध्यक्षकन्याके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति रति उत्पन्न हो गई। वह अपनी सखीसे अपने स्वाभिप्रायको अभिव्यक्त करने लगी—"हे कृशोदरि! मेरे पिता गोपराजकी सभामें नट जिनका अनुकरण करते हुए अभिनय कर रहा है, पृथ्वीमें उसके समान नवजलधर मूर्त्ति धारणकारी किसी युवकको क्या तुमने देखा है?"॥२८–२९॥

लोचनरोचनी—ततो यथेति। सेयं प्राचीन तदीयसाधनातिशयभाविता रतिस्तमुपमानं सोपानं विधायोपमेये एव चित्तं प्रापयन्ती रञ्जयन्तीति भावः॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—अन्यदेशीयगोष्ठाध्यक्षस्य कस्यचिद्गोपस्य कुमारी सभायां नृत्यन्तं कमपि नटं जालरन्ध्राद्वीक्ष्य स्वसखीं सविस्मयमाह—नवाम्बुधरेति। किंशब्दः प्रश्ने। हे कृशोदरि! तव दृशोः पथि ईदृशो युवा किमियात् प्राप्नुयात्? तेन त्वं यदि तं परिचिनोषि तदा तद्देशमेव त्वं मामपि नय यथा तमेव दृष्ट्वा जीवेयमिति स्वरत्युद्भवो व्यञ्जितः। यमनुकृत्य यदीयस्वभावचेष्टादिकमभिनयेन प्रदर्श्येत्यर्थः॥२९॥

यथा वा—

स्फुरत्येष प्रेयानिव नवघनस्तस्य सुभगे,
शिखण्डानां श्रेणीं तुलयति सुरेन्द्रायुधमिदम्।
असौ वासो लक्ष्मीरिव विहरते विद्युदिति सा,
निशम्योदस्त्राक्षी त्वयि निहितबुद्धिर्निवसति॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—अनुकरण करनेवालेके सादृश्यका उदाहरण प्रस्तुतकर इस समय अङ्गकान्ति प्रभृतिके सादृश्य दर्शनसे भी रति प्रादुर्भावका उदाहरण दे रहे हैं। कोई गोपी जब अपनी सखीके मुखसे सामान्यतः श्रीकृष्णके उत्कर्षादिको श्रवणकर परमोत्सुक हो उनके आकार वैशिष्ट्यादिके विषयमें पूछने लगी। तब उत्तरमें उस सखीने नवीन श्याममेघादिके समान श्रीकृष्णकी अङ्गकान्तिका निरूपण किया। इसे सुनकर श्रीकृष्णके प्रति उसके हृदयमें भाव उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर उसने क्या किया, वृन्दा श्रीकृष्णसे बतला रही है—"हे सुन्दरि! हे सौभाग्यवति! इस नवजलधरने उन्हीं प्रियतमकी अङ्गकान्तिको धारण किया है, यह इन्द्रधनु उनके सिरपर धारण किए हुए मयूरपिच्छकी भाँति है, यह विद्युत् भी उनके वसनोंकी पीतशोभाको धारण कर रही है।" मेरे मुखसे इतना सुनते ही उसी समयसे मेरी प्रियसखीने तुममें मन, बुद्धि, प्राण सब कुछ समर्पण कर दिया है तथा नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए अपने वक्षःस्थलको भिंगो रही है॥"३०॥

लोचनरोचनी—तादृशनायकतया तादृशरञ्जनायोग्यस्यापि तस्य तदनुकर्तुः सोपानतामात्रं किमुत जडपदार्थतया तदयोग्यस्येत्याह—स्फुरत्येष इति॥३०॥

आनन्दचन्द्रिका—कृत्रिमं सादृश्यमुदाहृत्य लौकिकं सादृश्यमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। स्वकारितां कस्याश्चिद्व्रजबालाया रत्युत्पत्तिं श्रीकृष्णं विज्ञापयन्ती वृन्दा प्राह—स्फुरदिति। सा एवं त्वयि निहितबुद्धिरर्पितचित्ता निवसति। ननु तदुक्तलक्षणः स प्रेयान् कीदृश इत्यपेक्षायामाह—एष दृश्यमानो नवघनः प्रेयानिव श्रीकृष्ण इवेत्यादि॥३०॥

अथ स्वभावः—

बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोऽर्थः प्रकीर्त्तितः।
निसर्गश्च स्वरूपं चेत्येषोऽपि भवति द्विधा॥३१॥

तत्र निसर्गः—

> **निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते।**
> **तदुद्बोधस्य हेतुः स्याद्गुणरूपश्रुतिर्मनाक्॥३२॥**

तात्पर्यानुवाद—स्वभाव—जो अभियोग आदि बाह्य हेतुकी अपेक्षा न कर स्वतः ही आविर्भूत हो जाता है, उसे स्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव 'निसर्ग' और 'स्वरूप' भेदसे दो प्रकारका होता है॥३१॥

निसर्ग—सुदृढ़ अभ्याससे उदित संस्कारको निसर्ग कहते हैं। यह निसर्ग श्रीकृष्ण-विषयक रूप, गुण, श्रवण उद्दीपकका हेतु होनेपर भी अत्यन्त अकिञ्चित्कर होता है। जन्मान्तरीय संस्कारवशतः स्वयं प्रकाशित हुआ करता है॥३२॥

लोचनरोचनी—बहिर्हेत्वनपेक्षीति। स्वत एव क्रमादाविर्भवतीत्यर्थः॥३१॥

निसर्ग इति साधारणतल्लक्षणम्। अत्र तु मधुररतिसंबन्धो ज्ञेयः। तथा च सति बहुभिर्जन्मभिः सुचिरसिद्धत्वात् सुदृढो यो मधुररत्या आभासः पुनःपुनराधिक्येनोदयस्तस्य जन्मान्तरबाल्यादिना तिरोधानेऽपि तज्जन्यस्तदीयो यः संस्कारः सूक्ष्मतया स्थितः स निसर्ग इत्यर्थः। यथा सुषुप्तौ शुभाशुभतत्कर्मण इति भावः। ततश्च तस्य संस्काररूपेण स्थितस्य मधुररत्याख्यस्य भावस्योद्बोधे वर्द्धमानावस्थत्वे श्रीकृष्णगुणरूपश्रुतिर्यद्धेतुः स्यात्तन्मनागेव स्यादनावश्यकतयैव स्यादित्येवार्थः। बहिर्हेत्वनपेक्षीति सामान्य-लक्षणस्याव्याप्तेरिति भावः॥३२॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र रतेः कारणेषु अभियोगादिषु मध्ये अथ स्वभावस्यापि कारणत्वमनन्वयोपमैवोच्यते रतेर्निर्हेतुत्वज्ञापनार्थमेव। नहि स्वाभाविकी रतिरियमित्युक्ते रतेर्हेतुजन्यत्वं प्रतीयते। किं च "प्रोक्ता अत्राभियोगाद्याः" इति वक्ष्यमाणवाक्येनाभियोगादी-नामपि कारणत्वं निरस्यते इति सर्वस्या अपि रतेर्वस्तुतो निर्हेतुत्वमेवेति सिद्धान्ते व्यञ्जिते लोकोक्तिरीत्यैवैते हेतव उक्ता इति। ननु बहिर्हेतवः परसंबन्धगा उपमा तदीयजनादयः, अन्तर्हेतवश्चानुषङ्गिकतच्छ्रवणादयः। तत्र बहिहेत्वनपेक्षीत्युक्ते अन्तर्हेतुत्वमपेक्षत इति लभ्यते। सत्यमस्य निसर्गरूपेऽन्तर्हेत्वाभासस्यापेक्षा क्वचित् स्यादेव इत्यत आह—तदुद्बोधस्येति। तदीयोद्बोधस्य हेतुरपि तस्यापि हेतुरित्यर्थः। सुदृढाभ्यासजन्य इति। सुदृढाभ्यासोऽपि नित्यसिद्ध एव ज्ञेयः। तज्जन्यसंस्कारोऽपि प्रवाहपरम्परयैव। तथा स च लीलाशक्तिद्वारैव श्रीकृष्णरूपगुणश्रवणमुपस्थापयतीति। नाममात्रेणैव हेतोर्हेतुतेत्यर्थः। अतएव मनागिति पदप्रयोगः॥३१-३२॥

ततो यथा—

स तर्जतु बताग्रजस्त्यजतु मां सुहृन्मण्डलः,
पिता किल विलज्जतां घनदृगम्बुरम्बास्तु मे।
मनः सखि समीहते श्रुतगुणश्रियं सर्वथा,
तमेव यदुपुङ्गवं न तु कदापि चैद्यं नृपम्॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—गुणश्रवण हेतु स्वभाव—"हे सखि! तुम कुलीन कन्या हो। इसपर भी परम लज्जावती हो। क्या तुम अपने माता-पिता, भाई इत्यादिकी सम्मतिके विरुद्ध किसी परपुरुषको आसक्ति-व्यञ्जक कामलेख भेजना अनुचित नहीं समझती हो?" प्रेमपरीक्षाके लिए ऐसा कहनेवाली अपनी सखीके प्रति रुक्मिणिदेवी अपनी आत्मनिष्ठाको निवेदन कर कह रही हैं—"हे सखि! मेरा भैया मुझे मारे-पीटे, सुहृदवर्ग मेरा परित्याग करें, तो करें। पिता भी लज्जित होते हैं, तो हों। मेरी मैया रोदन करती हैं, तो करें। किन्तु नारदके मुखसे जिनके गुणोंका मैंने श्रवण किया है, उन यदुत्तम श्रीकृष्णमें ही मेरा मन सब प्रकारसे अनुरक्त हो गया है। मैं महाराज शिशुपालके प्रति किसी प्रकारसे अनुरक्त नहीं हो सकती॥"३३॥

लोचनरोचनी—अतः श्रुतगुणश्रियमित्युद्दीपनमेव न तूत्पादकम्। उत्पादकस्तु तमेवेति, यदुपुंगवमित्यनयोर्वाच्य एव ज्ञेयः। तदिदं च वाक्यं श्रीरुक्मिण्या एव॥३३॥

आनन्दचन्द्रिका—कुलकन्यायाः परमलज्जावत्यास्तव बन्धुजनानभिमते पुरुषे स्वाशक्तिव्यञ्जककामलेखप्रेषणमनुचितमिति ब्रुवाणां प्रेमपरीक्षमाणां स्वसखीं प्रति श्रीरुक्मिणीदेवी स्वनिष्ठामावेदयन्त्याह—स तर्जत्विति। श्रुतगुणश्रियमिति। नारदादिमुखाद्धर्मादिश्रवणप्रसङ्ग एव। तद्गुणस्यापि श्रवणं स्वनित्यसिद्धस्वभावोद्-बोधकम्॥३३॥

यथा वा—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीरुक्मिणिमें निसर्गतः उत्पन्न रतिका उदाहरण दिखलाकर इस पद्यमें अत्यन्त प्रचुर रतिवाली व्रजदेवियोंमें रतिका

दिग्दर्शन करानेके लिए उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्वकी भाँति प्रेम परीक्षा करनेवाली अपनी सखीके प्रति कोई व्रजसुन्दरी कह रही है—"हे सखि! श्रीकृष्ण कुरूप हों या सुन्दरशिरोमणि ही हों, गुणहीन हो या परम श्रेष्ठ गुणचूड़ामणि ही हों, मेरे प्रति द्वेषभावको प्रकाश करें या करुणासागर ही हों, अब तो श्याम ही मेरे एकमात्र गति हैं॥"३४॥

लोचनरोचनी—तस्या नित्यप्रेयसीत्वेन स्वरूपसिद्धामेव रतिं वितर्क्यान्यस्यामेव नैसर्गिकीं रतिमुदाहरन् गुणरूपश्रवणस्यानावश्यकतामेव दर्शयति—असुन्दर इति। "स्फुरन्तु बहवः क्षितौ" इत्यत्र योऽभिमान उदाहृतः स खलु विनापि रतिं गुरूपदेशादिजाताग्रहमात्रमयः। तेन च जातरतिस्तत्रोक्ता। अत्र त्वभिमानसमवेततयैवानादि-तोऽनेकजन्मतो वा सिद्धेति भेदः॥३४॥

आनन्दचन्द्रिका—गुणश्रवणमुदाहृतं रूपश्रवणमुदाहरति—यथा वेति। पुरसुन्दर्यां निसर्गमुदाहृत्य व्रजसुन्दर्यामुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। यद्वा गुणरूपादिश्रवणहेतुत्वमनावश्य-कमिति ज्ञापयितुमाह—यथा वेति। पूर्ववत् प्रेम परीक्षमाणां स्वसखीं प्रति काचिदाह—असुन्दर इति। श्याम इति। अनेन रूपस्य श्रुतचरत्वं व्यक्तम्॥३४॥

अथ स्वरूपम्—

अजन्यस्तु स्वतःसिद्धः स्वरूपं भाव इष्यते।
एतत्तु कृष्णललनोभयनिष्ठतया त्रिधा॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—स्वरूप—अनुत्पाद्य अतः स्वतःसिद्धभावको स्वरूप कहते हैं। अनुत्पाद्यका अर्थ है जिसको उत्पन्न नहीं किया जाता। यह—श्रीकृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ और उभयनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारका होता है॥३५॥

लोचनरोचनी—अजन्यो भावः स्वरूपमिष्यत इत्यन्वयः। नन्वजन्यः खल्वभाव एव स्यात्। तत्राह—स्वतःसिद्ध इति। चन्द्रादीनामाह्लादकत्वादिवदिति भावः। तत्र चन्द्रस्याह्लादकता सामान्येऽप्याश्रयिविशेषांश्चकोरकुमुदसमुद्रचन्द्रकान्तादीन् प्राप्य तद्विशेषा उदयन्ते येन तेषामास्वादप्रकाशसमुच्छूनता द्रवतारूपा भावा मिथो विलक्षणा दृश्यन्त इति तत्तद्धेतवस्तद्विशेषा वितर्क्यन्ते। तद्वच्छ्रीकृष्णस्य तदाश्रयिणां च स्वरूपत एव तद्भावहेतुत्वे स्थिते अत्र तु रसे श्रीकृष्णनिष्ठो ललनानिष्ठस्तदुभयनिष्ठश्च स्वरूपविशेषो द्रष्टव्य इत्याह—एतत्त्विति। तत्र ललना द्विविधाः—रविविहीनास्तद्युश्चेति। तत्र प्रथमासु रतियुक्तानां सम्बन्धेनोदयन् श्रीकृष्णस्यैव स्वभावो हेतुः। यथाग्रत इयं व्यक्तिरिति। अन्यद्वयं च स्पष्टत्वमेव यास्यति। तदेवाह—त्रिधेति॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वतःसिद्धो भावो रत्युत्पादको वस्तुविशेषः स्वरूपमिष्यत इत्यन्वयः। अजन्यस्त्विति विशेषणं निसर्गव्यावृत्त्यर्थम्। ततश्चायमर्थः—तु भिन्नोपक्रमे। अजन्य इति विशेषणस्य वैयर्थ्यादजन्यत्वेन न प्रतीयमान इत्यर्थः। तेन श्रीकृष्णरूपगुणादिभिर्जन्यत्वेन प्रतीयमानो नित्यसिद्धो भावो निसर्गः, तैरजन्यत्वेनैव सदा सुस्थिरं तु स्वरूपमिति भेदो द्रष्टव्यः। ननु साधनसिद्धासु श्रीकृष्णकान्तासु जन्यत्वेन निसर्गः, नित्यसिद्धासु तासु जन्यत्वेन स्वरूपमिति किमिति स्पष्टं न व्यवस्थीयते। मैवं, पुरसुन्दरीणां रतेः समञ्जसत्वेन ललनानिष्ठस्वरूपासंभवात्तासु निसर्ग एव वक्तुमुचितः। न च तासां सर्वासामेव साधनसिद्धत्वं वक्तुं शक्यमतो निसर्गः स तर्जीत्वित्यादिना नित्यसिद्धायां श्रीरुक्मिण्यामेवोदाहृतः। तेन महाक्षयकूपजलसमुद्र-जलयोर्जन्यत्वस्वतःसिद्धत्वे इव निसर्गस्वरूपयोर्जन्यत्वस्वतःसिद्धत्वे ज्ञेये॥३५॥

तत्र कृष्णनिष्ठम्—

कृष्णनिष्ठं स्वरूपं स्याददैत्यैः सुगमं जनैः॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णनिष्ठ स्वरूप—दैत्य स्वभावापन्न व्यक्तियोंके अतिरिक्त श्रीकृष्णनिष्ठ स्वरूप सभीको अनायास लभ्य है॥३६॥

लोचनरोचनी—कृष्णनिष्ठं स्वरूपमिति सामान्यतो लक्षितमपि रसेऽस्मिन् विशेषतोऽवगन्तव्यम्। तर्हि कथं केषांचित्तत्र रतिर्नोदेति। तत्राह—अदैत्यैरिति। "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्य्ययः॥" इति। विष्णुधर्माग्नेयाद्यनुसारेण दैत्यप्रकृतिभ्योऽन्यैरित्यर्थः। "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" इति श्रीभगवदुपनिषद्भ्यः॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—एतत् स्वरूपम् श्रीकृष्ण एवाधारे नितरां तिष्ठतीति कृष्णनिष्ठं स्वरूपं स्वद्रष्टृजनमात्ररत्युत्पादको वस्तुविशेषः। तच्चादैत्यैर्दैत्यप्रकृतिभ्योऽन्यैर्जनैः सुगमं सुप्रापं दैत्यप्रकृतिभिर्दुष्प्रापं पेचकैः सूर्यस्वरूपमिवेत्यर्थः। यदुक्तं स्वयं भगवतैव—"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्यय:॥" इति॥ "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥" इति "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः॥" इति च॥३६॥

ततो यथा—

इयं व्यक्तिर्गोपी न भवति पुरः किन्तु कुतुकी,
हरिर्नारीवेशो यदखिलसुरस्त्रीर्धुवति नः।

जगन्नेत्रश्रेणीतिमिरहरणायाम्बरमणिं,
विना कस्यान्यस्य प्रियसखि भवेदौपयिकता॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—अपनी प्रेयसीका मान उपशम करनेके लिए श्रीकृष्ण नारीवेश धारणकर व्रजकी बीथीमें गमन कर रहे हैं। विमानचारिणी देवियाँ उन्हें अवलोकनकर कहने लगी—"हे देवि! सामने जिसे तुम देख रही हो, यह व्यक्ति गोपी नहीं है। लगता है किसी कौतुकवश श्रीकृष्णने नारीका वेश धारण किया है। क्या ही आश्चर्यकी बात है? हम देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, इनका दर्शन पाकर हमारा हृदय भी प्रकम्पित होने लगा है। हे प्रियसखि! जगत्–वासियोंके नेत्रोंके अन्धकारका नाश करनेके लिए सूर्यके अतिरिक्त अन्य किसकी योग्यता है?"

उक्त उदाहरणमें दैत्य–स्वभावापन्न लोगोंको छोड़कर सुरवनिताओंका श्रीकृष्णनिष्ठ स्वरूपानुभव सुख स्वतः ही उत्पन्न हुआ॥३७॥

लोचनरोचनी—अथ प्रस्तुतत्वाद्विशेष एवोदाहरति—ततो यथेति॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वप्रेयसीमानोपशमनार्थं स्त्रीवेशधारिणं श्रीकृष्णं व्रजनगरवीथ्यां चलन्तमालोक्य विमानचारिण्यो देव्यः परस्परं स्ववितर्कमूचुः—इयमिति। धुवति अन्तःकन्दर्पप्रेरणेन कम्पयतीति स्वस्वरत्युत्पत्तिं ज्ञापयामासुः। न केवलमस्मान् सुरस्त्रीरेव रतिमतीः करोति अपि तु जगत्यस्मिन् सर्वाण्येव स्त्रीपुंसमात्राणि रतिमन्ति करोतीत्याहुः—जगदित्यादि। औपयिकता योग्यता, व्रजपुरसुन्दरीषु ललनानिष्ठ–स्वरूपनिसर्गयोरपि रत्युत्पादकयोः सत्त्वात् पार्थक्येन ज्ञापनार्थं तद्विनाभूतासु सुरस्त्रीष्वेव श्रीकृष्णनिष्ठं स्वरूपमुदाहृतम्॥३७॥

अथ ललनानिष्ठम्—

स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेत्।
अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद्द्रुतं रतिम्॥३८॥

ततो यथा—

जिहीते यः कक्षां क्वचिदलमदृष्टाश्रुतचर–
स्त्रिलोक्यामस्तीति क्षणमपि न संभावनमयीम्।
घनश्यामं पीताम्बरमहह संकल्पयदमुं,
जनं कंचिद्गोष्ठे सखि मम वृथा दीर्यति मनः॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—ललनानिष्ठ स्वरूप—श्रीकृष्णके दर्शन, श्रवण करनेसे पहले ही स्वतः स्फूर्त श्रीकृष्णका अनुभव होनेके कारण श्रीमतीराधाजीको प्रतिदिन मानसिक अस्थिरताका बोध होता था। उस समय उनके हृदय उदघाटनमें परम चतुरा ललिता द्वारा मानसिक दुःखका कारण जिज्ञासा करनेपर श्रीमतीने कहा—"हे सखि ललिते! जो कभी भी मेरे नेत्रगोचर नहीं हुए, कभी भी जिनका गुण मैंने श्रवण नहीं किया, घनश्याम वर्णका कोई व्यक्ति पीताम्बर धारण करके मुझे बरबस अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। क्या त्रिभुवनमें ऐसा कोई व्यक्ति है?—क्षणकालके लिए भी मेरी वैसी प्रतीति न होनेपर भी किन्तु हाय! इस गोष्ठमें घनश्यामल पीताम्बरधारी किसी व्यक्तिको स्वरमणके रूपमें प्राप्त करनेके लिए मेरा मन वृथा ही विदीर्ण हो रहा है॥"३८–३९॥

लोचनरोचनी—स्वरूपं ललनानिष्ठमिति। इक्षुणालीनामिव जन्मत एव मधुररसयोग्यता। कृष्ण इति। तादृशीनां प्राचीनसंस्कारेण तदेकसमवायित्वात्॥३८॥

अतिविदूरस्थितायाः कस्याश्चिद्गोपकन्याया वचनम्—जिहीत इति। न जिहीत इत्यन्वयः। संभावनामयीं कक्षां न प्राप्नोतीत्यर्थः। कक्षा प्रकोष्ठः। संभावनास्पदताम्। गोष्ठ इति गोष्ठविशेष इत्यर्थः॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—ललनानिष्ठमिति। ललनाश्चात्र गोप्य एव ज्ञेयाः। स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेदिति। निसर्गो यथा निजोद्बोधकं रूपगुणश्रवणं मनागपेक्षते तथा नेत्यर्थः। अतिबलिष्ठत्वादिति भावः। तदेवाह—अदृष्टेऽपीति। कृष्णे कृष्णे एवेति व्याख्येयम्। जन्मारभ्य श्रीकृष्णदर्शनश्रवणादिकं विनापि तत्रैव रतिं कुर्यात्। स्वयमेव श्रीकृष्णस्फूर्तेरिति भावः। अत्र कृष्ण एवेति सामान्यतः पुरुषविषयकरत्युत्पादकललनानिष्ठं स्वरूपं व्यावृत्तम्॥**३८**॥

अतिदूरस्थिता कापि गोपकुमारी किम्वा श्रीराधैव श्रीकृष्णदर्शनश्रवणात् पूर्वमेव स्वयं स्फुरितं श्रीकृष्णमनुभूय जातभावा औन्मनस्यकारणं पृच्छन्तीः सखीः प्रत्याह—यो जनः त्रिलोक्यां क्वचिदपि देशे काले वा अस्तीति संभावनमयीं कक्षां पदवीं क्षणमपि न जिहीते न प्राप्नोति तमेव जनं संकल्पयत् स्वरमणत्वेन वरीतुमिच्छत् मम मनो वृथा दीर्यतीति। तं विना अन्यस्मिन् न स्वीकारात्, तस्य च त्रिलोक्यामसत्त्वात् संकल्पस्याप्यफलिष्यत्वादिति भावः॥३९॥

अथोभयनिष्ठम्—

तत्स्यादुभयनिष्ठं यत्स्वरूपं कृष्णसुभ्रुवोः॥४०॥

ततो यथा ललितमाधवे (२/१२)—

सहचरि हरिरेष ब्रह्मवेषं प्रपन्नः, किमयमितरथा मे विद्रवत्यन्तरात्मा।
शशधरमणिवेदी स्वेदधारां प्रसूते, न किल कुमुदबन्धोः कौमुदीमन्तरेण ॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—उभयनिष्ठ स्वरूप—श्रीकृष्ण और गोपी—इन दोनोंके स्वरूप जिस प्रकार युगपत् उद्भासित हों वही उभयनिष्ठ स्वरूप हैं। अपनी वधूको सूर्यकी पूजा करानेके लिए किसी ब्राह्मण बालकको लानेके लिए जटिलाके द्वारा अनुरोध किए जानेपर कुन्दलता श्रीकृष्णको वटुके रूपमें सज्जित कर ले आई। उनके दर्शनसे ही उभयनिष्ठ स्वरूपवशतः क्षुब्धचित्ता श्रीराधा उनमें मनकी आसक्तिके द्वारा ही ये श्रीकृष्ण ही हैं, ऐसा निर्णयकर ललितासे कहने लगी—"हे सखि! ये स्वयं श्रीहरि ही हैं। ब्राह्मणके रूपमें यहाँ उपस्थित हुए हैं। ऐसा न होनेसे मेरी अन्तरात्मा क्यों द्रवीभूत होती? देखो, चन्द्रज्योत्स्नाके बिना क्या कभी चन्द्रकान्त-शिलामयवेदी स्वेदधारा बहाती है?" [यहाँ श्रीचक्रवर्तिपादके द्वारा परिवेषण—श्रीकृष्णनिष्ठस्वरूप सज्जनमात्रको ही रति प्रदान करता है। अदृष्ट, अश्रुत होनेपर भी श्रीकृष्णके ललनानिष्ठ स्वरूपमें स्फूर्ति होनेकी क्षमता है एवं श्रीकृष्णदर्शन मात्रसे ही महाद्रवीभूतता और गोपीक्षोभातिशयकारिता—ये दोनों उभयनिष्ठ स्वरूपमें हैं।] ॥४०-४१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णसुभ्रुवोर्द्वयोरेव स्वरूपं युगपद्यत्रोपलभ्यत इति शेषः ॥४०॥

सूर्य्यपूजाप्रसङ्गे ब्राह्मणवेशधारिणं श्रीकृष्णमालोक्य तत्कालमविज्ञाततत्त्वापि तद्दर्शनजेन स्वीयरत्युद्भवेनैव तं श्रीकृष्णमनुमिमाना श्रीराधा ललितां प्रत्याह—सहचरीति। ब्रह्मवेशं ब्राह्मणवेशम्। ननु केन प्रकारेण ब्राह्मणवेशमप्येनं श्रीहरिं निश्चिनोषीत्यत आह—किमयमित्यादि। अन्यथानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणमिति भावः। एतेन कृष्णनिष्ठं स्वरूपमभिव्यक्तम्, ललनानिष्ठं स्वरूपमपि तदैवाभिव्यक्तम्। अर्थान्तरन्यासेन स्पष्टीभूतम्—शशधरेति। चन्द्रकान्तमणिनिर्मिता वेदी चन्द्रस्य ज्योत्स्नां विना न स्विद्यतीति। अत्र चन्द्रनिष्ठं स्वरूपमाह्लादकत्वं प्रकाशशैत्ययोः साहित्यं च। तच्च सर्ववस्तुगतमेवातश्चन्द्रकान्तमणावपि दृष्टम्। स्वेद यस्य तु चन्द्रकान्तमणिनिष्ठमेव स्वरूपम्। अन्यत्र मृत्पाषाणादिषु तददर्शनात्। स च स्वेदश्चन्द्रं विना चन्द्रकान्तमणेरन्यत्र न भवति चन्द्रकान्तमणेश्चन्द्रमात्रद्राव्यस्वरूपत्वं यथा तथा च चन्द्रकान्तद्रावकत्वलक्षणः स्वरूपविशेषश्चन्द्रस्याप्यङ्गीकर्तव्य इति चन्द्रकान्तचन्द्रयोरुभय-निष्ठस्वरूपमिव गोपीकृष्णयोरुभयनिष्ठं स्वरूपं कृष्णनिष्ठललनानिष्ठाभ्यां स्वरूपाभ्यां

पृथगेवावगन्तव्यम्। अतएव भेदत्रयं कृतम्। तथा हि सज्जनमात्ररतिदायकत्वं कृष्णनिष्ठं स्वरूपं अदृष्टाश्रुतस्यापि कृष्णस्य स्फूर्त्तिमत्त्वं ललनानिष्ठं स्वरूपं श्रीकृष्णदर्शनमात्रद्रौत्यातिशयवत्त्वं गोपीक्षोभातिशयकारित्वं चेति द्वयमुभयनिष्ठस्वरूपम्। किं च चन्द्रं प्राप्य कुमुदचन्द्रकान्तचकोरसमुद्रादयः प्रफुल्लत्वद्रवत्वरसास्वाद-समुच्छूनत्वादिधर्मवन्तो भवन्ति तथा चन्द्रोऽपि तान् प्राप्य तत्तद्धर्मप्रदो भवति। एवं गोपीजनविशेषश्रीकृष्णसाहित्यादुभयनिष्ठस्वरूपस्य बहुभेदकं तारतम्यं ज्ञेयम्। अत्र स्वरूपस्य भेदत्रयं तच्च ज्ञानव्युत्पत्त्यर्थमेव कृतम्। वस्तुतस्तु ललनानिष्ठस्वरूपमेकमेव व्रजदेवीषु विवक्षितं तदेव निसर्गादुत्कृष्यते, अन्यद्वयं तूद्दीपनत्वे एव पर्याप्नोति॥४१॥

प्रोक्ता अत्राभियोगाद्या विलासाधिक्यहेतवे।
रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—इस श‍ृङ्गाररस प्रकरणमें रतिके आविर्भावमें अभियोगादिको जो कारणके रूपमें कहा गया है, वह लौकिक रीतिके अनुसार ही समझना चाहिए। वस्तुतः अभियोगादिका पर्यवसान उद्दीपनके आधिक्यसे ही होता है; क्योंकि गोकुल सुन्दरियोंकी रति प्रायः स्वभावसिद्धा है। [चक्रवर्तिपाद—श्रीराधादि किसी-किसी अत्यन्त श्रेष्ठा गोपीमें स्वरूपजा-रति, दूसरी किसी गोपीमें निसर्गजा-रति भी है। कारिकामें 'प्रायः' पदकी ध्वनि यह है कि अर्वाचीन कल्पमें साधकशरीर देवाङ्गना प्रभृतिमें निसर्ग और स्वरूपमें स्वभावसे पूर्वोक्त अभियोगादि रति उत्पत्तिके कारण हुआ करते हैं। पुर-सुन्दरियोंमें किन्तु निसर्गजा रति ही होती है। पुर अर्थात् द्वारका। उनमें भी साधनसिद्ध और किसी-किसीमें (स्वकीयाभाव वासितचित्तमें) अभियोगादिसे रतिका प्रादुर्भाव होता है।]॥४२॥

लोचनरोचनी—ननु गोकुलसुभ्रुवः प्रायो नित्यप्रेयस्य एव, ततस्तासां लीलाशक्तिप्रापितजन्मान्तरीणां स्वभावजैव रतिः स्यात्, तर्हि कथं तासामपि क्वचिदभियोगादयो रतिहेतुतया वर्ण्यन्ते। तत्राह—प्रोक्ता इति। अभियोगो रत्यभिव्यञ्जना तदाद्या रूपगुणानुभवादयः॥४२॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं रत्युत्पत्तेः कारणानि लोकोक्तिरीत्यैवोक्तानि। वास्तवं सिद्धान्तमाह—प्रोक्ता इति। विलासाधिक्येति। अभियोगादीनामुद्दीपनत्वाधिक्यमेव वस्तुतः फलितमिति भावः। स्वभावजेति। कासांचिदतिश्रेष्ठानां श्रीराधादीनां स्वरूपजा

अपरासां कासांचिन्निसर्गजा च स्यादित्यर्थः। प्रायः पदेनेति कासांचिदर्वाचीनकल्प एव साधनसिद्धानां निसर्गस्वरूपयोः संभवादभियोगादय एव रत्युत्पत्तेः कारणानि भवन्तीति ज्ञापितम्। पुरसुभ्रुवां तु निसर्गजैव, तास्वेव साधनसिद्धानां कासांचिदभियोगादिजा चेति ज्ञेयम्॥४२॥

साधारणी निगदिता समञ्जसाऽसौ समर्था च।
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः॥४३॥

मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता ।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च॥४४॥

तात्पर्यानुवाद—रति आविर्भावके प्रकारको दिग्दर्शन कराकर इस रतिका तारतम्यपूर्ण भेद दिखला रहे हैं। साधारणी, समञ्जसा और समर्था—ये तीन प्रकारकी रति होती है।

साधारणी—कुब्जादिमें मणिकी भाँति दुष्प्राप्या, **समञ्जसारति**—रुक्मिणि आदि महिषियोंमें चिन्तामणिकी भाँति अत्यन्त दुष्प्राप्या और **समर्थारति**—गोकुलदेवियोंमें कौस्तुभमणिकी भाँति अनन्य-लभ्या होती है।

तात्पर्य यह कि उल्लिखित रति तीन प्रकारकी होती है। साधारणी, समञ्जसा और समर्था। कुब्जामें साधारणीरति, महिषियोंमें समञ्जसारति और व्रजसुन्दरियोंमें समर्थारति होती है। कुब्जाकी रति मणिकी भाँति, महिषियोंकी रति चिन्तामणिकी भाँति और गोपियोंकी रति कौस्तुभमणिके समान महामूल्यवान है। मणि जैसे अत्यन्त सुलभ नहीं होती है, उसीकी भाँति कुब्जादिको छोड़कर साधारणी रति सहज ही सुलभ नहीं होती। चिन्तामणि जैसे अत्यन्त सुदुर्लभ है, उसी प्रकार श्रीकृष्णमहिषियोंके बिना यह समञ्जसारति अन्यत्र सुलभ नहीं होती। कौस्तुभमणि जिस प्रकार जगत्‌में दुर्लभ है, श्रीकृष्णके बिना अन्यत्र लभ्य नहीं होती, उसी प्रकार गोपललनाओंके बिना समर्थारति और कहीं भी प्राप्त नहीं होती॥४३–४४॥

लोचनरोचनी—साधारण्यादीनां लक्षणं तावच्छब्दार्थवशादेव गम्यते। तथा हि—समर्था खलु सैव स्यात् या लोकधर्माद्यतिक्रम्य परमकाष्ठापन्नं पुष्टिमाप्नोति।

तदुक्तं परकीयालक्षणे—"रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा" इति। वक्ष्यते च "इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।" इति। अथ यान्या रतिः समञ्जसाख्या सा खलु लोकधर्मापेक्ष्या, तथोच्यते च। अतएव नातिसमर्था। तत एव च भावान्तिमां सीमां न प्रपद्यत इति भावः। न चास्याः समञ्जसाख्यत्वेन समर्थाया असमञ्जसात्वमायातीति वाच्यम्। तौ हि लोकधर्मौ तन्महिमानुभवाद्बहिर्वर्त्तिनामेव गृहीतौ। ततस्तैस्तदनुसारेणैव तस्याः समञ्जसेत्याख्या कृता। परम पारमार्थिकानुसारेण तु समर्थैव परमसमञ्जसा। तदुक्तम्—"एताः परं तनुभृतः" इत्यादिभिः। अथ यान्या साधारणी सा तु न्यूनत्वादेव तत्तयोच्यते। लोके च तच्छब्दप्रयोगस्तत्र दृश्यते। न्यूनत्वं च संभोगेच्छामूलतया तिरस्कृतत्वात्। तत एवान्यद्वयवत् पुष्टियोग्यत्वाभावात्। संभोगेच्छारत्यादेर्भेदस्तु समर्थालक्षणे व्यक्तीभविष्यति तदनुसारेणैवासां लक्षणानि व्याख्यास्यन्ते। अनन्यलभ्येति अन्येनालभ्येत्यर्थः। तत्र दृष्टान्ते श्रीकृष्णादन्येनेति। दार्ष्टान्तिके गोकुलदेवीभ्योऽन्येनेति व्याख्येयम्॥४३–४४॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं रतेः कारणानि उक्त्वा रतेर्भेदांस्तैरेव तारतम्यं चाह—साधारणी कुब्जादिषु, मणिवत् नातिसुलभेति कुब्जादिभ्योऽन्यैरपि यत्नतो लभ्येत्यर्थः। आदिपदेन देवाङ्गना मथुराङ्गना विदर्भाङ्गनाश्च ग्राह्या इति केचित्। कुब्जायामेव सख्यो दास्यश्चेत्यन्ये। समञ्जसा महिषीषु चिन्तामणिवदभितश्चतुर्दिक्षु सुदुर्लभेति महिषीभ्योऽन्यैः कैश्चिदेव कदाचिदेव महाभाग्यत एव लभ्येत्यर्थः। यदुक्तम्—"अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्॥" इति महाकौर्मवचनम्। समर्था गोकुलदेवीषु कौस्तुभमणिवत् अनन्यलभ्येति। यथा कौस्तुभमणिः श्रीकृष्णादन्यैर्न लभ्यते तथेव गोकुलदेवीभ्योऽन्यैः कैरपि न लभ्येत्यर्थः। "यदुक्तम् नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः" इत्यादि। रागानुगवर्त्मस्थैः साधकभक्तैर्लभ्यत्वे तु तेषां गोकुलदेवीभावभावितत्वेन तदनन्यत्वात्। अत्र कुब्जारतिः साधारणीति समञ्जसासमर्थे असाधारण्ये ज्ञेये। महिषीरतिः समञ्जसेति साधरणीसमर्थे असमञ्जसे ज्ञेये। लोकधर्मानभिमतत्वमेव तयोरसामञ्जस्यम्—यदुक्तम् "उत्तरीयान्तमाकृष्ये"ति, तथा "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति। एवं गोकुलदेवीरतिः समर्थेति, साधारणीसमञ्जसे असमर्थे ज्ञेये। तयोरसमर्थत्वं श्रीकृष्णवशीकारादिषु वक्ष्यमाणरीत्या ज्ञेयम्। किञ्च समर्थेत्यत्र विषयविशेषानुपादानाद्यथा-संभवं विषयोऽवश्यमर्पणीय एव। तथा हि स्वरमणस्य श्रीकृष्णस्य सर्वतोभावेन वशीकारे तद्रूपगुणरूपमाधुर्याणां सामस्त्येनास्वादनायां तथा स्वमाधुर्यानुभाव्यमानस्य तस्यापि मोहने परचमत्कारप्रापणे च स्वतोऽपि महैश्वर्यस्य विस्मारणे तथा साधारणस्य रूपगुणकलामाधुर्याणां सामस्त्येनास्वादनायां नित्यनवीनीकरणे सर्वोत्कर्षे च सामर्थ्यवतीति समर्था॥४३॥

तत्र साधारणी—

नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसंभवा।
संभोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता॥४५॥

यथा दशमे (४८/९)—

सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्युक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—साधारणीरति—जो रति अत्यन्त गाढ़ी नहीं होती। श्रीकृष्णके दर्शन होनेपर ही आविर्भूत होती है और उसमें सम्भोगकी इच्छा ही आदिकारण होती है, उसे साधारणी रति कहते हैं। कुब्जाके घरमें उपस्थित होकर उसके सहित विहारके अन्तमें अपने घर लौटनेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णसे कुब्जाने प्रार्थना की—"हे प्राणनाथ! मेरे साथ यहाँ कुछ दिनों तक निवास करो। क्रीड़ा करो। हे पद्मलोचन! तुम्हारे सङ्गका त्याग करनेकी इच्छा नहीं होती॥"४५–४६॥

लोचनरोचनी—नातिसान्द्रेति व्याख्यास्यते। तादृशत्वान्न्यूनत्वमप्यायातम्॥४५॥
रमस्वेति संभोगेच्छानिदानत्वं व्यक्तम्॥४६॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं साधारणीसमञ्जसासमर्थानामन्वर्थानामपि स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं लक्षणमाह—नातिसान्द्रा नातिनिबिडा। संभोगेच्छया बहुधा विध्यमानत्वेनैवानुमीयत इत्यर्थः। प्रायःपदेन क्वचिच्छ्रवणसंभवापि। संभोगेच्छानिदान इति। यदैवं श्रीकृष्णसौन्दर्यं दृग्गोचरीबभूव तदैवानेन पुरुषेण मे सङ्गो भूयादिति स्वसुखतात्पर्यरत्याकाङ्क्षा अजनिष्ट। ततश्च योऽयं मां संप्रत्येव चाक्षुषसंभोगेनैव निरवधिकमसुखयत्तमेनमहमपि प्रतिक्षणमेव समुचितसपर्यापूर्वकस्वाङ्गसङ्गदानेन सुखयामीति संकल्पमयी रतिरभूत्। कुब्जादीनां तेन साक्षाद्दर्शनसंभवेत्यस्य साक्षाद्दर्शनेन परम्परया संभवो यस्या इत्यर्थो व्याख्येयः॥४५॥

संभुक्ता कुब्जा जातरतिः श्रीकृष्णमाह—रमस्वेति। श्रीकृष्णस्य सुखतात्पर्यं रतिलक्षणम्। तस्याः स्वसुखतात्पर्य्येव मयेत्युक्तिः स्यात्॥४६॥

असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते।
एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—साधरणीरतिमें रतिकी गाढ़ताके अभावमें पृथक् रूपसे सम्भोगकी इच्छा देखी जा रही है। सम्भोग-इच्छाके ह्रास होनेपर रतिका भी ह्रास हो जाता है; क्योंकि इस साधारणीरतिमें सम्भोगकी इच्छा ही तो श्रीकृष्णके प्रति रति उत्पन्न होनेका कारण है॥४७॥

लोचनरोचनी—अस्याः संभोगेच्छानिदानायाः साधारण्याख्याया रतेरसान्द्रत्वात् तदिच्छाविद्धत्वेनानिबिडित्वादसौ संभोगेच्छा विभिद्यते साधारण्या नायिकया या पृथक्तया भाव्यते। तद्धेतुत्वात् संभोगेच्छाहेतुकत्वात्। तस्याः संभोगेच्छाया ह्रासतः एव तस्या रतेरपि ह्रासः स्यादित्यर्थः। ह्रासत इति पदेन तस्या इति संबन्धिपदमत्राक्षिप्यते। एतस्याः संभोगेच्छाया ह्रासत इति व्याख्यायां तद्धेतुत्वादित्येतद्गतस्य तच्छब्देनानुवादो न स्यात्, किंत्वेतद्धेतुत्वादित्येवोक्ते स स्यात्। न ह्येष गच्छति तं पश्येत्युक्ते तयोरभिन्नवाचकता गम्यत इति॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—अस्याः साधारण्या रतेरसान्द्रत्वान्नैबिड्याभावात् अस्याः सकाशात् संभोगेच्छा विभिद्यते पृथक्तया दृश्यमाना तिष्ठति। नन्वेतस्याः साधारण्या रतेस्तारतम्यं वर्त्तते नवेत्याशङ्कायामाह—एतस्याः संभोगेच्छाया ह्रासतो रतेरपि ह्रासः। तत्र हेतुः तद्धेतुत्वात् संभोगेच्छाहेतुकत्वात्। अयमर्थः—कुब्जादिषु यस्याः संभोगेच्छा अधिका तस्या रतिरप्यधिका, यस्या अल्पा तस्या रतिरप्यल्पा कारणतारतम्येनैव कार्यतारतम्यादिति। अत्र एतद्धेतुत्वादिति वक्तव्ये तद्धेतुत्वादिः प्रयोग एतत्पदवाच्यायाः संभोगेच्छाया बहिरङ्गत्वव्यञ्जकः। यथा एष चौर इतो निःसृत्य तद्देशं यास्यत्यतस्त्वं च शीघ्रं तत्र गत्वा तं सुष्ठु दण्डयेति तत्पदेनापि एतत्पदस्य परामर्शो दृष्टः॥४७॥

अथ समञ्जसा—

पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—समञ्जसा—"मैं इनकी पत्नी हूँ, ये हमारे पति हैं।" अपने विषयमें आरोपित यह सम्बन्धविशेषरूप अभिमान ही इसका स्वरूप है। रूप, गुण, चरित्र और कीर्त्तिसमूहके श्रवणसे ही इसका उद्भव होता है। कभी-कभी सुरतलालसा जिसमें पृथक् रूपमें प्रतीतिगम्य होती है, जो निश्चल, निबिड़, प्रगाढ़ होती है, उसीको समञ्जसा कहते हैं॥४८॥

लोचनरोचनी—पत्नीभावेति। लोकधर्मापेक्षिता दर्शिता। गुणादिश्रवणादिजेति तत्प्रादुर्भूतेत्येवार्थः। नतूत्पद्यमानेति "जनी प्रादुर्भावे" इति धातुपाठात्। श्रीरुक्मिण्यादीनां

स्वाभाविकतत्प्रेयसीत्वेन स्वाभाविकतद्भावत्वाच्च। क्वचित् स्वतोऽप्यधिकप्रेमवती साम्याभिलाषे सति भेदिता स्वभावसिद्धप्रेमपरिपाटीतः पृथक्तया दर्शिता संभोगतृष्णा तद्धेतुं वशीकृत्य निजनिकटे स्थापयितुमिच्छा तदुचितहावभावादिपरिपाटीमयी तरङ्गिण्यामिव तरङ्गान्तरायमाणवरिमवीचिर्यस्यां सा। सान्द्रेति तदन्तस्त्वन्य–प्रवेशासामर्थ्यदर्शनया बहिरेव तादृशभावान्तरस्थितिर्दर्शिता॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—पत्नीत्वाभिमानस्य आत्मा बुद्धिर्यतो यस्यां वा सा। "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः" इत्यमरः। यस्यां रतौ पत्नीत्वाभिमानसंबन्धिनी बुद्धिर्भवतीत्यर्थः। पत्नीभावाभिमान एवात्मेवात्मा यस्या इति। तदभिमानस्य तिरस्कारे स्थित्यभावश्च व्यक्त इति श्रीजीवगोस्वामिचरणाः। अत्र पत्नीपदप्रयोगेण "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इत्यनुशासनाद्विप्राग्निसाक्षिकविवाहवत्य एव समञ्जसरतिमत्य इति गान्धर्वविवाहवत्यो गोकुलकन्या व्यावृत्ताः। गुणादिश्रवणादिजेति। साधनसिद्धापेक्षया रुक्मिण्यादिषु नित्यसिद्धासु तु निसर्गादेव प्रादुर्भूता "तदुद्बोधस्य हेतुः स्याद्गुणरूपश्रुतिर्मनाक्" इति व्याख्यानयुक्तेः। क्वचित् कदाचिदेव भेदिता स्वतः सकाशाद्भिन्नीकृत्य स्थापिता संभोगतृष्णा यया सा। सर्वदा तु रत्या तादात्म्यं प्राप्तैव तिष्ठतीत्यर्थः। साधारण्यां रतौ संभोगतृष्णा सदैव पृथक्तया तिष्ठति, समञ्जसायां तु क्वचिदेवेति भेदः। तेन समञ्जसाया रतेरपि क्वचिदंशे संभोगतृष्णाहेतुर्भवतीत्यर्थादायातं पूर्वोक्तयुक्तेरेव। तेन चैवमवसीयते रुक्मिण्यादीनां वयःसंधावेव नारदादिमुखवर्णितश्रीकृष्णगुण–श्रवणादिनोद्बुद्धान्निसर्गादेव श्रीकृष्णे रतिस्तथा कामोद्गमसमवयःसंधिस्वाभाव्यात् संभोगतृष्णाजन्या च रतिर्युगपदेवाभूत्। तत्र प्रथमा बहुतरप्रमाणा, द्वितीया अल्पप्रमाणेति द्वयो रत्योर्मेलनेन समञ्जसाभिधा रतिर्व्याख्यायते। तासां तदनन्तरं च संभोगतृष्णा द्विधाभूतैवान्ववर्त्तत निसर्गोत्थरत्यनुभावरूपा संभोगतृष्णोत्थरत्यनुभावरूपा च। प्रथमा रतेः पृथक्तया नैव तिष्ठति तत्कारणत्वेन तन्मयत्वेनैव प्रतीतेः। द्वितीया रतेः पृथक्तया नैव तिष्ठति तत्कारणत्वेन तन्मयत्वेनैव प्रतीतेः। द्वितीया रतेः पृथक्तयैव भासते सम्भोगतृष्णाया आदिकारणत्वेन तन्मयत्वेनेव प्रतीत्यौचित्त्यात्। क्वचिदितिपदेनेयं संभोगतृष्णोत्था रतिर्न सर्वदा समुदेतीत्यर्थः। सान्द्रेति। निसर्गोत्थरतेः सान्द्रत्वात् द्वितीयाया अपि सान्द्रत्वं भवति हि तत्साहित्यात्ताद्धर्म्यमिति न्यायात्॥४८॥

यथा तत्रैव (१०/५२/३८)—

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप–
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या,
काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम्॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—रुक्मिणीदेवी ब्राह्मणके द्वारा कामपत्र भेज रही हैं—"हे मुकुन्द! हे नरश्रेष्ठ! अपने विवाहके समय कौन कुलवती, सुशीलवती, परम उदार और बुद्धिमती कन्या होगी, जो गुण, रूप, शील, विद्या, वयस, धनसम्पत्ति तथा प्रभाव-प्रतिपत्तिमें अनुपम एवं जीवमात्रके मनोभिरमणीय तुमको पतिके रूपमें वरण करनेकी इच्छा नहीं करेगी?" ॥४९॥

लोचनरोचनी—का त्वा मुकुन्देति। अस्तु तावन्ममानन्यगतेर्वार्ता परापि केति त्वद्गुणानां सर्वासामप्याकर्षणे सामर्थ्यमिति स्वधाष्ट्र्यदोषः परित्याजितः ॥४९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीरुक्मिणी श्रीकृष्णं प्रति संदेशपत्रीं लिखति—अस्तु तावद् ममानन्यगतेर्वार्ता परा च का त्वेत्यादि। किन्तु महती धीरा यदि स्यादित्यर्थः। काले स्वपरिणयसमये आत्मना स्वेनैव तुल्यं निरुपममित्यर्थः। हे नृसिंह! का न वृणीत इत्यतस्त्वद्गुणानां सर्वोत्कर्षकत्वान्मोदं धाष्ट्र्यं न चिन्तनीयमिति रतिरात्मनो व्यानञ्ज ॥४९॥

समञ्जसातः संभोगस्पृहाया भिन्नता यदा।
तदा तदुत्थितैर्भावैर्वश्यता दुष्करा हरेः ॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—समञ्जसारतिसे सम्भोगेच्छाकी पृथकताको दिखला रहे हैं। समञ्जसारतिसे सम्भोगकी इच्छा जब पृथक् रूपमें प्रतीत होती है, तब उस सम्भोगेच्छासे उत्पन्न हाव, भाव, हेलादिके द्वारा अथवा स्वाभियोग प्रकाशके द्वारा श्रीहरिको वशीभूत करना दुःसाध्य होता है ॥५०॥

लोचनरोचनी—संभोगस्पृहायाः पूर्ववद्भावहावादिव्यञ्जनामय्याः। भावैर्हाव-भावादिभिः ॥५०॥

आनन्दचन्द्रिका—समञ्जसाख्यरतेः प्रथममुत्कृष्टं महान्तमंशमुदाहृत्य द्वितीयमप-कृष्टमल्पमंशमुदाहर्तुं तस्यापकर्षं व्याचष्टे। समञ्जसातः समञ्जसारतेः सकाशात् संभोगस्पृहाया यदा भिन्नता पार्थक्येन प्रतीतिस्तदा तदुत्थितैः संभोगस्पृहोत्थैर्भावैर्भावहावहेला-किलकिंचितादिभिर्वश्यता दुष्करेति तस्य प्रेमैकवश्यत्वसिद्धान्तात् सर्वशास्त्रसंमतादिति भावः। यदेत्यनेन सर्वदा तु निसर्गोत्थरतेः संभोगस्पृहाया भिन्नता नास्तीति तदुत्थितैर्भावैश्च हरेर्वश्यता सुकरैवेति गमयते। अतएव पूर्वोक्ता "का त्वा मुकुन्दे"ति भावमयसंदेशमात्रेणैव श्रीकृष्णस्य द्वारकातो विदर्भागमनं वश्यताव्यञ्जकमेवेति ज्ञेयम् ॥५०॥

तथाहि तत्रैव (१०/६१/४)—

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमण्डलप्रहित सौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—सोलह हजार महिषियाँ गूढ़स्मितयुक्त और चकित दर्शनके द्वारा ज्ञापित अपने स्वाभिप्रायसूचक मनोहर कटाक्षके द्वारा मनोवाञ्छित सुरतविषयकी रहस्ययुक्ति–सुनिपुण अनङ्गबाणोंके द्वारा एवं कामशास्त्रमें प्रसिद्ध कान्तवशीकरण–उपायरूप हाव, भावादिके प्रकाश द्वारा भी श्रीकृष्णको वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हो सकीं॥५१॥

लोचनरोचनी—स्मायेति। षोडशसहस्रमपि पत्न्यो यस्य श्रीकृष्णस्य इन्द्रियं मनआदिकं विमथितुं न शेकुः। कैर्न शेकुः करणैर्भावहावादिचेष्टितैः। कीदृशैः? अनङ्गस्य कामस्य बाणरूपैः। बाणरूपत्वेऽपि कीदृशैः। स्मायः स्मितं तद्युक्तो योऽवलोकलवस्तेन दर्शितो यो भावोऽभिप्रायस्तेन हारी हर्तुं समर्थो यो धनूरूपो भ्रूमण्डलस्तेन प्रहितैः तथा सौरतेन सुरते नियुक्तेन मन्त्रेण युक्तिविशेषेण सौरताख्यमन्त्रविशेषेण शौण्डैः प्रगल्भैरपीति। पत्न्यस्त्वित्यस्मात् करणैरित्यत्र तुशब्दस्यान्वयात् विशब्दस्य बलात् करणैस्तु विशेषेण मथितुं न शेकुरिति लब्धे यावान् तत्र प्रेमांशस्तावदेव मथितुं शेकुरिति लभ्यते॥५१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीशुकः सिद्धान्तं बोधयन् श्रीपरीक्षितमाह—स्मायेति। षोडशसहस्रमपि पत्न्यो यस्येन्द्रियं मनआदिकं विमथितुं न शेकुः। कैर्न शेकुः? करणैर्भावहावादिचेष्टितैः। कीदृशैः? अनङ्गस्य बाणरूपैः। बाणरूपत्वेऽपि कीदृशैः? स्मायः स्मितं तद्युक्तो योऽवलोकनलवस्तेन दर्शितो यो भावोऽभिप्रायस्तेन हारि मनोहरणशीलं यद्भ्रूमण्डलं तेन प्रहिताः प्रेषिताः सौरतमन्त्राः सुरतसंबन्धिरहस्ययुक्तयस्तेषु तत्प्रापणेषु शौण्डैः प्रवीणैः॥५१॥

अथ समर्था—

कंचिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाऽभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते॥५२॥

स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जातो यत्किंचिदन्वयात्।
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—समर्था—स्व-स्वरूपोत्थ होनेके कारण साधारणी और समञ्जसारतिसे भी अनिर्वचनीय वैशिष्ट्ययुक्त अर्थात् श्रीकृष्णको अतिशय वशीभूत करनेवाली दो रतियोंके सहित, सम्भोगेच्छाको सर्वथा अपने अन्दर तादात्म्य कर लेती है, जो ललनानिष्ठ स्वरूपसे अथवा 'श्रीकृष्णनिष्ठ' शब्द आदिमेंसे किसी भी एकके प्रति यत्सामान्य (नाममात्र) सम्बन्ध लाभ करके ही आविर्भूत होती है, जिसके उदयकी गन्धमात्रसे ही कुलधर्म, धैर्य, लज्जादि सभी विघ्न-बाधाएँ विस्मृत हो जाती हैं, जो अत्यन्त घनीभूत होती है, अर्थात् उसमें अन्य कोई भी भाव प्रवेश नहीं कर पाते, उसीको रसशास्त्रमें समर्थारति कहते हैं। अर्थात् साधारणी और समञ्जसासे भी कुछ विशेष सम्भोगेच्छा जिस रतिमें तादात्म्य होती है अर्थात् नायक-नायिकामें ऐक्य-भाव प्राप्त करा देती है, उसीका नाम समर्था है॥५२-५३॥

लोचनरोचनी—यया रत्या तादात्म्यमेकीभावमापन्ना संभोगेच्छा सा रतिः समर्थेति भण्यते। कीदृशी सती? तत्राह किंचिद्विशेषमायान्तीति। अयमर्थः—संभोगः खलु द्विविधः। प्रियजनद्वारा स्वेन्द्रियतर्पणसुखमयः, स्वद्वारा तदिन्द्रियतर्पणसुखभावनामयश्चेति। तत्र पूर्वेच्छा कामः स्वहितोन्मुखत्वात्। उत्तरेच्छा तु रतिः प्रियजनहितोन्मुखत्वात्। तत्र चोत्तरसंभोगे प्रियजनस्पर्शसुखं च भवत्येवेति। यद्यपि तदिच्छा दुर्वारा तथापि बलवत्त्वात् कंचिद्विशेषमायान्त्या यया रत्या मिलितत्वात्तत्तादात्म्यमापन्ना भवति सा रतिः सर्वातिक्रमिसामर्थ्यात् समर्थेति भण्यत इति॥५२॥

तदेवं समर्थायां कार्यद्वारा स्वरूपद्वारा च लक्षणमुक्त्वा कार्यान्तरद्वारा पुनस्तद्वदंस्तदुत्कर्षमाह—स्वस्य ललनासंबन्धिनः स्वरूपाज्जाता किं वा श्रीकृष्णसंबन्धिनो यत्किंचिदन्वयात् स्वरूपादीनामेकतरस्य संबन्धमात्राज्जाता सर्वविस्मारिलेशमात्रा समर्था सा सान्द्रतमा बहिरपि भावान्तरेण भेत्तुमशक्या मता॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—यया रत्या संभोगेच्छा तादात्म्यं तदात्म्यमात्रं रतिरूपत्वमापन्ना स्यात् सा समर्था। रत्या कीदृश्या? कंचिद्विशेषं स्वरूपोत्थत्वात् साधारणीसमञ्जसाभ्यां सकाशात् कमप्यनिर्वचनीयविशेषं श्रीकृष्णवशीकारत्वातिशयं प्राप्नुवत्या॥५२॥

स्वस्वरूपाल्ललनानिष्ठस्वरूपाज्जातेति पूर्वोक्तरतिद्वयादस्य हेतुरपि परमविलक्षण एवेति भावः। तदीयात् श्रीकृष्णसंबन्धिनः शब्दादेः किंचिन्मात्रादन्वयोद्वेति नाममात्रत एव हेतोर्वस्तुतस्तु स्वत एवेति भावः। समर्था अन्वर्थनाम्नीत्यर्थः। साम्र्थ्यमेव दिग्दर्शनेनाह—सर्वं कुलधर्मधैर्यलोकलज्जादिकं विस्मारयितुं शीलं यस्य तथाभूतो

गन्धोऽपि यस्याः सा। यदुक्तम्। "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुः।" इति। अत एव सान्द्रतमा भावान्तरेण प्रवेष्टुमशक्यतमा॥५३॥

यथा—

प्रेक्ष्याशेषे जगति मधुरां स्वां वधूं शङ्कया ते,
तस्याः पार्श्वे गुरुभिरभितस्त्वत्प्रसङ्गो न्यवारि।
श्रुत्वा दूरे तदपि भवतः सा तुलाकोटिनादं,
हा कृष्णेत्यश्रुतचरमपि व्याहरन्त्युन्मदासीत्॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—कोई नवेली व्रजसुन्दरी अदृष्टचर, अश्रुतचर श्रीकृष्णकी नूपुरध्वनिको दूरसे सुनते ही उन्मादिनी हो गई। वृन्दा श्रीकृष्णके समीप उसके वृत्तान्तको निवेदन कर रही है—"हे कृष्ण! सास–ससुरादि गुरुजनोंने अपनी वधूको निखिल व्रजमण्डलमें परमासुन्दरी देखकर तुम्हारे भयसे चारों ओर तुम्हारे सम्बन्धमें किसीको भी कुछ कहनेके लिए निषेध किया, तथापि दूरसे तुम्हारे अदृष्टचर एवं अश्रुतचर नूपुरोंकी ध्वनिको सुनकर यह वधू 'हा कृष्ण!' कहकर उन्मत्त हो उठी।"

उक्त उदाहरणमें "अदृष्टचर और अश्रुतचर होनेपर भी तुम्हारी नूपुरध्वनिको सुनकर"—इसके द्वारा यहाँ किञ्चित्‌मात्र सम्बन्धको ही सूचित किया गया है। श्रीकृष्णके सहित परिचय ललनानिष्ठस्वरूप हेतु सम्पन्न हुआ और गुरु–गौरव विस्मरणपूर्वक उन्मादग्रस्त होनेसे रतिकी गाढ़ता भी सूचित हुई॥५४॥

लोचनरोचनी—तत्र स्वरूपस्योदाहरणं जिहीत इत्यादिना दर्शितमिति। द्वितीयस्याह—प्रेक्ष्येति। तुलाकोटिर्नूपुरम्। अत्रोन्मदेत्यनेन भावान्तरस्य स्पर्शो बहिरपि नास्तीति द्योतितम्॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—कस्याश्चिद्व्रजवालायाश्चरितं वृन्दा कृष्णमावेदयति—प्रेक्ष्येति। ते शङ्कया नारीगणमनोहारित्वलक्षणं तव स्वभावं परामृश्येत्यर्थः। न्यवारि अस्याः कर्णगतः श्रीकृष्णश्चित्ते लगिष्यतीति शङ्कया निवारयामास। भवतोऽदृष्टाश्रुतचरस्यापि तुलाकोटिनादं श्रुत्वेति यत्किंचिदन्वय उक्तः। परिचयस्तु तस्या ललनानिष्ठरूपत्वात् पूर्वपूर्वस्फूर्त्तिरेव ज्ञेयः। अश्रुतचरमपीति। न ललनानिष्ठस्वरूपम्, व्याहरन्तीति गुरुगौरवलज्जादिविस्मारणम्, उन्मदासीदिति रतेः सान्द्रतमत्वं च व्यञ्जितम्॥५४॥

सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः ।
संभोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते।
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ॥५५ ॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ जिज्ञासा—समर्थारतिके भीतर हृदयमें सम्भोगकी इच्छा रहती ही है। फिर भी समञ्जसारतिसे इसका पार्थक्य क्या है? इसके समाधानके लिए कह रहे हैं—(रतिके साथ सब प्रकारसे तादात्म्य होनेके कारण) समर्थारतिसे यह विशिष्ट सम्भोगेच्छा कभी भी अलग नहीं होती। इस रतिमें पृथक् रूपसे सम्भोगकी इच्छा कभी नहीं होती; क्योंकि समर्थारति वह है जो सर्वापेक्षा अद्भुत, श्रीकृष्णको वशीभूत करनेवाली होनेके कारण आश्चर्यजनक, लीलातिशयके द्वारा महाविस्मयोत्पादन करनेवाली शोभा विशिष्ट होती है। इसलिए समर्थारतिमें कायमनोवाक्यसे निष्पन्न समस्त व्यापार ही श्रीकृष्णके सुखके लिए अनुष्ठित हुआ करते है। इसमें अपने सुखकी लेशमात्र गन्ध भी नहीं होती, अर्थात् सर्वापेक्षा अद्भुत, श्रीकृष्णवशीकारत्वके रूपमें विस्मयको प्रकाश करनेवाली जो विलास लहरी है, उसके द्वारा जिसकी चमत्कारकारी श्री (शोभा) है, वह रति कभी भी सम्भोगेच्छा विशेषसे पृथक् नहीं होती, पृथक् भावसे उसकी प्रतीति भी गोचर नहीं होती। इसलिए उल्लिखित रतिमें केवल श्रीकृष्णसुखके लिए ही सभी उद्यम होते हैं ॥५५ ॥

लोचनरोचनी—कंचिद्विशेषमायान्त्या—इत्यत्र यदुक्तं तदेव पुनर्व्यनक्ति—सर्वाद्भुतेति सार्द्धेन। अस्यां समर्थायाम्। इत्यस्यामित्यत्र यदस्यामिति पाठः संयोज्यः, पूर्वत्र त्वेनं व्याख्येयम्। इतीति एतद्धेतोरित्यर्थः। एतत् किं तत्राह—अस्यामित्यादि। कृष्णसौख्यार्थमात्रोद्यमत्वादस्या रतेः शुद्धत्वम्। अतएव स्वतन्त्रत्वेन सर्वाद्भुतेत्याद्युक्त-रूपत्वम्। एवं केवलमित्येतयोश्च तस्याः स्वातन्त्र्यातिशय एवाग्रहः। अथवा "निर्णीते केवलमिति" इत्यमरः। उत्तरार्द्धं हेतुगर्भम्। ततश्च अस्यां कृष्णसौख्यार्थमेवोद्यम इति निर्णीतमित्यर्थः ॥५५ ॥

आनन्दचन्द्रिका—अस्या रतेः सकाशात् संभोगेच्छाविशेषो जातु कदाचिदपि न भिद्यते, पृथक्तया प्रतीतो न भवतीत्यर्थः। तथा ह्यस्या रतेः स्वरूपसिद्धत्वाद्गुणदिश्रवणानपेक्षितत्वेन प्राबल्याद्वयः सन्धेः पूर्वमेव व्रजबालासु कासुचित् तथापरासु नन्दपुरनिकटवर्त्तिनीषु रतेः स्वरूपसिद्धत्वेऽपि श्रीकृष्णेन

सहधूलिखेलनादिभिः परिचयाधिक्येनापि प्रादुर्भावः। सामान्याकारेण प्रादुर्भूतायां च तस्यां तासां श्रीकृष्ण एव प्रीतिमतीनां सर्वेन्द्रियवृत्तयः श्रीकृष्णसुखतात्पर्यवत्य एवाभूवन्। अथायाते वयःसन्धौ कंदर्पोद्गमेन या संभोगतृष्णा रत्याक्रान्ते मनस्यजनिष्ट, सापि सुखतात्पर्यवत्येवाभूदिति संभोगतृष्णाया रत्या सह तादात्म्यम्। तामवस्थामारभ्यैव तासां स्वाङ्गसङ्गदित्सयैव तत्सुखविशेषोत्पादने संकल्पवतीनां तासां रतिर्मधुराभिधाना अभूदित्यत एव संभोगतृष्णा पृथक्तया न भासते। अतएवात्र संभोगेच्छाविशेष इत्यत्र विशेषशब्दप्रयोगः। रतेः कीदृश्याः? सर्वतोऽप्यद्भुताः श्रीकृष्णवशीकारित्वेन विस्मयावहा या विलासोर्मयस्ताभिश्चमत्कारकारी श्रीर्यस्यास्तस्या इति हेतोरस्यां समर्थायां रत्यां सत्यामुद्यमो मनोवाक्कायानां व्यापारस्तथा बुद्धिपूर्वकोऽबुद्धिपूर्वको वा यः स श्रीकृष्णसौख्यार्थमेव। तेनोद्यमेन श्रीकृष्णः सुखमेव प्राप्नोतीत्यर्थः। तथा हि श्रीमुखवाक्यम्—"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्।" इति तासां स्वसुखतात्पर्याभाव एव निरवद्यत्वम्। अत एवात्र तस्य वशीकारः प्रसिद्धः॥५५॥

पूर्वस्यां स्वसुखायापि कदाचित्तत्र संभवेत्॥५६॥

इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—समञ्जसारतिमें पृथक् रूपमें कभी-कभी अपने सुखके लिए (सम्भोगेच्छारूप) उद्यम देखा जाता है; क्योंकि उसमें पत्नीका अभिमान सदासर्वदा व्याप्त रहता है। किन्तु समर्थारतिमें वह कहीं नहीं है। अधिकन्तु समर्थारति ही प्रौढ़ावस्थाको प्राप्तकरपर महाभाव दशाको प्राप्त करती है। इसलिए विमुक्तगण और प्रधान-प्रधान भक्तजन इस समर्थारतिका ही अन्वेषण करते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते॥५६—५७॥

लोचनरोचनी—पत्नीभावेत्यत्र यदुक्तं तदपि पुनर्व्यनक्ति—पूर्वस्यामित्यर्द्धेन। पूर्वस्यां समञ्जसायामुद्यमः संभवेदित्यन्वयः॥५६॥

इयमेवेति समर्थैषेत्यर्थः। पूर्वस्यामित्युक्तत्वात् समर्थाया एव प्रकृतत्वं गम्यते। मृग्यैव न तु प्राप्या। तन्मार्गणपरिपाटीनां दुर्बोधत्वात्। तत्परिपाटी हि तादृशभावमाधुरीणां क्रमेणानुभवः। एषां तु महिमज्ञानमेव न तु तदनुभवः। आस्तामन्येषां श्रीमदुद्धवस्यापि महिमज्ञानमेव व्यज्यते "अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः" इत्यादि तद्वाक्येन। तदनुभवार्थमेव हि "आसामहो" इत्यादिना प्रार्थितम्। तदनुभवे सति तासामिव तस्यापि रोदनादिकं वर्ण्यते। सर्वेषामपि तदनुभवे च भक्तानां पञ्चविधत्वं बाध्येत॥५७॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वस्यां समञ्जसायाम्। कदाचिदिति। न तु सर्वदेत्यर्थः। तेन श्रीरुक्मिण्याः पत्रीश्रवणमात्रेणैव द्वारकातो विदर्भागमनं श्रीसत्यभामायाः कृते पारिजातानयनमित्यादिलीलाव्यञ्जिततद्वशीकारोऽपि दृष्ट एव। एवं च साधारण्या रतेः साक्षाद्दर्शनजन्यसंभोगतृष्णैव हेतुः। रतेः स्वभावात् श्रीकृष्णस्य कुब्जागृहगमनस्य ज्ञाप्य ईषद्वशीकारो "दुर्भगेदमयाचते"ति श्रीशुकोक्तिज्ञाप्यः सर्वथा वशीकाराभावश्च तथा समञ्जसाया हेतुर्निसर्गः संभोगतृष्णा च श्रीशुकोक्तिज्ञाप्यो वशीकारोऽवशीकारश्च तत्र तत्र सामञ्जस्ये पत्नीत्वाभिमान एव लिङ्गम्, तथा समर्थाया रतेः स्वरूपमेव हेतुस्तस्यातिप्राबल्यात् संभोगतृष्णाया अपि रतिमयीति भावः। "न पारयेऽहम्" इति, "आसामहो" इति, "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः" इत्यादि श्रीकृष्णोद्धवशुकाद्युक्तिज्ञाप्यः सर्वथैवातिवशीकार एव। तत्र तत्र सामर्थ्ये "या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्येति" "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति "रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा।" इत्यादिवचनव्यङ्ग्यः परकीयात्वाभिमान एव लिङ्गमिति प्रकरणार्थः संक्षिप्योक्तेः ॥५६॥

समर्थाया एव रतेः सर्वोत्कर्षं स्पष्टीकुर्वन्नाह—इयमेव समर्थैव प्रौढा सती प्रेमस्नेहपरिणामेनेत्यर्थः। मृग्यैव नतु प्राप्या तन्मार्गणपरिपाटीनां दुर्बोधत्वादिति श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणाः ॥५७॥

यथा श्रीदशमे श्रीमदुद्धवोक्तौ (४७/५८)—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो, गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च, किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजसे लौटकर मथुरा जाते समय उद्धव महाराज व्रजदेवियोंके अदृष्टचर और अश्रुतचर महाभावका दर्शनकर चमत्कृत हो उठे और उनको प्रणामकर कहने लगे—"इस धरणीतलपर एकमात्र व्रजवधुओंका ही जन्म सब प्रकारसे सफल है; क्योंकि व्रजमें आनेके दिनसे आज तक मैंने विशेष रूपमें अनुभव किया है कि इन्होंने रूप, गुण, लीलादिकी चरम पराकाष्ठारूप निरुपाधिक प्रेमयोगसे श्रीगोकुलचन्द्रके प्रति उस महाभावको प्राप्त कर लिया है, जिस भावको पानेकी वाञ्छा भवभीत मुमुक्षु, मुनि और हम सभी भक्त करते हैं, किन्तु कोई भी इसका सन्धान नहीं जानते। माधुर्य और ऐश्वर्यसे अपार श्रीकृष्णकी लीलाकथामें जिनकी आसक्ति हुई है, उनके लिए क्रमशः अनेक बार ब्राह्मण योनिमें अथवा चतुर्मुख ब्रह्मा-जन्मकी क्या आवश्यकता है? वे जहाँ-तहाँ जन्मनेपर भी सर्वोत्तम हैं अथवा जिनकी श्रीकृष्णकथामें

आसक्ति नहीं है, उनको पुनः–पुनः परमेष्ठी देह प्राप्तिसे या पुनः–पुनः ब्राह्मण शरीर लाभ होनेसे ही क्या प्रयोजन है?" अतः जिस व्यक्तिका हृदय अनन्त भगवान्‌की कथामें ही निरन्तर सरस रहता है, उनका चतुर्मुख ब्रह्मा–जन्म या ब्राह्मण जन्मसे ही क्या प्रयोजन है?॥५८॥

लोचनरोचनी—तथैवोदाहरति—एताः परमिति। एताः केवलं सफलतनुधारिण्यः। यतो भवतीप्रभृतयो यं यं भावं परमोत्कर्षदृष्ट्या वाञ्छन्त्येव न तु प्राप्नुवन्ति तन्माधुर्यानुभवस्याभावश्च तेषु दर्शितः—किं ब्रह्मजन्मभिरिति। अनन्तस्य लीलानन्त्यादनन्तधा स्फुरितस्य तस्य कथासु कथामात्रेषु किमुत तासां संबन्धिनीषु अरसो रसाभावो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिर्विरिञ्चितयापि यदेभिर्जन्मभिः किं न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थः॥५८॥

आनन्दचन्द्रिका—वन्दमान उद्धवो गोपीः स्तौति—एताः परमिति। एताः परमेता एव केवलं तनुभृतः सफलतनुधारिण्यो न त्वन्या नाप्यस्मदाद्या इति ध्वनिः। भगवत्परिकरत्वेन सफलतनुत्वेऽप्युद्धवादीनामीदृशभाववत्त्वेन विना किं तनुभिरिति तद्भावौत्सुक्यं व्यञ्जयति। गोपवध्व इत्यार्यपथत्यागलक्षणा समर्था रतिर्व्यञ्जिता। गोविन्द एवमनेन प्रकारेण अखिला एवात्मानो देह मनोबुद्धियत्नस्वभावधृत्यादयो यस्मिन् तस्मिन्निति। भ्रातृपुत्रपौत्रादिष्वपि स्नेहवतीभ्यो रुक्मिण्यादिभ्यो भाववैशिष्ट्येन वैलक्षण्यं व्यञ्जितम्। "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च।" इत्यमरः। तत्रापि गोविन्दपदेन गवां पालक एवेत्यैश्वर्यज्ञानाभावेन माधुर्याधिक्यं तत्रापि रूढभावा रूढ़ाख्यो महाभावप्रभेद एव भावो यासां ताः। ननु "रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे" इति योगार्थेनोत्पन्नभावा इत्येवार्थः प्रतीयते इत्यत आह—यत् यं भावं भवभियो मुमुक्षवो मुनयो मुक्ता वाञ्छन्ति वयं च भक्ता वाञ्छाम इत्यर्थः। वयं किमुत्पन्नभावा न भवामस्तेनात्र रूढ़शब्दो न योगार्थः किन्तु रतेः सप्तमकक्षायां महाभावप्रभेद एव रूढः। अतएव श्लोकान्तरेऽपि जातादि पदमप्रयुज्य "कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः" इति पुनरपि रूढशब्द एव। किञ्च रसास्वादविज्ञजन ईदृशभावप्राप्तिं विना निजमहामाहात्म्यमपि तुच्छमेव मन्यत इत्याह—किं ब्रह्मेति। अनन्तस्य कथामात्र एव रसो यस्य तस्यापि किं पुनर्महास्वभाव रसिकस्य ब्रह्मजन्मभिर्बहुभिः परमेष्ठिजन्मभिः किम्? न किंचिदपि प्रयोजनमित्यर्थः॥५८॥

स्याद्दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥५९॥

बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला॥६०॥

अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तु षट्।
प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेमशब्देन सूरिभिः ॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—सामान्यतः साधारणी, समञ्जसा और समर्थारतिके तीन भेद दिखलाकर यहाँ उसीके उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यवशतः अवस्था भेदसे नामभेदको इक्षुबीजादिकी उपमाके द्वारा दिखला रहे हैं। समर्थारति जब सुदृढ़, बद्धमूल होकर विघ्नके द्वारा आक्रान्त होनेपर भी क्षीण या नष्ट नहीं होती, तब उसे प्रेम कहते हैं।

यही प्रेम अधिकाधिक परिपक्व होनेपर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भावके रूपमें परिणत होता है। जिस प्रकार गन्नेके बीजसे गन्नेका पौधा होता है और उसीसे रस, पुनः रससे गुड़, गुड़से खाँड़, खाँड़से शर्करा और उसीसे सीता और उसके पश्चात् सीतासे उपला वा ओल होता है, उसी प्रकार रति—प्रेम, तत्पश्चात् स्नेहादि पूर्वोक्त भावदशा पर्यन्त आरोहण करती है। रससे ओला तक गन्ना ही उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य प्राप्तकर विभिन्न नामोंसे अभिहित होनेपर भी सभी अवस्थाओंमें गन्नाकी ही परिणति है। उसी प्रकार गन्ना-स्थानीय प्रेमके ही विलास स्नेह आदि छहोंमें—'प्रेम' शब्दका शास्त्रविद् प्रायः व्यवहार किया करते हैं॥५९–६१॥

लोचनरोचनी—तस्याः परमोत्कर्षं दर्शयति—इयं मधुराख्या रतिर्दृढा विरुद्धेनाभेद्या सती प्रेमा स्यात्। स चायं प्रेमा प्रोद्यन् क्रमान्निजमाधुर्यं प्रकाशयन् स्नेहो मान इत्यादिरूपः स्याात्। भाव इति। भावस्त्वस्यात्रैव प्रकर्षान्मुख्यतया तच्छब्दस्त्वत्रैव पर्यवस्यति। ईश्वर शब्दो भगवतीवेत्यभिप्रायः। किन्तु महाभावशब्दस्त्वत्र महेश्वरशब्दवज्ज्ञेयः॥५९॥

अत्र दृष्टान्तेनैकस्य वस्तुनस्तस्यावस्थाभेदेन तारतम्यं बोधयति—बीजमिति। खण्ड इति "स्यात् खण्डः शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः।" इति विश्वप्रकाशकोशात् पुंस्त्वम्॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—एवं रतेर्भेदत्रयमुक्त्वा तस्या एवावस्थाभेदेनोत्कर्ष-वैशिष्ट्यान्नामभेदान् सदृष्टान्तानाह—स्यादिति। इयं रतिर्दृढा बद्धमूलत्वेनान्तरायैरचाल्या चेत् प्रेमा स्यात्। प्रेमेतिनाम्नाभिधीयत इत्यर्थः। स च प्रेमा उद्यन् सन् सूर्य इव चित्तनवनीतं स्वातपेन द्रुतीकुर्वन् स्नेहः स्यात्। एवमयमेव स्नेहः क्रमात् स्ववृद्ध्या मानः स च स्ववृद्ध्या प्रणय इत्यादि। भावो महाभावः॥५९॥

एकमेव वस्त्ववस्थाभेदेनोत्कर्षतारतम्यान्नामभेदं लभत इत्यत्र दृष्टान्तमाह— बीजमात्रेक्षुदण्डाग्रभाग–ग्रन्थ्यवस्थितोऽङ्कुरस्तदेव यथा कालेनेक्षुदण्डः स्यादेवं रतिरेव प्रेमा स्यात्। एवं स च रस इति। रस इव स्नेहः, गुड इव मानः, खण्ड इव प्रणयः। शर्करेव रागः। शर्करा चिनीति ख्याता। सिता सितशर्करेवानुरागः। सितशर्करा मिश्रीति ख्याता। सितोपलेव महाभावः। सितोपला ओला इत्याख्याता। सितोपलैव मिश्रीति केचिदाहुस्तच्चिन्त्यम्। "क्षिप्रं याति सितोपलेव विलयम्" इत्युक्तेस्तस्या जले क्षिप्रं लयादर्शनात्, अत्र चेक्षोः पाकभेदेनैव गुडादयो भवन्ति यथा तथैव प्रेम्णोऽवस्थाभेदेनैव स्नेहरागादयो भवन्ति। नतु गुड एव खण्डः स्यात् खण्ड एव शर्करा स्यादित्येवं वाच्यमसंभवादिति च केचिदाहुः॥६०॥

तन्मतमनुसृत्यैवाह—अत इति॥६१॥

यस्या यादृशजातीयः कृष्णे प्रेमाभ्युदञ्चति।
तस्यां तादृशजातीयः स कृष्णस्याप्युदीयते॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णमें समर्थारतिवाली असंख्य गोपियाँ हैं, किन्तु सामान्यतःरतिके आठ प्रकारके भेदोंको दिखला रहे हैं। उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा प्रेयसियोंमेंसे प्रत्येकके भिन्न-भिन्न स्वभाववशतः नाना प्रकारके वैशिष्ट्य होते हैं। उनमेंसे रतिके तारतम्यसे एवं उनके अवान्तर भेदसे स्वरूपके तारतम्यसे भी असंख्य भेद स्वीकार्य हैं। अतएव नायिकाएँ एकजातीय भावविशिष्ट नहीं हो सकतीं। रति इत्यादि उभयनिष्ठ होनेसे तो रसावह हुआ ही करती है, किन्तु श्रीकृष्ण सभी नायिकाओंमें समभाव ही रखते हैं। अथवा उनके भावमें तारतम्य संघटित होता है? यहाँ यही जिज्ञासाका विषय है। इसका उत्तर दे रहे हैं—जिस समर्था नायिकाका श्रीकृष्णमें जिस जातिका प्रेम उदित होता है, श्रीकृष्णका भी उस नायिकाके प्रति उसी जातिका प्रेम उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि समर्थारतिमतिवाली नायिकाओंकी संख्या असंख्य है। वैसे ही उनके प्रेमादि भी सूक्ष्म विचारसे अनन्त प्रकारके ही होते हैं—ऐसा समझना होगा॥६२॥

लोचनरोचनी—उदीयत इत्येतत् "ईङ् गतौ" इत्यस्य दैवादिकस्य रूपम्॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु समर्थरतिमतीनां श्रीकृष्णप्रेयसीनामासां प्रेमादयोऽमी भावाः किमेकजातीयाः किम्वा भिन्नजातीयाः स्युस्तथा तासु तासु श्रीकृष्णस्य वा ते कीदृशा

इत्यपेक्षायामाह—यस्या इति। स प्रेमा। एवं च समर्थरतिमतीनां श्रीकृष्णप्रेयसीनामानन्त्यमिव तत्प्रेमादीनामपि सूक्ष्मविचारेण जातेरानन्त्यं ज्ञेयम्, तथैव समर्थातः स्थूलत एव जातिभेदेन समञ्जसाया रतेः प्रेमादयस्तदतिदेशेन ज्ञेया यदुपरिष्टाद्वक्ष्यते—"आद्यो प्रेमान्तिमां तत्रानुरागान्तां समञ्जसा। रतिर्भावान्तिमां सीमां समर्थैव प्रपद्यते॥" इति॥ उदीयत इति "ईङ गतौ" इत्यस्य दैवादिकस्य रूपम्॥६२॥

तत्र प्रेमा—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्त्तितः॥६३॥

तात्पर्यानुवाद—नायक-नायिकाके रतिध्वंस होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी सब प्रकारसे ध्वंसरहित, निश्चल रूपमें उनका जो भावबन्धन है, उसीको प्रेम कहा जाता है॥६३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमाणं लक्षयति—सर्वथेति। तथा हि प्रेमसंपुटे—"लोकद्वयात् स्वजनतः परतः स्वतो वा प्राणप्रियादपि सुमेरुसमा यदि स्युः। क्लेशास्तदप्यतिबली सहसा विजित्य प्रेमैव तान् हरिरिभानिव पुष्टिमेति॥" इति। भावेन त्वं मे प्रेयसी, त्वं मे प्रेयानिति मनोऽनुलापमय्यां प्रीतिरज्ज्वां यूनोर्बन्धनं पारम्परिकमित्यर्थः॥६३॥

यथा—

शपे तुभ्यं धर्मस्थितिमनुसरन्त्या सखि मया,
विशुद्धामुग्राभिर्मुहुरपि निरस्तो भणितिभिः।
स मुग्धे श्यामात्मा त्यजति न हि मे वर्त्म बत मां,
जगारापद्घोरा विरचयतु शान्तिं गृहपतिः॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—प्रेम-परीक्षाके लिए लोकधर्मादिका भय प्रदर्शन करनेवाली नान्दीमुखीके प्रति पूर्वरागवती श्रीमती राधिकाने कहा—"अरी सखि! यदि तुम मेरी बातपर विश्वास नहीं करती हो, तो मैं तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ कि मैंने विशुद्ध प्रेमधर्म-मर्यादाका अवलम्बन किया है। सुनो! मेरा मार्ग रोकनेपर मैं उससे डपटकर कहती हूँ—हे लम्पट! तुम मेरी कञ्चुलीका स्पर्श मत करो, नहीं तो मैं लज्जा त्यागकर अभी जोरसे चिल्लाकर आर्या जटिलाको बुला रही हूँ—इस प्रकार निषेध करनेपर भी वह किसी प्रकार भी मेरा मार्ग नहीं छोड़ता। अतः हे मुग्धे! इस घोर विपत्तिने मुझे ग्रास कर लिया है। गृहपति मुझे

दण्ड प्रदान करते हैं, तो करें, मैं क्या कर सकती हूँ?" इस उदाहरणमें गृहपति मुझे शासन दण्ड प्रदान करें, इत्यादिके द्वारा प्रेम–ध्वंसका कारण रहनेपर भी प्रेमका ध्वंस नहीं हुआ। उग्र वचनोंके द्वारा निषेध करनेपर भी उसके अन्दर श्रीकृष्णमें प्रेमातिशयकी ही सूचना हुई एवं युवक–युवतीका अटूट प्रेमभावबन्धन है, ऐसा सूचित हुआ॥६४॥

लोचनरोचनी—विशुद्धां धर्मस्थितिमित्यन्वयः। न त्यजतीति मुहुर्मुहुः स्फूर्त्तिः साक्षात्कारतया व्यञ्जिता॥६४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमपरीक्षणार्थं लोकधर्मादिभ्यो भीषयमाणां नान्दीमुखीं प्रति पूर्वरागवती श्रीराधा प्राह—शपे इति। यदि त्वं मे वक्ष्यमाणं वाक्यं न प्रत्येषीति भावः। विशुद्धां धर्मस्थितिं धर्ममर्यादामनुसरन्त्यैव मयेत्यन्वयः। उग्राभिरपि भणितिभिः। अये लम्पट! यदि त्वं मे कञ्चुकीं स्पृशसि तदाधुनैव लज्जामपि त्यक्त्वा फूत्कृत्यार्यां विज्ञापयिष्यामीति बिभीषिकामयीभिरपि वाग्भिरित्यर्थः। न त्यजतीति मुहुर्मुहुः स्फूर्त्तिः साक्षात्कारतया प्रतीता तस्मादापत्कर्त्री मां जगार गिलितवती। अत्र गृहपतिकर्त्तृकशान्तिरूपप्रेम–ध्वंसकारणस्य विद्यमानत्वेऽपि प्रेमा न ध्वस्तः। तथोग्राभिर्भणितिभिर्निरस्तोऽपीति श्रीकृष्णस्यापि स्वस्मिन् प्रेमा व्यञ्जितः॥६४॥

यथा वा—

> **राधायाः सखि सद्गुणैरनुदिनं रूपानुरागादिभिः,**
> **सान्द्रां लब्धवतोरपि व्यसनितां व्याक्षिप्तकान्तान्तरैः।**
> **प्राप क्वापि परस्परोपरि ययोर्न म्लानतां यस्तयो–**
> **स्तं चन्द्रावलिचन्द्रकाभरणयोः को वेत्ति भावक्रमम्॥६५॥**

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें ध्वंसका बहिरङ्ग–कारण रहनेपर भी प्रेमके ध्वंसका अभाव दिखाकर इस पद्यमें ध्वंसका अन्तरङ्ग–कारण रहनेपर भी प्रेम निर्बाध रूपमें प्रवाहित रहता है, उसीका उदाहरण दे रहे हैं। चन्द्रावली और श्रीकृष्णकी त्रिजगत्में विलक्षण अलौकिक प्रेमरीतिको सब समय अनुभवकर वृन्दा कुन्दलतासे कह रही है—"हे सखि! चन्द्रावली ऐसा जानते हुए भी कि 'मेरे कान्त श्रीकृष्ण श्रीराधाजीके रूप और कल्याणगुणसमूहसे सदैव आसक्त रहते हैं', तथा अपने हृदयमें महादुःखका अनुभव करनेपर भी चन्द्रावलीकी श्रीकृष्णके प्रति जो प्रेम परिपाटी है, वह किसी भी अवस्थामें और किसी भी देश, कालमें ह्रास नहीं होती।"

प्रेममयी नायिकाएँ विघ्न-बाधाओंकी उपेक्षा करती हैं—इसके लिए यहाँ वैष्णव पदकर्त्ता गोविन्द दासके एक पदको उद्धृत किया जा रहा है—

अभिसारोत्कण्ठिता श्रीमतीका उत्तर—

मन्दिर बाहिर कठिन कपाट। चलयिते शङ्कित पङ्किल बाट॥
कुलवती-कठिन-कपाट उदघाटलुँ, ताहे कि काठकी बाधा।
तँहि अति दूरतर बादर डोल। वारि कि बारब नील निचोल॥
निज-मरियाद, सिन्धु-सम पैरनु, ताहे कि तटिनी अगाधा॥
सुन्दरि! कैछे करबि अभिसार। हरि रहु मानस-सुरधुनीपार॥
सजनि! मझु परिखन करु दूर।
घनघन झनझन बजर-निपात। शुनईते श्रवणे मरम जरि यात॥
कैछे हृदय कार, पन्थ हेरत हरि, सुमरि सुमरि मन झुर॥
कोटि कुसुमशर, बारखये यछु पर, ताहे कि-जलद-जल लागि।
दिश दिश दामिनी दहई विथार। हेरईते उचकई लोचन तार॥
प्रेमदहन-दह, जाक हृदये सह, ताहे कि बजरक आगि॥
इथे जब सुन्दरि! तेजवि गेह। प्रेमक लागि उपेखवि देह॥
यछु पदतले हाम, जीवन सोपनु, ताहे कि तनु-अनुरोध?
गोविन्द दास कह इथे कि विचार। छुटल बान किये यतने निवार॥
गोविन्द दास कह, धनि धनि! अभिसर सहचरी पाण्डुल बोध॥६५॥

लोचनरोचनी—चन्द्रावलीपक्षे व्यसनितां दुःखिताम्, श्रीकृष्णपक्षे आसक्तताम्। पूर्वत्र व्याक्षिप्तमाकृष्टं कान्तस्यान्तरं हृदयं यैः। परत्र व्याक्षिप्तं तुच्छीकृतं कान्तान्तरमन्यकान्ता यैः॥६५॥

आनन्दचन्द्रिका—ध्वंसस्य कारणानि प्रपञ्चयितुमाह—यथा वेति। वृन्दा कुन्दलतां प्रत्याह—चन्द्रावलिश्चन्द्रकाभरणः श्रीकृष्णश्च तयोस्तं भावक्रमं प्रेमपरिपाटीं को वेत्ति। न कोऽपीत्यर्थः। ययोर्द्वयोरेव यो भावक्रमः परस्परोपरि क्वापि कुत्राप्यवस्थायां काले देशे वा म्लानतां दौर्बल्यं न प्राप। म्लानेः कारणे प्रबले सत्यपीति भावः। म्लानकारणमेव व्यञ्जयन्ती तौ विशिनष्टि—राधाया रूपानुरागादिभिः सद्गुणैः सान्द्रां व्यसनितां लब्धवतोरपि, चन्द्रावलीपक्षे व्यसनितां स्वापकर्षदृष्ट्या स्वसौभाग्यापगमसंभावनालक्षणां विपत्तिम्, श्रीकृष्णपक्षे श्रीराधाविषयिणीमासक्तिम्।

"व्यसनं त्वशुभे सक्तौ पानस्त्रीमृगयादिषु। दैवानिष्टफले पापे विपत्तौ निष्क्रमोद्यमे॥" इति विश्वः। सद्गुणैः कीदृशैः। चन्द्रावलीपक्षे व्याक्षिप्तमाकृष्टं कान्तस्य श्रीकृष्णस्य हृदयं यैः, श्रीकृष्णपक्षे व्याक्षिप्तं तुच्छीकृतं कान्तान्तरमन्या कान्ता यैः। अत्र चन्द्रावल्याः श्रीकृष्णे प्रेमध्वंसकारणं तस्य श्रीराधायामत्यासक्तिः, तथा श्रीकृष्णस्यापि चन्द्रावल्यां प्रेमध्वंसकारणं श्रीराधाया रूपानुरागाद्याधिक्यम्। किं चैकस्यामासक्तौ सत्यामप्यन्यस्यां प्रेमेत्यनन्यममतेति सामान्यलक्षणा व्याप्तिर्नाशङ्कनीया तत्रानन्यममता विष्णोरित्यत्र विष्णुपदेन विष्णुस्वरूपमात्रस्य तदीयवस्तुनश्च ग्रहणात् ततश्च भक्तानां यथा श्रीविष्णुविषयके प्रेमणि श्रीविष्णुस्वरूपमात्रे तदीयवस्तुनि च तारतम्येन ममता तथैव श्रीकृष्णस्यापि भक्तविषयके प्रेमणि भक्तमात्रे तदीयवस्तुनि च तारतम्येन ममता युक्तैव। अन्यथा प्रेमवतां नारदादीनां विष्णुस्वरूपमात्रे व्रजसुन्दरीणां च सखीषु सुहृत्सु च ममता नैव सिद्ध्यतीति॥६५॥

स त्रिधा कथ्यते प्रौढमध्यमन्दप्रभेदतः॥६६॥

तत्र प्रौढः—

विलम्बादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जने।
इतरः क्लेशकारी यः स प्रेमा प्रौढ उच्यते॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—यह प्रेम तीन प्रकारका होता है—प्रौढ़प्रेम, मध्यप्रेम और मन्दप्रेम।

प्रौढ़प्रेम—विलम्बादिके कारण प्रियजन अर्थात् नायककी चित्तवृति अज्ञात होनेपर नायिकाको जो खेद होता है अथवा नायिकाकी चित्तवृत्ति अज्ञात होनेपर नायकको जो खेद होता है, उसी प्रेमको प्रौढ़प्रेम कहते हैं॥६६–६७॥

आनन्दचन्द्रिका—स च प्रेमा उदाहरणदृष्ट्या नायिकाविषयको नायकविषयकश्चावसीयते। तत्र प्रथमस्य तस्य भेदानाह—स त्रिधेति॥६६॥

विलम्बादिभिरिति। आदिशब्दात्कदाचिदनागमनेन च प्रियजने नायिकारूपे अज्ञातचित्तवृत्तौ सतीतरस्य नायकरूपस्य जनस्य क्लेशकारी हन्त हन्त सा सुकुमारी न जानेऽद्य मद्विरहेण कीदृशं दुःखं प्राप्स्यतीति खेदोत्पादकः॥६७॥

यथा—

गत्वा ब्रूहि निकुञ्जसद्मनि सखे खिन्नां मम प्रेयसीं,
मा कालात्ययमाकलय्य कमले मय्यप्रतीतिं कृथाः।

दुष्टं दानवमत्र गोकुलशिरःशूलं चिकित्सन्नहं,
द्रागेष प्रणयेन पल्लवमयीं लब्धोऽस्मि शय्यां तव॥६८॥

तात्पर्यानुवाद—दूतीके द्वारा श्रीकृष्णका अभिसार निश्चयकर यूथेश्वरी कमला सङ्केतकुञ्जमें श्रीकृष्णके लिए प्रतीक्षा कर रही है। उसी समय श्रीकृष्णको हठात् व्रजमें किसी असुरके साथ युद्ध करनेके लिए जाना है, जाते समय श्रीकृष्ण अपने विलम्ब हेतु कमलाके क्लेशकी सम्भावनाकर व्यग्र-चित्तसे मधुमङ्गलके द्वारा संवाद दे रहे हैं—"हे सखे! निकुञ्जभवनमें तुम मेरी प्रतीक्षामें खेद करती हुई प्रेयसीको कहना कि हे कमले! मेरे आनेमें विलम्ब देखकर तुम मेरे प्रति अविश्वास मत करना। अभी व्रजमें एक दुष्ट असुर आया है। ब्रजके लिए यह शूलस्वरूप है, इसकी चिकित्साकर अर्थात् उसे मारकर शीघ्र ही प्रणयसे भरी हुई तुम्हारी पल्लवमयी शय्याको अङ्गीकार करता हूँ।"

इस उदाहरणमें दुष्ट दानव द्वारा विघ्न-बाधाके उपस्थित होनेपर भी, सम्पूर्ण रूपमें कमलाको न भूलाना ही प्रेमका लक्षण है। मेरे विलम्बसे श्यामलाको दुःख होगा, ऐसा समझकर और उसे अपने लिए असह्य समझकर मधुमङ्गलको भेजना प्रेमके प्रौढ़त्वका लक्षण है॥६८॥

लोचनरोचनी—गत्वा ब्रूहीत्यादिषु श्रीकृष्णप्रेमात्र दुष्टदानवकृत-बाधत्वादिनाप्यनपगमात्। अस्य वर्णनं तूद्दीपनार्थमिति व्याख्यातमेव। लीलेयं त्वित्थं संगच्छते—अरिष्टनामा दानवोऽयं यदा मथुरातश्चलितुमुद्यतस्तदैव तत् कुतोऽप्यवगत्य तेन कमलां प्रति गत्वा ब्रूहीत्यादिना संदिष्टम्। सा खलु पूर्व तेन दत्तप्रत्याशासीदिति॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—कमलां संदिशन् श्रीकृष्णो मधुमङ्गलं प्रत्याह—गत्वेति। कालात्यमयद्य रजन्याः प्रथमयामाभ्यन्तर एवागमिष्यामीति यन्मयोक्तं तथैव त्वामभिसर्त्तुमुद्यत एव मयि संप्रत्यरिष्टासुर आयातः अतोऽनेन सह संग्रामादिना ममाद्य कालातिक्रमोऽभवदित्यर्थः। चिकित्सन्निति वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्। चिकित्सितवानित्यर्थः। लब्धोऽस्मीति भविष्यत्यपि भूतप्रयोगः स्वागमनस्यातिशैघ्रव्यञ्जकः। अत्र दुष्टदानवकृतस्यान्तरायस्यागणनं प्रेमलक्षणं स्वविलम्बनिबन्धनस्य कमलादुःखस्य स्वासह्यत्वेन मधुमङ्गलप्रेषणं प्रेम्णः प्रौढत्वलक्षणम्॥६८॥

अथ मध्यः—

इतरानुभवापेक्षां सहते यः स मध्यमः ॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—मध्यप्रेम—जो प्रेम अन्य कान्ताके अनुभवकी अपेक्षा रखता है, उसे मध्यप्रेम कहते हैं॥६९॥

आनन्दचन्द्रिका—इतरस्या अपि कान्ताया आ सम्यकप्रकारामनुभवापेक्षां सहत इति सः। समासवृत्त्यन्तर्भूतादपिकारात् स्वविषयकान्तायाश्च सम्यगनुभवापेक्षणान्मन्दे प्रेमणि नातिव्याप्तिः, नातिप्रौढे प्रेमण्यतिव्याप्तिः। इतरक्लेशकारीति ताच्छील्यार्थकणिनि–प्रत्ययश्रवणात्तद्विषयीभूतकान्ताविरहिणो नायकस्य क्लेशावश्यकत्वावगमात् मध्यप्रेमविषयीभूतकान्ताविरहिणो नायकस्य त्वन्यकान्तानुभवसंभवात् क्लेशस्य नैवावश्यकत्वम्। अतएव विदग्धमाधवादौ चन्द्रावलीविरहिणः श्रीकृष्णस्य श्रीराधा अनुभवे सति क्लेशापगमो दृष्टः श्रीपञ्चाध्याय्यामपि सर्वकान्ताविरहेऽपि श्रीराधासङ्गिनः श्रीकृष्णस्य न क्लेशगन्धोऽपि। श्रीराधाविरहिणः श्रीकृष्णस्य तु सर्वकान्तासङ्गेऽपि क्लेश एव। यदुक्तं श्रीमज्जयदेवचरणैः—"राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरी।" इति, "इतस्ततस्ताम्" इत्यादि च॥६९॥

यथा—

सर्वारम्भमनोहरां सपदि मे चन्द्रावलीं विन्दतो,
रङ्गः शारदशर्वरीसमुचितः पर्याप्तिमेवाययौ।
तां कन्दर्पचमूचमत्कृतिकरक्रीडोर्मिकिर्मीरितां,
राधां हन्त तथापि चित्तमधुना साक्षान्ममापेक्षते॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—चन्द्रावलीके सहित सम्भोगमें निरत श्रीकृष्ण स्वयंसे बोले—"सब विषयोंमे मनोहारिणी चन्द्रावलीको इस समय प्राप्तकर शारदीयरात्रिके लिए सर्ववीर समुचित उपकरणसमूह पर्याप्त होनेपर भी जिनकी क्रीड़ातरङ्ग अनङ्गसेनाको भी चमत्कृत करती है, उन श्रीमती राधिकाके लिए ही इस समय मेरा चित्त अपेक्षा कर रहा है।"

तात्पर्य—उल्लिखित पद्यमें श्रीराधिका–विषयक आसक्तिके होनेसे चन्द्रावलीमें मध्यप्रेम है। चन्द्रावलीके सहित सम्भोगके समयमें भी ("तां कन्दर्पेण" इत्यादि पद्यमें) श्रीराधा–माधुर्य स्मरण हेतु इस प्रेमका मध्यमत्व है। इस स्थलमें राधिकाकी अपेक्षा चन्द्रावलीमें श्रीकृष्णका प्रेम मध्य है, किन्तु अन्योंकी अपेक्षा प्रौढ़ है। चन्द्रावलीके साथ सम्भोग कालमें

श्रीराधाके अतिरिक्त अन्योंका स्मरण नहीं हुआ। तब जो पूर्व पद्यमें कमलाका प्रौढ़त्व प्रदर्शन किया गया है उसका कारण यह है कि कमला श्रीराधाकी प्रियसखी है। श्रीराधाकी प्रीतिके निमित्त ही कमलाके प्रति श्रीकृष्णके अभिसारसे उस कमलामें श्रीराधा-जातीय सुखानुभव हेतु उसके सम्भोगमें चन्द्रावली प्रभृतिका स्मरण सम्भव नहीं हुआ। अतएव श्रीराधा और उनकी सखियोंमें प्रेमका प्रौढ़त्व और चन्द्रावलीमें मध्यमत्व है॥७०॥

लोचनरोचनी—सर्वारम्भेत्यत्र च प्रेमलक्षणमनुगतमेव। तादृश श्रीराधाप्रेमणि व्यवधायकेऽपि मिथोऽनुगत्य परित्यागात्॥७०॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावलीं संभुञ्जानः श्रीकृष्णः स्वगतमाह—सर्वारम्भेति। अत्र श्रीराधाविषयासक्तिसद्भावेऽपि चन्द्रावल्यां मध्यमप्रेमेति मध्यमलक्षणं तत्संभोगसमयेऽपि तां कन्दर्पत्यादिना श्रीराधामाधुर्यानुस्मरणमिति प्रेम्णो मध्यमत्वम्। पूर्वत्र कमलायां तु प्रौढ एव तस्या राधाप्रियसखीत्वात्, श्रीराधयैव प्रीत्याभिसारितत्वात्, तस्यां श्रीराधाजातीयसुखानुभवात्तत्संभोगे चन्द्रावल्यादेर्न स्मरणसंभवः श्रीराधायाः स्मरणसंभवेऽपि तस्यास्तद्यूथेश्वरीत्वेन तदैक्यात्तदितरत्वाभावात्। यदुक्तम्—इतरानुभवापेक्षां सहत इति। तदेवं श्रीराधायां तत्सखीषु च प्रेम्णः प्रौढत्वमात्यन्तिकं चन्द्रावल्यादिष्वापेक्षिकं प्रौढत्वं मध्यमत्वं चेति विवेचनीयम्॥७०॥

अथ मन्दः—

सदा परिचितत्वादेः करोत्यात्यन्तिकात्तु यः।
नैवोपेक्षां न चापेक्षां स प्रेमा मन्द उच्यते॥७१॥

यथा—

अनुनीय रूढमानामानय भामां सखीमशोकलताम्।
भवति प्रेमवतीनां मनागुपेक्षापि दोषाय॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—मन्दप्रेम—व्रजभूमिमें मन्दप्रेमका उदाहरण असम्भव होनेके कारण द्वारकाका ही उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। कोई पुरोहित पत्नी श्रीकृष्णके प्रति बोली—"हे श्रीकृष्ण! प्रेमवतीकी ईषत् उपेक्षा भी दोषका कारण होती है। अतएव मानिनी सत्यभामाकी सखी अशोकलताको अनुनयकर ले आओ।" श्रीकृष्ण-प्रेयसी-विषयक प्रेमभेदको दिखलाकर प्रेयसियोंके भी श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमभेदको दिखला रहे हैं॥७१-७२॥

लोचनरोचनी—अनुनीयेत्यत्रापि सपत्न्यन्तरजातबाधत्वं ज्ञेयम्॥७२॥

आनन्दचन्द्रिका—सदा परिचितत्वादेरिति। आदिशब्दात् सदा सांनिध्यमपि ज्ञेयम्। एतच्च लोकोक्तरीत्यैवोक्तं वस्तुतस्तूपेक्षापेक्षयो राहित्ये जातिप्रमाणाभ्यां प्रेम्णो मान्द्यमेव कारणम्, तस्य च नायिकानिष्ठं प्रेममान्द्यमिति॥७१॥

अस्योदाहरणं व्रजभूमावसंभवमिति द्वारकायामुदाहरति—अनुनीयेति। काचित् पुरोहितपत्नी श्रीकृष्णं प्रत्याह—भामासखीं सत्यभामायाः सखीमिति। तामपेक्ष्यापि एषा त्वयावश्यमेवादरणीयैवेति भावः॥७२॥

अथवा—

प्रौढः प्रेमा स यत्र स्याद्विश्लेषस्यासहिष्णुता॥७३॥

यथोद्धवसंदेशे (५०)—

निर्म्माय त्वं वितर फलकं हारि कंसारिमूर्त्या,
वारं वारं दिशसि यदि मां माननिर्वाहणाय।
यत्पश्यन्ती भवनकुहरे रुद्धकर्णान्तराहं,
साहंकारा प्रियसखि सुखं यापयिष्यामि यामम्॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—प्रकारान्तर रूपसे प्रेमके प्रौढ़ादि तीन भेद दिखला रहे हैं।

प्रौढ़प्रेम—प्रौढ़प्रेम उसे कहते हैं, जिसमें वियोगकालमें असहिष्णुता प्रकाशित होती है। "सावधान! मान शिथिल मत करना।" इस प्रकार उपदेश करनेवाली ललिताके प्रति श्रीराधा कह रही है—"सखि! बारम्बार तुम मुझे मान धारण करनेके लिए उपदेश दे रही हो। तब एक बात करो। कंसारिकी एक परम मनोहारी मूर्त्ति, चित्रपट निर्माणकर मुझे ला दो। ऐसा होनेपर मैं गृहके भीतर अपने कानोंको बन्दकर अहङ्कार चित्तसे अर्थात् महामानिनी होकर गर्व धारण करती हुई चित्रफलकको दर्शनकर परम सुखसे मुहुर्त्तकाल मात्र मानिनी होकर समय व्यतीत कर सकूँगी।" 'गृहके भीतर अपने कानोंको बन्दकर' कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहके भीतर बैठे रहनेसे श्रीकृष्ण अन्दर नहीं आ पाएँगे, तथा कानोंको बन्द करनेसे मुरली और कोकिलादिका शब्द भी श्रवण नहीं कर पाऊँगी। मुहूर्त्त-निर्देशका कारण यह है कि अल्पकालके लिए ही मान धारण कर सकूँगी और वो भी तभी, जब तुम मुझे चित्रफलक

ला दो। तत्पश्चात् पुर्नबार मान करो, यद्यपि फिरसे ऐसा आदेश करो, तो प्राण परित्याग कर दूँगी अथवा उन्मत्त होकर तुम्हारे प्रति अनादर प्रकाश करती हुई अकेली दौड़कर श्रीकृष्णके कण्ठसे लग जाऊँगी॥"७३–७४॥

लोचनरोचनी—अथ साक्षादेव तासां प्रेमभेदा वर्णनीया इत्यभिप्रेत्याह—अथवेति॥७३॥

"प्रियसखि सुखं यापयिष्यामि यामम्" इत्यत्र "लवकतिपयं यापयिष्यामि यामम्" इति पाठान्तरं लभ्यम्। फलकं चित्राधारम्॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य प्रेयसीविषयान् प्रेमभेदान् दर्शयित्वा प्रेयसीनामपि श्रीकृष्णविषयांस्तान् दर्शयितुमाह—अथवेति। यत्र यत्र सति॥७३॥

मानं मा शिथिलयेत्युपदिशन्तीं ललितां प्रति श्रीराधा प्राह—निर्मायेति। फलकं चित्रपटं वितर देहि। यत्पश्यन्ती सती साहंकारा अहंकारः अहं महामानिनीति त्वां सुखयितुं गर्वधारिणी मुहूर्तं यापयिष्ये। पश्यन्तीति वर्तमाननिर्देशेन चित्रदर्शनस्यापि विच्छेदेनैव तत्रापि भवनकुहर एव न तु बहिर्दक्षिणानिलाम्बुदाद्युद्दीपनविभावग्रस्ते। तत्रापि रुद्धकर्णरन्ध्रेव मुरली कोकिलादि भीतेरिति भावः। तत्रापि मुहूर्तमेव तेन तदनन्तरमपि पुनर्मानं कुर्विति यद्यादेक्ष्यसि तदाहं मरिष्याम्येव। किं वाहमुन्मत्ता त्वामनादृत्य एकाकिन्येवाभिसृत्य तस्य कण्ठे लगिष्यामीति व्यञ्जयामास। अत्र सखीकृतविघ्नातिक्रमात् प्रेमा स च विश्लेषासहनात् प्रौढः॥७४॥

कृच्छ्रात्सहिष्णुता यत्र स तु मध्यम उच्यते॥७५॥

यथा—

अवितथमसौ किं द्राघीयान् गमिष्यति वासरः,
सुमुखि स निशारम्भः किं वा समेष्यति मङ्गलः।
स्मितमुखशशी गोधूलीभिः करम्बितकुन्तलः,
क्षपयति दृशामार्तिं यत्र व्रजेश्वरनन्दनः॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—मध्यप्रेम—जिस प्रेममें विरहका दुःख असहनीय होनेपर भी कष्टके साथ सहन किया जा सकता है, उसे मध्यप्रेम कहते हैं।

श्रीकृष्णके वृन्दावनमें गोचारणके लिए गमन करनेपर कोई यूथेश्वरी उनके विरहमें खिन्न होकर अपनी प्रियसखीको पूछ रही है—"हे सुमुखि! क्या सचमुच इस दीर्घ दिवाभागका अवसान होगा और मङ्गलमय वही निशा पुनः आएगी? क्योंकि प्रदोषकालमें स्मितमुखचन्द्रवाले व्रजेन्द्रनन्दन

गोधूलि–रञ्जित केशकलापसे सबकी पीड़ा हरण करेंगें।" उक्त उदाहरणमें प्रहर चतुष्टयात्मक–दिनकी सहिष्णुता हेतु प्रेमका मध्यमत्व प्रकाशित हुआ॥७५–७६॥

लोचनरोचनी—द्राघीयानिति। दीर्घोऽसौ वासरः किमवितथं सत्यमेव गमिष्यति? गमिष्यतीति यद्ब्रूषे तत् किं सत्यमेवेत्यर्थः। मङ्गलत्वमेव दर्शयति—स्मितमुखेति। तत्र तस्य दर्शनमात्रेण स्वसुखं व्यञ्जितम्। न तु स्वं प्रति प्रेमविशेषः। ततस्तदौदासीन्यरूपे ध्वंसकारणे सत्यपि तस्मिंस्तु स्वासक्त्या प्रेमापि व्यञ्जितः॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् स्वसखीं प्रत्याह—अवितथं सत्यमेव किमसौ गमिष्यति? गमिष्यतीति यद् ब्रूषे तत्किं सत्यमेवेत्यर्थः। द्राघीयानतिदीर्घो निशारम्भः स मङ्गल इति वासरस्यामङ्गलत्वं सूचयति। अत्र प्रहरचतुष्टयस्य स्थूलकालस्य कृच्छ्रेण सह्यमानत्वभावेनैव प्रेम्णो मध्यमत्वव्यञ्जिका। अत्र द्वितीयपदे "यदि पुनरसावात्मा तावन्न यास्यति हन्त मे", तथा चतुर्थे पादे "सुमुखि स दृशामार्त्तिं कृष्णस्तदा क्षपयिष्यति" इत्युक्ते सत्यसहिष्णुत्वेन प्रौढत्वमेव स्यात्। यथा विदग्धमाधवे—"नालीकिनीं निशि घनोत्कलितामशङ्कं क्षिप्त्वावृतीरतनुवन्यगजः क्षुणत्ति। अत्रानुरागिणि चिरादुदितेऽपि भानौ हा हन्त किं सखि सुखं भविता वराक्याः॥" इति अत्र व्रजेश्वरस्य नन्दन इत्यनेन तस्य परपुरुषत्वात्तदासक्त्या लोकधर्मनिन्दारूपे ध्वंसकारणे सत्यपि प्रीतेर्ध्वंसाभावः प्रेमलक्षणं ज्ञेयम्॥७६॥

स मन्दः कथितो यत्र भवेत्कुत्रापि विस्मृतिः॥७७॥

यथा—

प्रतिपक्षजनेर्षया न मे स्मृतिरासीद्वनमाल्यगुम्फने।
सखि किं करवै गवां पुरो घनहम्बाध्वनिरेष जृम्भते॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—मन्दप्रेम—जो काल विशेष और स्थल विशेषमें विस्मरण करा देता है, उसे मन्दप्रेम कहते हैं।

कोई व्रजदेवी अपनी विपक्षा यूथेश्वरीके सौभाग्यको देखकर विपक्षके प्रति अवज्ञा प्रदर्शित करती हुई क्षोभसे ईर्ष्याक्रान्त होकर श्रीकृष्णके लिए नित्य दी जानेवाली वनमालाको गूँथना भी भूल गई। तत्पश्चात् व्रजमें श्रीकृष्णके प्रवेशका काल निश्चयकर अपनी सखीको खेदके साथ कह रही है—"हे सखि! प्रतिपक्ष जनोंके प्रति ईर्ष्या हेतु आज मैं वनमालाको गूँथना भी भूल गई। हाय–हाय! अब क्या करूँ? अब

सामने ही गायोंका हम्बारव और मुरलीकी मधुरतान सुनी जा रही है?" उक्त उदाहरणमें वनमाला गूथना श्रीकृष्णसुख प्रयोजन हेतु अन्तरङ्ग कारण है। प्रतिपक्ष विषयिनी ईर्ष्या रसपोषक होनेपर भी तदपेक्षा बहिरङ्ग है। बहिरङ्ग वस्तुकी स्मृति और अन्तरङ्ग वस्तुकी विस्मृति यहाँ मन्दप्रेमको सूचित करती है। अतएव ईर्ष्या ही प्रेमध्वंसका कारण है। फिर भी प्रेम है, यही प्रेमलक्षण है॥७७–७८॥

लोचनरोचनी—कुत्रापीति। श्रीकृष्णसंबन्धान्तरेणेति ज्ञेयम्॥७७॥

प्रतिपक्षजनः खल्वत्र विजातीयभावस्तत्प्रेयसीरूपो न तु साधारणः। तासां व्यवहारान्तरानावेशात्। ततो ध्वंसकारणरूपायां सत्यामपि तदीर्ष्यायां ध्वंसरहिता रतिरियं प्रेमैव। तस्य राहित्यं चानुतापात् प्रतीतम्। तत्र च सति तदुत्थयापि नातियुक्तया तदीर्ष्यावशतया या प्रियमाल्यकृतौ विस्मृतिः, सा खलु प्रेम्णस्तस्य मन्दतां व्यनक्तीति भावः। जृम्भते प्रकाशतेमुखे विकाशरूपाया जृम्भाया अन्यत्राप्यारोपात्॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—कुत्रापि कस्मिन्नप्यावश्यककर्तव्ये श्रीकृष्णसंबन्धिनि वस्तुनि विषय इत्यर्थः॥७७॥

काचित् सखीं प्रत्याह—प्रतीति। अत्र वनमाल्यगुम्फनस्य श्रीकृष्णसुखप्रयोजन-कत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रतिपक्षजनविषयिण्या ईर्ष्यायास्तु रसपोषकत्वेऽपि तदपेक्षया बहिरङ्गत्वाद्बहिरङ्गवस्तुनः स्मृतिरन्तरङ्गवस्तुनो विस्मृतिरिति प्रेममान्द्ये युक्तिः। तथात्रेर्ष्यैव प्रेमध्वंसकारणं तस्यां सत्यामपि प्रेमेति प्रेमलक्षणम्॥७८॥

अथ स्नेहः—

आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते।
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥७९॥

तात्पर्यानुवाद—स्नेह—जो प्रेम परिपक्व होकर चरमसीमाकी प्राप्तिकर चित्तरूपी प्रदीपको प्रकाशितकर हृदयको द्रवीभूत करता है, उसे स्नेह कहा जाता है। इस स्नेहके उदय होनेपर दर्शनादिमें अर्थात् परम मधुर रूप, गुण और लीलादिके यथायोग्य श्रवण, स्मरण और अनुमोदनादिसे कभी भी तृप्ति नहीं होती। यह स्नेहका लक्षण है।

वैष्णव पदकर्त्ता श्रीगोविन्द दास द्वारा रचित पदमें स्नेहकी सुन्दर अभिव्यक्ति है—

नव नव गुणगण, श्रवण–रसायन, नयन–रसायन अङ्ग।
रभस सभासन, हृदय–रसायन, परश–रसायन सङ्ग॥
ए सखि! रसमय अन्तर जार।
श्याम सुनागर, गुणगण–सागर, कोधनी किछुरये पार॥
गुरुजन–गञ्जन, गृहपति तर्जन, कुलवती–कुवचनभाष।
जत परमाद, सबहुँ पुन मेटव मधुर मुरली आशोयास॥
किये करब कुल, दिवसदीपतुल, प्रेम पवने घन डोल।
गोविन्द दास, यतन करि राखत, लाजक जाले अगोर॥
(पदकल्पतरु ९०४)॥७९॥

लोचनरोचनी—आरुह्य परमां काष्ठामिति। क्षयराहित्यं दर्शितम्। ततश्चिद्दीपस्य तद्दीपनत्वस्य चापरिच्छेदो व्यञ्जितः। चिदप्यत्र प्रेमविषयोपलब्धिः। "प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित्" इत्यमरः। तदेवं स्नेहरूपकेण दर्शयित्वा स्नेहसाजात्येन दर्शयति—हृदयं द्रावयन्निति। अथास्य तटस्थलक्षणमाह—अत्रेति॥७९॥

आनन्दचन्द्रिका—काष्ठामुत्कर्षम्। चिच्छब्देन प्रेमविषयोपलब्धिरुच्यते। "प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्" इत्यमरः। सा चिदेव दीपस्तं दीपयति उद्दीप्तं करोतीति। तेन प्रेमणि उपलब्धिरासीदेव स्नेहे तूपलब्धेरत्याधिक्ये घृतादिसद्भावे दीपस्यौष्ण्यप्रकाश-योराधिक्ये मदनस्य सम्यगभिद्रवीभाव इव हृदयस्यातिद्रुतत्वमित्यर्थः॥७९॥

यथा क्रमदीपिकायाम्:—

तदतिमधुररूपकम्रशोभामृतरसपानविधानलालसाभ्याम् ।
प्रणयसलिलपूरवाहिनीनामलसविलोलविलोचनाम्बुजाभ्याम् ॥८०॥

तात्पर्यानुवाद—भक्तिप्रतिपादक आगमशास्त्रमें माधुर्योपासक व्यक्तियोंको निरन्तर गोपियोंसे परिवेष्टित श्रीराधाकृष्णका स्मरण करनेके लिए कहा गया है। क्रमदीपिकामें कहा गया है—जिनकी श्रीकृष्ण–सम्बन्धी कमनीय अतिमधुर अमृत–रसमय रूप–पान करनेकी तीव्र लालसा है तथा प्रेमभार वहन करनेमें शान्तिवशतः जिनके चञ्चल लोचनोंसे प्रणयकी निरन्तर सलिल धारा प्रवाहित होती है, ऐसी सुललित गोपसुन्दरियोंके द्वारा शत–शत बार परिसेवित मुकुन्दका स्मरण करता हूँ॥८०॥

लोचनरोचनी—अलसविलोलविलोचनाम्बुजाभ्यां प्रणयसलिलपुरवाहिनीनां सुललितगोपसुन्दरीणामालीभिः सततनिषेवितं मुकुन्दं संचिन्तयेदिति पूर्वेण परेण

चान्वयः। ताभ्यां कीदृशीभ्याम्। तत्राह—तदतिमधुरेति। तत्रालस्यं प्रेममदेन तथापि विलोलत्वं तदुपलब्धये चापल्येन। रूपमवयवानां प्रमाण सौष्ठवम्। शोभा कान्तिः। मधुरत्वं कम्रत्वं च मनोहरत्वमेव गम्यम्। प्रेमत्वं चात्र तत्स्पर्शाद्यप्राप्तावपि रतिग्लान्यभावात्। स्नेहत्वं प्रणयसलिलेत्यादिना हृदयद्रवत्वव्यञ्जितत्वात्॥८०॥

आनन्दचन्द्रिका—भक्तिप्रतिपादकागमो माधुर्योपासकान् प्रति स्मरणं विदधदाह—तदिति। अलसे प्रेममदातिभारवहनेनालस्ययुक्ते विलासेन विलोले तत्सौन्दर्यलोलुपत्वेन चञ्चले ये विलोचनाम्बुजे ताभ्यां प्रणयसलिलपूरवाहिनीनां सुललितगोपसुन्दरीणामालीभिः सततनिषेवितं मुकुन्दं संचिन्तयेदिति पूर्वेणैवान्वयः। ताभ्यां कीदृशाभ्याम्। तस्य श्रीकृष्णस्यातिमधुरं यद्रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवं तस्य या कमनीयशोभा सैवामृतरसस्तस्य पानविधाने लालसैव न तु तृप्तिर्ययोस्ताभ्याम्। अत्र प्रणयसलिलेत्यादिना हृदयद्रवस्तथा तदतीत्यादिना तृप्त्यभावश्च स्नेहलक्षणं प्रेमलक्षणं चात्रोपरिष्टादपि सर्वत्र लोक-धर्मनिन्दारूपे ध्वंसकारणेऽपि ध्वंसाभाव इति ज्ञेयम्॥८०॥

यथा वा—

> **ज्योत्स्नाशीधुं हरिमुखविधोरप्यनल्पं पिबन्तौ,**
> **नान्तस्तृप्तिं तव कथमपि प्राप्नुतो दृक्चकोरौ।**
> **आघूर्णन्तौ मदकलतया सुष्ठु मुग्धौ यदेतौ,**
> **भूयो भूयस्तमिह वमतो बाष्पपूरच्छलेन॥८१॥**

तात्पर्यानुवाद—साधारण रूपसे सभी व्रजदेवियोंके श्रीकृष्ण-विषयक स्नेहका उदाहरण देकर प्रस्तुत पद्यमें श्रीमती राधिकाके स्नेहको दिखला रहे हैं। श्रीकृष्णके मुख-सौन्दर्यके दर्शनसे द्रवित चित्तवाली श्रीमती राधिकामें स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च, मान प्रभृति अष्टसात्त्विक भावोंके उदय होनेपर भी अश्रुपातका ही अत्यन्त उच्छलन देखकर वृन्दा कह रही है—"हे राधे! हरिके मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासुधाको अत्यन्त अधिक रूपमें पान करनेपर नेत्रचकोर तनिक भी तृप्तिका बोध नहीं कर रहे; परन्तु वे प्रमत्तता वशतः घूर्णायमान होते-होते इस वृन्दावनके निकुञ्जमें बारम्बार उसी ज्योत्स्नामृतको अश्रुप्रवाहके रूपमें वमन कर रहे हैं। ज्योत्स्नामृतको अपार जानकर नेत्र-चकोरकी देहमें स्थान-संकुलन न होनेके कारण वे पुनः-पुनः वमन कर रहे हैं, फिर वमन करके भी पुनः-पुनः उसका पान करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इसीलिए ऐसा कहूँगी कि वे अतिमूढ़

हो गए हैं। यथार्थ बात यह है कि ज्योत्स्नामृत पानसे उद्भूतानन्द उत्फुल्लतादि हेतुक परम सुन्दर ही हैं॥८१॥

लोचनरोचनी—मदकलतया मत्ततया। तं ज्योत्स्नासीधुम्। अत्र तृप्तिरूपविघ्नातिक्रमेण प्रेम बोधयित्वा तस्य बाष्पातिशयेन स्नेहत्वमपि दर्शितम्। एवमन्यत्र शब्दादिबलेनाध्याहारेण वा तत्तदङ्गानि पूरयितव्यानि॥८१॥

आनन्दचन्द्रिका—तास्वपि मध्ये श्रीवृन्दावनेश्वर्याः स्नेहं विशिष्य वर्णयितुमाह—यथा वेति। वृन्दा श्रीराधामाह—ज्योत्स्नेति। मदकलतया मत्ततया। तं ज्योत्स्नासीधुम्। सुष्ठु मुग्धाविति। एवं चावयोस्तृप्तिर्नैव भाविनीति। परिणामदर्शित्वाभावादिति भावः। वमत इति। वमनं विना उदरपूर्त्तिः स्यात्, सत्यां चोदरपूर्तौ पानाशक्तेरिति भावः। तेन चातिलोभो व्यञ्जितः॥८१॥

अङ्गसङ्गे विलोके च श्रवणादौ च स क्रमात्।
कनिष्ठो मध्यमः श्रेष्ठस्त्रिविधोऽयं मनोद्रवः॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—अङ्गसङ्ग, दर्शन तथा श्रवण आदिके क्रमसे कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ भेदसे मनोद्रव तीन प्रकारका होता है। यह मनोद्रव अर्थात् चित्तकी द्रवता यदि नायक-नायिकाके परस्पर अङ्गसङ्गसे उद्भूत होती है, तब उसको कनिष्ठ कहते हैं, दोनोंके दर्शनसे आविर्भूत हो, तो उसे मध्यमप्रेम कहते हैं और दोनोंके श्रवण हेतु ही उदित होनेपर वह श्रेष्ठरूपमें स्वीकृत है॥८२॥

आनन्दचन्द्रिका—अङ्गसङ्गे कनिष्ठ इति। विलोकश्रवणयोर्द्रवभावे सत्येवेति ज्ञेयम्। यस्याः पुनस्तयोरपि चित्तद्रवस्तस्या अङ्गसङ्गेऽपि श्रेष्ठ एवं विलोके मध्यम इति श्रवणे यदि न स्यादिति॥८२॥

तत्राङ्गसङ्गे यथा—

असि घनरसरूपस्त्वं पाली लावण्यसारमयमूर्त्तिः।
माधव भवदाश्लेषे भविता नास्याः कथं द्रवता॥८३॥

तात्पर्यानुवाद—अङ्गसङ्गसे जात मनोद्रव—क्रीड़ाकुञ्जमें श्रीकृष्णके द्वारा आलिङ्गिता पालीके स्वेदाश्रु प्रभृति सात्त्विक विकारोंको देखकर कुञ्जके बाहरमें रहकर उसकी प्रियसखी परोक्षमें श्रीकृष्णको बतला रही है—"हे

माधव! तुम घनरसस्वरूप (निबिड़ रसरूप एवं दूसरे अर्थमें जलस्वरूप) हो और पाली लावण्यसारमयी मूर्त्ति है (महाचाकचिक्यशालिनी पक्षमें लवणनिर्मित देहवाली)। इसीलिए तुम्हारे आलिङ्गन करनेपर पालीकी द्रवता (जलरूपत्व) प्राप्ति विचित्र नहीं है॥"८३॥

लोचनरोचनी—लावण्यं कान्तिचाकचिक्यमेव सारो यस्य तादृशस्य, पक्षे लावण्यं लवणतैव सारो यस्य लावण्याख्यवस्तुनः। तन्मयमूर्त्तिः॥८३॥

आनन्दचन्द्रिका—पाल्याः सखी श्रीकृष्णमाह—असीति। घनरसो निबिडो रसः पक्षे जलम्। लावण्यं कान्तिचाकचिक्यम्, पक्षे लवणत्वं सारो यस्य लवणाख्यवस्तुनः। तन्मयी मूर्त्तिर्यस्याः सा॥८३॥

विलोके यथा—

अस्यास्त्वद्वदने सरोजसुहृदि व्यक्तिं पुरस्ताद्गते,
नाश्चर्यं द्रवतामविन्दत मनोहैयङ्गवीनं यदि।
किंत्वाश्चर्यमिदं मुकुन्द मिलिते श्यामामुखेन्दौ भव–
च्चेतश्चन्द्रमणिर्द्रवन् जलतया भूयो बभूवाचलः॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—दर्शनसे जात मनोद्रव—श्यामाकी सखी बकुलमाला श्रीकृष्णको कहने लगी—"हे मुकुन्द! तुम्हारा कमलतुल्य वदनमण्डल दर्शनकर यद्यपि श्यामाका घृतके समान मन द्रवीभूत हो जाता है, यह आश्चर्य नहीं, किन्तु आश्चर्यका विषय यह है कि श्यामाका मुख दर्शनकर तुम्हारी चित्तरूप चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होकर जल रूपमें परिणत होकर भी पुनः अचल (जमकर) पर्वत बन गई है॥८४॥

लोचनरोचनी—सरोजसुहृदि कमलतुल्ये श्लेषेण सूर्ये जलतया द्रवन् भूयोऽचलः स्तब्धो बभूव। श्लेषेण पर्वतो बभूव। अत्र "अस्याः" इत्यत्र सख्याः इति च पाठान्तरम्॥८४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामायाः सखी बकुलमाला श्रीकृष्णं प्रत्याह—अस्या इति। सरोजसुहृदि कमलतुल्ये, पक्षे सूर्ये। श्यामाविषयकं श्रीकृष्णस्यापि स्नेहं वर्णयन्त्याह—किंत्विति। जलतया द्रवन् भूयः अचलः स्तब्धो बभूव, पक्षे पर्वतः। तेन श्यामाश्रीकृष्णयोः स्नेहांशेन तुल्यत्वेऽपि स्तम्भभावाधिक्यात् श्रीकृष्णस्याधिक्यं ततश्च श्यामायाः सौभाग्याधिक्यम्। अन्यतो लक्षणं व्यञ्जितम्॥८४॥

श्रवणे यथा—

> **श्रुतिपरिसरकक्षां याति नाम्नस्तवार्द्धे,**
> **मुरदमन दृगम्भोधारया धौतगात्री।**
> **मदनमदमधूलीमुग्धमेधासमृद्धिः,**
> **स्खलति कुवलयाक्षी जृम्भते स्तम्भते च॥८५॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रवणजात मनोद्रव—विशाखाके मुख द्वारा दैवयोगसे श्रीकृष्णनामाक्षर श्रवण करनेमात्रसे ही श्रीराधाजीकी जो अवस्था हुई, उसीको स्वयं विशाखाजी श्रीकृष्णके निकट बतलाते हुए कह रही है—"हे मुरारि! तुम्हारा अर्द्धमात्र नाम कर्णकुहरमें प्रवेश करते-न-करते ही मेरी सखीने नेत्रोंकी अश्रुधारासे स्नान कर लिया। मदन-मदरूप मधुपानसे विवेकरहित होकर बुद्धि-विवेकरूप सम्पत्तिको खोकर कभी स्खलित होती है, कभी जम्भाई लेती है और कभी स्तब्ध हो जाती है॥"८५॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—दृगम्भ इति। स्नेहलिङ्गं मनोद्रवस्यानुभावो नयनद्रवः सर्वत्र ज्ञेयः। मदनमद एव मधुली मधु तया मुग्धा मूढा लुप्तविवेका मेधासमृद्धिर्बुद्धिवैभवं यस्याः सा॥८५॥

आदिशब्देन स्मरणे यथा—

> **कृष्णवर्त्मनि कृताभिनिवेशा सांप्रतं त्वमसि कम्पितगात्री।**
> **स्नेहपूरपरिपाकमयं ते किं भविष्यति मनो न विलीनम्॥८६॥**

तात्पर्यानुवाद—स्मरणजात मनोद्रव—गोचारणके लिए श्रीकृष्णके वृन्दावन चले जानेपर श्रीकृष्णके साथ माधुर्य विलासादिका स्मरण करते-करते श्रीराधाका चित्त द्रवित हो गया। विशेषतः श्रीराधाजीके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहती हुई देखकर नान्दीमुखी उनसे कह रही है—"हे कम्पित-गात्रि सखि! अभी भी श्रीकृष्णके गमन-पथरूप अग्निमें अपनेको अभिनिविष्ट कर रखी हो! अतएव तुम्हारा मन अतिशय स्नेह-प्रवाहकी सीमा तक क्यों नहीं उसमें विलीन होगा? क्या तुम नहीं जानती कि अग्निमें नवनीत या घीसे लगी हुई कोई भी वस्तु देनेसे, वह घीके साथ-ही-साथ जलकर भस्म हो जाती है॥"८६॥

लोचनरोचनी—कृष्णवर्त्मनि, कृष्णाध्वनि श्लेषेणाग्नौ॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—अकस्मादश्रुजलस्नातााननां श्रीराधां विलोक्य नान्दीमुख्याह—कृष्णवर्त्मनि वह्नौ, पक्षे श्रीकृष्णाध्वनि। यतः कम्पितगात्री शीतनिवृत्त्यर्थमिति भावः। पक्षे कम्पः सात्त्विकः। एतादृशं मनः कथं न विलीनं भविष्यतीति। वह्नौ प्रज्ज्वलिते सतीति भावः। अतस्तत्र त्वया सावधानतया स्थातव्यमिति व्यञ्जितम्। पक्षे तव बहिर्गतैरश्रुप्रवाहैरेवान्तर्मनसो द्रवातिशयोऽनुमीयत इति भावः॥८६॥

स घृतं मधु चेत्युक्तः स्नेहो द्वेधा स्वरूपतः॥८७॥

तत्र घृतस्नेहः—

आत्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते॥८८॥

भावान्तरान्वितो गच्छन् स्वादोद्रेकं न तु स्वयम्।
घनीभवेन्निसर्गातिशीतलान्मिथ आदरात्।
गाढादरमयस्तेन स्नेहः स्याद्घृतवद्घृतम्॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—घृतस्नेह—अत्यन्त आदरमय स्नेहको घृतस्नेह कहते हैं। घृत जिस प्रकारसे शर्करादि अन्य वस्तुओंके सहित मिश्रित होनेपर ही अत्यन्त आस्वादनीय होता है, मधुकी भाँति स्वयं माधुर्यवाही नहीं होता, उसी प्रकार यह घृतस्नेह भी गर्व, असूयादि भावोंके सहित मिश्रित होनेपर ही अत्यन्त सुस्वादु होता है, किन्तु मधुस्नेहकी भाँति स्वयं माधुर्यवाही नहीं होता। प्रगाढ़ आदरमय होनेके कारण घृतस्नेह घृततुल्य होता है; अर्थात् घी जिस प्रकारसे सहज शीतल पदार्थके सहयोगसे घनीभूत हो जाता है, उसी प्रकार यह घृतस्नेह भी नायक और नायिकाके परस्पर आदर-संयोगको पाकर घनीभूत हो जाता है, अन्यथा तरल ही रहता है। घृतस्नेहमें "मैं श्रीकृष्णकी हूँ" यह तदीयताभाव परिलक्षित होता है॥८७-८९॥

लोचनरोचनी—आत्यन्तिकेति। मधुस्नेहेऽप्यादरोऽस्त्येवेति व्यज्यते॥८८॥

यद्यपि रतिमात्रमेव परममधुरत्वेन पूर्वग्रन्थमारभ्य निर्दिष्टं तत्रापि माधुर्यातिशयविवक्षया रतेरस्या मधुरेति संज्ञा कृता। तथापि ततोऽपि परममधुरस्नेहास्वादिश्रीराधाललितादि-दृष्ट्यात्यन्तिकादरमयस्यास्य नातिरोचमानत्वं यत्तदनुस्मृत्याह—भावान्तरेति। भावान्तरमत्र कादाचित्को मधुस्नेहाभासः। तस्मात्तस्यैवोत्कृष्टत्वात्। तदेवं ललनाश्रयात्यन्ति-कादरस्तस्याङ्गमेवेत्युक्तम्। तत्र च सति यदा नायकस्यापि तद्विषय आदरो दृश्यते,

तदा मिथआदरात् जहदजहल्लक्षणया ललनाश्रयात्यन्तिकादरसंयोगिनायिकादरात् घनीभवेत्। किन्तु नायकस्याप्यादर आत्यन्तिक एवेष्टः। मिथः शब्देन साम्यप्राप्तेः। कीदृशात्—निसर्गेण स्वभावेनातिशीतलात्। नायकस्य ललनायामादरः स्वभावशीतलतयैव युक्तो न तु ललनावन्मानादावुष्णतांशधरोऽपीति भरतादिमतत्वादिति भावः। तेन हेतुना गाढादरमयः स्नेहोऽयं घृतवदिति घृतमेव स्यात्। घृततया परिभाष्यत इत्यर्थः॥८९॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ तस्यैव स्नेहस्य जातिभेदेनास्वादविशेषान्नामभेदमाह—स इति। स स्नेहो घृतं घृतसाम्यात्, मधु च मधुसाम्यादिति। अत्र स्नेहशब्देन चित्तद्रवरूपस्यार्थस्योक्तत्वात् द्रवस्य च द्रववता घृतेन मधुना च वस्तुना साम्यानुपपत्तेर्घृतस्य मधुनश्चोक्तः स स्नेहो द्विविधः, स्वत इति वक्तुं युज्येत। तथा सति कस्याश्चिद्घृततुल्यस्य द्रवः, कस्याश्चिन्मधुतुल्यस्येति चित्तस्यैव जातिभेदात् स्नेहस्यापि जातिभेद इति सुष्ठु संगच्छते यद्यपि तदपि यथा पक्वस्य वस्तुन एव स्वादुत्वेऽपि पाकोऽयमनेनातिस्वादुः कृत इति तत्क्रियाया एव वैलक्षण्यविवक्षयोच्यते। तथैव चित्तद्रवरूपस्य स्नेहस्यैव वैलक्षण्यं विवक्षुणा ग्रन्थकृता तस्यैव द्वैविध्येन स्वादनार्थं स्नेहो घृतमिव स्वादुर्मध्विव स्वादुरित्युक्तम्। यथाद्यानेन पाकोऽमृतमिव कृत इति धर्मस्यापि धर्मिणा साम्यमुपपाद्यत एवेति॥८७॥

आत्यन्तिकेति। तेन मधुस्नेहत्वापेक्षिकः किंचिन्मात्र आदरोऽस्त्येव। स्वसखीभ्यस्तत्प्रियसखिभ्यः सुबलादिभ्यश्च सकाशात्तस्मिन्नादरः किंचिदधिकः श्रीराधाया अपि भवेदिति द्योतितम्॥८८॥

तस्य घृतसाधर्म्यं दर्शयति—भावान्तरमिति। भावान्तरं मदरूपस्यौष्ण्यस्य किंचिन्मात्राविष्कारात्, मदीयांशरूपो मधुस्नेहाभास एव। घृतपक्षे तेनान्वित एव भावः। शर्करादिर्द्रव्यं स्वादस्योद्रेकमिति केवलस्यापि घृतस्य स्वादमात्रं त्वस्त्येवेति भावः। मिथ आदरात् नायकयोः परस्परगौरवाविष्कारात् घनीभवेन्निबिडत्वं प्राप्नोति। अन्यथा असान्द्रः स्यादिति भावः॥८९॥

यथा—

अभ्युत्थाय विदूरतो मधुभिदा याश्लिष्यते सादरं,
या स्नेहेन वशीकरोति गुरुणा पावित्र्यपूर्णेन तम्।
क्षिप्रं याति सितोपलेव विलयं तत्केलिवृष्ट्या च या,
युक्ता हन्त कयोपमातुमपि सा चन्द्रावली मे सखी॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—युवतियोंकी सभामें सौभाग्यके प्रसङ्गमें ललितादिको कटाक्ष करते हुए पद्मा कह रही है—“जिसको मधुसूदन अत्यन्त दूरसे

देखकर ही बड़े आदरके साथ उठकर खड़े हो जाते हैं और फिर उसका आलिङ्गन करते हैं, जिन्होंने निरुपाधिपूर्ण महास्नेहके द्वारा उनको वशीभूत कर रखा है और जो श्रीकृष्णके अनुपम केलिविनोदकी वर्षासे ओलेकी भाँति द्रवीभूत हो जाती हैं, अहा! ऐसी मेरी प्रियसखी चन्द्रावलीके तुल्य उपमायुक्त और कौन हो सकता है?" ॥९०॥

लोचनरोचनी—पावित्र्यपूर्णेन मदोष्मतादिदोषरहितेनेति तत्सख्या मधुस्नेहं प्रत्यसूयोक्तिः। सितोपलेत्यस्माभिर्गर्हितमानतया कठिनीकृतापीत्यर्थः। सितोपला मत्स्यण्डी। सा च शुभ्रसैन्धवाकारः खण्डविकारः॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—युवतिसभासु सौभाग्यप्रस्तावे ललिताद्याः कटाक्षयन्ती पद्माह—अभ्युत्थायेति। गुरुणेति। स्नेहस्य प्रमाणत आधिक्यं पावित्र्यपूर्णेनेति जात्या च मदोष्णताराहित्यमेवात्र पावित्र्यमिति मधुस्नेहं प्रत्यसूयां व्यञ्जयति। सितोपला ओलेति ख्याता। विलयं द्रवीभावं यातीति चित्ततन्वोरेकीभावविवक्षयोक्तिः॥९०॥

यथा वा—

निजमघरिपुणांसे न्यस्तमाकृष्य सव्यं,
भुजमिह निदधाना दक्षमस्रोक्षिताक्षी।
पदयुगमपि वङ्कं शङ्कया विक्षिपन्ती,
प्रतियुवतिवयस्यां स्मेरयामास गौरी॥९१॥

तात्पर्यानुवाद—घृतस्नेहवती नायिकामें श्रीकृष्णके आदर इत्यादिका उदाहरण देकर प्रस्तुत पद्यमें नायकके प्रति घृतस्नेहयुक्त नायिकाके आदरको दिखा रहे हैं।

एक समय रासलीलामें चन्द्रावलीकी सुहृत्पक्षा गौरीके श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त गौरवादिको, अतिशय संकोचको, देखकर उसकी प्रतिपक्ष सखीको हँसते देखकर वृन्दा कुन्दलतासे बोली—"श्रीकृष्णके द्वारा गौरीके बाएँ हाथको पकड़कर स्कन्धदेशमें स्थापन करनेपर गौरीने उसे वहाँसे हटाकर अपनी दाहिनी भुजाको वहाँ अर्पित किया और अश्रुपूरित लोचनोंसे उसने श्रीकृष्णके अङ्गोंमें अपने पैरोंके स्पर्शके भयसे अपने चरणोंको वहाँसे हटाकर वक्रभावसे उनकी तरफ देखा। इसके द्वारा उन्होंने प्रतिपक्षकी सखियोंको ही केवल हँसाया॥"९१॥

लोचनरोचनी—तदेवं तत्सखीवचनद्वारा तत्स्नेहोत्कर्षमुक्त्वा मधुस्नेहस्य तस्य ततोऽप्युत्कर्षं श्रीराधासख्यनुभवमाह—निजमिति। वङ्कं वक्रम्। "वकि कौटिल्ये"। स्वेषामेव प्रतियुवतिवयस्यात्वेऽपि प्रतियुवतीति स्वतो भिन्नत्वेनोक्तिः स्वेर्ष्यागोपनाय। तदेतदनुवादमात्रमस्माभिः क्रियते इत्यभिप्रायात्। स्मेरयामासेत्यत्र स्मारयामासेत्येव पाठः सभ्यः॥९१॥

आनन्दचन्द्रिका—घृतस्नेहवतीनां विलासादावपि श्रीकृष्णविषयकमादरमभिनयेन स्पष्टं वक्तुमाह—यथा वेति। रासे एकत्र नर्त्तित्वा पुनरपि मण्डलान्तरे नर्त्तितुं श्रीकृष्णेन नीयमानां चन्द्रावलीं वर्णयन्ती वृन्दा नान्दीमुखीं प्रत्याह—अघरिपुणा श्रीकृष्णेनांसे स्कन्धे न्यस्तं सव्यं भुजं निजमाकृष्य अमङ्गलमिमं मदीयवामभुजं कथं प्रियस्य स्कन्धेऽर्पयामीति तदंसादपनीय इह प्रियांसे दक्षं दक्षिणं भुजं निदधाना प्रियस्य दक्षिणपार्श्वाद्वामपार्श्वमागत्येत्यर्थः। तथैव दक्षिणभुजार्पणसिद्धेः। तथागमने च स्वपदयुगं वङ्कं "वकि कौटिल्ये" कुटिलं कृत्वेत्यर्थः। शङ्कया कदाचित् प्रियस्याङ्गे मम पादस्पर्शः स्यादिति भीत्येत्यर्थः। प्रतिपक्षयुवतिवयस्यां श्रीराधासखीं काचिद्दूरतः पश्यन्तीं स्मेरां चकार॥९१॥

आदरो गौरवोत्थः स्यादित्यन्योन्याश्रितं द्वयम्।
रत्यादौ सदपि स्नेहे सुव्यक्तत्वादिहोच्यते॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ **सन्देह—**पूर्व श्लोकमें चन्द्रावलीके प्रति श्रीकृष्णके आदर और उसके परवर्ती पद्यमें श्रीकृष्णके प्रति गौरीके अतिशय गौरवको दिखलाया गया। घृतस्नेहके लक्षणमें "आत्यन्तिक आदरमय" कहे जानेके कारण यहाँ गौरवकी बातका तो उल्लेख ही नहीं हुआ। समाधान—गौरवके कारण ही आदर उत्पन्न होता है। इसलिए आदर और गौरव परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं। रति और प्रेममें आदर और गौरव दोनोंके वर्त्तमान रहनेपर भी गौरव अत्यन्त अव्यक्त रहनेके कारण प्रतीति योग्य नहीं था। अभी स्नेहकी दशामें सुव्यक्त रूपसे प्रतीतिगम्य होनेके कारण स्नेहके प्रसङ्गमें इसका उल्लेख किया गया है॥९२॥

लोचनरोचनी—नन्वादरः कस्तत्राह—आदर इत्यर्द्धेन। गौरवं गुरुरयमिति बुद्धिः। तदुत्थो यो भावः संभ्रमाख्यः स एवादर उच्यत इत्यर्थः। तर्हि गौरवमपि कथं नोच्यते तत्राह—इति पूर्वोक्ताद्धेतोः। द्वयमप्यन्योन्याश्रितं तस्मादादरेणैव तल्लभ्यत इति न पृथगुच्यत इति भावः। ननु तदिदं द्वयं तासां रत्यादावस्त्येव। कारणगुणा

हि कार्य्यगुणमारभन्त इति न्यायेन। न तर्हि कथं स्नेह एव तदुच्यते तत्राह—रत्यादाविति॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—नन्वादरस्य को हेतुस्तत्राह—गौरवादुत्तिष्ठतीति सः। ननु गौरवस्यापि कोऽत्र हेतुः? श्रीकृष्णस्य परपुरुषत्वाच्चन्द्रावल्याः श्रीकृष्णे गुरुरयमिति बुद्धिर्नोपपद्यते यतो गौरवः स्यादित्याह—इत्यन्योन्येति। श्रीकृष्णस्य सर्वव्रज आदृतत्वादादरोत्थमेव गौरवमिति। द्वयमन्योन्याश्रितमेव। नन्वेवं चेद्रतिप्रेम्णोरप्यादरस्य सत्त्वं संभवेदेव? सत्यमित्याह—रत्यादाविति। अयमर्थः—अतिपरिचितत्वेऽपि यद्यादरः स्थिरीभवति तदैव स गण्यत इति प्रेम्णोः श्रीकृष्णस्यातिपरिचितत्वाभावात्तत्र सन्नप्यादरो न प्रतीत्यर्ह इति तत्र नोक्तम्, स्नेहे त्वतिपरिचितत्वेऽपि श्रीकृष्णे चन्द्रावल्या आदरस्य वृद्धिरेव दृश्यत इति सुव्यक्तत्वम्॥९२॥

अथ मधुस्नेहः—

मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु॥९३॥

स्वयं प्रकटमाधुर्यो नानारससमाहृतिः।
मत्ततोष्मधरः स्नेहो मधुसाम्यान्मधूच्यते॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—मधुस्नेह—प्रियके प्रति "ये मेरे ही हैं", ऐसे अतिशय मदीयतायुक्त स्नेहको मधुस्नेह कहते हैं। यह दूसरे भावोंकी अपेक्षा न कर स्वयं ही माधुर्यको प्रकट करता है। इसमें हास्य, अद्भुतादि विविध रसोंका सम्मिलन होता है। यह मत्तता और गर्वको भी वहन करता है। मधु स्वयं ही परम मधुर होता है। विविध प्रकारके पुष्पोंके रसके मिश्रणसे प्रस्तुत होनेसे मत्तता और तापको भी प्रदान करता है। इसलिए मधुके साम्यसे ऐसे स्नेहको मधुस्नेह कहते हैं॥९३–९४॥

लोचनरोचनी—मदीयत्वातिशयभागित्यनेनेदं लभ्यते—रत्युद्भवो हि द्विधा भवति—तदीयाहमिति, मदीयः स इति भावनाभेदात्। तस्मात् पूर्वं यो घृतस्नेह उक्तः, स तदीयाहमिति भावनामयः। मधुस्नेहस्त्वयं मदीयः स इति भावनातिशयमयोऽतिशयशब्दः। पूर्वत्रापि यत्किञ्चित् मदीयत्वभावनास्तु नाम तदीयतातिशयेनावृतत्वात् तु न गण्यत इति भावः। तदेवं पूर्वत्र य आदरातिशय उक्तः, तस्यापि तदीयताभावनमेव कारणमिति व्यञ्जितम्॥९३॥

नानारसेति। नानारसानां घृतस्नेहदुष्प्रापवक्ष्यमाणललिताख्यादीनां भावानां समाहृतिः सूक्ष्मतया स्थितिर्यत्र सः। सर्वेऽपि रसनाद्रसा इत्युक्तत्वात् भावानामपि

रसत्वापत्तेः, पक्षे रसानां तत्तत्पुष्पभेदेन नानात्वम्। मत्तता आनन्दविकारः। ऊष्मा व्याख्यास्यते। तद्धरस्तदर्पकः॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—मदीयत्वातिशयं भजतीति सः। तेन तदीयत्वातिशयभाग घृतस्नेह इति लभ्यते। यद्भावबन्धनं यूनोरित्युक्तं तद्बन्धनं च तस्याहं प्रेयसी, मम स प्रेयानिति भावनाद्वयमयम्। तत्राद्यभावनाया आधिक्ये सति चित्तद्रवे घृतस्नेह; द्वितीयभावनाया आधिक्ये सति चित्तद्रवे मधुस्नेहः। वस्तुतस्तूभयत्रैवोभयं संतततमं भूम्ना व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेनैव तदीयतामयो घृतस्नेहः, मदीयतामयो मधुस्नेह इत्युच्यते। भावनयोरनयोः कारणं तु स्वपक्षविपक्षादिभेदप्रकरणे विवृतमेव॥९३॥

स्वयमेव प्रकटं माधुर्यं यत्रेति घृतस्नेहे घृते च यथा भावान्तरसंपर्केणैव माधुर्यं तथा नेत्यर्थः। नानारसानां वक्ष्यमाण कौटिल्यनर्मादिभेदेन मधुपक्षे नानापुष्पसंबन्धिनां समाहारो यत्र सः। मत्तता तदानन्दादिभरेण वस्त्वन्तरानवधानमूष्मा गर्वश्च तौ धरत इति सः, पक्षे मधुपाने मत्ततौष्ण्ये प्रसिद्धे एव॥९४॥

यथा—

> **राधा स्नेहमयेन हन्त रचिता माधुर्यसारेण सा,**
> **सौधीव प्रतिमा घनाप्युरुगुणैर्भावोष्मणा विद्रुता।**
> **यन्नामन्यपि धामनि श्रवणयोर्याति प्रसङ्गेन मे,**
> **सान्द्रानन्दमयी भवत्यनुपमा सद्यो जगद्विस्मृतिः॥९५॥**

तात्पर्यानुवाद—एक समय श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे थे—"अहो! स्नेहस्वरूप माधुर्यसारके द्वारा निर्मित श्रीराधिका आलौकिक गुणोंसे घनीभूत होनेपर भी सात्त्विक इत्यादि भावसमूहके प्रखर तापसे नवनीतके तुल्य द्रवीभूत हो गईं हैं। ऐसा लगता कि एक परम माधुर्यमयी सुधा-निर्मित कोई प्रतिमा हों! अहा! उनके अनन्त नामोंमें एक नाम भी आनुसङ्गिक रूपमें प्रस्तावक्रमसे मेरे कानोंमें प्रवेश करते-न-करते ही तत्क्षण अलौकिक आनन्दमय एवं अतुलनीय आनन्दमूर्च्छाके साथ जगत्-वर्ती निखिल विषयोंको विस्मरण करा देता है।" मधुके साथ तुलना इसलिए की गई है क्योंकि अन्य वस्तुओंके संयोगके बिना भी मधुका माधुर्य अपने-आप होता है। मधुमें नाना प्रकारके पुष्पोंका रस मिला रहता है और मधुर-मादकत्व शक्ति भी उसमें हैं। पान करनेसे अङ्ग ऊष्ण भी होते हैं॥९५॥

लोचनरोचनी—उरुगुणैर्ललितत्वादिहेतुभिर्बहुभिरुत्कर्षैर्घनापि भावेन प्रियगुणभावनया य ऊष्मा तदनुकूल्योत्कण्ठा संतापः तेन विद्रुता सदैव द्रवतया स्थिता। जगत् तदन्यत्॥९५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—राधेति। सौधी सुधासंबन्धिनी घना सान्द्रा। अतिनिबिडेत्यर्थः। तदपि विद्रुताभाव औत्कण्ठ्यं तदेवोष्मा तेन। अत्र किं प्रमाणमिति चेन्मदनुभव एवेति कैमुतिकन्यायेनाह—यन्नामनीति। श्रवणयोर्धामनि गृहे कर्णरन्ध्रे इत्यर्थः। याति गच्छति सति॥९५॥

अथ मानः—

स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—मान—जो स्नेह और भी उत्कृष्ट होकर श्रीराधाकृष्णयुगलको नित्य नये-नये माधुर्यका अनुभव कराता है और स्वयं बाहरमें कौटिल्यको धारण करता है, उसे मान कहते हैं॥९६॥

लोचनरोचनी—अदाक्षिण्यं बहिः कौटिल्यं यो धारयति स मानः। किं कुर्वन्? नवं पुराननुभूतं माधुर्यमास्वादविशेषं मानयन् ज्ञापयन् अनुभूतं कारयन्नित्यर्थः॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—उत्कृष्टतावाप्त्या उत्कर्षप्राप्त्या यः स्नेहश्चित्तद्रव अदाक्षिण्यं स्वस्याच्छादनार्थं वाम्यं धारयति, तेन च किं स्यादित्यतो विशिनष्टि—नवं माधुर्यं मानयन्ननुभावयन्॥९६॥

यथा—

स्रवदस्रभरे कृते दृशौ मे तव गोधूलिभिरेव गोपवीर।
अधुना वदनानिलैः किमेभिर्विरमेति भ्रुकुटिं बभार सुभ्रूः॥९७॥

तात्पर्यानुवाद—वनमें श्रीराधा श्रीकृष्णके साथ विहार कर रही थीं। उस समय श्रीकृष्णके सङ्गसे उनका चित्त अत्यन्त द्रवीभूत हो रहा था। आँखोंसे आँसुओंकी धारा अविरल गतिसे विगलित होकर मुखमण्डलपर परिव्याप्त हो रही थी। उस स्थानसे कुछ दूरपर गऊवें चर रहीं थीं, जिनके खुरसे धूलि उड़ रही थी, जिसे देखकर अवहित्था द्वारा अपने भावोंको छिपाकर श्रीकृष्णका तिरस्कार करने

लगीं—"गऊओंके खुरसे उत्थित धूलिके मेरे नेत्रोंमें प्रवेश करनेसे ही अश्रुधारा निकल रही है।" श्रीकृष्ण बोले—"हाय-हाय! मैं मुखसे फूँककर तुम्हारे नेत्रोंको शीतल कर रहा हूँ।" ऐसा कहकर मुखसे उसके नेत्रोंमें फूँकने लगे। उसे देखकर श्रीमती राधिकाने कहा—"आप शान्त हो जाएँ। आपके इस कपटप्रेमके द्वारा मुझे क्या लाभ होगा? व्यर्थ ही कपटतापूर्ण आदरकी कोई आवश्यकता नहीं।" ऐसा कहकर उन्होंने भृकुटी तान ली। अर्थात् मानवती हो गईं॥९७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णेन सह वने विहरन्ती श्रीराधा स्वचित्तद्रवातिशयेनाश्रुभिः प्लुता स्यात्तत्र (सती) दूरे चरतामपि गवां धूलिमेव हेतुमवहित्थया वदन्ती श्रीकृष्णमुपालभते—स्रवदस्रेति। ननु तर्ह्येहि हन्त हन्त मुखफूत्कारमारुतैर्नेत्रे एव शीतलयामीति तथा कुर्वन्तं तं पुनराह—अधुनेति। विरमेति। तवानने प्रकटप्रेम्णा किमहं प्रसीदामीति भावः॥९७॥

उदात्तो ललितश्चेति मानोऽयं द्विविधो मतः॥९८॥

तत्रोदात्तः—

उदात्तः स्याद्घृतस्नेहो धारयन् गहनक्रमम्।
दाक्षिण्यभागदाक्षिण्यं वाम्यगन्धं च कुत्रचित्॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—यह उल्लिखित मान दो प्रकारका है—औदात्त और ललित।

औदात्तमान—घृतस्नेह बाहरमें दाक्षिण्य और अन्तरमें वाम्यभाव वहन करता है और किसी-किसी नायिकामें अवस्थाभेदसे ईषत् वाम्यभावको धारण करनेपर अत्यन्त दुर्बोध परिपाटीको लाभकर औदात्तमान हो जाता है। निसर्गतः सरल स्वभावा घृतस्नेहा नायिकामें वाम्यभाव उदित होना अति विरल होता है। घृतस्नेह ही औदात्तमान होता है। औदात्तमान दो प्रकारका होता है। कभी-कभी अत्यन्त गहन होनेसे अर्थात् दुर्बोधकी रीति धारणकर दाक्षिण्य (सारल्य) विधान करता है, किन्तु यथार्थतः अदाक्षिण्य होता है। यह तो हुआ एक प्रकार तथा जब किसी स्थानमें वाम्यगन्ध अर्थात् बाहरमें किञ्चित् कोप प्रकाशपूर्वक अदाक्षिण्य धारण करता है, तब वह दूसरे प्रकारका हो जाता है॥९८-९९॥

लोचनरोचनी—दाक्षिण्यभागपि गहनक्रमं दुर्बोधरीतिमदाक्षिण्यं गाम्भीर्यान्मनःस्थित-भावगोपनम्। वाम्यगन्धं च कुत्रचित् बहिरपि किंचित् कोपप्रकटनं धारयन् घृतस्नेह उदात्ताख्यमानः स्यात्॥९९॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तलक्षणाद्द्विविधात् स्नेहान्मानोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणो द्विविधो भवतीत्याह—उदात्त इति॥९८॥

घृतस्नेह एव उदात्तः स्यात् स च द्विविधः। गहनक्रमं दुर्लक्ष्यपरिपाटीकं यथा स्यात्तथा दाक्षिण्यं भजते यददाक्षिण्यं बहुदुर्लक्ष्यावहित्थं दाक्षिण्यमन्तर्दाक्षिण्याभावं धारयन्नित्येकः, तथा वाम्यस्य गन्धो यत्र तथाभूतमदाक्षिण्यं गहनक्रमं यथा स्यात्तथा धारयन् बहिर्वाम्यगन्धमन्तः पूर्णमदाक्षिण्यं धारयन्निति द्वितीयः। अत्र अदाक्षिण्यमिति विशेष्यं तस्यैव दाक्षिण्यभागिति वाम्यगन्धमिति विशेषणद्वयेन भेदद्वयम्। केवलं वाम्यगन्धं धारयन्नुदात्तः स्यादिति न व्याख्येयम्। यो धारयत्यदाक्षिण्यमिति मूललक्षणेन सहासंगतेस्तथोत्तमाङ्गनानां रतिप्रेमस्नेहेष्वपि वाम्यगन्धस्य स्थातुमुचितत्वान्मानलक्षणे संपूर्णमदाक्षिण्यमेवावश्यं खल्वपेक्षणीयमेव। अदाक्षिण्यस्यैव व्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यां मधुस्नेहघृतस्नेहौ व्यवस्थीयेते। तथा अनभिव्यक्तेरेव संपूर्णत्वाभ्यां दाक्षिण्योदात्तवाम्य-गन्धोदात्तौ॥९९॥

तत्र दाक्षिण्योदात्तो यथा—

राधेति स्खलिताभिधे मयि हठाद्विद्धान्तराप्यार्त्तिभि-
र्मद्वैलक्ष्यशमाय सा द्विगुणयन्त्यास्यारविन्दे स्मितम्।
जल्पे च म्रदिमानुविद्धमधिकं माधुर्यमातन्वती,
चित्राणीव चकार मत्प्रियसुहृद्वृन्दानि चन्द्रावली॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—इसमेंसे **दाक्षिण्य औदात्तमान—**श्रीकृष्णने कहा—"कुन्दवल्लि! अकस्मात् मेरे मुखसे 'श्रीराधा' नाम स्खलित होनेपर चन्द्रावलीका अन्तरबिद्ध होनेपर भी मेरी व्यग्रताको कुछ शान्त करनेके लिए पहलेकी अपेक्षा भी दोगुने जोरसे हँसने लगी और मृदु वचनोंके द्वारा अनेक प्रकारसे जल्पना करती हुई अधिक माधुर्यका विस्तार करने लगी। हे सुन्दरि! इससे मेरे सुहृतवर्ग अत्यन्त विस्मित हो उठे।"

तात्पर्य—आगे सहेतुक और निर्हेतुक मानका जो वर्णन किया जाएगा, उनमेंसे यह सहेतुक मान है। उल्लिखित पद्यमें आर्त्तिके द्वारा अन्तर बिद्ध हुआ है, इस निर्देशकी आर्त्ति हेतु प्रथमतः चित्तद्रवित होना और

उसके बादमें मान। भीतरमें आर्त्ति और मान रहनेपर भी हँसना सूचित हुआ है। यही मानकी गम्भीरता है।

वैष्णव पदकर्त्ता घृतस्नेहवती नायिकाके गम्भीर मानका वर्णन कर रहे हैं।

नखपद हृदये तोहारि। अन्तर जलत हमारि॥
अधरहि काजर तोर। बदन मलिन भेल मोर॥
हाम उजागरि राति। तुया दिठि अरुणिम काँति॥
काहे मिनति कर कान। तुँहु हाम एकई पराण॥
हामारि रोदन अभिलाष। तुँहुक गदगद भाष॥
सबे नह तनु तनु सङ्ग। हाम गौरी तुँहु श्याम अङ्ग!!
अतएव चलह निज वास। कहतहि गोविन्द दास!!
(पदकल्पतरु २३८)॥१००॥

लोचनरोचनी—वैलक्ष्यमत्र वैयग्र्यम्। हठादित्यस्य द्विगुणयन्तीत्यनेनान्वयः। "मत्प्रियसुहृद्वृन्दानि" इत्यत्र "सा प्रियसखीवृन्दानि" इति पाठ ईष्टः॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—दाक्षिण्योदात्त इति। दाक्षिण्यसंबन्धी उदात्तो दाक्षिण्योदात्त इत्यर्थः। एवमेव वाम्यगन्धोदात्तो व्याख्येयः। श्रीकृष्णः कुन्दवल्लीमाह—राधेति। वैलक्ष्यं वैयग्र्यम्। हठादित्यस्य द्विगुणयन्तीत्यनेनान्वयः। चित्राणीव किमियं गोत्रस्खलनेऽपि प्रसन्न न वेति विस्मयेन जाड्योदयादालेख्यानीवेत्यर्थः। "आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः। अग्रे लक्षयिष्यमाणयोः सहेतुकनिर्हेतुकमानयोर्मध्ये सहेतुकोऽयं मानः। अत्रार्त्तिभिर्विद्धान्तरेति प्रथममार्त्तिहेतुकश्चित्तद्रवस्ततो मानः, स्मितादिकं तु तदुभयगोपनार्थम्॥१००॥

अथ वाम्यगन्धोदात्तो यथा श्रीविष्णुपुराणे (५/१३/४४)—

काचिद्भ्रूभङ्गुरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्।
विलोक्य नेत्रभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजम्॥१०१॥

तात्पर्यानुवाद—वाम्यसम्बन्धी उदात्तमान—रासलीलामें अन्तर्धानके पश्चात् पुनः आविर्भूत श्रीकृष्णके प्रति किसी व्रजदेवीकी वाम्यलेश चेष्टाको भगवान् पराशर वर्णन कर रहे हैं—कोई गोपी श्रीहरिको देखकर भ्रू–भङ्गीको तानकर नेत्र–भ्रमरोंके द्वारा प्रगाढ़ासक्तिके साथ उनके मुखकमलका आस्वादन करने लगी॥१०१॥

लोचनरोचनी—पपावित्यादिना दाक्षिण्यभाक्त्वमायाति॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—रासान्तर्द्धानानन्तरमाविर्भूतं श्रीकृष्णं विलोक्य मानवत्याः कस्याश्चिच्चेष्टितं पराशरो वर्णयति—काचिदिति। भ्रुवा भङ्गुरं कृत्वेति वहिर्वाम्यगन्धयुक्तं नेत्रभृङ्गाभ्यां पपाविति। बहिर्दाक्षिण्यम्। अत्र कृत्वेति क्त्वाप्रत्ययेन भ्रुवा भङ्गुरीकरणं प्राथमिकमीषदेवेति वाम्यस्य गन्ध एव पपाविति भूतकालनिर्देशेन पानक्रियाया आदिमध्यान्तभागानां पूर्णताव्यञ्जनया तदनन्तरं च क्रियान्तरानुक्त्या पानक्रियायाः प्रवाहरूपत्वमभिव्यज्य तत्र नेत्रयोर्भृङ्गत्वेन मुखस्य पङ्कजत्वेनासक्तिमभिव्यज्य दाक्षिण्यस्य पूर्वत्वमेवेति वाम्यगन्धोदात्तता। "काचित्कराम्बुजमि"त्यादिना कराम्बुजधारिण्यादीनामिवास्याः श्रीकृष्णपार्श्वागमनात् तदङ्गास्पर्शनाच्चादाक्षिण्यमन्तर्गत-मस्त्येवेति व्याख्येयम्। अत्र चिरादृर्शनेन रोषेण चित्तद्रवस्ततो मानो ज्ञेयः॥१०१॥

यथा वा—

अक्षसंसदि जितापि मृगाक्षी माधवेन परिरम्भपणेन।
भुग्नदृष्टिरिह विप्रतिपन्नां तं करेण रुरुधे परिरिप्सुम्॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—गोपियोंकी भ्रू-भङ्गीके उदाहरणसे सन्तुष्ट न होकर अन्य स्पष्ट उदाहरण दे रहे हैं।

एक समय क्रीड़ाकुञ्जके प्राङ्गणमें पद्माके सहित पासा खेलनेमें श्रीकृष्ण द्वारा न्यायपूर्वक विजयी होनेपर भी, पद्माने वाम्यगन्धवशतः उनकी विजयका अनुमोदन नहीं किया। इस व्यापारको कोई सखी कुञ्जके बाहरसे अन्य सखीको कह रही है—"हे सुन्दरि! पासाक्रीड़ामें परिरम्भरूप पणसे माधवकी विजय होनेपर जब वे आलिङ्गन करनेके लिए प्रस्तुत हुए। तब मृगनयनी पद्माने उनके आलिङ्गनका विरोधकर अपनी भृकुटिको टेढ़ीकर हाथोंके द्वारा उनका निरोध किया।" इस पद्यमें नेत्र-कौटिल्य और निरोध, इन दोनों पदोंके द्वारा उसमें कुछ वाम्यगन्ध सूचित हो रही है॥१०२॥

लोचनरोचनी—कराभ्यामित्यनुक्त्वा करेणेत्येकत्वोक्तिर्वाम्यगन्धमेव व्यनक्ति॥१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्रान्तरदाक्षिण्यं स्पष्टं नोपलब्धमित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। चन्द्रावल्याः काचित्सखी कामप्याह—अक्षसंसदि पाशकक्रीडासभायां परिरम्भः पणो यस्य तेन माधवेन जितापि भुग्नदृष्टिरिति बहिर्वाम्यगन्धः। करेण रुरुधे नतु कराभ्यामिति दाक्षिण्यमेव। यद्यपि द्वाभ्यामपि नायिकायाः कराभ्यां नायकरोधो न

संभवति तदप्यवहित्थातु सिद्ध्यत्येवेति एकेन करेण निरोधे सापि न सम्यक् सिद्ध्यतीति दाक्षिण्यमेव। विप्रतिपन्नेत्यनेनान्तर्गतमदाक्षिण्यं च दर्शितम्। स्पष्टस्यान्तरदाक्षिण्यस्य तूदाहरणं विदग्धमाधवे ज्ञेयम्। यथा—"यथार्थेयं वाणी तव चकितसारङ्गनयने सुवर्णालंकारो मधुरयति यत्ते श्रुतियुगम्। मुखेन्दोरन्तस्ते बहिरपि सुवर्णच्युतिरयं मम श्रोत्रद्वन्द्वं नयनयुगलं चाकुलयति॥" इति॥१०२॥

अथ ललितः—

मधुस्नेहस्तु कौटिल्यं स्वातन्त्र्यहृदयंगमम्।
बिभ्रन्नर्म्मविशेषं च ललितोऽयमुदीर्यते॥१०३॥

तात्पर्यानुवाद—ललितमान—स्नेहोद्रेकवशतः मधुस्नेह आविर्भूत होकर नैरन्तरर्यवशतः अति मधुर वक्रता और नर्म-विशेषको वहनकर ललितमान होता है। अथवा, मधुस्नेह यदि स्वतन्त्र रूपसे हृदयङ्गम कौटिल्य तथा नर्म विशेषको धारण करता है तब उसे ललितमान कहा जाता है। यह कौटिल्य और नर्म भेदसे दो प्रकारका होता है। उक्त उदाहरणमें माधवके द्वारा पराजित होनेपर भी भृकुटि तानना बाहरसे वाम्यकी गन्ध है और हाथोंके द्वारा निवारण दाक्षिण्यका लक्षण है॥१०३॥

लोचनरोचनी—स्वातन्त्र्यं स्वाधीनभर्तृकात्वं तेन हृदयंगमं कान्तहृदयावगाहम्॥१०३॥

आनन्दचन्द्रिका—कौटिल्यं कीदृशम्। स्वातन्त्र्येण हृदयंगमं न तु घृतस्नेह इव मधुस्नेहांशग्राहित्वेनेत्यर्थः। नर्मविशेषमिति। वाचिककौटिल्यं तेन प्रथमं कौटिल्यं मानसं कायिकं च ज्ञेयम्॥१०३॥

तत्र कौटिल्यललितो यथा श्रीदशमे (३२/६)—

काचिद्भ्रूकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैर्निर्दष्टदशनच्छदा ॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—कौटिल्यललित—रासलीलामें अन्तर्धानके पश्चात् पुनः आविर्भूत श्रीकृष्णको देखकर मानिनी श्रीराधाका शुकदेव गोस्वामी श्रीद्भागवतमें वर्णन कर रहे हैं—"कोई गोपी प्रणयकोपके आवेशसे विवश होकर भृकुटि धारणपूर्वक श्रीकृष्णकी ओर देखकर कटाक्षपात करते हुए अपने अधरका दशंन करने लगी। उससे ऐसा लग रहा था कि वह कटाक्षबाणसे श्रीकृष्णको बिद्ध कर रही है।" यहाँ भृकुटिधारण,

कटाक्षनिक्षेप और अधरदशंन—इत्यादि इन तीनों पदोंके द्वारा कौटिल्यकी अभिव्यक्ति हुई है॥१०४॥

लोचनरोचनी—कटाक्षेपैः कटाक्षैः "कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने" इत्यमरः॥१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—रासान्तर्द्धानान्ते श्रीकृष्णमालोकयन्त्याः श्रीराधाया मानवत्याश्चेष्टितं श्रीशुकदेवो वर्णयति—भ्रुकुटिमाबध्य आ सम्यक् प्रगाढतया न तु शैथिल्येन बद्ध्वा। धनुषीव शरं संधायेत्यर्थः। प्रेमसंरम्भविह्वलेति चित्तद्रवो मानश्च व्यञ्जितः। कटाक्षेपैः कटाक्षनिक्षेपैरिति कटाक्षस्य शरत्वमारोपितम्। ऐक्षदैक्षत॥१०४॥

यथा वा—

अदत्त मे वर्त्मनि मन्मथोन्मदा स्वयंग्रहाश्लेषमसौ सखी तव।
इत्युक्तवन्तं कुटिलीभवन्मुखी कृष्णं वतंसेन जघान मङ्गला॥१०५॥

तात्पर्यानुवाद—कौटिल्यके तारतम्यके अनुभवसे उत्तरोत्तर मदीयता अभिमानरूप कौटिल्यके वैशिष्ट्यका वर्णन करनेके लिए क्रमशः दो उदाहरण दे रहे हैं। मङ्गलाकी सखीने उसकी किसी सुहृत् सखीसे कहा—हे सखि! श्रीकृष्णने भ्रमपूर्वक मङ्गलाको श्रीराधा समझकर कहा कि हे राधे! तुम्हारी सखी मङ्गलाने आज मदनोन्मत्त होकर पथमें अपने आप ही मुझे आलिंग्नकर पकड़ लिया। श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर मङ्गलाने अपने मुखमण्डलको टेढ़ाकर अपने कर्णाभूषणके द्वारा उनपर आघात किया॥१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—"भूम्ना व्यपदेशा भवन्ती"ति न्यायेन श्रीराधा सुहृत्स्वपि मधुस्नेहं तदुत्थं कौटिल्यललितं च वक्तुमाह—यथा वेति। मङ्गलायाः सखी कामपि स्वसुहृदं प्राह—अदत्त ददौ। स्वयमेव ग्रहो ग्रहणं यत्र तादृशमाश्लेषमित्युक्तवन्तमिति तदुक्त्यैव चित्तद्रवो गम्यः। कुटिलीभवन्मुखी लज्जया तिरश्चीनवदनेति भ्रुकुट्याद्यभावाद् अतिसूक्ष्मदाक्षिण्यांशाभिव्यक्त्या सोऽयमन्तर्भूतदाक्षिण्यांशकौटिल्यललितो ज्ञेयः॥१०५॥

यथा वा—

चित्रं चिरस्पर्शसुखाय चूचुके कुर्वन्तमक्षिप्रमियं चलेक्षणा।
स्विन्नाङ्गुलीकं पुलकाञ्चितश्रिया सव्येन चिक्षेप कुचेन केशवम्॥१०६॥

तात्पर्यानुवाद—किसी समय स्वाधीनकान्ता श्रीराधिकाको क्रीड़ाकुञ्जमें पत्रभङ्गी रचनादिके द्वारा श्रीकृष्ण विभूषित कर रहे थे। हठात् श्रीकृष्णके प्रति वाम्यभावके उदय होनेसे राधिकाकी अवहेलाका वर्णन कर रहे हैं। रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीसे कह रही है—"बहुत देर तक स्पर्श सुख अनुभव करनेके लिए धीरे-धीरे कुचोंके अग्रभागमें मृगमदादिके द्वारा मकरी चित्रभङ्ग प्रभृति रचना करते-करते जब श्रीकृष्णके हाथोंकी अंगुलियाँ स्वेदयुक्त होने लगी, तब चञ्चललोचना और पुलकाञ्चिता श्रीराधिकाने श्रीकृष्णको वामकुचके द्वारा प्रहार किया।" पूर्व श्लोकमें लज्जादायक वचनके उल्लेखरूप कारणके आभाससे वाम्योदयका उदाहरण दिया गया है। इस पद्यमें किन्तु अपना अभीष्ट चित्रादि भूषणनिर्माण कार्य होनेपर भी वाम्यवशतः उनके प्रति अतिशय मदीयताके हेतु उनका अत्यन्त स्वातन्त्र्य ध्वनित हो रहा है।

इस उदाहरणमें पत्रवल्ली निर्माणके लिए विलम्ब करना ही मानका कारण है। चञ्चलेक्षणा निर्देशके कारण "न जाने कोई कब आकर ऐसा देख ले" यह आशङ्का सूचित हुई है। वामकुचके द्वारा आक्रमण रोषका प्रकाशक है, भ्रू-नेत्रादिके कौटिल्यके अभावमें किञ्चित्दाक्षिण्य भी सूचित हो रहा है। यद्यपि कुचाक्षेप कौटिल्य प्रकाश न कर प्रगल्भता ही प्रकाश करता है, तथापि "तुम चित्र लेखनके कार्यमें अनभिज्ञ हो, शीघ्र निर्माण नहीं कर पाते। अतएव तुम्हारे द्वारा अपने दोनों कुचोंको चित्रित नहीं कराऊँगी। मेरी सखियाँ ही इसे सम्पन्न करेंगी।" इत्यादि अर्थ प्रकाशक कुचाक्रमणके द्वारा आदर अभिव्यक्ति होनेसे घृतस्नेहका तो कोई प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं हुआ, बल्कि शुद्ध मधुस्नेह ही प्रकाशित हो गया॥१०६॥

आनन्दचन्द्रिका—किंच शुद्धमधुस्नेहवत्याः श्रीराधाया माने कदाचित् स्वीकृतोऽपि दाक्षिण्यांशः कुटिलीभवन्मधुमय एव न तु घृतगन्धव्यञ्जीभवतीति पुनः दर्शयितुमाह—यथा वेति। रूपमञ्जरी रतिमञ्जरीं प्रत्याह—चित्रं पत्रावल्ल्यादि। अक्षिप्रमिति माने कारणम्। चलेक्षणेति। कदाचित् कोऽपि जनोऽत्रागत्य पश्येदिति शङ्कया कुचेन चिक्षेप तदाघातेन चालयामास। सव्येनेति। स्त्रीणां वामाङ्गस्य बलवत्त्वाधिक्यादत्र रोषव्यञ्जकभ्रूनेत्रादिकौटिल्याभावात् दाक्षिण्यं कुचक्षेपोऽपि यद्यपि प्रागल्भ्यं व्यनक्ति न तु कौटिल्यं तदप्यालेख्य कर्मण्यनभिज्ञेनाक्षिप्रकारिणा त्वया

कुचावहं न चित्रयामि किन्तु स्वकिंकरीभिरेवेत्येतावदर्थव्यञ्जकेन कुचक्षेपेणात्यनादरे द्योतिते घृतस्नेहस्य प्रसक्त्यभावात् शुद्धमधुस्नेहप्रवृत्त्या मानेऽस्मिन् दाक्षिण्यांशोऽपि शुद्धमधुस्नेहमय एवातिसुरसनीय इति विवेचनीयम्॥१०६॥

अथ नर्मललितो यथा दानकेलिकौमुद्याम् (८९)—

मिथ्या जल्पतु ते कथं नु रसना साध्वीसहस्रस्य या,
बिम्बोष्ठामृतसेवनादघरिपो पुण्या प्रयत्नादभूत्।
कस्मादेष बलात्करोतु च करः सोढुं क्षमः सुभ्रुवां,
रक्तः सुष्ठु न नीविबन्धमपि यः का वान्यबन्धे कथा॥१०७॥

तात्पर्यानुवाद—नर्मललित—दानघाटीमें श्रीराधाकृष्ण परस्पर जयकी अभिलाषासे स्पर्धा कर रहे थे एवं श्रीकृष्ण द्वारा अपनी जिह्वाकी मिथ्या-शून्यता और अपने हाथोंकी हठवृत्तिकी विमुखता प्रकाश करनेपर ललिता नर्म और मधुर मन्दस्मितके साथ कहने लगी—"हे अघरिपु! तुम्हारी जिह्वा भी क्या कभी झूठ बोल सकती है? क्योंकि यहाँ वह बहुत परिश्रमके साथ सहस्र-सहस्र कुलाङ्गनाओंके अधरामृतका पानकर परम पवित्र हो रही है और तुम्हारे हाथोंकी क्या बात? वे भला जोर-जबरदस्ती क्यों करेंगे? क्योंकि वे इतने दयालु हैं कि सुन्दरियोंके नीविबन्धनको देखते ही खोल देते हैं। दूसरे प्रकारके बन्धनोंकी तो फिर बात ही क्या!!"

इस उदाहरणमें बोलनेकी विशिष्ट शैलीके विपरीत लक्षणसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनिके द्वारा श्रीकृष्णकी मिथ्यावादिता, अपवित्रता और निर्दयताकी ही अभिव्यक्ति हुई है॥१०७॥

आनन्दचन्द्रिका—हन्त किं करोमि जन्मावधि मज्जिह्वा मिथ्या वक्तुं न जानाति मत्पाणिश्च हठवृत्तौ विमुख इति मत्सत्यवादित्वदयालुत्वे एवानर्थकारिणी। अतएवैता राजशुल्के विप्रतिपद्यन्ते इति वदन्तं श्रीकृष्णं प्रति श्रीललिता प्राह—मिथ्येति। अमृतसेवनादिति। यथामृतभोजिनो देवा मिथ्या न भाषन्ते इति भावः। करोऽपि कस्माद्बलात्करोतु यतो महादयालुरिति भावः। दयालुत्वमेवाह—रक्तोऽनुरागी सुभ्रुवां नीवीबन्धनमपि सोढुं न क्षमते हन्त हन्त आसां मध्यदेशो बन्धनेन दुःखं प्राप्नोति तदिमं मोचयामीति शीघ्रमागत्य सुभ्रूभिस्तिरस्कृतस्तर्ज्जितस्ताडितोऽपि तं स्वावमानमगणयित्वा नीवीबन्धनान्मध्यदेशं मोचयत्येवेत्यर्थः। अन्यबन्धे वेण्यादिबन्धे का कथेति ध्वनितम्। तं तं बन्धं तु प्रथममेव दृष्टिमात्रादेव मोचयतीत्यर्थः। अत्र वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यादि-

वपरीतलक्षणया अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिना च मिथ्यावादित्वं निर्दयत्वं चातिलाम्पट्यं च बोधितम्॥१०७॥

अथ प्रणयः—

मानो दधानो विश्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः॥१०८॥

यथा—

कुचोपान्ते स्पृष्टा मुरविजयिना तद्भुजशिर-
स्तिरोन्यस्तग्रीवा भ्रुवमनृजुदृष्टिर्विभुजती।
पटेनास्य म्लानीकृतपुरटभासा पुलकिनी,
प्रमोदास्त्रैर्धौतं निजमुखमियं मार्ष्टि सुमुखी॥१०९॥

तात्पर्यानुवाद—प्रणय—अत्यन्त प्रगाढ़ विश्वास धारण करनेपर उक्त मान ही प्रणयका नाम धारण करता है। मधुररसके पण्डितोंने ऐसा निर्णय किया है॥१०८॥

किसी समय क्रीड़ाके अन्तमें निकुञ्जवेदीपर श्रीकृष्णके सहित विराजमान श्रीराधाकी प्रणयचेष्टाका वर्णन रूपमञ्जरी कर रही है—"मुरारिके द्वारा स्तन परिसरको स्पर्श करनेपर वह सुमुखी श्रीमती राधिका उनके कन्धेपर अपनी टेढ़ी गर्दनको स्थापनकर भृकुटि धारणकर वक्रदृष्टिसे और पुलकाञ्चित शरीरसे श्रीकृष्णके स्वर्णकान्ति विजयी पीतवस्त्रसे अपने आनन्दाश्रु प्लावित मुखमण्डलका मार्जन करने लगी।"

इस पद्यमें श्रीराधाजीका श्रीकृष्णके कन्धेपर अपने अङ्गोंको स्थापन करनेसे असम्भ्रम, उनके वस्त्रोंसे अपने मुखको मार्जन करनेके कारण विश्रम्भ-व्यवहार सूचित हो रहा है॥१०९॥

लोचनरोचनी—प्रणयस्य लक्षणमाह—मान इति। विश्रम्भः प्रियजनेन सह स्वस्याभेदमननम्॥१०८॥

आनन्दचन्द्रिका—विश्रम्भो विश्वासः संभ्रमराहित्यं तच्च स्वप्राणमनोबुद्धिदेह-परिच्छदादिभिः कान्तप्राणमनोबुद्ध्यादेरैक्यभावनजन्यं तत्र सत्यपि रोषादिकं तु रसस्वाभाव्यादेव नानुपपन्नं ज्ञेयम्॥१०८॥

श्रीकृष्णेन संभुक्तप्रसाधितायास्तेन सह कुञ्जाङ्गने सुखमुपविष्टायाः श्रीराधाया लीलां दूरतः पश्यन्ती रूपमञ्जरी वर्णयति—कुचोपान्त इति। तस्य श्रीकृष्णस्य भुजशिरसि वामस्कन्धप्रदेशे तिरोन्यस्ता स्वालम्बतया तिर्यगर्पिता ग्रीवा यया सा।

अनृजुः कुटिला तिरश्चीना दृष्टिर्दर्शनं यस्याः सा। श्रीकृष्णमपाङ्गेन पश्यन्तीत्यर्थः। भ्रुवं विभजती कुटिलयन्तीत्यसहिष्णुताव्यञ्जनया मानः। प्रमोदास्रैरिति चित्तद्रवः। अस्य श्रीकृष्णस्य पटेन पीताम्बरेण निजमुखं मार्ष्टीति निःसंभ्रमेणैक्यव्यञ्जनया प्रणयः॥१०९॥

स्वरूपं प्रणयस्यास्य विश्रम्भः कथितो बुधैः।
विश्रम्भोऽपि द्विधा मैत्रं सख्यं चेति निगद्यते॥११०॥

तत्र मैत्रम्—

भावज्ञैः प्रोच्यते मैत्रं विश्रम्भो विनयान्वितः॥१११॥

यथा श्रीदशमे (३२/४)—

काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥११२॥

तात्पर्यानुवाद—पण्डितोंके मतसे यह विश्रम्भ ही प्रणयका स्वरूप (विग्रह और स्वभाव) है। विश्रम्भ भी दो प्रकारका होता है—मैत्र्य और सख्य।

मैत्र्य—भावके विषयमें विज्ञजन गौरवयुक्त विश्रम्भको मैत्र्य कहते हैं। रासलीलामें अन्तर्धानके बाद पुनः आविर्भूत श्रीकृष्णको प्राप्तकर किसी-किसी गोपीके व्यवहारका वर्णन कर रहे हैं—"किसी व्रजबालाने श्रीकृष्णके दोनों हस्तकमलोंको आनन्दसे अपनी अञ्जलिके द्वारा ग्रहण किया, किसी-किसीने उनके चन्दन-चर्चित बाहुको अपने कन्धेपर धारण किया।" इस श्लोकमें प्रथमा नायिकाको ही मैत्र्य-विश्रम्भका उदाहरण कहा गया है। दूसरीमें मैत्र्य नहीं हो सकता; क्योंकि श्रीकृष्णकी भुजाको अपने हाथोंसे पकड़नेके कारण उसने सम्भ्रम और विनयको नकार ही दिया है॥११०-११२॥

लोचनरोचनी—पुनः प्रणयस्य जन्म विवृणोति—स्वरूपमिति। स्वरूपं कारणम्। अयमर्थः—विश्रम्भं दधान इति यदुक्तं तत्र खलु विश्रम्भस्य चांशेनोपादानत्वं मतं न तु निमित्तत्वम्। यथा हरिताले हिङ्गुलांशप्रवेशेन चमत्काररागविशेषो भवति तथात्रापि प्रणयाख्य इति। यच्च पूर्वग्रन्थे "प्राप्तायां संभ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्।

तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय इष्यते॥" इत्युक्तं तत्तु तटस्थलक्षणमिति द्वयोरेकमेव प्रतिपाद्यं ज्ञेयम्। अथ विश्रम्भस्य भेदद्वयं ब्रुवन् तदभेदविवक्षया प्रणयस्यापि तदभिप्रैति—विश्रम्भोऽपीति॥११०॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु विश्रम्भं दधानो मान एव प्रणय इति निरुच्यते चेत् कथमग्रे वक्ष्यते "जनित्वा प्रणयस्नेहात् कुत्रचिन्मानतां व्रजेदिति। सत्यम्। तर्हि प्रणयस्य पृथगेव लक्षणं कार्यमित्याह—स्वरूपमिति। तेन मानात् पूर्वभूमिका उत्तरभूमिका वा प्रणयोऽस्त्वित्यत्र न विवाद इति भावः॥११०॥

रासान्तर्द्धानानन्तरमायातं श्रीकृष्णमालोकयन्त्याश्चन्द्रावल्याश्चेष्टितं श्रीशुको वर्णयति। कराम्बुजं जगृहे इति विश्रम्भः। अञ्जलिनेति तत्र विनयः। मानस्तु दाक्षिण्यादस्पष्टो वर्त्तत एव "ईषत्कुपिता बभाषिरे"—इत्यग्रे व्यक्तीभावादिति। चित्तद्रवस्तु तद्दर्शनजन्यो गम्यः। अत्र पद्ये प्रथमा चन्द्रावली द्वितीया श्यामला श्रीवैष्णवतोषिण्युक्तयुक्त्या ज्ञेया। उदाहरणमिदं मैत्र्यस्य प्रथमायामेव नतु द्वितीयायाम्। अंसे तद्बाहुं तेन क्षिप्तं दधारोवाहेत्यत्र विनयस्य व्यक्त्यभावात्॥११२॥

यथा वा—

नहि संकुच पङ्कजेक्षणः पदयोस्ते निदधातु नूपुरौ।
अनयोर्ध्वनिभिर्विलज्जतां कलहंसीव विपक्षकामिनी॥११३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त सम्भ्रमवशतः स्वाधीनभर्तृका चन्द्रावलीको श्रीकृष्णके द्वारा किए हुए वेशादि अस्वीकार करते हुए देखकर पद्मा चन्द्रावलीसे कह रही है—"हे प्रियसखि! संकोच मत करो। कमललोचन श्रीकृष्ण तुम्हारे चरणोंमें नूपुर पहनाएँ, जिससे नूपुरोंकी कलध्वनिको सुनकर विपक्षकी रमणियाँ भी लज्जित होंगी॥"११३॥

आनन्दचन्द्रिका—मानोत्तरभूमिकारूपं प्रणयमुदाहृत्य मानात् पूर्वभूमिकारूपमपि तमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। चन्द्रावल्याः कापि किंकरी स्वाधीनकान्तां तां प्रत्याह—न हि संकुच, श्रीकृष्णस्य पाण्योः कथं स्वपादौ स्पर्शयामीति विनयं त्यजेत्यर्थः। ननु श्रीकृष्णविषयकं मद्गौरवं किमिति नाशयसि त्वमेव किं न निदधासीति तत्राह—अनयोरित्यादि। श्रीकृष्णहस्तार्पिताभ्यां नूपुराभ्यां सौभाग्याधिक्यव्यक्तेरिति भावः। अत्र प्रणयः स्पष्टः। चित्तद्रवस्तु श्रीकृष्णस्पर्शगम्यः॥११३॥

अथ सख्यम्—

विश्रम्भः साध्वसोन्मुक्तः सख्यं स्ववशतामयः॥११४॥

यथा—

सरभसमधिकण्ठमर्पिताभ्यां दनुजरिपोर्निजबाहुवल्लरीभ्याम्।
निटिलमवनमय्य तस्य कर्णे सखि कथितं किमिव त्वया रहस्यम्॥११५॥

तात्पर्यानुवाद—सख्य—सम्भ्रमविहीन और प्रचुर स्वाधीनता हेतु विश्रम्भ ही सख्य कहलाता है॥११४॥

सख्यवशतः सम्भ्रमकी गन्धके लेशमात्रसे भी रहित होकर श्रीकृष्णके कण्ठमें अपनी दोनों भुजाओंको अर्पणकर श्रीकृष्णके मस्तकको नतकर श्रीराधाको उनके कानोंमें रहस्यकी बात बोलते हुए देखकर तदनन्तर श्रीमती राधिकासे विशाखा श्रीकृष्णके परोक्षमें पूछ रही है—"हे राधे! कौतुकवशतः श्रीकृष्णके दोनों कन्धोंपर अपनी बाहुलताको समर्पणकर स्कन्धका अवलम्बनकर उनके कानोंमें रहस्यकी क्या बात कह रही थी, जरा मुझे भी तो बतलाओ?"॥११५॥

लोचनरोचनी—निजबाहुवल्लरीभ्यामित्यत्र वल्लरीशब्देन लताप्युच्यते। "दीर्घं रोदिति निक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।" इति साहित्यदर्पणस्योदाहरणात्॥११५॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीराधां प्रत्याह—अधिकण्ठं श्रीकृष्णकण्ठस्य पार्श्वद्वयेऽर्पिताभ्यां निजबाहुलताभ्यां निटिलं तस्य शिरोऽवनम्य॥११५॥

यथा वा श्रीविष्णुपुराणे (५/३०/३३)—

यदि ते तद्वचः सत्यं सत्यात्यर्थं प्रियेति मे।
मद्गेहनिष्कुटार्थाय तदायं नीयतां तरुः॥११६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें साध्वस (भयसे) मुक्त होकर प्रधान सख्यका उदाहरण देकर इस पद्यमें स्वाधीनतामय प्रधान-सख्यका उदाहरण दे रहे हैं। नरकासुरके वधके अनन्तर श्रीकृष्ण सत्यभामाके साथ इन्द्रपुरीमें पहुँचनेपर सत्यभामा उनसे प्रार्थना कर रही है—"हे प्रियतम! सत्यभामा ही समस्त महिषियोंमें अधिक प्रिय है। यदि तुम्हारा यह वचन सत्य है तो इस पारिजात वृक्षको मेरे गृहोद्यानमें विहार और पुष्पचयनादि विनोदके लिए ले चलो॥"११६॥

लोचनरोचनी—तरुः पारिजाताख्यः॥११६॥

आनन्दचन्द्रिका—मानात् पूर्वभूमिकारूपं प्रणयभेदं सख्यमुदाहृत्य मानोत्तरभूमिकारूपं तं दर्शयितुमाह—यथा वेति। सत्यभामा श्रीकृष्णमाह—यदीति। तरुः पारिजाताख्यः। तदैवाहं प्रसीदामि नान्यथेति भावः। अत्रैव तादृशो निदेश एव सख्यं व्यञ्जयति॥११६॥

यथा वा—

विन्यस्य वक्षोरुहकोरकद्वयीं वक्षःस्थले कंसहरस्य हारिणीम्।
पत्राङ्कुरं कुङ्कुमबिन्दुनालिके लिखत्यसौ चन्द्रमुखी सखी मम॥११७॥

तात्पर्यानुवाद—साध्वस अर्थात् भयादिसे उन्मुक्तता और स्वाधीनमयता दोनोंको एकत्र दिखलानेके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीराधाकी सखी चन्द्रमुखी स्वाधीनभर्तृकाकी दशाको प्राप्तकर एक समय श्रीकृष्णके ललाटमें कुमकुमके द्वारा पत्रभङ्गकी रचना कर रही थी। उसके इस सौभाग्यातिरेकको कोई प्रियसखी किसी अन्य सखीको आनन्दपूर्वक कह रही है—"अहो! देखो, हमारी सखी चन्द्रमुखी श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर अपने दोनों वक्षोजरूप कलियोंको स्थापनकर कुमकुम बिन्दुके द्वारा उनके ललाटमें पत्रभङ्गकी रचना कर रही है॥"११७॥

लोचनरोचनी—अलिके ललाटे॥११७॥

आनन्दचन्द्रिका—न केवलं श्रीराधासत्यभामयोरेव सख्यं तत्सखीष्वपि तत्संभवतीति दर्शयितुमाह—यथावेति। चन्द्रमुख्याः सखी स्वसङ्गिनीं कामप्याह—विन्यस्येति॥११७॥

यथा वा श्रीदशमे (३०/३८)—

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥११८॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वोक्त तीन पद्योंसे भी वैशिष्ट्यपूर्ण निःसाध्वसता और स्वाधीनताकी पराकाष्ठा दिखला रहे हैं। रासलीलाके समय परम विदग्ध शिरोमणि श्रीकृष्णने अपनी किसी रहस्यपूर्ण निर्जन क्रीड़ामें रमण करनेकी अभिलाषासे यमुना पुलिनमें सभी गोपियोंको त्यागकर एकमात्र श्रीराधाजीको साथ लिया। उस समय सौभाग्यको प्राप्तकर अत्यन्त गर्वित

होकर श्रीमती राधिकाने कहा—"हे कृष्ण! मैं थक गई हूँ, अब मैं चल नहीं सकती। इसलिए तुम मुझे वहनकर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ ले चलो।" यहाँ "हे कृष्ण! मैं थक गई हूँ, चल नहीं सकती, तुम मुझे वहनकर ले चलो"—श्रीराधाजीका यह वचन उनकी स्वाधीनता और सौभाग्य गर्वका सूचक है॥११८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीशुकदेववाक्यं प्रमाणयति—ततो गत्वेति। दृप्तेति मानः॥११८॥

जनित्वा प्रणयः स्नेहात्कुत्रचिन्मानतां व्रजेत्।
स्नेहान्मानः क्वचिद्भूत्वा प्रणयत्वमथाश्नुते॥११९॥

कार्यकारणतान्योऽन्यमतः प्रणयमानयोः।
इत्यत्र पृथगेवासौ विश्रम्भोदाहृतिः कृता॥१२०॥

तात्पर्यानुवाद—प्रणय स्वरूप होनेपर भी विश्रम्भसे पृथक् उक्तिका हेतु दिखला रहे हैं—कभी-कभी स्नेहसे प्रणय आविर्भूत होकर मान होता है और कहीं-कहीं स्नेहसे ही मान आविर्भूत होकर उसके पश्चात् प्रणयावस्थाको प्राप्त करता है। अतएव प्रणय और मानमें परस्पर कार्य-कारणता ही सिद्ध होती है। इसलिए प्रणयसे भिन्न विश्रम्भका उदाहरण दिखलाया गया॥११९-१२०॥

लोचनरोचनी—पूर्वं मानात् प्रणयस्य जन्मोक्तम्, संप्रति तु विवेकविशेषमुपलभ्य वैपरीत्येनाप्याह—जनित्वेति। तत्र यद्यपि प्रणये जाते एव कौटिल्यं संगच्छते तथापि नायिकाविशेषस्य प्रेमैव खल्वीदृशः। यदसौ कौटिल्येन सहोत्पद्यते। यथोक्तम्—"अहेरिव गति प्रेम्णः स्वभाव कुटिला भवेत्। अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥" इत्यभिप्रायः। किन्तु "मानो दधानो विश्रम्भम्" इति यत्प्रथममुक्तं तदेव मतं निजमिति लक्ष्यते॥११९॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तलक्षणं प्रणयं व्यवस्थापयति—जनित्वेति। अश्नुते प्राप्नोति। अत्र स्थायिभावप्रकरणे पृथगेव मानानन्तरमुक्त्वापीत्यर्थः॥११९॥

उदात्तललिताभ्यां तु मैत्रसख्ये सुसङ्गते।
द्वे सुमैत्र्यसुसख्याख्ये यथासंख्यमुदीरिते॥१२१॥

तात्पर्यानुवाद—औदात्तमान मैत्र्यके सहित मिलित होनेपर सुमैत्र्य एवं ललितमान सख्यके साथ सुसम्बद्ध होनेपर सुसख्य कहलाता है॥१२१॥

आनन्दचन्द्रिका—उदात्तेति। उदात्तेन सुष्ठु संगतं मैत्र्यं चेत् सुमैत्र्यं तथा ललितेन सुष्ठु संगतं सख्यं चेत् सुसख्यमित्यर्थः॥१२१॥

तत्र सुमैत्र्यम्—

आलीपुरः कथयितुं रजनीरहस्यं तत्रोद्यते मधुरिपौ मृदुलाभ्रमद्भ्रूः।
उत्क्षिप्य तन्मुखपुटावरणाय हस्तं न्यञ्चन्मुखी समवरिष्ट पुनर्वराक्षी॥१२२॥

तात्पर्यानुवाद—सुमैत्र्य—क्रीड़ाकुञ्जमें चन्द्रावलीके साथ विहारके अन्तमें प्रभातके समय कुञ्जमें उपस्थित हुई पद्माको श्रीकृष्ण चन्द्रावलीकी रहस्यमयी रहोलीलाके समयकी प्रागल्भता आदिको हास्य-परिहास्यके साथ वर्णन करने लगे। उनके इस व्यापारको कुञ्जके बाहरमें रहकर एक सखी अपनी अन्य सखीको कह रही है—"सखीके सामने श्रीकृष्ण रात्रिकालके रहस्यमय वृत्तान्तको बतलानेमें उद्यत हुए। मृदुला चन्द्रावलीने लज्जा और क्रोधसे अपने नेत्रोंको घूमाते हुए श्रीकृष्णके मुखका आच्छादन करनेके लिए हाथको उठाया तथा पुनः अपना मुख नीचा करके हाथ वापिस कर लिया।" यहाँ भ्रू-भ्रमण और हस्तोत्थापन क्रियाके द्वारा वाम्यगन्धका अस्तित्व पाए जानेपर भी श्रीकृष्णका मुखाच्छादन करनेकी इच्छा रहनेपर भी उससे निवृत्त होनेके कारण अत्यन्त गौरवके सद्भावके हेतु दाक्षिण्योदात्त मिलित मैत्र्यभाव ही प्रकट हुआ॥१२२॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रातस्तनं चन्द्रावल्याश्चरितं तत्सखी काचिदाह—आलीति। भ्रमद्भ्रूरिति वाम्यगन्धः। तस्य श्रीकृष्णस्य मुखपुटावरणार्थं हस्तमुत्क्षिप्य पुनः समवरिष्ट, व्रजराजकुमारे एतावद्धाष्टर्यमनुचितमिति लज्जासंकोचाभ्यां हस्तं संवृतवती न्यञ्चन्मुखी निजधाष्टर्यप्रकाशेन लज्जिता अत्र मधुस्नेहसंबन्धिवाम्यगन्धोदयात्। यथा मानस्य वाम्यगन्धोदात्तत्वं तथैव हस्तोत्क्षेपप्रथमलक्षणेषु संकोचानुदायात् मैत्र्यस्यापि सख्यगन्धवत्त्वमपि उदात्तेन सह मैत्र्यस्यान्तर्बहिरपि सुसंगतत्वात् सुमैत्र्यम्। "काचित् कराम्बुजम्" इत्यत्र तु दाक्षिण्योदात्तमानस्य बहिरनभिव्यक्त्या अन्तर्बहिरभिव्यक्तविनयमय-मैत्र्येण सह सुसंगत्वाभावात्तत्र मैत्र्यमेव न तु सुमैत्र्यम्॥१२२॥

यथा वा—

क्षिप्ते वर्णकभाजने तरणिजापूरे परीहासतः,
कृष्णेन भ्रुवमारचय्य कुटिलामालोकयन्ती तिरः।
तारा वक्षसि चित्रमर्द्धलिखितं श्रीवत्सविभ्राजिते,
काश्मीरेण घनश्रिया निजकुचाकृष्टेन पूर्णं व्यधात्॥१२३॥

तात्पर्यानुवाद—इस पद्यमें वाम्यगन्धोदात्त मिलित मैत्र्यका उदाहरण दे रहे हैं। यूथेश्वरी तारा यमुनापुलिनके क्रीड़ाकुञ्जमें विहारके पश्चात् श्रीकृष्णके हाथोंसे प्रथमतः स्वयं मण्डिता होकर पीछे श्रीकृष्णके भी अङ्गोंमें पत्रभङ्गादिकी रचनामें प्रवृत्त हुई। उसी लीलाको वृन्दा अन्य सखीको कौतुहलपूर्वक कहने लगी—"एक समय श्रीकृष्णने ताराके हाथोंसे कुमकुम आदिके पात्रको लेकर कौतुकवशतः यमुनामें फेंक दिया। ताराने भृकुटि तानकर वक्रदृष्टिसे देखकर श्रीकृष्णके वक्षःस्थलमें अर्द्धलिखित चित्रको अपने कुच लिप्त प्रगाढ़ कुमकुमके द्वारा पूर्ण कर दिया।" यहाँ भ्रू–कौटिल्य और वक्रदृष्टि चित्रकृत्य समापन कालमें भी वर्त्तमान थी। इसलिए यहाँ वाम्यगन्धोदात्त–मिश्रित मैत्र्य ही व्यक्त हुआ॥१२३॥

आनन्दचन्द्रिका—कासुचित् श्रीकृष्णविषयक–मदीयत्वाभिमानांशवत्त्वेऽपि माने दाक्षिण्ये सति "भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति" इति न्यायेन घृतस्नेहवत्त्वमेव व्यवस्थेयम् तथा सति सुमैत्र्यमेव न तु सुसख्यमिति दर्शयितुमाह—यथा वेति। तरणिजापुरे क्षिप्ते इत्यनेन जलनिकटबृहत्सोपानासन एवोपवेशो नायकयोर्बोधितः। भ्रुवं कुटिलामारचय्य दुर्ल्लीलेऽपि व्रजराजनन्दने ईर्ष्या संप्रत्यनुचितेति मत्त्वा तिर आलोकयन्ती स्वीयेन स्वाभाविकेनापाङ्गदर्शनेन मानाभावं ज्ञापयन्तीत्यर्थः। ताराकर्त्री वक्षसीत्यत्र श्रीकृष्णस्येति संबन्धिपदानुक्त्या न्यूनपदता नाशङ्कनीया। श्रीवत्सविभ्राजिते इति विशेषणेनैव संबन्धविशेषस्य ज्ञातत्वात्। निजकुचाकृष्टेन काश्मीरेण चित्रं पूर्णं व्यधादिति श्रीकृष्णे गौरवस्यानुदयो मधुस्नेहांशं व्यनष्टि। अत्र वाम्यगन्धोदात्तेन सह सख्यगन्धमैत्र्यस्यान्तर्बहिरपि सुसंगत्या सुमैत्र्यं कुचाकृष्टेनेत्येतावता अविनयो नाशङ्कनीयः। अन्याङ्गापेक्षया कुचस्याभ्यर्हितत्वात्। अत्र तस्याः प्रारब्धकार्यासिद्धिरूपो दोषः श्रीकृष्णेन प्रसञ्जयितुमिष्टोऽपि नाभूदिति चमत्कारः॥१२३॥

अथ सुसख्यम्—

द्यूते सकृत्पानविधौ पणीकृते जित्वा द्विरोष्ठं पिबति स्वमच्युते।
बबन्ध कण्ठे कुटिलीकृतेक्षणा तं वामया दोर्लतयाद्य वल्लवी॥१२४॥

तात्पर्यानुवाद—सुसख्य—क्रीड़ानिकुञ्जके प्राङ्गणमें पासाक्रीड़ामें निरत श्यामा और श्रीकृष्णकी चेष्टा-कौतुकको कुञ्जके बाहरसे देखकर वृन्दा नान्दीमुखीसे कह रही है—"द्यूतक्रीड़ामें जय होनेपर एकबार मात्र अधरपान करनेके लिए पणमें प्रवृत्त होकर भी विजयी श्रीकृष्ण जब श्यामाके अधरसुधाको दूसरी बार पान करने लगे, तब श्यामाने वक्र नयनोंसे देखते हुए श्रीकृष्णको अपनी वामभुजलतासे कण्ठमें बाँध लिया॥"१२४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामायाश्चेष्टितं वृन्दा नान्दीमुखीं प्रत्याह—द्यूते विषये सकृदेव पानस्य विधौ पणीकृते सति श्रीकृष्ण ओष्ठं द्विः पिबति सति तमन्यायमसहमाना बल्लवी बबन्ध। अत्र कुटिलेक्षणत्वदोर्लताबन्धयोर्यौगपद्यात् कौटिल्यललितेन सख्यस्य सुसंगतत्वात् सुसख्यम्॥१२४॥

यथा वा—

आविष्कुर्वति विस्फुरन्नवनखोल्लेखं स्ववक्षस्तटं,
कृष्णे पीतदुकूलसंकलनया जित्वा सखीनां पुरः।
अभ्रश्याममुरो रुरोध वलितभ्रूराननं धुन्वती,
रोमाञ्चोद्गमकञ्चुकेन कुचयोर्द्वन्द्वेन गान्धर्विका॥१२५॥

तात्पर्यानुवाद—नर्मललित-संयुक्त सौख्यका उदाहरण दे रहे हैं। रूपमञ्जरी अपने सुहृद्से कह रही है—"सखियोंके सामने श्रीकृष्ण द्वारा पीताम्बरको हटाकर नवनव नखरेखायुक्त अपने वक्षःस्थलको दिखलानेपर श्रीगान्धर्विकाने भृकुटि तानकर काँपते हुए अपने पुलक-मण्डित दोनों कुचोंके द्वारा श्रीकृष्णके श्यामल-वक्षको अवरोध कर लिया।" पूर्वार्द्धमें श्रीकृष्णकृत नर्माचरण एवं परार्द्धमें श्रीराधाकी स्वाधीनता, निःसाध्वसता और स्वातन्त्र्यादिकी अभिव्यक्ति दिखलाई गई है।

उक्त पद्यमें उत्तरीय वसनको हटाकर, श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर श्रीमती राधिकाके हाथोंसे किए गए नखाघातके चिह्नोंको दिखलानेपर, श्रीमती राधिकाकी सखियाँ हँसकर उन नखचिह्नोंको देखने लगीं। श्रीकृष्णने अपने वक्षःस्थलसे पीताम्बरको इसलिए हटाया था कि सखियोंके मनमें यह विश्वास हो जाए कि हमारी प्रियसखीने आज इस प्रकारसे विहारके समयमें उन्मत्त होकर श्रीकृष्णके अङ्गोंमें नखाङ्कन किया है। इसे देखकर सखियोंको परमानन्द हुआ। गान्धर्विका श्रीमती राधिका द्वारा भृकुटि

धारण करनेसे ईर्ष्या और असूयाकी अभिव्यक्ति हुई, प्रकम्पित मुखसे हुँकारके द्वारा "तुम सत्य कह रहे हो" (अर्थात् झूठ बोल रहे हो) विपरीत लक्षण सूचित हुआ। अर्थात् मेरी सभी बातें झूठ हैं। फिर भी श्रीकृष्णके शान्त न होनेपर अपने पुरुषवत् आचरणको गोपन करनेके लिए अपने दोनों हाथोंसे नखाघातको ढक न सकनेके कारण अपने दोनों वक्षोजोंके द्वारा ही उसे ढक दिया; क्योंकि उस समय परिधेय वसनके अतिरिक्त और कोई भी दूसरा वसन नहीं था, जिससे वे ढक सकें। श्रीकृष्णने शय्यासे दूसरे वस्त्रोंको हटा दिया था। अथवा यहाँपर परम सख्यके उदयके कारण ही ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि रोमाञ्चकी सूचना की गई है। अतएव वलितभ्रूपदके द्वारा कौटिल्य ललितातिशयकी सूचना हो रही है। कुच-द्वन्द्वके द्वारा अत्यन्त सख्य भी सूचित हो रहा है। इन दोनोंकी सुसङ्गतिके लिए सुसख्यातिशयकी अभिव्यक्ति हुई॥१२५॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तपद्ये ओष्ठं द्विः पिबति सति बबन्धेत्युक्ते सकृत् पिबति सति न बबन्धेत्यर्थे आयाते दाक्षिण्यांशस्य व्यञ्जितत्वे घृतस्नेहांशगन्धः प्रसज्जते। स च श्रीराधासुहृदि श्यामलायां समुचित एवेति स्वपक्षादिभेदविवृतौ व्याख्यातमेव। "भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति" इति न्यायेनैवात्र मधुस्नेहवत्त्वमिति शुद्धमधुस्नेहवत्यां श्रीराधायां शुद्धं सुसख्यमुदाहर्त्तुमाह—यथावेति। श्रीरूपमञ्जरी स्वसुहृदमाह—आविष्कुर्वति सति। केन प्रकारेण? पीतदुकूलस्योत्तरीयस्य संकलनया उत्क्षेपेण। स्मित्वेति तत्सखीषु पश्यत्सु सख्याश्चरित्रमिति स्वविस्रम्भद्योतना तया चैतावानद्यास्मत्प्रियसख्या विहारोऽभूदिति प्रत्यायितानां तासामानन्दनम्। ततश्च गान्धर्विका प्रथमं वलितभ्रूरितीर्ष्यासूये व्यञ्जितवती आननं धुन्वती हुंकारेण सत्यमेव ब्रूषे इति विपरीतलक्षणोक्तिः। तदपि तमनिवृत्तमालक्ष्य स्वरूषायितत्वं निह्नुवाना उरो वक्षस्तस्य रुरोध। केन? कुचयोर्द्वन्द्वेनेति करतलाभ्यां सर्वचिह्नसंगोपनाशक्तेः। तथा अन्तरीयं बिना शय्यायां तस्या वस्त्रान्तरस्य कृष्णेन प्रथममेव दूरीकृतत्वाच्च। किं वा परमसुसख्यस्योदय एवात्र हेतुर्ज्ञेयः। अत आह—रोमाञ्चेति। अतएव वलितभ्रूरिति वलितपदेन कौटिल्यललितातिशयः, कुचयोर्द्वन्द्वेनेति सख्यातिशयश्च, तयोः सुसंगतेः सुसख्यातिशयश्च ज्ञेयः॥१२५॥

अथ रागः—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्त्यते॥१२६॥

तात्पर्यानुवाद—राग प्रणयोत्कर्षवशतः जहाँ चित्तमें अत्यन्त दुःख भी अत्यन्त सुखके रूपमें अनुभूत होता है, उसका नाम राग है।

वैष्णव-पदकर्त्ता श्रीचण्डीदासकृत राग-सम्बन्धी एक पद—

बन्धु! तुमि से आमार प्राण।
देह मन आदि, तोमारे सँपेछि
कुल शील जाति मान॥
अखिलेर नाथ, तुमि हे 'कालिया'
योगिर आराध्य धन।
गोप गोयालिनी, हाम अति दीना,
ना जानि भजन पूजन॥
पिरीते रसेते, ढाली तनु मन,
दियाछि तोमार पाय।
तुमि मोर पति, तुमि मोर गति,
मम नाहि आन भाय॥
कलङ्की बलिया, डाके सब लोके,
ताहते नाहिक दुःख।
तोमार लागिया, कलङ्केर हार,
गलाय परिते सुख॥
सती व असती, तोमार विदित
भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास, पापपुण्यमय
तोमार चरण दुखानि॥१२६॥

लोचनरोचनी—दुःखमपीति। श्रीकृष्णलाभे संभाविते़ऽपि सतीति शेषः। तदेवं तदलाभे तु सुखमपि दुःखत्वेन भासत इति ज्ञेयम्॥१२६॥

आनन्दचन्द्रिका—यतस्तु प्रणयोत्कर्षादिति। अन्येऽपि प्रणयस्योत्कर्षा वक्तुमशक्या बहवो वर्त्तन्ते एवेति भावः। दुःखं दुःखकारणं सुखत्वेनैव सुखकारणत्वेनैव व्यज्यत इति श्रीकृष्णलाभसंभावनायामिति ज्ञेयम्। तेन च तदलाभसंभावनायां सुखमपि दुःखत्वेनेति ज्ञेयम्। सुखत्वेन सुखधर्मेण दुःखं व्यज्यत इति यत्र दुःखे सुखधर्म एवानुभूयते नतु दुःखधर्मो यथा हिङ्गुलरक्ते मदने हिङ्गुलधर्म एवानुभूयते न तु

मदनमित्यर्थः। यथा च मञ्जिष्ठया रक्ते वाससि मञ्जिष्ठैवानुभूयते न तु वस्त्रधर्मः शौक्ल्यमित्यर्थः। यद्वा रज्यते भासते। "रञ्ज रागे" दैवादिकोभयपदी धातुः॥१२६॥

यथा—

तीव्रार्कद्युतिदीपितैरसिलता धारा करालास्त्रिभि–
र्मार्तण्डोपलमण्डलैः स्थपुटितेऽप्यद्रेस्तटे तस्थुषी।
पश्यन्ती पशुपेन्द्रनन्दनमसाविन्दीवरैरास्तृते,
तल्पे न्यस्तपदाम्बुजेव मुदिता न स्पन्दते राधिका॥१२७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधिकाको दूरसे देख रही ललिता, अपनी सखियोंके साथ उनके कृष्णानुरागका आस्वादन करते हुए कह रही हैं—"श्रीमती राधिका मध्याह्नकालके सूर्यकी प्रखर किरणोंसे उत्तप्त सूर्यकान्त शिलाके नुकीले एवं स्थलविशेषमें तीक्ष्ण धारवाली भयङ्कर शिलापर अपने पैरोंको स्थापनकर श्रीकृष्णके दर्शनके आनन्दसिन्धुमें मग्न होकर अपने तन मन और इन्द्रियोंकी सुध–बुध तक भूलकर मानो कमलके फूलोंसे रचित शय्याके ऊपर अपने चरणकमलोंको रख रही हूँ, इस प्रकारसे अत्यन्त सुखसे बिन्दुमात्र भी इधर–उधर नहीं हो रही है॥"१२७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधिकां दूरादालोकयन्ती ललिता स्वसखीभिः सह तदीयरागमास्वादयति—तीव्रेति। अद्रेस्तटे तस्थुषी स्थितवती राधिका। कीदृशे? मार्तण्डोपलमण्डलैः सूर्यकान्तशिलासमूहैः स्थपुटिते नतोन्नतीकृते। तत्रापि कीदृशैः? तीव्रार्को ज्येष्ठमासीय मध्याह्नस्थसूर्यस्तद्द्युतिभिर्दीपितैस्तप्तीकृतैः। तत्राप्यसिः खड्ग एव लता तस्या धारा इव कराला भीषणा अस्रयः कोणा येषां तैः। "कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः" इत्यमरः। आस्तृते आच्छादिते। तल्पे न्यस्तपदेति। अत्युष्णतीक्ष्णकठोरगिरितटस्पर्शजन्यं दुःखमपि तद्विपरीतेन सुखधर्मेणातिशैत्यसौकुमार्यादिना रक्तमनुभूतमिति प्रत्यक्षाण्यपि औष्ण्यतैक्ष्ण्यकठोरत्वानि तटस्थतया नानुभूतानि। ननु निद्रालुना मशकदंशनदुःखानि यद्यपि नानुभूयन्ते तदपि प्रातर्जाग्रता तद्दंशनोत्थः स्वगात्रे रक्तोद्गमो यथा दृश्यते तथैव तयातिसुकुमारस्वचरणतलदाहादिस्तदनन्तरं द्रष्टव्य एव। मैवम्। श्रीकृष्णदर्शनानन्दनिमग्नायास्तस्या आनखशिखमेव वपुश्चन्द्रकोटेरपि सुशीतलं तदाभून्न तु तत्तप्तीभवितुमर्हति। नहि सूर्यकिरणैश्चन्द्रस्तप्तीकर्तुं कदापि शक्यत इति। तथा लोके तूलखण्डस्यापि तीक्ष्णशिलया पराभवादर्शनात् तूलखण्डेभ्योऽप्यतिसुकुमार–चरणायास्तस्यास्तयोः पराभवाभावो ज्ञेयः। यद्वा सर्वसमाधात्री योगमायैव सदा लीलासु जागरूका वर्त्तत इति॥१२७॥

यथा वा पद्यावल्याम् (१७९)—

ताराभिसारक चतुर्थनिशाशशाङ्क,
कामाम्बुराशिपरिवर्द्धन देव तुभ्यम्।
अर्घो नमो भवतु मे सह तेन यूना,
मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः ॥१२८॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें दैहिक असहनीय दुःखमें भी सुखका उदाहरण देकर मानस दुःखमें भी सुखस्वरूपताको दिखला रहे हैं।

पूर्वरागवती कोई व्रजबाला किसी प्रकारसे श्रीकृष्णको लाभ न कर पानेके कारण दीनतावशतः स्वयंको उस विषयमें अयोग्य मानकर अपने सौभाग्यके लिए भाद्रमासकी चतुर्थीके चन्द्रको कलङ्कदायीके रूपमें प्रसिद्ध जानकर उनके प्रति कलङ्ककी प्रार्थनापूर्वक कहने लगी—"हे ताराभिसारक! हे चतुर्थी निशाशशांक! हे कामाम्बुराशिको वर्द्धन करनेवाले देव! मैं तुम्हें अर्घ प्रदान कर रही हूँ। मिथ्या अपवाद वाक्यके द्वारा भी उन युवा श्रीकृष्णके साथ मेरा अभिमान अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे कान्त हैं, यह अपवाद सत्य हो।" इस उदाहरणमें श्रीकृष्ण प्राप्तिकी सम्भावनाके अभावमें भी श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गके आभासमात्रसे ही दुःख भी सुखस्वरूप हुआ। इसके द्वारा रागकी परम पराकाष्ठा प्रदर्शित हुई॥१२८॥

लोचनरोचनी—ताराभिसारकेति। कस्याश्चित् कात्यायन्युपासिकायाश्चतुर्थीचन्द्रसंदर्शने रीतिः। चतुर्थनिशाशशाङ्क! हे चतुर्थीचन्द्र! सोऽयमजाततल्लाभाख्यफलत्वेनासिद्धोऽपि लोके तल्लाभमिथ्यापवादरूपेण वचसा सर्वतः ख्यात्या सिद्ध इव यदि स्यात्तर्हि च तल्लाभमेव मत्वा सुखमेव भजामीत्यर्थः। तदेतन्निवेदनविषयतायास्त्वमेव योग्यः। ततस्ताराभिसारकतयास्मादृक् तथा कामातिशयवर्द्धनश्च दृश्यस इति संबोधनद्वयेनैव सूचितम्—ताराभिसारकेति, कामाम्बुराशिपरिवर्द्धनेति। भाद्रमासस्येति ज्ञेयम्। तुभ्यमर्घो नमः। अर्घं ददामीत्यर्थः। ननु दर्शनेऽपि कलङ्कमुत्पादयित्रे मह्यं कथमर्घं ददासि? तत्राह—मे सहेति। तेन श्रीकृष्णाख्येन यूना सह मे योऽभिमानस्तस्य सेयं मम कान्तेति, मम च सोऽयं कान्त इत्येतल्लक्षणस्तस्य सिद्धिर्मिथ्यापवादवचसापि भवत्विति॥१२८॥

आनन्दचन्द्रिका—रागोदयेऽकस्मात् प्राप्तं दुःखं सुखमयं भवतीति किं वक्तव्यं, यतो रागवतीभिः स्वदुःखकारणं प्रार्थ्यते च तच्चापि सुखकारणं भवतीति दर्शयितुमाह—यथा वेति। पूर्वरागवती काचिद् व्रजबाला केनापि प्रकारेण

श्रीकृष्णमलभमाना दैन्येन स्वं तदयोग्यं मत्वा स्वनिवृत्त्युपायं स्वयमेव निश्चित्य भाद्रमासीयचतुर्थ्याश्चन्द्रं कलङ्कदायित्वेन प्रसिद्धं ज्ञात्वा तं प्रति कलङ्कं प्रार्थयते। तारा अश्विन्यादयस्ता अभिसारयसीति कान्तप्राप्त्यभावदुःखं त्वं जानासीति भावः। चतुर्थी या निशा तस्याः शशाङ्केति श्रीकृष्णप्राप्त्ययोग्यायै मह्यं कलङ्कदानेन कृतार्थीकुर्विति भावः। कामाम्बुराशीति। त्वं समुद्रं वर्द्धयसीति प्रसिद्धः। स च समुद्रः काममय एव न तु जलमयस्तथैवास्माभिरनुभवादिति। तेनात्र मम न कोऽपि दोष इति भावः। हे देवेति। देवत्वात्त्वं मद्दुःखं तत्प्रतीकारं च जानास्येवेति भावः। तुभ्यमर्घो नम इति—दर्शनमात्रेणापि कलङ्कदायिनेऽपि तुभ्यं तदर्थमत्युत्कण्ठया अर्घोऽपि मया दीयते तेन तत्र कालविलम्बो न कार्य इति भावः। ननु कलङ्के सति लोकनिन्दया दुःखमेव लभ्यते न च कृष्णाङ्गसङ्गश्चेत्यत आह—तेन यूना कृष्णेनेति। अत्र श्रीकृष्णप्राप्तिसंभावनाया अभावेऽपि तत्प्रसङ्गाभासमात्रेऽपि दुःखं सुखं भवतीति रागस्य पराकाष्ठा दर्शिता॥१२८॥

नीलिमा रक्तिमा चेति रागोऽयं द्विविधो मतः॥१२९॥

तत्र नीलिमा—

नीलीश्यामाभवो रागो नीलिमा कथ्यते बुधैः॥१३०॥

तात्पर्यानुवाद—इन दोनों पद्योंमें सामान्य रूपसे रागका उदाहरण दिखलाकर यहाँ रागके विशेष भेदको दिखला रहे हैं। यह राग नीलिमा और रक्तिमाके भेदसे दो प्रकारका होता है॥१२९॥

नीलिमा—नीलवृक्ष और श्यामलतासे उत्पन्न रङ्गको नीलिमा कहते हैं॥१३०॥

लोचनरोचनी—तदेवं रागं लक्षयित्वा प्राचीनानां मतमुपलक्ष्य तद्भेदावुपदिशति—नीलिमेति। तत्र तेषां मतं यथा—"न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्। तन्नीलीरागमाख्यान्ति यथा श्रीरामसीतयोः॥ कुसुम्भरागं तं प्राहुर्यदपैति च शोभते॥ माञ्जिष्ठ्यरागं तत्प्राहुर्यन्नापैत्यतिशोभते॥" इति॥१२९॥

तत्र द्विविधं नीलिमानं दृष्टान्तेन व्यञ्जयितुं दृष्टान्तद्वैधमाह—नीलीश्यामाभव इति। नीलीश्यामे ओषधिविशेषौ। नीलीभवः, श्यामाभवश्चेति द्विविधो नीलिमेत्यर्थः। सामान्योक्तेरेकत्वम्॥१३०॥

आनन्दचन्द्रिका—यतो दुःखमपि सुखं स राग इत्यनुभावेनैव रागं लक्षयित्वा संप्रति रागशब्दार्थं दृष्टान्तेनैव बोधयितुं प्रथमं तद्भेदावुद्दिशति—नीलिमेति॥१२९॥

नीलीश्यामे वृक्षलताविशेषौ। नीलीभवः श्यामाभवश्चेति द्विविधोऽपि रागो नीलिमसंज्ञकः॥१३०॥

तत्र नीलीरागः—

व्ययसंभावनाहीनो बहिर्नातिप्रकाशवान्।
स्वलग्नभावावरणो नीलीरागः सतां मतः।
यथावलोक्यते चैष चन्द्रावलिमुकुन्दयोः॥१३१॥

तात्पर्यानुवाद—नीलीराग—जिस रागके तिरोधानकी सम्भावना नहीं है, जो बाहरमें अधिक प्रकाशित नहीं होता एवं अवहित्था द्वारा अपने विषयमें लगे हुए चापल, अमर्ष, मद और असूयादि भावोंका आच्छादन करता है, उसीको सज्जनगण नीलीराग कहते हैं। यह नीलीराग चन्द्रावली और मुकुन्दमें ही दृष्टिगोचर होता है॥१३१॥

लोचनरोचनी—तदेवं दृष्टान्तौ विवृत्य तद्धर्माभ्यां दार्ष्टान्तिकं लक्षयति—तत्र नीलीराग इत्यादिना। अत्र वर्णात्मकनीलीरागसाम्येन रत्यात्मकनीलीरागं लक्षयति—व्ययेति। व्ययसंभावनाहीनत्वेनात्र रागताहेतुधर्मगतव्ययो निषिध्यते। अतो न प्रेमलक्षणेन सांकर्यम्। बहिर्नातिप्रकाशवानिति वक्ष्यमाण श्यामारागादिव्यवच्छेदार्थम्। स्वलग्नभावावरण इति। वर्णपक्षे वर्णान्तरम्, रतिपक्षे मानादि। एवमेवंभूतो दुःखेऽपि सुखभावनो यः पूर्वोक्तो रागाख्यः प्रणयोत्कर्षः स नीलीराग इति प्रकरणाद्योजनीयम्॥१३१॥

आनन्दचन्द्रिका—वर्णात्मकनीलीरागसामान्येनैव प्रेमात्मकनीलीरागं लक्षयति—व्ययेति। नीलीराग इति नीलीराग इत्यर्थः। व्ययस्य संभावनयापि रहितः संचारिभावेनापकर्त्तुमशक्य इत्यर्थः। "सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।" इति प्रेमलक्षणे ध्वंसकारणं संचारिभावव्यतिरिक्तं धर्मापेक्षादिकमेव व्याख्यातं संचारिभावानां सहकारित्वेन स्थायिध्वंसकत्वायोगादतस्तत्र नास्य शांकर्यं शक्यम्। बहिर्नातिप्रकाशवानिति श्यामारागव्यवच्छेदार्थम्। दार्ष्टान्तिकपक्षे घृतस्नेहस्य स्वतः स्वादुतातिशयाभावात् तदुत्थस्य रागस्यापि प्रकाशातिशयाभावः। स्वलग्नभावावरण इति दृष्टान्ते भावो वर्णान्तरं दार्ष्टान्तिके ईर्ष्यादिः॥१३१॥

यथा—

प्रसन्नविशदाशया विविधमुद्रया निर्मितं,
प्रतारणमपि त्वया गुणतया सदा गृह्णती।

तथा व्यवजहार सा व्रजकुलेन्द्र चन्द्रावली,
सखीभिरपि तर्किता त्वयि यथा तटस्थेत्यसौ॥१३२॥

तात्पर्यानुवाद—भद्रा श्रीकृष्णसे कह रही है—"हे व्रजकुलेन्द्र! तुम्हारे द्वारा विविध भङ्गियोंसे निर्मित प्रताड़नाको भी चन्द्रावली सदा गुणके ही रूपमें ग्रहण करती है; क्योंकि उसका हृदय अत्यन्त सरल है तथा अन्यान्य भावोंके स्पर्शसे रहित है। तुम्हारे प्रति ऐसा व्यवहार करती है, जिसको सदा निकटमें रहनेवाली मर्मज्ञा सखियाँ भी देखकर ऐसा समझती है कि वह तुम्हारे प्रति उदासीन हैं॥"१३२॥

लोचनरोचनी—तथैवोदाहरति—प्रसन्नेति। प्रतारणमत्र विषादकारणमपि सुखकारणतया गृह्णातीति रागस्य सामान्यलक्षणमनुगमितम्, व्ययसंभावनाहीनत्वं च दर्शितम्। तदेवमागन्तुकस्य विषादस्यावरणं चायातम्। यच्च व्यवजहारेत्यादिना तटस्थत्वमुक्तं तत्तु कृत्रिमत्वाद्भावेष्वप्रविशदपि यद्वर्णितं तत्खलु सखीवशतयापि नान्यथा मनःकृतमिति विषादभावावरणस्यैवाधिक्यं दर्शितम्॥१३२॥

आनन्दचन्द्रिका—भद्रा श्रीकृष्णमाह—प्रसन्नः सर्वत्र प्रसादवत्त्वात्, सदयो विशदः परदोषस्याग्रहणान्निर्मलः स च आशयोऽन्तःकरणं यस्याः सेति तद्गुणमाधुर्येऽपि तरललोभ उत्पद्यत इति श्रीकृष्णं प्रत्युपालम्भः। मास्तु ते तद्गुणामोदनं प्रत्युत तां बहुधा वञ्चनेन दुःखयितुमिच्छसीत्याह—विविधेति। हन्त हन्त तदपि सा दुःखं न प्राप्नोति किन्तु परमसुखिनी भवतीत्याह—गुणतयेति। धन्यास्ता यासु स महागुणज्ञो रममाणः सुखं लभते स्वसुखज्ञापनया मां च सुखयतीत्यहो वैदग्ध्यमेव मत्कान्तस्येदं न तु प्रतारणमिति मनसि विभाव्येत्यर्थः। हे कृष्ण! तद्दुःखदाने प्रयतमानस्य ते मनोरथो विधिना न साधित इति पवित्रभर्त्सनध्वनिर्दुःखमपि सुखं स्यादिति रागलक्षणं च दर्शितम्। किं च सखीवशायास्तस्याः स्वसखीसमाधानार्थमतिगाम्भीर्यगर्भं चातुर्य्यं च शृण्वित्याह—तथेत्यादि। तेन स्वताटस्थ्यज्ञापनया सख्यश्च हर्षिताः, स्वप्रेमा च गुप्तीकृत्य रक्षित इति पुनरपि साद्गुण्यं दर्शितम्। इह सखीशङ्कारूपसंचारिणा रागस्य व्ययाभावः। तटस्था तर्कितेति। अनतिप्रकाशो भद्रया अन्तस्तत्त्वज्ञानादीषत्प्रकाशश्च॥ श्रीकृष्णे स्वविपक्षे चेर्ष्यासूयाद्यावरणं तु स्पष्टमेव। तथा तदीयतामयो घृतस्नेहः प्रतीयत एव॥१३२॥

अथ श्यामारागः—

भीरुतौषधिसेकादिराद्यात्किंचित्प्रकाशभाक् ।
यश्चिरेणैव साध्यः स्यात्स श्यामाराग उच्यते॥१३३॥

तात्पर्यानुवाद—श्यामराग—वर्णपक्षीय श्यामरागमें प्रथमतः विशेषौषधिसे पुट–भावना देनी होती है। यह नीलीरागसे किञ्चित् अधिक प्रकाशशील होता है तथा दीर्घकालमें साधित होता है। उसी प्रकार रतिपक्षीय श्यामरागमें भी प्रथमतः बिना किसी कारण भयशीलता विद्यमान रहती है, नीलीरागसे समधिक रूपमें प्रकाश भी रहता है अथच कुछ अल्प मधुस्नेह और अधिकतर घृतस्नेहके साथ सम्यक् रूपसे मिलित होनेमें काल–विलम्ब होता है। तात्पर्य यह है कि भीरुता ही विशेष औषधि है, इसी भीरुताकी पुट भावना करनी होती है अर्थात् श्यामरागमें सदा–सर्वदा अहैतुक भीरुता विद्यमान रहती है। इसी हेतु पूर्वकथित नीलीरागसे यह श्यामराग अधिक प्रकाशशील होता है॥१३३॥

लोचनरोचनी—पूर्ववत् श्यामारागमपि प्रायः श्यामलादीनां योजयति—अथ श्यामाराग इत्यादिना। भीरुतेति। श्यामारागः खल्वौषधिविशेषस्य सेकं प्रथममपेक्षते। तत्र वर्णपक्षे भीरुतेति खण्डश्लेषत्वान्नान्वेति, रतिपक्षे त्वन्वेति। भीरुता चावहित्थार्थं कृत्रिमैवेत्युदाहरणे व्यक्तीभविष्यति। ततश्च सैवौषधिः तस्याः सेकः, संभेद आदिर्यत्र सः॥१३३॥

आनन्दचन्द्रिका—भीरुतैवौषधिसेकः पुटभावनमादिः प्रथमं यत्र सः। दृष्टान्ते श्यामारागे ओषधिसेकः प्रथममपेक्षितः। सोऽत्र दार्ष्टान्ते भीरुतैवेत्यर्थः। ननु भीरुत्वं सर्वासां स्त्रीणां साहजिकमेव, प्रणयोत्थत्वं तस्य कथमिव? सत्यम्। मधुस्नेहांश–मिश्रितघृतस्नेहवतीनां वयःसन्धौ रत्याद्युद्गमे सत्यन्यतो वैलक्षण्येन भीरुत्वमधिकमुत्पद्यते। तथाहि मधुस्नेहस्य संपूर्णत्वे सति संपूर्णमत्तताजनकत्वं युक्तिसिद्धमेव। ततश्च संपूर्णमत्तताजन्येन संपूर्णगर्वेण कान्ते स्नेहस्य मदीयतामयत्वं स्यात् मधुस्नेहस्यांशत्वे मत्तताया अप्यंशवत्त्वे तज्जन्यगर्वांशो घृतस्नेहोत्थदाक्षिण्यग्रस्तीभवन् स्वाभाविक–भीरुत्वातिशयवतीनां किंचिदवहित्थामिश्रभीरुत्वरूपेण परिणमति, तच्च भीरुत्वं चकितसजातीयम्। यदुक्तम्—"प्रियाग्रे चकितं भीतेरस्थानेऽपि भयं महत्।" इति। तच्चाप्यन्तर्गर्भवत्त्व एव संभवति, दौर्भाग्ये तदसंभवदृष्टेः। किन्तु तत् प्रियाग्र एव भवेत्, एतत्तु सर्वजनाग्र एव स्यादिति भावः। आद्यात् नीलीरागात् सकाशादिति दृष्टान्ते तथैव प्रसिद्धिः। दार्ष्टान्तिके मधुस्नेहांशवत्त्वमेव प्रकाशे कारणं चिरेणैवेति दृष्टान्ते स्पष्टमेव दार्ष्टान्तिकेऽल्पतरमधुस्नेहस्य बहुतरघृतस्नेहेन सम्यङ्मेलनेऽल्पतरमधुनो बहुतरशीतलघृतेनैव कालविलम्बस्यौचित्यादेवेत्यर्थः॥१३३॥

यथा—

पुरा कुञ्जे मञ्जुन्यवतमसयुक्तेऽपि चकिता,
मुरारेर्य्या पार्श्वे न तरुणि दिवाप्यन्तरमगात्।
तमालैः सैवाद्य द्विगुणिततमिस्त्रेऽपि मुदिता,
तमिस्त्रार्द्धे मानिन्यहह भवती तं मृगयते॥१३४॥

तात्पर्यानुवाद—कलहान्तरिता भद्रासे कोई सखी परिहास कर रही है—"क्या ही आश्चर्यकी बात है! हे तरुणि! इससे पूर्व तुम अल्प अन्धकारमय मञ्जुल कुञ्जमें दिवाभागमें भी चकित होकर मुरारिके निकट जाती नहीं थी। अहो! वही तुम आज इस समय मानिनी होकर भी सघन तमालवृक्षोंके द्विगुण अन्धकारयुक्त तमसाच्छन्न इस घोर निशामें भी आनन्द-चित्तसे उन्हें खोज रही हो।" इस पद्यमें "इतःपूर्वे" इत्यादि वाक्यसे चिरसाध्यता, दिनमें भी श्रीकृष्णके निकट अनागमनसे पहले भीरुता एवं "अन्वेषण" करनेसे नीलीरागसे भी किञ्चित् प्रकाशमयता व्यक्त हो रही है।

उक्त उदाहरणमें अन्धकार क्रमशः बढ़नेके कारण अभिसारमार्गमें जितना-जितना अधिक कष्ट बढ़ रहा है, उतने-उतने ही अधिक आनन्दकी वृद्धि हो रही है, यही श्यामरागका लक्षण है॥१३४॥

लोचनरोचनी—या काचिन्मानिनी निजाभिसरणं प्रार्थयमानायां यस्यां भयं व्याजं कृत्वा नाभिसृतवती पश्चात् तामुत्कण्ठिततया स्वयमभिसरन्तीं सा दूती परिहसति—पुरेति। अवतमसं क्षीणं तमः। दिवाप्यन्तरमिति। दिवसे यो मध्यभागस्तमभिव्याप्य। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया। मुदितेति। तत्र प्रियस्यास्तित्व-निश्चयात् तं मृगयते॥१३४॥

आनन्दचन्द्रिका—कलहान्तरितां भद्रां तत्सखी काचित् परिहसति—पुरेति। अवतमसयुक्तेऽपि अल्पान्धकारवत्यपि कुञ्जे। "क्षीणेऽवतमसं तमः" इत्यमरः। चकिता त्रस्ता। हे तरुणि! भवती दिवापि अन्तरं दिवसस्य मध्यं व्याप्य दिनमध्य इत्यर्थः। नागात्। सैव भवती तमिस्त्रार्द्धे कृष्णपक्षीयरात्रे निशीथे तत्रापि तमालैरिति। त्रास आस्तां प्रत्युत मुदितेति। यथा यथान्धकारवृद्धयाभिसारवर्त्मनि कष्टं तथा तथा तवानन्द इति रागलक्षणं तत्रापि मानिनी कलहान्तरितेति श्रीकृष्णकृतप्रतारणदुःखमपि सुखं मन्यमानेत्यर्थः। श्लोकेऽस्मिन् भीरुताप्राथम्यं चिरसाध्यत्वं प्रकाशाधिक्यं च रागस्य स्पष्टमेव॥१३४॥

अथ रक्तिमा—

रागः कुसुम्भमञ्जिष्ठासंभवो रक्तिमा मतः ॥१३५॥

तत्र कुसुम्भरागः—

कुसुम्भरागः स ज्ञेयो यश्चित्ते सज्जति द्रुतम्।
अन्यरागच्छविव्यञ्जी शोभते च यथोचितम् ॥१३६॥

तात्पर्यानुवाद—रक्तिमा—कुसुम्भ और मञ्जिष्ठासे उत्पन्न रागको रक्तिमा कहते हैं।

उसमेंसे **कुसुम्भराग**—जो चित्तमें शीघ्र ही सञ्चरित होता है, अन्यान्य नीलीरागादिको और भी सुशोभितकर स्वयं भी यथोचित रूपमें शोभासम्पन्न होता है, उसको कुसुम्भराग कहते हैं। ॥१३५-१३६॥

लोचनरोचनी—राग इति। रक्तिमाख्यो रागः कुसुम्भसंभवो मञ्जिष्ठासंभवश्चेति द्विविध इत्यर्थः। सामान्यतया प्रयुक्तत्वेनोभयवाचित्वात् ॥१३५॥

तत्र कुसुम्भरागे दृष्टान्तः प्रसिद्ध एवेति तदनुसारेण दार्ष्टान्तिकं योजयति—कुसुम्भेति। चित्ते पटस्थानीये साधनवशात्तत्कालमेव सिद्धवल्लवीदेहानां तत्प्रियासु प्रवेष्टुमिच्छूनां मनसि सुकरप्रबोधत्वात् द्रुतमेव सज्जति आसक्तो भवतीत्यर्थः। नतु माञ्जिष्ठवद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दुष्करप्रबोधत्वात् कृतविलम्बमित्यर्थः। नतु नित्यसिद्धानां चित्त इति व्याख्येयम्, तद्रागस्वभावत्वात्। अन्येति। अन्यरागः प्रथम-द्वितीय-तृतीयक्रमेण तस्यान्योऽन्यो यो रागस्तेनैव छविव्यञ्जी न तु माञ्जिष्ठवत् सकृदेवोदितेन परमरागेण तद्व्यञ्जीत्यर्थः। एकांशेनैव दृष्टान्तत्वात्, दार्ष्टान्तिके त्वस्य माञ्जिष्ठरागाश्रयत्वात्। चिरादेव तत्सज्जेन छविव्यञ्जीत्यपि व्यज्यते। शोभते च यथोचितमिति सर्वस्मिन्नपि पक्षे स्वानुरूपमेव शोभते न तु माञ्जिष्ठतुल्यमित्यर्थः ॥१३६॥

आनन्दचन्द्रिका—राग इति। तेन रक्तिमा द्विविध इत्यर्थः ॥१३५॥

कुसुम्भराग इव कुसुम्भराग इत्यर्थः। दृष्टान्तपक्षः प्रसिद्ध एवेति दार्ष्टान्तिकपक्षं योजयति—चित्ते पटादिस्थानीये द्रुतं सज्जतीति अल्पतरघृतस्नेहस्य बहुतरमधुस्नेहेन संमेलने बहुमधुन औष्ण्यसंपर्केण प्रक्लिन्नस्याल्पघृतस्य बहुतरमधुनेव काल-विलम्बाभावस्य युक्तिसिद्धत्वादिति भावः। अन्यरागोऽत्र माञ्जिष्ठलाक्षादि तस्यैव छविं व्यञ्जयतीति श्यामलादीनां रागः श्रीराधिकादिरागसादृश्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। यथोचितमिति। पात्र साद्गुण्यानुरूपमित्यर्थः ॥१३६॥

यथा—

त्वय्येव श्रवणावधि प्रियसखी या कृष्ण बद्धान्तरा
या दृष्टे भुजगेऽपि तावकभुजासाम्यात्प्रमोदोन्मदा।
प्रेक्ष्य त्वां पुरतोऽद्य कामपि दशां प्राप्तास्ति सेयं तथा
न ज्ञायेत तथा किमेष बलवान् रागो विरागोऽथवा॥१३७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके दर्शनमात्रसे ही जातरागा श्यामाकी किसी गूढ़ गम्भीर दशाको देखकर—श्रीकृष्णमें श्यामाका राग निश्चयकर सन्तुष्ट चित्तसे उसकी कोई सखी श्रीकृष्णको कह रही है—"हे श्रीकृष्ण! मेरी सखी श्यामलाने तुम्हारे नाम और गुणादिको जबसे सुना है, तभीसे तुम्हारे प्रति उसका चित्त प्रगाढ़ रूपसे बद्ध हो गया है। वह सर्प-दर्शन करके भी तुम्हारी भुजाओंका सादृश्य होनेसे आनन्दसे उन्मत्त हो जाती हैं। यहाँ तुम्हें सन्मुख देखकर भी वह एक ऐसी अनिर्वचनीय दशाको प्राप्त हो रही हैं जिसे हमलोग भी नहीं समझ पा रहीं कि यह बलवान राग है अथवा विराग ही है?" इस पद्यमें दर्शन-लेशमात्रसे रागोदय होनेके कारण द्रुतसञ्चारिता, राग या विराग अनिश्चय होनेके कारण अन्य रागकी छवि-व्यञ्जना भी सूचित हो रही है॥१३७॥

लोचनरोचनी—त्वय्येवेत्यस्य पूर्वार्द्धे रागसामान्यव्यञ्जना। तत्र श्रवणावधीति "यच्चित्ते सज्जति द्रुतम्" इत्यस्य व्यञ्जकम्। श्रवणमारभ्यैव चित्ते सज्जनात्। अन्यरागच्छवीत्यस्य या दृष्टे भुजगेऽपीति व्यञ्जकम्। या दृष्टेऽपि इत्यनुक्तत्वात् प्रथममेव सोपानमिदमिति क्रमव्यञ्जनात् "शोभते च यथोचितम्" इत्यस्य प्रेक्ष्यत्वादित्यादिकं व्यञ्जकम्। कामपि दशामित्यनेनोक्ता दशा ह्यत्र प्रणयमानः। सा चास्याः सखीश्लाघितापि माञ्जिष्ठरागिण्य इव न भ्रूकुटिबन्धादिपरिकरा किन्तु संकोचेन तदाच्छादनमयीति तद्वन्न शोभत इति कविचरणानामभिप्रायः॥१३७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामलायाः सखी काचिदमितार्था श्रीकृष्णं प्रत्याह—त्वयीति। श्रवणावधीति। यश्चित्ते सज्जति द्रुतमित्यस्य व्यञ्जकं श्रवणमारभ्यैव चित्ते सज्जनात्। या दृष्टेर्भुजगेऽपीत्यन्यरागच्छविव्यञ्जीत्यस्य व्यञ्जकम्। दृष्टे भुजगेऽपीति अनुरक्तत्वेनोपमानभूतस्य श्रीराधाकाया माञ्जिष्ठरागस्य दुर्ग्रहत्वं दर्शितमाधिक्येन स्थापनात्। प्रमोदोन्मदेति। रागसामान्यलक्षणम्। प्रेक्ष्य त्वामित्यादि शोभते च यथोचितमित्यस्य व्यञ्जकम्। कामपि दशां त्वदौत्सुक्यभरनिगीर्णान्तःकरणत्वाद्-

बहिर्वृत्त्यनुसंधानरूपां "बलवान् रागो विरागोऽथवा" इत्यनेन रागस्य विरागस्य च बलवत्त्वे सत्यहंताममतास्पदयोस्त्यागसंभवात्। तां यदि त्वमद्य नाभिसरिष्यसि तदा सा न जीविष्यतीत्यर्थो व्यञ्जितः॥१३७॥

सदाधारविशेषेषु कौसुम्भोऽपि स्थिरो भवेत्।
इति कृष्णप्रणयिषु म्लानिरस्य न युज्यते॥१३८॥

तात्पर्यानुवाद—प्रश्न—कुसुम्भराग भी किसी–किसी समय विवर्ण होकर अस्थिर होता है या नहीं?

समाधान—उत्तम आधार–विशेषमें कुसुम्भरागको भी सदा स्थिर देखा जा सकता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण प्रणयिनियोंमें यह राग कभी भी मलिन नहीं होता। अर्थात् कुसुमपुष्पका रङ्ग स्वभावतः चिरस्थायी नहीं होता, किन्तु यदि अन्य किसी द्रव्यके साथ मिश्रितकर उसे सिद्ध कर दिया जाए, तभी वह रङ्ग चिरस्थायी होता है। उसी प्रकार मञ्जिष्ठरागिणी श्रीमती राधिकाकी सखियोंके साथ सङ्गवशतः श्रीकृष्ण प्रणयिनी श्यामला इत्यादि यूथेश्वरियोंमें भी यह कुसुम्भराग चिरस्थिर देखा जाता है॥१३८॥

लोचनरोचनी—ननु कुसुम्भरागतुल्यत्वेन कालाद्व्ययितेत्यपि गम्यत इत्याशङ्क्याह—सदाधारेति। सदाधारत्वेनात्र गुणविशेषः ख्याप्यते। तत्र पटपक्षे सदाधारत्वं केनचित्क्वाथेन कषायितत्वञ्च चित्तपक्षे माञ्जिष्ठरागिण्याः सङ्गेन भावितत्वम्॥१३८॥

आनन्दचन्द्रिका—ननूक्तोदाहरणे श्रीराधिकादिनिष्ठस्य माञ्जिष्ठरागस्यैव कुसुम्भ–रागस्यास्य शोभाधिक्यमेव सूचितं; वस्तुतस्तु कुसुम्भरागस्य स्थिरत्वाभावात् तथानौचित्यमित्यत आह—सदाधारेति। तादृशगुणेन केनचित् क्वाथेन कषायितेषु पटादिष्वित्यर्थः। कृष्णप्रणयिषु श्यामलादियूथेषु माञ्जिष्ठरागिणीसङ्गिषु॥१३८॥

अथ माञ्जिष्ठरागः—

अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्द्धते सदा।
भवेन्माञ्जिष्ठरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा॥१३९॥

तात्पर्यानुवाद—माञ्जिष्ठराग—जो राग कभी किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होता, मलिन नहीं होता, किसी दूसरे रङ्गको मिलानेकी अपेक्षा नहीं रखता, निरन्तर अपनी कान्तिके द्वारा वृद्धिशील होता है, उसको मञ्जिष्ठराग कहते हैं। जैसे श्रीराधामाधवका परस्पर राग॥१३९॥

लोचनरोचनी—अहार्यः कथंचिदप्यगमयितुमशक्य इत्यर्थः। पूर्वस्याधार-गुणेनाहार्यत्वमित्यत्र तु स्वरूपगुणेनापीति विशेषादत्रैवाहार्यत्वमुक्तम्। अनन्यसापेक्ष इति। दृष्टान्तपक्षे कौसुम्भवन्न तत्तदंशतासापेक्षः, किन्तु सर्वांशेनैव तादृश इत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकेऽपीदृगेव। यः कान्त्या वर्द्धत इति दृष्टान्तपक्षे प्रसिद्धमेव। दार्ष्टान्तिकपक्षे तादृशो राग एवानुरागच्छविं व्यञ्जयतीति भावः। ततोऽनुरागलक्षणेन न सांकर्यम्॥१३९॥

आनन्दचन्द्रिका—अहार्यो वर्णपक्षे जलादिना कालेन वा अनाश्यः, प्रेमपक्षे संचारिभावैश्चालयितुमशक्यः। अनन्यसापेक्षः स्वतःसिद्ध एव न तु श्यामाराग इव किमप्यौषधमपेक्षत इत्यर्थः। कान्त्या सदा वर्द्धत एव न तु कुसुम्भरागादिरिव परिमितकान्तिरित्यर्थः। किं चास्य कान्त्या सदा वृद्धिरेव न च नवनवीभाव इत्यनुरागलक्षणेन सांकर्यं न मन्तव्यम्॥१३९॥

यथा—

धत्ते द्रागनुपाधि जन्म विधिना केनापि नाकम्पते,
सूतेऽत्याहितसंचयैरपि रसं ते चेन्मिथो वर्त्मने।
ऋद्धिं संचिनुते चमत्कृतिकरोद्दामप्रमोदोत्तरां,
राधामाधवयोरयं निरुपमः प्रेमानुबन्धोत्सवः॥१४०॥

तात्पर्यानुवाद—उक्त लक्षणमें अहार्य शब्दसे वर्णपक्षमें जलादि द्वारा धोनेपर भी मञ्जिष्ठराग धूमिल नहीं होता। प्रेमके पक्षमें सञ्चारिभाव भी उसे विचलित करनेमें सक्षम नहीं होते। अनन्यसापेक्ष शब्दसे स्वतःसिद्ध श्यामरागकी भाँति किसी द्रव्यकी अपेक्षा नहीं करता। सर्वदा अपनी कान्तिके द्वारा वृद्धिशील होता है। इसलिए कुसुम्भराग आदिकी भाँति सीमाबद्ध नहीं होता। सर्वदा वृद्धिको प्राप्त होता है। अनुराग लक्षणके साथ सांकर्य अर्थात् मिश्रित नहीं होता। यथा, नान्दीमुखी द्वारा श्रीकृष्णके रागलक्षणके विषयमें पूछनेपर पौर्णमासी नान्दीमुखीसे कह रही हैं—“वत्स! श्रीराधामाधवका यह अनुपम प्रेमानुबन्धोत्सव किसी उपाधिके बिना भी अत्यन्त शीघ्र उत्पन्न हो जाता है। किसी विधिके द्वारा विचलित नहीं होता एवं गुरुजनोंके भय अथवा कष्ट परम्पराके उपस्थित होनेपर भी, वह समस्त भय या कष्ट यदि परस्परके मिलनका कारण हो, तभी उसके द्वारा रसकी उत्पत्ति होती है कोई उद्वेग नहीं होता। इस प्रकार

समृद्धि संचय करता है जिसके द्वारा चमत्कारपूर्ण उद्भट (श्रेष्ठ) प्रेम प्रकट होता है॥१४०॥

लोचनरोचनी—धत्त इति। अत्राहार्यत्वादिकं स्फुटमेव। अनुपाधीति विनापि श्रवणादिलक्ष्यमित्यर्थः। तादृशमपि जन्म द्रागेव धत्ते नतु कौसुम्भवत्तदंशक्रमेणेत्यर्थः। यश्चित्ते सज्जति द्रुतमित्यत्र तु चित्तव्यञ्जनाया एव द्रुतत्वमुक्तं न तु रागोत्पत्तिरिति भेदः। विधिना केनापि नाकम्पत इति। कम्पनमत्र स्थाने स्थितस्यैव किंचिदान्दोलः। तत्र च आ–शब्देनात्र ईषदपीति व्यज्यते तच्चेषत्त्वमत्र नातिव्यक्तमेव। तदुक्तं न ज्ञायते यथेत्यादि। ततो नाकम्पत इति कौसुम्भरागवदस्य कम्पसंभावनापि न जायत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तपक्षे द्वयोस्तयो रागयोर्लोके तत्तद्रूपता दृष्टेरसम्भावनासम्भावनविषयत्वम्। दार्ष्टान्तिके पूर्वत्र तटस्थताया, उत्तरत्र स्वाधीनभर्तृकताया व्यक्तेरिति भावः। "अत्याहितं महाभीतिः कर्मजीवानपेक्षिता" इत्यमरः। ते अत्याहितसंचया मिथो वर्त्मने वर्त्म प्रापयितुं चेत्तदा तैरपि समास्वादं सूते। "ते चेन्मिथो लम्भकाः" इति वा पाठः॥१४०॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुख्या रागलक्षणं परिपृष्टा पौर्णमासी तां प्रत्याह—धत्त इति। अनुपाध्युपाधिं विनैव जन्म धत्त इत्यनन्यसापेक्षत्वम्। केनापि प्रकारेण विजातीयभावमिलनेनापीत्यर्थः। आ ईषदपि न कल्पते स्थाने स्थित एव स्पन्दनमपि नाप्नोतीत्यहार्यत्वम्। अत्याहितसंचयैर्गुरुजनादिनिबन्धनभयकष्टसमूहैरपि रसमास्वाद–विशेषमेव तेने, न तु कमप्युद्वेगमित्यर्थः। तेऽत्याहितसंचया यदि मिथो वर्त्मने परस्परवर्त्म प्रापयितुं भवन्तीति रागसामान्यलक्षणमुक्तम्। "अत्याहितं महाभीतिः" इत्यमरः। ऋद्धिं संचिनुते इति सदा कान्तिवृद्धिरुक्ता॥१४०॥

यथा वा विदग्धमाधवे (३/१७)—

मया ते निर्बन्धान्मुरजयिनि रागः परिहृतो,
मयि स्निग्धे किन्तु प्रथय परमाशीस्ततिमिमाम्।
मुखामोदोद्गारग्रहिलमतिरद्यैव हि यतः,
प्रदोषारम्भे स्यां विमलवनमालामधुकरी॥१४१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागकी अवस्थामें प्रेम परीक्षाकारिणी पौर्णमासी श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी अयोग्यताकी युक्ति देकर श्रीराधाको श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके लिए निषेध कर रही थी। उसे सुनकर पूर्वरागवती श्रीमती राधिकाने कहा—"देवि! आपके आग्रहसे मुरजयि श्रीकृष्णके प्रति मैंने अपना अनुराग तो त्याग दिया, किन्तु हे स्निग्धे! आप ऐसा एक विशेष

आशीर्वाद करें कि जिससे मैं श्रीकृष्णकी मुखसुधा ग्रहण करनेके लिए योग्यता प्राप्तकर आज प्रदोषकालके आरम्भमें ही उनकी निर्मल वनमालाकी भ्रमरी हो सकूँ।"

तात्पर्य—किन्तु हे स्निग्धे! आप मेरे प्रति स्नेहशील हैं। मेरे प्रति प्रचुर आशीर्वाद करें; क्योंकि आप तपस्विनी हैं। आपका आशीर्वाद अवश्य ही फलवती होगा। दूसरी बात, आप यदि ऐसा आशीर्वाद करें कि 'तुम चिरञ्जीवी हो' तो देवि! मुझे आपके ऐसे आशीर्वादकी आवश्यकता नहीं है। कृपया आज मैं जैसा कहती हूँ, उसी प्रकार आशीर्वाद करें—राधे! तुम वनमालीकी वनमालाकी मधुकरी बन जाओ। ऐसी प्रार्थना करनेपर देवी इस प्रकार जिज्ञासा कर सकती हैं कि उससे तुम्हें क्या सुख होगा? उसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्णकी वनमालामें सलंग्न रहकर मुकुन्दके मुखारविन्दके अभ्यन्तर और बाह्य उद्गाररूप अमृतका सेवन कर सकूँगी। यदि कहें कि मधुकरी तो तिर्यग्योनि है, तो मैं कहती हूँ कि मेरे लिए वही जन्म ही प्रार्थनीय है। अतएव काल-विलम्ब सहन नहीं हो रहा है। देवि! कृपा करें, अभी ही मुझे भ्रमरीका जन्म मिल जाए अर्थात् इस देहको त्यागकर भ्रमरी-देहको प्राप्त कर लूँ। काल-विलम्ब होनेसे मैं अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर पाऊँगी॥"१४१॥

लोचनरोचनी—मया ते निर्बन्धादिति। पूर्वरागे पौर्णमासीं प्रति श्रीराधावचनम्। तत्र तन्निवारणमयात्यन्तभीतिभी रागप्रकारश्चात्यन्तमेव जातः। अद्यैव "विमल वनमाला मधुकरी स्यामि"ति स्वदेहत्यागोऽपि सुखाय मतः। पूर्वत एवेदृशत्वादनन्यसापेक्षता च॥१४१॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तोदाहरणं माञ्जिष्ठरागस्य लक्षणाकारमभूदित्यपरितुष्यन्नाह—यथावेति। पूर्वरागे प्रेम परीक्षमाणां श्रीकृष्णप्राप्त्ययोग्यत्वे युक्तिं ब्रुवाणां पौर्णमासीं प्रति श्रीराधा प्राह—मयेति। ते तव निर्बन्धादिति। तेन स्वतस्तत्त्यागेऽसामर्थ्यं द्योतयति। मुरजयिनि श्रीकृष्णे रागस्तत्प्राप्त्याशालक्षणः परिहृतस्त्यक्तः। किन्तु हे स्निग्धे मयि स्नेहवति, आशीस्ततिं प्रथय महातापस्यास्तवाशीस्ततिरवश्यं फलिष्यत्येवेति भावः। ननु त्वं चिरजीविनी भूया इत्येव ममाशीस्ततिस्तत्राह—इमां वक्ष्यमाणप्रकारामेव न तु तदन्यथाभूतां कामपीत्यर्थः। त्वयैव शिथिलिते मदाशाबन्धे ततो विच्युता मत्प्राणा इमां तनुं संप्रति त्यजन्त्येव न पुनस्तान् त्वदाशीस्ततिरपि रक्षितुं प्रभवतीति भावः। ननु यदि त्वं जीविष्यस्येव तर्हि किं ममाशीस्तत्येत्यत आह—मुखेत्यादि।

यदाशीस्ततेर्हेतोर्वनमालासंबन्धिनी मधुकरी अहं स्यां मधुकर्या वनमालाप्राप्तियोग्यता अस्त्येव। "जरत्यास्त्वं नप्त्री स तु कमलया लालितपदः" इतिवत्। तत्रापि त्वया प्राप्त्ययोग्यता वक्तुमशक्येति भावः। ननु तत्र ते को लाभस्तत्राह—मुखामोदस्यान्तरीणस्य बाह्यस्य च जृम्भादिना य उद्गारस्तत्र ग्रहिला मतिर्यस्याः सा। एतज्जन्मना तिर्य्यग्जन्मना वा मम तत्रैव वाञ्छेति भावः। अद्यैवेति। कालविलम्बस्यासह्यत्वात्। तत्रापि प्रदोषारम्भ एव संप्रति सायंकाले एतद्देहं त्यक्त्वैवेति भावः। अतएवाशिषां ततिमिति तत्सिद्ध्यर्थं पुनः पुनराशीस्त्वया कर्तव्येति भावः। प्रथयेति। एषा ख्यातिस्तव च मम च भवत्विति भावः। तत्राहार्य्यत्वं पौर्णमास्यास्तादृशवाक्योत्थदैन्यसंचारिप्राबल्येनापि रागस्याप्यनपगमात्। अनन्यसापेक्षत्वं तु स्पष्टमेव। कान्त्या वृद्धिस्तदर्थं तिर्यग्जन्मप्रार्थनान्मयि स्निग्धे किन्तु प्रथयेत्वादिवाक्यस्य सोल्लासत्वात् देहत्यागदुःखमपि सुखमिति रागसामान्यलक्षणम्॥१४१॥

पूर्वपूर्वस्तु यो भावः सोमाभादौ स राजते।
तथा भीष्मसुतादौ च श्रीहरेर्महिषीगणे॥१४२॥

य उत्तरोत्तरो दिव्यो राधिकादौ स दीव्यति।
तथा श्रीसत्यभामायां लक्ष्मणायामपि क्वचित्॥१४३॥

तात्पर्यानुवाद—स्नेह आदिसे राग तक चारों अवस्थाओंमेंसे प्रत्येकके दो–दो भेदोंका जो वर्णन किया गया है, यहाँ अवस्थाके अनुसार उनके आश्रयको निर्धारित कर रहे हैं। यथा, पूर्व–पूर्व दशा अर्थात् घृतस्नेह, उदात्तमान, मैत्र्य, सुमैत्र्य और नीलिमाराग, चन्द्रावली आदिमें, रुक्मिणी आदि तथा श्रीकृष्णकी अन्यान्य महिषियोंमें दृष्टिगोचर होते हैं और उत्तरोत्तर परम उत्कृष्ट—मधुस्नेह ललित, सख्य, सुमैत्र्य और नीलिमा, सुसख्य और रक्तिमा आदि भावसमूह श्रीमती राधिकाादिमें, सत्यभामामें और कदाचित् लक्ष्मणादिमें भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार भावोंके भेदसे समस्त गोकुल सुन्दरियोंके आत्मपक्ष, विपक्षादि भेद कहे गए हैं।

पूर्वोक्त स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ और विपक्ष इत्यादि केवल चार ही भेद हैं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु इसके बहुत–से दूसरे भेद भी है। ग्रन्थके विस्तारके भयसे यहाँपर उनका वर्णन नहीं किया गया है। जैसे शुक्ल, नील, रक्त और पीत—मूलमें केवल ये चार रङ्ग हैं। इन चारोंके मिश्रणसे हजारों प्रकारके रङ्ग प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसी

प्रकारसे घृतस्नेह और मधुस्नेहके परस्पर अर्द्धपाद, एकपाद और सार्द्धपाद इत्यादि मिश्रणके भेदसे तथा नीली प्रभृति रागके भी अर्द्धपाद, एकपाद और सार्द्धपाद इत्यादि क्रमसे मिश्रण द्वारा स्थायीभावके विविध प्रकारके नाम और रूप भेद होते हैं तथा ऐसे ही भाववती व्रजसुन्दरियोंके विविध प्रकारके भेद हुआ करते हैं॥१४२–१४३॥

लोचनरोचनी—पुनर्घृतस्नेहादीन् संग्रहेण व्यवस्थापयति—पूर्वपूर्व इति। घृतस्नेह उदात्तो मैत्रं सुमैत्रं नीलिमेत्यादिः पूर्वपूर्वः। सोमभा चन्द्रावली मधुस्नेहो ललितः सख्यं सुसख्यं रक्तिमेत्यादिरुत्तरोत्तरः॥१४२॥

आनन्दचन्द्रिका—स्नेहादिरागान्तानां द्विविधत्वेनोक्तानां प्रेमभेदानामाश्रयं व्यवस्थया निश्चिनोति। पूर्वपूर्वः घृतस्नेहोदात्तमैत्र्यसुमैत्र्यनीलिमरागरूपः। सोमाभा चन्द्रावली तत्रादिशब्दाच्चन्द्रावल्यां नीलीरागः, तत्सुहृदि भद्रायां श्यामारागः। एवं तत्र पूर्वत्र स्नेहे प्रणये च सन्नपि भेदसूक्ष्मत्वान्न गणितः। किञ्च समर्थरतिमतीष्विव समञ्जसरतिमतीष्वपि स स यथोचितं भवतीत्याह—तथा भीष्मसुतेति। उत्तरोत्तरो मधुस्नेह–सख्य–सुसख्य–रक्तिमरागरूपः। तत्र श्रीराधाललितादौ माञ्जिष्ठरागः, तत्सुहृदि श्यामलायां कुसुम्भरागः, लक्ष्मणायां श्यामलास्थानीयायाम्। अत्र घृतमधुनोरुदात्तललित–योर्मैत्र्यसख्ययोः सुमैत्र्यसुसख्ययोर्नीलिमरक्तिम्नोः पूर्वपूर्वश्चन्द्रावल्यादौ, उत्तरोत्तरः श्रीराधादौ तत्रापि नीलिमनि नीलीश्यामयोः पूर्वपूर्व इत्युक्तत्वात् पूर्वश्चन्द्रावल्यादौ उत्तरस्तत्सुहृदि भद्रादौ। एवं रक्तिमनि कुसुम्भमाञ्जिष्ठयोरुत्तरोत्तर इत्युक्तत्वात् पूर्वः श्यामलादौ, उत्तरः श्रीराधादाविति व्याख्येयम्॥१४२–१४३॥

इत्थं भेदेन भावानां सर्वगोकुलसुभ्रुवाम्।
आत्मपक्षविपक्षादिभेदाः पूर्वमुदीरिताः॥१४४॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रकार भावके भेदसे ही गोकुलदेवियोंके स्वपक्ष, विपक्ष, तटस्थ और सुहृत्पक्षके भेद होते हैं। इन भेदोंका पहले आलम्बन विभावमें विचार किया जा चुका है॥१४४॥

आनन्दचन्द्रिका—भावानां घृतस्नेहादीनां पूर्वं स्वपक्षविपक्षादि–भेदप्रकरणे॥१४४॥

या भावान्तरसंबन्धाज्जायन्ते विविधा भिदाः।
अपरा अपि भावानां ज्ञेयास्ताः प्रज्ञया बुधैः॥१४५॥

तात्पर्यानुवाद—भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहे गए अन्यान्य ४१ मुख्यभावों[१] के सम्बन्ध (अन्यान्य मिश्रण) प्राप्तिसे जो विविध प्रकारके भेद हो सकते हैं और दूसरे सभी प्रकारके भेदोंको पण्डितगण अपनी प्रज्ञासे (साधनोर्जित बुद्धि-विवेकसे) अवगत होंगे॥१४५॥

लोचनरोचनी—भावान्तराणि अन्ये भावाः। ते चैकचत्वारिंशत्। तत्र स्थायी मधुराख्यः। व्यभिचारिणस्त्रयस्त्रिंशत्, हासादयः सप्तेति ज्ञेयाः॥१४५॥

आनन्दचन्द्रिका—न केवलं "स्यात् स्वपक्षः सुहृत्पक्षस्तटस्थः प्रतिपक्षकः।" इति पूर्वोक्ताश्चतस्र एव भेदा गणनीयाः किन्तु ग्रन्थविस्तरभयादनुक्ता अपि बह्व्याऽपरा भिदाः सन्तीत्याह—या इति। अयमर्थः—यथा शुक्लनीलरक्तपीतानां चतुर्णां वर्णकानां मिश्रणभेदेनानन्ता एव वर्णा भवन्ति एवं घृतस्नेहमधुस्नेहयोर्भावयोः परस्परमर्द्धपादैकपाद-सार्द्धपादादिमिश्रणभेदेन तथैव नील्यादिरागानामप्यर्द्धपादादिक्रमेण परस्परमिश्रणेन विविधनामरूपा एव भावाः स्थायिनः संभवन्ति तद्वत्यो व्रजसुभ्रुवोऽपि विविधभेदा भवन्तीति॥१४५॥

अथानुरागः—

सदानुभूतमपि यः कुर्य्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥१४६॥

तात्पर्यानुवाद—अनुराग—जो राग नित्य नवनवायमान होकर अनुभूत प्रियजनको सदा सर्वदा नित्य-नवीन ही बोध कराता है, पण्डितलोग उस रागको अनुराग[२] कहते हैं। वह अननुभूत तत्त्व अर्थात्

---

[१] जीव गोस्वामीके अनुसार—मधुराख्य स्थायीभाव एक, व्यभिचारी तैंतीस और हास्यादि सात—सब मिलकर इकतालिस भाव हैं।

[२] अनुरागके विषयमें पदकर्त्ता वैष्णव-कवि विद्यापतिका एक पद—

सई! कि पूछसि अनुभव मोर!
सोई पिरिति अनुराग बखानिते, तिले तिले नूतन हय॥
जनम अवधि हाम, रूप नेहारनु, नयन न तिरपित भेल।
लाखलाख युग, हिये हिये राखनु तबु हिये जुड़न ना गेल॥
वचन अमियारस, अनुखन शुनलूँ श्रुतिपथे परश न भेल।
कत मधुयामिनी, रभसे गोवाईनु, ना बुझनु कैछन केल॥
कत विदगध जन रस अनुमोदई, अनुभव काहूँ न पेखी।
विद्यापति कह, ऐछन प्रेमिक, मिलये कोटिके एकि॥

अनास्वादनीयत्व, कहीं-कहींपर आंशिक रूपमें और कहीं-कहींपर सर्वांश रूपमें—दो प्रकारका होता है॥१४६॥

लोचनरोचनी—नवनवत्वं मुहुरननुभूतपूर्वरूपत्वम्॥१४६॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियं प्रीतिविषयं जनं नायकरूपं वा सदा अनुभूतमपि आस्वादितचररूपगुणमाधुर्यमपि नवनवमनुभूतपूर्वमिव यो रागः पूर्वोक्तलक्षणोऽत्र तु तृष्णाविशेषत्वेन परिणतो नवं नवमनुभूतचरमिव नित्यनवास्वाद्यमानमेव कुर्यात् स स्वयमपि नवनवो भवन् राग एवानुरागः स्यात्। अत्रानुभूतस्यापि प्रियस्य यदननुभूतत्वं तत् क्वचिदेकांशेन, क्वचित्सर्वांशेनाप्युदाहरणद्वयाज्ज्ञेयम्॥१४६॥

यथा दानकेलिकौमुद्याम् (२८)—

प्रपन्नः पन्थानं हरिरसकृदस्मन्नयनयो-
रपूर्वोऽयं पूर्वं क्वचिदपि न दृष्टो मधुरिमा।
प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या,
श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम्॥१४७॥

तात्पर्यानुवाद—गोवर्द्धनके नीलमण्डपकी घाटीमें अदृष्ट और अश्रुतचर महामोहन रूपमें विराजमान श्रीकृष्णको दर्शनकर "ये कौन हैं?" ऐसा सोचकर श्रीमती राधिका वृन्दासे पूछ रही हैं—"क्या ये श्रीकृष्ण हैं?" उसके उत्तरमें वृन्दाजी कहती हैं—"हाँ, ये ही श्रीकृष्ण हैं।" ऐसा सुनकर श्रीमती राधिका अत्यन्त विस्मयपूर्वक परामर्श कर रही हैं—"हे सखि! इन हरिका पुनः-पुनः मैंने अनेकों बार दर्शन किया है, किन्तु उनके इस प्रकारके अतिशय अपूर्व और अनुपम माधुर्यको मैंने कभी नहीं देखा। क्या ही आश्चर्यकी बात है? इनके अङ्गके एक-एक देशमें निरन्तर ऐसी शोभा प्रकाशित हो रही है कि इनका बिन्दुमात्र माधुर्यास्वादन करनेकी भी मेरे नेत्रोंमें शक्ति नहीं है।" इस पद्यमें श्रीकृष्णके माधुर्यकी प्रतिक्षण वर्द्धनशीलता और उनके माधुर्यके अनन्तत्व और अपारत्वकी ही अभिव्यक्ति हुई॥१४७॥

लोचनरोचनी—प्रतीकेऽवयवे। एकदेश इति यावत्॥१४७॥

आनन्दचन्द्रिका—गोवर्द्धने दानघट्टे तिष्ठन्तं श्रीकृष्णं दूरादालोकयन्ती श्रीराधा वृन्दां प्रत्याह—प्रपन्नः प्राप्तः। असकृद्बहुवारमेव। किंत्वस्यायमद्यतनो मधुरिमा

अपूर्वोऽद्भुतः। मधुरिमाणमेव विवृणोति—एकस्याङ्गस्य हस्तपादादेः प्रतीके एकस्मिन्नप्यवयवे अङ्गुल्यादौ या श्रीः शोभा स्फुरति तस्याः श्रियो लवमपि एकं लेशमपि। "अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः" इत्यमरः। अत्र तदीयमधुरिम्णो मुहुरनुभूतस्याप्यननुभूतत्वभानसमर्पको योऽतितृष्णाविशेषः सोऽयमनुरागः॥१४७॥

यथा वा—

> **कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि कर्णं विशन्,**
> **रागान्धे किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीडति।**
> **हास्यं मा कुरु मोहिते त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया,**
> **सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः॥१४८॥**

तात्पर्यानुवाद—अतिशय राग—उल्लिखित पूर्व पद्यमें एकांशमें अनुरागका वर्णनकर अब सर्वांशमें अनुरागका उदाहरण दे रहे हैं। किसी समय श्रीकृष्णकी कथाके प्रसङ्गमें अत्यन्त उत्कण्ठावती श्रीमती राधिकाके हृदयमें अनुराग नामक स्थायिभावका उदय होनेपर ललिताके सहित श्रीराधाका प्रश्नोत्तर—

श्रीमती राधिकाने कहा—"हे कृशोदरि! जिनका 'कृष्ण' ये दो अक्षरमात्र नाम हैं, वे कौन हैं? मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही जिन्होंने मेरे धैर्यको हरण कर लिया?" ललिताने कहा—"जो हो सो हो, तुम्हारे पूछनेका प्रयोजन क्या है?" श्रीमती राधिकाने कहा—"यदि एकमात्र मेरे कानोंमें प्रविष्ट होकर जिन्होंने मेरा धैर्यादि सब कुछ हरण कर लिया है, न जाने मेरे नेत्रोंमें प्रवेश करें, तो और क्या करेंगे? अतएव क्या तुम जानती हो कि ये कौन हैं? इनसे अपने कुलधर्मकी रक्षाकी युक्ति भी चिन्तनीय है।" ललिताने कहा—"तुम रागसे अर्थात् उत्कण्ठासे अन्धी होकर यह क्या कह रही हो? क्या तुम इनका परिचय नहीं जानती?" श्रीराधाने कहा—"सत्य ही कह रही हो। ये मेरे परिचित नहीं हैं।" ललिताने कहा—"हे मोहिते! अतिशय तृष्णाके कारण तुम्हारा ज्ञान विलुप्त हो गया है।" श्रीराधाजीने कहा—"तुम मुझे फिरसे स्मरण करा दो।" ललिताने कहा—"अरे! अभी क्षणभर भी तो नहीं बीता, मैंने अपने हाथोंसे तुम्हें उनकी गोदीमें बिठाया था!!" श्रीमती राधिकाने कहा—"अहो! अब मुझे स्मरण आया। तुम सच ही कह रही हो।" ललिताने कहा—"तब मैं नहीं जानती कि तुम ऐसी झूठी बात क्यों

बोली?" श्रीमती राधिकाने कहा—"अपने सारे जीवनमें मैंने आज ही अपने नयन प्राङ्गणमें इन्हें प्राप्त किया है, पहले कभी नहीं देखा। अतः इन्हें कैसे जान सकती हूँ?"॥१४८॥

लोचनरोचनी—अत्र तात्कालिकीमपि कृष्णसंगतिमुत्कण्ठया विस्मृतां विधाय पृच्छन्त्याः सख्याः सख्या सह प्रश्नोत्तरमयं वचनमुदाहरणमाह—कोऽयमिति। तत्र कोऽयमिति, रागान्ध इति, हास्यमिति, मोहित इति, सत्यं सत्यमिति चारभ्य तत्तद्वचनं ज्ञेयम्। तत्र किमिदमिति किमिदं ब्रूषे इत्यर्थः। अधुना संप्रत्येव न्यस्ता आनीय समर्पिता॥१४८॥

आनन्दचन्द्रिका—एकांशेनानुरागमुक्त्वा सर्वांशेनापि तं वक्तुमाह—यथा वेति। कदाचित् कृष्णकथोपक्रमे अत्युत्कण्ठावती श्रीराधा अनुरागनाम्नः स्थायिनो हृदि सम्यगुदये सति ललितया सह संलपति—कोऽयं कृष्ण इति। कृष्ण इत्यक्षरद्वयमयी यस्य संज्ञा सोऽयं क इति प्रश्नः। ननु यः स भवतु किं ते प्रश्नेनेत्यत आह—यः कर्णमेकमेव न च द्वौ कर्णौ विशन् प्रविशन्नेव न तु प्रविश्य मम धृतिं विशेषेणोदस्यति सामस्त्येनैव लुम्पति। न जाने नेत्रं प्रविशन् मे किं करिष्यत्यतोऽयं ज्ञातुमर्ह इति ध्वनिः। तस्मात् सकाशात् स्वीयकुलधर्मस्य रक्षणे युक्तिश्चिन्तनीयेत्यनुध्वनिः। ललिताह—हे रागेणात्युत्कण्ठयान्धे! किमिदं त्वमिदं किं ब्रूषे इत्यर्थः। तं किं त्वं न परिचिनोषीति भावः। ननु सत्यं वच्मि नाहं परिचिनोमीत्यत आह—सदेत्यादि। श्रीराधा प्राह—हास्यं मा कुर्विति। असंभववचनस्य हास्य एव पर्याप्तिः इति भावः। ललिताह—हे मोहिते! इति। अतितृष्णयेव त्वमधुना लुप्तज्ञानीकृतेति भावः। ननु तर्हि त्वमेव स्मारयेत्यत आह—त्वमित्यादि। अधुनेति। कालविलम्बोऽपि न जात इति भावः। तत्रापि मयैव नत्वन्यजनद्वारा। तत्राप्यस्य हस्त एवेति संभोगादिकमपि कारितमिति भावः। श्रीराधा प्राह—सत्यं सत्यमिति। त्वया साधु स्मारितास्मीति भावः। ननु तर्हि कथं न परिचिनोमीत्यपलपसि। तत्राह—अद्यैव मज्जन्ममध्य इति भावः। तत्रापि विद्युन्निभोऽतिसूक्ष्मक्षणमात्रमेव। तत्रापि दृशोरङ्गणमेवागात् न तु सम्यगन्तरमिति कथं सम्यक् परिचेतुं प्रभवामीति भावः॥१४८॥

परस्परवशीभावः　प्रेमवैचित्त्यकं　तथा।
अप्राणिन्यपि　जन्माप्त्यै　लालसाभर　उन्नतः।
विप्रलम्भेऽस्य विस्फूर्त्तिरित्याद्याः स्युरिह क्रियाः॥१४९॥

तात्पर्यानुवाद—इस अनुरागमें परस्पर वशीभाव, प्रेमवैचित्त्य, अप्राणियोंमें भी जन्म लेनेकी अत्यन्त लालसा एवं विप्रलम्भमें श्रीकृष्णकी स्फूर्ति इत्यादि बहुतसे अनुभाव आविर्भूत हुआ करते हैं।

तात्पर्य—अनुरागका अनुभाव यह है कि प्रेमादिमें नायकका वशीभूत होना स्पष्ट है। नायिकाकी लज्जा अवहित्थाके द्वारा अवशीभाव प्रकाश पाती है। इससे वह और भी अधिक सरस हो जाता है। पुनः अनुरागमें तृष्णाका आधिक्य होनेपर अवहित्था, गर्व, असूयादिके अवशीभावके कारण नायिकामें भी वशीभाव प्रकाशित होता है। इसके द्वारा उज्ज्वल रसमें अवहित्था आदि सञ्चारीभावके अभावके कारण प्रेमारम्भको आरम्भकर परस्पर वशीभाव हुआ करता है। यथा, "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहं। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥"

इस भागवतीय श्लोकसे भगवान्‌की भक्तवश्यता और भक्तोंकी भगवद्वश्यता सर्वशास्त्रमें प्रसिद्ध है॥१४९॥

लोचनरोचनी—परस्परवशीभावः प्रेमादिषु सन्नप्यत्र विलक्षणो ज्ञेयः। वैलक्षण्यं च परस्परनवनवायमान-वशीभावत्वम्॥१४९॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुरागस्यानुभावानाह—परस्परवशीभाव इति। प्रेमादिषु नायकस्यैव वशीभावः स्पष्टो भवेत्, नायिकायास्तु लज्जावहित्थादिभिरवशीभाव एव तत्र तत्र सुरसोऽपि स एवोच्यते, अनुरागे तु तृष्णाधिक्यादवहित्थागर्वासूयादेरवकाशाभावान्नायिकाया अपि स्पष्ट एव वशीभाव इत्यत्रैव परस्परवशीभावो व्यक्तो भवेदुज्ज्वलरसे। दास्यादिरसे त्ववहित्थादिसंचारिभावाभावात् प्रेमारम्भमारभ्यैव परस्परवशीभावो भवेत्। यदुक्तम्—"साधवो हृदयं महयं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥" इति। भगवतो भक्तवश्यता भक्तानामपि भगवद्वश्यता सर्वशास्त्रप्रसिद्धैव॥१४९॥

तत्र परस्परवशीभावो यथा—

समारम्भं पारस्परिकविजयाय प्रथयतो–
रपूर्वा केयं वामघदमन संरम्भलहरी।
मनोहस्ती बद्धस्तव यदनया रागनिगडै–
स्त्वयाप्यस्याः प्रेमोत्सवनवगुणैश्चित्तहरिणः॥१५०॥

तात्पर्यानुवाद—परस्पर वशीभाव—अति उत्कण्ठावशतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण परस्परको ढूँढ़ते हुए जब किसी कुञ्जवीथिमें मिलित हुए तो दोनों आनन्दधारासे अभिसिक्त हो गए। उसके द्वारा जो माधुर्य प्रकटित हुआ, उसको आस्वादन करनेवाली हठात् वहाँ उपस्थित हुई कुन्दलता

अत्यन्त विस्मित होकर आनन्दके साथ श्रीकृष्णसे बोली—"हे अघदमन! तुम और श्रीराधा दोनों परस्पर जयके लिए जिस प्रकार आरम्भलहरीका विस्तार कर रहे हो, उससे तुम्हारे दर्शन, स्पर्शन और चुम्बनादिसे क्या ही अपूर्व आवेशलहरी दृष्टिगोचर हो रही है! क्योंकि तुम्हारे मनरूपी मदमत्त गजराजको श्रीमतीने अपनी रागरूप शृंखलासे आबद्ध कर लिया है और तुमने भी उनके चित्तरूप हरिणीको अपने प्रेमोत्सवरूप सुदृढ़ नवीन रज्जुके द्वारा बाँध रखा है॥१५०॥

लोचनरोचनी—तथा ह्युदाहरणम्—समारम्भमिति। पारस्परिकविजयाय समारम्भं प्रथयतोर्वां युवयोः केयमपूर्वा संरम्भलहरी उत्साहपरम्परा तां न बुध्याम इत्यर्थः। अबोधने च हेतुं विवृणोति—मन इति। अनया तव मनोहस्ती बद्ध एव। त्वयाप्यस्याश्चित्तहरिणो बद्धः। तर्हि किमर्थं पुनःपुनरुद्यम इत्यर्थः। तस्मान्नवनवतयैव युवयोर्मिथः स्फूर्त्तिरिति भावः। अत्र हस्तित्वेन तस्य मनसो दुर्वशताम्, हरिणत्वेन तस्यास्तु सुवशतां व्यज्य तस्मिन्नुपालम्भांशोऽपि व्यञ्जितः॥१५०॥

आनन्दचन्द्रिका—परस्परमन्विष्यतोः श्रीराधाकृष्णयोरत्युत्कण्ठयोः कस्यांचित् कुञ्जप्रतोल्यां मिलितयोरानन्दधारास्नपितयोरुदितमद्भुतमाधुर्यमास्वादयन्ती तत्रैवाकस्मादायाता कुन्दलता सविस्मयानन्दमाह—समारम्भमिति। पारस्परिकः परस्परसंबन्धी यो विजयस्तस्मै परस्परं विजेतुं हस्तवशीकर्तुमिति यावत्। सम्यगारम्भं प्रथयतोर्लोक-विख्यातमपि कुर्वतोरत्यासक्तिवशान्नापि लज्जमानयोरिति भावः। वां युवयोः संरम्भलहरी दर्शनस्पर्शनचुम्बनादिषु अत्यौत्सुक्यवशादावेशपरम्परा केयमपूर्वा। पूर्वमेवं न दृष्टासीत् संप्रति केयं नवनवायमानेति भावः। यतस्तव मनोहस्ती अनया बद्ध इति श्रीकृष्णमनसो हस्तित्वं बहुबल्लभतया बहुकोटिगामितया दुर्वारत्वांशेन श्रीराधाचित्तस्य हरिणत्वं श्रीकृष्णमाधुर्यनवपल्लवलोभित्वांशेन। उभयत्रैव बन्धन-साधनमनुराग एव रागा एव निगडास्तैरिति रागाणां बहुत्वमनुराग एव, तथा प्रेम्णो य उत्सवोऽतिविततत्वं तेन नवा नवीनत्वेन भासमाना गुणास्तैरित्यर्थतोऽनुराग एव॥१५०॥

प्रेमवैचित्त्यसंज्ञस्तु विप्रलम्भः स वक्ष्यते॥१५१॥

अप्राणिन्यपि जन्मलालसाभरो यथा दानकेलिकौमुद्याम् (१७)—

तपस्यामः क्षामोदरि वरयितुं वेणुषु जनु-
र्वरेण्यं मन्येथाः सखि तदखिलानां सुजनुषाम्।

तपस्तोमेनोच्चैर्यदियमुररीकृत्य मुरली,
मुरारातेर्बिम्बाधरमधुरिमाणं रसयति ॥१५२ ॥

तात्पर्यानुवाद—प्रेमवैचित्त्य नामक विप्रलम्भभावका वर्णन आगे शृङ्गारभेद कथनमें किया जाएगा॥१५१॥

अप्राणीमें जन्मलाभकी उत्कट लालसा—मुरलीके माध्यमसे श्रीकृष्णाधरामृत-माधुर्यके श्रवणसे उत्पन्न मत्ततासे उत्प्रेक्षा करती हुई श्रीमती राधिका ललिताको वेणुकी प्रशंसा करती हुई कह रही हैं—"हे कृशोदरि सखि! हमलोग वेुणजातिमें जन्मकी प्रार्थना करनेके लिए तपश्चर्या करेंगी। इस वेणुजातिमें जन्मको ही सर्वापेक्षा सार्थक समझो; क्योंकि यह मुरली बहुत तपस्याकर मुरारिकी अधरसुधाके माधुर्यका आस्वादन कर रही है॥"१५२॥

लोचनरोचनी—तपस्याम इति। अत्र च प्रकरणवशात्तल्लाभेऽवगतेऽप्य-तृप्तिव्यञ्जनान्नवनवायमानत्वं व्यक्तम्॥१५२॥

आनन्दचन्द्रिका—आत्मानमकृतार्थं मन्यमाना श्रीराधा ललितामाह—वेणुषु वेणुजातिषु जनुर्जन्म वरयितुमिति। "वर ईप्सायाम्" चुराद्यदन्तः। हे क्षामोदरि! कृशोदरीति तव वा मम वा सौन्दर्यवता मनुष्यजन्मनानेन किं कार्यं यदि कृष्णो न लभ्यत इति भावः। ननु देवादिजन्म हित्वा किं तिर्यग्जन्म प्रार्थयसे? तत्राह—वरेण्यमित्यादि। अत्र हेतुस्तपस्तोमेनेत्यादि। इयं मुरली यद्वेणुषु जनुररी-कृत्याङ्गीकृत्य। अत्र श्रीराधायाः प्रकरणवशाद्रात्रिंदिवं तेन सह दिव्यलीलया दीव्यन्त्या अपि अतितर्षभरात्तत्तदनुभूतत्वेन भावनसमर्पकोऽनुराग एव ज्ञेयः॥१५२॥

अथ विप्रल्म्भे विस्फूर्त्तिर्यथा—

ब्रूयास्त्वं मथुराध्वनीन मथुरानाथं तमित्युच्चकैः,
संदेशं व्रजसुन्दरी कमपि ते काचिन्मया प्राहिणोत्।
तत्र क्ष्मापतिपत्तने यदि गतः स्वच्छन्द गच्छाधुना,
किं क्लिष्टामपि विस्फुरन् दिशि दिशि क्लिश्नासि हा मे सखीम्॥१५३॥

तात्पर्यानुवाद—विप्रलम्भमें भी विस्फूर्ति—श्रीकृष्णके विरहसे श्रीमती राधिकाको अत्यन्त व्याकुल देखकर ललिता मथुरावासी किसी पथिकके द्वारा श्रीकृष्णको संवाद भेज रही हैं—"हे मथुरा-पथिक! तुम मथुरानाथको

उच्च स्वरसे कहना कि किसी व्रजदेवीने मेरे द्वारा सन्देश भेजा है कि—"हे कृष्ण! तुम राजधानीमें गए हो, तुम स्वतन्त्र हो! जाओ। किन्तु हाय! हाय! मेरी इस विरहपीड़िता प्रियसखीको सर्व दिशाओंमें विस्फुरित होकर और भी दुगुना दुःखित क्यों कर रहे हो?"

तात्पर्य यह है कि अनन्या श्रीमती राधिकाके चित्तमें तुम्हारी स्फूर्ति होनेपर वे साक्षात् बुद्धिसे दौड़कर निकट उपस्थित होती हैं। इसके पश्चात् "ओह! यह स्फूर्ति है, यथार्थ नहीं"—ऐसा निश्चयकर और भी द्विगुण विरहव्यथाको प्राप्तकर महामूर्च्छाको प्राप्त हो जाती हैं॥१५३॥

लोचनरोचनी—ब्रूयास्त्वमिति। अत्र च नवनवत्वं व्यक्तम्। प्रतिनवता स्फूर्तेः। किं च सोऽयं संदेशस्तत्पर्यन्तगमनासमर्थेऽप्ययोग्येऽपि पथिके यत्कृतस्तेन तस्या विचारराहित्यमेव सूचितम्। सखीवैयग्र्यस्य स्वस्मिन् स्पर्शात्। लक्षणस्थाद्यग्रहणादिदमपि गम्यम्। क्लिश्नासि व्यथयसि॥१५३॥

आनन्दचन्द्रिका—विस्फूर्त्तिर्विशिष्टा स्फूर्त्तिः। साक्षाद्दर्शनाकारेत्यर्थः। स्फूर्त्तिसामान्यस्य रत्यादावपि दृष्टेः। यदुक्तं रतिमात्रवता बिल्वमङ्गलेनापि—"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।" इति बिल्वमङ्गलस्य रतिमत्त्वं पूर्वग्रन्थे साधकभक्तलक्षणे "उत्पन्नरतयः सम्यङ्नैर्विघ्न्यमनुपागताः। बिल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः॥" इत्यत्रोक्तम्। तथा कर्णामृतेऽपि "हा हन्त हस्तपथदूरमहो किमेतदाशाकिशोरमयमम्ब जगत्रयं मे॥" इति स्फूर्त्तिरेव॥

मथुरास्थं श्रीकृष्णं पान्थद्वारा ललिता संदिशति—ब्रूया इति। मया द्वारभूतेन ते तुभ्यं कमपि संदेशं व्रजसुन्दरी प्राहिणोदिति त्वं मथुरानाथं ब्रूयाः। ननु कः संदेशस्तत्राह—तत्रेत्यादि। क्लिश्नासीति। अयं भावः—त्वत्स्फूर्तौ सत्यामनया आलिङ्गनचुम्बनादिषु त्वां साक्षाद्वर्त्तिनं मत्वा प्रथममतिहृष्यते क्षणानन्तरं स्फूर्त्तिभङ्गे सति दुःखसमुद्रे निमज्जते। अतिध्वान्तोदर्कात् विद्युत्प्रकाशात् केवलान्धकारो वरमिव स्फूर्त्तिमद्विरहात् वरं केवलविरहो नातिक्लेशद इति॥१५३॥

अथ भावः—

अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते॥१५४॥

तात्पर्यानुवाद—भाव—अनुराग अपनी अनुभवावस्थाको प्राप्त करता हुआ जब स्वजातीयाशय स्निग्ध साधक भक्तोंमें भी व्याप्ति करता है

अर्थात् जिसके अनुभवसे साधक भक्तगण भी अनुरागसे विवश हो जाते हैं, तब उसे भाव कहते हैं अथवा यावदाश्रयवृत्ति रूपमें अनुराग जब स्वसम्वेद्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होता है तब उसे भाव कहते हैं॥१५४॥

लोचनरोचनी—अनुराग इति। प्रागुक्तोऽनुरागो यावदाश्रयवृत्तिश्चेत् तर्हि स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितो भाव इत्यभिधीयत इत्यन्वयः। भावशब्दस्य तत्रैव वृत्तिः पराकाष्ठा। भगवच्छब्दस्य श्रीकृष्ण इवेति भावः। महाभावशब्दस्य तु क्वचित्तत्र प्रयोगः। स्वयंभगवच्छब्दस्येव ज्ञेयः। अयमर्थः यावदाश्रयमिति इयत्तायामव्ययीभावः। यावत्पात्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्वेतिवत्। आश्रयश्चात्र राग एव। तमाश्रित्यैवानुरागस्तादृशतां प्राप्नोति। "नवरागहिङ्गुलभरैश्चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदित्युदाहरणेऽति तथा मंस्यते। वक्ष्यते च—रागानुरागतामादौ स्नेहः प्राप्यैव सत्वरम्। मानत्वं प्रणयत्वं च क्वचित्पश्चात्प्रपद्यते।" इति। "अतएवात्र शास्त्रेषु श्रूयते राधिकादिषु। पूर्वरागप्रसङ्गेऽपि प्रकटं रागलक्षणम्॥" इति। ततश्च यावदाश्रयस्येयत्तापन्ना वृत्तिर्यस्येति अव्ययीभावगर्भ-बहुव्रीहित्वे यावती रागस्येयत्ता संभवति तावतीं तामापन्ना वृत्तिर्वर्तनं यस्येति गम्यते। स च स्वसंवेद्यदशां स्वस्य भावोन्मुखताप्राप्तानुरागवतस्तत्प्रेयसीजनविशेषस्यैव न तु केवलानुरागवतः स्वसंवेद्या दशा तां प्राप्य प्रकाशितो यथावसरमुद्दीप्तादिसात्त्विकैः प्रकाशमानश्चेद्भाव इत्यभिधीयते इति। अयं भावः। रागः खलु "यद्दुःखमधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते। यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कथ्यते॥" इत्युक्तलक्षणः। दुःखस्य परमकाष्ठा कुलवधूनां स्वयमपि परममर्यादानां स्वजनार्यपथाभ्यां भ्रंश एव नाग्न्यादिर्न च मरणम्। ततश्च तत्कारितया प्रतीतोऽपि श्रीकृष्णसंबन्धः सुखाय कल्पते चेत्तर्ह्येव रागस्य परमेयत्ता। ततश्च तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्पते। सा चारम्भत एव व्रजदेवीष्वेव दृश्यते, पट्टमहिषीषु तु संभावयितुमपि न शक्यते। आरम्भत एवेति व्यञ्जयितुं नवरागहिङ्गुलभरैरित्यत्र नवशब्दो दास्यते। तदेवमेव ता एवोद्दिश्योद्धवः सचमत्कारमाह—"या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति। ईदृशोक्त्या च यद्यपि तासां त्यागो न संभवति तथापि कृत इति कुलाङ्गनात्वं परममर्यादात्वं च दर्शितम्॥१५४॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुरागः स्वेनैवानुरागेणैव संवेद्या संवेदनार्हा या दशा तां प्राप्य प्रकाशितः प्रकाशयुक्तः सन्नत एव यावदाश्रयवृत्तिः स्यात्तदा भाव इत्यभिधीयत इत्यन्वयः। तेन च प्रकाशाभावे यावदाश्रयवृत्तित्वाभावस्तदा च स्वसंवेद्यत्वेऽप्यनुराग एव नतु भाव इत्यर्थ आयाति। ततश्च दशाशब्देनानुरागस्य सर्वोपरितन्येवावस्थोच्यते तत्रैव प्रकाशस्यावश्यकत्वात्। "आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः। हृदयं

द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते॥" इतिवत्। दशामात्रस्योक्तत्वेऽनुरागस्य सर्वा एव दशाः स्वसंवेद्या एवेति कोऽनुरागः को वा महाभाव इत्यनयोर्भेद एव न स्यात् रत्यादीनां महाभावान्तानां सर्वेषामेव स्वसंवेद्यत्वात्॥

ननु तर्ह्यलं स्वसंवेद्यपदेनोपन्यस्तेन अनुरागो निजोत्कर्षदशां प्राप्य इत्युच्यताम्। सत्यम्। भावानामेषां स्वरूपत्रयं प्रथमं स्वसंवेदरूपत्वं ह्लादांशेन, ततः श्रीकृष्णादिकर्मकसंवेदनरूपत्वं संविदंशेन, ततः संवेद्यरूपत्वं तदुभयांशेन। यदुक्तम्—"वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वियम्। कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं च प्रपद्यते॥" इति। ततश्चानुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्येत्युक्तेऽनुरागदशायाः भावत्वकरणत्व-कर्मकत्वानां प्राप्तौ सत्यामनुरागोत्कर्षोऽयं श्रीकृष्णानुभवरूप इति प्रथमं सुखम्, ततश्च प्रेमादिभिरनुभूतचरोऽपि श्रीकृष्णः संप्रत्यनुरागोत्कर्षेणानुभूयत इति द्वितीयं सुखम्, ततश्च श्रीकृष्णानुभवेनायमनुरागोत्कर्षोऽनुभूयत इति तृतीयं सुखमिति सुखत्रयं प्राप्येत्यर्थ आयाति। किञ्च "रसो वै सः" इति श्रुत्यनन्तरं "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" इति श्रुतौ यथानन्दस्य सीमा विचारिता, तथैवात्र प्रेमानन्दानां सीमा अनुरागोत्कर्ष एव, तत्र यथा शीतोष्णादिपदार्थेषु मध्ये शैत्याद्युत्कर्षसीमवन्तश्चन्द्रसूर्यादयः स्वसमीपस्थदूरस्थपदार्थानपि सगुणाश्रयान् शैत्यादिमतः कुर्वन्ति तथैवायमनुरागोत्कर्षोऽपि श्रीराधाहृदये सम्यगुदितः श्रीकृष्णप्रीतिमज्जनमात्रमेव प्रेमानन्दमयी करोतीत्याह—यावदिति। यावन्त एवाश्रयाः साधकभक्ताः सिद्धभक्ताश्च तावत्सु वृत्तिर्यस्येति समासे तावत्पदस्यान्तर्भावः। यदुक्तं भाषावृत्तौ—"दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्योदन इतिवत् क्वचिदन्तर्भावः" इति। अत्र वृत्तिशब्देन सत्ता नोच्यते सर्वेषामेव महाभावत्वापत्तेः। किन्तु वृत्तिर्व्यापारः क्रियेति यावत्। अतएव वक्ष्यते—आसन्नजनताहृद्विलोडनामिति ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वमिति च। सा च वृत्तिर्यथोचितमेव ज्ञेया वत्वन्तपदोपन्यासात्। यावन्तो यत्प्रमाणाश्रयास्तेषु तावती तावत्प्रमाणैव वृत्तिर्यस्येति व्युत्पत्तेर्यथा चन्द्रः सर्वमेव जगद् यत् स्वकिरणक्षेपैः शीतलीकरोति तत्तारतम्येनैवेति तथैव लक्षितो योगवियोगयोर्महाभावः। यदुक्तं प्रेमसंपुटे—"आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकीं संतापयन् प्रबलसूर्य इवावभाति।" इति॥१५४॥

यथा—

> **राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्–**
> **युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।**
> **चित्राय स्वयमम्बरं जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे,**
> **भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती॥१५५॥**

तात्पर्यानुवाद—गिरिराजजीके किसी कुञ्जमें परस्पर-परस्परके माधुर्यके आस्वादनमें निमग्न और उद्दीप्त सात्त्विकभावोंसे अलंकृत

श्रीराधाकृष्णकी महाभाव माधुरीका अनुमोदनकर वृन्दा श्रीकृष्णसे कह रही है—हे शैलकुञ्जोंमें विहार करनेवाले मदमत्त गजराज! शृङ्गाररूप सुनिपुण शिल्पीने भावोष्मारूप अग्नितापके द्वारा श्रीराधा और तुम्हारे चित्तरूप लाक्षाको द्रवीभूतकर, धीरे-धीरे दोनोंको एकत्रकर तुम्हारे परस्परके भेदभ्रमको दूर कर दिया है अर्थात् भेद रहित कर दिया है और इस ब्रह्माण्डरूप देवगृहमें उसी व्यापारका चित्राङ्कन करनेके लिए नवरागरूप हिंगुलसमूहका प्रयोगकर स्वयं ही अनुरञ्जित होकर दोनोंके चित्तको अनुरक्त किया है। यहाँ भेदभाव दूरीकरण ही स्वसम्वेद्यदशाको प्राप्त करना है। ब्रह्माण्डरूप अट्टालिकादिके द्वारा यावदाश्रयवृत्तिका बोध होता है। अनुरञ्जित किया है, इससे प्रकाशितत्वकी सूचना होती है।

यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतके समान स्वरूप-सम्पत्ति धारणकर चित्तको अपना स्वरूप प्राप्त कराता है अर्थात् अपने सहित उसको अभेदकर तादात्म्य कर लेता है॥१५५॥

लोचनरोचनी—एतत्सर्वानन्तरमस्य भावस्योदाहरणमाह—राधाया भवतश्चेति। स्वेदैस्तदाख्यसात्त्विकविशेषवृत्तिभिः अन्तर्बहिर्द्रवीभावरूपाभिः, पक्षे मुहुरग्नितापैः। चित्रायाश्चर्याय, पक्षे चित्रलेखाय। अत्र परस्परमभिन्नचित्तत्वात्तत्रान्यस्या अप्रवेशात् स्वसंवेद्यदशा दर्शिता। तदेवमुत्तरेष्वपि ज्ञेयम्॥१५५॥

आनन्दचन्द्रिका—क्वापि निकुञ्जे परस्परमाधुर्य्यास्वादनिमग्नयोरुद्दीप्तसात्त्विक-भावालंकृतयोः श्रीराधाकृष्णयोर्महाभावमाधुरीमनुमोदयन्ती वृन्दा श्रीकृष्णमाह—तत्र स्वयं भगवति पुरुषाद्यवताराणां सर्वेषां लक्षणमिव महाभावे रत्यादिभावानां सर्वेषां चिह्नं च सूचयति—राधाया इति। शृङ्गाररस एव कारुः शिल्पी कृती स्वीयकर्मणि पण्डित इति रतिर्ध्वनिता। राधाया भवतश्चेति सूचितेनौपपत्येन लोकद्वयनिन्दानवेक्षणात् प्रेमा व्यञ्जितः। चित्ते एव जतुनी लाक्षे कर्मभूते। स्वेदैः प्रेमोष्मभिः, पक्षेऽग्निसंतापैर्विलाप्य द्रवीकृत्य इति स्नेहः। युञ्जन्नेकीभावेन मेलयन्निति प्रणयः, क्रमात् शनैः शनैरिति वाम्यस्य सूचितत्वान्मानः। निर्द्धूतभेदभ्रमं यथा स्यात्तथा युञ्जन्निति सुसख्यं द्योतितम्। हे अद्रीणां गोवर्धनादीनां निकुञ्जेषु कुञ्जरपते! महामत्तगजेन्द्रलीलेति सुकुमारचरणयोरद्रिगह्वरकुञ्जादिषु परस्परमिलनार्थं रात्रिंदिवम-भिसरतोर्यूनोः कष्टमपि सुखमेवेति रागः। नवो नित्यनवत्वेन भासमानो राग एव हिङ्गुलभरस्तैरित्यनुरागः। भूयोभिस्तैश्च बहुतरैरिति महाभावः। नवो रागो रक्तिमा येषां तैर्हिङ्गुलभरैरिति विश्लेषश्च। चित्तजतुनी अन्वरञ्जयदिति हिङ्गुलारक्तस्य जतुनोऽन्तर्बहि-र्हिङ्गुलाकारत्वमेवेत्युभयचित्तयोर्महाभावाकारत्वमनुरागोत्कर्षस्य स्वसंवेद्यत्वं च ब्रह्माण्डहर्म्योदरे

चित्राय चित्रं कर्तुम्, पक्षे ब्रह्माण्डादिषु यानि हर्म्याणि धनिनां वासास्तदुदरे तद्वर्त्तिधनिजनहृदयेऽतिशयोक्त्या भक्तजनान्तःकरणेषु चित्राय चित्रं विस्मयं प्रापयितुं महाभावक्रियाक्षोभमनुभाव्येति भावः। एतेन यावदाश्रयवृत्तित्वमुक्तम्। एवमुत्तरत्राप्युदाहरणेषु महाभावचिह्नानि क्वचिद्व्यस्तानि क्वचित्समस्तानि गम्यमानानि च ज्ञेयानि॥१५५॥

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः ।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥१५६॥

वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्॥१५७॥

तात्पर्यानुवाद—उपर्युक्त भाव रुक्मिणी प्रभृति महिषियोंमें भी अत्यन्त सुदुर्लभ है, केवलमात्र श्रीराधादि व्रजदेवियोंके ही अनुभवगम्य है। उसको महाभाव कहते हैं। श्रीनन्दनन्दन शृङ्गार रूपमें विषयतत्त्वकी चरमसीमा हैं और राधिकाजी आश्रयतत्त्वकी चरमसीमा हैं। श्रीकृष्ण ही अनुरागके सर्वश्रेष्ठ विषय हैं और श्रीमती राधिका उसकी सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं। उनका अनुराग ही स्थायीभाव है। वही अनुराग अपनी चरमसीमाको पहुँचकर यावदाश्रयवृत्ति होता है और उसी अवस्थामें स्वसम्वेद्यदशा अर्थात् तत्प्रेयसीजन विशेषकी सम्वेद्यदशाको प्राप्त होकर यथासमयमें सुद्दीप्तादि भावोंके द्वारा प्रकाशित होता है॥१५६-१५७॥

लोचनरोचनी—ततश्च व्रजदेवीष्वेव महाभावोऽयं संभवतीत्याह—मुकुन्दमहिषी-वृन्दैरपीत्येकेन॥१५६॥

तन्महिमद्वारापि तदेव प्रतिपादयति—वरामृतेत्यर्द्धेन। वरामृतस्येव स्वरूपश्रीर्यस्य सोऽयं महाभावः। स्वं स्वरूपं मनो नयेदित्यनेन "पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।" इतिवद्वृत्त्यन्तरं निषिद्धम्। तदेवमस्य सर्वतोऽतिपरमाश्चर्यरूपत्वं दर्शितम्, अत्रैव च लक्षणस्य पराकाष्ठा। यावदाश्रया वृत्तिरित्यस्य यावन्त आश्रया द्रष्टारस्तावत्सु वृत्तिव्याप्तिर्यस्येत्यर्थे तावच्छब्दस्याध्याहारे कष्टापत्तिः स्यात्। स्वसंवेद्यदशां प्राप्येति च विरुद्ध्येत्। तद्द्रष्ट णां सर्वेषामपि तत्साम्यापत्तिः स्यादिति रतिमात्रस्यापि स्वसंवेद्यदशास्त्येवेति॥१५७॥

आनन्दचन्द्रिका—महिषीवृन्दैरतिदुर्लभ इति। यद्यपि व्रजवर्त्तिनः प्रेमस्नेहाद्या अपि तैर्दुर्लभा एव तथापि जातिप्रमाणाभ्यां किंचिन्न्यूनत्वेन समञ्जसरत्युचितास्ते

नातिदुर्लभाः। अयं महाभावस्तु सर्वथैवातिदुर्लभ एव यतो व्रजदेव्येकसंवेद्य इति। महिषीगणस्य तु समञ्जसरतिमत्त्वात् संभोगेच्छायाः सम्यक्प्रेमरूपत्वाभावादारम्भतो जात्यैव प्रेमानन्दसर्वांशापरिपूर्तिः। तत्परिणामभूतोऽनुरागो नोत्कर्षसीमां प्राप्नोतीति न तासां महाभावः संभवेत्। श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणास्तु दुःखस्य परमाकाष्ठा कुलवधूनां स्वयमपि परमसुमर्यादानां स्वजनार्यादीनां स्वजनार्यपथाभ्यां भ्रंश एव, नाग्न्यादिर्न च मरणम्। ततश्च तत्कारितया प्रतीतोऽपि श्रीकृष्णसंबन्धः सुखाय कल्पते चेत् तर्ह्येव रागस्य परमेयत्ता। ततश्च तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्पते सा चारम्भत एव व्रजदेवीष्वेव दृश्यते पट्टमहिषीषु तु संभावयितुमपि न शक्यते। तदेवमेव ता उद्देश्योद्धवः सचमत्कारमाह—"या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वेति।" यथा पूर्वोक्तग्रन्थोक्तं लीलेत्यादि गुणचतुष्टयं श्रीगोविन्दैकनिष्ठमेव तथैवं महाभावोऽयं व्रजदेव्यैकनिष्ठ इति महाभावाख्ययोच्यते। प्रेम्णः प्रथमावस्था हि भावो रत्यपरपर्यायः। सर्वोत्कर्षपरमावधिरूपावस्थोऽप्येष भावो विवेकेन ज्ञापनार्थं महाभावपरपर्याय इति। मत्स्योऽपि परमेश्वरस्तथा श्रीकृष्णः स्वयं भगवानपि परमेश्वर इतिवत्॥१५६॥

वरामृतस्येव स्वरूपश्रीर्यस्य सः। लौकिकेषु स्वादनीयवस्तुषु मध्ये अमृतादधिकं परं नास्ति तथैव लौकिकेषु प्रेमविशेषेषु महाभावादिति भावः। मनः स्वं स्वरूपं नयेत् महाभावात्मकमेव मनः स्यात्। महाभावात् पार्थक्येन मनसो न स्थितिरित्यर्थः। तेनेन्द्रियाणां मनोवृत्तिरूपत्वाद्व्रजसुन्दरीणां मनआदिसर्वेन्द्रियाणां महाभावरूपत्वात् तत्तद्व्यापारैः सर्वैरेव श्रीकृष्णस्यातिवश्यत्वं युक्तिसिद्धमेव भवेत्, पट्टमहिषीणां तु संभोगेच्छायाः पार्थक्येनापि स्थितत्वात् सम्यक् प्रेमात्मकमपि मनो न स्यात् कुतोऽस्य महाभावात्मकत्वशङ्केति॥१५७॥

स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः॥१५८॥

तत्र रूढः—

उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ इति भण्यते॥१५९॥

तात्पर्यानुवाद—महाभावका भेद—पण्डितोंके मतमें यह महाभाव रूढ़ और अधिरूढ़ दो प्रकारका होता है॥१५८॥

रूढ़भाव—स्तम्भादि अष्टसात्त्विक भाव विकार जहाँपर उद्दीप्त होते हैं, (अत्यन्त कष्टसे भी किसी प्रकार उन्हें छिपाया नहीं जा सके) उसको रूढ़भाव कहते हैं॥१५९॥

लोचनरोचनी—तस्योदयक्रमेणोत्कर्षं दर्शयति—स रूढश्चेति॥१५८॥

तत्र प्रथमावस्थारूपं रूढभावमाह—उद्दीप्ता इति॥१५९॥

यथा—

> **उन्मीलत्कलहंसगद्गदरवा कम्पातिविक्षोभतः,**
> **संकीर्णा पृथुरोमहर्षदगतिर्बाष्पच्छटोद्गारिणी।**
> **जाड्योत्सेकपरिप्लुता कुवलयोल्लासं मुहुर्बिभ्रती,**
> **गोपीनामनुरागितासरिदियं रासे वितेने रसम्॥१६०॥**

तात्पर्यानुवाद—रासमहोत्सवमें व्रजसुन्दरियोंके अदृष्टचर और अश्रुतपूर्व अनुरागकी सीमाको अनुभवकर विमानपर विहार करनेवाली देवाङ्गनाएँ परस्पर वर्णन कर रही हैं—"गोपियोंकी अनुरागरूप नदी रासमण्डलमें रसरूप जलसे परिपूर्ण होकर प्रवाहित हो रही है। नदीमें जैसे कलहंसकी अव्यक्त कलध्वनि दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकारसे गोपियाँ भी कलहंसकी भाँति गद्गद कलध्वनि कर रही हैं। जलचर पक्षियोंके इतस्ततः वेगपूर्ण सञ्चालनसे व्याप्त नदीकी भाँति अनुरागिता (व्रजरमणियाँ) भी कम्पजात अतिशय आनन्दवेगसे व्याप्त हो रही हैं। नदीमें मछलियाँ आनन्दसे इधर-उधर सञ्चरित होती हैं, उसी प्रकार अनुरागमें भी विशाल रोमाञ्चराजि प्रकट हो रहा है। नदीमें अतिशय शीतलता होती है, उसी प्रकार इसमें भी जाड्य नामक व्यभिचारी भावोद्गम हो रहा है। नदीमें नीलकमलसमूह इधर-उधर खिले हुए रहते हैं, उसी प्रकार इनका अनुराग भी पुनः-पुनः पृथ्वीका आनन्द विधान कर रहा है। उक्त उदाहरणमें गद्गद ध्वनि स्वरभङ्ग, कम्प, रोमाञ्च, वाष्प, स्तम्भ इत्यादि सात्त्विकभावोंकी अभिव्यक्ति हुई है॥१६०॥

लोचनरोचनी—उदाहरति—उन्मीलदिति। भावपक्षे कलहंसानामिव सरित्, पक्षे तेषामेव। कम्पातीति स्पष्टम्। पक्षे कम्पातिनो जलपातिनो ये वयः पक्षिणः तत्कृतक्षोभत इति। पृथुं महान्तं रोमहर्षं ददातीति पृथुरोमहर्षदा गतिः प्रकारो यस्यां सा। पक्षे पृथुरोमाणो मत्स्याश्च। बाष्पो हर्षाश्रु तस्य छटा विक्षेपः। "सटा छटा भिन्नघनेन" इति माघकाव्यात्। पक्षे पृथुरोमहर्षदगतित्वादेव या बाष्पतुल्या छटा जलविक्षेपास्तदुद्गारिणी। जाड्यं स्तम्भः, पक्षे शैत्यम्। कुवलयं पृथ्वीमण्डलम्, पक्षे नीलोत्पलम्। अनुरागिता सरिदिति सरित्पदेन तदुद्रेकतासूचनात्तद्भाव एव प्रतिपादितः। ततश्च सामान्यलक्षणमप्यन्तर्भावनीयम्॥१६०॥

आनन्दचन्द्रिका—रासदर्शिन्यो विमानचारिण्यः परस्परमाहुः—उन्मीलदिति। अनुरागिता "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति

मतुबादयः॥" इति दर्शनाद्भूमार्थकेन इनि–प्रत्ययेनानुरागभूमत्वं महाभाव एव। सरिन्नदी रसं जलं शृङ्गारादिकं च श्लेषेणास्वादं च वितेने। कीदृशी? उन्मीलदित्यादि। सरित्पक्षे कलहंसानाम्, भावपक्षे कलहंसानामिव। कं जलं तत्पातिनो ये वयः पक्षिणस्तत्कृतक्षोभतः, पक्षे कम्पश्चातिविक्षोभश्च ताभ्यां पृथुरोम्णां मत्स्यानां हर्षदा गतिः प्रवाहो यस्याः सा, पक्षे पृथुं महान्तं रोमहर्षं ददाति गतिश्चेष्टा यस्याः सा। बाष्पच्छटावेगाधिक्म्यादूष्मलेशः, हर्षाश्रूणां कान्तिश्च तदुद्गारिणी। जाड्यं शैत्यम्, पक्षे जाड्यभावोत्थः स्तम्भः। कुवलयं नीलोत्पलं भूमण्डलं च। अत्र सरिद्रूपकेण भावानां प्रवाहरूपत्वमुद्रेकश्च ध्वनितः। महाभावस्य सामान्यविशेषलक्षणानि एकस्मिन् पद्ये निर्देष्टुमशक्यानीति तानि यथासंभवं गम्यमानानि ज्ञेयानि॥१६०॥

निमेषासहतासन्नजनताहृद्विलोडनम् ।
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्त्तिशङ्कया॥१६१॥

मोहाद्यभावेऽप्यात्मादिसर्वविस्मरणं सदा।
क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः॥१६२॥

तात्पर्यानुवाद—रूढ़भावके अनुभावसमूह—इस रूढ़ाख्य महाभावमें संयोग और वियोगमें यथायथ निमेषकालकी भी असहिष्णुता, निकटस्थ जनसमूहके हृदयका विलोड़न, कल्पक्षणत्व, श्रीकृष्णके सुखमें भी पीड़ाकी शङ्कासे खिन्नत्व, मोहादिके असद्भावमें भी आत्मा आदि समस्त वस्तुओंका विस्मरण और क्षणकल्पता इत्यादि इसके अनुभाव हैं॥१६१–१६२॥

लोचनरोचनी—तदेवं सात्त्विकद्वारा रूढभावं प्रदर्श्यानुभावद्वाराह—निमेषासहतेति। योगवियोगौ तत्तदुदाहरणे यथायथं ज्ञेयम्॥१६१॥

आनन्दचन्द्रिका—रूढभावस्याधिरूढभावस्यानुभावानेव वदंस्ताल्लक्षणं ज्ञापयति—निमेषेत्यादि। योगवियोगयोर्यथासंभवमुदाहरणेभ्यो ज्ञेयाः॥१६१–१६२॥

तत्र निमेषासहता यथा श्रीदशमे (८२/३९)—

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं,
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा–
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥१६३॥

तात्पर्यानुवाद—निमेषकाल असहनीय—कुरुक्षेत्रमें गोपियोंने श्रीकृष्णको बहुत दिनोंके बाद दर्शनकर अपने नेत्रोंके ऊपर पलकोंके निर्माता ब्रह्माजीको भी अभिसंपात किया था; क्योंकि आँखोंकी पलकें उनके श्रीकृष्णदर्शनमें बाधक हो रही थीं। पलक गिरनेमें क्षणभरका समय भी उन्हें असह्य हो रहा था। वे नेत्रोंके द्वारसे श्रीकृष्णको हृदयमन्दिरमें लेकर यथेष्ट आलिङ्गनकर रुक्मिणी आदि महिषियोंको भी परम दुर्लभ महाभावमें डुबा रही थीं॥१६३॥

लोचनरोचनी—नन्वनुरागे वैचित्त्यविप्रलम्भो वर्ण्यते। स च संयोगेऽपि वियोगस्फूर्त्तिः। निमेषासहत्वं तु तादृशात्यल्पकालविच्छेदासहत्वम्। ततः पूर्वस्यासन्तमपि तद्वियोगं कल्पयित्वा तदसहनमयत्वम्, उत्तरस्य तु स्वल्पतमं तद्वियोगं वहुतमं मत्वा न तु तमसन्तं कल्पयित्वा तदसहनमयत्वम्। तदेवमिदं महाभावगतं निमेषासहत्वमनुरागगत-वैचित्त्यविप्रलम्भान्नातिचमत्कारि प्रतीयते। तदेतदाशङ्क्य श्रीभागवतपद्येन समादधाति—गोप्यश्चेति। तदिदं कुरुक्षेत्रगतानां तासां प्रथमदर्शनवृत्तम्। दृशिषु नेत्रेषु पक्ष्मकृतं ब्रह्माणं शपन्ति एतद्वचनाभिप्रायात्तु "यस्याननं मकरकुण्डलम्" इत्यादौ "नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च" इत्यत्र नार्यो नराश्च मुदिताः सामान्यतो बभूवुः। तत्र काश्चिन्नार्यस्तु निमिं प्रति च कुपिता बभूवुरित्यर्थः। साधारण्ये सति यद्दर्शन इत्यनेनामूषां प्रेमविशेषस्यानर्थक्यात्। हृदीकृतं हृदि कृतं तत्र कृततया विभाव्यमानं परिरभ्य परिरब्धमिव विभाव्य तदिति तं भावं महाभावविकारमापुरित्यर्थः। कीदृशम्? नित्ययुजामेता वियोगिन्यो वयं तु नित्ययुज इत्यभिमानिन्यो याः पट्टमहिष्यस्तासामपि दुरापम्। नित्ययुजां योगिनामपि दुरापमिति तु न व्याख्येयं प्रत्यासन्नपरित्यागेन गौरवापत्तेः। "वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च" इति तासां प्राचीनभावस्यापि तैर्दुरापत्वात्। अत एव तद्भावं तदैक्यं प्रापुरिति तु व्याख्यानं दूरत एव परास्तम्। तदेतदुक्तं भवति—वैचित्त्यविप्रलम्भः खलु "अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता" इति न्यायेन प्रेममयभयवैचित्त्यात् सतोऽप्यनवधानमयः। निमेषासहत्वं तु स्वल्पतमस्यापि कालस्यातिविस्तीर्णता कल्पनमयम्। तदेवं सति भयाद्वैचित्त्येनानवधानत्वं लोके दृश्यते। निमेषेण तु व्यवधानमतिसूक्ष्मत्वान्नानुभवितुं शक्यते। तदेतदसंभव-कारित्वाधिक्ये नास्त्येवोत्तराधिक्यम्, यत्र खलु तादृगल्पतमवियोगासहिष्णुतया सर्वतो महान् ब्रह्मापि शप्यते इति पूर्वोक्तस्य लोकधर्ममर्यादातिक्रमित्वस्यातिशयो दर्शितः। तदेवं वैशिष्ट्यमुत्तरेष्वपि दर्शनीयमिति। एतानि तु निमेषासहत्वादीनि यथावसरमुपलभ्यमानापि समुदित्यैव। लक्षणानि यथा "सर्वभूतेषु यः पश्येदि"त्यत्रोक्तं भागवतोत्तमलक्षणम्। पुनर्गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थानित्याद्यष्टस्वष्टधा दर्श्यते तद्वदिति॥१६२–१६३॥

आनन्दचन्द्रिका—कुरुक्षेत्रयात्राप्राप्तानां व्रजदेवीनां श्रीकृष्णदर्शनानन्दं श्रीशुको वर्णयति—गोप्य इति। गोप्यः कृष्णमुपलभ्य स्वप्रेमानुरूपं तन्माधुर्यमास्वाद्येत्यर्थः। दृग्भिर्द्दग्द्वारैर्हृदीकृतम्। दीर्घ आर्षः। हृदि आनीतमलं दृढं परिरभ्य तस्मिन् भावं महाभावम्। महाभावोत्थमानन्दमित्यर्थः। आपुः। कीदृशम्। नित्ययुजाम् एता वियोगिन्यो वयं तु नित्ययोगिन्य इत्यभिमानवत्यो याः पट्टमहिष्यस्तासामपि दुरापम्। यद्वा तद्भावं तदैक्यम्। तस्मिन् लयमिति यावत्। ननु तर्हि ज्ञानिभ्य आसां को विशेषस्तेऽपि परमात्मनि श्रीकृष्णे लयं लभन्त इत्यत आह—नित्ययुजामारूढयोगिनां दुरापं तैर्दुर्लभम्। ज्ञानहेतुकाल्लयात् प्रेममूर्च्छोत्थलयमानन्दस्य जातिप्रमाणाभ्यामति-विशेष्यत इति श्रीपरिक्षित्सभासदो ज्ञानिनः प्रति कटाक्षः। ननु का गोप्य इति तासामसाधारणं लक्षणमाह—यत्प्रेक्षणे यस्यावलोके दृशिषु पक्ष्मकृतं ब्रह्माणं शपन्तीत्यतिसूक्ष्मदुर्लक्ष्यनिमेषकालगतविरहस्यापि तथा असह्यत्वं यथातिसहिष्णवोऽपि देवमात्रभक्ता अपि या ब्रह्माणं शपन्ति "अरे ब्रह्मन्नेतादृशदुःखदायिंस्त्वं शीघ्रं म्रियस्व, अन्यः कश्चन ब्रह्मा भवतु योऽस्माकं पक्ष्म न सृजती"ति। यत्तु "यस्याननं मकरकुण्डल—"इत्यादौ "नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च" इत्युक्तं तत्र नार्यो गोप्य एव नराश्च प्रियनर्मसखाः सुबलादय एव ज्ञेयाः॥१६३॥

आसन्नजनताहृद्विलोडनं यथा—

सख्यः प्रोक्ष्य कुरून् गुरुक्षितिभृतामाघूर्णयन्ती शिरः,
स्वस्था विश्लथयन्त्यशेषरमणीराप्लाव्य सर्वं जनम्।
गोपीनामनुरागसिन्धुलहरी सत्यान्तरं विक्रमै-
राक्रम्य स्तिमितां व्यधादपि परां वैकुण्ठकण्ठश्रियम्॥१६४॥

तात्पर्यानुवाद—आसन्नजनताहृदयबिलोड़न—कुरुक्षेत्रमें समागत गोपियोंकी अलौकिक अनुराग-महिमाका अनुभवकर रुक्मिणी प्रभृति महिषियोंकी सखियाँ अपने समाजमें उसका वर्णन कर रही हैं—"हे सखियो! गोपियोंके अनुरागरूप अपार दुरवगाही सिन्धुकी तरङ्गोंने वैकुण्ठलोकके उपकण्ठवर्ती सर्वोत्कृष्ट शोभाको भी अभिषिक्त कर दिया है। (श्रीकृष्णकी कण्ठविलासिनी रुक्मिणीदेवीको भी स्तब्ध कर दिया है) कुरुक्षेत्र देशको (कुरुवंशियोंको) जलमें आप्लावित (वाष्पजलसे अभिषिक्त) कर महापर्वत शिखरको भी जलवेगसे (युधिष्ठिरादि महाराजाओंके मस्तकको भी प्रेमानुभवोत्थ विस्मयसे) विघूर्णितकर स्वर्गस्थ (प्रकृतिस्थ अर्थात् सती-साध्वी) नारियोंको भी अतिशय तीव्र वेगसे अपने-अपने विहारादिसे

शिथिल (अनुरागातिशयसे अपने अनुरागजनित गर्वसे शिथिल) कर समग्र जनलोकको भी (विश्व ब्रह्माण्डके स्थावर जङ्गमात्मक प्राणियों और पदार्थोंको भी) डूबाकर, विशिष्ट पराक्रम और गतिभङ्गीके द्वारा सत्यलोकपर भी आक्रमण (विशेष महिमाके प्रभावसे सत्यभामाके हृदय तकको भी ग्रहण) किया है॥१६४॥

लोचनरोचनी—कुरून् कुरुवंश्यान्। पक्षे कुरुदेशम्। गुरुक्षितिभृतां महाराजानाम्, पक्षे पर्वतानाम्। स्वस्थाः प्रकृतिस्थाः, पक्षे स्वर्गस्था अशेषरमणीः। विश्लथयन्ती सर्वतः शिथिलाः कुर्वती, जनं लोकम्, पक्षे तदाख्यभुवनविशेषम्। सत्या सत्यभामा तदन्तरं तन्मनः, पक्षे सत्यलोकस्य मध्यभागः। स्तिमितां स्तब्धाम्, पक्षे आर्द्राम्। वैकुण्ठोऽत्र श्रीकृष्णस्तस्य कण्ठश्रियं तत्तुल्यां पारिशेष्यप्रमाणेन श्रीरुक्मिणीम् , पक्षे वैकुण्ठलोकस्य या कण्ठश्रीः सर्वोर्ध्वशोभा ताम्। यद्यपि कुरुवंश्यादिभ्य एताः कृष्णेन गोपिता एव सुतरां त्वेतासां भावा गोपने सत्येव हितास्ते च रसावहा भवन्ति तथापि तदेतद्वर्णनमुदात्तालंकारमयकविप्रौढोक्तिसिद्धसर्वातिशयितामात्रव्यञ्जनातात्पर्यत्वाद्रसावहं संपद्यते यथा यशसा सर्वस्य शुक्लीकरणं तद्वदिति॥१६४॥

आनन्दचन्द्रिका—काश्चिद्द्वारकावासिन्यो रसविदुष्यो भक्ता नार्यः कुरुक्षेत्रयात्रामिलिताः परस्परमाहुः—कुरून् देशान् कुरुवंश्यांश्च प्रोक्ष्य जलेन सम्यगाप्लाव्य अश्रुभिरभिषिच्य च गुरुक्षितिभृतां महापर्वतानां महाराजानां च शिरः शिखरं मस्तकं चाघूर्णयन्ती जलवेगेन प्रेमानुभावोत्थविस्मयेन चेति ज्ञेयम्। सर्वं जनं जनलोकं मनुष्यं चाप्लाव्य स्वस्थाः स्वर्गस्थाः अशेषरमणीर्विश्लथयन्ती मज्जनभयाद्व्याकुलयन्ती, पक्षे स्वस्थाः स्थिराः पतिव्रता अपि विवशाः कुर्वती सत्यान्तरं सत्यलोकस्य मध्यभागं सत्यभामाया अन्तःकरणं च वैकुण्ठस्य कण्ठश्रियं कण्ठदेशशोभां स्तिमितां जलैरार्द्राम्, पक्षे वैकुण्ठः श्रीकृष्णस्तस्य कण्ठसंबन्धिनी या श्रीरुक्मिणी तामपि स्तिमितां हर्षोत्थस्तम्भवतीं व्यधात्। अत्रासन्नजनताहृद्विलोडनमिति जनताया आसन्नत्वं चाक्षुषं श्रावणं च ज्ञेयम्। तत्रायातानां महाराजानां तथा स्वस्वपटगेहगुप्तानां सत्यभामादीनां च प्रायो व्रजसुन्दरीभिः सह तत्र साक्षान्मिलनाश्रवणात्॥१६४॥

कल्पक्षणत्वं यथा—

> **शरज्ज्योत्स्नीरासे विधिरजनिरूपापि निमिषा-**
> **दतिक्षुद्रा तासां यदजनि न तद्विस्मयपदम्।**
> **सुखोत्सेकारम्भे निमिषलवकल्पामिव दशां,**
> **महाकल्पाकल्पाप्यहह लभते कालकलना॥१६५॥**

तात्पर्यानुवाद—कल्पक्षणत्व—व्रजसुन्दरियोंके रासलीलागत अत्यधिक सुखानुभवसे कल्प परिमाण काल भी क्षणमात्रकी भाँति व्यतीत हो गया, एक समय प्रसङ्गवशतः पौर्णमासी इस विषयको नान्दीमुखीसे दृष्टान्तालङ्कार द्वारा वर्णन कर रही है—“देखो नान्दीमुखि! रासोत्सवके समय व्रजदेवियोंकी शारदीया ज्योत्स्नावती रात्रि ब्रह्मरात्रिके समान होनेपर भी, निमेषकालसे भी अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत हुई थी, उसके लिए विस्मित होनेकी कोई बात नहीं। अहा! उनकी श्रीकृष्ण-विषयिनी सुख-समृद्धिके उपक्रम मात्रसे ही महाकल्प अर्थात् ब्रह्माकी द्विपरार्द्ध-भूषित कालसंख्या भी निमेष-विशिष्ट कालकी तुलनाको प्राप्त करती है।” यह पद्य संयोगका ही उदाहरण है॥१६५॥

लोचनरोचनी—शरज्ज्योत्स्नीरासे विधिरजनिरूपापीति। शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवदित्यत्र श्रीस्वामिचरणैस्तस्या रात्रेरतिदीर्घत्वस्थापनात् “ब्रह्मरात्र उपावृत्ते” इत्यत्र एकेषां व्याख्यानाद्घटमानं ज्ञेयम्। तच्च ज्योतिश्चक्रस्यैव तन्माधुर्येण नद्यादीनामिव स्तम्भनात् संबभूवेति॥१६५॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी नान्दीमुखीमाह—शरदि ज्योत्स्नावती रात्रिर्विधिरजनिरूपा ब्रह्मरात्रितुल्यापि यतस्तासां सुखोत्सेकस्यारम्भ एव महाकल्पो ब्रह्मणो वर्षशतमपि अकल्पोऽसमर्थोऽतिक्षुद्रो यत्र एवंभूतापि कालकलना कालसंख्या निमिषलवकल्पां निमिषलेशसदृशीं दशां लभत इति। “कल संख्याने” धातुः॥१६५॥

तत्सौख्येऽप्यार्त्तिशङ्कया खिन्नत्वं यथा श्रीदशमे (३१/१९)—

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु,
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्,
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥१६६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके सुखमें भी पीड़ाकी आशङ्कासे खिन्नता— रासलीलाके समय श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर गोपियाँ विलाप करते हुए कहने लगीं—“हे प्रिय! तुम्हारे जिन सुकोमल चरणकमलोंको हम अपने कठोर कर्कश स्तनोंके ऊपर भयभीत होकर धीरे-धीरे इस प्रकार धारण करती हैं कि कहीं उन श्रीचरणकमलोंको कष्ट न हो, और

तुम उन्हीं चरणकमलोंके द्वारा शुष्क पाषाणादि नुकीली वस्तुओंसे व्याप्त वनपथमें भ्रमण कर रहे हो? उससे अवश्य ही तुम्हारे चरणकमलोंमें व्यथा हो रही होगी—ऐसी भावनाकर हमारी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न हो रहा है; क्योंकि तुम ही हमारे जीवनके जीवन स्वरूप हो।" यह उदाहरण वियोगके लिए ही है।

प्राचीन रसतत्त्ववेत्ताओंका मत यह है कि बन्धुजनोंका हृदय सर्वदा ही इष्ट-वस्तुके अनिष्टकी आशङ्कासे युक्त रहता है। बन्धुजनोंके दुःखके लेशमात्रसे भी बन्धु व्यक्ति मरण तक अनिष्टकी कल्पना किया करता है, किन्तु श्रीकृष्ण सम्बन्धीय सुखमें दुःखकी लेशमात्र असम्भावना होनेपर भी पीड़ाकी आशङ्काकर गोपियाँ वृथा पीड़ाका आरोपकर बड़ी खिन्न अर्थात् दुःखी हो जाती हैं—यही सर्वपेक्षा विलक्षण महाभावका लक्षण है।

तात्पर्य—गोपियाँ कह रही हैं—"हे देव! हमलोग बड़ी भयभीत होकर तुम्हारे चरणकमलोंको अपने कठोर स्तनोंपर धारण करती हैं।" इस उक्तिपर श्रीकृष्ण यदि ऐसा कहें कि भयका कारण क्या है? गोपियोंकी उक्ति यह है कि हमारे स्तन बड़े कठिन हैं। श्रीकृष्णोक्ति—"तब क्यों धारण करती हो?" गोपियोंकी उक्ति—"स्तनोंमें पदार्पणसे तुम बड़े प्रसन्न होते हो। इसी सुखको देखकर हम धारण करती हैं। दूसरी बात, अपने स्तनोंपर आपके चरणकमलोंको धारण करनेपर भी तथा आपके प्रसन्न मुखमण्डलको देखनेपर भी, आपके सुखमें दुःखकी लेशमात्र आशङ्का (कठोर स्तनोंके कारण) करके हमें खेद होता है, इसलिए धीरे-धीरे धारण करती हैं। अतएव तुम्हारे संयोगके समय भी विधाताने हमारे ललाटमें दुःख ही लिखा है। हम क्या करें? यदि तपस्याके द्वारा विधाताको प्रसन्नकर स्तनोंका कोमलत्व प्रार्थना करती हैं, तो ऐसा होनेपर तुम्हारे सुखकी सम्भावना नहीं है। इधर कर्कश होनेपर भी तुम्हारे चरणोंको व्यथा होगी, इसलिए दोनों ही अवस्थाओंमें हमारे लिए सङ्कट है।" दूसरी बात, तुम्हारे संयोग और वियोगके समय हमें भले ही कष्ट हो, किन्तु तुम स्वाधीन होकर क्यों कष्ट सहन कर रहे हो? हाय! सुकोमल चरणोंसे वृन्दावनमें भ्रमण कर रहे हो? श्रीकृष्णकी उक्ति—हे अबलाओं! जब मेरे मनमें जैसा होता है वैसा करता हूँ, इससे तुमलोगोंका

क्या लेना-देना? गोपियोंकी उक्ति—नुकीले पत्थरादिसे तुम्हारे चरणोंको क्या व्यथा नहीं होती? निश्चय ही व्यथा होती होगी? अथवा इस प्रकार बोध होता है कि मेरे दुःखी होनेसे यदि इन गोपियोंको दुःख होता है तो अच्छी बात है, इसलिए अपने दुःखको किसी प्रकारसे सहकर इन्हें दुःखित करना ही मेरा कर्त्तव्य है। इस अभिप्रायसे तुम दुःख सहन कर रहे हो अथवा हमारे दुःख-दर्शनमें ही तुम्हें महासुख होता है। इसलिए यह व्यथा सहनकर अपनेको सुखी मान रहे हो। किंवा "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इस न्यायसे पहले तुम्हारा हृदय कुसुमोंसे भी अधिक सुकोमल था, किन्तु अब हमलोगोंके कठोर स्तनोंके सङ्गसे अत्यन्त कठोर हो गया है तथा हमारे स्तनोंके साथ तुम्हारा चरण भी कठोर होकर नुकीले पत्थरादिके ऊपरमें भ्रमण करनेसे भी व्यथित नहीं हो रहा अथवा तुम्हारे चरणर्स्पशकी महिमासे वे नुकीले पत्थर भी कोमल हो रहे हैं। किंवा धरणी कमलोंका विस्तारकर अत्यन्त दयार्द्र होकर अथवा तुम्हारे चरणोंके माधुर्यास्वादनके लोभसे अथवा जहाँ तुम चरण रखते हो, वहाँ अपनी कोमल जिह्वापर धारण कर लेती हैं, अथवा तुममें हमारेसे भी अधिक प्रेम है, इसलिए दैववशतः हमारे विरहमें सन्तप्त होकर भ्रमण करते-करते उन्माद दशाको प्राप्त हुए हो, तुम चरण पीड़ाको अनुभव नहीं कर पाते—इत्यादि नाना प्रकारके कारणोंको उद्घाटनकर हमलोगोंकी बुद्धि भ्रान्त हो रही है, कहीं भी वह स्थिर नहीं हो रही। श्रीकृष्णकी उक्ति—अहो! वृथा ही तुम क्यों दुःख प्रकाश कर रही हो? मैं तुम्हारे दुःखको दुःख नहीं समझता; क्योंकि अभी भी तुम्हारे प्राण हैं तुम मर नहीं गई। गोपियोंकी उक्ति—अहो! तुम ही हमारी परमायु हो, तुम्हारे कल्याणके रूपमें अवस्थित होनेसे ही इतने कष्टमें भी हम मर नहीं रही हैं। इसका भाव यह है कि हे नाथ! तुम्हारी भाँति हमें दुःख देनेके लिए प्रवृत्त विधाताने इस प्रकारसे विचार किया है कि इन गोपियोंकी परमायु यदि इनमें स्थापन कर रखता हूँ तो वे मेरे दिए हुए अत्यन्त सन्तापसे दग्ध होकर तुरन्त ही मर जाएँगी। अतएव इसके पश्चात् मैं किसे दुःख प्रदान करूँगा? इसलिए इनकी परमायु समानधर्मा अपने प्रिय बन्धु श्रीकृष्णमें अर्पण कर दूँ अर्थात् मेरे समान कठोर श्रीकृष्णमें अर्पण कर दूँ; जिससे

मरते-मरते भी यथेष्ट रूपसे इनको दुःख भोग कराऊँगा। अतएव हे दयित! हमलोगोंकी मृत्यु नहीं हो सकी अथवा इन्हीं कारणोंसे हमलोगोंकी बुद्धि भ्रान्त हो रही है। फिर भी ऐसे कष्टसे हमलोग अभी भी मर नहीं रही हैं॥१६६॥

लोचनरोचनी—न चानिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानीति प्राचां संमत्या तद्वदित्यस्यां "कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः" इति पूर्वोक्तरीत्या रतिमात्रेऽपि संभवात् "तत्सौख्य" इत्यादि महाभावलक्षणं न विशिष्टमिति वक्तव्यम्। अस्ति ह्यत्र वैशिष्ट्यमिति श्रीभागवतसंमत्या द्रढयति—यथा श्रीदशमे। तथा हि यत्ते सुजातमित्यस्यायमर्थः—हे प्रिय! अपरिहार्यप्रेमविषय! ते तव यत्सुजातचरणाम्बुरुहं सुकोमलं चरणकमलं कमलरूपकेणापि निरूप्य कोमलतया पुनस्तादृशशब्देन विशेष्यं स्तनेषु शनैर्दधीमहि। बहुत्वं सर्वानुभवसिद्ध्या नेदमन्यथा व्यनक्ति। शनैरित्यत्र हेतुः कर्कशेष्विति। तर्हि दधीमहीत्यनेन कर्त्रर्थक्रियाफलतासूचकात्मनेपदनिर्देशेन स्वेषां कामिनीत्वमेव भवतीति व्यक्तमित्याशङ्क्य त्वत्संनिहितपदेन प्रियेत्यनेनैवोत्तरयति—प्रियेति। प्रियत्वादेव तद्दधीमहि प्रियस्य स्पर्शात्तत्रापि हृदि स्पर्शात् यत्सुखं तत् "तद्धि जानन्ति तद्विदः" इति न्यायात्तैरेव काम्यं न तु भवद्विधैः। तत्रैव चरणस्पर्शे हेतुं वदन्त्यः सोपालम्भमिव साक्षादिव पृच्छन्ति—तेनाटवीमटसीति। तेन यद्यटसि तर्हि किंस्विन्न व्यथते तत्रापि किंस्वित् कूर्पादिभिरपि न व्यथते किन्तु, व्यथत एव। भवानेव तु स्वाङ्गेऽपि निर्दय इत्यर्थः। व्यथतां नाम भवतीनां किं, तत्राहुः—नोऽस्माकं धीर्भ्रमति तद्व्यथया व्याकुला भवति। अहो तदेतत् कथं तत्राहः—भवदायुषामिति। यदास्माकं पृथगायुर्भवति तदा युक्तमेव भवदुक्तम्, भवानेव चेदायुस्तदा निजायुषः स्वल्पापि हानिः कथं सह्येति। अयं भावः—अनिष्टाशङ्कीनीत्यादौ तत्संभावनास्पद एव शङ्का स्यात्, न त्वासामिव तच्चरणस्पर्शेनापीति गम्यते। इत्यासां कृष्णसौख्यार्थमेवेत्यादौ रतिमात्रस्य तादृशत्वं चेत्तर्हि महाभावे तु तदतीव स्फुटं भवति। इक्षूणां माधुर्यं परिपाकदशामिवेत्यत्रैव सर्वत आधिक्यमिति ज्ञेयम्॥१६६॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्सौख्येऽपीति। "यत्त्वनिष्टाशङ्कीनि बन्धुजनहृदयानी"ति प्राञ्च आहुस्तद्दुःखलेशेऽपि मरणादिपर्यन्तमनिष्टं कल्पयन्ति बन्धव इति तस्यार्थः। इदं तु तस्य श्रीकृष्णस्य सौख्येऽपि केवलमहासुखे ज्ञाते दुःखलेशस्याप्यसंभावनायामार्त्ति-शङ्कया न जाने अत्र पीडा वास्य स्यादिति शङ्काया वृथैव पीडाया आरोपेण खिन्नत्वमिति सर्वतो विलक्षणं महाभावलक्षणमेव।

रासान्तर्द्धाने व्रजदेव्यो विलपन्ति—यदिति। तव सुजातमिति सुकुमारं चरणाम्बुरुहं स्तनेषु दधीमहि तद्भीताः सत्य एव। ननु किमत्र भीतिलक्षणं तत्र विशिंषन्ति—

कर्कशेष्विति। स्तनानां कठोरत्वमेवेत्यर्थः। ननु तर्हि किमिति घध्वे तत्राहुः—हे प्रियेति। त्वं तेष्वेव स्वचरणार्पणे प्रीणासीति त्वत्सुखमालक्ष्यैवेति भावः। किञ्च तदानीं चरणेन स्तनपीडने त्वत्सुखे साक्षाद्दृष्टेऽपि चरणे व्यथा संभवेदिति शङ्कयास्माकं खेदो जायत एवेत्याहुः—शनैर्दधीमहीति। तेन त्वत्संयोगेऽप्यस्माकं दुःखं विधात्रा ललाटे लिखितमेवेति ध्वनिः। किं कर्तव्यं तपोऽस्माभिर्विधिं प्रति स्तनानां कोमलत्वे प्रार्थ्यमाने तव सुखं न भवति कर्कशत्वे तु तवच्चरणे व्यथेत्युभयथैव संकटमस्माकमित्यनुध्वनिः। भवत्वस्माकं संयोगवियोगयोः कष्टमेव, त्वं कथं स्वैरित्वेऽपि कष्टं सहस इत्याहुः—तेन चरणाम्बुरुहेणाटवीमटसि हा हा किं महासाहसं कुरुषे किमेतदटव्यटनयोगयं चरणकमलमितिसोपालम्भः प्रश्नः। ननु यदा यन्मे मनस्यायाति तदा तदहं करोमीत्यत्र भवतीनां किमित्यत आहुः—त्वच्चरणं न व्यथते किम्॥ तत्रापि कूर्पादिभिरपि न व्यथते किं स्विदिति प्रश्नः। व्यथत एव किन्तु त्वमेवास्मास्विव स्वाङ्गेष्वपि निर्दय एव, किम्वा एता मद्दुःखेनापि दुःखिन्यो भवन्ति तस्मादेता दुःखयितुं प्रवृत्तेन मया स्वदुःखमपि कर्तव्यं सोढव्यं चेत्याशयेन तां स्वव्यथामपि सहसे। किम्वास्मद्दुःखदर्शन एव तव महासुखमतस्तां व्यथामपि त्वं सुखमेव मन्यसे। किम्वा "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति न्यायेन यत् पूर्वं ते हृदयं कुसुमसुकुमारमासीत्तदेवास्माकं कठोरस्तनसङ्गेन संप्रति कठोरमभूत् यथा तथैव त्वच्चरणमपि स्तनसङ्गेनैव कठोरमभूदतः कूर्पादिभिर्न व्यथते। किम्वा त्वच्चरणस्पर्शमाहात्म्यात् कूर्पादयोऽपि कोमला एव भवन्ति, किम्वा धरण्यैवातिकारुण्याद्वा तन्माधुर्यास्वादलोभात् वा त्तच्चरणविन्यासस्थले स्वजिह्वा उत्थाप्यते, किम्वा त्वमस्मत्तोऽपि प्रेमसिन्धुर्दैव-वशादस्मद्विरहसंतप्तो भ्रमन्नुन्माददशां प्राप्तः स्वचरणव्यथामपि नानुसंधत्स इत्येवं नानाकारणानि परामृशन्त्या नोऽस्माकं धीर्भ्रमति न तु क्वापि निश्चयं लभत इति भावः। न त्वेतत् कियत् स्वदुःखं व्यञ्जयथ, अहं तु तद्दुःखं न मन्ये येन प्राणास्तिष्ठन्त्यत आहुर्भवदायुषामिति। भवति त्वय्येवायूंषि यासां तासां कल्याणवति त्वयि स्थितत्वादेतावद्भिरपि कष्टैरस्मदायुषां न नाश इत्यर्थः। अयं भावः—भवानिवास्मान् दुःखयितुं प्रवृत्तो विधिरेतद्विचारयति स्म, यद्यासामायूंषि संप्रत्यास्वेव स्थापयिष्यामि तदा मद्दत्तैरतिसंतापैर्दग्धायुष इमाः सद्यो मरिष्यन्ति ततोऽहं पुनः काभ्यो दुःखं दास्यामि, तदासामायूंषि मत्सधर्मिणि मद्बन्धौ श्रीकृष्णे निधाय यथेष्टमिमा अम्रियमाणा अपारमेव दुःखं भोजयामीति। अतएव वयं न म्रियामहे इति। यद्वा एवं कारणानिश्चयेनास्माकं धीरेव भ्रमति न त्वेतावद्भिरपि कष्टैर्नाशः। तत्र हेतुः भवदायुषामिति। भवन्ति वर्तमानान्यायूंषि यासां तासाम्। आयुर्मर्माणि रक्षतीति न्यायेन ऋजुरेवार्थः। यद्वा एवं धीरेव तदनिश्चयाद्भ्रमति, प्राणास्त्वस्माकं निश्चयेन देहान्निर्गच्छन्त्येवेति त्वं संप्रति पश्येति भावः। नन्वायुषि स्थिते कथं नाशस्तत्राहुः—भवदायुषां त्वत्समर्पितायुषां स्वायूंषि तुभ्यमस्माभिः संप्रति दत्तानि तैश्चिरं व्रजे खेलेति भावः॥१६६॥

मोहाद्यभावेऽपि सर्वविस्मरणं यथा एकादशे (१२/१२)—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥१६७॥

तात्पर्यानुवाद—मोहादिके अभावमें भी सब कुछका विस्मरण—मोह अर्थात् मूर्च्छादि शब्दके द्वारा आवेग और विषादादि समस्त अर्थात् अहंतास्पद और ममतास्पद देहादि सबका विस्मरण हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवको सत्सङ्गकी महिमाके वर्णनप्रसङ्गमें गोपियोंके परम अलौकिक अनुरागको स्मरण करते ही विवश होकर, इस गोपीप्रेममें ही पूर्वोक्त प्रगाढ़ भावकी सीमाका वर्णन करते हुए गोपियोंके सब कुछ विस्मरणको दिखला रहे हैं—समाधिकालमें मुनिगण जिस प्रकारसे अपने नाम, रूपादिका विसर्जनकर समुद्रमें प्रविष्ट नदीकी भाँति आत्मा वा आत्मीय सबकुछ भुल जाते हैं, कुछ भी जान नहीं पाते, उसी प्रकार ये गोपियाँ भी मुझमें निरन्तर आवेशके कारण मेरे ही नाम रूपमें प्रविष्ट होकर ममतास्पद गृह, पुत्रादि, अपनी देह या लोक-परलोक सबको भूल जाती हैं। उनका सन्धान नहीं रखती॥१६७॥

लोचनरोचनी—मोहाद्यभावेऽपि सर्वविस्मरणमिति कृष्णस्फूर्त्यविच्छेदेन मोहाद्य-भावः। तदन्यविस्मरणात् सर्वविस्मरणमित्युभयमपि संगच्छत इत्युदाहरति—ता नाविदन्निति। अत्र हि मय्यनुषङ्गेति तदेकस्फूर्त्तिता दर्शिता ता नाविदन्नित्यत्र मोहश्चेति॥१६७॥

आनन्दचन्द्रिका—मोहो मूर्च्छा। आदिशब्दादावेगविषादाद्याः। सर्वेषाम-हंतास्पदेदन्तास्पदानां विस्मरणं तत्र हेतुर्ममतास्पदस्य श्रीकृष्णरूपगुणादेस्तु स्मृत्यतिशय एव ज्ञेयः। गृहपतिश्वश्र्वादिषु ममत्वाभावान्न तेषां ममतास्पदत्वं तथैवोदाहरणेऽपि दृष्टम्। उद्धवं प्रति श्रीकृष्णः साधुसङ्गप्रस्तावे मद्विषयकप्रीतिमत्त्वं साधुत्वमिति साधुलक्षणस्य पराकाष्ठा श्रीगोपीष्वेवेति तास्तत्परिचिता अपि लक्षणविशेषेण पुनः परिचाययति—ता इति। मय्यनुषङ्गेण निरन्तरासङ्गेन बद्धा धियो याभिस्ताः। अत्र बद्धपदेन श्रीकृष्णस्य त्रिजगन्मोहनविचित्रलीलस्तम्भत्वमनुषङ्गस्य बलवद्दामत्वं धीवृत्तीनां श्रीकृष्णस्य वाञ्छितसंपादककामधेनुघटात्वमारोपितम्। स्वमात्मानं देहं न विदुः रासाभिसारादौ क्व स्थितं क्व वायान्तमिति नानुसंदधुस्तथा अदः परलोकं धर्मातिक्रमादिति भावः। इदमिमं लोकं लज्जाभयाद्यतिक्रमादिति भावः। समाधौ मुनय इति। तेषां यथा सर्वविस्मरणे ब्रह्मानुभवोऽतिरिच्यते तथैतासां मदनुभव इति

सर्वविस्मरणांशे दृष्टान्तः। नद्यो यथाब्धितोये प्रविष्टा नामरूपे स्वीये न विदुरिति रसचर्वणांशे दृष्टान्तः॥१६७॥

क्षणकल्पता तथा तत्रैव (११/१२/११)—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥१६८॥

तात्पर्यानुवाद—क्षणकल्पता—गोपियोंकी तीव्र मनःपीड़ाका स्वयं श्रीकृष्ण वर्णन कर रहे हैं—"हे उद्धव! उन लोगोंका प्रियतम मैं जिस समय वृन्दावनमें था, उस समय जो रात्रियाँ मेरे मिलनसे उनके लिए आधे क्षणकी भाँति बीत गई थीं, मेरे विरहमें वे रात्रियाँ उनके लिए कल्पके समान सुदीर्घतम हो गईं हैं॥"१६८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्तथैवाह—तास्ता इति। अस्मिन्नेव पद्ये क्षणकल्पता-कल्पक्षणते वियोगसंयोगयोर्द्रष्टव्ये॥१६८॥

आद्यशब्दादिह प्रोक्ता कृष्णाविर्भावकारिता।
संभोगभेदे विस्पष्टं सा पुरस्तात्प्रवक्ष्यते॥१६९॥

तात्पर्यानुवाद—१६२ श्लोकमें क्षणकल्पतादि पदमें 'आदि' शब्दके द्वारा श्रीकृष्णकी आविर्भावकारिताका ही वर्णन किया गया है, किन्तु आगे सम्पन्न-सम्भोग-प्रकरणमें उसका विशेष रूपसे वर्णन किया जाएगा॥१६९॥

लोचनरोचनी—आद्यशब्दादित्यत्र कृष्णाविर्भावकारिता तु "गोप्यस्तपः किमचरन्" इत्यादौ, "तासामाविरभूच्छौरिः" इत्यादौ "तत्रातिशुशुभे ताभिः" इत्यादौ यथाश्रुता तथा ज्ञेया न तु भक्तान्तरेष्विव आविर्भावमात्रम्॥१६९॥

आनन्दचन्द्रिका—संभोगभेदे संपन्नाख्ये श्रीकृष्णाविर्भावकारितेत्याविर्भावोऽयं संप्रयोगादिसर्वसुखनिर्वाहकोऽग्रेतनग्रन्थदृष्ट्या ज्ञेयः। प्रेमिमात्रभक्तजनेष्वाविर्भावस्तु संनिधिमात्रम्॥१६९॥

अथाधिरूढः—

रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते॥१७०॥

तात्पर्यानुवाद—अधिरूढ़महाभाव—जिस समय उक्त अनुभावसमूह रूढ़भावमें कहे गए अनुभावोंसे भी उत्तरोतर किसी विशेष दशाको प्राप्त होते हैं, उसे अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं॥१७०॥

लोचनरोचनी—कामप्यनिर्वचनीयाम्॥१७०॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुभावाः सात्त्विकाः कामप्यनिर्वचनीयां विशिष्टतां प्राप्ताः न तु सूद्दीप्ता इत्यर्थः। तेषां मोहन एव वक्ष्यमाणत्वात्॥१७०॥

यथा शिववाक्यम्—

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत्सुखं,
दुःखं चेति पृथग्यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम्।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका,
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्द्वोरपि॥१७१॥

तात्पर्यानुवाद—एक समय प्रसङ्गवशतः श्रीमती राधिकाकी प्रेमरीतिकी बात जिज्ञासा करनेपर श्रीपार्वतीको श्रीशङ्कर उत्तर दे रहे हैं—"हे पार्वति! अप्राकृत और प्राकृत कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें अवस्थित भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालमें समुद्भूत सारे सुखों और सारे दुःखोंको यदि अलग-अलग एकत्र ढेर किया जाए, तथापि ये दोनों सुख-दुःखकी राशियाँ श्रीराधाके प्रेमसे उत्पन्न अगाध सुख-दुःखरूप सिन्धुके लवमात्रके यत्सामान्य एकांशकी तुलनाकी भी प्राप्ति नहीं कर सकते अर्थात् श्रीराधाके प्रेमोद्भव सुख-दुःख-सिन्धुके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते।" अर्थात् वैकुण्ठगत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकाल सम्बन्धीय सुख-दुःख भिन्न-भिन्न रूपमें एकत्र राशि श्रीराधाके प्रेमोद्भव सुख-दुःख सिन्धुके बिन्दुमात्रकी भी समता नहीं कर सकते। उक्त उदाहरणमें वैकुण्ठगत सुख-दुःखका अर्थ मुक्तिरूप सुख, तत्रस्थ भक्तजनोंके प्रेमोत्कण्ठा रूप दुःख और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सम्बन्धीय सुख-दुःखकी श्रीराधाके प्रेमसे उत्पन्न संयोग-वियोग सम्बन्धी सुख-दुःखके लेशमात्रके साथमें भी तुलना नहीं हो सकती॥१७१॥

लोचनरोचनी—लोकातीतमिति। श्रीराधायां तादृशाननुभावान् शिवाकृतप्रस्तावान्निशम्य शिवां प्रति शिवः प्राह—तत्र लोकातीतं दुःखमन्येषां श्रीभगवद्विरहकृतं ज्ञेयम्। कूटतां राशिताम्॥१७१॥

आनन्दचन्द्रिका—शिवया राधिकाप्रेमवैशिष्ट्यविक्रमं पृष्टः शिवस्तामाह—लोकातीतं वैकुण्ठगतं सुखं प्रसिद्धं मोक्षसुखं च। दुःखं तु तत्रत्यभक्तानां प्रेमौत्कण्ठ्योत्थम्। अजाया मायाया अजस्य ब्रह्मणो वा अण्डकोटिगतं तच्च त्रैकालिकं भूतं भविष्यद्वर्तमानं च सुखं दुःखं च यत्ते उभे सुखदुःखे यद्येकदैव एकस्मिन् देश एव पृथक् कूटतां राशितां गच्छतः प्राप्नुतस्तदपि तथापि तत्कूटद्वयं (कर्तृ) श्रीराधायाः प्रेम्णा उद्यन्तौ उच्छलन्तौ यौ सुखदुःखसिन्धू तदुत्थयोर्बिन्द्वोर्लेशयोरपि आभास–तुलामेकांशसादृश्यमपि नैव विन्देत नैव लभेत। न चैवं दुःखश्रुत्या प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यभावे महाभावस्यापुरुषार्थत्वं कल्पनीयं भक्तिमात्रस्यापि ह्लादिनीसंविदोः स्वरूपभूतयोः सारत्वेन। "ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥" इति। "मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इत्यादिप्रमाणेभ्यो ब्रह्मानन्दकोटितोऽप्याधिक्येन स्थापनात् तदीयदुःखस्याप्यूष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वित्यादौ सुखरूपत्वेनैव सिद्धान्तान्महाभावे त्वतिकैमुत्यादिति भावः। तथाहि लोके ऊष्मसद्भाव एव शीतं सुखमयं भवति। शीतसद्भावे चोष्मापीति द्वयोरपि सुखरूपत्वं दृष्टम्। एकैकाभावे द्वयोरेव दुःखरूपत्वं च। यथाच—क्षुद्भोज्यवस्तुनोर्द्वयोरेव यौगपद्ये सुखम्, भोज्यवस्त्वभावे क्षुद्दुःखमेव, क्षुदभावे भोज्यमपि न सुखं रत्यादिभावेषु संयोगेऽप्यौत्कण्ठ्यलक्षणविरहस्य सर्वथैवानपगमादलंबुद्ध्यभावादेव स संयोगः सदा सुखमयो भवति। विरहेऽपि स्मरणस्फूर्त्याविर्भावादिजनितमानसस्वाप्नसाक्षात्–संभोगाविच्छेदविरहोऽपि सुखमय एवेति अधिरूढमहाभावे तु संयोगवियोगलक्षणसुखदुःख–योरुक्तप्रकारेण निस्तुलयोर्द्वयोरेव यौगपद्यादेव निस्तुलसुखरूपत्वम्। प्राकृते तु स्वर्गनरकाद्योः सुखदुःखयोर्यौगपद्यभावात्। क्वचिद्भोजनारम्भरतारम्भादिषु सुखदुःखयोर्यौगपद्येऽपि पारिमित्यादिदोषात् न तत्र तत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौचित्यम्। सायुज्यमोक्षेऽपि दुःखाभावात् सुखमप्यसुखायमानमिति। केचित्सुखदुःखाभावाद्यात्यन्तिको मोक्ष इति मुक्तेर्लक्षणमित्याहुः। अतः प्रेम्ण एव परमपुरुषार्थत्वं नेतरेषामिति तु सिद्धान्त एव, वस्तुतः प्रवृत्तिस्तु प्रेम्णि न स्वसुखदृष्ट्या किन्तु भगवत्सुखदृष्ट्यैवेति तु भक्तानां मतम्॥१७१॥

मोदनो मादनश्चासावधिरुढो द्विधोच्यते॥१७२॥

तत्र मोदनः—

मोदनः स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्तसौष्ठवम्॥१७३॥

तात्पर्यानुवाद—यह अधिरूढ़भाव दो प्रकारका होता है—मोदन और मादन। उनमेंसे **मादन**—जिस अधिरूढ़ महाभावमें नायिका और नायकके स्तम्भादि सात्त्विक भावसमूह अतिशय उद्दीप्त रूपमें प्रकाशित होते हैं, उसे मोदन कहते हैं॥१७२–१७३॥

लोचनरोचनी—मोदनो मादनश्चेति द्वयं निरुक्तिबलात् संभोग एव। मादन इत्यत्र "मितां ह्रस्वः" इति यन्नाप्तं तत्खलु मित्सु "मदी हर्षग्लेपनयो"रित्यर्थः। नियमादर्थान्तरकल्पनया ज्ञेयम्। हर्षवाचित्वमोदन इत्यनेनैव पर्याप्तिः स्यात् तस्मान्मादनोऽत्र दिव्यमधुविशेषवन्मत्तताकर इत्यर्थः॥१७२॥

यथा ललितमाधवे (८/९)—

आतन्वन्कलकण्ठनादमतुलं स्तम्भश्रियोज्जृम्भितो
भूयिष्ठोच्छलदंकुरः फलितवान् स्वेदाम्बुमुक्ताफलैः।
उद्यद्बाष्पमरन्दभागविचलोऽप्युत्कम्पवान् विभ्रमै
राधामाधवयोर्विराजति चिरादुल्लासकल्पद्रुमः॥१७४॥

तात्पर्यानुवाद—नववृन्दा श्रीराधाकृष्णके मिलन-वर्णनके प्रसंगमें कहती है—"श्रीराधामाधवका उल्लासरूप कल्पवृक्ष चिरकाल विराजमान हो रहा है। कल्पवृक्षमें अवस्थित कोकिलें फलास्वादनमें मस्त होकर काकलि (मधुरध्वनि) का विस्तार करती हैं, वह वृक्ष अनुपम काण्डकी शोभासे प्रफुल्लित रहता है, सुन्दर-सुन्दर बहु अङ्कुरोंको उद्गम करता है, फूल और फलोंसे सुशोभित रहता है, उससे मकरन्दकी धारा प्रवाहित होती है, अचल रहता है एवं उसकी एक शाखासे दूसरी शाखाओंपर पक्षियोंके सञ्चालनसे उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ प्रकम्पित होती रहती हैं; उसी प्रकार युगलकिशोर कोकिलकी ध्वनिकी भाँति गद्गदाक्रान्त अव्यक्त मधुर कण्ठनाद विस्तार कर रहे हैं। अतुलनीय स्तम्भभाव धारणकी शोभा भी प्रकाशित हो रही है, रोमाञ्चोद्गमसे, निरन्तर अश्रुपात एवं अतिशय प्रस्वेदसे वे नित्यकाल सदा-सर्वदा सुशोभित रहते हैं। सुस्थिर होनेपर भी विलास विशेषसे पुनः उत्कम्पित भी हो रहे हैं॥"१७४॥

लोचनरोचनी—कलरूपो यः कण्ठनादस्तम्। पक्षे कलकण्ठः कोकिलः। स्तम्भः सात्त्विकविशेषः, पक्षे स्वाभाविकस्तब्धता। तत्संपत्त्या उच्चैर्जृम्भितः

प्रकाशितः। "श्रिया जृम्भितः" इति वा पाठः। भूयिष्ठा उच्छलन्त उद्भवन्तोऽङ्कुरा इवाङ्कुरा रोमाञ्चा यत्र सः, पक्षे अङ्कुराः कडम्बाः, अविचलः स्थिरोऽपि, विभ्रमैर्विलासैः, पक्षे पक्षिणां भ्रमणैः॥१७४॥

आनन्दचन्द्रिका—नववृन्दा श्रीराधाकृष्णयोश्चिरान्मिलनं वर्णयति—आतन्वन्निति। उल्लास एव कल्पद्रुमस्तयोः परस्परस्य परिजनानां च वाञ्छितपूरणाद्विराजति। तत्रोल्लासस्य द्रुमत्वं मोदनभावोत्थत्वं च विशेषणैः स्पष्टयति—कलकण्ठः कोकिलः, पक्षे कलो मधुरास्फुटो यः कण्ठनादः स्वरभेदः। आ सम्यगेव विस्तारयन्निति उद्दीप्तसौष्ठवम्। एवमतुलादिपदैरग्रेऽपि। स्तम्भः स्थूणा तस्येति मूलोपरितनप्रदेशवर्णनम्, पक्षे स्तम्भः सात्त्विकः। अङ्कुराः कडम्बाः पुलकाश्च। अविचलः स्थिरोऽपि वीनां पक्षिणां भ्रमैर्भ्रमणैः, पक्षे विलासैः॥१७४॥

हरेर्यत्र सकान्तस्य विक्षोभभरकारिता।
प्रेमोरुसंपद्विख्यातकान्तातिशयितादयः ॥१७५॥

तात्पर्यानुवाद—मोदन—जिसमें कान्ताओंके सहित श्रीकृष्णका विक्षोभ होता है और प्रेमरूप गुरुतर सम्पत्तिमें विख्याता श्रीकृष्णका सभी कान्ताओंसे भी अधिक प्रेमाधिक्य व्यक्त होता है, उसका नाम मोदन है।

मोदनका अनुभाव—अधिरूढ़ महाभावके मोदनाख्य भेदमें कान्ताओंके सहित विराजमान श्रीकृष्णको विक्षोभ और भय उत्पन्न हो जाता है एवं प्रेमरूप महासम्पत्तिमें सुप्रसिद्धा श्रीगौरी आदि नारियोंसे भी प्रेमाधिक्य आदि प्रकाशित होता है॥१७५॥

लोचनरोचनी—किंच हरेरिति। सकान्तस्य कान्ताभिः सहितस्य। प्रेमेति प्रेमोरुसंपद्विख्याता याः कान्तास्ताभ्यस्ता अतिक्रम्य या अतिशयिता प्रेमाधिक्यं साप्यस्य लक्षणमित्यर्थः। आदिग्रहणादन्येऽपि संख्यातीता गुणास्तल्लक्षणत्वेन वर्तन्त इत्युन्नेयम्॥१७५॥

आनन्दचन्द्रिका—मोदनस्यानुभावान् वदन्नेव तल्लक्षणमाह—हरेरिति। यत्र मोदने विद्यमाने सति सकान्तस्य कान्ताभिः सहितस्य प्रेमैव उरुर्महती संपत् तया ख्याताः प्रसिद्धा याः कान्ताश्चन्द्रावल्यादयः ताभ्योऽतिशयिता परमोत्कर्षः। आदिशब्दादन्येऽपि तद्विरुद्धजनविज्ञाता बहवो वर्त्तन्त इत्यर्थः॥१७५॥

राधिकायूथ एवासौ मोदनो न तु सर्वतः।
यः श्रीमान् ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः प्रियो वरः ॥१७६॥

तात्पर्यानुवाद—यह मोदनभाव केवलमात्र राधिकाके यूथमें ही विराजित होता है, सर्वत्र सुलभ नहीं है। सर्वभाव-सम्पत्ति-विशिष्ट यह मोदन ही ह्लादिनीशक्तिका श्रेष्ठ और अतिशय प्रियविलास स्वरूप है॥१७६॥

लोचनरोचनी—कुत्रासौ दृश्यते तत्राह—राधिकायूथ एवेति। मधुस्नेहमारभ्य परमोत्कर्षस्य दर्शितत्वात्। पूर्वग्रन्थस्य च टीकायाम् "तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः" इत्यत्र "न वयं साध्वि साम्राजयम्" इत्यस्य व्याख्याने श्रीभागवतसंमत्या विशेषतः श्रीराधायां च दर्शितत्वाच्च। "पूर्णाः पुलिन्द्यः" इत्यनेन ह्येतस्यैकवाक्यता दृश्यते। उभयत्र श्रीशब्देन श्रीराधिकैवोच्यते। अन्य हरिपदपरित्यागेन तत्पदश्रीसंबन्धपरित्यागप्राप्तेः। "पूर्णाः पुलिन्द्यः" इत्यादिकवचनसमये श्रीरुक्मिमण्या अप्रसिद्ध्या तदप्राप्तेश्च। श्रीराधायाः सौभाग्याधिक्यं श्रीव्रजदेवीभिः स्वयमेव दर्शितम्—"अनयाराधितो नूनम्" इत्यादिना, श्रीराधात्वं चास्या "राधा वृन्दावने वने" इति मात्स्यादिप्रामाण्येनावगतमेव। व्यक्तं चोक्तं बृहद्गौतमीये—"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा॥" इति। ऋक्परिशिष्टे च—"राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा" इति। अथ प्रस्तुतमनुसरामः—यः श्रीमानित्यत्र ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः परमवृत्तिरूपस्तावद्भगवद्भावमात्रम्। तत्रापि प्रियो मधुराख्यो महाभावपर्यन्तस्तत्रापि मोदनोऽयं वर इत्यर्थः॥१७६॥

आनन्दचन्द्रिका—सर्वतः सर्वत्र चन्द्रावल्यादावपीत्यर्थः। ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः परमवृत्तिरूपः प्रेमा भक्तमात्रवृत्तित्वांशेन तत्रापि प्रियो मधुररसस्थायितया प्रियाजनवर्त्तित्वांशेन तत्रापि श्रीमान् महाभावो गोपीमात्रवर्त्तित्वांशेन। तत्रापि वरः श्रीराधायूथवर्त्तित्वांशेनेत्यर्थः॥१७६॥

तत्र स्वकान्तस्य हरेः क्षोभभरकारिता यथा—

हन्त स्तम्भकरम्बिता भुवि कुरोर्भद्रा सरस्वत्यभूद्–
वाष्पं भास्करजा मुमोच तरसा सत्याभ्रमन्नर्मदा।
भेजे भीष्मसुता च वर्णविकृतिं गाम्भीर्यभागप्यसौ,
कृष्णोदन्वति राधिकाद्भुतनदीप्रेमोर्मिभिः संवृते ॥१७७॥

तात्पर्यानुवाद—कान्ताओंके साथ हरिकी क्षोभकारिता—कुरुक्षेत्रकी यात्रामें व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णके मिलन-वृत्तान्तकी अतिशय

चमत्कारिता सुनकर श्रीरुक्मिणी आदि महिषियाँ व्रजगोपियोंका दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हो उठीं, किन्तु वे उनका भलीभाँति दर्शन प्राप्त न कर सकीं; क्योंकि व्रजगोपियाँ पट्टगृहों (तम्बुओं आदिसे बने हुए घरों) के पर्देमें अवस्थान कर रही थीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्थित श्रीराधाजीके मादनाख्य महाभावके प्रभावसे पट्टगृहमें अवस्थित श्रीकृष्णमें तथा श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंमें भी अतिशय क्षोभ उत्पन्न हो उठा। श्रीरुक्मिणीकी एक सखीने उस क्षोभका दर्शन किया। अवसर पाकर वही सखी अपनी एक दूसरी सखीसे कह रही है—अहो! हे सखि! कैसा आश्चर्य है? श्रीराधिकारूप अद्भुत नदीकी प्रेमतरङ्गोंसे श्रीकृष्णरूप समुद्र रुक गया, भद्राकी सरस्वती (वाणी) स्तम्भित हो गई। भास्करजा अर्थात् कालिन्दी (यमुना) उज्ज्वल गर्म अश्रु प्रवाहित करने लगी। नर्मदायिनी (नर्मदा) सत्यभामा तो शीघ्र ही असत्या हो गई अर्थात् उसकी धारा छिन्न-भिन्न हो गई; भीष्म जिनके पुत्र हैं, ऐसी गम्भीर गङ्गा, पक्षान्तरमें, गम्भीर-स्वभावा भीष्मकसुता श्रीरुक्मिणीदेवीने वर्णविकृतिको प्राप्त किया अर्थात् उनके मुखका रङ्ग फीका पड़ गया॥१७७॥

लोचनरोचनी—कुरुक्षेत्रे व्रजदेवीनां श्रीकृष्णेन मिलनानन्तरं तेनावहित्थागुप्तमपि भावविकारं वितर्क्य तं च भद्रादीनामपि विस्मायकतयानुभूय श्रीमानुद्धवः परामृशति—हन्त स्तम्भेति। भद्रायाः सरस्वती वाणी, पक्षे सरस्वती नदी तस्या विशेषणं भद्रा। बाष्पमश्रु, पक्षे तदिव जलोत्करम्। सत्या सत्यभामा विशेष्यं तस्या विशेषणं नर्मदा। पक्षे वैपरीत्यं तत्र सत्या सद्रूपा, भीष्मसुता रुक्मिणी, पक्षे बहुव्रीहिणा गङ्गा॥१७७॥

आनन्दचन्द्रिका—कुरुक्षेत्रयात्रायां व्रजदेवीभिः सह श्रीकृष्णस्य मिलनवृत्तान्तस्य चमत्कारातिशये श्रुते श्रीरुक्मिण्यादिषु व्रजदेवीदर्शनाभिलाषिणीषु स्वस्वपटगेहगुप्तास्वेव तत्र रहसि तासु तदानीमेव श्रीकृष्णदर्शनोत्थेन श्रीराधाया मोदनाख्यभावेनोदितेन श्रीकृष्णस्य रुक्मिण्यादीनां च क्षोभातिशयं दृष्टवती काचिद्रुक्मिण्याः सखी समयान्तरे स्वसखीमाह—हन्तेति। कथनारम्भत एव विस्मयः। राधिकैवाद्भुतनदी तस्याः प्रेमाण एवोर्मयस्ताभिः कृष्णोदन्वति श्रीकृष्णसमुद्रे संवृते रुद्धे सतीति नद्यास्तरङ्गेण समुद्ररोधादद्भुतत्वं स च रोधो नद्यास्तरङ्गाणां समुद्रतरङ्गविजयित्वेन वा समुद्रजलस्तम्भेन वा ज्ञेयः। पक्षे श्रीकृष्णप्रेमतोऽपि श्रीराधाप्रेमाधिक्यवञ्जना। सरस्वती नदी कीदृशी? भद्रा, पक्षे भद्रायाः सरस्वती वाणी। भास्करजा यमुना कालिन्दी

च। बाष्पं जलोष्माणम् ऊष्माश्रु च। नर्मदा नदी अभ्रमद् विपर्यस्तप्रवाहा अभूत्। किंभूता? सत्या सद्भ्यो हिता, पक्षे नर्मदा परिहसितुमागतापि सत्यभामा अभ्रमत्, भ्रमिमपस्मारं प्राप। भीष्मः सुतो यस्याः सा गङ्गा, पक्षे भीष्मसुता श्रीरुक्मिणी। वर्णविकृतिर्वैवर्ण्यम्। ततश्च कतिपयक्षणानन्तरं तस्या मोदनभावस्य किंचिदुपशमे ता अपि किंचित् स्वास्थ्यमाप्तास्तां स्तुत्वा नत्वा स्वस्वावासं जग्मुः सा तु वैवश्यवशात् ताः नानुसंधत्ते स्मेति ज्ञेयम्॥१७७॥

प्रेमोरुसंपद्वतीवृन्दातिशयित्वं यथा—

> **अद्वैताद्गिरिजां हरार्द्धवपुषं सख्यात्प्रियोरःस्थितां,**
> **लक्ष्मीमच्युतचित्तभृङ्गनलिनीं सत्यां च सौभाग्यतः।**
> **माधुर्यान्मधुरेशजीवितसखीं चन्द्रावलीं च क्षिपन्,**
> **पश्यारुद्ध हरिं प्रसार्य लहरीं राधानुरागाम्बुधिः॥१७८॥**

तात्पर्यानुवाद—प्रेम–महासम्पत्तिशालिनियोंसे भी अधिक आतिशय्य—इस पद्यमें भी कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णके साथ मिलनेपर श्रीराधाके अनुरागके अत्यन्त प्राबल्यको अनुभवकर पौर्णमासी आनन्दसे उल्लसित एवं आश्चर्य चकित होकर नान्दीमुखीसे कह रही है—"हे नान्दीमुखि! यह देखो, श्रीराधाके अनुरागसमुद्रने तरङ्ग मालाओंको विस्तृतकर श्रीकृष्णको भी अवरुद्ध कर दिया!! एकात्मा होनेके कारण महेश्वरकी अर्द्धांङ्गरूपा गिरिजा (दुर्गा) को, सहवास क्रीड़ामें अच्युतके चित्तरूप भ्रमरकी कमलिनीस्वरूपा श्रीकृष्णके वक्षमें अवस्थिता लक्ष्मी (श्रीरुक्मिणी) को, सौभाग्यवशतः सत्यभामा देवीको और माधुर्य-विषयमें मथुरानाथकी प्राण और सखीस्वरूपा चन्द्रावलीको भी दूर फेंककर सर्वोपरि श्रीमती राधिकाका यह प्रेम देदीप्यमान हो रहा है॥१७८॥

लोचनरोचनी—अद्वैतादिति च श्रीमदुद्धवस्य वचनम्। येन "मधुप कितवबन्धो" इत्यादि तदीयभावोन्मादश्रवणाच्चित्रतां प्राप्तेन "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादिकं सर्वा अपि व्रजसुन्दरीरुद्दिश्य वदता तस्यामेव परममहिमा पर्यवसायितः। मधुरेशेति व्रजं प्रति तेन गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचयेत्यादिवैवश्यमयवचनेन स्वस्य यत्प्रस्थापनं तस्यास्थानरूपां मधुरामनुसृत्य प्रोक्तम्। पश्येति भावावेशेन स्वयमेव स्वं प्रत्युक्तम्॥१७८॥

आनन्दचन्द्रिका—तत्रैव पुनः सैवाह—गिरिजां दुर्गाम्। सत्यां सत्यभामाम्। हरिं श्रीकृष्णमरुद्ध आवृतवान्॥१७८॥

मोदनोऽयम् प्रविश्लेषदशायाम् मोहनो भवेत्।
यस्मिन् विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः॥१७९॥

तात्पर्यानुवाद—यह मोदन ही दोनों प्रवासोंमें उदित होकर विरहदशामें 'मोहन' नामसे कथित होता है। इस मोहन-महाभावमें भी विरह-विवशता हेतु सात्त्विकभावसमूह सूद्दीप्त रूपमें प्रकाशित हुआ करते हैं॥१७९॥

यथा—

उद्यद्वेपथुवाद्यमानदशना कण्ठस्थलान्तर्लुठ-
ज्जल्पा गोकुलमण्डलं विदधती बाष्पैर्नदीमातृकम्।
राधा कण्टकितेन कण्टकिफलं गात्रेण धिक्कुर्वती,
चित्रं त्वद्घनरागराशिभिरपि श्वेतीकृता वर्त्तते॥१८०॥

तात्पर्यानुवाद—ब्रजसे मथुरा लौटकर उद्धव श्रीकृष्णके समीप, बहुत काल तक स्वानुभूत श्रीराधिकाकी दशाका निवेदन कर रहे हैं—"अहो! महाश्चर्यकी बात है!! कम्पोदयके हेतु श्रीमती राधिकाके दन्तसमूह बज रहे हैं, उनके वचनसमूह कण्ठमें ही लुण्ठित हो रहे हैं, वे अश्रु और स्वेदधारासे व्रजमण्डलको आप्लावित कर रही हैं, रोमाञ्चित, पुलकित शरीरसे कटहलके फलको भी तिरस्कृत कर रही हैं। अतएव तुम्हारे प्रति निबिड़ सघन अनुराग-पुञ्जको वहन करनेमें भी (घनरक्तिमा वहनकर भी) श्रीमती राधिका इस समय श्वेताङ्गी हो रही हैं। इस पद्यमें अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, और वैस्वर्यादि भावकदम्ब सूद्दीप्त हैं। मोहन-महाभावका यही लक्षण है॥१८०॥

लोचनरोचनी—उद्यदिति। तस्यैव व्रजान्मथुरां गतस्य श्रीकृष्णं प्रति निवेदनम्। नदीमातृकशब्देन नदीजलसंपन्नव्रीहिको देश उच्यते। उच्चैर्विरहबाष्पैस्तु यद्यपि तादृशत्वं न संभवति तथाप्यनेन तत्प्रेम्णो माहात्म्यमात्रदृष्ट्या निर्दिष्टम्। यथा "विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः, इति ताः प्रत्युक्तम्। कण्टकितेन पुलकितेन कण्टकिफलं पनसम्। "चित्रं त्वद्घनरागराशिभिः, इत्यत्र श्लेषपक्षे रक्तिमा-राशित्वात् श्वेतीकृतत्वं नोपपन्नमिति चित्रशब्दश्चापिशब्दश्च दत्तः। विवक्षितपक्षेऽपि पूर्ववद्गतिः। भगवद्रागस्यानन्ददातृत्वेन फुल्लताकरणमेव शास्त्रलब्धं न तु दुःखदातृत्वेन श्वेतीकरणमित्यभिप्रायात्॥१८०॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रजान्मथुरां गत उद्धवः पृष्टवृत्तान्तं श्रीकृष्णमाह— उद्यद्वेपथुभिर्वाद्यमाना वादित्रवत् क्रियमाणा दशना दन्ता यस्याः सा। कण्ठस्थलेति स्वरभेदः। नदीमातृकत्वं नदीजलसंपन्नव्रीहिकं बाष्पैर्नदीवत् सर्वमाप्लावयन्तीत्यर्थः। "स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्" इत्यमरः। ननु बाष्पजलानामुष्णत्वात् तत्सेकेन कथं व्रीहयो भवन्ति? सत्यम्। तेषामुष्णत्वं क्षणिकमेव तस्या अङ्गतः पृथिव्यां पतितमात्रत्वेन सद्यः शैत्यात्। वस्तुतस्तु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरियं तद्भ्रमतात्पर्यवती। कण्टकिफलं पनसम्। घनरागराशिभिर्निबिडरक्तिमभिः, पक्षे निबिडानुरागसमूहैः। अत्र वाद्यमानेत्यादिपदैः सूद्दीप्तत्वं कम्पादीनां बोध्यम्॥१८०॥

अत्रानुभावा गोविन्दे कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना।
असह्यदुःखस्वीकारादपि तत्सुखकामता॥१८१॥

ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं तिरश्चामपि रोदनम्।
स्वभूतैरपि तत्सङ्गतृष्णा मृत्युप्रतिश्रवात्।
दिव्योन्मादादयोऽप्यन्ये विद्वद्भिरनुकीर्त्तिताः॥१८२॥

प्रायो वृन्दावनेश्वर्यां मोहनोऽयमुदञ्चति।
सम्यग्विलक्षणं यस्य कार्यं संचारिमोहतः॥१८३॥

तात्पर्यानुवाद—मोहनभावका स्वरूप लक्षण बतलाकर अब उसका तटस्थ लक्षण दिखला रहे हैं। इस मोहनके अनुभाव—अन्य प्रेयसीके द्वारा आलिङ्गित श्रीकृष्णका मोह, असहनीय दुःख स्वीकार करके भी श्रीकृष्णके अतिशय सुखकी अभिलाषा, ब्रह्माण्डक्षोभकारिता, पशुपक्षी आदिका भी रोदन, मरणाङ्गीकारमें भी स्वदेहारम्भक पृथ्वी प्रभृति पञ्चभूतोंके द्वारा श्रीकृष्णसङ्गमकी प्रबल तृष्णा एवं दिव्योन्मादादि अनेकानेक अनुभावोंका विद्वानोंने वर्णन किया है। यह मोहनभाव वृन्दावनेश्वरीमें ही अत्यन्त अधिक रूपमें प्रकाशित होता है। सञ्चारिभावमें वर्णित मोहसे भी इस मोहनभावमें सम्यक् प्रकारसे विलक्षण महाचमत्कारकारक अनुभाव प्रकाशित होता है॥१८१–१८३॥

लोचनरोचनी—अत्रानुभावा इति। ननु कान्तेत्यादिकमन्यत्र संभवति। बहुस्निग्धैर्वेष्ट्यमानस्यापि वियुक्ततमस्निग्धस्मरणेन वैकल्यदर्शनात्। अथासह्येत्यप्यन्यत्र दृश्यते यथा प्राणिमात्रसुखकामस्य रन्तिदेवस्य। ब्रह्माण्डस्य क्षोभकारित्वं तु तत्तत्परमशक्तिरूपायास्तस्याः क्षोभेण युक्तमेव। यथा तत्तद्भावपीडने जाते, न तु

तद्भावस्पर्शनेन तज्जायत इति वक्तव्यम्। सदापि तद्भावानुगतिप्रत्यासत्तेः। "दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनःपुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्" इति श्रवणात्। ततस्तिरश्चामपि रोदनं पुनरुक्तमेव। तथा स्वभूतैरित्यप्यसह्यदुःखेत्यत्रान्तर्भवति तथा "उन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः" इत्यादौ श्रीप्रह्लादादावपि वर्णितस्तत्र भावस्यासंप्रतिपत्तेरतिव्याप्तिः स्यात्। दिव्यत्वं वा कीदृशम्? सत्यं, तथाप्यस्त्यत्र विशेष इत्याह—सम्यग्विलक्षणमिति। विलक्षणत्वमेवाह—संचारिमोहत इति। संचारिषु व्यभिचारिषु यो मोहस्तस्मात् प्रतिसंचार्येव यन्मोहस्य प्राधान्यं तस्मादित्यर्थः। न ह्येवमन्यत्र संभवतीति। ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं तु तत्स्पर्शश्चेत्तदपि स्यादिति विवक्षया "नारं चुक्रोश चक्रम्" इति वक्ष्यमाणमुदाहरणं तु यः खलु तेन भावेन स्पृष्टस्तस्यानुभवदृष्ट्या निर्दिष्टम्। यथा "नद्यस्तदा तदुपधार्य" इत्यादौ यथावात्रैव दर्शयिष्यते—और्वस्तोमादिति तिरश्चामपि रोदनं तद्विशेषवर्णनान्नपुनरुक्तं स्वभूतैरिति च॥१८१-१८२॥

आनन्दचन्द्रिका—तस्यानुभावान् वदंस्तल्लक्षणं ज्ञापयति—अत्रेति। कान्ताभिराश्लिष्टे रुक्मिण्यादिषु संप्रयोगलीलास्थ इति व्रजस्थायां श्रीराधायां यदा मोहनभाव उदेति तदा द्वारकास्थस्य श्रीकृष्णस्य कान्ताश्लिष्टस्यापि मूर्च्छा स्यादित्यर्थः॥१८१॥

स्वभूतैः स्वदेहारम्भकैः पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतैः प्रतिश्रवादङ्गीकारात्। अत्र मोहनस्य प्रकृतिस्थित्युन्मादप्रकोपमूर्च्छा इति चतस्रो दशाः तत्र प्रकृतिस्थितौ असह्यदुःखेति, स्वभूतैरपीति अनुभावद्वयं उन्मादे चित्रजल्पाद्याः, प्रकोपे कान्ताश्लिष्टकृष्णमूर्च्छाब्रह्माण्डक्षोभौ, ईषत् प्रकोपे निकटस्थ तिर्यग्जीवादिरोदनम्, अतिप्रकोपे मूर्च्छा, सा चातिदुरूहत्वान्न वर्णितेति विवेचनीयम्॥१८२॥

तत्र कान्ताश्लिष्टेऽपि हरौ मूर्च्छाकारित्वं यथा पद्यावल्याम् (३७१)—

रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया,
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य।
विश्वं पायान्मसृणयमुनातीरवानीरकुञ्जे,
राधाकेलीभरपरिमलभरध्यानमूर्च्छा मुरारेः॥१८४॥

तात्पर्यानुवाद—कान्तालिङ्गित श्रीकृष्णकी मूर्च्छा—एक समय द्वारकामें श्रीरुक्मिणीदेवीके साथ रत्नमन्दिरमें विलास करते हुए श्रीकृष्णने नाना वर्णकी मणियोंकी किरणोंसे समुद्भासित समुद्रको देखा! उसे देखते ही उनके हृदयमें यमुनाकी स्मृति जग उठी, साथ ही यमुनाके तटपर वृन्दावनीय वानीर कुञ्जमें श्रीराधाके साथ अत्यधिक विलासकी स्फूर्तिसे मूर्च्छित हो गए। उसे देखकर कोई अभिज्ञा सखी किसी दूसरी सखीको कह

रही है—"हे सखि! जिनकी रत्नमालाकी कान्तिसे समुद्र भी बीच-बीचमें तिलक परिधानकी भाँति समुद्भासित हो रहा है, ऐसे द्वारकाके रत्नमन्दिरमें श्रीरुक्मिणीदेवीके द्वारा आलिङ्गित और पुलकाञ्चित श्रीकृष्ण भी यमुनाके तीरवर्ती वृन्दारण्यमें स्थित कोमल और मधुर निकुञ्ज मन्दिरमें श्रीराधाके साथ केलिविनोदादिके परिमलसमूहके ध्यानसे मूर्च्छित हो गए। वही मूर्च्छा विश्ववासियोंकी रक्षा करे॥"१८४॥

लोचनरोचनी—रत्नेति उमापतिधरस्य पद्यम्। रत्नानां छायया कान्त्या प्रतिबिम्बेन वा छुरितः कर्बुरितो जलधिर्येन। केलीति स्त्रीलिङ्गत्वमप्यत्रावगतम्। मूर्च्छा मोहः॥१८४॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वारकात आगता प्रव्रजिता काचित् व्रजे ललितादिसखीसभां प्रविश्य शुभाशिषमाह—रत्नानां वलभीस्तम्भशिखरादिषु लग्नानां पद्मरागादीनां छायाभिः कान्तिभिश्छुरितः प्रतिबिम्बार्पणेन विचित्रितो जलधिर्येन तस्मिन्निति मन्दिरस्य जलधिमध्यवर्त्तित्वेनात्युच्चत्वेन चोद्दीपनविभावस्य रुक्मिण्यापीत्यालम्बनविभावस्य प्रबलपुलकोद्भेदं यथा स्यादित्यनुभावसात्त्विकानां हर्षादिसंचारिणां च आलिङ्गितस्येति संभोगस्थायिभावस्य च सौष्ठवमुक्तं, तत्रापि रुक्मिण्याः कर्तृत्वेन तस्याः पुरुषायिततत्वव्यक्त्या संभोगभूमा, तादृशस्यापि मुरारेर्मूर्च्छा विश्वं पायादिति भङ्ग्या व्रजमण्डलस्यैव पालनप्रार्थना। तदीयह्लादिन्यादिसकलशक्तिकदम्बनिवासभूतस्य व्रजस्यैव क्षेमेण विश्वस्य सर्वविश्वाधारस्य श्रीकृष्णस्य च क्षेमवत्त्वसंभवात् तच्च पालनं तस्य व्रजागमनं विना न भवतीति मूर्च्छा; श्रीकृष्णं शीघ्रं व्रजमागमयत्विति वाक्यार्थोऽवगमितः। किंच तत्र परिमलभरपदेन श्रीराधाकेलीनां श्रीकृष्णसर्ववाञ्छितसाधन-कल्पवल्लीत्वमारोपितं तेन च द्वारकायां तादृशसुखसामग्रीसद्भावेऽपि श्रीकृष्णः स्ववाञ्छितालाभव्याकुलो वृन्दावनागमनोन्मुख एव वर्तत इति तत्रत्यवृत्तान्तज्ञापनं व्यञ्जितम्। पद्यमिदमुमापतिधरस्य कवेः॥१८४॥

असह्यदुःखस्वीकारात्तत्सुखकामता यथा—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे,
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मा गात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन्यदपि नगरादार्त्तिरुग्रा भवेन्नः,
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥१८५॥

तात्पर्यानुवाद—असह्य दुःख-स्वीकारमें भी श्रीकृष्ण-सुखातिशयकी कामना—व्रजसे मथुरा जानेके लिए प्रस्तुत उद्धवके द्वारा श्रीकृष्णके समीप

श्रीमती राधिका संवाद भेज रही हैं—"यद्यपि मुकुन्दके व्रजमें लौटनेपर मुझे प्रचुरतर सुख होगा, किन्तु यदि उससे श्रीकृष्णको तनिक भी खेद होता है, तो वे कभी भी व्रजमें न आएँ। मथुरासे उनके यहाँ न आनेसे यद्यपि हमें अत्यन्त गुरुतर पीड़ा होती है, तथापि यदि उनका चित्त वहाँ अधिक सुखी होता है, तो वे चिरकाल वहींपर रहें॥"१८५॥

लोचनरोचनी—आर्त्तिरुग्रेति। मोहं गमयति॥१८५॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रजान्मथुरां यास्यन्तं तत्प्रिये खलु कं संदेशमुपहरिष्यामीति पृच्छन्तमुद्धवं प्रति श्रीराधा प्राह—स्यान्न इति। नगरात् मथुरातः। अत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्सुखकामतैव स्पष्टीभवति स्म। यद्यपि लोके प्राकृत्यपि नारी विदेशस्थं स्वकान्तमेव संदिशति तदपि तत्प्रेमाणमपि न स्पृशति किमुत महाभावभेदं मोहनम्। यतस्तादृशवाक्यस्य स्वस्मिन् स्नेहोत्पादनमेव व्यङ्ग्यम्। न तु सर्वथैव मनोगतं भवेदेतस्याः क्वचित् सर्वथैव यथा मनोगतं चेद्दृश्यते तदा तत्र प्रेमज्वालाया अभव एव द्रष्टव्यः। स्वदेहगेहधनपुत्रादिषु यदि ममत्वलेशस्याप्यभावः स्यात्, स च स्वकान्तविषयकममत्वातिशयहेतुक एव यदि भवेत्, न तु तत्त्वज्ञानवैराग्यजन्यः तदैव प्रेमज्वाला उत्पद्यते। सैवात्र खल्वसह्यदुःखशब्देनोच्यते, न तु प्राकृतं दुःखम्। प्राणिमात्रसुखकामे तदीयभोग्यनिखिलदुःखस्वीकारिणि रन्तिदेवादौ नैतत्तुल्यदुःखस्य स्वीकारः प्राकृतत्वाल्लोकातीतमजाण्डेत्यादिशिवोक्तस्य दुःखस्येवोपरमितत्वाभावाच्च। किंचात्र मोहने प्रेम्णोऽपि सप्तमकक्षारूपे महाभावभेदे या ज्वाला सा त्वौर्वस्तोमात् कटुरपीति पदार्थतो व्यक्तीभविष्यति। सैव श्रीराधायामसह्यं दुःखं तत् स्वयमन्तरनुभवन्त्यपि श्रीराधा स्वकान्तं प्रति "स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवत्" इति यत् संदिदेश तदिदं प्राकृताप्राकृतलोकमात्रे सर्वत्रैवासाधारणं ज्ञेयम्॥१८५॥

ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं यथा—

> **नारं चुक्रोश चक्रं फनिकुलमभवद्व्याकुलं स्वेदमूहे,**
> **वृन्दं वृन्दारकाणां प्रचुरमुदमुचन्नश्रु वैकुण्ठभाजः।**
> **राधायाश्चित्रमीश भ्रमति दिशि दिशि प्रेमनिश्वासधूमे,**
> **पूर्णानन्देऽप्युषित्वा बहिरिदमबहिश्चार्त्तमासीदजाण्डम्॥१८६॥**

तात्पर्यानुवाद—ब्रह्माण्डक्षोभकारिता—व्रजस्थित श्रीमती राधिकाके प्रोषितभतृका अवस्था प्राप्त होनेपर जब उनमें महामोहका उदय हुआ उस समय प्राकृत-अप्राकृत लोकसमूहका क्षोभ देखकर एवं स्वयं ही इस भावको अनुभवकर नान्दीमुखी शीघ्र ही द्वारका गमनकर श्रीकृष्णको

निवेदन करने लगीं—"हे ईश! राधिकाके प्रेम-निःश्वासका धुँआ फैलनेसे ब्रह्माण्डमें महाश्चर्य घटना हुई है, जिसके दर्शनसे नरनारी सभी जोर-जोरसे रोने लगे, सर्प भी व्याकुल हो गए, देववृन्द पसीनेसे लथपथ होने लगे, वैकुण्ठ स्थित लक्ष्मी भी अश्रुपात करने लगी, इस ब्रह्माण्डके अन्र्तबाह्य समुदायको प्रेमानन्दसे परिपूर्णकर वे अतिशय पीड़ित हो रही हैं॥१८६॥

लोचनरोचनी—नारं चुक्रोश चक्रमिति श्रीकृष्णं प्रति व्रजात् प्रतिगतस्य कस्यचित् तादृशराधाभावमहिमप्रत्यायिततत्तदुपद्रवनिवेदकवचनम्। स एव च महाभावविकारः कादाचित्क एव न तु सार्वदिक इत्येतच्चुक्रोशेत्यादिका अतीतप्रयोगाः। तत्र चुक्रोशेति परोक्षप्रयोगः स्वस्यापि मोहख्यापनाय पूर्णानन्देऽपीति तत्प्रेमजातेरानन्दस्वभावकत्वात् वियोगरूपेणोपाध्यंशेन तापकत्वाच्च॥१८६॥

आनन्दचन्द्रिका—ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वमिति। ब्रह्माण्डपदेनोदाहरणदृष्ट्या वैकुण्ठादि-कमप्युपलक्षणीयम्। मोहनस्यापि चिच्छक्तिसाररूपत्वात् चिद्विभूतावस्य विक्रमसंभवात्। व्रजस्थितायां राधायां प्रोषितभर्तृकायां यदा मोहनभावस्योद्रेको बभूव तदैव सर्वप्राकृताप्राकृतलोकानां क्षोभं योगदृष्ट्यैव दृष्टवती स्वयमप्यनुभूतवती नान्दीमुखी त्वरितमेव द्वारकां गत्वा श्रीकृष्णं प्रति निवेदयति—नराणामिदं नारं चक्रं नृलोकमित्यर्थः। चुक्रोश उच्चैः फूत्कृत्य रुरोद। फणिकुलं तदुपलक्षितं सप्तपातालस्थजन्तुमात्रमेव व्याकुलमभवत्। वृन्दारकाणां वृन्दं सप्तस्वर्गस्थो देवसमूहः स्वेदमूहे प्रस्वेदमुवाह। वैकुण्ठभाजो लक्ष्मीप्रभृतयः प्रचुरमश्रु उदमुचन्। कदेत्यपेक्षायामाह— हे ईशेति! त्वं तु सर्वेश्वरस्त्वमेव किमिदं तद् व्रुहीति भावः। चित्रमद्भुतं यथा स्यात्तथा श्रीराधायाः प्रेमनिश्वासधूमे दिशि दिशि भ्रमति सति मोहनभावस्योद्गमे सतीत्यर्थः। इदमजाण्डं ब्रह्माण्डं कर्तृ बहिर्वैकुण्ठादि, अबहिस्तदनन्तरं चतुर्दशभुवनं च आर्तं पीडितं क्षुब्धमासीत्। तत्रापि चित्रं शृण्वित्याह—पूर्णानन्देऽप्युषित्वा स्थित्वा। पूर्णपदेन वैषयिकानन्दव्यावृत्तिः। उषित्वेति। उपविश्य भुङ्क्ते, झंकृत्कृत्य पततीत्यादिवत् समानकाल एव क्त्वा-प्रत्ययः। पूर्णानन्दपीडयोरनुभवं समानकाल-मेवाकरोदित्याश्चर्यम्। वस्तुतस्तु तस्याः पीडाया एव पूर्णानन्दरूपत्वमित्युपपादितं प्राक्। तत्र चुक्रोशेत्यादि भूतकालप्रयोगेण विरहेऽपि मोहनस्योद्रेकः सर्वदा नोदेतीति व्यञ्जितम्। तत्र चुक्रोशेति परोक्षे लिटा स्वस्य मोहोऽपि ज्ञापितः। ततश्च धन्यासि नान्दीमुखि! सत्यं ब्रूषे तदानीमहमपि पुष्पशय्यायां रुक्मिण्या गाढमालिङ्गितोऽतिसंतप्त-सर्वाङ्गो मूर्च्छां प्राप्तोऽभूवम्, सापि व्यग्राभूदिति श्रीकृष्णेन प्रत्युक्तम्। एवं चैतदुदाहरणानुसारेण महाभावलक्षणे यावदाश्रयवृत्तिरित्याश्रयपदेन जीवमात्रमप्युच्यते, जीवमात्रस्यैव भक्त्याश्रयत्वसंभवात्। यदुक्तं वैष्णवतोषण्यां संदर्भे च

प्रणवव्याख्यायामार्षवाक्यम्—"अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण कथ्यते। मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्त्तितः॥" इति।

ननु भगवतः स्थानलीलापरिकराणां सर्वेषामेव नित्यत्वप्रतिपादनादधुनापि प्रकाशभेदेन माथुरविरहोत्थो मोहनाख्यो महाभावभेदो वृन्दावनेश्वर्यां कथं नोदेति, उदेति चेन्नारं चुक्रोशेति वचनादस्मदादयो नरा अपि संप्रत्यपि कथं पूर्णानन्दरूपां तदीयपीडां क्वचिदपि नानुभवन्ति? सत्यम्। नित्यैव सर्वा लीला प्रपञ्चे प्रकटाप्रकटा चेति भागवतामृते द्वैविध्येन प्रतिपादिता। ततश्च प्रपञ्चे लीलायाः प्राकट्ये मोहनानुभावस्य ब्रह्माण्डक्षोभस्यापि प्रपञ्चे प्राकट्यं तस्या अप्राकट्ये तस्याप्यप्राकट्यम्। तथाहि यदा यत्र ब्रह्माण्डे माथुरविरहलीला प्रकटीभवति तदैव तस्य तस्यैव ब्रह्माण्डस्यैव क्षोभो नान्यस्येति सर्वमवदातम्॥१८६॥

यथा वा—

और्वस्तोमात्कटुरपि कथं दुर्बलेनोरसा मे,
तापः प्रौढो हरिविरहजः सह्यते तन्न जाने।
निष्क्रान्ता चेद्भवति हृदयाद्यस्य धूमच्छटापि,
ब्रह्माण्डानां सखिकुलमपि ज्वालया जाज्वलीति॥१८७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाके मुखसे ही ब्रह्माण्डक्षोभकारिताकी पराकाष्ठाका प्रतिपादन कर रहे हैं—श्रीकृष्णके व्रज त्याग करनेपर चिरविरहजनित सन्तापके अतिशय वेगसे अपने हृदयके मर्मस्थलमें दुःखका अनुभवकर वृन्दावनेश्वरी श्रीमतीराधाजी विशाखासे खेदके साथमें कह रही है—"हे सखि! बाड़वानलकी तीव्र ज्वालासे भी अधिक श्रीकृष्ण–विरहानलको मेरा अत्यन्त क्षीण हृदय किस प्रकारसे सहन कर रहा है मैं नहीं जानती? हाय–हाय! यदि धूमलेश भी मेरे हृदयसे निर्गत होता है तो इसकी ज्वालासे ब्रह्ममाण्ड समूह जलकर भस्म हो जाएगा॥"१८७॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमनिश्वासधूमे भ्रमतीत्यत्र धूमपदेन मोहनस्य वह्नित्वमारोपितमिति। स मोहनः कीदृशः। वह्निर्यद्धूमलेशेनापि सूर्यवह्निचन्द्राद्यात्मकमपि जगत् संतप्तमिति जिज्ञासायामाह—यथा वेति। प्रोषितभर्तृका श्रीराधा विशाखां प्रत्याह—और्वो वाडवाग्निस्तस्य स्तोमात् पुञ्जादपि कटुस्तीक्ष्णः। जाज्वलीति अतितप्ती भवति। अत्र निष्क्रान्ता चेत्युक्तेस्तस्य मोहनरूपवह्नेर्धूमो राधिकावपुषः सदा न निष्क्राम्यति। यदा चोद्रेकं प्राप्नोति तदा तु श्रीराधिकानासाभ्यां निष्क्रामत्येव तदैव ब्रह्माण्डक्षोभः पूर्वश्लोके उदाहृतः। मोहनभावस्तु श्रीराधाहृदये माथुरविरहमभिव्याप्यैव तिष्ठति। यद्वा

जाज्वलीतीत्यस्य भस्मीभवतीति मुख्य एवार्थः कार्यः। ततश्चास्य धूमच्छटा कदापि न निष्क्रामत्येव, योगमायैव तां श्रीराधावपुरन्तरेव स्तम्भयाति, ब्रह्माण्डगणस्य वैकुण्ठस्य च रक्षार्थमिति ज्ञेयम्। यत्तु पूर्वश्लोके प्रेमनिश्वासधूम इत्युक्तं तन्मोहनान्तर्वर्त्तिनस्तदेकांशस्य प्रेम्ण एव धूमो राधानासाभ्यां मोहनोद्रेके सति निर्गत इति ज्ञेयम्॥१८७॥

तिरश्चामपि रोदनं यथा पद्यावल्याम् (३७३)—

याते द्वारवतीपुरं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया,
कालिन्दीतटकुञ्जवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥१८८॥

तात्पर्यानुवाद—पशु–पक्षियोंका रोदन—मथुरासे श्रीकृष्णके द्वारका प्रस्थान करनेकी वार्त्ताको सुनकर परम उद्दीप्त विरह सन्तापसे महोद्विग्न श्रीमती राधिकाकी अत्यन्त व्याकुलताको देखकर नान्दीमुखी विलाप करते–करते पौर्णमासीसे कह रही हैं—"मुरारि! तुम्हारे मथुरासे द्वारकापुरी जानेपर श्रीराधिका श्रीकृष्णके पहने हुए पीतवस्त्रको उत्तरीयके रूपमें धारणकर कालिन्दीके कुलस्थित निकुञ्जमें वानीरलताका अवलम्बनपूर्वक उत्कण्ठा सहित अश्रुधाराका महाप्रपात (बड़ा झरना) प्रवाहितकर वैस्वर्ययुक्त उच्च स्वरसे महाकरुण विलाप कर रही थी। उसे श्रवणकर अगाध जलमें सञ्चरणशील मत्स्य, मकरादि भी उत्कण्ठित होकर उच्च स्वरसे रोदन कर रहे थी॥"१८८॥

लोचनरोचनी—यात इति। अत्रोद्गानं मोहमयमेवासीदिति भावः॥१८८॥

आनन्दचन्द्रिका—नान्दीमुखी वृन्दावनात् द्वारकां गत्वा श्रीराधाचेष्टितं पौर्णमासीं सास्रमावेदयति—याते द्वारवतीपुरमिति। द्वारकाप्रयाणवार्ताश्रवणे सतीत्यर्थः। तस्य वस्त्रं पीताम्बरमेव, संव्यानमुत्तरीयम्। तदङ्गसौरभलाभार्थं यस्यास्तया उद्गीतं रोदनशब्दो गीतविशेष इव उच्चीकृतमित्यर्थः। येनोद्गीतेनान्तर्जलचारिभिर्मत्स्यमकरग्राहादिभिरपि किं पुनर्हंसकारण्डवादिभिरित्यर्थः। उत्कमुत्कण्ठितं यथा स्यात्तथा। ब्रह्माण्डक्षोभकारीत्यस्यैव प्रपञ्चोऽयम्॥१८८॥

मृत्युस्वीकारात्स्वभूतैरपि तत्सङ्गतृष्णा यथा तत्रैव (३३६)—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिबहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं,
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।

तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥१८९॥

तात्पर्यानुवाद—मृत्युस्वीकार करके भी स्वदेह-प्रारम्भक महाभूतसमूहके द्वारा श्रीकृष्णसङ्गकी तृष्णा—श्रीमती राधिका ललितासे कह रही हैं—"यदि श्रीकृष्ण द्वारकासे न लौटें तब निश्चितरूपमें मैं कदापि उनको प्राप्त नहीं हो सकती और वे भी मुझे कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिए अत्यन्त कष्टसे अब इस शरीरको बचानेकी क्या आवश्यकता है? मेरी मृत्युके पश्चात् तुम स्नेहसे इसे बचानेका प्रयास न करना। यह पञ्चत्व लाभकर स्पष्ट रूपसे आकाशादि अपने-अपने भूतोंमें मिल जाए। मैं अपने मस्तकको पृथ्वीपर टेककर प्रणामपूर्वक विधातासे यही एक प्रार्थना करना चाहती हूँ कि श्रीकृष्णकी विहार-दीर्घिकामें इस देहका जल, उनके दर्पणमें मेरे शरीरकी अग्नि, उनके आङ्गनके आकाशमें मेरे अङ्गोंका आकाश तथा उनके गमनागमन पथमें पृथ्वी और वायु उनके तालवृन्त (तालके बने हुए पंखे) में प्रवेश करे॥"१८९॥

लोचनरोचनी—स्वांश इति। स्वं स्वमंशिनमित्यर्थः। तत्र भूतानां क्रमानुक्तेर्मोहमेव सूचयति॥१८९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितां प्रत्याह—तनुः पञ्चत्वं नाशमेतु। "स्यात् पञ्चता कालधर्मः" इत्यमरः। यदि श्रीकृष्णो नायादेवेति निश्चयस्तदा तमहं न प्राप्स्यामि, सोऽपि मां न प्राप्स्यति अतः किमनया तन्वातिकष्टेन रक्ष्यमाणयेति। किंच मया त्यक्ताया अप्यस्यास्तन्वाः स्नेहेन रक्षणे त्वं यत्नं मा कृथा इत्याह—भूतनिवहास्तन्वारम्भकाः पृथिव्यादयः स्वांशे स्वस्वभागे पृथिव्यादौ। तत्राप्ययं मे मनोरथ इत्याह—धातारमिति। विधातुः किमशक्यमिति भावः। स्वस्वांशे विशन्तोऽप्यमी तद्वाप्यादिषु पय आदयो भवन्त्विति वरं याचे। तस्य मत्कान्तस्य वापीष्ववगाहनविहरणदीर्घिकासु। अत्र भूतानां क्रमानुक्तिर्वैक्लव्यं सूचयति—मुकुरे इति। मज्ज्योतिष्ष्वेव स मुखं पश्यत्विति वाञ्छा। अङ्गनव्योम्नीति। उपवेशनपर्यटननिश्वासजृम्भादिषु तत्सर्वाङ्गमहमाकाशरूपेणालिङ्गन्ती भूयासमिति भावः। वर्त्मनीति। मदुपरि स पादौ निदधात्विति। तालवृन्त इति। तदङ्गप्रस्वेद्सौरभ्येन मदनिल एव सुगन्धो भवतु ततश्चैवं मन्निवृत्तावपि त्वं कथं रोदिषीति भावः॥१८९॥

अथ दिव्योन्मादः—

एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः।
भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते॥१९०॥

उद्घूर्णा चित्रजल्पाद्यास्तद्भेदा बहवो मताः॥१९१॥

तात्पर्यानुवाद—दिव्योन्माद—किसी अनिर्वचनीय वृत्ति-विशेषको प्राप्त होनेपर मोहनभावकी अद्भुत भ्रान्ति-सदृश स्फूर्तिरूपा वैचित्रीको पण्डितजन दिव्योन्माद कहते हैं। इस दिव्योन्मादमें उद्घूर्णा और चित्रजल्पादि बहुतसे भेद हुआ करते हैं॥१९०–१९१॥

आनन्दचन्द्रिका—कामपि निर्वक्तुमशक्यां गतिं वृत्तिमुपेयुषः प्राप्तस्य काप्यद्भुता वैचित्री दिव्योन्मादः॥१९०॥

तत्रोद्घूर्णा—

स्याद्विलक्षणमुद्घूर्णा नानावैवश्यचेष्टितम्॥१९२॥

यथा—

शय्यां कुञ्जगृहे क्वचिद्वितनुते सा वाससज्जायिता,
नीलाभ्रं धृतखण्डिताव्यवहृतिश्चण्डी क्वचित्तर्जति।
आघूर्णत्यभिसारसंभ्रमवती ध्वान्ते क्वचिद्दारुणे,
राधा ते विरहोद्भ्रमप्रमथिता धत्ते न कां वा दशाम्॥१९३॥

तात्पर्यानुवाद—उसमें उद्घूर्णा—नाना प्रकारकी विलक्षण विवशतापूर्ण चेष्टाको उदघूर्णा कहते हैं। यथा, व्रजसे लौटकर मथुरा आनेपर उद्धव अपने द्वारा अनुभूत श्रीराधाकी विरह-व्याकुलताकी बात श्रीकृष्णके समीप निवेदन कर रहे हैं—"हे श्रीकृष्ण! श्रीमती राधिका तुम्हारे विरहमें महाभ्रान्तिसे प्रपीड़ित होकर न जाने कौन-कौनसी दशाको प्राप्त नहीं हो रही हैं? वे कभी वासकसज्जाकी भाँति कुञ्जभवनको सजाती हैं, शय्या रचना करती हैं, कभी-कभी खण्डितावस्थामें अति क्रोधित होकर नीलमेघको भी तर्जन-गर्जन करती हैं, कभी-कभी निबिड़ अन्धकारमें भी शीघ्रतासे अभिसारिणी होकर भ्रमण करने लगती हैं। अहो! प्रेमकी विचित्र गतिको मैंने व्रजमें ही अनुभव किया॥"१९२–१९३॥

लोचनरोचनी—शय्यां कुञ्जगृह इति। अत्र "काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्। प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥" इत्येवास्त्युपजीव्यम्। अत्र काचिदित्यनेन श्रीराधिकैवोच्यते। पूर्वमस्या एव सर्वोत्तमतास्थापनाद्वैष्णवतोषण्यां वासनाभाष्यस्यात्रार्थे दर्शितत्वात्। सोऽयं च भावः सर्वोत्कर्षवान्, तस्मात् पूर्वोक्तानामप्येतदुपजीव्यत्वं मन्तव्यम्। एतदनुसारेण चित्रजल्पा अपि विलक्षणतया दर्शयिष्यन्ते, न तु "हंस स्वागतमास्यतामि"ति पट्टमहिषीवचनवत् यत्किंचित्तया॥१९३॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवः पृष्टवृत्तान्तं श्रीकृष्णमाह—शय्यामिति॥१९३॥

मथुरानगरं कृष्णे लब्धे ललितमाधवे।
उद्घूर्णेयं तृतीयाङ्के राधायाः स्फुटमीरिता॥१९४॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीललितमाधवके तृतीय अङ्कमें श्रीकृष्णके मथुरा गमन करनेपर श्रीराधिकाके इस उद्घूर्णा भावको स्पष्ट रूपसे वर्णन किया गया है॥१९४॥

लोचनरोचनी—मथुरेति। पूर्वोपजीव्यकमेव॥१९४॥

अथ चित्रजल्पः—

प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढरोषाभिजृम्भितः।
भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत्कण्ठितान्तिमः॥१९५॥

तात्पर्यानुवाद—चित्रजल्प—प्रियजनके सुहृदके (उसके रहस्यको जाननेवाले घनिष्ट व्यक्तिके) साथ भेंट होनेपर अवहित्था अवलम्बनसे गूढ़ रोषके कारण सुप्रकाशित—गर्व, असूया, दैन्य, चापल्य, औत्सुक्यादि भावोंसे प्रचुर और अन्तमें तीव्र उत्कण्ठा-विशिष्ट आलापको चित्रजल्प कहते हैं॥१९५॥

लोचनरोचनी—प्रेष्ठस्येत्येव महाविरहमयत्वं प्रकरणादेव लब्धम्। अन्तिमपदेन सर्वान्तिम एवोच्यते॥१९५॥

आनन्दचन्द्रिका—उत्कण्ठिन्या भाव उत्कण्ठिता। तीव्रा उत्कण्ठितैवान्तिमा अन्ते भवा यस्मिन् सः। "जजल्प चित्रं वृषभानुजैतदवर्णयत् श्रीशुकदेव एव। यस्तन्महाभावपरावधित्वे व्याचष्ट तद्रूपतया स्तुमस्तम्"॥१९५॥

चित्रजल्पो दशाङ्गोऽयं प्रजल्पः परिजल्पितम्।
विजल्पोज्जल्पसंजल्पा अवजल्पोऽभिजल्पितम्।
आजल्पः प्रतिजल्पश्च सुजल्पश्चेति कीर्त्तिताः ॥१९६॥

एष भ्रमरगीताख्यो दशमे प्रकटीकृतः ॥१९७॥

तात्पर्यानुवाद—यह चित्रजल्प दस प्रकारका होता है—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प और सुजल्प। श्रीमद्भागवतके भ्रमरगीतमें (श्रीमद्भा. १०/४७/१०–१९ श्लोक तक) इन दस चित्रजल्पोंका सुन्दर रूपसे वर्णन हुआ है॥१९६–१९७॥

असंख्यभाववैचित्री चमत्कृतिसुदुस्तरः।
अपि चेच्चित्रजल्पोऽयं मनाक् तदपि कथ्यते ॥१९८॥

तात्पर्यानुवाद—चित्तकी अगणित वैचित्रियोंके द्वारा महाचमत्कारवशतः महा दुर्बोध्य होनेपर भी चित्रजल्पका दिग्दर्शन करानेके लिए कुछ कह रहे हैं॥१९८॥

लोचनरोचनी—अपि चेदिति यद्यपीत्यर्थः॥१९८॥

तत्र प्रजल्पः—

असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया।
प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्पः स तु कीर्त्तितः ॥१९९॥

यथा श्रीदशमे (४७/१२)—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रि सपत्न्याः,
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं,
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥२००॥

तात्पर्यानुवाद—प्रजल्प—असूया, ईर्ष्या एवं उन्मादयुक्त अवज्ञा-भङ्गीसे प्रियतमकी अल्पबुद्धिके उद्गारको प्रजल्प कहते हैं॥१९९॥

अपने प्रियतम कान्तके परम सुहृद अथच उनके सन्देशको लानेवाले उद्धव मथुरासे वृन्दावन (नन्दगाँव) आगमन करनेपर गोपियोंने श्रीकृष्णके

द्वारा प्रेरित दूतके बोधसे निर्जनमें ले जाकर आसन प्रदानपूर्वक उन्हें बड़े प्रेमसे बैठाया। पीछे विविध प्रकारके सत्कारके द्वारा सम्मानित करनेपर उनमेंसे वृषभानुनन्दिनीमें उद्धवके दर्शनसे गूढ़ असूया, गर्व, ईर्ष्या, अनादर और उपहासादिमय दिव्योन्मादरूप चित्रजल्पका भाव उदित हुआ। दिव्योन्मादवती श्रीमती राधिकाने उद्धवको भ्रमररूपसे अनुमानकर मनमें विचार किया—"यह भ्रमर मेरे चरणकमलोंके सौरभके लोभसे भ्रमण कर रहा है। ऐसा लगता है कि मेरे प्रियतमने मेरी उपेक्षाकर जो अपराध किया है, उसको मार्जन करानेकी अभिलाषासे मेरे निकट अनुनय-विनय करनेके लिए अपने इस दूतको भेजा है। इसलिए यह दूत मेरे चरणोंमें प्रणाम कर रहा है।" दिव्योन्मादवशतः श्रीमती राधिका ऐसा समझकर उद्धत मनसे कहने लगीं—"अरे मधुप! (भ्रमर!) तुम उसी परम धूर्तके बन्धु हो। यदि कहो कि श्रीकृष्ण किस प्रकार धूर्त हैं? उसका कारण यह है कि जब वे रासगोष्ठीमें हमारे साथ विहार कर रहे थे, उस समय उन्होंने 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेद' अर्थात् तुमलोग लोक और वेदकी समस्त मर्यादाका विसर्जन कर मेरे पास आई हो, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां' इत्यादि पद्योंमें तथा मथुरा प्रस्थानके समय 'आयास्य इति दौत्यकैः' वचनोंसे प्रतिज्ञा की थी, आज उन वचनोंके व्यभिचारसे सब झूठ प्रतिपन्न हुआ, इसलिए वे वञ्चक हैं। तुम उनसे बन्धुत्व स्थापनकर उनके दूत होकर आए हो। अतएव हमारे चरणोंका स्पर्श मत करो। यदि यह कहो कि देवि! मुझे अपने चरणोंका स्पर्श करनेके लिए क्यों निषेध कर रही हो? तो उसका कारण यह है कि तुम मधुप अर्थात् मद्यपान करनेवाले हो, मद्यपका स्पर्श होनेसे मेरे चरण अपवित्र होंगे। इसलिए तुम्हें यदि प्रणाम करनेकी ही अभिलाषा है तो दूरसे प्रणाम करो। यदि यह कहो कि देवि! मैं सम्पूर्ण रूपसे निर्दोष हूँ। आप मुझपर मिथ्या ही मद्यप होनेका दोष क्यों लगा रही हैं? तो सुनो, हे भ्रमर! यह परिवाद नहीं है, मैं यथार्थ ही कह रही हूँ। मेरी सपत्नीके दोनों कुचोंसे श्रीकृष्णके वक्षस्थलमें संघर्षणसे विलुलित—विमर्दित यह जो माला है अथवा सपत्नीके दोनों कुचोंके द्वारा विलुलिता यह जो माला है उसपर बैठकर तुमने उसके मकरन्दका पान किया है, जिससे तुम्हारी मूँछ पीली हो गई है। अतएव सावधान! मेरे चरणोंका

स्पर्श मत करना। अहो! मैं मानिनी हूँ। मुझे मनानेके लिए आए हो, मेरे चरणोंमें अनुनय करने आए हो। तुम्हारी इस अवस्थाको देखकर मेरे क्रोधकी वृद्धि ही हो रही है, उसके उपशमका होना तो बड़ी ही दूरकी बात है। इसलिए इस वेशमें तुम्हारा आना अत्यन्त अनुचित है। यदि कहो कि जैसा भी हो, आप प्रसन्न रहें। इसपर मेरा वक्तव्य यह है कि तुम मद्यशालाके रक्षक या अधिपतिके निकट जाकर अपने प्रभुकी मद्यशालाकी ही देखभाल करो। तुम इसी कार्यके लिए पटु हो। दौत्यकार्यके लिए तुम कुशल नहीं हो। अतएव तुम मूर्ख हो। भ्रमरका अभिप्राय यदि इस प्रकार हुआ कि मैं अब मथुरा ही लौट जाऊँ, वे गोपेन्द्रनन्दन स्वयं यहाँ आकर इन्हें प्रसन्न करें—ऐसा समझकर श्रीराधिकाने कहा—"अरे! इस समय वे मधुपति हैं अर्थात् यादवोंके पति हैं। व्रजेश्वरीके गर्भसे उत्पन्न गोपजातिके होकर भी सौभाग्यसे वे अब क्षत्रिय हो गए हैं अतएव वे अब वहाँ अनेकानेक मानिनी यादवपत्नियोंके प्रसादको वहन करें। हम निकृष्ट जातिकी गोपस्त्रियाँ हैं, हमें प्रसन्न करनेसे क्या फल प्राप्त होगा? मधुवंशमें अनेकानेक अगिणत स्त्रियाँ हैं। वे उनके द्वारा उपभुक्त होनेपर उनमेंसे एकको प्रसन्न करनेपर दूसरी स्त्रियोंको मान उत्पन्न होगा। इस प्रकार निरन्तर अनेक माननियोंको प्रसन्न करते-करते उनका समय अतिवाहित होगा। हमलोगोंके निकट आनेके लिए उनके पास अवकाश ही नहीं होगा। अरे भ्रमर! यदि इस प्रकारसे तुम कहते हो कि वे सर्वसौभाग्यकी निधि हैं उनके लिए ऐसी बात मत कहिए। यदि आपके प्रति उनके हृदयमें प्रेम नहीं होता और वे आपके प्रति मुग्ध न होते तो मुझे दूत बनाकर इतनी दूर आपलोगोंके पास क्यों भेजते? अहो! तुम यदि ऐसा कह रहे हो तो, हे भृङ्ग! इसका वृत्तान्त सुनो। जिनका दूत इस प्रकार अर्थात् क्षत्रिय स्त्रियोंके सुरतचिह्नको धारण करने वाला है? उनका यदुसभामें विड़म्बन अर्थात् उनके द्वारा यदुस्त्रियोंका धर्मलोप स्पष्ट होनेपर तत्तत् पतियोंके द्वारा उनकी विड़म्बना होनेकी संभावना है। अथवा यादव नारियोंके उपभोग करनेसे यदुओंमें सर्वत्र उनकी निन्दा ही होगी। श्लेषार्थमें जिनका दूत इस प्रकार है, वैसे ही वे मधुपति हैं और इसलिए मतवाले

तुम जैसे भ्रमरको दूत बनाया है। इस उदाहरणमें 'कितव' पदके द्वारा असूया, 'सपत्नी' शब्दके द्वारा ईर्ष्या, 'चरण स्पर्श न करो' इसके प्रयोगसे मद, 'क्षत्रियस्त्रियोंका प्रसाद वहन करें' इसके द्वारा अवज्ञा, 'यदुसभामें उनकी विड़म्बना' इसके द्वारा अकौशलका उद्गार हुआ है॥२००॥

लोचनरोचनी—"मधुप कितवबन्धो" इत्यादिका दशश्लोकाः श्रीवैष्णवतोषण्यामेव रसनीयाः। विस्तरभिया तु नात्र व्याख्यायन्ते। कारिकासंगमनार्थं किंचित्तु व्यज्यते। तत्र 'मधुप' इति। अत्र 'कितवबन्धो' इत्यसूया व्यक्ता। 'सपत्न्याः' इत्यादिना अकौशलम् "मास्पृशाङ्घ्रि"मितीर्ष्यावधीरणं मदश्च वहत्वित्यादिना च॥२००॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वकान्त प्रियसुहृदं मथुरात आगतं तत्संदेशहरं स्वसंनिधिमुपेत्य नत्वोपविष्टमुद्धवमालोकयन्त्यप्यनालोकयन्ती तदैव स्वचरणकमलसौरभलोभेन भ्रमन्तं कमपि भ्रमरं वीक्ष्य सापराधेन मत्कान्तेन मामनुनेतुं दूतोऽयं प्रेरितो मच्चरणौ प्रणमतीति बुद्ध्या दिव्योन्मादेन तमवधीरयन्ती समुद्धतमनाः श्रीवृषभानुनन्दिनी प्रजल्पति—मधुपेति। हे मधुप! भ्रमर, कितवस्य धूर्तस्य "एवं मदर्थोज्झितलोकवेदे"त्यादिना, "न पारयेऽहमि"त्यादिना, "आयास्य इति दौत्यकैरि"त्यादिना, मिथ्यावचनवृन्देन वञ्चकस्य कृष्णस्य बन्धो बन्धुतारूपदूत्यकारिन्, अङ्घ्रिं मा स्पृश। ननु किमिति नमस्कर्तुं न ददासीति तत्राह—हे मधुम! मद्यप, "मधु मद्ये पुष्परसे" इत्यनेकार्थवर्गात् मद्यपस्पर्शे चरणस्यापावित्र्यं स्यादतो नमश्चिकीर्षा चेद्दूरमपसृत्य प्रणमेति भावः। नन्वदृष्टेऽपि मयि मिथ्या मद्यपत्वपरिवादं किमर्पयसीति तत्र नायं परिवादः किन्तु यथार्थमेव वच्मीत्याह—मम सपत्न्याः कुचयोः श्रीकृष्णवक्षःसंघर्षणेन विलुलिता विमर्दिता या माला, किम्वा कुचाभ्यामेव विलुलिता या श्रीकृष्णवनमाला तत्संबन्धिकुङ्कुमयुक्तैः श्मश्रुभि र्मा स्पृशेति भ्रमरस्य स्वाभाविकश्मश्रुपीतिम्न एव तथारोपः। तेन च मानिनीं मामनुनेतुं त्वमिहायातोऽसि अथ च तथाभूत कुङ्कुमश्मश्रुमप्रक्षाल्यैवेति विवेकाभाव एव मद्यपानलक्षणम्। एतद्दर्शनेन मानो वर्धत एव नतु निवर्तते इति बुद्ध्यस्वेति भावः।

ननु यथा तथास्तु त्वं तावत् प्रसीदेति तत्राह—मधुप मद्यपालक, तत्र गत्वा निजप्रभोः पेयं मद्यमेव पालय पिब च तत्कर्मैव त्वं कर्तुं शक्नोषि न तु दूत्यं कर्म निर्बुद्धित्वादिति भावः। नन्वेवं चेदलं मया संप्रत्यहं पुनर्मथुरामेव यामि स गोपेन्द्रनन्दनः स्वयमेत्य त्वां प्रसादयत्वित्यत आह—वहत्वित्यादि। मधूनां यादवविशेषाणां पतिः संप्रति सोऽभूत् व्रजेश्वरीगर्भजातत्वेन गोपजातिरपि भाग्यवशात् क्षत्रियजातिरभूत् अतस्तन्मानिनीनां क्षत्रियस्त्रीणां प्रसादं वहतु प्राप्नोतु ता एव सदा प्रसादयतु किमस्माभिर्निकृष्टाभिर्गोपस्त्रीभिरिति भावः। अत्र बहुवचनेन वहधातुप्रयोगेण

च मधुस्त्रीणामानन्त्यात्सर्वासामेव तद्भुक्तत्वात्, एकस्यां प्रसादितायामन्यस्या मानोत्पत्तेः, तस्यामपि प्रसादितायामन्यस्या इत्येवं तासां प्रवाहरूपेण प्रसादं प्राप्नोत्वित्यस्मत्संनिधावागमने तस्यावसर एव नास्तीति भावः।

ननु तदीयसर्वसौभाग्यनिधे देवि, मैवं वादीः। यदि त्वयि तस्य मनो नास्ति तर्हि कथमहं तेन दूतः प्रस्थापितस्तत्राह—यस्य दूतस्त्वमीदृक् क्षत्रियस्त्रीजनसुरतचिन्हधारी तस्य यदुसदसि विडम्ब्यं विडम्बनमेव यदुस्त्रीणां तत्कृतस्य धर्मलोपस्य व्यक्तीभावेन कुपितस्तत्तत्पतिभिस्तस्य विडम्बनमेव भविष्यत इति भावः। यद्वा यदुसदसि अधिकरणे एव विडम्बनं भावि गोपेन तन्नारीणां भुक्तत्वात्, यदूनां निन्दैव सर्वदेशे भविष्यतीत्यर्थः। श्लेषेण यस्य दूतस्त्वमीदृक् स च मधुपतिर्मधूनां मद्यानां पतिरिति मद्यप एव। यतो मद्यस्य विक्षेपेणैव त्वादृशो भ्रमरो दूतः कृत इति। अत्र कितवेत्यसूया, सपत्न्या इत्यादिना ईर्ष्या, अङ्घ्रिं मा स्पृश इति मदः, वहत्वित्यादिना अवधीरणम्, यदुसदसीत्यादिना अकौशलोद्गार इति विवेचनीयम्॥२००॥

अथ परिजल्पितम्—

> **प्रभोर्निर्दयताशाठ्यचापलाद्युपपादनात् ।**
> **स्वविचक्षणताव्यक्तिर्भङ्ग्या स्यात्परिजल्पितम्॥२०१॥**

तात्पर्यानुवाद—परिजल्प—श्रीकृष्णकी निर्दयता, शठता और चापल्य इत्यादि दोषोंका प्रतिपादनकर जिससे अपनी विचक्षणता अर्थात् बुद्धिमत्ता प्रकाशित हो, उसको परिजल्प कहते हैं॥२०१॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१३)—

> **सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा,**
> **सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।**
> **परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा,**
> **अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥२०२॥**

तात्पर्यानुवाद—यथा, हे भ्रमर! यदि तुम यह कह रहे हो कि मैं भ्रमर हूँ और स्वाभाविक रूपसे हमारी मूँछें पीली हैं। यह सुरतसम्बन्धी कुंमकुंम नहीं है। मैं निश्चितपूर्वक यह कह रहा हूँ कि श्रीकृष्ण एकान्त रूपमें तुममें ही अनुरक्त हैं। स्वप्नमें भी मधुपुरीकी किसी स्त्रीके प्रति देखते तक नहीं हैं। उनका क्या अपराध है कि तुम उनके प्रति दोषारोपकर ऐसा गम्भीर मान कर रही हो। भ्रमर ऐसा कह रहा है, ऐसा समझकर

श्रीराधिकाने कहा—अहो! उन्होंने एकबार मात्र अपनी अधरसुधाका पान कराया था और उससे मुझे ऐसा दारुण सन्ताप होनेपर भी मैं अपने प्राणोंका परित्याग नहीं कर पाई। उस निष्ठुरने पहले भी ऐसा ही विचार किया था कि मैं गोपियोंको कष्ट दे रहा हूँ। यदि इसके द्वारा उनकी मृत्यु हो गई तो फिर मैं किसको कष्ट दूँगा। इनका मरण न हो इसलिए इनको अपनी अधरसुधाका पान कराना आवश्यक है। अतएव एकबार मात्र पान कराकर और फिर हमें सदाके लिए परित्याग कर दिया। यदि हमें सुख प्रदान करना ही उनका उद्देश्य होता तो वे हमें बारम्बार अधरसुधाका पान कराते, किन्तु फिर उन्होंने कभी पान नहीं कराया। दूसरी बात यह है कि यदि तुम ऐसा समझते हो कि तुम गोपियाँ परम सती–साध्वी हो, किन्तु फिर भी तुम उनकी क्यों स्पृहा कर रही हो? अतएव सुनो, हम कह रही हैं—उनकी अधरसुधा मोहिनीस्वरूप है। उसके द्वारा हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। इसलिए हम दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो गईं हैं। तीसरी बात श्रीकृष्णकी प्रीति और अप्रीति दोनों ही विचित्र हैं। उसका दृष्टान्त यह है कि वे अधरसुधा पान कराकर ठीक उसी प्रकारसे हमें सदाके लिए परित्याग कर देते हैं, जिस प्रकार तुम भ्रमर मालतीपुष्पका भोगकर, उसका मधु ग्रहणकर उस मधुर मालतीपुष्पको परित्याग कर देते हो, उसी प्रकार उन्होंने हमारा परित्याग कर दिया है और यदि यह कहो कि तुमलोगोंने ऐसा कोई दोष किया होगा, जिससे प्रभुने तुमलोगोंको परित्याग कर दिया है। अहो! सुनो, तुम स्वयं ही विचार करो। देखो, भ्रमर! जो तुम मालती पुष्पका परित्याग करते हो उसमें किसका दोष है? मालती पुष्पका दोष है या तुम भ्रमरका? यदि यह कहो कि सर्व–शास्त्रोंमें श्रीकृष्णका निर्दोषत्व सुप्रसिद्ध है इसलिए शास्त्रज्ञ गर्गाचार्यने श्रीकृष्णको नारायणके समान गुणशाली बतलाया है। अहो! भ्रमर प्रत्यक्षसे अनुमान प्रबल प्रमाण नहीं है। उनमें परवञ्चनादि सब दोष प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। तुम किस प्रकारसे उन प्रत्यक्ष दृष्ट दोषोंको छिपा सकोगे? ऐसा सुनकर भ्रमर यदि विस्मय प्रकाशपूर्वक इस प्रकारसे कह रहा हो कि यदि श्रीकृष्ण दोषी हैं तब उनके चरणकमलोंको लक्ष्मी सदा–सर्वदा परिचर्या क्यों करती है? तो इसका कारण सुनो। उत्तमश्लोक जल्पों

अर्थात् श्रीकृष्णकी स्तुति करनेवाले स्तावकोंकी स्तुतिसे इन लक्ष्मीजीका चित्त भी विचलित हो गया है। कमला अत्यन्त कोमल-स्वभावकी सरल सीधी स्त्री हैं, हम वैसी नहीं हैं। हम तो अत्यन्त बुद्धिमती हैं। अतएव कमलाके समान सीधी सरल कैसे हो सकती हैं? हम उनको बहुत दिनोंसे जानती हैं। इस उदाहरणमें "मोहजनिका अधरसुधाका पान कराकर" इस उक्तिके हेतु श्रीकृष्णकी शठता, "सद्यस्त्याग" हेतु निर्दयता, तुम्हारी भाँति उनमें चञ्चलता, कमलाकी सरलता प्रकाश हेतु अपनी बुद्धिमत्ता सूचित होती है। इस सूत्रमें जो 'आदि' शब्दका प्रयोग है उससे श्रीकृष्णमें अकृतज्ञता और प्रेमशून्यत्वको समझना होगा॥२०२॥

लोचनरोचनी—सकृदिति। अत्र प्रथमे चरणे शाठ्यं द्वितीये चापलं निर्दयता च। परिचरतीत्यादिना पद्माया अविचक्षणतोक्तिः भङ्ग्या सविचक्षणतोक्तिः पद्मा चेयमुत्प्रेक्षत एव, स यदात्रासीत्तदात्रैव महासंपत्तिरूपतयासीत् संप्रति तु तत्रैवेति ताभिर्हेतुत्वेन विचारितम्। अथ चतुर्थे स्वाविचक्षणतोक्तिरेव विवृत्य कथिता कारणाभासे कारणत्वं तयाभिमतमिति सोपहासत्वात्। यतः सोऽयमुत्तमःश्लोक इति ये जल्पाः स्तावकानां स्तुतिमात्राणि तैस्तन्मात्रैरेव हृतं चेतो यस्या सा॥२०२॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु भ्रमरजातेर्ममायं स्वाभाविक एव श्मश्रुपीतिमा नतु सुरतकुङ्कुममिदं तस्य च त्वदेकतानमानसस्य मधुपुर्यां कामपि स्त्रियं स्वप्नेऽप्यपश्यतः कोऽपराधो यतस्त्वमीदृशं मानमाविष्करोषीति तत्राह—सकृदिति। पायनस्यासकृत्वेऽपि सकृदित्युक्तिरनुरागेण, तत्रापि तृष्णां व्यञ्जयति—अधर एव सुधा तामिति। तेनैतावद्भिरपि संतापैर्वयं न म्रियामह इति भावः। एता मद्दत्तैः कष्टैर्यदि मरिष्यन्ति तदाहं काभ्यः कष्टं दास्यामि, तदासां मरणाभावाय स्वामधरसुधां पाययामीति स पुरा विचारयामासेति भावः। अतः सकृदेव पाययित्वा सद्यस्तत्क्षण एवास्मांस्तत्याज। अस्मत्सुखदानतात्पर्ये सति सुधापायनस्यासकृत्त्वं स्यादिति त्वमेव विचारयेति भावः। तत्रापि पाययित्वेति णिचा तस्य बलात्कारो दर्शितः। नन्वेवं चेत् साध्व्यो भवत्यः कथं तस्मै पुनः स्पृहयन्ति तत्राह—मोहिनीं बुद्धिभ्रंशिनीम्। अतस्तेनास्मदादयो लोकद्वयत एव भ्रंशिता इति "विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसांप्रतम्" इति न्यायोऽपि श्रीकृष्णेन न गणित इति भावः। किञ्च तस्य प्रीत्यप्रीतत्वे एवातिविचित्रे इत्याह—सुमनसो देवश्रेणीर्विष्णुरिव श्रीकृष्णोऽस्मान् सुधां पाययित्वा सुमनसो मालतीर्भवादृक् भ्रमर इवास्मांस्तत्याजेति पायनत्यागयोः कर्मणि च कर्तरि च पृथक् पृथक् दृष्टान्तः। देवपक्षे, हे अधर! निकृष्टेति संबोधनम्। "सुपर्वाणः सुमनसः" इत्यमरः। ननु तस्य युष्मत्कर्मकत्यागे युष्माकमेव कोऽपि दोषः कारणमस्ति तस्य

वेत्यत्राह—सुमनस इवास्मान् स भवादृक् तत्याज। भ्रमरो यन्मालतीस्त्यजति तत्र दोषः कस्येति त्वयैव विचार्यतामिति भावः। "सुमना मालती जातिः" इत्यमरः। सौरभ्यसौकुमार्यपावित्र्यसर्वोत्कर्षादिभिः सुमनसः साधर्म्यात् शोभनमनस्कत्वाच्च वयं सुमनस इति व्रजे प्रसिद्धा एव, स च मधुसूदन इति व्रजे प्रसिद्ध एवेति नेदं कवितामात्रमिति ध्वनिः। ततश्च चाञ्चल्यदोषादेव मालतीर्बह्वीरपि त्यक्त्वा निकृष्टेष्वपि पुष्पेषु विसज्जत्यविसज्जति वा भ्रमरे इव श्रीकृष्णे कथं वयं मानिन्यो न भवाम इत्यनुध्वनिः। ननु श्रीकृष्णस्य निर्दोषत्वं शास्त्रप्रसिद्धमेव शास्त्रज्ञेन गर्गेण "नारायणसमो गुणैः" इत्युक्तत्वात्। तत्र भवतु स नारायणस्तथापि परवञ्चनादिदोषाणां तत्र प्रत्यक्षत एव दृष्टत्वात्ते कथमपलपनीया भवन्त्विति विमृश्य सविचिकित्सामाह—परिचरतीति। पद्मा लक्ष्मीः। लक्ष्मीपरिचर्यायामपि हेतुं स्वयमेवोद्भावयन्त्याह—अपि बतेति। उत्तमश्लोक इति ये जल्पाः स्तावकलोकानां स्तुतिमात्राणि तैर्हृतं चेतो यस्याः सा। तेन लक्ष्मीरतिऋज्वी वयं तु वैचक्षण्यवैदग्ध्यबुद्धिवैचित्र्यादिगुणानां विधात्रा दत्तत्वात् कथं तादृशी भवितुं प्रभवामेति भावः। अत्र पाययित्वेति मोहिनीमिति च तस्य शाठ्यं, सद्यस्त्यागान्निर्दयत्वम्, भवादृगिति चापलम्, लक्ष्म्या आर्जवव्यञ्जनया स्वविचक्षणत्वम्, आदिशब्दादकृतज्ञत्व-प्रेमशून्यत्वादिकं तु सर्वत्रैवानुस्यूतम्॥२०२॥

अथ विजल्पः—

व्यक्तयासूयया गूढमानमुद्रान्तरालया।
अघद्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मतः॥२०३॥

तात्पर्यानुवाद—विजल्प—श्रीकृष्णके प्रति गूढ़ रूपसे मानभङ्गीविशिष्ट और सुस्पष्ट असूयायुक्त कटाक्षोक्तिको पण्डितगण विजल्प कहते हैं॥२०३॥

आनन्दचन्द्रिका—गूढा मानमुद्रा अन्तराले मध्ये यस्यास्तया॥२०३॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१४)—

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः,
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥२०४॥

तात्पर्यानुवाद—भ्रमर जातिके स्वभावसे मधुकर सामने झँकार कर रहा था। मानसे भरी हुई श्रीमती राधिकाने समझा कि मैंने जो इसका

तिरस्कार किया है, उससे मानिनी व्रजाङ्गनाओंकी प्रसन्नताके लिए श्रीकृष्णका यह दूत अनेक रूपोंसे गुणगान कर रहा है। इस अभिप्रायसे उन्होंने कहा—"हे षट्पद! गोपियोंकी इस सभामें तुम क्या गान कर रहे हो? तुम मूर्ख हो। तुम्हारे इस प्रकारके गानसे गोपियाँ कभी भी प्रसन्न नहीं हो सकतीं। फिर भी तुम बारम्बार गान कर रहे हो? उसमें भी तुम यदुपतिके गुणोंका बखान कर रहे हो, वह भी हमलोगोंके सामने। जिस श्रीकृष्णने हमें पथका भिखारी बना दिया है, आज हम घरद्वारको छोड़कर वन-वनमें भटक रही हैं, तुम्हारे इस गानको सुनकर तुम्हें मुट्ठीभर चना देनेमें भी समर्थ नहीं हैं। हे भ्रमर! क्या तुम जानते हो कि यह सब कुछ तुम्हारे प्रभुने ही किया है? अपना सब कुछ छोड़कर हमने अपनेको उनके चरणोंमें समर्पण कर दिया था और आज उन्होंने हमें रास्तेका भिखारी बना दिया है। हे भ्रमर! तुम यदि यह कहो कि हे देवि! मैं और कुछ नहीं चाहता, अपने अङ्गोंसे उतरे हुए पुरातन वस्त्र अथवा माल्य इत्यादि कुछ भी प्रदान करो। इसके उत्तरमें कह रही हैं, फिर वही पुराने ही गानको आलाप रहे हो? अर्थात् उनके यदुपतित्वके लिए पुराण शास्त्रका प्रमाण दे रहे हो? हे षट्पद! पशुमात्र ही चार पदके होते हैं। बुद्धिमान पुरुष दो पदके, किन्तु तुम षट्पद अर्थात् सार्द्ध पशु हो। किस जगह कैसा गान करना उचित है तुम नहीं समझते? तुम पुराणोंको कैसे जान सकोगे और कैसे दूसरोंको प्रसन्नकर उनसे भिक्षा ले सकते हो? हे भ्रमर! तुम पशुसे भी कुछ अधिक हो। इसलिए मैं तुम्हारे प्रति क्रोध नहीं कर रही हूँ। परन्तु गानके द्वारा अपने जीवनका निर्वाह करनेवाले तुम्हारे गानके स्थानका उपदेश कर रही हूँ। कामयुद्धमें जिनके द्वारा वे पराजित हो रहे हैं, उनकी उन्हीं सब सखियोंके आगे जाकर अर्थात् यादवोंकी पत्नियोंके आगे गान करो। श्रीकृष्ण उनके कुचरोगको दूर कर रहे हैं। अवश्य ही वे प्रसन्न होकर तुम्हारे अभीष्टको पूर्ण करेंगी।" इस उदाहरणमें श्लोकके पूर्वार्द्धमें मान, गर्व, असूया और उतरार्द्धमें श्रीकृष्णके प्रति उपहासात्मक कटाक्षकी अभिव्यक्ति हुई है। उनका प्रेम दिखावटी है, भीतरसे वे धूर्त और कपटी हैं। कार्यके द्वारा ही तो कारणका अनुमान किया जाता है। उनका व्रजत्याग ही तो प्रमाण कर रहा है

कि वे कितने व्रजप्रिय हैं? तुम गानके द्वारा जीवनका निर्वाह करते हो, इसलिए तुम्हें समुचित स्थान बतला रही हूँ। वहीं जानेसे तुम्हारे अभीष्टकी पूर्ति होगी। तुम मथुरावासिनी नागरियोंके सन्मुख श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन करो अथवा मथुरावासिनी नागरियोंके सहित उनकी सम्भोगपर लीलाओंका गान करो तब, वे रमणियाँ प्रसन्न होकर तुम्हारे अभीष्टको पूर्ण करेंगी; क्योंकि वे इस समय कामपीड़ाके हाथोंसे श्रीकृष्णके द्वारा उद्धार पा रही हैं। पीड़ा शान्त होनेपर सभी लोग बन्दियोंको यथेष्ट दान किया करते हैं।" इसमें कटाक्षपूर्ण उपहास हैं। 'विजयसखसखी' और 'यदुपति' इन दोनों पदोंमें गूढ़मान आच्छादित है॥२०४॥

लोचनरोचनी—किमिहेति। अत्र पूर्वार्द्धेऽसूया। असूया चेयं मानव्यञ्जनी। उत्तरार्द्धे उपहासात्मकः कटाक्षः। विजयते याभिः सह कामयुद्धे विजयं प्राप्नोति, यस्तव सखा तस्य सखीनां तासामेवाग्रे तत्प्रसङ्गो गीयताम्। तेन च विजयेन ताः प्रत्युत क्षपितकुचरुग्मानिन्यस्तद्भावेनेष्टाः पूजितंमन्याः सत्यस्ते तवेष्टं कल्पयन्ति, संप्रत्येव कल्पयिष्यन्ति, वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा॥२०४॥

आनन्दचन्द्रिका—भ्रमरजातिस्वभावेन हुंकारान् कुर्वन्तं तं मत्कृतेन तिरस्कारेणाप्तसंरम्भोऽयं स्वीयं गानगुणं प्रकाशयतीति मत्वाह—किमिति। इह गोपीसभासु किं गायसि अज्ञस्य तव गानेन नैताः प्रसीदन्तीति भावः। तदपि बहु पुनः पुनर्गायसि तत्रापि यदुपतिं यदूनां पतित्वेन ख्याप्यमानं तत्रापि नोऽस्माकमग्रतः। कीदृशीनाम्? अगृहाणां तेनैव त्याजितगृहाणामिह वनप्रदेश उपविष्टानां तुभ्यं चणकमुष्टिभिक्षादानेऽप्यसमर्थानाम्। ननु स्वाङ्गोत्तीर्णपुरातनवस्त्रमाल्यादिकं किंचिद्देहीति तत्राह—पुराणं गायसि, तस्य यदुपतित्वे पुराणं प्रमाणयसि। हे षड़ङ्घ्रे! इति पशुस्तावत् चतुष्पात् त्वं तु षट्पदः सार्द्धपशुः कुत्र किं वा गातुमुचितमिति बुद्ध्यभावान्न जानासि पशुत्वात् पुराणं वा कथं जानासि अतः कथं भिक्षां प्राप्स्यतीति भावः। किञ्च तव पशुत्वात्तुभ्यं वयं न कुप्यामः परन्तु गानोपजीविनस्तव स्थानमुपदिशामः शृण्वित्याह—विजयेति। कामयुद्धे विशिष्टो जयो यस्य विगतो जयो वा यस्य स चासौ सखा चेति विजयसखस्तस्य सखीनां तव सखा कामयुद्धे या जयति याभिर्वा विजीयते। तासामेवाग्रतस्तत्प्रसङ्गः सुरतजयपराजयप्रसङ्गो गीयताम्। यद्वा श्लेषेण पूर्व स सुबलसख आसीत् संप्रति विजयोऽर्जुनस्तस्य सखाभवदिति भाविवार्तापि तस्या मुखात् स्वयं निःसृतेति ज्ञेयम्। ततश्च ताः क्षपितकुचरुजः खण्डितकुचज्वालास्तवेष्टं वाञ्छितं कल्पयिष्यन्ति। त्वया च तद्गानश्रावणया इष्टाः पूजिताः सत्यः। अत्र पूर्वार्द्धेऽसूया मानगर्भा, उत्तरार्द्धे तूपहासात्मकः कटाक्षः श्रीकृष्णे पर्याप्नोति॥२०४॥

अथोज्जल्पः—

हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्ष्यया।
सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्जल्प ईर्यते॥२०५॥

तात्पर्यानुवाद—उज्जल्प—जिसमें गर्वयुक्त ईर्ष्याके साथ हरिकी धूर्तता और कपटताका कथन होता है एवं असूयाके साथ श्रीकृष्णके प्रति आक्षेप रहता है, उसे पण्डितलोग उज्जल्प कहते हैं॥२०५॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१५)—

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः,
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का,
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥२०६॥

तात्पर्यानुवाद—भ्रमर यदि गुनगुनाकर यह कहता है—"हे मातः! हे कृष्णप्रेयसीशिरोमणे! श्रीकृष्ण मथुरामें अवस्थित रहकर दिन रात तुम्हारा ध्यान करते-करते कामज्वरसे बिद्ध होकर बड़े दुःखी हो रहे हैं। यदि तुम प्रसन्न होओ, तभी उनका निस्तार है।" ऐसी आशङ्काकर किशोरीजी कहती हैं—हे मधुकर! हम इसे अच्छी तरहसे जानती हैं कि स्त्रियोंके बिना श्रीकृष्णका एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता। वहाँ मथुरामें यदि कोई स्त्री नहीं मिलती तो वे अवश्य ही हमारा ध्यान करते या हमें प्रसन्न करानेकी चेष्टा करते अथवा वहाँ ले जानेके लिए तुम्हारे जैसे सुयोग्य दूतको प्रेरण करते और यदि कहो कि श्रीकृष्ण गोपजातिके हैं और मथुरावासी स्त्रियाँ क्षत्रियजातिकी हैं। वे क्षत्रियजातिकी स्त्रियाँ गोपजातिके श्रीकृष्णको क्यों अङ्गीकार करेंगी? ऐसी बात मत कहना। स्वर्ग, मर्त्य और पातालमें ऐसी कौन-सी स्त्री है जो उनके लिए दुर्लभ है? अर्थात् यदि वे स्वर्गमें गमन करते हैं, तो वहाँ भी देवाङ्गनाएँ उनके निकट उपस्थित हो जाती हैं। रसातलमें गमन करनेपर नागपत्नियाँ अपने-अपने पतियोंको छोड़कर उनके प्रति आकृष्ट होकर उनके समीप पहुँच जाती हैं। फिर मथुराकी अङ्गनाओंकी बात ही क्या है? और यदि तुम यह कहो कि इन अङ्गनाओंको लाभ करनेके लिए अनेक

मूल्यकी आवश्यकता होगी। ऐसा मत कहो, उन छलियाके मनोहर कपटहास्य और भ्रू–भङ्गीरूप मूल्यके द्वारा देवाङ्गनाएँ भी अपनेको उनके हाथोंमें बेचकर अपने–अपने पतियोंका परित्याग कर देती हैं। श्रीकृष्णकी कपटता और धूर्तता यह है कि वे नित्य नवीन रमणियोंका उपभोग करना चाहते हैं। एकबार मात्र उन्हें उपभोगकर पुनः उनका परित्याग कर देते हैं। दूसरी बात हमने पौर्णमासीजीके मुखसे सुना है कि देवाङ्गनाओंकी बात तो दूर रहे, साक्षात् नारायणकी प्रेयसी लक्ष्मीदेवी भी उनके सङ्गके लिए उनकी चरणरजकी उपासना करती है। अतः हे भ्रमर! तब हमलोग ही कहाँ–की कौन हैं? एक तो हम मानुषी हैं, उसमें भी निम्न गोपजातिकी हैं और उसमें भी वनचरी हैं। अतः उनके सामने हमारी गणना ही क्या है? और उत्तमश्लोक शब्दसे कृपणजनोंको पक्षान्तरमें, जो समस्त दीनहीनजनोंको सुखी करते हैं, उन्हें उत्तमश्लोक कहते हैं। वञ्चक श्रीकृष्णमें इस विषयका अभाव होनेके कारण उनकी उत्तमश्लोकता मिथ्या है। यदि हम जैसी दुःखियोंको वे सुख प्रदान नहीं करते, तो उन्हें कैसे उत्तमश्लोक कहा जा सकता है? उक्त पद्यमें हमलोग कहाँकी कौन हैं? इससे दैन्य प्रकाशित हुआ है, 'का' शब्दके द्वारा कातर होनेके कारण गर्वके भीतर ईर्ष्या प्रकाशित हो रही है। लक्ष्मी इत्यादिसे भी प्रेमाधिक्य एवं रूपलावण्यमें अधिक प्रकाश, उत्तमश्लोक शब्दसे आक्षेप। पूर्वार्द्धमें 'दिविभुवि' पदसे कपटता, तृतीय चरणमें 'चरणरज उपासते' इससे गर्व और ईर्ष्या सूचित होती है। चतुर्थ चरणमें असूयाके साथ आक्षेपकी ध्वनि सूचित होती है॥२०६॥

लोचनरोचनी—दिवीति। अत्र पूर्वार्द्धे कुहकता सासूयाक्षेपश्च। "चरणरज उपास्ते" इत्यर्धे स्वविशेषणगर्वगर्भितत्वम्। अपि चेत्यथवेत्यर्थे। तस्योत्तमश्लोकत्वेन यो जल्पः स खलु अस्मद्विधकृपणपक्ष एवेत्यपि पूर्ववद्गर्वगर्भितत्वमेवेति॥२०६॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु भोः श्रीकृष्णप्रेयसीशिरोमणे! तत्र स्थितः स रात्रिंदिवमेव त्वां ध्यायन् कामशरार्दितः खिद्यति त्वं चेत् प्रसीदसि तदैव तस्य निस्तार इत्यत्र सासूयमाह—दिवीत्यादि। अयमर्थः श्रीकृष्णस्य स्त्रीभिर्विना कालो न यातीत्यहं सुष्ठु जानामि तत्र यदि मथुरायां स्त्रियो न मिलन्ति तदा सोऽस्मान् ध्यायतु प्रसादयतु तत्र नेतुं त्वादृशदूतं च प्रस्थापयतु। न च गोपजातिं तं पुरस्त्रियः क्षत्रियजातयः

कथमङ्गीकरिष्यन्तीति वाच्यम्। यतो दिवि भुवीति। तदित्यव्ययम्। तस्य का दुरापाः यदि स स्वर्गे गच्छति तदा देव्योऽपि रसायां रसातलादिषु नागपत्न्योऽपि स्वस्वपतींस्त्यक्त्वा तमायान्ति मथुराङ्गनानां का वार्तेति भावः। न च तत्तदङ्गनाप्राप्तौ तस्य किंचित् पणादिकमपेक्षितव्यमित्याह—कपटेनापि रुचिरौ सर्वासां मनोहरौ भ्रूविजृम्भहासौ यस्य तथाभूतस्यैव तस्य या देव्यादयः स्युर्न तु स्वस्वपतीनामित्यर्थः। सकपटहासमूल्येनैव ताः स्वयमेव क्रीता भूत्वा स्वस्वपतींस्त्यजन्ति। कपटपदेन श्रीकृष्णस्तु सकृदेव भुक्तास्तास्त्यजति नवप्रियत्वादिति भावः। देव्यादयो दूरे वर्तन्तां भूतिर्लक्ष्मीः श्रीनारायणस्यापि स्त्री चरणरज उपास्ते। तदङ्गसङ्गार्थमिति नागपत्नीवाक्यं वयं पौर्णमासीमुखादश्रौष्म अतो वयं काः कस्यां गणनायां तिष्ठामो यतो मानुष्यस्तत्रापि गोप्यस्तत्रापि वृन्दावनीया इति भावः। इदं दैन्यमयवाक्यमपि समस्तकोद्धूननस्वरविशेषेण गर्वगर्भितामीर्ष्यामेव व्यनक्ति। सा चेर्ष्या स्वेषां लक्ष्म्यादितोऽपि प्रेमाधिक्यं रूपलावण्याधिक्यं चानुव्यनक्ति। अपि च किञ्च उत्तमश्लोकशब्दो हि कृपणपक्ष एव। संतप्तदीनहीनजनान् यो दयते सह्युत्तमश्लोक उच्यते, श्रीकृष्णे तु तल्लक्षणाभावात् मिथ्यैवोत्तमश्लोकतेत्यर्थः। यद्यप्यस्मद्विधान् कृपणजनान् स नादुःखयिष्यत् तदा स्वस्मिन् कथमुत्तमश्लोकशब्दवाच्यत्वमधास्यदिति वाक्षेपध्वनिः। अत्र पूर्वार्द्धे दिवि भुवीत्यादिना कुहकताख्यानाम्। चरणरज इति तृतीयचरणे गर्वगर्भितेर्ष्या। अपि चेति चतुर्थपादे सासूय आक्षेपः॥२०६॥

अथ संजल्पः—

सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया।
तस्याकृतज्ञताद्युक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः॥२०७॥

तात्पर्यानुवाद—संजल्प—किसी अनिर्वाच्य दुस्तर्क्य सोलुण्ठ आक्षेपभङ्गीसे श्रीकृष्णकी अकृज्ञता, निष्ठुरता और शठता प्रभृतिकी उक्तिको संजल्प कहते हैं॥२०७॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१६)—

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै–
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका,
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन्॥२०८॥

तात्पर्यानुवाद—सौरभके लोभसे अथवा कमलबुद्धिसे अपने चरणोंमें प्रवेश करनेके लिए उत्सुक भ्रमरको देखकर मानवती राधिकाने समझा

कि यह मुझ मानिनीसे श्रीकृष्णके अपराधोंके लिए क्षमा प्रार्थना हेतु पुनः-पुनः मेरे चरणोंमें गिर रहा है। अथवा, सौरभके लोभसे अपने चरणोंमें पतित भ्रमरको झँकार करते देखकर उन्होंने समझा कि यह कह रहा है—"हे देवि! तुम्हारे चरणनखकी द्युति कोटि-कोटि लक्ष्मियोंकी शोभाको भी तिरस्कृत करती है। सचमुच ही श्रीकृष्ण तुम्हारे निकट अपराधी हैं। आप कृपाकर उन्हें क्षमा कर दें।" यह कहकर प्रणाम करनेवाले भ्रमरको कह रही हैं—"हे भ्रमर! तुम मेरे चरणोंमें बारम्बार नतमस्तक हो रहे हो, दूर हटो। सावधान! जो तुमने हमारा चरण स्पर्श किया। हम सब चाटुकारोंकी चापलूसी जानती हैं। तुम्हारा स्वामी अनुनय-विनय करनेमें पण्डित है। उसीसे तू यह चाटुकारिता सीखकर आया है। तुम्हारे हृदयकी अभिलाषा हमने सब समझ ली है। यदि कहो कि मुकुन्दका अपराध ही क्या है? तो ऐसी बात न कहना। उस भले आदमीको इतना भी ध्यान नहीं रहा कि अब हम उनके चक्करमें आनेवाली नहीं, एक ही बार धोखा खा गयीं। पति, पुत्रादि, यह लोक और धर्मसाध्य परलोक सब कुछ छोड़कर उसके चरणोंका आश्रय ग्रहण किया था। परन्तु वह कृतघ्नकी भाँति सब भूलकर हमें छोड़कर चला गया; फिर उसके साथ क्या सन्धि करें?" इस उदाहरणके पूर्वार्द्धमें सोलुण्ठ आक्षेप एवं भङ्गी और उतरार्द्धमें अकृतज्ञतादि शब्दोंके कारण निष्ठुरता, कृतघ्नता और प्रेमशून्यताकी अभिव्यक्ति हुई है। तुमने मुकुन्दसे बहुत कुछ सीखा है। तुम्हारी सविनय प्रार्थना भङ्गीको देखकर ही हम समझ रही हैं। तुम ऐसी बात नहीं कह सकते कि प्रियतमके साथ विवाद करना अयौक्तिक है, और एकबार ही तो उन्होंने अपराध किया है, उन्हें क्षमा कर दो। मेरे माध्यमसे सन्धि करना ही उपयुक्त है; नहीं, नहीं; हमने उनके लिए भाई और भगिनी पुत्र और अपने-अपने पतियोंको, एकबारमें यह लोक, परलोक सभी कुछ उनके लिए परित्याग किया और वे इतने अकृतज्ञ निकले कि उनके सुखके लिए आई हुई हम अनाथ रमणियोंको अनायास ही परित्याग कर दिया। अहो! ऐसे निष्ठुर शठप्रवरसे भला सन्धिकी कोई बात उठ सकती है क्या?॥२०८॥

लोचनरोचनी—विसृजेति। शिरसि कृतं निहितं पादं मम चरणं विसृज। नन्वनुनयेऽस्मिन् रोषः कुतस्तत्राह—मुकुन्दादभ्येत्य नूनं तस्मादेव शिक्षित्वा चाटुकारैरनुनयविदुषस्ते तवाहं वेद्मि यत्किंचिद्धृदिस्थमिति शेषः। ननु संधिरेव मम हृदिस्थस्तत्राह—स्वकृत इति। स्वकृते स्वनिमित्तं तत्र पूर्वार्द्धे सोल्लुण्ठत्वम्, उत्तरार्द्धे आक्षेपोऽकृतज्ञता च। न विद्यते कृते उपकृते चेतो यस्येति॥२०८॥

आनन्दचन्द्रिका—सौरभलोभेन चरणतले पतन्तमपि भ्रमरम्, ननु लक्ष्मीकोटि-निर्मञ्छनीयचरणनखद्युते देवि सत्यं त्वय्यपराद्ध एव श्रीकृष्णस्तस्मात्त्वं कृपयैव क्षमस्वेति प्रणमन्तं तं मत्वाह—विसृजेति। शिरसि धृतं मम पादं विसृज त्यज इतो दूरीभवेत्यर्थः। वेद्म्यहमिति। लक्ष्म्यादिकेव नाहं प्रतार्येति भावः। मुकुन्दात् सकाशादभ्येत्य चाटुकारैः प्रियोक्तिरचनारूपैर्दौत्यैर्दूत्यकर्मभिरनुनयविदुषस्तस्मादनुनय-प्रकारं शिक्षितवतस्तव सर्वं शीलादिकमहं वेद्मि। कर्मणि वा षष्ठी। त्वां वेद्मीत्यर्थः। ननु स्वामिनि त्वत्प्राणकोट्यधिकेन तेन सह विग्रहेणालं प्रत्युत मया तीर्थेन संधिरेव कर्तुं युज्यत इति तत्राह—स्वकृते तदर्थं विसृष्टानि त्यक्तानि अपत्यानि च पतयश्च अन्यलोकाश्च मातापित्रादयश्च याभिस्तत्र रासे मुरलीवादनसमये अन्तर्गृहनिरुद्ध-गोपीभिरपत्यानि त्यक्तानि तदानीं तानि त्यक्त्वैवाभिसृतत्वात्। अस्माभिस्तु पतयः धन्यादिकन्याभिः पित्रादय इति यथासंभवं ज्ञेयम्। ता गोपीर्योऽसृजत्। कीदृशः? अकृतचेताः न विद्यते कृते उपकृते चेतो यस्य सः। अकृतज्ञ इत्यर्थः। नन्वहो ईदृशेऽस्मिन् कठोरे किं न संधेयं संधातुमर्हम्। अपि तु नैवेत्यर्थः। अत्र पूर्वार्द्धे सोल्लुण्ठा आक्षेपमुद्रा, उत्तरार्द्धेऽकृतज्ञता, आदिशब्दान्निर्दयत्वपरद्रोहित्वप्रेम-शून्यत्वानि॥२०८॥

अथावजल्पः—

हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्त्याद्यासक्त्ययोग्यता।
यत्र सेर्ष्यं भियेवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः॥२०९॥

तात्पर्यानुवाद—अवजल्प—जिसमें हरिके प्रति काठिन्य, कामित्व और धूर्तता तथा भय दिखलाकर ईर्ष्याके सहित आसक्तिकी अयोग्यता दिखलाई जाए, उसे अवजल्प कहते हैं॥२०९॥

लोचनरोचनी—काठिन्येति। समाहारद्वन्द्वः॥२०९॥

यथा (१०/४७/१७)—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेलुब्धधर्मा,
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥२१०॥

तात्पर्यानुवाद—भ्रमरने कहा—"हे देवि! श्रीकृष्णका चित्त तो अत्यन्त कोमल है। सदा-सर्वदा हम देखते हैं कि वे निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान करते रहते हैं", भ्रमरकी झँकारका ऐसा तात्पर्य समझकर श्रीमती राधिका कहने लगी—"अरे मधुकर! तुम श्रीकृष्णके अर्वाचीन दास हो और उनके दूत होकर यहाँ आए हो। तुम उनके हृदयकी बातको नहीं जानते। हमने पौर्णमासीके मुखसे ऐसा सुना है कि श्रीकृष्ण इसी जन्ममें ही कठिन नहीं हैं, बल्कि पूर्व-पूर्व जन्मोंमें भी इसी प्रकार कठोर और निष्ठुर थे। क्या, तुम उनकी निष्ठुरताकी बात जानना चाहते हो? सुनो, क्षत्रियकुलमें दाशरथिरामके रूपमें जन्म ग्रहणकर व्याधकी भाँति छिपकर वानरराज बालीका वध किया और स्त्रीजित अर्थात् सीताके वशीभूत होकर सूर्पणनखाके नाक और कानका भी छेदन किया। वह अबला कामसे परवश होकर उनके निकट प्रणयकी भीख माँगने आई थी, यही उसका एकमात्र अपराध था। फिर उसके नाक और कान काटनेकी आवश्यकता क्या थी? उसे समझा-बुझाकर लौटा देनेसे ही तो काम चल जाता। और देखो, वामन अवतारमें बलिमहाराजके पूजोपहारको हरकर काककी भाँति उसीका बन्धन किया अर्थात् काक जैसे गृहस्थके घरमें अन्नादिका भोजनकर अपने स्वजातीय काकोंको बुलाकर उसीको घेरकर चोंचोंसे ठुकरता है। बस रहने दो, दुनियामें काले ही बुरे हैं। काले पुरुषोंसे सख्यताकी आवश्यकता नहीं है। इसपर मानो, भ्रमर कह रहा हो, तो फिर बारम्बार उनकी ही चर्चा क्यों करती हो? तो श्रीराधाजी कहती हैं—"ठीक ही कह रहे हो। क्या कहें, उनकी चर्चा भी तो छोड़ी नहीं जाती।" उक्त उदाहरणमें "बालीका वध किया था" इसके द्वारा उनकी कठोरता, निष्ठुरता, 'स्त्रीजित' शब्दसे कामित्व, "बलिके पूजोपहारको आहारकर" इसके द्वारा धूर्त्तता और "असितके साथ सख्यकी कोई आवश्यकता नहीं" इससे आसक्तिकी अयोग्यता और भयहेतु ईर्ष्याकी अभिव्यक्ति हुई है॥२१०॥

लोचनरोचनी—मृगयुरिति। तत्तस्मादसितस्य असितमात्रेण सह सख्यैः सख्यप्रकारैः। तेष्वेकेनाप्यलं यस्मादेकोऽसितो मृगयुरिवेत्यादि चरितं कृतवान्। कपीन्द्रं बालिनं स्त्रियं शूर्पणखां कामयानां कामयमानामपि, स्वयमपि स्त्रीजित एव तदाज्ञयैव कनकमयमृगमारणादिति भावः। अन्योऽसितस्तु बलिमपीत्यादि चरितं कृतवान्। तर्हि कथं ममेशितुरसितस्य वार्तां प्रस्तौषि? मा प्रस्तौषीरेव? तत्राह—दुस्त्यज इति। सत्यमवादीः किन्तु तस्य दर्शित स्वाधिक्यात्तस्मादप्यधिकस्य कथाया योऽर्थः प्रतिपाद्यः; तत्तल्लक्षणो दोषः स दुस्त्यजः, सदा मनसि स्फुरतीति वचसि त्यक्तुं न शक्यत इत्यर्थः। तेन तेन दोषेण मुहुर्मुहुः कदर्थनादिति भावः॥२१०॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु अतिकोमलमनाः स त्वामेव ध्यायंस्तत्रास्माभिर्दृश्यते इति तत्र त्वमर्वाचीनो दासस्तस्य तत्त्वं न जानासि न केवलं स ह्यस्मिन्नेव जन्मनि कठोरः किन्तु पूर्वपूर्वजन्मस्वपीति पौर्णमास्या मुखादस्माभिः श्रुतत्वादित्याह—मृगयुरिवेति। यदा स क्षत्रियजातौ रामचन्द्रोऽभूत्तदा क्षत्रियधर्मं परित्यज्य मृगयुर्व्याध इव कपीनामिन्द्रं बालिनं विव्यधे विव्याध। तत्रापि निर्दयो गुप्तः सन्नित्यर्थः। अधर्मकथापि तदुपाख्याने ज्ञेया। तत्राप्यलुब्धधर्मा लुब्धकस्य व्याधस्यापि धर्मरहितः, न हि व्याधो वानरान् हिनस्ति तन्मांसस्याभक्ष्यत्वेन केनाप्यक्रेयत्वादिति भावः। अन्यमप्यधर्मं शृण्वित्याह—स्त्रियं शूर्पणखां कामयानां तमेव कामयमानां तां विरूपां छिन्नकर्णनासामकृत। अन्योऽपि कोऽप्येनां न संभुङ्क्तामिति क्रौर्येणेति भावः। न च जटावल्कलधारित्वाद्वैराग्येणेत्यत आह—स्त्रिया सीतया जितः। तथा तत्पूर्वजन्मनि ब्राह्मणजातौ स वामनोऽभूत्तदापि ब्राह्मणधर्मं शान्त्यकैतवादिकं परित्यज्य बलिं परमधार्मिकमपि तत्रापि बलिं तत्पूजोपहारमत्त्वा भुक्त्वापि त्रिविष्टपात् त्रैलोक्यराज्यादक्षिपत् तत्रापि भूविवरे। पाठान्तरेऽवेष्टयत् छलेन बबन्ध ध्वाङ्क्षवत् काकवत् स यथा बलिं जग्ध्वापि लोकं स्त्रीजनं वेष्टयति स्वजातीयानन्यानाहूय तमावृणोति कदर्थयति च। तस्मादसितस्य कृष्णवर्णस्य तस्य सख्यैर्बहुषु सख्यप्रकारेषु एकेनापि प्रकारेणालम्। अस्माकं गौरीणामसिताः खल्वशुद्धचित्ता भवन्तीति तेभ्यो भयस्यावश्यंभावित्वादिति भावः। नन्वभीक्ष्णं परनिन्दां कुर्वती भवती किं शुद्धचित्तासीति तत्राह—तस्य कथायाः प्रतिजन्मचरित्रस्यार्थो व्याख्या दुस्त्यजः। सोऽस्मानेवं दुःखयति। अस्माभिस्तत्कथाया अप्यर्थो न वक्तव्य एव। किन्तु अत्र निन्दा वा भवतु यथार्थभाषणेनानिन्दा वा भवतु असौ त्यक्तुमशक्य एवेति भावः। यद्वा स त्वस्माभिस्त्यक्त एव किन्तु तत्कथारूपोऽर्थो वस्तुविशेषस्तु दुस्त्यज एव कर्तृपदानुक्त्या सर्वैरेव मुन्यादिभिरपीत्यर्थः। अत्र विव्यध इति काठिन्यम्, स्त्रीजित इति कामित्वम्, बलिमपीति धौर्त्यम्, असितसख्यैरिति आसक्त्ययोग्यता, भयमीर्ष्या च॥२१०॥

अथाभिजल्पितम्—

भङ्ग्या त्यागौचिती तस्य खगानामपि खेदनात्।
यत्र सानुशयं प्रोक्ता तद्भवेदभिजल्पितम् ॥२११॥

तात्पर्यानुवाद—अभिजल्प—श्रीकृष्ण जब पक्षियोंको भी दुःखी करते हैं, तब उनका त्याग करना ही उचित है, ऐसी भङ्गीके द्वारा अनुताप या खेद जहाँपर सूचित होता है, उसे अभिजल्प कहते हैं अथवा विहङ्गचर्याशील साधुओंको पुनः-पुनः खेद प्रदान करनेके कारण भङ्गीके द्वारा परोक्षवादसे श्रीकृष्णको त्याग करना ही उचित है, अनुतापके साथ जब ऐसा कहा जाता है, तो उसको अभिजल्प कहते हैं॥२११॥

लोचनरोचनी—अनुशयोऽनुतापः॥२११॥

आनन्दचन्द्रिका—खगानामपि खगसदृशीकृतानामपि सज्जनानां पुनः खेदनात् सानुशयं सानुतापम्॥२११॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१८)—

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्म्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना,
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥२१२॥

तात्पर्यानुवाद—हे मधुकर! विवशता है, दुस्त्यज है, जिनकी मधुर लीला, जो कानोंके लिए अमृतस्वरूप है, यदि उसकी एक बूँदका भी किसी प्रकारसे किसीने एकबार भी आस्वादन कर लिया, तो उसके सारे द्वन्दधर्म नष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति घर, द्वार, स्त्री-परिवारको रोते हुए छोड़कर दीन-हीन भावसे पक्षियोंकी भाँति भिक्षुक होकर वन-वनमें डोलता फिरता है। उसका सर्वनाश हो जाता है। ऐसे-ऐसे अनेक व्यक्ति सब कुछ लुटाकर अकस्मात् दुःखी गृह-कुटुम्बादिका परित्यागकर भोगहीन पक्षियोंकी भाँति केवलमात्र जीवन यात्राका निर्वाह कर रहे हैं। अतएव सब प्रकारसे उनकी कथाओंका परित्याग करना ही सर्वथा उचित है। फिर भी हम उनकी कथाओंका परित्याग नहीं कर पातीं।"

अथवा, उनकी निष्ठुरताकी बातें कहाँ तक कहें? उनकी लीलाकथाओंका जो थोड़ा-सा भी श्रवण करता है, वह निष्ठुर हो जाता है। जिनकी स्वच्छन्द लीलाएँ बालचेष्टाओंकी भाँति हैं, जिसके शब्द कानोंको ही केवलमात्र सुख देनेवाले हैं अथच अर्थतः मनःप्रीतिकर नहीं हैं, उनका कणामात्र भी एकबार श्रवण करनेपर किञ्चित्मात्र आस्वादन करनेपर भी जिन्होंने द्वन्द्वधर्मका अथवा ऊष्ण-शीत आदि भोगका त्याग कर दिया है, अतः अपना सर्वनाश कर लिया है, ऐसे अनेक व्यक्ति लीलारवके श्रवणसे स्वयं तो दुःखी हुए ही हैं, अपने वृद्ध जनक, जननी, भार्यादिको दुःखी बनाकर—सबका त्यागकर स्वयं दीन-हीन होकर उनकी लीलास्थली वृन्दावनमें आकर भिक्षुक धर्मको ग्रहण कर रहे हैं। अब तुम्हीं बतलाओ कि हम ऐसे श्रीकृष्णका किस प्रकारसे सङ्ग कर सकती हैं? इसलिए उनका त्याग करना ही युक्तियुक्त है। इस उदाहरणमें विहङ्गवत्, इससे पक्षियोंको दुःखी करना, उनकी कथाके श्रवणसे तत्क्षणात् दुःखित गृह कुटुम्ब इत्यादिका परित्याग करते हैं, इससे भङ्गीके द्वारा उन कथाओंको श्रवण न करना ही उचित ध्वनित होता है। हमलोग इस विषयमें समर्थ नहीं हो रही हैं, इसके द्वारा अनुताप ध्वनित है॥२१२॥

लोचनरोचनी—यदनुचरित इति। समवेतत्वमेव। तत्र दृश्यमानेषु विहङ्गेषु भिक्षुत्वमारोप्य गदितम्। तच्च तेषामपि भिक्षुत्वकरणं तद्दोषत्वेन प्रदर्श्योपालम्भम्। कर्णपीयूषत्वेन मनसि तु तस्यान्यथा रीतिं सूचयित्वा खण्डमयधुस्तूरबीजचूर्णत्वमिव स्थापितम्। द्वन्द्वधर्मा मिथुनीयभोगाः तेषां विधूतत्वादेव विनष्टाः। ततश्च सपदीति। इह वृन्दावने भिक्षुचर्यां वृक्षादिषु कणभिक्षाम्। लक्षणं तु स्पष्टमनुगतम्॥२१२॥

आनन्दचन्द्रिका—वयं साक्षात्तेन सह सख्यं कृतवत्यो यद्दुःखिन्योऽभूम तत्र किं चित्रं तल्लीलाकथापि सर्वजगत्संतापनीत्याह—यस्यानुचरितं प्रतिक्षणचेष्टितमेव लीला सैव कर्णपीयूषं शब्दमात्रेणैव सुखदं किं पुनरर्थत इति भावः। तस्यापि विप्रुट्, तस्यापि सकृदप्यदनं किंचिदास्वादनं तेनापि विधुता विशेषेण खण्डिता द्वन्द्वधर्माः स्त्रीपुंसादिपरस्परसौख्यरूपधर्मा येषां ते। तत्कथां स्त्री चेच्छृणोति सद्य एव पतिस्नेहं त्यजति, पतिश्चेत्स्त्रीस्नेहम्, एवं पुत्रश्चेत् पितरं मातरं च, माता चेत् पुत्रमित्येवं परस्परत्यागात् विशेषेण नष्टा इति तेषां नाशे तथा न दुःखं यथा वैराग्य इति। सांसारिकलोकानुभव एव प्रमाणमिति भावः। किं च ते जनाः स्निग्धमनसोऽपि

कठोरस्य श्रीकृष्णस्य लीलाश्रवणादिभिः कठोरा निर्दयाः कृतघ्नाश्च भवन्तीत्याह—सपदि कथाश्रवणमात्र एव गृहकुटुम्बं पितृस्वस्रादिपर्यन्तमपि दीनमन्यस्योपार्जकस्याभावात् श्वो यद्भोक्ष्यते तद्धनरहितमपि, यद्वा तद्विच्छेदकातरमुत्सृज्य मृत्यवे कुशवारिसंयोगेन संप्रदायेवेत्यर्थः। हन्त हन्त ते स्त्रीपुत्रादयो म्रियन्तां नाम स्वयमपि सुखिनो नैव भवन्तीत्याह—दीना गृहं त्यक्त्वा गच्छन्तश्चित्तविक्षेपात् वराटकमात्रमपि ग्रन्थौ न गृह्णन्तीति भावः। धीरा इति पाठे भार्यादिरोदनदर्शनेऽप्यक्षुभ्यन्तो महाकठोरा इत्यर्थः। न च ते एको वा द्वित्रा वा चतुःपञ्च वा किन्तु बहवः परःशताः परःसहस्राश्च। ननु ततस्ते कया जीविकया जीवन्तीत्याह—विहङ्गाः पक्षिण इव भिक्षुचर्यां गोधूमादिकणभिक्षापरिपाट्यैव जीवन्ति न तु केनापि दत्तया स्थूलभिक्षयापीति भावः। इहेति पाठेऽत्रैवास्मद्दुःखस्थाने वृन्दावनस्थान एवागत्येत्यस्मत्सङ्गादपि महादुःखिनो भवन्तीति भावः। तेन तत्कथाया बहुमत्स्यण्डिकामयधुस्तूरबीजचूर्णत्वं कथावाचकस्य साधुवेषच्छन्नमहाघातुकत्वं पुराणपुस्तकस्य जालत्वं ध्वनितम्। अतएव ते वनाद्वनं भ्रमन्तोऽपि स्वकक्षगृहीतपुस्तका एव दृश्यन्ते। व्यासादीनां जालनिर्मातृत्वं श्रीकृष्णस्य परमेश्वरत्वेन तत्तदादेष्टृत्वम्। एतदर्थमेव श्रीकृष्णेन परमेश्वरता गृहीता। गोप्य इव सर्वलोका अपि दुःखाब्धौ पतन्त्विति तस्य विचारः। ईदृशपरदुःखदर्शनमेव तस्य सुखमत ईदृश परदुःखदानजन्यफलभागी यथा स भविष्यति तथा न व्यासादय इति परःशता एव ध्वनयोऽस्य पदस्य। सर्वएव सिद्धान्ततो व्याजस्तुत्या भक्तेः सर्वोत्कर्षव्यञ्जका ज्ञेयाः॥२१२॥

अथाजल्पः—

> **जैह्म्यं तस्यार्त्तिदत्वं च निर्वेदाद्यत्र कीर्त्तितम्।**
> **भङ्ग्यान्यसुखदत्वं च स आजल्प उदीरितः॥२१३॥**

तात्पर्यानुवाद—आजल्प—जहाँ निर्वेद होनेपर श्रीकृष्णमें कुटिलता, पीड़ादायकत्व और व्यपदेशसे अन्यको सुखप्रदत्वादिकी अभिव्यक्ति होती है, उसे आजल्प कहते हैं॥२१३॥

लोचनरोचनी—अन्यसुखदत्वमन्यकर्तृकसुखदानम्॥२१३॥

आनन्दचन्द्रिका—तस्यार्त्तिदत्वं दुःखदत्वम्, अन्यस्य सुखदत्वम्॥२१३॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१९)—

> **वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः,**
> **कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।**

ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र–
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥२१४॥

तात्पर्यानुवाद—फिर श्रीराधा जी कहती हैं—अरे भ्रमर! उनकी लीलाकथाओंका श्रवणकर अनेकानेक व्यक्ति महाविपदग्रस्त हुए हैं, इस विषयमें अधिक क्या कहें? हम भोलीभाली गोपियाँ भी उस कपटीकी छल-छिद्रसे भरी हुई बातोंको सत्य और विश्वास योग्य मानकर उसके चक्करमें फँस गईं। यदि कहो कि श्रीकृष्ण जब ऐसे ही हैं, तब तुमने परम विज्ञ होकर भी उनकी बातोंपर विश्वास क्यों किया? तो इसका कारण सुनो। हे उपमन्त्रिन्! जिस प्रकार एक अनभिज्ञ हरिणी व्याधके कृत्रिम गीतको न समझकर, उसको सचमुच विश्वासकर उसके बाणोंके द्वारा बिद्ध होकर क्षतविक्षत हो जाती है, उसी प्रकार हम भी कुटिल श्रीकृष्णकी बातोंको सत्य मानकर बारम्बार विरहपीड़ाको भोग रही हैं। यह पीड़ा उनके नखस्पर्शरूपी तीव्र बाणोंसे ही उदित हुई है। अतः उनकी बातोंको छोड़कर दूसरी कोई बात कहो। क्या तुम्हारे लिए दूसरी कोई वस्तु गान करनेकी नहीं है?

उक्त उदाहरणमें दुःखप्रकाशपूर्वक श्रीकृष्णकी कुटिलता और नखाघात द्वारा पीड़ा प्रदानकी बात कही गई है, "इसे छोड़कर दूसरी बात कहो" इसके द्वारा दूसरोंके लिए सुखदत्व भी सूचित हुआ है॥२१४॥

लोचनरोचनी—एतत्तस्य तव कापट्यं ददृशुः, ददृशिम इत्यर्थः। कीदृश्यो यूयम्। तत्राह—तन्नखेति। तस्यान्येषामङ्गानां स्पर्शस्मरणमस्माकं नास्त्येव किन्तु बलादिव तन्नखस्य स्पर्शेन जाता स्मररुक् यासां तादृश एव जाताः। बाणस्पर्शरुजो हरिण्य इवेति भावः। उपमन्त्रिन् हे विदूषक! "तत्रोपमन्त्रिणो राजन्" इति प्रयोगदर्शनाद् अन्यस्य वार्ता भण्यताम्। सैव सुखदा भवेदिति भावः। तत्र च लक्षणं स्पष्टमेव॥२१४॥

आनन्दचन्द्रिका—नन्वेवं चेत् परमविज्ञाभिर्भवतीभिः श्रीकृष्णे तस्मिन् कथं सख्यं कृतं तत्राह—वयं तस्य "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्"—इत्यादिकं जिह्मव्याहृतमपि ऋतमिव सत्यमिव श्रद्दधाना अज्ञा अभूम। कुलिकस्य व्याधस्य रुतं शब्दं श्रद्दधाना हरिण्यः कृष्णवध्वः कृष्णसारस्त्रिय इव। ततः किमत आह—एतत्कुलिकरुतं ददृशुः। रुतस्य दर्शनासंभवात्तत्फलं शरघातं ददृशुरित्यर्थः।

तथैव वयमपि तन्नखस्पर्शेन तीव्राः स्मररुजः कन्दर्पपीडा ददृशिमेत्यर्थः। असकृदिति। एकवार तत्फलदर्शने पुनरपि विश्वासात् पुनरपि तत्फलदर्शनादज्ञत्वाधिक्यं हरिणीनामस्माकं च लब्धपुनःपुनर्मदनोत्थदुःखदशानाम्, तस्मादुपमन्त्रिन् हे विदूषक! अन्यवार्ता भण्यतां तस्य तद्वार्तायाश्च दुःखदत्वादन्यकथैव संप्रत्यस्माकं सुखदेत्यर्थः। अत्र लक्षणसंगतिः स्पष्टैव॥२१४॥

अथ प्रतिजल्पः—

दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिनोर्हेत्यनुद्धतम्।
दूतसंमाननेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः॥२१५॥

तात्पर्यानुवाद—प्रतिजल्प—जिसमें श्रीकृष्णके द्वन्द्वभाव दुस्त्यज्य, प्राप्ति अनुचित और दूतका सम्मान वर्णित हो, उसे प्रतिजल्प कहते हैं॥२१५॥

यथा तत्रैव (१०/४७/२०)—

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं,
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं,
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥२१६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधा उन्मादके कारण वहाँ भ्रमणकारी भ्रमरको न देखकर अथवा क्षणकालके लिए कहीं अन्तर्हित हो गया था, इस कारण उसे न देखकर खेद प्रकाशपूर्वक आशङ्का करती हुई कहने लगी—हाय! मैंने कठोर वाक्योंके द्वारा दूतको दुःखी किया है, अनादर किया है। उसने मथुरामें जाकर इस वृत्तान्तको अवश्य ही कहा होगा। उसीसे श्रीकृष्ण हमारी उपेक्षा करेंगे। ऐसा विवेचनकर कलहान्तरिता दशा प्राप्त होकर श्रीमती राधिकाने मन-ही-मन विचार किया, हमारे कान्त प्रेमके समुद्र हैं एवं समस्त सद्गुणोंसे परिपूर्ण हैं, अतएव पुनः दूतको भेजें, जिससे वह पुनः यहाँ आकर उपस्थित हो। ऐसी अभिलाषासे भ्रमरका पथ निरीक्षण कर रही थीं। अकस्मात् उसे देखकर आदरपूर्वक कहने लगी—"हे मधुकर! तुम हमारे प्रियतमके सखा हो। तुम्हें अनादरपूर्वक बहुत कुछ भला-बुरा कहा है। फिर भी अपने सद्गुणोंके कारण हमारे अनादरको ध्यानमें न रखकर पुनः हमारे निकट आए

हो। अब हम समझ रही हैं कि प्रियतम हमलोगोंके प्रति अत्यन्त प्रेमवान हैं। हमारे कोटि-कोटि अपराधोंपर ध्यान न देकर तुम्हें पुनः कैसे हमलोगोंके पासमें भेजा? जैसा भी हो, तुम क्या चाहते हो? तुम्हारी क्या प्रार्थना है? तुम कुछ वर ग्रहण करना चाहते हो तो माँगो। तुम्हारा क्या अनुरोध है जिसे मैं दे सकूँ? यदि यह कहते हो कि आपलोग मथुरा चलें, आपके लिए वे अत्यन्त दुःखी हैं। इस पर कुछ समय तक सोच-विचारकर पुनः बोली—हे भृङ्ग! ऐसा मत कहना। वे सदा-सर्वदा पुरस्त्रियोंसे परिवेष्टित रहते हैं। यदि मैं वहाँ जाऊँ और उन स्त्रियोंसे परिवेष्टित उन्हें देखूँ तो अवश्य ही मुझे मान होगा, अतएव मुझे वहाँ न ले जाओ। वे कभी भी स्त्रियोंको छोड़कर अलग नहीं रह सकते। ऐसा सुनकर मानो भ्रमर कह रहा है—देवि! मैं शपथ खाकर कह रहा हूँ कि वे सदा-सर्वदा अकेले ही रहते हैं। इसलिए आप ऐसी शङ्का न करें। इसे सुनकर राधाजी पुनः बोली—हे सौम्य! तुम अत्यन्त बुद्धिमान हो। मैं जानती हूँ कि वे सब समय श्री (लक्ष्मी) नामक वधूके साथ (अर्थात् श्रीवत्सचिह्नस्वरूपा कमलाके सहित) अवस्थान करते हैं। अतएव तुम कैसे कहते हो कि वे सर्वथा अकेले हैं। इस श्लोकमें 'प्रियसख' सम्बोधनसे औद्धत्य-राहित्यकी अभिव्यक्ति हो रही है। सान्त्वना वाक्यसे युक्ति-प्रदर्शनसे विशेषतः मानिनी पदके व्यवहारसे दूतके प्रति सम्मानकी अभिव्यक्ति हो रही है॥२१६॥

लोचनरोचनी—तदेवं मानभङ्ग्या प्रत्याख्यातम्। क्वचिदन्तर्धाय पुनरागतं भ्रमरं प्रति कलहान्तरिता भङ्ग्या प्राह—प्रियसखेति। पुनरागाः आगतवानसि। तत्र च प्रेयसा प्रेषितः किमागतवानसि। अनुरुन्धे अणुरुणत्से कामयस इत्यर्थः। अथ मथुरां प्रति स्वनयनोद्यतं तमुत्प्रेक्ष्य प्रत्याचष्टे—नयसीति। दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य पार्श्वम्। कथं दुस्त्यजद्वन्द्वत्वं तत्राह—सततमिति। या खलु रेखारूपा श्रीस्तदुरसि दृश्यते सा रात्रौ रामा भवतीति भावः। अत्र च स्पष्टं लक्षणम्॥२१६॥

आनन्दचन्द्रिका—अथोन्मादेन तत्रैव भ्रमन्तमपि तं भ्रमरमननुसंधाय क्षणमन्तर्हितं वा तमपश्यन्ती सखेदं परामम‍र्श—हन्त हन्त मम तीक्ष्णया गिरा संतप्तेनानेन दूतेन मथुरां गतेनावेदितसर्ववृत्तान्तः श्रीकृष्णो मामुपेक्षांचक्रे इति कलहान्तरितदशां प्राप्ता "प्रेमाम्बुधिना सद्गुणमौलिना मत्कान्तेन पुनरपि स एव प्रेषितो दूतोऽत्रायात्वि"ति तद्वर्त्म निरीक्षमाणा अकस्मात्तं विलोक्य सादरमाह—हे प्रियसख!

मत्प्रियस्य सखे, पुनरागाः मद्वाक्शरताडितोऽपि स्वसाद्गुण्येन मदपराधमगणयित्वैव आगाः। आं जानामि प्रेयसा मय्यतिप्रेमवता मदपराधकोटीरगणयता तेनैव किं प्रेषितः। तर्हि वरय वृणु, किमनुरुन्धे अनुरुणत्से कामयसे इत्यर्थः। यद्वा कमनुरोधं ते संपादयामीत्यर्थः। तव मथुरागमनमेव वृणोमीति चेद् यामि मथुरामित्युक्त्वापि पुनः पुरस्त्रीवेष्टितं तं तत्र पश्यन्त्या मेऽवश्यं मानो भविष्यतीति परामृश्याह—नयसीति। दुस्त्यजद्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य पार्श्वम्। नन्वेकाकी स तत्र वर्तत इति सशपथं ब्रवीमीति तत्राह—हे सौम्य! आर्यबुद्धिरसीति भावः। श्रीरेव वधूः साकं सहैव। तत्रापि सततं तत्राप्युरसि पुरुषायितत्वेनेति भावः। अयमर्थः—श्रियो देवीत्वेन नानारूपधारित्वशक्तेः श्रीकृष्णो यदा अन्याः स्त्रीः संभुक्ते तदा स्वर्णरेखारूपैव तद्वक्षसि तिष्ठति। यदा तमन्याः स्त्रियो नायान्ति तदा रेखारूपतां त्यक्त्वा प्रकटमेव युवतिर्भूत्वा तं रमयतीति। अत्रापि स्पष्टैव लक्षणसंगति॥२१६॥

अथ सुजल्पः—

यत्रार्जवात्सगाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम्।
सोत्कण्ठं च हरिः पृष्ठः स सुजल्पो निगद्यते॥२१७॥

तात्पर्यानुवाद—सुजल्प—जहाँपर सरलता हेतु गाम्भीर्य, दैन्य, चपलता और उत्कण्ठाके साथ हरिके विषयमें प्रश्न होता है, उसे सुजल्प कहते हैं॥२१७॥

यथा तत्रैव (१०/४७/१२)—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते,
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते,
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु॥२१८॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीमती राधिकाने मन-ही-मनमें सोचा—"हाय! मैं उन्मत्त होकर प्रलाप कर रही हूँ। मैंने अब तक श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कोई भी कुशल वार्त्ता नहीं पूछी? इस अभिप्रायसे बोली—हे सौम्य! आर्यपुत्र श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर क्या इस समय मधुपुरीमें ही सुशोभित हैं? क्या वे अपने पिता-माता और गृह तथा अपने बन्धुओंका—सखाओंका स्मरण करते हैं? हम उनकी किङ्करियाँ थीं, क्या किसी भी रूपमें हमारे सम्बन्धमें कोई बात करते हैं? अहा! कब वे यहाँ

आकर अपने अगुरुके समान सुगन्धित हाथोंको हमारे मस्तकपर न्यस्त करेंगे?"

उक्त उदाहरणके प्रथम चरणमें सरलता, द्वितीय चरणमें अपने प्रसङ्गको स्थापनकर गाम्भीर्य, तृतीय चरणमें दैन्य, चतुर्थचरणमें चापल्य एवं उत्कण्ठाकी अभिव्यक्ति हुई है॥२१८॥

लोचनरोचनी—अत्र आर्यपुत्र इति सोऽस्माभिः पतित्वेनैव प्रतीयते बहिरन्यथाख्यातिस्तु न बुध्यते इति भावः। श्रीकृष्णेनाप्युद्धवं प्रति प्रकाशितोऽस्ति। "मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः" इति। अधास्यत् धास्यति॥२१८॥

आनन्दचन्द्रिका—हा हन्त मयोन्मत्तया किं प्रलप्यते, प्रष्टव्यं तु न पृच्छ्यत इत्यनुतप्य ससंभ्रममाह—अपि बतेति। मधुपुर्यामास्ते व्रजमिव तामपि त्यक्त्वा अन्यत्र किंस्वित् न यियासतीति भावः। इतः समीपवर्त्तिन्यां तत्र पुर्यां तस्य स्थितिरत्रागमनसंभावनामप्युत्पादयतीति भावः। यद्वा सुखमास्ते इत्यनुक्तेरस्मत्प्रणयस्मरण-व्याकुलोऽनुरोधवशादेव तत्रास्ते, यत आर्यस्य यदुभिर्दुर्विनीतैः प्रतार्यमाणत्वात् सारल्यसमुद्रस्य श्रीव्रजराजस्य तदेकप्राणस्य पुत्रः। हन्त हन्त मत्पितापि मां व्रजं नेतुं नाशकत्तदहं तत्र गन्तुं कमुपायं करोमीति स विलम्बमसहमानस्त्वां प्रस्थापयति स्मेति भावः। तेन मधुपुर्यामास्ते इति तस्य को दोषः, यतः आर्यस्यातिसरलस्य स्वपरिणामदर्शित्वेनापि शून्यस्य श्रीनन्दस्य पुत्रस्तादृशं स्वपुत्रं तादृशः पिता यत्त्यक्त्वा व्रजमायास्यतीति को जानातीति। यद्यज्ञास्यत् व्रजराज्ञी, सा तावदक्रूररथारूढैव स्वपुत्रं कण्ठे कुर्वत्येव मथुरामयास्यत्। तामनु गोपिकाश्रेण्यश्चेति व्रजराजस्यार्यत्वमेवास्माकं सर्वनाशे कारणमभूदिति भावः। अतस्तादृशस्यापि पितुरतिसरलस्य वसुदेवेन महाप्रतारकेणाच्छिद्य गृहीतपुत्रस्य व्रजमागत्य मूर्च्छया पतित्वा स्थितस्य गेहान् कोषागार-रन्धनागार-शयनासनागारादीन् संप्रत्यमार्जितालिप्तत्वेन तृणधूलिपत्रलूतातन्तुवृतान् शून्यायितान् स्मरति कच्चित्। तथा गेहान्तरेषु बन्धून् सुबलादीन् संप्रति मूर्च्छितान्। क्वचिदपीति—यदा तस्य मनोऽभिरुचितं कैङ्कर्यं कर्तुं पुरस्त्रियो न जानन्ति तदैव तत्सुखमनुपलब्धवतीभिस्ताभिः सुखानुपलम्भकारणं पृष्टो नोऽस्माकं कथां गृणीते। वनमालागुम्फने, स्थासकसंपादने, वीटिकानिर्माणे, वीणावादने, रागतालादिसृष्टौ, गीतनृत्यरासादौ, सौन्दर्यलावण्यवैदग्ध्यादिषु, प्रश्नोत्तरविलासे, संप्रयोगलीलायाम्, प्रेमस्नेहमानप्रणयादिषु, यथास्मद् व्रजस्था गोप्यो मां सुखयन्ति न तथा यूयमिति गच्छत भो यदुस्त्रियः स्वस्वपतीनेव अलमलं युष्माभिरहं श्वः प्रातर्व्रजमेव गच्छन्नस्मीत्युक्त्वात्रागत्य अगुरुसुगन्धं भुजमस्माकं मूर्ध्नि कदा अधास्यत् धास्यति। तेन च समाश्वसितव्या भोः प्राणप्रेयस्यः सशपथमिदमहं ब्रवीमि भवतीस्त्यक्त्वा न क्वापि यास्यामि

त्रिभुवनमध्ये क्वापि युष्मत्सादृश्यगन्धलेशमपि नोपलब्धवानस्मीति व्यञ्जयिष्यति। अत्र प्रथमचरणे आर्जवम्, द्वितीये स्वप्रसङ्गानुत्थापनेन गाम्भीर्यम्, तृतीये दैन्यम्, चतुर्थे चापलमुत्कण्ठा च। अत्र चित्रजल्पप्रलपनमाधुर्यश्रवणोत्कण्ठया श्रीकृष्ण एव भ्रमररूपेण तत्रागत इत्यैश्वर्यपक्षीयाः॥ नायमुन्मादः किन्तु भ्रमरमपदिश्य श्यामं पीतांशुकमुद्धवं प्रत्येवोक्ता दशश्लोकीत्वन्यदेशीया आहुः॥२१८॥

अथ मादनः—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥२१९॥

तात्पर्यानुवाद—मादन—रति इत्यादि महाभावके भेद अधिरूढ़ मोदन तक भावोंका जो प्राकट्य होता है, उससे भी अधिक उत्कर्ष–विशिष्ट अतः श्रेष्ठ मोदन महाभावसे भी अत्यन्त उत्कृष्ट जो ह्लादिनी नामक महाशक्तिका स्थिरांश है, जो केवल राधिकामें ही सदाकाल विराजमान होता है, उसे मादन महाभाव कहते हैं। यह मादन ललिता इत्यादिमें भी उदित नहीं होता॥२१९॥

लोचनरोचनी—ह्लादिनीसारः प्रेमा सर्वभावोद्गमोल्लासी चेदसौ मादन उच्यते। स च परात्परो ज्ञेयः। यः खलु श्रीराधायामेव राजते कदाचिदन्तः कदाचिद्बहिः प्रकाशत इत्यर्थः॥२१९॥

आनन्दचन्द्रिका—सर्वेषां रत्यादिमहाभावान्तानां भावानामुद्गमे सत्युल्लासनशीलः। मादने विरहाभावात्। यद्वा सर्वेषां भावानामुद्गममुत्कर्षेण लासयितुं शीलं यस्य सः। नन्वेवंभूतो महाभावभेदो मोहनोऽपि भवितुमर्हतीति तत्राह—परात् मोहनादपि परः। वक्ष्यमाणानुभावगम्यो महाभावसामान्यविशेषलक्षणयुक्तश्च भवेदित्यर्थः। विशेषतो निरुक्तिश्चाशक्या। यद्वक्ष्यते—"न निर्वक्तुं भवेच्छक्यस्तेनासौ मुनिनाप्यलम्।" इति॥२१९॥

यथा—

आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं,
पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासंपदं मादनत्वा–
दद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम्॥२२०॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकृष्णके परस्पर उत्तरोत्तर महाभावके उल्लासकी परम पराकाष्ठाको अनुभवकर पौर्णमासी अत्यन्त विस्मयसे उत्फुल्ल होकर वृन्दा और नान्दीमुखीके निकट रूपक–अलङ्कारके साथ कह रही हैं—श्रीराधाकृष्णके अद्भुत भावचन्द्रको मैं प्रणाम करती हूँ। यह भावचन्द्र अपनी उत्पत्तिके प्रारम्भसे ही अविनाशी (किन्तु प्रसिद्ध चन्द्र क्षयिष्णु) है, यह हृदयरूप चन्द्रकान्तमणिको द्रवीभूत करता है। (प्रसिद्ध चन्द्र केवल चन्द्रकान्तशिलाको ही द्रवित कर सकता है, हृदयको नहीं) यह पूर्ण होकर भी वक्र है, स्वभावतः कुटिल (प्रसिद्ध चन्द्र अपूर्णकालमें ही रेखाकी कुटिलताको वहन करता है) है। अपनी असाधारण अत्यन्त उत्कण्ठासे भय, सम्भ्रम और गौरव आदिको ध्वंस कर देता है। (प्रसिद्ध चन्द्र अपनी किरणराशिके द्वारा अन्धकारजात भयका ही विनाश करता है किन्तु सम्भ्रम आदिका विनाश नहीं करता) इसके द्वारा श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णके अप्रिय आचरण और श्रीकृष्णके प्रति श्रीमतीके भी मान–उद्दीपित क्रोधसे दुर्वचनादि प्रयोगरूप प्रकृष्ट दोष घटनेसे आनन्द ही विस्तार करता है। (प्रसिद्ध चन्द्र किन्तु दिवसके अन्तमें रात्रिके प्रारम्भमें ही आनन्द दान करता है)। पुनः यह प्रतिक्षण मदकारिता हेतु नवनवायमान होकर महासम्पत्तिको धारण करता है। (किन्तु प्रसिद्ध चन्द्र शुक्ल–प्रतिपदासे कलावृद्धि क्रमसे नवनवायमानताको धारण करनेपर भी कृष्ण–प्रतिपदासे लेकर क्रमशः ह्रास होते–होते नवनवायमानताके विपरीत क्षीण ही होता जाता है) भावचन्द्र सदा पूर्ण होनेसे एक ही रूपमें स्थिर रहता है। (प्रसिद्ध चन्द्र पन्द्रह तिथियोंमें प्रतिदिन दूसरे अन्यान्य रूपोंको धारण करता है)।

तात्पर्य—'आसृष्टेः' इस पदके निर्देशसे 'आङ्' उपसर्गका अर्थ व्याप्ति है, प्राकृत सृष्टि और अप्राकृत सृष्टि दोनोंमें व्याप्त होकर अर्थात् सर्वकालको समझना चाहिए। 'अक्षयिष्णु' शब्दके द्वारा क्षयकी सम्भावनासे रहित, इससे प्रेमका उद्गम दिखलाया गया है। हृदयविधुमणिके द्रवित होनेसे स्नेह, वक्रिमासे मान, निजसे प्रणय, प्रदोषसे दुःख 'शं' शब्दसे सुख तथा उनका विस्तार। रागके द्वारा अनुराग, 'मादन' शब्दसे मद धातुका अर्थ हर्ष अर्थात् जगत्के लिए हर्षप्रद, इसलिए अद्वैत अर्थात्

द्वितीयरहित, इसके द्वारा महाभाव। श्लेषार्थमें मादन संज्ञासे मदन–सम्बन्धीय चुम्बनालिङ्गनादि सब प्रकारके सुख, क्षण–क्षणमें अनुभव हेतु अद्वैत अर्थात् वृन्दावनेश्वरीको छोड़कर यह मादनरस अन्यत्र कुत्रापि संभव नहीं है, 'राधादनुजविजयी' इसके द्वारा आश्रय और विषयकी अभिव्यक्ति हुई। 'नौमि' अर्थात् मैं स्तव कर रही हूँ। यह भावचन्द्र हमलोगोंके मनरूप कुमुदके विकासक होनेसे अद्भुत है। असृष्टि, पूर्णत्व एवं धृतनवनव—इन तीन विशेषणोंसे प्रसिद्ध चन्द्रसे भी विलक्षण है। हृदय, निजरूचि और प्रदोष—इन तीन विशेषणोंके सहित सादृश्य होनेके कारण रूपक–अलङ्कार है। उल्लिखित मादनरसमें ईर्ष्याके अयोग्य देश, काल, पात्रमें भी मादनरस प्रबल ईर्ष्या धारण करता है और सर्वदा सम्भोगमें भी उसकी गन्धके आधारमात्रको भी स्तव इत्यादि करता है। 'आदि' शब्द प्रयोगसे श्रीकृष्णके अवलोकन, चुम्बन संप्रयोगादि कोटि–कोटि सुखका एक कालीन अनुभव है॥२२०॥

लोचनरोचनी—आसृष्टेरिति। भूतभविष्यद्वर्तमानव्यापिनी सा सृष्टिस्तां व्याप्याक्षयिष्णुं तदिदमिवाद्भुतत्वाय सर्वत्र संगमनीयम्। इति प्रेम्ण उद्गमो दर्शितः। हृदयेति स्नेहस्य, वक्रिमाणमिति मानस्य, निजेति प्रणयस्य, प्रकृष्टे दोषेऽप्यपराधेऽपि कालदेशकृतदुःखरूपे दोषे वा शं सुखं तन्वानमिति रागस्य, धृतनवनवेत्यनुरागस्य, मादनत्वादिति भावपूर्णतावस्थालक्षणस्य मादनस्येति। चन्द्रपक्षे आसृष्टेरिति चन्द्रत्वे पूर्णत्वं दर्शितम्। प्रदोषे रजनीमुखे। अन्यत् स्पष्टम्॥२२०॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी नान्दीमुखीमाह—आसृष्टेः सृष्टिः प्राकृत्यप्राकृती च। तां तामभिव्याप्य सर्वकालमित्यर्थः। अक्षयिष्णु क्षयसंभावनारहितमिति प्रेम्ण उद्गमो दर्शितः। हृदयेति स्नेहस्य, वक्रिमाणमिति मानस्य, निजेति प्रणयस्य, प्रदोषे प्रकृष्टे दोषे दुःखेऽपि शं सुखं तन्वानमिति रागस्य, धृतनवेत्यनुरागस्य, मादयति हर्षयति सर्वं जगदपीति तस्य भावस्तस्माद्धेतोरद्वैतमद्वितीयं निरुपममिति महाभावस्य, श्लेषेण मादनसंज्ञत्वाद्धेतोर्मदनसंबन्धिचुम्बनालिङ्गनादिसर्वसुखप्रतिक्षणानुभावकत्वाच्च हेतोरद्वैतम्। द्वितैव द्वैतं न विद्यते द्वैतं द्वित्वं यस्य तम् , श्रीवृन्दावनेश्वर्या विना क्वाप्यन्यत्रानुदयात् द्वित्वं यस्य नास्तीत्यर्थः। राधादनुजविजयिनोराश्रयविषययोः। यद्यपि सर्वत्रैव भावेषु तयोः परस्पराश्रयविषयत्वं व्याख्यातं तदप्यत्र न तथाः व्याख्येयं मादनस्य श्रीराधैकाश्रयत्वेन राधायामेवेति लक्षणोक्तेः, अद्वैतमित्युदाहरणोक्तेश्च। नौमि स्तौमि। भाव एव चन्द्रोऽस्मन्मनोरथकुमुदवृन्दविकाशकत्वात्। अद्भुतत्वमत्रासृष्टेरिति, पूर्णत्वेऽपीति,

धृतनवनवेति विशेषणत्रयेण प्रसिद्धचन्द्रतो वैलक्षण्यात्। हृदयेति, निजरुचीति, प्रदोष इति विशेषणैस्त्रिभिस्तेन सह सालक्षण्याद्रूपकम्॥२२०॥

अत्रेर्ष्यायां अयोग्येऽपि प्रबलेर्ष्याविधायिता।
सदा भोगेऽपि तद्गन्धमात्राधारस्तवादयः॥२२१॥

तात्पर्यानुवाद—मादनके अनुभाव—इस मादनख्यभावके उदय होनेपर अनुचित स्थानमें भी प्रबल ईर्ष्या होती है। यह भाव सदाकाल सम्भोगमें भी श्रीकृष्णकी गन्धमात्र वहन करनेवाले आधारकी स्तुति, प्रशंसा और प्रणाम कराता है।

तात्पर्य—'आदि' शब्दके प्रयोगसे श्रीकृष्णके अवलोकन, चुम्बन संप्रयोगादि कोटि-कोटि सुख एक समयमें अनुभव होते हैं॥२२१॥

लोचनरोचनी—अयोग्येऽपीति। चेतनाशून्यत्वादिति भावः॥२२१॥

आनन्दचन्द्रिका—आदिशब्दाच्छ्रीकृष्णावलोकनचुम्बनालिङ्गनसंप्रयोगादिसुखानां युगपदेव कोटिशोऽनुभवः। यथा कर्मी जनः कोटिकल्पगतभोग्यानि सुखदुःखानि एकस्यामेव घटिकायां कदाचित् भुंक्ते किन्तु तत्र कायव्यूहेन, अत्र तु कायव्यूहं विनैवेति भेद इति॥२२१॥

तत्रायोग्येऽपीर्ष्या यथा दानकेलिकौमुद्याम् (९२)—

विशुद्धाभिः सार्धं व्रजहरिणनेत्राभिरनिशं,
त्वमद्धा विद्वेषं किमिति वनमाले रचयसि।
तृणीकुर्वत्यस्मान् वपुरघरिपोराशिखमिदं,
परिष्वज्यापादं महति हृदये या विहरसि॥२२२॥

तात्पर्यानुवाद—अयोग्यमें भी ईर्ष्या—गोवर्द्धन पर्वतके ऊपर नीलमण्डपकी दानघाटीमें कौतुकी श्रीकृष्णके द्वारा दानके बहाने अवरुद्धा श्रीमती राधिका श्रीकृष्णके वक्षःस्थलमें विराजमान वनमालाके अतिशय सौभाग्यको अनुभवकर ईर्ष्यासे भरकर ललिताके निकट वनमालासे मृदु शब्दोंमें कहने लगी—"हे वनमाले! परम सरलचित्त हम गोपियोंके साथ तुम क्यों प्रत्यक्ष रूपमें खिलवाड़ कर रही हो? अहो! तुम हमलोगोंको तृण ज्ञानकर श्रीकृष्णकी शिखासे लेकर चरणपर्यन्त उनका आलिङ्गनकर

उनके विशाल हृदयपर नित्य विहार कर रही हो। हे वनमालिके! मृगनयना हम गोपियोंका हृदय विशुद्ध है। इसमें कभी भी मालिन्यका उदय नहीं हुआ। हम तुमसे कभी द्वेष नहीं करती तब क्यों तुम प्रत्यक्ष रूपसे हमलोगोंसे विद्वेष कर रही हो? यदि कहो कि तुमने क्या विद्वेष देखा? विद्वेष यह है कि तुम हमलोगोंको अत्यन्त तुच्छ समझकर अघरिपु श्रीकृष्णकी शिखासे लेकर चरणपर्यन्त उनका आलिङ्गनकर उनके विशाल हृदयपर विहार कर रही हो॥"२२२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा गोवर्द्धने दानार्थिनः श्रीकृष्णस्य वनमालां वीक्षमाणा तां प्रति सेर्ष्यं नीचैराह—विशुद्धाभिरस्माभिरिति। वयं त्वां कदापि न द्विष्म इति भावः। ननु किं मद्द्वेषलक्षणं पश्यसीति। तत्राह—तृणीकुर्वतीति॥२२२॥

सदा भोगेऽपि तद्गन्धमात्राधारस्तुतिर्यथा श्रीदशमे (२१/१७)—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग–
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन,
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥२२३॥

तात्पर्यानुवाद—सतत सम्भोगमें भी श्रीकृष्ण सम्बन्धी–वस्तुकी स्तुति—शरत्कालमें अतिशय शोभा विशिष्ट परम मनोहर वन, पर्वतादिमें गोचारण करते हुए श्रीकृष्ण विहार कर रहे हैं। उनके वेणुनाद वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीमती राधिका, परम्परा क्रमसे श्रीकृष्णचरणमें लगे हुए थोड़े–से कुमकुमके स्पर्शसे पुलिन्दियोंके अत्यन्त सौभाग्यका विस्मयके साथमें स्तव कर रही है—"सखि! पुलिन्दीरमणियाँ ही पूर्ण मनोरथ हैं। हमारा मनोरथ अपूर्ण है। इन्होंने कौन–सी तपस्या करके ऐसा सौभाग्य पाया है? इनसे पूछा जाए और उसे जान लेनेपर हम भी वैसी ही तपस्या करें। यदि कहो कि पुलिन्दीरमणियोंका मनोरथ और जन्म किस प्रकारसे सफल हुआ? उरुगाय श्रीकृष्णके चरणकमलोंके रागसे युक्त कुमकुमसे। यदि कहो कि श्रीकृष्णके चरणोंमें वह कुमकुम कैसे लगा? सुनो, दयिताओंने सम्भोगके समय कुमकुम लगे हुए अपने स्तनोंपर श्रीकृष्णके चरणोंको धारण किया। इससे उनके चरणोंमें स्तन–सम्बन्धी कुमकुम

लगा। अतएव गोपियोंके सौभाग्यका वर्णन करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल पुलिन्दियोंके ही सौभाग्यकी स्तुति कर रही हूँ।" यद्यपि यहाँपर वह दयिताराध्य श्रीमती राधिका स्वयं हैं, तथापि अनुरागके द्वारा वे भूल गई हैं। अथवा, प्रेमके कारण पुलिन्दियोंके ही सौभाग्यको देख रही हैं, अपने सौभाग्यको नहीं। यदि कहो कि इससे पुलिन्दियोंका क्या हुआ? उसका उत्तर—"दयिता-सम्भोगके अनन्तर श्रीकृष्ण वनविहारके लिए निकले और उनके चरणोंमें उस दयिताके स्तनका कुमकुम इन घासोंपर संलग्न हुआ। यदि कहो तो उससे क्या हुआ? उस तृणमें लगे हुए श्रीकृष्णके चरणोंसे दयिताके वक्षःस्थलका कुमकुम दर्शनकर उनके हृदयमें कन्दर्प-पीड़ा उत्पन्न हुई। साक्षात् श्रीकृष्णके दर्शन पानेपर न जाने उनके हृदयमें क्या होता, मैं नहीं कह सकती? वे उस कुमकुमको अपने हाथोंसे उन तृणोंसे पोंछकर अपने मुख और स्तनमण्डलमें लेपनकर अपनी उस कन्दर्प-पीड़ाका परित्याग करती हैं। यह कुमकुम साक्षात् श्रीकृष्णालिङ्गन सुखको अनुभव कराता है। अहो! कुमकुमकी कैसी अनिर्वचनीय शक्ति है? अहो! इन पुलिन्दी रमणियोंका कैसा अद्भुत प्रेम है?" मुखमें लेपनसे सौरभ और सौन्दर्यकी प्राप्ति तथा अपने लिए ग्राम्यत्वकी सूचना हुई है।

गन्धमात्र शब्दसे श्रीकृष्ण-सम्भोग सादृश्यकी अभिलाषा तक भी तात्पर्य है। अहो! ये पुलिन्दी कन्याएँ ही धन्य है, हम अधन्य हैं; क्योंकि हम उच्चकुलकी नारी होकर भी उनके जैसे भावोंकी परम्परासे श्रीकृष्णके श्रीचरणोंके प्रसादको लाभ नहीं कर पातीं॥२२३॥

आनन्दचन्द्रिका—सदाभोगेऽपीति। मादनभावस्वभावादेव श्रीकृष्णाङ्गदर्शनकालेऽपि श्रीकृष्णाङ्गपरिष्वङ्गचुम्बनादिमयाः सहस्रशः संभोगास्तत्रापीत्यर्थः। मादने विरहास्वीकारादपिकारो दुस्तर्कताद्योतकः। दृष्टचरीः काश्चित् पुलिन्दीरनुसृत्य श्रीराधाह—पुलिन्द्यः शबराङ्गना एव पूर्णा, वयं त्वपूर्णा एवेत्यतस्तदीयं तपो जिज्ञासमानाश्चिकीर्षाम इत्यनुरागो ध्वनितः। ननु केन पूर्णास्तत्राह—उरुगायस्य पदाब्जस्य रागो रञ्जनं यत्र तेन श्रीयुक्तकुङ्कुमेन। ननु तत्पदाब्जे कुत्रत्यं कुङ्कुममलगत् तत्राह—दयितेति। दयितासंभोगात्तदीयसंबन्धीति भावः। अतस्तदीयपरमसौभाग्यस्य स्तुतावभिलाषे च साहसं कर्तुमशक्नुवत्या मया पुलिन्द्य एव स्तूयन्त इति भावः। यद्यपि दयिता स्वयं सैव श्रीराधा तदप्यनुरागेण तदमाननम्। ननु तेन पुलिन्दीनां किं तत्राह—तृणेषु रूषितेन

लग्नेन दयितासंभोगानन्तरं श्रीकृष्णस्य वनविहारादिति भावः। ननु ततोऽपि किं तत्राह—तद्दर्शनेति। तस्य तृणलग्नकुङ्कुमस्यापि दर्शनेन स्मररुक् कन्दर्पपीडा यासां ताः। न जाने श्रीकृष्णदर्शने किमभविष्यदिति भावः। तत् कुङ्कुममाननेषु कुचेषु लिम्पन्त्यः सत्यस्तदाधिं कन्दर्पपीडां जहुः। श्रीकृष्णस्य साक्षादिवालिङ्गनसुखानुभवेनेत्यर्थः। अहो कुङ्कुमस्यैव कोऽप्ययं शक्तिविशेषस्तासां प्रेम्ण एवेति भावः। आननेषु लेपनं सौरभ्य सौन्दर्यलाभार्थं स्वेषां ग्राम्यत्वसूचकं च॥२२३॥

यथा वा—

दुष्करं कतरदालि मालती कोमलेयमकरोत्तपः पुरा।
हन्त गोष्ठपतिनन्दनोपमं या तमालममलोपगूहते॥२२४॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व उदाहरणसे भी अति चमत्कारपूर्ण भावको दिखलानेके लिए श्रीकृष्णके आभासमात्र सादृश्यसे तमालवृक्षके सहित मिलिता मालतीके सम्बन्धलेशके सौभाग्यकी ही प्रशंसा कर रही हैं। ललिताके साथ वृन्दावनमें पुष्पचयनके लिए आई हुईं श्रीमती राधिका वहाँ तमालको अवलम्बन करनेवाली मालतीलताको देखकर ललिताको सम्बोधनपूर्वक मालतीकी प्रशंसा और स्तुति कर रही हैं—"हे सखि! अत्यन्त मृदुल होनेपर भी इस मालतीने पूर्व जन्ममें कठोर, योगियोंके लिए भी अत्यन्त दुष्कर अनुष्ठानको सकाम या निष्काम किस प्रकारसे अथवा कौन-सी तपस्या की थी, जो व्रजेन्द्रनन्दनके साथ उपमा और वर्णादिके सदृश तमालका आलिङ्गनकर सुखसे विराजमान हो रही है?॥२२४॥

लोचनरोचनी—पूर्णाः पुलिन्द्य इत्युदाहरणं नात्रोपपन्नमित्यवधार्य प्राह—यथा वेति। दुष्करमित्युदाहरणं गन्धमात्रशब्दस्य तत्सादृश्याभासपर्यन्ततात्पर्यत्वादुपपद्यते॥२२४॥

आनन्दचन्द्रिका—गन्धमात्रशब्दस्य श्रीकृष्णसंभोगसादृश्याभासपर्यन्तेऽपि तात्पर्यमस्तीति दर्शयितुमाह—यथा वेति। श्रीराधा ललितामाह—दुष्करमिति॥२२४॥

योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः।
यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधा॥२२५॥

तात्पर्यानुवाद—यह अनिर्वाच्य विलक्षण मादनाख्य महाभाव सम्भोगकालमें ही प्रकट होता है, वियोगमें नहीं। इस मादनाख्य महाभावके

असंख्य प्रकारके विभ्रमावर्त्त क्षण-क्षणमें आलिङ्गन, चुम्बनादि अनुभावको वहनकर उदित होते हैं। (यहाँ विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका परिवेशन—श्रीमद्भागवतामृतमें उक्त सिद्धान्तके अनुसार सम्भोग और विप्रलम्भ दोनोंकी समकालीनता प्रकाशभेदसे स्वीकार्य है। प्रकाश भेदसे अभिमान भेद होता है। इसलिए जिस प्रकाशमें सम्भोग है, उसी प्रकाशमें संयोगिनी रूपसे और जिस प्रकाशमें विप्रलम्भ है, उस प्रकाशमें विरहिणी रूपसे श्रीवृन्दावनेश्वरीका अभिमान होता है, किन्तु जिस समय मादनाख्य स्थायिभाव स्वयं उदित होता है, उस समय चुम्बनालिङ्गनादि सम्भोगानुभवके बीचमें ही विविध प्रकारके वियोगकी भी अनुभूति होती है। इसलिए एक ही प्रकाशमें दोनों प्रकाशोंके धर्मानुभव अत्यन्त विलक्षण ही हैं!! यदि ऐसा है तो सम्भोगकालमें भी किस प्रकारसे अति तृष्णामयी उक्ति परम्परा सम्भव है? इसीलिए तो कारिकामें कहा है, यह मादनाख्यभाव विचित्र अर्थात् सम्भोगकालमें भी सहस्र प्रकारकी उत्कण्ठाओंको वहनकर अत्यन्त अद्भुत होता है। "विप्रलम्भमें भी श्रीकृष्णकी विस्फूर्ति"—अनुरागके अनुभावमें कथित (उ. १४/१४९) इस लक्षणके सहित मादनका किन्तु साङ्कर्य होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनुरागमें पहले विप्रलम्भका अनुभव और इसके बाद कान्तके बारम्बार स्मरण हेतु स्फूर्तिकी प्राप्ति और श्रीकृष्णालिङ्गनके समय ऐसी ही महोत्कण्ठाजनित उक्ति नहीं होती। इसलिए सर्वथा विलक्षण मादन महाभावकी अत्यन्त विचित्रता हेतु, अद्भुतता-निबन्धन युगपत् सम्भोग, विरहानुभव और उससे उत्पन्न अनुभाव अवश्य ही स्वीकार्य हैं।)

तात्पर्य—सम्भोगकालमें ही मादनरसकी उत्पत्ति होती है, विप्रलम्भमें नहीं। यदि कहो कि पूर्वोल्लिखित "पूर्णाः पुलिन्द्यः" एवं "दुष्करं कतरदालि"—इन दो पदोंमें मादनरसके उदाहरणके विषयमें योगकी प्रतीति नहीं होती, तब मादनकी सिद्धि कैसे होगी? उसका उत्तर यह है कि 'यद्विलासा' इत्यादि पद्यमें 'सहस्रादि' शब्दसे यह असंख्य प्रकारका होता है। नित्य अर्थात् क्षण-क्षणमें उत्पन्न आलिङ्गन, चुम्बनादि लीला जहाँ मादनके कार्यानुभव स्वरूप होते हैं, यह प्रत्यक्ष रूपमें प्रकटित होता है। जब पुलिन्दियोंके प्रति स्तव और मालतीकी तपस्याके प्रति अभिलाषा

होती है, उसी समयमें सहस्र प्रकारसे श्रीकृष्णकी आलिङ्गन, चुम्बनादि लीलाओंका अनुभव होता है। भागवतामृतका सिद्धान्त यह है कि सम्भोग एवं विप्रलम्भ इन दोनोंकी एक-कालीन प्रकाशभेदमें अवस्थिति होती है। प्रकाश भेदसे अभिमानका भी भेद होता है। जिस प्रकाशमें संयोग होता है, वहाँ "मैं संयोगिनी हूँ" और जहाँ विरह है, वहाँ "मैं विरहिणी हूँ" श्रीवृन्दावनेश्वरीका निश्चित् रूपसे वैसा अभिमान रहता है और जब मादनाख्य-स्थायिभाव स्वयं उदित होता है, तब उसका लक्षण यह है कि चुम्बन, आलिङ्गनादि सम्भोगानुभवके बीचमें ही विविध प्रकारके वियोगकी भी अनुभूति होती है। एक ही प्रकाशमें दोनों प्रकाशोंका धर्म अनुभव कराता है। इसीलिए मादनरसकी विलक्षणता है। यदि ऐसा ही है तो सम्भोगकालमें किस प्रकारसे अतिशय तृष्णामयी वैसी उक्ति सम्भवपर हुई? क्योंकि यह विचित्र है एवं सहस्र रूपमें विराजमान होता है। यह सम्भोगकालमें भी उत्कण्ठा लाता है। इसलिए अत्यन्त अद्भुत है॥२२५॥

लोचनरोचनी—नित्यलीलाः श्रीमद्दर्शनादिषु ध्येयतया प्रसिद्धाः। यद्यपि मादनोऽयं श्रीराधाया एव निर्णीतस्तथापि तदभावस्यैवान्यत्रापि व्याप्तेरनेकपरिकरमय्यस्ता उपपद्यन्ते। तदुक्तमासन्नजनताहृद्विलोडनमिति॥२२५॥

आनन्दचन्द्रिका—योगे संभोगे एव न तु विप्रलम्भे। ननु पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यत्र, दुष्करं कतरदालीत्यत्र च मादनस्योदाहरणे योगो न प्रतीयते इत्यत आह—यद्विलासा इति। सहस्रादिशब्दानामसंख्यत्व एव तात्पर्यात् सहस्रधा असंख्यप्रकारा नित्याः प्रतिक्षणभवा लीला आलिङ्गनचुम्बनाद्या यस्य मादनस्य विलासाः कार्या अनुभावा इति यावत्। विशेषेण राजन्ते तस्याः प्रत्यक्षतया प्रकटीभवन्तीति स्फूर्त्तितो वैलक्षण्यं दर्शितम्। यदैव पुलिन्दीः स्तौति मालत्यास्तपश्च, तस्मिन्नपि काले सहस्रप्रकारा अपि श्रीकृष्णालिङ्गनचुम्बनादिलीला अनुभवत्येवेत्यर्थः। अयमर्थः—भागवतामृतोक्त-सिद्धान्तात् संभोगविप्रलम्भयोर्यौगपद्यं प्रकाशभेदेन वर्तत एव, प्रकाशभेदे चाभिमानभेदात् यत्र प्रकाशे संभोगस्तत्र संयोगिन्येवाहमिति। यत्र च प्रकाशे विप्रलम्भो विरहस्तत्र विरहिण्येवाहमिति श्रीवृन्दावनेश्वरी खल्वभिमन्यते। यदा तु मादनाख्यः स्थायी स्वयमुदयते तत्क्षण एव चुम्बनालिङ्गनादिसंभोगानुभवमध्य एव विविध वियोगानुभव इत्येकस्मिन्नेव प्रकाशे प्रकाशद्वयधर्मानुभवः स च विलक्षणरूप एवेति। नन्वेवं चेत्संभोगकालेऽपि कथमतितृष्णामयी तादृश्युक्तिः संभवतीति तत्राह—विचित्र

इति। सहस्रधा संभोगकाले सहस्रधैवोत्कण्ठेत्यद्भुतमेवेत्यर्थः। तेन विप्रलम्भस्य विस्फूर्त्तिरिति लक्षितलक्षणेनानुरागेण सहास्य सांकर्यं न मन्तव्यम्। तत्र हि विप्रलम्भस्य प्रथममनुभवः ततश्च कान्तस्मरणपौनःपुन्यात्तस्य स्फूर्त्तिः। स्फूर्त्तिप्राप्ते श्रीकृष्णालिङ्गनकाले च नैतादृश्युत्कण्ठोक्तिश्चेति बह्वेवान्तरमिति॥२२५॥

मादनस्य गतिः सुष्ठु मदनस्येव दुर्गमा।
न निर्वक्तुं भवेच्छक्या तेनासौ मुनिनाप्यलम्॥२२६॥

तात्पर्यानुवाद—कामबीजके उपास्य श्रीकृष्णकी भाँति इस मादनाख्यकी गति भी सुदुर्बोध्य है। यही कारण है कि भरतमुनि अथवा स्वयं शुकदेव गोस्वामी भी मादनके सर्वात्मकस्वरूपका स्पष्ट लक्षण निर्णय नहीं कर पाए॥२२६॥

लोचनरोचनी—मादनस्य क्वचिन्मदनतयोपास्यस्य श्रीकृष्णस्येव। तेनापि मुनिनेति श्रीशुकेनेति वा गम्यते॥२२६॥

आनन्दचन्द्रिका—"नमश्चैतन्यरूपाय माधुर्य्यस्थायिने सदा। स्वसामर्थ्येऽप्यहो सम्यक् सामञ्जस्यानुवर्त्तिने॥" ननु तदपि "दुष्करं कतरदालि मालती" इत्यादौ संभोगकालानुभवप्रतिकूलमालत्यामन्त्रणं मालत्यादाववलोकनं च दुर्घटं यदि च मादनलक्षणे सर्वभावोद्गमोल्लासीत्यत्र सर्वपदेन संभोगविप्रलम्भतद्भेदतत्प्रकारादयोऽपि वक्तव्यास्तदपि सर्वेषां भावानां युगपदुद्गमे हेतुर्मादनस्य कोऽपि धर्मविशेष एव भविष्यति, तं च विविच्य स्पष्टीकृत्य प्रोच्य मादनस्य लक्षणं किमपि कर्तुमुचितमित्यत आह—मादनस्येति। "रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव" इतिवत् दुस्तर्क्यत्वेऽपि निरुपममेवेत्यर्थः। "मदनस्येव" इति पाठे मदनतया कामबीजेनोपास्यस्य श्रीकृष्णस्य तेन मुनिना भरतेन शुकेन वा॥२२६॥

किं च—

रागानुरागतामादौ स्नेहः प्राप्यैव सत्वरम्।
मानत्वं प्रणयत्वं च क्वचित्पश्चात्प्रपद्यते॥२२७॥

अतएवात्र शास्त्रेषु श्रूयते राधिकादिषु।
पूर्वरागप्रसङ्गेऽपि प्रकटं रागलक्षणम्॥२२८॥

स्फुरन्ति व्रजदेवीषु परा भावभिदाश्च याः।
तास्तर्कागोचरतया न सम्यगिह वर्णिताः॥२२९॥

तात्पर्यानुवाद—रति-अवस्थासे आरम्भकर महाभाव पर्यन्त भावके क्रमशः उत्तरोतर उत्कर्षोंको लक्षण और उदाहरणके द्वारा निरूपणकर उक्त क्रमकी प्रायिकता (अर्थात् ऐसा प्रायः ही होता है) दिखला रहे हैं—स्नेह प्रथमतः राग और अनुरागको प्राप्तकर, कभी-कभी बादमें मानत्व और प्रणयत्वको प्राप्त करता है। [श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके मतसे राग प्रथम उत्पन्न होकर अनुराग अवस्थाको लाभ करता है। इसके पश्चात् स्नेहका उदय कराता है। तदनन्तर मान या प्रणयको उत्पन्न करता है।] अतएव रसशास्त्रमें राधिकामें पूर्वरागके प्रसङ्गमें भी मान और प्रणयादिके आविर्भावके बिना ही रागाविर्भावकी बातें सुनी जाती हैं। व्रजदेवियोंके श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भावोंमें जो भेद स्फूर्ति पातें हैं अथवा रासलीलामें जो पूतनानुकरणादि है, वह शीघ्र ही बोधगम्य नहीं होनेके कारण इस ग्रन्थमें सम्यक् रूपसे उनका वर्णन नहीं किया गया॥२२७-२२९॥

लोचनरोचनी—स्फुरन्तीति। यथा रासलीलायां पूतनाद्यनुकरणानि। तर्कागोचरा इति। झटिति बोद्धुमसमर्था इत्यर्थः। यत्नेन तु बोधितुं श्रीवैष्णवतोषिण्यां पूर्वं हि तासां श्रीकृष्णान्तर्द्धाने उन्माद एवोक्तः। तत्रैव वृक्षेषु पृच्छा तज्जन्मादिलीलागानं, च तत्र या या लीला गातुमारब्धा तस्यां तस्यामेवोन्मादानुगतेः पूतनादिहेतुकेन श्रीकृष्णविषयकभयेन पूतनाद्यावेशात् पूतनाद्यनुकरणं जातम्। यथा कस्यचिदात्म-विषयकव्याघ्रादिभयादुन्मादे व्याघ्राद्यनुकरणं स्यात्तथा प्रतिपद्यते। ततश्च तादृश्युन्मादे सति स्वस्मिन्निव श्रीकृष्णे यः प्रेमा स एवाश्रयस्तदभावे भयादिभावस्याप्यसिद्धिः स्यात्। तदेवं श्रीव्रजेश्वर्यनुकरणं च "गोप्याददे" इत्यादौ "वक्त्रं निलीय भयभावनया स्थितस्य" इति श्रीकुन्तीवाक्यानुसारान्मातृभीतश्रीदामोदराभेदभावनामयत्वेनैव; किन्तु श्रीदामोदर-स्योन्मादानुवर्तनाभावात्तत्र मात्रनुकरणं न जातं तदनुवर्तनात्तस्यास्तदनुकरणं जातमिति विशेषे करणमवगन्तव्यम्। एवमन्यत्रापि॥२२९॥

आनन्दचन्द्रिका—स्थायिभावमुपसंहरन् प्रेमस्नेहादावुक्तक्रमो नैकान्तिक इत्याह—किञ्चेति। रागः कर्ता आदौ प्रथमत एवोद्भूय अनुरागतां प्राप्य स्नेहः सन् मानत्वं प्रणयत्वं च प्राप्नोति॥२२७॥

पूर्वरागप्रसङ्गेपीति मानप्रणयाद्याविर्भावं विनैवेत्यर्थः। रागलक्षणं यथा—"ताराभिसारकचतुर्थनिशाशशाङ्क कामाम्बुराशिपरिवर्द्धन देव तुभ्यम्। अर्घो नमो भवतु मे सह तेन यूना मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः॥" इति॥२२८॥

परा भावभिदा इति। यथा रासलीलायां पूतनाद्यनुकरणादीनि साधारण्यां रतावेव न तु सामञ्जस्यसमर्थयोः। ताभ्यां सकाशात्तस्या जातिप्रमाणयोरल्पत्वात् धूमायिता एवोचितेति भावः॥२२९॥

साधारण्यां रतावेव धूमायिततया मताः।
ज्वलितास्तु रतिप्रेम्णोर्दीप्ताः स्नेहादिपञ्चसु।
रूढे भावे तथोद्दीप्ताः सुदीप्ता मोहनादिषु॥२३०॥

तात्पर्यानुवाद—साधारणीरतिमें ही धूमायित भाव स्वीकृत है, ज्वलितादि नहीं और समञ्जसा तथा समर्थामें ज्वलितादि भाव ही वाच्य हैं, धूमायित नहीं। रति और प्रेममें ज्वलितभाव होते हैं। स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुरागमें द्दीप्त, रूढ़महाभावमें प्रदीप्त, मोहन और मादनमें सूद्दीप्त सात्त्विकभाव ही ग्रहण योग्य हैं॥२३०॥

आनन्दचन्द्रिका—किन्तु साधारण्या अपि रतेः प्रेमदशायां जात्यल्पत्वेऽपि प्रमाणाधिक्यात् तथा समञ्जसा समर्थयोरपि जातिप्रमाणाधिक्याज्ज्वलिता एवोचितेत्यभिप्रेत्याह—ज्वलितास्त्विति। अत्र समञ्जसातः समर्थायां रतौ ज्वलितस्य वैशिष्ट्यं ज्ञेयम्, तथा रतेः सकाशात् प्रेम्णि च। यथा स्नेहादिपञ्चसु स्नेहमानप्रणयरागानुरागेषु दीप्ता इति यथोत्तरं दीप्तत्वस्य वैशिष्ट्यं तथा समञ्जसासंबन्धिभ्यस्तेभ्यः समर्थासंबन्धिषु श्रेष्ठ्यं च। मोहनादिष्विति मोहनभेद-मादनभेदेष्वित्यर्थः॥२३०॥

इयं प्रायिकता किन्तु श्रेष्ठमध्यादिभावतः।
देशकालजनादीनां क्वाप्येषां स्याद्विपर्ययः॥२३१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व श्लोकमें सात्त्विकभेदकी स्थिति निरूपणकर यहाँ उस स्थितिकी प्रायिकताको बतला रहे हैं—देश, काल और पात्रादिके श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और कनिष्ठत्व हेतु किसी-किसी स्थान या कालमें उक्त ज्वलितादि सात्त्विकभेदका विपर्यय भी हो सकता है। पूर्व श्लोकमें प्रायिक नियमको ही बतलाया गया है॥२३१॥

लोचनरोचनी—इयं साधारणीत्याद्युक्तप्रकारा प्रायिकता ज्ञेया। तदिदं प्राचुर्येणैव प्रोक्तमित्यर्थः। किन्तु देशादीनां श्रेष्ठत्वादित्वात् क्वचिद्विपर्ययोऽपि स्यात्॥२३१॥

आनन्दचन्द्रिका—एवमुक्ता व्यवस्थापि न सार्वत्रिकीत्याह—इयमिति। देशकाल-पात्रादीनां श्रेष्ठमध्यकनिष्ठत्वाद्धेतोः। तथा हि देशकालादीनां श्रैष्ठ्याद्रतावपि दीप्तास्तेषामेव कनिष्ठत्वात् स्नेहादावपि ज्वलिता इत्येवम्। अत्र देशकालजनादीनामित्यत्रादिशब्दात् संसर्गो ग्राह्यः॥२३१॥

आद्या प्रेमान्तिमां तत्रानुरागान्तां समञ्जसा।
रतिर्भावान्तिमां सीमां समर्थैव प्रपद्यते॥२३२॥

तात्पर्यानुवाद—साधारणीरति प्रेम तक आरोहण करती है, समञ्जसा अनुरागकी सीमा तक उपस्थित होती है और समर्था ही केवल महाभावकी अन्तिम दशाको प्राप्त करती है॥२३२॥

लोचनरोचनी—आद्या साधारणी॥२३२॥

आनन्दचन्द्रिका—उक्तानां भावानामाश्रयालम्बनं निश्चिनोति—आद्या साधारणी प्रेमैवान्तिमो यत्र तथाभूतां सीमां प्रपद्यते; तेन कुब्जादीनां रतिप्रेमाणौ द्वावेव स्थायिनौ, समञ्जसा अनुरागान्तामिति; तेन पट्टमहिषीणां रतिप्रेमस्नेहमानप्रणयरागानुरागाः सप्त स्थायिनः॥२३२॥

रतिर्नर्मवयस्यानामनुरागान्तिमां स्थितिम्।
तेष्वेव सुबलादीनां भावान्तामेव गच्छति॥२३३॥

तात्पर्यानुवाद—कोकिलादि नर्म वयस्योंकी रति अनुराग तक और उनमेंसे सुबलादिकी रति भावके अन्त तककी दशाको प्राप्त करती है॥२३३॥

लोचनरोचनी—रतिरिति श्रीव्रजदेवीरत्यनुमोदनात्मिका रतिरित्यर्थः॥२३३॥

आनन्दचन्द्रिका—नर्मवयस्यानां कोकिलादीनाम्॥२३३॥

॥ चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ॥

पञ्चदशोऽध्यायः
अथ शृङ्गारभेद-प्रकरणम्

स विप्रलम्भः संभोग इति द्वेधाज्ज्वलो मतः ॥१॥

तत्र विप्रलम्भः—

यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः।
अभीष्टालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते।
स विप्रलम्भो विज्ञेयः संभोगोन्नतिकारकः ॥२॥

तात्पर्यानुवाद—विप्रलम्भ और सम्भोगके भेदसे उज्ज्वलरस दो प्रकारका होता है॥१॥

उनमेंसे **विप्रलम्भ—**नायक और नायिका दोनोंके अयुक्त या युक्त समयमें परस्परके अभिलषित आलिङ्गन, चुम्बनादिकी अप्राप्तिमें जो भाव प्रकृष्ट रूपसे प्रकटित होता है, उसे विप्रलम्भ कहते हैं। यह विप्रलम्भ सम्भोगका पुष्टिकारक होता है।

तात्पर्य—नायक और नायिका दोनोंके प्रथम मिलनसे पूर्व अयुक्त और मिलनके पश्चात् युक्त होनेपर ही भाव स्थायी होता है। यह स्थायिभाव—विभावादिके परस्पर न मिलनेके कारण विप्रलम्भ नामक रस होता है॥२॥

लोचनरोचनी—तदेवं मधुररत्याख्यं भावमुक्त्वा शृङ्गारपर्यायं मधुररसमाह—अथ शृङ्गारभेद इति। स इति। "वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः। नीता भक्तिरसः प्रोक्तः शृङ्गाराख्यो मनीषिभिः॥" इति प्रथममुद्दिष्ट इत्यर्थः। तत्र रतिरित्युपलक्षणं प्रेमादीनाम्। एवमुत्तरत्रापि। किन्तु विभावादिमाधुर्याणां संवलनमेव रसः। ततश्च रत्यादिस्थायिभावतारतम्येन रसस्यापि तारतम्यं ज्ञेयम्। तत्र च यत्र विभावादिसामग्रीपरिपोषेण प्रस्फुट एव रसस्तत् खलु भावतारतम्यज्ञानार्थं भावप्रकरणे पठितमपि रसमयमेव। यत्र विभावादिसामग्री स्फुटं नोपलभ्यते तच्च रसप्रकरणे पठितत्वात् सद्भावश्चेद्विभावादेरित्यादिन्यायेन तत्तत्स्फूर्त्यैव सामग्रीपरिपोषाद्रसमयमेव ज्ञेयम्॥१॥

प्रकर्षतेः सकर्मकत्वमत्रान्तर्भूतण्यर्थमनानाज्ज्ञेयम्। यथा "समां समां विजायते" इति जनधातोः। प्रकर्षत इति तु पाठान्तरं सुगमम्। अयुक्तयोर्युक्तयोर्वा यूनोर्मिथो यो भावोऽभीष्टस्य यूनस्तादृश्या युवत्या वालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते। विभावादिसंवलनेन स्वाद्यविषयतया संपाद्यते स विप्रलम्भेन वियोगेन संवलितत्वाद्विप्रलम्भाख्यो मधुररसो ज्ञेयस्तदेतत्पारकीयं साधारणलक्षणमत्र तु विशेषांशेन संवलय्य ज्ञेयमिति भावः। स च विशेषः श्रीकृष्णप्रेयसीनां भाव ईदृक् चेत् तदा विप्रलम्भाख्यो रसो ज्ञेय इति भक्तिरस इत्युक्तत्वात्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते इति भक्तिलक्षणेनानुगमनीयत्वाच्च। रसस्यैव विप्रलम्भाख्यत्वं प्राधान्यादेवोच्यते। पूर्वरागमानसमञ्जसासाधारण्यादिशब्दवत् शङ्कितान्तराभावात् भावोऽपि विप्रलम्भाख्यो ज्ञेयः। एवमुत्तरत्रापि। अथ कारिकाशेषो व्याख्यायते। ननु संभोग एव रसः सुखमयत्वात् न तु विप्रलम्भो दुःखमयत्वात् तर्हि सोऽयं कथं वर्ण्यते, श्रीकृष्णेन वा स्वयमङ्गीक्रियते। तत्राह—"संभोगोन्नतिकारक" इति। विप्रलम्भ समयेऽपि प्रत्याशालब्धभावनामयस्य संभोगोन्नतिकारकत्वाद्रसतामसावाप्नोति। किमुत तदनन्तरं साक्षाल्लब्धस्येति भावः॥२॥

आनन्दचन्द्रिका—तदेवं विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिभावान्सपरिकरानुक्त्वा तत्संवलनरूपं रसमाह—अथ शृङ्गारेति॥ स इति। "वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः। नीता भक्तिरसः प्रोक्तः शृङ्गाराख्यो मनीषिभिः॥" इति प्रथममुक्त इत्यर्थः। अत्र रतिरित्युपलक्षणम् प्रेमादीनां सप्तानाम्। रत्यादिस्थायितारतम्येन रसस्यापि तारतम्यं ज्ञेयम्। उज्जवलो मधुरापरपर्यायः॥१॥

यूनोर्नायिकानायकयोः। अयुक्तयोः प्रथममिलनात् पूर्वं युक्तयोर्लब्धमिलनयोरिति वा। भावः स्थायी। अनवाप्तावप्राप्तौ सत्यां प्रकृष्यते प्रकृष्टो भवति। कर्मणिप्रत्ययः। अत्युत्कण्ठयेति कर्तृपदमाक्षेपलब्धम्। स स्थायीभावो विभावादिसंवलनतो विप्रलम्भः, तन्नामा रस इत्यर्थः। यदाहुः—"दीर्घानुरक्तयोर्यूनो रसमागमहेतुतः। भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति। नातिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदुच्यते॥" इति प्राञ्चः। ननु संभोग एव सुखमयत्वेन रसो भवितुमर्हति नतु विप्रलम्भस्तत्कथमसौ रसत्वेन वर्ण्यते तत्राह—संभोगोन्नतीति॥२॥

तथा चोक्तम्—

न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते॥३॥

तात्पर्यानुवाद—प्राचीन पण्डितोंके विचारसे "दीर्घानुरक्तयोर्यूनो रसमागम–हेतुतः। भावो यदा रतिर्नामप्रकर्षमधिगच्छति। नाभिगच्छति चाभीष्टं

विप्रलम्भस्तदुच्यते॥" अर्थात् अतिशय अनुरक्त नायक और नायिकाके परस्पर मिलित न होनेपर रति नामक भाव जब अत्यन्त उत्कण्ठताको प्राप्त होता है और अभीष्ट सिद्धि नहीं कर पाता, उस समय उसको विप्रलम्भ कहा जाता है। यदि कहो सम्भोग ही सुखमयत्व रस होनेके योग्य है, विप्रलम्भ किस प्रकार रस होने योग्य हो सकता है? उसका कारण सुनो, यह विप्रलम्भ सम्भोगके लिए पुष्टिकारक अर्थात् उन्नति विधायक है। यहाँ प्राचीन पण्डितोंका कहना है कि विप्रलम्भके बिना सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती। जैसे रङ्गे हुए वस्त्रको पुनः रङ्ग करनेसे अतिशय रागकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार विप्रलम्भ रतिके बिना सम्भोगकी उत्कर्षता नहीं होती॥३॥

लोचनरोचनी—तत्र वर्णने सयुक्तिकं प्रमाणमाह—तथा चोक्तमिति। तदङ्गीकारे तु स्वयमेव श्रीकृष्णः समादधे "नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये। यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद॥" इति। पूर्वानुसारेणास्य चायमर्थः—हे सख्यः, शृणुत इति शेषः। अहंतु भजतोऽपि जन्तून् जन्तुमात्रानपि किमुत भवद्विधप्रेयसीजनान्न भजामि? किंचित् किंचिद्विच्छिद्य तिष्ठामीति वाच्यमित्यर्थः। किमर्थं न भजसि तत्राह—अमीषां या अनुवृत्तिर्मदेकभावनामयप्रेमा तद्रूपा या वृत्तिर्मम स्वीया जीविका तस्यैता वर्द्धयितुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इति चतुर्थी। कृच्छ्रसाध्यापि सेयं वाञ्छितसिद्धिस्तत्तृष्णया मया दुष्परिहारा इति भावः। ननु परमोपादेयवस्तुनि स्वयमेव वर्द्धत एव प्रेमा? सत्यम्। तथापि तेषामनुवृत्तिः स्वस्यापि तद्रूपाया वृत्तेर्वर्द्धनाधिक्यमभजने स्यादिति दृष्टान्तद्वाराह—यथेति। यथा निर्धनः कश्चिल्लब्धे धने परमजीविकारूपे विनष्टे विशेषेणादर्शनं प्राप्ते तच्चिन्तया तत्प्राप्तिसंभावनया किमुत प्राप्त्या निभृतः पूर्णः सन्नान्यदनुसंदधाति। तथा भवादृशः परमधने मयि मम च परमधने भवादृशि परस्परं तादृशत्वं स्यादित्यर्थः॥३॥

आनन्दचन्द्रिका—नेति। पुष्टिमुत्कर्षम्। ननु तदपि संभोगपोषकत्वेन संभोगाङ्गमस्तु न तु पार्थक्येन रसो भवितुमर्हतीति चेत् सत्यम्। न केवलं विप्रलम्भः संभोगपोषक एव किन्तु रतिप्रेमस्नेहादिस्थायिभाववतोर्नायकयोर्मिथः स्मरणस्फूर्त्याविर्भावैर्मानस-चाक्षुषकायिकालिङ्गनचुम्बनसंप्रयोगादीनां प्रत्युत निरवधिचमत्कारसमर्पकत्वेन संभोगपुञ्जमय एव, यदुक्तमनुभविष्णुभिः—"संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः। सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥" इति। न च स्फूर्त्याविर्भावयोर्विभावयोर्भङ्गे विरहपीडाया दुःसहत्वादवशत्वमिति वाच्यम्। ह्लादिनीसंविद्वृत्तिविशेषत्वेनाप्राकृतत्वात्।

पीडापीयमानन्दकन्दरूपैवेति पूर्णानन्देऽप्युषित्वा बहिरिदमबहिश्चार्त्तमासीदजाण्डमित्यादौ व्याख्यातमेव ॥३ ॥

पूर्वरागस्तथा मानः प्रेमवैचित्त्यमित्यपि।
प्रवासश्चेति कथितो विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥४ ॥

तात्पर्यानुवाद—विप्रलम्भ चार प्रकारका होता है—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास ॥४ ॥

तत्र पूर्वरागः—

रतिर्या संगमात्पूर्वं दर्शनश्रवणादिजा।
तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते ॥५ ॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वराग—नायक और नायिकाके मिलनसे पूर्व दर्शन, श्रवणादिसे उत्पन्न जिस रतिका आविर्भाव होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं ॥५ ॥

लोचनरोचनी—उन्मीलति विभावादिसंवलनेन आस्वादविशेषमयी स्यात् ॥५ ॥

आनन्दचन्द्रिका—स विभावादिसंवलनतः पूर्वराग उच्यते। एवमग्रेतनेष्वपि लक्षणेषु विभावादिसंवलनतः इति सर्वत्र व्याख्येयम् ॥५ ॥

तत्र दर्शनम्—

साक्षात्कृष्णस्य चित्रे च स्यात्स्वप्नादौ च दर्शनम् ॥६ ॥

तात्पर्यानुवाद—उनमेंसे दर्शन—साक्षात् दर्शन, चित्रपटमें दर्शन और स्वप्नमें श्रीकृष्ण दर्शन ॥६ ॥

तत्र साक्षाद्यथा पद्यावल्याम् (१५९)—

इन्दीवरोदरसहोदरमेदुरश्रीर्वासोद्रवत्कनकवृन्दनिभं दधानः।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाः कोऽयं युवा जगदनङ्गमयं करोति ॥७ ॥

तात्पर्यानुवाद—साक्षात् दर्शन—दो–तीन सखाओंके साथ मार्गमें भ्रमण कर रहे कृष्णको अटारीसे देखती हुई श्रीराधा विशाखासे कह रही है—"हे सखि! जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके मध्यदेशकी भाँति

अत्यन्त कोमल और स्निग्ध है, जो द्रवीभूत काञ्चनराशिके सदृश पीताम्बरका परिधान किये हुए हैं और जिनके वक्षःस्थलमें सुन्दर मनोहर मुक्ताकी माला दोदुल्यमान हो रही है, जो जगत्‌को काममय कर रहे हैं, ये नवयुवक कौन हैं?" ॥७॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वित्रैः प्रियनर्मसखैः सह रथ्यायां भ्रमन्तं वलभीजालरन्ध्रात्पश्यन्ती श्रीराधा विशाखामाह—इन्दीवरेति। सहोदरा सदृशी। आमुक्तं ग्रथितम्॥७॥

चित्रे यथा विदग्धमाधवे (२/२३)—

शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः,
परिजनगिरां विश्रम्भात्त्वं विलासफलाङ्कितः।
शिव शिव कथं जानीमस्त्वामवक्रधियो वयं,
निबिडबडवावह्निज्वालाकलापविकासिनम् ॥८॥

तात्पर्यानुवाद—चित्रपटमें दर्शन—पौर्णमासी श्रीराधाके श्रीकृष्ण–विषयक अनुरागको बारम्बार परीक्षाके द्वारा निश्चित करनेपर भी जब बाह्यतः तिरस्कार करने लगी, तब श्रीमती बाहरसे चित्रपटमें श्रीकृष्णमूर्त्तिकी निन्दा करते हुए मन–ही–मन कह रही है—"हे राधे! इस दिव्यकिशोरका दर्शनकर अपने दोनों नेत्रोंको सुशीतल करो।" विशाखादि परिजनोंके इस वचनमें विश्वासकर मैंने कौतुहलमें भरकर इस चित्रपटमें अङ्कित तुमको दर्शन किया, किन्तु शिव! (हाय! हाय!) सरल बुद्धिवाली मैं कैसे जान सकती थी कि तुम अतितीव्र बड़वाग्निकी सुतीव्र ज्वालामालाका ही वर्द्धन करते हो?" ॥८॥

लोचनरोचनी—विलासफलके सखीभिर्विलासेन कृते चित्रपटेऽङ्कितो लिखितः॥८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा श्रीकृष्णमुद्दिश्याह—शिशिरयेति। विलासफलके क्रीडाचित्रपटेऽङ्कितो लिखितः। परिजनेति। नहि परिजना अविश्वसनीयाः नाप्यहितकारिण्य इति भावः। नन्वेवं चेत् दृशौ शिशिरयेति तदुक्तिविश्वास एव कथं ते सर्वाङ्गस्यापि ज्वालायां कारणमभूत्? तत्राह—अवक्रधियो वयमिति। अहमिव मत्परिजना अपि मुग्धा एवेति भावः। निबिडवडवेति। प्रथममापाततस्त्वं शीतलत्वेनानुभूय पश्चात् वडवानलस्येव स्वज्वालां प्रकाशयिष्यसि तत्कथं सख्यो मे ज्ञास्यन्तीति भावः॥८॥

स्वप्ने यथा—

स्वप्ने दृष्टा सहचरि सरित्कासरीश्यामनीरा,
तीरे तस्याः क्वणितमधुपा माधवी कुञ्जशाला।
तस्याः कान्तः कपिशजघनो ध्वान्तराशिः शरीरी,
चित्रं चन्द्रावलिमपि समां पातुमिच्छन्नरौत्सीत्॥९॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्नमें दर्शन—स्वप्नमें दर्शनसे जातभावा चन्द्रावली अपनी सखी पद्मासे उस वृत्तान्तको क्रमशः कह रही है—"हे सखि पद्मे! स्वप्नमें मैंने देखा कि कासरी (भैंस) की भाँति श्रीकृष्णवर्णकी एक नदी है। उसके तीरपर मधुकरोंके गुञ्जनसे गुञ्जित एक वासन्तीलतासे समावृत कुञ्जगृह है। उस कुञ्जमें मैंने एक मूर्त्तिमान अन्धकारराशि (श्रीकृष्ण) को देखा, किन्तु वह दूसरे किसी प्रकारके अन्धकार सदृश नहीं, वह अन्धकारपुञ्ज मानो कान्तिका मूर्त्तिमान विग्रह था। उसका परिधानवस्त्र पीतवर्णका था। आश्चर्यका विषय यह है कि उस अन्धकारने चन्द्रावली (चन्द्रश्रेणी) अर्थात् मुझको ही पान करनेकी इच्छासे अवरोध कर रखा था!! मात्र एक चन्द्रकलासे ही अन्धकार राशिका पराभव होता है, उस अन्धकार राशिने चन्द्रश्रेणीके तुल्य इस चन्द्रावलीको भी पराभूत कर दिया। हाय-हाय कैसा अत्यन्त अद्भुत व्यापार है?"॥९॥

लोचनरोचनी—स्वप्ने दृष्ट्वेति सौन्दर्यगोपनाय पित्रादिभिर्बाल्यादेव दूरे गोपिता यास्तत्रैव जातनववयसश्चन्द्रावल्या वचनम्। कासरी श्यामेत्यादिषु नीरदश्यामेति, कनकवसन इति कान्तिभृद्ध्वान्तमूर्त्तिरिति च पाठः प्रेक्ष्यः॥९॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावली पद्मामाह—कासरी महिषीति गोपजातित्वेन बाल्येन च। श्यामवर्णोपमानेषु कासर्या एव झटित्युपस्थितिः। कपिशं पीतवर्णं जघनं यस्येति पीताम्बरं लक्षितम्। पातुमिति "पा पाने"॥९॥

अथ श्रवणम्—

वन्दिदूतीसखीवक्त्राद्गीतादेश्च श्रुतिर्भवेत्॥१०॥

तत्र वन्दिवक्त्राद्यथा—

पठति मागधराजनिर्जयार्थां सखि बिरुदावलिमत्र बन्दिवर्ये।
वद कथमिव लक्ष्मणे तनुस्ते पुलककुलेन विलक्षणा किलासीत्॥११॥

तात्पर्यानुवाद—श्रवण—बन्दी, दूती और सखी इत्यादिके मुखसे और गीत आदिसे जो श्रवण होता है, उसे श्रवण कहते हैं॥१०॥

बन्दीके मुखसे श्रवण—मद्राधिपतिकी सभामें कोई बन्दी (स्तुति पाठक) श्रीकृष्णके यश और पराक्रमादिकी अलौकिक चमत्कारजनक विरुदावलिका पाठ कर रहा था। अन्तःपुरमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मणादेवी गवाक्षोंके छिद्रमें अपने नेत्रकमलोंको लगाकर उसे सुनते-सुनते ही विकारग्रस्त हो गई और उनका हृदय द्रवित हो गया। ऐसा देखकर उनकी प्रियसखी विकारका कारण पूछ रही है—"हे सखि! तुम्हारे पिताकी इस सभामें जब श्रेष्ठ-श्रेष्ठ बन्दीलोग जरासन्धकी पराजय सूचक विरुदमाला पाठ कर रहे थे, तब तुम्हारा शरीर क्यों पुलकाञ्चित हो रहा था और न जाने कैसी अवस्थाको प्राप्त कर रहा था, हे सखि! इसका कारण बतलाओ तो?"॥११॥

आनन्दचन्द्रिका—लक्ष्मणायाः सखी तामाह—पठतीति। मगधराजनिर्जयः श्रीकृष्णेन कृत इति "प्रायो वीररताः स्त्रियः" इति तस्य वीरत्वं तथा तद्विरुदावल्यां रूपनामगुणा अपि वर्णितास्तस्या रत्युत्पत्तौ कारणान्यभूवन्॥११॥

दूतीवक्त्राद्यथा—

आविष्कृते तव मुकुन्द कथा प्रसङ्गे,
तारावली पुलकिताङ्गलता नताक्षी।
शुश्रूषुरप्यलघुगद्गदरुद्धकण्ठी,
प्रष्टुं तवाक्षमत सा न कथाविशेषम्॥१२॥

तात्पर्यानुवाद—दूतीके मुखसे श्रवण—श्रीकृष्णका इङ्गित पाकर वृन्दादेवी यूथेश्वरी तारावलीके निकट आकर किसी प्रसङ्गमें श्रीकृष्णके अतुलनीय रूप और गुणमाधुरीका वर्णन करने लगी। उससे तारावलीके हृदयमें जो विकार उत्पन्न हुऐ थे, उसीको वृन्दादेवी श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर कह रही है—"हे कृष्ण! तुम्हारी कथाप्रसङ्गसे तारावलीके अङ्गोंमें रोमाञ्च उत्पन्न होनेपर लज्जा हेतु उसने अपनी आँखोंको नीचा कर लिया। तुम्हारी कोई विशेष बात पूछनेकी इच्छा रहनेपर भी गद्‌गदरूप सात्त्विकभावके महाप्राबल्यसे कण्ठरोध हो जानेके कारण वह कुछ भी कह न सकी॥"१२॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीकृष्णमाह—आविष्कृते इति॥१२॥

सखीवक्त्राद्यथा—

यावदुन्मदचकोरलोचना मन्मुखात्तव कथामुपाशृणोत्।
तावदञ्चति दिनं दिनं सखी कृष्ण शारदनदीव तानवम्॥१३॥

तात्पर्यानुवाद—सखीके मुखसे श्रवण—अपनी प्रियसखी विशाखाके मुखसे श्रीकृष्णके रूप, गुणादि माधुर्य और वैदग्ध्यादि मङ्गलमय गुणगणोंके प्रसङ्गको सुनकर जातभावा श्रीराधिकाकी जो दशा हुई, उसे विशाखा श्रीकृष्णको बतला रही है—"हे कृष्ण! उन्मद चकोर-लोचना मेरी सखीने जिस दिनसे मेरे मुखसे तुम्हारे रूप और गुण-माधुर्यको सुना है, उसी दिनसे शरत्कालीन नदीकी भाँति वह प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है॥"१३॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—यावदिति। अञ्चति प्राप्नोति॥१३॥

गीताद्यथा—

नयने प्रणयन्नुदश्रुणी मम सद्यः सदसि क्षितीशितुः।
उपवीणयति प्रवीणधीः कमुदश्रुः सखि वैणिको मुनिः॥१४॥

तात्पर्यानुवाद—सङ्गीत श्रवणसे—लक्ष्मणा अपनी सखीसे पूछ रही है—"हे सखि! मेरे पिताकी सभामें वीणाके माध्यमसे परम निपुण नारदऋषि सजल नयनोंसे किसकी महिमाका गान कर रहे थे। उसे जबसे मैंने सुना है, तबसे मेरे नेत्रोंसे अश्रुका प्रवाह रुकता ही नहीं है। हे सखि! क्या तुम बतला सकती हो कि वे कौन हैं?"॥१४॥

आनन्दचन्द्रिका—लक्ष्मणा स्वसखीमाह—नयने इति। क्षितीशितुर्बृहत्सेनाभिधस्य मत्पितुः। उपवीणयति वीणया उपगायति। अत्र स्नेहः स्थायी पूर्वरागो रसः॥१४॥

पुरोक्ता येऽभियोगाद्या हेतवो रतिजन्मनि।
अत्र ते पूर्वरागेऽपि ज्ञेया धीरैर्यथोचितम्॥१५॥

अपि माधवरागस्य प्राथम्ये संभवत्यपि।
आदौ रागे मृगाक्षीणां प्रोक्ता स्याच्चारुताधिका॥१६॥

तात्पर्यानुवाद—पहले स्थायिभाव–प्रकरणमें (उ. नी. १४/४) रतिके आविर्भावके हेतु रूपमें जिस अभियोग, विषय–सम्बन्ध और अभिमानादिको बतलाया गया है, इस पूर्वरागमें भी उनकी उपयोगिताको पण्डितोंने स्वीकार किया है। यहाँपर प्रश्न यह है कि श्रीकृष्णप्रेयसियोंके सम्बन्धमें पहले पूर्वरागका वर्णन होता है। क्या यही क्रम सार्वत्रिक है अथवा किसी स्थलविशेषमें श्रीकृष्णको भी पहले पूर्वराग होता है? उत्तर—श्रीकृष्णका पूर्वराग पहले उत्पन्न होनेपर भी उनकी प्रेयसियोंका पूर्वराग पहले वर्णन किए जानेपर अधिक चारुता होती है। इस विषयमें प्राचीन कवियोंकी ऐसी उक्ति है कि पहले नारी ही अनुरक्त होती है। तत्पश्चात् किसी–न–किसी प्रकार उसके इङ्गितको समझकर पुरुष उसके प्रति अनुरक्त होता है। यदि दोनोंका प्रेम समान होता है, तब इस क्रममें विपर्यय होनेमें भी कोई दोष नहीं है।

किसी–किसी पण्डितके मतसे भक्तिशास्त्रमें भक्तिको ही रसके रूपमें वर्णन किया गया है; क्योंकि यह रस भक्तको आश्रयकर प्रकटित होता है। भगवान्‌का राग भक्तके रागके पश्चात् उत्पन्न होता है। व्रजदेवियाँ भक्तोंकी चरम अवधि हैं। इसलिए उनका पूर्वराग प्रथम होना ही उचित है॥१५–१६॥

लोचनरोचनी—अपि माधवेति। मृगाक्षीणां रागस्य वासनारूपेण निगूढत्वाननास्ति–प्रायविवक्षा। भक्तरागानुजन्मत्वाद्भगवद्रागस्य॥१६॥

आनन्दचन्द्रिका—प्राथम्ये प्रथमोद्भूतत्वे इति वयं सन्ध्यारम्भे "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया" इत्युक्तरीत्या प्रथमविक्रियानन्तरमेव स्त्रीपुंसयोर्यद्यपि परस्परान्वेषणं संभवति तदपि स्त्रिया लज्जाभयधैर्यकुलाचारादिभिरावृत्तायाः सहसैव पुंसि पूर्वरागो न प्रकटीभवति। पुंसस्तु तैरनावरणात् सहसैव प्रथमक्रियाक्षण एव प्रायशः स्त्रीजनान्वेषणं स्यादिति युक्तेः। तदपि मृगाक्षीणां रागे पूर्वरागे आदौ प्रोक्ते वर्णिते चारुताधिकेति प्रेम्णः स्त्रीगतत्वेनैवाधिक्येन वर्णनौचित्यात् प्रेमाधिक्यस्य च लज्जादिसंहारकत्वादिति भावः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—"आदौ वाच्यः रागः स्त्रिया पश्चात् पुंसस्तदिङ्गितैः।" इति। किंचात्र पुनर्भक्तिशास्त्रे भक्तेरेव रसत्वात्तस्य च भक्ताश्रयत्वात्, भगवद्रागस्य च भक्तरागानुजन्मत्वात् व्रजदेवीनां च भक्तनिरुक्ति–परमावधिस्थानत्वात्तासामेव प्रथमं पूर्वराग उचित इति केचिदाहुः॥१६॥

अत्र संचारिणो व्याधिः शङ्कासूया श्रमः क्लमः।
निर्वेदौत्सुक्यदैन्यानि चिन्ता निद्रा प्रबोधनम् ॥१७॥

विषादो जडतोन्मादो मोहमृत्यादयः स्मृताः।
प्रौढः समञ्जसः साधारणश्चेति स तु त्रिधा ॥१८॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागमें सञ्चारीभाव—पूर्वरागमें—व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रबोध, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह और मृत्यु आदि सञ्चारीभाव होते हैं। इनमें तीन भेद होते हैं—प्रौढ़, समञ्जस और साधारण॥१७–१८॥

लोचनरोचनी—अत्र पूर्वरागे॥१७॥

तत्र प्रौढः—

समर्थरतिरूपस्तु प्रौढ इत्यभिधीयते।
लालसादिरिह प्रौढे मरणान्ता दशा भवेत्।
तत्तत्संचारिभावानामुत्कटत्वादनेकधा ॥१९॥

तथापि प्राक्तनैरस्य दशावस्थाः समासतः।
प्रोक्तास्तदनुरोधेन तासां लक्षणमुच्यते॥२०॥

लालसोद्वेगजागर्यास्तानवं जडिमात्र तु।
वैयग्र्यं व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥२१॥

प्रौढत्वात्पूर्वरागस्य प्रौढाः सर्वा दशा अपि॥२२॥

तात्पर्यानुवाद—प्रौढ़-पूर्वराग—सङ्गमसे पूर्व समर्थारतिमें उत्पन्न पूर्वरागको प्रौढ़-पूर्वराग कहते है। इसमें लालसादि मरणान्त दशा हो सकती है। पूर्वरागके प्रौढ़त्वके कारण व्याधि प्रभृति पूर्वोक्त सञ्चारीभावसमूहके उद्रेकवशतः अन्य अनेक प्रकारकी दशा होनेपर भी पूर्व कवियोंने इस प्रौढ़-पूर्वरागकी दस दशाओंको ही स्वीकार किया है। उन्हींकी इच्छानुसार हम इन अवस्थाओंका यथायथ लक्षण और उदाहरण बतला रहे हैं। दस दशाएँ हैं—लालसा, उद्वेग, जागर्य, तानव, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु। पूर्वरागकी प्रौढ़ावस्थाके कारण ये सब अवस्थाएँ भी प्रौढ़ होती हैं॥१९–२२॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रौढ इति। समर्थरतिसंज्ञाया औचित्येऽपि प्रौढ इत्यभिधानं समञ्जससाधारणयोरल्पप्रौढाप्रौढत्वज्ञापनार्थम्। उत्कटत्वादिप्रौढत्वादनेकधा भवितुं यद्यप्यर्हतीति शेषो देयः॥१९॥

तत्र लालसः—

अभीष्टलिप्सया गाढगृध्नुता लालसो मतः।
अत्रौत्सुक्यं चपलता घूर्णाश्वासादयस्तथा॥२३॥

यथा—

त्वमुदवसितान्निष्क्रामन्ती पुनः प्रविशन्त्यसौ,
झटिति घटिकामध्ये वाराञ्छतं व्रजसीमनि।
अगणितगुरुत्रासा श्वासान्विमुच्य विमुच्य किं,
क्षिपसि बहुशो नीपारण्ये किशोरि दृशोर्द्वयम्॥२४॥

तात्पर्यानुवाद—लालसा—अभीष्टजनको प्राप्त करनेकी प्रगाढ़ तृष्णाशीलताको लालसा कहते हैं। श्रीकृष्णके प्रति जातरति होनेपर भी लज्जावशतः अपनी सखियोंके समीप भी अपने वाञ्छित विषयको गुप्त रखनेवाली श्रीराधामें श्रीकृष्णदर्शनकी अत्यधिक लालसाको उसकी चेष्टाके द्वारा जानकर उसकी प्रियसखी ललिता, मानो कुछ भी नहीं जानती हो, उससे पूछ रही है—"हे किशोरि! तुम क्यों एक घण्टेके भीतर सैंकड़ों बार घरसे निकलकर व्रजसीमा तक जाकर वहाँसे पुनः लौट आती हो? सास-ससुरके भयको भी नगण्य मानकर तुम क्यों दीर्घ-श्वास त्याग करती हुई बारम्बार कदम्ब काननके प्रति दृष्टिपात कर रही हो?"

वैष्णव पदकर्त्ता श्रीचण्डीदासका यह पद लालसाको सुन्दर रूपसे अभिव्यक्त करता है—

घरेर बाहिरे, दण्डे शत बारे,
तिले तिले आसे जाय।
वयसे किशोरी, राजार झियारी,
कदम्ब-कानने चाय॥
राई केन वा एमन हल!॥२३-२४॥

लोचनरोचनी—लालस इति पुंस्त्वं "स महान् लालसा द्वयोः" इत्यमरकोषात्। गाढगृध्नुतेति। महातर्ष इत्येवार्थः। तत्र शत्रुमारणादिषु तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—अभीष्टलिप्सयेति। अभीष्टजनं लब्धुं या इच्छा तयाङ्कुरावस्थया पुनर्वृद्धया या गाढा गृध्नुता सेत्यर्थः॥२३॥

उदवसिताद्गृहात्॥२४॥

आनन्दचन्द्रिका—अभीष्टलिप्सया स्त्रीपुंसयोः परस्परप्राप्तीच्छया गाढगृध्नुता महौत्कण्ठ्यम्। लालसः स महान्। "लालसा द्वयोः" इत्यमरः॥२३॥

ललिता श्रीराधामाह—उदवसितात् गृहात्। "गृहं गेहोदवसितम्" इत्यमरः॥२४॥

यथा वा विदग्धमाधवे (३/२४)—

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे,
सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवाद्घराम्भोधरे,
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति॥२५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें लालसाकी अङ्कुरावस्थाकी चेष्टाओंका उदाहरण देकर यहाँ प्रस्तुत पद्यमें लालसाकी परिपक्व अवस्थाका स्पष्टरूपमें उदाहरण दे रहे हैं। पूर्वरागके प्रसङ्गमें विशाखा श्रीकृष्णके द्वारा पूछे जानेपर श्रीराधिकाके लालसा-उद्वेगका वर्णन कर रही है—"हे श्रीकृष्ण! दूरसे भी यदि कोई व्यक्ति, किसी दूसरे अर्थमें भी तुम्हारे नामके प्रथम अक्षर 'कृ' का उच्चारण करता है, तब उसके श्रवणमात्रसे ही उन्मत्त खञ्जनकी जैसी चञ्चलनयना श्रीराधा तुम्हारे आगमनकी आशामें परम उत्कण्ठित होकर इधर-उधर नेत्रोंका सञ्चालन करने लगती है, उन्मत्त होकर रोदन करने लगती है अथवा वैस्वर्यके उद्गमसे गदगद होनेके कारण विकृतस्वरसे कुछ कहते-कहते प्रतिक्षण रोमाञ्चित और कम्पित हो उठती हैं। हाय! मैं किससे कहूँ? दैवयोगसे श्रीकृष्णवर्ण सदृश जलधरको देखकर, उसे ही आलिङ्गन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होकर पंख-प्राप्तिकी वासना करती है अर्थात् उड़कर उस जलधरका आलिङ्गन करनेके लिए परम उत्कण्ठित हो उठती हैं॥"२५॥

लोचनरोचनी—"आः" इति संरम्भव्यञ्जकमव्ययम्॥२५॥

आनन्दचन्द्रिका—लालसस्य पाकावस्थां दर्शयितुमाह—यथा वेति। विशाखा श्रीकृष्णमाह—अनुषङ्गतः अन्याभिधायकशब्दे कृष्णसार कृष्णलादावपि। तत्रापि

नामधेयस्याक्षरे 'कृ' इत्येकस्मिन्नपि वर्णे तत्रापि दूरादपि, तत्रापि श्रुतिमेकमेव कर्णमिते प्राप्ते सति। सोन्मादमित्यादि। संपूर्णनामनि निकटात् कर्णद्वयं प्राप्ते सति न जाने किं भवेदिति भावः। मदिरो मत्तखञ्जनस्तद्वीक्षणेति तन्नामाक्षरश्रवणात् त्वदागमनशङ्कयौत्सुक्यप्राबल्येन सर्वतो दृष्टिक्षेपान्नेत्रचाञ्चल्याधिक्याच्छोभाधिक्यं ध्वनितम्। आ इत्यतिपीडायाम्। तच्चरितं ब्रुवाणाप्यहमतिपीडितास्मि तस्याः पुनरौत्कण्ठ्यपीडा कथं वक्तुं शक्येति भावः। "आस्तु स्यात्कोपपीडयोः" इत्यमरः। पक्षद्वयीमिच्छतीति सोन्मादमित्यस्यानुषङ्गः। सखि! शीघ्रं पक्षद्वयं कुतोऽप्यन्विष्यानय यथा तद्युक्ताहमुड्डीयाकाशं स्वप्रियमालिङ्गयामीति॥२५॥

अथोद्वेगः—

उद्वेगो मनसः कम्पस्तत्र निःश्वासचापले।
स्तम्भश्चिन्ताश्रुवैवर्ण्यस्वेदादय उदीरिताः॥२६॥

तात्पर्यानुवाद—उद्वेग—मनकी चञ्चलताका नाम उद्वेग है। इसमें दीर्घनिःश्वास त्याग, चापल्य, स्तम्भ, चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य और स्वेदादि प्रकाशित होते हैं॥२६॥

यथा विदग्धमाधवे (२/२)—

चिन्तासंततिरद्य कृन्तति सखि स्वान्तस्य किं ते धृतिं,
किं वा सिञ्चति ताम्रमम्बरमतिस्वेदाम्भसां डम्बरः।
कम्पश्चम्पकगौरि लुम्पति वपुः स्थैर्य्यं कथं वा बलात्,
तथ्यं ब्रूहि न मङ्गलापरिजने सङ्गोपनाङ्गीकृतिः॥२७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागमें श्रीकृष्णके नामादिका श्रवणकर अथवा चित्रपटमें दर्शनकर जातभावा श्रीमती राधिकाके अतिशय उद्वेगादिको लक्ष्यकर उसकी दशाको समझनेपर भी विशाखा श्रीराधासे ही उद्विग्न होनेका कारण पूछ रही है—"हे सखि! कौन-सी निरवच्छिन्न चिन्ताधारा तुम्हारे अन्तःकरणके धैर्यका छेदन कर रही है? तुम्हारे अङ्गोंसे निकली हुई स्वेदकी धारा तुम्हारे रक्तवर्णके वस्त्रोंको क्यों भिंगो रही है? हे चम्पकगौरि! क्या कम्प भी बलपूर्वक तुम्हारे अङ्गोंके धैर्यको हरण कर रहा है? अतएव मुझसे अपने मनकी बात सच-सच बतलाओ। अपने सुहृदोंके निकट कोई भी बात छिपानी नहीं चाहिए। छिपानेसे मङ्गल नहीं होता॥"२७॥

लोचनरोचनी—डम्बरमुद्रेकः। वपुःस्थैर्यं स्तम्भः॥२७॥

आनन्दचन्द्रिका—ज्ञाततत्त्वापि विशाखा हृदयोद्घाटनार्थं श्रीराधां पृच्छति—चिन्तेति। स्वान्तस्य चिन्तायाः संततिरेकस्यां चिन्तायामुत्पन्नायां तस्याः सकाशादपरा तस्याश्चान्येत्येवं पुत्रपौत्रप्रपौत्रादि परम्परा। "संततिर्गोत्रजननम्" इत्यमरः। धृतिं कृन्तति छिनत्तीति धृतेर्धर्मद्रुमजटात्वमारोपितम्। तेन लुप्तधर्मा त्वं निर्विवादमेव प्रियमभिसर कात्र चिन्तेति व्यङ्ग्यम्। ताम्रमरुणम्। डम्बरमुद्रेकः॥२७॥

अथ जागर्या—

निद्राक्षयस्तु जागर्या स्तम्भशोषगदादिकृत्॥२८॥

तात्पर्यानुवाद—जागर्य—निद्राका अभाव जागर्य कहलाता है। यह स्तम्भ, रोष और व्याधिको उत्पन्न करता है॥२८॥

यथा—

श्यामं कंचन काञ्चनोज्ज्वलपटं संदर्श्य निद्रा क्षणं,
मामाजन्म सखी विमुच्य चलिता रुष्टैव नावर्त्तते।
चिन्तां प्रोह्य सखि प्रपञ्चय मतिं तस्यास्त्वमावर्त्तने,
नान्यः स्वाप्निकतस्करोपहरणे शक्तो जनस्तां विना॥२९॥

तात्पर्यानुवाद—हाय! हाय! अन्तःपुरमें गुरुजन विद्यमान हैं। मैं किस प्रकार यहाँपर श्रीकृष्णको लाऊँ? अथवा किस प्रकार असूर्यम्पश्या श्रीराधाको ही श्रीकृष्णके पास ले जाऊँ? इस प्रकार चिन्ताके कारण विषाद कर रही विशाखाको देखकर श्रीमती राधिका बोली—"हे विशाखे! हमारी चिरसखी निद्राने किसी उज्ज्वल काञ्चन सदृश पीताम्बरको धारण करनेवाले श्यामवर्ण पुरुषको क्षणभरके लिए दर्शन कराया, पीछे रूष्ट होकर मुझे परित्यागकर जन्मोंके लिए मुझे छोड़कर चली गई है। अभी तक लौटी नहीं। अतएव हे सखि! चिन्ता छोड़कर उस निद्राको लौटानेके लिए तुम चेष्टा करो। उसके बिना उस स्वप्न-तस्करको लानेके लिए कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं है॥"२९॥

लोचनरोचनी—नान्य इत्यादौ तं स्वाप्निकतस्करं वलयितुं "शक्तोऽपरस्तां विना" इति वा पाठः॥२९॥

आनन्दचन्द्रिका—हन्त हन्त गुरुजनान्तःपुरेऽत्र श्रीकृष्णं कथमानयामि कथं वा त्वामसूर्यंपश्यां तन्निकटं नयामीति चिन्तया विषीदन्तीं विशाखां श्रीराधा प्राह—श्याममिति। निद्रासखी कर्त्री मां श्रीकृष्णं क्षणं व्याप्य दर्शयित्वा चलिता तस्या निद्राया आवर्तने पुनरागमने बुद्धिं विस्तारय केनाप्यौषधेन मन्त्रेण वा यत्नेनान्येन वा यथा मां क्षणं निद्रा समायाति तथा कुर्वित्यर्थः। ननु ततः किं स्यात्तत्राह—नान्य इति। स्वप्ने चरतीति स्वाप्निकः। तेन कुलाङ्गनाया मम पार्श्वं श्रीकृष्णो नानेतुमुचितोऽशक्यश्च, न च तं विनाहं जीवामि अतोऽयमेवोपायो निर्विवादः। निद्रा आयातु तयैव श्रीकृष्णसङ्गो मे पुनर्भवतु जीवनरक्षणायेति भावः॥२९॥

अथ तानवम्—

तानवं कृशता गात्रे दौर्बल्यभ्रमणादिकृत्॥३०॥

तात्पर्यानुवाद—तानव—शरीरकी कृशताका नाम तानव है। इसमें दौर्बल्य और भ्रमणादि प्रकाशित होते हैं॥३०॥

यथा—

च्युते वलयसंचये प्रबलरिक्ततादूषण-
व्ययाय निहितोर्मिकावलिरपि स्खलत्यञ्जसा।
निशम्य मुरलीकलं सखि सकृद्विशाखे तनु-
स्तवासितचतुद्रशीशशिकला-कृशत्वं ययौ॥३१॥

तात्पर्यानुवाद—विशाखाकी सखीने विशाखासे पूछा—"हे सखि विशाखे! श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको श्रवणकर तुम्हारा शरीर श्रीकृष्णपक्षीय चतुर्दशीकी शशिकलाके समान क्षीण हो रहा है। तुम्हारे हाथोंकी कलाइयोंसे चूड़ियाँ स्खलित हो जानेके कारण केवल रिक्त हस्त रहनेसे जो दोष है, उसको दूर करनेके लिए जिन अंगूठियोंको पहन रखा था, हाय! अब तो वे अंगूठियाँ भी अकस्मात् गिर पड़ीं॥"३१॥

लोचनरोचनी—प्रबलरिक्तता दूषणव्ययायेति श्रीकृष्ण एव तद्विधानां स्वाभाविकरतिबलादन्तः पतिभावना बहिस्त्वन्यत्रेति बोधयति। ततस्तस्यैव मङ्गलभावनया तासां तन्मङ्गलैकमङ्गलमानिनीनां तत्तानवं युज्यते नतु पतिंमन्यानां यथाक्रमं रतिद्वेषयोर्विषयात्॥३१॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखायाः सखी तामाह—च्युत इति। प्रबलं यद्रिक्ततारूपं दूषणममङ्गलं तस्य व्ययाय दूरीकरणाय तत्र हस्तमणिबन्धे ऊर्मिकावलिरेव

वलयावलित्वेनार्पिता। ततश्चाञ्जसा शीघ्रमेव सापि स्खलति एतावत्तानवं जातमिति भावः। ततश्च मुरलीत्यादिना तानवस्य परावधित्वं तेन त्वं गुरुजनान्मा भैषीरभिसर शीघ्रं त्वामहं तन्निकटं नयामि कदाचिदमावास्यायां सत्यामहमपि मरिष्याम्येवेति भावः॥३१॥

कैश्चित्तु तानवस्थाने विलापः परिपठ्यते॥३२॥

यथा—

अत्रासीन्नवनीपभूरुहतटे कुर्वन्विहारं हरि-
श्चक्रे ताण्डवमत्र मित्रसहितश्चण्डांशुजारोधसि।
पश्यन्ती लतिकान्तरे क्षणमहं व्यग्रा निलीय स्थिता,
सख्यः किं कथयामि दग्धविधिना क्षिप्तास्मि दावोपरि॥३३॥

तात्पर्यानुवाद—कोई-कोई रसशास्त्रके कवि 'तानव' के स्थलमें 'विलाप' पाठ करते हैं॥३२॥

श्रीकृष्ण दर्शनसे उत्पन्नभावा श्रीराधा श्रीकृष्णको न पाकर उस लीलास्थानके दर्शनसे उत्पन्न व्यग्रताके साथ अपनी सखीके निकट विलाप करते हुए कह रही है—"हे सखि! सूर्य-तनया कालिन्दीके तटपर नवीन कदम्बवृक्षके मूल देशमें सखाओंके सहित श्रीकृष्ण विहार करते-करते ताण्डव नृत्य कर रहे थे। उस समयमें मैं सघन लताओंकी ओटमें छिपकर क्षणभर वहाँ रहकर, गुरुजन कहीं देख न लें, इस आशङ्कासे व्यग्रचित्त होकर नृत्यका दर्शन कर रही थी, परन्तु उस नृत्यका दर्शन करते-न-करते ही, हाय क्या कहूँ, निष्ठुर विधाताने मुझे दावानलमें फेंक दिया अर्थात् उसी समय मेरे सास-सुसर बुलाने लगे और मुझे द्रुतगतिसे वहाँसे चले जाना पड़ा॥"३३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विलपति—अत्रेति। दग्धविधिनेति। अधुना तु तथा न पश्यामि। क्षिप्तेति। सर्वथैव मरिष्याम्येवेति भावः॥३३॥

अथ जडिमा—

इष्टानिष्टपरिज्ञानं यत्र प्रश्नेष्वनुत्तरम्।
दर्शनश्रवणाभावो जडिमा सोऽभिधीयते।
अत्राकाण्डेऽपि हुङ्कारस्तम्भश्वासभ्रमादयः॥३४॥

तात्पर्यानुवाद—जड़िमा—जिस अवस्थामें हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता, जिस अवस्थामें सखियोंके द्वारा किए गए प्रश्नोंका उत्तर भी नहीं दिया जाता एवं देखी हुई वस्तुएँ भी अनदेखी जैसी और सुनी हुई बातें भी अनसुनी जैसी प्रतीयमान होती हैं, उसको जड़िमा कहते हैं। इस दशामें अकस्मात् हुँकार, स्तम्भ, दीर्घश्वास और भ्रमादि प्रकटित होते हैं॥३४॥

यथा—

अकाण्डे हुंकारं रचयसि श‍ृणोषि प्रियसखी–
कुलानां नालापं दृतिरिव मुहुर्निश्वसिषि च।
ततः शङ्के पङ्केरुहमुखि ययौ वैणवकला–
मधूली ते पालि श्रुतिचषकयोः प्राघुणकताम्॥३५॥

तात्पर्यानुवाद—पालीकी कोई सखी पालीसे पूछ रही है—"हे पद्ममुखि! यद्यपि मैं तुम्हारे हुँकार भरनेका कोई भी कारण नहीं देख रही, तथापि तुम हुँकार क्यों भर रही हो? प्रियसखियोंकी बातें भी सुन नहीं रही हो। अहो! भाथीकी भाँति पुनः–पुनः दीर्घनिःश्वास त्याग कर रही हो। अतः हे पालि! मुझे यह आशङ्का हो रही है कि मुरलीकी विदग्ध माधुरी अवश्य ही तुम्हारे कर्णपथमें अतिथि हुई होगी॥"३५॥

लोचनरोचनी—अकाण्डेऽनवसरे। हुंकारो रुषोक्तौ मनसि तदौद्धत्यविशेषस्मरणात्। "हुं वितर्के परिप्रश्ने हुं रुषोक्त्यनुनीतिषु" इति विश्वः। मधूली मधुः। प्राघुणोऽतिथिः॥३५॥

आनन्दचन्द्रिका—पाल्याः सखी तामाह—अकाण्डेऽनवसरे, हुंकारः मानससंभोगारम्भे स्ववैमत्यव्यञ्जकम्। "हुं वितर्के परिप्रश्ने हुं रुषोक्त्यनुनीतिषु।" इति विश्वः। दृतिर्भस्त्रा। वैणवकला वेणुवैदग्धी। हे पालि! प्राघुणोऽतिथिः॥३५॥

अथ वैयग्र्यम्—

वैयग्र्यं भावगाम्भीर्यविक्षोभासहतोच्यते।
तत्राविवेकनिर्वेदखेदासूयादयो मताः॥३६॥

तात्पर्यानुवाद—व्यग्रता—भावविकारसमूहके बाह्यतः अप्रकाशन हेतु गांभीर्य (दुरवगाहता) और उससे उत्पन्न विक्षोभकी असहिष्णुताको ही

व्यग्रता कहते हैं। इस व्यग्रतामें अविवेक, निर्वेद, खेद और असूयादि प्रकट होते हैं॥३६॥

आनन्दचन्द्रिका—भावस्य यद्गाम्भीर्यमतलस्पर्शता तेन यो विक्षोभस्तस्यासहिष्णुता॥३६॥

यथा विदग्धमाधवे (२/१७)—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते,
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं बत तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥३७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके प्रसङ्गमें चित्रपटमें श्रीकृष्णमूर्त्तिके दर्शनसे उत्पन्न आवेशमें सतत् उनकी स्फूर्तिसे उत्पन्न नाना प्रकारके भावोंको अपने हृदयमें गुप्त करते-करते पीछे अत्यन्त व्याकुल हुई श्रीमती राधिकाकी तत्कालीन दशाको लक्ष्यकर पौर्णमासी नान्दीमुखीसे धीरे-धीरे कह रही है—"क्या ही आश्चर्यकी बात है? मुनिलोग जिस विषयसे मनका प्रत्याहारकर क्षणकालके लिए भी अपने हृदयमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान करनेकी अभिलाषा करते हैं, यह बाला उस श्रीकृष्णसे मनको पुनः-पुनः हटाकर विषयोंमे नियुक्त करनेकी चेष्टा कर रही है।" प्रस्तुत पद्यमें मनमें श्रीकृष्णके सतत स्मरण द्वारा श्रीराधाकी क्षुब्धता और असहिष्णुताको दिखाकर पुनः श्रीकृष्णके हृदयमें अपने अवस्थानके द्वारा भी उनके अत्यन्त क्षोभकी असहिष्णुताको दिखला रहे हैं। "अहो! योगीलोग मन-ही-मन श्रीकृष्णकी एक क्षणकी स्फूर्तिके लिए भी सब प्रकारसे चेष्टायुक्त होते हैं, अष्टाङ्गयोगका आश्रय ग्रहण करते हैं। उसी श्रीकृष्णके हृदयसे भी यह मुग्धा बाला निर्गत होनेकी इच्छा कर रही है!"॥३७॥

आनन्दचन्द्रिका—पौर्णमासी नान्दीमुखीमाह—प्रत्याहृत्येति। अष्टाङ्गयोगे प्रत्याहारः पञ्चमस्तेन मुनिरष्टाङ्गयोगी भक्तिपक्षीयः। धित्सते अर्पयितुमिच्छति मनस्तु तत्र सम्यङ्न तिष्ठतीति भावः। विषयेषु धित्सतीति न तु क्षणमपि तिष्ठतीति भावः। विहृदयात् स्फूर्तिप्राप्तेन श्रीकृष्णेन बलाद्धृदये धृता सतीत्यर्थः। अत्र मानः स्थायी पूर्वरागो रसः॥३७॥

अथ व्याधिः—

अभीष्टालाभतो व्याधिः पाण्डिमोत्तापलक्षणः।
अत्र शीतस्पृहामोहनिःश्वासपतनादयः ॥३८॥

तात्पर्यानुवाद—व्याधि—जिस दशामें अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे शरीरकी पाण्डुता अर्थात् वैवर्ण्य और उत्ताप (ग्लानि) उत्पन्न होती है, उसे व्याधि कहते हैं। इस व्याधिमें शीत, स्पृहा, मोह, दीर्घनिःश्वास और पतनादि अनुभाव समूह प्रकटित होते हैं॥३८॥

यथा—

दवदमनतया निशम्य भद्रा मदनदवज्वलिता दधे हृदि त्वाम्।
द्विगुणितदवथुव्यथाविदग्धा मुरहर भस्ममयीव पाण्डुरासीत्॥३९॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागकी दशामें श्रीकृष्णको न पाकर विरह सन्तापसे उद्विग्न भद्राकी विशेष-व्याधिको लक्ष्यकर उसकी प्रियसखी श्रीकृष्णको भङ्गीके द्वारा उसकी दशाका निवेदन कर रही है—"हे मुरारि! तुम दावाग्निको नाश करनेवाले हो, ऐसा सुनकर मेरी सखी भद्राने मदनरूप दावानलके तापसे झुलसकर, आरोग्य कामहेतु तुम्हें ही अपने हृदयमें धारण किया, किन्तु उससे मदन-दावाग्निका उपशम होनेके बदले उसका ताप और भी द्विगुणित हो गया। उससे विशेष रूपमें दग्ध होकर उसने भस्मकी भाँति पाण्डुवर्ण धारण कर लिया है॥"३९॥

लोचनरोचनी—दवदमनतया निशम्येति श्रीद्वारकानाथं प्रति श्रीनारदवचनम्। भद्रानाम्नीयं राजकन्या। सेयं च कथंचन प्रथमं तदालम्बमकं प्राप्य समुद्विग्नमना जाता ततः श्रीनारदेन प्रत्युत तदुद्दीपनाय तस्य दावाग्निमोक्षणलीलेयं त्वत्तापशमनी स्यादिति प्रत्याय्य सा श्राविता ततश्च सा तत्र विश्वासतस्तल्लीलाविशिष्टं तं हृदि दधे ततश्च सतु तापो द्विगुणित एव जातः। तदेतद्वृत्तं स्वयमेव नारदः श्रीकृष्णं श्रावयामासेत्येवेतिहासोऽत्रानुसंधेयः॥३९॥

आनन्दचन्द्रिका—भद्रायाः सखी श्रीकृष्णमाह—दवथुव्यथाया विदग्धा विज्ञा। श्लेषेण विशेषतो दग्धा। यद्वा विदग्धेति पृथगेव पदम्॥३९॥

अथोन्मादः—

सर्वावस्थासु सर्वत्र तन्मनस्कतया सदा।
अतस्मिंस्तदिति भ्रान्तिरुन्माद इति कीर्त्यते।
अत्रेष्टद्वेषनिःश्वासनिमेषविरहादयः ॥४०॥

तात्पर्यानुवाद—उन्माद—निर्वेद, विषाद, दैन्यादि भावोंसे आक्रान्त चित्त द्वारा अपनी सभी अवस्थाओंमें सर्वदा और सर्वत्र तनमनस्कता हेतु जो वस्तु जो नहीं है, वैसी ही प्रतीतिरूप भ्रान्तिको उन्माद कहते हैं। इसमें ईष्टके प्रति द्वेष, दीर्घनिःश्वास, निमेष और विरहादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं॥४०॥

आनन्दचन्द्रिका—सर्वास्ववस्थासु सर्वत्रेति। उन्मादस्य कालदेशौ न व्यवच्छेदकौ स्यातामित्यर्थः। सदा तन्मनस्कत्वमस्य कारणम्॥४०॥

यथा विदग्धमाधवे (२/३)—

वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां,
पटान्निष्क्रान्तोऽभूद्धृतशिखिशिखण्डो नवयुवा।
भ्रूवं तेन क्षिप्त्वा किमपि हसतोन्मादितमतेः,
शशी वृत्तो वह्निः परमहह वह्निर्मम शशी॥४१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण नामादिके श्रवण तथा चित्रपटमें श्रीकृष्णकी रूप माधुरीका दर्शन करनेसे अत्यन्त उन्मादग्रस्त होकर श्रीमती राधिका सर्व तत्त्वोंको जाननेवाली विशाखाके द्वारा पूछे जानेपर उन्मत्तकी भाँति प्रलाप करने लगी—"किसी एक नवयुवकने मस्तकपर मयूरपिच्छ धारणकर, शरीरकी कान्तिसे मरकतमणिकी कान्तिको भी पराजितकर, चित्रपटसे निकलकर हँसते-हँसते मेरे प्रति कटाक्षपात किया। उसीसे मैं उन्मादग्रस्त हो गई। हाय! हाय! इस समय चन्द्रमा भी मेरे प्रति अग्नितुल्य ताप प्रदान कर रहा है; क्योंकि विरहिणियोंके लिए शशि भी अग्नितुल्य हो जाता है॥"४१॥

लोचनरोचनी—पटात् चित्रफलकात्॥४१॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखादर्शितचित्रपटा श्रीराधा सखीभिर्वैमनस्यकारणं पृष्टा तां प्रत्याह—वितन्वान इति। मरकतरुचीनां या रुचिरता मनोहरता तां तन्वा द्वारभूतया

वितन्वानो विशेषेण विस्तारयन्। तेन यूना किमप्यनिर्वचनीयमाधुर्यं यथा स्यात्तथा हसता भ्रुवं क्षिप्त्वा उन्मादिता मतिर्यस्याः सा। तस्या मम शशी वह्निः विरहिण्यां मयि दाहसमर्पकत्वादिति भावः। अहह खेदे अद्भुते च। वह्निस्तु शशी, विरहपीडाया असह्यत्वात् प्राणजिहासया तस्मिन् पिपतिषोर्ममाभिलषणीयत्वादिति भावः॥४१॥

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता प्रोक्तो नैश्चल्यपतनादिकृत्॥४२॥

तात्पर्यानुवाद—मोह—चेतना-राहित्य अर्थात् जिसमें चित्तकी गति विपरीत हो जाती है उसे मोह कहते हैं। इसमें निश्चलता और पतनादि प्रकाशित होता है॥४२॥

यथा—

नासाश्वासपराङ्मुखी विघटते दृष्टिः स्नुषायाः कथं,
हा धिक् कृष्णतिलान् ममार्पय करे कुर्यामपामार्जनम्।
इत्यारोहति कर्णयोः परिसरं कृष्णेति वर्णद्वये,
कम्पेनाच्युत तत्र सूचितवती त्वामेव हेतुं सखी॥४३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागमें श्रीकृष्णको न पानेपर हृदयमें तीव्र वेदनाका अनुभवकर श्रीमती राधिकाकी मूर्च्छापन्न दशाको देखकर विशाखा सहसा श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होकर विषादके साथ उनसे कहने लगी—"हे श्रीकृष्ण! जटिला श्रीराधाकी श्वासरहित नासिका और उलटी हुई आँखोंकी पुतलियोंको देखकर बड़े खेदसे कहने लगी—'हा धिक्! हमारी वधूकी ऐसी अवस्था क्यों हुई? ललिते! मेरे हाथोंमें कृष्णतिल प्रदान करो, मैं मन्त्र पढ़कर इस तिलके द्वारा इसके कष्टको दूर करनेका प्रयास करती हूँ।' इस प्रकार आनुसङ्गिक रूपमें भी श्रीराधाकी सास जटिला द्वारा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंको उच्चारण करनेपर जब वह 'कृष्ण' शब्द श्रीराधाके कर्ण कुहरोंमें प्रवेश किया, तो उसके शरीरमें ऐसा कम्प उदित हुआ, जिससे प्रियसखीने मूर्च्छाका कारण तुम्हींको निश्चित किया। हे अच्युत! तुम तो व्रजजनोंके दुःखको नाश करनेवालेके रूपमें ही दीक्षित हुए हो। इसलिए शीघ्र ही उसके निकट उपस्थित होकर अपने सङ्गरूप अमृतको प्रदानकर उसे अपार दुःखसमुद्रसे उद्धारपूर्वक सञ्जीवित करो॥"४३॥

लोचनरोचनी—सूत्रितवती संक्षेपेणोक्त्या रहसि मां प्रति ज्ञापितवतीत्यर्थः ॥४३॥

आनन्दचन्द्रिका—युष्मत्सख्या अदृष्टचर्या उन्मादे खलु नाहं कारणमिति ब्रुवाणं श्रीकृष्णं विशाखा श्रीराधाप्रेमाणमावेदयति—नासेति। इति जटिलाया वाक्ये कृष्णेति वर्णद्वये कर्णयोः परिसरं प्राप्ते सति यः कम्पस्तेनैव॥४३॥

अथ मृत्यु—

तैस्तैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि न स्यात्समागमः।
कन्दर्पबाणकदनात्तत्र स्यान्मरणोद्यमः॥४४॥

तत्र स्वप्रियवस्तूनां वयस्यासु समर्पणम्।
भृङ्गमन्दानिलज्योत्स्नाकदम्बानुभवादयः ॥४५॥

तात्पर्यानुवाद—मृति या मृत्यु—कामलेख प्रेरण, सखीके द्वारा अपनी अवस्थाके विज्ञापनादि प्रसिद्ध प्रतिकार समूहके अवलम्बनसे भी अर्थात् दूती-प्रेरण और अपनी प्रेम-पीड़ाके ज्ञापनके द्वारा भी यदि कान्तका समागम नहीं होता, तो कन्दर्पबाणकी पीड़ाके हेतु मरणका उद्यम होने लगता है। इस मृत्युमें स्वप्रिय वस्तुओंको अपनी सखीके प्रति समर्पण एवं भृङ्ग, मन्द पवन, ज्योत्स्ना, कदम्ब, मेघ, विद्युत्, मयूर, कोकिलादि बहुत-से उद्दीपन विभाव प्रकटित होते हैं॥४४-४५॥

आनन्दचन्द्रिका—तैस्तैर्दूतीप्रेषणस्वप्रेमपीडाज्ञापनादिभिरपि न समागमः श्रीकृष्णस्येत्यर्थः॥४४॥

यथा—

राधा रोधसि रोपितां मुकुलिनीमालिङ्ग्य मल्लीलतां,
हारं हीरमयं समर्प्य ललिता हस्ते प्रशस्तश्रियम्।
मूर्च्छामाप्नुवती प्रविश्य मधुपैर्गीतां कदम्बाटवीं,
नाम व्याहरता हरेः प्रियसखीवृन्देन संधुक्षिता॥४६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागमें श्रीमती राधिकाकी चरम दशा प्राप्तिकी प्रारम्भिक चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं। पौर्णमासीके द्वारा पूछे जानेपर वृन्दा श्रीमती राधिकाके वृत्तान्तको निवेदन कर रही है—"हे दवि! श्रीराधाके वृत्तान्तको आप क्या पूछ रही हैं? वे अपने हाथसे लगाई

हुई मुकुलित मल्लीलताका आलिङ्गनकर, प्रशस्त शोभाशाली हीरकमय हारको ललिताके हाथोंमें समर्पणकर मूर्च्छित हो गईं। प्रियसखियाँ भ्रमर-गुञ्जित कदम्बकाननमें प्रवेशपूर्वक श्रीकृष्णनाम उच्चारणकर उसे किसी प्रकार जीवित रख रही हैं।"

तात्पर्य—यमुनाके तटपर अपने हाथोंसे लगाई हुई मुकुलित मल्लीलताको आलिङ्गन करनेका अभिप्राय है, हे मेरी अत्यन्त प्रिय मल्लि! मैं परलोकमें गमन कर रही हूँ, मैं तुम्हें जल द्वारा सिञ्चनकर जीवित नहीं रख सकती, तुम इस वृन्दावनमें मेरी सखियोंके द्वारा सिञ्चित होकर अपने प्रस्फुटित और सौरभयुक्त पुष्पोंके द्वारा मालाके रूपमें जब उन दुर्लभजनके वक्षःस्थलमें क्रीड़ा करोगी, उस समय तुमको रोपणकरनेवाली, मुझ अभागिनीको सुख होगा। ललिताके कण्ठमें न देकर अपने हारको उसके हाथोंमें समर्पण किया। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि तत्कालीन श्रीराधाके प्रसाधन रहित केश इधर-उधर फैले हुए थे, सजे हुए नहीं थे। इसलिए हारको निकालनेमें विलम्ब जान कण्ठसे उस हारको तोड़कर ही ललिताके हाथोंमें समर्पण करती हुई बोली—"हे ललिते! मेरी स्मृति जगानेवाले इस हारको कण्ठमें धारणकर उस दुर्लभजनका आलिङ्गनकर चिरकाल जीवित रहो।" श्रीमती राधिकाको मूर्च्छित होते हुए देखकर सखियाँ जोर-जोरसे कृष्णनाम करने लगीं; क्योंकि कृष्णनाम विशेष अमृत है। वह अमृतके समान मृतसञ्जीवनी औषधिका काम करता है। इसलिए वे जोर-जोरसे कृष्णनाम उच्चारणकर किसी प्रकारसे उसके जीवनकी रक्षा कर रही हैं॥"४६॥

आनन्दचन्द्रिका—पृच्छन्तीं पौर्णमासीं वृन्दा श्रीराधाया वृत्तमावेदयति—राधेति। रोधसि यमुनायास्तटे स्वहस्तेनारोपितां मल्लीलतामालिङ्ग्येति हे मत्प्रिये मल्लि! संप्रत्यहं लोकान्तरं यामि त्वमिहैव वृन्दावने मत्सखिभिः सिच्यमाना प्रफुल्लीभूय स्वपुष्पैर्मालारूपेण तस्य दुर्लभजनस्य वक्षसि खेलन्ती स्वारोपयित्रीं मां सुखयेत्यनुललापेत्यर्थः। ललिताकण्ठे इत्यनुक्त्वा हस्ते समर्प्येत्युक्तेरयं भावः। तदानीं केशानामप्रसाधितत्वादतिविस्तृतत्वात् हारस्योत्तारणे प्रयासं विलम्बं चालक्ष्य कण्ठात् सूत्रं त्रोटयित्वैव हारं ललिताहस्ते समर्प्य्य ललिते मत्स्मारकमिमं हारं कण्ठे दधानैव दुर्लभजनं तमालिङ्गन्ती चिरं जीवेति स्वगतमाहेत्यर्थः। आप्नुवति मूर्च्छां प्राप्तुमिच्छतीत्यर्थः। नाम व्याहरता नाम्नोऽमृतत्वादमृतस्य मृतसंजीवनौषधित्वादिति भावः॥४६॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

अकारुण्यः कृष्णो मयि यदि तवागः कथमिदं,
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं,
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥४७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णके आगमनमें विलम्बकी असहनीयतासे मरणका उद्यम दिखलाकर इस पद्यमें श्रीकृष्णकृत उपेक्षाके निश्चयसे भी मरणकी चेष्टाका उदाहरण दिखला रहे हैं—

पूर्वरागमें ललिता और विशाखाके द्वारा समर्पित कामलेखके बाद प्रेमकी स्थिरताको जाननेके लिए श्रीकृष्णके द्वारा कृत्रिम उपेक्षाको भी विशाखाके मुखसे सुनकर तथा उसे सच मानकर श्रीराधा कालीयह्रदमें देहत्यागके लिए प्रस्तुत होनेपर रोदन करती हुई विशाखासे कहने लगी—"हे विशाखे! यदि श्रीकृष्ण मेरे प्रति इस प्रकार निष्ठुर ही हो गए तो इसमें तुम्हारा दोष क्या है? वृथा रोदन मत करो, किन्तु एक बात है कि मेरे मरणके पश्चात् जो कृत्य मैं तुम्हें बतला रही हूँ, उनका अवश्य ही समाधान करना। वृन्दावनके तमालवृक्षमें मेरी भुजलताओंको अर्पणकर इस प्रकारसे बाँध देना, जिससे यह देह चिरकाल ही उस वृक्षमें संलग्न रहे।" इसका गभीर तात्पर्य यह है कि "हे विशाखे! चिरकालसे मेरी यह इच्छा थी कि मैं श्रीकृष्णका आलिङ्गन करूँ। दुर्भाग्यसे मेरी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तथापि श्रीकृष्ण तुल्य इस तमालवृक्षका आलिङ्गनकर यह देह कृतार्थ हो। इसलिए तुम मेरे मरनेके पश्चात् इस शरीरको तमालवृक्षमें बाँध देना।" इस पद्यमें मादनरसका अंश स्पर्शपूर्वक मोदनरसकी अभिव्यक्ति है॥४७॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्रादिशब्दात् स्वदेहस्योत्तरक्रियाकथनेन स्वाभिलाषद्योतनं चेति वक्तुमाह—यथावेति। श्रीकृष्णस्योपेक्षामालक्ष्य कालियह्रदे देहं जिहासती श्रीराधा रुदतीं विशाखां सास्रमाह—अकारुण्य इति। तमालस्येति। हे सखि विशाखे! अस्यास्तनोः श्रीकृष्णकण्ठालिङ्गनेच्छा चिरमासीत् सा यदि दुरदृष्टवशान्न फलति स्म तदपि श्रीकृष्णोपमं तमालमालिङ्ग्यापि कृतार्थी भवत्विति मादनांशस्पर्शी मोहनोऽयम्॥४७॥

अथ समञ्जसः—

भवेत्समञ्जसरतिस्वरूपोऽयं समञ्जसः ॥४८॥

तात्पर्यानुवाद—समञ्जस पूर्वराग—जो समञ्जसरतिका स्वरूप है, उसीको समञ्जस कहते हैं॥४८॥

लोचनरोचनी—भवेदिति। अयं पूर्वरागः॥४८॥

आनन्दचन्द्रिका—समञ्जसा रतिरेव स्वरूपं यस्य सः। समञ्जसा रतिरेव संगमात् पूर्वभूता विभवादिभिः संवलितः समञ्जसाख्यः पूर्वरागो रसः स्यादित्यर्थः। एवमग्रेऽपि सर्वत्र व्याख्येयम्॥४८॥

अत्राभिलाषचिन्तास्मृतिगुणसंकीर्तनोद्वेगाः ।
सविलापा उन्मादव्याधिजडता मृतिश्च ताः क्रमशः ॥४९॥

तात्पर्यानुवाद—इस रतिमें सङ्गमके पूर्व ही उत्पन्न पूर्वरागमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्त्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मृति—ये दस दशाएँ क्रमशः प्रकट हो सकती हैं। तात्पर्य—समञ्जसरति सङ्गमसे पूर्व आविर्भूत होकर विभावादिके मिलनेसे समञ्जसाख्य पूर्वरागरस होता है। उनमेंसे उद्वेगादि छह दशाओंका वर्णन पहले प्रौढ़भेदमें किया जा चुका है। यहाँ अभिलाषादि चार दशाओंका लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं॥४९॥

तत्राभिलाषः—

व्यवसायोऽभिलाषः स्यात्प्रियसंगमलिप्सया।
स्वमण्डनान्तिकप्राप्तिरागप्रकटनादिकृत् ॥५०॥

तात्पर्यानुवाद—अभिलाष—प्रिय व्यक्तिके सङ्गकी लालसासे जो चेष्टाएँ होती हैं, उसे अभिलाष कहते हैं। यह अभिलाष अपने भूषणकी चरमसीमाको प्राप्तकर रागादिको प्रकट करनेवाली होती है। अपनी देहका मण्डन करना, किसी भी छलसे प्रियजनके निकट गमन करना तथा उसके प्रति रागादिको प्रकटित करना इसके अनुभाव हैं॥५०॥

यथा—

यदि ह सखि सुभद्रा सख्यमाख्याय धूर्ते,
व्रजसि पितुरगाराद्देवकीमन्दिराय।
रचयसि बत सत्ये मण्डने च प्रयत्नं,
स्फुटमजनि तदन्तर्वस्तु गूढं तवाद्य॥५१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागकी दशामें सत्यभामादेवी श्रीकृष्णदर्शनके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुईं। किसी बहानेसे श्रीकृष्णके भवनमें उनके गमनको लक्ष्यकर कोई प्रवीणासखी उससे कह रही हैं—"हे सखि सत्ये! तुम बड़ी धूर्त हो। इतनी धूर्तता कहाँसे सीखी? सुभद्राके साथ मिलने जा रही हूँ—ऐसा कहकर तुम पिताके घरसे देवकी मन्दिरमें पहुँची हो तथा अपने अङ्गोंमें वेशभूषाका आग्रह भी कर रही हो। इससे मुझे स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होता है कि आज तुम्हारे मनमें किसी अनिर्वचनीय गूढ़ वस्तुका आविर्भाव हुआ है॥"५१॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् प्रखरा सखी सत्यभामां साकूतमाह—यदिहेति॥५१॥

अथ चिन्ता—

अभीष्टावाप्त्युपायानां ध्यानं चिन्ता प्रकीर्त्तिता।
शय्याविवृत्तिनिश्वासनिर्लक्षप्रेक्षणादिकृत्॥५२॥

तात्पर्यानुवाद—चिन्ता—अभीष्टवस्तुकी प्राप्ति-विषयक उपायोंका ध्यान करना चिन्ता कहलाता है। जैसे, किस प्रकार विप्रादिके द्वारा अपनी अवस्थाको ज्ञापन करूँ? कैसे पत्र प्रेरण करूँ? इस दशामें शय्याके ऊपर बारम्बार पार्श्व-परिवर्तन, दीर्घनिःश्वास त्याग तथा अनावश्यक रूपमें इधर-उधर देखना, प्रकाशित होता है॥५२॥

आनन्दचन्द्रिका—विवृत्तिर्मुहुर्मुहुः परितः परिवर्तनम्॥५२॥

यथा—

निश्वासस्ते कमलवदने म्लापयत्योष्ठबिम्बं,
शय्यायां च क्रशिमकलिता चेष्टते देहयष्टिः।
द्वन्द्वं चाक्ष्णोर्विकिरति चिरं रुक्मिणि श्याममम्भो,
न श्वो भाविन्युपयमविधौ शोभते विक्रियेयम्॥५३॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णके आगमनमें विलम्ब देखकर अपार चिन्तासागरमें निमज्जित श्रीरुक्मिणीकी विभिन्न चेष्टाओंको लक्ष्यकर कोई पड़ोसन अत्यन्त व्याकुल हो उसे सान्त्वना प्रदानपूर्वक नीतिका उपदेश कर रही है—"हे पद्ममुखि! तुम्हारा दीर्घनिःश्वास तुम्हारे होठोंको मलिन कर रहा है, तुम्हारी देहलता क्रमशः कृश होनेसे शय्यापर बारम्बार पार्श्व परिवर्तन कर रही है, दोनों नेत्रोंसे कज्जलयुक्त अश्रुप्रवाह वर्षण हो रहा है। हे रुक्मिणि! कल ही तुम्हारा विवाह होगा। इस समय तुम्हारे लिए ऐसा विकार या विरुद्धक्रिया युक्तिसङ्गत नहीं है॥"५३॥

लोचनरोचनी—उपयमो विवाहः॥५३॥

आनन्दचन्द्रिका—काचित् प्रतिवेशिनी रुक्मिणीं प्रत्याह—निश्वास इति। श्याममम्भः सकज्जलाश्रु। उपयमो विवाहः॥५३॥

अथ स्मृतिः—

अनुभूत प्रियादीनामर्थानां चिन्तनं स्मृतिः।
अत्र कम्पाङ्गवैवश्यवाष्पनिःश्वसितादयः॥५४॥

तात्पर्यानुवाद—स्मृति—दर्शन और श्रवणादिके द्वारा उपलब्ध प्रियजन तथा उनके भूषण, रूप, गुण, विनोद, वेशादिका चिन्तन स्मृति कहलाता है। इसमें कम्प, अङ्गवैवश्य (अङ्गवैवर्ण्य), वाष्पत्याग, दीर्घनिःश्वासादि नाना प्रकारके अनुभाव उदित होते हैं॥५४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रियादीनां प्रियतदीयगुणरूपवेषचेष्टादीनाम्॥५४॥

यथा—

प्लुतं पूरेणापां नयनकमलद्वन्द्वमभितो,
धृतोत्कम्पं सात्राजिति कुचरथाङ्गद्वयमपि।
श्लथारम्भं चैतद् भुजविसयुगं तत्तव मन-
स्तडागेऽस्मिन् कृष्णद्विरदपतिरन्तर्विहरति॥५५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागकी अवस्थामें पूर्वदृष्ट श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी तथा उनकी लीलाओंके स्मरणसे उत्पन्न विकारवाली सत्यभामाका श्रीकृष्ण-विषयक भाव निश्चयकर तदीया प्रियसखी रूपक-अलङ्कारके

द्वारा श्रीकृष्णप्रियताकी सूचनाकर हास्यपूर्वक कह रही है—"हे सत्यभामे! तुम्हारे नयनकमल अश्रुजलसे व्याप्त हो रहे हैं, चक्रवाकके समान कुचयुगल प्रकम्पित हो रहे हैं, मृणालके समान तुम्हारी दोनों भुजाएँ शिथिल हो रही हैं। इसलिए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारी मनरूपी दीर्घिकाके भीतर श्रीकृष्णरूप महामत्त गजराज विहार कर रहे हैं॥"५५॥

आनन्दचन्द्रिका—सत्यभामायाः सखी तामाह—प्लुतमिति। प्लुतं व्याप्तम्। श्लथारम्भं शिथिलोद्गमम्। द्विरदो हस्ती॥५५॥

अथ गुणकीर्तनम्—

सौन्दर्यादिगुणश्लाघा गुणकीर्तनमुच्यते।
अत्र वेपथुरोमाञ्चकण्ठगद्गदिकादयः॥५६॥

तात्पर्यानुवाद—गुणकीर्त्तन—सौन्दर्यादि गुणोंकी प्रशंसाको गुणकीर्त्तन कहते हैं। इसमें कम्प, रोमाञ्च, गद्‌गदादि अनुभाव प्रकट होते हैं॥५६॥

यथा—

यान्त्यस्तृष्णामपि युवतयो येषु घूर्णां भजन्ते,
यान्याचम्य स्वयमपि भवान् रोमहर्षं प्रयाति।
गन्धं तेषां तव मधुपते रुपसंपन्मधूनां,
दूरे विन्दन्मम न हि धृतिं चित्तभृङ्गस्तनोति॥५७॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीरुक्मिणी देवी ब्राह्मणके हाथोंसे श्रीकृष्णको पत्र लिखवा रही है—"हे श्रीकृष्ण! द्वारकावासिनी रमणियाँ आपकी जिस रूप-सम्पत्तिकी मधुरराशिके कणमात्रको अनुभव करनेमें भी असमर्थतावशतः विवश हो जाती हैं, निरन्तर दर्शनकी तृष्णाकी वृद्धिसे विह्वल हो पड़ती हैं और अधिक क्या कहूँ, जिस रूप-सम्पत्तिके आस्वादनके लिए आप स्वयं ही परम अनुपम दर्शनवशतः महाचमत्कृत होकर रोमाञ्चित हो उठते हैं, हे मधुपति! उसी असमोर्द्ध रूपसम्पदके सौरभको इस दूरवर्ती विदर्भदेशसे ही आघ्राणकर मेरा चित्तरूप भ्रमर अधीर हो रहा है॥"५७॥

लोचनरोचनी—यान्त्य इति। श्रीरुक्मिणीसंदेशः॥५७॥

आनन्दचन्द्रिका—रुक्मिणी संदेशपत्रीं लिखति—यान्त्य इति। येषु तृष्णामभिलाषमपि प्राप्नुवत्यो घूर्णन्ते तेषां मधूनां पाने किं वक्तव्यमिति भावः। ननु युवतिजातीनां स्वभाव एवायं यत् पुरुषसौन्दर्यानुभवे सति विकार इति चेत्तत्राह यान्याचम्य दर्पणादौ दृष्ट्वेत्यर्थः, विस्मपनं स्वस्य च सौभगर्द्धेरित्यादेः अपरिकलितपूर्व इत्यादेश्च। चित्तभृङ्ग इत्यनेन युष्मन्माधुर्यास्वादने एव ममेच्छा नतु युवतित्वेन कामघूर्णा निबन्धनेयं मे पत्रीत्याशङ्कनीयमिति भावः॥५७॥

षडुद्वेगादयः पूर्वं प्रौढे तस्मिन्नुदाहृताः।
सामञ्जस्याद्रतेरत्र किन्तु ताः स्युर्यथोचितम्॥५८॥

तात्पर्यानुवाद—उद्वेगादि छहः दशाओंका पहले प्रौढ़पूर्वरागमें उदाहरण दिया गया है किन्तु समञ्जसारतिके सामञ्जस्य हेतु यहाँ भी यथोचित्त रूपमें ये छह दशाएँ हुआ करती हैं॥५८॥

लोचनरोचनी—अस्याः समञ्जसाया रतेः सामञ्जस्याद्धेतोः॥५८॥

अथ साधारणः—

साधारणरतिप्रायः साधारण इतीरितः।
अत्र प्रोक्ता विलापान्ताः षड्दशास्ताश्च कोमलाः॥५९॥

तात्पर्यानुवाद—साधारण पूर्वराग—साधारण पूर्वराग साधारणीरतिके समान होता है। इस साधारण पूर्वरागमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्त्तन, उद्वेग और विलाप—ये छह दशाएँ अत्यन्त कोमलभावसे उदित होती हैं॥५९॥

तत्राभिलाषो यथा प्रथमस्कन्धे (१०/३०)—

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं,
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन्॥६०॥

तात्पर्यानुवाद—अभिलाष—महाभारत युद्धके पश्चात् जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे द्वारका गमन करनेके लिए प्रस्तुत हुए, तब कुरुकुलकी स्त्रियाँ उनको अतृप्त नयनोंसे निहारती हुई आनन्दसे भरपूर हो परस्पर

श्रीकृष्णकी महिषियोंके सौभाग्यादिकी प्रशंसा द्वारा अपनी अभिलाषाओंको प्रकट कर रही हैं—अहो! स्त्रीमात्र ही स्वाधीन या पवित्र नहीं रहनेपर भी ये श्रीरुक्मिणी आदि महिषियाँ स्त्रीजातिको ही धन्य कर रही हैं; क्योंकि कमलनयन श्रीकृष्ण अन्यत्र कहीं नहीं जाते। वरन् परम सुमधुर वाक्यप्रयोग अथवा पारिजात इत्यादि परम सुदुर्लभ वस्तु उपहारादिके द्वारा सदाकाल इनके आनन्दका वर्द्धन किया करते हैं॥६०॥

लोचनरोचनी—एता इत्यादि। वक्त्रीणां कुरुपुरस्त्रीणां यद्यपि संभोगासंभवस्तथापि रुचिमात्रांशेनोदाहरणम्। एताः पट्टमहिष्यः स्त्रीत्वं स्त्रीजातिमात्रं साधु कुर्वते। जात्येकत्वेन पवित्रीकरोति। अपास्तपेशलमिति अन्यसेवापरत्वापरत्वन्निरस्तदाक्ष्यमित्यर्थः। तथा त्वक् श्मश्रु रोम नख केशपिनद्धेतिन्यायेनान्यसङ्गान्निरस्तशौचत्वं च। आहृतिभिः प्रेममयनानासमाहारैः॥६०॥

आनन्दचन्द्रिका—कुरुपुरस्त्रियः श्रीकृष्णमालोक्य तत्पत्नीश्लाघया तं कामयन्ते। एताः पट्टमहिष्यः अपास्तपेशलं निरस्तस्वातन्त्र्यं कामविकाराधिक्यान्निरस्तशौचं साधु शोभनम्। अहो स्त्रीजातिरेव धन्या यत्र रुक्मिण्यादय उद्भूता इति सतां श्लाघयेत्यर्थः। आहृतिभिः पारिजातादिविविधवस्त्वाहरणैः। नन्वासां कुरुपुरनार्यादीनामन्यभुक्तत्वात् श्रीकृष्णसंभोगो नास्त्येव कुतः पूर्वरागो वर्ण्यते। सत्यम्। स्वाप्नो मानसश्च संभोगो वर्तते देहान्तरे साक्षाच्च संभोगो भविष्यतीति अतः पूर्वरागोऽयं नानुपपन्नो ज्ञेयः॥६०॥

चिन्तादीनां तथान्यासामूह्या धीरैरुदाहृतिः॥६१॥

तात्पर्यानुवाद—चिन्ता, स्मृति और गुणकीर्त्तन—इन तीन दशाओंका समञ्जस पूर्वरागमें तथा उद्वेग, विलाप और तानव—इन तीन दशाओंका प्रौढ़पूर्वरागमें उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। तानव, विलापके विषयमें मतभेद होनेके कारण इनको पृथक् रूपसे कहा गया। इस साधारण पूर्वरागमें भी इनका उदाहरण प्रौढ़ और समञ्जस पूर्वरागसे कोमलत्वके तारतम्यसे समझना होगा॥६१॥

पूर्वरागे प्रहीयेत कामलेखस्त्रगादिकम्।
वयस्यादिकरेणात्र कृष्णेनास्य च कान्तया॥६२॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके तीन प्रकारके भेदोंका विशेष रूपसे विस्तारकर यहाँ इस पूर्वरागमें नायिका और नायकके विशेष प्रकारके

कृत्योंका वर्णन कर रहे हैं। इस पूर्वरागमें श्रीकृष्ण नायिकाके प्रति और नायिका भी नायक श्रीकृष्णको लक्ष्यकर वयस्यादिके हाथोंसे (कभी–कभी दूती और सारिकाके द्वारा) भी कामलेख, माला और अपूर्व उपहार भेजनेकी व्यवस्था किया करते हैं॥६२॥

आनन्दचन्द्रिका—कृष्णेन कर्त्रा स्वकान्तायै अस्य श्रीकृष्णस्य, कान्तया च कर्त्र्या श्रीकृष्णाय॥६२॥

तत्र कामलेखः—

स लेखः कामलेखः स्याद्यः स्वप्रेमप्रकाशकः।
युवत्या यूनि यूना च युवत्यां संप्रहीयते॥६३॥

तात्पर्यानुवाद—कामलेख—अपने प्रेमको ज्ञापन करते हुए वह लेख या पत्र जो नायक नायिकाको और नायिका नायकको भेजती है, उसे कामलेख कहते हैं॥६३॥

निरक्षरः साक्षरश्च कामलेखो द्विधा भवेत्॥६४॥

तात्पर्यानुवाद—उक्त कामलेख दो प्रकारके होते हैं, निरक्षर और साक्षर॥६४॥

तत्र निरक्षरः—

सुरक्तपल्लवमयश्चन्द्रार्द्धादिनखाङ्कभाक्।
वर्णविन्यासरहितो भवेदेष निरक्षरः॥६५॥

तात्पर्यानुवाद—उसमें निरक्षर कामलेख—रक्तवर्णके पत्रपर यदि अर्द्धचन्द्ररूप नखाङ्क होता है और वह यदि वर्णविन्यास रहित होता है, तो उसे निरक्षर कामलेख कहते हैं॥६५॥

यथा—

किशलयशिखरे विशाखिकाया,
नखरशिखालिखितोऽयमर्द्धचन्द्रः।
दधदिह मदनार्द्धचन्द्रभावं,
हृदि मम हन्त कथं हठाद्विवेश॥६६॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागकी अवस्थामें अपनी दूती द्वारा प्रेरित विशाखाका निरक्षर कामलेख पाकर श्रीकृष्ण अपने दूत सुबलको क्षोभके साथ कह रहे हैं—"हे सुबल! इस पल्ल्वके ऊपर विशाखाके नखके अग्रभाग द्वारा लिखित यह अर्द्धचन्द्र बाणका भाव धारणकर किस प्रकार मेरे हृदयमें अकस्मात् प्रवेश कर गया!!"॥६६॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखासख्या दत्तं कामलेख्यं प्रीत्या हृदि कृत्वा श्रीकृष्णः क्षणान्तरे सुबलमाह—किशलयेति। मदनस्यार्द्धचन्द्रभावं तन्नामशरसाधर्म्यमित्यर्थः॥६६॥

अथ साक्षरः—

गाथमयी लिपिर्यत्र स्वहस्ताङ्कैष साक्षरः॥६७॥

तात्पर्यानुवाद—साक्षर—जहाँ प्राकृत भाषामयी लिपि अपने हाथोंसे अङ्कित होती है, उसे साक्षर-कामलेख कहते हैं॥६७॥

लोचनरोचनी—गाथा प्राकृतभाषायामप्यार्य्या। स्वहस्तेन अङ्को लिपिर्यस्यां सा॥६७॥

यथा जगन्नाथवल्लभे—

सुइरं विज्झसि हिअअं लम्भइ मअणो क्खु दुज्जसं वलिअम्।
दीससि सअल दिसासु तुमं दीसइ मअणो ण कुत्तावि॥

[सुचिरं विध्यसि हृदयं लभते मदनः खलु दुर्यशो बलवत्।
दृश्यसे सकलदिक्षु त्वं दृश्यते मदनो न कुत्रापि॥६८॥]

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके प्रसङ्गमें शशिमुखी द्वारा श्रीमती राधिकाका कामलेख प्रेरण करनेपर श्रीकृष्ण उसे पाठ कर रहे हैं—"हे श्रीकृष्ण! तुम मेरे हृदयको बिद्ध कर रहे हो, किन्तु यह मदनके द्वारा दी गई पीड़ा नहीं है। मदन तो वृथा ही केवल दुर्यशके भागी हो रहे हैं; क्योंकि मैं सब दिशाओंमें तुम्हींको ही देख रही हूँ। मदनको कहीं भी नहीं देख पा रही॥"६८॥

लोचनरोचनी—सुचिरं विध्यसि हृदयं लभते मदनः खलु दुर्यशोऽतिबलवत्। दृश्यसे सकलदिक्षु त्वं दृश्यते मदनो न कुत्रापि॥६८॥

आनन्दचन्द्रिका—शशिमुखीद्वारा श्रीराधाप्रेषितः श्रीकृष्णे कामलेखोऽयम्। "सुचिरं विध्यसि हृदयं लभते मदनः खलु दुर्यशो बलीयः। दृश्यसे सकलदिक्षु त्वं दृश्यते मदनो न कुत्रापि॥" मदनशरपीडिता श्रीराधा क्लाम्यतीति सखीषु प्रसिद्धिर्मिथ्यैव। यतः—सुचिरमित्यादि॥६८॥

बन्धोऽब्जतन्तुना रागः किम्वा कस्तूरिका मसी।
पृथुपुष्पदलं पत्रं मुद्राकृत्कुङ्कुमैरिह॥६९॥

तात्पर्यानुवाद—कामलेख कमल-मृणालकी सूक्ष्म तन्तुओंके द्वारा बँधा हुआ होता है, गैरिक मनःशिलादिसे उत्पन्न धातुविशेष, जवापुष्पादिका रस अथवा अपनी देहस्थित मृगमद ही उसकी स्याही होती है। विशाल पुष्पदलके ऊपर ही वह पत्र लिखा जाता है। वक्षस्थित केसरके द्वारा उसकी मुद्रा होती है अर्थात् अपने नामाक्षर युक्त अँगूठीका चिह्न उसमें देना होता है। तत्पश्चात् श्रीकृष्णके द्वारा श्रीराधाकी भाव परीक्षा होती है। श्रीकृष्णकी उदासीनता सत्य मानकर अनङ्गलेखको ले जानेवाली दूतीके प्रस्थान करनेपर उस पत्रको भेजनेके लिए हृदयमें पश्चात्ताप आदि होता है। उसमें श्रीमती राधिकाका निर्वेद, सखीके द्वारा उनको आश्वासन दान और उसके बाद श्रीकृष्णके द्वारा अपने मनोरागकी व्यञ्जना देखी जाती है॥६९॥

लोचनरोचनी—मसी लिपेरुपादानद्रव्यम्॥६९॥

आनन्दचन्द्रिका—रागो हिङ्गुलादिद्रवः। मसीव मसी किंवा कस्तूरीकेत्यन्वयः॥६९॥

अथ माल्यार्पणम्—

सुश्लिष्टां निजशिल्पकौशलभरव्याहारिणीमद्भुतां,
गोष्ठाधीश्वरनन्दनः स्रजमिमां तुभ्यं सखि प्राहिणोत्।
इत्याकर्ण्य गिरं सरोरुहदृशः स्वेदोदबिन्दुच्छला–
दङ्गेभ्यः कुलधर्मधैर्यमभितः शङ्के बहिर्निर्ययौ॥७०॥

तात्पर्यानुवाद—माल्यार्पण—पूर्वरागके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णके द्वारा अपने हाथसे गूँथी हुई तथा वृन्दाके द्वारा भेजी हुई मालाको पाकर आनन्दोल्लाससे श्रीराधाजीकी अत्यन्त उत्कण्ठाका वर्णन करते हुए कह

रहे हैं—हे राधे! व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने तुम्हारी प्रसन्नताके लिए बड़े प्रेमसे पुष्पोंको एकसाथ सूत्रमें गूँथकर अपने शिल्पकौशलको प्रकाश करते हुए इस अत्यन्त अद्भुत निरूपम मालाको मेरे द्वारा भेजा है। वृन्दाके मुखसे यह सुनकर कमलनयना श्रीमती राधिकाके निखिल अङ्गोंसे ऐसी स्वेदराशि प्रवाहित होने लगी, मानो स्वेद झरनेके बहाने कुलस्त्रियोंका धैर्य और धर्मादि सब प्रकारसे हृदयसे बाहर निकल रहा हो॥७०॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीराधायै मालां समर्प्यागता श्रीकृष्णेन पृष्टतद्वृत्तान्ता तं प्रत्याह—सुश्लिष्टमिति॥७०॥

केचित्तु—

"नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः॥"
इत्याचक्षते॥७१॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रकार पूर्वरागके प्रौढ़ प्रभृति तीन भेदोंकी स्वरूपगत और संख्यागत दशाओंके तारतम्यका यथासम्भव उदाहरण देकर दूसरोंके मतानुसार सामान्य पूर्वरागगत दस दशाओंकी भी सूचना कर रहे हैं। किसी-किसी पण्डितका कहना है कि पहले नयन-प्रीति होती है। इसके पश्चात् क्रमशः चिन्ता, आसङ्ग, सङ्कल्प, जागर्य, तनुक्षीणता, विषयनिवृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा और मृति—इस प्रकार दस कामदशाएँ हुआ करती हैं॥७१॥

एवं क्रमेण विज्ञेयः पूर्वरागो हरेरपि।
निदर्शनाय तत्रैकमुदाहरणमुच्यते॥७२॥

तात्पर्यानुवाद—इसी प्रकार क्रमसे श्रीकृष्णके भी पूर्वरागको समझना चाहिए। उसके लिए एक उदाहरणको प्रस्तुत कर रहे हैं॥७२॥

लोचनरोचनी—विज्ञेयः उद्दीपनत्वेनेति शेषः। श्रीकृष्णभक्तेरेवात्र स्थायित्वेन प्राकृतत्वात्॥७२॥

यथा—

उपारंसीद्वंशीकलपरिमलोल्लासरभसा,
द्विसस्मार स्फारां विविधकुसुमाकल्परचनाम्।
जहौ कृष्णस्तृष्णां सहचरचमूचारुचरिते,
सखि त्वद्भ्रूव्यालीचुलुकितचलच्चित्तपवनः॥७३॥

इति पूर्वराग॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाकी भृकुटी-विलासका दर्शनकर उससे जड़ताको प्राप्त श्रीकृष्णकी व्याकुलताको लक्ष्यकर वृन्दादेवी श्रीराधाको श्रीकृष्णके निकट ले जानेकी इच्छासे श्रीकृष्णकी दशा निवेदन कर रही है—हे सखि राधे! तुम्हारी भ्रूरूपा सर्पिणी द्वारा श्रीकृष्णके चित्तके पवनको पान करनेसे वे इस समय वेणुवादनसे भी विरत हो रहे हैं, विविध प्रकारके कुसुमों द्वारा मालाग्रन्थनसे भी विरत हो रहे हैं एवं परम सुहृद सखाओंके साथ मनोहर लीलाविनोद करना भी भूल गए हैं॥७३॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा श्रीराधामाह—उपेति। अत्र परिमलपदेन वंशीकलस्य पुष्पोद्यानत्वमारोपितम्। तस्य तानतालादिप्रपञ्चैर्निखिलविलासास्पदत्वं व्यङ्ग्यम्। उल्लास उद्रेकस्तेन यो रभस आनन्दस्तस्मादुपारंसीद्व्यरंसीत्॥७३॥

अथ मानः

दाम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः।
स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादिनिरोधी मान उच्यते॥७४॥

तात्पर्यानुवाद—मान—परस्पर अनुरक्त और एकत्र अवस्थित रहनेपर भी नायक-नायिकाके अपने-अपने अभिलषित आलिङ्गन, दर्शन, चुम्बन, प्रियभाषणके प्रतिबन्धक भावको मान कहते हैं॥७४॥

लोचनरोचनी—दम्पत्योर्भाव एव मानाख्य उच्यते। विभावादिसंवलिततया पुष्टमाधुर्यश्चेति भावः। अपि-शब्दात् पृथक् स्थितयोरपि॥७४॥

आनन्दचन्द्रिका—दम्पत्योः स्वाभीष्टमाश्लेषवीक्षणादिकं निरोद्धुं शीलं यस्य तथाभूतो भावो रोषविशेष एव विभावादिसंवलनान्मान उच्यते। अत्र रसशास्त्रे स्त्रीपुंसमात्रे दम्पतिशब्दप्रयोगः "औपपत्येऽपि स्वाधीनभर्तृका" इत्यादि पद प्रयोगवन्नानुपपन्नः। अभीष्टपदेन देवमन्दिरव्रतादिदेशकालनिद्रालस्याद्यवस्थाव्यावृत्तिः। तत्र तत्र क्वचिन्नायिकायाः क्वचिन्नाकस्य क्वचिदुभयोरेवालिङ्गनादेव नाभीष्टत्वम्। एकत्र सतोरपीत्यपिकारात् पृथक् स्थितयोरपि॥७४॥

संचारिणोऽत्र निर्वेदशङ्कामर्षाः सचापलाः।
गर्वासूयावहित्थाश्च ग्लानिश्चिन्तादयोऽप्यमी॥७५॥

तात्पर्यानुवाद—इस मानमें (विप्रलम्भ शृङ्गारमें) सञ्चारीभाव—निर्वेद, शङ्का, अमर्ष, चापल, गर्व, असूया, अवहित्था, ग्लानि और चिन्ता—ये सञ्चारीभाव उदित होते हैं॥७५॥

अस्य प्रणय एव स्यान्मानस्य पदमुत्तमम्।
सोऽयं सहेतुनिर्हेतुभेदेन द्विविधो मतः॥७६॥

तात्पर्यानुवाद—इस मानका ऐकान्तिक आश्रय—जहाँ प्रणय विराजमान होता है, वहींपर मान सम्भव होता है। यह हेतुक और अहेतुक भेदसे दो प्रकारका होता है॥७६॥

लोचनरोचनी—प्रणय एव पदमाश्रयः। अन्यथा संकोचः स्यात्, यत्र मानाख्यो भावः पूर्वं पश्चात्तु प्रणयो भावप्रकरणोक्तानुसारेण लभ्यते। अत्र च मानाख्योऽयं रसः प्रणयात् पूर्वं न भवति प्रणयं विना तद्व्यक्तौ शोभनानुपपत्तेः॥७६॥

आनन्दचन्द्रिका—नन्वयं मानः क्व संभवतीत्यपेक्षायामाह—अस्य मानस्य प्रणय एवोत्तमं पदं स्थानं स्यात्। यत्र प्रणयः तत्रैव मानः स्यादित्यर्थः। उत्तमं पदमित्युक्तेः स्नेहोऽनुत्तमं पदं न्यूनस्थानमित्यर्थ आयाति। यदुक्तम्—"जनित्वा प्रणयः स्नेहात्कुत्रचिन्मानतां व्रजेत्। स्नेहान्मानः क्वचिद्भूत्वा प्रणयत्वमथाश्नुते॥" इति॥७६॥

तत्र सहेतुः—

हेतुरीर्ष्याविपक्षादेर्वैशिष्ट्ये प्रेयसा कृते।
भावः प्रणयमुख्योऽयमीर्ष्यामानत्वमृच्छति॥७७॥

तात्पर्यानुवाद—सहेतुक मान—नायकके द्वारा विपक्ष या तटस्थ नायिकाके प्रति किया हुआ उत्कर्ष देखकर या सुनकर जो ईर्ष्या होती है, वही मानका कारण है। प्रणय-प्रधान यह ईर्ष्यारूप भाव ही ईर्ष्यामानत्वको प्राप्त करता है॥७७॥

लोचनरोचनी—सहेतुरीर्ष्यासंयोगेन हेतुना सह वर्तमानः, निर्हेतुस्तद्विनाभूतः; उत्तरानुरोधात्॥७७॥

आनन्दचन्द्रिका—हेतुरत्र खल्वीर्ष्यैव स्यादित्यर्थः। तस्या अपि को हेतुस्तत्राह—प्रेयसा कान्तेन विपक्षादेः प्रतिनायिकायास्तत्सखीनां वा वैशिष्ट्ये उत्कर्षे कृते सति भाव ईर्ष्यारूपः प्रणयः प्रधानः सन् ईर्ष्या मानत्वमृच्छति प्राप्नोति॥७७॥

तथा चोक्तम्—

स्नेहं विना भयं न स्यान्नेर्ष्या च प्रणयं विना।
तस्मान्मानप्रकारोऽयं द्वयोः प्रेमप्रकाशकः॥७८॥

तात्पर्यानुवाद—इस विषयमें प्राचीन रसिक विद्वानोंका विचार—स्नेहके बिना भय नहीं होता और प्रणयके बिना ईर्ष्या भी सम्भव नहीं होती। इसलिए दोनों ही प्रेम प्रकाशक होते है।

तात्पर्य—अपराधी नायक नायिकासे भय करता है और नायिकाकी उसके प्रति ईर्ष्या होती है। भय और ईर्ष्या इन दोनों कारणोंसे नायक-नायिकाका मान नामक रस होता है। उनमेंसे भयका कारण स्नेह और ईर्ष्याका कारण—प्रणय होता है। इसलिए नायिका-विषयक चित्तद्रवी भावके बिना नायकको भय होता है और नायक-विषयक सख्य नहीं होनेपर नायिकाको ईर्ष्या नहीं होती—श्रीचक्रवतिपाद।

अर्थात् यदि कहो कि किस स्थानमें मान सम्भव होता है? इस आशङ्काका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि प्रणय होनेपर ही मान उत्पन्न होता है। जहाँपर प्रणय है, वहींपर मान होता है। सूत्रमें मानका उत्तम पद प्रणय है। इस उक्तिके कारण प्रणयकी अपेक्षा स्नेह न्यून होता है। यह युक्तिसिद्ध है। इस विषयमें प्राचीन पण्डितोंकी उक्ति इस प्रकार है—"जनित्वा प्रणयः स्नेहात् कुत्रचित् मानतां ब्रजेः। स्नेहान्मानः

क्वचिद्भूत्वा प्रणयत्वमथाश्नुते॥" इस पदका अर्थ यह है कि स्नेहसे प्रणय उत्पन्न होकर किसी दशामें मानको प्राप्त होता है और कभी स्नेहसे मान उत्पन्न होकर प्रणयत्व लाभ करता है। इस कारणसे प्रणयकी ही श्रेष्ठता दृष्टिगोचर होती है॥७८॥

लोचनरोचनी—स्नेहं नायकस्य नायिकां प्रत्यार्दीभावं विना भयं न स्यात्। ईर्ष्या नायिकाया असहनत्वं प्रणयं विना न स्यात्। तस्मात् स्नेहप्रणयकारणत्वात् द्वयोः मान एव प्रेम्णोऽच्छिदुरभावस्य प्रकाशकः॥७८॥

आनन्दचन्द्रिका—कृतापराधस्य नायकस्य नायिकां प्रति भयं स्यात्, नायिकायास्त्वपराधे तस्मिन्नीर्ष्या स्यात्। तदुभयहेतुको नायिकानायकयोर्मानो नाम रसः स्यात्। तत्र च भयस्य कारणं स्नेहः, ईर्ष्यायाः कारणं प्रणय इत्याह—स्नेहमिति। स्नेहं नायिकाविषयकं चित्तार्द्रीभावं विना नायकस्य भयं न स्यात्। प्रणयं नायकविषयं सख्यं विना नायिकाया ईर्ष्या न स्यात्॥७८॥

अतएव हरिवंशे—

रुषितामिव तां देवीं स्नेहात्संकल्पयन्निव।
भीतभीतोऽतिशनकैर्विवेश यदुनन्दनः॥७९॥

रूपयौवनसंपन्ना स्वसौभाग्येन गर्विता।
अभिमानवती देवी श्रुत्वैवेर्ष्यावशं गता॥८०॥ इति।

तात्पर्यानुवाद—हरिवंशमें कहा गया है—सत्यभामाको रोषाभास होनेपर यादवेन्द्र श्रीकृष्ण स्नेहके कारण कुछ विचार करने लगे, क्या ये मेरे प्रति किसी प्रकारसे भी अपने स्नेहको शिथिल कर देंगी? वास्तवमें उनकी यह सम्भावना भी दृढ़ नहीं है तथापि कुछ डरते हुए सत्यभामाके भवनमें प्रवेश किया। सत्यभामा अत्यधिक रूप-यौवनशालिनी हैं। वे अपने विषयमें प्रियतमके विशेष आदरके कारण प्रेयसियोंमें आदरणीय थीं। अपनी सखीसे यह सुनकर कि श्रीकृष्णने रुक्मिणीको पारिजातपुष्प दिया है, वह मदीयभावमय मधुस्नेहवती देवी ईर्ष्यासे अभिभूत हो गई।

तात्पर्य—रोष प्रणयके रूपमें बदलनेके कारण सत्यभामा रुष्ट-सी थी, यथार्थतः रुष्ट नहीं हुई। श्रीकृष्णने मन-ही-मन यह आशङ्का की, कहीं सत्यभामाका स्नेह शिथिल न हो जाए, इसलिए सत्यभामाको मनानेके लिए चरणोंमें पतित होना ही मेरे लिए उचित है अथवा चाटुवाक्योंके

द्वारा उन्हें प्रसन्न करना ही मेरे लिए उचित है। श्रीकृष्णनिष्ठ सुखके कारण सत्यभामाका अत्यन्त सौभाग्य है। अत्यन्त गर्वित होनेके कारण वे अभिमानवती हैं। यहाँ सत्यभामा मदीयतामय मधुस्नेहवती हैं॥७९-८०॥

लोचनरोचनी—रूषितामिवेति वस्तुतः प्रणयवतीत्वाद् रोषाभासवतीमित्यर्थः। देवीं श्रीसत्यभामाम्, संकल्पयन्निव कथंचिन्मयि स्नेहशैथिल्यमियं कुर्यादिति भावयन्निवेति। वस्तुतस्तु तस्यामस्य नेदृशी संभावना गाढा भवेदिति संभावना भासमेव कुर्वन्नित्यर्थः। तथापि भीतभीत इत्यन्तर्वशीभावो दर्शितः। गर्विता स्वस्मिन् प्रियकृदादरेण परमप्रेयसींमन्या। स्वयं चाभिमानवती भावप्रकरणोक्तमानाख्य-भावविशेषवती॥७९-८०॥

आनन्दचन्द्रिका—रूषितां कुपितामेवेति रोषस्यास्य प्रणयपरिणामरूपत्वादिति भावः। स्नेहात् स्वनिष्ठात्तद्विषयकात् संकल्पयन्निव संभावयन्निव। यद्वा चरणयोः पतिष्यामि चाटु वक्ष्यामीत्यादयः संकल्पा यस्यां सन्ति सा संकल्पवती तथाभूतां तां कुर्वन्निव॥७९॥

सौभाग्येन श्रीकृष्णनिष्ठसुखस्य निबन्धनेनेत्यर्थः। अतिगर्वितेत्यत्र हेतुः अभिमानवती मदीयतामयमधुस्नेहवती॥८०॥

तत्रापि च सुसख्यादि हृदि यस्या विराजते।
तस्या विपक्षवैशिष्ट्ये न स्यादेव सहिष्णुता॥८१॥

अतः सत्यां विनान्यासां सुसख्यादेरभावतः।
श्रुतेऽपि पारिजातस्य दाने मानो न चाभवत्॥८२॥

तात्पर्यानुवाद—उसपर भी जिस नायिकाके हृदयमें सुसख्य, रक्तिमराग, मधुस्नेह, ललितमानादि विराजमान होते हैं, केवल उन्हींको विपक्षका उत्कर्ष सहनीय नहीं होता। इसलिए सत्यभामाको छोड़कर अन्यान्य महिषियोंमें सुसख्यादिके अभावके कारण श्रीरुक्मिणीके प्रति पारिजात पुष्पकी वार्त्ता श्रवणकर उनके हृदयमें मान उद्गम नहीं हुआ॥८१-८२॥

श्रुतं चानुमितं दृष्टं तद्वैशिष्ट्यं त्रिधा मतम्॥८३॥

तत्र श्रवणम्—

श्रवणं तु प्रियसखीशुकादीनां मुखाद्भवेत्॥८४॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्षका उत्कर्ष तीन प्रकारसे हो सकता है—श्रुत, दृष्ट और अनुमित। **श्रुत—**प्रियसखी और शुकादिके मुखसे श्रवण॥८३-८४॥

आनन्दचन्द्रिका—तद्वैशिष्ट्यं विपक्षादेः प्रेयसा कृतम्॥८३॥

तत्र सखीमुखाद्यथा—

शशिमुखि मृषा जल्पं श्रुत्वा कठोरसखीमुखात्,
प्रणयिनि हरौ मा विश्रम्भं कृथाः शिथिलं वृथा।
परिहर मनःक्लान्तिं देवि प्रसीद मनोरमे,
तव मुखमनालोच्य प्रेयान्वनेऽद्य विशीर्यति॥८५॥

तात्पर्यानुवाद—अपनी विपक्ष-नायिकाके साथ श्रीकृष्णकी क्रीड़ाका संवाद सखीके मुखसे सुनकर ईर्ष्यावशतः महामानिनी मनोरमाको प्रसन्न करनेके लिए श्रीकृष्णने वृन्दाको भेजा। वृन्दा श्रीकृष्णकी अत्यधिक आर्त्तिका वर्णनकर उससे अनुनय कर रही है—"हे शशिमुखि मनोरमे! किसी कठोरसखीके मुखसे मिथ्या संवादको सुनकर प्रणयभाजन श्रीहरिके प्रति अपने प्रेमको शिथिल न करो। हे देवि! प्रसन्न होओ। मनकी ग्लानिको दूर करो। तुम्हारे मुखको न देखकर तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण आज वनमें बड़े खेदग्रस्त हो रहे हैं॥"८५॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा मानिनीं मनोरमां प्रत्याह—शशिमुखीति॥८५॥

यथा वा—

अहह गहना केयं वार्ता श्रुतौ पतिताद्य मे,
विदितमनृतं हास्याद्ब्रूषे विमुञ्च कदर्थनाम्।
सहचरि कुतो जीवत्यस्मिञ्जनेऽपि जनाद्रनो,
द्युतरुकुसुमं तस्यै हा धिक्कृती वितरिष्यति॥८६॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजमें सखीके मुखसे विपक्षादिके वैशिष्ट्यके श्रवणका दिग्दर्शनकर महिषियोंका भी उदाहरण दे रहे हैं। नारदके द्वारा स्वर्गसे लाए गए पारिजात पुष्पको श्रीकृष्णने रुक्मिणीको ही दिया। इस संवादको अपनी सखीके मुखसे सुनकर सत्यभामा इसे अत्यन्त असम्भव मानकर

सन्दिग्ध चित्त होकर उसको कह रही है—अहो! क्या ही आश्चर्यकी बात है!! बड़े दुःखकी बात है। क्या ही दुःखद संवाद सुन रही हूँ। अहो! मैं समझ रही हूँ, तुम मुझसे परिहासमें मिथ्या बात कर रही हो। सखि! झूठ मत बोलना।" सखीने कहा—"मैं शपथ करके कह रही हूँ, मैंने जो कुछ कहा है वह सम्पूर्ण सत्य है। मैंने अपनी आँखोंसे श्रीकृष्ण द्वारा श्रीरुक्मिणीको पारिजात-पुष्प देते हुए देखा है।" ऐसा सुनकर देवीने कहा—"हा! बड़े अनुतापकी बात है! मेरे जीवित रहते हुए विवेचक श्रीकृष्णने मेरा अनादरकर रुक्मिणीको पारिजात पुष्प दिया है। हाय-हाय! मेरे सौभाग्यको धिक्कार है॥"८६॥

लोचनरोचनी—गहनाऽरिष्टदा॥८६॥

आनन्दचन्द्रिका—पट्टमहिषीष्वपि मानमुदाहर्त्तुमाह—यथा वेति। पारिजातपुष्पदान-प्रस्तावं ब्रुवाणां स्वसखीं प्रति सत्यभामा प्राह—केयमद्भुता अश्रुतचरी श्रुतिस्फोटिनीत्यर्थः। क्षणं परामृश्याह—विदितं मया ज्ञातं, हास्यात् परिहासाद्धेतोः मां कदर्थयितुमनृतं ब्रूषे। अस्मिन्मल्लक्षणे जने, तस्यै रुक्मिण्यै। कृती देशकालपात्रज्ञः॥८६॥

शुकमुखाद्यथा—

> **आस्ते काचिद्दयितकलहा क्रूरचेताः सखी ते,**
> **कीरो वन्यः स्फुटमिह यया श्यामले पाठितोऽस्ति।**
> **अत्र व्यर्थे विहगलपिते सुष्ठु विश्रम्भमाणा,**
> **मानारम्भे न कुरु हृदयं कातरोऽस्मि प्रसीद॥८७॥**

तात्पर्यानुवाद—शुकमुखसे श्रवण—विपक्षयूथके वैशिष्ट्य-गान प्रसङ्गको शुकमुखसे श्रवणकर अत्यन्त ईर्ष्यासे भरी हुई मानिनी श्यामलाके निकट श्रीकृष्ण धृष्टताके साथ शुक द्वारा कहे गए प्रसङ्गको मिथ्या प्रतिपादन करते हुए, उसे प्रसन्न करने हेतु कहने लगे—"हे श्यामले! तुम्हारी कलहप्रिय और अतिशय क्रूर एक सखी है, जिसने इस वनैले शुकको पाठ सिखाया है। तुम अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाले इस पक्षीकी निरर्थक बातोंपर विश्वासकर मानके द्वारा अपने हृदयको दुःखी न करो। मैं कातर होकर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम प्रसन्न होओ॥"८७॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्यामलां श्रीकृष्णः सचाटुप्रतिभमाह—आस्त इति। पाठितोऽस्ति त्वां मां च कदर्थयितुमिति भावः॥८७॥

अनुमितिः—

भोगाङ्कगोत्रस्खलनस्वप्नैरनुमितिस्त्रिधा ॥८८॥

तत्र भोगाङ्कः—

भोगाङ्को दृश्यते गात्रे विपक्षस्य प्रियस्य च॥८९॥

तात्पर्यानुवाद—अनुमिति—भोगाङ्क (अन्य नायिकासे सम्बन्धका सम्भोगचिह्न), गोत्रस्खलन और स्वप्नमें उपलक्षित अनुमान—भेदसे अनुमिति तीन प्रकारकी होती है। **विपक्षगात्रमें भोगाङ्क—**विपक्ष अथवा प्रिय व्यक्तिके अङ्गमें जो सम्भोगचिह्न देखा जाता है, उसको भोगाङ्क कहते हैं॥८८-८९॥

तत्र विपक्षगात्रे भोगाङ्कदर्शनं यथा—

कालिन्दीतटधूर्तचाटुभिरलं निद्रातु चन्द्रावली,
खिन्नाक्षी क्षणमङ्गनादपसर क्रुद्धास्ति वृद्धा गृहे।
किंचिद्बिम्बितधातुपत्रमकरीचित्रेण तत्राधुना,
सर्वा ते ललिताललाटफलकेनोद्धाटिता चातुरी॥९०॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्षगात्रमें भोगाङ्क—खण्डितावस्थाको प्राप्त चन्द्रावलीके कुञ्जमें श्रीकृष्णके आगमन करनेपर पद्मा आक्षेपके सहित क्रोधसे कहने लगी—"हे कालिन्दीतटके धूर्त! और चाटुवचनोंकी अब कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हारी इस चाटुताका कारण हमने जान लिया है। तुम चुप हो जाओ। अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं।" इसपर यदि श्रीकृष्ण यह कहें कि "अपनी बात कहनेमें क्या दोष है? उसका उत्तर यह है कि मानाग्नि-सन्तापसे मूर्च्छिता चन्द्रावलीको सोने दो। तुम्हारी व्यर्थकी बातोंसे उनकी निद्राभङ्ग हो जाएगी; क्योंकि चन्द्रावली तुम्हारे लिए सारी रात जागरणकर अत्यन्त खिन्नाङ्गी हैं।" पुनः यदि श्रीकृष्ण इस प्रकार कहते हैं कि "हे पद्मे! क्षणकालके लिए मैं यहाँपर खड़ा हूँ।" इसपर पद्मा कह रही है—"तुम शीघ्र ही इस आङ्गनसे दूर चले जाओ।" इसपर भी यदि श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे पद्मे! मैं जा तो रहा हूँ, किन्तु

चन्द्रावलीकी निद्राभङ्ग होनेपर तुमलोग अपनी दयालुतासे 'मैं निरपराध हूँ और अनुनय-विनयसे मैंने जो कुछ कहा है वह उनको निवेदन कर देना।" इसपर पद्मा कह रही हैं—"तुम्हारे ललाट प्रदेशमें ईषत् प्रतिबिम्बित धातुपत्र अर्थात् गैरिक मनःशिलादि रचित पत्रभङ्गको (तिलक विशेषको) देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विपक्षा रमणीके ललाटमें मृगमदादि रचित पत्र तुम्हारे ललाट प्रदेशमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। हाय! हाय!! इसे देखकर कौन सह सकती है?"॥९०॥

लोचनरोचनी—बिम्बितधातुपत्रमकरीचित्रेणेति। अनयोपालम्भनकर्त्र्या श्रीकृष्णवक्षसि तत्परीक्षणाय स्वयमेव पूर्वं तल्लिखितमासीदिति गम्यते॥९०॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डितायाश्चन्द्रावल्याः कुञ्जमायातं श्रीकृष्णं पद्मा साक्षेपं सामर्षमाह—कालिन्दीति। चाटुभिरलमिति त्वच्चाटुकरणं वयं जानीम एव किन्तु संप्रति तूष्णीं भवेति भावः। ननु वचने को दोष इत्यत्र मानाग्निसंतापमूर्च्छिता चन्द्रावली निद्रितेति ज्ञापयन्ती प्राह—निद्रात्विति। निद्रातु त्वज्जल्पितशब्देन मा जागर्त्विति भावः। यतः खिन्नाक्षी रात्रौ विप्रलम्भत्वेन जागरादिति भावः। ननु तर्हि तूष्णीमिव क्षणमिहैव स्थास्यामीत्यत आह—अङ्गनादिति। एवं चेदितो यामि किन्तु तन्निरपराधत्वं चाटुप्रणतिविनत्यादिकं च प्रबुद्धायां चन्द्रावल्यां युष्माभिरेव कृपालुभिर्विज्ञापनीयमिति? तत्राह—किञ्चिद्बिम्बतेत्यादि। किंचिदीषद्विम्बितं प्रतिबिम्बं धातुपत्रं गैरिकमनःशिलादिरचितं श्रीकृष्णललाटस्थपत्रभङ्गं यस्मिन् तथाभूतं मकरीचित्रं मृगमदादिरचितं यत्र तेन फलकेन चित्रपटेन॥९०॥

प्रियगात्रे भोगाङ्कदर्शनं यथा विदग्धमाधवे—

मुक्तान्तर्निमिषं मदीयपदवीमुद्वीक्षमाणस्य ते,
जाने केशररेणुभिर्निपतितैः शोणीकृते लोचने।
शीतैः काननवायुभिर्विरचितो बिम्बाधरे च व्रणः,
संकोचं त्यज देव दैवहतया न त्वं मया दूष्यसे॥९१॥

तात्पर्यानुवाद—प्रियगात्रमें भोगाङ्क—चन्द्रावलीके सहित नागकेसर कुञ्जमें क्रीड़ा करनेके पश्चात् प्रभातकालमें श्रीमती राधिकाको सूर्याराधन वेदिकाके निकट देखकर उनके समीप उपस्थित होकर स्पष्ट रतिचिह्नोंको धारण किए हुए श्रीकृष्ण अपने द्वारा किए गए अपराधके डरसे अपने अङ्गोंमें धारण रतिचिह्नोंको छिपाना भूलकर ही नाना प्रकारसे अपनी

ठगविद्याके द्वारा अपने अपराधको छिपानेके लिए प्रयास कर रहे थे। उस समय श्रीमती राधिका श्रीकृष्णके अपराधको ही दृढ़ करते-करते विपरीत लक्षणाके द्वारा भङ्गीसे कह रही है—"अहो! यह सत्य है कि आप मेरे ही पथकी ओर अपलक दृष्टिसे प्रतीक्षा कर रहे थे। इसीलिए नागकेसरकी पुष्परेणु गिरनेके समय एक बार भी निमेष निक्षेप नहीं किया आपने? मैं जानती हूँ अर्थात् मैं सर्वदा यह अनुभव करती हूँ। तुम्हें अधिक कुछ बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। आपके बिम्बाधरमें क्षत देख रही हूँ। इसके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि तुम मेरे प्रेममें विवश होनेके कारण शीतलवायुका भी अनुसन्धान नहीं कर सके। इसलिए वनकी सुशीतल वायुने ही आपके बिम्बाधरोंमें क्षत किया है। हे देव! संकोच परित्याग करें। आपके जैसे प्रेमी व्यक्तिमें कोई कैसे अपराधकी कल्पना कर सकता है? हे देव!—कोई भी मनुष्य ऐसा प्रेम करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।" इसका श्लेषार्थ यह है—"हे देव! हे क्रीड़ापर! आप संकुचित क्यों हो रहे हैं? आप क्यों डर रहे हैं? अपनी प्रियाको मेरे सामने ही लाकर उसके साथ विहार करें।" यदि इससे श्रीकृष्ण यह कहें कि सखियोंके सहित तुम मुझपर वृथा ही दोषारोप कर रही हो? इसपर श्रीमतीकी उक्ति—"सचमुच ही मुझसे अपराध हुआ है। अब मैंने तुम्हारा तत्त्व समझा है। अब मैं तुम्हारे प्रति दोषारोप न करूँगी। मैंने जो विरूद्धाचरण किया है, कृपापूर्वक आप उसे क्षमा करें।" इसपर श्रीकृष्णकी उक्ति—"मेरा दुर्भाग्य है। यदि विधाताने मेरे ललाटमें दुःख नहीं लिखा होता तो तुम ऐसा क्यों कहती?"॥९१॥

आनन्दचन्द्रिका—खण्डिता श्रीराधा अनुनयन्तं श्रीकृष्णं तद्वचनानुवादेनैव विपरीतलक्षणया प्राह—मुक्तान्तर्निमिषमिति। मत्पदवीदर्शनेऽपि किं पुनर्मद्दर्शने, अन्तर्निमिषोऽपि न कृतः किं पुनर्बहिर्निमेषः। तत्राप्यहो केशररेणुपातसमयेऽप्यहो मद्विषयकप्रेम्णः पराकाष्ठेत्यर्थः। जाने इति। सर्वदैवाहमनुभवाम्येव किं पुनरपि तद्विज्ञापनप्रयासेन तवेति भावः। बिम्बाधरे च व्रण इति। मत्प्रेमविवशो जातं व्रणमपि नानुसंधत्से इत्यर्थः। संकोचं त्यजेति एतावत्प्रेमवत्त्वे कुतोऽपराधसंभावना यतः संकोच इति भावः। देवेति। नहि मनुष्य एवं प्रेम कर्तुं शक्नोतीति भावः। श्लेषेण हे क्रीडापर, किमिति संकुचसि मदग्रेऽपि तामानीय रमस्वेति भावः। नन्वेवं चेत् कथं सखीभिः सहिता त्वं मामदूषयस्तत्र सत्यमपराद्धमेव मयेत्याह—त्वं संप्रति तु ज्ञाततत्त्वया मया न दूष्यसे पूर्वं यद्विरुद्धं कृतं तत्त्वया कृपयैव क्षन्तव्यमेवेति भावः।

ननु तर्हि तव खेदस्य किं कारणं तत्राह—दैवहत इति। यदि मल्ललाटे विधात्रा दुःखं लिखितं तदा त्वं किं करिष्यसीति भावः॥९१॥

अथ गोत्रस्खलनम्—

विपक्षसंज्ञयाह्वानमीर्ष्यातिशयकारणम् ।
आसां तु गोत्रस्खलनं दुःखदं मरणादपि॥९२॥

तात्पर्यानुवाद—गोत्रस्खलन—किसी नायिकाकी उपस्थितिमें विपक्षकी नायिकाका नाम लेकर उसे बुलाने अथवा उसका नाम उच्चारण करनेमात्रको ही गोत्रस्खलन कहते है। इससे नायिकाको अत्यन्त ईर्ष्या तथा मान होता है; क्योंकि गोत्रस्खलन नायिकाके लिए मृत्युसे भी अधिक दुःखप्रद होता है॥९२॥

आनन्दचन्द्रिका—गोत्रस्य नाम्नः स्खलनम्। "गोत्रं कुले धने नाम्नि गोत्रं तु धरणीधरे।" इत्यजयः॥९२॥

तेन यथा बिल्वमङ्गले—

राधामोहनमन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान्,
राधे क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली।
कंस क्षेममये विमुग्धहृदये कंसः क्व दृष्टस्त्वया,
राधे क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः॥९३॥

तात्पर्यानुवाद—किसी समय श्रीमती राधिकाके साथ राधामोहन नामक कुञ्जमें विहार करनेके पश्चात् वहाँसे अपने भवनमें लौटते समय रास्तेमें दैवयोगसे चन्द्रावली मिली। उसे देखकर श्रीकृष्णने कहा—"राधे! तुम कुशल तो है?" श्रीकृष्णकी बातको सुनकर उसी समय चन्द्रावलीने उत्तर दिया—"हे महाराज कंस! आप कुशल तो है?" श्रीकृष्ण बोले—"हे विमुग्ध हृदये! तुमने कंसको कहाँ देखा?" चन्द्रावलीने उत्तर दिया—"तुमने राधाको कहाँ देखा?" तब श्रीकृष्ण समझ गए कि मैंने भूलसे चन्द्रावलीको ही 'राधा' सम्बोधित किया है। ऐसा समझकर वे विशेष रूपमें लज्जित हुए और मुख नीचा कर खड़े हो गए। चन्द्रावलीकी तत्कालीन ईर्ष्योत्थ प्रश्नोत्तरकी चातुरी देखकर श्रीकृष्ण मधुर मन्द हँसने लगे। इस प्रकार श्रीहरि सर्व क्लेशहारी तुम सबकी रक्षा करें॥९३॥

यथा वा—

अहह विलसत्यग्रे चन्द्रावली विमलद्युतिः,
कितव कलिता तारा सात्र त्वया क्व नु षोडशी।
तिमिरमलिनाकार क्षिप्रं व्रजारुणमण्डला,
मम सहचरी यावन्मन्युद्युतिं न विमुञ्चति॥९४॥

तात्पर्यानुवाद—गोत्रस्खलनके द्वारा नायिकाकी ईर्ष्यापूर्ण उक्ति-माधुरीका उदाहरण देकर इस श्लोकमें उसकी सखियोंके भी उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। चन्द्रावलीकी सभामें गीतवाद्य और पहेलीका आस्वादन करते हुए किसी प्रसङ्गमें श्रीमती राधिकाका स्मरण होनेसे श्रीकृष्ण द्वारा चन्द्रावलीको श्रीराधाके नामसे सम्बोधित करनेपर, पद्मा क्रोधसे जल उठी और बोली—"हे ठग! हे धूर्त! क्या ही दुःखका विषय है? सामने चन्द्रावली सुशोभित हो रही है। यहाँ तुमने षोड़शी तारा (राधा) को कहाँ देखा? हे घोर अन्धकारकी मूर्त्ति! काले! यहाँसे शीघ्र ही चले जाओ। नहीं तो मेरी सखी चन्द्रावली क्रोधित हो उठेगी॥"९४॥

लोचनरोचनी—षोड़शी तारेति श्रीराधा इति नाम सूचयति। अरुणस्य सूर्यसारथेर्मण्डलमिव मण्डलं गोष्ठी यस्याः सा। मन्युः क्रोधः। विमुञ्चति क्षिपति॥९४॥

आनन्दचन्द्रिका—गोत्रस्खलने नायिकाया ईर्ष्योक्तिमाधुरीमुदाहृत्य तत्सखीनामपि तामुदाहर्तुमाह—यथा वेति। चन्द्रावल्याः सभायां नृत्यगीतवाद्यप्रहेलीलपनास्वादप्रसङ्गे श्रीकृष्णं स्मृत्वा आरूढीभूतराधं राधे इति पदेन चन्द्रावलीं संबोधयन्तं पद्मा सामर्षमाह—अहहेति। अद्भुते खेदे च। चन्द्रावली श्लेषेण एक एव चन्द्रश्चक्षुष्मता जनेन नान्यथा प्रतिपद्यते किमुत चन्द्रावली, तत्रापि विमलद्युतिर्नतु मेघाम्बररेणावृतसर्वाङ्गेत्यर्थः। कलिता दृष्टा षोडशी तारा राधा ईर्ष्यया तन्नामाग्रहणात् तिमिरमलिनाकारेति चन्द्रतिमिरयोर्य्यथा मैत्री तथा त्वं जानास्येवेति भावः। नच काश्चित्-सख्योऽस्यास्त्वामनुग्रहीष्यन्तीत्यपि त्वया ज्ञेयमित्याह—अरुणं कोपेनारुणवर्णं मण्डलमतिशयोक्त्या सखीवृन्दं यस्याः सा, पक्षे मण्डलमुदयकालोत्थपरिधिः॥९४॥

अथ स्वप्नः—

हरेर्विदूषकस्यापि स्वप्नः स्वप्नायितं मतः॥९५॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्न—श्रीहरि एवं विदूषककी स्वप्न क्रियाको स्वप्न कहते हैं॥९५॥

लोचनरोचनी—स्वप्नायितं स्वप्नक्रिया स्वप्नो मतः। क्यङ्प्रत्ययोऽत्र शब्दादिपाठात्॥९५॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वप्नायितं स्वप्नभानं यत्स स्वप्नः। लोहितादिपाठात् क्यङ्॥९५॥

तत्र हरेः स्वप्नायितं यथा—

शपे तुभ्यं राधे त्वमसि हृदये त्वं मम बहि-
स्त्वमग्रे त्वं पृष्ठे त्वमिह भवने त्वं गिरिवने।
इति स्वप्ने जल्पं निशि निशमयन्ती मधुरिपो-
रभूत्तल्पे चन्द्रावलिरथ परावर्त्तितमुखी॥९६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीहरिका स्वप्न—क्रीड़ाकुञ्जमें चन्द्रावलीके साथ विहार करनेके पश्चात् आलस्यसे एक शय्यापर सोते हुए श्रीकृष्ण स्वप्न देखने लगे। श्रीकृष्णके चित्तके स्वभावतः श्रीराधाभावमें विभावित होनेके कारण स्वप्नमें भी वे अन्य सखियोंके समक्ष शपथ लेकर श्रीराधाकी ऐकान्तिकताको प्रकट करने लगे। श्रीकृष्णके स्वप्न-वाक्यको सुनकर चन्द्रावली क्षुब्ध होकर मानिनी हो गई। वृन्दा इसीका वर्णन कुन्दवल्लीसे कर रही है—"हे राधे! मैं शपथ लेकर कह रहा हूँ कि तुम मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहती हो। तुम मेरे हृदयमें भी हो और बाहर भी हो, तुम आगे और पीछे भी हो। तुम्हीं मेरे भवनमें और गोवर्द्धनशैलके तटस्थित वनमें विराज कर रही हो।" रात्रिकालमें श्रीकृष्णके मुखसे इस स्वप्न-वाक्यको सुनकर चन्द्रावली उसी शय्यापर विमुखी होकर मानिनी हो गई॥९६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा कुन्दवल्लीमाह—शपे इति। हृदय इत्यादिना तस्यां स्वप्रेमातिशयो व्यञ्जितः॥९६॥

विदूषकस्य यथा—

अवञ्चि चटुपाटवैरघभिदाद्य पद्मासखी,
ततस्त्वरय राधिकां किमिति माधवि ध्यायसि।
निशम्य मधुमङ्गलादिति गिरं पुरः स्वप्नजां,
विदूनवदना सखि ज्वलति पश्य चन्द्रावली॥९७॥

तात्पर्यानुवाद—विदूषकका स्वप्न—क्रीड़ामन्दिरमें चन्द्रावली और श्रीकृष्ण सुखसे विहार कर रहे थे। उसी कुञ्जके बाहर वेदीके ऊपर मधुमङ्गल सो रहा था। उसे स्वप्नमें बड़बड़ाते हुए सुनकर चन्द्रावली अत्यन्त खेदग्रस्त हो गई। उसे देखकर शैब्या अपनी सखीसे बोली—"सखि! देखो, क्या आश्चर्यकी बात है?" मधुमङ्गल निद्रित अवस्थामें स्वप्नमें कहने लगा—"हे माधवि! श्रीकृष्ण इस समय अपने चाटुकारीपूर्ण वचनोंसे पद्माकी सखी चन्द्रावलीकी वञ्चना कर रहे हैं। अतएव तुम तुरन्त ही श्रीराधाको यहाँसे अभिसार करा करके उनके निकट ले जाओ और अन्य किसी बातकी चिन्ता मत करो।" मधुमङ्गलके मुखसे इस स्वप्नकी बातको सुनकर चन्द्रावलीका मन उदास हो गया। उसने सिर नीचा कर लिया। "अहो! देखो, कैसी विषादकी बात है?"॥९७॥

आनन्दचन्द्रिका—शैव्या श्रीकृष्णमाह—अवञ्चीति। पद्मायाः सखी चन्द्रावली। अवञ्चि प्रतारिता। राधिकां त्वरय, अभिसर्तुमित्यर्थः॥९७॥

अथ दर्शनं यथा—

मिथ्या मा वद कन्दरे मम सखीं हित्वा त्वमेकाकिनीं,
निष्क्रान्तः पृथुसंभ्रमेण किमपि प्रख्यापयन्कैतवम्।
दूरात्किंचिदुदञ्चितेन रसनाशब्देन सातङ्कया,
निष्क्रम्याथ तया शठेन्द्र पुलिने दृष्टोऽसि राधासखः॥९८॥

तात्पर्यानुवाद—दर्शन—गोवर्द्धनकी कन्दरामें चन्द्रावलीके सहित विहार करते-करते श्रीकृष्णने देखा कि श्रीराधिकाकी कोई सखी गूढ़रूपमें इङ्गितकर मुझे बुला रही हैं। इङ्गितको समझकर श्रीकृष्ण उस स्थानसे गऊवोंको सम्भालनेका बहाना बनाकर तुरन्त उठकर चले गए। थोड़ी देरके पश्चात् यमुनाके पुलिनमें नूपुरकी ध्वनि सुनकर सशङ्कित हुई चन्द्रावली अपनी उस कन्दरासे निकलकर बाहर आई और दूरसे छिपकर श्रीराधाके साथ नागरेन्द्रको विहार करते हुए देखकर अत्यन्त मानिनी हो गई। अनन्तर धूर्तराज चन्द्रावलीके निकट अपनी वञ्चनामूलक चाटु वचनोंसे अपने अपराधको छिपानेकी चेष्टा करने लगे। पद्मा उनको चुप करानेके लिए तिरस्कार पूर्ण वाक्योंसे बोली—"हे शठचूड़ामणि! हे धूर्त! झूठ मत बोलो। कन्दराके भीतर मेरी सखी चन्द्रावलीको अकेली

त्यागकर महासम्भ्रमके साथ छलकर तुम वहाँसे चले गए और कुछ देरके पश्चात् दूरसे नूपुरध्वनि सुनकर सशंक चित्तसे चन्द्रावलीने बाहर आकर देखा कि तुम पुलिनमें श्रीराधाके साथ ही विहार कर रहे हो।"

तात्पर्य—श्रीकृष्णकी यह झूठी बात कि "हे चन्द्रावलि! आज सायंकाल मैं अपनी एक गाभीको नहीं पा सका। न जाने वह कहाँ चली गई? उसकी हुँकारध्वनि तो सुन रहा था, किन्तु जब तक वह यहाँ नहीं आ जाती तब तक हे प्रिये! तुम यहीं प्रतीक्षा करो, मैं अभी आ रहा हूँ"—यही उनकी धूर्तता है॥९८॥

आनन्दचन्द्रिका—पद्मा श्रीकृष्णमनुनयन्तमाह—मिथ्येति। प्रख्यापयन्निति अद्य संध्याववसरे विघटिता कापि गौर्न प्राप्ता तस्या इव शब्दं दूरादहं शृणोमीति तां यावदिहानयामि तावदिहैव प्रिये त्वं तिष्ठेत्याकारं कैतवम्। ततश्च क्षणान्तरे दूरादुत्थितेन रसनायाः शब्देन सातङ्कया हन्त हन्त कोऽयं रसनाशब्दः नत्वस्मत्सखीनां कासामपीति लब्धशङ्कया ततश्च कुञ्जादपि निष्क्रम्य॥९८॥

यथा वा—

सहचरि परिगुम्फ्य प्रातरेवार्पितासीद्,
व्रजपतिसुतकण्ठे या मयोत्कण्ठयाद्य।
अपि हृदि ललितायास्तस्थुषी हन्त हन्मे,
दहति दहनदीप्तिः पश्य गुञ्जावली सा॥९९॥

तात्पर्यानुवाद—विपक्षकी नायिकामें लेशमात्र सौभाग्यको भी देखकर अत्यन्त ईर्ष्याका उदाहरण दे रहे हैं—एक समय पद्माने अपने हाथोंके शिल्पकौशल द्वारा अतुलनीय गुञ्जामाला निर्माणकर परम श्रद्धासे श्रीकृष्णको उपहार दी। थोड़ी देरके पश्चात् ही उसी मालाको ललिताके गलेमें देखकर पद्मा अत्यन्त स्तब्ध होकर शैब्यासे खेदपूर्वक कहने लगी—"हे सखि शैब्ये! आज प्रातःकाल जिस गुञ्जामालाको बड़ी उत्कण्ठासे गूँथकर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके कण्ठमें अर्पण किया था, किन्तु थोड़ी ही देर बाद मैंने उस सुन्दर मालाको ललिताके गलेमें देखा। हाय-हाय! बड़े दुःखकी बात है कि क्षणभर भी श्रीकृष्णने उसे अपने गलेमें धारण नहीं किया? क्या मुझ दुर्भागिनीने, अपने आपको सन्ताप देनेके लिए ही उस गुञ्जामालाका ग्रन्थन किया था?"

इसके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति प्रबल ईर्ष्याका उदय हुआ, न कि ललिताके प्रति॥९९॥

लोचनरोचनी—तस्थुषीति ईर्ष्यया परोक्षातीतत्वं दर्शितम्॥९९॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेयसा कृतवैशिष्ट्यस्य स्वप्रतिपक्षस्य दर्शनमुदाहृत्य तदीय-पक्षस्यापि तथा दर्शनमुदाहर्तुमाह—यथा वेति। चन्द्रावली ललितां दूरादालोकयन्ती स्वहृदयव्यथां स्वसख्यां पद्मायामुद्घाटयति—सहचरीति। प्रातरेवेत्येवकारेण ललिताया ह्यपि प्रातरेव तस्थुषीति गम्यते। अतएव तस्थुषीति परोक्षातीतत्वं सुसङ्गतमेव। ललितायाः संगवसमय एव तथा दूरे दृश्यमानत्वात्। तेन च प्रातरेव श्रीकृष्णकण्ठे गुञ्जावलीं निधाय मय्यागतायां तदैव प्रातरेव श्रीकृष्णेन सा ललिताकण्ठेऽर्पिता हन्त हन्त क्षणमपि स्वकण्ठे किल न स्थापितेत्येतत्कथमहं सोढुं शक्नोमीति श्रीकृष्णे एव बलवदीर्ष्याधिक्यं न तु तथा ललितायामिति ज्ञेयम्। ततश्च दैवहतया मयाद्य कथं स्वं संतापयितुं गुञ्जावली गुम्फितेत्याह—दहतीत्यादि॥९९॥

अथ निर्हेतुः—

अकारणाद्द्वयोरेव कारणाभासतस्तथा।
प्रोद्यन् प्रणय एवायं व्रजेन्निर्हेतुमानताम्॥१००॥

तात्पर्यानुवाद—निर्हेतुक मान—नायक-नायिकामें कारणके अभावमें अथवा कारणके आभाससे प्रणय ही वृद्धि प्राप्त होकर निर्हेतुक मानका रूप धारण करता है॥१००॥

आनन्दचन्द्रिका—अकारणात् कारणाभावात्॥१००॥

आद्यं मानं परीणामं प्रणयस्य जगुर्बुधाः।
द्वितीयं पुनरस्यैव विलासभरवैभवम्।
बुधैः प्रणयमानाख्य एष एव प्रकीर्त्तितः॥१०१॥

तात्पर्यानुवाद—रसज्ञ पण्डितगण सहेतुक मानको प्रणयका परिणाम कहते हैं और निर्हेतुक मानको प्रणयका ही विलास वैभव मानते हैं। निर्हेतुक मानको ही वे प्रणयमानके नामसे अभिहित करते हैं॥१०१॥

लोचनरोचनी—आद्यमीर्ष्यामानाख्यं प्रणयस्य परिणामम्, ईर्ष्यासंयोगेन तत्तुल्यतयावस्थानं लोहितवस्तुसंयोगेन स्फटिकस्य लोहितत्ववदिति ज्ञेयम्। सर्पादीनां मण्डलादिभङ्गिविशेषवच्च

न तु दुग्धस्य दधित्ववत् पुनः स्वरूपप्राप्त्यभावात्। द्वितीयमीर्ष्यासंयोगं विना जातम्। प्रणयच्छविविशेषाकरं मालायाः सर्पत्वप्रत्यायककाकारविशेषवत्त्वमिति ज्ञेयम्। एष एव निर्हेतुरेव॥१०१॥

आनन्दचन्द्रिका—आद्यमीर्ष्यामानाख्यं पूर्वोक्तं सहेतुकं तथा द्वितीयं कारणाभावकारणाभासभवम्। अस्यैव प्रणयस्य॥१०१॥

तथा चोक्तम्—

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥१०२॥

तात्पर्यानुवाद—प्राचीन पण्डितोंका मत यह है कि सर्पकी स्वभाव-सिद्ध कुटिलगतिकी भाँति प्रेमकी भी स्वाभाविक वक्रगति होती है। इसलिए कभी कारण तथा कभी अकारण ही नायक एवं नायिकाका मान प्रकटित होता है॥१०२॥

लोचनरोचनी—तथा चोक्तमिति। निर्हेतोरेव प्रामाण्याय लिखितम्। तत्राव्यक्तस्मितेत्यादिद्वयमहमित्यादिकं च कारणाभासोदाहरणेषु ज्ञेयम्। तिष्ठन् गोष्ठाङ्गणेत्यादिकं कुञ्जे दृष्टमित्यादिद्वयं चाकारणाभासोदाहरणेषु ज्ञेयम्॥१०२॥

आनन्दचन्द्रिका—अहेरिवेति। उदञ्चति उद्गच्छति। अन्यच्च यथा "नदीनां च वधूनां च भुजङ्गानां च सर्वदा। प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते॥" इति॥१०२॥

अवहित्थादयो ह्यत्र विज्ञेया व्यभिचारिणः॥१०३॥

तत्र श्रीकृष्णस्य यथा—

अव्यक्तस्मितदृष्टिमर्पय पुरः स्वल्पोऽपि मन्तुर्न मे,
पत्युर्वञ्चनपाटवाद्व्रजपते ज्योत्स्नी निशार्द्धं ययौ।
शुभ्रालंकृतिभिर्द्रुतं पथि मया दूरं ततः प्रस्थिते,
सान्द्रा चान्द्रमरुन्ध बिम्बमचिरादाकस्मिकी कालिका॥१०४॥

तात्पर्यानुवाद—निर्हेतुक मानमें अवहित्था, अमर्ष, असूया, चापल्यादि व्यभिचारी भाव प्रकटित होते हैं। उसमेंसे श्रीकृष्णका मान—कोई व्रजदेवी सखीके द्वारा श्रीकृष्णको सङ्केतकुञ्जमें बुलाकर स्वयं दैवयोगसे बहुत देरके बाद उपस्थित हुई। श्रीकृष्ण बहुत देर तक उसके आनेकी प्रतीक्षा

करते–करते अधीर हो उठे। कुछ देर बाद जब वह व्रजदेवी श्रीकृष्णके समीप उपस्थित हुई, तब श्रीकृष्णने अपना मुख फेर लिया। इसपर वह व्रजदेवी बड़े सम्भ्रम और अनुनय–विनयके साथ श्रीकृष्णसे कहने लगी—"हे गूढ़हास्यकारि! एकबार तो मेरी ओर देखो। विलम्बमें मेरा कोई दोष नहीं है। अपने पतिको वञ्चित करनेमें ही मेरी ज्योत्सनामयी आधी रात चली गई। श्रीकृष्ण यदि ऐसा कहें कि आधी रातके बाद भी तुम क्यों नहीं उपस्थित हुई। तब सुन्दरीका उत्तर है; जब किसी प्रकारसे उसे वञ्चितकर ज्योत्सना अभिसारकारिणी शुभ्रवेशमें बड़े वेगसे तुम्हारे पास आ रही थी, तब अकस्मात् आकाशमें मेघोंके छा जानेसे चन्द्रमण्डल आच्छादित हो गया। उस समय शुभ्रवेशको उतारनेके लिए मैं घर लौट गई और फिर अन्धकारोचित वेशधारण करनेमें मुझे विलम्ब हो गया। अतएव मेरा अपराध क्या है? हे कृष्ण! तुमने यदि सचमुच ही मान किया है, तो हँसना नहीं। तुम केवल एकबार मेरी ओर देखो; क्योंकि पुरुषमात्र सन्मुखस्थ युवतीके प्रति दृष्टिपात किए बिना रह नहीं सकता। ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण किसी प्रकारसे हँस दें॥१०३–१०४॥

लोचनरोचनी—तत्र कृष्णेति यथेति पूर्ववदुद्दीपनत्वेन लिखितम्॥१०४॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णस्य यथेति। कारणभावभवो मानोऽस्य न संभवतीति तमुल्लङ्घ्य कारणाभासभवमाह—अव्यक्तेति। काचिद्व्रजसुन्दरी स्वसखीद्वारा श्रीकृष्णं संकेतस्थं कृत्वा प्रहरावसानायां रात्रौ तन्निकटमागत्य तं कृतमानमालक्ष्य स्वापराधाभावमावेदयति—न व्यक्तं स्मितं यत्र तथाभूतां दृष्टिमर्पयेति। यदि त्वं सत्यमेव मानं कृतवानसि तदा स्मितं मा कुरु दृष्टिं तु मय्यर्पय। सर्वथैव नहि पुरुषजातिः पुरःस्थितायां युवतौ दृष्टिं विना तिष्ठतीति भावोऽयं तस्य हासप्रकाशार्थं ज्ञेयः। स्वस्य निरपराधत्वं विवृणोति—पत्युरित्यादि। व्रजपतिनन्दनेति संबोधनीये संभ्रमव्याकुलतया व्रजपते इति मुखान्निःसृतम्। ज्योत्स्नी ज्योत्स्नावती। ननु निशार्द्धात्परत्रापि किमिति नायातासीत्यत आह—शुभ्रेति। चान्द्रं बिम्ब चन्द्रमण्डलं कालिका मेघसमूहोऽरुद्ध। "मेघजालेऽपि कालिका" इत्यनेकार्थवर्गपाठात्। आकस्मिकीति प्रथमतो विचारासामर्थ्यम्। सान्द्रेति। शुभ्रपरिच्छदयुक्तत्वेनागमनासामर्थ्यं च द्योतितम्। ततश्च तं परिच्छदं परित्यज्य सितवस्त्रादिकं धृत्वात्रागमने इयान् विलम्बो जात इति को ममापराध इति भावः॥१०४॥

यथा वा—

पुष्पेभ्यः स्पृहया विलम्बितवतीमालोक्य मामुन्मनाः,
कंसारिः सखि लम्बिताननशशी तूष्णीं निकुञ्जे स्थितः।
आतङ्केन मया तदङ्घ्रिनखरे क्षिप्ते प्रसूनाञ्जलौ,
तस्यालीकरुषा भ्रुवं विभुजतोऽप्याविर्बभूव स्मितम्॥१०५॥

तात्पर्यानुवाद—कारणाभासरूप मानका उदाहरण देकर स्वयंकृत विलम्बसे श्रीकृष्णके मानका उदाहरण दे रहे हैं। श्रीमती राधिका अपने घरमें आकर मध्याह्निक लीलारसको श्यामलासे उदाहरण देकर कह रही हैं—"सखि! पहले श्रीकृष्णने विविध प्रकारसे मेरा शृङ्गार किया। तत्पश्चात् मैं भी उनको नाना प्रकारके पुष्पोंसे अलंकृत करूँगी, ऐसा सोचकर पुष्पचयन करने गई, किन्तु पुष्पकी लालसासे अर्थात् यह पुष्प अच्छा है, वह पुष्प अच्छा है—इस प्रकार पुष्प ढूँढ़-ढूँढ़कर चयन करनेमें कुछ विलम्ब होनेसे कंसरिपु श्रीकृष्णने मुझे देखकर मानसे अपने मुखको मेरी ओरसे फेर लिया। चुपचाप निकुञ्जगृहमें खड़े हो गए। हे सखि! उन्हें देखकर मैंने सशङ्कित होकर सोचा, जब मैं इन्हें उदास और चुपचाप देख रही हूँ, तब ये श्रीकृष्ण नहीं हैं। ये इन्द्रनीलमणिमयी श्रीनारायणकी प्रतिमा हैं। अतएव श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए मैं इनकी पूजा करूँ। ऐसा सोचकर उनके चरणकमलोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान की। यद्यपि उनके अहेतुक क्रोधसे उनकी दोनों भुजाएँ टेढ़ी हो रही थीं, तथापि उनके मुखसे हास्य प्रकटित हो ही गया। वे हँसने लगे॥"१०५॥

आनन्दचन्द्रिका—कारणाभासस्य विलम्बस्य दैवकृतत्वे स्वकृतित्वे च श्रीकृष्णस्य मानो भवेदिति दर्शयितुमाह—यथा वेति। श्रीराधिका माध्याह्निकलीलाविलासरसं स्वगृहमागत्य श्यामलायामुद्गिरति—पुष्येभ्यः स्पृहयेति। प्रथमं श्रीकृष्णेन शृङ्गारिताहं तस्यापि पुष्पमण्डनार्थमेकाकिन्येव पुष्पोद्यानं प्राविशमिति भावः। ततश्च पुष्पाणि विचित्यानीय कुञ्जे तं कृतमानमालक्ष्य तदङ्घ्रिनखरे प्रसूनाञ्जलौ क्षिप्ते, इत्यस्यायं भावः। तूष्णीं स्थितं निष्पन्दं तं दृष्ट्वा हन्त हन्त अत्र कुञ्जे कृष्णो नास्ति, इयं त्वैन्द्रनीली द्विभुजा श्रीनारायणप्रतिमैव तत् कृष्णप्रीत्यै पुष्पाञ्जलिमेतच्चरण एवार्पयामीति तथाकृते—तस्यालीकेत्यादि॥१०५॥

कृष्णप्रियाया यथोद्धवसंदेशे—

तिष्ठन्गोष्ठाङ्गनभुवि मुहुर्लोचनान्तं निधत्ते,
जातोत्कण्ठस्तव सखि हरिर्देहलीवेदिकायाम्।
मिथ्यामानोन्नतिकवलिते किं गवाक्षार्पिताक्षी,
स्वान्तं हन्त ग्लपयसि बहिः प्रीणय प्राणनाथम्॥१०६॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्णप्रियाका निर्हेतुक मान—प्रेमके कुटिल स्वभावके कारण ही श्रीमती राधिकाने बिना किसी कारणके ही मान धारण किया। सायंकाल व्रजसे वृन्दावनमें प्रवेश करते समय श्रीकृष्णको उन्होंने अपने गृहमें गवाक्ष (झरोखे) से दर्शन किया। उस समय ललिता उनको तिरस्कार करती हुई बोली—"हे सखि! तुम व्यर्थ ही मानके द्वारा अभिभूत हो रही हो। उत्कण्ठावशतः श्रीकृष्ण गोष्ठाङ्गनमें तुम्हारे घरके चबूतरेकी ओर बारम्बार दृष्टिनिक्षेप कर रहे हैं और तुम गवाक्षरन्ध्र (खिड़कीके छिद्र) से नेत्र अर्पणकर क्यों अपने मनको दुःखी कर रही हो? बाहर जाकर प्राणनाथको सन्तुष्ट करो॥"१०६॥

आनन्दचन्द्रिका—नायिकायाः कारणाभावभवं मानमाह—तिष्ठन्निति। वनाद्गोष्ठमायान्तं श्रीकृष्णं विलोक्य श्यामला श्रीराधामकारणमानिनीमाह। देहलीवेदिकायां चत्वराग्रपरिष्कृतभूमौ॥१०६॥

यथा वा—

अहमिह विचिनोमि त्वद्गिरैव प्रसूनं,
कथय कथमकाण्डे चण्डि वाचंयमासि।
विदितमुपधिनालं राधिके शाधि केन,
प्रियसखि कुसुमेन श्रौतमुत्तंसयामि॥१०७॥

तात्पर्यानुवाद—दूसरा श्रीराधाका मान—कालिन्दीतटके निकुञ्जमें स्वाधीनभर्तृका श्रीमती राधिकाके द्वारा पुष्पचयनके लिए प्रेरित होनेपर भी श्रीकृष्णको आनेमें विलम्ब होता देखकर उन्होंने मानिनी होकर मौन धारण कर लिया। उस समय नागरेन्द्र उनको मधुर-मधुर वचनोंसे अनुनय-विनय करते हुए कह रहे हैं—"हे राधे! मैं तुम्हारी आज्ञासे ही तो पुष्पचयनके लिए गया था। हे चण्डि! (अकारण ही क्रोध करनेवाली) बिना कारण ही तुम क्यों मौन हो गई? मुझसे बोल क्यों

नहीं रही? अहो! मैंने समझ लिया, और कपटताकी आवश्यकता नहीं। हे प्रियसखि राधिके! मैं किस पुष्पके द्वारा तुम्हारे कानोंको भूषित करूँ, कुछ बोलो तो?"॥१०७॥

लोचनरोचनी—उपाधिना कपटेन॥१०७॥

आनन्दचन्द्रिका—कारणाभासभवमानमुदाहर्तुमाह—यथा वेति। स्वाधीनभर्तृकायाः श्रीराधाया निदेशेनैव पुष्पाण्यवचित्यागतः श्रीकृष्णो राधां मानवतीमालक्ष्याह—अहमिहेति। हे चण्डि! हे अकारणकोपने! वाचंयमा मौनवती क्षणं स्थित्वा इर्ष्याचिह्नमनाकलयन् सहर्षमाह—विदितं ज्ञातं मया खपुष्पाकारोऽयं ते मानो मद्वैयग्र्यदर्शनार्थ इति भावः। उपधिना कपटेनालम्। शाधि आज्ञापय॥१०७॥

द्वयोरेव युगपद्यथा—

कुञ्जे तूष्णीमसि नतशिराः किं चिरात्त्वं मुरारे,
किं वा राधे त्वमसि विमुखी मौनमुद्रां तनोषि।
ज्ञातं ज्ञातं स्मितविमुषिते कापि वामस्ति योग्या,
क्रीडावादे बलवति यया न द्वयोरेव भङ्गः॥१०८॥

तात्पर्यानुवाद—नायक और नायिका दोनोंका एकसाथ निर्हेतुक मान—प्रातःकाल कुञ्जके भीतर श्रीराधा और श्रीकृष्ण विहार कर रहे थे। उसी सुखके समय श्रीकृष्णके मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हुआ कि आज मैं मान करूँ और देखूँ क्या होता है? श्रीराधिकाने मनमें सोचा कि यदि ये झूठ-मूठका ही मान धारण करते हैं, तो क्या मैं मान नहीं कर सकती? मान करना तो मेरा स्वधर्म है। आज देखूँ तो हम दोनोंमें किसका मान पहले भङ्ग होता है? यह कहकर राधिकाने भी मान कर लिया। इस प्रकार निर्हेतुक मानका आस्वादन करते-करते वृन्दाने कहा—"हे मुरारि! तुम किसलिए बहुत देर तक कुञ्जके भीतरमें सिर नीचे किए हुए चुपचाप खड़े हो? हे राधे! तुम भी क्यों श्रीकृष्णसे विमुख होकर मौन हो? अतएव हे स्मित विभूषिते! (हे विरसवदने राधे!) अब मैं जान गई कि तुम कोई अनिर्वचनीय अभ्यास कर रही हो। इसीलिए इस क्रीड़ाकलहमें दोनोंका मानभङ्ग नहीं हो रहा है। अर्थात् दोनों मानका अभ्यास कर रहे हो॥"१०८॥

लोचनरोचनी—स्मितविमुषिते अपहतस्मिते इत्याहिताग्न्यादिगणे मननेन निष्ठायाः परनिपातः समाधेयः। स्मितविरहिते इति वा पाठः। "अभ्यासः खुरली योग्या" इति त्रिकाण्डशेषः॥१०८॥

आनन्दचन्द्रिका—युगपत्समकालमेव कुञ्जे खेलतोरेव द्वयोः श्रीराधाकृष्ण-योर्निर्हेतुमानमाधुरीमास्वादयन्ती वृन्दा प्राह—कुञ्ज इति। अत्र सुखमये अकस्मान्मया माने कृते अद्य द्रक्ष्यामि किमियं प्रतिपद्यत इति विभाव्य श्रीकृष्णेन मानः कृतः। अयं चेन्मिथ्यामानं करोति तर्ह्यहमपि किं मानं कर्तुं न शक्नोमि मानस्त्वास्माकीनः स्वधर्म एव। अद्य द्रक्ष्यामि आवयोर्मध्ये मानभङ्गः प्रथमं कस्य स्यादिति विभाव्य श्रीराधयापि मानः कृत इत्यकारणमानप्रकारो ज्ञेयः। स्मितस्य विमुषिते चौर्ये वां युवयोः काप्यनिर्वचनीया योग्या अभ्यासोऽस्ति। "अभ्यासः खुरली योग्या" इति त्रिकाण्डशेषः। यया योग्यया बलवति क्रीडावादे केल्यन्तराये वस्तुनि द्वयोरेव युवयोर्मानभङ्गो नास्ति। तेन युवाभ्यां कुञ्जक्रीडायां सुखं नोपपद्यते किन्तु क्रीडावाद एव स्वेच्छयैव कृतमानान्यथानुपपत्तेरिति वक्रोक्तिर्व्यङ्ग्या॥१०८॥

यथा वा—

कुञ्जद्वारि निविष्टयोस्तरणिजातीरे द्वयोरेव नौ,
तत्रान्योन्यमपश्यतोः सखि मुधा निर्बन्धतः क्लान्तयोः।
हस्ते द्रागथ दाडिमीफलमभिन्नस्ते मया निस्तलं,
राधामुद्भिदुरस्मितां परिहसन्फुल्लाङ्गमालिङ्गिषम्॥१०९॥

तात्पर्यानुवाद—दोनोंका कारण—आभासजमान—एक समय श्रीमती राधिका सखीके द्वारा श्रीकृष्णको सङ्केतकुञ्जमें भेजकर स्वयं घरसे बहुत विलम्बसे कुञ्जमें गई, किन्तु श्रीकृष्णको वहाँ न देखकर बड़ी चिन्तित हुईं। इधर श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके आगमनके पूर्व ही उनके आनेमें विलम्ब देखकर मन बहलानेके लिए वनकी शोभाको दर्शन करनेके लिए जाकर और आधे मुहूर्त्तके पश्चात् ही पुनः निकुञ्जमें लौट आए। उस समय दोनोंने एक-दूसरेके विलम्बको देखकर कारण-आभाससे उत्पन्न मानको धारण कर लिया। तो फिर कैसे वह मानभङ्ग हुआ? मधुमङ्गलके द्वारा पूछे जानेपर श्रीकृष्ण अन्य किसी दूसरे समयमें उस कौतुकको कह रहे हैं—"हम दोनों ही यमुनाके तटस्थ कुञ्जगृहके द्वार पर खड़े थे। अथच एक-दूसरेको न देखकर हमने मान कर लिया। थोड़ी देरके बाद मैंने मन-ही-मन सोचा श्रीमतीजी तो मिथ्या मान

कर रही हैं, अतएव इसे छोड़ेंगी नहीं। अनन्तर धैर्य धारण न कर सकनेके कारण मैंने जैसे ही अनारके गोल फलकी ओर अङ्गुलीसे लक्ष्य किया, वैसे ही श्रीराधाजी मुस्कुराने लगीं और जब मैंने उस फलको अपने हाथमें धारण किया तो उनसे रहा नहीं गया और वे खिलखिलाकर हँस पड़ीं। अनन्तर मैंने परिहासके छलसे कहा—"प्रिये! पहले तुम मानभङ्गके चिह्नस्वरूप मुस्कुराने लगी थी। इसलिए तुम्हारी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई। अतएव तुम हार गई।" अनन्तर श्रीराधाजीका परिहास—"हे कृष्ण! तुमने पहले अनारफलको हाथोंमें धारण किया। इससे तुम्हारा स्वाभियोगरूप मानभङ्गका चिह्न प्रकाशित हुआ। अतएव तुम्हारी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई और तुम पराजित हुए॥"१०९॥

लोचनरोचनी—निस्तलं वर्तुलम्॥१०९॥

आनन्दचन्द्रिका—यौगपद्ये कारणाभासभवस्य मानस्यासंभवात् पुनरपि कारणाभाव-भवमेव मानं सोपशमं दर्शयितुमाह—यथा वेति। श्रीकृष्णो रहस्यक्रीडारसं विशाखायामुद्गिरति—कुञ्जेति। मुधेति। प्रथमं मया मानत्यागो न कर्तव्य इति मुधा वृथा एव यो माननिर्बन्धस्तस्मात्। अथानन्तरं निस्तलं वर्तुलं दाडिमीफलमभिलक्षीकृत्य मया हस्ते न्यस्ते सति उद्भिदुरं स्वयमेवोद्भिन्नं स्मितं यस्यास्ताम्। अतःपरं दाडिमीफलेनैव हस्ते धृतेन स्वं मनो विनोदयेति वस्तुद्योतकं तस्याः स्मितम्—परिहसन्निति। प्रिये! प्रथमं त्वया मानभङ्गचिह्नं स्मितं कृतमिति स्वनिर्बन्धो भग्न इति तव पराजयोऽभूत्। हे कृष्णे! प्रथमं दाडिमीफले हस्तन्यासरूपः स्वाभियोग एव मानभङ्गचिह्नमिति तवैव निर्बन्धो भग्न इति। त्वमेव पराभूतोऽभूरिति सापि परिहसन्ती ज्ञेया। अत्र कश्चित्कारणाभावभवोऽमरौ विवृतो यथा—"पश्यामो मम किं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं किं मामालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्त्वयाप्याश्रितः। इत्यन्योन्यविलक्ष्यदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे सव्याजं हसितं मया धृतिहरो बाष्पस्तु मुक्तस्तया॥" इति। एवमन्योऽपि—"अदत्त मे वर्त्मनि मन्मथोन्मदा स्वयंग्रहाश्लेषमसौ सखी तव। इत्युक्तवन्तं कुटिलीभवन्मुखी कृष्णं वतंसेन जघान मङ्गला॥" इति। केवलवाम्यरूपो यो मानस्तस्य विप्रलम्भत्वाभावाद् विप्रलम्भरसमध्ये स न गणितः॥१०९॥

निर्हेतुकः स्वयं शाम्येत्स्वयंग्राहस्मितावधिः॥११०॥

तात्पर्यानुवाद—मानोपशमका प्रकार—निर्हेतुक मान स्वयं शान्त हो जाता है। नायकके द्वारा आलिङ्गन और चुम्बनादिके उपरान्त अथवा

नायिकाकी मृदुमन्द मुस्कान और अश्रुपात तक ही इस मानकी स्थिति होती है॥११०॥

लोचनरोचनी—स्वयमेव ग्राहो ग्रहणं यस्य तादृशं यत् स्मितं तदवधिः॥११०॥

आनन्दचन्द्रिका—अथ सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं निर्हेतुकमानस्योपशममाह। निर्हेतुको मानः स्वयमेव शम्येत्, न तत्र चिकीर्षेत्यर्थः। ननु तर्हि तस्यावधिस्तु जिज्ञासनीय एवेत्यत आह—स्वयंग्राहो नायकस्योपेत्यालिङ्गनचुम्बनादिर्नायिकायाश्च स्मितं स्मितोपलक्षिताश्रुपातादिकं चावधिः सीमा यस्य सः॥११०॥

यथा—

रोषस्तवाभूद्यदि राधिकेऽधिकस्तथास्तु गण्डः कथमुच्छसित्यसौ।
स्वनर्मणेत्थं दुरपह्नवस्मितां, प्रियामचुम्बत्पशुपेन्द्रनन्दनः॥१११॥

तात्पर्यानुवाद—केलिकुञ्जमें श्रीकृष्णके साथ विहार करते-करते प्रेमस्वभावसे अकस्मात् मान धारण करनेवाली श्रीमती राधिकाको श्रीकृष्णने परिहासके द्वारा ही प्रसन्न किया, इस वृत्तान्तको श्रीपाद रूपगोस्वामी प्रभु वर्णन कर रहे हैं—"हे राधे! यदि तुम्हें अधिक रोष हुआ हो तो हो, किन्तु तुम्हारे कपोल पुलक मण्डित होकर प्रफुल्लित क्यों हो रहे हैं? श्रीकृष्णके इस परिहासको सुनते ही प्राणेश्वरी श्रीमती राधिका अपनी हँसीको रोक नहीं सकी, वे खिलखिलाकर हँसने लगी, उस समय श्रीकृष्णने उनका चुम्बन किया॥"१११॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः श्रीराधामाह—रोष इति। उच्छ्वसिति अन्तस्थस्मितच्छ-विमत्त्वेन प्रफुल्लीभवति॥१११॥

हेतुर्यस्तु समं याति यथायोग्यं प्रकल्पितैः।
सामभेदक्रियादाननत्युपेक्षारसान्तरैः ॥११२॥

मानोपशमनस्याङ्का बाष्पमोक्षस्मितादयः॥११३॥

तात्पर्यानुवाद—साम, भेद, क्रिया, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तरादिके यथायोग्य रूपसे अनुष्ठित होनेपर सहेतुक मान भी शान्त हो जाता है। वाष्प-मोचन और हास्यादि ही (सखियोंके प्रति सादर निरीक्षण भी) मान उपशमका चिह्न है॥११२-११३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रकल्पितैः प्रयुक्तैः अङ्काश्चिह्नानि॥११२॥

तत्र सामः—

प्रियवाक्यस्य रचनं यत्तु तत्साम गीयते॥११४॥

यथा—

जातं सुन्दरि तथ्यमेव पृथुना राधेऽपराधेन मे,
किन्तु स्वारसिको ममात्र शरणं स्नेहस्त्वदीयो बली।
इत्याकर्ण्य गिरं हरेर्नतमुखी बाष्पाम्भसां धारया,
सानङ्गोत्सवरङ्गमङ्गलघटौ पूर्णावकार्षीत्कुचौ॥११५॥

तात्पर्यानुवाद—साम—प्रिय वचनोंको कहना साम कहलाता है। प्रतिपक्षकी नायिकाके साथ श्रीकृष्णके सम्बन्धको सुनकर मानिनी श्रीमती राधिकाको परमचतुरशिरोमणि श्रीकृष्णने प्रियवाक्योंके प्रयोग द्वारा जिस प्रकारसे प्रसन्न किया अब उसका वर्णन कर रहे हैं—"हे सुन्दरि राधे! बात तो ठीक ही है। मेरे गुरुतर अपराधके कारण ही तुम्हें मान हुआ है, किन्तु तुम्हारा स्वाभाविक और बलवान स्नेह ही तो मेरा एकमात्र आश्रय है।" श्रीहरिके मुखसे ऐसी बात सुनकर श्रीराधाने लज्जासे सिर नीचे कर लिया और अपनी अश्रुधारासे अनङ्गोत्सव कौतुकके मङ्गलघटस्वरूप अपने दोनों कुचोंको उसके द्वारा भिगो दिया॥११४-११५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः श्रीराधां मानिनीं प्रसादयति—जातमिति। मङ्गलघटौ पूर्णावित्यनेनाङ्गपूजाङ्गभूते घटस्थापने स्वसंमतिद्रर्त्ता॥११५॥

अथ भेदः—

भेदो द्विधा स्वयं भङ्ग्या स्वमाहात्म्यप्रकाशनम्।
सख्यादिभिरुपालम्भप्रयोगश्चेति कीर्त्यते॥११६॥

तात्पर्यानुवाद—भेद—भेद दो प्रकारके होते है—पहला भावभङ्गीके द्वारा स्वयं अपने माहात्म्यका प्रकाशन और दूसरा सखी या दूतीके द्वारा उलाहना (दोष अर्पणपूर्वक हितोक्ति) देना॥११६॥

लोचनरोचनी—स्वमाहात्म्यं स्वपाण्डित्यादिनान्यत्र योजनशक्तिः। भङ्ग्या मामीदृशं युवानं का वा न भजतीति व्यञ्जनया तादृश स्वमाहात्म्यस्य प्रकाशनमित्यर्थः॥११६॥

तत्र भङ्ग्या स्वमाहात्म्यप्रकाशनं यथा विदग्धमाधवे (४/४१)—

चञ्चन्मीनविलोचनासि कमठोत्कृष्टस्तनी संगता,
क्रोडेन स्फुरता तवायमधरः प्रह्लादसंवर्द्धनः।
मध्योऽसौ बलिबन्धनो मुखरुचा रामास्त्वया निर्जिता,
लब्धा श्रीघनताद्य मानिनि मनस्यङ्गीकृता कल्किता॥११७॥

तात्पर्यानुवाद—भङ्गीके द्वारा अपने माहात्म्यको प्रकाश करना—मधुमङ्गलके प्रमादवश कहे गये वचनोंसे श्रीराधाका दुर्जेयमान लक्ष्यकर श्रीकृष्ण श्रीराधामें अपनी अधीनताको ज्ञापन करनेके उद्देश्यसे कैमुतिकन्याय द्वारा मीनादि दशावतारको भी श्रीराधाके अधीन वर्णनकर भङ्गीके द्वारा अपनी महिमाको ही व्यक्त कर रहे हैं—"हे मानिनि राधे! तुम्हारे दोनों नेत्र चञ्चल मीनके नेत्रोंके समान हैं (पक्षमें मीन अवतार), तुम्हारे दोनों कुच कच्छपसे भी उत्कृष्ट हैं (पक्षमें कूर्म अवतार), तुम्हारा क्रोड़ादेश अत्यन्त दीप्तिशाली है (पक्षमें दीप्तिशील वराहदेव तुम्हारे सङ्गमें हैं), तुम्हारे ये अधर महानन्दके सम्वर्द्धक हैं (पक्षमें नृसिंहावतार), तुम्हारा मध्यदेश त्रिवलियुक्त है (पक्षमें वामनदेव), तुमने अपने मुखकी कान्तिसे रमणियोंको (पक्षमें परशुराम, दाशरथिराम और बलरामको) जय कर लिया है, तुम्हारी शोभा अत्यन्त घनीभूत हुई है (पक्षमें तुमने बुद्धत्वको प्राप्त किया है), और तुम्हारे मनमें मानकृता कालुष्य (पक्षमें कल्किभाव) विद्यमान है। हे मानिनि! मेरे दस अवतार ही जब तुम्हारे अधीन हैं, तब तुम्हारी महिमा कौन वर्णन कर सकता है? यह बाहिरी ध्वनि है। वास्तविक अभिप्राय है कि मैं परमेश्वर हूँ। ब्रह्मादि देवताओंका भी वन्दनीय हूँ और तुम एक साधारण गोपस्त्री हो। मैं तुम्हें प्रसन्न कर रहा हूँ, किन्तु मेरे अनुनय-विनयको सुनकर भी तुम अपना सौभाग्य नहीं समझ पा रही हो और न ही संकुचित हो रही हो। इस उक्तिसे उपालम्भको समझना चाहिए॥"११७॥

लोचनरोचनी—बलिं बघ्नातीति कर्तरि ल्युट्, पक्षे बलिभिः सहजरेखाभिर्बध्यते आव्रियत इति तथा। श्रीघनता सौन्दर्येण निबिडता, पक्षे बुद्धता। कल्किता दम्भिता पक्षे तदवतारता॥११७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णो मानिनीं श्रीराधां वर्णयति—चञ्चदिति। स्फुरता दीप्तिमता क्रोडेन अङ्केन, पक्षे वराहेण प्रह्लादं वर्द्धयतीति श्रीनृसिहः, पक्षे प्रकृष्टं

ह्लादमानन्दम्। बलिं बध्नातीति वामनः पक्षे बलिभिस्त्रिवलीरेस्वाभिर्बन्धनं यस्य सः। रामाः सुन्दर्यः, पक्षे रामचन्द्रपरशुरामबलरामाः। श्रिया शोभया घनता निबिडता लब्धा, पक्षे श्रीघनो बुद्धः कल्को मालिन्यं मानकृतकालुष्यं तद्वत्ता मनसि। "कल्कोऽस्त्री शमलैनसोः" इति नानार्थवर्गः। अङ्गीकृता, पक्षे कल्किनामावतारत्वम्। तेन दशैव ममावतारास्त्वदधीना इति त्वन्महिमा केन वर्ण्यतामिति बाह्यो ध्वनिः। वास्तवस्त्वहं परमेश्वरो ब्रह्मादिभिर्वन्द्यस्तां गोपस्त्रियं प्रसादयामीत्यात्मनो भाग्यं मन्यसे नापि संकुचसीत्युपालम्भ एव॥११७॥

अथवेदं प्रियोक्तित्वात्सामोदाहरणं भवेत्।
नायकस्य स्ववचसा भङ्ग्यायं भेद ईर्यते॥११८॥

तात्पर्यानुवाद—उल्लिखित पद्यमें प्रियोक्ति होनेके कारण यह सामका उदाहरण भी हो सकता है। इसलिए अन्य पद्यके द्वारा नायककी अपनी वचनभङ्गीके द्वारा भेदका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं॥११८॥

लोचनरोचनी—अथवेत्यनेन पूर्वमुदाहरणमन्यथा प्रतिपद्य नायकस्येत्यर्द्धेन प्रकारान्तरस्थापनायोपक्रान्तं॥११८॥

आनन्दचन्द्रिका—अथवेदमिति। पद्येऽस्मिन् भेदस्यानभिधेयत्वाद्व्यङ्ग्यत्वे च व्यञ्जनाया बोद्धव्यवैशिष्ट्यादिहेतुकत्वेनानैकान्तिकत्वादिति भावः। अयं वक्ष्यमाणोऽभिधेय इत्यर्थः॥११८॥

यथा—

रक्षा यन्मयि वर्तसे त्वमभितः स्निग्धेऽपि ते दूषणं,
तत्रास्ते नहि किन्तु तत्किल ममानौचित्यजातं फलम्।
येन स्वस्तरुणीरुपेक्ष्य चरमामप्याश्रयन्तीद्दशां,
प्रेमार्तं व्रजयौवतं च सुमुखि त्वं केवलं सेव्यसे॥११९॥

तात्पर्यानुवाद—दैवयोगसे अपने आचरणसे मानिनी राधाको सामप्रयोगके द्वारा भी असाध्य समझकर चतुरचूड़ामणि श्रीकृष्ण वचनभङ्गीके द्वारा अपना माहात्म्य प्रकट करते हुए उनको प्रसन्न कर रहे हैं—"हे राधे! मेरे सब प्रकारसे स्निग्ध होनेपर भी तुम मेरे प्रति सब प्रकारसे कठोर रहती हो। इसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं है, किन्तु दोष तो मेरा ही है; क्योंकि हे सुमुखि! मैं दशम दशाको प्राप्त

प्रेमविवश नारियोंकी भी उपेक्षाकर तुम्हारी सेवामें नियुक्त हूँ। तुम्हारा मुख सुन्दर होनेपर भी हृदय अत्यन्त कठोर ही है॥"११९॥

लोचनरोचनी—तथैवोदाहरति—यथेति। "देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः", इत्यादिना भवतीभिरेव वर्णनाच्चरमां दशामाश्रयन्तीः॥११९॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्रीराधां श्रीकृष्णः प्राह—रक्षेति। स्वस्तरुणीर्देवीः कीदृशीः चरमां दशमीं दशामाश्रयन्तीः। "देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः" इति त्वयैव वर्णनात्॥११९॥

सख्यादिभिरुपालम्भप्रयोगो यथा—

> **कर्तुं सुन्दरि शंखचूडमथने नास्मिन्नुपेक्षोचिता,**
> **सर्वेषामभयप्रदानपदवीबद्धव्रते प्रेयसि।**
> **इत्यालीभिरलक्षितं मुरभिदा भद्रावली भेदिता,**
> **नासाग्रे वरमौक्तिकश्रियमधादस्त्रस्य सा बिन्दुना॥१२०॥**

तात्पर्यानुवाद—सख्यादिकृत उपालम्भ-प्रयोग—भद्रावली नामक गोपी मानिनी होनेपर उसके मानकी शान्तिके लिए अन्य उपायोंको असम्भव जानकर श्रीकृष्णने उसकी सखियोंको अनुनय-विनयके द्वारा वशीभूतकर उनकी सहायतासे मानिनीका तिरस्कार कराकर, जो उसका मान शान्त कराया था, उसीको वृन्दादेवी पौर्णमासीके निकट कौतुहलके साथमें कह रही है—"हे सुन्दरि! जिन्होंने सभी व्रजवासियोंको अभय प्रदान करनेके व्रतमें दीक्षित होकर शंखचूड़का वध किया था, उस प्रियतमके प्रति तुम्हारी उपेक्षा उचित नहीं है। इस प्रकारसे सखियोंके द्वारा भद्रावलीके हृदयमें भेद उत्पन्न करानेपर उसके नेत्रोंसे अश्रुधाराका प्रवाह उसकी नासिकाके अग्रभागमें स्थित गजमुक्ताकी भाँति सुशोभित हुआ॥"१२०॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं भद्रां काश्चित् श्रीकृष्णपक्षीयास्तत्सख्य आहुः—कर्तुमिति। शंखचूडेति। यदि शंखचूडमसौ नावधिष्यत्तदास्माकं का गतिरभविष्यदिति भावः। भद्रावलीति भद्राया एव संज्ञा॥१२०॥

अथ दानम्—

> **व्याजेन भूषणादीनां प्रदानं दानमुच्यते॥१२१॥**

यथा—

कामो नाम सुहृन्ममास्ति भवतीमाकर्ण्य सत्प्रेयसीं,
हारस्तेन तवार्पितोऽयमुरसि प्राप्नोतु सङ्गोत्सवम्।
इत्युन्नम्य करं मुरद्विषि वदत्युद्भिन्नसान्द्रस्मिता,
पद्मा मानविनिग्रहात्प्रणयिना तेनोद्भटं चुम्बिता॥१२२॥

तात्पर्यानुवाद—दान—किसी बहानेसे भूषणादिका सम्प्रदान। नर्मपरिपाटी कुशल श्रीकृष्ण मानिनी पद्माके निकट कामको अपना सुहृद बतलाकर तथा कामकर्तृक प्रदत्त इस हारको तुम्हें दे रहा हूँ, ऐसा बहाना बनाकर उसे हँसनेके लिए विवश कर दिया और इस प्रकार उसके मानको शान्त कर दिया। इस वृत्तान्तको यहाँ वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"काम नामक मेरा एक अत्यन्त सुहृद बन्धु है। तुम मेरी प्रेयसी हो, यह बात जानकर उसने तुम्हें इस हारको समर्पण किया है—अतएव यह हार तुम्हारे वक्षःस्थलका सङ्गोत्सव लाभ करे। श्रीकृष्ण द्वारा अपने हाथोंको उठाकर इस प्रकार विदग्ध-वाक्य कहनेपर मानिनी पद्माके अधरोंपर मुस्कुराहट खेलने लगी। प्रणयी श्रीकृष्णने सहसा उसके कपोलोंका चुम्बन कर लिया॥"१२१-१२२॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः पद्मामाह—काम इति। सत्यं सत्यं काम एव मह्यमैन्द्रनीलहारं ददौ तुभ्यं च कानकमिति स्मिताभिप्रायः॥१२२॥

अथ नतिः—

केवलं दैन्यमालम्ब्य पादपातो नतिर्मता॥१२३॥

यथा—

क्षितिलुठितशिखण्डापीडमारान्मुकुन्दे,
रचयति रतिकान्तस्तोमकान्ते प्रणामम्।
नयनजलधराभ्यां कुर्वती बाष्पवृष्टिं,
वरतनुरिह मान ग्रीष्मनाशं शशंस॥१२४॥

तात्पर्यानुवाद—नति—केवल दैन्य अवलम्बनपूर्वक चरणोंमें गिर जाना नति कहलाता है। एक समय यूथेश्वरी पालीके मानिनी होनेपर उसके

हृदयतत्त्वको जाननेवाले श्रीकृष्णने सामादि उपायसे उसका गम्भीरमान शान्त होना असम्भव समझकर, केवल चरणोंमें दण्डवत्-प्रणतिके द्वारा ही उसके मानको दूर किया। इसी वृत्तान्तको वृन्दा कुन्दवल्लीके निकट कह रही है—"कामकोटि कमनीय श्रीकृष्ण किञ्चित् दूर रहकर पालीके उद्देश्यसे अपने मयूरपिच्छ युक्त मस्तकको झुकाकर प्रणाम करने लगे। श्रीकृष्णको ऐसा करते देख वराङ्गी पालीने अपने नेत्ररूप मेघसे वाष्पवारि वर्षणकर उसी कुञ्जभवनमें मानरूप ग्रीष्मऋतुको शान्त कर दिया॥"१२३-१२४॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा कुन्दवल्लीमाह—आरात् समीपे॥१२४॥

अथोपेक्षा—

> **सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।**
> **उपेक्षा कथ्यते कैश्चित्तूर्ष्णींभावतया स्थितिः॥१२५॥**

तात्पर्यानुवाद—उपेक्षा—सामादि उपायोंके द्वारा मान शान्त करना जब कठिन हो जाता है, उस समय जो अवज्ञा होती है, उसको उपेक्षा कहते हैं। किसी-किसी पण्डितके विचारसे 'उपेक्षा' शब्दसे तूर्ष्णींभूत अर्थात् चुप हो जानेको उपेक्षा कहते हैं॥१२५॥

आनन्दचन्द्रिका—अवधीरणमवज्ञा॥१२५॥

तद्द्वयं यथा—

> **सूनुर्वल्लभ एष बल्लवपतेस्तत्रापि वीराग्रणी-**
> **स्तत्रापि स्मरमण्डलीविजयिना रूपेण विभ्राजितः।**
> **सख्यः संप्रति रूक्षता पृथुरियं तेनात्र न श्रेयसे,**
> **दूरे पश्यत याति निष्ठुरमनाः का युक्तिरत्रोचिता॥१२६॥**

तात्पर्यानुवाद—एक समय दुर्जेयमानवती श्रीराधाके मानको सामादि दूसरे उपायोंके द्वारा असाध्य समझकर, जब श्रीकृष्ण उनकी उपेक्षाकर अन्यत्र कहीं चले गए, तब श्रीराधाजीका मान शान्त हो गया। फिर राधाजी अपने अनुचित व्यवहारका प्रीतिविधान करनेके लिए अपनी सखियोंसे पूछने लगी—"हे सखियो! ये प्राणवल्लभ हैं (अतः अपराधी

होनेपर भी प्रियताके विचारसे उनके प्रति रोष करना सर्वथा अनुचित है), उसपर भी गोपराजनन्दन (परम आदरणीय) हैं, उसपर भी ये दैत्यवधादिके द्वारा और गोवर्द्धन उठाकर समस्त व्रजवासियोंके प्रति उपकार करनेवाले वीराग्रगण्य हैं। अधिकन्तु ये कोटि–कन्दर्प विनिन्दित रूपमाधुर्यके द्वारा विराजित हैं। इसलिए इनके प्रति मेरे द्वारा किया गया महानिष्ठुर व्यवहार कभी भी कल्याणजनक नहीं होगा। देखो, वह निष्ठुरमना होकर कही चले जा रहे है। बताओ, अब मैं क्या करूँ?" ॥१२६॥

लोचनरोचनी—"सख्यः संप्रति रूक्षता पृथुरियं कार्या तथापि स्फुटम्" इति वा पाठः॥१२६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा विशाखाद्याः सखीराह—सूनुरिति। बल्लवपतेः सूनुरेष वल्लभोऽतिप्रियः। इयं श्रीराधा यतो रूक्षता पृथुरभूत्तेनात्र श्रीकृष्णेन श्रेयसे न मङ्गलाय। स्वयमेव सौभाग्यतश्च्युता स्थास्यतीति भावः॥१२६॥

माने मुहुर्नतिभिरप्यतिदुर्निवारे,
वाचंयमव्रतमहं तरसाग्रहीषम्।
बाष्पं ततो विकिरती निजगाद पद्मा,
पौष्पं रजः पतितमत्र दृशोर्ममेति॥१२७॥

तात्पर्यानुवाद—एक समय श्रीकृष्णकी सङ्ग प्राप्तिसे ललिताका अतिशय सौभाग्य लक्ष्यकर पद्मा महामानिनी हो गई, श्रीकृष्ण दूसरे उपायोंसे उसका मान शान्त करना असम्भव जानकर मौन हो गए, जिसे देखकर पद्माका मान शान्त हो गया। इस वृत्तान्तको स्वयं श्रीकृष्ण सुबलसे कह रहे हैं—"हे सखे! बारम्बार दण्डवत्प्रणति करनेपर भी जब मैंने देखा कि पद्माका मान दूर करना बड़ा ही कठिन है, उस समय मैंने जान–बूझकर मौनावलम्बन कर लिया। इससे पद्माके नेत्रोंसे अश्रु प्रवाह फूट पड़ा और रोते–रोते वह कहने लगी—कुमुदपुष्पोंसे भरपूर कुञ्जभवनमें मेरे नेत्रोंमें पुष्पोंका पराग गिर जानेसे ही अश्रुका प्रवाह निकल रहा है। इस प्रकार उसने बहाना किया तथा उसका मान शान्त हो गया॥"१२७॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः सुबलमाह—मान इति॥१२७॥

अथ वा—

प्रसादनविधिं मुक्त्वा वाक्यैरन्यार्थसूचकैः।
प्रसादनं मृगाक्षीणामुपेक्षिति स्मृता बुधैः॥१२८॥

तात्पर्यानुवाद—अथवा, उपेक्षाका दूसरा प्रकार—उपासनादि विधिको छोड़कर अन्यार्थ सूचक वचनोंके द्वारा रमणियोंको प्रसन्न करनेको पण्डितगण उपेक्षा कहते हैं॥१२८॥

यथा—

धम्मिल्ले नवमालती परिचिता सव्ये च शब्दग्रहे,
मल्ली सुन्दरि दक्षिणे तु कतरत्पुष्पं तव भ्राजते।
आघ्रेयं परिचेतुमित्युपहिते व्याजेन नासापुटे,
गण्डोद्यत्पुलका विहस्य हरिणा चन्द्रावली चुम्बिता॥१२९॥

तात्पर्यानुवाद—परमकौतुकी श्रीकृष्ण सामादि उपायोंके व्यर्थ होनेपर जब चन्द्रावलीके दाहिने कानमें अलङ्कार रूपमें पहने हुए पुष्पको सूँघनेके बहाने उसके कपोलको स्पर्श करने लगे, तभी उसका मान दूर हो गया। गोस्वामिपाद उसीका वर्णन कर रहे हैं—“हे सुन्दरि! तुम्हारी धम्मिल्ल (जूड़े) में गूँथी हुई नवमालती और बाएँ कानमें पहना हुआ जो मल्लिपुष्प है, मेरे परिचित ही हैं, किन्तु दाहिने कानमें कौन-सा पुष्प है? उसको जाननेके लिए एक बार मैं उसको सूँघ तो लूँ। ऐसा बहाना बनाकर उसके कपोलोंमें अपने नासापुटको अर्पण करते ही चन्द्रावलीके कपोलोंमें पुलकोद्गमको देखकर हँसते हुए श्रीकृष्णने उसके कपोलोंका चुम्बन कर लिया॥”१२९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णश्चन्द्रावलीमाह—शब्दग्रहे कर्णे। उपहितमुपाधिः॥१२९॥

अथ रसान्तरम्—

आकस्मिकभयादीनां प्रस्तुतिः स्याद्रसान्तरम्।
यादृच्छिकं बुद्धिपूर्वमिति द्वेधा तदुच्यते॥१३०॥

तत्र यादृच्छिकम्—

उपस्थितमकस्माद्यत्तद्यादृच्छिकमुच्यते ॥१३१॥

तात्पर्यानुवाद—रसान्तर—अकस्मात् भयादिके उपस्थित होनेका नाम रसान्तर है। यह दो प्रकारका होता है—यादृच्छिक या बुद्धिपूर्वक।

यादृच्छिक—किसी प्रयत्नके बिना ही जो अकस्मात् उपस्थित हो जाता है उसे यादृच्छिक कहते हैं॥१३०-१३१॥

यथा—

अपि गुरुभिरुपायैरद्य सामादिभिर्या,
लवमपि न मृगाक्षी मानमुद्रामभाङ्क्षीत्।
हरिमिह परिरेभे सा स्वयंग्राहमग्रे,
नवजलधरनादैर्भीषिता पश्य भद्रा ॥१३२॥

तात्पर्यानुवाद—भद्राकी सखियाँ परस्परसे कह रही हैं—"देखो, सामादि गुरुतर उपायोंके द्वारा भी श्रीकृष्ण भद्राका मान भङ्ग नहीं कर सके, किन्तु हठात् मेघगर्जनको सुनकर वह अत्यन्त भयभीत हुई और उसने स्वयं ही सम्मुखवर्ती श्रीकृष्णका दौड़कर आलिङ्गन कर लिया॥"१३२॥

आनन्दचन्द्रिका—भद्रायाः सख्यः परस्परमाहुः—अपीति। स्वयमेव ग्राहो भुजाभ्यां ग्रहणं यत्र तद्यथा स्यात्तथा परिरेभे॥१३२॥

यथा—

उपायेषु व्यर्थोन्नतिषु बत सामादिषु सखे,
सखीनां चातुर्य्ये गतवति च सद्यः शिथिलताम्।
विशाखायाः कोपज्वरहरणमन्त्र प्रतिनिधिं,
सचीत्कारं रूक्षस्वनितमकरोदुक्षदनुजः ॥१३३॥

तात्पर्यानुवाद—आधिदैविक-भयकृत रसान्तरका उदाहरण देकर इस पद्यमें आधिभौतिक भयका उदाहरण देकर रसान्तर दिखला रहे हैं—एक दिन विशाखाके प्रगाढ़ मानको देखकर सामादि उपाय व्यर्थ होनेपर श्रीकृष्ण बड़े चिन्तित हुए। दैवयोगसे उसी समय व्रजमें आनेवाले कंसके द्वारा

प्रेरित वृषभासुरकी चीत्कार और घोर गर्जनको सुनकर विशाखाका मान झट शान्त हो गया।

किसी दूसरे समय सुबलके प्रश्नके उत्तरदान प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण इसी वृत्तान्तको कह रहे हैं—"हे सखे! विशाखाके कोपज्वरकी शान्तिके लिए सामादि विविध प्रकारके उपायों तथा सखियोंकी चतुराई व्यर्थ होनेपर दैवयोगसे अरिष्टासुरकी भीषण चीत्कार और घोर गर्जनने उसकी कोपशान्तिके लिए मन्त्र सदृश कार्य किया॥"१३३॥

आनन्दचन्द्रिका—जलधरनादानां कामोद्दीपकत्वेन तैर्मानभङ्गः समुचित इति रसान्तरस्योदाहरणमाह—यथावेति। श्रीकृष्णः सुबलमाह—उपायैष्विति। मन्त्रप्रतिनिधिं मन्त्रतुल्यम्। उक्षदनुजः अरिष्टासुरः। "उक्षा भद्रो बलीवद्रः" इत्यमरः॥१३३॥

अथ बुद्धिपूर्वम्—

बुद्धिपूर्वं तु कान्तेन प्रत्युत्पन्नधिया कृतम्॥१३४॥

तात्पर्यानुवाद—बुद्धिपूर्वक रसान्तर—प्रतिभामय बुद्धिके द्वारा उस समय कान्तके द्वारा अनुष्ठित व्यापार॥१३४॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रत्युत्पन्नधिया सप्रतिभबुद्धिना॥१३४॥

यथा—

पाणौ पञ्चमुखेन दुष्टकृमिणा दष्टोऽस्मि रोषादिति,
व्याजात्कूणितलोचनं व्रजपतौ व्याभुज्य वक्त्रं स्थिते।
सद्यः प्रोज्झितरोषवृत्तिरसकृत् किं वृत्तमित्याकुला,
जल्पन्ती स्मितबन्धुरास्यममुना गान्धर्विका चुम्बिता॥१३५॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दाने पौर्णमासीको बताया कि दुर्जेयमानवती श्रीमती राधिकाका मानभञ्जन करनेके लिए दूसरे उपायोंको असाध्य समझकर परमरसिक चूड़ामणि श्रीकृष्णने क्षणभरके लिए मौन धारण कर लिया। फिर अपनी प्रतिभामय बुद्धिके द्वारा एक उपाय निकाला। "ओफ! मेरे हाथमें दुष्ट और रुष्ट पञ्चमुख विषधर सर्पने दंशन किया है", यह कहकर श्रीकृष्णने अपने नेत्रोंको इस प्रकार संकुचित किया, मानो उन्हें बड़ा ही कष्ट हो रहा है तथा अपने मुखको अत्यन्त वक्र कर

लिया। यह देखकर उसी समय राधिका अपने मानको दूरकर बारम्बार कहने लगी—"हाय-हाय! क्या हुआ? क्या हुआ?" इस प्रकार व्याकुल होनेपर श्रीकृष्णने हँसते हुए उनका चुम्बन कर लिया॥१३५॥

लोचनरोचनी—व्रजपतावित्यत्र व्रजविधाविति वा पाठः॥१३५॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—मानिन्याः श्रीराधायाः पुरतो मुहूर्तं तूष्णीं स्थित्वा अभिनीतत्रासव्यथा स्वरभङ्गमकस्मात् पाणौ मे इत्याद्युच्चचार। कूणिते संकुचिते लोचने यत्र तद्यथा स्यात्तथा वक्त्रं व्याभुज्य कुटलीकृत्य सद्यस्तत्क्षणादेव प्रोज्झिता त्यक्ता रोषवृत्तिर्यया सा। किं वृत्तं किं वृत्तमिति मूर्च्छितं श्रीकृष्णं भुजाभ्यामुत्थाप्य मुखे मुखं दत्त्वा जल्पन्तीति जल्पनसमय एव स्मितबन्धुरास्यं यथा स्यात्तथा चुम्बिता॥१३५॥

यथा वा—

न्यस्तं दाम कृतागसाद्य हरिणा दृष्ट्वा पुरो राधया,
क्षिप्तेनाभिहतः स तेन कपटी दुःखीव भुग्नाननः।
मीलन्नेव निषेदिवान् भुवि ततः सद्यस्तया व्यग्रया,
पाणिभ्यां धृतकन्धरः स्मितमुखो बिम्बोष्ठमस्याः पपौ॥१३६॥

तात्पर्यानुवाद—बुद्धिपूर्वक दूसरे प्रकारका रसान्तर—परम कौतुकी श्रीकृष्ण जब श्रीराधाका मान उपशम करनेके लिए अपने हाथोंसे एक माला गूँथकर राधाजीको पहनाने लगे। तब अपराधी श्रीकृष्णके द्वारा गलेमें माला अर्पित होनेपर श्रीराधाजीने जब उस मालाको मानसे दूर फेंकनेकी चेष्टा की, तब वह श्रीकृष्णके अङ्गोंमें लगी। धूर्त श्रीकृष्णने उसी मालाके द्वारा आहत होनेका बहाना बनाया एवं दुःखी होकर मुखको ऐसा विकृत किया, मानो उनको बहुत ही चोट लगी है और वे आहत व्यक्तिकी भाँति भूमिपर लोटने लगे। यह देखते ही श्रीमती राधिका अत्यन्त व्याकुल हो गईं और दोनों हाथोंसे उनके कन्धोंको पकड़ लिया। ऐसा देखकर श्रीकृष्णने उनके अधरामृतका पानकर मुस्कुरा दिया॥"१३६॥

लोचनरोचनी—निषेदिवान् निविष्टः॥१३६॥

आनन्दचन्द्रिका—सामदानादेरिव रसान्तरस्य वारान्तरेणैकजातीयत्वं संभवेदिति पुनः पुनर्माने अन्यदन्यद्रसान्तरं स्यादिति दर्शयितुमाह—यथा वेति। नान्दी पौर्णमासीमाह—न्यस्तमिति। स हरिस्तेन दाम्ना दुःखीव तदाघातेन प्राप्तमहाव्यथ इव॥१३६॥

देशकालबलेनैव मुरलीश्रवणेन च।
विनाप्युपायं मानोऽसौ लीयते व्रजसुभ्रुवाम्॥१३७॥

तात्पर्यानुवाद—सामादि अन्यान्य उपायोंके बिना भी देश-कालके प्रभावसे केवलमात्र मुरली-श्रवण करनेसे भी किसी समय मान तिरोहित हो जाता है॥१३७॥

तत्र देशबलेन यथा—

अलंकीर्णं चन्द्रावलिरलिघटाझङ्कृतिभरैः,
पुरो वृन्दारण्यं किमपि कलयन्ती कुसुमितम्।
हरिं च स्मेरास्यं प्रियकतरुमूले प्रियमितः,
स्खलन्माना सख्यामदिशत सतृष्णं दृशमसौ॥१३८॥

तात्पर्यानुवाद—देशके प्रभावसे—चन्द्रावलीके मानवृत्तान्तको पूछ रही भद्रासे वृन्दाने कहा—"भृङ्गोंकी झँकारसे व्याप्त अत्यन्त मुखरित एवं विविध पुष्पोंसे सुशोभित वृन्दावन एवं कदम्बतरुके मूलमें हँसते हुए प्रियतमको देखकर ही उसका मान शान्त होनेपर उसने अपनी सखी पद्माके प्रति सतृष्ण दृष्टिपात किया।" यहाँ सखीके प्रति दृष्टिपात मानभङ्गका लक्षण है। वृन्दावनकी शोभादर्शन ही मानभङ्गका मुख्य हेतु है। श्रीकृष्ण दर्शन किन्तु आनुसङ्गिक है॥१३८॥

लोचनरोचनी—कलयन्ती पश्यन्ती इत इह वृन्दावने, हरिञ्च पश्यन्ती॥१३८॥

आनन्दचन्द्रिका—चन्द्रावल्या मानवृत्तान्तं पृच्छन्तीं भद्रां वृन्दाह—अलमतिशयेन कीर्णं व्याप्तं कलयन्ती पश्यन्ती प्रियकः कदम्बः सख्यां दृशं सतृष्णं यथा स्यात्तथा अदिशत दत्तवतीति हे सखि! मानो मे वृन्दारण्येनानेन ध्वंसितस्तदहं किं करोमि यदुचितं तत्त्वमेव कुर्विति व्यञ्जयामास। मानोपशमनस्याङ्काः स्वयंग्राहस्मितादय इत्यादिपदगृहीताः सखीदृक्प्रेरणादयोऽपि ज्ञेयाः॥१३८॥

कालबलेन यथा—

शरदि मधुरमूर्त्तिः पश्य कान्तिच्छटाभिः,
स्नपयति रविकन्यातीरवन्यां सुधांशुः।
इति निशि निशमय्य व्याहृतिं दूतिकायाः,
स्मितरुचिभिरतानीत्तत्र राधा प्रसादम् ॥१३९॥

तात्पर्यानुवाद—कालके प्रभावसे—एक समय मानवती श्रीमती राधिकाने दूतीके मुखसे शारदीय चन्द्रकिरणोंसे सुशोभित कमनीय रजनीकी शोभाको सुनकर अपने मानको शान्त कर दिया। इसी वृत्तान्तका वर्णन वृन्दा श्रीकृष्णसे कर रही है—"हे राधे! देखो, इस समय शरत्कालमें मधुरमूर्त्ति चन्द्रमा यमुनाके तीरपर स्थित सुन्दर उपवनको अपनी कान्तिमालासे आप्लावित कर रहे हैं।" दूतीके मुखसे रात्रिकालकी शोभाको सुनते ही वे हास्य सुषमा विस्तारकर उसी कुञ्जभवनमें अपने मानको भङ्गकर प्रसन्न हो गईं॥१३९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीवृन्दा श्रीकृष्णमाह—शरदीति॥१३९॥

मुरलीशब्देन यथा—

यदि रोषं न हि मुञ्चसि न मुञ्च देवि नात्र निर्बन्धः।
फूत्कृतिविधूतमानः स भवति विजयी हरेर्वेणुः ॥१४०॥

तात्पर्यानुवाद—मुरलीके शब्दसे—श्रीकृष्णके प्रति अधिक स्नेहा मृदुस्वभावा कोई सखी श्रीराधाको विविध प्रकारके शङ्कामूलक वचनोंसे प्रसन्न न कर सकनेपर उसको आक्षेपके साथ कह रही है—"हे देवि! मेरे नाना प्रकारकी प्रार्थनाओंको भी अग्राह्यकर अपने मानको दूर नहीं कर रही हो। ठीक है, ऐसा ही हो। मेरा इसमें विशेष आग्रह नहीं है। ऐसी दशामें अपने फुत्कारमात्रसे ही तुम्हारे मानका नाशकर श्रीहरिकी वेणु ही जययुक्त हो॥"१४०॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिनीं श्रीराधां काचित्सखी प्राह—यदीति। देवीति मानुष्यो हि सुप्रसादा भवन्ति न तु देव्य इति भावः। न निर्बन्ध इति अहमेवाद्य श्रीराधां प्रसाद्यानेष्यामि पश्य मे बुद्धिबलमिति श्रीकृष्णाग्रे मया निर्बन्धः कृत आसीत् स

न भवतु किंतु मामवजानत्यास्तव पराभवोपायमहमेव करिष्यामीत्याह—फूत्कृतीति। हे श्रीकृष्ण, तदिदानीममोघास्त्रं मुरलीमेव संदेहीति तमुपदिशामीति भावः॥१४०॥

यथा वा—

मानस्योपाध्यायि प्रसीद सखि रुन्धि मे श्रुतिद्वन्द्वम्।
अयमुच्चाटनमन्त्रं सिद्धो वेणुर्वने पठति॥१४१॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें सखीके द्वारा वेणुका माहात्म्यमात्र कहनेसे मान त्यागके विषयमें सन्देह रहनेके कारण नायिकाके वचनोंसे ही स्पष्टतः मानभञ्जन दिखलानेके लिए अन्य उदाहरण दे रहे हैं। श्रीकृष्णके वेणुनादके श्रवणसे ही अपने मानको दूरकर पुनः मान ग्रहण करनेके लिए कहनेवाली ललिताको आक्षेपके साथ श्रीराधा कहने लगी—"हे मान-अध्यापिके! तुम प्रसन्न होकर मेरे दोनों कानोंको बन्द कर दो; क्योंकि यह वेणु वनमें योगेश्वरकी भाँति उच्चाटन-मन्त्रका पाठ कर रही है। यह मन्त्र सब प्रकारके सम्बन्धोंसे विरक्ति उत्पन्न कराकर स्वाश्रयैकनिष्ठ बना देता है। मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। अतएव वंशीधारण करनेवालेके निकट शीघ्र ही मेरा अभिसार कराओ।" यही ध्वनि सूचित होती है॥१४१॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वपद्ये मुरलीनादस्य मानोपशमकत्वमुक्तं नतु फलतो दर्शितमिति अपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। श्रीराधा ललितां सामर्षमाह—मानस्येति॥१४१॥

तारतम्यं तु मानस्य हेतोः स्यात्तारतम्यतः।
स्याल्लघुर्मध्यमश्चासौ महिष्ठश्चेत्यतस्त्रिधा॥१४२॥

सुसाध्यः स्याल्लघुर्मानो यत्नसाध्यस्तु मध्यमः।
दुःसाध्यः स्यादुपायेन महिष्ठः श्रेयसाप्ययम्॥१४३॥

तात्पर्यानुवाद—कारणके तारतम्यसे कार्यका भी तारतम्य होता है। इसलिए यहाँ तीन प्रकारके मानको दिखला रहे हैं। हेतुके तारतम्यसे लघु, मध्यम और महिष्ठ—मानके तीन भेद स्वीकार्य हैं। जो मान थोड़े-से प्रयाससे ही साध्य हो जाता है, उसे लघु कहते हैं। जो बहुत यत्नसे साध्य होता है, उसे मध्यम कहते हैं और प्रियतमके द्वारा विविध सामादि

उपायोंके प्रयोगसे भी जिस मानकी शान्ति बड़ी कठिन होती है, उसे महिष्ठ या प्रौढ़ मान कहते हैं॥१४२–१४३॥

लोचनरोचनी—श्रेयसाप्युपायेन महिष्ठो मानो दुःसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्यात्॥१४३॥

आनन्दचन्द्रिका—हेतोरीर्ष्यायाः॥१४२॥

कृष्णे रोषोक्तयस्तासां वामो दुर्लीलशेखरः।
कितवेन्द्रो महाधूर्तः कठोरो निरपत्रपः॥१४४॥

अतिदुर्ललितो गोपीभुजङ्गो रतहिण्डकः।
गोपिकाधर्मविध्वंसी गोपसाध्वीविडम्बकः॥१४५॥

कामुकेशस्तमिस्रौघः श्यामात्माम्बरतस्करः।
गोवर्द्धनतटारण्यवाटपाटच्चरादयः॥१४६॥

इति मानः।

तात्पर्यानुवाद—व्रजसुन्दरियाँ क्रोधके कारण श्रीकृष्णके लिए जिन शब्दोंका सम्बोधन करती हैं वे इस प्रकार हैं—वाम, दुर्लीलशेखर अर्थात् कपटशिरोमणि, कितवेन्द्र अर्थात् खलश्रेष्ठ, महाधूर्त, कठोर, निर्लज्ज, अतिदुर्लसित अर्थात् रुक्ष कठोर, गोपीभुजङ्ग अर्थात् गोपीकामुक, रतहिण्डक अर्थात् स्त्रीचोर (रतिचोर), गोपीधर्म विध्वंसी अर्थात् गोपियोंका धर्म नष्ट करनेवाला, गोपी-साध्वी-विड़म्बक, कामुकेश्वर, तमिस्रौघ, श्यामात्मा अर्थात् कालवर्ण पुरुष, वस्त्रचोर और गोवर्द्धनप्रान्तवर्ती वनगमनमार्गके डकैत अर्थात् तस्कर इत्यादि॥१४४–१४६॥

लोचनरोचनी—"मार्गो वाटः पथः पन्थाः" इति धरणिः। पाटच्चरश्चौरः॥१४६॥

आनन्दचन्द्रिका—भुजङ्गः कामुकः। रतहिण्डकः स्त्रीचौरः॥१४५॥

अरण्यवाटो वनमार्गस्तस्य पाटच्चरश्चौरः,
'चौरैकागारिकस्तेनदस्युतस्करमोषकाः।
प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः॥'
इत्यमरः॥१४६॥

अथ प्रेमवैचित्त्यम्

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्त्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥१४७॥

तात्पर्यानुवाद—प्रेमवैचित्त्य—प्रेमके उत्कर्षपूर्ण स्वभावके कारण प्रिय-व्यक्तिके निकट उपस्थित रहनेपर भी उसके विच्छेदके भयसे जो पीड़ा अनुभूत होती है, उसका नाम प्रेमवैचित्त्य है। यहाँ विश्वनाथ चक्रवर्तीठाकुरजीका विचार—'प्रेमोत्कर्ष' शब्दसे स्थायी अनुरागको समझना चाहिए। वह अनुराग भी अत्यन्त प्रबल तृष्णामूलक होता है—बारम्बार अनुभूत वस्तुको भी अननुभूतकी भाँति बोध कराता है। अनुरागकी दशामें कभी-कभी बुद्धिवृत्तिकी इस प्रकार सूक्ष्मता होती है कि बुद्धिवृत्ति श्रीकृष्णको और तदीय गुणोंके माधुर्यको एक ही समयमें अनुभव नहीं कराती। कृष्ण-अनुभवके समय उनके गुणोंका अनुभव नहीं होता और तदीय गुणोंके अनुभव होनेपर श्रीकृष्णका अनुभव नहीं होता। सम्भोगरसमें—यही कान्त मुझसे सम्भोग कर रहे हैं; इन्हींके सुरतलाम्पट्य, वाक्चातुरी, गीतवाद्य एवं नृत्यादि अपार गुणगण हैं—इस प्रकार चिन्ताके आवेशसे बुद्धिवृत्ति गुणोंमें प्रविष्ट होती है और पुनः सम्भोगरसमें निमग्न होनेपर भी "जिनका गुण ऐसा है, वे कहाँ हैं?" ऐसे आवेशसे श्रीकृष्णके सङ्गको त्यागकर गुणोंके अन्वेषणमें ही प्रविष्ट होकर विरहका अनुभव करती है। उसकी ऐसी अवस्था देखकर सन्मुख खड़े हुए नागर भी विस्मित हो जाते हैं॥१४७॥

लोचनरोचनी—अथ प्रेमवैचित्त्यमिति प्रेम्णो यद्वैचित्त्यं चित्तस्यान्यथाभाव-स्तन्मयत्वात्तदेवोच्यत इत्यर्थः। प्रियस्य संनिकर्षेऽपीति। अत्र युक्तिश्च श्रीगोपालचम्प्वाम्—"सान्द्रालिङ्गनलङ्गिमेऽङ्गवलयासङ्गेऽपि शार्ङ्गी तदा, गोपीनां स्फुरति स्म दूरगतया प्रेमोपगाद्दूरतः। यस्मादुत्कलिकाकलापकलनावृत्तिं बहिर्लुम्पती स्वप्नाभां दिशती सतीमपि दृशि स्फूर्तिं मुहुर्लुम्पति॥" इति॥१४७॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमोत्कर्षोऽनुरागः स्थायी सच तृष्णातिप्राबल्यमूलक एव मुहुरनुभूतस्यापि वस्तुनोऽननुभूतत्वभानसमर्पको भवेत्। यथा कश्चिदतिवुभुक्षुस्वभावो विप्रो भोजयित्वोच्यते—ब्रह्मन्, सुष्ठु भुक्तं भवतेति। ततस्तेन प्रत्युच्यते न किंचिदपि भुक्तमिति। तथैव कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिमित्यादिना स उदाहृतस्तस्यैव

कोऽपि वृत्तिविशेषः प्रेमवैचित्त्यं नाम तृष्णायाः परावधिकाष्ठां व्यनक्ति। यत्र सति श्रकृष्णं साक्षात् शश्वदनुभवतोऽपि जनस्य बुद्धिवृत्तेरपि तथा लोपः स्याद्यथा श्रीकृष्णं नानुभवानीत्येव प्रत्ययः स्यात्। यथा संनिपातवतो जनस्य प्रतिक्षणं जलं पिबतोऽपि हाहा मां जलं पाययेत्युक्तिः। अत्रेयं युक्तिः। अनुरागे क्वचिद्बुद्धिवृत्तेस्तथा सूक्ष्मत्वं स्याद् यथा सा श्रीकृष्णं तदीयगुणगणमाधुर्यं च युगपन्न विषयीकरोति। यतः श्रीकृष्णानुभवे तदीयगुणाद्यननुभवः तदीयगुणानुभवे तदननुभवः। यथा काचिदतिसूक्ष्मा सूची वस्त्रस्यूतावतिसूक्ष्ममप्येकं सूत्रमेव विध्यति नतु सूत्रद्वयसन्धिमिति। तथैव संभोगाख्ये रसे कान्तोऽयं मां संभुङ्क्ते यस्य सुरतलाम्पट्यवाक्चातुर्यगीतवाद्यनृत्यादयो गुणा अपारा इति गुणेषु प्रविष्टायां बृद्धिवृत्तौ क्षणान्तरे च यस्य गुणा ईदृशाः स क्व इति गुणानपि त्यक्त्वा तन्मार्गणे प्रविष्टा विरहमेवानुभावयन्ती पुरःस्थितमपि तं न विषयीकरोतीति ज्ञेया॥१४७॥

यथा—

> **आभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया,**
> **विश्लेषज्वरसंपदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।**
> **कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्गूर्णशष्पाङ्कुरा,**
> **राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः॥१४८॥**

तात्पर्यानुवाद—श्रीराधाके प्रेमवैचित्र्यको लक्ष्यकर वृन्दा विस्मयके साथ पौर्णमासीके समीप निवेदन कर रही है—"अहो! व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके सामने खड़े होनेपर भी श्रीराधा प्रौढ़ानुरागसे उत्पन्न अत्यधिक विरहज्वरसे विवश रहनेके कारण भ्रान्त हो गई एवं हे सखि! मेरे प्राणेश्वरका एकबार मुझे दर्शन करा दो, यह कहकर अपने दाँतोंमें तृण धारणकर ऐसी चेष्टा करने लगी, जिससे कृष्ण भी विस्मित हो उठे॥"१४८॥

लोचनरोचनी—पुरःस्फुरति विराजत्यपि। उद्गूर्णत्वं उद्यतत्वम्॥१४८॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—पुराऽग्रे स्फुरति विराजत्यपि उद्गूर्णशष्पाङ्कुरा उद्यत्तृणाङ्कुरा। "गुरी उद्यमे"॥१४८॥

यथा वा विदग्धमाधवे (६/४६)—

> **समजनि दवाद्वित्रस्तानां किमार्तरवो गवां,**
> **मयि किमभवद्वैगुण्यं वा निरङ्कुशमीक्षितम्।**

व्यरचि निभृतं किं वा हूतिः कयाचिदभीष्टया,
यदिह सहसा मामत्याक्षीद्वने वनजेक्षणः ॥१४९ ॥

तात्पर्यानुवाद—उससे भी अधिक प्रेमवैचित्त्यका उदाहरण दे रहे हैं—किसी एकान्त कुञ्जमें क्रीड़ाके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ वनविहारमें सखियों सहित प्रवृत्त हुई श्रीराधा मधुमङ्गलके मुखसे भ्रमरके उद्देश्यसे उच्चारित "मधुसूदनको अब यहाँ नहीं देखा जा रहा है"—इस वाक्यमें 'मधुसूदन' शब्दके द्वारा श्रीकृष्णको समझकर परमोत्कट प्रेमके स्वभावसे अपने बगलमें बैठे हुए नागरेन्द्रको नहीं देख पाई। शीघ्र ही मोहप्राप्त हुई और अकस्मात् श्रीकृष्णके द्वारा अपनेको त्यागी हुई मानकर उसके लिए विविध प्रकारके हेतुओंकी आशङ्का करती हुई, विषादसे विलाप करने लगी—अहो! दावाग्निके दर्शनसे भयभीत गऊओंकी हठात् आर्त्तध्वनि तो नहीं हुई? अथवा उन्होंने मुझमें सचमुच कोई दोष तो नहीं देखा? अथवा उनकी कोई अभीष्ट अथच हमारी प्रतिपक्षकी नायिका कही उन्हें बुलाकर अपने साथ निर्जनमें तो नहीं ले गई? क्योंकि वे मुझे इस निर्जन वनमें अकस्मात् छोड़कर चले गए। इन तीन कारणोंके व्यतीत परम सुन्दर नागरेन्द्र तो मुझे कभी भी त्याग नहीं कर सकते?॥१४९ ॥

लोचनरोचनी—समजनीति। अत्र प्रेमवैचित्त्यं तत्रत्यप्रकरणाल्लभ्यते॥१४९ ॥

आनन्दचन्द्रिका—निर्हेतुकं मुख्यं प्रेमवैचित्त्यं दर्शयित्वा कारणाभासभवं गौणमपि तदुदाहर्तुमाह—यथा वेति। भ्रमरविद्रावणव्याकुला श्रीराधा मधुसूदनो गत इति मधुमङ्गलोक्त्या उद्भूतप्रेमवैचित्त्या पुरःसन्तमपि श्रीकृष्णमपश्यन्ती साशङ्कं सविषादं विलपति—समजनीति। हूतिराह्वानं कयाचित् मत्प्रतिनायिकया विहंगमद्वारकेण संकेतेनेत्यर्थः ॥१४९ ॥

विलासमनुरागस्तु कुत्रचित्कमपि व्रजन्।
पार्श्वे सन्तमपि प्रेष्ठं हारितं कुरुते स्फुटम् ॥१५० ॥

सुष्ठूदाहरता पट्टमहिषीगीतविभ्रमम्।
स्पष्टं मुक्ताफले चैतद्वोपदेवेन वर्णितम् ॥१५१ ॥

इति प्रेमवैचित्त्यम्।

तात्पर्यानुवाद—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जाग्रत अवस्थामें, उसपर भी उन्माद और मोहादिके न होनेपर भी अपने निकट स्थित कान्तको उन्होंने क्यों नहीं देखा? इस प्रश्नके उत्तरमें कारण बतला रहे हैं—श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें श्रीरुक्मिणीका विलाप वर्णन किया गया है। उसमें प्रेमवैचित्त्य नामक विप्रलम्भ श‍ृङ्गारविशेष दृष्टिगोचर होता है। इसे प्राचीन भक्त बोपदेवादि भी स्वीकार करते हैं। स्थल विशेषमें अनुराग किसी अनिर्वाच्य दुरूह-विलासवैभवके रूपमें समृद्ध होकर निकटवर्ती प्रियजनको भी स्पष्टरूपमें खो बैठता है। पट्टमहिषी श्रीरुक्मिणी प्रभृतिके इस कथनसे "हे कुररि! क्या तुम भी विलाप कर रही हो?" इत्यादि उन्मादकृत गानविनोदके स्पष्ट उदाहरणके द्वारा बोपदेवने अपने मुक्ताफल ग्रन्थमें इसी प्रकारके प्रेमवैचित्त्यका वर्णन किया है॥१५०–१५१॥

लोचनरोचनी—विलासमिति व्याख्यातमेव॥१५०॥

आनन्दचन्द्रिका—पट्टमहिषीगीतं "कुररि विलपसि त्वम्" इत्यादि मुक्ताफले स्वकृते ग्रन्थे॥१५१॥

अथ प्रवासः

पूर्वसंगतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभिः।
व्यवधानं तु यत्प्राज्ञैः स प्रवास इतीर्यते॥१५२॥

तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते।
हर्षगर्वमदव्रीडा वर्जयित्वा समीरिताः॥१५३॥

श‍ृङ्गारयोग्याः सर्वेऽपि प्रवासे व्यभिचारिणः।
स द्विधा बुद्धिपूर्वः स्यात्तथैवाबुद्धिपूर्वकः॥१५४॥

तात्पर्यानुवाद—प्रवास—पहले परस्पर मिले हुए नायक और नायिकाके देशान्तरमें (दूसरे गाँव या दूसरे वनमें) गमनादिके कारण हुए व्यवधानको प्रवास कहते हैं। उस प्रवासके कारण उत्पन्न विप्रलम्भका नाम भी 'प्रवास' है। इस प्रवासमें हर्ष, गर्व, मत्तता और लज्जाके अतिरिक्त श‍ृङ्गाररसके उपयोगी सभी व्यभिचारी भाव पहले (१३/१) बतलाए गए हैं। उन्हें यहाँ भी ग्रहण करना चाहिए॥१५२–१५४॥

आनन्दचन्द्रिका—देशान्तरादिभिरत्यादिशब्देन ग्रामान्तरवनान्तरावस्थानान्तराणि गृह्यन्ते॥१५२॥

तत्र बुद्धिपूर्वः—

दूरे कार्यानुरोधेन गमः स्याद्बुद्धिपूर्वकः।
कार्यं कृष्णस्य कथितं स्वभक्तप्रीणनादिकम्॥१५५॥

किंचिद्दूरे सुदूरे च गमनादप्ययं द्विधा॥१५६॥

तात्पर्यानुवाद—प्रवास दो प्रकारका होता है—बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक।

बुद्धिपूर्वक प्रवास—किसी कार्यानुरोधसे किसी दूर देशमें जानेको बुद्धिपूर्वक प्रवास कहते हैं। अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करना इत्यादि बहुत-से कार्य हैं। इसके लिए उनकी पाल्य गऊएँ, वृन्दावनके स्थावर-जङ्गम, यादव और पाण्डव, श्रुतदेव और मैथिल आदि अपने भक्तोंको सुख दान, सदुपदेश दान, उनकी वाञ्छा पूर्णकर मनोरथ सिद्धिके लिए श्रीकृष्ण जान-बूझकर जब किसी दूर प्रदेशमें जाते हैं तो उसको प्रवास कहते हैं।

कुछ दूर और सुदूर गमनके भेदसे बुद्धिपूर्वक प्रयास भी दो प्रकारका होता है॥१५५-१५६॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वभक्तानां स्वैकपाल्यानां गवां वृन्दावनस्थपशुपक्षिवृक्षादीनां च स्वदर्शनेन प्रीणनादिकम्। आदिशब्दात् पालनप्रेमदानमनोरथान्तरपूर्त्यादि॥१५५॥

कंचिद्दूरे व्रजाद्वृन्दावनीयप्रदेशे सुदूरे व्रजान्मथुराद्वारकादौ॥१५६॥

तत्राद्यः—

दृष्टिं निधाय सुरभीनिकुरम्बवीथ्यां,
कृष्णेति वर्णयुगलाभ्यसने रसज्ञाम्।
शुश्रूषणे मुरलिनिस्वनितस्य कर्णौ,
चित्तं मुखे तव नयत्यहरद्य राधा॥१५७॥

तात्पर्यानुवाद—किञ्चित् दूरीपर प्रवास—गोचारणके लिए वृन्दावनमें गए हुए श्रीकृष्णके गृहमें लौटनेकी आशङ्काकर परम व्याकुला श्रीमती राधिकाकी अत्यन्त उत्कण्ठाको कोई दूती श्रीकृष्णके निकट निवेदन

कर रही है—"हे कृष्ण! आज श्रीराधाने दिनभर गऊओंके आगमनके पथको निहारती हुई 'कृष्ण' इन दो अक्षरोंके पुनः-पुनः अभ्याससे जिह्वाको, मुरलीनाद श्रवणकी इच्छासे अपने दोनों कानोंको और तुम्हारे मुखकी शोभाको पान करनेके लिए चित्तको नियुक्तकर दिनभर किसी तरह बड़े कष्टसे बिताया॥"१५७॥

लोचनरोचनी—मुरलीशब्दो ह्रस्वान्तश्चास्ति॥१५७॥

आनन्दचन्द्रिका—गाश्चारयन्तं श्रीकृष्णं काचिद्दूती श्रीराधावृत्तं निवेदयति—दृष्टिं निधायेति। सुरभीति। तदागमनवर्त्मनीत्यर्थः॥१५७॥

अथ द्वितीयः—

भावी भवंश्च भूतश्च त्रिविधः स तु कीर्त्यते॥१५८॥

तात्पर्यानुवाद—सुदूरप्रवास—यह भी भावी (होनेवाला), भवन् (हो रहा) और भूत के (हो चुका) भेदसे तीन प्रकारका होता है॥१५८॥

तत्र भावी यथोद्धवसंदेशे (६७)—

एष क्षत्ता व्रजनरपतेराज्ञया गोकुलेऽस्मिन्,
बाले प्रातर्नगरगतये घोषणामातनोति।
दुष्टं भूयः स्फुरति च बलादीक्षणं दक्षिणं मे,
तेन स्वान्तं स्फुटति चटुलं हन्त भाव्यं न जाने॥१५९॥

तात्पर्यानुवाद—भावीप्रवास—श्रीराम-कृष्णको मथुरा ले जानेके लिए अक्रूरके व्रज आनेपर व्रजराजके आदेशसे द्वारपालके द्वारा जोर-जोरसे व्रजवासियोंके प्रति प्रातःकालमें मथुरागमनकी घोषणाको सुनकर अशुभ सूचक अपने दाहिने नेत्रके फड़कनेको अनुभवकर, उस समय तक श्रीकृष्णके मथुरा जानेका प्रसङ्ग अप्रकट रहनेपर भी गोपियाँ अत्यधिक प्रेमातिरेक स्वभावके कारण श्रीकृष्णविरहकी सम्भावनासे अपनेको प्रबोध देनेवाली सखीको दीनतापूर्वक कह रही है—"हे अज्ञे! व्रजेशकी आज्ञासे यह द्वारपाल गोकुलमें घोषणा कर रहा है कि प्रातःकाल मथुरा जाना है। हाय! हाय! अमङ्गल सूचक मेरा दाहिना नेत्र भी बारम्बार फड़क रहा है। इसलिए मेरा मन अत्यन्त अधीर एवं व्याकुल हो रहा है। हाय! न जाने क्या होनेवाला है? मैं नहीं जानती?"॥१५९॥

आनन्दचन्द्रिका—काचिद्व्रजदेवी स्वसखीं सभयशोकखेदमाह—क्षत्ता पुरद्वारपालः। नगरगतये मथुरां गन्तुम्। दुष्टं दोषसूचकं यथा स्यात्तथा स्फुरति "क्षत्ता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे" इत्यमरः॥१५९॥

भवन् यथा ललितमाधवे (३/७)—

भानोर्बिम्बे त्वरितमुदयप्रस्थतः प्रस्थितेऽसौ,
यात्रानन्दीं पठति मुदितः स्यन्दने गान्दिनेयः।
तावत्तूर्णं स्फुटखुरपुटैः क्षोणिपृष्ठं खनन्तो,
यावन्नामी हृदय भवतो घोटकाः स्फोटकाः स्युः॥१६०॥

तात्पर्यानुवाद—भवन्प्रवास—प्रातःकाल अरुणोदयके समय श्रीकृष्णको मथुरा प्रस्थान करते हुए देखकर श्यामा विलाप करने लगी—"उदय पर्वतके सानुदेशसे भानुमण्डल तीव्रगतिसे उठनेपर अक्रूर आनन्दित होकर रथके ऊपरी भागमें यात्रा-नान्दी पाठ कर रहे हैं। हे हृदय! तुम अभी विदीर्ण हो जाओ, अन्यथा अपने खुरोंसे पृथ्वीको खोदनेवाले ये घोड़े ही तुमको छिन्न-भिन्न कर देंगे॥"१६०॥

लोचनरोचनी—प्रस्थः सानुः। यात्रानान्दीं तत्रत्यमङ्गलपाठम्। हे हृदय, तावत्तूर्णं स्फुटेत्यन्वयः॥१६०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामा विलपति—भानोरिति। उदयप्रस्थतः उदयपर्वतस्य सानुतः यात्रानान्दीं यात्रिकमङ्गलपाठम्। स्यन्दने रथे। गान्दिनेयोऽक्रूरः। हे हृदय, तावत्त्वं स्फुट विदीर्णो भव। नन्वहं परमधीरं भवामीति चेन्मैवं वाच्यम्। त्वं किं क्षौणितः सकाशादपि धैर्यं दधासि यतोऽमी स्यन्दनस्य घोटकाः क्षौणीमपि खनन्तीत्याह—खुरपुटैरित्यादि। तेन घोटकखुरघातजन्यान्मृत्योः स्वयं मरणं भद्रमिति भावः। वास्तवस्तु प्राणप्रियं व्रजे विराजन्तमेव दृष्ट्वा म्रियस्व न तु व्रजाद्गच्छन्तमिति भावः॥१६०॥

भूतो यथोद्धवसंदेशे (८५)—

कामं दूरे सहचरि वरीवर्त्ति यत्कंसवैरी,
नेदं लोकोत्तरमपि विपद्दुर्दिनं मा दुनोति।
आशाकीलो हृदि किल धृतः प्राणरोधी तु यो मे,
सोऽयं पीडां निबिडवडवावह्नितीव्रस्तनोति॥१६१॥

तात्पर्यानुवाद—भूतप्रवास—श्रीकृष्णके द्वारका प्रवासके समय विरहसे उत्पन्न दुःख और असहनीय क्लान्तिसे व्याकुला श्रीमती राधिका विशाखासे निराशापूर्वक कह रही हैं—"हे सखि विशाखे! कंसनाशन स्वच्छन्द रूपसे बहुत दिनोंसे बहुत दूर रह रहे हैं। यह अलौकिक विपत्ति भी मुझे इतना ताप प्रदान नहीं करती, किन्तु प्राणनिरोधक हृदयमें घुसी हुई यह आशारूप कील ही अत्यन्त तीव्र बड़वानलसे भी सुतीव्र दुःखदायी आकार धारणकर मुझे जला रही है॥"१६१॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—काममिति। विपदेव दुद्रिनम्। "मेघच्छनेऽह्नि दुर्दिनम्" इत्यमरः। मां हंसीमिति भावः॥१६१॥

अत्र श्रीयदुसिंहेन प्रेयसीभिरमुष्य च।
प्रेषणं क्रियते प्रेम्णा संदेशस्य परस्परम्॥१६२॥

तात्पर्यानुवाद—बुद्धिपूर्वक भूतप्रवासमें यादवेन्द्र और प्रेयसियोंके प्रेममें परस्पर सन्देश-प्रेरण हुआ करता है॥१६२॥

यथोद्धवसंदेशे (११५)—

सोढव्यं ते कथमपि बलाच्चक्षुषी मीलयित्वा,
तीव्रोत्तापं हतमनसिजोद्दामविक्रान्तिचक्रम्।
द्वित्रैरेव प्रियसखि दिनैः सेव्यतां देवि शैव्ये,
यास्यामि त्वत्प्रणयचटुलभ्रूयुगाडम्बराणाम्॥१६३॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीउद्धव द्वारा मथुरासे श्रीकृष्णका शैब्याके निकट संवाद-प्रेरण—"हे देवि शैब्ये! तुम बलपूर्वक नेत्रोंको बन्दकर बड़े कष्टसे दुष्ट कामकृत महासहनीय सन्ताप-विशिष्ट अति उद्भट, विक्रम परम्पराको किसी प्रकार सहनकर समय अतिवाहित करो। हे प्रियसखि! मैं दो तीन दिनोंमें ही तुम्हारे प्रेमोत्थ कौटिल्यभङ्गी विशिष्ट मनोहर सुभ्रुओंके पराक्रमसमूह द्वारा सेवित होऊँगा। अतः शीघ्र ही व्रजमें उपस्थित होऊँगा और तुम मुझे व्रजमें देखकर सुभ्रूभङ्गियोंसे मेरा अभिनन्दन करना॥"१६३॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरास्थः श्रीकृष्णः उद्धवद्वारा शैब्यायां संदिशति—सोढव्यमिति। आडम्बराः पराक्रमाः तेषां सेव्यतां विषयीभूतत्वम्। कर्तरि षष्ठी। अत्र सेव्यतामिति पदेन तदाडम्बरैर्मदेकपूजकैरपूजितो देवप्रतिमाकारोऽहं मथुरायां दुःखमेवानुभवामीति व्यञ्जितम्॥१६३॥

तथा पद्यावल्याम् (३७६)—

कालिन्द्याः पुलिनं प्रदोषमरुतो रम्याः शशाङ्कांशवः,
संतापं न हरन्तु नाम नितरां कुर्वन्ति कस्मात्पुनः।
संदिष्टं व्रजयोषितामिति हरेः संश्रृण्वतोऽन्तःपुरे,
निःश्वासाः प्रसृता जयन्ति रमणीसौभाग्यगर्वच्छिदः॥१६४॥

तात्पर्यानुवाद—व्रजदेवियोंके निकट श्रीकृष्णके सन्देश देनेका उदाहरण देकर इस पद्यमें व्रजदेवियोंके द्वारा श्रीकृष्णके निकट सन्देश भेजनेका उदाहरण दे रहे हैं। यमुना-पुलिनादिको देखकर प्रज्ज्वलित विरहाग्निसे दुःखी गोपियोंकी वार्त्ता सुनकर द्वारकाके अन्तःपुरवासी श्रीकृष्णकी व्याकुलताका वर्णन करते हुए पौर्णमासी कह रही है—"विरहकालमें जलशून्य तटविशिष्ट कालिन्दीके पुलिन, रात्रिके आरम्भमें प्रवाहमान शीतल मन्द मलयसमीर और रमणीय चन्द्रकिरणें—ये सभी तुम्हारे विरहसन्तापको भले ही दूर न कर सकें, किन्तु यह सन्ताप उत्पन्न ही क्यों हुआ? इसका कारण तो बतलाओ? व्रजदेवियोंकी यह वार्त्ता द्वारकाके अन्तःपुरमें भलीभाँति श्रवण करते-करते ही श्रीकृष्णने दीर्घ निःश्वास त्याग किया, उससे वहाँ श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंका महासौभाग्यगर्व भी खर्व हो गया। श्रीकृष्णका वह दीर्घनिःश्वास जययुक्त हो॥"१६४॥

लोचनरोचनी—कालिन्द्या इत्यादिकं प्रायो गोकुलदेवीभिः प्रहितेन कीरेणानुदितम्। जयन्तीति सिद्धाभिलाषा भवन्त्वित्यर्थः। "जयतेस्त्वन्त्वोस्त्यन्ति" इति प्रयोगस्यैव कविभिः संमतत्वात्॥१६४॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वारकास्थिता पौर्णमासी व्रजदेवीसंदेशास्वादिनः श्रीकृष्णस्यानुभावं वर्णयति—कालिन्द्या इति। इति संदिष्टं कयापि पान्थया पठितमित्यर्थः। रमणीनां रुक्मिण्यादीनाम्। ध्वनिरत्र स्पष्ट एव॥१६४॥

अथाबुद्धिपूर्वः—

> **पारतन्त्र्योद्भवो यस्तु प्रोक्तः सोऽबुद्धिपूर्वकः।**
> **दिव्यादिव्यादिजनितं पारतन्त्र्यमनेकधा॥१६५॥**

तात्पर्यानुवाद—अबुद्धिपूर्वक प्रवास—पराधीनतावश जो सुदूर प्रवास होता है, उसको अबुद्धिपूर्वक प्रवास कहते हैं—यह परतन्त्रता, दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य भेदसे अनेक प्रकारका होता है॥१६५॥

यथा ललितमाधवे (२/२७)—

> **आनीतासि मया मनोरथशतव्यग्रेण निर्बन्धतः,**
> **पूर्णं शारदपूर्णिमापरिमलैर्वृन्दाटवीमण्डलम्।**
> **सद्यः सुन्दरि शंखचूडकपटप्राप्तोदयेनाधुना,**
> **दैवेनाद्य विरोधिना कथमितस्त्वं हन्त दूरीकृता॥१६६॥**

तात्पर्यानुवाद—शिवरात्रि तथा अम्बिकायात्राके बाद श्रीकृष्ण व्रज-गोपियोंके साथ निकुञ्जमें विराजमान थे, श्रीमती राधाजी सिंहासनपर विराजमान थी। हठात् पता नहीं कहाँसे मुखरा आ गई। इसलिए उसकी वञ्चना करनेके लिए श्रीकृष्ण पास ही कुञ्जमें छिप गए। इसी बीच वहाँ शंखचूड़ उपस्थित हुआ तथा सिंहासन सहित श्रीमतीजीको ले गया। शंखचूड़को ऐसा करते देखकर अत्यन्त भयभीत ललितादि सखियोंने हा कृष्ण! हा कृष्ण! तुम कहाँ हो?—ऐसा कहते हुए उच्च स्वरसे आर्त्तनाद किया। उसे सुनकर झट कुञ्जसे निकलकर श्रीकृष्णने देखा कि शंखचूड़ राधाजी ले गया है, तब वे बड़े विषादके साथ कहने लगे—"हे सुन्दरि! मैं सैंकड़ों मनोरथोंसे व्यग्रचित्त होकर बड़ी अभिलाषासे शारदीय पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे समुज्ज्वल वृन्दावनमें तुम्हें लाया था, किन्तु हाय! मेरे विरोधी दैवने इस समय शंखचूड़के बहाने उपस्थित होकर तत्क्षण ही इस प्रकार तुम्हें वृन्दावनसे दूर कर दिया।" (शरद पूर्णिमापर यह घटना नहीं हुई थी—होलिका पूर्णिमापर शंखचूड़ आया था। अतः 'शारद' शब्दका अर्थ जीवगोस्वामिपादने नव किया है।)॥१६६॥

लोचनरोचनी—आनीतासीत्यत्र शारदशब्दो नववाच्येव। "द्वौ तु शारदौ प्रत्यग्राप्रतिभौ" इति नानार्थवर्गात्, शिवरात्रिगताम्बिकायात्रानन्तरोक्तेर्होरिकापूर्णिमायाः प्राप्तत्वात्, होरिकाया अन्यत्र बलदेवसंगतेर्विरसत्वाच्च। नवत्वं च पूर्णिमाया वसन्तादिभागत्वेन नवायमानत्वात्॥१६६॥

आनन्दचन्द्रिका—मुखराया वञ्चनार्थं श्रीकृष्णे कुञ्जे निलीय स्थिते दैवात्तदैवागते शंखचूडे ससिंहासनामेव श्रीराधां नीत्वापसृतवति हा कृष्ण, कुतोऽसीति ललिताद्यार्तरावश्रवणेन सपद्येव कुञ्जान्निष्क्रम्य श्रीकृष्णो विलपति—आनीतासीति। शंखचूडकपटेन व्याजेन प्राप्त उदयो यस्य तेन दैवेन मद्दुरदृष्टेन॥१६६॥

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥१६७॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रवासाख्य विप्रलम्भमें दस दशाएँ होती हैं—चिन्ता, जागर, उद्वेग, तानव, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु॥१६७॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र प्रवासाख्यविप्रलम्भे॥१६७॥

तत्र चिन्ता यथा हंसदूते (२)—

यदा यातो गोपीहृदयमदनो नन्दसदना-
न्मुकुन्दो गान्दिन्यास्तनयमनुरुन्धन्मधुपुरीम्।
तदामाङ्क्षीच्चिन्तासरिति घनघूर्णापरिचयै-
रगाधायां बाधामयपयसि राधा विरहिणी॥१६८॥

तात्पर्यानुवाद—चिन्ता—अक्रूरके साथ श्रीकृष्णके मथुरा प्रस्थान करनेपर वृन्दावनेश्वरीकी विरहसन्तापसे उत्पन्न अत्यधिक चिन्तासे हुई व्याकुलताका श्रीपादरूपगोस्वामी वर्णन कर रहे हैं—गोपियोंके हृदयकी ग्लानि सम्पादक (श्रीकृष्ण अथवा कन्दर्प) श्रीनन्दालयसे अक्रूरके अनुरोधसे जिस दिन मधुपुरीमें चले गए हैं, उसी दिनसे विरहिणी राधा महाभ्रमात्मक, गभीर, अनवगाह्य पीड़ास्वरूप जलयुक्त अगाध चिन्तानदीके बीच निमग्न होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगीं—हाय! हाय! मैं क्या करूँगी? आशा-पाशमें बँधकर प्राणोंकी रक्षा करूँ या फिर अग्निमें जल मरूँ?॥१६८॥

आनन्दचन्द्रिका—कोऽपि रसिक आह—यदेति। नन्दसदनान्मधुपुरीं यातः। गान्दिन्यास्तनयमक्रूरमनुरुन्धन्। अक्रूरानुरोधेनेत्यर्थः। तदा चिन्तैव सरित् तस्यां किं संतापज्वालाज्वलितानपि प्राणान् आशापाशैर्बद्ध्वा रक्षामि किं वा तैर्मुक्तांस्त्यजामि तत्रापि किं वह्निं प्रविशामि यमुनां वा, ततश्च स पुनर्व्रजमागत्य मामनालोच्य किं प्रतिपत्स्यते मच्छोकेन प्राणान् हास्यति कयापि युक्त्या रक्षिष्यति वा? हा हा स महाप्रेमी कथं रक्षितुं प्रभविष्यति? एवंचेत् परिणामदर्शिन्यहमपि हा हा कथं मर्तुं संप्रति प्रभविष्यामि तस्मान्न मरिष्यामि तदीयसुन्दरमुखारविन्दं द्रक्ष्यामि, यदि संतापानलो मां न धक्ष्यति तदा जीवितुं प्रभविष्यामि इत्यादिलक्षणायाममाङ्क्षीत् मग्ना बभूव। घना निबिडा या घूर्णा आवर्ताः पक्षे महाभावभेदमोहनोत्था उद्घूर्णाः। बाधामयानि पीडारूपाणि पयांसि यस्यां तस्याम्॥१६८॥

अथ जागरो यथा पद्यावल्याम् (३२२)—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥१६९॥

तात्पर्यानुवाद—जागर—माथुरविरहकालमें श्रीराधा विशाखासे बड़े खेदके साथ कह रही है—“जो नारियाँ स्वप्नमें भी श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं, वे धन्य हैं। श्रीकृष्णके मथुरा जानेपर निद्रा भी मेरी वैरिणी हो गई है, अर्थात् मुझे त्यागकर दूर चली गई है॥”१६९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा विशाखामाह—या इति॥१६९॥

अथोद्वेगो यथा हंसदूते (१०४)—

मनो मे हा कष्टं ज्वलति किमहं हन्त करवै,
न पारं नावारं सुमुखि कलयाम्यस्य जलधेः।
इयं वन्दे मूर्ध्ना सपदि तमुपायं कथय मे,
परामृश्ये यस्माद्धृतिकणिकयापि क्षणिकया॥१७०॥

तात्पर्यानुवाद—उद्वेग—माथुरविरहकालमें परमोद्विग्न श्रीमती राधिका, उनको सान्त्वना देनेवाली ललिताको दीनताके साथ कह रही है—“हे सुमुखि! हाय-हाय! मेरा हृदय जल गया, अब मैं क्या करूँ? विरहसमुद्रका तो कोई अन्त नहीं, असीम पारावार है। देखो! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम कर रही हूँ। तुम अभी मुझे ऐसा कोई उपेदश दो जिससे क्षणकालके लिए भी मैं धैर्य धारण कर सकूँ॥”१७०॥

लोचनरोचनी—परामृश्ये स्पृष्टा भवामि॥१७०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितामाह—मन इति। अस्य महासंतापात्मकस्य धृतिकणिकया कर्त्र्या परामृश्ये स्पृष्टा भवामीत्यर्थः॥१७०॥

अथ तानवं यथा—

उदञ्चद्वक्राम्भोरुहविकृतिरन्तःकलुषिता,
सदाहाराभावग्लपितकुचकोका यदुपते।
विशुष्यन्ती राधा तव विरहतापादनुदिनं,
निदाघे कुल्येव क्रशिमपरिपाकं प्रथयति॥१७१॥

तात्पर्यानुवाद—तानव—उद्धव व्रजसे मथुरा लौटकर किसी निर्जन स्थानमें अपनी अनुभूत श्रीराधाकी साक्षात् विरहवेदनाकी अपार खिन्नताको श्रीकृष्णसे निवेदन कर रहे हैं—"हे यदुपते! तुम्हारे विरहमें श्रीराधाका मुख बड़ा ही उदास हो रहा है, उनका हृदय नाना प्रकारके भावोंसे आच्छन्न और मलिन हो रहा है, सदा-सर्वदा आहारके बिना उनके दोनों कुचरूप चक्रवाक ग्लानियुक्त हो रहे हैं। इसलिए तुम्हारे विरहतापसे वे ग्रीष्मऋतुमें शुष्क कृत्रिम क्षुद्रनदीकी भाँति सूखकर कृशताकी पराकाष्ठाका विस्तार कर रही हैं॥"१७१॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवः पृष्टश्रीराधाविशाखावृत्तान्तः श्लोकद्वयं श्रीकृष्णमाह—उदञ्चदिति। विकृतिर्म्लानता वैवर्ण्यं च। अन्तःकलुषिता पङ्किला, पक्षे विषाददैन्यादिभिर्दुःखिता। आहारो मृणालादिभोजनं तदभावात्, पक्षे हारो मुक्तामयः। कुल्या क्षुद्रनदी॥१७१॥

अथ मलिनाङ्गता—

हिमविसरविशीर्णाम्भोजतुल्याननश्रीः,
खरमरुदपरज्यद्बन्धुजीवोपमौष्ठी।
अघहर शरदर्कोत्तापितेन्दीवराक्षी,
तव विरहविपत्तिम्लापितासीद्विशाखा॥१७२॥

तात्पर्यानुवाद—मलिनाङ्गता—उद्धव विरहसे उत्पन्न विशाखाकी मलिनाङ्गताका वर्णन कर रहे हैं—"हे दुःखमोचन! तुम आश्रितमात्रके दुःखमोचक होनेपर भी उनके स्वहेतुक दुःखको दूर करनेमें विलम्ब

क्यों कर रहे हो? यह सर्वथा अनुचित है। तुम्हारी विरह विपत्तिसे विशाखाका अङ्ग कैसा मलिन हो रहा है? उसे मैं बतला रहा हूँ—अहो! उनकी मुखकान्ति हिमसे जले हुए पद्मपुष्पकी भाँति हो रही है, उनके होंठ प्रखरतर तापयुक्त वायुके संस्पर्शसे जले हुए बन्धूकपुष्पके समान हो रहे हैं और दोनों नेत्र भी शरत्‌कालीन सूर्यके प्रखर तापसे जले हुए कुमुदपुष्पकी भाँति मलिन हो रहे हैं॥"१७२॥

आनन्दचन्द्रिका—विसरः समूहः॥१७२॥

अथ प्रलापो यथा ललितमाधवे (३/२५)—

क्व नन्दकुलचन्द्रमाः क्व शिखिचन्द्रकालंकृतिः,
क्व मन्द्रमुरलीरवः क्व नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क्व रासरसताण्डवी क्व सखि जीवरक्षौषधि–
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क्व तव हन्त हा धिग्विधिः॥१७३॥

तात्पर्यानुवाद—प्रलाप—माथुरविरहमें दिव्योन्माद दशाको प्राप्त श्रीमती राधिका ललिताको सम्बोधन करके प्रलाप करते हुए कह रही हैं—"हे सखि ललिते! नन्दकुलचन्द्रमा कहाँ हैं? शिखिपिच्छमौली कहाँ हैं? जिनकी मुरलीका स्वर अत्यन्त गम्भीर है, वे कहाँ हैं? इन्द्रनीलकान्ति कहाँ हैं? अहो! वे रासमें रसताण्डवी कहाँ हैं? मेरे मृतसञ्जीवनी रसायन कहाँ हैं? हाय! मेरे अभिलषित दुस्त्यज निधि कहाँ हैं? तुम्हारे वे सुहृतम कहाँ हैं? हा विधि! तुमको शत–शत बार धिक्कार है॥"१७३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रोषितभर्तृका श्रीराधा विलपति—क्वेति। तव सुहृत्तमो मम जीवरक्षणौषधिनिधिरूपः॥१७३॥

अथ व्याधिर्यथा तत्रैव (३/२८)—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो,
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली,
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥१७४॥

तात्पर्यानुवाद—व्याधि—दिव्योन्मादवती श्रीमती राधिका ललितासे बड़े उद्वेगके साथ कह रही हैं—"हे सखि! व्रजनवयुवराजके विरहसे उत्पन्न

ज्वर जो पूटपाकसे (मृण्मय आदि पात्रोंमें सद्यसद्य गलित स्वर्णादि पाकसे) भी अतिशय तापदायक है, विषराशिसे भी अधिक क्षोभजनक है, वज्रसे भी अत्यन्त दुःसह है, हृदयमें विद्ध शल्यसे भी अधिकतर कष्टप्रद है तथा अति विपुल विसूचिकाादि रोगसमूहसे भी अतिशय तीक्ष्ण है। अब वह अति बलवान होकर इस समय मेरे हृदयको भी विद्ध कर रहा है॥"१७४॥

आनन्दचन्द्रिका—विरहिणी श्रीराधा ललितामाह—पुटे मुद्रितमुखे मृन्मयसंपुटे स्वर्णादीनां यः पाकस्तस्मादप्युत्तापयति। दम्भोलेर्वज्रात्। विसूचिका रोगविशेषः॥१७४॥

अथोन्मादः—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती,
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे,
विषमविरहखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता ॥१७५॥

तात्पर्यानुवाद—उन्माद—उद्धव व्रजसे मथुरामें लौटकर निर्जनमें श्रीकृष्णको श्रीराधाके विरहसे उत्पन्न उन्मादके विषयमें बतला रहे हैं—हे मुरारि! तुम्हारी उत्कट विरहचिन्तासे श्रीमती राधिका कभी घरमें इधर-उधर भ्रमण करती हैं, कभी अकारण हँसती हैं। कभी चेतन-अचेतन वस्तुमात्रसे तुम्हारी वार्त्ता पूछती हैं, कभी-कभी तो काँपती हुई भूमिमें लोटने लग जाती हैं॥१७५॥

आनन्दचन्द्रिका—उद्धवः श्रीकृष्णमाह—भ्रमतीति। द्वयमुन्मादस्य प्रौढत्वप्रौढतमत्व-व्यञ्जकम्॥१७५॥

यथा वा—

अद्याकाण्डिकमट्टहासपटलं निर्माति घर्माम्बुभाक्,
चीत्कारं कुरुते चमत्कृतिपरा सोत्कण्ठमाकस्मिकम्।
आक्रन्दं वितनोति घर्घरघनोद्घोषं किलातर्कितं,
राधामाधव विप्रयोगरभसादन्येव तीव्रादभूत्॥१७६॥

तात्पर्यानुवाद—महाराज उद्धव पुनः उससे भी अधिक महोन्माद व्यापारको श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—"हे माधव! श्रीराधा तुम्हारे विरहानलके

वेगसे बाहर और भीतर नाना प्रकारके भावविकारयुक्त आकृति और प्रकृतिसे न जाने कैसी हो रही हैं? क्योंकि कभी वे ठठा-ठठाकर हँसने लगती हैं, कभी पसीनेसे लथपथ हो जाती हैं, कभी-कभी चमत्कृत होकर उत्कण्ठाके साथ रुँधे कण्ठसे घर-घर ध्वनिकर रोदन करने लगती है॥"१७६॥

आनन्दचन्द्रिका—अकाण्डे भवमाकाण्डिकम्॥**१७६**॥

अथ मोहः—

निरुन्धे दैन्याब्धिं हरति गुरुचिन्तापरिभवं,
विलुम्पत्युन्मादं स्थगयति बलाद्वाष्पलहरीम्।
इदानीं कंसारे कुवलयदृशः केवलमिदं,
विधत्ते साचिव्यं तव विरहमूर्च्छा सहचरी॥१७७॥

तात्पर्यानुवाद—मोह—मथुरामें निवास करनेवाले श्रीकृष्णको ललिता पत्रद्वारा संवाद दे रही है—"हे कंसारि! इस समय केवल तुम्हारी विरहमूर्च्छा ही तुम्हारी प्राणेश्वरीकी सहायता कर रही है, वह दैन्यसमुद्रको रोक रही है। गुरुतर चिन्ताजनित दुरवस्थाको हरण कर रही है, उन्मादको दूर रख रही है और बलपूर्वक वाष्पलहरीको भी स्थगित कर रही है, अर्थात् रोदनको भी स्थगित कर रही है। अतः अब उनके विषयमें तुमको चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। तुम मथुरामें सुखपूर्वक रहो। बस, आज या कल स्त्रीवधरूपी महानिधि तुम्हारे हाथोंमें स्वयं उपस्थित होगी।"

तात्पर्य यह है कि श्रीमती राधिका श्रीकृष्णविरहमें जाग्रत अवस्थामें जिस महान दीनताके साथ प्रलाप करती हैं, महाचिन्तित होकर रोदन करती हैं, उन्मादग्रस्त होकर विलाप करती हैं, वह सभी कुछ मूर्च्छामें बन्द हो जानेके कारण मूर्च्छा श्रीमती राधिकाकी सहायता कर रही है। तुम सुखपूर्वक मथुरामें रहो, उनके विषयमें चिन्ता मत करो। इसका तात्पर्य यह है कि आज या कल श्रीमती राधिकाके तुम्हारे विरहमें मर जानेपर तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाएँगी॥१७७॥

आनन्दचन्द्रिका—मथुरास्थं श्रीकृष्णं प्रति ललिता पत्रीं लिखति—निरुन्धे लुम्पति। कुवलयदृशः श्रीराधाया इदानीमिदं साचिव्यं विधत्त इति। तेनास्याः कृते

त्वया चिन्ता न कार्या तत्र सुखेन स्थेयमद्य श्वो वा स्त्रीवधमहानिधिस्तव हस्तगतो भविष्यतीति द्योतितम्॥१७७॥

अथ मृत्युर्यथा हंसदूते (९६)—

अये रासक्रीडारसिक मम सख्यां नवनवा,
पुरा बद्धा येन प्रणयलहरी हन्त गहना।
स चेन्मुक्तापेक्षस्त्वमसि धिगिमां तूलसकलं,
यदेतस्या नासानिहितमिदमद्यापि चलति॥१७८॥

तात्पर्यानुवाद—मृत्यु—ललितादेवी हंसके द्वारा श्रीकृष्णके निकट श्रीमती राधिकाके विरहज्वरकी पराकाष्ठासे उत्पन्न अन्तिम दशाका सन्देश भेज रही हैं—"हे रासक्रीड़ा रसिक! उस समयका सौभाग्यविशेष क्या तुम्हें स्मरण है? पूर्वकालमें व्रजवासके समय तुमने मेरी सखीको नित्य नवनवायमान दुर्बोध प्रेम-परम्परामें आबद्ध कर लिया था। अहो! इस समय वही तुम यदि उनके प्रति निष्ठुर और निरपेक्ष व्यवहार करोगे, तो मैं इस हतभागिनी राधाको ही धिक्कार प्रदान कर रही हूँ; क्योंकि इसकी चरम दशा मृत्युके निकट होनेके कारण नाड़ीकी अत्यन्त क्षीणतावशतः श्वासोंका सञ्चार बोध करनेके लिए उनकी नासिकाके सामने अर्पित तुलाखण्ड अभी भी धीरे-धीरे हिल रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारे आगमनकी आशासे इनके शरीरमें प्राण किसी प्रकारसे बचे हुए हैं। तुम निश्चित ही नहीं आओगे, यदि यह बात वे जान लेंगी तो महानर्थ हो जायेगा। इसलिए अनुरोध करती हूँ कि अविलम्ब व्रजमें आगमनकर प्रियसखियोंसे परिवेष्टित प्रियसखीको सञ्जीवित करो॥१७८॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिता मथुरास्थं श्रीकृष्णं हंसद्वारा उपालभते—अये इति। रासेति रासक्रीडाया रसं त्वमेव वेत्सि यतो राधेयं त्वया दुरवस्थापात्रीकृतेति व्याजस्तुतिर्ध्वनिता। यतो रासक्रीडाया मूलकारणं श्रीराधैवेति हेत्वलंकारश्चानुध्वनितः। येन त्वया स त्वं मुक्तापेक्षः। इमां त्वं नापेक्षसे चेत्तदा इमां धिक् यदियं तु त्वामपेक्षत एवेति भावः। ननु किमस्या मदपेक्षालक्षणं कारणम्? तत्राह तूलशकलं तूलखण्डं नासायां निहितमधुनास्याः प्राणाः सन्ति न वा सन्तीति संदेहे इत्यर्थः। अद्यापि चलतीति कथमनया अधुनापि प्राणाः कष्टेन रक्ष्यन्त इति भावः॥१७८॥

प्रवासविप्रलम्भेऽस्मिन् दशास्तास्ता हरेरपि।
अत्रोपलक्षणायैकमुदाहरणमीर्यते ॥१७९॥

तात्पर्यानुवाद—इस प्रवासाख्य विप्रलम्भमें पूर्वोक्त दस दशाएँ श्रीकृष्णमें भी प्रकट हुआ करती हैं। इन दस दशाओंके निदर्शन स्वरूप यहाँ चिन्ता नामक एक ही दशाका उदाहरण दिया जा रहा है॥१७९॥

यथा—

क्रीडारत्नगृहे विडम्बितपयःफेनावलीमाद्रवे,
तल्पे नेच्छति कल्पशाखिचमरीरम्येऽपि राज्ञां सुताः।
किन्तु द्वारवतीपतिर्व्रजगिरिद्रोणीविलान्तःशिला,
पर्य्यङ्कोपरि राधिकारतिकलां ध्यायन्मुहुः क्लाम्यति॥१८०॥

तात्पर्यानुवाद—ललिताके द्वारा प्रेषित उपालम्भपत्र (तिरस्कारपूर्ण पत्र) के उत्तरमें श्रीकृष्णकी आज्ञासे उद्धवजी लिख रहे हैं—हे ललिते! द्वारावतीपति स्वाधीन और सर्वसुख समृद्धिमान होनेपर भी क्रीड़ाविहारके लिए नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित राजभवनमें दुग्धफेनिल अतिसुकोमल, श्वेत तथा कल्पवृक्ष समूहकी मञ्जरियोंके यथायोग्य स्थानमें सन्निवेशित रचना द्वारा मनोज्ञ शय्यापर श्रीरुक्मिणी प्रभृति राजकन्याओंके सङ्गमें भी उतनी अभिलाष नहीं रखते, किन्तु गोवर्द्धन–कन्दराके गह्वरोंमें शिलाखण्डरूप पलङ्कके ऊपर श्रीराधिकाके साथ सुरतकेलि–वैदग्धीका ध्यान करते–करते बारम्बार अवसादग्रस्त हो रहे हैं॥१८०॥

लोचनरोचनी—क्रीडारत्नगृह इति श्रीराधिकासखीनामुपालम्भपत्रिकाणां प्रत्युत्तररूपं श्रीमदुद्धवस्य पत्रमतः क्रीडारत्न इत्यादिकं तदुपालम्भानुवादोऽयमभ्युपगमवादाय कृत इति ज्ञेयम्। चमरी स्तबकः॥१८०॥

आनन्दचन्द्रिका—ललिताप्रेषिताया उपालम्भपत्र्याः प्रत्युत्तरपत्रीं श्रीकृष्णाज्ञया उद्धवो लिखति—क्रीडारत्नेति। क्लाम्यति मूर्च्छति॥१८०॥

प्रोक्तानां प्रेमभेदानां विविधत्वाद्दशा अपि।
विविधाः स्युरिहेत्येता भूमभीत्या न कीर्त्तिताः॥१८१॥

एतास्तु प्रेमभेदानामनुभावतया दशाः।
साधारण्यः समस्तानां प्रायशः संभवन्त्यपि ॥१८२॥

किंत्वत्रैवाधिरूढस्य मोहनत्वमुपेयुषः।
असाधारणरूपास्तु तत्प्रसङ्गे पुरोदिताः ॥१८३॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ प्रश्न है—प्रेमके ही स्नेहादि छह भेद कहे गए हैं। उनमेंसे पूर्वरागोक्त अभिलाषादि एवं प्रवास–विप्रलम्भमें उक्त चिन्तादि दशाएँ क्या साधारण भावसे ही उदित होती हैं अथवा उनमें कोई तारतम्य रहता है? यदि तारतम्य है, तो वह तारतम्य क्या स्वरूपतः है अथवा संख्यातः है? इस विषयमें स्वरूपतः तारतम्य विवेचनासे समाधान कर रहे हैं—बहुत प्रकारके प्रेमभेदसे उत्पन्न दस दशाओंकी विविधताको अवश्य ही स्वीकार करना होगा। फिर भी यहाँ बाहुल्य भयसे इनका वर्णन या गणना नहीं की गई। किन्तु स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव पर्यन्त प्रेमके पर्यायके कार्य स्वरूप ये सब दशाएँ प्रायः साधारण भावसे प्रकट हो सकती हैं। अधिकन्तु इस ग्रन्थके पूर्वमें (उ. नी. १४/१७९) मोहनदशामें उन्नत अधिरूढ़महाभावके प्रसङ्गमें श्रीराधाके विषयमें जो असाधारण दशाएँ प्रकटित होती हैं, उनका वर्णन किया गया है ॥१८१–१८३॥

लोचनरोचनी—किं त्वत्रैवाधिरूढस्येति भावमध्ये पठितस्यापि तस्य रसत्वमेव मन्तव्यमिति भावः ॥१८३॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमभेदानां प्रौढमध्यमन्दानां मधुस्नेहघृतस्नेहादीनां माञ्जिष्ठादि–नैल्यादिरागाणां च। भूमभीत्या ग्रन्थबाहुल्यभीत्या ॥१८१॥

एता उक्तलक्षणास्तु दशाः समस्तानामेव प्रेमभेदानां च साधारण्यः। असाधारण्यस्तु भूमभीत्या न कीर्तिता इत्यर्थः ॥१८२॥

अत्रैव ग्रन्थे असाधारण्यरूपा इति श्रीवृन्दावनेश्वर्या विना अन्यत्रादृष्टेः ॥१८३॥

विप्रलम्भं परं केचित्करुणाभिधमूचिरे।
स प्रवासविशेषत्वान्नैवात्र पृथगीरितः ॥१८४॥

इति प्रवासः ॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ करुणाख्य-विप्रलम्भादिके मतको उत्थापनकर समाधान कर रहे हैं। किसी-किसी रसशास्त्रकारने करुण नामक एक दूसरे विप्रलम्भको स्वीकार किया है, किन्तु प्रवासविशेष होनेके कारण उसका इस ग्रन्थमें पृथक् रूपसे वर्णन नहीं किया गया। तात्पर्य—श्रीकृष्णकी कालीह्रदमें प्रवेशादि लीलाओंमें अनिष्टकी आशङ्का होनेके कारण उनको करुण-विप्रलम्भ बतलानेकी इच्छा करते हैं, किन्तु वह अभीष्ट नहीं है। इसलिए वह प्रवासविशेषके रूपमें ही ग्रहणीय है॥१८४॥

लोचनरोचनी—विप्रलम्भमिति विप्रलम्भभेदमित्यर्थः। तमनिष्टाशङ्कामयत्वात्-करुणाभिधमूचिरे, स तु वास्तवानिष्टत्वाभावात् प्रवासविशेषः ततस्तद्रूपत्वात् पृथङ्नैवेरितः॥१८४॥

आनन्दचन्द्रिका—परमुक्तेभ्य एवेभ्योऽन्यं प्रवासविशेषत्वादिति। श्रीकृष्णस्य कालियह्रदप्रवेशादयः प्रवासभेदा एवेत्यर्थः॥१८४॥

अथ संयोगवियोगस्थितिः

हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ॥१८५॥

वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः।
हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित्॥१८६॥

तथा च पाद्मे पातालखण्डे मथुरामाहात्म्ये—
'गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीडति कंसहा।'॥१८७॥

इति संयोगवियोगस्थितिः॥

तात्पर्यानुवाद—संयोग-वियोगकी स्थिति—विप्रलम्भ शृङ्गारके उपसंहार-कालमें वृन्दावनमें श्रीकृष्णके नित्यलीलापरत्वको दिखला रहे हैं। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी प्रकटलीलाविशेषका अनुसरणकर व्रजसुन्दरियोंकी विरहावस्थाका वर्णन किया गया है, किन्तु वृन्दावनमें सदैवके लिए रासादि विविध लीलाविनोदपरायण श्रीहरिके साथ व्रजदेवियोंका कभी विरह नहीं

होता। इस विषयमें पद्मपुराणके पातालखण्डमें वर्णित मथुरामाहात्म्यमें "गोगोपगोपीकासङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहेति" एवं श्रीदशमस्कन्धके अन्त (१/९०/४८) में "जयति जननिवासो" इत्यादि पद्योंमें वर्त्तमान कालका प्रयोग रहनेके कारण युगपत् द्वारका, मथुरा और वृन्दावनमें लीलाविलासकी नित्यता ही सूचित हो रही है॥१८५–१८७॥

लोचनरोचनी—तदेवं सपरिकरं विरहमुक्त्वा दुःखरूपस्य तस्य निरसनार्थमाह—हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्येति। अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरुपादानाद्वृन्दारण्ये विहरतेत्यत्राप्रकटलीलाविशेषतया विहरतेति गमितम्। ततश्च वृन्दारण्य इति तस्याप्रकटप्रकाशविशेष इति लम्भितम्। सदेत्यनेन विरहसमयेऽपि विकारावकाशतायाः स्थापनीयत्वात्। तथा हरिणा व्रजदेवीनामित्यनेन तस्य तासामप्यप्रकटप्रकाशानन्तरं मतम्। प्रकाशभेदेनाभिमानभेदश्च विरहसंयोगानुभावयोर्युगपदासम्भवात्॥१८५–१८६॥

तत्र प्रमाणमाह—तथा चेति। क्रीडतीति वर्त्तमानप्रयोगः सातत्यं बोधयति। ततश्च पूर्ववत्तत्प्रकाशादिभेदः प्रमापितः। तं विना घटनाया अभावात्। श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्या तत्र तत्र तदचिन्त्यशक्तिरेव कारणत्वेनोपतिष्ठते। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति न्यायात्। न च वक्तव्यं वचनमिदं यमुनामाहात्म्यपरम् "अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलम्" इति पूर्वार्द्धात्। ततः कथं मथुरामाहात्म्यान्तर्गतत्वात्तत्रैव पर्यवस्यतीति। सदा यमुनाजले क्रीडाया अयुक्तत्वाल्लक्षणाप्राप्तेः। ननु लक्षणा चेन्मता तर्हि प्रतिकल्पमवतीर्य क्रीडाकारित्वान्मम गृहगवाक्षे सूर्यकिरणं प्रविशतीतिवद्यथावसरमेव सा तत्क्रीडावगन्तव्या। मम गृहे सदा भुङ्क्ते इत्यत्र सदाशब्दप्रयोगेऽपि तादृशत्वमवगम्यते। उच्यते। तदैव सङ्कोचवृत्त्या तादृशत्वमवगन्तव्यं यदि परमनित्येति बोधायाप्यधिष्ठातुं समर्थे भगवत्यसंभवं स्यात्। यदि च "राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्। मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः॥" इत्यादिवचनं न स्यात्। अत्र हि सन्निदधातेरकर्मकत्वमेव। संनिधिः संनिकर्षणमित्यत्र संकीर्णवर्गे यथाह क्षीरस्वामी "संनिपूर्वो धा नैकट्यार्थ" इति। ततश्चाकर्मकत्वात् संनिहित इति कर्तर्येव प्रयोगः शीलितादिवद्वर्तमान एव च। वर्त्तमानत्वं चात्राविच्छेदविवक्षयैव न तु पुनः पुनरवतारेण सांनिध्यापेक्षया। तदान्यत्रान्यत्र साधारणेऽपि देशे तद्गमनश्रवणाद्विवक्षितस्य मथुराया अतिशयस्यानुपपत्तेः। लट्प्रत्ययवत् क्तप्रत्ययस्य "चातुर्वर्ण्येन शीलितं" "राज्ञा रक्षितमिदं राष्ट्रमि"त्यत्र विच्छेदप्रत्ययानुपपत्तेः। प्रतीते चाविच्छेदे नित्यशब्देन कैमुत्यापत्तेश्च। दृश्यते श्रुतिषु नित्यशब्दं विनापि क्तप्रत्ययस्य तादृशवाचकत्वम् "अयमात्मापहतपाप्मा" इति, किन्तु संनिधानेन नैकट्यमेव वाच्यत इति विवक्षितायाः स्थितेरलाभेन तदिदं विचार्यते। यदि नैकट्यमुच्यते तर्हि निकटस्य च देशविशेषस्य माहात्म्यं स्यादिति तदेतद्वचनं मथुरामाहात्म्ये प्रयोजकत्वं न स्यात्। तस्य निकटो

देशस्तादृशतया प्रसिद्ध इति निहतार्थं च स्यात्। यदि च तदेव मन्यते तर्हि यस्या इति षष्ठ्येव प्रयुज्येत न तु यत्रेति सप्तमी। सप्तम्याः प्रयोगे तु संबन्धिपदाक्षेपान्मथुरावासिनां संनिहित इति लभ्यते। यद्वा विकाशद्वयस्य प्रतिपन्नत्वात् प्रकटप्रकाशात्मिकायां मथुरायां वर्त्तमानः संनिहितस्तत्रस्थाप्रकटप्रकाशे वर्त्तमान इत्यर्थः। ननु पुरीविषयाणि तानीमानि वाक्यानि कथं वृन्दावनं विषयं कुर्वन्तु। उच्यते। गोवृन्दगोपिकानां तत्रैव योग्यत्वान्मथुरामण्डलप्रदेशविशेषपरत्वाच्च तद्विषयता युक्ता। अतएव मथुरामाहात्म्य इत्यपि युक्तमुक्तम्। तथा च श्रीगोपालतापनीश्रुतिर्मथुरायामिव तत्तद्वनेष्वप्यतिदिशति। "भूगोलचक्रे सप्तपुर्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि" इति। "यथा सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां चक्रेण रक्षिता हि मथुरा तस्माद्गोपालपुरी हि भवति बृहद्वृन्दावनं मधोर्मधुवनमि"त्यादिका "एतैरेवावृता पुरी भवति। तत्र तेष्वेव गहनेष्वेवमि"त्यादिका च। तत्र तदधिष्ठानताया योग्यतार्थं प्रकटप्रकाशाद्विलक्षणं प्रकाशान्तरमपि वाराहे वर्णितम्। "तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ति पण्डिता जनाः। कालियह्रदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः॥ शतशाखं विशालाक्षि पुण्यं सुरभिगन्धि च। स च द्वादश मासानि मनोज्ञः शुभशीतलः। पुष्पायति विशालाक्षि प्रभासन्तो दिशो दश॥" इति। अत्र परत्र चार्षप्रयोगा यथायथमुन्नेयाः। अथ तत्रैव वृन्दावनस्य ब्रह्मकुण्डमाहात्म्ये "तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व वसुंधरे। लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्मपरायणाः॥ तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः। वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी॥ स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः। न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिम्॥" इति। शुचित्वमत्रानन्यवृत्तित्वमतस्तादृशं रूपमस्येति पृथिव्यापि न ज्ञातमिति आयातम्। तत्र सपरिकरस्य श्रीकृष्णस्य नित्या स्थितिश्च बृहद्गौतमीयतन्त्रे नारदप्रश्ने श्रीकृष्णस्योत्तरे। तत्र प्रश्नः—"किमिदं द्वादशाभिख्यं वृन्दारण्यं विशांपते। श्रोतुमिच्छामि भगवन्यदि योग्योऽस्मि मे वद॥" अथोत्तरम्। "इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्। तत्र ये पशवः पक्षिवृक्षाः कीटा नरामराः॥ ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृता यान्ति ममालयम्। अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये॥ योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः। पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥ कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी। अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥ सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्। आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे॥ तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥" इति। श्रीगोपालतापिन्यां च ब्रह्मवाक्यम्—"गोविन्दं सच्चिदानन्दं वृन्दावनसुरभूरुहलतासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि॥" इति।

एवं तत्तन्मन्त्रेषु तत्तद्वृन्दसहितं पञ्चरात्रयामलसंहितादिषु ध्येयत्वेन वर्णयन्ति। तस्माद्युक्तमुक्तं "वृन्दारण्ये विहरता मया रासादिविभ्रमै"रिति। तत्र तत्तत्स्थानस्य प्रकाशभेदाः प्रकटलीलायामपि दृश्यन्ते। यथा वृन्दावने ब्रह्माणं प्रति तदानीं

चतुर्भुजादिवैभवानामवकाशत्वं नित्यदर्शितानां गो–पक्षि–मृगादीनामपीति। यथा च द्वारकायां द्वादशयोजनीपरिमितत्वेऽपि क्रोशद्वयपरिमितगृहलक्षाद्यवकाशता। श्रीनारददृष्ट–योगमायावैभवे प्रातस्त्यमाध्याह्निकसायंतनलीलाश्रयत्वं युगपदेव जातम्। श्रीकृष्णास्यापि युगपन्नानाप्रकाशाः। "चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्" इत्यनुसारेण श्रीनारददृष्ट इति प्रसिद्धमेव। परिकराणां च प्रकाशभेदः षोडशसहस्रपरिमितानां कन्यानां विवाहे व्याख्यातः। उक्तं हि टीकाकृद्भिः। एतेन देवक्यादिबन्धुजनसमागमोऽपि प्रतिगृहं यौगपद्येन सूचित इति। तत्राभिमानभेदश्च दृष्टः। यथा योगमायावैभवे खल्वेकत्र। "दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च। पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः" इति। तथान्यत्र "मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः" इति। तत्र भावभेदादभिमानभेदोऽवगम्यते अयमेतदवस्थोऽहमत्रास्मीति। एवं षोडशसाहस्रीपरिमितकन्याविवाहे कुत्रचित् श्रीकृष्ण–समक्षं माङ्गल्यं कर्म कुर्वन्त्याः श्रीदेवक्यास्तद्दर्शनसुखं स्यात्, तत्परोक्षं तु तद्दर्शनोत्कण्ठेति। तथा योगमायावैभव एव क्वचिदुद्धवेन संयोगः क्वचिद्वियोग इति विचित्रता। तदेवं तेषां प्रकाशभेदादेव भेदो न वस्तुभेद इत्येकांशेऽपि संयोगान्नास्त्येव वियोग इत्यभिप्रेत्योक्तम्—"वृन्दारण्ये विहरता" इत्यादिना, तथैव "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" इत्यादि प्रकरणे श्रीवैष्णवतोषिण्यां व्याख्यातमस्ति। उपासना च यस्मिन् अंशे सुखं स्यात्तत्रैव कर्तव्येति सर्वमनवद्यम्। तथापि हन्त हन्त यत्र प्रकाशे पूर्वरागादिविप्रलम्भा वर्णितास्तत्रैव तत्तदनन्तराः संभोगा वर्णनीयाः। प्रकाशान्तरेण नित्यसंभोगे तु प्रकटप्रकाशगतानां तासां वर्णितविरहाणां का गतिः, यां विना तद्वर्णनं विरसमेव स्यात्। यदि चाप्रकटलीलागतं यत् सुखं तत्तत्र संक्रामेदित्युच्यते तर्हि विरह एव न स्यादिति तद्वर्णनं कथंकृतम्, कथं वा स्वयं श्रीकृष्णेन—"धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन। प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥" इत्युक्तं तस्मान्महाविप्रलम्भादनन्तरं संभोगोऽवश्यं वर्णनीयः। स च निर्विघ्न एव मन्तव्यः। हस्तिस्नानतुल्यत्वस्यानभीष्टत्वात्। न च यस्मिन्नंशे सुखं स्यात् तत्रैव सर्तव्यं सेयं प्रेमरीतिर्न भवति किन्तु स्वसुखतत्परतैवेति तत्प्रियजनानामुपेक्षणीयत्वात्। अस्तु तावत्तत्प्रियजनानां वार्ता, लौकिकरसविदामपि न विना विप्रलम्भेण इत्यादिना सर्वायत्तां संभोगपर्यवसानतयैव संमतिर्दृश्यते। तदनुसारेणापि निर्विघ्नसंभोग एव विप्रलम्भगणानां फलतया पर्यवसायनीयः। तमेतं प्रकटप्रकाशमेवालम्बनीकृत्य ग्रन्थकृतामेष ग्रन्थो नाटकादयोऽन्ये च ग्रन्था उपासना च प्रवृत्ता दृश्यन्ते। श्रीशुकादीनामप्यत्रैवावेशः स्पष्टः। श्रीब्रह्मणश्च "प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले। प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥" इत्यत्र तथैवाभिप्रायः। प्रपञ्चानुकरणं ह्यत्र जन्मादिलीलारूपमेव। ततश्च सत्यामपि तस्यां नित्यलीलायां जन्मादिलीलैव प्रपन्नजनवृन्दानामानन्दसंदोहहेतुरिति। यदि च ग्रन्थकृतामत्राग्रहो न स्यात् किन्तु

प्रकटलीलायामेव तर्हि प्रकटलीलाया विप्रलम्भदुःखविशेषमय्या वर्णनायां को लाभः स्यात्। तदेतदाशङ्क्य प्रकटलीलायाः परिणामतः क्लेशमयत्वं प्राप्तमिति स्वयमपि परितप्य तत्तन्नित्यलीलासुखनिरूपितलीलाक्रमरसपरिपाटीमदृष्ट्वा स्वयं सर्वरसपरिपाटी-पूरकान् फलरूपान् समृद्धिमत्पर्यन्तान् संभोगान् वक्तुमाह—अथ संभोग इति॥१८७॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु पूर्वराग मान प्रेमवैचित्त्य किंचिद्दूरप्रवासा इत्येते चत्वारो विप्रलम्भाः। साधकभक्तैः सिद्धभक्तैर्लीलापरिकरैः श्रीकृष्णप्रेयसीभिः श्रीकृष्णेन च सुखेनैवास्वाद्यन्ते आश्रयालम्बनविषयालम्बनयोर्नायकयोस्तत्र तत्र व्रज एव विराजमानत्वादयं सुदूरप्रवासाख्यो माथुरविरहस्तु दुःसह एव, श्रीकृष्णस्य व्रजत्यागादित्यत आह—प्रकटस्येति। प्रकटाप्रकटलीले द्वे हि प्रापञ्चिकलोकदृष्ट्यदृष्टिभ्यामुक्ते स्यातामिति लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके इत्यत्र व्याख्यातमेव। भागवतामृतदृष्ट्या सांप्रतं तद्विशेषो विव्रियते। तथा हि व्रजभूमेरेकस्या अपि भगवत इव प्रकाशानन्त्यादेकस्मिन् प्रकाशे वर्त्तमाना जन्मादिलीलाः प्रापञ्चिकलोकैर्दृश्यन्ते अन्येषु प्रकाशेषु न दृश्यन्ते। यस्मिंश्च दृश्यन्ते तत्प्रकाशस्थस्यापि श्रीकृष्णस्य जन्म बाल्यपौगण्डकैशोरमथुराप्रस्थानादिलीला अनन्तकोटिब्रह्माण्डेषु केषुचित् कदाचित् क्रमेणाविर्भवन्त्यो दृश्यन्ते ता एव केषुचित् कदाचिन्न दृश्यन्ते च यथा ज्योतिश्चक्रस्थस्य सूर्यस्योदयपूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णा भारतादिवर्षेषु केषुचिद्दृश्यन्ते केषुचिन्न दृश्यन्ते च, किन्तु सूर्यस्य ज्योतिश्चक्रे उदयाद्या न सत्या न नित्याः, श्रीकृष्णस्य व्रजभूमौ जन्मादिलीलाः पूर्वदर्शितेभ्योऽग्रे च दर्शयिष्यमाणेभ्यः श्रुतिपुराणेभ्यः सत्या नित्या एवेति विशेषः। यथा च सूर्यस्य वर्षदेशविशेषवशात् सदैवोदयः सदैव पूर्वाह्णः सदैव मध्याह्नः इत्यादि तथैव कृष्णस्यापि ब्रह्माण्डभेदवशात् सदैव जन्म सदैव बाल्यं सदैव बकाद्यसुरमारणं सदैव कैशोरं सदैव मथुराप्रस्थानमित्येवं सर्वाः प्रकटलीला नित्या एव। यथा सूर्यस्य षष्टिघटिकापर्यन्तमेवोदयाद्यवस्थानां सर्वेषु वर्षेषु क्रमेणोपलम्भस्तथैव श्रीकृष्णस्य ब्राह्मकल्पपर्यन्तं जन्मादिलीलानां ब्रह्माण्डेषु महाप्रलये च प्राकृतब्रह्माण्डाभावेऽपि योगमायाकल्पितब्रह्माण्डेषु प्राकृतत्वेन प्रत्यायितेष्विति प्रकटा प्रपञ्चगोचरा लीलापि कालदेशवशादापेक्षिकप्राकट्याप्राकट्यवती 'कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेणे'त्युद्धववाक्यद्योतिता ज्ञेया। एवं मथुराद्वारकयोरपि प्रकटलीलेति। व्रजभूमेर्येषु प्रकाशेषु जन्मादिलीलाः प्रापञ्चिकलोकैः सर्वथैव न दृश्यन्ते ते च प्रकाशाः संख्यातीताः परस्परासंपृक्ताः 'शैलगोष्ठवनादीनां सन्ति रूपाण्यनेकशः' इति भगवतामृतोक्त्या ज्ञेयाः। तेषु व्रजराजादिलीलापरिकरप्रकाशानामपि पृथक् पृथगभिमानविशेषवतां परस्परासंपृक्तानामानन्त्यात् श्रीकृष्णस्य पृथक् पृथगेव जन्म बाल्य पौगण्ड कैशोरलीलाः क्वाप्यग्रपश्चाद्भावेन क्वापि कालसाम्येन च क्रमेणोदयमाना अपि निश्चला एव तिष्ठन्ति। किन्तु मथुराप्रस्थानलीला नास्ति मथुराया अप्रकटप्रकाशेषु सपरिकरस्य श्रीकृष्णस्य तदुचितलीलाविशिष्टस्य सदैव विद्यमानत्वात्। यदुक्तं 'तत्र प्रकटलीलायामेव

स्यातां गमागमौ' इति। गमो व्रजभूमेः प्रकाशान्मथुरापुरीं प्रति गमनं आगमो द्वारकातो दन्तवक्रवधानन्तरमागमनं प्रकटलीलायामेव स्यातां नत्वप्रकटलीलायां गोष्ठाद्वनगमनं महावनाद् वृन्दावनागमश्चास्त्येव तयोर्व्रजभूमिभवत्वात्। नित्यत्वं तु तयोः प्रकटलीलायाः सर्वस्या एवोक्तयुक्तेर्दर्शितमेव।

नन्वप्रकटप्रकाशेष्वपि क्वचिदंशे श्रीकृष्णलीलामात्रमपि नास्तीत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमेव जन्मलीलायाः प्रागभवापेक्षत्वात्। तथा यदि व्रजान्मथुराप्रस्थानं नास्ति तदा मथुरालीला कुतः प्रवर्त्तेत। सा हि रजकवधाद्या कालयवनाद्यागमान्ता। रजकवधश्च व्रजात् प्रस्थितेनैव श्रीकृष्णेन कृत इति। अत्रोच्यते। अप्रकटप्रकाशस्थैः सर्वैरेव लीलापरिकरैर्व्रजेश्वर्या गर्भाज्जातोऽयं श्रीकृष्ण इत्येव सदानुसंधीयते न तु तत्प्राक्कालस्तत्र वा किं किमासीदित्यनुसंधातुं शक्यते। अचिन्त्ययोगमायायाः महाप्रभाव एवात्र हेतुर्यथा बहिरङ्गमायिकलीलायां प्रतिकल्पमेवोत्पद्योत्पद्य नानायोनिषु भ्रमतां जीवानां प्राथमिकादविद्यासंबन्धात् प्राक्कालः कस्तत्र वा किमाकारा एते जीवा आसन्, कस्माद्धेतोः प्राथमिकः कर्मसंबन्ध इति शास्त्रज्ञैरपि नानुसंधातुं शक्यते, तत्र मायाया एवाचिन्त्यप्रभावो हेतुः। किञ्च तत्रानादिरेवाविद्यासंबन्धो जीवानां यथोच्यते शास्त्रज्ञैस्तथैवानादिरेव श्रीकृष्णस्य जन्मलीलेति भक्तप्राज्ञैः। यथा चानादिरपि कारणार्णवापरपर्याया विरजानदी चिन्मयजला वैकुण्ठपरिखाभूतापि वेदेभ्यो जातेति श्रूयते। 'वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता' इत्यादि पाद्मादिभ्यस्तथैव श्रीकृष्णजन्मलीलेति। तथा मथुराया अप्रकटप्रकाशस्थैर्लीलापरिकरैः श्रीकृष्णेन व्रजादागतेन रजकवधाद्या लीलाः कृताः क्रियन्ते चेत्यवसीयते किन्तु रजकवधात् प्राक् श्रीकृष्णो नासीदिति चानुसंधातुं न शक्यते। यथा भगीरथेनानीता पृथिव्यां गङ्गेति प्रसिद्धिरथच भगीरथात् पूर्वमपि पृथिव्यां विराजमाना गङ्गा सदैवासीदेव 'गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन्' इत्यादि पृथुचरिताद्युक्तेः। तथा च प्रियव्रतराज्यात् सगरात्मजेभ्यश्च पूर्वं सागरा आसन्नेव प्राचीनबर्हिःपुत्राणां प्रचेतसां तत्र तपश्चरणश्रवणात्, तथा श्रीकृष्णस्य मथुरायामागमनात् पूर्वं वयं के किमवस्था आस्मेत्यपि बोद्धुं न ते प्रभवन्ति स्म। यथा कर्दमप्रादुर्भाविता जलाद्युत्थिता नवयौवना देवहूतेः परिचारिका वयं वयःसन्धेः पूर्वं काः किमाकाराः कुत्रास्मेति ज्ञातुं न शक्नुवन्ति स्मेति। श्रीकृष्णो मथुरायामेव विराजते न तु व्रजे इति मथुराया अप्रकटप्रकाशस्य लीलापरिकारा जानन्ति यथा तथैव व्रजस्था अपि श्रीकृष्णोऽस्मद्व्रज एव खेलति मथुरायां तु कंस एवेति मन्यन्ते। एवं द्वारकास्था अपि। श्रीकृष्णस्तु युगपदेव व्रजमथुराद्वारकासु सपरिकर एव एकेनैव वपुषाप्यनन्तप्रकाशः पृथक् पृथग् भिन्नाभिमानः सदा दीव्यतीति सिद्धान्तः॥१८५॥

एवं च प्रकटलीलायामेव माथुरविरहोऽप्रकटलीलायां त्वक्रूरागमनमथुराप्रस्थान–व्रजबालाविलापाद्या नैव सन्तीत्याह—वृन्दारण्य इति। प्रकटस्यानुसारत इति पूर्वोक्तेरप्रकटप्रकाशेष्वित्यर्थः॥१८६॥

तत्र प्रमाणमाह—तथा चेति। क्रीड़ातीति वर्त्तमानप्रयोगः सातत्यं बोधयति न च वचनमिदं यमुनामाहात्म्यपरं "अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलम्। गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहा॥" इति। यत्पदेन यमुनाया एव परामर्शादिति वाच्यम्। सदैव यमुनाजले क्रीडाया अयुक्तत्वात् गङ्गायां घोष इतिवल्लक्षणया यमुनातटप्राप्तेर्यमुनातटस्यैव वृन्दारण्यत्वात्। ननु मम गृहगवाक्षे सूर्यकिरणः सदा प्रविशतीति मम गृहेऽसौ सदा भुङ्क्ते इति नित्यं संध्यामुपासीतेत्यादौ वर्त्तमानप्रयोगे नित्यादिपदोपादानेऽपि तत्तदुचितसमयस्यैव प्राप्तिरिव प्रतिकल्पगततदवतारक्रीडोचितकाल एव प्राप्तोऽस्तु? मैवं भगवद्धामलीलापरिकरादेर्मायिकप्रपञ्चतद्गतकर्मिजीवादेश्च तुल्यत्वापत्तेः। तेऽपि भूर्लोकादयः तद्गताः सुकृतिनो जीवा अपि प्रतिकल्पमुत्पद्योत्पद्य क्रीडन्त्येवेति, कथय तावत् प्रापञ्चिकाप्रापञ्चिकवस्तुनोः को विशेष इति। किञ्च प्रतिक्षणास्तित्वरूपनित्यत्वस्य भगवल्लीलायां यद्यसंभवः स्यात्तदा तादृशत्वमप्यभ्युपगम्यते। भगवति तु सच्चिदानन्दाकारप्रकाशजन्मकर्मलक्षणलीलापरिकारानन्त्यवति न कोऽप्यसंभव इति भगवत्संदर्भे युक्त्या प्राक् प्रतिपादितमेव। ननु तदपि माथुरविरहे सत्यपि वृन्दारण्ये क्रीडासातत्यमस्त्येव प्रकटलीलायां ब्रह्माण्डभेदवशात् पूर्वोक्तयुक्तेरेवेत्यतो विरहाभावार्थं पुनरपि किमन्येनाप्रकटलीलास्वीकारेणेत्यत आह—गोगोपगोपिकेति। गोगोपगोपिकाभिः सह सङ्गे सति यत्र वृन्दावने क्रीडति न तु विच्छेदेऽपि सतीति प्रकटलीला व्यावृत्त्या। अत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन यत्र इत्यस्य क्रीडातीत्यनेन सङ्ग इत्यनेन चान्वये यत्र वृन्दावने सङ्गे सति क्रीडतीति व्यख्यायां किंचिद्दूरप्रवासाख्यविच्छेदः सङ्गशब्देन न व्यावृत्यते गोष्ठाद् वनगमने वनाद् गोष्ठागमने च वृन्दावनप्रदेशावच्छेदे गोगोपगोपिकाभिः सह सङ्गस्य सत्त्वात् इति। अत्र कंसहेति पदेन कंसवधोत्तरकाले दन्तवक्रवधानन्तरागमने सति पुनर्व्रजलीलायामेतत्प्रमाणमित्याचक्षते केचित्, तन्न संगच्छते कंसं हतवानित्यर्थे कंसहेति पदस्यासिद्धत्वात्। तथाहि "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इत्यनेनैव क्विपःसिद्धे "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति क्विब्विधानं नियमार्थम्। भूतकाले ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेवोपपदेषु क्विप् नान्येष्विति भाषावृत्त्यादौ दृष्टत्वात् कंसं हनिष्यति हन्ति वेति भविष्यति वर्त्तमाने वा क्विपा कंसहेति पदं सिध्यति। तेन कंसहेति पदमप्यत्र मथुराप्रस्थानाभावद्योतकम्। कंसं हनिष्यति वर्त्तमानसामीप्यविवक्षया हन्ति वेति हन्तेर्द्वेषार्थत्वेन द्वेष्टि वेत्यर्थे मथुरायां कंसस्य विद्यमानत्वभाने दानलीलादेरपि सुङ्गतत्वं स्यादत एव प्रसिद्धं भागवतामृतधृतं यामलवचनम्—"कृष्णोऽन्यो यदुसंभूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः। वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥" इति। अतएव वृन्दावनक्रीडाया नित्यत्वप्रतिपादकेषु बहुषु प्रमाणेषु सत्स्वप्यप्रकटलीलायामसाधारणमिदमेव ग्रन्थकृद्भिर्महानुभावचूडामणिभिरुपन्यस्तम्। तानि प्रमाणनि च श्रीवैष्णवतोषणीधृतानि दर्श्यन्ते। तत्र प्रथमं श्रुतिः "गोविन्दं सच्चिानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परितोषयामि" इति। "जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ

सौर्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गोपालं पालयति, योऽसौ गोपेषु तिष्ठति" इति गोपालतापनी। अत्र जन्मजराभ्यामिति जरापदसाहचर्यात् जीववत् प्रापञ्चिकजन्मैव तस्य निषिद्धं न तु यशोदादेवकीभ्यामपि जन्म। यदुक्तं तेनैव स्वयम्—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।" इति श्रीगीतोपनिषत्सु। स्थाणुः सर्वकालस्थायी। ननु महाप्रलये वृन्दावनसुरभूरुहतलस्थलत्वेन कथं स्थास्यतीत्यत्राह। अच्छेद्यः कालवेगेन प्राकृतप्रपञ्च इवानाश्य इत्यर्थः। तथा हि "भूगोलचक्रे सप्त पुर्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरी ही"ति "यथा सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां चक्रेण रक्षिता हि मथुरा तस्मात् गोपालपुरी हि भवति बृहत् बृहद्वनं मधोर्मधुवनमि"त्यादिका सैव श्रुतिः। सौर्ये सौर्याया यमुनाया जले गोपीभिः सह जलक्रीडार्थमित्यर्थः। गोषु तासां चारणार्थमित्यर्थः। गोपान्नन्दादीन् पालयति गोवर्द्धनधारणादिभिरित्यर्थः। गोपेषु श्रीदामादिषु तैः सह सख्योचितक्रीडार्थमित्यर्थः। स्मृतिश्च "ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवीसमाश्रितम्। हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम्॥ वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीडति माधवः। वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः॥" इति स्कान्दम्। "यमुनाजलकल्लोले सदा क्रीडति माधवः।" इति पाद्मम्।

अथ मथुरालीलाया नित्यत्वे प्रमाणम्—"प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम्। शंखचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः॥ यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः। रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः॥" इति गोपालतापनीश्रुतिः। स्मृतिश्च—"मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः" इति एवं द्वारकालीलाया नित्यत्वमपि द्वारकामाहात्म्यादिग्रन्थाज्ज्ञेयम्। सर्वत्र च "जयति जननिवास" इत्यत्र "व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्" इति वर्त्तमानप्रयोग एव न तु जयतीत्यादिलोडन्तमिति वाच्यम्॥ तदीयनित्यसर्वोत्कर्षविदुषः श्रीशुकदेवस्य तद्भक्तचूडामणेः तत्राशीर्वादानौचित्यात्। व्रजपुरवनिताभिः सहक्रीडन्नित्युक्त्वा तासां कामदेवं वर्द्धयन्नित्युक्तवता तासां समर्थसमञ्जसासाधारणरतिमतीनां कामदेवः प्रायः प्रेममयशृङ्गाररस एव, स च संयोगविच्छेदाभ्यां वर्द्धते एवेति मुक्तप्रग्रहवृत्त्या संक्षिप्तसंकीर्णादयो यावन्तः संभोगाः पूर्वराग मान प्रवासादयो यावन्तश्च विप्रलम्भास्तान् सदा प्रवर्त्तयन्निति वृन्दावनमथुराद्वारकेन्द्रप्रस्थादिवर्ति संभोगविप्रलम्भानां मथुराप्रस्थानादिघटितविलापाद्दिव्योन्मादभ्रमरगीतादीनां च लीलानां नित्यत्वमानीतं सुस्मितश्रीमुखेनेति दृष्टश्रुतस्मृतेनेत्यर्थः। "स्थिरचरवृजिनघ्नः" सन्निति स्थिराणां गोवर्द्धनरैवतकादीनामिन्द्रादिभ्यो यद्वृजिनं चराणां लीलानुकूलभक्तिमन्मनुष्यगवाश्व-मृगादीनां तद्दर्शनोत्कण्ठारूपं संसारादिकं च वृजिनं हन्तीति गोवर्द्धनधारणादिलीलानां मिथिलागमनादि घटितश्रुतदेवाद्यनेकलोकोद्धारलीलानां च नित्यत्वम्। दोर्भिः स्वभुजबलैः दोस्तुल्यैः भीमार्जुनादिभिश्चाधर्मं प्रपञ्चगोचरलीलायामधर्महेतुं

केशिकंसजरासन्धाद्यसुरसमूहमस्यन् निघ्नन्नित्यसुरवधलीलानां च नित्यत्वम्। यदुवरा वसुदेवनन्दवृषभान्वादयः उद्धवश्रीदामसुबलादयश्च परिषदो लीलापरिकरा यस्य तथाभूतः सन्निति बाल्यपौगण्डादिलीलानां च नित्यत्वम्। देवक्यां वसुदेवपत्न्यां "द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति चे"त्यादिपुराणवचनान्नन्दपत्नयां च जन्मवादः सिद्धान्तो यस्य स इति। "वादः प्रवदतामह"मित्यत्र वादशब्देन सिद्धान्ताभिधानादिति जन्मलीलाया नित्यत्वमेव। अत्रानुक्तानामनन्तानामन्यासामपि लीलानामेकत्र निर्णीत-शास्त्राार्थो विरोधाभावे सतीति न्यायेन नित्यत्वम्। एवं च सत्स्वपि बहुषु श्रुतिस्मृतिप्रमाणेषु सर्वलीलानित्यत्वसाधकमेवेदं श्रीभागवतीयं पद्यरत्नं दृष्टमिति। अथ प्रपञ्चगोचरलीलानां नित्यत्वे युक्तिरुच्यते। गौतमीयाद्यागमोक्तबालगोपालादि-मन्त्रोपासकानामनुसारिणी तत्प्राप्तिरवश्यापेक्षा। यथा शय्योत्थानमुखप्रक्षालननवनीतादि-भोजनरिङ्गणखेलनहसनस्वापादिलीलाः प्रातरादिक्षणेषु एकेनैकेनैव स्वरूपेण ध्यायतां साधनदशायां सार्वकालिकी स्थितिस्तथैव सिद्धदशायामप्येकेनैकेनैव प्रकाशेन तत्तल्लीलासाक्षात्कारवत्येव सार्वकालिकी नित्यस्थितिरवश्यमेवोचिता। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" इत्यादिवचनात्।

तेषामेव प्रपञ्चगोचरलीलायां वात्सल्यादिभाववतां प्रकाशान्तरेण लीलान्तरस्यापि गौणतया स्वादस्त्वधिको न विरुध्यते। श्रीकृष्णस्य भक्तकामितार्थादधिकस्यापि दातृत्वादिति। तत्र प्रपञ्चगोचरलीलायां कालिकीनामवस्थानामस्थैर्यात्। "लोकवल्लीला-कैवल्यमि"ति न्यायेन प्रापञ्चिकलोकरीत्यैव रिङ्गणादिलीलानामेकस्मिन्नेव प्रकाशे खलु न स्थैर्य्यम्। प्रपञ्चगोचरलीलायां त्वेकत्रैवेकदैव भागवतामृतसंमत्या परस्परासंस्पृष्टानन्त-प्रकाशवत्यामेकैकस्मिन्नेव प्रकाशे रिङ्गणादिलीलाः स्थिरा एव। तत्र कासांचिदहोरात्रव्यापित्वेनैव स्थैर्यं कासांचिदहर्व्यापित्वेनापि। तथाहि प्रातरारभ्य शय्योत्थानादिभिर्बालमुकुन्दं लालयतां श्रीयशोदादिपरिकराणां यावेवाहोरात्रौ गच्छतस्तावेव पुनः पुनरागच्छत इत्येवं महाकल्पकोटिष्वपि व्यतीतासु तयोरवस्थान्तरप्रापणहेतुत्वं न संभवेदिति श्रीकृष्णस्य तदेव बाल्यं वयः स्थिरं तदीयलीलापरिकरा अपि तत्तद्वयस्था एव स्थिराः। एवं वसन्तादिष्वपि होलिकोत्सवदानादिहिन्दोलिकादिलीलायुक्तमन्तर्गतरात्रिंदिवानन्तरलीलं यदेव वर्षं याति तदेव वर्षं पुनः पुनरायातीति। श्रीकृष्णस्य तदेव कैशोरमादिमन्तिमं वा स्थिरमेव तन्मात्रादीनामपि क्वचित् द्वैवार्षिकः, क्वचित्त्रैवार्षिकः, पञ्चवार्षिकः, अष्टवार्षिक एव श्रीकृष्ण इति योगमाययैव प्रत्यायनमिति। अथ प्रपञ्चागोचरलीलास्पदस्य वृन्दावनप्रकाशस्य नित्यत्वे प्रमाणानि दर्श्यन्ते। यथा रुद्रयामले रुद्रगौरीसंवादे—"वीथ्यां वीथ्यां निवासोऽधरमधुसुवचस्तत्र संतानकानामेके राकेन्दुकोट्या उपविशदकरास्तेषु चैके कमन्ते। रामे रात्रेर्विरामे समुदिततपनद्योतिसिन्धूपमेयो रत्नाङ्गानां सुवर्णाचित-मुकुररुचस्तेभ्य एके द्रुमेन्द्राः॥ यत्कुसुमं यदा मृग्यं यत्फलं च वरानने। तत्तदैव प्रसूयन्ते वृन्दावनसुरद्रुमाः॥" अर्थश्च हे अधरमधुसुवचः, अधरमधुतुल्यानि सुवचांसि

यस्यास्तथाभूते गौरि, तत्र वृन्दावने रत्नाङ्गानां संतानकानां मध्ये एके द्रुमेन्द्रा राकेन्दुकोट्या उपविशदकराः। हे रामे! तेषु संतानकेषु एके रात्रेर्विरामे समुदिततपनद्योतिसिन्धूपमेयाः कमन्ते विराजन्ते। तेभ्यस्तानतिक्रम्य एके कमन्ते। कथंभूताः सुवर्णाचितमुकुररुच इति। तत्र च यदा यत्कुसुमं मृग्यं भवति फलं वा तदेव वृन्दावनसुरद्रुमा एव प्रसूयन्ते। एवं नारदपञ्चरात्रे च श्रुतिविद्यासंवादे—"महावृन्दावनं तत्र केलिवृन्दावनानि च। वृक्षाः कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली॥ क्रीडाविहङ्गलक्षं च सुरभीणामनेकशः। नाना चित्रविचित्रश्रीरासमण्डलभूमयः॥ केलिकुञ्जनिकुञ्जानि नानासौख्यस्थलानि च। प्राचीरच्छत्ररत्नानि फणाः शेषस्य भान्त्यहो॥ यच्छिरोरत्नवृन्दानामतुल्यद्युतिवैभवम्। ब्रह्मैव राजते तत्र रूपं को वक्तुमर्हति॥" इति। एवं च प्रपञ्चाप्रपञ्चगोचरयोर्द्वयोरपि लीलयोः सविशेषयोरेव नित्यत्वं स्थापितम्।

ननु च "चित्रं बतैतदेकेन वपुषा" इत्युक्तरीत्या प्रकटाप्रकटयोर्लीलयोः युगपदेकेनैव वपुषा वृन्दावनमथुराद्वारकासु सदैव तत्तत्परिकरैः सह प्रकाशभेदैर्यदि क्रीडति तदा कथमेतावानुद्घूर्णाचित्रजल्पादिमयो विरहः संभवेत्। उच्यते—विचित्रलीलादि-सिद्ध्यर्थं साधकसिद्धभक्तानां विविधभावसिद्ध्यर्थं च भगवतो लीलाशक्त्यैवाकारभेदे प्रकाशभेदे च भगवतो भगवत्परिकराणां च पृथक् पृथगभिमानभेदस्तदनुरूपः क्रियाभेदश्च व्यवस्थाप्यते। तत्राकारभेदे यथा धनुर्भङ्गानन्तरं श्रीरामपरशुरामयोः, प्रकाशभेदे यथा नारददृष्टयोगमायावैभवे। तत्र ह्येकत्र "दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च। पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः॥" इति तत्रान्यत्र च—"मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः" इति। अत्र भावभेदादभिमान-भेदोऽवगम्यते अयमेतदवस्थोऽहमत्रास्मि इति। एवं षोडशसहस्रकन्याविवाहे कुत्रचित् श्रीकृष्णसमक्षं माङ्गल्यं कर्म कुर्वत्या देवक्यास्तद्दर्शनसुखम्। क्वचित्तत्परोक्षमुत्कण्ठा चेति, योगमायावैभवे च क्वचिदुद्धवादीनां तत्संयोगसुखं क्वचित् विरहदुःखं च। तदेवं व्रजदेवीनां माथुरविरहकाल एव प्रकटप्रकाशे च श्रीकृष्णसंयोगसुखेनैवाज्ञातेनापि तादृशमहासंतापेऽपि जीवनस्थितिर्ज्ञेया॥ तथा श्रीकृष्णेन सह संयोगकाल एवाप्रकटप्रकाशेषु क्वचित् प्रकाशगतमाथुरविरहतापेनैवाज्ञातेनापि महौत्कण्ठ्यमत एव महाभावभेदो मादनोऽवगम्यते॥१८७॥

अथ संभोगः

दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया।
यूनोरुल्लासमारोहन् भावः संभोग ईर्यते॥१८८॥

मनीषिभिरयं मुख्यो गौणश्चेति द्विधोदितः॥१८९॥

तात्पर्यानुवाद—सम्भोग—नायक और नायिकाके (परस्पर विषय और आश्रयके) दर्शन, आलिङ्गन, सम्भाषण और स्पर्शादिमें जो परस्पर सुख, तात्पर्यमूलक व्यवहार होता है, उसके द्वारा उल्लास-प्राप्त भावको ही पण्डितगण सम्भोग कहते हैं। यह सम्भोग मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारका होता है॥१८८-१८९॥

लोचनरोचनी—अथ संभोगः॥ आनुकूल्यादिति काममयः संभोगो व्यावृत्तः॥१८८॥

आनन्दचन्द्रिका—यूनोर्नायिकानायकयोः परस्परविषयाश्रययोर्द्रर्शनालिङ्गन-चुम्बनादीनां नितरां या सेवा वात्स्यायनभरतकलाशास्त्रोक्तरीत्या आचरणं तयेति पशुवच्छृङ्गारो व्यावृत्तः। आनुकूल्यात् परस्परसुखतात्पर्यकत्वेन पारस्परिकादित्यर्थः। स्वानुकूल्ये व्याख्येये व्यावृत्त्यभावात्। तेन च काव्यप्रकाशादिधृते निःशेषच्युतचन्दनेत्यादौ प्राकृतः काममयोऽपि संभोगो व्यावृतः॥१८८॥

तत्र मुख्यः—

मुख्यो जाग्रदवस्थायां संभोगः स चतुर्विधः॥१९०॥

तान् पूर्वरागतो मानात्प्रवासद्वयतः क्रमात्।
जातान् संक्षिप्तसंकीर्णसंपन्नर्द्धिमतो विदुः॥१९१॥

तात्पर्यानुवाद—मुख्य सम्भोग—जाग्रत अवस्थामें सम्भोग। यह भी चार प्रकारका होता है। पूर्वरागके पश्चात् संक्षिप्त सम्भोग, मानके पश्चात् संकीर्ण सम्भोग, कुछ दूरके प्रवासके बाद सम्पन्न सम्भोग, दूर प्रवासके पश्चात् समृद्धिमान सम्भोग॥१९०-१९१॥

लोचनरोचनी—चतुर्विध इति। एतदुपलक्षणत्वात् प्रेमवैचित्त्यानन्तरः पञ्चमोऽपि ज्ञेयः॥१९०॥

आनन्दचन्द्रिका—तान् चतुरः भागान् क्रमादिति पूर्वरागानन्तरं संक्षिप्तं मानानन्तरं संकीर्णं किंचिद्दूरप्रवासानन्तरं संपन्नं सुदूरप्रवासानन्तरं समृद्धिमन्तं विदुः। प्रेमवैचित्त्यानन्तरस्य संभोगस्य नामानुक्तेस्तमपि अनुरागमाहात्म्यादेव सूदूरप्रवासान्तिमत्व-मननात्, तस्मादेव द्वयोः पारतन्त्र्यारोपाच्च समृद्धिमन्तं केचिदाहुः। अपरे तु संपन्नमेव॥१९१॥

तत्र संक्षिप्तः—

युवानौ यत्र संक्षिप्तान्साध्वसव्रीडितादिभिः।
उपचारान्निषेवेते स संक्षिप्त इतीरितः ॥१९२॥

तत्र नायकेन कृतो यथा सप्तशत्याम्—

लीलाहितुलिअसेलो रक्खउ वो राहिआत्थणप्फंसे।
हरिणो पढमसमागमसज्झसवेवल्लिओ हत्थो ॥१९३॥

[लीलाभितुलितशैलो रक्षतु वो राधिकास्तनस्पर्शे।
हरेः प्रथमसमागमसाध्वसवेवेल्लितो हस्तः ॥]

तात्पर्यानुवाद—संक्षिप्त सम्भोग—जहाँ नायक और नायिका लज्जा और सम्भ्रमादिके कारण संक्षिप्त चुम्बन, आलिङ्गनादिके उपचारके द्वारा सेवा करते हैं, उसको संक्षिप्त सम्भोग कहते हैं।

नायकके द्वारा सम्भोग—कभी श्रीराधाकृष्णके पूर्वरागके अनन्तर प्रथम मिलनके समय श्रीकृष्णके द्वारा किए गए संक्षिप्त उपचारका वर्णन कर रहे हैं—श्रीकृष्णके जिस हाथने गोवर्द्धन पर्वतको अवलीला क्रमसे ऊपर उठा लिया था, वह हस्त इस समय प्रथम मिलनके समय श्रीमती राधिकाजीके कुचोंका स्पर्शकर कम्पित हो रहा है, वही हाथ तुमलोगोंकी रक्षा करे॥१९२–१९३॥

लोचनरोचनी—साध्वसव्रीडितादिभिरिति पूर्वरागानन्तर्यमस्य द्योतयति। उपचारान् तत्तत्परिपाटीः। अत्र नायकेन कृतो यथेत्यत्र संक्षिप्त एव पूर्वतो योज्यः। लीलेति। "लीलाभितुलितशैलो रक्षतु वो राधिकास्तनस्पर्शे। हरेः प्रथमसमागम साध्वसवेवेल्लितो हस्तः।" इत्यर्थः। अभितुलितत्वमुत्थापितत्वं श्रीकृष्णस्य साध्वसमत्र परकीयात्वप्रत्ययात्॥१९२–१९३॥

आनन्दचन्द्रिका—उपचारान् संभोगाङ्गानि वस्तूनि। आदिशब्दादसहिष्णुत्वं च एतैरेव पूर्वरागानन्तर्यमस्य द्योत्यते॥१९२॥

नान्दीमुखी श्रीराधासखीराह—"लीलाभितुलितशैलो रक्षतु वो राधिकास्तनस्पर्शे। हरेः प्रथमसमागमसाध्वसवेवेल्लितो हस्तः॥" लीलाया अभि निर्भरं यथा स्यात्तथा तुलितः उद्धृतः शैलो गोवर्द्धनो येन सः। वेवेल्लितः कम्पितः। साध्वसमत्र जन्मारभ्य कदाप्यकृतत्वात् स्त्रीसंभोगोऽयं किमाकारो निर्वहेदिति वा भावनया॥१९३॥

नायिकाया यथा—

चुम्बे पटावृतमुखी नवसंगमेऽभूदालिङ्गने कुटिलताङ्गलता तदासीत्।
अव्यक्तरागजनिकेलिकथासु राधा, मोदं तथापि विदधे मधुसूदनस्य॥१९४॥

तात्पर्यानुवाद—नायिकाके द्वारा किया गया संक्षिप्त सम्भोग—पूर्वरागके अनन्तर श्रीराधाकृष्णके प्रथम मिलनके समय श्रीमती राधिकाके द्वारा कृत संक्षिप्त उपचारको वृन्दा पौर्णमासीके निकट कह रही है—नवसङ्गमके अवसरपर चुम्बनके समय श्रीमती राधिकाने अपने अञ्चलसे मुखको छिपा लिया, आलिङ्गनके समय अपने शरीरको वक्र कर लिया तथापि श्रीकृष्णका आनन्द ही विधान किया॥१९४॥

लोचनरोचनी—तदेवं साध्वसमुदाहृत्य व्रीडामुदाहरति—चुम्ब इति। तत्र च तदेति यद्यपि सर्वत्र तादृशत्वं वर्त्तत एव तथापि नवसंगमेऽत्राधिक्यमिति ज्ञापनाय॥१९४॥

आनन्दचन्द्रिका—नवसंगमे यश्चुम्बश्चुम्बनं तत्र॥१९४॥

अथ संकीर्णः—

यत्र संकीर्यमाणाः स्युर्व्यलीकस्मरणादिभिः।
उपचाराः स संकीर्णः किंचित्तप्तेक्षुपेशलः॥१९५॥

तात्पर्यानुवाद—संकीर्ण सम्भोग—नायकके द्वारा कृत वञ्चनाको स्मरणकर अथवा कभी रतिचिह्नोंको देखकर, कभी श्रवणसे भी सुरतचेष्टाविषयक उपचारसमूह मिश्रित होकर, जब तप्त ईक्षुकी युगपत् ऊष्णता और माधुर्यके अनुभवकी भाँति आस्वादन प्रदान करते हैं, तब उसे संकीर्ण सम्भोग कहते हैं॥१९५॥

लोचनरोचनी—व्यलीकमप्रियम्॥१९५॥

आनन्दचन्द्रिका—व्यलीकं नायककृतविपक्षवैशिष्ट्यस्ववञ्चनादि तस्य स्मरण-कीर्तनादिभिः संकीर्णा मिश्रिता उपचाराश्चुम्बनालिङ्गनादयः, तप्तेक्षुरिव पेशलः स्वादुः औष्ण्यमाधुर्ययोरेकदैवानुभवात्॥१९५॥

यथा—

सासूयजल्पितसुधानि समत्सराणि,
मानोपरामरमणीयदृगिङ्गितानि ।

कंसद्विषः स्फुरदमन्दमुखान्यनङ्ग,
विक्रीडितानि सह राधिकया जयन्ति॥१९६॥

तात्पर्यानुवाद—कदाचित् पौर्णमासी स्वयं श्रीराधाको प्रसन्नकर अभिसार कराकर और श्रीकृष्णके साथ संगम कराकर दूरसे लतारन्ध्रसे क्रीड़ाको देखती हुई श्रीराधाकी नित्यस्थिति कह रही है—जिसमें श्रीकृष्णके द्वारा अप्रिय सूचक वाक्य सुधा है, अपने दोषोंको छिपानेके लिए श्रीकृष्ण द्वारा नाना प्रकारके कापट्यपूर्ण वचन-परिपाटीके खण्डन हेतु उनके उत्कर्षकी असहिष्णुता हैं तथा मानशान्तिके कारण मनोहर अपाङ्ग-विक्षेप विराजमान होता है, तथापि वाम्यताके परम सुखदायक होनेसे प्रचुर आनन्द-प्राबल्य भी उसमें विद्यमान होता है—कंसारि कृष्णके साथ श्रीराधाकी वे अनङ्ग-क्रीड़ाएँ जययुक्त हों॥१९६॥

लोचनरोचनी—कंसद्विषा सममिति वृषभानुजया जयन्तीति च वा पाठः॥१९६॥

आनन्दचन्द्रिका—कदाचित्पौर्णमासी स्वयमेव श्रीराधां प्रसाद्याभिसार्य श्रीकृष्णेन सह संगमय्य दूराल्लतारन्ध्रेण केलिं पश्यन्ती तस्या नित्यस्थितिमाशास्ते—सासूयेति। असूया श्रीकृष्णस्य गुणे दोषारोपः। समत्सराणीति मत्सरः प्रतिनायिकाया गुणे द्वेषः॥१९६॥

यथा वा—अथवा—

वक्त्रं किंचिदवाञ्चितं विवृणुते नातिप्रसादोदयं,
दृष्टिर्भुग्नतटा व्यनक्ति शनकैरीर्ष्याविशेषच्छटाम्।
राधायाः सखि सूचयत्यविशदा वागप्यसूयाकलां,
मानान्तं ब्रुवती तथापि मधुरा कृष्णं धिनोत्याकृतिः॥१९७॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यसे भी उपचारोंकी अधिकतर संकीर्णता दिखला रहे हैं। रसास्वादन कर रही गार्गी नान्दीमुखीसे कह रही है—"हे सखि! मानके शान्त हो जानेपर भी श्रीमतीका मुखकमल ईषत् अवनत रहना ऐसी प्रतीति करा रहा है कि मानो वे अधिक प्रसन्न नहीं हैं, कुटिल नेत्रोंमें क्रमशः ईर्ष्याकी कुछ-कुछ विद्यमानता है और अस्पष्ट वाणीने भी कुछ-कुछ ईर्ष्या व्यञ्जनाकर श्रीकृष्णको ही सुख प्रदान किया॥"१९७॥

लोचनरोचनी—वक्त्रं कर्त्तृ॥१९७॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र संभोगस्यादिमध्यभागयोरेव संकीर्णत्वं संभवेत् न त्वन्तिमे भागे, तत्र मध्यमं भागमुदाहृत्यादिमध्यममप्युदाहर्तुमाह—यथा वेति। गार्गी नान्दीमुखीं रसमास्वादयन्त्याह—वक्त्रं कर्त्तृ। एवं च मानान्तं ब्रुवती तस्या आकृतिस्तथापि श्रीकृष्णं धिनोति॥१९७॥

अथ सम्पन्नः—

प्रवासात्संगते कान्ते भोगः संपन्न ईरितः।
द्विधा स्यादागतिः प्रादुर्भावश्चेति स संगमः॥१९८॥

तत्रागतिः—

लौकिकव्यवहारेण स्यादागमनमागतिः॥१९९॥

तात्पर्यानुवाद—सम्पन्न सम्भोग—कुछ दूर प्रवाससे आये हुए नायकके साथ नायिकाके मिलनको सम्पन्न सम्भोग कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—आगति और प्रादुर्भाव। **आगति—**प्रकटलीलानुसार आगमनको रसशास्त्रमें आगति कहते हैं॥१९८–१९९॥

लोचनरोचनी—अथ संपन्न इति संपन्नपदबलेनैव संक्षिप्तसंकीर्णावतिक्राम्येते॥१९८॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रवासात् किंचिद्दूरविषयात् संगते कान्ते इति कान्तस्य संगमः स च द्विविधः॥१९८॥

प्रातः प्रातर्व्रजाद्वनगमनं प्रतिसायं वनाद्व्रजागमनमिति लौकिकव्यवहारः॥१९९॥

यथोद्धवसंदेशे—

मा मन्दाक्षं कुरु गुरुजनाद्देहलीं गेहमध्या–
देहि क्लान्ता दिवसमखिलं हन्त विश्लेषितोऽसि।
एष स्मेरो मिलति मृदुले बल्लवीचित्तहारी,
हारी गुञ्जावलिभिरलिभिर्लीढगन्धो मुकुन्दः॥२००॥

तात्पर्यानुवाद—अपराह्नकालमें वृन्दावनसे व्रजमें प्रवेशकारी श्रीकृष्णको देखकर विशाखा श्रीराधाको कृष्णागमनका संवाद देकर उसे कृष्णका दर्शन करनेके लिए बुला रही है—"हे सखि! जो गोपियोंके चित्तचोर हैं, जिनके गलेमें गुञ्जाहार दोदुल्यमान है, जिनके अङ्गसौरभसे तथा वनमालादिके आगन्तुक सौरभसे भ्रमरसमूह आकृष्ट हो रहा है, वे

मृदुमन्द–हास्य–शोभित मुखारविन्दवाले श्रीमुकुन्द आ रहे हैं, तुम भी दिनभर उनके विरहमें व्यथित रही हो। अतएव गुरुजनोंसे लज्जा न कर गृहसे निकलकर अपनी देहली तक तो आओ॥"२००॥

आनन्दचन्द्रिका—वनात् गोष्ठमायान्तं श्रीकृष्णं ज्ञापयन्ती विशाखा श्रीराधामाह—मन्दाक्षं लज्जाम्। देहलीं निजालयद्वारपीठिकाम्॥२००॥

अथ प्रादुर्भावः—

प्रेष्ठानां प्रेमसंरम्भविह्वलानां पुरो हरिः।
आविर्भवत्यकस्माद्यत्प्रादुर्भावःस उच्यते॥२०१॥

तात्पर्यानुवाद—प्रादुर्भाव—प्रेमवेगसे विवश प्रेयसियोंके सामने आकस्मिक भावसे हरिके आगमनको प्रादुर्भाव कहते हैं॥२०१॥

आनन्दचन्द्रिका—प्रेमसंरम्भे रूढभावविक्रमेणाकस्मात् स्थानान्तरत आगमनं विनैवेत्यर्थः॥२०१॥

यथा श्रीदशमे (३२/२)—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥२०२॥

तात्पर्यानुवाद—रासलीलामें अन्तर्धान होनेके पश्चात् उनके दर्शनकी लालसासे विलाप करती हुईं व्रजदेवियोंके सामने जिस प्रकार श्रीकृष्ण अकस्मात् आविर्भूत हुए थे, उसीका शुकदेव गोस्वामी वर्णन कर रहे हैं—गोपियोंके सुस्वरपूर्ण विलापध्वनिको श्रवणकर पीताम्बर और माला विभूषित श्रीकृष्ण अकस्मात् मृदुमन्द हास्य करते हुए प्रादुर्भूत हुए—मानो अपने रूप, सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, वैदग्ध्य और मोहनत्वादि गुणसमूह द्वारा साक्षात् (कामदेव) प्रद्युम्नके मनका भी मथन कर रहे हों॥२०२॥

आनन्दचन्द्रिका—रासविप्रलम्भानन्तरं श्रीकृष्णप्रादुर्भावं शुक आह—तासामिति। तासामाविः प्रत्यक्षोऽभूत्॥२०२॥

यथा वा हंसदूते (१०७)—

अयि स्वप्नो दूरे विरमतु समक्षं शृणु हठा–
दविश्रब्धा मा भूरिह सखि मनोविभ्रमधिया।

वयस्यस्ते गोवर्द्धनविपिनमासाद्य कुतुका–
दकाण्डे यद्भूयः स्मरकलहपाण्डित्यमतनोत्॥२०३॥

तात्पर्यानुवाद—साक्षात् आविर्भावका उदाहरण देकर इस पद्यमें साक्षात्प्रायः स्फूर्तिसे उत्पन्न श्रीकृष्णके प्रादुर्भावका वर्णन कर रहे हैं—माथुरविरहमें कातर श्रीमती राधिका श्रीकृष्णके रूप, गुण और लीलामाधुरी आदिमें निरन्तर तीव्र अभिनिविष्ट रहनेसे श्रीकृष्णको साक्षात् जैसा अनुभवकर सखी ललितासे कह रही है—"हे सखि ललिते! प्राणेश्वरके स्वप्नविलासकी बात तो दूर रहे साक्षात्की बात ही सुनो, किन्तु अपने आग्रहसे तुम मेरी बातोंमें अविश्वास मत करना कि कहीं यह केवल मेरी मनगढ़न्त या मनोविभ्रमकी बात है, सच नहीं है। तुम्हारे वयस्य श्रीकृष्ण गोवर्द्धन वनभूमिमें आकर कौतुकवशतः अकस्मात् पुनः कन्दर्प कलहोपयोगी वैदग्ध्यका विस्तार कर रहे हैं॥"२०३॥

आनन्दचन्द्रिका—देशान्तरादागत्य तासामग्रे तस्थाविति केचिद् व्याचक्षते चेदत आह—यथा वेति। प्रोषितभर्तृका श्रीराधा ललितां प्रति स्वाप्नं संभोगवृत्तान्तमुक्त्वा प्रादुर्भावोत्थं तत्राह—अयीति। समक्षं जागरणदशायामेवेत्यर्थः। ननु त्वमत्र वृन्दावने श्रीकृष्णो मथुरायामतः कथं युवयोरद्यतनः सङ्गो मनोविभ्रमं विना संभवेदिति वदिष्यन्तीं तां विश्वासयन्त्याह—हठादित्यादि। यद्यप्ययं सुदूरप्रवासान्तभवत्वात् समृद्धिमानेव भवितुमर्हति तदपि द्वयोः पारतन्त्र्याभावात्तल्लक्षणासिद्ध्या पारिशेष्यात् संपन्न एवायमिति दर्शितम्। हठादित्यादीत्यन्तं व्याख्यान्तरं क्वचित्। संभोगस्यास्य सुदूरप्रवासानुभवत्वेऽपि कृष्णपारतन्त्र्यादर्शनान्नायं समृद्धिमान् किन्तु संपन्न एव ग्रन्थकृतामाशयः। अतएव दन्तवक्रवधानन्तरं व्रजमागतस्य श्रीकृष्णस्य श्रीराधादिभिः सह सङ्गोऽपि संपन्न एव न तु समृद्धिमान्। केचित्पुनरेवं व्याचक्षते। अत्र प्रकरणदृष्ट्या संभोगस्यास्य सुदूरप्रवासान्तर्भवत्वं नाशङ्कनीयम्। लोकानां हि स्वप्नमूर्च्छा वैवश्यादावतीतावस्था वर्त्तमानावस्था च भाति। तत्रापि पूर्वा प्रायः सार्वदिकी उत्तरा तु कादाचित्कीत्यतो मोहाद्यभावेऽपि आत्मादिसर्वविस्मरणं सदेति रूढानुभावश्रवणात् श्रीवृन्दावनेश्वर्या माथुरविरहविप्रलम्भजनितमहावैवश्यवशादकस्मात् सर्वविस्मरणक्षण एव प्रादुर्भूते श्रीकृष्णे मत्कान्तोऽयं स्ववयस्येषु गाः समर्प्य केनचिन्मिषेणैवैकाकी मत्प्रेमभराक्रान्तो मां रमयितुमत्र गोवर्द्धनविपिन एवागत इत्यक्रूरागमनात् प्राक्तन्या एव लीलायास्तात्कालिकत्वभानात् संभोगस्यास्य किंचिद्दूरप्रवासान्तभवत्वमेव ज्ञेयम्। एवमेवोपरिष्टात् स्वाप्नसंपन्नेऽपि व्याख्येयम्॥२०३॥

रूढाख्यभावजातोऽयं संभोगो वैप्रलम्भिकः।
निर्भरानन्दपूराणां परमावधिरिष्यते ॥२०४॥

द्विगुणा विरहार्त्तिः स्यात्स्फुरणे वेणुरागजे।
प्रादुर्भावे भवत्यत्र सर्वाभीष्टसुखोत्सवः ॥२०५॥

तात्पर्यानुवाद—संक्षिप्त एवं संकीर्ण सम्भोगसे भी सम्पन्न सम्भोगमें सहेतुक वैशिष्ट्यको दिखला रहे हैं—इस प्रकारका प्रादुर्भाव रूढ़-महाभावसे उत्पन्न होता है, ऐसे प्रादुर्भावरूप विप्रलम्भकृत सम्भोगमें भी परमानन्दकी चरम पराकाष्ठा विराजमान है। परम पराकाष्ठाका हेतु क्या है? उसीको युक्तिके साथ दिखला रहे हैं—अनुरागसे उत्पन्न स्फूर्तिमें विरहपीड़ा द्विगुन बढ़ जाती है। इस रूढ़भावमें उत्पन्न विप्रलम्भकृत प्रादुर्भावमें ही सर्वाभीष्ट सुखोत्सव प्राप्त होता है॥२०४-२०५॥

लोचनरोचनी—अयं हंसदूतोक्तप्रादुर्भावो रूढाख्यभावाज्जातः, विप्रलम्भेन चरति वैप्रलम्भिकः स चायं संभोगो निर्भरेत्यादिलक्षणः॥२०४॥

आनन्दचन्द्रिका—विप्रलम्भे भवो वैप्रलम्भिकः। अध्यात्मादित्वात् ठक्। निर्भरेति परमेत्यवधीति शब्दैः समृद्धिमतोऽस्य संपन्नसंभोगस्य न्यूनत्वं नाशङ्कनीयं प्रत्युताधिक्यमिति ज्ञापितम्॥२०४॥

ननु वैप्रलम्भिकस्फूर्त्तिप्राप्तेन श्रीकृष्णेन सह संभोगस्यास्य कथमेतावानुत्कर्षः? तत्र नेयं स्फूर्तिः किं तु स्फूर्तितोऽस्य वैलक्षण्यं महदेवेत्याह—द्विगुणेति। अनुरागजे स्फुरणे अनुरागोत्थायां स्फूर्तौ कान्तसङ्गसुखानन्तरमित्यर्थः। अत्र रूढभावोत्थे इत्यर्थः। तेनानुरागपर्यन्ते स्फूर्तिर्महाभावे प्रादुर्भाव इति भेदो ज्ञापितः॥२०५॥

अथ समृद्धिमान्—

दुर्लभालोकयोर्यूनोः पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः।
उपभोगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान्॥२०६॥

तात्पर्यानुवाद—समृद्धमान सम्भोग—पराधीनताके कारण विरहविधुर नायक और नायिकामें परस्परका दर्शन सुदुर्लभ होनेपर भी अकस्मात् मिलनमें उन्हें जो अत्यधिक आनन्द होता है, उसे रसशास्त्रमें समृद्धिमान सम्भोग कहा जाता है॥२०६॥

लोचनरोचनी—अथ चतुर्णां विप्रलम्भानां यथाक्रमं तापशमकेषु चतुर्षु संभोगेषु पूर्वरागतापनिर्वापकः संक्षिप्तः, मानतापशमनः संकीर्णः, स्वव्रजान्निर्गतप्रवासनिर्वापकः संपन्न इति क्रम उक्तः। तथा मुहुर्वर्णितस्य दुःसहचिरविप्रलम्भस्य ध्वंसकः समृद्धिमान् वक्तुमपेक्षते। स च साध्वसव्रीडायुक्तात् संक्षिप्ताद् व्यलीकस्मरणयुक्तात् संकीर्णात्तत्तद्व्यवधानहीनात् संपन्नादप्यधिकः। तथा हि संक्षिप्तस्य प्रत्यासत्त्यङ्कुरमात्र-मयत्वाद्गाढप्रत्यासत्तिमयः संकीर्णस्तावद्विशिष्यत एव। संपन्नस्तु ततोऽपि विशेष्यते। तप्तेक्षु दृष्टान्तगम्यात्तस्यास्वादविशेषादत्र स्वादाधिक्यं हि गम्यते। आस्वाद्यगुणमतिक्रम्य क्षुदतिशयस्थानीयो विप्रलम्भः खल्वास्वादहेतुर्भवति। क्षुदभावे तप्तेक्ष्वादीनामरोचकत्वात्। पूर्वरागमानावपि विप्रलम्भरूपाविति क्षुत्स्थानीयत्वादेव तद्धेतुर्भवति चेत् किमुत क्रमाद्वृद्धिं प्राप्तेन रागेण समवेतः प्रवासः? तथा च वर्णितः—"गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने। क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥" इति। तदेवं संपन्नस्य तद्द्वयादुत्तमत्वे सिद्धे ततोऽपि दूरगचिरप्रवासरूपविप्रलम्भस्य क्षुत्स्थानीयताधिक्यात् समृद्धिमत्या स्वादविशेषः स्पष्ट एवेति पूर्वरागादितापोपशमकसंक्षिप्तादिमत्तया तदधिकतया चावश्यं वर्णनीय इति च समृद्धिमन्नामानं संभोगमाह—अथ समृद्धिमानिति। ऋद्धिशब्दस्तावत् संपन्नतावाचकः। तत्र समित्युपसर्गे आधिक्यम्। मतुप्प्रत्ययस्य प्रशंसातिशयनित्ययोगप्रत्यायनं तु ततोऽप्यधिकं दर्शयति। तदेवं योगमायाबलेन तस्य सर्वाधिक्ये लब्धे लक्षणेन तदेवं दर्शयति—दुर्लभः कृच्छ्रसाध्यः आलोकः परस्परदर्शनमपि ययोस्तयोर्दुर्लभत्वालोकत्वस्य हेतुरूपात् पारतन्त्र्यात् परस्परदर्शनादिविरोधिवशीभावादपादानाद्वियुक्तयोः सतोः य उपभोगातिरेकः परस्पर-दर्शनादिरूपः संक्षिप्तसंकीर्णसंपन्नानतिक्रम्य संभोगातिशयः क्षुदतिशयस्थानीयदूरगतिमयचिर-विप्रलम्भलम्भितास्वादविशेषतया सोऽयं समृद्धिमान् कीर्त्त्यत इत्यर्थः। पारतन्त्र्याद्धेतोर्वियोगं प्राप्तयोरित्यर्थस्तु तत्र न घटते संक्षिप्तादिभ्यो वैशिष्ट्यानुपपत्तेः। दुर्लभालोकयोरित्यनेनैव तदाप्तेश्च पारतन्त्र्याद्वियुक्तत्वमिदमपारतन्त्र्यं दर्शयता दर्शितम्। "गृहे याः सेवन्ते प्रियमपरतन्त्राः प्रतिदिनम्" इत्यनेन स्वीयोदाहरणेन। किंत्वादित एवापरतन्त्राभ्यस्ताभ्यः पारतन्त्र्यात् वियुक्तानां विशेषो "न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते" इति न्यायेन उदाहरिष्यते च तदित्थमेवेति॥२०६॥

आनन्दचन्द्रिका—वियुक्तयोस्तान् पूर्वरागत इति उक्तक्रमेण सुदूरप्रवासवशात् विरहिणोर्यूनोर्नायिकानायकयोर्द्वयोरेव पातन्त्र्याद्धेतोरेव दुर्लभालोकयोर्य उपभोगस्यातिरेक आधिक्यं स समृद्धिमान् संभोगः कीर्त्त्यते। संपन्नादिसंभोगे दुर्लभालोकत्वस्य द्वयोः पारतन्त्र्यं न कारणं किं त्वेकस्या नायिकाया एव तस्या हि श्वश्रूपतिंमन्यपित्रादीनामधीनत्वं तैर्वार्यमाणत्वं च, न तु नायकस्य श्रीकृष्णस्य तस्य हि स्वपित्रादीनामधीनत्वेऽपि न तैः स्त्रीसङ्गप्रसङ्गे वार्यमाणत्वं नायिकायाः श्वश्रूपतिंमन्यादिभिर्वार्यमाणत्वेऽपि न

तेषामधीनत्वम्। अत्र तु दग्धं हन्तेति तवात्र परिमृग्यतेत्युदाहरणद्वये द्वयोरेव श्रीराधाकृष्णयोर्ललितमाधवोक्तकथानुसारेण रुक्मिण्या अधीनत्वं वार्यमाणत्वं च। एवं च वार्यमाणत्वाधीनत्वहेतुके दौर्लभ्ये सत्युपभोगातिरेके "बहु वार्यते यतः खल्वि"ति "यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम्" इत्यादीन्येव प्रमाणानि प्रागेवोक्तानि। वार्यमाणत्वदौर्लभ्याधिक्ये उपभोगाधिक्यं युक्तिसिद्धमेव, तदाधिक्यं तत्र ललितमाधव-कथायामेव द्रष्टव्यम्। पारतन्त्र्यादित्यनेन द्वयोर्मानहेतुकं दुर्लभालोकत्वं व्यावृत्तम्। पारतन्त्र्यादपादानाद्वियुक्तयोः पारतन्त्र्यरहितयोरित्यर्थः—इति व्याख्या तु न संगच्छते। दग्धं हन्त दधानयेति तवात्र परिमृग्यतेत्युदाहरणद्वये तयोः पारतन्त्र्यराहित्यादर्शनात् प्रत्युत पारतन्त्र्यपरमावधित्वमेव तत्कथायां दृष्टं यत्र दत्तशपथा नववृन्दापि रहस्यं च वक्तुं न प्रभवतीति। पारतन्त्र्याद्धेतोः वियुक्तयोरित्यर्थोऽपि नात्र घटते। वियुक्तयोरिति वियोगोऽयं सुदूरप्रवासभवोऽवश्यं व्याख्येय एव। स च सुदूरप्रवासो मथुरागमनरूप एक एव तत्र पारतन्त्र्यादिति कारणोपादानमव्यावृत्तिकमकिंचित्करमेवेति। किंचायं समृद्धिमान् संभोगो लक्षणोदाहरणदृष्ट्या ललितमाधवोक्तकथाक्रमेण प्रकटलीलायामेव तत्रापि सकृदेव संभवति। नित्यत्वं त्वस्य प्राक् प्रदर्शितमेव। एवं च सुदूरप्रवासान्ते दाम्पत्ये सत्यपारतन्त्र्ये एव समृद्धिमान् संक्षिप्तसंकीर्णसंपन्ना एवौपपत्ये इति व्याख्याप्रसिद्धिर्नैव ग्रन्थाकृदाशय स्पर्शिनीति बुध्यते। पारतन्त्र्याभाव एव दाम्पत्य एव समृद्धिमानिति यदि तेषामाशयस्तर्हि "सख्यस्ता मिलिता निसर्गमधुरप्रेमाभिरामीकृता यामीयं समगंस्त संस्तववती श्वश्रूश्च गोष्ठेश्वरी। वृन्दारण्यनिकुञ्जधाम्नि भवता संगोऽप्ययं रङ्गवान् संवृत्तः किमतःपरं प्रियतरं कर्त्तव्यमत्रास्ति मे॥" इति स्पष्टमेव पारतन्त्र्याभावदाम्पत्यनिरूपकं पद्यमनुदाहृत्य दग्धं हन्तेति तवात्र परिमृग्यतेति औपपत्यपारतन्त्र्यमयं पद्यद्वयं कथमुदाहरणत्वेनोपन्यस्तम्? तदाहि विवाहप्रसङ्ग एव नास्ति सूर्यदत्ता सत्राजितकन्यैवाहमित्यभिमानवत्या अपि श्रीराधायाः श्रीकृष्णे पूर्ववदौपपत्यभाव एव। पारतन्त्र्यस्य तु तदानीं परमावधिः स्पष्ट एवेति कियानपह्नवो विधेयः। ननु "सख्यस्ता मिलिता" इत्यादौ किमतःपरं कर्त्तव्यमत्रास्ति मे इति वृन्दावनेश्वर्या वाक्येन पारतन्त्र्याभावमये दाम्पत्य एवानन्दाधिक्यमवसीयते। मैवम्। तत्रैव तदनन्तरमपि तया पुनश्चोक्तम्। "या ते लीलापदपरिमलोद्गारिवन्यापरीता धन्या क्षौणी विलसति वृता माधुरी माधुरीभिः। तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः संवीतत्वं कलय वदनोल्लासि वेणुर्विहारम्॥" इति। अस्यार्थः—लीलापदानि रासादिलीलाचिह्नान्येव परिमलास्तदुद्गारिणी या वन्या वनसमूहस्तया परीता व्याप्ता माधुरी "माधुरी मथुरा" चेति द्विरूपकोशात् "अदूरभवश्च" इत्यणा मधुराया अदूरभवा या क्षौणी मथुरातः सार्द्धगव्यूत्तरा श्रीवृन्दावननाम्नीति द्वारकास्थनववृन्दावनं व्यावृत्तम्। कीदृशी? माधुरीभिस्तत्रत्यगिरिनदीवृक्षपशुपक्ष्यादिमाधुर्यैर्वृता। तत्रैवास्माभिरपि। कीदृशीभिः? चटुलाश्चपला याः पशुप्यो गोप्यस्तद्भावेन मुग्धान्यन्तराणि अन्तःकरणानि यासां

ताभिः। अत्र चटुलेति स्त्रीणां चाञ्चल्यमुपपतिरतत्वमेव व्यनक्ति। चञ्चलेयं स्त्रीत्युक्ते तथैव लोकप्रसिद्धेः। तथा पशून् पान्तीति पशुपा गोपास्तेषां स्त्रिय इति पुंयोग एव ङीप् न तु जातौ। हि गोपादिशब्द एव रूढो न तु पशुपपशुचारकादिशब्दो लोकेष्वप्रसिद्धेरेव। प्रसिद्धो वा चटुलपदमेवात्र तासां परकीयात्वं व्यनक्ति। कन्यानां वा व्यूढ़ानां वा चाञ्चल्यं हि परपुरुषासक्तिमेव व्यनक्ति। मुग्धेति मौग्ध्यमत्र विवेकशून्यत्वं तच्चैहिक पारत्रिकधर्मोल्लंघनरूपमेव। त्वं च कीदृशः? वदनोल्लासिवेणु र्नारीजनानुकर्षकवेणुः। विहारं रासवनविहारानौखेलादानलीलादिकम्। तेन संप्रति त्वं राजेन्द्रस्तवाहं पत्नी पट्टमहिषी पतिव्रतैवेति दाम्पत्यमिदमभिलषणीयवस्तुनः प्रतिकूलमेवेति भावः। ततः परं तु प्रिये तथास्त्विति श्रीकृष्णस्योक्त्या व्रजभूमावौपपत्यमेव न दाम्पत्यामिति ग्रन्थकृदाशयोऽवगम्यते।

ननु कथं ग्रन्थकृद्भिरेव व्रजसुन्दरीणां द्वारकास्थनववृन्दावने ललितमाधवे श्रीकृष्णेन विवाहो वर्णितः? यदि च तत्र वर्णितस्तदा क्वाचित्के कल्पे दन्तवक्रवधानन्तरं व्रजभूमावागतेन श्रीकृष्णेन भागवतामृतधृतपाद्मोत्तरखण्डीय–गद्यपद्यकथायामनुक्तोऽपि तासां विवाहो युक्त्या अभ्युपगन्तव्य एव स्यात्? सत्यम्। तासां द्वारकायां विवाहो हि न केवलं निष्प्रमाणक एव। यदुक्तं पाद्मद्वात्रिंशदध्याये कार्त्तिकमाहात्म्ये "कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यकाः॥" इति। स्कान्दे प्रभासखण्डे च गोप्यादित्यमाहात्म्ये पट्टमहिषीरुद्दिश्य "षोडशैव सहस्राणि गोप्यस्तत्र समागताः" इति। अतः पूर्णतमस्य श्रीवृन्दावनेन्द्रस्यैव द्वारकानाथो यथा पूर्णप्रकाशस्तथैव पूर्णतमानां तदीयह्लादिनीशक्तीनां व्रजसुन्दरीणां पूर्णरूपा रुक्मिणी–सत्यभामाद्याः भीष्मकसत्राजिदादीनां सुतासतासां विवाहो द्वारकायां समुचित एव न तु पूर्णतमधाम्नि व्रजभूमौ वर्णयतिुं शक्यः। समर्थाया रतेः समञ्जसत्वापत्तेः। चटुलपशुपीभावमुग्धेत्यादि प्रार्थनाप्रातिकूल्याच्च। यथा द्वारकानाथो हि व्रजराजनन्दन एवाहं संप्रति वसुदेवसूनुर्द्वारकायामस्मीत्यभिमन्यते तत्रैव पट्टमहिष्योऽपि चन्द्रभान्वादिसुताश्चन्द्रावल्याद्या एव वयं संप्रति भीष्मकादिसुताः श्रीकृष्णेन व्यूढा एवाभूमेत्यभिमन्यते। श्रीकृष्णस्य यथा वृन्दावनीयलीलायामुत्कर्षबुद्धिस्तथैवासामपि चटुलपशुपीभावे रसाधिक्यादिति दिक्॥२०६॥

यथा ललितमाधवे (७/१८)—

दग्धं हन्त दधानया वपुरिदं यस्यावलोकाशया,
सोढा मर्मविपाटने पटुरियं पीडातिवृष्टिर्मया।
कालिन्दीयतटीकुटीरकुहरक्रीडाभिसारव्रती,
सोऽयं जीवितबन्धुरिन्दुवदने भूयः समासादितः॥२०७॥

तात्पर्यानुवाद—द्वारकाके नववृन्दावनमें श्रीमती राधिकाके चित्त-विनोदनके लिए विश्वकर्माके द्वारा इन्द्रमणिमयी श्रीकृष्णमूर्त्तिको भी, नववृन्दाके निद्रेशसे देखकर, श्रीराधा "यही मेरे प्राणनाथ हैं"—इस प्रकारकी अभेदबुद्धिसे उल्लास और चमत्कारके साथ कह रही हैं—"हे चन्द्रवदने नववृन्दे! जिनके संदर्शनकी लालसासे विरहानलमें दग्ध होनेपर भी मैं बड़े कष्टसे इस शरीरको धारण कर रही हूँ और हृदय-उन्मूलनमें दक्ष निरन्तर वर्षाकी भाँति दुःखद इस महापीड़ाको भी सह रही हूँ, अहो! कालिन्दीके तटवर्ती कुञ्जोंके भीतर क्रीड़ा करनेके लिए अभिसारव्रतमें दीक्षित उस प्राणबन्धुके सहित पुनः मिल रही हूँ॥"२०७॥

लोचनरोचनी—ननु सोऽयं समृद्धिमान् सर्वेषां विप्रलम्भगतानां संभोगगतानां च भावानां फलरूप उक्तः। इतः समधिकं नास्ति सुखमिति। स एव तु सर्वोत्तमत्वेन दर्शितानां व्रजदेवीनां न संभवति परकीयात्वेन परतन्त्राणां परित्यज्य यदुपुरं गतेन कथंचिच्चिरात् कुरुक्षेत्रे प्राप्तेनापि झटिति वियुक्तेन पुनरप्राप्तेन श्रीकृष्णेन सदा विरहिणीनां तत्रायोग्यत्वात्। ततः कथं तासां सर्वोत्तमत्वं तदेतदाशङ्क्य तासां समृद्धिमन्तं गमयति—यथा ललितमाधव इति। तत्र चेयं कथापरिपाटी। श्रीमत्यश्चन्द्रावलिराधादयस्तावद्भीष्मकादिपत्नीनां गर्भजाः। माययैव चन्द्रभान्वादिगोपपत्नीगर्भे संचारिताः। अन्येनान्येन गोपेन विवाहश्च तासां माययैव प्रत्यायितः। तं च प्रत्याय्य तेन तेन तासां रहःसङ्गः संकल्पितानां तादृशीनां तच्छय्यादिप्रापणेन विगमितः। श्रीकृष्णेनामूः संगममिताश्च। यदा च श्रीकृष्णः कंसवधार्थं यदुषु गतस्तदा केनचित्प्रकारेणामूर्भीष्मकादिगृहं नीत्वा भीष्मकादिकन्यात्वेन प्रत्याय्य रुक्मिण्यादिनामभिः स्थापिताः कुमारितयैव ज्ञापिताश्च। तत्र रुक्मिण्यादीनां विवाहश्च श्रीकृष्णेन सह वर्णितः। नरकहतानां षोडशसहस्रकन्यानां तथा रीतिः कृता। तत्र सत्राजितापि सत्यभामाख्या श्रीराधा श्रीकृष्णायोपहारीकृतेति। न चेयं कथा कल्पनामय्येव किंत्वत्रास्ति चार्षं प्रमाणम्। यथा पाद्मे द्वात्रिंशदध्याय्या प्रसिद्धे कार्त्तिकमाहात्म्ये—"कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यकाः।" इति। स्कान्दप्रभासखण्डे च गोप्यादित्यमाहात्म्ये पट्टमहिषीरुद्दिश्य "षोडशैव सहस्राणि गोप्यस्तत्र समागताः" इति। तस्माच्छ्रीभागवते कुरुक्षेत्रयात्रायां व्रजदेव्यः पट्टमहिष्यो यत् परस्परं भेदेन वर्णितास्तत् खलु कल्पभेदादेव मन्तव्यम्। तदेवं स्थिते समृद्धिमत उदाहरणं श्रीराधामधिकृत्य श्रीललितमाधवपद्येनाह—दग्धं हन्तेत्यनेन। तदिदं पद्यं सत्राजितार्पिताया अपि श्रीराधाया द्वारकामध्यकल्पितवृन्दावने श्रीकृष्णेन च चन्द्रावलीसंकोचात् किंचित्कालं संगोप्य रक्षिताया द्वारकानाथोऽयमस्माकं व्रजराजनन्दन इत्यजानत्यास्तद्वनस्थश्रीगोपालप्रतिमादर्शनेन स एवायमिति मन्यमानाया वचनम्॥२०७॥

आनन्दचन्द्रिका—द्वारकास्थ नववृन्दावने विश्वकर्मनिर्मितामिन्द्रनीलमणिमयीं श्रीकृष्णमूर्त्तिमेव साक्षात्प्राप्तुं श्रीकृष्णं मन्यमाना श्रीराधा सानन्दसचमत्कारं नववृन्दामाह—दग्धमिति। दग्धं विरहाग्निना ज्वलितमपि। पीडा अक्रूरागमनाद्या रुक्मिणीपारवश्यान्तास्तासामतिवृष्टिः। इन्दुवदने! हे नववृन्दे!॥२०७॥

यथा वा—

तवात्र परिमृग्यता किमपि लक्ष्म साक्षादियं,
मया त्वमुपसादिता निखिललोकलक्ष्मीरसि।
यथा जगति चञ्चता चणकमुष्टिसम्पत्तये,
जनेन पतिता पुरः कनकवृष्टिरासाद्यते॥२०८॥

इति प्रवासः॥

तात्पर्यानुवाद—श्रीकृष्ण प्रतिमामें अभेदबुद्धिसे श्रीराधाजीके समृद्धमान् सम्भोगका वर्णनकर इस पद्यमें साक्षात् श्रीराधाको प्राप्तकर श्रीकृष्णके समृद्धमान् सम्भोगको दिखला रहे हैं—उद्धव द्वारा चातुरीके साथ रहस्यको सुनाकर श्रीराधाकृष्णके परस्पर प्रतिमाभ्रमको दूर करनेपर किसी दूसरे समयमें उस नववृन्दावनमें राधाके साथ मिलित होकर परमानन्दसे पूर्ण-विह्वल नागरेन्द्र कह रहे हैं—"हे राधे! बहुत दिनोंसे तुम्हारी एक झलक पानेके लिए तड़प रहा था। आज साक्षात् मैंने तुमको प्राप्त किया है। तुम्हीं तो वैकुण्ठादि अप्राकृत लोकवासी ब्रह्मा, शिवादि भगवत्-पार्षदोंकी शोभा और सम्पत्ति स्वरूप हो। जिस प्रकार कोई व्यक्ति इधर-उधर मुट्ठीभर चनेके लिय भटकता हुआ हठात् सामने ही अपने आप बरसती हुई स्वर्णराशि लाभ करता है, ऐसे ही मैंने तुम्हें पाया है॥"२०८॥

लोचनरोचनी—तत्र चापरितुष्य साक्षाद्व्रजराजनन्दनत्वेन प्रत्यभिज्ञातस्य श्रीद्वारकानाथस्य प्राप्तौ श्रीद्वारकानाथस्य तस्यैव वचनरूपं पद्यमाह—तवात्रेति। तदेतदुपलक्षणं पूर्णमनोरथं सर्वनिर्वाहणाङ्गमपि क्रोडीकरोति। तथा हि यदा गोष्ठेश्वर्या द्वारकायां गमनं जातम्, चन्द्रावल्याश्च गोकुलसिद्धनिजभगिनीत्वं श्रीराधायाः प्रतीतम्, तदा श्रीकृष्णराधयोर्विवाहः संवृत्तस्तदा च श्रीकृष्णराधयोरुक्तिप्रत्युक्ती। तत्र श्रीकृष्णस्योक्तिः—"प्राणेश्वरि राधे प्रार्थयस्व किमतःपरं ते प्रियं करवाणि" इति। अथ श्रीराधायाः प्रत्युक्तिः—"सख्यस्ता मिलिता निसर्गमधुरा प्रेमाभिरामीकृता यामीयं समगंस्त

संस्तववती श्वश्रूश्च गोष्ठेश्वरी। वृन्दारण्यनिकुञ्जधाम्नि भवता सङ्गोऽप्ययं रङ्गवान् संवृत्तः किमतः परं प्रियतमं कर्तव्यमत्रास्ति मे॥" इति। तदेतदुक्त्वापि तत्र तस्य श्रीवृन्दावनस्य कल्पितत्वं वितर्क्य पुनराह—"या ते लीलापदपरिमलोद्गारिवन्या परीता धन्या क्षौणी विलसति वृता माथुरी माधुरीभिः। तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासिवेणुर्विहारम्॥" इति। अत्र माथुरीति मधुरापुर्या अदूरभवा इत्यर्थः। "अदूरभवश्च" इति चातुरर्थिकस्तद्धितः। सा क्षौणी वृन्दावनविभूतिरिति व्याख्येयम्। अत्र पूर्वपद्ये सख्यस्ता इति सङ्गान्तरापगमात्, यामीयमिति भगिनीत्वेन प्रसिद्धायाः चन्द्रावल्याः सपत्नीयोगेर्ष्यापरित्यागात्, श्वश्रूश्चेति प्राचीनश्वश्रूंमन्यजटिलायाः श्रीकृष्णानुगतिविरोधित्वाभावात् प्रत्युत तदानुकूल्यात् वृन्दारण्येति तादृशेऽप्यस्मिन् किमुत साक्षात् तस्मिन्निति स्थानसंकोचापगमात् निखिलपारतन्त्र्यान्मुक्तत्वं दर्शितम्। भवता सह सङ्गोऽप्ययं रङ्गवान् नानाकौतुकवान् संवृत्त इत्युपभोगातिरेकस्य पराकाष्ठा दर्शिता। ततश्च दुर्ल्लभालोकयोर्यूनोरिति समृद्धिमदाख्यसंभोगस्य लक्षणमत्र पर्यापितं तदेवं सत्युत्तरपद्ये तु कैमुत्यमेव लब्धमिति। अत्र श्रीकृष्णस्याभ्युपगमः प्रिये तथास्त्विति। सोऽयमभ्युपगम कायव्यूहेन द्वारकायां श्रीवृन्दावने चाविर्भावात् संगमनीयः। तत्तल्लीलोचितरूपस्वप्रियतमसहितेन पट्टमहिषीरूपेण तु पूर्वत्र व्रजदेवीरूपेण तु परत्रेति। किन्तु व्रजदेवीनां श्रीकृष्णेन विवहनं श्रीगोष्ठेश्वर्याः साक्षादिति तासामन्येनान्येन विवहनं मायिकमात्रतया ज्ञातमिति च त्वया स्वपुत्रेण श्रीकृष्णेन स्नुषाभिश्चन्द्रावल्यादिभिश्चागतया पौर्णमास्यादिद्वारा प्रमापय्य व्रजे प्रकाशितमिति ज्ञेयम्। अत एव श्रीवृन्दावनगतदर्शनाद्युपासनावरणपूजायां रुक्मिण्यादि-नामभिरुभयाभेदमानिभिस्ता उपास्यमानास्तन्त्रादिषु श्रूयन्ते। तदेवमभेदेन ललितमाधवसिद्धान्तः कादाचित्ककल्पगतो ज्ञेयः। अथ भेदेन प्रायिककल्पगतसिद्धान्तश्च श्रीभागवतानुसारेणात्राप्यङ्गीकृतोऽस्ति। यथा कुरुक्षेत्रयात्रायां मोदनाख्य भावप्रसङ्गे "हन्त स्तम्भकरम्बिता भुवि कुरोर्भद्रा सरस्वत्यभूत्" इत्यादिना। यथा च श्रीमदुद्धवसंदेशाख्यकाव्ये—"विन्दन् वंशीस्फुरितवदनो नेत्रवीथीमकस्मादन्तर्बाधा कवलितधियो धातुभिर्धूमलाङ्गः। क्रीडाकुञ्जे लुठितवपुषः स्वान्तमानन्दधाराकल्लोलैस्ते रहसि सहसोत्फुल्लमुल्लासयिष्ये॥" इत्यनेन। अत्र च पक्षे पूर्ववन्महाविप्रलम्भसमापनाय दन्तवक्त्रवधानन्तरं श्रीकृष्णस्य गोकुलागमनं पाद्मोत्तरखण्डवचनानि संगृह्य संक्षेपभागवतामृते स्वयमेव ग्रन्थकृद्भिर्दर्शितम्। वैष्णवतोषिण्यां (१०/३९/३५) तदग्रजचरणैश्च, यथा प्रथमं तावत् पाद्मोत्तरखण्डगद्यम्—"श्रीकृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुकण्ठमालिङ्गतः सकलगोपवृद्धान् प्रणम्याश्वास्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् संतर्पयामास" इति। श्रीमद्भागवतं चेदम्। तत्र सत्यसंकल्पतया वेदादिभिर्गीतस्य तस्य संकल्पः स्पष्टः—"तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः। सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः॥" इत्यत्र।

"यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्। ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥" इत्यत्र च। द्रष्टुमिति दर्शनविषयीभवितुमित्यर्थः। "तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हति" इति अत्र बोधविषयीभवितुमर्हतीतिवत्। य एव तत्संकल्पः स्पष्टः श्रीमदुद्धवेनापि निश्चितः—"आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः। प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥" इत्यनेन। तयोः पित्रोः प्रियं हि सदा तल्लालनरूपमेव। द्वारकावासिप्रजावचने तु तस्यागमनं स्पष्टमेव। "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।" इत्यत्र मधूनित्यत्र मथुरामिति स्वामिटीका च। सुहृदश्च तदा तत्र श्रीव्रजस्था एव। "तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः" इति माथुराणां द्वारकायां प्रवेशः सर्वशब्दप्रयोगात्। "बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः। सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम्॥" इति तत्रैव सुहृच्छब्दप्रयोगाच्च। दन्तवक्त्रवध एव चात्रागमनमर्यादा। यथाह कुरुक्षेत्रयात्रायां श्रीव्रजदेवीः प्रति श्रीकृष्णः स्वयमेव—"अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया। गतश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः" इति। दन्तवक्रवधान्ते शत्रुपक्षक्षपणमात्रं निजैर्व्रजागमने मर्यादा कृता। कुरुक्षेत्रयात्रा चेयं दन्तवक्रवधात्पूर्वमेव साल्ववधसहितस्य दन्तवक्त्रवधस्य समकालमेव हि पाण्डवानां वनगमनं वनपर्वणि प्रसिद्धम्। तेषामागमनानन्तरमेव भीष्मादिवधमयं भारतयुद्धम्। सा यात्रा च भीष्माद्यागमनमयीति यथा बलदेवतीर्थयात्रा कुरुक्षेत्रयात्रातः पूर्वं पठिता तद्यात्रा दुर्योधनवधदिने पूर्णेति सा च कंसवधान्नतिदूरा। यत एव तस्यामेव यात्रायां श्रीमदानकदुन्दुभिना कुन्तीदेव्यामुक्तम्—"कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम्। एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः॥" इति। किन्तु दन्तवक्रवधस्थानं कल्पभेदरीत्या वा वैष्णवतोषणीरीत्या व्याख्या वा श्रीभागवत-पाद्मयोर्विवादमेव परिहृत्य संगमनीयम्। दन्तवक्रवधानन्तरं श्रीकृष्णस्य व्रजागमनं श्रीभागवतस्यापि संमतम्। यश्च पूर्वपद्यानन्तरं पाद्मोत्तरखण्ड एव पद्यद्वयमस्ति। "कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते। गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः। रमयकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः। बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह॥" इति।

तत्र गोपनारीभिरित्यत्र गोपजातिभिर्नारीभिरिति गम्यम्। तृतीयस्कन्धे श्रीशुकवचने देवहूतीं प्रति नृपवधूभिरितिवत्। अनिशमित्यनेनौपपत्यभ्रमानन्तरं दाम्पत्यमेव प्रकटं बभूवेत्यागतम्। वनिताशतयूथप इत्यनेन प्रमदाशतकोटिभिरित्यनेन च तावतीभिः सह निरन्तरक्रीडायां सर्वैर्ज्ञातायामपि संकोचराहित्यव्यञ्जनात्। तथैवाह—रम्येति। रम्यत्वमत्र सर्वेषां मनोरमत्वं अन्यथा तस्मिन् केल्यंशे विरूपे सर्वस्यापि तदंशस्य विगानविषयत्वं स्यादिति। अत एवात्र व्रजे सर्वेषामेव प्रेमपोषणमभूदित्याह—बहुप्रेमेति। अथ तदनन्तरं गद्यान्तरम्—"अथ तत्रस्था नन्दादयः पुत्रदारसहिताः पशुपक्षिमृगादयश्च वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानमारूढाः परमं वैकुण्ठमवापुरिति। कृष्णस्तु नन्दगोपव्रजौकसां सर्वेषां निरामायं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणैः संस्तूयमानो द्वारवतीं विवेशेति च।

अत्र त्वयमर्थः—नन्दादयः पुत्रदारसहिता इति श्रीमन्नन्दराजस्य तद्वर्गमुख्यस्य पुत्रः श्रीकृष्ण एव दाराश्च श्रीयशोदैव इति प्रसिद्धापि पुत्रादिशब्दोक्त्या तत्तद्रूपैरेव तैः सह तत्र प्रवेश इति गम्यते। अतो दिव्यरूपधरा इत्युल्लासेन तेषां स्वस्वरूपस्य परमविराजमानत्वं विवक्षितम्। विमानेन तेषां परमवैकुण्ठप्रवेशनं च बहिरङ्गजनानां वञ्चनार्थमेव प्रत्यायितम्। वस्तुतस्तु तेषामदृश्ये वृन्दावनप्रकाशविशेष एव प्रवेशनमिति। वृन्दावन एव हि तापनीवाराहबृहद्गौतमीयवचनैस्तादृशतन्नित्यधामप्रकाशो दर्शितः। वरुणलोकादागत्य श्रीमन्नन्दादिभ्यस्तेषामेव स्वलोकतया वृन्दावन एव, स्वलोकविशेषरूपस्तत्प्रकाशविशेषः स्वयमेव श्रीकृष्णेन दर्शितो, न च विमान-साधनतयान्यत्र ते नीता इति दशमे एव प्रसिद्धम्। तथा हि—"नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्। कृष्णे च संनतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ ते चौत्सुक्यधियो राजन् मत्त्वा गोपास्तमीश्वरम्। अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः॥ इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्। संकल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्॥ जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः। उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभूः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्। यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ ते तु ब्रह्मपदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः। ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा॥ नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥" इति। तत्र खलु यन्निजपदं तेषां स्वपदतया दर्शयामास, तदेव तेभ्यः पश्चाद्व्यतारीदिति गम्यते। ते तु ब्रह्महृदं नीता इत्यत्र चायमर्थः—यत्र ब्रह्महृदे श्रीकृष्णमक्रूरः स्तुतवान् तं हृदं श्रीकृष्णेन नीता मग्नाश्च पुनस्तेनैव चोद्धृताः सन्तो नराकृतिब्रह्मणः तस्य लोकं ददृशुरिति। यद्यपि ब्रह्मलोकशब्देन भगवल्लोकमात्रं द्वितीये ब्रह्मलोकः सनातन इत्यनेन लब्धम्। सूक्ष्मामिति तमसः परमिति सत्यमिति ज्ञानमिति च तदेव व्यञ्जितं तथापि अपि नः स्वगतिमिति न वेद स्वां गतिमिति गोपानां स्वं लोकमिति कृष्णं च तत्रेति च श्रीगोपालरूपमेव तदिति लभ्यते। अत एवान्ये परिकरास्तत्र तैर्न दृष्टाः किं त्वात्मन एव। छन्दोभिः स्तूयमानं च गोपालतापन्यादिरूपैस्तैः श्रीकृष्णत्वानुरूपमेवेति कृष्णं च तत्रेत्यनेन लभ्यते।

तदेवमेव तदेकरुचीनां तेषां विस्मितः परमानन्दनिर्वृतिश्च घटते। तेषां स्वलोकस्यापि तस्याज्ञानकारणं तु "जनो वै" इति, सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्येत्यादिपद्ये जना इतिवदत्रापि तदीयः स्वजन एवोच्यते। अत्र तु विशेषतः—"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥" इति स्वयमेव श्रीकृष्णेनान्तर्भावितमिति जनशब्दस्य लोकमात्रवाचित्वे सर्वत्रैव करुणा जातेति सर्वेभ्य एव तेभ्यो दर्शना प्रसज्येत, सा च न जातेति तथा न व्याख्येयम्। ततश्च परम-स्वजनोऽयं मम व्रजवासिलक्षणः प्रापञ्चिकेऽस्मिन् लोके या अविद्याकाम-

कर्मभिर्हेतुभिर्देवतिर्यगादिरूपा उच्चावचा गतयस्तासु भ्रमन् निर्विशेषतयात्मानं मन्यमानो दर्शयिष्यमाणां स्वां गतिं न जानातीत्यर्थः। मम लोकवल्लीलाया वशादेवेति भावः। "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यादेस्तदज्ञानादेव नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा इत्याद्युक्तम्। तस्माद्य एव लोकस्तेषां स्वीयतया तेभ्यो दर्शितः स एव लोकः प्रापितः। तत्प्रापणे च विमानादिसाधनमकिंचित्करमेव किन्तु लोकानां चमत्कारार्थं तेभ्यः संगोपनार्थमेव दर्शितमिति साध्वेव व्याख्यातम्। तदुक्तं श्रीवृन्दावनमुद्दिश्य— "आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे" इति। "तेजोमयमिदं ब्रह्मन्नदृश्यं चर्मचक्षुषा" इति च। अतः पुनर्व्रजमागत्य स्थितस्य नित्यस्थित्यपेक्षयैव "गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीडति कंसहा" इत्यत्र "कंसहा" इति पदं विन्यस्तम्, "वृत्रहा" इतिवत् कंसहेत्यत्र भूत एव कृद्विधानात्।

तदेवं स्थिते तदानीं श्रीव्रजदेवीनां तत्प्राप्तिक्रमस्त्वेवं विविच्यते। तद्यथा मथुराप्रस्थाने तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्येत्यादावायास्य इति दौत्यकैरिति संदिष्टं तथा दूतान्तरैरपीति गम्यम्। यथोक्तं "धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन। प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥" इति। यथा च श्रीमदुद्धवद्वारा पूर्वपूर्वेण "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना" इत्यादिना संदिश्यापरितुष्योत्तरतोऽस्मच्छब्दस्य त्रिरावृत्या तत्रापि कृष्ण इति विशिष्य संदिष्टम्, "मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं निवृत्ताशेषवृत्ति यत्। अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥" इति स्वयमेव कुरुक्षेत्रयात्रायामुपदिष्टम्। "मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते। दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥" इति। तत्र च यत्किंचिदुपदिष्टं तत्रापरितुष्टानां तासां विज्ञप्तिमाह—"आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः। संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥" इति। अयमर्थः—हे नलिननाभ! तव पदारविन्दं नोऽस्माकं मनस्युदियात्। ननु परमानुरागवतीनां भवतीनां किमत्राश्चर्यं तत्राहुः—योगेश्वरैरेव हृदि विचिन्त्यं नास्माभिः। कथम्भूतैरगाधबोधैः। अदर्शनेऽप्यक्षुभितबुद्धिभिर्न त्वस्माभिरिव तद्विचिन्तनारम्भ एव मूर्च्छागामिभिः। ननु तद्विचिन्तनमेव तेषां संसारदुःखमिव युष्माकं विरहदुःखं शमयेत् तत्राहुः, संसारकूपपतितानामेवोत्तरणावलम्बम्, न त्वस्माकं विरहसिन्धुमग्नानाम्, तद्विचिन्तने विरहबुद्धेरेवानुभवात्। नन्वधुनैवागत्य द्वारकायामपि मत्पदारविन्दं, पश्यत यावदहं तत्रागच्छामात्याशङ्क्याहुः—गेहं जुषां स्त्रीत्वाद् गृहलोकाधीनानामित्यर्थः। तस्माद्यदि स्वयमेव वागत्य स्वपदारविन्दं दर्शयन्ति तत्र भवन्तस्तत्रापि नित्यमेव तदैवास्माकं निस्तार इति भावः। अथ ततः किं जातमिति श्रोत णामुत्कण्ठां वितर्क्य समाप्ततदध्यायेऽपि स्वयमेव श्रीवैयासकिराह—"तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः। युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽप्ययम्॥" इति। यथा ताभिरभिप्रेतं तथानुगृह्य। तथानुग्रहमेव व्यनक्ति—गोपीनां स गुरुरभीष्टसंपादनायोपदेष्टा॥

अभीष्टमेवाह—गतिर्गम्य इति। परमफलरूप इत्यर्थः। न चैवमन्यभक्तसाधारण्यं मन्तव्यम्, चिरं द्वारोपविष्टमपि श्रीयुधिष्ठिरमथ तदनन्तरमेवापृच्छत्। किं वक्तव्यमेकं तमेवेति सर्वांश्च सर्वानपि सुहृद इति।

अथ महाविरहमुत्तीर्य्य यथा तास्तं प्रापुस्तथा स्वयमेव श्रीकृष्ण उद्धवं प्रत्याह एकादशस्कन्धे द्वादशाध्याये—"रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः। विगाढभावेन न मे वियोगस्तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥ तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण। क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कलपसमा बभूवः॥" इति। अत्र ददृशुरिति बभूवुरिति चातीतत्वनिर्देशादधुना तु तास्तथा न पश्यन्ति न च तथा भवन्ति इति नास्त्येव वियोग इत्यर्थः। ननु तासां भगवत्प्राप्तिः प्रकटं न दृश्यते कथं सा जाता? उच्यते मया सह वृन्दावनगताप्रकटप्रकाशविशेषमेव ताः प्रापुरित्याह। "ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्। यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥" तास्तादृशमहाविरहसंतापाश्च सत्यो मयि योऽनुसङ्गो दन्तवक्त्रं हत्वा मयि यः पश्चाज्जातः सङ्गस्तेन वद्धा धीर्यासां तथाभूताः सत्यः स्वं ममतास्पदं तथा आत्मानमहंकारास्पदं च कर्मभूतम्, अतः प्रकटलीलागतं तथेदं वा यथा स्यात्तथा नाविदुः। किन्तु द्वयोरैक्येनैव अविदुरित्यर्थः। तत्र लीलाद्वयगतात्मनोरभेदापत्तौ दृष्टान्तः—यथा समाधौ समाधिगते तुर्यात्मनि मुनयो विश्वतैजसप्राज्ञातीता आविष्टप्रायास्तदात्मनस्तत्तद्भेदं न विदन्ति तद्वत्। अथ ममतास्पदानां लीलादीनां भेदावेदने दृष्टान्तः—यथाब्धितोये नद्य इति। यथा नद्यः पृथिवीगतामब्धितोयगतां च स्वस्थितिं भेदेन न विदन्ति किं तु उभयस्यामपि स्थितौ समुद्रतोयानुगतावेव विशन्ति तथा प्रकटामप्रकटामपि लीलास्थितिं ताश्च भेदेन नाविदुः, किं तु मय्येवाविविशुरित्यर्थः। दृष्टान्तस्त्वयं लीलाभेदवेदनांश एव न तु सर्ववेदनांशे "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इतिवत्। ततश्च नाम च रूपं चेति समाहारद्वन्द्वेन नामरूपात्मके तस्मिन्नप्रकटप्रकाशे प्रविष्टा इव न तु प्रविष्टा वस्त्वभेदादित्यर्थः। षोडशसहस्रकन्याविवाहतत्समाप्त्योस्तेषां यथा तद्वदिति भावः। तदेवमयमपि ग्रन्थकृत्पक्षः श्रीभागवतसंमत्या साधितः। पुनरेवं विचार्यते—सेयं व्रजे तत्प्राप्तिः कीदृशत्वेन ग्रन्थकृन्मता? पतित्वेनोपपतित्वेन वा? उच्यते—ज्ञातेन तदीयेन हार्देन पतित्वेनैवेति। प्रकारान्तरेण तत्प्रबन्धकरणेन तत्रैव रसस्य प्रतिष्ठेति प्रकटीकरणात् तद्विवाहनिर्वाहणाङ्कस्य पूर्णमनोरथ इति नामकरणात्। न च पुर्यामेव तासां विवाहः संभवति। न तु व्रज इति वक्तव्यम्। यदि स्वयमेव श्रीव्रजेश्वरी तत्र गता तत्संबन्धेनान्याश्च व्रजप्रमाणिकास्तदा पुरीव्रजयोः को भेदः? यदि च कृष्णेन व्यूढानां तासां व्रजानयनं श्रीव्रजेश्वर्याग्रत एवानुमतं तदा वृन्दावने तासामानयनानन्तरं तथा व्यवहार एव स्यात् नान्यथा। श्रीभागवताभिप्रायेणाप्यत्रैव रसः संपद्यते। यतः श्रीकृष्णस्य मथुराप्रस्थाने "निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः।" इति। "विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्ददामोदरमाधवेति" इति यत्तासां व्यवहारस्तेन

प्रथमत एव ता उद्घाटितभावा बभूवुः। परपरतस्तु सुतराम्—"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका" इति। "कृष्णदूते व्रजायाते उद्धवे त्यक्तलौकिका" इति। 'गतह्रिय' इति, "काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा" इति "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा" इति "मातरं पितरं भ्रात न् पतीन् पुत्रान् स्वस रपि। यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो" इति च श्रूयते इति। तत्तस्मादासामसंख्यानां तादृशी रतिरावरीतुमशक्यैव जातेति। यदि तासामन्यभर्तृकात्वं व्रजे मिथ्यात्वेन व्यक्तं स्यात् तदैव जुगुप्साव्यत्ययेन रसः संपाद्यते। अन्यथा तु महावैरस्यमेव स्यात्। तत्र तदैश्वर्यज्ञानमय्यां परीक्षित्सभायां यथा तदैश्वर्यज्ञापनेनौपपत्यं परिहृत्य रसता स्थापिता तथा धार्मिकलोकलीलामय्यां श्रीमद्व्रजेशसभायामपि धार्मिकरीत्यैव परिहृत्य सा स्थापयितव्या। तदेवं योगमायामुपाश्रित इति नासूयन् खलु कृष्णायेति न्यायेन यस्या मायायाः सोऽयं प्रपञ्चः सैव समाधात्री यथा निजेश्वरलीलाकौतुकार्थं तत्तत्कल्पनां कृतवती मध्ये चासूयापरिहारार्थं समाहितवती च। तथातिस्पष्टे तस्मिन् दुर्वादे निःशेषमेव समाहितवतीति गम्यते। यतोऽप्रकटलीलामनुगतानामपि तासां तत्स्वीयात्व–मेवानुगतम्। तथाहि ब्रह्मसंहितायाम्—"आनन्दचिन्मयरस–प्रतिभाविताभिः" इत्यादौ ताभिर्निजरूपतया कलाभिरिति तस्य च तत्पतित्वमेव गौतमीये श्रीमद्दशार्णव्याख्यायां मायाप्रेरकतामयैश्वर्यप्रतिपादकपक्षद्वयमुक्त्वा तृतीयं पक्षमुत्तरपक्षतया प्रोक्तम्। "अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः" इति। तदेतद्विचार्य ग्रन्थकृद्भिरपि लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तमित्यादौ नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा इत्यादौ चावतारसमय एव उपपतित्वपरदारव्यवहारस्तदितरसमये तु नेति स्वीकृतम्। तदेतच्च "ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः" इत्यस्यान्ते श्रीभगवता कृष्णेन स्वयमेव दर्शितम्। "मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥" इति। अयमर्थः—यथा भीष्ममुदारं दर्शनीयं कटं करोत्यत्र कृतिः क्रियाविशेष्यमनुगच्छन्ती विशेषणानप्यनुगच्छति। कटं करोति तं च भीष्ममित्यादिरीत्या तथात्रापि ब्रह्म प्रापुः। तं च परममित्यादिरीतिरवगन्तव्या। क्रमश्चात्रार्थिक एव। पच्यन्तां विविधाः पाका इत्यादौ अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीत्यादौ च तस्यैव बलवत्त्वेन दृष्टत्वात्। तथा हि ता इतः पूर्वतोऽनुसज्यते ता ब्रह्म प्रापुः। किं निर्विशेषतयाऽऽभिर्भूतम्? न; किन्तु परमं परा मा लक्ष्मीर्यस्मिंस्तदित निरुक्त्या वा, "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इति प्रामाण्येन वा भगवद्रूपमित्यर्थः। तादृशत्वं च "शुभाश्रयः सचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः" इति श्रीविष्णुपुराणरीत्यान्यत्रापि भगवदाविर्भावे संभवतीत्याशङ्क्याह—मामिति। यदुक्तं मय्यावेश्य मनः कृष्ण इत्यादि। मयि भक्तिर्हि भूतानामित्यादि च। तत्र च मां भावविशेषमयसमयभेदेन द्विधा प्रापुरिति बोधयितुं तासां तद्विशेषेण साहित्येन सविशेषेण विशेषद्वयमाह। "मत्कामा रमणमि"ति "जारमस्वरूपविदः" इति च। रमणशब्दः पत्यावेव रूढः। जारस्तूपपतावेव। "रमणः स्यात्पटोलस्य मूलेऽपि रमणः प्रिये" इति

विश्वप्रकाशः। "धवः प्रियो पतिः भर्ता" इत्यमरः। "जारस्तूपपतिः समौ" इति च। ततश्चास्वरूपविद इति स्वरूपं नित्यमेव मत्प्रेयसीलक्षणमवतारसमये मदीयलीलाशक्त्या मोहितत्वान्न विदन्ति यास्तथा सत्यो जारं जारबुद्धिवेद्यं सन्तं मां प्रापुः। तथा हि मत्कामा मयि कामः "कथमस्माकमन्यस्मिन् पतित्वं स्वप्नवत् विलीयेत, श्रीकृष्ण एव जागरणवत् तत्प्रादुर्भवेत्" इत्यभिलाषो यासां तथा सत्यो मां रमणं प्रापुः। जारबुद्धिवेद्यमपीति श्रीस्वामिव्याख्यानात्। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति श्रीभगवद्गीतातः; यथेति यदभिलाषेणैवेत्यर्थः। तत्क्रतुन्यायात्। स्वयमेवेदं दृष्ट्वा दृष्टान्तद्वारा बोधितम्। मय्यावेश्य मनः कृष्ण इत्यनन्तरम्। "या मया क्रीडिता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया॥" इति। तत्र खलु तासां तान् पतीन् तांश्च देहांस्त्यक्तवतीनामौपपत्यं न संभवतीति। जारत्वेन रमणत्वेन च मत्प्राप्तौ मत्कारुण्यं तु परमसहायकमित्याह—अबला इति। न विद्यते बलं मत्साहाय्यं विना अन्यद्यासां तादृश्य इति। अहो आस्तां नित्यप्रेयसीनां वार्ता, तासां सङ्गादन्या अपि सहस्रशस्तथा मां प्रापुरिति। अत्र चेदं विविच्यते। "तासां नित्यप्रियाणामवतरणवशाद्वि-स्मृतात्मस्थितीनामप्यन्तःस्वस्वभावादघविजिति रतिः श्रीभृतां नित्यकान्ते। विध्वस्तानाममुष्मात्परसदनगतिक्लेशभाजां वरीतुं तं तृष्णा सापि न स्यादहह सहफला कः प्रतीयादमुत्र॥" तस्माल्ललितमाधव इवात्रापि विवाहघटनैव समञ्जसा। यतः "दाम्पत्यं व्रजसुभ्रुवामघजिता यज्जातमेतत्परं काव्यस्य प्रथितेन निर्वहणकृत् किंत्वेषु रागस्य च। रागः सोऽप्यनुपद्रवस्थितिमिथःसङ्गास्पदस्तं त्यजन्नात्मीयास्पदमन्तरा विहरणं दध्याद् वृथा जन्मताम्॥ पूर्वं दुर्लभता ततो गुरुजनध्वस्तप्रयत्नात्मता तत्पश्चाच्छ्रुतिलोकलङ्घिरभसात् सङ्गप्रथाङ्गीकृतिः। तस्माद्दूरमहावियोगचिरता तत्प्रान्तमुद्वाहतः प्राप्तं चेन्मिथुनं मिथो हरिरमारूपं सुखं किं परम्॥ कृष्णं कान्ततयानुपेत्य पुरतः स्वं नित्यकान्तं तु तास्तत्राप्यन्यकरे निपत्य च बलान् निर्वाह्य धर्मं निजम्। तत्रापीष्टममुं कथंचन रहः प्राप्यापि विश्लेषिताः पुण्यात्तं पतिमेतय सर्वजगतामन्तर्व्य-धुर्निर्वृतिम्॥ नामूषां सहजानुरागविभुता भीर्निर्मिता किं नु भीर्लङ्घ्या स्यान्न तु वेति तत्प्रबलताज्ञानार्थमन्तः कृता। तज्ज्ञातं निजधर्मसेतुदलनात्तस्यास्तथा विस्तृतिस्तद्वद्भाति यथा परीक्षितवचोऽप्यग्रे मुहुर्वेश्यते॥ कंसारेरकुतोभयस्य न भयं तद्भक्तवृन्दस्य च ह्रीः किंत्वस्ति समस्तसद्गुणमणेस्तत्सुभ्रुवां किं पुनः। तत्र ह्रीर्दुरितोद्भवा यदि तदा निन्दास्पदं यद्यसौ गोप्ये शर्मणि गोपनस्थितिमयी पुष्णात्यदस्तर्हि तु॥ अन्याः सन्तु सहस्रशः पतिपरा नामूः स्तवे या निजं लोकं धर्ममपि श्रिता न तु पुनः स्वं स्वं पतिं केवलम्। गोपीर्नौमि निजप्रसिद्धमपि यास्तं तं विहाय स्फुटं निर्णीय स्वरतिप्रतीतिविभवात् कृष्णं पतिं भेजिरे॥ सावित्री ब्रह्मणः स्त्री हिमगिरितनुजा चन्द्रमौलेस्तथा मा विष्णोः कृष्णस्य रुक्मिण्यपि जगति भवेद्वाढमक्ष्णोः सुखाय। रूपं स्वस्यापि विस्मापनमयमभितः शोभयन् स्वीयमासीद्रासे यासां रुचा ता यदि नहि विवहेदस्तु बाधातु मूर्ध्नि॥" अतः कंसवधात् प्राचीनानां लीलानां सद्यस्तनतां मत्वा

यदुपासनं कुत्रापि दृश्यते तत्खलु "एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे। निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥" इत्यादिरीत्यावतारलीलानन्तरवत् पूर्वमतीतामपि तां तां निजलीलां भक्तभक्तिविशेषानुरोधेन तदा तदा प्रकटीकरोतीत्येव मन्तव्यम्। "यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" इत्यादेः। तत्र बाल्यलीलोपासना ग्रहिला अपि दृश्यन्ते कंसवधान्तर्लीलाया अन्ते। किन्तु तत्र स्वेच्छया रचिताया अपि संभोगलीलायाः संपन्नत्वमेव संमतं न तु समृद्धिमत्त्वं। भक्तभक्तिविशेषानुरोधेन तदा तदा दर्शितानां तु ततो न्यूनत्वमेवाभिप्रेतं किमुत समृद्धिमत इति। कासांचिल्लीलानां प्रकटप्रकाशगततत्तल्लीलातुल्यानां तत्तन्मन्त्रोपासकसंप्रदायावच्छिन्न-परम्परानुरोधेन नित्यास्थितिरवगम्यते न तु सर्वासामपि प्रकटलीलानां नित्यत्वेन च कालियह्रदप्रवेशादि लीलानां महादुःखमयत्वेन कासांचिन्मुहुरागन्तृभरव्याकुलीकृतत्वेन प्राकृतमिश्रत्वेन च विरोधात्। "योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः। यद्विलासेन शोभन्ते नित्यलीलाः सहस्रशः॥" इत्यत्र योग एवेति सुखदानामेवोपादानेन सहस्रश इति संख्योल्लेखेन च तत्प्रत्याख्यानात्। प्रत्यन्वपि तासां नित्यत्वे चित्रतुल्यत्वप्राप्त्या लीलात्वहानाच्च क्रियतां नाम तत्तदुपासना कैश्चित्परमरसपरिपाकस्तु क्रमलीलायामेव जायते। श्रीभगवदादि प्रकाशप्राचीनपरमभक्तानां विदग्धमाधवप्रकाशकग्रन्थकृतां चात्रैवावेशदर्शनात्। तथाहि—"रसिकजनसुखार्थं साधयामास शश्वत्क्रममनु रसपूरं सूदवत् कृष्णचन्द्रः। क्रममनुरसयन् यः पूर्त्तिमाप्नोति पूर्त्यां सफलमिह परं स्यात् तत्र वैदग्ध्यमस्य॥" तथा चोक्तं 'प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि' इत्यादि॥२०८॥

आनन्दचन्द्रिका—अत्र श्रीकृष्णप्रतिमापि श्रीकृष्ण एवेति द्वयोरेव परस्परदुर्लभा-लोकत्वं रुक्मिणीपारवश्यं च न स्पष्टमित्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति। सर्वथैवासंभवदर्शनां श्रीराधां चिरप्रवासान्ते साक्षादवलोक्य श्रीकृष्णः सानन्दसंमर्दं सगद्गदमाह—तवेति। किमपि लक्ष्म चतुर्दशभुवनेषु मध्ये काप्यसि त्वं, त्वद्वस्त्रालंकारसखीजनादिवार्त्ता वा परिमृग्यता देशे देशे लोकप्रस्थापनेन नारदादिसर्वज्ञजनद्वारा च अन्विष्यता मया त्वमुपसादिता लब्धासि। कीदृशी? निखिला लोका भूर्भुवःस्वरादयः वैकुण्ठाश्च तेषां लक्ष्मीः शोभारूपासि। एकावयवस्थेन मुख्येनालंकारेण कामिनीव एकदेशस्थया त्वया तु वनमण्डलीयं द्योतत इति भावः। चञ्चता भ्रमता॥२०८॥

अथ गौणसम्भोगः

छन्नप्रकाशभेदेन कैश्चिदेषां द्विरूपता।
इष्टाप्यत्र न हि प्रोक्ता नात्युल्लासकरी यतः॥२०९॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वोक्त चतुर्विध सम्भोगके छन्न और प्रकाशरूपी दोनों भेदोंका किसी-किसी रसग्रन्थमें वर्णन किए जानेपर भी, किन्तु उसमें

कोई अत्यन्त चमत्कारिता न होनेके कारण इसका यहाँ वर्णन नहीं किया गया॥२०९॥

लोचनरोचनी—छन्नप्रकाशभेदेनेति। येषां संभोगानां स्वीयास्वपि च्छन्नतैव रसदेति द्विरूपता न प्रोक्तेत्यर्थः॥२०९॥

आनन्दचन्द्रिका—एषां चतुर्विधानां संभोगानाम्॥२०९॥

अथ गौणः—

स्वप्ने प्राप्तिविशेषोऽस्य हरेर्गौण इतीर्य्यते।
स्वप्नो द्विधात्र सामान्यविशेषत्वेन कीर्त्तितः॥२१०॥

सामान्यः स तु यः पूर्वं कथितो व्याभिचारिषु।
विशेषः खलु जागर्या निर्विशेषो महाद्भुतः॥२११॥

भावौत्कण्ठ्यमयो ह्येष चतुर्द्धा पूर्ववन्मतः॥२१२॥

तात्पर्यानुवाद—गौणसम्भोग—स्वप्नमें श्रीहरिकी प्राप्ति होनेपर उसे गौणसम्भोग कहते हैं। यह स्वप्न सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकारका होता है। सामान्य स्वप्नका व्यभिचारी-प्रकरणमें वर्णन हो चुका है। विशेष-स्वप्न, जाग्रत अवस्थाके किसी व्यापारके तुल्य होता है। अतएव परम आश्चर्यजनक और अस्थायी सञ्चारीभावोंको प्रचुर रूपमें बढ़ानेवाला होता है। यह गौणसम्भोग भी मुख्यसम्भोगकी भाँति चार प्रकारका होता है। संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्॥२१०–२१२॥

लोचनरोचनी—तदेवं सर्वप्रबन्धस्य रसपरिपाकं समृद्धिमन्तमुक्त्वानुसङ्गिक-संक्षिप्तादिचतुर्णामाभासानप्याह—अथ गौण इत्यादिना। गौणो मुख्यसंभोगाभिधेयताशून्य इत्यर्थः॥२१०॥

आनन्दचन्द्रिका—प्राप्तिविशेषः दर्शनालिङ्गनचुम्बनादिमान्॥२१०॥

तत्र स्वप्ने संक्षिप्तो यथा—

विहारं कुर्वाणस्तरणितनयातीरविपिने,
नवाम्भोद श्रेणीमधुरिमविडम्बिद्युतिभरः।
विदग्धानां चूडामणिरनुदिनं चुम्बति मुखं,
मम स्वप्ने कोऽपि प्रियसखि बलीयान्नवयुवा॥२१३॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्नमें संक्षिप्त सम्भोग—पूर्वरागकी अवस्थामें श्रीराधा विशाखासे कह रही है—"हे प्रियसखि! जिनकी अङ्गकान्तिसे नवजलधरकी कान्ति पराभूत हो जाती है, ऐसा ही कोई अनिर्वचनीय, बलवान, विदग्धचूड़ामणि नवयुवक यामुन विपिनमें सखाओंके साथ क्रीड़ा करते-करते आकर प्रतिदिन स्वप्नमें मेरे मुख और कपोलोंका चुम्बन करता है॥"२१३॥

आनन्दचन्द्रिका—पूर्वरागवती श्रीराधा विशाखामाह—विहारमिति॥२१३॥

अथ स्वप्ने संकीर्णः—

सखि क्रुद्धा माभूर्लघुरपि न दोषः सुमुखि मे,
न मानाग्निज्वालामशमयमहं तामसमये।
स धूर्तस्ते स्वप्ने व्यधित रसवृष्टिं मयि तथा,
यतो विस्तीर्णापि स्वयमियमयासीदुपशमम्॥२१४॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्नमें संकीर्ण सम्भोग—किसी मानिनी गोपीका मान उपशान्त हुआ देखकर उसकी प्रियसखी उसपर क्रोधित हो उठी। तब वह नायिका अपनी सखीसे बोली—"हे सखि! सुमुखि! क्रोध न करो। मैं बिन्दुमात्र भी दोषी नहीं हूँ। मैंने उस मानाग्निज्वालाको असमयमें ही निर्वापित नहीं किया। किन्तु तुम्हारे उस धूर्त नायकने स्वप्नमें आकर मेरे ऊपर ऐसी रसधाराका वर्षण किया कि वह अत्यन्त सुदीर्घ मानज्वाला अपने आप ही शान्त हो गई॥"२१४॥

लोचनरोचनी—तां मानाग्निज्वालाम्। असमये अनवसरे॥२१४॥

आनन्दचन्द्रिका—काचिन्मुग्धा स्वसखीमाह—सखीति। लघुरल्पोऽपि मान एवाग्निस्तस्य ज्वालामिति स्वस्य कलहान्तरितात्वं व्यनक्ति। असमये संप्रतीत्यर्थः। विस्तीर्णापि मानाग्निज्वाला॥२१४॥

अथ स्वप्ने सम्पन्नो यथा हंसदूते (१०५)—

प्रयातो मां हित्वा यदि कठिनचूडामणिरसौ,
प्रयातु स्वच्छन्दं मम समयधर्मः किल गतिः।
इदं सोढुं को वा प्रभवति यतः स्वप्नकपटा-
दिहायातो वृन्दावनभुवि बलान्मां रमयति॥२१५॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्नमें सम्पन्न सम्भोग—श्रीललिता हंसके द्वारा श्रीकृष्णको संवाद देनेमें प्रवृत्त होकर श्रीराधाके स्वप्नसम्भोग वृत्तान्तका अनुवाद कर रही है—"वे निर्दयशिरोमणि जब मुझे त्यागकर मथुरामें चले गए हैं, तो वे स्वच्छन्दतापूर्वक वैसा ही करें, किन्तु इस समय मृत्यु ही मेरे लिए एकमात्र अवलम्बन है, क्योंकि स्वप्नके बहाने वे इस वृन्दावनमें आकर बलपूर्वक अनिच्छुक होकर मेरे साथ रमण करें—क्या इसे कोई नारी सह सकती है?"॥२१५॥

लोचनरोचनी—समयधर्म इति। आयास्यामीत्यस्य प्रतिज्ञारूपो धर्मः। "समयाः शपथाचार कालसिद्धान्तसंविदः" इति नानार्थवर्गः॥२१५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा ललितामाह—प्रयात इति। समयधर्मो मृत्युः। "मृत्युः स्यात् पञ्चता कालधर्मः" इत्यमरः। स्वप्नकपटात् स्वप्नमिषात्। बलादिति मानिनीमपि मामप्रसाद्यैव बलात्कारेणैव मां त्यक्त्वा नागरीं रमयितुं मथुरां गत इति मम मानो भवितुमर्हत्येवेति मम को दोषः? न च मानिनीजनः पुरुषबलात्कारं क्वापि सोढुं प्रभवतीति भावः। यद्यपि अयं सुदूरप्रवासभवत्वेन समृद्धिमानेव भवितुमर्हति तदपि द्वयोः पारतन्त्र्याभावात् तल्लक्षणासिद्ध्या संपन्नत्वेनैव ज्ञापितः। यद्यप्यत्र पाठान्तरम्। जागरे मन्मथुराप्रस्थानापराधमिमं जानात्यतः स्वप्ने माथुरविरहविप्रलम्भं विस्मरन्तीमेनां पूर्वावस्थास्थायिनीं रमयिष्यामीति मनसि परामृश्येति भावः॥२१५॥

अथ स्वाप्नसमृद्धिमान् यथा ललितमाधवे (७/११)—

चिरादद्य स्वप्ने मम विविधयत्नादुपगते,
प्रपेदे गोविन्दः सखि नयनयोरङ्गणभुवम्।
गृहीत्वा हा हन्त त्वरितमथ तस्मिन्नपि रथं,
कथं प्रत्यासन्नः स खलु परुषो राजपुरुषः॥२१६॥

तात्पर्यानुवाद—स्वप्नमें समृद्धमान् सम्भोग—नववृन्दावनमें रहते हुए श्रीराधाजीने स्वप्नमें श्रीकृष्ण दर्शनकी अनुभूति की कथा नववृन्दासे कही—"हे सखि नववृन्दे! बहुत दिनोंके पश्चात् नाना प्रकारके प्रयाससे आज मुझे नींद आई, मैंने स्वप्नमें देखा कि गोविन्द मेरे सामने खड़े है। किन्तु हाय कष्ट! उसी समय अक्रूर नामक निष्ठुर राजपुरुष क्यों स्वप्नावस्थामें ही रथ लेकर शीघ्र ही उपस्थित हो गया?"॥२१६॥

लोचनरोचनी—चिरादद्येत्यत्र समृद्धिमत्त्वं पूर्वार्द्धे एवोपभोगातिरेकं पारतन्त्र्य साध्वसादिराहित्यं च लक्षणबलात् स्वप्ने यथेष्टं संभावयितुं शक्यत्वादवगन्तव्यम्। गृहीत्वेत्यादिकं तु नात्रोदाहरणीयम्। भाविनामा हि विप्रलम्भः खल्वयं परुषः कठिनः सोऽक्रूरः तदिदं वा तदुदाहरणम्। "यदा तं कारूषं पथि हतवता कंसरिपुणा व्रजे प्रत्यायाते प्रमदपतता व्याप्तमखिलम्। ततः प्राक् यद्राधा विधुमुखि मनोराज्य कलितं जजल्प स्वप्नान्तस्तदिदमुदयच्चित्रयति नः॥"२१६॥

आनन्दचन्द्रिका—नववृन्दावनस्था श्रीराधा स्वप्नानुभूतं श्रीकृष्णदर्शनं नववृन्दामावेदयति—चिरादिति। स पुरुषः क्रूरोऽक्रूर इत्यर्थः। अत्र द्वयोः पारतन्त्र्यनिबन्धन दौर्लभ्यसिद्ध्यर्थमुत्तरार्द्धे अक्रूरप्रस्तुतिः॥२१६॥

तुल्यस्वरूप एवायं प्रोद्यन् यूनोर्द्वयोरपि।
उषानिरुद्धयोर्यद्वत्क्वचित्स्वप्नोऽप्यबाधितः ॥२१७॥

अत एव हि सिद्धानां स्वप्नोऽपि परमाद्भुते।
प्राप्तानि मण्डणादीनि दृश्यन्ते जागरेऽपि च॥२१८॥

तात्पर्यानुवाद—इस स्वप्न सम्भोगके अप्राकृत तत्त्वका प्रतिपादनकर लौकिक स्वप्नसे युक्तिपूर्ण वैलक्षण्यको दिखलाकर उसमें भी श्रीकृष्णकी साक्षात् प्राप्तिको ही निरूपित कर रहे हैं। पूर्वोक्त स्वप्न सम्भोग नायक और नायिका दोनोंको ही अनुभूत होता है। कभी-कभी युगपत् समान भावसे ही सत्य हुआ करता है। (पूर्व पद्यमें नववृन्दावनमें श्रीराधा जिस समय श्रीकृष्ण दर्शनानन्दका अनुभव कर रही थीं, उसी समय श्रीकृष्ण भी द्वारकाके अन्तःपुरमें पुष्पपलङ्कपर सोते रहनेपर भी स्वप्नमें श्रीमती राधिकाके दर्शनानन्दका अनुभव कर रहे थे) इस विषयमें दृष्टान्त—ऊषा और अनिरुद्ध। ऊषा जब शोणितपुरमें बाणराजाके अन्तःपुरमें अनिरुद्धके साथ संप्रयोगानन्दका अनुभव कर रही थी, अनिरुद्ध भी उसी समय द्वारकामें सोते समय ऊषाके साथ विलासानन्दका अनुभव कर रहे थे। यह व्यापार प्राकृत लोकमें सर्वत्र घटित नहीं होता। इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणको देकर उसे और भी दृढ़ कर रहे हैं—स्वप्न सच होनेके कारण ही तो सिद्धभक्तोंके परमाश्चर्यजनक स्वप्नमें प्राप्त अलङ्कारादि जाग्रत दशामें भी देखे जाते हैं॥२१७-२१८॥

लोचनरोचनी—स्वप्नोऽयं द्विविधः जागरायमाणः स्वप्नः, स्वप्नायमानं जागरणं चेति। तत्र पूर्वो दर्शितः। उत्तरं स्थापयति तुल्येति द्वाभ्याम्॥२१७-२१८॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु तदपि वस्तुतः स्वप्ने समृद्धिमति संभोगेऽस्मिन् द्वयोः कथं दुर्लभालोकत्वम्, एकया श्रीराधयैव स्वप्ने तथा दृष्टत्वादित्यत आह— तुल्यस्वरूप इति। द्वयोर्नायिकानायकयोरपि स्वप्ने क्वचिदेकदैव तुल्यस्वरूप एव प्रोद्यन्नबाधितः सत्य एव स्यात्। तेन यदैव श्रीराधया नववृन्दावने चिरादद्येति पद्यः प्रकाशितः स्वप्ने श्रीकृष्णदर्शनानन्दोऽन्वभावि तदैव श्रीकृष्णेनापि द्वारकावरोधपुष्पपर्यङ्क- शयितेन स्वप्ने श्रीराधादर्शनानन्दस्तथैवान्वभावीति ज्ञापितम्। ऊषानिरुद्धयोरिति। यदैव शोणितपुरे बाणराजान्तःपुरे ऊषयानिरुद्धेन सह संप्रयोगानन्दोऽन्वभावि तदैवानिरुद्धेनापि द्वारकावरोधशयितेन ऊषया सह स इति। क्वचिदिति न तु सर्वत्रैव प्राकृते लोक इत्यर्थः॥२१७॥

स्वप्नस्य नित्यत्वं दर्शयति—अत एव हीति॥२१८॥

व्यतीत्य तुर्यामपि संश्रितानां तां पञ्चमीं प्रेममयीमवस्थाम्।
न संभवत्येव हरिप्रियाणां स्वप्नो रजोवृत्तिविजृम्भितो यः॥२१९॥

तात्पर्यानुवाद—शास्त्र अनुभवके द्वारा अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाणके बलपर भी स्वप्नका अप्राकृतत्व प्रमाणित कर रहे हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ अवस्थाके अतीत शुद्ध स्वरूपानुभवरूप जो चतुर्थ (समाधि) अवस्था होती है, उसे भी अतिक्रमकर पञ्चमी प्रेममयी अवस्थाको प्राप्त हरिप्रिया उन गोपियोंका रजोगुणवृद्धिजनित स्वप्न सम्भव नहीं है॥२१९॥

लोचनरोचनी—उभयतो रजोवृत्तिरूपो न स्यादित्याह—व्यतीत्येति॥२१९॥

आनन्दचन्द्रिका—ननु स्वप्नस्य राजसबुद्धिवृत्तिविजृम्भितत्वेन तदीयवस्तूनां प्रायशो बाधितत्वमेवेति शास्त्रेषु प्रसिद्धम्? सत्यं तत्खलु प्राकृतानामेव न तु भगवत्प्रेमवतामित्याह—व्यतीत्येति। तुर्यां विश्वतैजसप्राज्ञेभ्यः परां स्वरूपानुभवरूपां समाधिनाम्नीमपि व्यतीत्य अतिक्रम्य॥२१९॥

इत्येष हरिभावस्य विलासः कोऽपि पेशलः।
चित्रस्वप्नमिवातन्वन्कृष्णं संगमयत्यलम्॥२२०॥

तात्पर्यानुवाद—इसीलिए कह रहे हैं कि श्रीहरिमें गोपियों (भक्तों) का जो प्रेम या अपना रमण अभिमान विशेष होता है, उसीका कोई

अनिर्वचनीय मनोज्ञ विलास वैचित्र्य स्वप्नानुभवके बहाने श्रीकृष्णके साथ उनका उत्तम रूपसे यथेष्ट मिलन करा देता है॥२२०॥

लोचनरोचनी—तर्हि कोऽसावित्यत्राह—इत्येष इति। तस्मिंश्च तत्तद्विलासे श्रीकृष्णसङ्गमस्तु यथावदेव, नत्वक्रूरागमनवदन्यथेत्याह—चित्रेति॥२२०॥

आनन्दचन्द्रिका—तर्हि कोऽसौ स्वप्न इत्यत आह—इत्येष इति। चित्रमद्भुतं स्वप्नमिव॥२२०॥

अथैतेषु निरूप्यन्ते तद्विशेषाः सुपेशलाः।
येऽनुभावदशामस्याः प्राप्नुवन्ति रतेः स्फुटम्॥२२१॥

ते तु संदर्शनं जल्पः स्पर्शनं वर्त्मरोधनम्।
रासवृन्दावनक्रीडायमुनाद्यम्बुकेलयः ॥२२२॥

नौखेला लीलया चौर्य्यं घट्टः कुञ्जादिलीनता।
मधुपानं वधूवेशधृतिः कपटसुप्तता॥२२३॥

द्यूतक्रीडा पटाकृष्टिश्चुम्बाश्लेषौ नखार्पणम्।
बिम्बाधरसुधापानं संप्रयोगादयो मताः॥२२४॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ पूर्वोक्त चार प्रकारके सम्भोगोंके विषयमें परम मनोहर सम्भोगविशेषका निरूपण कर रहे हैं। ये सभी विशिष्ट सम्भोग, रतिके अङ्ग नहीं, कार्य हैं। ये उस रतिको प्रकाशित करते हैं, ऐसा समझना चाहिए। संदर्शन, जल्प, स्पर्श, पथरोध, रास, वृन्दावनक्रीड़ा, यमुना और मानसगङ्गादिमें जलकेलि, नौकाविलास, लीला द्वारा चौर्य्य, घट्ट (दानलीला), कुञ्जादिमें पलायन (अर्थात् लुकाचोरी), मधुपान, वधुवेश धारण, कपटनिद्रा, द्यूतक्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, चुम्बन, आलिङ्गन, नखार्पण, बिम्बाधरसुधापान एवं संप्रयोगादि ये सम्भोगके अनुभावसमूह हैं॥२२१–२२४॥

लोचनरोचनी—तदेवं संक्षिप्तादि संभोगभेदान् दर्शयित्वा तद्भेदानां भेदान् दर्शयितुमाह—अथेति। एतेषु संक्षिप्तादिषु यथायथं संक्षिप्तं सर्वेष्वेव निरूपितेषु एतेषां विशेषा निरूप्यन्ते। ते च विशेषा येषां नाङ्गानि किन्तु कार्या इत्याह—ये इति॥२२१॥

के ते तत्राह—ते त्विति॥२२२॥

आनन्दचन्द्रिका—एतेषु संक्षिप्तादिषु मध्ये तद्विशेषाः संभोगविशेषाः। रतेरित्युपलक्षणं प्रेमादीनामपि॥२२१॥

तत्र संदर्शनं यथा ललितमाधवे (२/२६)—

चलाक्षि गुरुलोकतः स्फुरति तावदन्तर्भयं,
कुलस्थितिरलं च मे मनसि तावदुन्मीलति।
चलन्मकरकुण्डलस्फुरितफुल्लगण्डस्थलं,
न यावदपरोक्षतामिदमुपैति वक्त्राम्बुजम्॥२२५॥

तात्पर्यानुवाद—तात्पर्यानुवाद—संदर्शन—सूर्यपूजाके पश्चात् गायोंको सम्भालते हुए पुनरागत श्रीकृष्णको कल्पवृक्षके नीचे देखकर प्रगाढ़ उत्सुकतासे लज्जा त्यागकर श्रीमती राधिका कुन्दलतासे कह रही हैं—"हे चपलनेत्रे! जब तक चञ्चल मकरकुण्डल-शोभित और कुन्द जैसे प्रफुल्ल कपोलयुक्त मुखारविन्दका साक्षात् दर्शन नहीं होता, तभी तक ससुर-सास आदि गुरुजनोंके लिए मनमें भय रहता है एवं वंश-मर्यादाकी भी बात हृदयमें चुभती है, किन्तु उनके दर्शनके पश्चात् सभी विघ्न-बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं॥"२२५॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा कुन्दलतामाह—चलाक्षीति॥२२५॥

अथ जल्पः—

जल्पः परस्परं गोष्ठी वितथोक्तिश्च कथ्यते॥२२६॥

तात्पर्यानुवाद—जल्प—परस्पर आलाप और असत्य भाषणको 'जल्प' कहते है॥२२६॥

तत्र परस्परं गोष्ठी यथा दानकेलिकौमुद्याम् (४२)—

धर्षणे न कुलस्त्रीणां भुजङ्गेशः क्षमः कथम्।
यदेता दशनैरेष दशन्नाप्नोति शोभनम्॥२२७॥

तात्पर्यानुवाद—परस्पर गोष्ठी आलाप—दानघाटीमें श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधाका पथरोध करनेपर श्रीमती राधिकाने श्लेष वचनोंसे कहा—"हे कृष्ण! नकुल-स्त्रियों (नवेलियों) का धर्षण करनेकी क्षमता सर्पराजमें कहाँ है?" पक्षान्तरमें नेवलेकी स्त्रियोंको धर्षण करनेपर नेवला क्यों

क्षमा करेगा? और भी, सर्पराज यदि नेवलीको दाँतसे दंशन करे तो शोभा नहीं पाएगा, वरं नेवलीके द्वारा मारा जाएगा॥२२७॥

लोचनरोचनी—तत्र परस्परगोष्ठीं द्वाभ्यामाह—धर्षणेनेति। कुलस्त्रीणां धर्षणेन कृतेन भुजङ्गेशः षिड्गराजः कथं क्षमः स्यात्? धर्षणनिर्वाहाय योग्यः स्यान्न स्यादेवेत्यर्थः। कुतस्तत्राह—यदेता इति। नाप्नोतीति च्छेदः। पक्षे नकुलस्त्रीणां धर्षणे भुञ्जङ्गेशः सर्पराजः कथं क्षमः स्यात् नेत्यर्थः। तत्र हेतुर्यदेता इति नाप्नोतीति पूर्ववत्। अभियोगपक्षे तु कुलस्त्रीणां धर्षणे षिड्गराजः कथं न क्षमः स्यात् किं तु स्यादेवेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—यदेता इति। अत्र तु प्राप्नोतीति च्छेदः। दशन्नेव मङ्गलं प्राप्नोतीत्यर्थः॥२२७॥

आनन्दचन्द्रिका—दानघट्टे श्रीकृष्णरुद्धा श्रीराधा तमाह—कुलस्त्रीणां घर्षणेन कृतेन भुजङ्गेशः षिड्गराजः कथं क्षमः स्यात्, धर्षणनिर्वाहाय कथं योग्यः स्यात्। अपि तु न स्यादेवेत्यर्थः। कुतस्तत्राह यदेता इति। शोभनं भद्रं नाप्नोति, तासां पत्युः सकाशाद्राजतश्च दण्डो दैहिकाद्दुरितफलात् पारत्रिकाच्चेति भावः। अत्र श्लेषेणैवार्थान्तरन्यासः। नकुलः सर्पद्विट् जन्तुविशेषः तस्य स्त्रीणां धर्षणे भुजङ्गेशः सर्पश्रेष्ठोऽपि कथं क्षमः, अपि तु न क्षमः। कुतस्तत्राह यदेता इति। न शोभनमाप्नोति ताभिरपि प्रतिदंशनेन सद्यः प्राणहानेरिति भावः। अभियोगपक्षे भुजङ्गेशः षिड्गराज एव यदि स्यात्तदा कुलस्त्रीणां साध्वीनां धर्षणे कथं न क्षमः स्यात्, यद्यस्मादेता एव दशन् शोभनं स्वशौर्याभिमानसुखं प्राप्नोति, अन्या युवतयस्तु तस्य पाणौ पतिताः सन्त्येवेति भावः। अत्रापि श्लेषेणार्थान्तरन्यासो द्रष्टव्यः नकुलस्त्रीणां धर्षणे भुजङ्गानां राजा तु कथं न क्षमः, अन्ये भुजङ्गो न क्षमन्तामिति भावः। यद्यस्माच्छोभनं स्वशौर्यमाप्नोतीति॥२२७॥

तत्रैव (४३)—

अप्रौढद्विजराजराजदलिका लब्धा विभूतिं रुचां,
नव्यामात्मनि कृष्णवर्त्मविलसद्दृष्टिर्विशाखाञ्चिता।
कन्दर्पस्य विदग्धतां विदधती नेत्राञ्चलस्य त्विषा,
त्वं राधे शिवमूर्त्तिरित्युरसि मां भोगीन्द्रमङ्गीकुरु॥२२८॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें भुजग शब्दके दो अर्थ ग्रहणकर श्रीकृष्ण प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं—"हे राधे! मुझे ऐसा लगता है कि तुम शिवमूर्त्ति हो; क्योंकि तुम्हारे ललाटदेशमें द्वितीयाका चन्द्रमा विराजमान हो रहा है, अपने अङ्गोंमें कान्तिमालाकी मनोहर विभूति तुमने धारण की है,

तुम्हारे तीसरे नेत्रमें अग्निका विलास है, विशाखेय (कार्तिकेय) तुम्हारी पूजा कर रहा है, ललाटस्थ नेत्राग्निके तेजसे तुम कन्दर्पको भस्मीभूत कर रही हो, अतएव मुझे वासुकीरूपसे वक्षःस्थलमें अङ्गीकार करो।" पक्षान्तरमें—"हे राधे! तुमने मङ्गलमय शरीरको धारण किया है, तुम्हारा ललाट नवीन चन्द्रमाकी भाँति देदीप्यमान है, तुमने अपने अङ्गोंमें अत्यन्त प्रशंसनीय अभिनव कान्ति-सम्पत्तिको प्राप्त किया है, तुम्हारे नेत्र श्यामल पक्ष्मसे सुशोभित हैं अथवा इस कृष्णस्वरूपी मेरे मार्गकी ओर सब समय दृष्टिपातकर विराजमान हो रही हो। तुम्हारी प्रियसखी विशाखा तुम्हें यथेष्ट सम्मान करती है, तुम्हारे अपाङ्गके विक्षेपसे मदनकी वैदग्धी प्रकट हो रही है, मैं विषय भोगियोंका शिरोमणि हूँ, तुम मुझे अपने वक्षःस्थलोंमें स्थान प्रदान करो॥"२२८॥

लोचनरोचनी—अप्रौढः स्वल्पकलो यो द्विजराजश्चन्द्रस्तद्वत् राजदलिकं ललाटं यस्याः, पक्षे अप्रौढत्वेन द्विजराजेन चन्द्रेण राजदलिकं यस्याः आत्मनि देहे नव्यां स्तव्यां रुचां विभूतिं वैभवं लब्धा प्राप्ता, पक्षे रुचां स्तव्यां विभूतिं भस्म। श्रीकृष्णस्य वर्त्मनि विलसन्ती दृष्टिर्यस्याः, पक्षे कृष्णवर्त्मा वह्निः। विशाखासखी, पक्षे विशाखः स्कन्दः, विदग्धतां वैदग्धीम्, पक्षे विशेषेण दग्धताम्। त्विषा शोभया, पक्षे प्रचण्डकान्त्या वा। शिवमूर्त्तिर्मङ्गलरूपा, पक्षे भवशरीरम्, भोगिनां विषयास्वादिनां पक्षे सर्पाणामिन्द्रम्॥२२८॥

आनन्दचन्द्रिका—भुजङ्गशब्दोक्तमर्थद्वयमङ्गीकृत्य तस्याः स्वाभियोगानुरूपं श्रीकृष्णः प्रत्युत्तरमाह—अप्रौढेति। हे राधे! त्वं शिवमूर्त्तिर्मङ्गलमूर्त्तिश्च। यतोऽप्रौढेन द्विजराजेन चन्द्रेण राजद्दीप्तमलिकं यस्याः सा, पक्षे द्विकलचन्द्रतुल्यसुन्दरललाटा। आत्मनि देहे, विभूतिं भस्म। किंभूताम्? रुचां कान्तीनां नव्यां स्तव्यां "णु स्तुतौ"। पक्षे रुचां विभूतिं संपत्तिं नव्यां नवीनाम्। "भूतिर्भस्मनि संपदि" इति नानार्थवर्गः। कृष्णवर्त्मनाग्निना विलसन्ती दृष्टिस्तृतीयनेत्रं यस्याः सा। पक्षे कृष्णेन श्यामेन वर्त्मना पक्ष्मणा किं वा कृष्णस्य मम वर्त्मनि गमनागमनमार्गे विलसन्त्यौ दृष्टी यस्याः सा। "वर्त्मनेत्रच्छदेऽध्वनि" इति नानार्थवर्गः। विशाखेन कार्त्तिकेयेन। पक्षे विशाखया स्वप्रियसख्या चाञ्चिता पूजिता। नेत्राञ्चलस्य भालस्थतृतीयनयनैकदेशस्य त्विषा ज्वालया। पक्षे अपाङ्गकान्त्या विदग्धतां विशेषतो दग्धत्वं पक्षे वैदग्धीत्वं च। इत्यत एव मां भोगीन्द्रं वासुकिं तस्य शिवहृदयालंकारत्वात्। पक्षे भोगिनां विषयभोगवतामिन्द्रम्॥२२८॥

वितथोक्तिर्यथा तत्रैव (४४)—

अस्मिन्नद्रौ कति नहि मया हन्त हारादिवित्तं,
हारं हारं हरिणनयना ग्राहिता जैनदीक्षाम्।
याः काकूक्तिस्थगितवदनाः पत्रदानेन दीना-
स्तूर्णं दूरादनुजगृहिरे प्रौढवल्ली सखीभिः॥२२९॥

तात्पर्यानुवाद—वितथोक्ति—असत्य-भाषणको वितथोक्ति कहते हैं। दानघाटीमें स्थित श्रीमती राधिकादि सखियोंको श्रीकृष्ण, असत्य होनेपर भी भङ्गीपूर्वक भय दिखला रहे हैं—"मैंने इस गोवर्द्धनकी तलहटीमें न जाने कितनी मृगनयनी बालाओंकी सम्पत्ति (मणिमाला, किङ्किणी, नूपुरादि भूषणोंको) हरण कर उन्हें जैनधर्ममें (दिगम्बर) दीक्षा दी है। काकु-मिनती पूर्ण वचनोंसे (लज्जा, असूया, अमर्षादि वैश्वर्यवशतः) स्तब्ध वदन एवं दीनहीन होनेपर उन बालाओंपर नवीन सखीरूप लतासमूहने दूरसे अपने पत्ररूप वस्त्र प्रदानकर अनुग्रह किया था॥"२२९॥

लोचनरोचनी—जैन दीक्षामिति। तद्वदावरणशून्यावस्थत्वमित्यर्थः॥२२९॥

आनन्दचन्द्रिका—वितथोक्तिर्मृषोक्तिः। दानघट्टस्थः श्रीकृष्णः श्रीराधाप्रभृतीर्भीषयन्नह—अस्मिन्निति। हारं हारं हृत्वा हृत्वा जैनदीक्षां दिगम्बरत्वमित्यर्थः। याः कर्मभूताः प्रौढवल्ल्य एव सख्यस्ताभिः कर्त्रीभिः॥२२९॥

अथ स्पर्शनं यथा—

न कुरु शपथमस्य स्पर्शतो दूषितोच्चै-
रसि भुजभुजगेन त्वं भुजङ्गाधिपस्य।
तनुरनुपमकम्पा स्वेदमभ्युद्गिरन्ती,
कपटिनि परितस्ते पश्य रोमञ्चितास्ति॥२३०॥

तात्पर्यानुवाद—संस्पर्शन—कोई लघुप्रखरा यूथेश्वरी किसी अधिकमृद्वी अपनी सुहृद् सखीसे सरस वचन कह रही है—"हे कपटिनि! तुम्हें और शपथ खानेकी आवश्यकता नहीं है, तुम श्रीसर्पराजके (पक्षान्तरमें कामुकचूड़ामणिके) भुजरूप भुजङ्ग द्वारा स्पृष्ट होकर अत्यन्त दूषित हो रही हो। लज्जाको परित्याग नहीं करनेपर भी तुम्हारे अङ्गोंमें स्पर्शका

लक्षण स्पष्ट ही देखा जा रहा है। देखो न, तुम्हारी अङ्गलता असाधारण कम्पायमान होनेके कारण उससे पसीनेकी बूँदें झड़ रही हैं, तुम्हारे अङ्गोंमें सर्वत्र ही रोमाञ्च हो रहा है॥"२३०॥

लोचनरोचनी—काचिदधिका प्रौढा मुग्धलघुं परिहसन्ती श्रीकृष्णं भुञ्जङ्गाधिपत्वेन निर्दिश्य स्प्रष्टुं निषिद्धवती। ततः कथंचित्तेन स्पृष्टां तत्स्पर्शममन्यमानां तां प्रत्याह—न कुरु शपथमिति। सर्पपक्षे दूषितेति तत्स्पर्शविशेषेणेति भावः॥२३०॥

आनन्दचन्द्रिका—काचिल्लघुप्रखरा यूथेश्वरी अधिकमृद्वीं स्वसुहृदं सरसोद्गारमाह—न कुर्विति। सखि! सत्यं ब्रूहि गोवर्द्धनगुहायां त्वं भुजङ्गेन दष्टा स्पृष्टा वा कम्पैर्लक्ष्यसे इति। ततः साह—सखि मान्यथा शङ्किष्ठाः कात्यायन्या एव शपथः केवलं हैमनेन पवनेनैव मे तनुः कम्पते इति ततः पुनरपि प्रथमाह—न कुर्विति। अनुपमः अद्भुतः कम्पो यस्याः सा, यतः स्वेदमभ्युद्गिरन्तीति॥२३०॥

अथ वर्त्मरोधनं यथा विदग्धमाधवे (६/१९)—

परीतं शृङ्गेण स्फुटतरशिलाश्यामलरुचं,
वलद्वेत्र वंशव्यतिकरलसन्मेखलममुम्।
अतिक्रम्योत्तुङ्गं धरणिधरमग्रे कथमित–
स्त्वया गन्तुं शक्या तरणिदुहितुस्तीरसरणिः॥२३१॥

तात्पर्यानुवाद—पथरोध—"सूर्यपूजाके मार्गको छोड़ दो"—इस प्रकार कहे जानेपर मार्गावरोध करते हुए श्रीकृष्ण श्रीराधासे कह रहे हैं—"हे राधे! पर्वतशृङ्ग परिव्याप्त, श्यामवर्णकी विराट शिलासे अवरुद्धपथ, सघन वृक्षों और बाँसवनसे विराजित नितम्बयुक्त सन्मुखवर्ती इस उत्तुङ्ग पर्वतको लाँघकर किस प्रकार तुम यमुनाके तटपर जाओगी?"

अभियोगपक्षमें—महिषादि शृङ्ग निर्मित (शिंगा) वाद्ययन्त्र, अत्युज्ज्वल शिलाकी भाँति श्यामल कान्तिधारी, वेत्रहस्त, वंशी सहित क्षुद्रघण्टिका धारण किए हुए नितम्बविशिष्ट इस उच्च कृष्णको लाँघकर तुम किस प्रकारसे यमुना तटमें जा सकती हो?॥२३१॥

लोचनरोचनी—शृङ्गं कूटो विषाणं वा। मेखला काञ्ची अद्रितलांशो वा॥२३१॥

आनन्दचन्द्रिका—मुञ्च सूर्यपूजामार्गमित्युच्यमानस्तानवरुन्धान एव श्रीकृष्णः श्रीराधामाह—परीतमिति। शृङ्गेन शिखरेण गरलेन च। स्फुटतराभिः शिलाभिः श्यामला

रुक् कान्तिर्यस्य तम्। पक्षे शिलानां श्यामला रुगिव रुक् यस्य तम्। वेत्रो वृक्षविशेषो यष्टिविशेषश्च। वंशो वृक्षविशेषो मुरली च। मेखला पर्वतनितम्बः क्षुद्रघण्टिका च। धरणीधरं पर्वतं श्रीकृष्णं च॥२३१॥

अथ रासो यथा—

हरिर्नवघनाकृतिः प्रतिवधूद्वयं मध्यत-
स्तदंशविलसद्भुजो भ्रमति चित्रमेकोऽप्यसौ।
वधूश्च तडिदुज्ज्वला प्रति हरिद्वयं मध्यतः,
सखीधृतकराम्बुजा नटति पश्य रासोत्सवे॥२३२॥

तात्पर्यानुवाद—रास—यमुनापुलिनमें रासलीलामें व्रजगोपियोंके साथ विहारपरायण श्रीकृष्णको देखकर विमानचारिणी देवाङ्गनाएँ मोहित होकर परस्पर कह रही हैं—"हे देवि, नवीन मेघोंकी आकृतियुक्त, सभीके अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाले श्रीहरि अकेले रहनेपर भी दो वधुओंके बीचमें स्थित होकर उनके कन्धोंपर अपने हाथोंको रखकर सभीको आश्चर्यचकितकर नृत्य कर रहे हैं तथा विद्युत्से भी अत्यन्त उज्ज्वल एवं अपनी सखीके द्वारा पकड़ी हुई वह वधू भी प्रति दो श्रीकृष्णके बीचमें स्थित होकर रासोत्सवमें क्या ही अपूर्व नृत्य कर रही है!"॥२३२॥

आनन्दचन्द्रिका—विमानचारिणी काचित् देवी कामप्याह—हरिरिति। प्रतिवधूद्वयमिति वधूद्वयस्य मध्ये हरिरित्यर्थः। अत्र वधूशब्देन यूथपैवोच्यते। सख्या धृतं स्ववामकरेण श्रीकृष्णपृष्ठदेशनिहितेन कराम्बुजं दक्षिणं यस्याः सा। तेन श्रीकृष्णस्य वामभागे यूथेश्वरी दक्षिणभागे तस्या एव मुख्यैका सखी। एवमन्यस्य श्रीकृष्णप्रकाशस्य वामभागे यूथेश्वरीत्यादि। तेनैकस्या नायिकायाः स्कन्धद्वये द्वयोः श्रीकृष्णप्रकाशयोर्भुजन्यासरूपो दोषो व्याहतः। अतएव "योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः। प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥" इत्यत्रापि श्रीकृष्णेनैकैकेन प्रकाशेन कण्ठे गृहीतानां न तु श्रीकृष्णप्रकाशाभ्यामिति व्याख्येयम्। किञ्च सर्वासामेव यूथेश्वरीणां पार्श्वयोः सुहृत्पक्षतटस्थपक्षस्थितिरनुसंधेया स्वारस्यविघातकाभावात्। यद्वैकैकस्मिन् यूथे यावत्यः सख्यस्तासां सर्वासामेव प्रधानगुणताभावेन नायिकात्वसखीत्वाभ्यां सव्यदक्षिणयोः स्थितानां यथोचितावस्थितिसमाप्त्यनन्तरमेवान्यान्ययूथस्य तादृशावस्थितिर्भवेत्। एवं च नित्यनायिकानां द्वयोरेव कराम्बुजयोः स्वसखीधृतत्वसिद्ध्या परमस्वारस्यं सर्वगोपीनां रासमण्डलान्तःपातित्वं च सिद्ध्येदिति॥२३२॥

अथ वृन्दावनक्रीडा यथा—

स्थलकमलमलीनां स्तौति गीतैः पदं ते,
रदततिमतिनम्रा वन्दते कुन्दराजी।
अधरमनुभजन्ती लम्बते बिम्बमाला,
विलसति तव वश्या पश्य वृन्दाटवीयम्॥२३३॥

तात्पर्यानुवाद—वृन्दावनक्रीड़ा—वृन्दावनक्रीड़ामें श्रीमती राधिकाके साथमें विहार करते-करते श्रीकृष्ण वृन्दावनकी शोभा वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीमतीजीका गुणोत्कर्ष व्याख्यान करने लगे—“हे राधे! देखो, स्थलपद्मसमूह भ्रमरगीतके बहाने तुम्हारे श्रीचरणकमलोंका स्तव कर रहा है, कुन्द पुष्पोंकी कलिकाएँ भी अति नम्र होकर तुम्हारी दन्तपंक्तिकी वन्दना कर रही हैं, यह बिम्बश्रेणी भी तुम्हारे ही अधरोंकी पुनः-पुनः आराधना करते-करते लतापर लम्बित हो रही है। अतः यह वृन्दाटवी भी तुम्हारे ही अधीन होकर सुशोभित हो रही है॥”२३३॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीकृष्णः श्रीराधां वर्णयति—स्थलकमलं कर्तृ॥२३३॥

यमुनाजलकेलिर्यथा—

व्यात्युक्षीयुधि राधया घनरसैः पर्य्युक्षमाणस्य ते,
माल्यं भङ्गमवाप वीरतिलको यातः किलादृश्यताम्।
वक्त्रेन्दौ प्रतिमाच्छलेन शरणं लब्धः सखीं कौस्तुभ-
स्तन्माभूश्चकितो विमुक्तचिकुरं नाद्रत्यसौ त्वद्विधम्॥२३४॥

तात्पर्यानुवाद—यमुनाजलकेलि—रहोविलासके अनन्तर जलकेलि आरम्भ होनेपर विशाखा श्रीमती राधिकाकी विजयको देखकर श्रीकृष्णको सोलुण्ठ वाक्योंसे कह रही है—“हे वीर! इस जलक्रीड़ारूप युद्धमें श्रीमती राधिका द्वारा जल-सिञ्चनसे (पक्षमें निबिड़ अनुरागसे) तुम्हारी माला भङ्ग हो गई है। (पक्षान्तरमें तुम्हारी पराजय हुई है) तुम्हारा तिलक भी मिट गया है, तुम्हारे वक्षःस्थलका कौस्तुभ भी प्रतिबिम्ब धारणके बहाने मेरी सखीके वदनचन्द्रमाकी शरण ग्रहण कर रहा है, अपने परिकरोंके भागनेपर तुम भयभीत मत होना। व्याकुलतासे तुम्हारे केशकलाप इतस्ततः त्रस्त हो रहे हैं, हमारी प्यारी सखी ऐसे व्यक्तिको पीड़ा दान नहीं करेगी॥”२३४॥

लोचनरोचनी—प्रतिमां प्रतिबिम्बम्। नाद्रति न पीडयति॥२३४॥

आनन्दचन्द्रिका—विशाखा श्रीकृष्णमाह—व्यात्युक्षीयुधि परस्परजलसेकयुद्धे घनरसैर्व्यात्युक्षी युधि घनरसैः पर्युक्षमाणस्येति काकाक्षिगोलकन्यायेनान्वये घनरसैर्जलैर्निबिडरसैरिति श्लेषो घटते। प्रतिमा प्रतिबिम्बं नाद्रति न पीडयति॥२३४॥

यथा वा पद्यावल्याम् (३०१)—

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥२३५॥

तात्पर्यानुवाद—जलकेलिमें श्रीराधाजीकी विजयका उल्लेखकर श्रीकृष्णकी विजयको भी बतला रहे हैं—जिस प्रकार चक्रवाक युवक-युवती रात्रिमें अलग-अलग हो जाते हैं, दिनमें फिर उनका मिलन होता है, उसी प्रकार जलक्रीड़ामें श्रीकृष्णके हाथोंसे फेंकी हुई जलकी धारासे कभी श्रीराधाका मुख आच्छादित हो जाता है और कभी मुक्त जो जाता है। इस रूपमें जलक्रीड़ा-कौतुकी श्रीकृष्ण जगत्‌की रक्षा करें॥२३५॥

आनन्दचन्द्रिका—जलकेलौ श्रीराधाया जयमुक्त्वा श्रीकृष्णस्यापि तमाह—यथा वेति। जलकेलौ तरलाभ्यां करतालाभ्यां मुक्तं पुनःपिहितमाच्छादितं श्रीराधावदनं येन सः। पराभूयमानां श्रीराधां तत्सखीर्ज्ञापयितुमिति भावः। विघटनं तन्मुखे चन्द्रभ्रान्त्या रात्रिभयाद्विश्लेषः। संघट्टनं तदाच्छादनेन प्रकृतदिवसबुद्ध्या उल्लासात् संमिलनं ताभ्यां कौतुकी॥२३५॥

अथ नौखेला—

मुक्ता तरङ्गनिवहेन पतङ्गपुत्री,
नव्या च नौरिति वचस्तव तथ्यमेव।
शङ्कानिदानमिदमेव ममातिमात्रं,
त्वं चञ्चलो यदिह माधव नाविकोऽसि॥२३६॥

तात्पर्यानुवाद—नौकाखेला—यमुनाविहारमें कर्णधारके रूपमें विराजित श्रीकृष्णके द्वारा अपनी नौकामें आरोहण करनेके लिए पुनः-पुनः अनुरोध किये जानेपर श्रीमती राधिका अपने गूढ़ अभिप्रायको व्यक्त कर रही हैं—"हे माधव! यमुनामें तरङ्गें नहीं हैं और तुम्हारी नौका भी नवीन और सुदृढ़ है। तुम्हारी यह बात पूर्ण सत्य है, उसमें कुछ भी सन्देह

नहीं है, किन्तु तुम्हारी नौकामें आरोहण करनेमें हम अति सशङ्कित हैं तथा नौकापर आरोहण करनेके लिए शीघ्रता भी नहीं कर रही हैं, इसका एकमात्र कारण यह है कि इस नौकामें तुम चञ्चल कर्णधार हो॥"२३६॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधा श्रीकृष्णमाह—मुक्ता रहिता॥२३६॥

अथ लीलाचौर्यम्—

लीलाचौर्यं भवेद्वंशीवस्त्रपुष्पादिहारिता॥२३७॥

तात्पर्यानुवाद—लीलाचौर्य—वंशी, वस्त्र और पुष्पादिकी चोरीको लीलाचौर्य कहते है॥२३७॥

तत्र वंशीचौर्यं यथा पद्यावल्याम् (२५३)—

नीचैर्न्यासादथ चरणयोर्नूपुरे मूकयन्ती,
धृत्वा धृत्वा कनकवलयान्युत्क्षिपन्ती भुजान्ते।
मुद्रामक्ष्णोश्चकितचकितं शश्वदालोकयन्ती,
स्मित्वा स्मित्वा हरति मुरलीमङ्कतो माधवस्य॥२३८॥

तात्पर्यानुवाद—वंशीकी चोरी—विहारादिके कारण अतिशय परिश्रम और आलस्यसे निकुञ्जकी वेदीपर निद्रित श्रीकृष्णकी मुरलीको चुरानेकी इच्छासे कौतुकिनी श्रीराधाकी मधुर चेष्टाका सखियाँ परस्पर आस्वादन कर रही हैं—"श्रीमती राधिका चुपचाप अपने चरणोंको इस प्रकारसे धीरे-धीरे रख रही हैं कि चरणोंके नूपुर न बज सकें, चूड़ियोंको हाथोंमें इस प्रकार ऊपर उठा लिया है, जिससे चूड़ियाँ भी न बज सकें और चकित चञ्चल नेत्रोंसे श्रीकृष्णकी आँखोंकी ओर दृष्टि रखती हुईं मृदुमन्द मुस्कानके साथ श्रीकृष्णकी गोदीसे मुरलीको उठा रही हैं॥"२३८॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधाया मुरलीचौर्यचरितं तत्सख्यः परस्परमास्वादयन्ति—नीचैरिति॥२३८॥

अथ वस्त्रचौर्यं यथा—

छद्मावलिवृतैव नः सपदि काचिदेका व्रजं,
प्रविश्य जरतीरिहानयतु घोरकर्मोद्धताः।

अयं गुणनिधिस्तरोरुपरि ताभिरभ्यर्च्यता–
मुमाव्रतकुमारिकापटलचेलपाटच्चरः ॥२३९॥

तात्पर्यानुवाद—वस्त्रचोरी—कात्यायनीव्रत करनेवाली व्रजकिशोरियोंके तटपर रखे हुए वस्त्रोंको चोरीकर श्रीकृष्ण कदम्बवृक्षके ऊपर चढ़कर नर्मभङ्गीपूर्वक हँसने लगे। उसे देखकर कोई प्रगल्भ स्वभाववाली यूथेश्वरी उपदेश करती हुई उनका तिरस्कार कर रही है—"देखो, हममेंसे कोई एक कमलपत्रोंके द्वारा अपने अङ्गोंको ढककर शीघ्र ही व्रजमें जाकर वृद्धाओंको यहाँपर बुला लावें, जिससे वे वृद्धाएँ यहाँ उपस्थित होकर कदम्बवृक्षके ऊपरमें बैठकर कात्यायनीव्रतधारण करनेवाली कुमारियोंके वस्त्रचोरका यथेष्ट रूपमें अर्चन करें॥"२३९॥

आनन्दचन्द्रिका—बहुविनयैरपि वस्त्रमददानं श्रीकृष्णं यमुनाजलस्था एव गोप्यः श्रीकृष्णं भीषयमाणा आहुः। छदावलिस्तत्रत्या पद्मपत्रश्रेणी। पाटच्चरश्चौरः॥२३९॥

अथ पुष्पचौर्यं यथा—

अयि ज्ञातं ज्ञातं हरसि हरिणाक्षि प्रतिदिनं,
त्वमेव प्रच्छन्ना मम सुमनसां मञ्जरिमितः।
चिराद्दिष्ट्या चौरि त्वमिह विधृताद्य स्वयमतो,
गुहाकारामारात्प्रविश वसतिं प्रौढिभिरलम्॥२४०॥

तात्पर्यानुवाद—पुष्पचोरी—एकाकिनी वृन्दावनमें सूर्यपूजाके लिए कुसुमचयन करनेवाली श्रीमती राधिकाको निरुद्धकर श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे मृगलोचने! अब मुझे पता चला कि तुम ही प्रतिदिन छिपकर इस स्थानसे मेरे पुष्पों और उनकी मञ्जरियोंकी चोरी करती हो, किन्तु आज सौभाग्यवशतः बहुत दिनोंके बाद तुम पकड़ी गई हो। हे चोरनि! आज तुम अधिक बकवास न कर निकटकी शैल–कन्दरारूप कारागारमें स्वयं ही प्रवेश करो॥"२४०॥

आनन्दचन्द्रिका—एकाकिनीमेवोद्याने पुष्पमवचिन्वतीं श्रीराधामागत्य दिधीर्षुः श्रीकृष्ण आह—अयीति॥२४०॥

अथ घट्टो यथा दानकेलिकौमुद्याम् (६४)—

घट्टाधिराजमवमत्य विवादमेव,
यूयं यदाचरथ दानमदित्समानाः।
मन्ये विधत्सथ तदत्र गिरेस्तटेषु,
दुर्गेषु हन्त विषमेषु रणाभियोगम्॥२४१॥

तात्पर्यानुवाद—दानघट्ट—गोवर्द्धन स्थित दानघाटीमें अवरुद्ध ललितादिके प्रति श्रीकृष्णकी शठोक्ति—"अहो! तुमलोग घाटीका दान न देकर, घाटीके अधिपति मेरी अवज्ञाकर जो विवाद कर रही हो, उससे मुझे ऐसा लगता है कि तुम इस गिरिके विषम नीचे-ऊँचे दुर्लङ्घ्य घाटीमें युद्ध करना चाहती हो।" अभियोग पक्षसे तुमलोग कामयुद्धके लिए प्रस्तुत हो॥२४१॥

आनन्दचन्द्रिका—दानघट्टस्थः श्रीकृष्णो ललिताद्या आह—घट्टाधीति। विषमेष्विति सप्तम्यन्तम्, पक्षे विषमेषुः कन्दर्पः। अभियोगमुद्यमम्॥२४१॥

अथ कुञ्जादिलीनता यथा विदग्धमाधवे (६/२५)—

शङ्के सङ्कुलितान्तराद्य निबिडक्रीडानुबन्धेच्छया,
कुञ्जे वञ्जुलशाखिनः शशिमुखी लीना वरीवर्त्ति सा।
नो चेदेष तदङ्घ्रिसङ्गमविनाभावादकाले कथं,
पुष्पामोदनिमन्त्रितालिपटलीस्तोत्रस्य पात्रीभवेत्॥२४२॥

तात्पर्यानुवाद—कुञ्जादिलीनता—एक समय शरत्कालमें श्रीमती राधिकाके साथ वनविहार करते-करते परस्पर प्रौढ़ीवशतः लुकाचोरीका खेल खेलनेमें प्रवृत्त होनेपर छिपी हुई राधिकाको खोजते-खोजते अकस्मात् असमयमें फूलोंसे लदे हुए अशोकवृक्षको देखकर श्रीकृष्ण वितर्क और विस्मयके साथ उसी कुञ्जमें श्रीमती राधिकाकी स्थिति निश्चय कर रहे हैं—"अहो! मुझे ऐसा लगता है कि चन्द्रवदना श्रीमती राधिका इस समय प्रगाढ़ रहोलीलाकी अभिलाषासे इसी अशोकवृक्षके लतामन्दिरमें प्रविष्ट हुई हैं। अन्यथा उनके चरणोंके स्पर्शके बिना असमयमें अर्थात् इस शरत्कालमें भी अशोकवृक्ष क्यों अपने पुष्पके

सौरभसे निमन्त्रित भ्रमरश्रेणियोंके मधुपानसे उत्पन्न झँकार रूप स्तवका पात्र होगा॥"२४२॥

लोचनरोचनी—वञ्जुलोऽशोकः। पद्मिन्याश्चरणस्पर्शेनाशोकः पुष्प्यतीति कविसमयः॥२४२॥

आनन्दचन्द्रिका—निलीनां श्रीराधामन्विष्यन् श्रीकृष्णः परामृशति—शङ्क इति। वञ्जुलोऽशोकः॥२४२॥

अथ मधुपानं यथा—

मुखविधुमुदितं मधुद्विषोऽसौ,
मधुचषके मधुरं समीक्ष्य मुग्धा।
अदिशत दृशमेव तत्र पातुं,
न तु वदनं मुहुरर्थितापि तेन॥२४३॥

तात्पर्यानुवाद—निकुञ्जमन्दिरमें मधुपान—दूरसे कुञ्जमें श्रीराधाजीकी चेष्टा देखकर वृन्दा पौर्णमासीसे कह रही है—"श्रीमती राधिका मधुपानपात्रमें प्रतिबिम्बित श्रीकृष्णके मुखचन्द्रका दर्शनकर मुग्ध हो गईं। मधुपानके लिए श्रीकृष्णके द्वारा बारम्बार अनुरोध किए जानेपर भी वे केवल पानपात्रमें अपने नयनोंको ही प्रेरित कर रही हैं, अपने मुखको नहीं। अर्थात् वे केवल देख रही हैं, पान नहीं कर रहीं॥"२४३॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा पौर्णमासीमाह—मुखेति। मुग्धा आनन्दमोहयुक्ता तन्माधुर्यपानोत्थसौन्दर्यवती॥२४३॥

अथ बधूवेशधृतिर्यथोद्धवसंदेशे (६४)—

केयं श्यामा स्फुरति सरले गोपकन्या किमर्थं,
प्राप्ता सख्यं तव मृगयते निर्मितासौ वयस्या।
आलिङ्गामुं मुहुरिति तथा कुर्वती मां विदित्वा,
नारीवेशं ह्रियमुपययौ मानिनी यत्र राधा॥२४४॥

तात्पर्यानुवाद—उद्धवको गोकुलमें भेजते समय अपने व्रजवासकालीन वधूवेश धारणके कौतुक-व्यापारको श्रीराधाके गुणोंसे आकृष्ट-चित्त

श्रीकृष्ण उद्धवसे कह रहे हैं—(एक दिन श्रीराधिकाजी मानिनी हो रही थी। श्रीकृष्ण उनके मान-भञ्जन करनेके लिए नारीवेश सजाकर उनके भवनमें जा पहुँचे। तब श्रीराधाजी और विशाखाजीमें जो परस्पर-संवाद हुआ, उसीका ही कृष्ण वर्णन कर रहे हैं)

श्रीमती राधिकाने पूछा—हे सरले! यह श्यामा नारी कौन है?

विशाखा—गोपकन्या है।

श्रीमती राधिका—यहाँ क्यों आई है?

विशाखा—तुमसे सखी-सम्बन्धके लिए प्रार्थना करने आई है।

श्रीमती राधिका—अच्छा! इसे मैंने सखी बनाया।

विशाखा—तब इस नवागता सखीका आलिङ्गन करो।

विशाखाके कहनेसे श्रीमती राधिका पुनः-पुनः आलिङ्गन करते-करते नारीवेशमें आवृत मुझे पहचानकर बड़ी लज्जित हुईं॥२४४॥

आनन्दचन्द्रिका—मानिन्या श्रीराधया सह विशाखाया उक्तिप्रत्युक्तिमाधुर्यमनुभूतचरं पुनरुद्धवमास्वादयन् श्रीकृष्ण आह—केयमिति। यत्र गोष्ठे तत्र याहीति पूर्वेणैवान्वयः॥२४४॥

अथ कपटसुप्तता यथा श्रीकृष्णकर्णामृते (१/२१)—

स्तोकस्तोकनिरुद्ध्यमानमृदुलप्रस्यन्दिमन्दस्मितं,
प्रेमोद्भेदनिरर्गलप्रसृमरप्रव्यक्तरोमोद्गमम् ।
श्रोतुं श्रोत्ररसायनं व्रजवधूलीलामिथोजल्पितं,
मिथ्यास्वापमुपास्महे भगवतः क्रीडानिमीलद्दृशः॥२४५॥

तात्पर्यानुवाद—कपटसुप्ति—वृन्दावनके क्रीड़ानिकुञ्जमें श्रीमती राधिकादिके साथ विहारपरायण परमरस-कदम्बमूर्त्ति श्रीकृष्णके द्वारा अङ्गीकृत कौतुकविशेषकी स्फूर्ति होनेपर उनके दर्शनकी इच्छासे उत्कण्ठित श्रीबिल्वमङ्गल दीनताके साथ कह रहे हैं—"श्रीराधादिके कौतुकपूर्ण परस्पर स्वैर कर्णरसायन आलापको सुननेकी इच्छासे बहाना बनाकर छलनापूर्वक अपनी आँखोंको बन्द किए हुए भगवान् श्रीकृष्णकी व्याजनिद्राकी आराधना करता हूँ, जिसमें वे मृदुमन्दहास्यको धीरे-धीरे दबानेकी चेष्टा करनेपर भी प्रेमके आविर्भावके कारण उसे रोक न सके और उनके

सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे हँसने लगे। इस प्रकार अपनी कपटनिद्राको छिपा न सके॥"२४५॥

आनन्दचन्द्रिका—व्रजबालारमणस्य सहेतुकमिथ्यास्वापलीलास्वादं लीलाशुक आविष्करोति। स्तोकं स्तोकमल्पमल्पं निरुध्यमानं संव्रियमाणम्, तदपि मृदुलं यथा स्यात्तथा, प्रस्यन्दि बहिर्गच्छत् मन्दस्मितं यत्र तम्। प्रस्यन्दीति पदेन स्मितस्यामृतत्वमारोपितम्। तेन च स्वस्य च व्रजवधूभिर्नयनचषकैस्तात्कालिकं पानं व्यञ्जितम्। तथा प्रेमोद्भेदेन प्रेमकल्पवृक्षोद्गमेन हेतुना निरर्गला निरावरणाः प्रसृमराः, अतएव प्रव्यक्ता रोमोद्गमा रोमाञ्चा यत्र तम्। तेन व्रजवधूनयनमनो-मधुकराभीष्टसिद्धिर्द्योतिता॥२४५॥

अथ द्यूतक्रीडा यथा—

जित्वा द्यूतपणं दशत्यघहरे गण्डं मुदा दक्षिणं,
सा वामं च दशेति तत्र रभसादक्षं क्षिपन्त्यभ्यधात्।
आज्ञा सुन्दरि ते यथेति हरिणा वामे च दष्टे ततः,
संरम्भादिव सा भुजालतिकया कण्ठे बबन्ध प्रियम्॥२४६॥

तात्पर्यानुवाद—द्यूतक्रीड़ा—यमुनापुलिनके समीपवर्ती निकुञ्जमें पाशक-क्रीड़ामें आसक्त श्रीयुगलकिशोरको, विशेषकर श्रीकृष्णके प्रतिभासमुल्लसित कौतुकविशेषका अनुभवकर वृन्दा कुन्दलतासे कह रही है—निकुञ्जमें श्रीराधाकृष्ण यह पण रखकर चौसर खेलने बैठे कि जो भी जीतेगा, वह दूसरेके कपोलका चुम्बन करेगा। श्रीकृष्ण पाशकक्रीड़ामें जय लाभकर आनन्दके साथ देयपणके स्वरूपमें जब श्रीराधाके दक्षिण कपोलका चुम्बन करनेकी चेष्टा करने लगे, उसको अनदेखाकर तब श्रीमती राधिकाने भी क्रीड़ामें स्पर्धासे अपने अक्षोंको चलाती हुई, अपनी जयके लिए उपयोगी 'वाम' और 'दश' इन दोनों गोटियोंमेंसे एककी वाञ्छाकर 'वामञ्च दश' इस प्रकार उच्चारण किया, तत्क्षणात् श्रीकृष्णने प्रत्युत्पन्न बुद्धिके बलसे—हे सुन्दरि! तुम्हारी जो आज्ञा, यह कहते-कहते उनके बाँए कपोलमें चुम्बन किया। उस समय श्रीमती राधिकाने रोषसे भरकर मानो अपनी भुजलताके द्वारा प्रियतमके कण्ठको बाँध लिया॥२४६॥

लोचनरोचनी—क्वचिद्देशे वामञ्च, दशाख्यौ पाशकभेदौ॥२४६॥

आनन्दचन्द्रिका—वृन्दा कुन्दलतामाह—जित्वेति। दशति सतीति गण्डदेशनमेव पण आसीदिति गम्यते। सा राधा वामं च दशेति गौडदेशीयपाशकदायभेदसंज्ञा। रभसादक्षं क्षिपन्तीति अनेन दायेन ममापि दायो भावीत्याकांक्षया। ततश्च श्रीकृष्णो वाक्च्छलं प्राप्याह—आज्ञेति। मम वामं च गण्डं दशेति त्वमाज्ञापयसि चेदवश्यमेवेति भावः। वामे च गण्डे कपोले॥२४६॥

अथ पटाकृष्टिर्यथा ललितमाधवे (६/३१)—

धन्यः सोऽयं मणिरविरलध्वान्तपुञ्जे निकुञ्जे,
स्मित्वा स्मित्वा मयि कुचपटीं कृष्टवत्युन्मदेन।
गाढं गूढाकृतिरपि तया मन्मुखाकूतवेदी,
निष्ठीवन् यः किरणलहरीं ह्रेपयामास राधाम्॥२४७॥

तात्पर्यानुवाद—पटाकृष्टि—जाम्बवानके घरसे स्यमन्तकमणि लेकर जब श्रीकृष्ण द्वारकामें लौटे, तब मधुमङ्गल उस मणिकी अलौकिक प्रभाको दर्शनकर उसका उत्कर्ष वर्णन करने लगे। उस समय श्रीमती राधिकाके साथ व्रजवासकालीन विलासविशेषको स्मरणकर स्यमन्तक सहयोगकारिताके वर्णन प्रसङ्गमें राधा-विरहविधु नागरेन्द्र श्रीकृष्ण मधुमङ्गलसे विह्वल होकर कह रहे हैं—"हे सखे! स्यमन्तकमणि ही धन्य है; क्योंकि निबिड़ अन्धकारयुक्त निकुञ्जमें मदनमत्ततासे हँसते-हँसते मैंने जब राधिकाकी कञ्चुलिकाका आकर्षण किया, तब श्रीराधाके वस्त्रोंके भीतर छिपी हुई इस मणिने मेरा मुख प्रकाशित करनेके लिए अपनी प्रभाका विस्तार कर दिया, जिसे देखकर राधाजी लज्जित हो गई॥२४७॥

लोचनरोचनी—कीर्णीकुर्वन् किरणलहरीं ह्रेपयामास यस्ताम्। इति वा पाठः॥२४७॥

आनन्दचन्द्रिका—जाम्बवतः सकाशान्मणिमाहृत्य मधुमङ्गलेन परिचितं तं स्तुवन् श्रीकृष्णस्तत् पूर्ववृत्तमाह। धन्यः स शंखचूडमणिरेवायमिति प्रत्यभिज्ञातः। उत्कृष्टो यो मदस्तेन तया राधया गूढप्रकाशमीत्या। आवृता आकृतिर्यस्य तदपि मन्मुखस्याकूतमभिप्रायं वेदितुं शीलं यस्य सः। निष्ठीवन् उद्गीर्य प्रकाशयन् श्रीराधां लज्जयामास मत्सुखापेक्षयेति भावः॥२४७॥

अथ चुम्बो यथा—

कपटचटुलितभ्रुवः समन्ता-
न्मुखशशिनं रभसाद्विधूयमानम्।
दनुजरिपुरचुम्बदम्बुजाक्ष्याः,
कमलमिवानिलकम्पि चञ्चरीकः ॥२४८॥

तात्पर्यानुवाद—चुम्बन—पूर्वरागके पश्चात् मिलनके समय श्रीकृष्णके द्वारा श्रीराधाके मुखचुम्बन-व्यापारको रूपमञ्जरी किसी दूसरी सखीसे कह रही है—"हे सखि! जिस प्रकारसे वायुवेगसे प्रकम्पित कमलको खञ्जन पक्षी चुम्बन करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी कौतुक करते हुए कुटिल भ्रूवाली कमलनयनी श्रीराधाके चारों ओर स्फूर्तिशील मुखचन्द्रका चुम्बन करने लगे॥"२४८॥

आनन्दचन्द्रिका—रूपमञ्जरी स्वसखीमाह—कपटेति। अनिलेन कम्पि कम्पयुक्तम्॥२४८॥

अथाश्लेषो यथा—

नवजागुडवर्णयोपगूढः स्फुरदभ्रद्युतिरेतयोन्मदेन।
हरति स्म हरिर्हिरण्यवल्लीपरिवीताङ्गतमालमङ्गलानि॥२४९॥

तात्पर्यानुवाद—आलिङ्गन—श्रीकृष्णके प्रथम मिलनमें दोनोंकी आलिङ्गन-शोभाको देखकर कोई सखी वर्णन कर रही है—"हे देवि! अत्यन्त हर्षके कारण नवीन कुमकुमकी भाँति गौरवर्णा श्रीराधा, नव घनश्यामसुन्दरका आलिङ्गन करनेपर इस प्रकारसे शोभायुक्त हुई, जिससे स्वर्णलता-आवृत तमालवृक्षकी शोभा भी पराजित हो गई॥"२४९॥

लोचनरोचनी—रक्तसङ्गं तु कुङ्कुमं जागुडमिति त्रिकाण्डशेषः॥२४९॥

आनन्दचन्द्रिका—श्रीराधासखी वर्णयति—न वेति। जागुडवर्णया कुङ्कुमवर्णया मङ्गलानि यशांसीत्यर्थः॥२४९॥

अथ नखक्षतं यथा—

न च कुचाविमौ गतिजिता त्वया हृतं,
गजतः प्रसह्य सखि कुम्भयोर्युगम्।

क्षतमत्र नागदमनो यदर्पयत्,
परमङ्गजाङ्कुशवरेण तत्क्षमम् ॥२५० ॥

तात्पर्यानुवाद—नखक्षत—श्यामला श्रीराधाका वर्णन करते हुए परिहास कर रही है—"हे सखि राधिके! ये तुम्हारे दोनों स्तन, स्तन नहीं हैं, तुमने अपनी गमनभङ्गीसे बलपूर्वक हाथीको पराजितकर उसके दोनों कुम्भोंका हरण किया है, इनमें जो क्षत देख रही हूँ, वह मानो महावतने इसपर गजाङ्कुश अर्पित किया है। वह उचित ही है॥"२५०॥

लोचनरोचनी—नागदमनोऽत्र कालियमर्दी, परं यथा स्यात्तथाङ्गजाङ्कुशवरेण कामांकुशाख्येन नखेन क्षतमर्पयेत् यत् तत् क्षमं युक्तं पक्षे नागदमनो महामात्रः। तथा गजाङ्कुशवरेणेत्यादि॥२५०॥

आनन्दचन्द्रिका—श्यामला श्रीराधां वर्णयन्ती परिहसति—गतिजितेति। स्वगत्या गजं पराजित्येत्यर्थः। अत एव नागदमनो महामात्रः गजाङ्कुशवरेणात्र यत् क्षतमर्पयेत्तत् क्षममुचितम्। पक्षे नागदमनः कालियमद्रनः। परं यथा स्यात्तथा अङ्गजाङ्कुशवरेण कामाङ्कुशमुख्येन नखेनेत्यादि॥२५०॥

अथ बिम्बाधरसुधापानं यथा—

न हि सुधाकरबिम्बमुधाकरं,
कुरु मुखं करभोरु करावृतम्।
अधररङ्गणमङ्ग वराङ्गने,
पिबतु नीपवनीभ्रमरस्तव॥२५१॥

तात्पर्यानुवाद—बिम्बाधरसुधापान—गोवर्द्धनके तट प्रदेशस्थित कदम्ब-वनमें श्रीकृष्णके साथ श्रीराधा मिली, अधरसुधा पान करनेके लिए अत्यन्त सतृष्ण नागरेन्द्रको वाम्यवशतः श्रीराधिका ऐसा करनेके लिए निषेध कर रही हैं। उसे देखकर श्रीकृष्ण अथवा कोई दूती उनको मधुरवाक्योंसे उपदेश कर रही है—"हे करभोरु! चन्द्रबिम्ब-विनिन्दी अपने मुखमण्डलको हाथोंके द्वारा आवृत मत करो। हे परम सुन्दरि राधे! कदम्बवनका भ्रमर तुम्हारे अधररूपी रङ्गनपुष्पका यथेष्ट रूपमें पान करें॥"२५१॥

आनन्दचन्द्रिका—स्वयं श्रीकृष्णो दूती वा श्रीराधामाह—नहीति। सुधाकरबिम्बं मुधाकरोति व्यर्थीकरोतीत्यर्थः। अधर एव रङ्गणं रङ्गणपुष्पम्। अङ्ग हे वरानने॥२५१॥

अथ संप्रयोगो यथा—

द्राग्दोर्मण्डलपीडनोद्धुरधियः प्रोद्दामवैजात्यया,
निर्बन्धादधरामृतानि पिबतः सीत्कारपूर्णास्यया।
कन्दर्पोत्सवपण्डितस्य मणितैराक्रान्तकुञ्जान्तया,
सार्द्धं राधिकया हरेर्निधुवनक्रीडाविधिर्वर्द्धते॥२५२॥

तात्पर्यानुवाद—संप्रयोग—"अभी कुञ्जकी क्या वार्त्ता है?"—कुन्दलता द्वारा पूछे जानेपर वृन्दा कह रही है—"श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधाको शीघ्र ही अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा आबद्ध करनेपर श्रीमती राधिका अत्यन्त धृष्टता प्रकाश करने लगी। नागरेन्द्र अत्यन्त आसक्तिपूर्वक अधरपानके लिए प्रवृत्त होनेपर प्राणेश्वरी अपने मुखमण्डलसे चीत्कारकी ध्वनि करने लगी। इस प्रकार काम-कलाविलासके महापण्डित हरिके साथ रति कूजनसे कुञ्जाङ्गनकी मुखरता विधायिनी श्रीमती राधिकाका सुरतकेलि-महोत्सव विराजमान हो रहा है॥"२५२॥

आनन्दचन्द्रिका—अधुना कुञ्जे का वार्तेति कुन्दलतया पृष्टा वृन्दा प्राह—द्रागिति। द्राक् शीघ्रं वैजात्यं, प्रागल्भ्यम्, मणितं सुरतध्वनिः॥२५२॥

विदग्धानां मिथो लीलाविलासेन यथा सुखम्।
न तथा संप्रयोगेण स्यादेवं रसिका विदुः॥२५३॥

तात्पर्यानुवाद—यहाँ नर्मालाप, नखदन्तक्षत अथवा चुम्बनादि लीला होनेपर भी विद्वदनुभव-प्रमाणसे और अपने अनुभवसे इस संप्रयोग नामक क्रीड़ाविशेषके गौणत्वको दिखला रहे हैं। परस्पर लीलाविलासमें रसिकजनोंको जैसा सुख होता है, संप्रयोगमें वैसा सुखास्वादन नहीं होता।

इसका प्रमाण—रसवेत्ताओंने ऐसा सिद्धान्त किया है अर्थात् उनका अनुभव ही प्रमाण है॥२५३॥

लोचनरोचनी—तत्र संप्रयोगो यथेत्यारभ्य द्राग्दोर्मण्डलेत्यादिकं श्रीमद्भिर्ग्रन्थकारैर-प्रकटितमपि केनाप्युत्थापितमिति ज्ञेयम्। अनन्तरमेव हि स्वमतं वक्ष्यते विदग्धानामित्यादि॥२५३॥

आनन्दचन्द्रिका—रहसि स्त्रीसंभोगो हि द्विविधः—संप्रयोगो मिथो लीलाविलासश्च। तत्राद्य उक्तः। द्वितीयस्योत्कर्षमाह—विदग्धानामिति॥२५३॥

यथा—

बलेन परिरम्भणे नखशिखाभिरूल्लेखनं,
हठादधरखण्डने भुजयुगेन बन्धक्रियाम्।
दुकूलदलने हतिं कुवलयेन कुर्वाणया,
रतादपि सुखं हरेरधिकमादधे राधया॥२५४॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्वरागके पश्चात् परस्पर मिलित युगलकिशोरकी केलिमाधुरीको सखियाँ कुञ्जसे बाहर देखकर वर्णन कर रही हैं—श्रीकृष्णके बलपूर्वक आलिङ्गनमें प्रवृत्त होनेपर श्रीमती राधिकाने प्राणेश्वरके वक्षःस्थलमें सुष्ठु रूपसे नखाघात किया। हठात् अधर दंशन करनेपर उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे नागरेन्द्रको अपने कण्ठमें बाँध लिया एवं वस्त्राकर्षणमें प्रवृत्त होनेपर श्रीराधाने अपने कानोंमें पहने हुए उत्पलके द्वारा उनकी ताड़ना की। इस प्रकार श्रीराधाने सुरतसंप्रयोगसे भी लीलाविलासमें हरिको अधिक सुख प्रदान किया॥२५४॥

आनन्दचन्द्रिका—जालरन्ध्राक्षनिहिताक्ष्यः सख्योर्द्वयोर्लीलाविलासं परस्पर-मास्वादयन्ति—बलेनेति। द्वयम्॥२५४॥

यथा वा—

नर्मोत्सेककलादृगञ्चलचमत्कारी भ्रुवोर्विभ्रमः,
संव्यानस्य विकर्षणे चटुलता कर्णोत्पलेनाहतिः।
क्रीडेयं व्रजनागरीरतिगुरोर्गान्धर्विकायास्तथा,
भूयिष्ठं सुरतोत्सवादपि नवास्वादं वितेने सुखम्॥२५५॥

तात्पर्यानुवाद—पूर्व पद्यमें दोनोंका सुखाधिक्य होनेपर भी स्पष्टतः श्रीहरिके ही अत्यधिक सुखका वर्णन किया गया है। किन्तु इस पद्यमें दोनोंका ही समान रूपमें सुखाधिक्यका वर्णन दिखला रहे हैं।

कुञ्जके भीतर श्रीराधाकृष्णकी रहोलीलाका दर्शनकर वृन्दा बाहरसे उसे देखकर परमोल्लासके साथ पौर्णमासीको निवेदन कर रही है—"श्रीकृष्ण द्वारा पहले अपने परिहासरङ्गसे क्रमशः अधिकतर चातुरीको प्रकट करनेपर श्रीमती राधिकाने अपने नेत्रोंके अञ्चलसे परम चमत्कारी भ्रू-विलासको प्रकाश किया। अर्थात् बड़ी टेढ़ी भ्रू-भङ्गीसे उनकी ओर देखा। पुनः श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमतीका अञ्चल आकर्षण करनेपर प्राणेश्वरीने उनको अपने कानोंमे पहने हुए उत्पलके द्वारा आघात किया। व्रजनारी-रतिगुरु श्रीकृष्ण एवं गान्धर्विकाकी इसी लीलाने सुरतोत्सवसे भी अत्यन्त उत्कृष्ट आस्वादन योग्य प्रचुरतर सुखका विस्तार किया॥"२५५॥

आनन्दचन्द्रिका—लीलाविलासस्य उत्तरभागं दर्शयित्वा ततोऽपि सुरसं तस्य प्रथमं भागमुदाहर्तुमाह—यथा वेति। व्रजनागरीरतिगुरोः श्रीकृष्णस्य प्रथमं नर्मोत्सेककला तदा गान्धर्विकायाः श्रीराधाया दृगञ्चलचमत्कारी भ्रुवोर्विभ्रमः। ततः श्रीकृष्णस्य संव्यानविकर्षणे चटुलता। तदा श्रीराधायाः कर्णोत्पलेनाहतिः। अत्र प्रथमं लीलाविलासस्य पूर्वभागव्यञ्जी नर्मोत्सेके इति श्लोकः। ततस्तदुत्तरभागव्यञ्जी बलेन परिरम्भणे इति। ततश्च संप्रयोगव्यञ्जी द्राग्दोर्मण्डले इति लीलाक्रमः पूर्वपूर्वोत्कषः श्रीमद्ग्रन्थकृतां मते अन्येषां तूत्तरोत्कर्षः॥२५५॥

अत एव श्रीगीतगोविन्दे (१२/१०)—

प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण निबिडाश्लेषे निमेषेण च,
क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथानर्मभिः।
आनन्दाभिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्नभू-
दुद्भूतः स तयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियंभावुकः॥२५६॥

तात्पर्यानुवाद—अपने अनुभवके बलपर नर्मसंलाप, स्पर्श, चुम्बनादिसे संप्रयोग-सम्भोगका गौणत्व प्रतिपादनकर अपने मतको दृढ़ करनेके लिए अर्वाचीन भक्तोंके श्रीकृष्णप्रेमपात्रके रूपमें अद्वितीय, श्रीमद्भागवतमें कहे गये आद्य (शृङ्गाररस) की महामाधुरीके सर्वोत्तम आस्वादक एवं सर्वदा-सर्वत्र सभी महाजनोंके परमादरणीय सद्चरित्र श्रीगीतगोविन्द नामक महाकाव्यके प्रणेता श्रीजयदेवगोस्वामीके पद्यको उद्धृत कर रहे हैं। श्रीमती राधिकाके मानभञ्जनके अनन्तर श्रीकृष्णके साथ उनके परम सङ्गम-

कौतुकका वर्णन कर रहे हैं—श्रीश्रीराधाकृष्णके उस सुरतारम्भ क्रीड़ामें ऐसा ही प्रियम्भावुक अर्थात् जिसमें अप्रिय भी प्रिय हो जाता है—अतिशय आनन्दविशेषको उत्पन्न करता है। सुरतारम्भमें निबिड़ आलिग्नमें पुलकावलीने विघ्न उत्पन्न किया। क्रीड़ाके अभिप्राय-निरीक्षणमें निमेषने विघ्न डाला। अधर सुधापानमें नर्म कथाने तथा मन्मथकलायुद्धमें भी आनन्दाभिरामने विघ्न उत्पन्न किया। तात्पर्य यह है कि संप्रयोग-संयोगकी अपेक्षा विघ्नमय सुरतारम्भरूप लीलाविलासमें आनन्दकी सर्वातिशायी प्रचुरता है। अतः श्रीलरूपगोस्वामीपादने सम्प्रयोगकी अपेक्षा अन्य लीलाविलासमें ही श्रीश्रीराधामाधवके चमत्कारमय सुखका आधिक्य माना है॥२५६॥

लोचनरोचनी—यस्मिन् सुरतारम्भे; प्रत्यूहो विघ्नोऽपि प्रियम्भावुकः प्रीतिरसकोऽभूत्, स सुरतान्त उद्भूतो बभूब॥२५६॥

आनन्दचन्द्रिका—रसिकमहानुभावाग्रगण्य श्रीजयदेवपद्येनैव ग्रन्थमुपसंजिहीर्षुस्तन्म-तेनैव स्वमतं द्रढयति—प्रत्यूह इति। स तयो रसिकसखीजनानुभवैकवेद्यः सुरतारम्भः उद्भूतः आविर्भूतो बभूव। यत्र निबिडाश्लेषे ताभ्यामिष्यमाणे पुलकाङ्कुरेणैव प्रत्यूहो विघ्नोऽभूत्। एवं क्रीडाकूतविलोकिते निमेषेणेत्यादि। एवं चाश्लेषावलोकनाधरसुधापान-कामसंग्रामाणां परमाभीष्टानां सामस्त्येनालाभेन तृष्णायाः शान्त्यभावात् "सावशेषो हि रसः सुरसो भवती"ति न्यायेन रसोत्कर्ष एव स्थापितः। अत एव प्रियंभावुक इति विशेषणं सार्थकमेव॥२५६॥

यथा—

गोकुलानन्द गोविन्द गोष्ठेन्द्रकुलचन्द्रमः।
प्राणेश सुन्दरोत्तंस नागराणां शिखामणे॥२५७॥

वृन्दावनविधो गोष्ठयुवराजमनोहर।
इत्याद्या व्रजदेवीनां प्रेयसी प्रणयोक्तयः॥२५८॥

तात्पर्यानुवाद—इस सम्भोग-शृङ्गारमें व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णको जिन प्रेमोक्तियोंसे आह्वान करती हैं, उसीका दिग्दर्शन करा रहे हैं—गोकुलानन्द, गोविन्द, गोष्ठेन्द्रकुलचन्द्रमा, प्राणेश्वर, सुन्दरोतंस, नागरशिखामणि,

वृन्दावनचन्द्र, गोष्ठयुवराज, मनोहर इत्यादि नामोंसे गोपियाँ इस मधुररसमें श्रीकृष्णका सम्बोधन करती हैं॥२५७-२५८॥

आनन्दचन्द्रिका—समाप्तौ मधुरनामसंकीर्तनेन मङ्गलमाचरति— गोकुलानन्देति॥२५७-२५८॥

अतलत्वादपारत्वादाप्तोऽसौ दुर्विगाहताम्।
स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुरो मया॥२५९॥

तात्पर्यानुवाद—यद्यपि अन्यत्र अदृष्टचर, अश्रुतपूर्व, अलौकिक चमत्कारशाली, परम अभिज्ञ प्राचीन भक्तोंके लिए भी दुर्बोध्य रसतत्त्वका विवेचन श्रीपाद रूपगोस्वामीने विशद् रूपसे विस्तारपूर्वक किया है। फिर भी उसे अपूर्ण ही मानकर दीनतापूर्वक कह रहे हैं—इस मधुररस समुद्रके तटपर ही अवस्थित रहकर मैंने उसका केवलमात्र स्पर्श ही किया है, उसमें प्रवेश नहीं कर पाया; क्योंकि यह रससमुद्र—अतुल, अपार, अथाह होनेके कारण भलीभाँति बोधगम्य नहीं है॥२५९॥

लोचनरोचनी—स्वरूपेणातलत्वात् प्रमाणेनापारत्वात्॥२५९॥

आनन्दचन्द्रिका—अनुक्तलक्षणः सपरकिरो मधुररसः। एतावान् प्राचीनैरपि रसिककविभिरदर्शितत्वेनाज्ञातः। प्रेमवद्भिरपि महानुभावभक्तैरप्यप्राप्तचरः कथं तत्रभवद्भिर्वर्णितः आस्वादितश्च तत्र सदैन्यमाह—अतलत्वादिति। असौ मधुररसाब्धिर्दुर्विगाहतामाप्तः। कर्तृपदानुक्त्या रसावगाहनप्रसिद्धैः श्रीशुकदेवादिभिः प्राचीनैः श्रीलीलाशुकजयदेवादिभिरर्वाचीनैश्च सर्वैरेवेत्यर्थः। अत्र दुर्विगाहपदेन सामस्त्येनावगाहाभाव उच्यते। अत्र हेतुद्वयम्। अतलत्वादपारत्वादिति। जाति-प्रमाणाभ्यामिति भावः। दास्यादिरसाब्धिभ्यो जात्याधिकादतलत्वं प्रमाणाधिक्यादपारत्वमित्यर्थः। मया त्ववगाहनगन्धेऽप्यसमर्थेन केवलतटस्थेन स्पृष्टः तटे स्थित्वा एकयैवाङ्गुल्या कणमात्रमुद्धृत्य स्वरसनायां विन्यस्त इत्यर्थः॥२५९॥

अयमुज्ज्वलनीलमणिर्गहनमहाघोषसागरप्रभवः ।
भजतु तव मकरकुण्डलपरिसरसेवौचितीं देव॥२६०॥

इति सम्भोगभेदः॥

तात्पर्यानुवाद—भगवद् रस अप्राकृत है; अतएव कोई भी इसकी इयत्ताका (बस यहीं तक है) निरुपण नहीं कर सकता। "भावग्राही जनार्दन मेरे द्वारा अर्पित इस सरस काव्यको कर्णभूषणके रूपमें धारण करें"—ऐसी प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं—हे देव! दुर्गम महाघोष (गोकुल) सागरसे उत्पन्न यह उज्ज्वलनीलमणि आपके मकरकुण्डलके समीप (कर्णोंकी) सेवामें नियुक्त हो॥२६०॥

लोचनरोचनी—अयमिति ग्रन्थः, पक्षे गहनमहाघोषः श्रीमन्नन्दराजव्रजः स एव सागरस्तत्प्रभव इति तदेकदेशः, श्रीव्रजदेवीगणादुद्धृत इत्यर्थः। यद्वा गहनमहाघोषसागरः श्रीमान् रसामृतसिन्धुनामा प्राक्तनो ग्रन्थः, तस्मादुद्धृतः गहनत्वं दुरवगाहत्वम्। तत्र मकरकुण्डलेत्यादिना तु श्रवणावधानप्रार्थना। मणिपक्षस्तु सुगमः। तदेवमस्य ग्रन्थस्य तदेकाराधनार्थतां तत्रापि रहस्यतां व्यज्य तादृश तदीयरहस्यरसावसरसंनिधानाधिकारि-भिस्तद्रहस्येव पर्यालोचनीयतामुपदिदेशेति लब्धम्। ततश्च परमोपदेष्टॄणां तेषामनुगतिर्न केनचिदप्युल्लङ्घनीया, यतः—"कृष्णस्य निर्जनविहारविकाशकोऽयं, स्वालोकनाय रहसि प्रकटय्य गुप्तः। श्रीमद्भिरुज्ज्वलनीलमणिस्तदपीह दैवाद्, व्यक्तः स एष इति कस्य समक्षमेव॥"२६०॥

सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
श्रीवल्लवोऽनुजः सोऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः॥

इति सम्पूर्णेयं उज्ज्वलनीलमणिनाम्नो
ग्रन्थस्य लोचनरोचनीनाम्नी टीका।

आनन्दचन्द्रिका—संपूर्णस्यास्य ग्रन्थस्य स्वसेव्यचरणारविन्दश्रीगोविन्ददेव-श्रवणविषयीभावं स्वप्रयत्नसाफल्याय ग्रन्थकृदाशास्ते—अयमिति। उज्जवलः शृङ्गाररस एव लीलमणिस्तन्नामा ग्रन्थश्च। कीदृशः? गहनो दुष्प्रवेशो महाघोषः श्रीमान्नन्दव्रजः। "घोष आभीरपल्ली स्यात्" इत्यमरः। स एव सागरो रक्तकादिश्रीदामादि-श्रीनन्दादि-श्रीराधादि-गणत्वाद्दास्यसख्यवात्सल्योज्जवलभावरत्नाकरस्तस्मिन् प्रकर्षेणोत्कर्षेण भवति सदा विद्यते इति सः। यद्वा गहनो दुरवगाहो महाघोषः श्रीनन्दव्रजो द्वादशरसाश्रयतया निरूप्यमाणत्वेन वर्त्तते यत्र तथाभूतः सागरो भक्तिरसामृतसिन्धुस्तस्मात् प्रभवतीति सः। तव मकरकुण्डलयोः परिसरः समीपदेशः कर्णरन्ध्रं तस्य सेवायामौचितीमौचित्यं सुखेन ग्राह्यत्वं रसपक्षे रसस्यापि शब्दगम्यत्वाच्छ्रोत्रग्राह्यत्वम्। ग्रन्थपक्षे सुसङ्गतमेव। मणिपक्षे उज्ज्वलो निर्मलः घोषः शब्दः परिसरस्तदेकदेशः सेवाजटितत्वं तेन च श्रीकृष्णस्यैव श्रवणयोग्यत्वेनास्य ग्रन्थस्य परमरहस्यत्वं तद्भक्तजनपरमोपादेयत्व-मनर्घ्यत्वमन्यजनेभ्यो गोपनीयत्वं च व्यञ्जितम्॥२६०॥

उज्ज्वलनीलमणौ रसविदुषामानन्दचन्द्रिका टीका।
इयमिह विश्वजनीना भवताद्विश्वम्भरप्रीत्यै॥
टीकायां कारिका श्रीमज्जीवगोस्वामिनां मया।
अत्रैव परमोत्कर्ष इत्यत्रैकावलोकिता॥

सा यथा—

स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छया।
यत्पूर्वापरसंबद्धं तत्पूर्वमपरं परम्॥ इति।
रागेणैवार्पितात्मान इत्यत्र व्याख्यया तथा।
पत्नीभावाभिमानात्मेत्यत्रापि च तदीयया॥
दृष्टया हसितोऽभ्यासादादिमध्यावसानतः।
मूलग्रन्थस्य तात्पर्यव्याख्यायां लब्धसाहसः॥
तदीयचरणाम्भोजरजःकारुण्यलेशभाक् ।
यदत्र प्रालपं तत्र क्षमन्तां ते कृपाब्धयः॥
आश्विने शुक्लपञ्चम्यां वसुचन्द्रकलामिते।
शाके वृन्दावने पूर्णाभवदानन्दचन्द्रिका॥

इति सम्पूर्णेयं उज्ज्वलनीलमणिनाम्नो ग्रन्थस्य आनन्दचन्द्रिकानाम्नी टीका

॥ सम्पूर्णोऽयम् ग्रन्थः ॥

मूल–श्लोकसूची

अ

आ

इ

उ

छ

ज

ण

त

द

प

फ

ब

भ

य

र

ल

व

श

ष

स

ह

शब्द-कोश

अ

अङ्गद—आभूषण, बाजूबंद।

अदृष्टचर—जिसको पहले कभी देखा न हो।

अनाघ्रात—जिसको अभी तक किसीने सूँघा न हो।

अपलाप—टालमटोल, छिपाना, झूठा सिद्ध करना।

अपाङ्ग-भङ्गी—तिरही चित्तवन, पलक झपकना, कटाक्ष।

अभिनव—बिल्कुल नया, यौवन।

अभिनिवेश—लगन, आसक्ति, एक-निष्ठता।

अभियोग—लगाव, प्रयास।

अभिरूप—अनुरूप, कामदेव।

अभिसार—प्रियसे मिलनेके लिए जाना।

अभिसारिका—वह नायिका जो अपने प्रियसे मिलने जाती है।

अमर्ष—असहनशील, ईर्ष्या, कोप।

अवगुण्ठित—ढका हुआ, छिपा हुआ।

अवतंस—हार, कर्णभूषण।

अवहित्था—पाखण्ड, आन्तरिक भावगोपन।

अश्रुतचर—जिसके विषयमें पहले कभी सुना न हो।

असूर्यपश्या—सूर्यके द्वारा भी नहीं देखी जानेवाली, कभी घरसे बाहर नहीं निकलनेवाली।

उ

उदात्त—उच्च, उन्नत।

उद्भट—श्रेष्ठ, प्रमुख।

उद्भावना—चिन्तन, कल्पना।

उद्भासित—देदीप्यमान, उज्ज्वल।

उद्भ्रम—चक्कर देना, घूमाना।

उपशम—शान्त होना।

क

कुच—स्तन, उरोज।

कुञ्चित—टेढ़ा करना, सिकुड़ना।

कुट्टमित—प्रियतमके प्यारका दिखावटी तिरस्कार।

केलि—खेल, आमोद-प्रमोद, परिहास।

क्रीतदास—बिका हुआ दास, किसी निश्चित समयके लिए रखा गया दास।

ग

गवाक्ष—झरोखा।

गोत्रस्खलन—किसी नायिकाकी उपस्थितिमें विपक्षकी नायिकाका नाम उच्चारण।

गोष्ठ—व्रज, गोशाला।

च

चाटु—मीठी बात, मधुर तथा प्रिय वचन।

त

तडित—बिजली।

तुम्बी—एक प्रकारकी लौकी, वीणादण्ड।

न

निबिड़—गभीर, गुप्त।

निर्घट—शब्दावली, शब्द सग्रह, सूचीपत्र।

निवारण—दूर रखना, रोकना।

निसृष्टार्था—जो नायक और नायिकाके प्रेमको जानकर स्वयं उनको मिलाती है।

प

पतिमन्य—पतिका अभिमान रखनेवाला, नाममात्रका पति।

प्रगल्भ—साहसी, बहादुर, वाक्पटु।

प्रगल्भा—साहसी स्त्री, कर्कशा, सब प्रकारके लाड–प्यारमें चतुर।

ब

बटु—ब्रह्मचारी।

बड़वानल—समुद्रके बीच लगी आग।

भ

भाथी—धौंकनी।

म

मतङ्ग—हाथी।

मधुप—भ्रमर।

मार्दव—मृदुता, लचीलापन।

व

वक्षोज—स्तन।

विचक्षण—स्पष्टदर्शी, दीर्घदर्शी।

विरह—बिछोह, वियोग।

विवर्ण—पाण्डु, फीका।

विस्फारित—कम्पमान, थरथराता हुआ।

वीजन—पंखा करना।

वैदग्ध्य—दक्षता, निपुणता, चतुराई।

स

सद्योजात—नवीन, अभी–अभी पैदा हुआ।

सफरी—छोटी चमकीली मछली।

स्मर—कामदेव।